* श्रीसीताराम *

मानस-पीयूष

प्रथम भाग

वन्दना तथा मानसप्रकरण

(प्रारंभ के ४३ दोहोंका)

सर्व-सिद्धान्त-समन्वित तिलक

श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजीकी रामायणपर श्री पं० रामकुमारजी, श्री पं० रामवल्लभाशरणजी महाराज (व्यास), श्रीरामायणी रामबालकदासजी, एवं श्रीमानसी बंदनपाठकजी आदि साकेतवासी महानुभावों की अप्राप्य और अप्रकाशित टिप्पणियाँ एवं कथाओंके भाव, बाबा श्रीरामचरणदासजी, श्रीसंतसिंहजी पंजाबी ज्ञानी, बाबा श्रीहरिहर-प्रसादजी, श्रीहरिदासजी, श्रीपांडे रामबख्शजी, श्री पं० शिवलाल पाठकजी, श्रीबैजनाथजी, आदि पूर्व मानसाचार्योंके भाव, आजकलके प्रायः समस्त टीकाकारोंके विशद एवं सुसंगत भाव तथा प्रो० रामदासजी गौड़ एम० एस० सी०, प्रो० लाला भगवानदीनजी, प्रो० पं० रामचन्द्रजी शुक्ल, पं० यादवशंकरजी जामदार रिटायर्ड सबजज, पं० बिजयानन्द त्रिपाठीजी (मानसराजहंस), श्रीनंगे परमहंसजी (प्रयाग), रामायणी श्रीजयरामदासजी 'दीन', वेदान्तभूषण पं० राम-कुमारदासजी (श्रीअयोध्याजी) आदि आधुनिक मानस-विज्ञोंकी आलोचनात्मक व्याख्याओंका सुंदर संग्रह।

संपादक

श्रीअंजनीनंदनशरण

समर्पण

श्रीद्रामचरितमानसके निर्माणकर्त्ता जगदाचार्य्य **भगवान् श्रीशंकरजी,** श्रीरामचरितके अनन्य रसिक और श्रोता श्रीसीताराम-गुणग्राम-पुण्यारण्य-विहारी मंगलमूर्त्ति पवनपूत रामदूत **श्रीहनुमान्‌जी,** श्रीमद्‌गोस्वामि **तुलसीदासजी महाराज** जिनके द्वारा आज जगत्‌में वह चरित प्रकाशित होकर लोगोंको श्रीरामसम्मुख कर रहा है, वैष्णवरत्न परम कृपालु **श्री १०८ श्री सीतारामशरण भगवानप्रसाद श्रीरूपकलाजी** जिनकी आज्ञानेही स्वयं "मानस-पीयूष" रूप धारण किया, स्वामी **श्री १०८ पं० रामवल्लभाशरण जी महाराज व्यास** जिन्होंने इस ग्रंथका नामकरण किया एवं इस तिलक के **प्रेमी पाठक**—

आपही सब महाभागवतोंके कर कमलोंमें यह **"मानस-पीयूष"** का तृतीय और केवल भाग १ का चतुर्थ संस्करण सादर सविनय समर्पण करके प्रार्थी हूँ कि इसे स्वीकार करें और इस दीन को अपना शिशु और जन जानकर इसको श्रीसीतारामजीके चरणकमलोंमें वह अनूठा सहज अविरल अमल अटल एकरस निरंतर अनुराग और दृढ़ श्रद्धा विश्वास प्रदान करें जिससे प्रभु तुरत द्रवित होते हैं।

आपका शिशु—

श्रीअंजनीनन्दनशरण

श्रीरूपकलादेव्यैनमः श्रीगुरवेनमः श्रीहनुमतेनमः
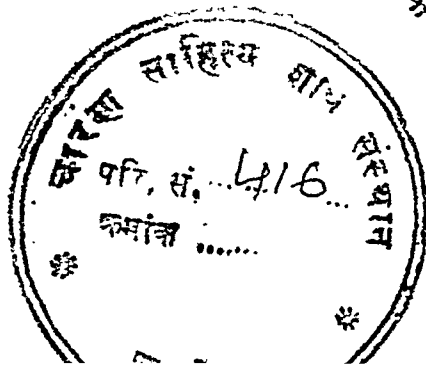
नये संस्करणका परिचय

यद्यपि श्रीरामचरितमानस दार्शनिकसिद्धान्तप्रतिपादक ग्रंथ नहीं है, किन्तु भक्तिमार्ग (अर्थात् भगवान् श्रीरामजीके चरित्र और यश) का प्रतिपादनही उसका प्रधान विषय है, तथापि प्रसंगवशात् जो कुछ वेदान्तविषयप्रतिपादक वचन मिलते हैं, उनसे इस ग्रन्थके सिद्धान्तके विषयमें लोगोंमें मतभेद है। कुछ लोगोंका कहना है कि मानसमें अद्वैत-सिद्धान्तकाही प्रतिपादन किया गया है। इस विषयमें उनका यह कथन है कि—"अद्वैतसिद्धान्तमें ब्रह्मको निर्गुण, निर्विकार, निरवयव, नाम-रूप-रहित, मन-वाणीको अगोचर अर्थात् अनिर्वचनीय माना जाता है और जीव ब्रह्मका अंश है अतः दोनोंमें अभेद है। तथा जगत् रज्जुसर्पवत् मिथ्या है।" जगत्के मिथ्यात्वके विषयमें शुक्ति-रजत, मृगजल और स्वप्न आदि दृष्टान्त दिये जाते हैं। उपर्युक्त विषय आदि उपनिषद-पुराणादिमें आवें तो विशिष्टाद्वैती या द्वैती अपने सिद्धान्तानुसार उसका प्रतिपादन करेंगे परन्तु उनके खास निजके सांप्रदायिक ग्रंथोंमें ब्रह्म, जीव और जगत्के विषय में उपर्युक्त प्रकारका कथन अद्वैती छोड़ प्रायः अन्य कोईभी सिद्धान्त नहीं करता। श्रीरामचरितमानसमें उपर्युक्त प्रकारका कथन अनेक प्रसंगोंमें आया है। यथा—'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव' (६। ११२। छंद १), 'बिनु पद','बिनु कर','आननरहित' (१.११८।५–६), 'अकल अनीह अरूप अनामा','मनगोतीत अमल अबिनासी। निर्विकार' (७।१११।५–६), इत्यादि—ये ब्रह्मविषयक कथन हुये। इसी तरह 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी' (७।११७।२), 'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा' (७।१११।६) आदि जीवविषयक कथन हैं। और "यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।' (१.मं० श्लो० ६), 'रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकरबारि। जदपि मृषा तिहुँ काल...।' (१।११७) इत्यादि जगत्विषयक कथन हैं। इन वाक्योंको लेकर अद्वैतमतानुयायी श्रीरामचरितमानसको अद्वैतसिद्धांतपरकग्रंथ बताते हैं। द्वैतसाधक वाक्योंके विषयमें वे यह कहते हैं कि ज्ञानके अनधिकारियोंको चित्त-शुद्धिके लिये वेदोंमें कर्मकांड और उपासनाकांड बताया है, परन्तु उसका वास्तविक ध्येय अद्वैत ही है, उसी प्रकार मानसमें भी जो कर्म या उपासनाके कारण द्वैतसाधक वाक्य आए हैं, उनकी भी वही व्यवस्था है, अतः उपर्युक्त कथनमें कोई बाधा नहीं है।

कोई कहते हैं कि "यहां तो द्वैतकाही प्रतिपादन है, क्योंकि यह तो चरित्र है, प्रभुका गुणगान है। निर्गुणका गुणगान कैसा? 'यत्पादप्लव' से सावयवत्व दिखाया, 'रामाख्य' से नाम बताया, 'यन्मायावश' से ब्रह्म, माया और जीव (ब्रह्मादिदेवासुरा) का पृथक् अस्तित्व और भेद कहा। यह तो प्रथमारंभकी बात है। आगे 'जीव कि ईस समान' (७।१११), 'माया बस परिछिन्न जड़ जीव' (७.१११), 'मायावस्य जीव' (७.७८), 'मायाप्रेरक सीव' (३।१५), 'जो जस करइ···' (२.२१९) आदि वाक्योंसे स्पष्ट जगत्-सत्यत्व झलकता है। अतः मानसका सिद्धांत द्वैतही है।" अद्वैतसाधक वाक्योंके विषयमें "परमात्मा अचिन्त्य शक्तिमान् 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तु समर्थ' है, उसमें सब संभव है" इत्यादि युक्तियोंसे काम लेकर वे उन वाक्योंको लगाकर अपनी बात सिद्ध करते हैं।

श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव महात्मा तो गोस्वामीजीको अपने संप्रदायका होनेसे इस ग्रंथको अपनी निजी संपत्तिही मानते हैं। उनका कहना है कि इस ग्रंथमें अद्वैतका कोई संबंधही नहीं है। यहां तो आदिसे अंततक 'समन्वय सिद्धान्त' ही ओतप्रोत भरा हुआ है। उनका कथन है कि अन्य सांप्रदायिकोंको अपने सिद्धान्तानुसार इस ग्रंथको लगानेमें बहुत खींचातानी करनी पड़ती है, परन्तु इस मतमें दोनों विरोधी वाक्य सरलतासे लगते हैं। इस सिद्धान्तका तात्पर्य है—'कार्य्य कारणका अभेद' अर्थात् चिदचिद्विशिष्ट स्थूल ब्रह्म

और चिदचिद्विशिष्ट सूक्ष्म ब्रह्मका अभेद। स्थूल कार्य है, सूक्ष्म कारण है। परंतु वे दोनों हैं एकही। अतः अद्वैतसाधक वाक्य सूक्ष्मपरक और द्वैतसाधक वाक्य स्थूलपरक माननेसे कोई अड़चन नहीं पड़ती। इस प्रकार समन्वय करनेका ढंग वा नियमभी इसी ग्रंथमें बताया है। 'निर्गुण' का अर्थ है—'अव्यक्त'। यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव। अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।" (६.११२)। ब्रह्मके निर्गुण और सगुण दो स्वरूप हैं। यथा—"अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा" (१.२३)। इन दोनों में अभेद है। यथा—"सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा" (१.११६)। यह निर्गुण ही सगुण होता है। यथा—"अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई।१.११६।"—इसका दृष्टान्तभी इसी चौपाईके आगे दिया है। यही बात अन्यत्रभी कही है। यथा—"एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।···तेहिं धरि देह चरित्र कृत नाना।" (१.१३)। "सूक्ष्म चिद-चिद्विशिष्ट ब्रह्मही स्थूल हुआ है"—इस बातको गोस्वामी तुलसीदासजी इतना प्रसिद्ध मानते हैं कि उन्होंने दृष्टान्तके वास्ते उसका प्रयोग किया है। यथा—"फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भएँ जैसा।" (४.१७)। दृष्टान्त प्रसिद्ध बातकाही दिया जाता है।

एक बात और ध्यान देने योग्य है कि जहां कहीं भी ग्रंथमें 'निर्गुण' शब्दका प्रयोग किया गया है, प्रायः वहाँ साथही 'सगुण' शब्द भी रक्खा गया है। यथा—"जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुन प्रेरक सही" (३.३२ छंद), "निर्गुन सगुन विषम सम रूपं" (३।११), "अगुन सगुन गुन मंदिर सुंदर" (६।११४), "जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूपसिरोमने।" (७।१३)। क्या इस प्रकारकी बातें कोई अन्य सांप्रदायिक कह सकता है? अतएव श्रीरामचरितमानसका सिद्धान्त "समन्वय" ही है।

यद्यपि पूर्वोक्त दोनोंकी अपेक्षा इस पक्षका कथन गंभीर और सयुक्तिक जान पड़ता है तथापि ग्रंथका विषय और प्रतिपादनका ढंग देखनेसे यह नहीं कहा जा सकता कि यह ग्रंथ किसी एक संप्रदाय या जातिके लिये बनाया गया है। किन्तु इसका निर्माण मानवमात्रके कल्याणके लिये हुआ है और यह मानवमात्रकी संपत्ति है।

☞ यद्यपि श्रीमद्गोस्वामीजी श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णव थे और इस लिये उनका सिद्धान्त विशिष्टाद्वैत ही है तथा यह बात उन्होंने समय-समयपर दर्शितभी कर दी है, तथापि अन्य सांप्रदायिकोंके सिद्धांत प्रतिपादक दृष्टान्त, युक्तियाँ आदि बहुत बातोंका भी उल्लेख इस ग्रंथमें बहुत खूबीके साथ किया गया है। इसका यथार्थ कारण तो प्रभुही जानें या स्वयं ग्रन्थकर्त्ता ही; परन्तु अनुमानसे यह बात कह सकते हैं कि यदि यह ग्रन्थ सांप्रदायिक ढंगपर लिखा जाता तो संभवतः अन्य संस्कृत ग्रन्थोंकी तरह यह ग्रन्थभी संप्रदाय-मेंही सीमित रह जाता, सर्वसाधारण जनतामें इसका प्रचार उतना न होता जितना कि आजतक और इस समय हुआ है तथा होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त एक बात और भी ध्यान देने योग्य जान पड़ती है कि इस ग्रंथके निर्माणके समय जिस प्रकारकी भाषाशैली रही होगी, विषयप्रतिपादन तथा विषय-प्रतिपादक दृष्टान्त आदिकी जो रीति लोकव्यवहारमें प्रचलित थी, उसीका अनुसरण हमारे पूज्य कविनेभी किया। और यही रीति साधारणतया पुराणोंमेंभी देखी जाती है।

अपनेको अद्वैतमतानुयायी कहलानेवाले कुछ मायामोहित जीव भक्तिमार्गको तुच्छ समझकर वैष्णवोंका विरोध करते थे और अभीभी कुछ करते हैं तथा 'अहं ब्रह्मास्मि' मैंही ब्रह्म हूँ, जगत् मिथ्या है इत्यादि बातें कहकर देहाभिमान और विषयवासनाओंमें लिप्त रहते हैं। इन लोगोंके आचरणसे साधारणतया वैष्णवसमुदाय यही समझता है कि अद्वैती भक्तिमार्गके विरोधी हैं, परंतु वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। अद्वैत संप्रदायके आद्य उत्पादक (जीर्णोद्धारक) स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी महाराजभी भक्तिमार्गके विरोधी न थे। उनके—"लक्ष्मीनृसिंह मम देहि करावलंबं", "भज गोविन्द", "अविनयमपनय विष्णो" आदि स्तोत्र बहुत प्रसिद्ध हैं। अद्वैतसिद्धिकार श्रीस्वामी मधुसूदनसरस्वतीजीभी बड़े भक्त थे। महाराष्ट्रके श्रीज्ञानेश्वर महाराज-श्रीएकनाथमहाराज, श्रीनामदेवजी, श्रीतुकारामजी महाराज, श्रीसमर्थरामदासजी महाराज आदि महात्मा,

अद्वैत प्रतिपादक होनेपरभी बहुत उच्च श्रेणीके भक्त थे। समर्थ रामदासजी महाराज तो कहते हैं कि—"मुक्तपणें रामनामा चा अव्हेर, तरी तो गवाँर मुक्त नोहे" अर्थात् मुक्तपनेके अभिमानसे कोई रामनामका अनादर करता है तो वह गँवार है, मुक्त नहीं है। अद्वैती होनेपरभी भक्तिमार्गके भाव किसप्रकार आसकते हैं, उसका उदाहरण अध्यात्म रामायण है। अद्वैतियोंमें जो रामभक्त हैं उनका तो कहना है कि वास्तविक भक्ति तो अद्वैतीही कर सकता है, क्योंकि वह अपनेको भगवान्‌में मिलाके मिटा देता है, उसके लिये संसारमें भगवान्‌के सिवाय और कुछ है ही नहीं।—ऐसे अद्वैती इस ग्रंथका आदरपूर्वक मान करेंगेही।

विशिष्टाद्वैतियोंमें श्रीरामानन्दीय श्रीवैष्णवोंका तो यह सर्वस्व है, प्राण है, जीवनधन ही है।

इन दोनोंके सिवा अन्य सिद्धान्तानुयायी लोग कुछ उपासनाभेद और कुछ भावाभेद आदिके कारण प्रायः इस ग्रंथकी ओर कम झुकेंगे। इनके अतिरिक्त एक साधारण वर्ग है जो किसी सम्प्रदाय, द्वैत या अद्वैतके झगड़ोंमें नहीं पड़ता, वह केवल भगवच्चरित्र आदि समझके इस ग्रन्थरत्नका आदर करता है।

अतः अन्य सिद्धान्तोंकी ओर विशेष दृष्टि न डालकर हमने 'मानसपीयूष' में 'अद्वैत' और 'समन्वय' सिद्धान्तानुसार अर्थ और भावार्थोंके प्रतिपादनका प्रयत्न किया है। पर औरोंनेभी जो लिखा है वह भी इसमें दिया गया है।

गोस्वामीजीने 'नाना पुराण निगमागमसंमत' 'रघुनाथगाथाभाषानिबंध' की रचनाकी प्रतिज्ञा की है। अतएव यह सिद्ध हुआ कि पुराण, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र आदिका जो सिद्धान्त है वही मानसका सिद्धान्त है। भगवान् श्रीस्वामी शंकराचार्यजी, भगवान् श्रीस्वामी रामानुजाचार्यजी, भगवान् श्रीस्वामी रामानन्दाचार्यजी, भगवान् श्रीस्वामी मध्वाचार्यजी आदि आचार्योंने जिस प्रकार उपर्युक्त ग्रंथोंसे ही अपना अपना सिद्धान्त सिद्ध किया है उसी प्रकार सब कोई अपने अपने सिद्धान्तके अनुसार मानसका अर्थ लगा सकते हैं।

इसपर यह कहा जा सकता है कि—'किसीभी कारणसे हो, परंतु गोस्वामीजीने अपने साम्प्रदायिक सिद्धान्तके विरुद्ध प्रतिपादन किया यह बात देखनेमें ठीक नहीं जँचती, उनको ऐसा न करना था।" तो उसका समाधान यह है कि गोस्वामीजीने कोई ऐसा विषय नहीं कहा जोउपनिषद, पुराण आदि प्राचीन सर्वमान्य ग्रंथोंमें न हो। अर्थात् मानसमेंका प्रतिपादित सब विषय प्राचीन सर्वमान्य ग्रंथोंमें मिलता है। उस विषयकी संगति जिस प्रकार सर्व सम्प्रदायोंके आचार्योंने अपने अपने सिद्धान्तानुसार लगाई है उसी प्रकार इस ग्रंथके विरोधी वचनोंकी संगतिभी लग सकती है।

किन्तु श्रीगोस्वामीजी भगवान् बोधायनके समन्वयसिद्धान्तके पूर्ण अनुयायी हैं। उस समन्वयसिद्धान्तका विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त नाम पड़नेपरही लोगोंमें परस्पर भेदभाव मालूम पड़ने लगा है। भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजीने अपने आचार-व्यवहारोंसे उस व्यापक सिद्धान्तसे जनसमुदायको अपनाया। उन्हींके शिष्य-प्रशिष्योंमें श्रीगोस्वामीजी हैं। अतः उनके रचित इस मानसमेंभी उसी तरह व्यापक शब्दोंके प्रयोग भरे पड़े हैं, जिससे लोगोंको अद्वैतसिद्धान्तप्रतिपादनकी भावना होती है और बहुतसी टीकाओंमेंभी इसीकी झलक आती है। कुछ टीकाकारोंने समन्वयसिद्धान्त (विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त) पर प्रकाश डाला है परन्तु वह बहुतही अधूरा सा जान पड़ता है।

इधर कुछ दिनोंसे यहाँके धुरंधर विद्वान् दार्शनिक सार्वभौम श्रीवासुदेवाचार्यजीसे इस विषयपर समयानुसार सत्संग होने लगा और होते होते यह निश्चित हुआ कि इस ग्रंथमें जो साधारणतया अद्वैत प्रतिपादक वचन जान पड़ते हैं उनका समन्वयसिद्धान्तपरक कैसा अर्थ होता है यहभी इस नये संस्करणमें संग्रहीत होना चाहिए। दार्शनिक आश्रममें मुझे इन गंभीर विषयोंपर उपर्युक्त दार्शनिकजीके प्रवचन समय समयपर सुननेको मिले।

इन प्रवचनोंके आधारपर 'मानसपीयूष' के इस परिवर्धित, संशोधित तथा नये कलेवरके लगभग बिलकुल नये संस्करणमें समन्वय सिद्धन्तका विषयभी लिखा गया है।

व्याकरण-साहित्याचार्य पं० रूपनारायणमिश्रसे साहित्य और अन्य बहुत विषयोंमें हमें बहुत सहायता मिली है। इन उपर्युक्त विद्वान महानुभावों ने जो अपना अमूल्य समय देकर सहायता की है उसके लिये हम उनके बहुत आभारी हैं।

जो बात जिसके सत्संगसे प्राप्त हुई, उसको, जैसा कुछ मैंने ग्रहण किया है वैसा पाठकोंकी भेंट करता हूँ। जो कुछ जिसके सत्संगका लाभ है, वह मैंने बिना उनको दिखाये, उनके नामसे दिया है। इनमें जो त्रुटियाँ हों वह मेरी समझकी त्रुटियाँ समझनी चाहियें और इनमें जो भूषण है वह उन्हीं महानुभावोंका है—"यदत्र दूषणं किंचित्तन्न तेषां ममैव तत्। यदत्र भूषणं किंचित् तत्तु तेषां न वै मम।"

गोस्वामी तुलसीदासजी महात्मा होते हुए भी 'देशके नेता और समाजसुधारकभी थे।' उनके ग्रंथोंमें यह विलक्षण प्रभाव है कि उनके बारंबार अध्ययनमात्रसे मनुष्य मनुष्य हो जाता है—"दुश्चरित्र सुचरित्र, पापी पुण्यात्मा, क्रोधी शान्त, निर्दय दयालू और उद्धत नम्र हो जाता है। यहांतक कि महानास्तिक भी परम आस्तिक हो गए हैं और अबभी हो सकते हैं।" ऐसे ग्रंथके होते हुये जो उससे हठात् दूर रहते हैं वे अभागे ही हैं:—"ते कायर कलिकाल बिगोए"। एक बड़ी विचित्रता इस ग्रंथमें यह है कि जिस मनुष्यकी जैसी बुद्धि है, वह इससे वैसा ही आनंद पाता है। षट्दर्शनी इसका पाठ करता है, तो उसको षट्शास्त्रोंके गूढ़ तत्वोंके ज्ञानका आनंद प्राप्त होता है।—यही विलक्षणता देखकर साधारण वर्ग भी इसकी ओर अधिक संख्यामें झुक रहा है। अतः मेरी समझमें यह ग्रंथरत्न मानव-मात्रकी संपत्ति है।

मानवमात्रकी संपत्ति होनेका प्रमाण एक यह भी है कि प्रायः सभी प्रसिद्ध मानव-भाषाओंमें इस पुस्तकरत्नका अनुवाद होता जाता है, सभी इसे अपनाते जाते हैं। हालमें ही रूसी भाषामें भी यह पुस्तक प्रकाशित की गई है। राष्ट्रसंघठनके सारे मूल सिद्धान्त बुनयादी उसूल इसमें उपस्थित मिलते हैं, इससे सब राष्ट्रनेता इसको सम्मान दे रहे हैं। श्रीरहीम साहब खानखाना का कहना है कि यह हिन्दुओं को वेद है और यवनोंको प्रत्यक्ष कुरान है। अर्नेस्टवर्डजी कहते हैं कि यह लेटिन और ग्रीकके साहित्य से किसी प्रकार कम नहीं है—'It weighs favourably with the classics of Latin & Greek, प्रोफेसर टामसन साहब लिखते हैं कि अखलाक़की तालीम के लिये तो दूसरी ऐसी पुस्तकही नहीं It is singularly a moral book। हिन्दूधर्मावलंबियोंको तो यह ग्रंथ —'लोकलाहु परलोक निबाहू' के लिये एकमात्र सुगमातिसुगम साधन है। षट्दर्शनके पंडितोंकाभी यही एकमात्र 'विश्रामस्थान' है—यहीं आकर वे विश्राम पाते हैं। हमारे ऐसे पामर कुटिल जीवोंके लिये तो यह एकमात्र सुगम तरणोपाय है। जैसे (मेरी समझमें) गोस्वामीजीने यह ग्रंथ सर्वसाधारणके लिये लिखा है, वैसे ही मैंने भी टीका लिखनेमें तथा उसके पुनर्संस्करण करनेमें उन्हींका अनुसरण किया है, अर्थात् यथाशक्ति मैंने "मानस-पीयूष" में सभी मतोंका संग्रह किया है। तथापि ग्रंथकर्त्ता स्वयं विशिष्टाद्वैतसंप्रदायके हैं और यद्यपि इस संप्रदायके अनुयायियोंने इस ग्रंथको विशेष अपना लिया है तो भी विशिष्टाद्वैतसिद्धांतानुसार इसका अर्थ अप्रसिद्ध है—अतः हमने इस संस्करणमें विशिष्टाद्वैतसिद्धांतपरक अर्थ और भाव भी देनेका प्रयत्न किया है।

कई वर्ष हुए मेरा विचार था कि मैं दूसरे संस्करणमें केवल उत्तम भाव चुनकर दूँ और जो क्लिष्ट कल्पनाएँ जान पड़ती हैं, अथवा जो भाव लचर जान पड़ते हैं उनको सर्वथा नये संस्करणसे निकाल दूँ और मैंने श्री १०८ पं० रामवल्लभाशरणजीकी सहायता से यह कार्य प्रारंभ कर दिया था। इतनाही नहीं, बालकांडका विशेष अंश काट-छाँटकर ठीक भी कर लिया था। दैवयोगसे भक्तवर श्रीसीतारामीय बाबू व्रजेन्द्रप्रसादजी एम. ए., बी. एल., सबजज, बिहार, उन्हीं दिनों आए और यह मालूम होनेपर कि मैं प्रथम संस्करणमें काटछाँट कर रहा हूँ वे मेरे इस विचारसे सहमत न हुए और उन्होंने मेरे पास तुरंत पत्र भेजा जिसका कुछ अंश यहां उद्धृत किया जा रहा है—

Shri Ayodhyaji
18—9—1940.

....

(Para 3)— So that I may not be too late, I hurry up writing to you my view in the matter of curtailment. For valid and cogent reasons which I give below, I strongly wish that the massive informations imparted to the Hindu Public through 'Manas-Piyush' should be maintained intact, and, if possible, should be increased.

The most attractive and characteristic feature in 'Manas Piyush' is the analytic and Synthetic treatment of the subject matter, giving in full details the important views of the most renowned and deeply devout Ramayanis and thus giving the readers a full opportunity of improving their knowledge and developing their mind in the direction of Sharanagati and Bhakti.

It is my definite opinion that the value of this Encyclopœdia Indica of Shri Ramayana should not be detracted by curtailment or abridgment of the matters so lucidly and vividly dealt with.

Sita Ramiya Brajendra Prasad.

श्री अयोध्याजी
१८—९—१९४०

इस विचारसे कि मैं प्रस्तुत पुस्तकके संक्षिप्त करनेके सम्बंधमें अपने विचार प्रगट करनेमें पीछे न रह जाऊँ मैं आपको यह पत्र लिख रहा हूँ। मेरा दृढ़ तथा अटल विश्वास है कि 'मानस पीयूष' द्वारा जो असीम ज्ञान भांडार हिंदू जनताके लाभार्थ प्रस्तुत किया गया है उसको यही नहीं कि प्रस्तुतरूप में रखना अनिवार्य है वरन् उसमें यथा शक्ति वृद्धि करने की आवश्यकता है। मेरी इस धारणाकी पुष्टि निम्नलिखित अकाट्य एवं निर्विवाद प्रमाणों से होती है:—

'मानस पीयूष' की विशेषता तथा आकर्षण उसके व्याख्यात्मक एवं भावात्मक विषय-निरूपण में सन्निहित है। केवल यही नहीं अपितु इस महान् ग्रंथ में ख्यातनामा रामायणियों के सर्वोत्कृष्ट विचारों को सविस्तार पाठकों के सन्मुख करके उनको शरणागति तथा भक्ति मार्ग पर अग्रसर होने में सहायता प्राप्त होती है और तद्विषय ज्ञान में अभिवृद्धि होती है।

अतः यह मेरी निश्चित सम्मति है कि श्रीरामायण के इस महान् ग्रंथ की महत्ता को संक्षिप्त करने का प्रयास असंगत है।.........

सीतारामीय ब्रजेन्द्रप्रसाद

श्रीगोस्वामी चिम्मनलालजी, संपादक 'कल्याण-कल्पतरु' (अँग्रेजी) भी 'मानस' के पाठ के संबंधमें कुछ खोजके लिये यहां आये थे, उनसेभी मैंने इस काट-छाँट के विषयकी चर्चा की। उन्होंने उत्तरमें कहा कि 'मानस-पीयूष' में निकाल डालनेकी कोई वस्तु नहीं है, उसमें जो और बढ़े वह बढ़ाई ही जावे, कोई वस्तु घटाई न जाय।

यही राय श्रीयुत राजबहादुर लमगोड़ा एम. ए., एल.एल.बी., सीनियर ऐडवोकेट, फतेहपुर की भी हुई। अतएव मैंने जो दूसरा संस्करण बालकांडका लिखाथा उसको रद्द कर फिर से लिखना प्रारंभ किया और विवाह प्रसङ्गतक लिखकर तैयारभी किया। इसमें मैंने श्री पं० रामकुमारजीके पूरे हस्तलिखित टिप्पणभी

दिये और लमगोड़ाजीके 'विश्व साहित्यमें रामचरितमानस' तथा 'मानसमें हास्य रस' सेभी सहायता ली तथा उनसे और भी सहायता पाश्चात्य साहित्य और तुलसी-साहित्यके मिलानमें ली जो हमने उन्हींके नामसे दी है। इस तरह पाश्चात्य साहित्यके विद्यार्थियोंका प्रेम तुलसी-साहित्यकी ओर आकर्षित करनेका प्रयत्न किया गया है।

इधर तीन वर्षसे श्रीरामानन्दीय वैष्णवोंके चित्त श्रीरामचरितमानसके विशिष्टाद्वैतपरक अर्थोंकी ओर आकर्षित हो रहे हैं और किसीभी ग्रंथमें विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त-परक अर्थ और उनकी संगति यथार्थ देखनेमें नहीं आई। हमें यहभी देखनेमें आया कि प्रथम संस्करणमें वहुतसी त्रुटियाँ होगई हैं, वहुतेरी कथाओं आदिके प्रमाणभी नहीं दियेगए हैं, कहीं-कहीं टीकाओंके उद्धरण भी अधूरे हैं। इधर १५-१६ वर्षोंमें जो और यत्किंचित् नया मसाला तथा नये विचार मिले हैं उनकोभी संगृहीत करना है। संस्कृतभाषाके पण्डितों-को मानसके अध्ययनमें प्रवृत्त करनेकेलिये, उनकी रुचि इस ओर करनेके लिये संस्कृत ग्रंथोंके उद्धरणों-समानार्थी श्लोकों आदिका संग्रह और जहां-तहां मानसके वाक्योंसे उनका मिलान भी इसमें किया जाना आवश्यक था। इत्यादि सब बातों पर दृष्टि जानेपर हमने तीसरी बार उसे फिरसे प्रारम्भसे लिखना प्रारम्भ किया। करीब सत्तर वर्षकी अवस्था होनेपरभी दस बारह घंटे प्रति दिन इस कार्यमें परिश्रम करतेहुए तीन वर्ष वीतगए।

माँग बहुत होनेपरभी हम शीघ्र प्रेमी पाठकोंके करकमलोंमें कोई दूसरा संस्करण न दे सके।

श्रीयुत भक्तवर गङ्गाप्रताप डींगर आदि महानुभावोंने जो अपनी तजवीजें (Suggestions) नये संस्करणके लिये वर्षें हुई भेजी थीं, उनकेलिये हम उनके कृतज्ञ हैं।

इस शरीरसे सम्बन्ध रखनेवाली पुत्री मीराको भी भूलना न चाहिए। महाभारत, पद्मपुराण, भागवत आदि की कथाओं प्रसङ्गों आदिको चुनचुनकर उसीने 'मानस पीयूष' के लिये एकत्र कर दिया और कितनीही वार सूचीभी बनाई थी। भगवान् उसको स्वस्थ रक्खें और अपनी भक्ति दें।

पाठ

प्रथम संस्करणमें हमने नागरीप्रचारिणीसभाके प्रथम संस्करणका ही पाठ प्रायः रक्खा था। उस समय मुझे सम्वत् १६६१ के बालकाण्ड का पताभी नहीं था। प्रथमभागके दूसरे संस्करणमें हमने सं०१६६१ का पाठ रक्खा था। अब इस नये संस्करणमें हमने पुनः पाठों पर विशेष विचार किया है। जो पाठ सं० १६६१ का है वह हमने जैसा उस पोथीमें है वैसा ही दिया है, उसमें हेर-फेर नहीं किया। जहाँ हमने उसका पाठ नहीं लिया है, उसका कारण दिया है।

पं० शम्भुनारायण चौबे, पूर्व पुस्तकालयाध्यक्ष, काशीनागरीप्रचारिणी सभा ने जो १७२१, १७६२, लाला छक्कनलालजी, कोदोरामजी और काशीनरेशकी सं० १७०४ की प्रतिके पाठ पत्रिकामें छपाए थे, उससे हमने पूरी सहायता ली। १६६१ के पाठ उसमें कई जगह अशुद्ध मिले, इस लिये १६६१ वाली प्रतिका पाठ हमने असली प्रति से ही लिया। शेषका पाठ जो इस संस्करणमें दिया गया है, वह हमने चौबेजीसेही लिया है। इसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं, क्योंकि वह उन्होंने मेरे पास स्वयं भेज दी थी।

रीसर्च स्कालरोंको सं० १६६१ की पोथी देखनेका विशेष कष्ट न उठाना पड़े इसलिये हमने १६६१ का पाठ ज्योंका त्यों और आवश्यकतानुसार अपने टिप्पणों सहित दिया है। हमने अपनी ओरसे अनुस्वार अथवा उकार के चिह्न नहीं दिये हैं। पोथीमें अर्धचन्द्र बिंदु केवल एक जगह देखने में आया, नहीं तो सर्वत्रऐसा ॅ ही है। हमने इस संस्करणमें १६६१ के पाठमें ॅ ऐसाही दिया है। जो अनुस्वार हमने आवश्यक समझकर अपनी ओरसे बढ़ायेहैं वहाँ हमने अर्धचंद्रभी दिया है—जिसमें पाठक जान लें कि यह मूल प्रतिका नहीं है, किंतु सम्पादकका है।

१६६१ में एक प्रकरणके प्रकरणमें अनेक स्थानोंमें तालव्यी शकार 'श' आया है। अन्य लोगोंने संभवतः उसे लेखप्रमाद समझकर वहाँभी 'स' छपाया है। मैं उनसे सहमत नहीं हूँ। इस लिये मैंने उन स्थानोंपर 'श' ही दिया है जैसा पोथीमें है और उसका कारणभी जो अपनी तुच्छ बुद्धिमें आया दिया है। अन्य पाठकभी उसपर विचार करें।

'ष' का प्रयोग 'ख' की जगह प्राचीन प्रायः सभी पोथियोंमें मिलता है। 'ख' को कभी 'रव' भी पढ़ लिया जाता है और 'रव' को 'ख'। संभव है कि इस दोषके बचानेके लिये 'ष' ही लिखा जाता रहा हो, अथवा और कोई कारण हो। उच्चारणमें भेद न होनेसे समस्त साहित्यज्ञोंने अब 'ष' की जगह 'ख' रक्खा है। हमनेभी इस संस्करणके मूल पाठमें 'ख' का ही प्रयोग किया है। प्राचीन पोथीमें जहाँ 'ए' है वहाँ हमने 'ए', जहाँ 'य' है वहाँ 'य' और जहाँ 'ये' है वहाँ 'ये' दिया है। प्राचीन पोथियोंमें 'ड़' की जगहभी 'ड' ही है। हमने सुविधाके लिये 'ड़' लिखा है।

पूर्व संस्करण छपाते समय हमें यह बोध न था कि दोहेके पूर्वकी चौपाइयां उस दोहेका अंग हैं। यह बात हमें प्राचीन पोथियोंके देखनेसे कई वर्ष पीछे ज्ञात हुई। अतः इस संस्करणमें हमने दोहेका अंक जो प्रत्येक पृष्ठके ऊपर रहता है उसे ठीक कर दिया है और पुस्तकमें भी जहाँ-जहाँ ग्रंथके उदाहरण दिये गए हैं वहाँ सर्वत्र पुनः पुस्तकसे मिलाकर दोहों के अंक ठीक कर दिये हैं।

इस संस्करणमें जहाँतक स्मरणशक्ति काम दे रही है, हमारा प्रयत्न यह है कि पुनरुक्तियाँ न होने पावें। जिस शब्दका अर्थ एक बार आगया उसका अर्थ फिर न दिया जाय। जो कथा एक बार लिख दी गई वह फिर न दुहराई जाय। जो विशेष भाव किसी वाक्यका एक जगह लिख दिया गया वहफिर दूसरी जगह न लिखा जाय। जहाँ तक स्मरण रहता है हम पूर्व दोहा चौपाईका संकेत कर देते हैं जहाँ पूर्व वह विषय आचुका है।

इस संस्करणमें हमने पाद-टिप्पणी प्रायः उड़ाही दी है जिसमें साधारण पाठककोभी समझनेमें कठिनता न हो। संस्कृतके उद्धरण छोटे अक्षरोंमें हैं पर उनके अर्थ साधारण अक्षरोंमें हैं। जो संस्कृत नहीं पढ़े हैं वे उन उद्धरणों को छोड़भी दें तो हानि नहीं। जिस शब्दका भाव लिखा गया है, उसपर जिस जिसने जो लिखा है वह सब एकत्रही उस-उसके नामसे दिया गया है जिसमें एकसाथही सबके भाव पाठकको मिल जायँ। पूर्वके महात्माओंने जो लिखा है उसे (कहीं-कहीं) न समझनेपरभी दे दिया है क्योंकि यह तिलक Encylopoedia इनसाइक्लोपीडिया ही है।

"टिप्पणी" शब्दसे पं० रामकुमारजीके भाव हमने सूचित किये हैं।

"मानस-पीयूष" में रुपयेमें बारह आना भावार्थ आदि साकेतवासी प्रसिद्ध रामायणी श्री पं० रामकुमारजीके हैं, चार आनेमें समस्त उपलब्ध टीकाकारों, साहित्यज्ञों, रामायणविज्ञों आदिके भाव हैं। बालकांडके प्रथम संस्करणके समय श्रीपंडितजीके कथाके लिये तैयार किये हुए साफ़ हस्तलिखित खर्रे हमको केवल सत्तर (७०) दोहे तकके प्राप्त थे, शेष सब सुन्दरकांड छपनेके पश्चात् प्राप्त हुए थे। वे सब इस संस्करणमें दिये जारहे हैं। संस्कृत खर्रेभी पीछेही प्राप्त हुए थे। उनकाभी समावेश इसमें किया गया है। यह सब खर्रे हमारे पास मौजूद हैं और उनकी एक प्रतिलिपिभी, जो छावनीके रामायणी श्री ६ रामसुन्दरदासजीके पास है।

पं० रामकुमारजीके खर्रोंके टिप्पणसे कहीं-कहीं असम्मत होनेपर मैंने स्पष्ट असंमति लिख दी है। मेरी समझमें ऐसा आता है कि किसी समय वैसा विचार उनके ध्यानमें आया, उन्होंने उसे टीप लिया कि पीछे इसपर विचार करेंगे परन्तु वह वैसाही रहगया। असम्मत होनेपरभी उसको देनेका कारण यह है कि संभव है कि मेरी समझमें नहीं आया पर अन्य पाठक प्रेमी उसे लगा सकें तो लगालें।

☞ पं० रामकुमारजीके हस्तलिखित टिप्पण हमें श्रीपुरुषोत्तमदत्त व्यास (श्रीरामनगर, काशी) से मिले। हम उनके परम आभारी हैं और पाठकोंकोभी उन्हींका कृतज्ञ होना चाहिए। श्रीबैजनाथजी, श्रीकाष्ठजिह्वस्वामीजी, बाबा श्रीहरिहरप्रसादजी, श्रीपंजाबी सन्तसिंहजी, बाबा श्रीजानकीदासजी, बाबा हरीदासजी, मुं० रोशनलालजी आदि कतिपय प्राचीन टीकाकारोंकी टीकाओं को इस संस्करणके लिये मैंने फिरसे अध्ययन करके उनके भावार्थोंमें जो त्रुटियां पूर्व संस्करणमें आगई थीं उनको ठीक करके लिखा है। उनकी पुरानी जटिल भाषा प्रथम बार इतनी अच्छी तरह नहीं समझा था।

श्रीकरुणासिंधुजी आदि प्राचीन टीकाकारोंकी टीकाओंसे जो संस्कृत श्लोकोंका संग्रह इस संस्करणमें किया गया है, उसमें अशुद्धि मिलनेपर जहाँ तक हो सका उसके सुधारनेका प्रयत्न मूल ग्रन्थोंसे खोज खोजकर किया गया है। फिर भी कहीं-कहीं संशोधन करना नितान्त असम्भव प्रतीत होने पर निरुपायसे श्लोक ज्योंका त्यों दिया गया है।

इस संस्करणमें पूर्व संस्करणकी अपेक्षा टीकाकारोंके मतोंपर कुछ विशेष आलोचना की गई है। प्रथम संस्करणमें हमारा उद्देश्य केवल संग्रह कर देनेका था, किसीपर कोई आलोचना करनेका विचार कदापि न था। परन्तु कई ग्राहक प्रेमियोंने मुझे टीकाकारके कर्त्तव्य लिखे और यह लिखा कि अपना मत आलोचनाद्वारा अवश्य देना चाहिए। इसीसे प्रथम संस्करणमें आगे चलकर कहीं-कहीं आलोचना की गई थी।

इस संस्करणमें बालकांडके प्रारंभसेही हमने प्राचीनसे प्राचीन टीकाकारोंसे लेकर आधुनिक टीकाकारोंतकके लेखोंमें जहाँभी कोई बात हमें खटकी उसका हमने सोपपत्तिक निराकरण जहाँतक हो सका कर दिया है। जहाँ कोई बात हमारे समझमें नहीं आई वहाँ हमने वैसा स्पष्ट कह दिया।

निराकरण करने में जो लिखा गया है उसको देखकर सम्भव है कि कोई लोग उसे खंडन समझकर अनुचित मानें, तो उसके विषयमें मेरी सविनय प्रार्थना है कि मैंने जो कुछ लिखा है वह कुछ खंडन करनेके उद्देश्यसे नहीं किंतु सिद्धान्तका समर्थन करनेके लियेही लिखा है। हमने स्वयं जो प्रथम संस्करणमें लिखा है, उसमेंभी जो भी हमारे अपने विचार हमको इस समय ठीक नहीं जान पड़े उनकाभी हमने सोपपत्तिक निराकरण किया है। श्री पं० रामकुमारजीकी टिप्पणी जो मानसपीयूषका मुख्य आधार है, उसमेंभी यह बात हुई है। हमें अवश्य शोक होता है परन्तु टीकाकारका यह कठोर एवं सत्य कर्त्तव्य हमें निरुपायसे करना पड़ा—इसके लिये पाठक आदि सभी महानुभावोंसे मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रीस्वामी शङ्कराचार्य्यजी महाराजने ब्रह्मसूत्र के दूसरे अध्यायके दूसरे पादके प्रथम सूत्रपर लिखा है कि—"मुमुक्षू को सम्यक् ज्ञान होनेके लिए केवल अपने पक्षका प्रतिपादन करना तो ठीक है परंतु दूसरेसे द्वेष करनेवाला जो परपक्षनिराकरण है उससे क्या प्रयोजन है ?" यह शङ्का उठाकर उन्होंने उसका समाधान यह किया है कि बड़े सर्वज्ञ और सिद्ध महर्षियोंके बनाये हुए पूर्ण युक्तियोंसे प्रतिपादित सांख्यादि सिद्धान्तों को देखकर सामान्य बुद्धि वाले मनुष्योंको उनपर श्रद्धा न होजाय और वे उनका ग्रहण न कर लें, इसलिये, वे दोषयुक्त हैं उनका ग्रहण न करना चाहिए, यह दिखानेके लिए उन सिद्धान्तोंका खंडन करना आवश्यक है। यथा—(भाष्य) "ननु मुमुक्षुणां मोक्षसाधनत्वेन सम्यग्दर्शननिरूपणाय स्वपक्षस्थापनमेव केवलं कर्त्तुं युक्तं किं परपक्षनिराकरणेन परद्वेषकरेण ? बाढमेवं तथापि महाजन परिगृहीतानि महान्ति सांख्यादि तंत्राणि सम्यग्दर्शनापदेशेन प्रवृत्तान्युपलभ्य भवेत्केषाश्चिन्मंदमतीनामेतान्यपि सम्यग्दर्शनायोपादेयानीत्यपेक्षा। तथा युक्ति गाढत्वसंभवेन सर्वज्ञ भाषितत्त्वाच श्रद्धा च तेषु, इत्यतस्तदसारतोपपादनाय प्रयत्यते।"

इसीकी टीकामें द्वादश दर्शनाचार्य वाचस्पति मिश्रजी अपने 'भामती' टीकामें लिखते हैं कि विरक्तोंकी कथा वार्ता का प्रयोजन तत्वनिर्णयमात्र होता है, परन्तु परपक्षके निराकरण बिना तत्वनिर्णय ठीकसे नहीं हो सकता, इस लिये विरक्तद्वाराभी परपक्षके दोष दिखाए जाते हैं। वह कुछ शत्रुका पक्ष समझकर वा द्वेष-

भावसे नहीं। अतः ऐसे प्रतिपादनसे विरक्ततामें कोई हानि नहीं। "तत्वनिर्णयावसाना वीतराग कथा न च परपक्षदूषणमंत्रेण तत्वनिर्णयः शक्यः कर्तुमिति तत्व निर्णयाय वीतरागेणापि परपक्षो दूष्यते। न तु परपक्ष-तयेति न वीतरागकथात्व व्याहतिरित्यर्थः।"

बालकांड तिलक प्रथम संस्करण तीन भागोंमें था जिसमें २२७८ पृष्ठ थे। और जो संवत् १६८१—१६८४ में प्रकाशित हुआ था। प्रथम भाग जिसमें प्रारंभ के तेंतालीस (४३) दोहोंका तिलक था, उसका दूसरा संस्करण मानसपीयूषका उत्तरकांड समाप्त होनेपर तुरतही हमें करना पड़ा था। उसमें लगभग सौ पृष्ठ प्रथम संस्करणसे अधिक थे। उस भागका अब तीसरा संस्करण है जो प्रेमी पाठकोंके करकमलोंमें भेंट किया जारहा है। डेमाई आक्टेवो अठपेजीमें यदि यह छपता तो इसमें एक हजार से अधिक पृष्ठ होते। हमने उसका साइज़ बदल दिया है और पैरा आदिके नियमोंकी भी पर्वा न करके हमने इसे घना छपवाया है जिसमें मूल्य भी विशेष न बढ़े।

यदि श्रीसीतारामजीकी इच्छा होगी तो यह नया संस्करण इसी ढंगपर आदिसे अंत तक प्रकाशित हो सकेगा। नहीं तो इस अवस्थामें विना किसी दूसरे सहायकके इतना परिश्रम तो असंभवही है। उन्हीं जगन्नि-यन्ताने जैसे शक्ति और तदनुकूल बुद्धि आदि देकर ७००० पृष्ठोंका प्रथम संस्करण अकेले इसी शरीरसे तैयार कराया था वैसेही वे इस संस्करणको करा ले सकते हैं—अपनी शक्तिसे तो असंभवही था।

छपाई और संशोधन

दास सन् १६३४ ई० से श्रीअयोध्याजीसे बाहर नहीं जाता। दूसरे, चित्तभी लिखने-पढ़नेके कामसे हट गया था। इत्यादि कारणोंसे नवीन संस्करणके प्रकाशनमें अत्यन्त विलम्ब हुआ। श्रीअनन्तरामजीने इस कार्यके करनेमें उत्साह दिखाया किन्तु उनका शरीर बहुत अस्वस्थ होगया और वे इस संसारको छोड़कर स्वर्गवासी हुए। श्रीरामचन्द्रदास पाटील साहित्यरत्न आदि उपाधियां प्राप्त कर चुके थे। इन्होंने अपना प्रेस खोल कर 'मानस-पीयूष' छापकर प्रकाशित करनेका उत्साह दिखाया।...पुस्तक प्रारम्भसे ही बहुत अशुद्ध छापी और मेरे बारंबार लिखनेपर भी उन्होंने कुछ ध्यान न दिया जिससे लाचार होकर उनके हाथसे काम छीन लिया गया। पृष्ठ १—३८४ में 'प्रेस-प्रेत' की भरमार प्रत्यक्ष है।

बहुतसे प्रेमियोंका आग्रह देखकर श्रीअयोध्याजीमें जैसे-तैसे एक नये प्रेसवालोंके द्वारा यह छपाईका काम कराया जा रहा है। दासके नेत्रोंमें मोतियाबिन्दु हो गया है। केवल एक नेत्रमें कुछ रोशनी है उसीसे एक बार प्रूफ़का संशोधन कर दिया जाता है। एक महात्मा इसमें हमारी बहुत सहायता कर रहे हैं। हम उनके बहुतही आभारी हैं; प्रूफ़की इतनी देखभालपरभी कुछ अशुद्धियोंका रह जाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। छपाई, सफ़ाई, आदिके लिये प्रेसवालोंसे बारंबार प्रार्थना करता रहता हूँ, इससे अधिक क्या कर सकता हूँ? छपाई, सफ़ाई और ठीक संशोधन तो उन्हींके आधीन है। कार्य शीघ्रातिशीघ्र हो इस लिए कुछ-कुछ काम दूसरे प्रेसोंसेभी लेता हूँ जितनाभी वे कर सकते हैं। सब प्रेसवालोंको हम धन्यवाद देते हैं कि वे जो कुछ हो सकता है उससे प्रकाशनमें सहायक हो रहे हैं।

अंतमें हम श्रीअनतरामजी तथा श्रीरामचन्द्रदास पाटील को भी धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इनके प्रका-शनका साहस किया यद्यपि वे उसमें असफल हुए। आज हम उन्हींकी कुछ सामग्रियोंको लेकर आगे चल रहे हैं। इस संस्करण के पृष्ठ १—३८४ बड़ोदा तथा नांदुरासे जनवरी सन् १६४८ में प्रकाशित हुए थे। उसके आगे से श्रीअयोध्याजी से प्रकाशित हुए हैं। जो महानुभाव श्रीअयोध्याजी और फ़ैजाबाद तथा अन्यत्रके इस संस्करणके प्रकाशनमें हमारे सहायक हुए एवं जो आगे होंगे उनकोभी मैं हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

जिन-जिन महात्माओंने निःस्वार्थ भाव से इस श्रीमानससेवामें हमारा हाथ बटाया है उनका मैं परम कृतज्ञ हूँ। आज्ञा न होनेसे मैंने उनका नाम नहीं खोला।

इस दीन शिशुको आशा है कि पं० श्रीरामकुमारजीकी तथा रामायणी श्रीमाधवदासजीकी आत्माएँ इस कार्यसे संतुष्ट होंगी कि इस दीनके द्वारा उनकी अभिलाषाएँ श्रीसीतारामजीने पूर्ण कीं।

श्रीसद्गुरुदेव भगवान् अनन्त श्रीरूपकलाजी, जिनकी परम गरीयसी आज्ञा तथा कृपाने हिन्दीभाषा न जाननेवाले इस अबोध शिष्यसे अकेलेही इतना भारी कार्य संपन्न करा लिया उनको वारंबार यह दास सादर सप्रेम प्रणाम करता है। समस्त पूर्वाचार्यों तिलक करनेवालोंकी भी सादर सप्रेम प्रार्थना करता हूँ। आप सब ही इस ग्रंथमें रत्नरूपसे सुशोभित हैं और सदा रहें। आपकी कीर्त्तिही बढ़ाना इस दासका उद्देश्य रहा है, बालकके तोतले वचनके समान कहीं-कहीं जो आलोचनाएँ की गई हैं उन्हें पढ़कर आप प्रसन्न ही हों।

अंतमें आपसे प्रार्थना है कि आप इस शिशुको सप्रेम तथा प्रसन्नतापूर्वक आशीर्वाद दें कि इसी शरीरमें इस शिशुको प्रेम-भक्ति प्राप्त हो जाय और सदा श्रीसीतारामजीके नाममें, चरणोंमें, मुखारविन्दके दर्शनमें मन लवलीन रहे। जय श्रीसीताराम। पौष कृ० २ संवत् २००७

—अंजनीनंदनशरण, श्रीअयोध्याजी

चतुर्थ संस्करणके संबंधमें

अनंत श्रीगुरुदेवजीकी कृपासे बालकांडके प्रथम ४३ दोहों का 'मानस-पीयूष' तिलक, चतुर्थ संस्करण, आज यह दास प्रेमियोंकी सेवामें भेंट कर रहा है यह संस्करण पिछले संस्करणकी अपेक्षा बहुत सुन्दर और शुद्ध छपा है। हमारे पास प्रचारका किंचित् भी साधन न होनेपर भी जनताने इसे कैसा अपनाया यह इसीसे स्पष्ट है कि सातों कांडोंका तिलक पूरा होते-होते हमें बालकांडके नये संस्करणके छपानेकी आवश्यकता पड़ गई और भाग १ छपकर तैयार भी हो गया।

—श्रीअंजनीनन्दनशरण

नवाँ संस्करण

पू० श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी महाराजने मानस-पीयूषके अधिक प्रचारकी इच्छासे अपना वर्तमान पूरा स्टाक तथा उसके पुनर्मुद्रण तथा विक्रय आदिके सर्वाधिकार स्वेच्छापूर्वक गीताप्रेस, गोरखपुरको प्रदान कर दिये। जिसके लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। जो-जो खण्ड जैसे-जैसे समाप्त होते जायँगे, वैसे-वैसे ही उनके पुनर्मुद्रणकी व्यवस्था करनेकी बात है। इसीके अनुसार प्रथम खण्डका यह नवाँ संस्करण प्रकाशित किया गया है।

प्रकाशक—गीताप्रेस, गोरखपुर

❀ श्रीगुरवेनमः ❀

इस भाग में आए हुए प्रकरणोंकी सूची

प्रथम भाग के संकेताक्षरों की तालिका

संकेताक्षर	विवरण
अ०	अयोध्याकांड, अध्याय
अ. मं.	अलंकारमंजूषा; अयोध्याकांडका मंगलाचरण
अ. २०५	अयोध्याकांडका दोहा २०५ या उसकी चौपाई
२. २०५	अयोध्याकांडका दोहा २०५ या उसकी चौपाई
अ. दी.	मानस अभिप्राय दीपक
अ. दी. च.	मानस अभिप्रायदीपकचक्षु (श्री-जानकीशरणजी)
अ. रा.	अध्यात्म रामायण
अमर	श्रीअमरसिंहकृत 'अमरकोश'
अलंकार मं०	लाला भगवानदीनजी रचित 'अलंकारमंजूषा'
आ. रा.	आनन्द रामायण
आ.	अरण्यकाण्ड
आ. २. / ३. २.	अरण्यकांडका दूसरा दोहा या उसकी चौपाई
आज	इस नामका एक दैनिक पत्र
उ०	उत्तरकाण्ड; उत्तरखंड (पुराणों-का); उत्तरार्ध, उपनिषद, (प्रसंगानुकूल लगा लें)।
उ. ११५, / ७. ११५	उत्तरकांडका दोहा ११५ या उस-की चौपाई
क०	कवितावली
क० ७	कवितावली का उत्तरकांड
कल्याण	गीताप्रेस, गोरखपुरका मासिक पत्र
करु० / श्रीकरुणासिंधुजी	महन्त श्री १०८ रामचरणदास जी महाराज करुणासिंधुजी की 'आनन्द लहरी' टीका जो सं० १८७८ में रची गई और नवल-किशोरप्रेससे बैजनाथजीकीटीका से पहले प्रकाशित हुई।
कठ (कठोप) १.२.२०	कठोपनिषद् प्रथम अध्याय द्वीतीय वल्ली श्रुति २०
का., १७०४	काशिराजके यहांकी सं० १७०४ की लिखी पोथी
काष्ठजिह्वस्वामी	रामायणपरिचर्याकार श्रीदेवतीर्थ-स्वामीजी
कि.	किष्किंधाकांड
कि. मं०	किष्किंधाकांड मंगलाचरण
केन, ३.१२	केनोपनिषद् तृतीय खण्ड श्रुति १२
को. रा.	कोदोरामजीका गुटका
खर्रा	पं० रामकुमारजीके प्रथमावस्था-के लिखेहुए टिप्पण

संकेताक्षर	विवरण
गणपति उपाध्याय	उनकी मानसतत्वप्रकाश शंकावली
गी०	गीतावली
गीता	श्रीमद्भगवद्गीता
गौड़जी,	प्रोफेसर श्रीरामदास गौड़, एम० एस० सी० (स्वर्गीय)
(श्री) चक्र जी	महात्मा श्री सुदर्शनसिंहजी (श्री चक्र), संपादक 'संकीतन', 'मानसमणि'
चौ०	चौपाई (अर्धाली)
छ०	लाला छक्कनलालजीकी पोथी
छां० ३.१३.७.	छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ३ खण्ड १३ श्रुति ७
जाबालो.	जाबालोपनिषद
टिप्पणी	श्री पं० रामकुमारजीके हस्तलिखित कथाके लिये तैयार किये हुए टिप्पण जो स्वर्गीय पुरुषोत्तमदत्त जी (श्रीरामनगरलीलाके व्यास) से प्राप्त हुए।
तु० प०	तुलसीपत्र मासिक पत्रिका जो सं० १६७७ तक महात्मा श्रीबालकराम विनायकजीके संपादकत्वमें श्री अयोध्याजीसे निकली और फिर मानसपीयूष में सम्मिलित होगयी
तैत्ति० (तै०) २.४	तैत्तिरीयोपनिषद् बल्ली २ अनुवाक ४
तैत्ति० शिक्षोप०	तैत्तिरीय शिक्षोपनिषद्
द्विवेदीजी	महामहोपाध्याय श्रीसुधाकर द्विवेदीजी
दीनजी	लाला श्री भगवानदीन साहित्यज्ञ हिंदीके लेकचरार, हिंदूविश्वविद्यालय, काशी, जिनकी 'भक्ति भवानी' 'श्रीरामचरणचिह्न' और 'अलंकारमंजूषा' आदि ग्रंथ प्रसिद्ध हैं और जो ना० प्र० सभा के एक मुख्य सदस्य थे।
दो०	दोहा; दोहावली;
दो० १५६	दोहावलीका १५६वां दोहा

संकेताक्षर	विवरण
नं. प., (श्री) नंगे परमहंसजी	बाबा श्रीअवधविहारीदासजी, बाँधगुफा, प्रयाग
ना. प्र. स., ना. प्र.	नागरीप्रचारिणीसभाका मूल पाठ

नोट—इससे पं० रामकुमारजीके अतिरिक्त अन्य महानुभावोंके विशेष भाव तथा संपादकीय विचार सूचित किये गए हैं। जो भाव जिस महानुभावके हैं उनका नाम कोष्टकमें दे दिया गया है। जहां किसीका नाम नहीं है वह प्रायः संपादकीय टिप्पण हैं।

संकेताक्षर	विवरण
पं० पंजाबीजी	श्रीसंतसिंह पंजाबीजी के 'भावप्रकाश' टीकाके भाव। यह टीका भी १८७८ वि. में तैयार हुई और सन् १९०१ में प्रकाशित हुई।
प. पु.	पद्म पुराण
प. पु. उ.	पद्म पुराण उत्तर खंड
पां०, पाँड़ेजी	मुं० रोशनलालकी टीका जिसमें श्री पं० रामबख्श पांड़ेजी रामायणीके भाव हैं।
पां. गी.	पांडव गीता
पा०	पाणिनि व्याकरण
पू०	पूर्वार्ध; पूर्व;
प्र. सं. (मा.पी.प्र.सं)	मानसपीयूष प्रथम संस्करण
प्रेम संदेश	एक मासिक पत्रिका
बा० ३; १.३	बालकाण्डका दोहा ३ या उसकी चौपाई
बाहुक	श्रीहनुमानबाहुक
वि., विनय	विनयपत्रिकाका पद
वै. सं., वैराग्य सं.	वैराग्यसंदीपिनी
व्यासजी	पं. श्रीरामवल्लभाशरणजी (श्रीजानकीघाट; श्रीअयोध्याजी)
ब्रह्म वै. पु.	ब्रह्मवैवर्त पुराण
भक्तमाल	श्रीनाभास्वामीरचित भक्तमाल
भट्टजी	पं० रामेश्वरभट्टजीकी टीका
भगवद्गुणदर्पण भ. गु. द.	बैजनाथजीकीटीकामें भगवद्गुण दर्पण ग्रंथके उद्धृत श्लोक
श्रीभगवद्गुणदर्पण भाष्य	श्रीविष्णुसहस्रनामपर श्रीभगवद्गुणदर्पणभाष्य

संकेताक्षर	विवरण
भा. दा.	श्रीभागवतदासजीकी पोथी
भा. स्क.	श्रीमद्भागवत स्कंध
भक्तिरसबोधिनी-टीका	श्रीप्रियादासजीकृत गोस्वामी श्रीनाभाजीकृत भक्तमालकी टीका कवित्तों में
मं०	मंगलाचरण
मं० श्लो०	मंगलाचरणका श्लोक
मं. सो.	मंगलाचरणका सोरठा
मनु.	मनुस्मृति
महा रा.	महा रामायण के अध्याय और श्लोक
महाभा.	महाभारत
महाभा. शां. प.	महाभारत शान्ति पर्व
(डाक्टर) माताप्रसाद गुप्त	उनकी रचीहुई 'तुलसीदास' नामक पुस्तक
मा. अ. दी.	मानस अभिप्राय दीपक
मा. त. वि.	संत उन्मनी श्रीगुरुसहायलालजी की बालकांडकी टीका
मानस दीपिका	काशीजीके बाबारघुनाथदास (रामसनेही) कृत टीका
मा. प. } मा. पत्रिका }	"मानसपत्रिका", (महामहोपाध्याय श्रीसुधाकर द्विवेदीजी तथा साहित्योपाध्याय श्रीसूर्यप्रसाद मिश्र द्वारा संपादित मासिक पत्रिका जो काशीजीसे लगभग सं० १९७० तक निकली) .
मानस प्रसंग } मा. प्र }	मानसराजहंस श्रीविजयानंदत्रिपाठीजी (काशी) की रचित मानसप्रकरणकी टीका।
मा. प्र.	बाबा श्रीजानकीदासजी महाराज, श्रीअयोध्याजी, की प्रसिद्ध बालकांडके आदिके ४३ दोहोंकी टीका "मानसपरिचारिका"। बाबा माधोदासजी इन्हींके शिष्य थे। श्रीअयोध्याजीके रामायणियोंकी परंपरा इन्हींसे चली।
मानसमणि	एक मासिकपत्रिका जो 'रामवन' जिला सतना से निकलती है।

संकेताक्षर	विवरण
मा. म.	पं० श्रीशिवलालपाठकजीविरचित 'मानस मयंक' की बाबू इन्द्रदेवनारायणसिंहजी कृत टीका और मूल।
मा. मा.	बाबा श्रीजानकीशरण (स्नेहलता) जी कृत मानस मार्तण्ड नामक बालकांडके प्रथम ४३ दोहोंका तिलक जो दस बारह वर्ष हुए छपा था।
मानस रहस्य	यह अलंकारोंकी एक छोटी पुस्तिका थी।
मानसांक	गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित मानसका प्रथम संस्करण (टीकासहित) जो विशेषांक के रूपमें प्रकाशित हुआ था।
मा. शं०	श्रीमन्मानस शंकावली
मा. स., मा. सं.	मानसपीयूषका संपादक
मार्क. पु.	मार्कण्डेय पुराण
मिश्रजी	पं० सूर्यप्रसादमिश्रजी साहित्योपाध्याय
मुक्तिको.	मुक्तिकोपनिषद्
मुण्डक १.२.१२	मुण्डकोपनिषद् प्रथम मुण्डक, द्वितीय खंड, द्वादश श्रुति
यजु. ३१.१९.१	यजुर्वेद संहिता अध्याय ३१ कंडिका १९ मंत्र १
(पं.) रा. गु. द्वि.	मिरजापुरनिवासी साकेतवासी प्रसिद्ध रामायणी पं० श्रीरामगुलामद्विवेदीजी। इनके द्वारा संशोधित बारह ग्रंथोंके गुटकाके संस्करणोंमें से सं० १९४५ में काशीके छपे हुए गुटका तथा मानसी वन्दनपाठकजी की हस्तलिखित प्रतिलिपिमें दिया हुआ पाठ जो पं० श्रीरामवल्लभाशरणजीके यहां है।
(पं.) रा. चं. शुक्ल	पं० श्रीरामचन्द्रशुक्ल, प्रोफेसर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

संकेताक्षर	विवरण
रा. ता.	श्रीरामतापनीयोपनिषद्
रा. उ. ता.	श्रीरामोत्तरतापनीयोपनिषद्
रा. ता. भाष्य	बाबा श्रीहरिदासाचार्यजी, श्री जानकीघाट, श्रीअयोध्याजी का श्रीरामतापनीयोपनिषद्पर भाष्य
पं० रामवल्लभाशरणजी, पं. रा. व. श.	श्रीजानकीघाटनिवासी पंडितजी जो श्रीमणिरामजीकी छावनीके व्यास थे ।
रा. बा. दा., रामायणीजी	बाबा रघुनाथदासजीकी छावनी, श्रीअयोध्याजीके रामायणी श्रीरामबालकदासजी (साकेतवासी)
रा. प.	'रामायणपरिचर्य्या' टीका (श्रीकाष्ठजिह्व देवतीर्थ स्वामीकृत सं० १९५५ की छपी)
रा. प. प.	काशीनरेश श्रीईश्वरीप्रसादनारायणसिंहजीकृत 'रामायणपरिचर्या परिशिष्ट' सं० १९५५ की छपी ।
रा. प्र.	श्रीसीतारामीय बाबाहरिहरप्रसादजीकृत 'रामायणपरिचर्य्या परिशिष्ट प्रकाश' सं० १९५५ का छपा ।
रा. पू. ता.	श्रीरामपूर्वतापनीयोपनिषद्
रा. प्र. श.	बाबा रामप्रसादशरणजी (दीन), मानसप्रचारक, साकेतवासी
(वे.शि.) श्री रामानुजाचार्यजी	श्री वृन्दावन हरिदेवमन्दिर के सुप्रसिद्ध वेदान्तशिरोमणि श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज ।
श्रीरूपकलाजी	वैष्णवरत्नअखिलभारतीय श्रीहरिनामयश-संकीर्त्तन-सम्मेलन तथा श्रीप्रेमाभक्ति-सम्मेलनके प्रवर्तक, संचालक तथा श्रीनाभास्वामी रचित भक्तमाल और भक्तिरसबोधिनी टीकाके प्रसिद्ध तिलककार साकेतवासी अनन्त श्रीसीतारामशरण भगवानप्रसादजी (श्री रूपकलाजी), श्री अयोध्याजी ।
(मुं०) रोशनलाल	प्रयागनिवासी श्रीरामबख्श पांडेजीके भाव जो मुं०रोशनलालजीने लिखकर छपाए
लं. १०३, ७.१०३	लंकाकांडका दोहा १०३ या उसकी चौपाई
लिं पु. पू.	लिङ्गपुराण पूर्वार्ध
वाल्मी०	वाल्मीकीयरामायण
वि०, विनय	विनयपत्रिकाका पद
श्री बिन्दुजी	ब्रह्मचारी संत श्रीबिन्दुजी(साकेतवासी), संपादक 'कथामुखी', श्रीअयोध्याजी ।
वि० टी०	श्रीविनायकराव कवि 'नायक' पेन्शनर जबलपुर विरचिता "विनायकी टीका" सं० १९७६,दूसरा संस्करण ।
वि०पी०,विनयपीयूष	विनयपत्रिकाका 'विनयपीयूष' नामक तिलक, सन् १९४७ में प्रकाशित
वि. पु. ६. ५	विष्णुपुराण अंश ६ अध्याय ५
वीर, वीरकविजी	पं० महावीरप्रसाद मालवीयकृत टीका, जिसमें अलंकारोंको विशेष रूपसे दिखाया है । प्रयागसे सं० १९७८ में प्रकाशित हुई ।
वे० भू०, वे.भू.पं.रा.कु.दा.	वेदान्तभूषण साहित्यरत्न पं० श्रीरामकुमारदासजी, मानसतत्त्वान्वेषी रामायणी, श्रीअयोध्याजी
वै०	श्रीवैजनाथदासजीकृत 'मानसभूषण' नामक तिलक प्रथम संस्करण १८९० ई०
बृह.(बृहदारण्यक) ३. ७. १५	बृहदारण्यकोपनिषद् तृतीयाध्याय सप्तम ब्राह्मण श्रुति १५
शं० ना०, शं० चौ०	मानसमराल स्वर्गीय पं० शम्भुनारायण चौबे, बी०ए०,एल एल० बी०, पुस्तकालयाध्यक्ष काशी ना० प्र० सभा । (नागरीप्रचारिणी पत्रिका वै० १९९९ में उनके 'मानसपाठभेद' नामक लेखसे मानस-

संकेताक्षर	विवरण
	पीयूषके इस संस्करणमें सं. १७२१, १७६२, छ०, को० रा०, और १७०४ के पाठ भेद दिये गए हैं]
(बाबू) श०सु० दा०	बाबू श्यामसुन्दरदासजी, सभापति, काशी नागरी प्रचारिणी सभा की टीका
श० सा०	नागरीप्रचारिणीसभाद्वारा प्रकाशित हिन्दी शब्दोंका कोश शब्द सागर (प्रथम बृहत् संस्करण)
शिला	जिला रायबरेली, ग्राम पूरे बबुरहानिवासी स्वर्गीय बाबा श्रीहरीदासजीरचित 'शीलावृत्ति' नामक टीका, द्वितीय संस्करण सन् १९३५ ई०
पं० श्रीशुकदेवलाल	इनकी टीका जो नवलकिशोर प्रेससे प्रकाशित हुई थी जिसमें उन्होंने प्रत्येक दोहेमें केवल आठ चौपाइयां (अर्धालियाँ) रक्खीं और सब काट छाँट डालीं।
श्लो०	श्लोक
श्वे० (श्वे० श्व०)	श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय ६ मंत्र २३
श्रीभाष्य	ब्रह्मसूत्रपर भगवान् श्रीरामानुजाचार्यजीका प्रसिद्ध भाष्य
सं०	संस्कृत, संहिता, सम्वत्
स०	सर्ग
संत उन्मनी टीका	मा० त० वि० में देखिये
संत श्रीगुरुसहायलालजी	,,
सत्पंचार्थप्रकाश	बाबा सरयूदास (श्रीअयोध्याजी) की नामपरक एकसौ पांच चौपाइयोंकी टीका
सत्योप० पू० अ०	सत्योपाख्यान पूर्वार्ध अध्याय
सा० द०	साहित्य दर्पण
सि० कौमुदी	सिद्धान्त कौमुदी
सि० ति०	'सिद्धान्ततिलक' नामकी टीका पं० श्रीकान्तशरणजी (अयोध्या) कृत जो श्रीरामलोचनशरणजीने पुस्तकभण्डार लहरियासरायसे सं० २००१ में प्रकाशित की और जिसका छपना तथा प्रकाशन जुलाई १९४७ से सुलहनामाद्वारा और पटना हाईकोर्टबेंचके फैसला ता० ११ मई १९५१ से भी बंद कर दिया गया।
सिद्धान्तदीपिका	श्रीबालअलीजी विरचिता (अप्राप्य)
सी. रा. प्र. प्र. सी.रा.नाम प्र.प्र. सी. नाम प्र. प्र.	श्री १०८ महाराज युगलानन्यशरणजी लक्ष्मणकिला, श्रीअयोध्याजीका 'श्रीसीतारामनाम प्रतापप्रकाश' नामक नामपरत्वके प्रमाणोंका अपूर्व संग्रह।
सु० १०	सुंदरकांड दोहा १० या उसकी चौपाई
सु० द्वि०,सु०द्विवेदी	काशीके स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदीजी।
(श्री) सुदर्शनसिंहजी	मानसमणिमें निकले हुये महात्मा श्रीसुदर्शनसिंह (श्रीचक्र) जीके लेख।
सु० र० भां०	सुभाषितरत्नमाला भाण्डागार
सू० मिश्र, सू०प्र० मिश्र	साहित्योपाध्याय पं० सूर्यप्रसादमिश्र, काशी।
स्कं० पु०	स्कंद पुराण
स्कं० पु० ना०उ० १७६	स्कंद पुराण नागर खंड उत्तरार्ध अ० १७६
बाबा हरीदास	'शिला' में देखिए। भाष्यकार श्रीहरिदासाचार्यजी।
हारीत	हारीतस्मृतिकार; हारीतस्मृति
[illegible]	स्मरण रखने योग्य विशेषभाव
=	अर्थात्
१७०४, १७२१, १७६२	इन संवतोंकी हस्तलिखित पोथियोंके पाठ जो शं० ना० चौबेजीने नागरीप्रचारिणी पत्रिकामें प्रकाशित कराये थे।
१६६१	संवत् १६६१ की हस्तलिखित बालकांड की पोथी जो श्रावणकुंज, श्रीअयोध्याजी, में सुरक्षित

संकेताक्षर	विवरण
	है। इसकी एक प्रतिलिपि हमने स्वयं लिख ली है जो हमारे पास है। इसमें हमने पाठके लेखपर अपने नोट्स (notes) भी दिये हैं।
[ ] ( )	कोष्ठकान्तर्गत लेख प्रायः संपादकीय हैं जहांपर किसीका नाम नहीं दिया गया है।

(१)—स्मरण रहे कि बालकांडमें हमने बालकांडका सांकेतिक चिह्न 'बा०' अथवा '१' न देकर बहुत जगह (बालकांड के सातवें दोहेके आगेकी संख्या बतानेके लिये) केवल दोहेका नंबर या दोहेकी संख्या और साथही बिन्दु बीचमें देकर अथवा कोष्ठकमें अर्धालीका नंबर दिया है। जैसे, (३६१)=दोहा ३६१ या उस दोहेकी चौपाई। १३ (२), १३.२ वा १३।२=दोहा १३ की दूसरी अर्धाली। इत्यादि।

(२) बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किंधा, सुन्दर, लंका और उत्तर कांडोंके लिये क्रमसे १, २, ३, ४, ५, ६ और ७ सूचक अंक दिये गए हैं।

(३) प्रत्येक पृष्ठके ऊपर दोहा और उसकी चौपाइयोंका नंबर दिया गया है जिससे पाठकको देखतेही विदित हो जाय कि उस पृष्ठ पर उन चौपाइयोंकी व्याख्या है।

ग्रंथोंके नाम जो इस भागमें आए हैं

अनर्घ राघव नाटक
अनेकार्थ शब्दमाला
अभियुक्त सारावली
अमरकोश
,, भानुदीक्षितकृत टीका
अमरविवेकटीका
अलंकार मंजूषा
अवतारमीमांसा
अवतारसिद्धि
अव्ययकोश
आचारमयूख
'आज' (दैनिक पत्र)
आह्निकसूत्रावली
उत्तररामचरित
उपनिषद्—
कठ; १६ केन; १७ छा-
य; १८ जाबाल; १६
ीय; २० तैत्तिरीय शिक्षा
बृहदारण्यक; २२ ब्रह्म;
मुण्डक; २४ मुक्तिक;
श्रीरामतापनी; २६ श्वेता-
; २७ श्रीसीतोपनिषद्।

२८ (क) कवितावली (तु० रचनावली)
२८ कामन्दक
२६ काव्यप्रकाश
३० किरातार्जुनीय
३१ कीर्त्तिसंलापकाव्यक
३२ कुमारसंभव
३३ कुवलयानन्द
कोश—
४ ,, अमर
१० ,, अव्यय
३४ ,, पद्मचन्द्र
३५ ,, मेदिनी
३६ ,, श्रीधरभाषाकोष
३७ ,, विश्वकोश
३८ ,, हिंदी शब्दसागर
३६ ,, हैमकोश
गीता—
४० गुरुगीता
४१ श्रीमद्भगवद्गीता
४२ पाण्डवगीता
४३ गीतारहस्य (श्रीबालगंगाधर तिलक)

४४ (क) गीतावली (तुलसी रचनावली)
४४ चन्द्रालोक
४५ छन्दप्रभाकर
४६ तुलसीपत्र
४७ तुलसीग्रंथावली (ना० प्र० स०)
४८ तुलसीरचनावली (श्रीसीतारामप्रेस काशी)
४६ (क) देवीभागवत
४६ दोहावली
५० दोहावली(लालाभगवानदीनजीकी टीका)
५१ धर्मसिंधु
५२ नाना शास्त्रीकृत प्रतिवार्षिक पूजाकथासंग्रह
५३ निर्णयसिंधु
५४ निरुक्ति (विष्णुसहस्रनामकीश्लोकवद्धटीका)
५५ नैषध (हर्षकवि)
५६ पंचदशी
५७ परमलघु मंजूषा

५८ पाणिनीय शिक्षा
५६ पाणिनीय व्याकरण
पुराण:—
६० कालिका
६१ कूर्म
६२ गरुड़
६३ नारदीय
६४ पद्म
६५ वृहद्विष्णु
६६ ब्रह्म
६७ ब्रह्मवैवर्त
६८ भविष्योत्तर
६६ भागवत
७० मत्स्य
७१ महाभारत
७२ मार्कण्डेय
७३ विष्णु
७४ शिव
७५ स्कन्द
७६ हरिवंश
७७ प्रसंगरत्नावली
७८ प्रसन्नराघवनाटक

७९ ब्रह्मसूत्र
८० भक्तमाल (श्रीनाभास्वामीकृत)
८१ भक्तिरसबोधिनी टीका
८२ भर्तृहरिशतक
८३ भूषणग्रन्थावली
८४ भोजप्रबन्धसार
८५ मन्त्रप्रभाकर
८६ मनुस्मृति
८७ मयूरचित्र
८८ महाकालसंहिता
८९ महिम्नस्तोत्र (मधुसूदनीटीका)
९० मानस अभिप्रायदीपक
९१ मानस अभिप्रायदीपक चक्षु
९२ मानसतत्त्वप्रकाश
९३ मानसतत्त्वविवरण
९४ मानसदीपिका
९५ मानसपत्रिका
९६ मानसप्रसंग
९७ मानसमणि
९८ मानसमयंक
९९ मानसमार्तण्ड
१०० मानसरहस्य (अलंकारपुस्तिका)
१०१ मानससुधा
१०२ मानसांक
१०३ मानसागरी
१०४ माहेश्वरसूत्र
१०५ मिताक्षरा
१०६ मुहूर्त्तचिन्तामणि
१०७ याज्ञवल्क्यस्मृति
१०८ योगवासिष्ठ
१०९ योगशास्त्र
११० युगलअष्टयामसेवा (श्रीरामटहलदासकृत)
१११ रघुवंश
११२ रसेन्द्रसार संग्रह
११३ रामचन्द्रिका
११४ रामसुधा (काष्ठजिह्व स्वामी)
,, (क) रामस्तवराज
रामायण—
११५ अद्भुत
११६ अध्यात्म
११७ आनंद
११८ आश्चर्य
११९ महारामायण
वाल्मीकीय—
१२० ,, चन्द्रशेखरशास्त्रीकी टीका
१२१ द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदीकी टीका
१२२ ,, रूपनारायण पांडेकी टीका
१२३ ,, रामाभिरामी टीका
१२४ ,, शिरोमणि टीका
१२५ सत्योपाख्यान
१२६ रुद्रयामल अयोध्यामाहात्म्य
१२७ (क) बरवै (तु॰रचनावली)
१२७ वाग्भट्टालङ्कार
१२८ वशिष्ठ-संहिता
१२९ विजय दोहावली
१२९ (क) विनय-पत्रिका
१३० विष्णुसहस्रनाम भाष्य
१३१ विहारी सतसई
१३२ वैराग्य-संदीपनी
१३३ बृहत् ज्योतिषसार
१३४ वृद्ध चाणक्य
१३५ बृहद्विष्णुपुराण
१३५ (क) वृद्ध सुश्रुत
१३५ (ख) बृहद्दैवज्ञरंजन
१३५ वैद्यरहस्य
१३६ (क) भावप्रकाश
१३६ शतदूषणी
१३७ शाबरभाष्यपर श्लोकवार्तिक
१३८ शार्ङ्गधर
१३९ शास्त्रसार
१४० शिव संहिता
१४१ शैवागम
१४२ श्रीभाष्य
श्रीरामचरितमानसकी संगृहीत कुछ छपी टीकाएँ—
१४३ श्री १०८ रामचरणदास करुणासिंधुजीकृत
१४४ श्रीसंतसिंहपंजाबीजीकृत
१४५ मुं॰ रोशनलालकृत (श्रीरामबख्श पांडेजी)
१४६ श्रीबैजनाथजीकृत
१४७ रामायण परिचर्या, परिशिष्ट, प्रकाश
१४८ बाबा हरीदासजीकृत
१४९ पं॰ रामेश्वरभट्टकृत
१५० विनायकी टीका
१५१ बाबू श्यामसुन्दरदासकृत
१५० पं॰ महावीरप्रसाद मालवीयकृत
१०२ मानसांक
१५३ सिद्धान्त तिलक
९३ मानसतत्त्वविवरणसंतउन्मुनी टीका। (यह केवल बालकांडकी है)
१५४ मानसपरिचारिका। (यह केवल प्रथम ४३ दोहोंकी है)।
९५ मानसपत्रिका (यह केवल प्रथम ६० दोहोंकी है)।
९९ मानसमार्तंड (प्रथम ४३ दोहोंकी टीका)
इत्यादि-इत्यादि
१५५ श्रुतबोध
१५६ संगीत मकरंद
१५७ सतसई (तुलसी)
१५८ सत्संगविलास
१५९ सत्योपाख्यान
१६० सरस्वती कण्ठाभरण
१६१ सांख्यशास्त्र
१६२ साहित्यदर्पण
१६३ सिद्धान्तकौमुदी
१६४ सिद्धान्ततत्त्वदीपिका (श्रीस्वामी बालकृष्णदासकृत)
१६५ सिद्धान्त-शिरोमणि (श्रीस्वामीभास्कराचार्यकृत)
१६६ श्रीसीतामन्त्रार्थ
१६७ श्रीसीतारामनामप्रताप प्रकाश
१६८ श्रीसीताशृङ्गारचम्पू
१६९ सुन्दरीतन्त्र
१७० सुदर्शनसंहिता
१७१ सुभाषितरत्नभाण्डागार
१७२ स्तवपंचक
१७३ स्तोत्ररत्नावली (गी.प्र.)
१७४ हनुमानबाहुक

स्मरणीय कुछ विषयों और शब्दोंकी अनुक्रमणिका

भाग १ के संस्करण

	नाम वन्दना प्रकरण	सम्वत् १६८१	डेमाई अठपेजी	
प्रथम संस्करण	भाग १ प्रारंभसे लेकर दोहा ४३ तक ६६५ पृष्ठ	सम्वत् १६८२,१६८३	,,	श्रीसीतारामप्रेस, अयोध्याजी ।
द्वितीय संस्करण	भाग १ पृष्ठ १–४३३	सन् १६२८ ई०	,,	श्रीसीतारामप्रेस, काशी ।
	,, १ पृष्ठ ४३४ से ६६५+३० तक	सन् १६३५ ई०	,,	गीताप्रेस, गोरखपुर ।
तृतीय संस्करण	,, पृष्ठ १–३८४	सन् १६४८ ई०	२०×३०।१-८	श्रीसीतारामसुद्रणालय, नांदुरा (वरार)
	,, पृष्ठ ३८५-७५१ व भूमिका आदि	सन् १६५१ जुलाई-अक्टूबर	,,	आनन्दप्रेस, अयोध्या ।
चतुर्थ संस्करण	भाग १	सन् १६५६-१६५७ जनवरी	,,	श्रीशंकर मुद्रणालय, वाराणसी ।

— श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु —

॥ श्रीः ॥

ॐ नमो भगवते श्रीमतेरामानन्दाचार्य्याय ।
श्रीमद्रामचन्द्रचरणौशरणंप्रपद्ये श्रीमतेरामचन्द्रायनमः ।
ॐ नमो भगवत्या अस्मदाचार्य्यायै श्रीरूपकलादेव्यै ।
श्रीसन्तगुरुभगवच्चरणकमलेभ्योनमः ।
ॐ नमो भगवते मङ्गलमूर्त्तये कृपानिधये गुरवे मर्कटाय
श्रीरामदूताय सर्वविघ्नविनाशकाय क्षमामन्दिराय
शरणागतवत्सलाय श्रीसीतारामपदप्रेमपराभक्तिप्रदाय श्रीहनुमते ।
ॐ साम्बशिवायनमः । श्रीगणेशायनमः । श्रीसरस्वत्यैनमः ।
परमाचार्याय श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासायनमः ।
श्रीरामचरितमानसाखिलटीकाकर्तृभ्योनमः ।
श्रीमानसपीयूषान्तर्गत नानाविधभावसूचकमहात्मभ्योनमः ।
श्रीमानसपीयूषान्तर्गत नानाविधभावाधारग्रन्थकर्तृभ्योनमः ।
सुप्रसिद्ध मानसपंडितवर्य्य श्रीसाकेतवासी श्रीरामकुमारचरणकमलेभ्योनमः ।

मानस-पीयूष

कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां
पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ।
विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसां जीवनं सज्जनानां
बीजं धर्मद्रुमस्य प्रभवतु भवतां भूतये रामनाम ॥ १ ॥
श्रीरामं रामभक्तिञ्च रामभक्तांस्तथा गुरून् ।
वाक्कायमनसा प्रेम्णा प्रणमामि पुनः पुनः ॥ २ ॥
जय श्रीसिय सियप्राणप्रिय सुखमाशीलनिधान ।
भरतशत्रुहन जनसुखद रामानुज हनुमान ॥ १ ॥
श्रीगुरुचरनसरोजरज निज मन मुकुर सुधारि ।
बरनउँ रघुबर बिसद जस जो दायक फलचारि ॥ २ ॥
बंदउँ तुलसीके चरन जिन्ह कीन्हो जग काज ।
कलि समुद्र बूड़त लखेउ प्रगटेउ सन्त जहाज ॥ ३ ॥

श्रीमद्गोस्वामितुलसीदासकृत

श्रीरामचरितमानस

प्रथम सोपान

(बालकांड)

श्रीजानकीवल्लभोविजयते ।

(श्लोकाः)

वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि ।
मङ्गलानां च कर्त्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ॥ १ ॥

शब्दार्थ—वर्णानामर्थसंघानां=वर्णानाम्-अर्थ-संघानां = अक्षरोंके और अर्थसमूहोंके । छन्दसामपि=छन्द-साम्-अपि (भी) । कर्त्तारौ=करनेवाले (दोनों) । 'वर्णानामर्थ' से 'मंगलानां' तक (केवल 'अपि' को छोड़कर) सब शब्द संबंधकारक (अर्थात् षष्ठी विभक्तिके) हैं ।

अन्वय—(अहं) वर्णानां छन्दसां अर्थसंघानां रसानां च मंगलानामपि कर्त्तारौ वाणी विनायकौ वन्दे ।

अर्थ—मैं अक्षरोंके, छन्दोंके, अर्थसमूहोंके, रसोंके और मंगलोंकेभी करनेवाले श्रीसरस्वतीजी और श्रीगणेशजीकी वन्दना करता हूँ । १ ।

नोट—१ हमने यहाँ अन्वयमें वर्णोंके पश्चात् छन्दोंको लिया है, क्योंकि छन्दोंका संबंध वर्णोंसे है, अर्थसे नहीं ।

मंगलाचरण

ग्रन्थके निर्विघ्न समाप्त और मंगलकारी होनेके लिये मङ्गलाचरण किया जाता है । आदि, मध्य और अन्तमें मङ्गलाचरण करना अति कल्याणकारी है । पातञ्जल महाभाष्य ('भू वा दयो धातवः' । अष्टाध्यायी सूत्र १. ३. १) में लिखा है कि "मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तानि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि-चभवन्त्यायुष्मत पुरुषाणिचाऽध्येयतारश्च मङ्गलयुक्ता यथास्युरिति ॥" अर्थात् जिन शास्त्रोंके आदि-मध्य-अन्तमें मङ्गलाचरण किया जाता है वे सुप्रसिद्ध होते हैं अर्थात् निर्विघ्न समाप्तभी होते हैं, तथा उसके अध्ययन करनेवाले (अर्थात् वक्ता, श्रोता) आयुष्मान्, वीर और मंगलकल्याणयुक्त होते हैं ।

'मध्य' का अर्थ यहाँ ग्रन्थका बिलकुल ठीक बीचोंबीच नहीं है; वरंच 'आदि और अंतके बीचमें कहीं' ऐसा अर्थ समझना चाहिये । दो एक टीकाकारोंने इस प्रसंगपर प्रमाणरूपमें निम्न श्लोक दिया है, और महात्माओंनेभी इसे अपनाया है । श्लोक यथा, "आदिमध्यावसानेषु यस्य ग्रंथस्य मङ्गलम् । तत्पठनं पाठनाद्वापि दीर्घायुर्धार्मिको भवेत् ॥" परन्तु यह उद्धरण किस ग्रन्थसे लिया गया है, इसका उल्लेख किसीने नहीं किया और यह श्लोक अशुद्धभी है । पर यदि किसी ऋषिप्रणीत ग्रन्थमें हो तो माननीय ही है ।

"तर्कसंग्रहदीपिका" में मङ्गलके विषयमें यह प्रश्न उठाया है कि "मङ्गल करना चाहिये, इसका प्रमाण क्या है ?" और उसके उत्तरमें यह बताया है कि एक तो शिष्टाचार [अर्थात् वेदोक्ततत्त्वज्ञानपूर्वक वेदविहित करनेवाले शिष्ट पुरुष ऐसा आचरण (मङ्गल) करते चले आए हैं ।], दूसरे "समाप्तिकामो मङ्गलमाचरेत्" ऐसी श्रुति है ।

उसी ग्रन्थमें यहभी शङ्का की गई है कि, "मङ्गलाचरण करनेपर ग्रन्थकी अवश्य निर्विघ्न समाप्ति होती है और मङ्गल न करनेपर समाप्ति नहीं होती, ऐसा नियम नहीं कहा जा सकता। क्योंकि अनुभव ऐसा है कि मङ्गल होनेपरभी ग्रन्थ समाप्त नहीं हुए तथा मङ्गलाचरण न होनेपरभी किरणावली आदि ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हुए हैं ?" और इसका समाधान यह किया है कि, (क) कादम्बरी आदि ग्रन्थोंकी समाप्ति न होनेका कारण यह हो सकता है कि मङ्गलाचरणोंकी अपेक्षा विघ्नकारक प्रारब्ध अधिक था। (ख) किरणावली आदिके संबंधमें यह हो सकता है कि प्रथम मङ्गलकारक भगवत्स्मरणादि करके ग्रन्थारंभ किया हो। परन्तु उस मङ्गलस्मरणका उल्लेख ग्रन्थारंभमें नहीं किया। ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हुआ, इसीसे ऐसा अनुमान होता है।

वस्तुतः यह नियमभी तो नहीं है कि प्रत्येक ग्रन्थकारका विघ्नकारक प्रारब्ध कम होनाही चाहिए। जिसका विघ्नकारक प्रारब्ध नहीं है उसका ग्रन्थ मङ्गल न होनेपरभी निर्विघ्न समाप्त हो सकता है। इसीसे तो नास्तिकोंके ग्रन्थ मङ्गल न होनेपर भी समाप्त होते देखे जाते हैं। बाधकप्रारब्ध सर्वसाधारण लोग नहीं जानते, इस लिये ग्रन्थारंभके समय यथासंभव सबकोही मङ्गलाचरण करना चाहिए। यदि बाधक प्रारब्ध हुआ तो इससे निवृत्त हो ही जायगा और यदि न हुआ तो मङ्गलाचरण करनेसे कोई हानि नहीं है। इसीसे तो प्राचीन महात्माओंने अपने-अपने ग्रन्थोंमें मङ्गलाचरण किया है जिसमें इसे देखकर आगे भी लोग इसका अनुकरण करें।

श्रीमद्गोस्वामीजीने भी इसी सिद्धान्तानुसार प्रत्येक कांडके आदिमें नमस्कारात्मक एवं वस्तु-निर्देशात्मक मंगलाचरण किया है। यों तो गोस्वामीजीने समस्त रामचरितमानसमें अपनी अनुपमप्रतिभा दिखाई है और उसे अनेकों रसोंसे अलंकृतकर भक्ति कूट-कूटकर उसमें भरही दी है। उसी पूज्य रामायणके मंगलाचरणमें आपने जिन उत्कृष्ट भावोंका निर्देश किया है, जिस भक्तिभावका परिचय दिया है और जिस मंगलकार्यकी कामना की है, वे सब बातें सहजही मनको आकर्षित किये लेती हैं। आपने मङ्गलाचरणको अनुष्टुपछन्दमें देकर अपने हृदयकी अनुपम भक्तिको छहरा दिया है।

☞ जितना मङ्गलाचरण गोस्वामीजीने इस ग्रन्थके प्रारम्भमें किया है, जो बालकांडके लगभग दशांशके बराबर होगा, इतना मंगलाचरण अर्वाचीन संस्कृत भाषा अथवा किसी भाषामें सुननेमें नहीं आता। यही तो कारण है कि जितना मानवजातिने इसे अपनाया इतना कदाचित्‌ही किसीको अपनाया होगा।

श्लोकका छन्द

यह मङ्गलाचरण अनुष्टुप् छन्दमें है। अनुष्टुपछन्दका स्वरूप इस प्रकार है। "श्लोके षष्टं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्। द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥" (श्रुतबोध १०)। अर्थात् इसके चारों चरणों में आठ-आठ वर्ण होते हैं। प्रत्येक चरणका पंचम वर्ण लघु और छठवाँ गुरु, दूसरे और चौथे चरणोंके सप्तम वर्णभी लघु और पहले तथा तीसरे चरणोंके सातवें वर्ण गुरु होते हैं।

अनुष्टुपछन्दसे मंगलाचरण प्रारंभ करनेके अनेकों भाव कहे जाते हैं, जिनमेंसे एक यह है कि प्रथम यही छन्द रचा गया। वाल्मीकिजी आदिकवि हुए। उनके मुखारविंदसे भी यही छन्द प्रथम निकला था। यथा, "मा निषाद प्रतिष्ठान्त्वमगमःशाश्वतीः समाः। यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥" (वाल्मी. १. २. १५) अर्थात् हे व्याध! कामपीड़ित क्रौंचके जोड़ेमेंसे तूने एकको मारा, अतएव अब संसारमें बहुत दिन न रहेगा। अर्थात् तेरा शीघ्र नाश हो। (कथा यह है कि एक बार जब भरद्वाजजीके साथ वे तमसा नदीपर स्नानको गए हुये थे. उसी समय एक व्याधाने एक क्रौंच पक्षीको, जो अपनी मादाके साथ जोड़ा खा रहा था, मारा. जिससे वह छटपटाकर मर गया और मादा करुणस्वरसे चिल्लाने लगी। यह दृश्य देख उन्होंने व्याधाको शाप

दिया। पर वह शाप उनके मुखसे अकस्मात् छन्दोवद्ध श्लोकके रूपमें निकला। इसके पूर्व इस लोकमें कभी छन्दोवद्ध वाणी उपलब्ध नहीं थी) । इसीसे वाल्मीकिजी यहाँके 'आदि कवि' कहलाते हैं। वाल्मीकीय रामायणका मंगलाचरणभी इसी छन्दमें है। अतः पूर्व जन्मके संस्कारवश उसी छन्दसे मानसका मंगलाचरण किया गया है। गोस्वामी तुलसीदासके समकालीन सुप्रसिद्ध भक्तमालरचयिता श्रीमद्गोस्वामी नाभा नारायणदासजीनेभी उनको वाल्मीकिजीका अवतार कहा है। यथा, "कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो।" (छप्पय १२६)। तथा, 'वाल्मीकिस्तुलसीदासः कलौ देवि भविष्यति।" (यह श्लोक भविष्यपुराणमें कहा जाता है)। और भाव ये कहे जाते हैं—(२) अनुष्टुप्छन्दके चारों चरण सम हैं, इसी प्रकार श्रीरघुनाथजीभी सम हैं। (३ इसमें वत्तीस वर्ण होते हैं और श्रीरघुनाथजी वत्तीस लक्षणोंसे युक्त हैं वा श्रीसीताजी और श्रीरामजी दोनों १६-१६ कलाके पूर्ण अवतार हैं। अन्य किसी छन्दमें ३२ वर्ण नहीं होते। [वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। इसके अतिरिक्त माणवकाक्रीड (भ त ल ग), नगस्वरूपिणी (ज र ल ग) और विद्युन्माला (म म ग ग), ये तीन छन्द और हैं जिनमेंभी ३२ ही वर्ण होते हैं। हाँ, वत्तीस वर्णवाले छन्दों में अनुष्टुप् आदि (प्रथम) छन्द है।] (४) इसमें आठ-आठ वर्ण नहीं हैं वरंच ये मानों अष्ट अंग हैं जिससे कविने देवगणको साष्टांग प्रणाम किया है। (५) श्रीअयोध्याजीमें अष्टचक्र हैं। यथा, 'अष्टचक्रानवद्वारा देवानां पूरयोध्या।" (अथर्ववेद संहिताभाग, दशमकाण्ड, प्रथम अनुवाक, द्वितीय सूक्त में)। और, अनुष्टुप् में भी आठ ही वर्ण संख्या है। धामके भाव से इस छन्दको प्रथम धरा। इत्यादि अनेक भाव कहे गए हैं। पर ये सब भाव क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं।

गणका विचार

किसी काव्यके प्रारंभमें जो गण होता है उसीके अनुसार प्रायः काव्यका फल होता है। छन्दका नियम वतानेके लिये वर्णवृत्तोंमें तीन-तीन वर्णोंका एक-एक गण निश्चित किया गया है। इनमें लघु और गुरुके भेदसे गणोंके कुल आठ भेद होते हैं। मगण (ऽऽऽ म), यगण (।ऽऽ य), रगण (ऽ।ऽ र), सगण (।।ऽ स), तगण (ऽऽ। त), जगण (।ऽ। ज), भगण (ऽ।। भ) और नगण (।।।न)। यथा, "आदिमध्यावसानेषु भजसा यान्ति गौरम्। यरता लाघवं यान्ति मनौ तु गुरु लाघवम्॥ श्रुतवोध ३।" अर्थात् आदि, मध्य और अन्तमें 'भ, ज, स' में यथानुक्रम गुरु वर्ण होता है (अर्थात् भगणका आदि वर्ण गुरु होता है, शेष दोनों लघु। जगण का मध्य गुरु, शेष दो लघु। सगणका अंतिम वर्ण गुरु और प्रथमवाले दोनों लघु होते हैं।) इसी प्रकार 'य, र त' में क्रमसे आदि, मध्य और अंतका वर्ण लघु होता है, शेष दो गुरु होते हैं। मगणमें सव वर्ण गुरु और नगणमें सव लघु होते हैं। इनमेंसे चार मांगलिक हैं और चार अमांगलिक। यथा, "मो भूमिः श्रियमातनोति य जलं वृद्धिं रचाग्निर्मृतिम्। सो वायुः परदेशदूरगमनं तव्योम शून्यं फलम्॥ जः सूर्यो रुजमाददाति विपुलं भेन्दुर्यशो निर्मलम्। ना नाकश्च सुखप्रदः फलमिदं प्राहुर्गणानां वुधाः॥" (श्रुतवोधके अन्त में)। अर्थात् मगणकी देवता भूमि है जो मंगलश्रीका विस्तार करती है। यगणकी देवता जल है जो वृद्धि कारक है। रगणकी देवता अग्नि है जो मृत्यु कारक है। सगणकी वायु है जिसका फल है 'वहुत दूर परदेशमें जाना'। तगणकी देवता आकाश है और फल शून्य। जगणकी देवता सूर्य और फल रोग है। भगणकी देवता चन्द्रमा और फल निर्मल यश है। नगणकी देवता स्वर्ग और फल सुख है। गणविचारके कुशल पंडित ऐसा कहते हैं। इस श्लोकके अनुसार चार गणों रगण, सगण, तगण और जगणका जो फल वताया गया है वह अशुभ है, इसीसे ये चार गण अमांगलिक माने गए हैं। पिंगलशास्त्रमें '।' और 'ऽ' क्रमसे लघु और गुरुके वोधक चिह्न माने गए हैं। दुष्ट गणोंको आदिमें न देना चाहिये। यथा, "दुष्टारसतजा यस्माद्धनादीनां विनाशकाः। काव्यस्यादौ न दातव्या इति छन्दविदो जगुः॥" (छन्दप्रभाकरमें उद्धृत।)

स्मरण रहे कि वर्णवृत्त छन्दों और देवकाव्यमें गणका दोष नहीं देखा जाता। यथा, "दोषो गणानां शुभ देव्यवाच्ये न स्य त्तथैवोत्तरवृत्तसंज्ञे। मात्रोत्थपद्ये तु विचारणीयो न्यासादगुरोश्चैव लघोरनित्यात्।" (छन्दप्रभाकरसे)। तोभी गोस्वामीजीने ग्रन्थारंभके समस्त सोपानोंके मंगलाचरणमें शुभगणकाही प्रयोग किया है और वहभी सर्वत्र 'मगण' का ही। जैसे कि, १ वर्णानां (SSS), २ यस्यांके (SSS), ३ मूलं धर्म (SSS), ४ कुन्देन्दी (SSS), ५ शान्तं शा (SSS), ६ रामं का (SSS), ७ केकी कं (SSS)।

इस श्लोकके आरंभमें मगण पड़ा है जिसकी देवता भूमि है, जो दिव्य गुणोंको उपजाती और मंगलश्रीका विस्तार करती है। मा. मा. कार यह प्रश्न उठाकर कि "मगण गणसेही क्यों प्रारंभ किया जब कि नगण, भगण और यगणभी तो शुभगण हैं?" उसका उत्तर यह लिखते हैं कि 'मगणकी देवता पृथ्वी है और पृथ्वीकी सुता श्रीजानकीजी हैं। स्त्रीजातिको मातृसंबंध विशेष प्रिय होता है। श्रीकिशोरीजी इस संबंधसे अधिक प्रसन्न होकर कृपा प्रदान करेंगी, तब मेरा मनोरथ अवश्य पूर्ण होगा। वही हुआ भी।' वस्तुतः ग्रन्थकार जिसभी गणसे प्रारंभ करते उसीमें शङ्का हो सकती है।

इन्हीं मंगलकामनाओंसे श्रीतुलसीदासजीने इस मंगलाचरणको एक विशेष रूप देकर अपने गम्भीर भावों और गुरुतर विचारोंका उचित रूपसे विकास किया है।

"वर्णानामर्थसंघानां" इति।

टिप्पणी—(पं० रामकुमारजी)—"आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना॥ भाव भेद रस भेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥" (१. ६. १०-११), इन सबोंके कर्त्ता वाणी विनायक हैं। 'क' से लेकर 'ह' तक तेंतीस वर्ण व्यंजन हैं और अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, नौ स्वर हैं। ये सब बयालीस अक्षर हैं। एकएक अक्षरके अनेक अर्थ हैं।

नोट—२ पण्डितजीने यहाँ जो संख्या दी है 'माहेश्वरचतुर्दशसूत्र' मेंभी उतनेही वर्ण संगृहीत हैं। परंतु 'पाणिनीय शिक्षा" में लिखा है कि शिवजीके मतसे संस्कृत भाषा और वेद दोनोंमें मिलकर तिरसठ या चौंसठ वर्ण ब्रह्माजीने स्वयं कहा है। 'अ, इ, उ, ऋ' इनमेंसे प्रत्येकके ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत तीनतीन स्वरूप होनेसे ये बारह स्वर हुए। 'ए, ऐ, ओ, औ' इनके दीर्घ और प्लुत दो भेद होनेसे ये आठ और एक 'लृ' इस तरह कुल एक्कीस स्वर हैं। (क, च, ट, त, प,) पञ्चवर्गके पच्चीस वर्ण हुये जो 'स्पर्श' कहलाते हैं। य, र, ल, व, श, ष, स और ह आठ वर्ण ये हैं। वेदोंमें चार 'यम'भी वर्णोंमें गिने जाते हैं। अनुस्वार (‿), विसर्ग (:), जिह्वामूलीय (⩙क), उपध्मानीय (⩙प) ये चार हुए। विसर्गके आगे 'क' होनेसे 'जिह्वामूलीय' और 'प' होनेसे 'उपध्मानीय' कहा जाता है। ऋग्वेदमें एवं मराठी भाषामें 'दुस्पृष्ट' नामसे एक। 'ल' का प्लुत भेद भाष्यकारके मतसे है, पाणिनीके मतसे नहीं। इसीसे पाणिनीके मतसे तिरसठ और भाष्यकारके मतसे चौंसठ वर्ण हुए। यथा, "त्रिषष्टिश्चतुः षष्टिर्वा वर्णाःशंभुमते मताः। प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा॥ ३॥ स्वरा विंशतिरेकश्च स्पर्शानां पञ्चविंशतिः। य दयश्च स्मृता ह्यष्टौ चत्वारश्च यमाः स्मृताः। ४। अनुस्वारो विसर्गश्च ⩙क ⌣ पौ चापि पराश्रितौ। दुः स्पृष्टश्चेति विज्ञेयो लृकारः प्लुत एव च॥ ५॥" (पाणिनीय शिक्षा)।

गौड़जी कहते हैं कि यहाँ वर्णोंसे यदि अकारादि ग्रहण किये जायँ तो संस्कृतके नाते माहेश्वर सूत्रोंमें जो वर्ण दिये हैं उनके सिवा ह्रस्व ए, ओ, अय्, अव्, ड़, ढ़ आदिको शामिल करना होगा, एवं संस्कृतका अंश नाममात्र होनेसे और प्राकृतकी बहुलताके कारण ऋ, लृ, ङ, ञ, ण, श, ष (मूर्द्धन्य षकार), ज्ञ आदि अक्षरोंका अभाव समझना पड़ेगा। परन्तु मानस ध्वन्यात्मक काव्य है। इस लिये यहाँ वर्णोंका लाक्षणिक अर्थ सम्पूर्ण शिक्षा वेदांग है, जिसमें वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, वर्ण, स्वर, उदात्त, अनुदात्तस्वरित, ताल, ग्राम, द्रुत, अणुद्रुत आदि सम्पूर्ण गांधर्ववेद शामिल हैं।

३— इस श्लोकमें 'छन्दसां' तक चार स्वतन्त्र विषय देखनेमें आते हैं। वर्ण, अर्थ, रस और छन्द। वर्णसे शब्द बनता है और शब्दसे वाक्य बनता है। वाक्यके अन्तर्गत तीन भेद हैं। साधारण, मिश्र और संयुक्त। फिर इनकेभी कई भेद हैं। इत्यादि। 'वर्ण' शब्दसे यह सब बता दिया। शब्दालंकारभी जो वाक्यमें आते हैं उनकाभी ग्रहण 'वर्ण' में हो गया। 'अर्थ' से शब्दार्थ, वाक्यार्थ, ध्वन्यार्थ इत्यादि और सब अर्थालंकारोंका ग्रहण हो गया। 'रस' और 'छन्द' पर आगे देखिये।

४—"रसानां" इति। जब मनोविकारोंका वर्णन कारण, कार्य, सहकारियोंसहित कवि करते हैं तो वे विकार पढ़नेवालेके मनमेंभी जागृत होकर एक प्रकारकी उत्तेजना उत्पन्न करते हैं। इसीको 'रस' कहते हैं। काव्यमें इसके नौ भेद हैं। शृंगार, हास्य, करुणा, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। नाट्यशास्त्र तथा अमरकोशमें आठही रस माने गए हैं। शान्तरसको रस नहीं माना है। यथा, "शृङ्गार वीर करुणाद्भुत हास्य भयानकाः। वीभत्स रौद्रौ च रसाः। अमरे १. ७. १७।", "शृङ्गार हास्य करुणा रौद्र वीर भयानकाः। वीभत्साद्भुत संज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसास्मृताः॥" (अमरकोश-टीका)। 'रस' से समस्त काव्यरस, समस्त भक्तिरस और उनके भेद-प्रभेदके समस्त काव्य ग्रन्थोंका ग्रहण होगा। कोई-कोई भक्तिके वात्सल्य, सख्य और दास्य रसोंकोभी इन नव रसोंके साथ मिलाकर बारह रस कहते हैं। रस और छन्दोंके स्वरूप ठौर-ठौरपर यथोचित स्थानोंपर लिखे गए हैं।

५—जब पदोंकी रचनामें वर्ण या मात्रा या दोनोंकी संख्या, विराम और गति नियमानुसार होते हैं तब उस रचनाको "छन्द" कहते हैं। 'छन्दस्' शब्द सबसे पहले अथर्ववेदके लिये पुरुषसूक्तमें प्रयुक्त हुआ है, और बादको साधारणतया 'छन्दस्' से वेदही समझे जाने लगे। वेदोंमें 'छन्दस्' गायत्री, अनुष्टुभादि वृत्तोंके लिये आम तौरपर प्रायः आया करता है। परन्तु यह मन्त्रोंका अंग नहीं है। उसके आगे छन्दःशास्त्रके अनुसार वृत्तविभागका निर्देश है। (गौड़जी)। 'छन्द' शब्द से समस्त पिंगलशास्त्रकाभी ग्रहण हो गया।

"वर्णानामर्थसंघानां कर्त्तारौ" इति।

(१) गौड़जी—वेदके छः अंग शिक्षा, व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त और छन्दस् हैं। इतिहास, पुराण, स्मृति और न्याय उपांग हैं। चारों वेद 'ऋग्युजः साम तथा अथर्वन' में ही चार उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद तथा अर्थवेद भी शामिल हैं। वर्णोंमें शिक्षा और अर्थसंघोंमें व्याकरण, कल्प, ज्योतिष, निरुक्त, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, मीमांसा, इतिहास, पुराण और उपवेद सभी शामिल हैं। रसोंमें समस्त काव्यग्रंथ और छंदोंके ग्रंथोंमें वेदोंसे लेकर शेष सभी विद्याएँ आगईं। इन सबोंकी परम कर्त्री भगवती वाणी हैं। यहाँ भगवती सरस्वतीकी पूर्ण मूर्तिका ध्यान करते हैं। आगे चलकर 'सारद सुरसरिता' की वंदनामें एक तो शारदाकी वंदना है, दूसरे एकमात्र कविताकेही अंगका प्रसंग है। मंगलके कर्त्तार एकमात्र गणेशजी हैं।

पं० रामकुमारजी—यहाँ मूर्तिरूप सरस्वतीकी वंदना करते हैं। इसीसे कहते हैं कि वे वर्णादिकी कर्त्री हैं। आगे वाणीरूप सरस्वतीकी वंदना करेंगे। यथा, "पुनि बंदउँ सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता॥ मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका॥ १. १५।" यहाँ गणेशजीकी मूर्तिके साथ सरस्वतीजीकी मूर्तिकी वंदना की और दोहा १५ में प्रवाहरूपा गंगाजीकी वंदनाके साथ जब वंदना की तब वाक्प्रवाहरूपा सरस्वतीजीकी वंदना की।

(२) इस श्लोकमें श्रीसरस्वतीजीको वर्णादिकी कर्त्री कहा है। यह शङ्का होती है कि "वाणी वर्णादिकी कर्त्री क्योंकर हुईं?"

इस विषयमें यह रहस्य है—(१) श्रीसरस्वतीजीने प्रणव (ॐ) से पचास वर्ण पाँच स्थानों (कंठ, मूर्धा, तालु, दंत, और ओष्ठ) से उत्पन्न किये। यथा, "व्यंजनानि त्रयस्त्रिंशत्स्वराश्चैव चतुर्दश। अनुस्वारो विसर्गश्च जिह्वामूलीय एव च॥ १॥ गजकुम्भाकृतिर्वर्णा प्लुतश्च परिकीर्तितः। एवं वर्णादि पंचाशन्मातृकायामुदाहृताः॥ २॥" (महाकाल संहितायाम्)। अर्थात् तेंतीस व्यंजन, चौदह स्वर [अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ,

(३ प्लुत), ए,ऐ,ओ, औ], अनुस्वार, विसर्ग और जिह्वामूलीय। इस प्रकार पचास वर्ण महाकालसंहितामें माने गए हैं। (☞ 'गजकुम्भाकृतिर्वर्ण' शब्दसे लृकार सूचित किया है। क्योंकि इसका आकार हाथीके गण्डस्थलके सदृश होता है।) ये पचासों वर्ण और इनके भेदप्रभेद भगवती सरस्वतीके शरीरके अगणित अवयव हुए। इन्हीं वर्णोंके पद और प्रत्ययसे अर्थोंके समूह, रस और छन्द प्रकट हुए। "बरन बिलोचन जन जिय जोऊ। १. २०. १" देखिये। (२) दूसरे, जबतक सरस्वतीजीकी कृपा न हो तबतक वाणी स्फुरित नहीं हो सकती, इससेभी इन सर्वोपर आपहीका अधिकार जान पड़ता है। कवित्वशक्ति इन्हींसे प्राप्त होती है। यथा, "सद्यः कवित्व फलदां सद्यो राज्य फलप्रदाम्। भवाब्धितरणीं तारां चिन्तयित्वान्यसेन्मनुम्।।" (ब्रह्मवैवर्तपुराणमें इनको श्रुतियों, शास्त्रों और विदुषोंकी जननी और कवियोंकी इष्टदेवता कहा है। यथा, "वागधिष्ठातृ देवी सा कवीनां इष्ट-देवता।.... स्रष्टी श्रुतीनां शास्त्राणां विदुषां जननी परा ।। १. ३. ५५.।")

"वाणी" इति।

श्रीमद्भागवतमें श्रीमैत्रेयजीने श्रीविदुरजीसे कहा है कि हमने सुना है कि एक बार अपनी परम सुन्दरी कन्या वाणीको देखकर ब्रह्माजीका चित्त कामवश हो गया। ऐसा संकल्प देख उनके पुत्रों मरीचि आदिने समझाया कि कन्यागमनरूपी पाप आपके पहलेके किसी ब्रह्मा आदिने नहीं किया। यह कार्य "तेजीयसी पुरुषों को भी" शोभा नहीं देता। इत्यादि। यह सुनकर ब्रह्मा लज्जित हुए और उन्होंने अपना वह शरीर उसी समय त्याग दिया। (भा. ३. १२. २८–३३)। इसमें वाणी के लिये "वाचं दुहितरे" शब्द आए हैं जिससे सरस्वतीका ब्रह्माकी कन्या होना स्पष्ट कहा है। महाकवि हर्षके "नैषध" की भूमिकामें जो उनका और सरस्वतीका वादविवाद लिखा है उससे यह स्पष्ट है कि सरस्वतीजी अपनेको 'कुमारी कन्या' कहती हैं। नैषध सर्ग ११. ६६ में जो उन्होंने लिखा है, 'देवी पवित्रित चतुर्भुजवामभागा वागालपत् पुनरिमां गरिमाभिरामाम्। अस्यारिनिष्कृप कृपाण सनाथ पाणेः पाणिग्रहादनुगृहाण गणं गुणानाम्।।' अर्थात् जिनने विष्णुभगवान्का वामभाग पवित्र किया है, वह वाग्देवी दमयन्तीजीसे बोली कि शत्रुओंके लिये दयारहित कृपाण जिसने धारण किया है ऐसे इस राजाके पाणिग्रहणसे गुणसमूहोंको अनुगृहीत करो। इसपर वाणीने 'हर्ष' से कुपित होकर कहा कि तुमने मुझे विष्णुपत्नी कहकर लोकप्रसिद्ध मेरा कन्यात्व लुप्तकर दिया। इसका उत्तर उन्होंने दिया कि मुझपर क्यों कोप करती हो? एक अवतारमें तुमने नारायणको अपना पति बनाया है ऐसा व्यासजीने फिर क्यों कहा? "किमर्थं एकस्मिनवतारे नारायणं पतिं चकृषीत्वं, पुराणेष्वपि विष्णुपत्नीति पठ्यसे। ततः सत्ये किमिति कुप्यसि।।"

कन्याका जबतक व्याह नहीं होता तबतक वह पिताके घरमेंही रहती है। सरस्वतीका ब्रह्मलोकमेंही रहना पाया जाता है। यथा, 'भगति हेतु बिधिभवन बिहाई। सुमिरत सारद आवत धाई।। १. ११।" इससे वह कुमारी कही जा सकती है।

ये ब्रह्माजीकी कन्या हैं। यह बात पद्मपुराण सृष्टिखण्ड पुष्करक्षेत्रमें ब्रह्माजीके यज्ञके समय पुलस्त्यजीके वचनोंसेभी स्पष्ट है। भगवान् विष्णुने सरस्वतीसे वडवानलको ले जाकर दक्षिण समुद्रमें डालनेको कहा तब सरस्वतीने कहा, 'मैं स्वाधीन नहीं हूँ। आप इस कार्यके लिये मेरे पिता ब्रह्माजीसे अनुरोध कीजिये। पिताकी आज्ञा विना मैं एक पगभी कहीं नहीं जा सकती। तब देवताओंने ब्रह्माजीसे कहा 'पितामह! आपकी कुमारी कन्या सरस्वती बड़ी साध्वी है। उसमें किसी प्रकारका दोष नहीं देखा गया है।' देवताओंकी प्रार्थना सुनकर ब्रह्माजीने सरस्वतीको बुलाकर गोदमें बिठाकर मस्तक सूँघा और कहा, 'बेटी, तुम समस्त देवताओंकी रक्षा करो'। इससेभी 'कन्या' और 'कुमारी' होना सिद्ध हुआ।

महाकवि हर्षके कथनका प्रमाण खोजतेखोजते ब्रह्मवैवर्तमें मिला। उसके ब्रह्मखण्ड अ. ३ में एक कल्पमें सरस्वतीका जन्म परमात्माके मुखसे लिखा है और प्रकृतिखण्डमें इनको भगवान्की एक बीबी कहा है जो

गंगाके शापसे और भगवान्‌के फैसलेसे मर्त्यलोकमें अपने एक अंशसे सरस्वती नदी हुई और एक अंशसे ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्माकी स्त्री हुई। यथा, "लक्ष्मीः सरस्वती गंगातिस्रो भार्या हरेरपि। २. ६. १७।", 'गंगाशापेन कलया भारतं गच्छ भारति। स्वयं च ब्रह्मसदनं ब्रह्मणः कामिनी भव॥ २. ६. ५३।", "भारती यातु कलया सरिद्रूपाच भारतम्। अर्द्धांशा ब्रह्मसदनं स्वयं तिष्ठतुमद्गृहे। २. ६. ८५।" इस तरह इसी कल्पमें सरस्वतीका भगवान्‌की स्त्री होना और किसीमें ब्रह्माकी स्त्री होनाभी पाया जाता है। इसीसे भगवान्‌को 'वागीश' एवं 'वाचस्पति' भी कहा गया है और सरस्वतीको 'ब्रह्माणीभी कहा गया है। कल्पभेद होनेसे शंका नहीं रहती।

यहां "वाणी' से अधिष्ठातृ देवता हस्तपादादियुक्तमूर्त्ति अभिप्रेत है। "ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती इत्यमरे ६. १।" ये सरस्वती देवीके नाम हैं। ब्रह्मवैवर्त पु. ब्रह्मखण्ड अ. ३ में इनको शुक्लवर्णा, पुस्तकधारिणी, अत्यन्त रूपवती, श्रुतियों, शास्त्रोंकी स्रष्ट्री और विद्वानोंकी श्रेष्ठ जननी, वागधिष्ठातृदेवी कहा गया है। और, पौराणिक नानाशास्त्रीविरचित प्रतिवार्षिक पूजाकथा संग्रह द्वितीय भाग (काशी-ज्योतिषप्रकाश सं. १९९०) में सरस्वतीके स्वरूपका उल्लेख इस प्रकार है—'प्रणवासनसंरूढा, अंकुश अक्षसूत्र पाशपुस्तकधारिणी, चन्द्रार्धकृतशेखरा, जटाकलापसंयुक्ता त्रिलोचना, महादेवी" इत्यादि।

८ वन्दना (वंदे वाणीविनायकौ) इति

(१) मंगलाचरणकी भाँति प्रातःस्मरणीय श्रीगोस्वामीजीने वन्दनामेंभी लोकोपकारहेतु एक परंपरा स्थापित की है। परन्तु जिस प्रकार एक योग्य कुलाल साधारण मृतपिण्डसे अनेकों प्रकारके पात्रोंको अपनी इच्छानुसार निर्माण करता है, उसी प्रकार इस मानवमानसशास्त्रवेत्ता ऋषिने लोक और वेदके उत्तम नियमोंको किस चतुरता और साधुताके साथ अपनी इच्छानुसार भक्ति और श्रद्धारूपमें प्रकट किया है, इसे कोई चतुर भक्तही चिन्तन कर सकता है।

'वर्णानां' आदिका कर्त्ता कहकर गोस्वामीजीने वन्दनाका आरम्भ किया है। उनकी हार्दिक इच्छा है कि उनके इस ग्रन्थमें वर्ण, अर्थ, रस और छन्द अच्छे अच्छे होवें। (अर्थात् अक्षर मधुर हों, मैत्रीयुक्त हों, प्रसादगुणयुक्त हों। थोड़ेही अक्षरोंमें बहुत और विलक्षण अर्थ भर दिये जायँ। शृङ्गारादि रस अपने अनुभाव, विभाव, संचारी और स्थायी अंगोंसे परिपूर्ण हों। छन्द ललित हों। इत्यादि)। और यह ग्रन्थ निर्विघ्न समाप्त हो तथा स्वयं ग्रन्थकर्ताको एवं इस ग्रन्थके कहने-सुननेवाले वक्ताओं और श्रोताओं और पठनपाठन करनेवालोंको मंगलकारी हो। अर्थात् सबको मंगलदाता हो। सरस्वतीजीका मुख्य धर्म वर्णादिका देना है और श्रीगणेशजीका मुख्य धर्म मंगल देना है। वर्णादि एवं छन्दादिकी दात्री श्रीसरस्वतीजी हैं और मङ्गलके दाता गणेशजी हैं। यथा "मोदकप्रिय मुदमंगल दाता।' (विनय १)। पुनः, कवित्वशक्तिकी दात्रीभी श्रीसरस्वतीजी ही हैं। महाकालसंहितामें इसका प्रमाण है और इस बातको सब जानतेही हैं। एवं श्रीगणेशजी विघ्नविनाशक और मंगलकर्ता हैं। प्रमाण यथा, 'सिद्ध्यन्ति सर्वकार्याणि त्वत्प्रसादाद्गणाधिप।१२।""ये भजन्ति चत्वां देवं तेषां विघ्नं न विद्यते। १३। सर्वमंगलकार्येषु भवान् पूज्यो जनैः सदा। मङ्गलंतु सदा तेषां त्वत्पादेच धृतात्मनाम्॥ १४।" (सत्योपाख्याने पू. अ. २३)। इसी अभिप्रायसे उन्होंने वर्णादि की कर्त्री एवं दात्री और कवित्वशक्ति प्रदान करनेवाली सरस्वतीजीकी और 'विघ्नविनाशक मंगलदाता' गणेशजीकी वन्दना आदिमें की।

बाबा रामप्रसादशरणजीके मतानुसार वर्ण, छन्द और काव्यके नवों रसोंकी चाह छन्दार्णव पिंगलके ज्ञाता कवियोंको, अर्थकी पंडितोंको, भक्तिके पंचरसकी प्रेमियोंको और मंगलकी जीवमात्रको होती है। श्रीरामचरितमानसमें इन्हीं पाँचोंकी निर्विघ्न समाप्तिकी आशा मनमें रखकर श्रीगोस्वामीजी 'वन्दे वाणी विनायकौ' ऐसा कहते हैं।

☞ सारांश यह कि वाणी-विनायककी वन्दनाद्वारा इस ग्रन्थको चौदहों विद्याओंका निचोड़ और समस्त मंगलोंकी खानि बनानेकी प्रार्थना अभिप्रेत है। (गौड़जी)

(२) प्रथम कार्य है रामचरित्रका वनाना। अतः प्रथम सरस्वतीजीकी वन्दना की। सरस्वतीजी श्रीरामचरित्रकी दात्री हैं। तत्पश्चात् उसके विघ्ननिवारणार्थ गणेशजीकी वन्दना की। (पं० रामकुमारजी)

'वाणी'को 'विनायक' के पहले रखने तथा उनकी गणेशजीके साथ वन्दना करनेके भाव महानुभावोंने अनेक कहे हैं जिनमेंसे कुछ ये हैं—(क) वाणी और भक्ति नारीवर्ग और विनायक और ज्ञान पुरुषवर्ग हैं। 'वाणी' को प्रथम रखकर दर्शाया है कि इस ग्रंथमें भक्तिकी प्रधानता होगी। (ख) प्रथम वाणीकी वन्दना करके उनसे गणेशजीकी वन्दनाके हेतु वाचाशक्ति प्राप्त की। (ग) आदिकवि श्रीवाल्मीकिजी लिखते हैं कि, 'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्। वाल्मी. १. ४. ७।' अर्थात् रामायणमें श्रीसीताजीकाही महान् चरित है। (मं. श्लो. ५ देखिये)। गोस्वामीजीभी कहते हैं, 'सतीसिरोमनि सियगुनगाथा। सोइ गुन अमल अनूपम पाथा।' (१. ४२.)। इसीसे उन्होंने सर्वत्र श्रीसीताजीकी वंदना श्रीरामजीसे पहले की है। सरस्वतीजी विशेष रूपसे श्रीजीकी सेवा करती हैं। यथा, 'लहकौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहैं। १. ३२७।' निष्कर्ष यह कि रामचरितमें श्रीजीका चरित प्रधान है और वाणीजी प्रधान रूपसे श्रीजीकी सेविका हैं; इसीसे प्रथम वाणीकी वन्दना की।

(३) वाणी और विनायक दोनोंकी एक साथ वन्दना करनेके भाव—(क) दोनों मङ्गल आदिके कर्त्ता हैं। (ख) वाणीसे गुणोंकी उत्पत्ति करके गणेशजीको उनका रक्षक साथही साथ कर दिया है। (ग) दोनों श्रीरामोपासक हैं। यथा, 'प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ। १. १९।', 'एकटक रही रूप अनुरागी' (१. ३४९), 'भगति हेतु बिधिभवन बिहाई'''। १. ११।' अनुराग अपनेही इष्टमें होता है। इसीसे तो सरस्वती मनोहर जोड़ीको एकटक देखतेही रह गईं और जब कोई कवि रामचरित कहलानेके लिये स्मरण करता है तब ब्रह्मभवन छोड़कर चली आती हैं। गणेशजीभी रामोपासक हैं, यह एक तो इसीसे स्पष्ट है कि वे रामनामके प्रभावसे प्रथमपूजित हुए। दूसरे सत्योपाख्यानमें उनको स्पष्ट हरिभक्त कहा है। यथा, 'विष्णुभक्तो गणाधीशो हस्ते परशुधारकः।' (घ) जैसे श्रीरामचरित संभाषणमें श्रीसरस्वतीजी अद्वितीय हैं, वैसेही श्रीगणेशजी लिखनेमें। जो उनके मुखारविन्दसे निकला उसे गणेशजीने तुरंत लोकप्रवृत्तके लिये स्पष्ट अक्षरोंमें लिखकर दृष्टिगोचर कर दिया, इसीसे उनका परस्पर संबंधभी है। (तु. प. ४. ७. १५०-१५१।) (ङ) वाणी श्रीकिशोरीजीकी और गणेशजी श्रीरामजीके संबंधी हैं। श्रीसीतारामजीके संबंधसे दोनोंको साथ रक्खा। (च) श्रीसरस्वतीजीका वास कवियोंके अन्तःकरणमें रहता है और श्रीसरकार (श्रीरामजी) की आज्ञानुसार जैसी ये प्रेरणा करती हैं वैसेही शब्द उनके मुखारविंदसे निकलते हैं। भूत, भविष्य और वर्तमानमें श्रीरामयशगानका कवियोंने जो साहस किया है और करेंगे वह इन्हींकी कृपासे। ये समस्त श्रीरामचरित्रकी ज्ञात्री ठहरीं क्योंकि जिस देशकालमें जो कुछ जिससे कहलाया वह इन्हींने ही। गोस्वामीजीको श्रीरामचरित कथन करना है, अतः उनकी वन्दना सबसे प्रथम उचितही है। यह कर्मभूमि है। जो वेदविहित कर्म हैं, उनमें सबसे प्रथम पूज्य श्रीगणेशजीही हैं। इसीसे इनकी वन्दना करते हैं। (रा. प्र. श.)

(४) अब प्रश्न होता है कि 'जब श्रीसरस्वतीजीही समस्त रामयशकी कहलानेवाली हैं तो सब कवियोंके मुखारविंदसे एकही अक्षर और एकही भाव निकलने चाहियें। परंतु सबका काव्य समान नहीं। किसीने कुछ कहा, किसीने कुछ। यह सब भेद क्यों?' इसका उत्तर यह है कि प्रभु श्रीरामजीने जब जहाँ जैसा चाहा कहलाया; क्योंकि श्रीरामजीही उसके नियामक हैं। यथा, 'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी।', 'सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥ १. १०५।' श्रीसरस्वतीजी सृष्टिके आदिमें उत्पन्न होकर महाप्रलयपर्यन्त रहती हैं। इनके रहतेभरमें जो लीला हुई उसकी ज्ञात्री वे अवश्य हैं; परन्तु इनके पूर्व या परकी जो लीला है, उसका ज्ञान इनको नहीं। वह जिनकी लीला है वेही

जब अपनी कृपासे जो बतलाते हैं तब उसीके अनुकूल वे कवियोंके हृदयमें प्रकाश करती हैं। इसीसे श्रीरामचरितमें भेद देखनेमें आता है। कौन जाने किस कविसे किस कल्पकी लीला कथन कराई गई है ? इसी परस्पर भेदसे ग्रंथकार कहते हैं, 'राम अनंत अनंत गुन, अमित कथा विस्तार। सुनि आचरजु न मानिहहिं, जिन्ह के बिमल बिचार। १. ३३।'

नोट—६ यहाँ कोई-कोई महानुभाव यह शङ्का करते हैं कि 'अपने इष्टदेवको छोड़कर 'वाणी विनायक' की वन्दना आदिमें क्यों की गई ?' इस शङ्कामेंही दूषण है। इसमें यह मान लिया गया है कि अनन्य उपासक अपने इष्टदेवके सिवा किसी औरकी वन्दना नहीं करता। यह भारी भूल है। अनन्यताका यह अर्थ नहीं है कि वह अपने इष्टदेवको परिच्छिन्न बना देता है। शैतानने इसी तरह अपने इष्टदेवको परिच्छिन्न बनाया और पतित हुआ। अनन्य उपासक संपूर्ण जगत्को 'सियाराममय' देखता है और सबकी वन्दना करता है। वह माता, पिता, गुरुकोही नहीं वरंच अपनेसे छोटेसे छोटेकीभी वन्दना करता है। फिर गणेशजीकी तो बातही क्या ? उपर्युक्त शङ्काका समाधान यों भी किया जाता है कि—(१) काव्यरचनाके लिये सरस्वतीजीके स्मरण और मङ्गल और विघ्नविनाशनके लिये श्रीगणेशजीके स्मरणकी रीति व्यवहृत होती आती है। श्रीरामजीकी ओरसे जो जिस कार्यके अधिकारपर नियुक्त है, उस कार्यके लिये उसकी प्रार्थना करनेमें हानि नहीं है। उपर्युक्त रीतिकी वन्दनासे उनके अनन्यताभावमें कुछ न्यूनता नहीं आती। विनयपत्रिकामेंभी श्रीमद्गोस्वामीजीने इसी भावसे श्रीविघ्नविनाशक शुभमूर्ति गणेशजीकी वन्दना प्रथमही की है। (२) श्रीरामभक्तिके नातेसे 'वाणी विनायक' की वन्दना की गई है। श्रीगणेशजी रामभक्त हैं। वे श्रीरामनामके प्रतापसेही प्रथम पूजनीय हुए। यथा, 'प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ' (१. १९) और श्रीसरस्वतीजीकी भक्ति इससे स्पष्ट है कि, 'भगति हेतु बिधिभवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥ रामचरितसर बिनु अन्हवाए। सो श्रम जाइ न कोटि उपाए। १. ११ (४-५)।' (३) अनन्यके लक्षण तो श्रीरामजीने श्रीहनुमान्‌जीसे ये बताये हैं कि, 'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत। ४. ३.।' और शिवजीभी कहते हैं कि, 'उमा जे रामचरनरत बिगत काम मद क्रोध। निज-प्रभु-मय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥ ७. ११२।' श्रीगोस्वामीजीकाभी प्रभुके प्रति यही भाव है। उन्होंने निज इष्टकी वन्दना सर्वरूपरूपी, सर्वशरीर-शरीरी, सर्व-अंश-अंशी, सर्वनामनामी, सर्वप्रकाश्यप्रकाशक इत्यादि भावोंसेही की है। जैसा कि उनके 'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि। बंदउँ सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि॥ देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्ब। बंदउँ किंनर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब॥ १. ७॥......सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी। जानि कृपाकर किंकर मोहू।' 'मोहू' शब्दभी यह कह रहा है कि आप सब श्रीरामजीके किंकर हैं और मैंभी हूँ। रामकिंकर तथा श्रीसीताराममय जानकर ही मैं आपसे प्रार्थना कर रहा हूँ। इस प्रकारभी वन्दना उनकी अनन्यताके परिपुष्टकारी भावकी ही द्योतक है। (४) 'सीतांशसम्भवां वाणीं रामांशेन विनायकौ। श्रीसीतारामांशसम्भूतौ वन्दे वाणीविनायकौ।' (अज्ञात)। यह श्लोकभी वन्दनाके श्लोकमें अनन्यताका विश्वसनीय साक्षी है। (श्रीशुकदेवलाल)। (५) औरभी भाव वा समाधान मं. श्लोक ६ और मं. सोरठा १ में दिये गए हैं। ग्रंथकारने इन सबोंकी वन्दना करके श्रीरामनाम, श्रीरामरूप, श्रीरामचरित इत्यादिकी महिमा दिखाई है। परात्पर ब्रह्म प्रभु श्रीसाकेतविहारीजीतक पहुँचनेका मार्ग दर्शाया है। (६) "इस ग्रंथमें श्रीरामचरितके वर्णन करनेवाले तीन वक्ता और हैं। उन सबोंने अपने इष्टदेव श्रीरघुनाथजीका ही मङ्गलाचरण किया है। यथा, श्रीयाज्ञवल्क्यजी, 'प्रनवउँ सोइ कृपाल रघुनाथा। बरनउँ बिसद तासु गुनगाथा।' ॥ १. १०५. ७।' श्रीशिवजी,—'बंदौं बालरूप सोइ रामू।'"द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥ करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी। १. ११२।' श्रीभुशुण्डिजी,—'भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुन गाहा॥

प्रथमहि अति अनुराग भवानी। रामचरितसर कहेसि बखानी ॥ ७. ६४।' तब भला गोस्वामीजी अपने इष्टदेवको छोड़कर क्यों वाणी-विनायककी वन्दना करने लगे ?" ऐसा सोचकर कोई-कोई रामानन्य महानुभाव इस शङ्काके निराकरणमें 'वाणी' का अर्थ सरस्वती न करके 'श्रीसीताजी' ऐसा अर्थ करते हैं और 'विनायक' का अर्थ 'श्रीरघुनाथजी' करते हैं। इस तरहसे कि 'सुन्दरी तंत्र' वाले 'श्रीजानकी सहस्रनाम'में वाणीभी श्रीसीताजीका एक नाम दिया गया है। यथा, 'ब्रह्माणी बृहती ब्राह्मी ब्रह्मभूता भवावनी', 'वाणी चैव विलासिनी' और 'विनायक' का अर्थ 'विशेष नायक' करते हैं। श्रीरामचन्द्रजी संपूर्ण ब्रह्मांडोंके नायक वा स्वामी हैं। यथा, 'सिव बिरंचि सुर जाके सेवक । ६. ६२।' 'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई। ६. २२।' (७) बाबा रामप्रसादशरणजी (दीन) कहते हैं कि श्रीगोस्वामीजीकी प्रतिज्ञा है कि 'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई । १. १३।' 'वाणी विनायक' की वन्दना करता हूँ यह पुराणोंकी रीतिसे नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण हुआ। पुनः, इसीमें वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण कहते हैं। ग्रन्थमें जो प्रतिपाद्य विषय है उसको परमात्मासे अभेद कथन करके उसकी वन्दना करना वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण है। यद्यपि नाम, रूप, लीला और धाम इन चारोंका यथार्थ स्वरूप इस ग्रन्थमें कथन किया गया है, तथापि अधिकतर सुगम नामको जानकर 'विषय' नामहीको कहते हैं। यथा, 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुतिसारा। १. १०।' सुगमताके कारण नामके प्रसंगमें नामकी महिमा रूपसे अधिक कही गई है, परन्तु वास्तवमें नाम रूप अभेद हैं। श्रीरामनामही ग्रन्थका विषय है: इससे ग्रन्थकर्त्ता नामहीकी वन्दना यहाँ कर रहे हैं, इस तरह कि 'वन्दे वाणी विनायकौ'=वाणीके वि (विशेष) दोनों नायक। अर्थात् रकार और मकार दोनों वर्ण जो वाणीके विशेष नायक हैं, उनकी वन्दना करता हूँ। 'विशेष नायक' का भाव यह है कि सामान्य नायक ब्रह्माजी हैं और विशेष श्रीरामजी हैं। यथा, 'सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी ॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कवि उर अजिर नचावहिं बानी। १. १०५।' 'विनायक' का यह अर्थ लेनेसे श्लोकके अर्थ दो प्रकारके हैं—(क) वाणीके विशेष नायक दोनों वर्ण 'रा' 'म' जो वर्णसमूह, अर्थसमूह, रससमूह, छन्दसमूह, और मङ्गलसमूहके करनेवाले हैं; उनकी वन्दना करता हूँ। अथवा, (ख) वाणीके स्वामी 'रा' 'म' जिनमें वर्णसमूह (अर्थात् रेफ, रकारकी अकार, दीर्घाकार इत्यादि षट् कलायें) हैं, अर्थसमूह हैं (इसीसे प्रणव और त्रिदेवकी उत्पत्ति है), जिनसे सब रसों और गायत्री आदि छन्दोंकी उत्पत्ति है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ।

नोट—१० प्राचीन ग्रंथकर्ताओंकी रचनाओंमें यत्र-तत्र देखा जाता है कि प्रारम्भमेंही ग्रन्थकार सूक्ष्म रीतिसे ग्रन्थके विषयका परिचय दे देता है। उसी रीतिके अनुसार, श्रीमानसी वन्दनपाठकजीका मत है कि श्रीरामचरितमानसके इस प्रारंभिक प्रथम श्लोकमें इस ग्रंथके सप्तसोपानोंके विषयका परिचय मिलता है। इस तरह कि—(क) 'वर्णानां' से बालकांडकी कथाका परिचय दिया। क्योंकि जिसकी कोई जाति नहीं, वह ब्रह्म क्षत्रिय 'वर्ण' हुआ और उसी सम्बन्धसे श्रीविश्वामित्रजीका आगमन, अहल्योद्धार, यज्ञरक्षा और विवाह आदि व्यवहार हुए। (ख) 'अर्थसंघानां' से अयोध्याकांडकी कथा जनाई; क्योंकि इसमें पहले श्रीदशरथमहाराजके रामराज्याभिषेकमनोरथसिद्ध्यर्थ, फिर देवमनोरथसिद्ध्यर्थ, फिर भरतराज्यार्थ, श्रीरामसंगवनगमनार्थ, श्रीरामजीके पुनरयोध्यागमनार्थ इत्यादि अर्थसमूहोंके साधन हुए। (ग) 'रसानां' से अरण्यकांडकी कथाका संकेत किया। क्योंकि 'रस' का अर्थ 'पराक्रम' भी है। यथा, 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः। इत्यमरः। ३.३.२२६।' वीर्य और पराक्रम पर्याय हैं। और, इस कांडमें खर दूषण त्रिशिरा रावणसमान बली वीर और देवता-मनुष्यादिसे अमर सेनापतियों तथा जनस्थानमें रहनेवाले उनके चौदह हजार राक्षसोंको श्रीरामजीने अकेले अपनेही पराक्रमसे नाश किया। (घ) 'छन्दसां' से किष्किन्धाकी कथा सूचित की; क्योंकि छन्द करोड़ों

जातिके हैं और यहाँ वानरी सेनाभी करोड़ों जातिकी एकत्र हुई हैं। पुनः, 'छन्दस्' का अर्थ 'स्वच्छन्द', 'स्व-तन्त्र' भी है; यथा, 'छन्दःपद्ये च वेदे च स्वैराचाराभिलाषयोः। इति मेदिनी।' छन्दःपद्येऽभिलाषे च' (अमरे ३. ३. २३६)। और छन्दका अर्थ 'आधीन' भी है। यथा, 'अभिप्रायवशौ छन्दौ। अमरे ३. ३. ८८।' अब तक (अरण्यकांडमें) श्रीरामजी स्वयं श्रीजानकीजी को खोजते फिरते रहे थे। अब सुग्रीव तथा सारी वानरी सेना उनके अधीन हो जानेसे वे सीताशोधके कार्यसे निश्चित हुये, यह कार्य अब सुग्रीवके द्वारा होगा। इस तरह शत्रुको जीतनेके लिये श्रीरामजी सेनासहित 'स्वतन्त्र' हुए। (ङ) 'अपि' से सुन्दरकांड। क्योंकि इस कांडमें श्रीसीताजीका लङ्कामें होना निश्चित हुआ। 'अपि' निश्चयवाचक है। (च) 'मङ्गलानां' से लङ्काकांड कहा, क्योंकि रावणादिके वधसे जगत्का मङ्गल हुआ। (छ) 'कर्त्तारौ' से उत्तरकांड जनाया, क्योंकि इसमें श्रीरामजीने चक्रवर्त्ती राजा होकर हुकूमत की और राजाका 'कर्त्तव्य' पालन किया।

११ इसी प्रकार मानसप्रचारक श्रीरामप्रसादशरणजीका मत है कि, ग्रन्थके आदिमें कवि वेदोंके छओं अङ्गों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—का ग्रहण करते हैं। (शिक्षा आदिका तात्पर्य; यथा, 'वेद पठनकी विधि सबै 'शिक्षा' देत बताय। सब कर्मनकी रीति जो 'कल्प' हि दे दर्शाय॥ शब्दअशुद्धाशुद्धको ज्ञान 'व्याकरण' जान। कठिन पदनके अर्थ को करै 'निरुक्त' बखान॥ अक्षर मात्रा वृत्तको ज्ञान 'छन्द' सो होय। 'ज्योतिष' काल ज्ञान इमि वेद षडङ्ग गनोय'॥)। 'वाणी' से शिक्षाका ग्रहण हुआ; क्योंकि विद्या और जितनी उसकी विधि हैं, वहभी इन्हींकी कृपासे प्राप्त होती हैं। ऐसेही 'विनायक', कर्मकांडके आदिमें पूज्य श्रीगणेशजी, को 'कल्प' की संज्ञा किया, क्योंकि 'कल्प' से कर्मोंकी रीति मालूम होती है। 'वर्णानां' से व्याकरणको लिया, क्योंकि इससे शब्दके शुद्धाशुद्धका ज्ञान होता है। 'अर्थसंघानां' से निरुक्त, क्योंकि इनसेही कठिन पदोंके अर्थका ज्ञान होता है। 'छन्दसां' से छन्द और 'मङ्गलानांच कर्त्तारौ' (अर्थात् तीनों कालोंमें मङ्गल कहनेवाले) से 'ज्योतिष' (कालज्ञान) का ग्रहण हुआ। 'रस' का ग्रहण सबके साथ है। जब वेदके समस्त अंगोंका ग्रहण हुआ तो सब वेद इसमें आगए। (तु. प. ४. ७. १५४)।

१२ सूक्ष्म रीतिसे इस श्लोकसे षट्शास्त्रोंकाभी ग्रहण करते हैं। इस तरह कि 'वर्णानां' से 'न्याय'; क्योंकि जैसे शुद्धाशुद्ध शब्दका ज्ञान पाण्डित्यका कारण है, वैसेही न्यायको जाने विना वक्तृत्वका विशेष अभ्यास कठिन है। ग्रन्थमें न्याय आदिका मत कहेंगे। यथा, 'तरकि न सकहिं सकल अनुमानी।' (१. ३४१)। 'अर्थसंघानां' से वेदांतका ग्रहण हुआ। जितनेभी इतिहास, पुराण आदि हैं, उन सबोंमेंतीन ही प्रकारके वाक्य हैं।—रोचक, (स्वर्गादिका लालच दिखाकर वेदविहित कर्मोंमें प्रवृत्त करनेवाले), भयानक (नरकादिका भय दिखाकर निषिद्ध कर्मोंसे निवारण करनेवाले) और यथार्थ (जीव, माया और ईश्वरके यथार्थ स्वरूप दिखाकर निजानन्दकी, सच्चे सुखकी प्राप्ति करानेवाले)। 'अर्थसंघानां' से वेदांतको लिया; क्योंकि कहीं ध्वनि अवरेबद्वारा, कहीं गौण रीतिसे और कहीं मुख्य तात्पर्यसे, अर्थसमूह निश्चय करके मोहजनित भ्रमको अन्तः करणसे निर्मूल करके अपने सहज स्वरूपकी प्राप्ति करा देना ही इसका अभिप्राय वा उद्देश्य है। 'रसानां' से पातञ्जल 'योगशास्त्र' का ग्रहण हुआ; क्योंकि रसका वास्तविक अनुभव चित्तकी एकाग्रताहीमें हो सकता है और चित्तकी वृत्तिका निरोधही योग है। 'छन्दसां' से 'सांख्य'; क्योंकि जैसे गायत्रीमें परमात्मासे प्रार्थना है कि हमारी बुद्धिको प्रेरणा कर शुभकार्यमें लगावें (परमात्माकीही प्रेरणासे बुद्धि शुभ कर्म करती है), वैसेही सांख्य का मत है कि पुरुषकी प्रेरणासे प्रकृति सब काम करती है। 'मङ्गलानां' से वैशेषिक; क्योंकि वैशेषिकका मत है कि, 'समय एव करोति बलाबलं'। अर्थात् कालकी प्रेरणासे जीव नाना प्रकारके सुख दुःख भोगता है। 'कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। ७. ४१।' और जब श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग हो गया तब तो फिर चाहे जहाँ रहे सर्वदा मङ्गलही मङ्गल होता रहता है। कालका जोर (प्रभाव) जैसा सब जीवों पर है वैसा ही हरिभक्तों पर

नहीं रहता। यथा, 'आन जीव इव संसृत नाहीं। ७. ७८।' 'वंदे वाणी विनायकौ' (अर्थात मैं वाणीके दोनों विशेष नायक दोनों वर्ण 'रा' 'म' की वंदना करता हूँ। नाम नामीमें अभेद है।), इससे जैमिनिमुनिकृत पूर्वमीमांसा इसमें आ गया। क्योंकि चारों भ्राताओंने एक एक धर्म ग्रहण किया है। श्रीरघुनाथजीने श्रुतिस्मृति अनुकूल सामान्य धर्म, लक्ष्मणजीने श्रीभगवत्-सेवाधर्म जो मुख्य धर्म है, श्रीभरतजीने भगवदाज्ञाप्रतिपालनधर्म और श्रीशत्रुघ्नजीने भागवतसेवाधर्म ग्रहण किया। (रा. प्र. श.)

१३ कुछ महानुभावोंने यह शङ्का की है कि, "गोस्वामीजीके इष्ट 'राम नाम' हैं। यथा, 'रामकी सपथ सरबस मेरे राम नाम।' (क. ७. १७२), 'संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो।....अपनो भलो राम नामहि सों ' (विनय २२०); तो 'व' अक्षरसे ग्रंथका आरंभ क्यों किया ?'

यह शंकाभी व्यर्थसीही जान पड़ती है, क्योंकि ऐसीही शङ्का अन्य अक्षरोंमेंभी हो सकती है। पर महानुभावोंने इसकेभी अनेक भाव कहे हैं जिनमेंसे कुछ यहाँ दिये जाते हैं—(१) 'वर्ण' प्रथम शब्दमें रेफ हैही जो कविको इष्ट है। (२) ग्रन्थकी समाप्तिमेंभी 'व' ही अक्षर देकर (यथा, 'दहन्ति नो मानवाः।') ग्रन्थको संपुटित किया है। मङ्गलाचरणके प्रथम श्लोकमें 'वाणी' और 'विनायक' की वन्दना है और इन दोनोंके प्रथम वर्ण 'व' हैं। इस लिये इन्हीं दोनोंके आदिम अक्षरोंका संपुट देकर मानों ग्रन्थको इनसे प्रसादित किया है। (३) 'वाणी और विनायक' दोनोंका बीज व-कार है। बीजयुक्त मन्त्र बड़ा प्रभावशाली होता है। यथा, 'मंत्र सबीज सुनत जनु जागे। २. १८४।' वह परिपूर्ण फल देता है और शीघ्र। अतएव बीजसे ग्रन्थको प्रारंभ करके बीजपरही समाप्त किया। (पं० रामकुमारजी) (४) तन्त्रशास्त्रानुसार 'व' अमृत बीज है। इसका संपुट देकर सूचित किया है कि इस ग्रन्थके अध्ययन और श्रवण करनेसे अमरपदरूपिणी श्रीरामभक्ति प्राप्त होती है। (पं० रामवल्लभाशरणजी) (५) इस ग्रन्थका वैष्णवीय ग्रन्थ होना, ग्रन्थकर्त्ताका वैष्णव और ब्राह्मणवर्ण होना जनाया। (६) 'व' से प्रारंभ करके अपनेको वाल्मीकिजीका अवतार सूचित किया। (७) इस सोपानका 'बालकांड' नाम है। इसमें 'बाल' 'विवाह' लीला वर्णन करेंगे, अतएव कांडके आदिमें इनका 'व' अक्षर दिया।

१४ मानसीवन्दनपाठकजी लिखते हैं कि जैसे वाल्मीकीय रामायण गायत्री २४ चौबीस अक्षर और मङ्गलाचरण द्वादशाक्षर मन्त्रार्थपर रचे गए, वैसेही श्रीरामचरितमानस श्रीराम-षडक्षर ब्रह्मतारक मन्त्रपर है, परंतु गुप्तार्थ है। 'वर्णानां' से मकार, अकार बिन्दुसहित रामबीज है। शेष पाँच अक्षर पाँच काण्डोंमें हैं। रहा अंतका विसर्ग, सो उत्तरकांडमें है। [यह युक्ति ठीक-ठीक समझमें नहीं आती। अनुमान होता है कि 'वर्णानां' में रेफ है और अंतमें 'आ' और 'म' है इसीसे 'रां' बीज सूचित किया।]

भवानीशंकरौ वन्दे, श्रद्धाविश्वासरूपिणौ।
याभ्यां विना न पश्यन्ति, सिद्धाःस्वान्तःस्थमीश्वरम्॥ २॥

शब्दार्थ—याभ्यां=जिन दोनोंके। पश्यन्ति=देखते हैं। सिद्धाः=सिद्ध लोग। स्वान्तःस्थमीश्वरम्=स्व-अन्तस्थम्-ईश्वरम्=अपने अन्तःकरणमें स्थित ईश्वरको।

अन्वय-अहं श्रद्धाविश्वासरूपिणौ भवानीशङ्करौ वन्दे याभ्यां विना सिद्धाःस्वान्तःस्थमीश्वरं न पश्यन्ति।

अर्थ—१ मैं श्रद्धाविश्वासरूपी श्रीपार्वतीजी और श्रीशङ्करजीकी वन्दना करता हूँ (कि) जिनके विना सिद्ध लोगभी अपने अन्तःकरणमें स्थित ईश्वरको नहीं देख सकते हैं। २।

अर्थ—२ जिनके विना अपने हृदयमें स्थित ईश्वरको सिद्ध लोगभी नहीं देख सकते, ऐसे (जो) श्रद्धा-विश्वास (हैं उन) के (मूर्तिमान) रूप भवानी-शङ्करकी वंदना करता हूँ। २।

नोट—१ यह वंदना किसकी है? श्रद्धाविश्वासकी या भवानीशङ्करजीकी? इसमें मतभेद है। कारण कि उत्तरार्धमें जो महत्व दरसाया गया है, वह तो श्रद्धाविश्वासका है और रूपिणौ शब्दका प्रयोग किया गया है, जिससे प्रधानता श्रद्धाविश्वासकी पाई जाती है। इसीसे हमने दो प्रकारसे अर्थ किया है। अर्थ १ में श्रद्धा-विश्वास-की प्रधानता है, उन्हींको भवानी-शङ्कर मानकर वंदना की गई है। अर्थ २ में भवानीशङ्करकी वंदना है, उन्हींको श्रद्धाविश्वासमय बताया गया है।

२ वाणी और विनायकजीकी वंदना प्रथम श्लोकमें कर लेनेके पीछे दूसरेही श्लोकमें श्रद्धाविश्वासरूप भवानीशंकरकी वंदना की गई है, इसका कारण यह है कि अज्ञानका नाश और ज्ञानकी प्राप्ति विना श्रद्धा और विश्वासके असंभव है, जैसा भगवान् श्रीकृष्णनेभी गीतामें कहा है। यथा, 'श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम्। ४. ३९।' अर्थात् श्रद्धावान् पुरुष ज्ञानको प्राप्त होता है। अथवा, 'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥ ४. ४०।' अर्थात् अज्ञानी, श्रद्धारहित और संशययुक्त पुरुष नाशको प्राप्त होता है और संशययुक्त पुरुषके लिये न सुख है न इह लोक है और न परलोक ही है। (डाक्टर माताप्रसाद गुप्त)। महाभारत शांतिपर्व तुलाधार-जाजलिसंवादमें कहा है कि, यदि कर्मोंमें वाणीके दोषसे मन्त्रका ठीक उच्चारण न हो सके और मनकी चंचलताके कारण इष्टदेवके ध्यानमें विक्षेप आ जाय तोभी यदि श्रद्धा हो तो वह उस दोषको दूर कर देती है। किन्तु श्रद्धाके न रहनेपर केवल मन्त्रोच्चारण और ध्यानसेही कर्मकी पूर्ति नहीं होती। श्रद्धाहीन कर्म व्यर्थ हो जाता है। श्रद्धालु मनुष्य साक्षात् धर्मका स्वरूप है। अश्रद्धा सबसे बड़ा पाप है और श्रद्धा पापसे मुक्त करनेवाली है। श्रद्धा सबकी रक्षा करती है। उसके प्रभावसे विशुद्ध जन्म प्राप्त होता है। ध्यान और जपसेभी श्रद्धाका महत्त्व अधिक है। यथा, 'वागवृद्धं त्रायते श्रद्धा मनोवृद्धंच भारत। श्रद्धावृद्धं वाङ्मनसी न कर्म त्रातु मर्हति। ९।....शुचेरश्रद्दधानस्य श्रद्दधानस्यचाशुचेः॥ देवा वित्तममन्यन्त सदृशं यज्ञकर्मणि। १०, ११।.... अश्रद्धा परमं पापं श्रद्धा पापप्रमोचनी। जहाति पापं श्रद्धावान् सर्पो जीर्णमिवत्वचम्॥ १५। (महाभा. शा. पु. अ० २६४)। पद्मपुराण भूमिखण्ड अ० ९४ में कहा है कि श्रद्धा देवी धर्मकी पुत्री हैं, विश्वको पवित्र एवं अभ्युदय-शील बनानेवाली हैं, सावित्रीके समान पावन, जगत्को उत्पन्न तथा संसारसागरसे उद्धार करनेवाली हैं। आत्मवादी विद्वान् श्रद्धासेही धर्मका चिंतन करते हैं। अकिंचन मुनि श्रद्धालु होनेके कारणही स्वर्गको प्राप्त हुए हैं। यथा, 'श्रद्धा धर्मसुता देवी पावनी विश्वभाविनी। सावित्री प्रसवित्री च संसारार्णवतारिणी। श्रद्धया ध्यायते धर्मो विद्वद्भिश्चात्मवादिभिः॥ निष्किञ्चनास्तु मुनयः श्रद्धावन्तो दिवंगता। ४४–४६।'

३ (क) श्रीमद्गोस्वामीजीको श्रद्धा और विश्वासकी आवश्यकता है; क्योंकि इनके विना श्रीरामचरितमानस एवं श्रीरामभक्तिका मिलना दुर्लभ है। यथा, 'जे श्रद्धासंबल रहित नहि संतन्ह कर साथ। तिन्ह कहँ मानस अगम अति....। १. ३८।', 'विनु विश्वास भगति नहि तेहि विनु द्रवहिं न राम। ७. ९०।' अतएव श्रद्धा-विश्वासरूपी कहकर, श्रद्धाविश्वासरूपसे भवानीशंकरजीकी सहेतुक वन्दना की। (ख) पं० रामकुमारजी खर्रेमें लिखते हैं कि इनकी वंदना ग्रन्थसिद्धिहीके हेतु है; क्योंकि ये श्रद्धा-विश्वासरूप हैं और कोई सिद्धि विना विश्वासके नहीं होती। यथा, 'कवनिउ सिद्धि कि विनु विश्वासा।' (७. ९०)। (ग) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि वंदनाका अभिप्राय यह है कि श्रीरामजी मेरे हृदयमें बसते तो हैं परंतु उनका नाम, रूप, लीला, धाम और धारणा ये तत्व यथार्थ वर्णित नहीं होते, श्रद्धाविश्वासरूपसे आपके मेरे हृदयमें बसनेसे मैं साङ्गोपांग इन तत्त्वोंको जान जाऊँगा। [ये सब भाव प्रथम अर्थके अनुसार कहे गए। आगेके भाव अर्थ २ के अनुसार कहे जाते हैं।] (घ) श्रीशिवजी मानसके आचार्य हैं और श्रीपार्ववतीजीकी कृपासे जगत्में उसका प्रचार हुआ। यथा, 'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा। १.३०।', 'रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥

१·३५ ।', 'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी । कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी ।'(१·११२) । (ङ) ये गोस्वामीजीके इष्टदेवके परम प्यारे हैं । यथा, 'कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें । असि परतीति तजहु जनि भोरें ।१· १३८।', 'वैष्णवानां यथा शम्भुः (भा. १२. १२. १६)

'श्रद्धाविश्वास रूपिणौ' इति ।

१ (क) शब्दसागरमें 'श्रद्धा' का अर्थ यह है—"एक प्रकारकी मनोवृत्ति जिसमें किसी बड़े वा पूज्य व्यक्ति के प्रति एवं वेदशास्त्रों और आप्त पुरुषोंके वचनोंपर भक्तिपूर्वक विश्वासके साथ उच्च और पूज्य भाव उत्पन्न होता है ।" विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि किसी बातकी गूढ़ता और विचित्रतासे आकर्षित हो वेद, शास्त्र या-गुरुसे उसके जाननेकी उत्कट इच्छाको 'श्रद्धा' कहते हैं। और श्रीगौड़जी कहते हैं कि किसी सद्गुण वा अच्छाई पर मन खिंचकर उसे स्वयं अपने तक अथवा अपनेको उस तक पहुँचाना चाहे वा वैसाही होनेकी कामना करे तो इस अभिलाशाको 'श्रद्धा' कहते हैं। (ख) इसी तरह, 'विश्वास'=वह धारणा जो मनमें किसी व्यक्तिके प्रति उसका सद्भाव, हितैषिता, सत्यता, दृढ़ता आदि अथवा किसी सिद्धांत आदिकी सत्यता या उत्तमताका ज्ञान होनेके कारण होती है=किसीके गुणों आदिका निश्चय होनेपर उसके प्रति उत्पन्न होनेवाला मनका भाव । (श. सा.) । = किसी बातपर अथवा किसी व्यक्ति आदिपर पूरा भरोसा हो जाना, उसपर मनका बैठ जाना। (गौड़जी, वि० टी०)

२ (क) यहाँ पार्वतीजी श्रद्धारूपा हैं, क्योंकि ईश्वरकोटिमें होनेके कारण एक छोटीसी भूल पर महा-भयानक पतिवियोगका कष्ट और अश्रुत अभूतपूर्व घोर तपस्या करके श्रीपार्वतीजीने एक लाख वर्षोंके लगभग बिताकर, स्वयं मूर्तिमती श्रद्धा बनकर मूर्तिमान विश्वास भगवान् शङ्करको पाया । श्रद्धासे ही 'उर अपजा अति दारुन दाहा', श्रद्धासेही वियोग-कष्ट झेलती रहीं, श्रद्धासेही देहत्याग किया, श्रद्धासेही तपस्या की और सप्तर्षियों-की एवं स्वयं भगवान् शङ्करकी परीक्षामें खरी उतरीं । 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः' । (अर्थात् पुरुष श्रद्धामय है, जिस विषयमें इसकी श्रद्धा होगी वह उसी विषयका रूप बन जाता है । (गीता १७. ३)। इसीका जगत्के लिये अप्रतिम उदाहरण उपस्थित किया । श्रद्धासेही सकल-लोक-तिहकारी कथा पूछी । 'मैं बन दीखि राम प्रभुताई । अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई।। १· १०९ ।' उसी समय श्रद्धाका उद्रेक हुआ था । 'तब कर अस बिमोह अब नाहीं । रामकथा पर रुचि मन माहीं । १. १०९ ।' इस श्रद्धासेही जिज्ञासा उत्पन्न हुई । भगवान् शङ्कर कहते हैं, 'तुम रघुबीर चरन अनुरागी । कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी ।। १· ११२ ।' उनके भ्रमभंजन वचन सुन उन्हें 'भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती । दारुन असंभावना बीती ।। १· ११९ ।' सारे तंत्रग्रन्थ, सम्पूर्ण रामकथा, इतिहास, पुराण इन्हीं भगवती श्रद्धाकी जिज्ञासाओंपर भगवान् विश्वासके उत्तर हैं, वही महेश्वर हैं । श्रद्धा उमा हैं । कोई विद्या नहीं जो उमामहेश्वरसंवादमें न आई हो ।

पं० रामकुमारजी—श्रीपार्वतीजीको श्रद्धा कहा । यथा, 'या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता ।—नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ।।' (मार्कण्डेय पुराण ८२ । २४), 'निगमाचार्य वाक्येषु भक्तिः श्रद्धेति' अर्थात् वेद और गुरुवाक्यमें भक्ति श्रद्धा है, वैसेही श्रीशिववाक्यमें श्रीपार्वतीजीकी भक्ति श्रद्धा है ।

(ख) श्रीशिवजीको विश्वास कहा । वे मूर्तिमान विश्वास हैं; क्योंकि उनको श्रीरामतत्वपरत्वमें लेशमात्रभी सन्देह नहीं है । क्षीरसागरमथनसमय यद्यपि समस्त देवता उपस्थित थे और सब श्रीराम-नामका महत्व जानते थे तथापि कालकूटके झारकोही कोई न सह सका, उसको पी जानेका साहस भला कौन करता ? परन्तु शिवजी का ऐसा अविचल विश्वास था कि आपने नामके प्रतापसे उस विषको पीही तो लिया । यथा, 'जरत सकल सुरबृंद बिषम गरल जेहि पान किय ।' (कि. मं.) । विष आपका कुछ न कर सका किंतु अमृतरूप होकर आपका 'नीलकण्ठ' रूपसे भूषण होगया । यथा, 'नाम प्रभाउ जान सिव नीको । कालकूट फल दीन्ह अमीको । १· १९ ।',

'खायो कालकूट भयो अजर अमर तनु' (क. ७. १५८), 'पानि कियो विष भूषन भो' (क. ७. १५७)। विश्वासका ऐसा रूप है कि भगवान् शङ्कर समस्त शङ्काओं सन्देहोंका निवारण करते और समस्त जिज्ञासाओंका उत्तर देते हैं। स्वयं किसी बातमें उन्हें सन्देह नहीं है। वह तो मूर्तिमान विश्वासही ठहरे। पुनः, विश्वासको शिव कहनेका भाव कि जैसे विना विश्वासके भक्ति नहीं होती, वैसेही विना शिवजीकी कृपाके भक्ति नहीं होती। यथा, 'बिनु बिश्वास भगति नहिं····। ७. ९० ।', 'जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी। सो न पाव मुनि भगति हमारी ॥ १. १३८ ।'

३ 'श्रद्धा विश्वासरूपी' कहनेका तात्पर्य यह निकला कि—(क) ये ईश्वरको प्राप्त करानेवाले हैं। यथा, 'करहिं जोग जोगी जेहि लागी।····नयन विषय मो कहुँ भयेउ सो समस्त सुखमूल। सबइ लाभ जग जीव कहँ भए ईसु अनुकूल ॥ १. ३४१ ।', 'जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत रामु धरे देही ॥ इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहु न इन्ह समान फल लाधे ॥ १. ३१० ।' (ख) श्रद्धा और विश्वास नाममात्र दो हैं, वैसेही श्रीभवानी-शङ्करजी नाममात्र दो हैं। भवसागरमें पड़े हुए जीवोंके उद्धारहेतु एक श्रद्धारूप और दूसरे विश्वासरूप हो उपदेशमें प्रविष्ट हुए। (ग) श्रद्धा और विश्वास उमा और महेश्वरके स्वरूप हैं। यह कहकर जनाया कि जैसे भवानीशङ्करकी प्राप्ति दुर्लभ है, यथा, 'दुराराध्य पै अहहिं महेसू' वैसेही श्रद्धा-विश्वासभी दुर्लभ हैं। पर वे महादेवपार्वतीजीकी कृपा से, उनकी वंदनासे प्राप्त हो जाते हैं। (घ) 'विना इनके नहीं देख सकते' कहकर यह भी जनाया कि देखनेके उपाय यह हैं कि गुरुवाक्य, वेदवाक्यमें श्रद्धा हो कि ये ठीक कहते हैं और तदनुकूल अपने कर्त्तव्यपर विश्वास हो कि इससे अवश्य मेरा मनोरथ सिद्ध होगा।

४ गौड़जी—(क) चेतनामात्रमें व्यापनेवाली श्रद्धा और समस्त जड़में व्यापनेवाली बुद्धिकी शक्ति संपूर्ण विश्वमें विकासका कारण है। जड़चेतनमें धृति, धारणा तथा दृढ़ता विश्वासकेही व्यापनेसे देख पड़ती है। इस प्रकार समस्त विश्वमें श्रद्धा देवी और विश्वास महेश्वर व्यापकर उसे धारण किये हुये हैं। श्रद्धाविश्वासरूपी उमामहेश्वरके विना अपने अन्तरतममें उपस्थित ईश्वरको सिद्धभी नहीं लख पाते। श्रद्धाविश्वास और उमा-महेश्वरमें अभेद है। (ख) भगवान् शङ्कर विश्वासरूप हैं और भगवती पार्वतीजी श्रद्धारूपिणी हैं। भगवान् शङ्करका दिव्य शरीर विश्वास पदार्थका बना हुआ है और भगवतीका दिव्य शरीर श्रद्धा पदार्थका बना हुआ है। श्रद्धा, दया, क्षमा, धी, श्री, ह्री, सभी भगवतीके विविध रूप हैं और देवीके नामोंमें आए हैं। यत्किंचित् श्रद्धा, दया, क्षमा आदि जो जीवोंके शरीरमें वा हृदयमें पाई जाती है, वह प्रकृतिका अंशही है। परन्तु प्रकृतिके जो विविध रूप हैं, उनमें श्रद्धाभी एक विशेष रूप है। यह रूप श्रद्धामय है। अर्थात् इस रूपके अणु-अणु श्रद्धाकेही बने हुये हैं। वस्तुतः जीवका मानसिक शरीर मनोमयकोश श्रद्धाकाही बना हुआ होता है। 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषः यो यच्छ्रद्धः स एव सः।' (गीता १७।३), 'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथा क्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति।' अर्थात् यह पुरुष क्रियामय है, वह जो कुछ इस लोकमें करता है तदनुसारही मरनेपर वह होता है। (छां० ३. १४. १)। यह पुरुष श्रद्धामय है, जो जैसी श्रद्धा करता है वह वैसाही होता है। विश्वासदेवताकी श्रद्धाही शक्ति है। भगवान् शङ्कर विश्वास हैं और उमा श्रद्धा हैं। इन्हींसे मनोमय सृष्टिका विकास होता है। भगवान् तो कूटस्थ हैं, अचल हैं, ध्रुव हैं, जो त्रिलोकमें व्यापकर उसका भरण करते हैं और अन्तःकरणमेंभी निरन्तर मौजूद हैं। जीवको उनतक अन्तर्मुख करनेवाली शक्ति श्रद्धा है और वह स्वयं विश्वास हैं, कूटस्थ हैं, अचल हैं, ध्रव हैं। श्रद्धारूपी किरणें विश्वाससेही बिखरती हैं। उन्हींकी डोरीको थामकर जीव विश्वास सूर्यतक पहुँचता है। स्वान्तःस्थ ईश्वरको सिद्ध लोगभी (अर्थात् जिन्होंने अणिमादि सिद्धियोंको वशीभूत कर लिया है, भौतिक ऐश्वर्य्य प्राप्त कर लिया है वे भी) विना श्रद्धाविश्वासद्वारा अंतर्मुख हुये कूटस्थ परमात्माको नहीं देख सकते।

नोट—४ 'पश्यंति' इति । इस श्लोकमें 'पश्यन्ति' पद दिया है। अन्तर्यामीरूप तो दिखाई नहीं देता, उसका तो अनुभव करनाही कहा जाता है। यथा, 'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव।' (इन्द्रकृत श्रीरामस्तुति ६. ११२), 'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥' (३, १३। अगस्त्यकृत रामस्तुति)। तब 'पश्यन्ति' कैसे कहा ? इस शंकाका समाधान यह किया जाता है कि-(क) श्रीमद्गोस्वामीजी 'पश्यन्ति' शब्द देकर दर्शाते हैं कि हृदयमें स्थित ईश्वर साकार श्रीरामजीही हैं, कोई दूसरा नहीं। यथा, 'परिहरि हृदय कमल रघुनाथहिं बाहेर फिरत विकल भयो धायो' (विनय २४४), 'दीनबंधु उर अंतरजामी। २. ७२।' 'अंतरजामी रामु सिय। २. २५६।' (ख) 'पश्यन्ति' से दिखाया कि निर्गुण ब्रह्म सिद्धों आदिको दिखाई नहीं पड़ता; पर यदि वे श्रद्धा और विश्वाससे ईश्वरका भजन करें, (वे तर्क और ज्ञानसे काम लेकर ब्रह्मका भजन करते हैं, श्रद्धासे नहीं। और वह तो तर्कातीत है, ज्ञानातीत है। यथा, 'व्यापक ब्रह्म अलखु अविनासी। चिदानंदु निरगुन गुनरासी॥ मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥ १. ३४१'); तो वही निर्गुण ब्रह्म उनके लिये सगुणरूप होकर दृष्टिका विषय हो जाय। यथा, 'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥ १. ११६।', 'नयन बिषय मो कहुँ भएउ सो''''।' (श्रीजनकवचन १. ३४१)। भाव यह है कि ज्ञानके अहंकारियोंको उपदेश है कि यदि स्वान्तःस्थ ईश्वरको देखना चाहते हो तो तर्क वितर्कको छोड़ श्रद्धा-विश्वाससे काम लेकर भजन करो। इस लिये 'पश्यन्ति' शब्द भावगर्भित यहाँ दिया गया। (लाला भगवानदीनजी)। (ग) 'पश्यन्ति' का प्रयोग 'ध्यानमें मनसे देखना, अनुभव करना, समझना, विचारना' के अर्थमेंभी होता है। आत्मा आँखोंसे देखनेकी वस्तु नहीं है। उसका अनुभवही होता है। पर उसके लियेभी 'पश्यन्ति'का प्रयोग गीतामें मिलता है। यथा, 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (गीता २. २९)। आत्माके विषयमेंही यह वाक्य है और आत्माका स्वरूप नहीं होता। पुनश्च 'पश्यन्ति ज्ञान चक्षुषः' (गीता० १५. १०), 'यः पश्यतितथात्मान-मकर्त्तारं स पश्यति'॥ (गीता १३. २९), 'ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो। यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥' (भा. १२. १३. १)। हिंदीभाषामेंभी 'देखना' का अर्थ 'समझना, विचारना, अनुभव करना' होता है। यथा, 'देखेउँ करि विचार मन माहीं। ५. ३२।', 'देखहु तुम्ह निज कुलहि बिचारी॥' (५. २२)। अतएव 'पश्यन्ति' के प्रयोगमें वस्तुतः कोई शंकाही नहीं उठ सकती। (घ) वेदान्तभूषणजीका मत है कि शास्त्रोंमें मूर्त्त और अमूर्त भेदसे दो प्रकारसे अन्तर्यामीकी स्थिति सबके अंतःकरणमें दिखाई गई है। जिस तरह काष्ठमें अग्नि, पुष्पमें गंध व्याप्त रहता है उसी तरह व्यापक अन्तर्यामीको अमूर्त कहते हैं और भक्तोंकी भावनानुकूल विग्रह विशेषसे हृदयमें रहनेवाले ईश्वरको 'मूर्त्त' कहते हैं। अन्तर्यामीके इसी मूर्त्त-अमूर्त्तरूपको गोस्वामीजीने 'सम' 'विषम' कहा है। यथा, 'तदपि करहिं सम विषम बिहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा॥' (२. २१९)। परन्तु वह विग्रह विग्रहविशेषसे हृदयप्रदेशमें स्थित ईश्वरभी बिना सुदृढ़ श्रद्धा और विश्वासके दिखाई नहीं देता। अमूर्त्त अनुभवकी वस्तु है और मूर्त्त दिखाई देनेवाला है, इसीसे यहाँ 'पश्यन्ति' पद रक्खा गया और अद्वैतमतमें तो साकारकोही 'ईश्वर' कहते हैं, अतः इनके मतसेभी 'पश्यन्ति' ठीक है।

५—श्रीशिवपार्वतीजी तो समस्त कलाओं और गुणोंके धाम हैं। यथा, 'प्रभु समरथ सर्बज्ञ सिव सकल कला गुन धाम। जोग ज्ञान वैराग्य निधि''''॥ १. १०७।', 'सुता तुम्हारि सकल गुन खानी १. ६७।' (नारदवाक्य हिमाचलप्रति।); तब यहाँ केवल श्रद्धाविश्वासरूप कहकर क्यों वंदना की गयी ? इसका मुख्य कारण लोकव्यवहारमें नित्य देखनेमें आया करता है। जब किसीसे कोई वस्तु माँगनेकी इच्छा होती है तब उसकी वन्दनामें वही विशेषण दिये जाते हैं जिससे जाना जाय कि वह वस्तु उसके अधिकारमें है। श्रीमद्गोस्वामीजीको श्रद्धा और विश्वास इन्हीं दोनोंकी आवश्यकता है। श्रीरामचरितमानस एवं भक्तिकी प्राप्ति बिना इनके दुर्लभ है। (नोट ३ देखिये।)

नोट ६—'भवानीशङ्करौ वन्दे' इस तरह वन्दना तो श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजीकी करते हैं और महत्त्व दिखाया श्रद्धा और विश्वासका। यह क्यों? यह प्रश्न उठाकर बाबा जानकीदासजी उसका उत्तर यह देते हैं कि, ऐसा करके कविने यह सूचित किया कि जब विशेषणमें ये गुण हैं तब विशेष्यका न जाने कितना महत्व होगा। (मा. प्र.)। वस्तुतः 'रूपिणौ' यह सूचित कर रहा है कि इस वंदनामें श्रद्धाविश्वासही प्रधान हैं। भवानीशङ्करको उन्हींकी मूर्त्ति मानकर उन्हींकी वन्दना की गई है। अतः महत्त्वभी उन्हींका दिखाया है। पुनः, ऐसा करके कविने श्रद्धाविश्वास और उमामहेश्वरमें अभेद सूचित किया है। विशेष गौड़जीकी टिप्पणी देखिए।

वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शंकर रूपिणम्।
यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—बोधमयं=ज्ञानस्वरूप। नित्य=नाशरहित। यमाश्रितो=यम्-आश्रितः=जिनके आश्रित (होकर)। हि=निश्चयही। वक्रोऽपि=वक्रः-अपि=टेढ़ाभी। वन्द्यते=वन्दना किया जाता है।

अन्वय—(अहं) शङ्कररूपिणं बोधमयं नित्यं गुरुं वन्दे यमाश्रितः हि वक्रः अपि चन्द्रः सर्वत्र वंद्यते।

अर्थ—मैं शंकररूपी ज्ञानस्वरूप, नित्य श्रीगुरुदेवजीकी वन्दना करता हूँ (कि) जिनके आश्रित (शरण) होनेसे निश्चयही टेढ़ाभी चन्द्रमा सर्वत्र वन्दन किया जाता है॥ ३॥

नोट—१ यह मङ्गलाचरण 'गुरुं शङ्कररूपिणम्' कहकर किया गया है। 'शङ्कररूपिणम्' कहनेसे प्रधानता शङ्करजीकी पाई जाती है। इसीसे उत्तरार्धभी 'शङ्कर' काही विशेषण है। 'शङ्कररूपिणम्' कहनेसे यह आशय निकलते हैं—(क) इस श्लोकमें जब श्रीगुरुदेवजीकी वन्दना करने लगते हैं तो उनकी समताके लिये भगवान् शङ्करकाही ध्यान आता है; अतः 'गुरुं शङ्कररूपिणम्' कहा। (ख) शङ्करजीको गोस्वामीजीने अपना गुरु कई स्थलोंमें कहा है। यथा, 'गुरु पितु मातु महेस भवानी। १.१५।', 'हित उपदेस को महेस मानो गुरु कै। बाहुक ४३।', 'बंधु गुरु जनक जननी विधाता', मेरे माय बाप गुरु संकरभवानिए' (क० ७. १६८) इत्यादि। श्रीरामचरितमानसके संबंधसे श्रीशङ्करजी गोस्वामीजीके दादा-गुरु हैं। भगवान् शङ्करने श्रीनरहर्यानन्दजीको रामचरितमानस सुनाया और उन्हें आज्ञा दी कि वे उसे तुलसीदासको पढ़ा दें जब उनकी बुद्धि उसको ग्रहण करने योग्य हो। यथा, 'प्रिय शिष्य अनन्तानन्द हते। नरहरियानन्द सुनाम छते॥ बसै रामसुशैल कुटी करि कै। तल्लीनदसा अति प्रिय हरि कै॥ तिन्ह कहं दर्शन आप दिए। उपदेशहु दे कृतकृत्य किए॥ प्रिय मानसरामचरित्र कहे। पठए तहँ जहँ द्विजपुत्र रहे॥ लै बालक गवनहु अवध, विधिवत मन्त्र सुनाय। मम भाषित रघुपतिकथा, ताहि प्रबोधहु जाय॥' (बाबा वेणीमाधोदासरचित मूल गुसाईंचरितसे)। इस तरह यह गोस्वामीजीकी विद्यागुरुपरंपरा वा मानसगुरुपरंपरा है। यह परंपरा शङ्करजीसे चली है। पुनः, यदि नरहर्यानन्दजीका पढ़ाना वैसाही समझें जैसे भुशुण्डीजीको लोमशजीका मानस देना, तो हम यह कह सकते हैं कि शङ्करजीने मानस गोस्वामीजीको दिया; जैसे लोमशद्वारा देनेपर भी ग्रंथकार उनके विषयमें लिखते हैं कि, 'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा।' (१. ३०)। इस प्रकार शङ्करजी उनके मानसगुरु कहे जा सकते हैं। * इन कारणोंसेभी 'गुरुं शङ्कररूपिणम्' कहकर वंदना की है।

---

* संभव है कि इसी कारण 'तुलसीदासजी' 'गोसाईं' कहलाए। नहीं तो श्रीरामानन्दीय वैष्णव 'गोसाईं' नहीं कहलाते। इसका प्रमाणस्वरूप वल्लभसंप्रदाय है, जो रुद्रसंप्रदायके माने जाते हैं। वेभी मानते हैं कि शंकर विना भक्ति नहीं। उनके संप्रदायके परमाचार्य रुद्रभगवान् हैं। वे सब गोसाईं कहलाते हैं, वैसेही तुलसीदासजीभी कहलाए। वल्लभाचार्यस्वामी और गोस्वामीजी समकालीन थे। गोस्वामीजी उस संप्रदायके गोपाल मंदिर काशीमें बहुत दिन रहेभी और वहीं उन्होंने विनयकी रचना की। यहभी 'गोसाईं' कहलानेका कारण हो सकता है।

(ग) (पं. रामकुमारजी लिखते हैं कि गुरुको शास्त्रोंमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश एवं ब्रह्म कहा गया है। यथा, 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवेनमः।' (गुरु गीता ४३)। 'शंकर' का अर्थ है 'कल्याण करनेवाले'। इसीसे यहाँ शंकररूपी कहकर वंदना की। (क्योंकि रामचरितमानस लिखने बैठे हैं।) इनकी वंदनासे गोस्वामीजी अपना और इस ग्रंथके वक्ता और श्रोता सबका कल्याण चाहते हैं। आगे मङ्गलाचरण सोरठा ५ में हरिरूपी कहकर वंदना करते हैं। [और 'राखै गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जगत्राता॥ १. १६६।' 'बिधाता' से बड़ा कहा है। इस प्रकार त्रिदेवरूप तथा उनसे बड़ाभी कहा।]

२—श्रीगुरुमहाराजका मङ्गलाचरण करनेका हेतु यह है कि—(क) श्रीमद्गोस्वामीजीको यह श्रीरामचरितमानस अपने गुरुमहाराजसे प्राप्त हुआ है। यथा, 'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।.... तदपि कही गुर बारहिं बारा।' (१. ३०-३१)। (ख)-गुरुमहाराज ज्ञान, विश्वास और भक्तिके देनेवाले हैं।

नोट—३ 'बोधमयं नित्यं गुरुं' इति। (क) गुरु वह है जो शिष्यके मोहरूपी अंधकारको दूर करे। यथा, 'गु शब्दस्त्वन्धकारोस्ति रु शब्दस्तन्निरोधकः। अन्धकार निरोधित्वाद्गुरुरित्यभिधीयते ॥' (गुरुगीता श्लोक १२) 'महामोह तम पुंज जासु बचन रबिकर निकर।' (मं. सोरठा ५), 'बिनु गुर होइ कि ज्ञान' (७. ८९)। गुरु ज्ञानके देनेवाले हैं। (ख) शास्त्रोंमें गुरुको सच्चिदानन्दरूपही कहा गया है और गुरुका ध्यान जो वर्णन किया गया है उसमें उनको 'ज्ञानमूर्त्ति' और 'नित्य' कहा गया है। यथा, 'ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्त्तिम् द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्। एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधी साक्षिभूतं, भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तन्नमामि ॥' (गुरुगीता ६७)। उपनिषदोंमेंभी गुरुके प्रति जिसकी वैसीही श्रद्धा है जैसी भगवान्के प्रति उसीको तत्वका अधिकारी कहा गया है। यथा, 'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ। तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥ श्वे. श्व. ६. २३।' जो अपनेको निरंतर नित्य, ज्ञानस्वरूप, चेतन, अमल, सच्चिदानन्दस्वरूप मानता है वास्तवमें वही 'गुरु' कहलाने योग्य है। इसीसे ज्ञानप्राप्तिकेलिये 'श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ' गुरुके पास जानेका उपदेश किया गया है। यथा, 'तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥' (मुण्डक १। २। १२)। इसीके अनुसार गोस्वामीजीने ये विशेषण यहाँ दिये हैं।

प्रश्न—गुरुजी तो मनुष्य हैं, उनका पांचभौतिक शरीर है जो नश्वर है, तब उनको 'नित्य' कैसे कहा ?

उत्तर—(१) श्रीगुरुमहाराज और ईश्वरमें अभेद मानकर। यथा, 'भक्ति भक्त भगवन्त गुरु चतुर नाम वपु एक' (भक्तमाल श्रीनाभास्वामीकृत)। भगवान् नित्य हैं, अतः गुरुमहाराजभी नित्य हैं। पुनः, (२) गुरुको 'शङ्कररूपिणम्' कहा है और शङ्करजी 'नित्य' अर्थात् अविनाशी हैं। यथा, 'नाम प्रसाद संभु अबिनासी' (१. २६)। अतएव इस संबंधसे गुरुकोभी 'नित्य' कहा। पुनः,(३) 'शङ्कररूपिणम्'तथा उत्तरार्धके 'यमाश्रितो⋯' से यहाँ प्रधानतया शङ्कररूपमें गुरुकी वंदना होनेसे 'नित्य' कहा है। पुनः, (४) श्रीरामप्रसादशरणजी कहते हैं कि यद्यपि 'बोधमयं' और 'नित्यं' श्रीगुरुमहाराजके विशेषण हैं, परन्तु आपने अपने काव्यमें तीन गुरु माने हैं। प्रथम श्रीरामचरितमानसको। यथा, 'सद्गुर ज्ञान बिराग जोग के' (१. ३२)। दूसरे, श्रीशिवजीको। यथा, 'गुर पितु मातु महेस भवानी।' तीसरे, अपने मन्त्रराज उपदेष्टा श्रीनरहर्यानन्दजीको जिनके वास्ते कहते हैं कि 'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।' (१.३०)। 'बोधमयं, नित्यं, गुरुं' मेंसे 'बोधमयं' श्रीरामचरित्र के लिये है; क्योंकि ये ज्ञानादिके सद्गुरु हैं। 'नित्यं' शिवजीके वास्ते है, क्योंकि शिवजी अविनाशी हैं। यथा, 'नाम प्रसाद संभु अबिनासी' (१. २६)। और तीसरा शब्द 'गुरु' अपने निज गुरुमहाराजके लिये है। तीनों गुरु शंकररूप अर्थात् कल्याणकर हैं। इन्हीं तीनोंके आश्रित होनेसे इनका काव्य वक्रचन्द्रवत् सर्वत्र वन्दनीय होगा

इन तीनों गुरुओंके स्वरूप एक होनेसे इन तीनोंके कर्त्तव्यभी एकही हैं। (उदाहरणके लिये मं. सोरठा ५ 'बंदउँ गुरुपदकंज'''''. नोट १ देखिए)। (५) श्रीवैजनाथजीका मत है कि श्रीरामनाममें विश्वास होनेसे 'बोधमय' कहा; क्योंकि गुरुसे श्रीराममंत्र मिलनेपर बोध हो जाता है, अन्यसे सुननेसे नहीं।

नोट—४ 'यमाश्रितो हि''''' इति। (क) 'हि' का प्रयोग प्रायः निश्चय अथवा कारणका बोध करानेके लिये होता है। यथा, 'हि हेतावधारणे।' (अमरकोश ३. ३. २५६)। 'निश्चय' अर्थमें इसका अन्वय 'सर्वत्र वन्द्यते' के साथ होगा। 'कारण' अर्थमें इसका संबंध 'वन्दे' से होगा। क्यों वन्दना करते हैं ? इस कारणसे कि 'यमाश्रितो'''''। (ख) 'वक्रोऽपि चन्द्रः' इति। यहाँ 'वक्र चन्द्रमा' से शुक्लपक्षकी द्वितीयाका चन्द्रमा अभिप्रेत है। टेढ़ेसे सब डरते हैं। देखिये कि राहुभी टेढ़े चन्द्रमाको नहीं ग्रसता। यथा, 'बक्र चंद्रमहि ग्रसै न राहू।' (१. २८१)। पर शिवजीके आश्रित हो जानेसे, उनकी शरण लेनेसे, शंकरजीके उसे ललाटपर धारण कर लेनेसे टेढ़े चन्द्रमाकोभी सब प्रणाम करते हैं। द्वितीयाका चन्द्रमाही वन्दनीय होता है, अन्य तिथियोंका नहीं; यथा, 'दुइज न चंदा देखिय उदौ कहा भरि पाख।' (दोहावली ३४४)। (ग) 'चन्द्रमा' नाम यहाँ 'वक्र' के साथ बहुतही उपयुक्त है। यह शब्द लिखनेमेंभी टेढ़ा और उच्चारणमेंभी टेढ़ा है। इसी तरह 'बक्र चंद्रमहि ग्रसै न राहू' और 'अवगुन बहुत चंद्रमा तोही' मेंभी 'चन्द्रमा' शब्दकाही प्रयोग हुआ है। भगवान् शंकरने इसमें 'रकार' देखकर इसे मस्तकपर रक्खा। यह शंकरजीके 'रकार मकार' में विश्वासका बोधक है।

टिप्पणी—इन विशेषणोंका भाव यह है कि श्रीगुरुदेवजी ज्ञानदाता हैं, अविनाशीकर्ता हैं, वंदनीयकर्ता हैं। जैसे शिवजीके आश्रित होनेसे द्विजचन्द्र वन्दनीय हो गया, वैसेही गुरुजीके आश्रित वक्रजन (शिष्य) वन्दनीय हो जाता है। [मेरी लघु एवं टेढ़ी बुद्धि श्रीगुरुकृपासे श्रीरामयश कथन करनेमें ऐसी समर्थ हो जावे कि सभी लोग इस ग्रंथका आदर करें और मैंभी वन्दनीय हो जाऊँ, यह कवि चाहते हैं।] जैसे भुशुण्डीजी वक्र थे, पर गुरुकृपासे वन्दनीय हो गए। यथा, 'रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते॥ बंदउँ पदसरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे॥ १. १८।', वैसेही गोस्वामीजी और उनकी कविताभी शंकररूपी गुरुके आश्रयसे जगत्‌वन्दनीय होगई। यथा, 'भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती।' (१. १५), 'तुलसी गुसाइँ भयउ।' (बाहुक), 'रामनामको प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप, तुलसी सो जग मानियत महामुनी॥' (क. ७. ७२), 'मेरे माय बाप गुरु संकर भवानियै।' (इन्हींकेद्वारा मंत्र मिला)।

नोट—५ (क) ऊपर मंगलाचरणके श्लोक १ एवं २ में और पुनः आगे श्लोक ४ में दो-दोकी वन्दना (अर्थात् वाणी विनायक, श्रद्धा विश्वासरूपी भवानीशंकर और कवीश्वर कपीश्वरकी वन्दना) साथ साथ की गई है, परन्तु यहाँ अकेले गुरुमहाराजकी वन्दना है। ऐसा करके गुरुदेवजीका अद्वितीय होना सूचित किया है। अर्थात् जनाया है कि ये परब्रह्मके तुल्य हैं, इनकी समताका दूसरा कोई नहीं है। पुनः, (ख) वाणी विनायक, श्रद्धा विश्वासरूपी भवानी-शंकर इन चारकी वंदना प्रथम की और अंतमें कवीश्वर कपीश्वर और श्रीसीताराम जी इन चारकी की और इनके बीचमें श्रीगुरुदेवजीकी वन्दना की गई। इसमें भाव यह है कि गुरुजी रत्नस्वरूप हैं अतः इनको डब्बेके बीचमें रत्नकी नाईं रक्खा है। पुनः, (ग) ऐसा करके इनकी प्रधानता दर्शित की है। यंत्रराजके पूजनमें प्रधान बीचमें पधराये जातेही हैं। गुरुका दर्जा (पद, महत्व) ईश्वरसेभी बड़ा है। यथा, 'तुम्ह ते अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाव सेवहिं सनमानी॥ २. १२९।', 'राखइ गुर जौं कोप बिधाता। गुर बिरोध नहिं कोउ जग त्राता। १. १६६।'

सीताराम पुण्यग्राम पुण्यारण्य विहारिणौ।
वन्दे विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ॥ ४॥

शब्दार्थ—गुणग्राम=गुणोंका समूह, कथा, सुयश । पुण्यारण्य=पुण्य अरण्य, पवित्रवन, पुण्योंका वन । विहारिणौ=विहार करनेवाले दोनों, विचरनेवाले । विशुद्ध=विशेष शुद्ध, अत्यन्त निर्मल ।

अन्वय—(अहं) श्रीसीतारामगुणग्रामपुण्यारण्यविहारिणौ विशुद्धविज्ञानौ कवीश्वरकपीश्वरौ वन्दे ।

अर्थ—मैं श्रीसीतारामजीके गुणग्रामरूपी पुण्य वनमें विहार करनेवाले विशुद्ध विज्ञानी श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमानजी दोनोंको प्रणाम करता हूँ । ४ ।

टिप्पणी—१ 'सीताराम····विहारिणौ' इति । (क) अरण्यका रूपक इस लिये दिया कि ये दोनों वनवासी हैं । [वाल्मीकिजीका एक आश्रम दक्षिणमें चित्रकूटके निकट है जहाँ श्रीरामजी गए थे। दूसरा आश्रम विठूरमें था जहाँ श्रीसीताजी भेजी गई थीं और जहाँ उनके दो जुड़वाँ पुत्र श्रीलवजी और श्रीकुशजी हुए थे। और, श्रीहनुमान्जी गंधमादनपर्वतपर एक केलेके वनमें रहा करते हैं। यहीं भीमसेनको श्रीहनुमान्जीका दर्शन प्रथम प्रथम हुआ था। (महाभारत वनपर्व अ. १४५)] अथवा, वनसे चरितकी अपारताभी जनाई। श्रीसीतारामजीके चरित अपार हैं ही। यथा, 'रामचरित सत कोटि अपारा'। (७.५२)। (ख) 'पुण्यारण्य विहारिणौ' कहकर जनाया कि ये दोनों सामान्य अरण्यके वासी नहीं हैं वरंच पुण्य वनके निवासी हैं। (ग) श्रीसीतारामजी के गुणग्रामको पुण्यारण्य कहा, क्योंकि सब वन पवित्र नहीं होते और श्रीसीतारामजीके गुणग्राम पवित्र हैं। यथा, 'पावन गंगतरंगमालसे।' १.३२, 'रघुपतिकृपा जथा मति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा।७.१३०।' 'मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई।' (७.१२६)। वा गुणग्राम पवित्र हैं अतः इस अरण्यको पवित्र कहा। नौ अरण्य मुक्तिदाता कहे गए हैं। [यथा, दण्डकं सैन्धवारण्यं जम्बूमार्गश्च पुष्करम्। ५५। उत्पलावर्तमारण्यं नैमिषं कुरुजाङ्गलम्। हिमवानर्बुदश्चैव नवारण्याश्च मुक्तिदाः। ५६।' (रुद्रयामलांतर्गत अयोध्या महात्म्ये अ. ३०)। स्कंद पुराणके नागरखण्ड अ. १६६ में ये श्लोक हैं—'एकंतु पुष्करारण्यं नैमिषारण्यमेवच। धर्मारण्यं तृतीयंतु तेषां संकीर्त्यते द्विजाः॥ १३।····वृन्दावनं वनञ्चैकं द्वितीयं खाण्डवं वनम्। ख्यातं द्वैतवनं चान्यत् तृतीयं धरणीतले। १७।' इस प्रसंगमें 'संसारमें साढ़े तीन करोड़ तीर्थ हैं उनका स्नान मनुष्य कैसे कर सकता है?' इस शंकाके उत्तरमें बताया है कि भूतलमें तीन क्षेत्र, तीन अरण्य, तीन पुरी, तीन वन, तीन ग्राम, तीन तीर्थ, तीन पर्वत और तीन महानदियाँ अत्यन्त पवित्र हैं। इन आठ त्रिकोंमेंसे किसी त्रिकके एकमें स्नान करनेसे उस त्रिकका फल मिलता है और किसी एक त्रिकमें स्नान करनेसे आठों त्रिकोंका फल मिलता है और आठों त्रिकोंमें स्नान करनेसे समस्त तीर्थोंके स्नानका फल मिलता है। उन्हींमेंसे दो त्रिक ऊपर उद्धृत किये गए।] [अथवा, ये मर्यादापुरुषोत्तमके चरित्र हैं अतः पुण्यारण्यका रूपक दिया। औरोंकी लीलामें अपवित्रताकी शंकाभी होती है जिसके लिये 'तेजीयसां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा', 'समरथ कहँ नहिं दोष' कहकर समाधान किया जाता है। (१. ६९.—१. ७०. १। देखिए)] इससे यह भी जनाया कि जिसके बड़े पुण्य उदय हों वही इस वनमें विहार कर सकता है। यथा, 'अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहि मारग सोई।।' (७. १२९)। पुनः, (घ) श्रीवाल्मीकिजी एवं श्रीहनुमान्जी दोनोंने केवल श्रीरामयश गाया है। इन दोनोंको उत्तरार्धमें 'विशुद्ध विज्ञानी' कहा है जिससे यह समझा जा सकता है कि इन्होंने निर्गुण ब्रह्मका यश गाया होगा। यथा, 'ब्रह्मज्ञान रत मुनि विज्ञानी। मोहि परम अधिकारी जानी॥ लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥ मन गोतीत अमल अविनासी। निर्विकार निरवधि सुखरासी॥ ७. १११।' इत्यादि ये गुण निर्गुण रामके हैं, जो सबमें रमण करते हैं। यही गुण इन्होंनेभी गाए होंगे। इस बात का निराकरण करनेके लिये और सन्देह निवारणार्थ 'सीतारामगुणग्राम' (अर्थात् सगुण ब्रह्मके चरित) में विहार करना कहा।

नोट—१ 'विहारिणौ' इति। (क) 'विहार' शब्द आनन्दपूर्ण विचरणका द्योतक है। इसमें भय, शंका आदिका लेशभी नहीं होता। ये दोनों इस पुण्यारण्यकी प्रत्येक वस्तुओंको देख और उनका पूर्णतः

ज्ञान प्राप्त करके परमानन्दरसमें मग्न होनेवाले हैं। (भगवतीप्रसादसिंह मुख्तार)। (ख) हनुमान्‌जी सदा सुनते हैं इसके प्रमाण तो बहुत हैं। वाल्मीकिजी सदा उसीमें विहार करते हैं, इसका प्रमाण एक यह है कि कलियुगमें वेही (हनुमान्‌जीके शापवश) तुलसीदास हुये और यह चरित गाया है यह बात भक्तमाल तथा गुसाईंचरितसे स्पष्ट है और गोस्वामीजीने स्वयंभी कहा है। यथा, 'जनम जनम जानकीनाथ के गुनगन तुलसीदास गाए।' (गीतावली ६. २३)। 'जनम जनम' से सदा श्रीरामगुणग्राममें निरंतर विहार करना स्पष्ट है। अथवा, यावज्जीव विहार करनेसे 'विहारी' कहे गए। श्रीसीतारामजीके गुणग्राममेंही अपना सारा जीवन लगा दिया। श्रीहनुमान्‌जी तो चिरजीवी हैं इससे वे अबतक विहार कर रहे हैं और आगेभी करते रहेंगे और वाल्मीकिजी जबतक रहे तबतक करते रहे। अथवा, 'विहारी' से जनाया कि जो यत्रतत्र क्वचित् गुणगान करनेवाले हैं वे 'विहारी' नहीं हैं। क्योंकि 'विहारी' शब्दका अर्थही होता है, 'विहरति तच्छीलः' अर्थात् विहार करनाही जिसका स्वभाव है, वही 'विहारी' कहलाता है और जिसका जो स्वभाव होता है वह उसके साथ आजीवन रहताही है। श्रीहनुमान्‌जीने तो श्रीरामराज्याभिषेकसमय श्रीरामजीसे यह वरदानही माँग लिया था कि जबतक आपका चरित सुनता रहूँ तभीतक जीवित रहे। यथा, 'यावद्राम कथेयं ते भवेल्लोकेषु शत्रुहन्। तावज्जीवेयमित्येवं तथाऽस्त्विति च राजीवलोचनः। १६।' इसीसे अप्सरायें और गधर्व श्रीरामजीके चरित्र उन्हें नित्य गाकर सुनाया करते हैं, यह बात उन्होंने भीमसेनसे कही है। यथा, 'तदिहाऽप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदाऽनघ। तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयन्ति माम्॥ महाभा. वन. १४८ २०।' और यह तो प्रसिद्धही है कि वे सर्वत्र रामचरित सुनने जाते हैं।

२—'विशुद्ध विज्ञानौ' इति। (क) विज्ञानी=परमार्थतत्त्वका यथार्थ ज्ञाता। 'विशुद्ध विज्ञानौ' कहनेका भाव कि परमार्थतत्त्व यथार्थ जाननेका विषय नहीं है। यथा, मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी। १. ३४१।', 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (ब्रह्मोपनिषद)। परन्तु उस परमतत्वको ये दोनों प्रभुकृपासे यथार्थ जानते हैं। (ख) कामादि विज्ञानीके मनमेंभी क्षोभ प्राप्त कर देते हैं। यथा, 'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि विज्ञानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ॥ ३. ३८।'; अतः 'विशुद्ध' विशेषण देकर जनाया कि इनका विज्ञान सदा एकरस रहता है, ये दोनों मूर्त्तिमान विशुद्ध विज्ञान हैं, केवल विज्ञानधाम या विज्ञानी नहीं हैं।

३ ☞ 'ज्ञान' और 'विज्ञान' ये दोनों शब्द इस ग्रंथमें आए हैं। कहीं-कहीं तो ज्ञानसेही विज्ञानका अर्थ ग्रहण किया जाता है और कहीं-कहीं ज्ञानसे विज्ञानको अधिक कहा है। यथा, 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं देख ब्रह्म समान सब माहीं'। (३. १५), 'सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई।···दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी।' (७. ५४) 'ज्ञानिहु ते अति प्रिय विज्ञानी।' (७. ८६), 'ज्ञान विवेक बिरति विज्ञाना।' (७. ८४), इत्यादि। ज्ञान और विज्ञानकी व्याख्या श्रीशंकराचार्यजीने गीताभाष्यमें इस प्रकारकी है, 'ज्ञानं शास्त्रोक्तपदार्थानां परिज्ञानम्। विज्ञानं शास्त्रतोज्ञातानां तथैव स्वानुभवकरणम्।' अर्थात् शास्त्रोक्त (वेदान्त आदि शास्त्रोंका) ज्ञान 'ज्ञान' कहलाता है शास्त्रसे ज्ञात विषयका अनुभव करना 'विज्ञान' है। गोस्वामीजीभी 'ब्रह्मलीन, ब्रह्मपरायण' को विज्ञानी कहते हैं। 'विशुद्ध विज्ञानी' शब्द सम्भवतः मानसमें इसी स्थानपर है। श्रीपार्वतीजीने जो कहा है कि, 'धर्मसील विरक्त अरु ज्ञानी। जीवनमुक्त ब्रह्मपर प्रानी॥ सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया। ७. ५४।' हो सकता है कि अनन्य रामभक्त होनेसे 'विशुद्ध विज्ञानी' कहा हो।

☞ श्रीहनुमान्‌जीके लिये इस ग्रन्थमें यहाँ 'विशुद्ध विज्ञानी', आगे दोहा १७ में 'ज्ञानघन', कि. दोहा ३० (४) में 'विज्ञान निधान' और सुं. मं. में 'ज्ञानिनामग्रगण्य' विशेषण आए हैं। इनपर आगे विचार किया जायगा।

४—'कवीश्वर कपीश्वरौ' इति। श्रीवाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्‌जीकी एकसाथ वन्दना करनेके कारण ये कहे जाते हैं—(क) निरन्तर कीर्त्तन और श्रवणके सहधर्मसे दोनों साथ रक्खे गए। वाल्मीकिजीने 'शतकोटिरामायण' लिखी। यथा, 'रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि। १. २५।', 'रामचरित सतकोटि अपारा। ७. ५२।' (१. २५ देखिये)। और, श्रीहनुमान्‌जीनेभी श्रीरामचरितसंबंधी एक महानाटक लिखा। यथा, 'महानाटक निपुन कोटि कविकुलतिलक गान गुन गर्व गंधर्व जेता।' (विनय २९), 'काव्य कौतुक कला कोटि सिंधो।' (विनय २८)। और ये रामयशके ऐसे अनन्य श्रोता हैं कि जहाँ-जहाँ श्रीरामचरित होता है वहाँ-वहाँ आप बड़े आदरसे सुनने जाते हैं। यथा, 'जयति रामयश श्रवण संजात रोमांच लोचन सजल सिथिल वानी।' (विनय २९), 'यत्र यत्र रघुनाथकीर्त्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम्। वाष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम्।' (वाल्मीकीयरामायणके मङ्गलाचरणमें संगृहीत उद्धरणोंसे।) अर्थात् जहाँ-जहाँ श्रीरघुनाथजीका कीर्त्तन होता है, वहाँ-वहाँ हाथ जोड़े हुए, नतमस्तक, नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भरे हुए खड़े रहनेवाले, राक्षसोंके नाशक श्रीहनुमान्‌जीको प्रणाम कीजिये। (ख) वाल्मीकिजी कीर्तनकर्त्ता हैं और श्रीहनुमान्‌जी श्रोता हैं। (ग) मुनि और वानर दोनों वनवासी हैं। अतः दोनोंको साथ रक्खा। (घ) (किसी-किसीका मत है कि) कविने हनुमन्नाटक और वाल्मीकीयसेभी सहायता ली है, इससे उनके कर्त्ताओंकी वन्दना की है। अथवा, (ङ) इससे कि कलियुगमें मानसकी रचना दोनोंने मिलकर की है। (गौड़जी)।

किसी-किसीने 'कपीश्वर' से सुग्रीवका अर्थ लिया है; परन्तु यहाँ जो विशेषण दिये गए हैं वे हनुमान्‌जीमेंही पूर्णरूपसे घटित होते हैं, श्रीसुग्रीवजीमें नहीं। यथा, 'प्रनवउँ पवनकुमार खलवनपावक ज्ञानघन। ...। १. १७।', 'पवनतनय बल पवन समाना। बुधि विवेक बिज्ञान निधाना॥' (४. ३०)। सुग्रीवजीने रामचरितपर कोई ऐसा काव्य नहीं रचा जो प्रसिद्ध हो। फिर हनुमान्‌जीको 'कपीश्वर' कुछ यहीं नहीं कहा गया, अन्यत्रभी कहा गया है। यथा, 'ज्ञानिनामग्रगण्यं। सकल गुणनिधानं वानराणामधीशं। सुं. मं. ३।', 'नव तुलसिका वृंद तहं देखि हरष कपिराइ। ५. ५।', 'कपीशमक्षहन्तारं वन्दे लंकाभयंकरम्।' यहभी स्मरण रहे कि श्रीहनुमान्‌जीहीने तो सुग्रीवजीको 'कपिपति' बनवाया। यथा, 'जयति गतराज्यदातार हंतार संसार संकट दनुजदर्पहारी।' (विनय २८), 'नतग्रीव सुग्रीव दुःखैक बंधो' (विनय २७), । 'जयति सुग्रीव सिक्षादि रक्षन निपुन वालि बलसालिवध मुख्य हेतू।' (विनय २५)। श्रीसीताशोधसमय तथा श्रीसीताजीका पता लगाकर वानरोंके प्राणों और सुग्रीवके प्रतिज्ञाकी रक्षा की। यथा, 'राखे सकल कपिन्ह के प्राना' (५. २९)। इन कारणोंसे इनको 'कपीश्वर' कहा। 'ईश्वर' का अर्थ 'समर्थ, श्रेष्ठ'भी होता है जब वह समस्तपदोंमें आता है। समस्त वानरोंमें ये सर्वश्रेष्ठ हैंही।

उद्भव-स्थिति-संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्॥ ५॥

शब्दार्थ—उद्भव=उत्पत्ति, पैदा करना। स्थिति=पालन पोषण। संहार=नाश। श्रेयस्करीं=श्रेयः-करीं=कल्याण करनेवालीको। नतोऽहं=नतः-अहं=अहं नतः अस्मि=मैं नमस्कार करता हूँ।

अन्वय—अहं उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं, क्लेशहारिणीं, सर्वश्रेयस्करीं श्रीरामवल्लभां श्रीसीतां नतः (अस्मि)।

अर्थ—मैं उत्पत्तिपालनसंहारकी करनेवाली, क्लेशोंकी हरनेवाली, सम्पूर्ण कल्याणोंकी करनेवाली, श्रीरामचन्द्रजीकी प्रिया श्रीसीताजीको प्रणाम करता हूँ। ५।

नोट—१ श्रीरामतापनीयोपनिषदमें इससे मिलती जुलती श्रुति यह है, 'श्रीरामसान्निध्य वशाज्जगदा-

नन्ददायिनी। उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणीं सर्वदेहिनाम्'। (राम. उ. ता. ३. ३) और भगवान्‌के विषयमें एक ऐसाही श्लोक रघुवंश सर्ग १० में यह है, 'नमो विश्वसृजे पूर्वं विश्वं तदनु बिभ्रते। अथ विश्वस्य संहर्त्रे तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने ॥ १६ ॥'

२ रामतापनीके 'सर्वदेहिनाम्', 'जगदानन्ददायिनी' और 'श्रीरामसान्निध्यवशात्' की जगह यहाँ 'सर्वश्रेयस्करीं', 'क्लेशहारिणीम्' और 'रामवल्लभाम्' हैं। 'उद्भवस्थितिसंहारकारिणीम्' दोनोंमें है।

३ विशेषणोंके भाव—(क) उद्भव, स्थिति और संहार त्रिदेवके कर्म हैं। इनका कारण मूलप्रकृति है। इन विशेषणोंसे आपमें 'मूलप्रकृति' का भ्रम हो सकता था; अतः 'क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीं' कहा। पुनः, 'संहारकारिणीं' के साथ क्लेशहारिणीं इससे कहा कि मरण या संहारसे देहजनित सारे क्लेश और यातनाएँ मिट जाती हैं और जीवका बड़ा उपकार होता है, कल्याण एवं श्रेय होता है तथा सृष्टिका क्रम चलता रहता है।

(ख) श्रीगौड़जी कहते हैं कि जन्ममें जितना क्लेश है उससे कम स्थितिमें, स्थितिसे कम संहारमें। पूर्वका क्लेश हरनेकोही परघटना क्रमशः होती हैं। क्रमसे उत्तरोत्तर क्लेशहरण होता है और जीवके उत्तरोत्तर विकासका यह मार्ग जब प्रशस्त रहता है तब वह अंतमें पूर्ण विकसित हो इस चक्रसे निवृत्त हो 'परमश्रेय रामपद'को पहुँचता है। यह 'परम श्रेय'कभी न कभी समस्त सृष्टिको इस जगल्लीला अभिनेत्री रामवल्लभाद्वारा मिलता है; इसीसे 'सर्वश्रेयस्करी' कहा।

(ग) किसीका मत है कि उद्भवादिसे जनाते हैं कि संतोंके हृदयमें वैराग्यादि उत्पन्न करके उनको स्थित करती हैं और कामादि विकारोंका संहार करती हैं। इन विशेषणोंसे कवि ज्ञान एवं भक्तिकी प्राप्ति और स्थिति तथा अविद्याका नाश चाहते हैं।

(घ) 'क्लेशहारिणीं' इति। योगशास्त्रमें क्लेशके पाँच भेद हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन पाँचोंके मिटे विना जीवका कल्याण नहीं होता। अतः 'क्लेशहारिणीं' कहकर तब 'सर्वश्रेस्करीं' कहा। कल्याणके बहुत प्रकार कहे गए हैं।

४—'सीतां' इति। 'सीताम्' पद 'सि बन्धने'में 'क्त' प्रत्यय लगनेसे बनता है। 'सीता' नाम केवल हल जोतनेके समय प्रकट होनेसेही नहीं है। यह तो 'राम' नामकी तरह अनादि है। निर्गुण ब्रह्ममें उसकी नित्या उत्तमा शक्ति बँधी, इसीसे वह सगुण ब्रह्म हुआ, नहीं तो ब्रह्ममें विकार कहाँ? सृष्टि कहाँ? जगत् कहाँ? 'श्रीसीताजीही ब्रह्मके बँधनेका कारण हुईं', वह सगुण हुआ, प्रेमपाशमें बँधा, राम हुआ, इसी लिये आगे कहते हैं 'रामवल्लभाम्'। फिर वह राम कौन हैं, यह अगले श्लोकमें कहते हैं। (गौड़जी)

श्रीरामजी तथा उनका नाम अनादि है। रघुकुलमें अवतीर्ण होनेके पूर्वभी 'रामनाम' था। प्रह्लादजी सत्ययुगमें उसे जपते थे। पर जब वेही रघुकुलमें अवतरे तब अनुभवी ब्रह्मर्षि वशिष्ठने उनका वही नामकरण यहाँ किया। वैसेही 'सीता' नाम अनादि है। मनुशतरूपाजीको जब ब्रह्मने दर्शन दिया तबभी 'श्रीसीताराम' रूपसे। अनादि 'सीता' नामकी व्युत्पत्ति गौड़जीने ऊपर बताई। वही 'सीता' जब श्रीजनकपुरमें अवतरीं तब उनका वही नाम यहाँके अनुभवी मुनिने रक्खा। परन्तु यहाँ उस नामकी व्युत्पत्ति इस प्रकार हुई कि महाराज सीरध्वज जनकजी पुत्रप्राप्तिके लिये यज्ञभूमिको जब हलसे जोत रहे थे उस समय हलके अग्रभागसे कन्या श्रीसीताजी प्रकट हुईं। यथा, 'तस्यपुत्रार्थं यजनभुवं कृषतः सीरे सीता दुहिता समुत्पन्ना। २८।' (विष्णु पु. अंश ४ अ० ५), 'द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना' (श्रीसीतोपनिषत्), 'अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः। १३। क्षेत्रं शोधयतः लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।' (वाल्मी. १। ६६), अर्थात् श्रीजनकमहाराज श्रीविश्वामित्रजीसे कह रहे हैं कि हलसे क्षेत्रको जोतते

समय 'सीता' नामकी कन्या मुझको मिली। श्रीमहारानीजीने अनुसूयाजीसे वाल्मी. अ० ११८. २८ में यही बात कही है। इन उद्धरणोंसे यह नहीं सिद्ध होता कि इसी कारणसे 'सीता' नाम पड़ा। परन्तु आनन्दरामायण सारकांड अ० ३ में इसी कारणसे 'सीता' नाम होना कहा है। यथा, 'सीराग्रान्निर्गता यस्मात् सीतेत्यत्र प्रगीयते ॥ ७४ ॥' अर्थात् हलके अग्रभागसे उनका प्रागट्य हुआ, अतएव लोग उनको 'सीता' कहते हैं। (इसका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि हलसे जो लकीर खेतमें पड़ती है उसका नाम 'सीता' है और ये वहीं लकीरसे हलाग्रद्वारा प्रकट हुई हैं, इससे 'सीता' नाम पड़ा।)

'सीता' नामसे वन्दना करनेके और भाव ये कहे जाते हैं कि—(क) यही प्रधान नाम है। जब मनुशतरूपाजीके सामने प्रथम-प्रथम आपका आविर्भाव हुआ तब यही नाम प्रकट किया गया था। यथा, 'राम वाम दिसि सीता सोई।' (ख) यह ऐश्वर्यसूचक नाम है। जहाँ-जहाँ ऐश्वर्य दर्शित करना होता है, वहाँ-वहाँ इस नामका प्रयोग होता है।

५. छः विशेषण देनेके भाव—(१) उद्भवस्थितिसंहार मूलप्रकृतिके कार्य हैं। इससे इनमें मूलप्रकृतिका भ्रम निवारण करनेके लिये 'क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीं' कहा। मूलप्रकृतिमें ये गुण नहीं हैं। वह तो दुष्टा दुःखरूपा और जीवको भवमें डालनेवाली है। यथा, 'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा ॥ ३. १५ ॥' पर ये गुण 'क्लेशहारिणीं सर्वश्रेयस्करीं' विद्यामाया एवं महालक्ष्मीकेभी हैं और श्रीसीताजी तो ब्रह्मस्वरूपिणी एवं समस्त मायाओंकी परम कारण हैं। यथा, 'गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत भिन्न न भिन्न। बंदउँ सीतारामपद'''॥ १८ ॥', 'जासु अंस उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी ॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई ॥ १. १४८ ॥', 'उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता ॥ जगदंबा'''' (७. २४), 'जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत''''।' (७. २४), 'माया सब सिय माया माहूँ।' (२. २५२); इसलिये 'रामवल्लभा' कहा। यहाँ 'रामवल्लभा' = 'अतिशय प्रिय करुणानिधान की।' आगे 'रामाख्यमीशं हरिं' की वन्दना है। उन्हीं 'राम' की वल्लभा कहकर जनाया कि ये वही 'सीता' हैं कि जिनके अंशमात्रसे असंख्यों उमा, रमा, ब्रह्माणी उत्पन्न होती हैं और यह कि इनकी कृपा विना श्रीरामरूपकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस तरह पूर्व विशेषणोंमें जो 'अतिव्याप्ति' थी वह 'रामवल्लभा' कहनेपर दूर हो गई। (पं० रामकुमारजी)। (२) छः विशेषण देकर षडैश्वर्य्यसंपन्ना, श्रीरामरूपा अर्थात् अभेद जनाया। विशेष दोहा १८ में देखिये। (३) 'सीता' नामभी अनेक अर्थोंका बोधक है। यथा, 'लक्ष्मी सीता उमा सीता सीता मंदाकिनी मता। इन्दौरभुस्तथा सीता सीतोक्ता जानकी बुधैः ॥' (अनेकार्थे)। अतः 'रामवल्लभा' कहा। (पं० रामकुमार)।

६ (क) इस श्लोकमें श्रीमद्गोस्वामीजीने श्रीजानकी षडक्षर मंत्रका भावही दर्शित किया है। वहाँ 'नमः' शब्द होनेसे 'नमः स्वस्ति स्वाहा स्वधालंव वषड् योगाच्च' (पाणिनी २।३।१६), इस सूत्रसे 'सीता' शब्दसे चतुर्थी हुई है। पर यहाँ उस 'नमः' के बदले 'नतः' है, अतः 'सीता' शब्दसे चतुर्थी न होकर द्वितीया हुई है। परन्तु दोनोंका अर्थ एकही है। (ख) यहाँ श्रीसीताजीके जो छः विशेषण दिये हैं, इसमें कविका परम कौशल झलक रहा है। पाणिनीव्याकरणके अनुसार 'सीता' शब्दकी सिद्धि तथा अर्थ जो भिन्न-भिन्न प्रकारसे होते हैं, वे सब भाव इन विशेषणोंसे प्रकट किये गए हैं। कहनेका आशय यह है कि ये विशेषण 'सीता' शब्दकी व्याख्याही समझिये। इस तरह कि—(१) "सूयते (चराचरं जगत्) इति सीता" अर्थात् जो जगत्को उत्पन्न करती है उसका नाम 'सीता' है। यह 'सीता' शब्द 'षूङ् प्राणि प्रसवे' इस धातुसे बनता है। इससे 'उद्भवकारिणी' अर्थ प्रकट हुआ। (२) 'सवति इति सीता।' अर्थात् जो ऐश्वर्ययुक्त होती है उसका नाम 'सीता' है। यह सीता शब्द 'षु प्रसवैश्वर्य्ययोः' इस धातुसे बनता है। इससे 'स्थितिकारिणी' अर्थात् पालन, रक्षण करनेवाली यह अर्थ प्रकट हुआ; क्योंकि जो ऐश्वर्यसंपन्न होता है वही पालनपोषण कर सकता है। (३-४) 'स्यति इति सीता'। अर्थात् जो संहार करती है वा क्लेशोंका हरण करती है उसका नाम 'सीता' है। यह 'सीता' शब्द 'षोऽन्त कर्मणि' इस धातुसे बनता है।

इसमें 'संहारकारिणी' एवं 'क्लेशहारिणी' का भाव आ गया। (५) 'सुवति इति सीता।' अर्थात् भक्तोंको सद्बुद्धिकी प्रेरणाद्वारा कल्याण करनेवाली होनेसे 'सीता' नाम है। यह 'सीता' शब्द 'षू प्रेरणे' इस धातुसे बनता है। इससे 'सर्व श्रेयस्करी' का अर्थ प्रकट हुआ। (६) 'सिनोति इति सीता।' अर्थात् अपने दिव्य गुणोंसे परात्पर ब्रह्म श्रीरामजीको बाँधनेवाली (वशमें करनेवाली) होनेसे 'सीता' नाम है। यह 'सीता' शब्द 'षिञ् बंधने' इस धातुसे बनता है। इससे 'रामवल्लभा' विशेषण सिद्ध हुआ। (ग) कुछ पंडित 'सीता' शब्दको तालव्यादिभी मानते हैं। यथा, "शीता नभः सरिति लांगलपद्धतौ च शीता दशाननरिपोः सहधर्मिणी च' इति तालव्यादौ धरणिः॥" (अमरकोष भानुदीक्षितकृत टीका।) इसके अनुसार 'श्यायते इति शीता' अर्थात् जो भक्तरक्षणार्थ सर्वत्र गमन करती है तथा सर्वगत अर्थात् व्यापक है अथवा चिन्मयी ज्ञानस्वरूपिणी है। यह 'शीता' शब्द 'श्यैङ् गतौ' धातुसे बनता है। इसमें ये सूत्र लगते हैं। "गत्यर्थाकर्मक' (३।४।७२), 'इतिक्तः द्रवमूर्ति' (६।१।२४), 'इति संप्रसारणं हलः' (६।४।२) 'इति दीर्घः" (गति=ज्ञान। ये गत्यर्थाः ते ज्ञानार्थाः)। इस तालव्यादि 'शीता' शब्दकोभी 'पृषोदरादित्व' से दन्त्यादि 'सीता' शब्द बना सकते हैं। उपर्युक्त सब 'सीता' शब्दोंकी सिद्धि 'पृषोदरादित्व' सेही होती है। (घ) पं० श्रीकान्तशरणजीका कथन है कि श्रीसीतामंत्रका प्रथमाक्षर बिन्दुयुक्त श्रीबीज है, वह श्री शब्द 'शॄ-विस्तारे', 'श्रण दाने गतौच', 'शॄ-हिंसायां' 'श्रु श्रवणे' और 'श्रिञ् सेवायाम्' धातुओंसे निष्पन्न होकर क्रमसे सृष्टि विस्ताररूप उत्पत्ति, स्थिति, संहारिकारिणी, श्रीरामजीको जीवोंकी प्रार्थना सुनाकर रक्षा करनेसे क्लेशहारिणी और चराचरमात्रसे सेवित होकर उनका कल्याण करनेसे सर्वश्रेयस्करी ये पाँच अर्थ देता है। 'श्री' का अर्थ शोभाभी है। अपनी शोभासे श्रीरामजीको वश करनेसे उनकी वल्लभा हैं। अतः 'रामवल्लभा' श्री का छठा अर्थ है। श्री*बीजके अतिरिक्त शेष चतुर्थी सहित सीता शब्द इस श्लोकके 'सीतां' से और मंत्रका अंतिम 'नमः' शब्द यहाँके 'नतः' से अर्थमें अभेद है। अतः यह श्लोक श्रीसीतामंत्रका अर्थही है।

श्री पं० रामटहलदासजी 'युगल अष्टयाम सेवा' नामक पुस्तिकामें श्रीजानकीमंत्रका अर्थ करते समय 'श्री' बीजके विषयमें लिखते हैं कि "यह श्री शब्द चार धातुओंसे बनता है जैसे 'श्रिञ् सेवायाम्। शॄ-विस्तारे। शॄ-हिंसायाम्। और श्रु-श्रवणे।....।'

श्रीजानकीमंत्रका अर्थ प्राचीन ग्रंथोंमें बहुत खोज करनेपरभी नहीं मिल रहा है। श्रीअग्रस्वामीजीने 'रहस्यत्रय' में केवल षडक्षर ब्रह्मतारक श्रीराममंत्रका अर्थ किया है। श्रीजानकीमंत्रका अर्थ उन्होंनेभी नहीं किया है। श्रीअग्रस्वामीजीने जिस प्रकार श्रीराममंत्रके बीजका अर्थ किया है, उसी ढंगसे हम श्रीजानकीमंत्रके बीजका अर्थ कर सकते हैं। तदनुसार शकार श्रीजानकीजीका और रकार श्रीरामजीका वाचक है। [ध्यान रहे कि ये दोनों 'श' और 'र' लुप्त चतुर्थ्यन्त हैं। अर्थात् 'श'=श्रीसीताजीके लिये और 'र'=श्रीरामजीके लिये।] 'ईकार' का अर्थ है 'अनन्य'। अर्थात् यह जीव श्रीसीतारामकेलियेही है, दूसरे किसीके लिये नहीं। [यह शब्द लुप्त प्रथमान्त है।] 'मकार' का अर्थ है जीव। महात्माओंसे इस बीजके अर्थके विषयमें एक श्लोक यह सुना जाता है। 'शकारार्थस्सीता सुखविकरुणैश्वर्य विभवा, इकारार्थो भक्तिः स्वपति वशायुक्त्युज्वलरसा सुरेफार्थो रामो रमण रसधामः प्रियवशो। मकारार्थो जीवो रसिकयुगसेवा सुखरतः। १।' यह श्लोक अगस्त्यसंहिताका बताया जाता है; परन्तु उपलब्ध अगस्त्यसंहितामें नहीं मिलता। यह अर्थभी उपर्युक्त अर्थसे मिलता-जुलता है। श्रीरामटहलदासजीभी प्रथम व्याकरणधातुओंकेद्वारा सिद्धि बताकर फिर 'अभियुक्तसारावली' का प्रमाण देकर यही

---

* यहाँ 'श्रीं' बीज ऐसा संभवतः होना चाहिए पर पुस्तकमें 'श्री' ही है। बीज बिंदुयुक्त होता है, संभवतः हस्तदोषसे बिना बिन्दुके लिख गया।

बताते हैं। यथा, 'प्रोक्ता सीता सकारेण रकाराद्राम उच्यते। ईकारादीश्वरो विद्यान्मकाराज्जीव ईरितः॥ श्रीशब्दस्यहि भावार्थं सूरिभिरनुमीयते। अ० ५।५२।' चित्रकूटके परमहंस श्रीजानकी वल्लभदासजीने भी अपने 'श्रीसीतामंत्रार्थ' (सं० १९९९ वि०) में भी लगभग ऐसा ही लिखा है।

'श्रीं' बीजके उपर्युक्त अर्थके अनुसार हमारे विचार यह हैं—(१) इस बीजका एक-एक वर्ण लुप्त-विभक्तिक और स्वतंत्र अर्थका वाचक है। उपर्युक्त धातुओंसे बना हुआ जो 'श्री' शब्द है, उसके एक-एक वर्ण का स्वतंत्र कोई अर्थ नहीं होता। (२) उपर्युक्त धातुओंसे बने हुये 'श्री' शब्दके किसी विभक्तिका रूप 'श्रीं' ऐसा नहीं होगा। (३) पूरे मंत्रका समूचा अर्थ उसके बीजमें हुआ करता है जैसा कि षडक्षरब्रह्मतारक मंत्रके अर्थमें 'रहस्यत्रय' में दिखाया गया है। यदि 'श्रीं' बीजके जो भाव ('उद्भवस्थिति' आदि छः विशेषणोक्त) पं. श्रीकान्तशरणजीने लिखे हैं उनको ठीक माना जाय तो फिर वह मंत्रका बीज कैसे माना जा सकेगा। क्योंकि 'श्रीसीतारामजीके लिये जीव अनन्य है' यह मुख्य अर्थ उसमें नहीं आया। ध्यान रहे कि जो 'श्री' शब्द श्रीजानकी जी अथवा श्रीलक्ष्मीजीका वाचक है वह यहाँ नहीं है। केवल वर्णानुपूर्वी सदृश होनेसे 'श्रीं' बीजमें व्युत्पन्न 'श्री' शब्द मानकर ऐसी कल्पना की गई है।

७—श्रीरामजीके पहले श्रीसीताजीकी वन्दनाके भाव—(१) हमारे शास्त्रोंका सिद्धान्त यह है कि परमात्मा का ज्ञान भगवतीकी अनुग्रहसे ही हो सकता है, अन्य किसी तरहसे नहीं। केनोपनिषदमें जो यक्षका प्रसंग आता है उसमें कथा संदर्भ यह है कि इन्द्रादि देवता असुरोंको हराकर, यह न जानकर कि भगवान्‌के दिये हुये अनेक प्रकारके बलोंसे यह विजय प्राप्त हुई है, अहंकारी हो जाते हैं और समझने लगते हैं कि हमने अपने ही बलसे असुरोंको हरा दिया है, तब उनके इस गर्वको भंग करके उनको यथार्थ तत्त्व सिखानेके लिये भगवान् एक बड़े भयंकर यक्षरूपसे प्रकट होते हैं और उनको पता नहीं लगता है कि यह कौन है। पश्चात् भगवच्छक्ति रूपिणी भगवती आकर उनको वास्तविक सिद्धान्त सिखाती है। (२) लौकिक व्यवहारकी दृष्टिसे भी स्वाभाविक ही है, कि बच्चे तो केवल माँ को जानते हैं और उससे उनको पता लगता है कि हमारा पिता कौन है। 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव।' (तैत. शिक्षाप. ११. २) 'मातृमान् पितृमानाचार्य्यवान् पुरुषो वद।' (स्मृतिवाक्य), इत्यादि मंत्रोंमें माताकोही सबसे पहला स्थान दिया गया है। इसकाभी कारण यही है कि माताही आदिगुरु है और उसीकी दया और अनुग्रहके ऊपर बच्चोंका ऐहिक, पारलौकिक और पारमार्थिक कल्याण निर्भर रहता है। (३) वैष्णवादि सब उपासनाग्रन्थोंमें यह नियम मिलता है कि भगवती जगन्माताके ही द्वारा भगवान् जगत्पिताके पास पहुँचा जा सकता है। (श्रीभारती कृष्णतीर्थ स्वामीजी।) श्रीसीताजीका पुरुषकार वैभव हमने विनय पद ४१ 'कबहुँक अंब अवसरु पाइ' में विस्तारपूर्वक दिखाया है और आगे इस ग्रन्थमें भी दोहा १८ (७) में लिखा गया है। (४) सरकारी दरबारमें पहुँचनेके लिये ये वसीला हैं। यही क्रम विनयमें भी है और आगे चलकर इस ग्रंथमें भी है। यथा, 'जनकसुता जगजननि जानकी।''''पुनि मन बचन कर्म रघुनायक।'''' (१. १८)। (५) यह सनातन परिपाटी है कि पहले शक्तिका नाम आता है तब शक्तिमान्‌का। जैसे गौरी-शङ्कर, उमा-शिव, पार्वती-परमेश्वर, राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण। (६) नारदीयपुराणमें कहा है कि प्रथम श्रीसीताजीका ध्यान करके तब श्रीरामनामका अभ्यास करें। यथा, 'आदौ सीता-पद पुण्यं परमानन्ददायकम्। पश्चाच्छ्रीरामनामस्य अभ्यासं च प्रसस्यते।' (पं. रा. कु.)। (७) लीलाबिभूतिकी आदिकारण आपही हैं। (८) भूषणटीका वाल्मी. १. ४. ७. 'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्।' की व्याख्या करती हुई उसका भाव यह लिखती है कि सम्पूर्ण रामायण श्रीसीताजीकाही महान् चरित्र है और इस अर्थके प्रमाणमें श्रीगुणरत्न-कोशका यह प्रमाण देती है, 'श्रीमद्रामायणमपि परम प्राणिति त्वच्चरित्रे।' इस भावके अनुसार भी प्रथम स्तुति योग्यही है। (९) श्लोक ६ वन्दनाका अन्तिम श्लोक है अतः 'अशेषकारणपरम्' की वन्दनाभी अंतमेंही उचित

हैं। (१०) पितासे माताका गौरव दशगुण कहा गया है। यथा, 'पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते।' (मनुस्मृति)। (११) बच्चे पहले माँ को ही जानते हैं। दूसरे, माताका स्नेह दूसरेको नहीं होता। श्रीगोस्वामीजी श्रीसीतारामजी में माता पिताका भाव रखते हैं। यथा, 'कबहुँक अंब अवसर पाइ।' (विनय ४१), 'कबहुँ समय सुधि द्यायबी मेरी मातु जानकी।' (विनय ४२), 'बाप आपने करत मेरी घनी घटि गई' (विनय २५२), इत्यादि। (१२) प्रथम सीताजी की वन्दनाकर निर्मल मति पाकर तब पिता (श्रीरामजी) की वन्दना करेंगे। यथा, 'ताके जुग पद कमल मनावों। जासु कृपा निर्मल मति पावों। १८. ८।'

यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लव एक एव हि भवांभोधेस्तितीर्षावतां
वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—वशवर्त्ति=वशमें रहनेवाला; आज्ञानुसार चलनेवाला; अधीन। वर्त्ति = स्थित रहने, बरतने वा चलनेवाला। विश्वमखिलं=अखिलं-विश्वं=सारा जगत्। देवासुरा=देव-असुराः=देवता और असुर (दैत्य, दानव, राक्षस)। यत्सत्त्वादमृषैव=यत्सत्त्वात् (जिसकी सत्तासे, +अमृषा (यथार्थ)+एव (ही) सत्त्व=सत्ता; अस्तित्व; होनेका भाव। भाति=भासता है, प्रतीत होता है, जान पड़ता है। रज्जौ=रज्जु (रस्सी) में। यथाऽहेर्भ्रमः=यथा-अहेः-भ्रमः=जैसे साँपका भ्रम। भ्रम = संदेह; विपरीत ज्ञान; अन्यथा प्रतीति; किसी पदार्थको कुछका कुछ समझना। यत्पादप्लव = यत्-पाद-प्लव = जिनके चरण नाव (हैं)। एक=एकमात्र एक=केवल (यही) +हि=निश्चय ही। भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां = भवअंभोधेः-तितीर्षावतां। भव = संसार अर्थात् संसारमें बारंबार जन्मना मरना)। अम्भोधि=जलका अधिष्ठान=समुद्र। तितीर्षावतां=तरने वा पार जानेकी इच्छा करनेवालोंको। तमशेषकारणपरं=तं अशेष कारण परं=सम्पूर्ण कारणोंसे परे उन=सब कारणोंका कारण जिसका फिर कोई कारण नहीं है, जहाँ जाकर कारणोंका सिलसिला समाप्त हो जाता है और जो पर (सबसे श्रेष्ठ परम तत्त्व ब्रह्म) है उन। रामाख्यमीशं=राम-अख्यं-ईशं=रामनामवाले समर्थ। हरि=पापरूपी दुःखों, क्लेशोंके तथा भक्तोंके मनको हरनेवाले भगवान्। 'हरिर्हरति पापानि', 'दुःखानि पापानि हरतीति हरि'।

अन्वय—'अखिलं विश्वं यन्मायावशवर्त्ति (अस्ति तथा) ब्रह्मादि देवासुराः यन्मायावशवर्त्तिनः (सन्ति)। अमृषा सकलं यत्सत्त्वात् एव भाति यथा रज्जौ अहेर्भ्रमः। भवांभोधेः तितीर्षावतां हि एक एव यत्पादप्लव (अस्ति) अशेषकारणपरं ईशं हरिं रामाख्यं तं अहं वन्दे।

अर्थ—सारा विश्व जिनकी मायाके वशमें है और ब्रह्मादि देवता और असुर (भी) जिनकी मायाके वशवर्त्ती हैं, (यह) सत्य जगत् जिनकी सत्तासे ही भासमान है जैसे कि रस्सीमें सर्पकी प्रतीति होती है, भवसागरके तरनेकी इच्छा करनेवालोंके लिये निश्चयही एकमात्र जिनके चरण प्लव (रूप) हैं, जो संपूर्ण कारणोंसे परे (अथवा जो सबका कारण और पर (श्रेष्ठ) हैं), समर्थ, दुःखके हरनेवाले, 'श्रीराम' यह जिनका नाम है, उनकी मैं वन्दना करता हूँ। ६।

नोट—१ प्रथम चरणके अन्वयमें हमने 'वशवर्त्ति' को दो बार लिया है। कारण यह है कि 'विश्वमखिलं' नपुंसक लिङ्ग एक-वचन है, उसके अनुसार 'वशवर्त्ति' ठीक है। परन्तु आगे के 'ब्रह्मादि देवासुराः' पुंलिङ्ग बहुवचन हैं; इस लिये इनके अनुसार अन्वय करते समय 'वशवर्त्तिनः' ऐसा वचन और लिङ्गका विपर्यय करना पड़ा।

टिप्पणी—१ 'यन्मायावशवर्त्ति''''देवासुरा' इति। ब्रह्मा आदि सभी श्रीरामजीकी मायाके वशवर्त्ती हैं। यथा, 'जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहु न पावा। ७. ७२।', 'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं। अपर जीव केहि लेखे माहीं। ७. ७१।', 'जासु प्रबल मायावस सिव बिरंचि बड़ छोट। ६. ५०।', 'जीव चराचर बस कै राखे' (१. २००)। पुनः, 'अखिल विश्व' से मर्त्यलोक, 'ब्रह्मादि देव' से स्वर्गलोक और 'असुराः' से पाताललोक, इस प्रकार तीनों लोकोंको मायावशवर्त्ती जनाया। ['विश्वमखिलं' से संभव है कि लोग चराचरके साधारण जीवोंका अर्थ लें; इसीसे इसे कहकर ईश्वरकोटिवाले ब्रह्मादिको तथा विशेष जीव जो देवता और असुर हैं उनकोभी जना दिया। 'यन्माया' से श्रीरामजीकी माया कही। देवताओं और असुरोंकी मायासे ब्रह्मादिकी माया प्रबल है और ब्रह्मादिकी मायासे श्रीरामजीकी माया प्रबल है। यथा, 'बिधिहरिहरमाया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी। २. २९५।', 'सुनु खग प्रबल राम कै माया।''''हरिमाया कर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा॥''''सिव बिरंचि कहं मोहई को है बपुरा आन॥ ७. ६२।' इसीने सतीजीको नचाया था।] पुनः, 'यन्मायावशवर्त्ति विश्वमखिलं' से संदेह होता है कि माया चेतन वस्तु है जो सबको अपने अधीन करती है। अतः आगे 'यत् सत्त्वादमृषैव''' कहकर जनाते हैं कि माया जड़ है, वह स्वतः शक्तिमान् नहीं है किंतु निर्बल है, वह श्रीरामजीकी प्रेरणासे, उनकी सत्तासे, उनका आश्रय पाकरही परम बलवती होकर सब कार्य करती है और भासती है। यथा, 'लव निमेष महं भुवन निकाया। रचइ जासु अनुसासन माया। १. २२५।', 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया।' (५. २१)।

यत्सत्त्वादमृषैवभाति सकलं''' इति।

'अमृषा सकलं' इति। जगत्को अमृषा (सत्य) कहनेका कारण यह है कि पूर्व चरणमें इसको मायावशवर्त्ती कहा है और कुछ आचार्य लोग इसको मायिक अर्थात् मिथ्या कहते हैं। उसका निराकरण करनेके लिये ग्रंथकार यहाँ 'अमृषा' विशेषण देते हैं।

यद्यपि वह स्वयं सत्य है तथापि उसके प्रकाशके लिये ब्रह्मसत्ताकी अपेक्षा है। अतः 'यत्सत्वादेव भाति' कहा। इस विषयको समझनेके लिये कुछ सिद्धान्त बता देना आवश्यक है। वह यह है कि सृष्टिके पूर्व यह जगत् सूक्ष्मरूपसे ब्रह्ममें स्थित था और ब्रह्म उसमें व्याप्त था। ब्रह्ममें 'एकोऽहं बहु स्याम्' आदि सृष्टिकी इच्छा हुई, तब सूक्ष्म जगत्में परिवर्तन होने लगा और अंतमें वह सूक्ष्म जगत् वर्तमान स्थूलरूपमें परिवर्तित होकर हमारे अनुभवमें आया।

इस सिद्धांतसे स्पष्ट है कि यदि ब्रह्मकी सत्ता इस जगत्में न होती तो वह स्वयं जड़ होनेके कारण न तो उसमें परिवर्तन हो सकता और न वह स्थूलरूपमें आकर हमारे अनुभवमें आसकता था। अतः जगत्के अनुभवका कारण ब्रह्मकी सत्ताही है। इसीसे 'यत्सत्वादेव भाति' कहा। स्मरण रहे कि यहाँ 'अस्ति' शब्द न देकर 'भाति' शब्द दिया गया। अर्थात् वह सत्य तो हैही, पर उसका अनुभव (प्रकाश) ब्रह्मकी सत्तासे होता है। श्रुति भगवतीभी कहती हैं, 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वम् तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' (श्वे. अ. ६ मंत्र १४)। अर्थात् उसके प्रकाशसे यह सब प्रकाशित हो रहा है। मानसमेंभी यही कहा है। यथा, 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। १. ११७।' एक वस्तु सत्य होनेपरभी दूसरेकी सत्तासे उसका अनुभव होता है, इस बातके दृष्टान्तके लिये 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' कहा। सब ज्ञान सत्य है। यथा, 'यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्. श्रुतिस्मृतिभ्यः सर्वस्य सर्वात्मत्व प्रतीतितः।' (श्रीभाष्य १. १. १ सत्ख्यातिसमर्थन)। अर्थात् सब ज्ञान यथार्थही है, क्योंकि यावद्वस्तुओंमें सर्वात्मत्वका ज्ञान श्रुति-स्मृति (तथा सद्युक्तियों) से सिद्ध है। ऐसा वेदवेत्ताओंका सिद्धांत है। वह कभी मिथ्या नहीं होता। इस लिये यहाँभी जो सर्पका ज्ञान है वहभी सत्यही है। अतएव जब यह सर्पका ज्ञान सत्य है तब इस ज्ञानका विषय सर्प सत्यही है। यद्यपि सर्प और सर्पका यह ज्ञान सत्य है

तथापि यहाँपर जो सर्पका अनुभव हो रहा है, वह रज्जुके होनेसेही हो रहा है। यदि रज्जु यहाँपर न होती तो सर्पका अनुभव कदापि न होता। जब हमारा सर्पका ज्ञान सत्यही है, तब रज्जुपर सर्पके अनुभवको 'भ्रम' क्यों कहा ? इसका उत्तर यह है कि रज्जुभी सत्य है, सर्पभी सत्य है; परन्तु 'रज्जु' का जो सर्परूपसे भान होता है यह भ्रम है। इसीको शास्त्रमें 'विपरीत ज्ञान' कहा है। जिस प्रकार हम यह नहीं जानते कि रज्जुकी सत्तासे हमें सर्पका अनुभव हो रहा है; वैसे ही हम यह नहीं जानते कि ब्रह्मकी सत्तासे हमें जगत्का अनुभव हो रहा है। किन्तु हम यह समझते हैं कि वह अपनेही सत्तासे अनुभवमें आ रहा है। यही हमारा 'विपरीत ज्ञान' अर्थात् भ्रम है।

इस प्रसंगमें सर्पकी सत्यता किस प्रकार है, इसका विवरण आगे दोहा ११२ (१) में देखिये।

पं० श्रीकान्तशरणजीने 'सिद्धान्त तिलक' के उपोद्‌घातमें लिखा है कि 'श्रीरघुवराचार्यजीने संपूर्ण मानसकी विशिष्टाद्‌वैत सिद्धान्तपरक टीका लिखनेकी मुझे आज्ञा दी।' (पृष्ठ २)। 'इस तिलकका मुख्य उद्देश्य श्रीरामचरितमानसमें निहित विशिष्टाद्‌वैतसिद्धान्त दिखानेका है।' (पृष्ठ ४)। इससे सिद्ध होता है कि सिद्धांततिलकमें विशिष्टाद्‌वैतसिद्धान्तपरक अर्थ और भावही कहे गए हैं।

इस श्लोकके दूसरे चरणका अन्वय और अर्थ उन्होंने इस प्रकार किया है—

अन्वय—'यत्सत्त्वाद सकलं (विश्वं) अमृषा इव भाति। यथा रज्जौ अहेः भ्रमः'।

अर्थ—'जिनकी सत्यतासे संपूर्ण जगत् सत्यसा जान पड़ता है, जैसे रस्सीमें साँपका भ्रम हो।'

इस अर्थसे यह सिद्ध होता है कि जगत्की अपनी सत्ता नहीं है, किन्तु परमात्माकी सत्तासे वह 'सत्यसा' जान पड़ता है। अर्थात् वह सत्य नहीं है किन्तु मिथ्या है। पर विशिष्टाद्‌वैतसिद्धान्त जगतको सत्य मानता है। तब उपर्युक्त अर्थ विशिष्टाद्‌वैतसिद्धान्तके अनुसार कैसे माना जा सकता है ? आगे इसीके 'विशेष' में 'सकलं' की व्याख्या उन्होंने इस प्रकार की है। "यहाँ जगत्की नानात्व (अनेकत्व) सत्ताको 'सकलं' शब्दसे जनाया है। जो 'सुत-वित-देह-गेह-नेह (स्नेह) इति जगत्' रूपमें प्रसिद्ध है।""श्रीरामजी सुत कुटुंबादि चर और पृथिवी आदि अचर जगत्में वासुदेवरूपसे व्यापक हैं। 'उनकी प्रेरणा एवं सत्तासेही' सब नातोंका वर्ताव एवं गंधरसादिकी अनुभूति होती है।"

इस ग्रंथ (सि. ति.) से जान पड़ता है कि 'सकलं' शब्दसे जड़ चेतन सब पदार्थ न लेकर केवल उनके धर्म और गुणही ग्रहण किये गए हैं जो वस्तुतः 'सकलं' शब्दका ठीक अर्थ नहीं होता। क्योंकि यहाँपर ब्रह्मको छोड़कर जड़ चेतन सब पदार्थ और उनके गुण धर्मादिका ग्रहण होना चाहिये। 'जिनकी प्रेरणा एवं सत्तासे' यह अर्थ जो 'यत्सत्त्वाद्' का किया गया है, उसमें 'सत्त्व' शब्दका अर्थ 'प्रेरणा' किस आधारसे किया गया है, यह नहीं बताया गया है। 'नातोंके वर्ताव एवं गंध रसादिकी अनुभूति होती है' यह व्याख्या चरणके किस शब्दकी है, यह समझ नहीं पड़ता। 'सत्यसा जान पड़ता है' अर्थमें आए हुये इन शब्दोंकी तो वह व्याख्या हो नहीं सकती। यहाँका विषय देखनेसे उनके (पं० श्रीकांतशरणके) कथनका आशय यह जान पड़ता है कि जगत्की नानात्व सत्ताके अनुभवका कारण श्रीरामजीकी सत्ता है। परंतु वस्तुतः इसका कारण अविद्या है न कि परमात्माकी सत्ता। और आगे चलकर उन्होंनेभी यही कहा है। 'अविद्याके दोषसे भगवान्‌के शरीररूप जगत्में सुत-वित-गेह-स्नेहरूप नानात्वसत्ताकी भ्रांति होती है।'

'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' के भावमें उन्होंने कूपके भीतर जल भरनेकी रस्सीपर मेंढकको सर्पका भ्रम होना विस्तारसे लिखा है। परन्तु रज्जुपर तो साधारण सभीको सर्पका भ्रम हो जाता है। इसके वास्ते इतनी विशेष कल्पनाकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। 'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोऽमृषा। भा. १ मं.।' की व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं।—'जैसे तेजस (अग्नि) में जल और काँच आदि मिट्टीका विनिमय (एकमें दूसरेका भ्रम) हो, उसी तरह जहाँ (भगवान्‌के शरीररूपमें) मृषा त्रिसर्ग (त्रिगुणात्मिका सृष्टि) अमृषा (सत्य)

है, अर्थात् उनके शरीररूपमें तो सत्य है, अन्यथा मृषा है। जैसे काँचमें जलकी, अग्निमें कांचकी और जलमें अग्निकी भ्रांति दृष्टि दोषसे हो, वैसे अविद्याके दोष से भगवान्‌के शरीररूप चराचर जगत्‌में सुत-वित-देह-गेह-स्नेहरूप नानात्वकी सत्ताकी भ्रांति होती है।'–इसमें वे 'अग्निमें जल और जलमें अग्निकी भ्रांति दृष्टिके दोषसे हो' ऐसा लिखते हैं परन्तु अग्निमें जल और जलमें अग्निका भ्रम अप्रसिद्ध है। इसको प्रसिद्ध दृष्टान्तसे समझाना था।

नोट—२ अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार 'यत्सत्त्वादमृषैव भाति·····' इस दूसरे चरणका अन्वय और अर्थ निम्न प्रकार से होगा।

अन्वय—यत्सत्त्वात् एव सकलं अमृषा भाति यथा रज्जौ अहेर्भ्रमः (भवति)।

अर्थ—जिनकी सत्तासे ही यह सारा जगत् सत्य प्रतीत होता है जैसे कि रस्सीमें सर्पका भ्रम होता है।

☞ प्रायः टीकाकारोंने यही अर्थ लिखा है। इसके अनुसार भाव ये हैं।—

यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं·····' इति।

(अद्वैत सिद्धान्तके अनुसार भावार्थ।)

(क) 'जिनकी सत्तासे यह सारा विश्व सत्य जान पड़ता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जगत्‌में जो सत्यत्व है वह परब्रह्मकाही सत्यत्व है, जगत्‌का नहीं। इस पर यह शङ्का होती है कि 'जब वह सत्य है नहीं, तब वह हमें सत्य क्यों भासता है?' इसका उत्तर गोस्वामीजी प्रथम चरण से सूचित करते हैं। वह यह कि सारा विश्व मायाके वशवर्त्ती है। अर्थात् यह मायाके कारण सत्य भासता है। 'भास सत्य इव मोह सहाया। १. ११७।'

ब्रह्मका स्वरूप तो निर्गुण निराकार कहा गया है। यथा, 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा।१. १३।', 'जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुरभूपा। १. १४१।' निर्गुण निराकार ब्रह्मपर सगुण साकार जगत्‌का भ्रम कैसे संभव है? इसका समाधान यह है कि जैसे आकाशका कोई रूप नहीं है, परन्तु देखनेसे उसका रंग नीला कहा जाता है तथा उसका रूप औंधे (उलटे) कड़ाहकासा देख पड़ता है; वैसे ही रूपरहित ब्रह्मपर जगत्‌का भ्रम सम्भव है। इस पर शङ्का करनेवाले का यह कथन है कि पंचीकरणके कारण आकाशमें जो अष्टमांश पृथिवीका तत्त्व है, उसीके कारण यह भ्रम है, ब्रह्ममें ऐसा कोई तत्व नहीं है, जिसके कारण उसपर जगत्‌का भ्रम हो सके। इसपर उत्तरपक्षवाले कहते हैं कि यह ठीक नहीं है; क्योंकि ऐसा माननेसे पृथिवीमें आकाशतत्व होनेसे इसमेंभी आकाशका भ्रम हो सकता है, पर ऐसी बात प्रसिद्ध नहीं है। अच्छा, मन तो अपंचीकृत भूतोंके सत्वगुणोंसे बना है और रूपरहितभी है पर स्वप्न और मनोरथ आदिमें सब जगत्-व्यवहार अनुभवमें आ जाता है। अतः अगुण अरूप ब्रह्मपर जगत्‌का भ्रम होना असम्भव नहीं है।

"जो चीज कभी देखी-सुनी नहीं होती उसका भ्रम नहीं होता। अर्थात् जैसे किसीने सर्प नहीं देखा है तो उसे रस्सीपर सर्पका भ्रम नहीं होगा। उसी प्रकार जीवने पूर्व कभी जगत्‌को देखा है तभी तो उसे उसी जगत्‌का भास होता है? इससेभी जगत् का अस्तित्व सिद्ध होता है?" इस शङ्काका समाधान यह है कि यह ठीक है कि जो देखा-सुना होता है उसीका भास होता है; पर यह आवश्यक नहीं है कि वह देखा हुआ पदार्थ सत्यही हो। जैसे कि रबर या मिट्टी आदि का सर्प देखने और सर्प के दोष सुननेपर भी रस्सीपर सर्पका भ्रम और उससे भय आदि हो सकते हैं, उसी प्रकार पूर्व जन्ममें जगत् पूर्व देखा-सुना हुआ होनेसे संस्कारवशात् इस जन्ममें भी जीवको जगत्‌का भ्रम होता है और पूर्व जन्ममें जो जगत्‌का अनुभव किया था, वह भी मिथ्या भ्रम था। इसी प्रकार पूर्व जन्ममें जो भ्रमसे जगत्‌का अनुभव हृदय में बैठा हुआ है वही आगेके जन्ममें होनेवाले जगत्-अनुभवरूपी भ्रमका कारण है और संसार अनादि होनेसे प्रथम-प्रथम भ्रम कैसे हुआ यह प्रश्नही नहीं रह जाता।

'रज्जु में जो सर्पका भ्रम था, वह प्रकाश होनेपर नष्ट हो जाता है। अर्थात् फिर वह सर्प नहीं रह जाता, इसी प्रकार ज्ञान होनेपर जगत्‌भी न रह जाना चाहिये और तब उनके द्वारा अज्ञानियोंका उपदेशद्वारा उद्धार आदि व्यवहार भी न होना चाहिए। इस तरह संसारसे मुक्त होनेका मार्गही बन्द हो जाता, पर ऐसा देखनेमें नहीं आता?' इस शङ्काका समाधान एक तो पंचदशीमें इस प्रकार किया है—'उपादाने विनष्टेऽपि क्षणंकार्यं प्रतीक्ष्यते। इत्याहुस्तार्किकास्तद्वदस्माकं किन्न संभवेत ॥ ६. ५४।' अर्थात् उपादान कारण नष्ट होनेपर भी उसका कार्य (किसी प्रसंगमें) क्षणभर रह जाता है। इस प्रकार नैयायिकोंने कहा है, वैसाही हमारा क्यों न संभव होगा? यह नैयायिकोंका सिद्धान्त है। इसके अनुसार यहाँ पर भी अज्ञानरूपी कारण नष्ट होनेपरभी यह जगत्‌रूपी कार्य कुछ समयतक रह जाता है। युक्तिसे भी यह बात सिद्ध होती है। जैसे रज्जु-सर्प-प्रसंगमें रज्जुके ज्ञानसे सर्पके अभावका निश्चय होनेपरभी उसका कार्य स्वेद, कंप आदि कुछ देरतक रहता है, वैसेही ब्रह्मज्ञानसे अज्ञान और तत्कार्य जगत्‌का बाध होनेपरभी कुछ समयके लिये उसकी अनुवृत्ति (आभास वा अनुभव) होती है। इसीको कहीं-कहीं 'बाधितानुवृत्ति' कहते हैं।

दूसरा समाधान यह है कि 'भ्रम' दो प्रकारका है। एक सोपाधिक, दूसरा निरूपाधिक। रबड़के सर्पपर जो भ्रम होता है वह 'सोपाधिक' है और रज्जु में जो सर्पका भ्रम है वह निरूपाधिक है। निरूपाधिक भ्रममें जो पदार्थ भ्रमसे अनुभवमें आता है, वह विचार आदिके द्वारा भ्रमनिवृत्ति होनेपर देखने में नहीं आता; परन्तु सोपाधिक भ्रममें वैसी बात नहीं है। उसमें ज्ञानोत्तर भ्रमकी निवृत्ति होनेपरभी सर्पका आकार वैसाही देख पड़ता है। रज्जुसर्पका वैसा नहीं समझ पड़ता। इसी प्रकार भ्रमसे जो जगत्‌का अनुभव होता है वह सोपाधिक भ्रम है, इसी लिये ज्ञानोत्तरभी जगत पूर्ववत्‌ अनुभवमें आता है। ब्रह्ममें जो अनन्त शक्तियाँ हैं, उन्हींके प्रकट होनेसे जगत् अनुभवमें आता है और शक्तियाँ शक्तसे पृथक् नहीं मानी जातीं।

(ख) 'यन्मायावश....' इस चरणमें हमें बताया है कि ब्रह्मादिसे लेकर सारा चराचर जगत् श्रीरामजीकी मायाके वश है। वह माया श्रीरामजीकी है अर्थात् माया श्रीरामजीके अधीन है। इसका निष्कर्ष यह निकला कि ब्रह्मादिभी रामजीके वश हैं और श्रीरामजी न तो मायाके वश हैं और न ब्रह्मादिके वशमें। सारा विश्व मायाके वशवर्त्ती है। इस कथनसे सिद्ध होता है कि यह सारा विश्व सत्य है। 'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई। १. ११८।', 'जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि। । १. ११७।', 'तुलसिदास सब बिधिप्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै।' (विनय १२१), 'तुलसिदास यह चिदविलास जग बूझत बूझत बूझै।' (विनय १२४); इत्यादिमें माया एवं माया कार्य जगत् सब असत्य है ऐसा कहा गया है। दोनों वाक्योंमें परस्पर विरोध जान पड़ता है। इस संदेहके निराकरणार्थ दूसरे चरणमें, यत्सत्त्वाद....' कहा। अर्थात् जगतप्रपंच सत्य नहीं है किन्तु श्रीरामजीके अस्तित्त्वसे, उनके आश्रित होनेसे, यह सत्य भासता है। जो पूर्व चरणमें 'विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा' कहा था उसीको यहाँ 'सकलं' से कहा गया है। दोनों पर्य्याय हैं। 'अमृषैव भाति' से आशय निकला कि सत्य है नहीं। जब सत्य नहीं है तो हमें उसपर विचार करनेकी आवश्यकताही क्या? यह प्रश्न उठता है। इसका उत्तर 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' से लक्षित कराया है। अर्थात जबतक हम उसके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानते, उसको सत्य समझ रहे हैं, जबतक भ्रम रहेगा, तबतक वह दुःख देताही रहेगा जैसे जबतक रस्सीको हम सर्प समझे रहेंगे तबतक हमें भय रहेगा। यथा, 'सगमहुँ सर्प बिपुल भयदायक प्रगट होइ अविचारें। बहु आयुधधर बल अनेक करि हारहिं मरइ न मारे॥ निज भ्रम ते रविकर संभव सागर अति भय उपजावै....' (विनय १२२), 'जदपि असत्य देत दुख अहई।१.११८।' अतः उस दुःखकी निवृत्ति का, इस संसाररूपी सागरके पार जानेका उपाय करना आवश्यक हुआ। तीसरे चरणमें वह उपाय बताते

हैं 'यत्पादप्लव एक एव हि''''। वे कौन हैं और उनके प्राप्तिका साधन क्या है? यह चौथेचरणमें वताया। 'अशेष-कारणपरं रामाख्यमीशं हरिं' से नाम बताया और 'वन्दे' यह साधन वताया। 'सकृत प्रनाम किये अपनाये।' यह चारों चरणोंके क्रमका भाव हुआ।

(ग) 'यत्सत्त्वादमृषैव''''' इति। यथा, 'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया। १. ११७।' 'भूठेउ सत्य जाहि विनु जानें॥ जिमि भुजंग विनु रजु पहिचाने॥ १. ११२।', 'यदन्यदन्यत्र विभाव्यते भ्रमादध्यास-मित्याहरमुं मिपश्चितः॥ असर्पभूतेऽहि विभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्॥ अध्यात्मरा. ७. ५. ३७॥' अर्थात् बुद्धिके भ्रमसे जो अन्य वस्तुमें अन्य वस्तुकी प्रतीति होती है उसीको पंडित लोगोंने अध्यास कहा है। जैसे असर्परूप रज्जु (रस्सी) आदिमें सर्प की भ्रान्ति होती है वैसेही ईश्वरमें संसारकी प्रतीति हो रही है। (पं. रामकुमारजी)

(घ) विना अधिष्ठानके भ्रमरूप वस्तुकी प्रतीति नहीं होती। अधिष्ठानके ज्ञान बिना करोड़ों उपाय करे परन्तु मिथ्या प्रतीति और उसके उत्पन्न हुए दुःख आदिकी निवृत्ति कदापि सम्भव नहीं। श्रीगोस्वामीजी सर्पका अधिष्ठान रस्सीके यथार्थ ज्ञानसे उस भ्रमकी निवृत्ति कहते हैं। दृष्टांतमें रज्जु और सर्प, दार्ष्टान्तमें श्रीरामजी और विश्व हैं। रस्सीकी सत्यताही मिथ्या सर्पकी प्रतीतिका।कारण है। श्रीरामजीकी सत्यताही संसारको सत्यवत् प्रतीति करा रही है। जिसको रस्सी का यथार्थ ज्ञान है उसको मिथ्या सर्प अथवा तज्जन्य भय कदापि सम्भव नहीं। ऐसे ही जिसको श्रीरामजीकी सत्यताका दृढ़ विश्वास है, उसको संसार कदापि दुःखद नहीं। (तु. प.)

नोट—३ 'यत्पादप्लव' इति। प्लवका अर्थ प्रायः लोगोंने 'नाव' किया है। अमरकोशमें 'उडुपं तु प्लवः कोलः॥ १. १० ११॥' प्लवके तीन नाम गिनाए हैं। इसपर कोई टीकाकार 'त्रय अल्प नौकायाः' ऐसा कहते हैं। अर्थात् ये तीनों छोटी नौकाके नाम हैं। छोटी नौकामें यह शंका होती है कि सागरमें नावके डूबनेका भय है वह कितनीही वड़ी क्यों न हो। नाव नदीके कामकी है। भट्टोजीदीक्षितात्मज भानुजी दीक्षित उसका अर्थ, 'अयं तृणादि निर्मित तरणसाधनस्य' अर्थात् 'तृण आदिसे बनाया हुआ तैरनेका साधन', ऐसा करते हैं। इस तरह 'प्लव' का अर्थ 'बेड़ा' जान पड़ता है। बेड़ाको डूबनेका भय नहीं होता।

४ 'एक एव हि' का भाव यह है कि यही एकमात्र उपाय है, दूसरा नहीं। यथा, 'सव कर मत खगनायक एहा। करिय रामपद पंकज नेहा॥ रघुपति भगति विना सुख नाहीं''''। रामविमुख न जीव सुख पावै''''। विमुख राम सुख पाव न कोई। विनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल॥'''हरिं नरा भजन्ति येऽतिदुस्तरं तरंति ते॥ ७. १२२।' यह उपसंहारमें कहा है। पुनः यथा, 'भवजलधि-पोत चरणारविंद जानकीरमण आनन्दकन्द' (विनय ६४), 'त्वदंघ्रिमूल ये नराः भजंति हीनमत्सराः। पतंति नो भवार्णवे वितर्कबीचि संकुले॥ ३. ४॥' यह ग्रन्थ के मध्य में कहा है।

५. 'यत्पादप्लव एक एव हि' इति। यहाँ पर शंका हो सकती है कि "जब संसारसे तरनेके लिये एकमात्र यही साधन है तब श्रुतिवाक्य 'ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः' 'ज्ञानादेव तु कैवल्यम्' की संगति कैसे होगी? समाधान यह है कि यद्यपि ज्ञानसेही मोक्ष होता है, यह सर्वमान्य है, तथापि सर्वसाधारणको विना श्रीरामजीकी कृपाके ज्ञान हो नहीं सकता और यदि हो भी जाय तो वह ठहर नहीं सकता। यथा, विनु सतसंग विवेक न होई। रामकृपा विनु सुलभ न सोई। १. ३।', 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥ करत कष्ट बहु पावइ कोऊ। ७. ४५।', 'जे ज्ञान मान विमत्त तव भव हरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी।' (वेदस्तुति ७. १३)', 'जिमि थल विनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई॥ तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति विहाई॥ ७. ११९।' इसीलिये 'पादप्लव' कहकर सगुणोपासनाहीको संसार तरणका प्रधान साधन वताया है। अर्थात् सगुणोपासना करने पर ज्ञान, वैराग्य आदि जिन जिन वस्तुओंकी आवश्यकता होगी वह सब इसीसे प्राप्त हो जायगी। यथा, राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ

वरिआई ।।'''''भगति करत बिनु जतन प्रयासा । संसृति मूल अविद्या नासा ।। भोजन करिअ तृपिति हित लागी । जिमि सो असन पचवै जठरागी । ७. ११६ ।', 'विश्वास करि सब आस परिहरि दास तव जे होइ रहे । जपि नाम तव बिनु श्रम तरहिं भव नाथ सो समरामहे । ७. १३ ।' अध्यात्मरामायण में भी यही कहा है; यथा, 'अज्ञानान्न्यस्य ते सर्वं त्वयि रज्जौ भुजङ्गवत् । त्वज्ज्ञानाल्लीयते सर्वं तस्माज्ज्ञानं सदाभ्यसेत् ।। २८ ।। त्वत्पादभक्तियुक्तानां विज्ञानं भवति क्रमात् । तस्मात्त्वद्भक्तियुक्ता ये मुक्तिभाजस्त एव हि । २९ ।' (२. १) । अर्थात् रज्जु में सर्प-भ्रमके समान अज्ञानसे ही आपमें सम्पूर्णजगत् की कल्पना की जाती है, आपका ज्ञान होनेसे वह सब लीन हो जाती है, आपके चरण-कमलोंकी भक्तिसे युक्त पुरुषकोही क्रमशः ज्ञानकी प्राप्ति होती है, अतः जो पुरुष आपकी भक्तिसे युक्त हैं वे ही वास्तवमें मुक्ति के पात्र हैं । यह देवर्षि नारदने श्रीरामजी से कहा है ।

६—पाठ पर विचार—पं. रामगुलामद्विवेदीजीकी गुटका सं० १९४५ वि. की छपी हुई में 'प्लव एक एव हि' पाठ है । मानसमार्तण्डकारने 'प्लवमेव भाति' पाठ दिया है जो कोदो रामजीकी पुस्तकमें है और नंगे परमहंसजीने भी वही पाठ रक्खा है । सं० १६६१ की पोथीमें प्रथम चार पन्ने नहीं थे । वे चार पन्ने पं० शिवलालपाठकजीकी प्रतिसे लिखे गए हैं । उसमें 'प्लवमेकमेव हि' पाठ है । यह पाठ संस्कृत व्याकरणके अनुसार अशुद्ध है क्योंकि अमरकोशमें 'उडुपं तु प्लवः कोलः । १. १०. ११ ।' ऐसा लिखा है । 'प्लवः' पुलिङ्ग है, 'उडुपं' नपुंसकलिंग है । यदि 'प्लव' नपुंसकलिंग होता तो 'प्लवं' ठीक होता पर नौकाके अर्थमें वह पुलिङ्ग ही है । प्लवंका अर्थ जब 'खस या तृण' होता है तभी वह नपुंसक होता है । पुल्लिंग होनेसे 'प्लव एक एव' ही पाठ शुद्ध होगा ।

७—इस ग्रन्थका ध्येय क्या है ? यह इस श्लोकके इस चरणसे ग्रन्थकारने स्पष्ट कर दिया है कि इसमें भवतरणोपाय बताया है और वह उपाय है श्रीरघुनाथजीकी भक्ति । यही बात मध्यमें श्रीसुतीक्ष्णजीके प्रसंगसे और अन्तमें श्रीभुशुण्डीजीके प्रसंगमें पुष्ट की गई है । दोनों जगह ज्ञान और विज्ञान आदिकी अवहेलनापर भगवान्की प्रसन्नता दिखाई गई है । भगवान्ने ज्ञान आदि वर मांगनेको कहा । जब उन्होंने भक्ति माँगी तब भगवान्ने उनको 'चतुर' विशेषण दिया है । इस तरह ग्रन्थकारने अपने सिद्धान्तपर बड़े पुरातन भक्तों और भगवान् की मुहर-छापें लगवा दी हैं ।

८—(क) यहाँ गोस्वामीजीने माया, जीव और ब्रह्म तीनोंके स्वरूप दिखाये हैं । मायाके वश होना जीवका स्वरूप है । यथा, 'ईश्वर अंस जीव अविनासी ।''''सो माया बस भयउ गोसाईं ।। ७. ११७ ।', 'देखी माया सब विधि गाढ़ी ।''''देखा जीव नचावै जाही । १. २०२ ।' वशमें करना मायाका स्वरूप है और बन्धनसे छुड़ाना ब्रह्मका स्वरूप है । यथा, 'बंध मोच्छप्रद सर्वपर माया प्रेरक सीव ।। ३. १५ ।।' (पं. रा. कु.) । [अथवा (ख) यों कह सकते हैं कि यहाँ क्रमशः प्रथम चरणमें जीव, दूसरेमें माया और पिछले दोनों चरणोंमें ब्रह्मके लक्षणभी व्याजसे कहे हैं । जो मायाके वश है वह जीव है । यथा, 'मायावस्य जीव सचराचर । ७. ७८ ।' और जो भ्रममें डालकर सबको वशमें किये हुये है वह माया है । जो ईश है और माया या भवसागरसे जीवको उबारता है वही ब्रह्म है ।] (ग)—इस श्लोकमें कर्म, ज्ञान और उपासना वेदके काण्डत्रय दिखाये हैं । 'यन्मायावश-वर्ति''''से कर्म, 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः' से ज्ञान और 'यत्पादप्लव''''' से उपासना दिखाई । (और कोई कहते हैं कि यहाँ प्रथम चरणमें विशिष्टाद्वैत, दूसरेमें अद्वैत और तीसरे में द्वैत सिद्धान्तका स्वरूप है) ।

९ 'वन्देऽहं' इति । पूर्व 'वन्दे वाणीविनायकौ', 'भवानीशंकरौ वंदे', 'वन्दे बोधमयं''''', 'वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ''''' कहा गया और श्रीसीताजी तथा श्रीरामजीकी वन्दना करते हुए कहते हैं—'नतोऽहं रामवल्लभाम्', 'वन्देऽहमशेष''''' । यद्यपि 'वन्दे' का अर्थ ही 'अहं वन्दे' है तथापि पूर्व के चार श्लोकोंमें 'अहं' के न होने से और इन दो में 'अहं' शब्द का भी प्रयोग होने से यह भाव निकलता है कि

भक्तको अपने इष्टमें अभिमान होनाही चाहिए। यथा, 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे ॥ मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥ ३. ११ ।' इससे यहभी जनाया है कि श्रीसीतारामजी हमारे इष्टदेव हैं, अन्य नहीं।

१० 'अशेषकारणं परं' इति। अर्थात् संसारमें जहाँतक एकका कारण दूसरा, दूसरेका तीसरा, इत्यादि मिलते हैं, उन समस्त कारणोंके कारण जो श्रीरामजी हैं और जिनका कोई कारण नहीं, जो सबसे 'पर' हैं, यथा, 'विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता ॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवध पति सोई ॥ जगत प्रकास्य प्रकासक रामू ॥ १. ११७ ॥', 'यस्यांशेनैव ब्रह्माविष्णुमहेश्वरा अपि जातो महाविष्णुर्यस्य दिव्यगुणाश्च एकः कार्यकारणयोः परः परम पुरुषो रामो दाशरथिर्बभूव ॥' पुनः, अशेषकारण परं=अनन्त ब्रह्माण्डोंका कारण और 'पर' (अर्थात् सर्वश्रेष्ठ)। यथा, 'जन्माद्यस्य यतः' (ब्रह्मसूत्र १. १. २)। 'अशेषकारणपरं' कहकर सबके योगक्षेमके लिये समर्थ, सबके शरण्य, सर्वशक्तिमान, और जीवमात्रके स्वामी आदि होना सूचित किया। यथा, 'जेहि समान अतिसय नहिं काई'।

११ 'रामाख्यमीशंहरिम्' इति। 'हरि' शब्द अनेक अर्थोंका बोधक है। अमरकोशमें इसके चौदह अर्थ दिये हैं, यम, पवन, इन्द्र, सूर्य, विष्णु, सिंह, किरण, घोड़ा, तोता, सर्प, कपि, मेढक और पिंगल वर्ण। यथा, 'यमानिलेन्द्र चन्द्रार्क विष्णु सिंहांशु वाजिषु। शुकाहि कपि भेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥ ३. ३. १७४ ॥' और 'ईश' विशेषतः शिवजीका वाचक है। यहाँ 'रामाख्यं' शब्द देकर सूचित करते हैं कि यहाँ 'हरि' और 'ईश' के उपर्युक्त अर्थोंमेंसे कोईभी अर्थ कविका अभिप्रेत नहीं हैं। यहाँ 'ईश' और 'हरि' दोनोंही 'राम' के विशेषणः हैं। 'ईश' विशेषणसे जनाया कि ये चराचरके कारणमात्रही नहीं हैं किन्तु उनकी स्थिति, पालन और संहारको अनेकों ब्रह्मा, विष्णु और महेशोंके समान अकेलेही समर्थ हैं, सबके प्रेरक, रक्षक, नियामक, नियंता सभी कुछ हैं। यथा, 'विधि सत कोटि सृष्टि निपुनाई ॥ विष्नु कोटि सम पालन कर्ता। रुद्र कोटिसत सम संहर्ता ॥ ७. ९२ ।', 'अंब ईस आधीन जग काहु न देइअ दोषु। २. २४४ ।' 'हरि' से जनाया कि जीवोंके समस्त क्लेशोंके, समस्त पापोंके तथा समस्त जीवोंके मनको हरनेवाले हैं। 'क्लेशं हरतीति हरिः', 'हरिर्हरति पापानि'।

पं० रामकुमारजीका मत है कि 'हरि' शब्दके अनेक अर्थ हैं। यथा, 'हरिरिन्द्रो हरिर्भानुः' इत्यादि। अत 'रामाख्य' कहा। 'राम' शब्दसे दाशरथी राम, परशुराम, बलराम आदिका बोध होता है। (विशेष दोहा १९ (१) 'बंदौं नाम राम रघुबर को' में देखिये)। अतः अतिव्याप्तिके निवृत्यर्थ 'ईश' पद दिया। 'ईश' अर्थात् परम ऐश्वर्यवान्, परमेश्वर, ब्रह्मादिकेभी नियंता हैं। यथा, 'विधि हरि हर ससि रवि दिसिपाला। माया जीव कर्म कुलि काला ॥ अहिप महिप जहं लगि प्रभुताई। जाग सिद्धि निगमागम गाई ॥ करि विचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सब ही के ॥ २. २५४ ।', 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ।' (गीता १८. ६१।) अर्थात् शरीररूप यंत्रमें आरूढ़ हुए संपूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मानुसार भ्रमाता हुआ सब भूत प्राणियोंके हृदयमें स्थित है। 'ईश' कहकर जनाया कि वही एकमात्र सबका शरण्य है, उसीकी शरण जाना योग्य है। यथा, 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥' (गीता १८. ६२)। सर्वभावेन उसीकी शरण जानेसे परम शान्ति और परमधामकी प्राप्ति होगी। यह सब भाव 'ईश' विशेषण देकर जनाये। प्रथम आवरण देवताओं वा परिकर एवं परिवारका पूजन होता है तब प्रधान देवका। (श्रीसीतारामार्चन विधि तथा यंत्रराज पूजनविधि देखिये)। इसी भावसे श्रीरामजीकी वन्दना अंतमें कीगई।

१२ यह श्लोक ग्रंथके सिद्धान्तको बीजरूपसे दिखा रहा है। इसका वर्ण्य विषय 'अशेषकारणपरं रामाख्यामीशं हरिं' है। ये 'राम' विष्णु नहीं हैं वरंच करोड़ों ब्रह्मा, विष्णु और महेश इनके अंशमात्रसे उत्पन्न होते हैं। ये करोड़ों विष्णुसेभी अधिक पालनकर्त्ता हैं। 'यत्पादप्लव एक एव हि.....' से ग्रन्थकार बता देते हैं कि इस ग्रन्थमें भक्तिकाही प्राधान्य है। भक्तिही भगवत्प्राप्ति एवं मोक्षकी हेतु बतायी गयी

है। इन्हीं दोकी चाह 'भवांभोधेस्तितीर्षावतां' को होती है। श्रीरामचरणमें प्रेम अथवा मोक्ष दोनों श्रीरामजीके चरणोंकी भक्तिसे प्राप्त होते हैं। इस युगमें एकमात्र उपाय यही है। यही इस ग्रन्थका विषय है। यथा, 'जेहि महं आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना। ७. ६१।', 'एहि महं रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा। १. १०।', 'रामचरनरति जो चह अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवनपुट पान। ७. १२८।'

वेदान्तभूषणजीका मत है कि इस श्लोकसे ग्रंथमें आये हुये दार्शनिक सिद्धान्त 'अर्थपंचक' का वर्णन संक्षिप्तरूपसे दिग्दर्शन कराया गया है। 'रामाख्यमीशंहरिम्' से 'प्राप्यब्रह्म' का स्वरूप, 'वशवर्त्तिविश्व…सुरा' से 'प्राप्ताप्रत्यगात्मा' (जीव) का स्वरूप, 'यत्पादप्लव एक एव हि' से भगवच्चरणानुराग 'उपायस्वरूप', 'भवाम्भोधि' से भवतरण 'फलस्वरूप' और 'यन्माया' से माया 'विरोधी स्वरूप' कहा गया। क्योंकि मायाही स्वरूपको भुलवा देती है। यथा, 'माया बस स्वरूप बिसरायो। तेहि भ्रम ते दारुन दुख पायो।' (विनय १३६)।' इस प्रकारभी यहाँ 'वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण' है।

'इस प्रकार वन्दना करके कवि चाहता है कि संसारमात्र उसके रचे हुये इस काव्यके वशवर्त्ती होकर एकमात्र उसीको भवसागरसे तार देनेकी नाव और समस्त अभीष्टोंका दाता समझकर इसके आश्रित हो।'

गौड़जी—वन्दनामें चतुर कवि अपने प्रतिपाद्य विषयकाभी निर्देश करता है। इस वन्दनामें मानसके प्रतिपाद्य विषयका निर्देश बहुत उत्कृष्ट रीतिसे किया गया है। 'पुराणरत्न' विष्णुपुराण एवं भक्तितत्त्वप्रतिपादक श्रीमद्भागवतमें विष्णुपरत्वका प्रतिपादन है। श्रीरामचरितमानसमें परात्पर ब्रह्म रामका प्रतिपादन है। 'उपजहिं जासु अंस ते नाना। संभु बिरंचि बिस्नु भगवाना।' परन्तु साथही विष्णु, नारायण और ब्रह्ममें अभेदभी माना है। अद्वैत वेदान्त सृष्टि-स्थिति-संहारके कर्त्ता ईश्वरको कुछ घटा हुआ पद देता है और परब्रह्मको निर्गुण एवं परे मानता है। मानसकारने वैष्णव सिद्धान्त वेदान्तको लेकर सगुण और निर्गुणमें अभेद माना है और ईश्वरके सभी रूपोंको और समस्त विभूतियोंको एक रामकाही अवतार माना है। श्रीमद्भागवतमें भी 'अवताराः असंख्येयाः' कहकर विष्णुके असंख्य अवतार माने हैं, परन्तु श्रीमद्भागवत विष्णुपरत्वका प्रतिपादक है। परब्रह्मको विष्णुरूपमेंही मानता है।

मानसके इस शार्दूलविक्रीड़ित छन्दके भाव श्रीमद्भागवतके मङ्गलाचरणवाले शार्दूलविक्रीड़ित 'जन्माद्यस्य....धीमहि' से बहुत मिलता है। हम वह मंगलाचरण यहाँ तुलनाके लिये देते हैं।

जन्माद्यस्ययतो ऽन्वयादितरतश्चार्थेषु } पदार्थोंमें सम्बन्ध और विच्छेदसे जिसके द्वारा इस अखिल विश्वका जन्म, पालन और संहार हैं।

अभिज्ञः स्वराट्—जो (पदार्थोंके विषयमें) सर्वज्ञ है और स्वतः ज्ञान सिद्ध है

तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये } आदिकवि (ब्रह्मा) के लिये जिसने हृदयद्वारा वह वेद फैलाया।

मुह्यन्ति यत्सूरयः—जिसमें विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं।

तेजो वारिमृदां यथा विनिमयः } जैसे तेजस् जल और काँचादि मिट्टीका विनिमय (एकमें किसी दूसरेका भासना) है।

यत्रत्रिसर्गोऽमृषा } उसी तरह जहाँ मृषा त्रिसर्ग (त्रिगुणात्मिका सृष्टि) (अमृषाकी तरह भासता) है।

धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं } अपने प्रकाशसे त्रिकालमें (जो) माया-मुक्त (है)।

ईशं सत्यं परं धीमहि—(उस) सत्यका (उस) परका हम ध्यान करते हैं।

मानसकारके दूसरे चरणमें ठीक वही बात कही गई है जो श्रीमद्भागतकाके तीसरे चरणमें है। 'सकलं' में 'त्रिसर्गका' और 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः में 'तेजोवारिमृदां यथा विनिमयः' का अन्तर्भाव है। काँचमें जलका और जलमें काँचका भ्रम तेज और जल वा तेज और काँचकी सत्ताको स्वीकार करता है, इस तरह यह अन्योन्याध्यास है, द्वैत सत्ताका परिचायक है। रज्जुमें साँप के भ्रममें एक रज्जुकीही सत्ता माननी पड़ती है। इस तरह मानसकारका दृष्टान्त अधिक उत्कृष्ट है। रज्जु ब्रह्म है, जगत् साँप है, माया भ्रम है। भागवतकारके पहले दो चरणोंका अधिकांश अन्तर्भाव मानसकारके पहले चरणमें हो जाता है। श्रीमद्भागवतवाले मंगलाचरणमें सीधे उसी 'पर' और 'सत्यको' स्रष्टा, पालक और संहर्त्ता ठहराया है। परन्तु मानसकारने 'ब्रह्मादिदेवासुराः' अखिल विश्वको उसकी मायाके वशवर्ती दिखाया है अर्थात् सृष्टि पालन संहार क्रियाके करनेवाले देव और असुर भी उसीकी मायाके वशीभूत हो सारे व्यापार करते हैं, और वेदज्ञान, एवं अखिल विश्वकी बुद्धि तथा चेतना भी उसी मायाके वशवर्त्ती है, कोई बचा नहीं है, यह दरसाया है। अतः जहाँ भागवतकार ईश्वर को ही 'सत्यं परं ध्येयम्' मानते हैं वहाँ मानसकार उस 'अशेषकारणपरं, ईशम्' को जगत्कर्त्री मायाका नाथ मानते हैं। भागवतकारके दूसरे चरणमें 'अर्थेष्वभिज्ञः स्वराट्' अर्थात् उसी जन्मादिके कारणको 'सर्वज्ञ' और 'स्ववश' बताया है और 'धाम्नास्वेन सदा निरस्त कुहकम्' अपने प्रकाशसे मायान्धकारसे मुक्त दिखाया है। भाव यह है कि जीव (चित) अल्पज्ञ, माया (अचित) वश और मोहित है और ईश्वर सर्वज्ञ, स्ववश, और मायामुक्त है। इस तरह भागवतकार ईश्वरकाही प्रतिपादन करके उसे 'सत्यं परं' मानते हैं। मानसकार परात्पर ब्रह्मका प्रतिपादन करके ईश्वरत्व उसके अधीन मानते हैं और 'सत्यं परं' की जगह 'अशेष कारण पर' कहकर परसत्य की अधिक व्यापक और उचित व्याख्या कर देते हैं। 'ईशम्' कहकर वह उस 'अशेषकारणपरं' को उस माया का स्वामी बताते हैं जिसके वशवर्त्ती ब्रह्मादि चराचर हैं। स्वामीके मायामुक्त होनेका प्रश्नही नहीं होता, क्योंकि उसके मायाबद्ध होनेकीही कोई कल्पना नहीं है। ब्रह्मादि तो मायावश हैं। 'सिव बिरंचि कहँ मोहइ, को है बपुरा आन', रमा समेत रमापति मोहे'। ईश्वरकोटि तो मायावशवर्त्ती है। वह 'अशेषकारणपर' तो 'विष्नुकोटिसम पालन कर्त्ता। रुद्र कोटिसतसम संहर्त्ता' है। जो माया ऐसी प्रबला होकर भी उस 'ईश' की दासी है उसका रूप दूसरे चरणमें दिखाया है जो भागवतकारके वर्णनके अनुरूप ही है। तात्पर्य यह कि माया का रूप जो भाँति भाँतिके अध्यासोंसे वेदान्तमें उदाहृत किया है वह भागवतकार और मानसकारका एकसा है परन्तु दृष्टान्त मानसकारका अधिउपयुक्तक है।

भागवतकारके 'अर्थेषु अभिज्ञः स्वराट' के एवं 'धाम्नास्वेन सदा निरस्त कुहकं' के अर्थोंसे भी अधिक भावोंकी व्याप्ति मानसकारके 'ईशम् हरिम्' में है, क्योंकि ईशत्वमें न केवल सर्वज्ञता और स्वाधीनता है, वरन् मायापतित्त्व है, दासोंका, भक्तोंका आश्रय है, और मोह हर लेने, (हरिम्) उपासकोंको माया मुक्त कर देनेका भी सामर्थ्य है। साथही 'ईशम् हरिम्' कहकर यह भी सूचित किया कि वह ईश, वह हरि, शिव और विष्णुसे अभिन्न है यद्यपि अंशी और अंशका, अंगी और अंगका, अवतारी और अवतारका सम्बन्ध है। यह तेहरा अभेद रामचरितमानसमें साद्यान्त प्रतिपादित है। एक बात में श्रीमद्भागवत का मंगलाचरण अधिक उत्तम कहा जा सकता है कि उसकी भाषा द्वैत और अद्वैतवादियों के पक्ष पोषक अर्थोंके घटित करने में भी समर्थ है, परन्तु मायाको स्पष्ट रूपसे प्रतिपन्न करके मानसकारने जहाँ द्वैतवादका निरसन किया है वहाँ अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और शुद्धाद्वैतका पोषणभी बहुत उत्तम हुआ है। किन्तु इस परवर्त्ती दृष्टिसे तो मानसकार की ही विधि उत्कृष्ट जान पड़ेगी, क्योंकि भागवतकार जहाँ जान बूझकर सबके लिये गुंजाइश छोड़ देते हैं और 'सत्यं परं' को व्यावहारिक अर्थ में 'निरस्त कुहकं' नहीं रखते, वहाँ मानसकार जिस पक्षको सत्य समझते हैं उसे असंदिग्ध और स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त करते हैं जिन्हें तोड़ मरोड़कर किसी के लिये अर्थ का अनर्थ करना संभव नहीं है।

भागवतकारने अपने मङ्गलाचरणको गायत्री मंत्रके भावों में ग्रथित किया है, जो श्रीमद्भागवत की विशेषताको सूचित करता है और 'धीमहि' में गुरु-शिष्य वा वक्ता-श्रोता उभयपक्ष सूचक बहुवचन है जो ठीक गायत्रीमन्त्रमें प्रयुक्त क्रियापद है, जो वैदिक व्याकरणके ही रूपमें ज्योंका त्यों दिया गया है। परन्तु मानसकार का यह अपना मङ्गलाचरण है, मानसके श्रोता वक्ताका नहीं, अतः इसमें 'वन्दे' एक वचन क्रियापद है और जहाँ भागवतकारने निर्गुणरूपका ध्यान किया है वहाँ मानसकारने सगुणब्रह्मके चरणोंकी वन्दना की है। 'परं सत्यं' की पूरी व्याख्या 'अशेष कारण परम्' से ही हो सकती है। क्योंकि सबसे परे नित्य सत्य वही हो सकता है, जो सबसे परे, सब कारणोंका कारण हो, जहाँ जाकर कारणोंका सिलसिला खतम हो जाता हो। परं ब्रह्म परं तत्त्वं परं ज्ञान परं तपः। परं बीजं पर क्षेत्रं परं कारण कारणम्'। * 'रामाख्यम्' शब्द तो रामचरितमानस के सम्पूर्ण ग्रंथका बीजमंत्रही है। 'राम' शब्दका अर्थ है, 'जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक्य सुपासी। सो सुखधाम राम अस नामा'। उस 'ईशम्' की मैं वन्दना करता हूँ जिनका ऐसा 'राम' नाम है, जिन्होंने अखिल लोकोंको विश्राम देने के लिये ईश होते हुए भी मायामानुषरूप धारण किया है। 'रामवल्लभाम्' वाले रामकी ही व्याख्या इस सम्पूर्ण छन्दमें वन्दना के व्याज से वर्णित है।

निदान भागवतकारके चारों चरणोंके भाव मानसकारने अपने मङ्गलाचरणमें व्यक्त कर दिये। साथही इतना करके भी मानसकारने वह बात और दी है जो भागवतकारने स्पष्टरूपसे इस छन्दमें व्यक्त नहीं कर पायी और जो दूसरे ढंग पर उसके आगे के शार्दूलविक्रीडितमें उन्होंने दी है। मानसकारने 'पादप्लवम्' कहकर सगुण रूपका ध्वन्यात्मक प्रतिपादन भी किया है, और भक्तोंके भवसागर पार होने के लिये स्तुतिके व्याजसे उपासना मार्गका भी उपदेश किया है। ध्वनिसे पहले चरणमें कर्म्म और दूसरेमें ज्ञान कह कर तीसरे में उपासनाद्वारा उद्धारकी विधि दिखायी है, बड़ी चमत्कारिक रीतिसे तीनों विधियों के ध्येय भगवान् रामचन्द्रकी वन्दना की है।

गोस्वामीजीने श्रीमद्भागवत की छाया अनेक स्थलों पर ग्रहण की है, परन्तु भावचित्रण बिलकुल निजी ढंग पर किया है जिससे भावापहरण का दोष उन पर नहीं लग सकता। उन्होंने 'नाना पुराण निगमागम सम्मत' लिखाही है, परन्तु मूल-स्रोत चाहे जो हो उन्होंने अपनी अमृत प्रसविनी लेखनी से उसमें नयी जान डाल दी है। भागवतकारका मङ्गलाचरण जितना क्लिष्ट है, मानसकारका उतनाही प्रसादगुणपूरित है जिसमें उन्होंने व्यंजनासामर्थ्यसे अपनी रचनाको मूलरूप और भागवतके मंगलाचरणको छाया बना डाला है। मङ्गलाचरणवाला यह शार्दूलविक्रीड़ित उनकी उन अनुपम रचनाओंमेंसे है, जिसके आशयों की गंभीरतामें जित ही डूबिये उतने ही अर्थ-गौरवके रत्न मिलते हैं।

नोट—१४ (क) यह श्लोक शार्दूलविक्रीड़ित छन्द में है। शार्दूल अर्थात् सिंह श्रेष्ठ पराक्रमशाली होता है। इसी विचारको लिये हुये शार्दूलविक्रीड़ित छन्द में अपने उपास्य इष्टदेव का मङ्गलाचरण करके कविने सूचित किया है कि श्रीरामजीके समान पराक्रम वाला चौदहो भुवनोंमें कोई नहीं है। (ख) गोस्वामीजी इस ग्रंथमें सर्वमतों का प्रतिपादन करते हुए भी किस चतुरता और खूबी से अपनी उपासनाको दृढ़ गहे हुये हैं, यह बात इस श्लोकमें भी विचार देखिये (ग) छन्दका स्वरूप यह है। 'आद्याश्चेद्गुरवस्त्रयः प्रियतमे षष्ठ-स्तथा चाष्टमो। नन्वेकादशतस्त्रयस्तदनुचेदष्टादशाद्यौ ततः॥ मार्तण्डैर्मुनिभिश्च यत्र विरतिः पूर्णेन्दु बिम्बानने। तद्वृत्तं प्रवदन्ति काव्यरसिकाः शार्दूलविक्रीड़ितम्॥ (श्रुतबोधः)। इसके प्रत्येक चरणमें १६ अक्षर होते हैं और

* गोस्वामीजी ने क० सुं० २५ में श्रीरामजीको 'विराट्रूप भगवान' का भी रक्षक कहा है। यथा, 'रावन सो राजरोग बाढ़त विराट उर'''''।

चरणका स्वरूप यह है कि क्रमशः 'मगन सगन जगन सगन तगन तगन' के वर्ण आते हैं और प्रत्येक चरणके अंतका वर्ण गुरु होता है। यहाँ 'यन्माया' मगण (=तीनों वर्ण गुरु) 'वशव' सगण (=अन्त वर्ण गुरु), 'र्त्ति विश्व' जगण (=मध्य वर्ण गुरु), 'मखिलं' सगण, 'ब्रह्मादि' और 'देवासु' दोनों तगण (=अंत वर्ण लघु), के स्वरूप हैं, अंत वर्ण 'रा' गुरु है। इसी तरह आगेके तीनों चरणोंमें देख लीजिये।

मङ्गलाचरणके श्लोकोंके क्रमका भाव

१ पं० रामकुमारजी—'प्रथम गणेशजी पूजनीय हैं, इस वचनको सिद्ध किया। जिस कामके लिये वंदना है उसके आचार्य्य शङ्करजी हैं। इससे गणेशजीके बाद शिवजीकी वन्दना की। फिर गुरुदेवकी वन्दना की, क्योंकि 'मैं पुनि निज गुरुसन सुनी।' पुनः रामचरितके मुख्यकर्त्ता वाल्मीकिजी और श्रीहनुमान्‌जी हैं। पुनः, इस चरित्रके प्रतिपाद्य श्रीसीतारामजी हैं। अतः उनकी इष्टरूपसे वन्दना की। इसके पश्चात् उन (श्रीसीतारामजी) की कथाकी, जो उनका मुख्य वर्ण्य विषय है, प्रतिज्ञा की।

२ श्रीबैजनाथदासजी—प्रथम पाँच श्लोकोंमें 'नाम, लीला, धाम, रूप' का प्रचार पाया जाता है। अतः उनके अधिकारियोंकी वन्दना की। प्रथम श्लोकको विचार देखिये तो रेफ (^र्) और अनुस्वार (ं) ही दिखाई देगा, श्रीरामनामके ये दोनों वर्ण वाणीके विशेष स्वामी हैं, ऐसा अर्थ 'वाणी विनायकौ' का करनेसे प्रथम श्लोकमें श्रीरामनामकी वन्दना हुई। श्रीरामनामके परम तत्त्वज्ञ एवम् अधिकारी श्रीभवानीशङ्करकी वन्दना श्लोक २ में है। गुरु शङ्कररूप अर्थात् विश्वासरूप हैं। श्रीरामनाममें विश्वास कराते हैं। इस तरह ये तीन श्लोक नाम संबंधी हुए। श्लोक ४ में 'ग्राम' और 'अरण्य' से धाम और 'गुण' से लीला सूचित की। अस्तु। इनके अधिकारी श्रीहनुमान्‌जी और श्रीवाल्मीकिजीकी वन्दना की। रूपकी अधिकारिणी श्रीसीताजी हैं। इनके द्वारा श्रीरामरूपकी प्राप्ति होती है। अतः उनके बाद श्रीरामजीके ऐश्वर्य एवम् माधुर्य्यरूपकी वन्दना की। सातवें श्लोकमें काव्यका प्रयोजन कहा।

३ वर्ण और अर्थकी सिद्धि किसीभी कवि या ग्रंथकारकी सहजही इष्ट होती है, वह उसका परम प्रयोजनीय विषय है। अतः कविने कविपरम्परानुकूल वाग्देवताकी, अक्षर ब्रह्मकी शक्तिकी वन्दना की। जैसे श्रीसरस्वतीजी श्रीरामचरित्र संभाषणमें अद्वितीय हैं वैसेही श्रीगणेशजी लिखनेमें। जो उनके मुखसे निकला आपने लोकप्रवृत्तिके निमित्त उसको लिखकर दृष्टगोचर कर दिया। इसी परस्परके संबंधसे दोनोंकी योजना प्रथम श्लोकमें की। पुनः भूतभविष्यवर्तमानमें श्रीरामयशगान करनेका कवियोंने जो साहस किया है वह आपहीकी कृपासे तो! गोस्वामीजीको श्रीरामचरित्रकथन करना है और वह जब जिसने कहा है तब इन्हींकी कृपासे तो। अतः इनकी वन्दना प्रथम उचितही है।

श्रीरामचरितमानसके श्रवण और कीर्तनके आदिकारण श्रीउमाशङ्करही हैं एवम् कथाश्रवण और नामस्मरणमें मुख्य श्रद्धा और विश्वासही हैं जिनके बिना उनका वास्तविक रस प्रतीतही नहीं होता, यदि श्रद्धा-विश्वास-बिनाही कथाश्रवण अथवा नामस्मरण किया तो फल तो अवश्य होगा परंतु यथार्थ स्वाद उसका अपनी आत्माको अनुभव नहीं होगा। जैसे चित्तकी एकाग्रताबिना कोई वस्तु पाये तो भूख निवृत्ति और शरीरकी पुष्टि आदि जो गुण उस पदार्थके हैं वे तो अवश्यही होंगे परंतु स्वाद उसका जैसा है वैसा कदापि प्रतीत न होगा।

अब यह देखना है कि श्रद्धा और विश्वास होनेपर और तो किसीकी अपेक्षा नहीं? उसका समाधान तीसरे श्लोकसे करते हैं। श्रद्धाविश्वासयुक्त होकर श्रीगुरुमहाराजके शरणमें यदि जावे तो कुटिल होनेपरभी वन्दनीय होगा। यह टेढ़ा काव्यभी जो श्रीगुरुमहाराजके आश्रित होकर कह रहा हूँ सर्वत्र वन्दनीय होगा। क्या औरभी कोई इसके श्रवण कीर्तनके रसिक हैं? इसपर चौथा श्लोक कहा। दोनों महानुभाव श्रीवाल्मीकिजी

और श्रीहनुमान्जी श्रीसीतारामजीके चारु चरित्रके परमऋषि एवम् कवि हैं। अतः उनके चरित्रकी सिद्धिके लिये उनका स्मरण परम वाञ्छनीय कर्तव्य है। अंतमें इन दोनों श्लोकोंमें उनके इष्टदेवताद्वयकी वन्दना की।

वन्दना के ६ श्लोक हैं। पाँच श्लोकोंमें 'वन्दे' शब्द दिया है और श्रीसीताजीके निमित्त 'नतः' पद दिया है। इसीतरह आगेभी श्रीमद्गोस्वामीजीने अन्य सब देवादिकी वन्दना 'बंदउँ' ही पदसे की है। ये दोनों पर्य्यायवाची शब्द हैं तोभी कुछ महानुभावोंका मत है कि केवल यहाँ शब्द बदलकर रखनेमें कुछ विलक्षण अभिप्राय अवश्य है और वह यह है कि इस पदका प्रयोग करके माताके प्रति प्रीताधिक्यता दर्शाई है।

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—१ पुराण=भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीने अठारह पुराण बनाये हैं। पुराणका लक्षण श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार है, 'सर्गोऽस्याथ विसर्गश्च वृत्तिरक्षान्तराणि च। वंशो वंशानुचरितं संस्थाहेतुरपाश्रयः। ९। दशभिर्लक्षणैर्युक्तं पुराणं तद्विदो विदुः। १०।' (भा. १२. ७) अर्थात् सर्ग (महत्तत्व, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेंद्रिय और मनकी उत्पत्ति), विसर्ग (जीवोंसे अनुगृहीत सूक्ष्म रचनाके वासनामय चर और अचर सृष्टिकी रचना), वृत्ति, रक्षा (अच्युत भगवान्के अवतारकी चेष्टा), मन्वन्तर (मनु, देवता, मनुपुत्र, इंद्र, ऋषि और श्रीहरिके अंशावतार ये छः प्रकार), वंश (ब्रह्मप्रसूतराजाओंकी त्रैकालिक अन्वय), वंशानुचरित (वंशको धारण करनेवाले प्रधान पुरुषोंके चरित), संस्था (नैमित्तिक, प्राकृतिक, नित्य और आत्यन्तिक चार प्रकारके लय), हेतु (सृष्टि आदिका अविद्याद्वारा करनेवाला जीव) और अपाश्रय (मायामय जीवोंकी वृत्तियोंमें और जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओंमें जिसका व्यतिरेकान्वय हो वह ब्रह्म) इन दश लक्षणोंसे युक्त ग्रंथको पुराण कहते हैं। उनके नाम इस श्लोकमें सूक्ष्मरीतिसे हैं। 'मद्वयं भद्वयं शैवं। व्रत्रयं ब्रत्रयं तथा। अ ना प लिं ग कू स्कानि पुराणानि पृथक् पृथक्' ॥ (महिम्नस्तोत्र मधुसूदनीटीका)। मकारवाले दो 'मत्स्यपुराण, मार्कण्डेय पुराण', भकारवाले दो 'भविष्य, भागवत', शिवपुराण, व वाले तीन विष्णु, वाराह, वामन; ब्र वाले तीन 'ब्रह्म, ब्रह्माण्ड, ब्रह्मवैवर्त', अग्नि, नारद, पद्म, लिङ्ग, गरुड़, कूर्म, स्कन्द। इसीप्रकार अठारह उपपुराणभी माने जाते हैं जिनके नाम गरुड़पुराण अ. २२७ श्लोक १-४ में ये हैं। आदिपुराण, नृसिंह, कुमारका बनाया हुआ स्कन्द, नन्दीशका शिवधर्म, दुर्वासा, नारद, कपिल, वामन, औशनस, ब्रह्मांड, वारुण, कालिका, महेश्वर, साम्ब, सौर, पाराशर, मारीच और भास्कर। २—निगम=वेद। वेद चार हैं। ऋग्, यजुः, साम और अथर्व। इनके चार उपवेदभी हैं। ऋग्वेदका उपवेद आयुर्वेद, यजुर्वेदका धनुर्वेद, सामवेद का गांधर्ववेद और अथर्वका अर्थशास्त्र उपवेद है। उपवेदोंकेभी अनेक भेद हैं। वेद षडङ्गयुक्त हैं अर्थात् इनके छः अंग माने गए हैं; वेदोंको समझनेके लिये इन छओं अंगोंका जानना परमावश्यक है। वे छः अंग ये हैं, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत इत्यादिसे युक्त स्वर और व्यंजनात्मक वर्णोंके उच्चारण विशेषका ज्ञान कराना 'शिक्षा' का प्रयोजन है। क्योंकि इनके यथार्थ ज्ञानके विना मंत्रोंका अनर्थही फल होता है। यह पाणिनिनेही प्रकाशित किया है। वेदके पदोंकी शुद्धताको जान लेनेके लिये 'व्याकरण' प्रयोजनीय है। पाणिनिने आठ अध्यायोंका सूत्रपाठ बनाया है जो 'अष्टाध्यायी' नामसे प्रसिद्ध है। इसीपर कात्यायनमुनि वररुचिने वार्त्तिक और पतंजलिने महाभाष्यकी रचना की है। इन्हीं मुनित्रयके बताये हुए व्याकरणको वेदाङ्ग अथवा माहेश्वरव्याकरण कहा जाता है। अन्य लोगोंके व्याकरण वेदाङ्ग नहीं हैं।

इसी तरह वेदके मंत्रपदोंका अर्थ जाननेके लिये यास्कमुनिने तेरह अध्यायोंमें 'निरुक्त' की रचना की है। इसमें पदसमूहोंका, नाम, आख्यात, निपात और उपसर्ग भेदसे, चार प्रकारका निरूपण करके वैदिक मंत्रपदोंका अर्थ दिखलाया है। निघंटु, अमरसिंह एवं हेमचन्द्रादिके कोषभी निरुक्तहीके अन्तर्गत हैं। ऋग्वेदके मंत्र पादबद्ध छन्दोविशेषसे युक्त हैं और किसी-किसी अनुष्ठानमें छन्दोविशेषहीका विधान किया गया है। अतएव छन्दोंका जाननाभी आवश्यक हुआ, क्योंकि विना उसके ज्ञानके कार्यकी हानि और निन्दा होती है। इसी लिये भगवान् पिंगलनागने आठ अध्यायोंमें सूत्रपाठ बनाया है जिसका नाम 'पिंगलसूत्र' है। इसके तीन अध्यायोंमें गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप और जगती इन सातों वैदिक छन्दोंको अवान्तर भेदोंके साथ सविस्तर वर्णन किया है। फिर पाँच अध्यायोंमें पुराण इतिहासादिके उपयोगी लौकिक छन्दोंका वर्णन है। वैदिक कर्मोंके अंग दर्श , पौर्णमासी) इत्यादि काल जाननेके लिये ज्योतिषभी आवश्यक है जिसे भगवान् सूर्यनारायण तथा गर्गादि अठारह महर्षियोंने बहुत प्रकारसे विरचा है। योंही भिन्न-भिन्न शाखाके मंत्रोंको मिलाकर वैदिक अनुष्ठानोंके विशेष कर्मोंको समझनेके लिये 'कल्पसूत्र' बने हैं। ३—आगम='आगतं शिववक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजाश्रुतौ। मतंच वासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते॥' (पद्मचन्द्रकोष और श्रीधरभाषा कोष)। अर्थात् शिवजीके मुखसे निकला हुआ और पार्वतीजीके कानोंमें पड़ा हुआ और वासुदेवभगवानका जिसमें संमत है उसको 'आगम' कहते हैं।—तंत्रशास्त्र। पुनः, तंत्र और अतंत्र दोनों 'आगम' कहलाते हैं। तंत्र तीन प्रकारके होते हैं, शैव, बौद्ध और कपिलोक्त। अतंत्र अनेक हैं। तंत्र और अतंत्रका अटकल लगाया जाय तो ढाईहजार (२५००) से अधिक होंगे। यह तो हुआ कोशोंके अनुसार। गोस्वामीजीने अनेक स्थलोंमें प्रमाणमें आगम, निगम और पुराण इन तीनोंको दिया है। यथा, 'सारद सेष महेस बिधि आगम निगम पुरान। १. १२।', कहि नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं। १. ५१।', 'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। १. १८३।', 'धरम न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना। २. ९५।', 'सुनहिं कथा इतिहास सब आगम निगम पुरान। २. २३७।', 'आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। २. २९३।' इत्यादि। श्रीरामायणजीकी आरतीमें गोस्वामीजी लिखते हैं, 'गावत वेद पुरान अष्टदस, छओ शास्त्र सब ग्रंथ को रस।' इसमें वेद, पुराण और छओं शास्त्रोंका इस रामायणमें होना कहते हैं। इससे निष्कर्ष निकलता है कि उन्होंने 'आगम' का षट्शास्त्र वा षट्दर्शनका पर्याय माना है। अतएव आगम=षट्दर्शन। प्रकृति, आत्मा, परमात्मा, जगत्के नियामक धर्म, जीवनके अन्तिम लक्ष्य इत्यादिका जिस शास्त्रमें निरूपण हो उसे 'दर्शन' कहते हैं। उपनिषदोंके पीछे इन तत्त्वोंका ऋषियोंने सूत्ररूपमें स्वतंत्रतापूर्वक निरूपण किया। इस तरह छः दर्शनोंका प्रादुर्भाव हुआ। वे ये हैं, सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा (वेदान्त)। 'सांख्यमें' सृष्टिकी उत्पत्तिके क्रमका विस्तारसे जितना विवेचन है उतना और किसीमें नहीं है। उसके अनुसार आत्मा अनेक हैं। उसमें परमात्माका प्रतिपादन नहीं है। सृष्टिका प्रकृतिकी परिणामपरंपरा माननेके कारण यह मत 'परिणामवाद' कहलाता है। 'योग' में मोक्षप्राप्तिके निमित्त यम, नियम, प्राणायाम, समाधि इत्यादिके अभ्यासद्वारा ध्यानकी परमावस्थाकी प्राप्तिके साधनोंकाही विस्तारसे वर्णन है। इसमें क्लेश, कर्मविपाक और आशयसे रहित एक ईश्वर माना है। 'न्याय' में ईश्वर नित्य, इच्छा ज्ञानादि गुणयुक्त और कर्त्ता माना गया है। जीव कर्त्ता और भोक्ता दोनों माना गया है। इसमें तर्क करनेकी प्रणाली खंडनमंडनके नियम मिलते हैं जिनका मुख्य विषय प्रमाण और प्रमेय है। 'वैशेषिक'में द्रव्यों और उनके गुणोंका विशेष निरूपण है। न्यायसे इसमें बहुत कम भेद है। ये दोनों सृष्टिका कर्त्ता मानते हैं; इसीसे इनका मत 'आरंभवाद' कहलाता है। 'पूर्वमीमांसा' का मुख्य विषय वैदिक कर्मकांडकी व्याख्या है। 'उत्तरमीमांसा' वेदान्त है। ब्रह्मजिज्ञासाही इसका विषय है। सांख्यके आचार्य कपिलदेवजी, विषय प्रकृति-पुरुष-विवेक और दुःखनिवृत्ति प्रयोजन हैं। योगके आचार्य पतंजलमुनि और चित्तका निरोध प्रयोजन है। वैशेषिकके आचार्य कणाद ऋषि, पदार्थ विषय और उसका ज्ञान प्रयोजन है। न्यायके आचार्य गौतमजी हैं,

पदार्थज्ञान प्रयोजन है। पूर्वमीमांसाके आचार्य जैमिनिजी, कर्मकांडधर्म विषय और धर्मका ज्ञान प्रयोजन है। वेदान्तके आचार्य व्यासजी, ब्रह्मका ज्ञान विषय और अज्ञानकी निवृत्ति, परमानंदकी प्राप्ति प्रयोजन है। ४—संमत=राय, सिद्धांत, जिसकी राय मिलती हो; सहमत। यद्रामायणे=यत् (जो वा जिस) रामायणमें। निगदितं=कथित; कहा हुआ। क्वचिदन्यतोऽपि=क्वचित्-अन्यतः-अपि=कुछ किसी और स्थानसे वा कहीं औरसेभी। स्वान्तः=स्व-अन्तः=अपने अन्तःकरणके। निबंधमतिमंजुलमातनोति=निबंध-अति-मंजुलं-आतनोति= अत्यंत सुंदर निबंध विस्तार करता है अर्थात् बनाता है। निबंध=वह व्याख्या (काव्य) जिसमें अनेक मतोंका संग्रह हो।

नोट—१ इस श्लोकका अर्थ कई प्रकारसे लोग करते हैं। अतएव मैं यहाँ कुछ प्रकार के अन्वय और उनके अर्थ तथा उनपर टिप्पणी देता हूँ।

अन्वय—१ यद्रामायणे (यस्मिन् रामायणे) नानापुराणनिगमागमसम्मतं निगदितं (अस्ति) क्वचित् अन्यतः अपि निगदितं (अस्ति) तत् तुलसी स्वान्तः सुखाय अति मंजुलं श्रीरघुनाथगाथाभाषानिबंधं आतनोति।

अर्थ—१ जिस रामायणमें अनेक पुराण, वेद और शास्त्रोंका संमत कहा गया है और कुछ अन्यत्रसेभी कहा गया है, उस रामायणको तुलसीदास अपने अन्तःकरणके सुखके लिये अत्यन्त सुंदर रघुनाथगाथाभाषानि- बंध (काव्यरूप) में विस्तारसे कहते हैं।

नोट—२ इस अन्वयके अनुसार गोस्वामीजी कोई नई रामायण लिखने नहीं बैठे, किन्तु किसी रामायणकी भाषाकाव्यमें करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं जिसमें यह सब कथा है। वह रामायण कौन है इसपर आगे लेखमें विचार किया गया है।

अन्वय—२ यद्रामायणे (यस्मिन् रामायणे) नाना पुराणनिगमागमसंमतं निगदितं (अस्ति क्वचित् अन्यतः अपि निगदितं (अस्ति) अति मंजुलं रघुनाथगाथाभाषानिबंधं तत् तुलसी स्वान्तः सुखाय आतनोति।

अर्थ—२ जिस रामायणमें नाना पुराण, वेद और शास्त्रोंका संमत कहा गया है और कुछ अन्यत्रसेभी कहा गया है ऐसी अतिसुंदर श्रीरघुनाथ कथा भाषा काव्य रामायण तुलसीदास अपने अन्तःकरणके सुखके लिये अतिसुंदर विस्तारसे बनाता है।

नोट—३ इस अन्वयके अनुसार गोस्वामीजी कहते हैं कि हमने इस रामचरितमानसमें जो कहा है, वह नाना पुराणनिगमागमसम्मत है और इनके अतिरिक्तभी इसमें कुछ औरभी कहा गया है।

अन्वय—३ यत् रामायणे निगदितं (अस्ति) यत् नानापुराणनिगमागमसम्मतं (अस्ति) तत् क्वचिदन्यतः अपि तुलसी स्वान्तः सुखाय अति मंजुलं रघुनाथगाथाभाषा निबंधं आतनोति।

अर्थ—३ जो रामायणमें कहा गया है और जो नाना पुराणनिगमागमसंमत है, उसको और कुछ अन्यत्रसेभी (लेकर) तुलसीदास अपने अन्तःकरणके सुखके लिये अत्यन्त सुंदर रघुनाथगाथाभाषाकाव्यमें विस्तार करता है।

नोट—४ 'रामायण' शब्द जब अकेला आता है तो प्रायः उससे वाल्मीकीय रामायणका बोध कराया जाता है। मानसमेंभी वाल्मीकिजीकी वन्दनामें 'रामायन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। यथा, 'बंदौं मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयेउ। १. १४।' इस लिये यहाँभी 'रामायणे' से वाल्मीकीयका अर्थ लेकर अन्वय किया गया है। इसके अनुसार गोस्वामीजी कहते हैं कि वाल्मीकीयमें जो कहा गया है,

वह नाना पुराणनिगमागम संमत है; हम उस कथाको देते हैं और अन्यत्रसे भी कुछ प्रसंग लिय हैं वह भी देते हैं।

अन्वय—४ यत् नाना पुराण संमतं, यत् निगम संमतं, यत् आगम संमतं, यत् रामायणे निगदितं (एवं) क्वचित् अन्यतः अपि यन्निगदितं, तत् सम्मतं, तुलसी (दासः) स्वान्तः सुखाय अति मंजुलं रघुनाथ-गाथाभाषानिबंधं आतनोति। (पं. रामकुमारजी)।

अर्थ—(इसका अर्थ मेरी समझमें वही है जो अन्वय ३ का है)।

अन्वय—५ यत् रामायणे निगदितं तत् तुलसी स्वांतः सुखाय, क्वचित् अन्यतः अपि, नानापुराण-निगमागमसंमतं अति मंजुलं...।

अर्थ—४ जो रामायणमें कहा गया है उसे तुलसीदास अन्तःकरणके सुखके लिये और कुछ अन्यत्रकाभी लेकर नानापुराणनिगमागमसंमत अत्यन्त सुन्दर....।

नोट—५ इस अन्वयके अनुसार वे कहते हैं कि जो रामायणमें है वह मैं कह रहा हूँ और अन्यत्रकेभी प्रसंग कहे हैं; ये सब नानापुराणनिगमागमसम्मत हैं।

नोट—६ 'नाना पुराणनिगमागमसम्मतं.....' इति। (क) पं. रामवल्लभाशरणजी लिखते हैं कि, कोई वस्तु हो बिना दृष्टांतके उसका यथार्थ स्वरूप समझमें नहीं आता। दृष्टांतके निमित्त राजाओंके त्रिगुणात्मक चरित पुराणोंमेंसे इसमें कहे गए हैं। जैसे 'सिबि दधीचि हरिचंद कहानी। एक एक सन कहहिं बखानी। २.४८।', 'सहसबाहु सुरनाथु त्रिसंकू। केहि न राजपद दीन्ह कलंकू। २.२२९।', 'ससि गुरतियगामी नहुषु चढ़ेउ भूमिसुर जान। लोक बेद ते बिमुख भा अधम न बेन समान। २. २२८।' इत्यादि। ऐसेही औरभी वहुतसी कथाएँ पुराणोंसे आई। धर्माधमके विवेचनमें स्मृतिओंका आशय लिया गया है। यथा, 'नारिधरम सिखवहिं मृदु बानी। १. ३३४।', 'कहहिं बसिष्ठु धरम इतिहासा। सुनहिं महीसु सहित रनिवासा। १. ३५९।' 'निगमागमसंमतं' अर्थात् चारों वेदों, चारों, उपवेदों और छओं शास्त्रोंका सम्मतभी इसमें हैं। वेद कर्म, उपासना और ज्ञानमय त्रिकांडात्मक हैं। उसके विषयोंके उदाहरण। कर्मकांड, यथा, 'करम प्रधान बिश्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फलु चाखा। २. २१९।', 'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता। २. २८२।', 'कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ कर्मफल दाता। ७. ४१।' उपासना, यथा, 'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। भजहु रामपदपंकज अस सिद्धांत बिचारि। ७.११९।', 'तथा मोच्छसुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरिभगति बिहाई ७. ११९।, 'बारिमथें घृत होइ बरु सिकता तें बरु तेल। बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल ॥'....'विनि-श्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे। हरिं नरा भजन्ति येऽति दुस्तरं तरन्ति ते।' (७.१२२), 'भगति सुतंत्र सकल सुख-खानी। ७. ५।', ज्ञानकांड, यथा, 'सो तैं ताहि तोहि नहि भेदा। बारि बीच इव गावहिं बेदा। ७. १११।', 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं। ३. १५।' (तु. प. १९७४)।

प्रश्न—पुराणोंमे तो श्रीरामावतारसम्बन्धी चरित अत्यंत अल्प अंशमें मिलता है। इसीतरह उपलब्ध उपनिषदोंमेंसे केवल दोचारके अतिरिक्त और किसीमें रामचरितकी चर्चा ही नहीं है। वेदांतदर्शन (ब्रह्मसूत्र) में तो 'राम' शब्दभी नहीं है। गीतामें केवल एक जगह विभूतिवर्णनमें राम' शब्द आया है। 'रामः शस्त्रभृता-महम। १०. ३१।' यह 'राम' शब्दभी 'परशुराम' केही लिये समझा जायगा, क्योंकि भागवतमें 'भार्गवो शस्त्र-भृतांवरिष्ठः' परशुरामजीके लिये आया है। प्रस्थानत्रयीकी तरह अन्य दर्शनोंकाभी हाल है। इतिहासमें केवल वाल्मीकीय रामायणमें प्रधानरूपसे श्रीरामचरित है। इत्यादि। तब यह कैसे कहा जाता है कि नाना पुराणादि का सिद्धांत एकमात्र 'श्रीरामचरित' ही है।

उत्तर—हमारे पूर्वज स्वात्माराम महर्षियोंने अनुभव करके यह बतलाया है कि समस्त वेद, वेदाङ्ग और वेदवेदाङ्गवित् महर्षि 'भक्ति या ज्ञानादिद्वारा प्राप्य ब्रह्म, उपायद्वारा ब्रह्मको प्राप्त करनेवाले जीव, ब्रह्मप्राप्तिके

उपाय, ब्रह्मप्राप्तिसे जीवको क्या फल मिलेगा और ब्रह्मप्राप्तिमें बाधा डालनेवाले विरोधीके स्वरूपों' अर्थात् इन्हीं पांच अर्थोंको कहते हैं। यथा, 'प्राप्यस्य ब्रह्मणोरूपं प्राप्तुश्च प्रत्यगात्मनः। प्राप्त्युपायं फलंचैव तथा प्राप्तिविरोधिच ॥ वदन्तिसकलावेदासेतिहासपुराणकाः। मुनयश्च महात्मानो वेदवेदाङ्गवेदिनः ॥' (महर्षि हारीतजी)। इतिहास पुराणादिमें अनेक कथाएँ कहकर उपर्युक्त पाँचों बातें ही समझाई गई हैं और प्रस्थानत्रयीमें तो केवल इन्हीं पाँचा अर्थोंका ही विवरण है अन्य नहीं, परन्तु क्रमशः। महाभारत स्वर्गारोहणपर्वमेंभी कहा है कि, 'वेदे रामायणे चैव पुराणे भारते तथा। आदौ मध्ये तथा चान्ते हरिः सर्वत्र गीयते।' इसकाभी तात्पर्य यह है कि समस्त सच्छास्त्रोंमें उपक्रम, अभ्यास और उपसहार (आदि, मध्य और अन्तमें) श्रीहरिकोही कहीं उपायरूपसे और कहीं उपेयरूपसे कहा गया है; न कि यह कि उनमें अवतार विशेषका चरित्रही चित्रण किया है।

नोट—७ अन्वय और अर्थ १ के अनुसार 'यद्रामायणे' से कौन रामायण अभिप्रेत है, हमें इसपर विचार करना है। इस श्लोकमें प्रायः पण्डितोंसे यह अर्थ कहते सुना है कि 'यद्रामायणे' से श्रीमद्गोस्वामीजी इस (अपने) रामायणको सूचित करते और कहते हैं कि हमने इसमें नाना पुराण वेद शास्त्र का सम्मत कहा है। पर यदि रामचरितमानसमेंके गोस्वामीजीके इस विषयके वचनपर ध्यान दिया जावे तो यह स्पष्ट देख पड़ेगा कि गोस्वामीजी स्वयं वेदपुराणशास्त्रसे चुनकर कोई नवीन रामचरितमानस नहीं कह रहे हैं; बल्कि जो रामचरितमानस श्रीशिवजीने श्रीपार्वतीजीसे वर्णन किया था और जो उनके गुरुमहाराजको आशिवर्जीसे प्राप्त हुआ, वही रामचरितमानस अपने गुरुमहाराजसे सुना हुआ वे अब भाषाबद्ध करते हैं। यथा, 'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा ॥....मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकरखेत।....१.३०।....तदपि कही गुर बारहि बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा ॥ भाषाबद्ध करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई।१. ३१।', 'रामचरितमानस मुनिभावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन ॥...रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा ॥...करौं कथा सोइ सुखद सुहाई। १. ३५।' जिसमें अनेकों पुराणों, वेदशास्त्रों, का निचाड़ भी आगया है। उसीको वे (कवि) रामायण (यद्रामायणे) कहते हैं। श्रीपार्वतीजीकी प्रार्थना शिवजीसे है कि 'बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि' (१. १०९)। ग्रंथके अंतमें कवि कहता है, 'यत्पूर्वं प्रभुणाकृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यैतु रामायणम्। मत्वा तद्रघुनाथनाम निरतं स्वान्तस्तमः शान्तये। भाषा बद्धमिदं चकार तुलसीदासस्तथा मानसम्' ॥ (७०)। अर्थात् जो श्रीरघुनाथजीके नामसे युक्त रामायण पहिले श्रेष्ठ कवि स्वामी श्रीशिवजीने दुर्गम रची थी उस मानसको अपने अन्तःकरणके अन्धकारको दूर करनेके लिये भाषाबद्ध किया।

उपर्युक्त उपक्रम, अभ्यास और उपसंहारके उद्धरणोंसे स्पष्ट हो गया कि गोस्वामीजीका 'यद्रामायणे' से उसी उमामहेश्वरसम्वादमय रामचरितमानसका तात्पर्य्य है। तुलसीपत्र 'श्रीरामचरितमानसकी आविर्भावना' शीर्षक निम्न लेखभी हमारे मतका पोषक है।

"कोईभी आप्त पुरुष अपने एक प्रवाहमें दो प्रकारकी बातें नहीं कहेगा, फिर भला गोस्वामीजी कैसे कहेंगे? यदि उन्होंने इसको अन्य ग्रन्थोंसे संग्रह किया है तो इन बातोंको उसी मानसमें उन्होंने क्यों स्थान दिया? पुनः कहा है कि 'जेहि यह कथा सुनी नहिं होई। जनि आचरज करइ सुनि सोई ॥ कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी।' इत्यादि। १. ३३। यह कथा 'अलौकिक' है। यदि प्राचीन विख्यात ग्रन्थोंके संग्रहका भण्डारही मानसका रूप है तो फिर यहाँ उसको 'अलौकिक' क्यों कहते? अस्तु। इसको अन्य शास्त्रोंका संग्रह कहना भूल है। इसको भगवान् शंकरजीने रचा है और श्रीतुलसीदासजीके द्वारा जगत्में इसका प्रचार हुआ है। जैसे गीताज्ञान प्रथमहीसे संसारमें प्रचलित था परन्तु उसका जीर्णोद्धार

स्वयम् भगवान्ने अर्जुनके प्रति किया और कल्पके आदिमें जैसे अंतरहित वेदों और शास्त्रोंको महर्षियोंने तपद्वारा ग्रहण किया था, ठीक उसी प्रकार भगवान्शङ्करजीकी कृपारूपा तपस्याद्वारा श्रीगोस्वामीजीने इसे अनुभव कर पाया, इसको उन्होंने यहाँ स्पष्ट कहा है। मानसकारकी प्रतिज्ञाओंसे निर्भ्रान्त सिद्ध है कि यह रामायण उन्होंने संग्रह द्वारा नहीं बनाई।

"जिस रामायणका गोस्वामीजी उल्लेख करते हैं वह अवश्यही उमामहेश्वरसम्वादात्मक होगी। ऐसी कुछ अंशोंमें अध्यात्मरामायण है। पर इसमें स्पष्टही सिद्धांतविरोध है। महारामायणके बारेमें भी सुननेमें आता है कि वहभी बहुत कुछ वैसीही है। पर वह सर्वथा उपलब्ध नहीं है। अतः निश्चयरूपसे कुछ नहीं कहा जासकता। हमारी टूटी-फूटी समझमें तो यह मानसचरित हृदयमें (सीना ब सीना) चलाआया, लेखबद्ध कभी नहीं हुआ था और न सबको मालूम था। इस रूपमें इसका प्रथम आविर्भाव श्रीगोस्वामीजीद्वारा इस जगत्में हुआ, जैसे मनुशतरूपाद्वारा श्रीसाकेतविहारी परात्परतर प्रभु श्रीसीतारामजीका आविर्भाव हुआ था।" (तु० प०)।

सारांश यह कि गोस्वामीजी शङ्कररचित मानसरामायणही लिखनेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं जिसमें पुराणों और श्रुतियोंका सारसिद्धांत है, इसके अतिरिक्त संतोंसे सुना हुआ एवं निजानुभव किया हुआभी कुछ कहेंगे, वहभी नानापुराणनिगमागमसंमतही है। बालकांडके प्रथम ४३ दोहे 'शङ्कररचितमानस' के बाहरके हैं। स्वान्तः सुखाय लिखा और उन्हें सुख हुआभी, यह बात ग्रंथकी समाप्तिमें स्वयं उन्होंने कही है। 'पायो परम विश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ।' मा. मा. कार यह प्रश्न उठाकर कि "नाना पुराणादि, रामायणादि तथा रहस्यादिके अवलोकनसे उनको सुख नहीं हुआ ? क्या भाषाकाव्य रचनेसेही सुख होगा ?" उसका उत्तर देते हैं कि कलिग्रसित लोगोंको परम दुःखी देखकर उन्हें महादुःख है, उस दुःखके निवारणार्थ शङ्करजीने उन्हें भाषाकाव्य रचनेकी आज्ञा दी 'जिससे सबका कल्याण होगा'। यथा, 'जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी।' लोगोंका कल्याण होनेसे कविके अंतःकरणमेंभी सुख होगा।

८ 'क्वचिदन्यतोऽपि' इति। जब रामचरितमानसमें नानापुराणनिगमागमसम्मत सब आगये तब फिर और रहही क्या गया जो 'क्वचिदन्यतः अपि' से सूचित करते हैं ? उत्तर—(क) अन्वय और अर्थ (१) के अनुसार। 'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना। ३. ३९।' 'औरो एक कहौं निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी।' (१. १९६), श्रीकाकभुशुण्डिगरुड़संवाद कैसे हुआ ? भुशुंडीजीने काकतन क्यों पाया ? इत्यादि श्रीपार्वतीजीके प्रश्न और उत्तर एवं भुशुंडी-गरुड़-संवाद इत्यादि जो श्रीरामचरितमानसकी समाप्तिपर उत्तरकांडमें दोहा ५३ (८) 'तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई। कागभुशुंडि गरुड़ प्रति गाई।' से प्रारंभ होते हैं, इत्यादि, श्रीशिवरचितमानसमें 'क्वचिदन्यतोऽपि' हैं। (ख) अन्वय और अर्थ २, ३, ५ के अनुसार यह शब्द गोस्वामीजी अपने लिये कहते हैं। इसके अनुसार बालकांडके आदिके ४३ दोहेतक जो अपनी दीनता, चार संवादोंका सन्निधान, अपना मत, (यथा, 'मोरें मत बड़ नाम दुहूँ तें') आदि कहे हैं, वह उनका निजका है। फिर 'सतीमोह और तनत्याग', 'श्रीपार्वती तथा श्रीशिवचरित' यह शिवपुराण, कुमारसंभव, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण आदिसे लिया है। बीच-बीचमें चरित्रोंपर जो याज्ञवल्क्यजी अथवा ग्रंथकारने स्वयं टीका टिप्पणी की है, जैसे कि, 'भरद्वाज कौतुक सुनहु हरि इच्छा बलवान। १. १२७।', 'जल पय सरिस बिकाइ देखहु प्रीति कि रीति भलि। बिलगु होइ रसु जाइ कपटु खटाई परत पुनि। १. ५७।', 'को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई। २. २४।' और इसीतरह श्रीभुशुण्डिजीके टिप्पण जो बीच-बीचमें हैं वे। यथा, 'मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ विष सुनु हरिजाना। ३. २।', 'गरुड़ सुमेरु रेनु

सम गाही।....' (५. ५) इत्यादि। पुनः, अपने मनके उपदेशके मिष लोकको जो ठौर-ठौर शिक्षा दी गई है। इत्यादि, सब बातें जो उमाशंभुसंवादके बाहरकी हैं, 'क्वचिदन्यतोऽपि' में आ सकती हैं। बड़े-बड़े जो अनेक रूपक, लोकोक्तियाँ, उपमाएँ, उत्प्रेक्षाएँ, आदि हैं वहभी कविके ही हो सकते हैं। (ग) पं. रामकुमारजीका मत है कि उपपुराण, वेदके छः अंग, नाटक (श्रीहनुमन्नाटक, प्रसन्नराघव), रघुवंश, कुमारसंभव, उत्तररामचरित, इतिहास, संहिताएँ, पंचरात्र आदि जितने छोटे बड़े ग्रन्थ हैं, वे सब 'क्वचिदन्यतोऽपि' में समा जाते हैं। पंजाबीजी कहते हैं कि वेद, पुराण और रुद्रयामल, ब्रह्मयामलादि तंत्रमें सब कुछ है, अतः श्लोकका आशय यह है कि नानापुराण निगमागमसंमत जो रामायण वाल्मीकिजीने बनाया है उसमें उन निगमागमोंके बहुतेरे आशय वाल्मीकिजीने नहीं लिखे और वह प्रसंग मेरे मनको अच्छे लगे वह जो मैंने दिये हैं वह 'क्वचिदन्यतोऽपि' है। जैसे कि 'भानुप्रताप' वाला प्रसंग। पाँड़ेजीका मत है कि 'निज अनुभव' ही 'क्वचिदन्यतः' है। यथा, 'प्रौढ सुजन जन जानहिं जनकी। कहहुँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥' 'आरति विनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न खोरी॥' (१. २३, १. ४३)। वे. भू. पं. रा. कु. दासजीका मत है कि गोस्वामीजीने अर्थपंचकका ज्ञान कहीं सूक्ष्मरूपसे और कहीं विस्तारसे जो दिया है वह 'क्वचिदन्यतोऽपि' है। तापसप्रसंग भी उसीमें आता है।

९ 'स्वान्तः सुखाय....' इति। यहाँ 'स्वान्तः सुखाय' कहा और ग्रन्थके अंत (उपसंहार) में 'स्वान्तस्तमः शान्तये' कहा है। दोनों बातें एकही हैं; क्योंकि जब अन्तःकरणका मोहरूपी तम दूर होता है तभी 'शान्ति' या 'सुख' मिलता है। 'स्वान्तःसुखाय' की कामना जो आदिमें की गई, उसकी सिद्धि अन्तमें दिखाई है; यथा, 'जाकी कृपा लवलेस ते मतिमंद तुलसीदासहू। पायो परम बिश्रामु राम समान प्रभु नाहीं कहूँ। ७. १३० ।'

१० 'तुलसी' इति। ग्रंथकारने अपना नाम यहाँ लिखा है। पर स्मृतिमें अपना, अपने गुरुका, कृपणका, जेठे पुत्र और धर्मपत्नी का नाम लेना निषेध है। यथा, 'आत्मनाम गुरोर्नाम नामातिकृपणस्यच। श्रेयस्कामो न गृह्णीयात् ज्येष्ठापत्य कलत्रयोः।' यह शङ्का उठाकर बाबा स्वरूपदासजीने यह समाधान लिखा है कि जन्मसे बारहवें दिन जो नाम पिता पुत्रका रखता है, उस नामके लेनेका निषेध है, अन्य नामोंका नहीं। 'तुलसीदास' नाम पिताका रक्खा नहीं किंतु गुरुदत्तनाम है, अतः यह नाम लेना दोष नहीं है। इसी दोषके निवारणार्थं महाभाष्यकार पतंजलिने अपना यह नाम छोड़ दूसरा यौगिकनाम 'गोनर्दीय' लिखा है। अथवा, कूपखानकन्यायसे समाधान करलें। जैसे कुआँ खोदनेमें अनेक जीवोंकी हिंसा होती है और खोदनेवालेके शरीरमें कीचड़ लग जाती है, वह सब दोष उसीके जलसे मिट जाते हैं। जब अनेक जीव उसके जलको पीकर सुख पायेंगे उस पुण्यसे उसके हिंसाके पाप मिट जाते हैं और कीचड़ तो तुरत उसी जलसे धुल जाता है। इसी तरह यदि नाम लेनेसे पाप हुआ तो वह रामचरितके पठनपाठनसे जो पुण्य होता है उससे मिट गया। अथवा, नामोच्चारण करनेका निषेध है, लिखनेका नहीं। इसीसे अनेक ग्रन्थकार अपना नाम लिखते हैं। इससे दोष नहीं। (शंकावली)।

११ ☞ प्रथम दो संस्करणोंमें हमने 'रघुनाथगाथा' और 'भाषानिबंधं' को दो पद मानकर 'तत् रघुनाथगाथा स्वान्तः सुखाय तुलसीदासः भाषानिबंधं आतनोति' ऐसाभी अन्वय और उसके अनुकूल 'उस रघुनाथजीकी कथाको तुलसीदासजी अपने अंतःकरणके सुखके लिये भाषारचनामें विस्तार करते हैं' ऐसा अर्थ किया था। परन्तु विचार करनेपर यह ज्ञात हुआ कि यह एक सामासिक पद है। अतः इसके बीचमें दूसरा अन्य शब्द आना उचित नहीं है, अतएव अन्वय 'रघुनाथगाथाभाषानिबंधं'...किया गया। यद्यपि भावार्थ दोनोंका एकही है पर व्याकरणानुसार अन्वय और अर्थमें त्रुटि देख पड़ती है।

१२ 'अतिमंजुलमातनोति' इति। 'अतिमंजुलं' 'रघुनाथगाथाभाषानिबंधं' का विशेषण हो सकता है और 'आतनोति' का क्रियाविशेषणभी हो सकता है। भाषाकाव्यको 'अतिमंजुल' कहा, क्योंकि एक तो श्रीहनुमान्जी की प्रेरणासे लिखा गया, उनकी कृपासे निबन्ध रचा गया। यथा, 'जस कछु बुधि बिबेक बल मोरें। तस कहिहौं हिय हरिके प्रेरें। १. ३१।'; उसपर श्रीशिवकृपासे ऐसा बना। यथा, 'भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती। ससिसमाज मिलि मनहु सुराती। १. १५।', 'संभुप्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी। १. ३६।' श्रीजानकीजीकी कृपासे निर्मल मति मिली। इत्यादि कारणोंसे यह निबंध 'अति सुन्दर' हुआ। मानसरूपक, चार सुन्दर संवादरूपी घाटों तथा भाषाके षडङ्गोंसे परिपूर्ण होनेके सम्बन्धसे 'अतिमंजुल' है। प्रारम्भमें कहा है, 'सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि। तेइ एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि। १. ३६।' और अंतमें कहा है कि 'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। ७. १२९।' एवं 'सतपंच चौपाई मनोहर' (७. १३०)। इस तरह सारा ग्रंथ आदिसे अंततक मनोहर है। यदि 'आतनोति' का क्रियाविशेषण मानें तोभी हो सकता है। यथा, 'करइ मनोहर मति अनुहारी। १. ३६।' काष्ठजिह्वस्वामीजी लिखते हैं कि इसमें देश देशान्तरोंकी सुन्दर सुन्दर भाषा चुनचुनके बहुत सुन्दर बनाया है। इसमें मिथिला, व्रज, भोजपुरी, अवधी, फ़ारसी, अर्बी, बुन्देलखण्डी, उदयपुरी, सरयूपारी आदि प्रान्तोंकी भाषायें आई हैं। जैसे कि 'नेब' मिथिलाकी, 'धुआँ देखि' बुन्देलखण्डकी, 'राउर' (महल) उदयपुर की, 'रउरा' सरयूपारी की, 'रौरे' बनारसी, 'म्हाँको' जयपुरी, 'थाको, थकि, थके' बँगलाकी, इत्यादि।

१३ 'भाषानिबंधं' इति। श्रीमद्गोस्वामीजी श्रीशिवरचित मानसरामायणको भाषामें करनेको कहते हैं तो फिर उन्होंने मंगलाचरण यहाँ और प्रत्येक सोपानके आदिमें संस्कृतमें क्यों किया? यह शंका उठाकर उसका समाधान लोगोंने यों किया है कि—(१) संस्कृत देववाणी है इसलिये माङ्गलिक और परम पवित्र है। अतः मंगलाचरणके लिये उसको उपयुक्त समझा और उसका सम्मान किया। पुनः, (२) संभव था कि लोग संदेह करते कि वेदपुराणका सम्मत इसमें होना लिखते हैं, पर वे संस्कृत तो जानतेही न थे, वेद पुराणका सम्मत वे क्या जानें? यदि संस्कृत जानते होते तो उसी भाषामें रचना करते, इस सन्देहके निवारणार्थ। (३) दोनों भाषाओंमेंसे जनताको अधिक स्वाद किसमें मिलता है, यह दोनोंके एकत्र होनेही पर जाना जा सकेगा इस विचारसे संस्कृतमें मङ्गल किया। अथवा, (४) देववाणी प्रभावोत्पादक होती है अतएव ग्रन्थारंभमें रचना का यह नियम सदासे प्रचलित है कि व्याख्यानदाता, कथावाचक जनताके कल्याणार्थ भाषाहीमें उपदेश करते हैं परन्तु उपदेशके पूर्व देववाणीमें भगवान्, गुरु तथा देवताओंके दो चार मङ्गलाचरण कर लेते हैं। (मा.मा.)

वेणीमाधवजीकृत मूलगुसाईं चरितसे स्पष्ट है कि काशीमें प्रह्लादघाटपर उन्होंने संस्कृतमें मानस का वर्णन प्रारंभ किया। परन्तु दिनमें जो वह रचते रातमें वह लुप्त हो जाता था। सात दिन यह लोपक्रिया जारी रही। पूज्यकवि बड़े चिन्तित रहते थे कि क्या करें। आठवा रातको स्वप्नमें शिवजीने आज्ञा दी कि अपनी मातृभाषामें काव्यकी रचना करो। और फिर जागनेपर शक्ति सहित प्रकट भी हुए और 'शिव भाषेउ भाषामें काव्य रचो। सुरबानि के पीछे न तात पचो॥ सबकर हित होइ सोई करिये। अरु पूर्व प्रथा मत आचरिये। तुम जाइ अवधपुर वास करो। तहँई निज काव्य प्रकाश करो॥ मम पुण्य प्रसाद सों काव्यकला। होइहै सम साम ऋचा सफला॥ सो०—कहि अस संभु भवानि अन्तर्धान भये तुरत। आपन भाग्य बखानि चले गोसाईं अवधपुर॥ १०॥

इस विषयपर तुलसीपत्रमें यह आख्यायिका निकली थी कि गोस्वामीजीने चैत्र शु० ७ रविवारको ६ श्लोक रचे और सिरहाने रखकर सो गए। एक वृद्ध ब्राह्मण उसे आकर ले गया। इससे दुःखी हो आप अनशन व्रत करने लगे। अष्टमीकी रातको उसी वृद्ध ब्राह्मणरूपधारी भगवान् शिवने आकर इनसे कहा कि 'यदि तुम संस्कृतमेंही फिर रामायण बनाओगे तो कोई उपकार न होगा। क्योंकि इस समय यवनोंके अत्या-

चारसे संस्कृत अप्रचलित हो ग. है। अतः संस्कृतमें 'रामायण की' रचना भूख मकटका मोती देनेके समान है। तुम उसी मानस रामायणको भाषावद्ध करो जिसका प्रचार करनेके लिये संसारमें तुम्हारा अवतार हुआ है'। श्रीमद्गोस्वामीजी इसपर बोले कि 'प्रथम तो उस शिवमानसविहारी मानसके प्रबन्धका मुझे क्योंकर अनुभव होगा ? दूसरे भाषामें होनेसे पंडित लोग उसका आदर न करेंगे।

भगवान् (शिव) बोले 'हे रामानन्यवर ! तुम्हारे उस भाषानिबन्धकी महिमा किसी अलौकिक ग्रन्थसे कम न होगी, किंतु उसका प्रचार दिन दूना रात चौगुना बढ़ेगा। रहा मानसकी कथाको विशेषरूपसे जानना, सो उसका अनुभव मैं तुम्हें स्वयं करा दूँगा'। गोस्वामीजीने पूछा, 'आप कौन हैं और वह मानस आपको कैसे मिला ?' इसपर शिवजीने अपना परिचय दिया और साक्षात् होकर श्रीगोस्वामीजीकी पाद्यार्ध्य पूजा ग्रहण कर उनका आश्वासन दे अंतर्धान हो गये। इस आख्यायिका का प्रमाण बा. १५ में मिलता है। यथा, 'सपनेहु साँचेहु मोहि पर जौं हरगौरि पसाउ। तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ ॥' नवमीके प्रातःकाल फिर श्रीहनुमान्जी का स्मरण कर उन्होंने उनसे उसी दिन मानसके रचनेकी सम्मति ली। आज्ञा पाकर उसी दिन कर्क लग्नमें मानसका आरंभ कर अपने पूर्व रचित श्लोकोंमें नीचे इस (सातवें) श्लोककी रचनाकर भाषा अनुबन्ध करने लगे। (तुलसीपत्र १९७२)। बाबा श्रीजानकीदासजीकृत मानसपरिचारिकामें लगभग यही आख्यायिका है। अन्तर इतना मात्र है कि आप महात्माओंसे ऐसा सुनना कहते हैं कि श्रीगोस्वामीजीने प्रथम श्रीअयोध्याजीमें मानसरामायण जैसा गुरुमहाराजसे सुना था संस्कृतमें लिखा, फिर आपको यह करुणा हुई कि संस्कृत सबको हितकर न होगी, भाषामें हो तो सबका हित होगा। ऐसा विचार कर काशीमें शिवजीकी संमति लेने गए। शिवजी दण्डीका रूप धारण कर वह संस्कृत रामायण माँग ले गए। फिर न लौटाया। अनशन व्रत करनेपर अपना परिचय देकर शिवजीने भाषामें करनेकी आज्ञा दी।

१४ ग्रन्थके आदिमें सात श्लोक देनेके अनेक भाव कहे जाते हैं। एक तो यही कि सात श्लोकही लिखे थे जब शिवजीने उनको लुप्त कर दिया था। इसीसे उतने श्लोक ज्योंकी त्यों बने रहे। आगे भाषामें मंगलाचरण प्रारम्भ किया गया। दूसरे, इन श्लोकोंमें सूक्ष्मरीतिसे इस ग्रन्थका विषय और प्रयोजन आदि बताया है। तीसरे, सात संख्यासे सूचित किया कि इस ग्रंथमें सप्त सोपान (वा काण्ड) हैं। यथा, 'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। ७. १२९।' प्रत्येक सोपानके लिये क्रमसे एक एक मङ्गलाचरणका श्लोक आदिमेंभी दे दिया है। चौथे, सातकी संख्या विषम अतएव मांगलिक है और सृष्टिमें अधिक प्रचलित है। जैसे कि दिन सात हैं, प्रधान सागरभी सात हैं। इसी तरह सप्त द्वीप, सप्त ऋषि, इत्यादि हैं। पाँचवें रामायणी श्रीरामबालकदासजी लिखते हैं कि (क) सात श्लोक देकर जनाया कि कलिके कुटिल जीवोंको पार करनेके लिये हम इसमें सप्तसोपानरूपी सप्त जहाज बनावेंगे। यथा, 'सुठि सप्त जहाज तयार भयो। भवसागर पार उतारन को।' (मूलगुसाईं चरित । मानससरमें सात सीढ़ियाँ हैं। यथा, 'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना। ज्ञाननयन निरखत मन माना। १. ३७।' (ख) दिन सात हैं अतः सात श्लोक देकर जनाया कि सातों दिन अर्थात् निरंतर इस ग्रन्थका पठन पाठन वा श्रवण करना चाहिए। यथा, 'तजि आस सकल भरोस गावहि सुनहि संतत सठ मना'। (५. ६०)। ऐसा करनेसे श्रीरामभक्ति प्राप्त होगी। यथा, 'मुनि दुर्लभ हरिभगति नर पावहिं बिनहिं प्रयास। जे यह कथा निरंतर सुनहिं मानि बिस्वास। ७. १२९।' (ग) मोक्षदायक पुरियाभी सातही हैं अतः सात श्लोक देकर जनाया कि ये सातों कांड जीवोंको मुक्ति देनेके लिये सप्तपुरियोंके समान हैं। इसका श्रवण, मनन, निदिध्यासनही पुरीका निवास है। 'रघुपतिभगति केर पंथाना। ७. १२९।'

१५ यह श्लोक 'वसन्ततिलकावृत्त' छन्दमें है। इस वृत्तके चारों चरण चौदह चौदह अक्षरके होते हैं। इसके प्रत्येक चरणका स्वरूप यह है। तगण (अंतलघु), भगण (आदिगुरु), जगण (मध्यगुरु), जगण

अंतके दोनों वर्ण गुरु। श्रुतबोधमें इसके लक्षण इस प्रकार कहे गए हैं। 'आद्यं द्वितीयमपि चेद्गुरु तच्चतुर्थं। यत्राष्टमंच दशमान्त्यमुपान्त्यमन्त्यम् ।। कामांकुशांकुशित कामिमतङ्गजेन्द्रे। कान्ते वसन्ततिलकां किलतां वदन्ति।' अर्थात् पहला, दूसरा, चौथा, आठवाँ, दशवाँ और अन्तके दोनों वर्ण गुरु होते हैं। श्रीरामचरितमानसमें यह वृत्त दोही कांडोंमें और वहभी एकही एक आया है। एक यहाँ और दूसरा सुन्दरकांड में।

ग्रंथ-अनुबंध-चतुष्टय

मङ्गल, प्रतिज्ञा और अनुबंध चतुष्टय इन तीनोंका प्रत्येक ग्रंथके आरम्भमें होना आवश्यक है। मङ्गलके सम्बन्धमें प्रथम श्लोकमें पूरा विषय लिखा जा चुका है। ग्रन्थकार रचनेकी जो प्रतिज्ञा करता है जिसमें साथही साथ भरसक अपना और ग्रंथका नामभी देता हैं, उसीको हमने 'प्रतिज्ञा' नाम दिया है। 'अनुबन्ध' का अर्थ होता है 'अनु बध्नाति (लोकान्)' अर्थात् जो लोगों (श्रोताओं) को बाँध लेता है। तात्पर्य कि जिसको जाननेपर ग्रन्थमें श्रोताओंको रुचि (प्रवृत्ति) होती है। अनुबंध चार हैं। विषय, प्रयोजन, संबंध और अधिकारी। विषय अर्थात् ग्रन्थमें जिसका प्रतिपादन किया गया है। प्रयोजन दो प्रकारका होता है, एक तो ग्रन्थका, दूसरा विषयका। ग्रन्थका प्रयोजन विषयप्रतिपादन करना है और विषयसे क्या लाभ होगा ?' यह विषयका प्रयोजन है। सम्बन्ध तीन प्रकारका है। प्रयोजन और ग्रन्थका, विषय और ग्रन्थका, और प्रयोजन और विषयका। ग्रन्थ और प्रयोजनका संबंध यह है कि ग्रन्थ प्रतिपादक है और प्रतिपादन प्रयोजन है। ग्रंथ और विषयका संबंध यह है कि ग्रन्थ प्रतिपादक है और विषय प्रतिपाद्य है। प्रयोजन और विषयका संबंध यह है कि प्रयोजन साध्य है और विषय साधक है। विषय, प्रयोजन और ग्रन्थको चाहनेवाला, ग्रन्थके अध्ययनके अनुकूल बुद्धि आदि आवश्यक गुणोंसे युक्त तथा शास्त्रद्वारा अनिषिद्धको 'अधिकारी' कहा जा सकता है।

इनमेंसे प्रतिज्ञा तो ग्रंथकारही स्पष्ट शब्दोंसे ग्रंथारंभमें प्रायः कर दिया करता है। परन्तु अनुबंधचतुष्टय केवल सूचितमात्र करनेकी प्रणाली चली आई है, जिसको टीकाकार अथवा अध्यापक प्रकट करते हैं। इनके विषयमें कोई आर्षप्रमाण बहुत खोज करनेपर भी नहीं मिला। केवल प्रयोजन और संबंधके विषयमें कुमारिल-भट्टकृत "अथातो धर्म जिज्ञासा" के शाबरभाष्यपर 'श्लोक वार्तिक' में कुछ उल्लेख मिलता है। यथा, 'सर्वस्यैव हि शास्त्रस्य कर्मणो वापि कस्यचित्। यावत्प्रयोजनं नोक्तं तावत्तत्केन गृह्यते ॥ १२। सिद्धिःश्रोतृ प्रवृत्तीनां संबंधकथनाद्यतः। तस्मात्सर्वेषु शास्त्रेषु संबंधः पूर्वमुच्यते ॥१९।' अर्थात् 'जबतक किसी शास्त्र अथवा कर्मका प्रयोजन नहीं कहा जाता तबतक उसको कौन ग्रहण करेगा ? । १२। श्रोताओंके प्रवृत्तिकी सिद्धि प्रायः संबंध कथनसे होती है। अतः सब शास्त्रोंमें प्रथम 'संबंध' कहा जाता है। १९।

शेष बातोंका प्रमाण न मिलने पर भी उनका फल प्रसिद्ध होनेसे ग्रन्थकर्ता इन सबोंका उल्लेख करते आए हैं। जिससे ग्रन्थके आरम्भमेंही ग्रन्थका सामान्य परिचय हो जाता है और मनुष्य उसके अध्ययनमें प्रवृत्त हो जाता है।

इन्हीं बातोंको लक्ष्य करके पंडित लोग कहा करते हैं, 'अधिकारी च विषयः सम्बन्धश्च प्रयोजनम्। ग्रन्थादावश्य कर्त्तव्या कर्त्राश्रोतृप्रवृत्तये ॥' प्रायः ग्रन्थारंभके मङ्गलाचरणके साथही उपर्युक्त बातोंका उल्लेख किया जाता है। यथा, 'संबंधाश्चाधिकारी च विषयश्च प्रयोजनम्। विनानुबंधं ग्रन्थादौ मङ्गलं नैव शस्यते।'

श्रीरामचरितमानस के प्रारम्भिक छः श्लोक वन्दनात्मक मङ्गलाचरण हैं। अब इस अन्तिम श्लोकमें प्रतिज्ञा करते हैं और साथही साथ अनुबन्धचतुष्टयभी सूचित करते हैं।

(१) 'रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमातनोति' यह प्रतिज्ञा है। ग्रन्थकर्त्ताका नाम 'तुलसी' तो स्पष्टही है। 'यद्रामायणे निगदितं' से सामान्यतः ग्रन्थका नाम 'रामायण' है, यह सूचित किया। ठीक-ठीक नाम आगे भाषाकी चौपाइयोंमें कहेंगे। यथा, 'रामचरितमानस एहि नामा। १.३५.७।' (२) 'रघुनाथगाथा' विषय है।

यथा, 'बरनौं रामचरित भव मोचन । १.२ ।', 'करन चहौं रघुपति गुनगाहा । लघु मति मोरि चरित अवगाहा । १.८ ।', 'तेहि बल मैं रघुपति गुन गाथा । कहिहउँ नाइ रामपद माथा । १.१३ ।', इत्यादि । (३) श्रीरामचरितका प्रतिपादन करना यह 'ग्रन्थका प्रयोजन' है । और 'स्वान्तःसुखाय' यह श्रीरघुनाथगाथारूपी 'विषयका प्रयोजन' है । ग्रन्थमें अंततक जो-जो इस ग्रन्थकी फलश्रुतियाँ कही गई हैं वे सब साक्षात् विषयके और परम्परासे ग्रन्थके प्रयोजन हैं । यथा, 'जे एहि कथहिं सनेह समेता । कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता ॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी । कलिमल रहित सुमंगल भागी । १.१५।१०-११ ।', 'सुनत नसाहिं काममदद‌ंभा ।.... सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा ॥ १.३५ । ६-७ ।', 'रामकथा गिरिजा मैं बरनी । कलिमल समनि मनोमल हरनी ।।' से 'ते गोपद इव भवनिधि तरहीं । ७.१२६ ।' इत्यादि । ये सब इस श्लोकमें सूक्ष्म रूपसे 'स्वान्तःसुखाय' पदसे सूचित कर दिये गए हैं । (४) प्रतिपादक प्रतिपाद्य, साधक साध्य इत्यादि उपर्युक्त व्याख्यामें कथित सम्बन्ध 'सम्बन्ध' है । (५) भाषामें और विशेषकर श्रीराम-चरितमानसकी श्रीरघुनाथगाथा तथा स्वान्तः सुखका चाहनेवाला 'अधिकारी' है । ऐसे अधिकारियोंके लक्षण विस्तारसे ग्रन्थमें प्रथम और सप्त सोपान (बाल और उत्तर कांडों) में आए हैं । यथा, 'सदा सुनहिं सादर नर नारी । ते सुर बर मानस अधिकारी । १.३८ ।', 'रामकथा के ते अधिकारी ।' से 'जाहि प्रान प्रिय श्रीरघुराई ।७.१२८।' तक । इत्यादि सब इस श्लोकमें 'स्वान्तःसुखाय', 'रघुनाथगाथाभाषानिबन्धमातनोति' इन शब्दोंसे सूक्ष्म रीतिसे जनाया है । ऊपर अधिकारीके लक्षणोंमें 'शास्त्रसे अनिषिद्ध' भी एक लक्षण बताया गया है । मानसके सप्त सोपानके दोहा १२८ में 'यह न कहिअ सठही हठसीलहि ।...' इत्यादि लक्षण जो अनधिकारीके बताये गये हैं उनसे रहित होना 'शास्त्रसे अनिषिद्ध' से अभिप्रेत है ।

भाषा मङ्गलाचरण सोरठाः

जो सुमिरत सिधि होइ गननायक करि-बर-बदन ।
करो अनुग्रह सोइ बुद्धिरासि सुभ-गुन-सदन ॥१॥

शब्दार्थ—जो=जिसे, जिसको । यथा, 'जो सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी तुलसीदासु । १.२६ ।', 'जो बिलोकि अनुचित कहेउँ छमहु महा मुनिधीर । १.२७३ ।', 'सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान । १.१४ ।', 'जो अवलोकत लोकपति लोकसंपदा थोरि । १.३२३ ।', 'जो अवलोकि मोर मनु छोभा । २.१४ ।' इत्यादि । सुमिरत=स्मरण-मात्रसे, स्मरण करतेही । सिधि = सिद्धि, कामनाकी पूर्ति वा प्राप्ति । गननायक=गणोंके स्वामी, गणेशजी । करि=हाथी । बर=श्रेष्ठ, सुन्दर । बदन (वदन)=मुख । बुद्धिरासि = बुद्धिके भण्डार । राशि = ढेर, भण्डार । बुद्धि=अन्तःकरणकी चार वृत्तियोंमेंसे दूसरी वृत्ति । वाल्मीकीयमें अङ्गदजीके विषयमें कहा गया है कि उनमें बुद्धिके आठो अङ्ग हैं । यथा, 'बुद्ध्या ह्यष्टाङ्गयायुक्तं चतुर्बलसमन्वितम् । चतुर्दशगुणं मेने हनुमान् वालिनः सुतम् ॥ ३.५४.२ ।' वे आठ अंग ये हैं । शुश्रूषा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहापोह, अर्थ, विज्ञान और तत्त्वज्ञान । सुभगुनसदन=कल्याणकारी गुणोंके घर। गुण चौदह हैं ।'चतुर्दश गुणं'—देशकालका ज्ञान, दृढ़ता कष्टसहिष्णुता, सब विज्ञानता, दक्षता, उत्साह, मन्त्रगुप्ति, एकवाक्यता, शूरता, भक्तिज्ञान, कृतज्ञता, शरणागतवत्सलता, अमर्षित्व, और अचापल । (चन्द्रशेखरशास्त्री वाल्मी॰ टीका) । भा. ४.३.१७ में 'विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्च कुल' ये छः गुण सत्पुरुषोंके कहे गए हैं । यथा, 'विद्या तपो वित्तवपुर्वयः कुलैः सतां गुणैःषड्भिरसत्तमेतरैः ।' बुद्धिकेभी दो रूप कहे गए हैं । एक वासनात्मिका, दूसरी व्यवसायिका । पहलीसे बाहरी वस्तुका ज्ञान होता है और दूसरीसे हम ज्ञान होनेके उपरान्त निर्णय करते हैं ।

अर्थ—जिनके स्मरणमात्रसे सिद्धि प्राप्त होती है, जो गणोंके स्वामी हैं (गणेश जिनका नाम है) और सुन्दर हाथीके समान श्रेष्ठ मुखवाले हैं, वे बुद्धिकी राशि और शुभगुणोंके धाम (मुझपर) कृपा करें । १ ।

नोट—१ इस सोरठेके अर्थ कई प्रकारसे लोगोंने किये हैं। कुछ यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

अर्थ—२ हे गणनायक ! हे करिवर बदन ! हे बुद्धिराशि ! हे शुभगुणसदन ! जिसे स्मरण करनेसे सिद्धि होती है वह मुझे कृपा कीजिये।

इसमें वस्तुका नाम नहीं दिया, क्योंकि गणेशजी इसे भली प्रकार जानते हैं। यथा, 'महिमा जासु जान गनराऊ। प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ । १.१९।', दूसरे, लोक वेदमें प्रसिद्ध है कि श्रीरामनामसेही काशीजीमें शंकरजी सबको मुक्ति देते हैं। तत्कालसिद्धि देनेवाला इसके समान दूसरा नहीं है। अतः ग्रन्थकारने इशारा मात्र कर दिया। गोस्वामीजी व्यंगसे रामनाम माँगते हैं।

अर्थ—३ गणनायक, गजसमान श्रेष्ठ मुखवाले गणेशजी, जिसके नामके स्मरण करनेसे सिद्ध होते हैं (अर्थात् प्रथम पूजे जाते हैं), वे सद्गुणसदन बुद्धिराशि (श्रीरघुनाथजी) मुझपर दया करें। (सु. द्विवेदीजी)।

"गोस्वामीजी श्रीरामजीके अनन्य भक्त हैं, इससे 'और होइ' शब्दसेभी यह आशय विदित होता है कि यह सोरठा गणेशजीके लिये नहीं है। यह तो श्रीरघुनाथजीसे प्रार्थना है कि मुझपर कृपा कीजिये। श्रीरामजी परब्रह्म हैं, जिसे सांख्य शास्त्रमें 'अव्यक्त' नामसे कहा है। यह अव्यक्तही बुद्धिका उत्पादक है। इसलिये 'बुद्धिराशि' कहा। 'बुद्धि' शब्दसे शक्तिसहित श्रीरामजीकी प्रार्थना की गई।" (सु. द्विवेदीजी)। इसमें आपत्ति यह पड़ती है कि 'सिधि' का अर्थ 'सिद्ध' कैसे होगा ? पर उन्होंने पाठ 'सिध होइ' रक्खा है, उसके अनुसार अर्थ ठीक है। हमको 'सिध' पाठ कहीं मिला नहीं। 'सिधि होइ' पाठसे ऐसा अर्थ कर सकेंगे कि 'गणनायक.... को (मनोरथकी) सिद्धि होती है वे....।'

अर्थ—४ जिन (श्रीरामजी) के स्मरणमात्रसे सिद्धि होती है, जो (श्रीब्रह्मादि) गणोंके स्वामी हैं, जिन्होंने श्रेष्ठ (अर्थात्) बड़ा मुख किया (कि जिसमें भुशुण्डीजीने प्रवेशकर अनन्त ब्रह्मांड देखे) वे बुद्धिराशि और शुभगुणसदन मुझपर अनुग्रह करें।

'करिवरवदन' का अर्थ 'जो प्राणियोंके मुखोंको उज्जवल करनेवाले अर्थात् प्राणियोंको यश देनेवाले' ऐसा विनायकी टीकाने किया है। शेष सब यही है।

नोट—२ वैजनाथजी लिखते हैं कि इस ग्रन्थमें विष्णु भगवान, क्षीराब्धिनिवासी भगवान् और श्रीसाकेतविहारीजीके अवतारोंकी कथायें हैं। इसीसे प्रथम सोरठेमें गुप्तरूपसे श्रीसाकेतविहारीजीका, दूसरेमें विष्णुका और तीसरेमें क्षीराब्धवासीजीका वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया गया।

भाषाका मङ्गलाचरण

मं. श्लोक ७में 'रघुनाथगाथाभाषानिबंध' रचनेकी जो प्रतिज्ञा की थी उसीके अनुसार अब भाषाके मङ्गलाचरणसे प्रारम्भ करते हैं। भाषाका सब मङ्गलाचरण सोरठामें क्यों किया ? यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर महानुभावोंने दिया है। यद्यपि कोईभी छन्द होता उसीमें ऐसा प्रश्न उठ सकता है, इसलिये शङ्काकी बात नहीं है, तथापि 'सोरठा' के प्रयोगके भाव ये हो सकते हैं—

(१) इस ग्रन्थकी दिनोदिन उन्नति हो, दिनोदिन इसका प्रचार बढ़ताही जाय और इसका पठनपाठन, वक्ता और श्रोता दोनोंके लिये कल्याणकारक हो, इस विचारसे सोरठामें मङ्गलाचरण किया गया। सोरठा छन्दके पहले और तीसरे चरणमें ११-११ मात्राएं होती हैं और दूसरे और चौथेमें १३-१३, अर्थात् सोरठेमें वृद्धिक्रम है। यह बात दोहा, चौपाई या छन्दमें नहीं पाई जाती। दोहेमें ह्रासक्रम है। उसमें पहले चरणमें १३ मात्राएँ हैं और दूसरेमें ११, अर्थात् उच्चपदसे नीचेको गिरना होता है। और चौपाई और छन्दमें समान चरण होते हैं। वृद्धिक्रम इसीमें मिला, अतः अपनी अभिलाषाकी पूर्त्ति विचारकर इसीसे मङ्गलाचरण प्रारम्भ किया।

(२) 'सोरठा' में इष्टदेव श्रीसीतारामजीके नामोंके प्रथम अक्षर मिले ।

(३) श्रीमहात्मा रामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि 'सोरठा छन्द मेघरागके अंतर्गत है, जो वर्षाऋतु श्रावण भादोंमें गाया जाता है और ग्रंथकारने आगे कहाभी है कि 'बरषारितु रघुपतिभगति तुलसी सालि सुदास। रामनाम वर बरन जुग सावन भादों मास', अतः मङ्गलमयीरामभक्तिपरिचायक 'सोरठा' का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त हुआ है।'

(४) कीनायोगीजीके मतानुयायी कहते हैं कि आचार्य्यने सोरठा छन्दका प्रयोग इस लिए किया है कि इसमें ११, १३ की विधि लगी है और उसके अनुसार तांत्रिकलोग सुगमतापूर्वक अपने लौकिक एवं पारलौकिक अनुष्ठानोंमें उसका प्रयोग कर सकते हैं।

(५) पं. रामकुमारजी कहते हैं कि सोरठा 'भोर' (प्रातःकाल) का सूचक है, कहने-सुनने वालोंकी अविद्या रात्रिका नाशक होकर यह ग्रन्थ उनमें विज्ञानरूपी सवेरेका उदय कराएगा ।

नोट—३ यहाँ शङ्का की जाती है कि "जकार" दग्धाक्षर है। इससे प्रारम्भ होनेसे मङ्गल कैसे हो सकता है? पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ दग्धाक्षर भूषणयुक्त है, अतः दोष नहीं। यहाँ मात्रा 'ज' का भूषण है। केवल 'ज' न चाहिए। ['मङ्गल सुरवाचक शब्द गुरु होवे पुनि आदि। दग्धाक्षर को दोष नहिं अरु गण दोषहु वादि ॥' छन्दप्रभाकरके इस प्रमाणानुसार दग्धाक्षरका दोष यहाँ नहीं लग सकता, क्योंकि एक तो यह मङ्गल है, दूसरे यहाँ आदि वर्ण गुरु है। छन्दप्रभाकरके अनुसार 'ज' दग्धाक्षर नहीं है।] फिर यहाँ मित्रगण पड़े हैं जो सिद्धिदाता हैं और इसमें सिद्धिदाताकीही वन्दना है। [ग्रन्थकारने प्रथम सर्वनाम 'जो' के प्रयोगसे प्रियदेवकी प्रसिद्धि सूचित की। सर्वनाम प्रसिद्धार्थमिति । (सू० प्र० मिश्रजी)]

नोट—४ 'जो सुमिरत' इति। मानसपीयूषके प्रथम संस्करणमें 'जेहि' और 'जो' दोनों पाठ दिये गए थे और उन पाठोंपर विचारभी किया गया था। वह विचार विशेषतः नागरीप्रचारिणी सभाके प्रथम संस्करणके आधारपर किया गया था। क्योंकि उसमें कोई पाठांतर इस स्थान पर नहीं दिया गया है और संपादक मानसपीयूषने प्रायः उसीका पाठ रखना उचित समझा था। अब कतिपय प्राचीन लिपियोंको स्वयं देखा है। इसीसे बालकांडकी प्रथम जिल्दके दूसरे संस्करणमें 'जो' पाठ रक्खा और वही इस तीसरे संस्करणमें रक्खा है। १६६१ वाली पोथीके प्रथम चार पत्रे (पन्ने) सं० १६६१ के लिखे नहीं हैं। वे पं० शिवलालपाठकजीकी पोथीसे उतारे गए हैं जिसमेंभी 'जो' पाठ है। आरेकी मठयामें एक पोथी दोसौ साठ वर्षसे अधिक पुरानी लिखी हुई है। उसमेंभी 'जो' पाठ है। मिरजापुर निवासी श्री ६ पं. रामगुलाम द्विवेदीजीने सर्वप्रथम महान् परिश्रम करके एक संशोधित पोथी द्वादशग्रन्थोंकी तैयार की जो उनके पीछे कई प्रेसोंमें छपी। श्रीरामचरित मानसकी एक प्रति गुटकाके रूपमें काशीजीमें सम्वत्‌में १६४५ वि. में प्रकाशित हुई। सुना जाता है कि उसमेंभी 'जो' पाठ है। प्रायः इसीके आधारपर लाला छक्कनलालजी, भागवतदासजी, मानसी वन्दनपाठकजीने अपनी अपनी पोथियाँ लिखी हैं। इनमें तथा पं. श्रीशिवलालपाठकजीकी पोथीमेंभी 'जो' पाठ है। सं० १७०४, १७२१ १७६२ में यही पाठ है। पंजाबीजीकी सं० १८७८ की पोथीमें 'जिहं' पाठ है। कई प्राचीन टीकाकारोंनेभी 'जिहिं', 'ज्याहे', 'जेहि' पाठ दिया है। आधुनिक छपी हुईमें नागरीप्रचारिणीसभा (प्रथम संस्करण), विनायकीटीका-कार और वीरकविजीनेभी 'जेहि' पाठ दिया है। गोस्वामीजीका क्या पाठ है यह निश्चय नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि 'जेहि' पाठ रहा हो, पीछे ग्रन्थकारने स्वयं बदलकर 'जो' किया हो। अथवा, पंडितोंने मात्राओंकी संख्याके विचारसे 'जेहि' का 'जो' कर दिया हो। दोनों पाठ शुद्ध माने जा सकते हैं।

'जेहि' पाठमें यह दोष कहा जाता है कि 'जेहि' पदसे सोरठेके प्रथम चरणमें ग्यारहके बदले

बारह मात्रायें हो जाती हैं, जिससे प्रस्तारके विरुद्ध होनेसे 'यतिभंग' दोष आ जाता है। संस्कृतभाषाके अनुसार 'जे' दीर्घ है परंतु हिंदी भाषाके महाकवि श्रीमद्गोस्वामीजीने उच्चारणके अनुसार इसको जहाँ-तहाँ लघुही माना है। यथा, 'जस मानस जेहिं बिधि भयेउ जग प्रचार जेहिं हेतु। १. ३५।', 'जरत सकल सुरबृंद विषम गरल जेहि पान किय।' (४ मं.), 'करब सोइ उपदेसु जेहि न सोच मोहि अवधपति। २. १५१।', 'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। ७. ८८।' इत्यादि ठौर-ठौरपर 'जेहि' शब्द गोस्वामीजीने दिये हैं। इनमें दोषकी निवृत्ति फिर कैसे की जायगी?

'जो' पाठ पं० श्रीरामवल्लभाशरणजी (श्रीजानकीघाट) और रामायणी श्रीरामबालकदासजी आदि श्रीअयोध्याके महात्माओंने स्वीकार किया है। अतः हमनेभी वही पाठ रक्खा है।

यदि 'जे को उच्चारणके अनुसार लघु मानें तो भाषाके मङ्गलाचरणमें नगणगण पड़ेगा और यदि यह मानें कि 'जे' गुरुही माना जायगा चाहे उच्चारण करनेमें उसे ह्रस्वही पढ़ें तो 'भगण' गण पड़ेगा। 'जो' पाठसेभी 'भगण' गणही होगा। नगणका देवता स्वर्ग और फल सुख है। भगणका देवता चन्द्रमा और फल निर्मल यश है। (मं. श्लो० १ देखिए।)

टिप्पणी—१ 'जो सुमिरत···' इति। 'जो सुमिरत' का भाव कि—(क) जप, तप, पूजन आदिका अधिकार सबको नहीं होता और स्मरणका अधिकार सब वर्णाश्रमोंको है। आपके स्मरणमात्रसेही सिद्धि मिलती है। इस पदको देकर सबको स्मरणका अधिकारी जनाया। 'जो' अर्थात् कोईभी वर्णाश्रमवाला हो, अथवा वर्णबाह्य अन्त्यज हो, एवं चाहे स्त्री हो चाहे पुरुष, वृद्ध, युवा, बालक कोईभी हो जोभी स्मरण करे वह मनोरथ सिद्ध कर ले। (ख) 'सुमिरत' अर्थात् स्मरण करतेही कामनाकी सिद्धि होती है, स्मरणहीकी देर हैं, सिद्धिमें देरी नहीं। प्रस्थान करनमें आपका केवल स्मरणही तो किया जाता है। (ग) [पं० सू. प्र. मिश्रजी, कहते हैं कि 'सुमिरत' से जनाया कि अभी मैं आपकी वन्दनाके योग्य नहीं हूँ। आप कृपा करें और मैं रामचरितमानस लिखूँ तब वन्दनाके योग्य होऊँ।]

२ 'सिधि होइ' इति। गोस्वामीजी यहाँ यह नहीं लिखते कि क्या सिद्धि होती है। इसका कारण यह है कि यदि कोई एक दो नाम दे देते तो इति हो जाती। नाम न देकर सूचित किया कि सब मनोरथ सिद्ध होते हैं अर्थात् मन, कर्म और वचन तीनों सिद्ध होते हैं; सम्पूर्ण सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। [भगवत् या योगसंबंधी आठ सिद्धियाँ ये हैं—(१) अणिमा (यह प्रथम सिद्धि है जिससे अणुवत् सूक्ष्मरूप धारण कर सकते हैं, जिससे किसीको दिखाई नहीं पड़ते और कठिन से कठिन पदार्थमें प्रवेश कर जाते हैं)। (२) महिमा (इससे योगी अपनेको बहुत बड़ा बना लेता है)। (३) गरिमा (=गुरुत्व, भारीपन। इससे साधक अपनेको चाहे जितना भारी बना लेता है)। (४) लघिमा (इससे जितना चाहे उतना हलका बन जाता है)। (५) प्राप्ति (इच्छित पदार्थकी प्रापक है)। (६) प्राकाम्य (इसमे मनुष्यकी इच्छाका व्याघात नहीं। इच्छा करनेपर वह पृथ्वीमें समा सकता, आकाशमें उड़ सकता है)। (७ इशित्व (इससे सबपर शासनका सामर्थ्य हो जाता है)। और (८) वशित्व (इससे दूसरोंको वशमें किया जाता है)। इनके अतिरिक्त दस सामान्य सिद्धियाँ हैं; यथा, 'अणिमा महिमा मूर्तेर्लघिमा प्राप्तिरिन्द्रियैः। प्राकाम्यं श्रुतदृष्टेषु शक्तिप्रेरणमीशिता। ४। गुणेष्वसङ्गो वशिता यत्कामस्तदवस्यति। ५।' (भा॰ ११. १५)। 'अनूर्मिमत्त्वं देहेऽस्मिन्दूरश्रवणदर्शनम्। मनोजवः कामरूपं परकायप्रवेशनम्। ६। स्वच्छन्दमृत्युर्देवानां सहक्रीडानुदर्शनम्। यथा— संकल्पसंसिद्धिराज्ञाप्रतिहता गतिः। ७।' (अर्थात् इस शरीरमें छः उर्मियों भूखप्यासादिका न होना, दूरकी बात सुन लेना, दूरकी घटना देख लेना, मनके समान शीघ्र गति होना, अभिलषित रूप धर लेना, परकायामें प्रवेश करना, स्वेच्छा मृत्यु, देवताओंकी क्रीडाका दर्शन, संकल्प सिद्धि, आज्ञा (जिसका उल्लङ्घन न हो सके) और अप्रतिहतगति ये दश सामान्य सिद्धियाँ सत्त्वगुणके

उत्कर्षसे होती हैं)। इनके अतिरिक्त पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ हैं । त्रिकालज्ञता, शीतोष्ण आदि द्वन्द्वोंसे अभिभूत न होना, पराये मनकी जान लेना, अग्नि सूर्य जल आदिकी शक्तिको बाँध लेना और पराजित न होना। यथा, 'त्रिकालज्ञत्वमद्वन्द्वं परचित्ताद्यभिज्ञता । अग्न्यर्काम्बुविषादीनां प्रतिष्टम्भोऽपराजयः ॥ ८ ॥'

☞ विनयपत्रिकामें 'जो सुमिरत सिधि होइ' की जगह 'सिद्धिसदन' विशेषण है। इससे दोनोंका भावसाम्य समझकर हमने 'सिद्धियों' का वर्णन यहाँ किया है। इस तरह 'जो सुमिरत सिधि होइ' में यह भाव होता है कि योगसाधनद्वारा जो कष्टसे सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं वह गणेशजीके 'सुमिरन' मात्र साधनसे सुलभ हो जाती हैं।]

३ 'गननायक करिवर वदन' इति। (क) गणोंके स्वामी कहनेका भाव कि शिवजीके गण क्रूर स्वभाव, उपद्रवी और विघ्नकारक होते हैं। आपकी वन्दना करनेसे वे विघ्न न करेंगे, क्योंकि आप उनके स्वामी हैं। (ख) प्रथम कहा कि जिनके स्मरणसे 'सिद्धि' प्राप्त होती है। वे कौन हैं ? उनके क्या नाम रूप आदि हैं ? यह 'गननायक....' से बताया। गननायक (अर्थात् गणेशजी) उनका नाम है। पर गणनायक औरभी हैं जैसे कि कार्तिकेय आदि। यथा, 'स्कन्दश्च सेनापतिः', 'सेनानीनामहं स्कन्दः' (गीता १०. २४)। तथा 'आनन्दकन्दाय विशुद्ध बुद्धये, शुद्धाय हंसाय परावराय। नमोस्तु तस्मै गणनायकाय, श्रीवासुदेवाय महाप्रभाय।' (पद्म पु. भूमिखण्ड ६८। १३)। अर्थात् जो आनंदके मूलस्रोत, विशुद्धज्ञानसंपन्न, शुद्ध हंसस्वरूप हैं, कार्य-कारण-जगत् जिनका स्वरूप है, जो सम्पूर्ण गणोंके स्वामी और महाप्रभासे परिपूर्ण हैं, उन श्रीवासुदेवको नमस्कार है। (इसमें वासुदेवको 'गणनायक' कहा है)। अतः इस अतिव्याप्तिके निवारणार्थ 'करिवरवदन' कहा। अथवा, 'करिवरवदन' कहनेसे पशुत्वदोष आरोपण होता, अतएव उसके निवारणार्थ 'बुद्धिराशि शुभ गुण सदन' कहा। ('करिवरवदन' होनेका कारण आगे गणेशजीकी कथामें दिया गया है।)

४ 'बुद्धिरासि सुभगुनसदन' इति। (क) गणेशजीकी दो शक्तियाँ हैं, सिद्धि और बुद्धि (प्रथम चरणमें सिद्धिका नाम दिया और अंतिममें बुद्धिका)। यथा, 'ॐ कार सन्निभा ननमिंदुभालं, मुक्ताग्रविंदुममल द्युतिमेकदन्तम्। लम्बोदरंकलचतुर्भुजमादिदेवं, ध्यायेतमहागणपतिं मति सिद्धि-कांतम् ॥' अर्थात् ॐ कार सदृश हाथीकेसे मुखवाले, जिनके ललाटपर चन्द्रमा और विंदुतुल्य मुक्ता विराजमान् हैं, जो बड़े तेजस्वी और एक दाँतवाले हैं, जिनका उदर लंबायमान है, जिनकी चार सुंदर भुजाएँ हैं उन बुद्धि और सिद्धिके स्वामी आदिदेव गणेशजीका ध्यान करें। पुनश्च, 'गणेश हेरम्ब गजाननेति महोदर स्वानुभव प्रकाशिन्। वरिष्ठ सिद्धि प्रिय बुद्धिनाथ वदन्त एवं त्यजत प्रभीतीः ॥' (स्तोत्ररत्नावली गी. प्रे.)। अर्थात् हे गणेश ! हे हेरंब ! हे गजानन ! हे महोदर ! हे स्वानुभवप्रकाशिन् ! हे वरिष्ठ ! हे सिद्धिप्रिय ! हे बुद्धिनाथ ! ऐसा कहते हुए आप लोग डर छोड़ दें। (स्तोत्र ६० श्लोक १०)। [पुनः भाव कि राशि (ढेरा) बाहर रहती है, सबको सुगमतासे प्राप्त होती है अतः 'बुद्धिराशि' कहकर जनाया कि आप सबको बुद्धि प्रदान करते हैं। विनयपत्रिकामेंके 'बुद्धिविधाता' का भाव 'बुद्धिराशिमें' है अर्थात् आप बुद्धिके उत्पन्न, विस्तार या विधान करनेवाले हैं, बुद्धिके दाता या प्रकाशक हैं। 'शुभगुणोंके सदन' कहनेका भाव कि सदनमें पदार्थ गुप्त रहता है। कोई 'अति संकोची' (अधिकारी) ही पाता है। यहाँ भगवत्प्राप्ति करानेवाले गुण 'शुभगुण' हैं। ये गुप्त पदार्थ हैं। ये पदार्थ अधिकारीकोही देते हैं। इसीसे 'अनुग्रह' करनेको कहा। अर्थात् यद्यपि मैं अधिकारी नहीं हूँ तौभी आप कृपा करके दे सकते हैं। (रा. प्र. से)] (ख) 'सिद्धि' 'बुद्धि' दोनोंको कहकर व्यंजित किया कि यहाँ शक्तिसहित गणेशजीकी वन्दना की गई है। (ग) ['गणनायक' के साथ 'बुद्धिरासि सुभगुनसदन' विशेषण देनेका तात्पर्य यह है कि उनमें गणोंके राजा होनेके पूर्ण गुणधर्म वर्तमान् हैं। अतः वे अपने पदके सुयोग्य पात्र और अधिकारी हैं।]

'जो सुमिरत सिधि होइ' से गणेशजीका प्रभाव कहा। 'गननायक' से नाम, करिवरवदन' से

रूप, और 'बुद्धिरासि सुभगुनसदन' से गुण सूचित किये। 'जो सुमिरत सिधि होइ' प्रथम कहा और 'बुद्धिरासि सुभगुनसदन' पीछे कहा, यह 'मुद्रालङ्कार' हुआ। (खर्रा)। 'जो सुमिरत सिधि होइ' में 'अक्रमातिशयोक्ति है। यथा, 'कारण औ कारज दुहूँ जो बरनिय एक संग। अक्रमातिशय उक्ति सो भूषण कविता अङ्ग॥', अक्रमातिशयोक्तिस्यात्सहत्वे हेतुकार्ययोः।', 'सूच्यार्थसूचने मुद्राप्रकृतार्थ परैःपदैः॥' (कुवलयानन्द १४०, १३९) अर्थात् जब हेतु और कार्य साथही कहा जाता है तब वहाँ 'अक्रमातिशयोक्ति' अलंकार होता है। १४०। शब्दोंसे साधारण अर्थ जो प्रकट हो रहा है उसके अतिरिक्त उन्हीं शब्दोंसे जहाँ कवि अपने हृदयका लक्षित अन्य भाव सूचित करता है वहाँ 'मुद्रा अलंकार' होता है।

६ इस सोरठेमें स्पष्टरूपसे नाम नहीं दिया क्योंकि प्रथम पूज्य होनेसे नाम प्रसिद्ध ही है।

विशेष भाव

पं. रामकुमारजी—(क) गणेशजी श्रीरामनामके प्रभावसे प्रथम पूजनीय हैं। वे तो श्रीरामजीके स्वरूपही हैं। (ख) 'रामस्य नाम रूपंच लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्द विग्रहम्॥' (वसिष्ठसंहिता)। इस श्लोककी सब बातें सोरठेमें हैं; जैसे कि 'नाम'—गणनायक। 'रूप'—करिवरवदन। 'लीला'—'सुमिरत सिधि होइ', और 'धाम—शुभगुणसदन। इस प्रकार इस मङ्गलाचरणमें गणेशजीका 'नाम-रूप-लीला-धामात्मक' स्मरण है। (ग) इस सोरठेमें तीन बातें कहीं। सिद्धि, बुद्धि, और शुभगुण। क्योंकि कवितामें इन तीनोंकी आवश्यकता है। गोस्वामीजी चाहते हैं कि हमारा कार्य सिद्ध हो, ग्रंथकी सिद्धि हो, रामचरित रचनेमें हमें उसके योग्य बुद्धि प्राप्त हो और इसमें काव्यके सब समीचीन गुण आजावें। [प्रत्येक कविको तीन वस्तुओंकी चाह एवं जरूरत होती है। एक तो विघ्नों-बाधाओंसे रक्षा; क्योंकि बिना विक्षेपरहित मनके किसी लोकोपयोगिनी कीर्त्तिका संस्थापन नहीं हो सकता। अतः 'निर्विघ्नता' के लिये 'जो सुमिरत सिधि होइ' कहा। दूसरे प्रतिभा, मेधा बुद्धि; इसके लिये 'बुद्धिराशि' कहा। तीसरे दिव्य गुणोंकी एकत्रता; क्योंकि इसमें मन पक्षपातरहित हो जाता है। अतः दिव्य गुणोंके संपादनके लिये 'शुभगुणसदन' का उल्लेख किया। (पं. रामगुलामद्विवेदी, लाला छक्कनलाल)]

गणनायक श्रीगणेशजी

(१) ये स्मार्तोंके पञ्चदेवोंमेंसे एक हैं। वैवस्वतमन्वन्तरके इन गणेशजीका सारा शरीर मनुष्यकासा है पर सिर हाथीकासा, चार हाथ और एकदांत हैं, तोंद निकली हुई, सिरपर तीन आँखें और ललाटपर अर्द्धचन्द्र है।

श्रीगणेशजीकी उत्पत्तिकी कथा ब्रह्मवैवर्तपुराणके गणेशखण्डके अध्याय ७ में भी है। प्रथम षष्ठाध्यायमें पार्वतीजीका पुत्रप्राप्तिक यज्ञ करनेका वर्णन है; जिसमें समस्त देवता, मुनि, महर्षि आदि आये थे। शिवजीने उस महासभामें विष्णुभगवान्से प्रार्थना की। जिसे सुनकर भगवान्ने पार्वतीजीको व्रतादिका उपदेश किया। फिर व्रताराधनासे संतुष्ट हो पार्वतीजीपर कृपा करके श्रीकृष्णभगवान्का प्रकट होना और वर देना वर्णन किया गया है। (अध्याय ६ श्लोक० १६)। अष्टमाध्यायपर्यंत गणेशजीका रूप वर्णन किया गया है।

'करिवरवदन' इति। हस्तिमुखप्राप्तिकी कथा इस प्रकार वर्णन की गई है। शङ्करजीके पुत्रोत्सवमें आमंत्रित सब देवताओंने आकर बालक गणेशजीको आशीर्वाद देकर विष्णु-विधि-शिवादि सहित सभी महासभामें सुखपूर्वक विराजमान हुये। तदनन्तर सूर्यपुत्र शनिश्चर आये और त्रिदेवको प्रणामकर उनकी आज्ञासे पार्वतीजीके महलमें गणेशजीके दर्शनार्थ गए। 'एतस्मिन्नन्तरे तत्रद्रष्टुं शङ्करनन्दनम्। आजगाम महायोगी सूर्यपुत्रः शनैश्वरः॥ अत्यन्त नम्रवदन ईषन मुदित लोचनः।' (अ० ११-५,६)। इनको नीचे मस्तक किये हुये देख पार्वतीजी बोलीं कि हमको और हमारे पुत्रको क्यों नहीं देखते हो? मुख नीचे क्यों किये हो? 'कथमा नम्र वक्त्रस्त्वं श्रोतुमिच्छामि साम्प्रतम्। किं न पश्यसि मां साधो बालकं वा महेश्वर॥१८॥'

शनिश्चरने अपनी पत्नीसे प्राप्त शाप इसमें कारण बताया कि हमारा दृष्टि जिसपर पड़ेगी उसका नाश ही जायगा। शापकी कथा सुनकरभी पार्वतीजीने न माना और कुतूहलसे कहा कि तुम निःशङ्क होकर मुझको और मेरे पुत्रको देखो। (अ० १२ । २)। बहुत समझानेपरभी न माननेपर शनिने धर्मको साक्षीकर ज्योंही नेत्रके कोरसे सौम्यदृष्टि शिशुके मुखपर डाली, दृष्टिमात्रसे उसका सिर कट गया। 'सव्य लोचनकोणेन ददर्श च शिरोर्मुखम्। ५। शनैश्चर दृष्टिमात्रेण चिच्छेद मस्तकं मुने। विवेश मस्तकं कृष्णे गत्वा गोलोकमीप्सितम्। ७।' और वह छिन्न मस्तक अपने अंशी श्रीकृष्णभगवान्में प्रविष्ट हो गया ❀। पार्वतीजी पुत्रशोकसे मूर्छित हो गईं। कैलासपर कोलाहल मच गया। सब देवता विस्मित हो गये; सबको मूर्छित देख भगवान्ने गरुड़पर सवार हो पुष्पभद्रा नदी तीर जाकर देखा कि वनमें गजेन्द्र हथिनी सहित सो रहे हैं और उनका सुन्दर बच्चा अलग पड़ा हुआ है। तुरन्त सुदर्शनसे उसका मस्तक काटकर गरुड़पर रखकर वे वहाँ आये जहाँ शिशुका धड़ गोदमें लिये हुये पार्वतीजी बैठी थीं और उस मस्तकको शिशुके धड़पर लगाया। सिरपर लगतेही बालक जी उठा और उसने हुंकार की, 'रुचिरं तच्छिरस्सम्यक् योजयामास बालकम्।२०। ब्रह्मस्वरूपो भगवान् ब्रह्मज्ञानेन लीलया। जीवयामास तं शीघ्रं हुंकारोच्चरणेन च। २१। पार्वतीं बोधयित्वातु कृत्वा क्रोडे च तं शिशुम्। बोधयामास तां कृष्ण आध्यात्मक विबोधनैः।' (अ० १२। २२)।

(२) कल्पभेद से गणेशजीके चरित्र अनेक प्रकारके हैं। उनकी उत्पत्ति, गणनायकत्व, हस्तिमुखत्व, प्रथमपूज्यत्व, आदिकी कथाएँभी भिन्नभिन्न हैं। शनिश्चरकी दृष्टि पड़नेसे शिरोच्छेदन होने और हाथीका मुख जोड़े जानेकी कथा ब्रह्मवैवर्तपुराणकी कही गई। शिवपुराण रुद्रसंहिता कुमारखण्डमें वह कथा है जिसमें शिवजीनेही उनका सिर काट डाला था। यह कथा श्वेतकल्पकी है और इस प्रकार है—

(क) श्रीपार्वतीजीकी जया और विजया सखियाँ एक बार आपसमें विचार करने लगीं कि जैसे शङ्कर जीके अनेक गण हैं वैसेही हमारेभी आज्ञाकारी गण होने चाहिएँ, क्योंकि शिवगणोंसे हमारा मन नहीं मिलता। एक समय श्रीपार्वतीजी स्नान करती थीं। नन्दीश्वर द्वारपर थे। उनके मना करनेपरभी शिवजी भीतर चले आए। यह देख पार्वतीजीको सखियोंका वचन हितकारी एवं सुखदायक समझ पड़ा। अतएव एक बार परम आज्ञाकारी अत्यन्त श्रेष्ठ सेवक उत्पन्न करनेकी इच्छा कर उन्होंने अपने शरीरके मैलसे सर्वलक्षण सम्पन्न एक पुरुष निर्माण किया जो सर्वशरीरके अवयवोंमे निर्दोष तथा सर्वावयव विशाल, शोभासम्पन्न महाबली और पराक्रमी था। उत्पन्न होतेही देवीने उसको वस्त्रभूषणादिसे अलंकृतकर आशीर्वाद दिया और कहा कि तुम मेरे पुत्र हो। गणेशजी बोले कि आज आपका क्या कार्य है? मैं आपकी आज्ञा पूरी करूँगा। श्रीपार्वतीजीने कहा कि मेरे द्वारपाल हो। द्वारपर रहो। कोईभी क्यों न हो उसे भीतर न आने देना। द्वारपर बिठाकर वे सखियों सहित स्नान करने लगीं। इतनेहीमें शिवजी आए। भीतर जाने लगे। तो गणेशजीने रोका और न माननेपर उनपर छड़ीसे प्रहार किया। भीतर नहीं ही जाने दिया। तब गणेशपर क्रुद्ध होकर उन्होंने गणोंको आज्ञा दी कि इसे देखो 'यह कौन है? क्यों यहाँ बैठा है?' और बाहरही बैठ गए। (अ० १३)। शिवगणों और गणेशजीमें बहुत वाद-विवाद हुआ। वे शिवाज्ञापालनपर आरूढ़ और ये माताकी

❀शनिश्चरकी पत्नी चित्ररथ गन्धर्वकी कन्या थी। यह बड़े उग्र स्वभावकी थी। एक बार शनि भगवद्-ध्यानमें मग्न थे। उसी समय वह शृंगार किये मदमाती इनके पास गई। ध्यानावस्थित होनेसे इन्होंने उसकी ओर नहीं देखा। उसीपर उसने शाप दे दिया। 'हरेः पादं ध्यायमानं पश्यन्ति मदमोहिता। मत्समीपं समागत्य सस्मिता लोललोचना ॥ २९ ॥ शशाप मामपश्यन्तिमृतुनाशाच्च कोपतः। बाह्यज्ञान विहीनञ्च ध्यान संलग्न मानसम् ॥ ३० ॥ न दृष्टाहं त्वयायेननकृतंमृतु रक्षणम्। त्वया दृष्टं च यद्वस्तु मूढ सर्वं विनश्यति ॥ ३१ ॥'

आज्ञापालनपर आरूढ़। आखिर शिवजीने युद्धकी आज्ञा दी। (अ० १४) गणेशजीने अकेलेही समस्त गणोंको मारकर भगा दिया। तब ब्रह्माजी शिवजीकी ओरसे शांति कराने आए। आपने ब्रह्माकी दाढ़ी मूछ उखाड़ ली, साथके देवताओंको मारा, सब भाग गए। फिर भगवान् विष्णु, शिवजी, इन्द्रादि देवता, कार्त्तिकेय आदि संग्रामको आए, पर कोई गणेशजीको जीत न सका। अन्तमें जब विष्णुसे युद्ध हो रहा था उसी बीचमें शिवजीने त्रिशूलसे गणेशजीका सिर काट डाला। नारदजीने पार्वतीजीको समाचार देकर कलह बढ़ायी। (अ० १५, १६)। पार्वतीजीने एक लक्ष शक्तियोंको निर्माणकर सबका नाश करने भेजा। वे जाकर सबको भक्षण करने लगीं। हाहाकार मच गया तब नारदको आगे कर सब देवता दीनतापूर्वक पार्वतीजीके पास आकर उन्हें प्रसन्न करने लगे। पार्वतीजीने कहा कि यदि मेरा पुत्र जी जाय और तुम सबोंके मध्यमें पूजनीय हो तभी संहार रुक सकता है। यथा, 'मृतपुत्रो यदि जीवेत् तदा संहरणं न हि। यथा हि भवतां मध्ये पूज्योऽयं च भविष्यति। १७. ४।' सबोंने इसे स्वीकार किया। शिवजीने देवताओंसे कहा कि आप उत्तर दिशाम जाइय। जो पहले मिले उसका सिर काटकर गणेशजीके शरीरमें जोड़ दीजिये। एक दाँतवाला हाथी उनको प्रथम मिला। उसका सिर काट लाकर उन्होंने गणेशजीके सिरपर लगा दिया। फिर जलको अभिमंत्रित कर उनपर छिड़का जिससे बालक जी उठा। इस कारण 'करिवरबदन' वा 'गजानन' नाम पड़ा। (अ० १७)। पुत्रको जीवित देख माताने प्रसन्न होकर बहुत आशीर्वाद दिये और कहा कि जो तुम्हारी सिंदूर, चन्दन, दूर्वा आदिसे पूजा कर नैवेद्य, आरती, परिक्रमा तथा प्रणाम करेगा उसे सब सिद्धियां प्राप्त हो जायँगी और पूजनसे विघ्न दूर होंगे। यथा, 'तस्य वै सकला सिद्धिर्भविष्यति न संशयः। विघ्नान्यनेकरूपाणि क्षयं यास्यन्त्यसंशयम ॥ १८. १२।' देवताओंने बालकको शिवजीकी गोदमें बिठा दिया और उन्होंने इन्हें अपना दूसरा पुत्र स्वीकार किया। तब गणेशजीने पिताको तथा भगवान् विष्णु, ब्रह्मा आदिको प्रणाम कर क्षमा माँगते हुए कहा कि मनुष्योंमें मान ऐसाही होता है। त्रिदेवने एकसाथ वर दिया कि यह हमारे समान पूजनीय होगा, इनकी पूजा विना जो हमारी पूजा करेगा उसको पूजाका फल न मिलेगा। यह गणेश विघ्नहर्ता और सब कामनाओं एवं फलोंको देनेवाला होगा। यथा, 'गणेशो विघ्नहर्ता हि सर्वकामफलप्रदः। १८. २२।' इस प्रकार गणेशजी विघ्नविनाशन और सब-कामनाओंके देनेवाले हैं। शिवजीने वर दिया कि विघ्न हरनेमें तुम्हारा नाम सदा श्रेष्ठ होगा, तुम मेरे सब गणोंके अध्यक्ष और पूजनीय होगे। इसीसे 'सुमिरत सिधि होइ' और 'गणनायक' हुए। यथा, 'त्वन्नाम विघ्न हेतृत्वे श्रेष्ठं चैव भवत्विति। मम सर्वगणाध्यक्षः सम्पूज्यस्त्वं भवाधुना ॥ १८. ३१।' गणेशजीकी उत्पत्ति भाद्रपद कृष्ण चतुर्थीको चन्द्रोदयके समय हुई थी।

(ख) अब सिद्धि-बुद्धिके साथ विवाहकी कथा सुनिये। विवाहके योग्य होनेपर दोनों पुत्रोंका विवाह करनेका विचार होने लगा। दोनों पुत्र कहने लगे कि पहले हमारा व्याह करो। मातापिताने यह युक्ति निकाली कि तुममेंसे जो प्रथम सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा करके आयेगा उसीका व्याह पहले होगा। कार्त्तिकेय प्रदक्षिणा-के लिये चल दिये। गणेशजीने बारंबार बुद्धिसे विचारकर यथायोग्य स्नानकर घरमें आ माता पितासे बोले कि मैं आपको सिंहासनासीनकर आपकी पूजा करना चाहता हूँ। उन्होंने पूजा ग्रहण करना स्वीकार किया। गणेशजीने पूजनकर सात बार परिक्रमा की और प्रेमपूर्वक हाथ जोड़ स्तुति कर विनय की कि आप मेरा विवाह शीघ्र कर दें। उन्होंने कहा कि पृथ्वीकी परिक्रमा कर आओ। तब गणेशजी बोले कि मैंने तो सात परिक्रमायें कर लीं। वेद, शास्त्र, धर्मसंचयमें लिखा है कि जो माता-पिताका पूजनकर उनकी परिक्रमा करता है उसको पृथ्वीकी परिक्रमाका फल होता है। जो मातापिताको घरमें छोड़ तीर्थको जाता है, उसे उनको मारनेका पाप लगता है। यथा, 'पित्रोश्च पूजनं कृत्वा प्रक्रांति च करोति यः। तस्य वै पृथिवीजन्यफलं भवति निश्चितम्। १९. ३९।....'

अतएव मेरा शीघ्र विवाह कीजिये, नहीं तो वेदशास्त्रोंको असत्य कीजिए। गणेशजीके वचन सुनकर दोनों प्रसन्न हुए। उसी समय विश्वरूप प्रजापति आ गए। उन्होंने अपनी 'सिद्धि' 'बुद्धि' नामकी दोनों कन्याओंका विवाह देनेकी प्रार्थना की। अतः धूमधामसे व्याह कर दिया गया। सिद्धिसे क्षेम और बुद्धिसे लाभ नामक पुत्र उत्पन्न हुए। कार्त्तिकेयजीको नारदजीने हुस्का दिया जिससे वे रुष्ट होकर मातापिताको प्रणामकर क्रौंचपर्वतपर चले गए और फिर उन्होंने विवाहभी नहीं किया।

(ग) प्रथम पूज्य होनेकी कथा दोहा १९ की अर्धाली ४ में दी गई है।

(३) पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें पुलस्त्यजीने भीष्मपितामहजीसे गणेशजीके जन्मकी कथा इस प्रकार कही है। एक समयकी बात है कि गिरिजाजीने सुगंधित तैल और चूर्णसे अपने शरीरमें उबटन (अंगराग) लगवाया। उससे जो मैल गिरा उसे हाथमें उठाकर उन्होंने एक पुरुषकी आकृति बनाई, जिसका मुख हाथीके समान था। फिर खेल करते हुए श्रीपार्वतीजीने उसे गंगाजीके जलमें डाल दिया। गंगाजी अपनेको पार्वतीजीकी सखी मानती थीं। उसके जलमें पड़तेही वह पुरुष बढ़कर विशालकाय हो गया। पार्वतीजीने उसे पुत्र कहकर पुकारा। फिर गंगाजीनेभी पुत्र संबोधित किया। देवताओंने गांगेय कहकर सम्मानित किया। इस प्रकार गजानन देवताओंके द्वारा पूजित हुए। ब्रह्माजीने उन्हें गणोंका आधिपत्य प्रदान किया। इस कल्पकी कथाके अनुसार 'करिवर वदन' वे जन्मसेही थे। (अ० ४५. ४४५-४४९)। सृष्टिखण्डमेंही संजयजीसे जो कथा व्यासजीने कही है उसमें लिखा है कि श्रीपार्वतीदेवीने शङ्करजीके संयोगसे स्कन्द और गणेश नामके दो पुत्रोंको जन्म दिया। (अ० ६५. ५)।

(४) श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजीने यह शङ्का उठाकर कि 'खंडितरूप (अर्थात् एकही दाँत) धारण करनेका क्या हेतु है?' इसका समाधान यह किया है कि "पूर्व जन्मके अभिमानी पशुयोनि पाते हैं। वह अभिमान शृङ्गरूपसे देख पड़ता है। हाथी विद्याभिमानी था, इसीसे उसका शृङ्ग उसके मुखकी राह निकला। अभिमान दो प्रकारका है। एक तो अपनेको बड़ा मानना, दूसरा भक्ताभिमान। यथा, 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।' (३. ११)। भक्ताभिमान कल्याणकारी है। यह दक्षिण दन्त है। परम मङ्गलहेतु गणेशजीका वामदन्त तोड़ डाला गया। अतः एकदन्त हैं।"

मङ्गलाचरणमें गणेशजीकी स्तुति

गोस्वामीजीके इष्ट श्रीरामजी हैं तब प्रथम मङ्गलाचरणमें गणेशजीकी स्तुति कैसे की? संस्कृत मङ्गलाचरण श्लोकमेंभी कुछ इस विषयपर लिखा जा चुका है। कुछ यहाँभी लिखा जाता है—

(१) इस ग्रंथके आदिमें श्रीगणेशजीका मङ्गलाचरण किया है। इस तरह गोस्वामीजीने अपने अतिप्रसिद्ध बारह ग्रंथोंमेंसे छःमें गणेशवन्दना की है और छः में नहीं की। ऐसा करके उन्होंने पूर्वाचार्योंकी दोनों रीतियाँ दिखाई हैं। वह यह कि कोई आचार्य गणेशवन्दना करते हैं और कोई नहींभी करते। (पं० रा० कु०। विनय पीयूषसे)।

(२) आरंभमें श्रीगणेशजीकी वन्दना करनेका अभिप्राय यहभी हो सकता है कि गणेशजी अद्वितीय लेखक थे। अठारहो पुराणोंके मननशील द्रुतलेखक श्रीगणेशजीही हैं। किसीभी कार्यको निर्विघ्न समाप्त करनेकी कामनासे सिद्धिदाता गणेशजीका स्मरण पूजन प्रारंभमें किया जाता है। आस्तिक हिंदू लेखकोंका विश्वास है, दृढ़ धारणा है कि सिद्धिदाता श्रीगणेशजी प्रसिद्ध और अद्वितीय लेखक हैं। अतः ग्रंथारंभके पूर्व इनका स्मरण अवश्य करते हैं। ऐसा करनेसे ग्रन्थसमाप्तिमें विघ्नकी संभावना नहीं रहती।

(३) भगवान्के चार प्रकारके अवतार शास्त्रोंमें कहे गये है। आवेश, अंश, कला और पूर्ण। जिसमें उपचित पुण्य विशेष हो ऐसे जीवात्माके अंदर शक्ति आवेश होकर कार्य करनेवाला आवेशावतार। जैसे, ब्रह्मा-

वतार, इन्द्रावतार, शिवावतार, इत्यादि। इन्हीं आवेशावताररूप अधिकारी पुरुषों में श्रीगणेशावतार भी है। अतः 'वसवोऽष्टौ त्रयः काला रुद्रा एकादशस्मृतः। तारकादश चैवांशास्त्वमेव रघुनंदनः॥' इत्यादि प्रमाणानुसार श्रीगोस्वामीजी 'गणपति, रुद्र, शक्ति और सूर्यादि देवताओंके अन्दर आवेशावतार श्रीजानकीवल्लभही तत्व दैवतरूपमें हैं' ऐसा समझकर स्तुति करते हैं॥ अतः अनन्यताका भङ्ग न समझना चाहिये। (वे. शि. श्रीरामानुजाचार्यजी)।

(४) प्रभुको छोड़ भक्तकी वंदना की; क्योंकि उससे अनहोनी बातभी हो सकती है, प्रभु अपने उपासकको इतना मानते हैं। साक्षात् गणेश नाम न दिया, क्योंकि नामजपके कारण कवि उनको गुरु समझते थे। (सू. मिश्र)। (पृष्ठ ५५ टि. ६ भी देखिए)।

(५) पं० जगन्नाथधर दूबेने पाँड़ेरामबख्शके भावको, यों कहा है—'इस सोरठामें गुसाईंजीने श्रीगणेशजीकी वंदना करके सनातन परंपराका निर्वाहमात्र किया है ऐसा कहनेका साहस नहीं होता। ए.. बार पाठ करनेके अनन्तर यदि हम अपनीही आत्मासे पुछें तो हमें कुछ औरही उत्तर मिलेगा। उस स्पष्ट उत्तरमें श्रीपरमाचार्य गुसाईंजीकी ऋषिगण सुलभ उदारता, भक्तोचित प्रेमकी पराकाष्ठा और सन्तजन सुलभ सम्यक् ज्ञानकी गरिमाका दिव्य दर्शन होगा। अपने इष्टमें तल्लीन रहते हुए भी उन्होंने प्रथमपूज्य श्रीगणेशजीकी वन्दना उसी उत्साह और प्रेमसे की है जैसा कि कोई परमानन्य गाणपत्य कर सकता है। श्रीरामभक्तिरूपी वर्षाऋतुसे पञ्चदेवोपासनारूपी इतर पञ्चऋतुओंका पोषण किया है।'

(६) श्रीवन्दनपाठकजीकी समालोचना तु० प० में यों दी है—'लोकवत् लीलाके वर्णनमें कविका हार्द, चाहे उस काव्यमें कहींभी दृष्टि डालिए, अथसे इति तक, सब कहीं चन्द्रमाकी सुधामयी किरणोंकी तरह ज्योंका त्यों एकरस अपनी छटा दिखलाता है। उसमें कैवल्यपादकी झलक रहती है। वन्दनामें तो उसका सजीव चित्र उतरा हुआ रहता है।'

(७) पुनः, श्रीजहांगीरअलीशाह औलियाके 'तुलसीचौपाई' का अनुवाद तु० प० में यों दिया है कि 'इस सोरठाके भावकी विनयपत्रिकाके गणपतिवन्दनासे तुलना करनेपर हमें साफ़-साफ़ मालूम हो जाता है कि श्रीगुसाईंजी अपने अभिप्रेत वस्तुका क्या मूल्य रखते हैं। वे बहुदेववाद और पंचदेववादको बर्तते हुये भी सिर्फ़ व्यभिचार अर्थात् अपने और इष्टके बीचमें किसी औरको स्थान देनेकी गन्धभी नहीं लगने देते। जैसे कमल इस बातका ज्वलन्त उदाहरण है कि वह पानीमें रहकरभी पानीसे अलग अपना स्थिति रखता है, उसी तरह गुसाईंजीभी आध्यात्मिक जगत्में इस बातके एकही और सच्चे उदाहरण हैं कि बहुदेववाद, पञ्चदेववाद और कहाँतक कहें प्रेतपितरगन्धर्व एवं चराचरवादका आश्रय लेते हुयेभी वे अपने इष्टके अनन्यभक्त बने रहे। 'सेए न दिगीस न दिनेस न गनेस गौरी, हितु कै न माने बिधि हरिउ न हर।' (विनय २५०)। यह उनकी निष्कामताका प्रमाण और परिणाम है। सबकी स्तुति करके वे क्या माँगते हैं? उसे उन्हींके मधुर शब्दोंमें सुनिये। 'माँगत तुलसीदास कर जोरें। बसहुँ रामसिय मानस मोरें॥' उनकी यह प्रार्थना तुरंत स्वीकृत हुई। श्रीरामजीने उनके रचित काव्य 'मानस' में सचमुच बास किया। इस बातकी गवाही वह घटघटवासी प्रभु स्वयम् मधुसूदनसरस्वतीकी जुबानपर बैठकर दे रहा है। 'आनन्दकानने ह्यस्मिन् जङ्गमस्तुलसीतरुः। कविता मञ्जरी यस्य राम भ्रमर भूषिता॥'

(८) श्रीस्वामीजी देवतीर्थ (काष्ठजिह्व) 'मानससुधा' में कहते हैं कि रामचरितमानस मन्त्ररामायण है और मंत्रोंके आदिमें प्रणव (ॐ) का होना जरूरी है। इसलिये प्रणव स्वरूप गणेशजीकी वन्दना ग्रंथके आदिमें की गई। (तु० प०)।

सोरठेमें सातों काण्डोंका अभिप्राय

आदि श्लोक और सोरठेमें सप्त सोपानोंका भाव कहा गया है। प्रथम श्लोकमें यह बात दिखला आए हैं। अब प्रथम सोरठेमें दिखलाते हैं।❀

(१) 'सुमिरत सिधि' से बालकाण्ड। क्योंकि इसमें श्रीशिवपार्वतीजी, श्रीनारदजी, श्रीमनुशतरूपाजी, इत्यादिका स्मरण करना और कामनाकी सिद्धि होनेका वर्णन है। यथा, 'सुमिरत राम हृदय अस आवा। १.५७।', 'मन महुँ रामहिं सुमिर सयानी। १. ५६।', 'पतिपद सुमिरि तजेउ सबु भोगू। १. ७४।', 'सुमिरत हरिहि श्रापगति बाधी। १. १२५।', 'सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा...बिस्वबास प्रगटे भगवाना' (१. १४४–१४६)। 'सुमिरत' का प्रयोग इस काण्डमें बहुत हुआ है। पुनः, श्रीदशरथजी महाराजकी पुत्रकामना, श्रीविदेहजी महाराजकी धनुभँग-प्रतिज्ञा, श्रीविश्वामित्रजीकी यज्ञरक्षा इत्यादिकी सिद्धिके विस्तृत भावभी इन दोनों शब्दोंमें आ जाते हैं।

(२) 'होइ' और 'गननायक' से अयोध्याकाण्ड। क्योंकि इसमें श्रीअवधपुरवासियोंसहित चक्रवर्त्ती महाराजकी इच्छा हुई कि श्रीरामजी युवराज 'हों', देवताओंने चाहा कि वनगमन 'हो', राज्यका त्याग 'हो', मन्थरा और श्रीकैकेयीजीने चाहा कि श्रीभरतजी प्रजाके स्वामी 'होवें' इत्यादि। अन्तमें श्रीरामजीकी चरण-पादुकायें राजसिंहासनपर पधराई गईं।

(३) 'करिबरबदन' से अरण्यकांड। क्योंकि श्रीरामजीके 'बर बदन' से निशाचरवधका सङ्कल्प और श्रीगणेश यहीं हुआ। यथा, 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। ३. ९।', 'मिला असुर बिराध मग जाता। आवत ही रघुबीर निपाता। ३. ७।' पुनः, प्रभु श्रीरामजी श्रेष्ठ प्रसन्न मुखसे वनमें विचरते रहे यहाँतक कि शूर्पणखा और खरदूषणादि भी आपका सुंदर मुख देखकर मोहित हो गये। यथा, 'देखि बिकल भइ जुगल कुमारा। ३. १७।' 'जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा। ३. १९।'

(४) 'करौ अनुग्रह सोइ' से किष्किन्धा काण्ड। 'सोइ' से पूर्व परिचय जनाया, जैसा कि 'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना' में 'पहिचानि' शब्दसे सूचित होता है। श्रीहनुमान्‌जी, सुग्रीवजी, वालि, तारा, अङ्गदजी, वानर और वृक्ष सबपर अनुग्रह किया गया। यथा, 'तब रघुपति उठाइ उर लावा....। कि० ३।', 'सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। ४. १२।', 'राम बालि निज धाम पठावा', 'दीन्ह ज्ञान हर लीन्ही माया। ४. ११।', 'निरखि बदन सब होहिं सनाथा। ४. २२।', इत्यादि।

(५) 'बुद्धिरासि' से सुन्दरकाण्ड। क्योंकि इसमें हनुमान्‌जी, जाम्बवन्तजी तथा विभीषणजीकी बुद्धिकी चतुरता और श्रीहनुमान्‌जीकी बुद्धिकी परीक्षा एवं वरदानका वर्णन है। यथा, 'जानइ कहुँ बल बुद्धि बिसेषा॥ सुरसा नाम अहिन्हि कै माता। पठइन्हि....सुं २।', 'जामवंत कह....सोइ बिजई बिनई गुनसागर....।५ ३०।', 'मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि। ५. ४१।', इत्यादि।

(६) 'सुभ गुन' से लङ्काकाण्ड। क्योंकि निशाचरोंकी गति, देवताओंका वन्दीखानेसे छूटना, विभीषणजीको राज्य, जगत्‌में 'शुभ गुणोंका' फिरसे प्रचार, प्रभु श्रीरामजीका निशाचरोंमें भी 'शुभ गुण' देखते रहना, इत्यादि 'शुभ' घटनाओंका उल्लेख इस काण्डमें हुआ है।

(७) 'सदन' से उत्तरकाण्ड। क्योंकि श्रीरामचंद्रजीको अपने सदन (धाम) श्रीअवधको तथा वानर, ऋक्ष और विभीषणादिका अपने-अपने स्थानोंको लौटना, देवताओंका सुखपूर्वक अपने-अपने लोकोंमें जा बसना इत्यादिका उल्लेख इस काण्डमें हुआ है।

❀नोट—यह क्लिष्ट कल्पना है। परन्तु महात्मा श्रीहरिहरप्रसादजी, श्रीसन्तसिंहजी, पंजाबीजी, पाठकजी इत्यादि कई प्रसिद्ध महानुभावोंके अनुभवसे ये भाव निकले और रामायणीसमाजमें पसन्द किए जाते हैं; इसीसे इस ग्रन्थमें भी उनका संग्रह किया गया है।

मूक होहि बाचाल, पंगु चढ़ै गिरिवर गहन ।
जासु कृपा सो[१] दयाल, द्रवौ सकल कलिमलदहन ॥ २ ॥

शब्दार्थ—मूक=गूँगा । वाचाल=(सं. वाचा+अल) वाणीको समर्थ, बहुत बोलनेवाला; वक्ता, वाणीभूषण । यथा, 'अलंभूषणपर्याप्ति शक्ति वारण वाचकम् । इति अव्यय कोशे ।' पंगु (सं०)=जिसके पैर न हों । जो पैरसे चल न सकता हो; लँगड़ा । गिरिवर=बड़े बड़े पर्वत । गहन=गंभीर, अति विस्तर ।=वन; यथा,'अज्ञान गहन-पावक-प्रचंड ।' (विनय ६४) ।=दुर्गम । गिरिवर गहन=बड़े दुर्गम पर्वत ।=वनसंयुक्त बड़े पर्वत ।

अर्थ—जिनकी कृपासे गूँगाभी प्रबल वक्ता वा वाणीभूषण हो जाता है और पंगुलभी बड़े दुर्गम पर्वतपर चढ़ जाता है, वे कलिके समस्त पापोंको जला डालनेवाले दयालु मुझपर दया करें । २ ।*

प्रश्न—यहाँ किसकी वन्दना की गई है ?

उत्तर—कोई कोई महानुभाव यहाँ विष्णु भगवान्‌की वन्दना होना कहते हैं और कोई कोई सूर्यनारायणकी और कोई कोई इसमें श्रीरामजीकी वंदना मानते हैं । अपने अपने पक्षका पोषण जिस प्रकार ये सब महानुभाव करते हैं वह नीचे दिया जाता है ।

विष्णुपरक सोरठाके कारण

(१) श्री. पं. रामकुमारजी लिखते हैं कि—(क) 'पापनाशन' भगवान् विष्णुका एक नाम है । 'पापनाशन' और 'कलिमलदहन' एकही बातें हैं । पुनः, भगवान् विष्णु पाँव (चरण) के देवता हैं । यथा, 'पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरिः ।' अर्थात् चरण प्रकट होनेपर उनमें गति और पादेन्द्रियके अभिमानी विष्णु स्थित हुए । (भा. ३. २६. ५८) । इस लिये इनकी कृपासे पंगु बड़े बड़े दुर्गम पर्वतोंपर चढ़ जाते हैं । भगवान् वाणीके पति हैं । यथा, 'ब्रह्म बरदेस बागीस व्यापक बिमल....' (विनय ५४), 'बेद विख्यात बरदेस बामन बिरज बिमल बागीस बैकुंठस्वामी' (विनय ५५), 'बरद बरदाभ बागीस विश्वात्मा बिरज बैकुंठमंदिर-बिहारी ।' (विनय ५६) । मं. श्लोक १ में भी देखिये । अतः गूँगेको वाचाशक्ति प्रदान करते हैं । जैसे ध्रुवने जब भगवान् हरिकी स्तुति करनी चाही पर जानते न थे कि कैसे करें तब अन्तर्यामी श्रीहरिने अपना शंख उनके कपोलपर छुआ दिया जिससे उनको दिव्य वाणी श्रीहरिकृपासे प्राप्त हो गई । यथा, 'कृताञ्जलिं ब्रह्ममयेन कम्बुना पस्पर्श बालं कृपया कपोले' । ४ । स वै तदैव प्रतिपादितां गिरं दैवीं परिज्ञातपरात्मनिर्णयः । ५ ।' (भा. ४. ९) । अतएव ''जासु कृपा' 'मूक होहि बाचाल', 'पंगु चढ़ै गिरिवर' तथा 'कलिमलदहन' तीनों विशेषण भगवान् विष्णुमें घटित होते हैं । (ख) 'मूकं करोति वाचालं पंगुं लङ्घयते गिरिम् । यत्कृपा तमहं वंदे परमानन्द माधवम् ॥' यह श्लोक स्वामी श्रीधरजीने श्रीमद्भागवतकी टीकामें मङ्गलाचरणमें दिया है जिसमें 'परमानन्द माधवम्' नाम देकर वन्दना की है । यह सोरठा अक्षरशः इस श्लोकका प्रतिरूप है; अन्तर केवल इतना है कि श्लोकके 'तमहं वंदे परमानन्दमाधवम् ।' के स्थानपर सोरठेमें 'सो दयाल द्रवौ कलिमलदहन' है । सब जानते हैं कि ये गुण किस देवविशेषके हैं; क्योंकि न जाने कबसे 'मूकं करोति....' यह श्लोक सब सुनते आ रहे हैं । इसी कारणसे किसी देव विशेषके नामका उल्लेख इस सोरठे में नहीं किया गया । [नोट—बैजनाथजीका भी यही मत है । श्रीनंगे परमहंसजी कहते हैं कि 'यहाँपर लगभग किसी सोरठेमें स्पष्ट किसीका नाम नहीं लिखा गया है । सबको विशेषणों द्वाराही सूचित किया है । जैसे कि 'गणनायक' और 'करिबरबदन' विशेषणोंके नामसेही गणेश जीकी वन्दना सूचित की, 'छीरसागरशयन' विशेषणसे श्रीक्षीरशायी विष्णुकी, 'उमारमन' 'मर्दनमयन' विशेषणों से शिवजीकी तथा 'कृपासिंधु' इत्यादिसे निज गुरुकी वन्दना सूचित की । वैसेही इस सोरठेमें 'मूक

१ सुदयाल—१७०४, रा. प्र., वै. ।
* दूसरा अर्थ अन्तमें नोट ४ में दिया गया है ।

होइ वाचाल' आदि विष्णुके विशेषण हैं ।'] (ग) यहाँ वैकुण्ठवासी विष्णुका मङ्गल किया। आगे क्षीरशायी विष्णुका मङ्गल करते हैं । क्योंकि आगे दोनोंके अवतारोंकी कथा कहनी है । जय, विजय एवं जलंधरके अर्थ वैकुण्ठवासी विष्णुका अवतार हैं और रुद्रगणोंके लिये क्षीरशायीविष्णुका अवतार हैं । इस तरह मङ्गलाचरणमें समस्त ग्रंथका कथा दिखाई हैं । [ग्रंथमें चार कल्पोंकी कथा है । उनमेंसे ये तीन इन दो मङ्गलाचरणोंमें दिखाए, चौथा तो दिखाया नहीं, तब यह कैसे कहा कि समस्त ग्रंथकी कथा दिखाई है ? सम्भवतः पंडितजीका आशय यह है कि ग्रंथमें प्रधानतया अज-अगुण-अरूप-ब्रह्म श्रीरामजीकी कथा है, उसके अतिरिक्त इन तीनों अवतारोंकाभी वर्णन इस ग्रंथमें है; यह इन दो सोरठोंसे सूचित किया है । अज अगुण अरूप ब्रह्मका अवतार गुप्त है, इससे उसे सोरठोंमें नहीं दिखाया । वेदांत भूषणजीका मत आगे 'श्रीरामपरक' में देखिए ।] (घ) 'गणेशजीके पश्चात् भगवान् विष्णुकी वन्दना इससे की कि इन दोनोंका स्वरूप एकही है' ।

सूर्यपरक होनेके कारण

(१) बाबा जानकीदासजी लिखते हैं कि—(क) सोरठेमें किसीका नाम नहीं है । गुणक्रियाओं द्वारा नाम जाना जाता है पर यहाँ जो गुणक्रिया दी हैं वे भगवान् और सूर्य दोनोंमें घटित होती हैं । विष्णुपरक माननेमें यह आपत्ति आती है कि एक तो आगे सोरठेमें विष्णुकी वन्दना है ही । दूसरे, यदि दोनों सोरठोंमें विष्णुकी वन्दना मानें तो क्रिया एकही होनी चाहिए पर दोनोंमें अलग-अलग दो क्रियायें हैं । 'सो दयाल द्रवौ' और 'करौ सो मम उर धाम ।' एक पदमें एक कर्मके साथ दो क्रियायें नहीं होतीं । तीसरे, यदि स्थानभेदसे यहाँ 'रमावैकुण्ठ' की और आगे 'क्षीरशायी श्रीमन्नारायण' की वंदना मानें तो यह अड़चन पड़ती है कि श्रीगणेशजी और श्रीमहेशजीके बीचमें विष्णुकी वंदना नहीं सुनी जाती । इनकी वन्दना या तो ब्रह्मा और शिवके बीचमें या पंचदेवोंके बीचमें सुनी है । (ख)—श्रीगोस्वामीजीने इस ग्रंथको श्रीअवधमें प्रारम्भकर समाप्त किया । श्रीअवधवासियोंका मत साधन सिद्ध दोनों अवस्थाओंमें पंचदेवकी उपासना (पूजन) है । साधनदेशमें श्रीसीतारामजीकी प्राप्तिके लिये और सिद्ध देशमें प्राप्त वस्तुको क़ायम (स्थिर) रखनेके लिये । यथा, 'करि मज्जन पूजहिं नर नारी । गनप गौरि तिपुरारि तमारी । रमारमन पद बंदि बहोरी । बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी ॥ राजा राम जानकी रानी ।....' (२. २७३) । इसी तरह श्रीगोस्वामीजी पंचदेवकी स्तुतिकर श्रीसीताराम-यशगानकी शक्ति माँगते हैं । अतः सूर्यपरक सोरठा माननेसे पंचदेवकी पूर्ति तथा पंचदेवका मंगलाचरण हो जाता है । (ग) बालक जन्मसमय मूक और पंगु दोनों रहता है । सूर्यभगवान् अपने दिनोंसे इन दोनों दोषोंको दूर करते हैं । इनका सामर्थ्य आदित्यहृदय, वाल्मीकीय, महाभारत, विष्णुपुराण आदिमें स्पष्ट है । यथा, 'विस्फोटक कुष्ठानि मंडलानि विचर्चिका । ये चान्ये दुष्टरोगाश्च ज्वरातीसारकादयः जपमानस्य नश्यन्ति...।' (भविष्योत्तर आदित्यहृदय । वै.) अर्थात् चेचक, कोढ़, दाद, ज्वर, पेचिश आदि दुष्ट रोग जपसे नष्ट हो जाते हैं । 'एष ब्रह्मा च विष्णुश्च शिवः स्कन्दः प्रजापतिः । वाल्मी. ६. १०७. ।' अर्थात् सूर्यही ब्रह्मा, विष्णु, शिव, स्कन्द, प्रजापति आदि हैं ।'सर्वरोगैर्विरहितः सर्वपाप विवर्जिता। त्वद्भावभक्तः सुखिनो भवन्ति चिरजीवितः।'(महाभारत वनपर्व ३.६७) अर्थात् सूर्यके भक्त सब रोगोंसे रहित, पापोंसे मुक्त, सुखी और चिरजीवी होते हैं । इत्यादि ।

(२) विनयपत्रिकामेंभी गणेशजीकी स्तुतिके पश्चात् सूर्यभगवानकी स्तुति की गई है जिसमें यहाँके सब विशेषण दिये गए हैं । यथा, 'दीनदयाल दिवाकर देवा ।....दहन दोष दुख दुरित रुजाली ।....सारथि पंगु दिव्य रथगामी । हरि संकर विधि मूरति स्वामी ।' (पद २) । उस क्रमके अनुसार यहाँभी सूर्यपरक सोरठा समझना चाहिए । विनयमें एवं वाल्मीकीय आदिमें सूर्यभगवान्को ब्रह्मा, विष्णु और महेश तीनोंका रूप माना है । इस तरह इनमें विष्णुभगवान्हीके नहीं, वरंच ब्रह्माजी और शिवजीकेभी गुण आगए । सूर्यपरक सोरठा लेनेसे अधिक सौष्ठव और श्रेष्ठता जान पड़ती है ।

(३) 'मूकं करोति·····' को यदि विष्णुसम्बन्धी माना जाय तो इसके विशेषणोंको लेकर सूर्यकी वंदना कविके करनेमें कोई दोष नहीं। क्योंकि विष्णु और सूर्यमें अत्यन्त घनिष्ठता है। दोनोंके नामभी एक दूसरेके बोधक हैं। वेदोंमें सूर्यको विष्णु कहा है। लोकमेंभी सूर्यको 'नारायण' कहते हैं। विष्णुका भी व्यापक अर्थ है और सूर्यकाभी तथा विष्णुका एक स्वरूप भास्करभी है। (तु. प. भाष्य)।

(४) सूर्यदेव रघुकुल गुरुभी हैं। यथा, 'उदउ करहु जनि रबि रघुकुलगुरु। २. ३७।' इनकी कृपासे श्रीरघुनाथजीके चरित जाननेमें सहायता मिलेगी। यथा, 'कुलरीति प्रीति समेत रबि कहि देत सबु....। १. ३२३।'

नोट—पं० रामकुमारजीके संस्कृत खर्रोंमें 'पंगु चढ़ै' पर यह श्लोक है। 'रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगाः निरालंबो मार्गश्चरणरहितः सारथिरपि। रविर्यात्येवांतं प्रतिदिनमपारस्यनभसः क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे॥' इति भोजप्रबंधे श्लोक १६८। अर्थात् जिनके रथमें एकही चक्र है, सात घोड़े हैं, जो सर्पोंसे उसमें बँधे हुए हैं, जिनका मार्ग निराधार है और सारथीभी चरणरहित हैं। इतना होनेपर भी वे सूर्य-भगवान् अगाध अपार आकाशको पूरा कर देते हैं। इससे यह सारांश निकलता है कि बड़ोंकी कार्यसिद्धि उनके बलपर रहती है न कि किसी साधनपर।

श्रीरामपरक होनेके कारण

वेदान्तभूषणजी कहते हैं कि इस ग्रन्थमें श्रीरामजीके अवतारी (पर) रूपका वर्णन है और अवतारोंका भी। इस सोरठेमें अवतारी श्रीरामजीकी वंदना है। प्रथम कारणस्वरूपकी वंदना करके तब कार्यस्वरूपकी वंदना की गई। मूक वाचाल तब होता है जब उसकी जिह्वापर सरस्वतीका निवास होता है। यथा, 'मूक बदन जस सारद छाई'। शारदाके स्वामी (नियंता) श्रीरामजी हैं। अतः बिना उनकी आज्ञाके सरस्वती प्रचुररूपसे किसी मूककी जिह्वापर नहीं जा सकती। पंगुको पर्वतपर चढ़नेकी शक्ति श्रीरामजीही देते हैं। संपाती पंख जलनेसे पंगु हो गया था। श्रीरामकृपासेही उसके पंख जमे, पंगुता नष्ट हुई। यथा, 'मोहि बिलोकि धरहु मन धीरा। रामकृपा कस भयउ सरीरा।४. २६।' श्रीरामजी बिना कर्मफल भोगाये तथा बिना किसी प्रकारका प्रायश्चित्त कराये सम्मुखतामात्रसे समस्त 'कलिमल' दहन कर देते हैं। यथा, 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं। ५. ४४।', 'कैसेउ पामर पातकी जेहि लई नामकी ओट। गांठी बांध्यो राम सो परख्यो न फेरि खर खोट।' (विनय)। यह स्वभाव श्रीरामजीकाही है, अन्यका नहीं। देखिये, जब नारदजीने क्षीरशायी भगवान्से कहा कि 'मैं दुर्बचन कहे बहुतेरे। कह मुनि पाप मिटिहिं किमि मेरे। १. १३८।' तब उन्होंने यही कहा कि 'जपहु जाइ संकर सतनामा।' श्रीरामजी सम्मुखप्राप्त जीवको कभी अन्यकी शरणमें जानेको नहीं कहते। अतः यह सोरठा सर्वतोभावेन श्रीरामजीके लिये है।

टिप्पणी—१ मूक होइ बाचाल....' इति। (क) मूक और पंगु होना पापका फल है। बिना पापके नाश हुए गूँगा बोल नहीं सकता और न पंगुल पर्वतपर चढ़ सके। इसीसे आगे 'सकल कलिमलदहन' विशेषण देते हैं। जिसमें यह सामर्थ्य है वही जब कृपा करे तब पापका नाश हो, अतः कहा कि 'सो दयाल द्रवौ।' (ख) पर्वतकी दुर्गमता दिखानेके लिये वनसहित होना कहा। पाप मन वचन कर्म तीन प्रकारके होते हैं। यथा, 'जे पातक उपपातक अहहीं। कर्म बचन मन भव कबि कहहीं। २. १६७।', 'मन क्रम बचन जनित अघ जाई। ७. १२६।' 'सकल कलिमल' से तीनों प्रकारके छोटे बड़े सब पाप सूचित किये। (ग) मूकका वाचाल होना और पंगुका पर्वतपर चढ़ना भारी पुण्यका फल है। अतः 'मूक होइ....जासु कृपा' कहकर जनाया कि आपकी कृपासे पाप नाश को प्राप्त होते हैं और भारी पुण्य उदय होते हैं अर्थात् बड़े बड़े पापी आपकी कृपासे पुण्यका फल भोगते हैं।

नोट—१ मूक और पंगु मन एवं बुद्धिकी असमर्थताके सूचक हैं। श्रीमद्गोस्वामीजी अपनेको

श्रीरामचरित्रवर्णनमें मूक, पंगु और कलिमलग्रसित ठहराकर विनय करते हैं। यथा, 'निज बुधिबल भरोस मोहि नाहीं। ताते विनय करउँ सब पाहीं॥ करन चहउँ रघुपति गुन गाहा। लघुमति मोरि चरित अवगाहा॥ सूझ न एको अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥ मति अति नीच ऊँचि रुचि आछी।....। १. ८।', 'श्रोता वक्ता ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ़। किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलिमलग्रसित विमूढ़। १.३०।' इस सोरठेमें इष्ट परोक्ष है।

गोस्वामीजी कहते हैं कि जिस दयालुमें मूकको वाचाल, पंगुको गहन पर्वतपर चढ़ाने और सकल कलिमलोंके दहन करनेकी शक्ति है उससे अपना सम्बन्ध जानकर मैं विनती करता हूँ कि वह मुझे वक्ता, मेरी कविताको सबका सिरमौर (जिससे संसारभरमें इसका आदर हो) और मुझको निष्पाप करे। यहाँ 'परिकरांकुर अलंकार' है। यहाँ 'गिरिवर गहन' क्या है? उत्तर—पं. रामकुमारजीके मतानुसार श्रीरामचरितका लिखना पहाड़ है। उसे लिखनेमें वाणीसे तो मूक हूँ और मेरी बुद्धि पंगु है। श्रीरामयशगानका सामर्थ्य हो जाना तथा रामचरितमानस ग्रन्थकी समाप्ति निर्विघ्न हो जाना उसका पर्वतपर चढ़ जाना है। बाबा हरिहरप्रसादजी हरियशको पर्वत और रामचरित कहने और रामचरित्रके पार जानेके सामर्थ्यको पर्वतपरका चढ़ जाना कहते हैं। और, वैजनाथजीका मत है कि वेदपुराणादि पर्वत हैं अर्थात् वेदपुराणादिमें रामचरित गुप्त है जैसे पर्वतपर मणिमाणिक्यकी खानें गुप्त हैं। यथा, 'पावन पर्वत वेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना। ७.१२०।' वेदादिसे चरित्र निकालकर वर्णन करना पहाड़पर चढ़ना है।

नोट—२ 'सो दयाल द्रवौ' अर्थात् मुझे रामचरित लिखनेका सामर्थ्य दीजिये।

नोट—३ दहन करना तो अग्निका कार्य है और द्रवना जलका धर्म है तब 'द्रवौ' और 'कलिमलदहन' का साथ कैसा? अग्नि और जल एकत्र कैसे? यह शङ्का उठाकर उसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि—(क) जलमें दोनों गुण हैं। 'दाहक' धर्मभी है। पालाभी जल है पर फसलपर पड़ता है तो उसे जला डालता है। खेती मारी जाती है। कमलको झुलस डालता है। यथा, 'सियरे वचन सूखि गए कैसें। परसत तुहिन तामरसु जैसें॥ '२.७१'। इस प्रकार जलमेंभी दाहक शक्ति है। काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि 'महाभारतके 'कृत्घ्नः शिसिरघ्नश्च' इस श्लोकमें शिसि अग्नि का नाम प्रसिद्ध है'। (रा. प्र.)। पुनः, (ख) वेदांतनुसार प्रत्येक स्थूलभूतमें शेष चार भूतोंके अंशभी वर्तमान रहते हैं। भूतोंकी यह स्थूल स्थिति पंचीकरणद्वारा होती है जो इस प्रकार होता है। पहले पंचभूतोंको दो बराबर भागोंमें विभक्तकर फिर प्रत्येकके प्रथमार्धके चार चार भागकर जो बीस भाग हुए उनको अलग रक्खा। अंतमें एकएक भूतके द्वितीयार्द्ध में इन बीस भागोंमेंसे चार चार भाग फिरसे इस प्रकार रक्खे कि जिस भूतका द्वितीयार्द्ध हो उसके अतिरिक्त शेष चार भूतोंका एकएक भाग उसमें आ जाय। इस प्रकार जलमें अष्टम अंश अग्निका रहता ही है। (ग) श्रीमान् गौड़जी यहाँ दोनों शब्दों की सङ्गतिके विषयमें यह भाव कहते हैं कि जिस वस्तुको नष्ट करना होता है उसके लिये उनका प्रचंड प्रताप दाहक है। कलिमलको जलाकर नष्ट कर डालनेमें ही हमारा कल्याण है। परन्तु आपका हृदय जो नाश करनेके लिये वज्रसेभी अधिक कठोर है 'वज्रादपि कठोराणि', वह आपके उसी प्रचण्ड तापसे हमारे कल्याणके लिये 'द्रव' कर कोमल हो जाय। यह भाव है। अतः 'दहन' और 'द्रवण' असंगत नहीं हैं।

नोट—४ कोई कोई महानुभाव इस सोरठेके पूर्वार्द्धका अर्थ यह भी करते हैं कि (अर्थ—२) 'जिनकी कृपासे (जीव) मूक होते हैं, वक्ता होते हैं, पंगु होते हैं और बड़े गंभीर पर्वतोंपर चढ़ते हैं।' और इसके भाव यह कहते हैं कि—(क) मूक चार प्रकारके हैं। (१) वचनमूक जैसे ज्ञानदेवजीने भैंसेसे वेद पढ़वाया। (भक्तिरसबोधिनीटीका क० १७६)। (२) बधिरमूक वा अज्ञानमूक जैसे ध्रुवजी

और प्रह्लादजी। (३) धर्ममूक जो किसी कार्यके निमित्त किसीसे कुछ कहनेका अवसर पाकरभी किसीसे धर्मविचारसे कुछ न कह सके। (४) ज्ञानमूक जैसे जड़ भरतजी, दत्तात्रेयजी जो परमार्थके तत्त्वोंको प्राप्त करके मौनही हो गए। इसी तरह—(ख) पंगुभी तीन प्रकारके हैं। (१) स्थूलपंगु जैसे 'अरुण' जो सूर्यके सारथी हैं और 'गरुड़जीके पङ्ख' जिन्हें सूर्यने सामवेद पढ़ाया कि भगवान्‌की सवारीमें उनको सामवेद सुनाते रहें। कोई महात्मा गरुड़पक्षको 'नियत. मूक' कहते हैं। (मा. प्र.)। (२) कर्मपंगु जैसे श्रीशबरीजी और श्रीजटायुजी एवं कोलभील। (३) सुमतिपंगु। जिनकी बुद्धि श्रीरामपरत्वमें कुंठित हो गई है वे कूटस्थ क्षेत्रज्ञभावको प्राप्त होते हैं। (ग) अर्थ २ में 'होहि' को मूक, पंगु और वाचाल तीनोंके साथ माना गया है। मूक होते हैं अर्थात् निन्दादि वार्ता छोड़ देते हैं। वाचाल होते हैं अर्थात् भगवन्नामयशादि कीर्त्तन करने लगते हैं। पंगु होते हैं अर्थात् इधर-उधर कुत्सित स्थानोंमें जाना छोड़ देते हैं। गंभीर पर्वतोंपर चढ़ते हैं अर्थात् राज्य संपत्ति छोड़ वनों और पर्वतोंपर जाकर भजन करते हैं। (घ) (अर्थ—३) वाचाल (कुत्सित बोलनेवाले) मूक होते हैं (कुत्सित बोलना छोड़ देते हैं) और गिरिवरगहन पर जो चढ़ा करते हैं (चोर डाकू आदि) वे पंगु होते हैं अर्थात् दुष्ट कर्म छोड़ देते हैं। (ङ) अर्थ २ और ३ क्लिष्ट कल्पनायें हैं। (रा. प्र.)।

नील सरोरुह स्याम, तरुन अरुन बारिज नयन।
करौ सो मम उर धाम, सदा छीरसागर सयन॥ ३॥

शब्दार्थ—सरोरुह (सर+रुह=सरसे उत्पन्न)=कमल (योग रूढ़ि)। स्याम (श्याम)=श्याम साँवला वर्ण। तरुन (तरुण)=युवा अवस्थाका अर्थात् तुरंतहीका पूरा खिला हुआ। अरुन (अरुण)=लाल। श्रीसंतसिंह पंजाबीजी लिखते हैं कि 'अरुणो व्यक्त राग स्यात् इति विश्वकोषे' के प्रमाणसे यहाँ अरुणताका भाव लेना चाहिये। अर्थात् अरुणता उस ललामीको कहते हैं जो प्रकट न हो; नेत्रोंमें किनारे किनारे लाल डोरोंके सदृश जो ललामी होती है। बारिज (बारि+ज=जलसे उत्पन्न)=कमल (योग रूढ़ि)। उर=हृदय। छीरसागर (क्षीरसागर)=दूधका समुद्र। यह सप्त प्रधान समुद्रोंमेंसे एक माना जाता है। इसमें भगवान् श्रीमन्नारायण शयन करते हैं। सयन (शयन)=सोनेवाले।

अर्थ—(जिनका) नील कमल समान श्याम (वर्ण है), नवीन पूरे खिले हुये लाल कमल समान नेत्र हैं और जो सदा क्षीरसागरमें शयन करते हैं, वे (भगवान्) मेरे हृदयमें 'धाम' करें। ३।

नोट—१ 'नील सरोरुह श्याम' इति। नील कमल समान श्याम कहनेका भाव कि (क) कमल कोमल और आर्द्र होता है, वैसेही प्रभु करुणायुक्त मृदुलमूर्त्तिहैं। यथा, 'करुनामय रघुबीर गोसाईं। बेगि पाइअहिं पीर पराई॥ २. ८५।', 'बारबार मृदुमूरति जोही। लागिहि तात बयारि न मोही। २. ६७।', 'मृदुल मनोहर सुंदर गाता। ४. १।' (ख) श्याम रंग, श्याम स्वरूप भगवान्‌के अच्युत भावका द्योतक है। इस रंगपर दूसरा रंग नहीं चढ़ता, यह सदा एकरस बना रहता है, वैसेही भगवान् शरणागतपर एकरस प्रेम रखते हैं, चूक होनेपरभी शरणागतको फिर नहीं त्यागते।

नोट—२ 'तरुन अरुन बारिज नयन' इति। (क) तरुणसे युवावस्थाका रूप सूचित किया। पुनः, 'तरुन' बारिजकाभी विशेषण है। अर्थात् पूर्ण खिले हुए कमलके समान। नेत्रोंकी उपमा कमलदलसे दी जाती है। नेत्र कमलदलके समान लंबे हैं, आकर्णपर्यंत लंबे हैं। यथा, 'अरुन कंजदल लोचन सदा दास अनुकूल।' (गीतावली ७. २१), 'कर्णान्तदीर्घनयनंनयनाभिरामम्।' (स्तवपंचक)। पुनः, 'तरुण' कहकर जनाया कि भक्तोंके दुःख हरण करनेमें आपको किंचित्‌भी आलस्य कभी नहीं होता। क्योंकि युवावस्थामें आलस्य नहीं होता।

(ख) 'अरुण' इति । नेत्रोंकी अरुणता राजसगुणका द्योतक है और योगनिद्रासे जगे हुये महापुरुषके भक्तभय-हारी भावको दर्शित कर रहा है । (देवतीर्थस्वामी) । 'अरुण' से जनाया कि ऊपर, नीचे और कोनोंमें लाल लाल डोरे पड़े हुए हैं; यह नेत्रोंकी शोभा है । पूरा नेत्र लाल नहीं होता । यह ललाई दुःखहरण स्वभावका द्योतक है ।

नोट—३ 'करौ सो मम उर धाम' इति । 'धाम' का अर्थ 'घर', 'स्थान', 'पुण्यतीर्थस्थल' 'तेज', 'प्रकाश' इत्यादि है । मेरे हृदयमें घर बनाइये, मेरे हृदयको पुण्यतीर्थ कर दीजिए, मेरे हृदयमें प्रकाश कीजिये; ये सब भाव 'करौ धाम' में हैं । एवं 'धाम करो' अर्थात् घर बनाकर निवास कीजिये । विशेष आगे शङ्का समाधानमें देखिये ।

टिप्पणी—१ 'सदा छीरसागरसयन' इति । (क) 'छीरसागरशयन' कहकर 'श्रीसीताराम लक्ष्मण' तीनोंको उरमें बसाया । पयपयोधिमें श्रीलक्ष्मीजी, श्रीमन्नारायण और शेष तीनों श्रीसीताराम लक्ष्मणजीही हैं । यथा, 'पयपयोधि तजि अवध बिहाई । जहँ सिय लखन रामु रहे आई ॥ २. १३९ ।' (पं० रामकुमारजी) ।

(ख) हरिको हृदयमें बसाया जिसमें हृदयमें प्रेरणा करें । यथा, 'जस कछु बुधि बिबेक बल मोरें । तसि कहिहौं हिय हरिके प्रेरें । १. ३१ ।' (पं० रामकुमारजी) । [क्षीरशायी भगवान् श्रीरामजीके नाम रूप लीला धामका परत्व यथार्थ जानते हैं । वे स्वयंभी श्रीरामावतार ग्रहणकर श्रीरामजीकी लीला किया करते हैं, अतः वे श्रीरामचरित भली-भाँति जानते हैं । हृदयमें बसेंगे तो यथार्थ चरित कहला लेंगे । (वन्दनपाठकजी)] नोट ८ पृष्ठ ६९ भी देखिये ।

(ग) भगवान् विष्णुके स्वरूपको व्यासजीने ऐसा वर्णन किया है, 'शांताकारं भुजगशयनं पद्मनाभं सुरेशम् । विश्वाधारं गगनसदृशं मेघवर्णं शुभाङ्गम् ॥ लक्ष्मीकांतं कमलनयनं योगिभिर्ध्यानगम्यम् । वन्दे विष्णुं भवभयहरणं सर्वलोकैकनाथम् ॥' इस स्वरूपवर्णनमें 'कमलनयनं, गगनसदृशं, मेघवर्णं' कहे और बड़ाईके विशेषण दिये हैं । 'नील सरोरुह स्याम तरुन अरुन बारिज नयन' कहकर फिर 'क्षीरसागरसयन' कहनेसेही 'भुजगशयन, लक्ष्मीकांत, पद्मनाभ आदि सभी विशेषणोंका ग्रहण हुआ । (पं० रामकुमारजी) ।

(घ) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यह लोकरीति है कि राजाके शयनागारमें बाहरके लोगोंका तो कहनाही क्या, घरकेभी लोग इने-गिनेही जाने पाते हैं । यहाँ कामक्रोधादि बाहरके लोग हैं और अपने लोगों में शुष्क ज्ञान और वैराग्य हैं जो भीतर नहीं जाने पाते । यहभी सूचित किया कि भक्ति सदा पास रहनेवाली है ।

(ङ) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि दुर्वासा ऋषिके कोपसे श्रीलक्ष्मीजी क्षीरसागरमें लुप्त हो गई थीं; वैसेही कलियुगरूपी दुर्वासाके कोपसे भक्तिरूपी लक्ष्मी लुप्त होगई हैं । क्षीरसमुद्र मथनेपर लक्ष्मीजी प्रकट हुईं । वैसेही आप मेरे हृदयरूपी क्षीरसागरको मथन कराके जगत्के उद्धारहेतु श्रीरामभक्तिको प्रकट कराइये । यह भाव क्षीरसागर शयनसे धाम करनेकी प्रार्थनाका है । यहाँ हृदय क्षीरसागर है, विवेकादि देवता और अविवेकादि दैत्य हैं, मनोरथ मंदराचलरूपी मथानी है, विचार वासुकीरूपी रस्सी है, प्रभुकी कृपासे काव्यरूप चौदह रत्न प्रकट होंगे । मोह कालकूट है जिसे नारदरूपी शिव पान करेंगे, नरनाट्य वारुणी है जिसे अविवेकी दैत्य पानकर मतवाले हुए, श्रीरामरूप अमृत है जिसे पाकर संतरूपी सुर पुष्ट हुए, हरियश अश्व है जो विवेक-रूपी सूर्यको मिला, माधुर्य्य लीला सबको मोहित करनेवाली अप्सरा है । इसी तरह धर्म ऐरावत, रामनाम कल्पवृक्ष, ऐश्वर्यके चरित कामधेनु, धाम चन्द्रमा, सुकर्म धन्वन्तरि, अनुराग शंख, कीर्त्ति-मणि, श्रीरामराज्यमें जो प्रताप है वही धनुष है । काकभुशुण्डिप्रसङ्गमें जब भक्तिरूपिणी लक्ष्मी प्रकट हुईं तब सब जगका पालन हुआ । इत्यादि कारणोंसे 'क्षीरसागरशयन' कहकर हृदयमें धाम करनेको कहा ।

(च) क्षीरसागर शुद्ध धर्म (सद्धर्म) का स्वरूप है अतः वैसाही धाम बनानेको कहा। (रा. प.)।

(छ) आप ऐसे समर्थ हैं कि आपने जलमें धाम बनाया है जो सर्वथा असंभव कार्य है। यथा, 'चहत बारिपर भीति उठावा।' और इतनाही नहीं वरंच शेषशय्यापर आपका निवास है। आपके सङ्गसे विषधर सर्पभी निरंतर प्रभुका यश गान करते हैं। मेरे हृदयरूपी समुद्रमें कामादि सर्प हैं। आप हृदयमें बसेंगे तो आपकी कृपासे वहभी श्रीरामयशगानमें समर्थ हो जायगा।

नोट—४ विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि 'कहा जाता है कि सोरठा २ और ३ में यह गूढ़ आशय भरा है कि निर्गुण ब्रह्म सगुण होकर अवतरे और तीनों गुणोंके अनुसार गोस्वामीजीने यहां तीन विशेषण दे तीनही बातें अपने लिये माँगी हैं। वह इस तरह कि 'क्षीरसागरशयन' को सतोगुणरूप मान उनसे 'मूक होइ बाचाल' यह सतोगुणी वृत्ति माँगी। 'तरुण अरुण बारिज नयन' से रजोगुणीरूपी मान उनसे 'पंगु चढ़ै गिरिवर गहन' यह रजोगुणरूपी वृत्ति माँगी। और, 'नील सरोरुह श्याम' से तमोगुणवाले समझ 'कलिमलदहन' करनेकी प्रार्थना की।' [इससे सूचित होता है कि इस भावके समर्थक दोनों सोरठोंको वे क्षीरशायीपरक मानते हैं]

शंका—श्रीमद्गोस्वामीजी तो श्रीरामजीके अनन्य उपासक हैं। यथा, 'का बरनौं छबि आजकी, भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक तब नवै, धनुष बान लो हाथ॥' उन्होंने प्रायः सर्वत्र श्रीरामजीकोही हृदयमें बसनेकी प्रार्थना की है। यथा, 'मम हृदय कंज निवास करु कामादि खल दल गंजनम्।' (विनय ४५), 'बसहुँ राम सिय मानस मोरे।' (विनय १), 'माधुरी बिलास हास गावत जस तुलसीदास, बसत हृदय जोरी प्रिय प्रेमप्रान की' (गीतावली), इत्यादि। तो यहाँ क्षीरशायी भगवान्‌को बसनेको कैसे कहा?

समाधान—(१) गौड़जी—त्रिपाद् विभूतिके भगवान् द्विभुजी सीतारामलक्ष्मण प्रत्येक एकपाद् विभूतिवाले विश्वकी रचनामें श्रीमन्नारायण, लक्ष्मी और शेषका रूप धारण करते हैं। विश्वकी रचनाके लिये अनंत देश और अनंतकालमें विस्तीर्ण उज्ज्वल क्षीरसागरमें विराजते हैं। यह नारायणावतार है जिसे महाविष्णु भी कहते हैं। गोस्वामीजी यहाँ सोरठेके पहले आधेमें अपने प्रभु रामकीही वंदना करते हैं जो नील सरोरुह श्याम हैं, जिनके 'तरुण अरुण बारिज नयन' हैं, जो (एकपाद् विभूतिमें 'धाम' करनेको क्षीरसागरमें शयन करते हैं, और इस अनंत उज्जवलता और अनंत विस्तारमें ही 'सदा' शयन करते हैं, इससे कममें नहीं।) आप समर्थ हैं। मेरे हृदयमें विराजनेके लिये उसके अंधकारको दूरकर अनंत उज्ज्वलता प्रदान कीजिये और उसकी छुटाई और संकोचको दूर करके उसे अनंत विस्तार दीजिये कि आप उसमें समा सकें। 'अर्जो समा कहाँ तेरी वसअतको पा सके। मेरा ही दिल है वो कि जहाँ तू समा सके॥' 'क्षीरसागर शयन' से लोग चतुर्भुजी रूपके ध्यानकी बात जो कहते हैं, वह किसी तरह ठीक नहीं है। क्योंकि यद्यपि 'क्षीरसागरशयन' से ध्वनि बहुतसी निकलती है, जैसे नारायणका चतुर्भुजरूप, शेषपर शयन, नाभिकमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति इत्यादि इत्यादि, तथापि ध्वनि भी शब्दोंसे नितांत असंबद्ध नहीं होती। क्षीरसागरशयन कहा, शेषशय्याशयन नहीं कहा, जो कि अनुप्रासकी दृष्टिसे भी सुन्दर होता, और अधिक ठीक होता क्योंकि भगवान् तो क्षीरसागरमें नहीं वरन् शेषशय्यापर सोते हैं। यदि यह कहो कि गङ्गाघोषकी तरह यहाँ क्षीरसागरशयन भी है तो यह तब ठीक होता जब शेषको व्यक्त करना प्रयोजनीय होता। 'क्षीरसागर' कहना अवश्य प्रयोजनीय है। वह प्रयोजन अनंत उज्ज्वलता और अनंत विस्तार है। चतुर्भुजता नहीं है। हृदयको उज्ज्वल और उदार बनाना इष्ट है। 'चतुर्भुज' की कल्पनासे क्या प्रयोजन सधेगा? साथ ही गोस्वामीजी महाविष्णुको रामजीका अवतार होना भी यहाँ इंगित करते हैं और नारायण और राममें अभेद दिखाते हैं।

(२) टिप्पणी (१) देखिये। और भी समाधान टीकाकारोंने किये हैं।

(३) हमारा हृदय कलिमलग्रसित है, जबतक स्वच्छ न होगा श्रीसीतारामजी और उनके चरित्र उसमें वास न करेंगे। यथा, 'हरि निर्मल मलग्रसित हृदय असमंजस मोहि जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।' (वि० १८५)। श्रीमन्नारायणके निवास करनेसे यह भी क्षीरसागरके समान स्वच्छ हो जावेगा, इसलिये प्रार्थना है कि वास कीजिये। अथवा, क्षीरसमुद्रके सदृश हमारे हृदयमें स्वच्छ और पवित्र घर बना दीजिये जिसमें श्रीसीतारामजी आकर नित्य वास करें। अवध धाम अथवा घर बनानेको कहा है, बसनेको नहीं। (वंदनपाठकजी)।

(४) अगस्त्यसंहिता, वशिष्टसंहिता, रामतापनी-उपनिषद् और सुंदरीतंत्रादि ग्रंथोंमें क्षीरशायी भगवान्को पीठदेवता कहा है। ऐसा मानकर इनको प्रथम वास दिया। पीठदेवताका प्रथम पूजन सर्वसंमत है, पीछे प्रधानपूजन होता है। (रा. प्र.)।

(५) यह लोक रीति है कि जहाँ सरकारी पड़ाव पड़नेको होता है वहाँ परिकर प्रथम जाकर डेरा डालते हैं, सफ़ाई कराते हैं, तत्पश्चात् सरकारकी सवारी आकर वहाँ निवास करती है। वही रीति यहाँ भी समझ ले। इत्यादि।

नोट—५ 'श्रीमनुशतरूपाजीको दर्शन देनेको जब प्रभु प्रगट हुए तब 'नीलसरोरुह नीलमनि, नील-नीरधर स्याम। (१. १४६)' ये तीन उपमाएँ श्याम छवि की दीगई हैं। श्रीमन्नारायणको इसमेंसे एक अर्थात् 'नीलसरोरुहो, हीकी उपमा क्यों दी ?' यह शंका उठाकर उसके समाधानमें श्रीरामगुलामजी द्विवेदी कहते हैं कि कैवल्यके अंतर्गत महाकारण और कारण शरीरोंकी जहाँ उपनिषदोंमें व्याख्या है वहाँ कारणकी उपमा नील कमलसे दी है। कमलहीसे ब्रह्माकी उत्पत्ति है और उनसे जगत् की। महाकारण शरीरके लिये 'नीलमणि' की उपमा सार्थक है एवं कैवल्यके लिये 'नीलनीरधर' की। सगुण ब्रह्मके प्रतिपादनमें इन तीनों सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीरोंकी प्रधानता है। श्रीरामभद्रके परस्वरूपमें तीनोंका समावेश है और श्रीमन्नारायणमें दोका परोक्ष भावसे ग्रहण होता है और कारणका प्रत्यक्ष भावसे। क्योंकि वे जगत्के प्रत्यक्ष कारणस्वरूप हैं'। (तु० प०)।

नोट—६ 'नील सरोरुह' उपमान है, 'श्यामता' धर्म है, वाचक और उपमेय यहाँ लुप्त हैं; इससे 'वाच-कोपमेयलुप्तोपमा अलंकार' हुआ। तरुण अरुण धर्म है, वारिज उपमान है, नयन उपमेय है, वाचक नहीं है; इससे इसमें 'वाचकलुप्तोपमा अलंकार' हुआ। गुण और निवासस्थान कहकर क्षीरशायी विष्णुका परिचय कराना किन्तु नाम न लेना 'प्रथम पर्य्यायोक्ति अलंकार' है।

नोट—७ (क) श्रीनंगेपरमहंसजीः—"सोरठा २ में एकपादविभूतिस्थ त्रिदेवान्तर्गत रमावैकुण्ठनाथ विष्णुकी वंदना है जिनका पालन करना कार्य है। इस वैकुण्ठमें ब्रह्मादि देवताओंकाभी आनाजाना होता है और सोरठा ३ में क्षीरशायी विष्णुकी वंदना है जो गुणातीत तथा अनेक ब्रह्माण्डोंके नायक हैं। त्रिदेवगत विष्णुभगवान्की वंदनामें तो और देवताओंकी भाँति 'द्रवउ' अर्थात् कृपा करनेकीही प्रार्थना की है जैसे गणेशजीसे 'करौ अनुग्रह' और भगवान् शिवसे 'करहु कृपा' मात्रही विज्ञापन है। और परमप्रभु क्षीरशायीको अपने उरमें धाम बना लेनेकी प्रार्थना की है। त्रिपादविभूतिस्थ क्षीरशायीही एकरूपसे एकपादविभूतिस्थ क्षीरसागरमेंभी रहते हैं, दोनों एकही हैं।"

(ख) प्रश्न—त्रिदेवगत विष्णु और क्षीरशायी विष्णुकी अलग अलग वंदना क्यों की ?

उत्तर—"त्रिदेवविष्णुभी पूज्य देव और पालनके अधिष्ठाता ब्रह्माण्डके नायक हैं। जब सब देवताओंकी वंदना हुई है तब इनकीभी होनी आवश्यक थी और इस एक सोरठेको छोड़ और कहीं इनकी वंदना है भी नहीं। अतः सब देवोंकी भाँति इनसेभी दया चाही गई है। परंतु क्षीरशायी

सरकार तो अवतारी अवतार अभेदतासे अपने इष्टही हैं। इसीसे उन्हें वंदना करके अपने हृदयमें धामही बनानेकी भिक्षा माँगते हैं।" (श्री नंगे परमहंसजी)।

नोट—८ मानसमयंककारका मत है कि मानसमें स्थानभेदसे दोनोंके अधिष्ठाता वैकुण्ठाधिपति विष्णु और क्षीरशायी विष्णुका अवतार वर्णन किया गया है। परमेश्वर एकही है, स्थान अनेक हैं। इस हेतु दोनोंकी वंदना की। परतम श्रीरामचन्द्रजी कारण हैं और श्रीमन्नारायण कार्य हैं। ये श्रीरामचन्द्रजीके चरितको यथार्थ जानते हैं। यथा, 'परो नारायणो देवोऽवतारी परकारणम्। यथार्थं सोऽपि जानाति तत्त्वं राघव सीतयोः॥' वे हृदयमें निवास करेंगे तो उनकी प्रेरणासे मेरे हृदयसे रामचरितमानसका यथार्थ कथन होगा।

कुंद इंदु सम देह, उमारमन करुना-अयन।
जाहि दीन पर नेह, करौ कृपा मर्दन-मयन॥ ४॥

शब्दार्थ—कुंद=कुंदका फूल। कुंद जुहीकी तरहका एक पौधा है जिसमें श्वेत फूल होता है। यह कुँआरसे चैततक फूलता रहता है। इसका फूल उज्ज्वल, कोमल और सुगंधित होता है। इंदु=चंद्रमा। सम=समान, सदृश, सरीखा। उमारमन=उमारमण=पार्वतीपति=शिवजी। करुना (करुणा)=मनका वह विकार जो दूसरेका दुःख देखकर वा जानकर उत्पन्न होता है और उसके दुःखके दूर करनेकी प्रेरणा करता है। यथा, 'दुःख दुःखित्वामार्त्तानां सततं रक्षणत्वरा। परदुःखानुसंधानाद्विह्वली भवनं विभोः॥', 'कारुण्याख्य गुणो ह्येष आर्त्तानां भीतिवारकः।' 'आश्रितार्त्याग्निना हेम्नोरद्वितुहृदयद्रवः। अत्यंत मृदुचित्तत्वमश्रुपातादि कृद्रवत्।' (भगवद्गुणदर्पणभाष्ये)। अयन=घर, स्थान। नेह=स्नेह, प्रेम। मर्दन=नाश करनेवाले। मयन=कामदेव।

अर्थ—कुन्दपुष्प और चंद्रमाके समान (गौर) शरीरवाले, करुणाके धाम, जिनका दीनोंपर स्नेह है, कामको भस्म करनेवाले (उसका मान मर्दन करनेवाले) और उमामें रमण करनेवाले (श्रीशिवजी)! मुझपर कृपा कीजिये। ४।

नोट—१ इस सोरठेमें साधारणतया श्रीशिवजीकी वंदना है। पं. रामकुमारजी एवं नंगे परमहंसजी इसमें शिवजीकीही वंदना मानते हैं। पंजाबीजी, वैजनाथजी और रामायणपरिचर्य्याकाभी यही मत है। श्रीकरुणासिंधुजी, पं० शिवलाल पाठकजी, बाबा श्रीजानकीदासजी (मानस परिचारिकाके कर्त्ता) आदि महात्माओंकी सम्मतिमें इस सोरठेमें ध्वनि अलङ्कारसे श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजीकी अर्थात् 'शक्तिविशिष्ट शिव' की वंदना पाई जाती है। भगवान् शङ्कर अर्द्धनारीश्वर हैं। अर्थात् उमाजी श्रीशिवजीकी अर्धाङ्गिनी हैं और एकही अङ्ग (वामभाग) में विराजती हैं। अतएव 'उमारमन' कहकर 'उमा' और 'उमारमण' दोनोंका बोध कराया है और एकही सोरठेमें दोनोंकी वंदना करके विलक्षणता दिखाई है।

नोट—२ 'कुंद इंदु सम देह' इति। (क) यहाँ गौर वर्णकी दो उपमाएँ देकर दोनोंके पृथक्-पृथक् गुण शिवजीके शरीरमें एकत्र दिखाए। इन दो विशेषणोंको देकर शरीरकी विशेष गौराङ्गता दर्शाते हुए उसका कुंदसमान कोमल और सुगंधित होना और चन्द्रमासमान स्वच्छ, प्रकाशमान, तापहारक और आह्लादकारक होनाभी साथही साथ सूचित किया है। ये विशेषण शिवजीके लिये अन्यत्रभी एकसाथ आए हैं। यथा, 'कुंद इंदु दर गौर सरीरा। १. १०६।', 'कुंद इंदु दर गौर सुंदरं अंबिकापतिमभीष्टसिद्धिदम्।' (७. मं. श्लो. ३), 'कुन्देन्दु कर्पूर दर गौर विग्रह रुचिर' (विनय १०), इत्यादि। (ख) ये दोनों उपमाएँ साभिप्राय हैं। ग्रंथकार चहाते हैं कि हमारा हृदय कुन्दसमान कोमल और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान हो जावे। (पंजाबीजी)।

(ग) कुंद धातुका अर्थ उद्धार है और इंद धातुका अर्थ परम ऐश्वर्य है। ये दोनों भाव दरसानेके लिये दो दृष्टांत दिये। (काष्ठजिह्वा स्वामी)। (घ) कुन्दकी कोमलता और उज्ज्वलता तो शरीरमें प्रगट देख पड़तीही हैं, सुगन्धता अङ्गमें भी है और कीर्त्तिरूप हो देश-देशमें प्रगट है, फैली हुई है। चंद्रमा उज्ज्वल, अमृतस्रावी और औषधिपोषक हैं। श्रीशिवजीके अङ्गमें ये गुण कैसे कहे? इस तरह कि श्रीरामचरितामृतकी वर्षा जो आपके मुखारविंदसे हुई यही चंद्रमाका अमृतस्राव गुण है। मुख चंद्रमा है। यथा, 'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुवीर। श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर। ७. ५२।' श्रीरघुनाथजीके उपासक औषधिरूप हैं, उनको भक्तिमें दृढ़ करना औषधिका पोषण करना है। (रा. प्र.)। (ङ) वैजनाथजी लिखते हैं कि 'उज्ज्वलतामें छःभेद हैं। तमोगुणरहित निर्मलता, कुज्ञानरहित स्वच्छता 'रजोगुणरहित शुद्धता, भक्ष्याभक्ष्यरहित सुख, अजरादि चेष्टारहित देदीप्यमान, सदा स्वतंत्र इत्यादि।' 'परसे परस न जानिये' यही कोमलता है। सदा दया चंद्रमाकी शीतलता हैं, सबको सुखदाता होना यह चंद्रमाकी आह्लादकता है, कृपा अमृत हैं, जीवमात्र औषधि हैं जिनका आप पोषण करते हैं। प्रकाश प्रसिद्ध है। ये सब गुण निर्हेतु परस्वार्थके लिये हैं; अतः मुझपरभी निर्हेतु कृपा करेंगे।'

नोट—३ 'कुंद इंदु' को शिवजीके विशेषण मानकर ये भाव कहे गए। यदि इस सोरठेमें श्रीउमाजी और श्रीशिवजी दोनोंकी वंदना मानें तो इन विशेषणोंके भाव ये होंगे।—(क) शुद्धार्त्त जिज्ञासारूपा भवानीकी छटा कुन्दपुष्पके तद्वत् सुकोमल, सरस और सुरभित (विनयान्वित) है और शुद्धबोधमय भगवान् शङ्करकी छवि चन्द्रवत् प्रकाशमान्, शीतल और अमृतमय अखण्ड एकरस है, क्योंकि 'उमा' नाम शुद्धार्त्त जिज्ञासाकाभी है। उस शुद्ध सात्त्विक मनको देवदेवने अपने उपदेशसे श्रीरामचरितमें रमाया है, उसे 'परमतत्त्व' का बोध कराया है। (तु. प.)। (ख) कुन्द और इन्दुमें सनातन प्रणय संबंध है और श्रीशिवपार्वतीजीका चरित प्रणयरससे पूर्ण है। अतः यह उक्ति वा उपमा सार्थवती होती है। (तु. प.)। (ग) पीत कुन्दके समान 'कोमल, सुगंध मकरंदमय उमाजीका शरीर है।' 'श्वेतप्रकाश अमृतमय उमारमनका तन है।' (मा. प्र.)।

'उमारमन' इति।

पं. रामवल्लभाशरणजी—'उमारमण' विशेषण देकर कविने अभिन्नताभावको गर्भित करतेहुए उनमें शक्तिकी विशिष्टताको स्वीकार किया है। इसतरह इसमें ब्रह्मविशिष्टरूपसे शक्तिकीभी वंदना हो गई।

श्रीजहांगीरअली शाह औलिया—'अर्द्धाङ्ग भवानी शङ्करकी छवि भक्ति ज्ञानकी जोड़ी है।' अर्थात् यहाँ ज्ञान और भक्तिका एकीकरण दिखाया है।

गौड़जी—'उमा रमण' में विशेष प्रयोजन है। उमा महाविद्या हैं। यथा श्रुतिः, 'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमाँ हैमवतींता ँ हो वाच किमेतद्यक्षमिति'। (केन ३। १२)। 'सा' ब्रह्मेति हो वाच। (केन ४.१) उमा महाविद्याही ब्रह्मविद्या हैं। वही ब्रह्मज्ञान देती हैं। उमा महेश्वर-संवादसेही श्रीरामचरित प्राप्त हुआ है। भगवान शङ्कर उसी महाविद्यामें रममाण हैं। कविका अभिप्राय यही है कि आप उमामें प्रीति करते हैं, अवश्यही मुझे रामकथा कहनेकी शक्ति प्राप्त होगी। और कथाकी प्राप्ति उमाद्वारा हुई भी है। पहले उमा बालक रामबोलाको भोजन करा जाती थीं। उन्हींकी प्रेरणासे भगवान् शङ्करने रामबोलाका पालन ही नहीं कराया, वरन् गुरुके द्वारा रामचरितमानसभी दिया। इसीसे तो 'उमारमण' 'करुणाअयन'भी हैं। करुणा करके अहेतुकही रामबोलाको जगत्प्रसिद्ध कवि तुलसीदास बना डाला। "दीनपर ऐसा नेह" है।

नोट—४ (क) उमारमण (पार्वतीजीके पति) कहनेका भाव कि पार्वतीजी करुणारूपा हैं इसीसे

उन्होंने प्रश्न करके विश्वोपकारिणी कथा प्रगट कराई। आप उनके पति हैं अतएव 'करुणाअयन' हुआही चाहें। सब जीवोंपर करुणा करके रामचरित प्रगट किया, इसीसे शिवजीको 'करुणाअयन' कहा। (वै., रा. प्र.)। 'करुनाअयन' यथा, 'पान कियो बिष भूषन भो करुनाबरुनालय साइँ हियो है।' (क. ७. १५७) वीरमणिका सङ्कट देख उसकी ओरसे शत्रुघ्नजीसे लड़े, वाणासुरके कारण श्रीकृष्णजीसे लड़े इत्यादि 'करुणाअयन' के उदाहरण हैं। (वै.)। (ख) 'दीन पर नेह' यथा, 'सकत न देखि दीन कर जोरें' (विनय ६)। काशीके जीवोंको रामनामका अंतकालमें उपदेश देकर मुक्त कर देते हैं, देवताओंको दीन देखकर त्रिपुरका नाश किया; इत्यादि इसके उदाहरण हैं। (ग) 'दीन पर नेह' कहकर कवि शिवजीसे अपना नाता 'दीनता' से लगाते हैं। (खर्रा)। भाव कि मैंभी दीन हूँ, अतएव आपकी कृपाका अधिकारी हूँ, मुझपरभी कृपा कीजिये। (घ) 'मर्दनमयन' इति। जैसे कलिमलदहनके लिये सूर्य या विष्णु भगवान्‌की वंदना की और हृदयकी स्वच्छताके लिये 'क्षीरसागरशयन' की वंदना की; वैसेही यहां कामके निवारणार्थ 'मर्दनमयन' शिवजीकी वंदना की है। जबतक काम हृदयमें रहता है तबतक भगवत् चरितमें मन नहीं लगता और न सुखही होता है। यथा, 'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बयें फल जथा। ५. ५८।'

टिप्पणी—१ (क) यहांके सब विशेषण ('उमारमण', 'करुणाअयन', 'जाहि दीनपर नेह' और 'मर्दनमयन') चरितात्मक हैं। मयनका भस्म करना, रतिकी दीनतापर करुणा करके उसको वर देना, देवताओंपर करुणा करके उमाजीको विवाहना, फिर उमाजीपर करुणा करके उनको रामचरित सुनाना, यह सब क्रमसे इस ग्रंथमें वर्णन करेंगे। इसीको सूचित करनेवाले विशेषण यहां दिये गए हैं। (ख) 'दीन पर नेह' और 'मर्दनमयन' को एक पंक्तिमें देकर सूचित किया कि कामको जलानेपर रति रोती हुई आई तो उसकी दीनतापर तरस खाकर उसे आपने वरदान दिया कि 'बिनु बपु ब्यापिहि सबहिं पुनि सुनु निज मिलन प्रसंग। १-८७।' इस प्रकार 'मर्दनमयन' पद 'दीन पर नेह' का और 'उमारमन' पद 'करुनाअयन' का बोधक है। (ग) यहांतक चार सोरठोंमें वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण किया गया। अर्थात् इन सोरठोंमें सूक्ष्मरीतिसे आगे जो कथा कहनी है उसका निर्देश किया है। इस तरह कि गणेशजी आदिपूज्य हैं, इससे प्रथम सोरठेमें उनका मङ्गल किया। यथा, 'प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ'। भगवान् विष्णु, श्रीमन्नारायण और शिवजीका मङ्गल किया क्योंकि आगे इस ग्रंथमें तीनोंकी कथा कहनी है। 'कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभुसंबाद। १. ४७।' से 'प्रथमहि मैं कहि सिवचरित बूझा मरमु तुम्हार। १.१०४।' तक शिवचरित है फिर उमा शंभु संवाद है, तदन्तर्गत 'द्वारपाल हरिके प्रिय दोऊ।' दोहा १२२ (४) से 'एक जनम कर कारन एहा' १२४ (३) तक विष्णुसंबंधी कथा है और 'नारद श्राप दीन्ह एक बारा' १२४ (५) से 'एक कलप एहिं हेतु प्रभु लीन्ह मनुज अवतार।१३९।' तक क्षीरशायीभगवान् संबन्धी कथा है। (घ) पांचवे सोरठेमें नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण किया। 'वदि अभिवादन स्तुत्योः' उसमें 'बंदउँ' शब्द आया है जो नमस्कार सूचित करता है। (ङ) इसपर यह प्रश्न होता है कि आगे मङ्गलाचरणका स्वरूप क्यों बदला? स्वरूप बदलकर सूचित करते हैं कि एक प्रकरण चौथे सोरठेपर समाप्त हो गया। आगे श्रीगुरुवंदनासे दूसरा प्रकरण चलेगा।

नोट—५ यदि 'उमारमण' से यहाँ उमाजी और उमापति शिवजी दोनोंकी वन्दना अभिप्रेत है तो यह शङ्का होती है कि उमाजीमें 'मर्दनमयन' विशेषण क्योंकर घटेगा?' बाबा जानकीदासजी इसका समाधान यह करते हैं कि शिवजीने तो जब कामदेवको भस्म किया तब 'मर्दनमयन' कहलाए और श्रीपार्वतीजी तो बिना कामको जलाये अपने अलौकिक और अपूर्व त्यागसे पूर्वहीसे कामको मर्दन किये हुए हैं। इसका प्रमाण बालकाण्डके ८९वें दोहेमें मिलता है। जब सप्तर्षि आपकी परीक्षाके लिये दूसरी बार आपके समीपगए और बोले

कि 'अब भा झूठ तुम्हार पन जारेउ काम महेस' ।, तब आपने उत्तर दिया कि 'तुम्हरें जान काम अब जारा। अब लगि संभु रहे सविकारा ॥ हमरें जान सदा शिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी ॥ जौं मैं शिव सेए अस जानी। प्रीति समेत कर्म मन बानी ॥....। १. ९०।' इन वचनोंसे श्रीपार्वतीजीकाभी 'मर्दनमयन' होना प्रत्यक्ष है। मानसमार्तण्डकार लिखते हैं कि जैसें कुन्दसे उमाकी और इन्दुसे शिवजीकी उपमा दी, इसी प्रकार आगे चलकर दो विशेषणोंसे दोनोंको एक रूपमें भूषित किया। 'करुणाअयन' जगन्माता पार्वतीजीको और 'जाहि दीन पर नेह' शङ्करजीको कहा। आगे चलकर दोनोंसे याचना करते हैं। श्रीपार्वतीजीसे कहते हैं, 'करो कृपा'। यथा विनयपत्रिकायां, 'दुसह दोष दुख दलनि करु देवि दाया।' और, शङ्करजीसे कहते हैं 'मर्दन मयन' अर्थात् 'मयन मर्दै नहीं, विध्वंस नहीं करे।' इस तरह 'मर्दन' को तोड़कर 'मर्दै न' करके अर्थ किया है।

नोट—६. 'उमारमण' का अर्थ 'उमा और उमारमण' लेनेकी क्या आवश्यकता जान पड़ी? इसका कारण हमें एकमात्र यह देख पड़ता है कि भारतमें पंचदेवोपासना बहुत कालसे चली आती है। यथा, 'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी ॥ रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी ॥ २. २७३।' इसी आधारपर पं० शिवलालपाठकजीका मत है कि भाषाके मङ्गलाचरणके पांच सोरठोंमें पंचदेवका मङ्गलाचरण है और श्रीजानकीदासजीका मत है कि यहां तक चार सोरठोंमें पंचदेवोंकी वंदना है। प्रथम सोरठेमें गणेशजी, दूसरेमें सूर्य, तीसरेमें रमारमण और यहाँ उमा और उमारमणकी वंदना है। मयंककार दूसरे सोरठेमें विष्णुकी वंदना मानते हैं, अतः वे पाँचवे सोरठेमें सूर्य की वंदनाका भाव मानते हैं। गौरि और त्रिपुरारि (वा, शक्ति और शिव) के विना पाँचकी पूर्त्ति नहीं हो सकती; अतः दोनोंको 'उमारमण' से इन दोनोंका अर्थ लेना पड़ा। इस पक्षका समर्थन करनेमें कहा जाता है कि उमा शब्द श्लेषात्मक है, अतएव उमा और उमारमणका ग्रहण है; क्योंकि रूपका रूपक दो है, कुन्द और इन्दु। कुन्दके समान उमाजीका शरीर है, और इंदुके समान अत्यंत उज्ज्वल उमारमणका शरीर है। परंतु इसके उत्तरमें 'कुंद इंदु दर गौर सरीरा।' १. १०६।' और 'कुन्द इन्दु दर गौर सुन्दरं....'(उ.मं.श्लो.) ये दो उदाहरण इसी ग्रन्थके उपस्थित किये जासकतेहैं।

नोट—७ उमारमण और मर्दनमयन ये दोनों विशेषण परस्पर विरोधी हैं। क्योंकि जो कामको भस्म कर चुका वह स्त्रीमें रमण करनेवाला कैसे कहा जा सकेगा? इन परस्पर विरोधी विशेषणोंको देकर बोधित कराया है कि भगवान्‌का विहार दिव्य और निर्विकार है। यह ब्रह्मानंदका विषय है। (तु. प. भाष्यसे उद्धृत)। गौड़जी कहते हैं कि 'मर्दनमयन' तो अंतमें प्रार्थनामात्र है कि मेरे हृदयको निष्काम बना दीजिये। अतः उसमें कोई असङ्गति नहीं है।

प्रथम प्रकरण ('देवबंदना' प्रकरण) समाप्त हुआ।

बंदउँ गुरपदकंज, कृपासिंधु नररूप हरि।
महामोह तम पुंज, जासु बचन रबि-कर-निकर ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—कंज=कमल। महामोह=भारी मोह। मोह=अज्ञान। तम=अंधकार। पुंज=समूह। रबि=सूर्य। कर=किरण। निकर=समूह।

अर्थ—१ मैं श्रीगुरुमहाराजके चरणकमलोंकी वंदना करता हूँ जो कृपाके समुद्र हैं, नररूपमें 'हरि' ही हैं और जिनके वचन महामोहरूपी समूह अंधकारके (नाशके) लिये सूर्यकिरणके समूह हैं। ५।

नोट—१ 'बंदउँ गुरपदकंज' इति। (क) श्रीमद्गोस्वामीजीने अपने इस काव्यमें तीन गुरु माने हैं। एक तो श्रीशिवजीको, दूसरे अपने मंत्रराजोपदेष्टा श्री १०८ नरहरिजी (श्रीनरहर्य्यानंदजी) को जिनसे उन्होंने

वैष्णवपंचसंस्कार और श्रीरामचरितमानस पाया और तीसरे श्रीरामचरितको। विशेष मं. श्लोक ३ पृष्ठ १६ प्रश्नोत्तर (४) में लिखा जा चुका है वहाँ देखिये। (ख) इन तीनोंके आश्रित होनेसे इनका काव्य सर्वत्र वंदनीय हुआ और होगा।

प्रमाण—(१) श्रीशिवजीके आश्रित होनेसे। यथा, 'भनिति मोरि सिवकृपा बिभाती। ससिसमाज मिलि मनहुँ सुराती। १. १५।' (२) निज गुरुके आश्रित होनेसे। यथा, 'तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा। भाषाबद्ध करबि मैं सोई।...करौं कथा भवसरिता तरनी। बुधबिश्राम सकल जनरंजनि।....' (१. ३१)। 'वंदे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्। यमाश्रितोहि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते॥ मं. श्लोक ३।' (३) श्रीरामचरितके आश्रय वा सङ्गसे। यथा, 'प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजनमनभावनी।···प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति रामजस संग। १. १०।' (ग) तीनों गुरुओंका कर्त्तव्य एकही है, भवसागर पार करना। तीनोंके क्रमसे उदाहरण। यथा, 'गुणागार संसारपारं नतोऽहं। ७. १०८।' (शिवजी), 'गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। ७. ९३।' (मंत्रोपदेष्टा गुरु), 'भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ता कहँ दृढ़ नावा॥ ७. ५३।' (घ) यहाँ 'नररूपहरि' कहकर गुरुदेवजीकी वंदना करनेसे मंत्रोपदेष्टा तथा श्रीरामचरितमानस पढ़ानेवाले निज गुरु श्रीनरहर्य्यानंदजीकी वंदना सूचित की।

नोट—२ बाबा जानकीदासजी तथा बाबा हरिहरप्रसादजीने 'कृपासिंधु नररूप हरि....' को 'पदकंज' का विशेषण माना है और विनायकीटीकाकारनेभी। उसके अनुसार अर्थ यह होगा।—

अर्थ—२ मैं श्रीगुरुमहाराजके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ जो (चरण) दयाके समुद्र हैं, नर शरीरके हर लेनेवाले हैं अर्थात् आवागमनके छुड़ानेवाले हैं और सूर्यकिरणसमूह (समान) हैं जिससे महामोहरूपी अन्धकारसमूह 'बच न' (बच नहीं सकता)।

स्मरण रहे कि प्रायः गुरुजनों आदिकी वन्दनामें 'पदकंज' कीही वन्दना होती है। यथा, 'बंदउँ मुनिदपकंज', 'बंदउँ बिधिपद रेनु' इत्यादि। परन्तु वह वन्दना गुरुजनोंकी ही मानी जाती है और विशेषण भी गुरुजनोंके ही होते हैं न कि पदकंजके। पदकंजका विशेषण माननेसे 'जासु' का अर्थ 'जिससे', 'नररूपहरि' का अर्थ 'नरशरीर हरनेवाले अथवा नरके समान पद हैं पर वास्तवमें हरि अर्थात् दुःखहर्त्ता हैं' और 'बचन' का 'बच न' अर्थ करना पड़ता है।

नोट—३ 'कंज' इति। भगवान्, देवता, मुनि, गुरु तथा गुरुजनोंके संबंधमें कमलवाची शब्दोंकी उपमा प्रायः सर्वत्र दी गई हैं। कभी कोमलता, कभी आर्द्रता, कभी विकास,कभी रंग, कभी सुगंध, कांति और सरसता, कभी उसके दल, कभी माधुरी और कभी आकार आदि धर्मोंको लेकर उपमा दी गई है। इस लिये कमलके गुणोंको जान लेना आवश्यक है। वे ये हैं। 'कमलं मधुरं वर्ण्यं शीतलं कफपित्तजित्। तृष्णा दाहास्र विस्फोट विषसर्पविनाशनम्॥' अर्थात् कमल मधुर, रंगीन, शीतल, कफ और पित्तको दबानेवाला, प्यास, जलन, चेचक तथा विषसर्प आदि रोगोंका नाशक है। (वि. टी.)।

नररूप हरिके भाव

'नररूपहरि' से सूचित किया कि—(१) गुरुका नाम लेना निषेध है। (मं. श्लो. ७ पृष्ठ ४६ देखिये)। इस लिये गोस्वामीजीने 'रूप' शब्द बीचमें देकर अपने गुरुकी वन्दना की। आपके गुरु नरहरिजी हैं। यथा, 'अनंतानंद पद परसि के लोकपालसे ते भये। गयेश करमचन्द अल्ह पयहारी॥ सारीरामदास श्रीरङ्ग अवधि गुण महिमा भारी। तिनके नरहरि उदित' (भक्तमाल छप्पय ३७)। छप्पय में 'तिनके' से कोई 'अनन्तानन्दजी' का और कोई 'रङ्गजी' का अर्थ करते हैं। पयहारीजीके शिष्य अग्रदेवजी हैं जिनके शिष्य नाभाजी हुये, नाभाजी और

गोस्वामीजी समकालीन थे। इससे ये 'नरहरिजी' ही गोस्वामीजीके गुरु सिद्ध होते हैं। श्रीवेणीमाधवदासजीके 'मूल गुसाईं चरित' से भी श्रीमद्गोस्वामीजीके गुरु श्री १०८ अनंतानंद स्वामीजीकेही शिष्य प्रमाणित होते हैं। यथा, 'प्रिय शिष्य अनन्तानन्द हते। नरहर्य्यानन्द सुनाम छते॥' छप्पयके 'नरहरि' ही 'नरहर्य्यानन्द' जी हैं।

(२) गुरु भगवान् ही हैं जो नररूप धारण किये हैं। जैसे मत्स्य, कच्छप, वाराह, नृसिंह रूप हरि हैं वैसेही गुरु नररूपहरि हैं; अर्थात् नरअवतार हैं। यथा, 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः। गुरुः साक्षात् परंब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः'। (गुरु गीता ४३) (श्री पं० रा० कु०)। अग्रदासजी कहते हैं कि 'गुरुन विषे नरबुद्धि शिलासम गनै विष्णुतन। चरणामृत जल जान मंत्र वंदै वानी सम॥ महाप्रसादहिं अन्न, साधुकी जाति पिछाने। ते नर नरकै जाँय वेद स्मृत बखानै। अग्र कहैं यह पाप षट अतिमोटो दुर्घट विकट। और पाप सब छुटैं पै ये न मिटैं हरिनामरट॥'

(३) (शिष्य के) नररूप (=शरीर) के हरनेवाले हैं अर्थात् आवागमन छुड़ा देते हैं।

(४) 'हरि' इससे कहा कि 'क्लेशंहरतीति हरिः।' आप जनके पंचक्लेश और मोहादिको हरते हैं या यों कहिये कि प्रेमसे मनको हर लेते हैं इससे 'हरि' कहा। (श्रीरूपकलाजी)।

(५) 'हरि' का अर्थ 'सूर्य' भी होता है। मानसमयंककारने 'सूर्य' अर्थ लिया है। 'सूर्य' अर्थसे यह भाव निकलता है कि जैसे सूर्य संपूर्ण लोकोंको प्रकाशित करते हैं; उसी प्रकार गुरु शिष्यको उत्तम बुद्धि देकर उनके अंतर्जगत्‌को प्रकाशपूर्ण बनाते हैं। यथा, 'सर्वेषामेव लोकानां यथा सूर्यः प्रकाशकः। गुरुः प्रकाशकस्तद्वच्छिष्याणां बुद्धिदानतः॥' (पद्मपुराण भूमिखण्ड ८५. ८)। सूर्य दिनमें प्रकाश करते, चन्द्रमा रात्रिमें प्रकाशित होते और दीपक केवल घरमें प्रकाश करता है; परन्तु गुरु शिष्यके हृदयमें सदाही प्रकाश फैलाते हैं। वे शिष्यके अज्ञानमय अंधकारका नाश करते हैं अतः शिष्योंके लिये गुरुही सर्वोत्तम तीर्थ हैं। गुरु सूर्य हैं, और उनके वचन किरणसमूह हैं।

(६) वैजनाथजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीके गुरु इतने प्रसिद्ध नहीं थे जैसे कि ये प्रसिद्ध हुए। इस लिये उनका नाम प्रसिद्ध करनेके लिये 'रूप' शब्द नर और हरिके मध्यमें रखकर इस युक्तिसे उनका नामभी प्रकट कर दिया।

नोट—४ 'कृपासिंधु नररूप हरि' इति। अर्थमें हमने 'कृपासिंधु' को 'गुरु' का विशेषण माना है परंतु इसको 'हरि' काभी विशेषण मान सकते हैं। अर्थात् दयासागर हरि ही नररूपमें हैं। 'सिंधु' के सम्बन्धसे एक भाव यह भी निकलता है कि एक हरि क्षीरसिंधुनिवासी हैं जो नररूप धारण करते हैं और गुरु हरि कृपारूपी समुद्रके निवासी हैं जो साधनरहित जीवोंका उद्धार करनेके लिये नररूप धारणकर शिष्यका उद्धार करते हैं। मैं सब प्रकार साधनहीन दीन था, मुझपर सानुकूल हो मेरे लिये प्रकट हुए। यथा, 'सो तो जानेउ दीनदयाल हरी। मम हेतु सुसंतको रूप धरी।' (मूलगुसाईंचरित)। सानुकूलता इससे जानी कि अपने वचनोंसे मेरा महामोह दूर कर दिया। यदि 'हरि' का अर्थ 'सूर्य' लें तो यह प्रश्न उठता है कि सूर्य और सिंधुका क्या संबंध? पं. रामकुमारजी एक खर्रेमें लिखते हैं कि 'सिंधुमें सूर्यका प्रवेश है और सिंधुहीसे सूर्य निकलते हैं यह ज्योतिषका मत है।' [ज्योतिषियोंसे परामर्श करनेपर ज्ञात हुआ कि यह मत ज्योतिषका नहीं है। क्योंकि सूर्य तो पृथ्वीसे सहस्रों योजन दूर है और सिन्धु तो पृथ्वीपर ही है। हाँ! ऐसी कल्पना काव्योंमें की हुई मिलती है। यथा, 'विधिसमय नियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं, शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ। रिपुतिमिरमुदस्यो दीयमानं दिनादौ, दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः॥' (किरातार्जुनीय १। ४६)। श्रीद्रौपदीजी युधिष्ठिरमहाराजसे कह रही हैं कि समयके कारण जिनके प्रकाशका नाश होनेसे जो उदास होगए हैं तथा जिनके किरण शिथिल हो गए हैं, अगाध समुद्रमें डूबेहुए ऐसे सूर्यको जिस प्रकार दिनके आरंभमें अन्धकाररूपी शत्रुका नाश

करके उदय होनेपर लक्ष्मी, शोभा, तेज और कांति प्राप्त होती है, उसी प्रकार प्रारब्धवशात् जिनका प्रताप संकुचित हो गया है और जिनका सब धन, राज्य आदि नष्ट हो गया है तथा जो अगाध विपत्तिरूपी समुद्रमें डूबे हुए हैं शत्रुका नाश करके अभ्युदय करनेवाले आपको राज्यलक्ष्मी प्राप्त हो। इस श्लोककी टीकामें श्रीमल्लीनाथ सूरिजी लिखते हैं कि 'सूर्योऽपि सायं सागरे मज्जति परे द्युरुन्मज्जतीत्यागमः।' अर्थात् सूर्य सायंकाल समुद्रमें डूबता है ऐसा आगम है। संभवतः इसी आधारपर पं० रामकुमारजीने यह भाव लिखा हो। पीछे न लिया हो।] जैसे सूर्योदयसे अथवा हरि अवतारसे जीवोंका कल्याण होता है, वैसेही गुरुके प्रकट होनेपरही शिष्यका कल्याण होता है, अन्यथा नहीं। यथा, 'गुरु बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई॥ ७. ९३।

टिप्पणी—१ 'कृपासिंधु', 'नररूपहरि' 'जासु बचन रबिकर निकर' ये विशेषण क्रमसे देनेका तात्पर्य यह है कि श्रीगुरुदेवजीको हरिका नर अवतार कहा है। अवतारके लिये प्रथम कारण उपस्थित होता है तब अवतार होता है और अवतार होनेपर लीला होती है। यहाँ ये तीनों (अवतारका कारण, अवतार और लीला) क्रमसे सूचित किये हैं। अवतारका हेतु 'कृपा' है। यथा, 'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी॥....तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा॥....१२१।....कृपासिंधु जन हित तन धरहीं।' (१. १२२); 'भए प्रगट कृपाला....' (१.१९२), 'गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तनु धारी। ५. ३९।' 'कृपासिंधु' पद देकर 'नररूप हरि' अर्थात् नर अवतारका कारण कहा। 'नररूप हरि' कहकर अवतार होना सूचित किया। और 'महामोहतमपुंज जासु बचन रबिकर निकर' से अवतार होनेपर जो लीला होती है सो कही। अर्थात् श्रीगुरुमहाराज कृपा करके महामोहरूपी अंधकारसमूहको अपने वचनरूपी किरणसे नाश करते हैं, यह लीला है।

आगे चौपाइयोंमें श्रीगुरुचरणरजसे भवरोगका नाश कहना चाहते हैं। मोह समस्त रोगोंका मूल है। यथा, 'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला॥ ७. १२१।'; इसलिये पहले यहाँ मोहका नाश कहा गया।

श्रीरामावतार और श्रीगुरुअवतारका मिलान

श्रीरामचन्द्रजी		श्रीगुरुदेवजी
श्रीरामावतार संत गो द्विज आदिकी रक्षा हेतु उनपर कृपा करके रावणवधके लिये हुआ।	१	श्रीगुरुदेवावतार शिष्यों वा आश्रितोंपर कृपा करने तथा उनके महामोहके नाशके लिये हुआ। महामोहही रावण है। यथा, 'महामोह रावन बिभीषन ज्यों हयो है'। (वि. १८१)।
श्रीरामजीने बाणसे रावणका वध किया।	२	श्रीगुरुजीने वचनरूपी बाणोंसे शिष्यका महामोह दूर किया। वचन बाण हैं। यथा, 'जीभ कमान बचन सर नाना' (२-४१)।
श्रीरामजीके बाणको 'रवि' की उपमा दी गई है। यथा, 'रामबान रबि उए जानकी' (५. १६)।	३	श्रीगुरुजीके वचनोंको 'रविकर निकर' की उपमा दी गई।

४ श्रीगुरुदेवावतारमें यह विशेषता है कि जिस रावणको श्रीरामजीने मारा था वह रावण, यद्यपि उसने चराचरको वशमें कर लिया था पर, स्वयं मोहके वश रहा, मोहको न जीत सका था और श्रीगुरुदेवजीने महामोह ऐसे प्रबल शत्रु रावणका नाश किया।

नोट—५ 'महामोह तमपुंज....' इति । (क) गीतामें मोहकी उत्पत्ति इस प्रकार बताई है। 'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते। सङ्गात्संजायते कामःकामात्क्रोधोऽभिजायते ॥ ६२ ॥ क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥ ६३ ॥' (अ. २)। अर्थात् मनके द्वारा विषयोंका चिंतन करते रहनेसे विषयोंमें आसक्ति हो जाती है जिससे उन विषयोंकी कामना उत्पन्न होती है। कामना की प्राप्तिमें विघ्न पड़नेसे क्रोध और क्रोधसे 'संमोह' होता है जिससे स्मरणशक्ति भ्रमित हो जानेसे बुद्धि (ज्ञानशक्ति) का नाश होता है। बुद्धिके नाशसे मनुष्य अपने श्रेयसाधनसे गिर जाता है। (ख) निज स्वरूपकी विस्मृति, परस्वरूपकी विस्मृति, देहमें आत्मबुद्धि, निज पर बुद्धि, मायिक विषयों, सांसारिक पदार्थों, देह-संबंधियोंमें ममत्व और उनमेंही सुख मान लेना इत्यादि 'मोह' है। यह मोह जब दृढ़ हो जाता है, अपनी बुद्धिसे दूर नहीं हो पाता तब उसीको 'विमोह' 'संमोह' 'महामोह' कहते हैं ।

नोट-'महामोह' इति। ईश्वरके नाम, रूप, चरित्र, धाम, गुण इत्यादिमें संदेह होना 'महामोह' है। यथा, 'भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्व निसाचर बांधेउ नागपास सोइ राम। ७. ५८।' इसीको आगे चलकर नारदजीने 'महामोह' कहा है। यथा, 'महामोह उपजा उर तोरे। मिटिहि न बेगि कहें खग मोरे। ७. ५९।' पुनः, पार्वतीजीके प्रश्न करनेपर शिवजीने कहा है कि 'तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥ कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच। १. ११४।' इसीको आगे चलकर 'महामोह' कहा है। यथा, 'जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना।' (१. ११५)।

पूर्व संस्करणमें हमने यह भाव लिखा था पर पुनर्विचार करनेपर हमें यही मालूम हुआ कि वस्तुतः 'महामोह' शब्द 'भारी मोह' के अर्थमें है। उपर्युक्त दोनों प्रसङ्गोंमें तथा अन्यत्र भी महामोह, मोह, विमोह, भ्रम, आदि शब्द पर्य्यायवाचीकी तरह प्रयुक्त हुये हैं। यथा, 'भयउ मोह बस तुम्हरिहिं नाई' (७. ५९), 'जो ग्यानिन्ह कर चित अपहरई। बरिआई विमोह मन करई।' (७. ५९), 'नहि आचरज मोह खगराजा' (७. ६०), 'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग ।।मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग। ७. ६१ ।', 'होइहि मोह जनित दुख दूरी।' (७. ६२), 'एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोह बस कहेउ भवानी। १. ११४।' 'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रविकर वचन मम। १. ११५।', 'ससि कर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी। १. १२०।', 'नाथ एक संसउ बड़ मोरें।...अस बिचारि प्रगटौं निज मोहू।....जैसे मिटै मोह भ्रम भारी।....महामोह महिषेसु बिसाला। रामकथा कालिका कराला। (१. ४५, ४६, ४७); 'अस संसय मन भयउ अपारा।' १. ५१ ।', 'भएउ मोह शिव कहा न कीन्हा।' (१. ६८), इत्यादि। गरुड़जीने भुशुण्डीजीसे जो कहा है कि 'मोहि भयउ अति मोह प्रभुबंधन रन महँ निरखि। ७. ६८।' वही 'अति मोह' यहाँ महामोह का अर्थ है।

'महामोह' शब्द कहीं कोशमें भगवत्‌विषयक मोहकाही वाचक नहीं मिलता। एक तो 'महामोह' शब्दही कोई स्वतंत्र शब्द कहीं कोशोंमें नहीं मिलता है और न ऐसा उल्लेख ही मिलता है कि महामोहसे भगवत्-विषयक मोहही लिया जाता है। इस सोरठेमें बताते हैं कि गुरु भगवत्-संबन्धी एवं अन्य वैषयिक (अर्थात् स्त्री, पुत्र आदि विषयक) सभी प्रकारके दृढ़ मोहके नाशक हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'जासु वचन' का भाव कि गुरु वस्तुतः वही है जिसका वचन सूर्यकिरणके समान (महामोहांधकारका नाशक) है और वही भगवान्‌का अवतार है। (ख) 'रविकर निकर' का भाव यह है कि किरणें चन्द्रमामेंभी हैं पर उनसे अंधकारका नाश नहीं होता। यथा, 'राकापति षोडस उअहिं तारागन समुदाइ। सकल गिरिन्ह दव लाइअ बिनु रबि राति न जाइ ७. ७८।' अतः 'रविकर' कहा। 'निकर' कहा क्योंकि सूर्यकिरण हजारों हैं इसीसे सूर्य 'सहस्रांशु' कहे जाते हैं। यथा, 'पद्मबन्धु सहस्रांशुः'। जैसे सूर्यके हजारों किरणें हैं वैसेही गुरुके वचन अनेक हैं। [(ग) मोह तम है। यथा, 'जीव हृदय तम मोह बिसेषी। १. ११७।' उसके नाशके लिये

गुरुका एक वचन किरणही पर्याप्त होता; पर यहाँ 'महामोह' रूपी 'तमपुंज' है जो एक दो वचनोंसे नाशको प्राप्त होनेवाला नहीं है। उसके नाशके लिये गुरुके अनेक वचनोंकी आवश्यकता होती है जैसा कि शिवजीके गरुड़जीप्रति कहे हुए वचनोंसे सिद्ध है। यथा, 'मिलेहु गरुड़ मारग महँ मोही। कवन भांति समुझावौं तोही॥ तबहि होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सतसंगा।' (७. ६१)। अतएव 'तमपुंज' के संबंधसे 'रविकर निकर' कहा गया। (घ) 'गुरुजीके वचनको 'रविकर निकर' कहा, तो यहाँ सूर्य और ब्रह्मांड क्या हैं?' यह प्रश्न उठाकर दो एक टीकाकारोंने रूपककी पूर्त्ति इस प्रकार की है कि ज्ञान सूर्य है। यथा, 'जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा।' (२. २७७)। मं० श्लोक ३ में गुरुजीको 'बोधमय' कहा है। अर्थात् उनको ज्ञानका ही पुतला वा ज्ञानस्वरूप कहाही है। तात्पर्य यह कि उनके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश सदा बना रहता है। इस तरह हृदय ब्रह्मांड है जहाँ ज्ञानरूपी सूर्य सदा उदित रहते हैं, कभी उनका अस्त नहीं होता। पं० रामकुमारजीका मत है कि 'हरि' सूर्यकोभी कहते हैं अतः गुरु सूर्यभी हैं और उनके वचन सूर्यकिरणसमूह हैं।] (ङ) 'महामोहतमपुंजके लिये गुरुवचनोंको 'रविकरनिकर' कहकर 'गुरु' शब्दका अर्थ स्पष्ट कर दिया कि जो शिष्यके मोहांधकारको मिटा दे वही 'गुरु' है। यथा, 'गुशब्दस्त्वन्धकारस्याद्रुकारस्तन्निरोधकः। अंधकार निरोधत्वाद्गुरुरित्यभिधीयते॥ इति गुरुगीतायाम्।' अर्थात् गु शब्दका अर्थ 'अन्धकार' है और 'रु' शब्दका अर्थ है 'उस अन्धकारका नष्ट करना'। मोहांधकारको दूर करनेसे ही 'गुरु' नाम हुआ।

नोट—६ यहाँ जो 'महामोह तमपुंज...निकर' विशेषण दिया गया है यह बहुतही महत्त्वपूर्ण है। 'तम' शब्द रूपकके वास्ते आया है; क्योंकि उधर 'रविकर निकर' कहा है, उसीके संबंधसे यहाँ 'अंधकारका समूह' कहा गया। परंतु 'तमःपुंज' कहनेसे मोहका कारण जो अज्ञान है उसकाभी ग्रहण किया जा सकता है। इस तरह भाव यह होता है कि गुरुमहाराज अपने वचनोंसे कारण और कार्य दोनों का नाश कर देते हैं। क्योंकि यदि कार्य नष्ट हुआ और कारण बना रहा तो फिरभी कार्यकी उत्पत्ति हो सकती है। इसी अभिप्रायसे श्रीमद्भागवतमें गुरुके लक्षण ये बतलाये हैं कि वह शब्दशास्त्र और अनुभव दोनोंमें पारंगत हो। यथा, 'तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्। शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥ ११. ३. २१।' अर्थात् उत्तम श्रेयःसाधनके जिज्ञासुको चाहिए कि वह ऐसे गुरुकी शरण जाय जो शब्दब्रह्म (वेद) में निष्णात, अनुभवी और शांत हो। श्रुतिभी ऐसाही कहती है। यथा, 'तद्विज्ञानार्थंसुगुरुमेवाभिगच्छेत्समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। मुण्डक १. २. १२।' उपनिषदमें जो श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ कहा है उसीको यहां 'शाब्दे' और 'परे निष्णात' कहा है। दोनों गुणोंका होना आवश्यक है। केवल श्रोत्रीय हुआ, अनुभवी न हुआ, तो वह गुरु होने योग्य नहीं; क्योंकि केवल वाक् ज्ञान निपुण होनेसे महामोहको न हटा सकेगा। और केवल अनुभवी होगा तो वह समझा न सकेगा; जब शिष्य समझेगाही नहीं, तब महामोह कैसे निवृत्त होगा? इसीसे तो कहा है कि 'शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात्परे यदि। श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः। भा. ११. ११. १८।' अर्थात् जो शब्दब्रह्म (वेद) का पारंगत होकर ब्रह्मनिष्ठ न हुआ अर्थात् जिसने ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं कर लिया, उसे दुग्धहीना गौको पालनेवालेके समान वेदपठनके श्रमके फलमें केवल परिश्रमही हाथ लगता है। जान पड़ता है कि 'महामोह तमपुंज....' ये विशेषण इन्हीं भावोंको लेकर लिखे गए हैं। बिना ऐसे गुरुके दूसरेके वचनसे महामोह नष्ट नहीं हो सकता।

नोट—७ 'यहाँ भाषामें गुरुवन्दना किस प्रयोजनसे की गई?' यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर यह दिया जाता है कि श्लोकमें बोध और विश्वासके निमित्त वन्दना की थी; और, यहाँ 'महामोह' दूर करनेकेलिये की है। श्लोकमें गुरुको शङ्कररूप अर्थात् कल्याणकर्त्ताका रूप कहा और यहाँ हरिरूप कहा। ऐसा करके जनाया कि गुरु सम्पूर्ण कल्याणोंके कर्त्ता हैं और जन्ममरणादिको भी हर लेनेवाले हैं। पुनः एक बार शङ्कररूप और

दूसरी बार हरिरूप कहनेका कारण यह भी है कि गुरु तो ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनोंके रूप माने गये हैं। यथा, 'गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः'। यहाँ शङ्का हो सकती है कि हरि और हररूप मानकर वन्दना की, ब्रह्मारूप मानकरभी तो वन्दना करनी चाहिए थी ? इसका समाधान यह है कि ब्रह्माजीकी प्रतिष्ठा, पूजा आदि वर्जित हैं इससे 'विधिरूप' न कहा। उनकी पूजा क्यों नहीं होती ? यह विषय 'बंदउँ विधिपदरेनु...' (१. १४) में लिखा गया है। प्रमाणका एक श्लोक यहाँ दिया जाता है। यथा, 'तदा न भोगता वाणी ब्रह्माणं च शशाप वै। नृपोक्तंच त्वया मन्द किमर्थं बालिशेन हि। ६४।...तस्माद् यूयं न पूज्याश्च भवेयुः क्लेशभागिनः।' (शिवपुराण माहेश्वरखण्डान्तर्गत केदारखण्ड अ. ६)।

भाषा-मङ्गलाचरण पाँच सोरठोंमें करनेके भाव

पाँच सोरठोंसे पंचदेव 'गणेश, सूर्य, विष्णु, शिव और गौरि (=शक्ति)' की वन्दना की गई है। यथा, 'बहुरि सोरठा पाँच कहि सुन्दर मधुर सुलोन। पंच देवता बंदेऊ जाहि ग्रन्थ सुभ होय॥' (गणपति उपाध्याय)। यही मत और भी कई महानुभावोंका है।

इसमें कोई टीकाकार फिर यह शङ्का उठाकर कि 'पाँचवें सोरठेमें तो गुरुकी वन्दना है तब पंचदेवकी वन्दना पाँचों सोरठोंमें कैसे कहते हैं ?' उसका समाधान यह करते हैं कि गुरु हरिरूप हैं और मं० श्लो० ३ में उनको शङ्कररूपभी कहा है। पुनः, हरि सूर्यकोभी कहते हैं। तीनों प्रकार वे पंचदेवमें आ जाते हैं।

पं० शिवलालपाठकजीके मतानुसार दूसरे सोरठेमें विष्णुकी वन्दना है और पाँचवेंमें सूर्यकी। वे लिखते हैं कि 'अपने प्रयोजन योग्य सूर्यमें कोई गुण न देखकर गुरुही की सूर्यवत् वन्दना की, क्योंकि सूर्यमें तमनाशक शक्ति है वैसेही गुरुमें अज्ञानतमनाशक शक्ति है और ग्रन्थकारको अज्ञानतम नाशका प्रयोजन है। अतः गुरुकी सूर्यवत् वन्दना की गई है, जिससे पंचदेवकीभी वन्दना होगई और अपना प्रयोजनभी सिद्ध होगया' (मानस अभिप्राय दीपक)।

बाबा जानकीदासजीके मतानुसार प्रथम चार सोरठोंमें पंचदेवकी वंदना है। सोरठा ४ पर देववन्दनाका प्रकरण समाप्त हो गया।

नोट—८ प्रायः सभी प्राचीन पोथियोंमें 'नररूप हरि' ही पाठ मिलता है पर आधुनिक कुछ छपी हुई प्रतियोंमें 'नररूप हर' पाठ लोगोंने दिया है। श्री १०८ गुरुमहाराज सीतारामशरणभगवानप्रसादजी (श्रीरूपकलाजी) श्रीमुखसे कहा करते थे कि पं० रामकुमारजी 'हर' पाठ उत्तम मानते थे क्योंकि 'हर' और 'निकर' में वृत्यानुप्रास है। ऊपरके सोरठोंमें अनुप्रासका क्रम चला आ रहा है वही क्रम यहाँ भी है।

श्रावणकुंजकी पोथीका पाठ देखनेके पश्चात् वे 'हरि' पाठ करने लगे थे।

चौ०—बंदौं गुरु पद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा। १।

शब्दार्थ—पदुम (पद्म)=कमल। परागा (पराग)=(कमलके संबंधमें) वह रज या धूलि जो फूलोंके बीच लंबे केसरोंपर जमा रहती है।=पुष्परज। इसी परागके फूलोंके बीचके गर्भकोशोंमें पड़नेसे गर्भाधान होता है और बीज पड़ते हैं।=(गुरुपदके संबंधसे) तलवेमें लगी हुई धूलि=रज। सुरुचि=सुन्दर रुचि=दीप्ति, कांति वा चमक।=(प्राप्तिकी) इच्छा; चाह, प्रवृत्ति। यथा, रुचि जागत सोवत सपने की' (२. ३०१)।=स्वाद; यथा, तब तब कहै सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई।' (विनय १६४)। सुबास=सुन्दर वास। वास=सुगन्ध।=वासना, कामना। सरस=(स+रस)=रस सहित। =सुरस। 'स' उपसर्ग 'सहित' अर्थ देता है और 'सु' के स्थानपरभी आता है जैसे सपूत=सुपूत। सरस=सरसता है, बढ़ता है। सरस=सुन्दर। सरस अनुरागा=अनुराग सुन्दर रस है।=अनुराग करके सरस है।=अनुराग रसयुक्त। =सुन्दर अनुराग=अनुराग सरसता है। पुनः सरस=सम्यक् प्रकारका रस। (मा. प्र.)।

इस अर्धालीका अर्थ अनेक प्रकारसे टीकाकारोंने किया है। अर्थमें बहुत मतभेद है। प्रायः सभी अर्थ टिप्पणियोंसहित यहाँ दिये जाते हैं।

अर्थ—१ मैं श्रीगुरुचरणकमलके परागकी वन्दना करता हूँ जिस (पराग) में सुन्दर रुचि, उत्तम वास (सुगन्ध) और श्रेष्ठ अनुराग है।

नोट—१ यह अर्थ श्रीपंजाबीजी और बाबा जानकीदासजीने दिया है। केवल भावोंमें दोनोंके अन्तर है। (क) पंजाबीजीका मत है कि उत्तम रुचि अर्थात् श्रद्धा, उत्तम वासना और श्रेष्ठ प्रेम ये तीनों श्रीगुरुपद-कमलके रजमें रहते हैं। जो मधुकरसरिस शिष्य कमलपरागमें प्रेम करनेवाले हैं, पदरजका स्पर्श करते हैं, उन्हें ये तीनों प्राप्त होते हैं और जो श्रीगुरुपदरजके प्रेमी नहीं हैं उनको नहीं मिल सकते। (ख) बाबा जानकीदासजी (मानसपरिचारिकाकार) लिखते हैं कि सोरठा ५ में पदकमलकी वन्दना की; तब यह सोचे कि श्रीगुरुपदको कमलकी उपमा क्या कहें, पदकमलमें कमलके धर्म क्या कहें, जब कि उस धूलिहीमें कमलके धर्म आगए जो कहींसे श्रीगुरुपदमें लपट गई है। ऐसा सोच-समझकर पदरजमें कमलके धर्म दिखाये। (ग) धर्म किसे कहते हैं? गुण, स्वभाव और क्रिया तीनोंका मेल 'धर्म' कहलाता है। अर्थात् किसी वस्तुके गुण, स्वभाव और क्रिया तीनों मिलकर उसका धर्म कहलाते हैं। यहाँ 'सुरुचि' गुण है, 'सुवास' स्वभाव है और 'रस' क्रिया है। (मा. प्र.)। (घ) अब यह प्रश्न होता है कि ये तीनों वस्तु धूलिमें कहाँ है? उत्तर—कमलमें सुरुचि वर्ण (दीप्तिमान् रंग) है, गुरुपदरजमें 'सुरुचि' है यह गुणधर्म है। सुन्दर सुगंध स्वभाव है। कमलमें रस है और रजमें जो श्रेष्ठ अनुराग है यही क्रिया धर्म है। ये तीनों धर्म आगेकी तीन अर्धालियोंमें क्रमसे दिखाये गए हैं। (मा. प्र.)।

अर्थ—२ मैं श्रीगुरुपदपरागकमलकी वंदना करता हूँ, जिसमें सुरुचिरूपी सुवास और अनुरागरूपी सुन्दर वा सम्यक् प्रकारका रस है।

नोट—२ (क) पिछले अर्थमें 'पदुम' को दीप-देहलीन्यायसे 'पद' और 'पराग' दोनोंका विशेषण माना था और धर्मके तीन प्रकार कहे गए। अब इस अर्थमें 'पदुम' का अन्वय 'पराग' के साथ किया है और कमलके दो धर्म सुवास और मकरंद लिये हैं। पदरजमें जो सुरुचि और अनुराग है वही सुवास और रस है। (मा. प्र.)। (ख) वैजनाथजीनेभी ऐसाही अर्थ किया है। वे लिखते हैं कि कमलमें पीत पराग होता है और भूमि (मिट्टी) का रङ्गभी पीत माना जाता है। रङ्ग तो प्रसिद्ध है ही, अतः अब केवल गंध और रस कहते हैं। पदरजमें शिष्यकी जो सुन्दर रुचि है वही सुगन्ध है। गुरुपदमें सारे जगत्की एकरस रुचि (चाह) होती है, अन्य इष्ट नामोंमें सबकी एकरस रुचि नहीं होती। इसी प्रकार रजमें जो एकरस अनुराग है वही रस है। [अनुरागमें नेत्रोंसे जल निकल पड़ता है, इसी विचारसे अनुरागको सुन्दर रस कहा। यथा, 'रामचरन अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै।' (विनय ८२)।] (ग) पंजाबीजीने यह दूसरा अर्थ दिया है और मानस-मयंककारने भी। 'सम्यक् प्रकारका' ये शब्द इनमें नहीं हैं। 'अनुराग रस है' ऐसा अर्थ इन दोनोंने किया है। पंजाबीजी लिखते हैं कि श्रीसद्गुरुपदकमलरज, जिसमें भक्तोंकी सुष्ठु रुचिरूपी सुगंध और भक्तोंका प्रेमरूपी रस है, उसकी मैं वंदना करता हूँ। पं० शिवलालपाठकजीका मत है कि श्रीगुरुपद रजमें ये दोनों सदा रहते हैं जो बड़भागी शिष्य मन मधुकरको इसमें लुब्ध कर देता है, उसमेंभी सुरुचि और भगवत्चरणोंमें अनुराग उत्पन्न हो जाते हैं। मानसमयंककारका मत है कि शिष्यकी रुचि और शिष्यके अनुरागको पद परागके वास और रसमाननेसे सर्वथा असङ्गत होगी। क्योंकि सुगंध और रस तो परागमें स्थित हैं, कहीं बाहरसे नहीं आए हैं। तब सुरुचि और अनुराग दूसरेका कैसे माना जा सकता है? अतएव यहाँ भावार्थ यह है कि श्रीगुरुपदपद्म-

परागमें जो भगवत-भागवतमें श्रद्धा और अनुराग उत्पन्न करानेवाला गुण है, जिसके सेवनसे शिष्यके हृदयमें श्रद्धा और प्रेम उत्पन्न होता है, उस शक्तिजन्य श्रद्धा और प्रेमसे सुवास और रसका रूपक है। सुरुचि=श्रद्धा (मा. मा.)। (घ) यहाँ 'रज' का प्रताप कहते हैं। जिसके पास जो चीज होती है वही वह दूसरेको दे सकता है। संत सदा भगवदानुरागमें छके रहते हैं। वे श्रद्धाविश्वासके रूपही हैं। फिर गुरुदेव तो ब्रह्मरूपही हैं तब उनके रजमें यह प्रभाव क्यों न हो? रजमें 'सुरचि और अनुराग' मौजूद हैं; इसीसे सेवकको प्राप्त होते हैं। (शीला)। कमलपरागसे पदपरागमें यहाँ विशेषता यह है कि यह अपने गुणधर्म सेवकमें उत्पन्न कर देता है। कमलपरागमें यह गुण नहीं है। पदरजसेवनसे शिष्यमेंभी भक्ति भक्त भगवंत गुरुके प्रति सुन्दर रुचि हो जाती है, गुरुके साथ-साथ शिष्यकीभी सराहना होने लगती है यही 'सुवास' है। गुरुपदरजसेवनसे वह श्रेष्ठ अनुराग जो श्रीगुरुमें भगवान्‌के प्रति है, शिष्यमें भी आ जाता है। इस प्रकार यहाँ अधिकतद्रूपकालङ्कारभी है। कमलमें रुचि और रस है पदरजमें 'सुरुचि' और 'सरस अनुराग' है। पदरज परमार्थका देनेवाला है यह विशेषता है। 'संत-दरस-परस-संसर्ग' का यह फल होता ही है। यथा, 'जबहिं रामु कहि लेहिं उसासा। उमगत प्रेमु मनहुँ चहुँ पासा। द्रवहिं वचन सुनि कुलिस पषाना। पुरजन पेमु न जोइ बखाना। २. २२०।'

अर्थ—३ मैं श्रीगुरुपदकमलपरागकी वंदना करता हूँ जो सुरुचि (सुन्दर प्रकाश वा दीप्ति), सुवास और रस युक्त है और जिसमें रङ्गभी है। (रा. प., रा. प. प.)।

नोट—३ इस अर्थमें 'सरस' के 'स' को सुरुचि, सुवास और रस तीनोंके साथ लेना होगा। 'अनु' उपसर्गका अर्थ 'सदृश' और 'साथ' श. सा. में मिलता है। 'राग' का अर्थ 'रङ्ग' है। इसतरह 'अनुराग' का अर्थ 'रङ्ग सहित' हो सकता है। काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि कमलमें ये चार गुण हैं, रुचि, वास, रस और रङ्ग। वेही सब गुण परागमें हैं। इसपर रा. प. प. कार लिखते हैं कि किसी चीजमें सुगंध है, पर रुचि नहीं होती, जैसे चोवामें। किसीमें रुचि है पर गंध नहीं, जैसे सुवर्णमें। किसीमें सुवास, रुचि और रसभी होता है पर रङ्ग नहीं, जैसे शिखरनमें। पर पदपरागमें वे सब गुण हैं। रामायणीजीने 'अनु' का अर्थ 'किंचित' किया है।

अर्थ—४ मैं सुन्दर रुचि, सुन्दर वासना और सरस अनुरागसे गुरुजीके चरणकमलोंके परागकी वंदना करता हूँ। (रा. प्र. बाबा हरिहरप्रसादजी)।

नोट—४ यह अर्थ सीधा है। इसमें वे कोई शङ्कायें नहीं उठतीं जो औरोंमें की गई हैं। पर रूपक नहीं रह जाता।

अर्थ—५ मैं गुरुजीके कमलरूपी चरणोंकी परागसदृश धूलीकी वंदना करता हूँ जो धूलि परागकी ही नाईं रुचिकर, सुगंधित, रसीली और रङ्गीली है। (वि. टी.)।

नोट—५ यह अर्थ रा. प. वालाही लगभग समझिये।

अर्थ—६ मैं श्रीगुरुजीके चरणकमलोंके परागकी वंदना करता हूँ-जिसमें (मेरी) सुन्दर रुचि ही सुगंध है (जिसके कारण हृदयमें) अनुराग सरसता है। (पं. विश्वनाथ मिश्र)।

नोट—६ पं. विश्वनाथ मिश्रका लेख हमने अंतमें दिया है।

अर्थ—७ मैं श्रीगुरुपदपद्मके परागकी वंदना करता हूँ जो अच्छी रुचि, अच्छी वासना और अनुरागको सरस करनेवाली अर्थात् बढ़ानेवाली है। (अर्थात् जिनके पदपरागका ऐसा प्रताप है)। (श्रीनंगेपरमहंसजी)।

अर्थ—८ मैं गुरुमहाराजके चरणकमलोंके रजकी वंदना करता हूँ; जो सुरुचि (सुन्दर स्वाद), सुगन्ध तथा अनुरागरूपी रससे पूर्ण है। (मानसाङ्क)।

नोट—७ रजकी इतनी बड़ाई किस हेतुसे की? उत्तर—चरणमें अंगुष्ठ शेषनाग हैं, अँगुलियाँ

दिग्गज हैं, पदपृष्ठ कूर्म हैं, तलवा सगुण ब्रह्म है और रज सत्तास्वरूप है। इसीसे पदरजकी इतनी बड़ाई की। (काष्ठजिह्वास्वामी)।

टिप्पणी—(१) यहाँ चार विशेषण अर्थात् सुरुचि, सुबास, सरस और अनुराग दिये हैं जिसका अभिप्राय यह है कि रजके सेवनसे चारों फल प्राप्त होते हैं। सुरुचिसे अर्थकी प्राप्ति कही क्योंकि रुचि नाम चाहका भी है, सुबाससे धर्मकी प्राप्ति कही क्योंकि धर्ममें तत्पर होनेसे यशरूपी सुगंध फैलती है। सरससे कामकी प्राप्ति कही क्योंकि काम भी रससहित है, और अनुरागसे भक्ति देनेवाली सूचित किया क्योंकि 'मिलहिं न रघुपति बिनु अनुरागा'। (खर्रा)। (२) 'चार विशेषण देनेका भाव यह है कि कमलमें चार गुण हैं वही गुण परागमें हैं। तात्पर्य यह है कि जो गुण चरणमें हैं वह रजमें भी हैं'।

नोट—८ मं० श्लोक ३ में गुरुकी, सोरठा ५ में गुरुपदकी और फिर यहाँ पदरजकी वन्दना करनेके भाव ये कहे जाते हैं—

(क) श्लोकमें शङ्कररूप कहकर स्वरूपकी वन्दना की, फिर सोचे कि हम स्वरूपके योग्य नहीं हैं तब चरणकी वन्दना की। उसकाभी अधिकारी अपनेको न समझा तब रजकी वन्दना की। (रा. प्र.)।

(ख) गुरुकी वन्दना करके अपनेको उनके आश्रित किया। पदवन्दनासे अपनेको सत् समीप बैठने योग्य बनाया जैसे द्वितीयाका टेढ़ा चन्द्रमा शङ्करजीका आश्रय लेनेसे वन्दनीय हुआ। तब गुरुवचनद्वारा महामोहका नाश हुआ। अब पदरजकी वन्दनासे भवरोगको परिवार सहित नाश करना चाहते हैं। (रा. प्र.)।

नोट—९ श्रीविश्वनाथप्रसाद मिश्रः—इस चौपाईका अर्थ कुछ टीकाकार इस प्रकार करते हैं—'श्रीगुरुजीके चरण कमलोंके परागकी वन्दना करता हूँ, जिसमें सुन्दर प्रकाश है [सुरुचि], सुन्दर गंध है, जो रसयुक्त है [?] और जिसमें अनुराग [प्रेम भक्ति] उत्पन्न होता है।'

सभी लोग जानते हैं कि 'पराग' धूलिको कहते हैं। उसको 'सरस' (रसयुक्त) मानना अनुचित है, क्योंकि 'पराग' (धूलि) में रस नहीं होता और न साहित्यमें परागका विशेषण कभी 'सरस' हुआ ही है। इसी कारण कुछ लोग दूसरे ढंगसे अर्थ करते हैं। वे 'सरस' का अर्थ 'बढ़कर' लेते हैं। जैसा कि अयोध्याकांडमें गोस्वामीजीने लिखा है, 'सीय सासुप्रति बेष बनाई। सादर करइ सरस सेवकाई॥'

यहाँपर जिस प्रकार 'सरस' का अर्थ बढ़कर, अधिक बढ़िया है उसी प्रकार उक्त चौपाईके 'सरस' का अर्थ बढ़कर लेते हैं और 'सरस अनुरागा' का अर्थ करते हैं 'बढ़िया प्रेम होता है।' किंतु 'सरस अनुरागा' शब्द मात्रसे इतना अर्थ नहीं होगा। 'होता है' के लिये कोई क्रिया अवश्य चाहिये पर यहाँ क्रिया नहीं है। यदि 'अनुरागा' को क्रिया मानें जैसा कि निम्न लिखित चौपाईमें है, 'प्रभु बिलोकि मुनि मन अनुरागा। तुरत दिव्य सिंहासन माँगा॥' तो 'अनुरागा' का अर्थ 'अनुरक्त हो गया' लेना पड़ेगा। ऐसी दशामें 'सरस अनुरागा' का अर्थ होगा 'अधिक अनुरक्त हो गया'। पर क्या अनुरक्त हो गया उसका पता नहीं चलता। 'अनुरागा' क्रियाका कर्त्ता वैसी दशामें 'परागा' ही होगा, जो हो नहीं सकता। अतएव यह अर्थभी असमर्थ है।

कुछ व्यास लोग 'अनुरागा' का अर्थ 'रक्तवर्ण' भी करते हैं पर साहित्य संसारमें कमल परागका रंग 'पीला' ही माना जाता है 'लाल' नहीं, इससे यह अर्थ भी ठीक नहीं जँचता।

वस्तुतः इस चौपाईमें कोई क्रिया 'वंदउँ' के अतिरिक्त नहीं है और अगली चौपाईसेभी इस चौपाईकी क्रियाके लिये कोई संबंध नहीं है। दूसरी चौपाईमें तो दूसरी बात ही आरंभ हो जाती है। 'अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भव रुज परिवारू॥' आदि।

यद्यपि नीचेकी सब चौपाइयाँ 'गुरु पदपदुम परागा' का ही विशेषण हैं या उससेही सम्बन्ध रखनेवाली हैं पर 'सुरुचि सुवास सरस अनुरागा' से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। 'सुरुचि सुवास सरस अनुरागा' का सम्बन्ध केवल 'गुरुपदपदुम परागा' से ही है। इसलिये चौपाईका यह एक पद अपने अर्थके लिये स्वतंत्र है। किंतु इसमें कोई क्रिया नहीं है। हमारे विचारसे 'सरस' शब्दको क्रिया मानकर अर्थ करना चाहिये तभी इसका ठीक-ठीक अर्थ लग सकेगा अन्यथा व्यर्थकी खींचातानी करनी पड़ेगी और अर्थ भी ठीक न होगा। सुतरां 'सरस' का अर्थ होगा 'सरसता है' 'बढ़ता है'। 'सरसाना' का अर्थ 'बढ़ाना' बराबर होता है। 'सरसना' क्रियाका प्रयोग भी कम नहीं होता।

यहाँ पर 'सरसना' क्रियाकी सार्थकताके लिये अवधीके व्याकरणकी इसी सम्बन्धकी एक दो बातेंभी बता देना उचित होगा। अवधी और ब्रजभाषामें संज्ञाके आगे 'ना' लगाकर तुरत क्रिया बना लेते हैं। इससे कवितामें बहुत कुछ सुविधा होती है जैसे आनंदसे 'आनंदना', निंदासे 'निंदना' आदि। क्रियाके इस रूपमेंसे 'ना' को अलग कर जब शब्दको क्रियाके लिये प्रयुक्त करते हैं तो वैसी दशामें क्रियाके उस रूपका प्रयोग सदा सामान्य वर्तमान कालमें होता है। जैसे, १ 'पूँछ' रानि निज सपथ देवाई। २ पीपर पात सरिस मन 'डोला' ३ जौं सिय भवन रहइ 'कह' अंबा। ४ का नहिं पावक जारि 'सक'। आदि।

ठीक इसी प्रकार, जैसे पूँछ, डोल, कह और सकका प्रयोग सामान्य वर्तमान कालकी दशामें हुआ है, 'सरस' भी सामान्य वर्तमान कालकी अवस्थामें प्रयुक्त होकर 'सरसता है' अर्थ देगा। अस्तु। हमारे विचारसे उक्त चौपाईका अर्थ इस प्रकार होना चाहिये। 'मैं (तुलसीदास) श्रीगुरुजीके चरण कमलोंके परागकी वन्दना करता हूँ जिसमें (मेरी) सुन्दर रुचिही सुगन्ध है [जिसके कारण हृदयमें] अनुराग सरसता है (बढ़ता है)। यहाँपर यदि 'सुरुचि' का अर्थ सुन्दर चमक या प्रकाश किया जाय तो साहित्यिक दृष्टिसे कोई चमत्कार नहीं होगा। क्योंकि जब चरणोंको कमल बनाया, चरणोंकी धूलिको 'पराग' कहा [उक्त चौपाईमें 'पराग' शब्द श्लिष्ट समझना चाहिये जिसका अर्थ कमलके पक्षमें 'पुष्परज' और चरणोंके पक्षमें 'धूलि' होगा] तो 'सुवास' का भी किसीके साथ रूपक होना चाहिये। तभी 'रूपक' अलङ्कार पूर्ण होगा। इसलिये 'सुरुचि' का अर्थ सुन्दर रुचि लेना होगा। जिस प्रकार 'सुगंध' के कारण कमलके पास जानेकी इच्छा होती है उसी प्रकार सुन्दर रुचि होनेसे ही गुरुके चरणोंमें प्रेम बढ़ता है। यदि हृदयमें रुचि न होगी तो गुरु के चरणों मे 'प्रेम' कदाचित् न बढ़ेगा। इस लिये 'सुरुचि' का अर्थ हृदयकी सुन्दर 'रुचि' ही लेना अधिक उपयुक्त और समीचीन है। ['आज' गुरुवार सौर २६ ज्येष्ठ सं० १९८४, वै०]।

अमियमूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज-परिवारू। २।

शब्दार्थ—अमिय (सं. अमृत। प्रा. अमिअ)=अमृत। अमियमूरि=अमरमूर; अमृतबूटी; संजीवनी बूटी। मय=संस्कृतभाषामें यह तद्धितका एक प्रत्यय है (जिसे शब्दके अंतमें लगाकर शब्द बनाते हैं) जो 'तद्रूप, विकार और प्राचुर्य' अर्थमें शब्दोंके साथ लगाया जाता है। यहाँ 'विकार' के अर्थमें है। (श. सा.)। चूरन (चूर्ण)—सूखी पिसी हुई औषधि, जड़ी वा बूटी।=धूल। चारू (चारु)=सुंदर। समन (शमन)=शांत करने, दबाने या नाश करनेवाला। भवरुज=भवरोग=बारंबार जन्ममरण, आवागमन होना। परिवार=कुटुम्ब। 'भवरुजपरिवार'=काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मान, ममता, मत्सर, दंभ, कपट, तृष्णा, राग, द्वेष इत्यादि जो मानसरोग हैं जिनका वर्णन उत्तरकांड दोहा १२१ में है वेही भवरोगके कुटुम्बी हैं।

अर्थ—(श्रीगुरुपदरज) अमृतमूरिमय सुंदर चूर्ण है जो भवरोगके समस्त परिवारका नाश करनेवाला है। २।

'अमियमूरिमय चूरन' के भाव

नोट—१ यहाँ 'अमियमूरिमय चूरन' और 'पदपराग' का रूपण है। शारीरिक रोगोंके लिये चूर्ण बनता है। संजीवनीबूटीसे मृतप्रायभी जीवित हो जाते हैं। जैसे लक्ष्मणजी संजीवनीसे जी उठे। पर पदपरागरूपी चूर्णसे शारीरिक और मानसिक दोनों रोग दूर होते हैं। इत्यादि विशेष गुण रजमें दिखानेसे यहाँ 'अधिक अभेद रूपक अलङ्कार' है।

पं. रामकुमारजी लिखते हैं कि समुद्रमंथनपर जो अमृत निकला वह जहाँ जहाँ पड़ा वहाँ वहाँ जो औषधियाँ जमीं वे सब संजीवनी हो गईं। सजीवनमूरि जिलाती हैं और रोग हरती है। और यहाँ 'रामविमुख-जीव' मानों मृतक हैं। उनको रज रामसम्मुख करती है, यही जिलाना है। (शीला)।

नोट—२ श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि वैद्यक ग्रंथमें अमरमूरिका चूर्ण खानेसे देवरूप और सिद्ध हो जाना कहा है क्योंकि वह जड़ी अमृतमय है (अर्थात् वह जड़ीरूपमें अमृतही है)। श्रीगुरुचरणरजरूपी चूर्ण मोक्षरूपी अमृतमय है [अर्थात जीवन्मुक्त कर देता है और अन्तमें चारों मुक्तियोंका देनेवाला है। दिव्य रामरूप (सारूप्य) की प्राप्ति कराता है। जन्म मरण आदिका नाशक है] यह विशेषता पदरजमें है।

नोट—३ अमृत मृतकको जिला देता है और रज असाध्य भवरोगका नाशकर जीवको सुखी करता है।

नोट—४ अमृत देवताओंके अधीन है और गुरुपदरज सबको सुलभ है।

नोट —५ वैजनाथजी लिखते हैं कि औषधियोंके पंचाङ्गों (मूल, त्वचा, दल, फूल, फल) में मूलही सबसे श्रेष्ठ है। मूल तीन प्रकारका होता है। विषवत्, मध्यस्थ और अमृतवत्। अमृतवत् मूलसे हानि नहीं होती; इसीको 'अमियमूरि' कहा है। अथवा, जो विशेष अमृतवत् है जिससे कायाकल्प आदि होते हैं। यथा, 'असित तिल विमिश्रं भृंगराजस्य चूर्णं सवितुरुदयकाले भक्षयेद्यः पलार्द्धम्। सभवत चिरजीवी चक्षुषा गृध्रतुल्यो भ्रमर सदृश केशः कामरूपो द्वितीयः।' इत्यादि चूर्ण खानेसे देह अमरवत् हो जाता है। श्रीगुरुपदरजरूपी अमियमय चूर्ण भगवत्प्राप्तिरूपी अमरत्व प्रदान करता है। उस प्राकृत चूर्णके कूटने, पीसने आदिमें कष्ट, खानेमें कष्ट, और यह चूर्ण बिना कष्टका है।

टिप्पणी—(१) 'अमियमूरिमय' से खानेमें मधुर, 'चारु' से देखनेमें सुन्दर और 'समन सकल भवरुज परिवारू' से उसका गुण जनाया। (२) यहाँ 'अधिक तद्रूपकालङ्कार' है। अर्थात उपमान (अमियमूरिमय प्राकृत चूर्ण) से उपमेय (पदरजरूपी पारमार्थिक चूर्ण) में बहुत अधिक श्रेष्ठता है। औषधि शारीरिक रोग दूर करती है, पदरज भवरोग और उसके परिवारकोभी नाश करता है। वह औषधि एक दो रोगोंको दूर करती है और यह अगणित असाध्य परमार्थपथके बाधक रोगोंको दूर करता है। 'भवरुज परिवार' असाध्य बहुतसे रोग हैं। यथा, 'एक व्याधिबस नर मरहिं ए असाधि बहु व्याधि। पीड़हिं संतत जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि। ७. १२१।' असाध्यता यह है कि नियम, धर्म जप, तप, ज्ञान, दान, यज्ञ आदि उपाय चाहे जितने करो भवरोग जाते नहीं। यथा, 'नेम धरम आचार तप ज्ञान जग्य जप दान। भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान॥ ७. १२१।' ऐसे असाध्य रोगभी पदरज-चूर्णसे दूर होते हैं। इससे यह जनाया कि श्रीगुरुपदरजसेवा सबसे अधिक श्रेष्ठ है। (३) इस अर्धालीमें परमार्थकी सिद्धि कही; आगे इसीसे स्वार्थकी सिद्धि कहते हैं। अथात् श्रीगुरुपदरज सेवनसे लोक परलोक दोनोंका बनना कहा।

नोट—६ इससे यह उपदेश मिलता है कि अन्य सब साधनोंको छोड़कर श्रीगुरुनिष्ठ हो जाना समस्त साधनोंसे सुलभ और अति श्रेयस्कर उपाय भवनाश और भगवत्प्राप्तिका है। गुरुनिष्ठभक्त श्रीपादपद्मजी, तरवाजीवाजी, बादमजी आदिके चरित प्रसिद्ध हैं।

नोट—७ बाबा जानकीदासजी कहते हैं कि पूर्व जो 'सुरुचि' गुण धर्म कहा था उसीको यहाँ 'अमिय··· परिवारू' रजके इस विशेषणमें कहते हैं। अर्थात् भवरुजपरिवारका नाश करनेकी वह रज 'रुचि' (दीप्ति वा प्रकाश) है।

नोट—८ भवरोगका परिवार कामादि तो बड़े सूक्ष्म हैं। यथा, 'मिले रहैं मारयो चहैं कामादि सँघाती। मो विनु रहैं न मेरियै जारैं छल छाती ॥....बड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं।' (विनय १४७)। और रज स्थूल है। स्थूलसे सूक्ष्मका नाश कैसे होगा ? उत्तर यह है कि (क) यहाँ जिस गुरुपदरजका वर्णन हो रहा है वह बुद्धयस्थ गुरुपदरज है और वहभी सूक्ष्म है। अतः सूक्ष्मसे सूक्ष्मके नाशमें शंका नहीं रह जाती। अथवा, (ख) जैसे मंत्रजाप, यज्ञ, तप, तीर्थ, दान आदि स्थूल साधनोंसे सूक्ष्म मनकी शुद्धि की जाती है, इनसे मनकी मलिनता और पाप दूर होते हैं वैसेही पदरजसे कामादिका नाश होता है। (रा. प्र.)।

नोट—९ 'प्रथम रोगहीसे भूमिका बाँधी, सो क्यों ?' अर्थात् ग्रंथको रोगहीके प्रसङ्गसे प्रारंभ करनेका क्या भाव है ? यह प्रश्न उठाकर रा. प्र. कारने उसका उत्तर लिखा है कि श्रीरामचरित कहना एक बड़ा भारी मंदिर बनाना है। मंदिर बनानेमें शरीरका पुरुषार्थ लगता है। ग्रंथकार अपने शरीरको भवरोगग्रसित जानकर प्रथमही रोग छुड़ानेका विचारकर श्रीगुरुपदरजकी वंदना करते हैं और उस अमियमूरिमयचूर्णसे अपने शरीरको नीरोग करते हैं। शरीर नीरोग होकर पुष्ट हो तब मन्दिर बने। (रा. प्र.)। विनायकीटीकाकारभी लिखते हैं कि 'धर्मार्थकाममोक्षाणां आरोग्यं मूलकारणं।' धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष सभीकी सिद्धिके लिये आरोग्यता मुख्य कारण है। यदि शरीर रोगग्रस्त हो जाय तो कोईभी कार्य ठीक-ठीक न बन पड़ेगा। इस हेतु वैद्यकशास्त्रको मुख्य मान उसीके आधारसे ग्रंथका आरंभ करते हैं, जैसा कि कुमारसंभवमें कहा है, 'शरीरमाद्यम् खलु धर्मसाधनम्।' (५। ३३)।

सुकृत[१] संभुतन विमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती। ३।

शब्दार्थ—सुकृत=पुण्य। = धर्मशील। =जो उत्तम रूपसे किया गया हो। (श. सा.)। तन=शरीर; देह। विमल=निर्मल; उज्ज्वल। विभूति=अङ्गमें चढ़ानेकी राख। भस्म। मंजुल=सुंदर। मङ्गल मोद=नोटमें दिया गया है। प्रसूती=जननेवाली; माता।

इस अर्धालीके पूर्वार्द्धका अर्थ भिन्न-भिन्न टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न किया है; उनमेंसे कई एक यहाँ दिये जाते हैं। टिप्पणियाँभी साथही दी गई हैं।

अर्थ—१ श्रीगुरुपदरज सुकृतरूपी शंभुके शरीरकी निर्मल विभूति है। सुन्दर मङ्गल और आनंदकी जननी (उत्पन्न करनेवाली) है। ३।

नोट—१ (क) मा. प्र. कार लिखते हैं कि यहाँ विपर्यय अलङ्कारसे कहते हैं। जैसे शिवजीके शरीरमें लगकर श्मशानकी विभूति सुशोभित होती है, वैसेही गुरुचरणरज विभूतिमें लगकर समस्त सुकृतरूपी शंभुतन सुशोभित होते हैं। भाव यह कि जिस पुण्यमें गुरुचरणरज नहीं पड़ा वह सुकृत तो है, पर शोभित नहीं है। 'तनु विमल विभूती' का अर्थ वे 'तनुको निर्मल करनेकी विभूति है' ऐसा करते हैं। (मा. प्र.)।

(ख) यहाँ सुकृतमें शम्भुतनका आरोप और गुरुपदरजमें निर्मल विभूतिका आरोपण है। प्रथम रूपकके अन्तर्गत दूसरा रूपक उत्कर्षका हेतु होनेसे 'परम्परित' है। (वीरकवि)।

---

१ श्रावणकुञ्जकी पोथीमें 'सुकृति' पाठ है। परंतु पं. शिवलालपाठकजीकी किसी पुस्तकमें यह पाठ नहीं है। मानसमयंक, अभिप्रायदीपक आदिमेंभी 'सुकृत' ही पाठ है। और १७०४, १७२१, १७६२, छ०, भा. दा. सबमें 'सुकृत' ही है। अतः मूल आधारका ही पाठ रक्खा गया। 'सुकृति' (सं.)=पुण्य। (श. सा.)।

(ग) इस अर्धालीमें अधिकतद्रूपकालङ्कारसे यह भाव निकलता है कि श्रीशिवजीके शरीरमें लगनेवाली विभूति (चिताकी भस्म) तो महा अपावन है; पर शिवजीके अङ्गके सङ्गसे वह विमल अर्थात् शुद्ध और पावन हो जाती है। यथा, 'भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी। १. १०।' 'तदंगसंसर्गमवाप्य कल्पते, ध्रुवं चिताभस्म रजो विशुद्धये। तथाहि नृत्याभिनय क्रिया च्युतं, विलिप्यते मौलिभिरम्बरौकसाम्।' (कुमारसंभव ५.७९)। और श्रीगुरुपदरजविभूतिसे तो सुकृतरूपी शिवतनही निर्मल हो जाता है। पदरजसे सुकृतोंके निर्मल होनेका भाव यह कि जब श्रीगुरुजीके आश्रित होकर श्रीगुरुपदरजका आश्रय लेकर धर्म किये जाते हैं, तब सुकृत बढ़ने लगते हैं और तभी उनकी शोभा है। कर्तृत्वाभिमान मल है जो छूट जाता है।

(घ) गुरु शंभु हैं, गुरुका तन (=शिवका तन) सुकृत है। ऐसा मानकर यह भावार्थ कहा जाता है कि सुकृतरूपी शिवतनमेंकी निर्मल विभूति है, अर्थात् गुरुके तनमें लगनेसे निर्मल होगई है इसीसे मंजुल मङ्गल-मोदकी देनेवाली है।

(ङ) वैजनाथजी लिखते हैं कि ऐसा माहात्म्य सुनकर कोई संदेह करे कि न जाने कहाँकी अपावन धूलि पैरोंमें लगी है, वह कैसे पवित्र हो सकती है? इसपर कहते हैं कि 'सुकृत संभुतन...'। अर्थात् जैसे चिताकी अपावन भस्म शिवतनमें लगनेसे पवित्र होगई वैसेही सुकृतरूप शिवका तन पाकर गुरुपदमें लगी हुई धूलि पवित्र हो गई। गुरुके भजनप्रतापसे वह शुद्ध होगई। तात्पर्य कि यह सुकृतियोंके समाजका माहात्म्य है, कुछ अधर्मियोंके समाजकी बात नहीं है।

अर्थ—२ यह (श्रीगुरुपदरजरूपी) निर्मल विभूति सुकृतरूपी शम्भुतनके लिये सुन्दर मङ्गल और आनंदकी उत्पन्न करनेवाली है।

अर्थ—३ 'श्रीगुरुपदरज शिवजीके शरीरमें सुन्दर लगी हुई निर्मल भस्म (के समान है)....'। यहाँ 'सुकृत'=सुंदर लगी हुई।

नोट—२ भाव यह कि जैसे शिवतनमें लगी हुई विभूति उनके शरीरके सङ्गसे ऐसी विशुद्ध हो जाती है कि नृत्य करते समय उनके शरीरसे गिरी हुई रजको देवता लोग मस्तकपर लगाते हैं और उसके स्मरणसे मङ्गल मोद होता है, वैसेही श्रीगुरुपदमें लगनेसे कैसीही अपावन रज हो वह पावन और मुद मङ्गल करने-वाली है। यहाँ समरूपक है।

अर्थ—४ सुकृती पुरुषरूपी शिवके शरीरपरकी गुरुपदरजरूपी निर्मल विभूति सुन्दर मङ्गलमोदकी उत्पन्न करनेवाली है। (पं., रा. प्र.)।

नोट—३ पंजाबीजी और बाबा हरिहरप्रसादजीने 'सुकृत' का अर्थ 'सुकृती साधु' किया है और श्रीनंगे-परमहंसजीनेभी यह अर्थ दिया है। यहाँ 'सुकृती' और शिवका एक रूपक है। भाव यह कि चिताभस्म तो श्रीशिवजीके अङ्गमें लगनेसे निर्मल हुई और रज विभूति सुकृतीरूपी शिवको निर्मल करती है। (रा. प्र.)।

नोट—४ अर्धाली ३ और ४ 'सुकृतसंभुतन....वस करनी' में जो श्रीगुरुपदरजके संबंधमें कहा गया है वही श्रीशिवजीके तथा सुकृतियोंके विषयमें कहा गया है। यथा, 'सुकृतिनामिव शंभुतनो रजः सुविमलं मृदुमंगल-मोदकृत्। जनमनो मुकुरस्य मलापहम्-तिलकमस्य गुणौघ वशीकरम्॥' (अर्थात् सुकृती पुरुषोंके समान श्रीशिवजीके शरीरकी विभूति अत्यंत निर्मल, कोमल, मङ्गलमोद करनेवाली, भक्तके मनरूपी दर्पणके मैलका नाश करने-वाली है और उसका तिलक समस्त गुणोंको वश कर देनेवाला है।) पं. रामकुमारजीने अपने संस्कृत खर्रेमें यह श्लोक दिया है पर पता नहीं कि कहाँका है। इसके आधारपर एक अर्थ और हो सकता है।

अर्थ—५ "सुकृती पुरुषों एवं श्रीशिवजीके तनकी निर्मल विभूति (के समान) है...." दोनोंको कहनेमें

भाव यह होगा कि सुकृती संतोंके पदकी निर्मल रज और शिवके तनकी अपावन चिताभस्म दोनोंका प्रभाव श्रीगुरुपदरजमें है।

अर्थ—६ यह विभूति (रज) सुकृतरूपी शम्भुके तन (के स्पर्श) से निर्मल होगई और सुन्दर मोदमङ्गलकी उपजानेवाली है।

नोट—५ यहाँ गुरुको शिव और उनके तनको सुकृत मानकर अर्थ किया है।

अर्थ—७ (यह रज) सुकृतरूपी शंभुतनको निर्मल करनेकी विभूति है और सुन्दर मङ्गल और मोदकी उत्पन्न करनेवाली (माता) है।

'सुकृत' को शंभुतनु' कहनेके भाव

(१) श्रीशिवजी सुकृतरूप हैं। यथा, 'मूलं धर्मतरोः' (३. मं. श्लो. १)। इसलिये 'शिवतन' को सुकृत कहा। पुनः, जो फल सुकृतसेवनका है वह शिवसेवासेभी प्राप्त होता है। सुकृतका फल श्रीरामपदप्रेम है। यथा, 'सकल सुकृतफल राम सनेहू।' १. २७। और श्रीशिवसेवाका फलभी यही है। यथा, 'सिवसेवा कर फल सुत सोई। अविरल भगति रामपद होई। ७. १०६।'

(२) 'रज'-लाभ बहुत सुकृतोंका फल है। जो सुकृती होगा वही श्रीगुरुपदरजके आश्रित रहेगा, दूसरा नहीं। अतएव रजके कल्याणकारी धर्मको लेकर 'शंभु' की उपमा दी। 'शम्भु' का अर्थ ही है 'कल्याणकर्त्ता'। (रा. प.)।

(३) भस्म और शिवतनका नित्य संयोग है, वैसेही रज और सुकृतका नित्य संयोग है, रजविहीन सुकृती होताही नहीं। (रा. प्र.)।

(४) 'सुकृत' का अर्थ 'सुकृती' लें तो शिवतनको वा शिवजीको सुकृती कहा, क्योंकि दोनोंके रजका एकसा महत्व है। नोट ४ देखिये।

नोट—६ 'विमल विभूती' इति। (क) 'विमल' कहनेका भाव यह है कि जो भस्म शिवजीके तनपर है वह मलिन है और गुरुपदरज 'विमल' (निर्मल) है। (पं० रामकुमार)। (ख) पूर्व जो 'सुवास' धर्म रजमें कहा था वह यहाँ दिखाया। सुकृतोंको निर्मलकर उज्ज्वल मङ्गलमोदरूपी ऐश्वर्य देना यही 'सुवास' है। 'मोद' का अर्थ 'सुगंध' भी है ही। (मा. प्र.)। (ग) गुरुपदरजको, ऐश्वर्यरूप हानेके कारण यहाँ 'विभूति' कहा।

नोट—७ 'मंजुल मंगल मोद....' इति। (क) मङ्गल=अभीष्टकी सिद्धि। =कल्याण। मोद=आनंद (श. सा.)। पुनः, 'पुत्रोत्सवादि' मङ्गल हैं और तज्जनित आनंद मोद है। (रा. प्र.)। बाह्येन्द्रियोंद्वारा जो सुख हो वह 'मङ्गल' है; जैसे शुद्ध सात्विकी भगवत्सम्बन्धी कर्म अथवा प्रिय वस्तुका देखना, पुत्रजन्म आदि। 'मोद' वह सुख है जो अन्तःकरणके विचारसे उत्पन्न हो; जैसे अन्तःकरणसे परमेश्वरका विचार करना अथवा प्यारी वस्तुके मिलनेसे जो आनन्द होता है, जैसे भगवान्का जन्मोत्सव, कथा-श्रवण, साधुओंको भोजन देना। (वि. टी.)। वा, मङ्गल=बाह्यानन्द। मोद=मानसी आनन्द। (ख) 'मंजुल' से पाया जाता है कि कोई-कोई मङ्गलमोद मलिनभी होते हैं? हाँ, जो कामक्रोधादिद्वारा निंदित कर्मों या विचारोंसे सुख उत्पन्न होते हैं वे 'मलिन मङ्गल मोद' हैं जैसे दूसरेको दुखाकर अपनेको जो सुख मिले वह 'मलिन' है। सुन्दर नहीं है। अथवा, सांसारिक विषयोंद्वारा जो बाह्य वा आन्तरिक सुख होते हैं वे मलिन हैं और परमात्मतत्त्वप्राप्तिसे वा भगवत्प्राप्ति आदिसे जो बाह्यान्तर सुख होते हैं वे 'मंजुल' हैं। (मा.प्र.)। वा, रजोगुण तमोगुणसंबंधी मंगलमोद मलिन हैं, शुद्ध सात्विक मंगलमोद मंजुल हैं। अथवा, 'मंगल' को 'मोद' का विशेषण मान लें, तो भाव यह होगा कि सब आनन्द मांगलिक नहीं होते। जैसे कि विषयानन्द भी आनन्द है पर वह नित्यके अनुभवसे सबको ज्ञात है कि वह अन्तमें दुःखदायीही होता है। क्षणिक मात्रका सुख होता है और अनेक रोगादि उत्पन्न करके

वही दुःखका कारण बनता है। यज्ञादिसे उत्पन्न सुखभी अस्थिर हैं, स्वर्गादि पाकरभी फिर गिरना पड़ता है, इसीसे श्रीवचनामृत है कि 'एहि तन कर फल विषय न भाई। स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई॥ नर तन पाइ विषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं। ७. ४४।' इनसे बारंबार जन्म-मरण होता है और 'जनमत मरत दुसह दुख होई।' अतएव 'मंगल' विशेषण देकर उसका निरास किया। तब मांगलिक कौन हैं? ब्रह्मानन्द, ज्ञानानन्द, योगानन्द आदि मांगलिक हैं जो आवागमनको छुड़ानेवाले हैं। इस पर प्रश्न होगा कि 'मंजुल' विशेषणकी आवश्यकता क्या रह गई? गोस्वामीजी ब्रह्मानन्द आदिको 'मंजुल' नहीं कहते। इस आनन्दको छोड़करभी जिस आनन्दकी इच्छा श्रीजनकमहाराज, शङ्करजी, सनकादि करते हैं वही 'मंजुल' है।

नोट—८ यहाँ तनकी सेवा जनाई और आगे मनकी। (पं० रामकुमारजी)।

जन मन मंजु मुकुर मल हरनी। किये तिलक गुन गन बस करनी। ४।

शब्दार्थ—जन=दास। मंजु=सुन्दर।=(यहाँ मुकुरके संबंधसे) स्वच्छ। मुकुर=दर्पण; मुख देखनेका शीशा; आईना। मल=मैल; विकार। यहाँ मोहादि विषयजनित मैलापन या 'मोरचा (जंग) अभिप्रेत है। यथा, 'मोह जनित मल लाग विविध विधि कोटिहु जतन न जाई। जनम-जनम अभ्यास निरत चित अधिक-अधिक लपटाई॥ नयन मलिन परनारि निरखि मन मलिन बिषय सँग लागें।' (विनय ८२), 'काई विषय मुकुर मन लागी॥…मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। १. ११५।' तिलक=टीका। वह चिह्न जिसे गीले चंदन, केसर, कस्तूरी आदिसे मस्तक आदि अंगोंपर सांप्रदायिक संकेत वा शोभाके लिये लगाते हैं। तिलक करना=मस्तक आदिपर टीकाके रूपमें लगाना या धारण करना।=शिरोधार्य करना।

अर्थ—(श्रीगुरुपदरज) जनके सुन्दर मनरूपी दर्पणके मलको हरनेवाली है। तिलक करनेसे गुणसमूहोंको वशमें करनेवाली है। ४।

टिप्पणी—१ 'जन मन मंजु मुकुर मल' इति। मंजु मनमें मल कैसा? उत्तर—(क) जन (भक्त) का मन है; इसलिये मंजु है। निर्मल रहना उसका स्वाभाविक गुण है। यथा, 'बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा। ४. १६।' पर विधिवश कुसंगमें पड़ जानेसे विषयका सङ्ग पाकर उसपर मैल आ जाता है। यथा, 'बिधि बस सुजन कुसंगत परहीं। १. ३।', 'काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई। १. ७।', 'बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदयका नर बापुरे। ७. १२२।', 'विषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पाँवर पसु कपि अति कामी। ४. २१।' दोष्टव्य, दर्पि भक्तप्रवर श्रीनारदजीका मन स्वभाविक निर्मल है। यथा, 'सहज बिमल मन लागि समाधी। १. १२५।', सो उनका मन दैवयोगसे कामजित् होनेके अहंकारवश होकर फिर विश्वमोहिनीको देख कामवश होगया और उसकी प्राप्ति न होनेपर वे क्रोधवश होगए। उनके निर्मल मनमें गर्व, काम और क्रोधरूपी मल लग गया था। यथा, 'जिता काम अहमिति मन माहीं। १. १२७।', 'उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी। १. १२६।', 'देखि रूप मुनि बिरति बिसारी।….जप तप कछु न होइ तेहि काला। हे बिधि मिलै कवन बिधि बाला॥ १. १३०, १२९, १३१।', 'बेपु बिलोकि क्रोध अति बाढ़ा। तिन्हहिं सराप दीन्ह अति गाढ़ा।…सुनत बचन उपजा अति क्रोधा।' (१. १३५, १३६)। (पं. रा. कु.)। (ख) बाबा जानकीदासजीका मत है कि अपने अपने वर्णाश्रम धर्ममें रत रहना मनकी मंजुता है और भगवत-भागवत-धर्मसे विमुख होना 'मल' है। (मा. प्र.)। (ग) [स्मरण रहे कि निर्मल वस्तु, जैसे दर्पण आदि, मेंही मैल जब पड़ता है तब तुरंत झलकने लगता है जैसे स्वच्छ वस्त्रपर धब्बा। जो सर्वथा मैला है, उसमें मैल क्या देखा जायगा। भक्तके मनरूपी दर्पणमें विषयरूपी स्नेह (चिकनाई) से मैल बैठ जानेपर वह गुरुपदरजसेवनसे दूर जाता है जैसे विभूतिसे चिकनाहट दूर हो जाती है। जो भक्त नहीं है वरंच भगवद्विमुख है वह गुरुके पास जायगाही कब? वह तो

स्वयं अपनेको गुरु समझता है। उसके मतमें तो गुरुकी आवश्यकताही नहीं। तब उसके हृदयका मैल कब छूट सकता है? यथा, 'मूरख हृदय न चेत....']

नोट—१ श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि विचारसहित मन 'मंजु मन' है। ऐसा 'मंजु मन' ही दर्पण है। दर्पणमें अपना मुख दीखता है और विचारसहित मनरूप दर्पणमें अपना आत्मस्वरूप देख पड़ता है। यथा, पद्मपुराणे कपिलगीतायाम्, 'विचारं दर्पणं यस्य अवलोकनमीक्षितम्। दृश्यते तत्स्वरूपंच तत्रैव पृथकं नहि॥ हृदयं दर्पणं यस्य मनस्तत्रावलोकयन्। दृश्यते प्रतिबिम्बेन आत्मरूपंच निश्चिते॥' मनदर्पणमें रज कैसे लग सकती है? पादोदक पीनेसे रज मनतक पहुँच जाता है, उससे अन्तःकरण शुद्ध होकर सद्विचार उत्पन्न होते हैं। यथा, गुरुगीतायाम्, 'शोषणं पापपंकस्य दीपनं ज्ञान तेजसाम्। गुरोः पादोदकं सम्यक् संसारार्णवतारकम्।' (श्लोक २३)। अर्थात् गुरुका चरणोदक पापरूपी कीचड़का सुखानेवाला, ज्ञानरूपी तेजका प्रकाशक और सम्यक् प्रकारसे संसारसमुद्रसे तारनेवाला है।

नोट—२ यहाँतक चार अर्धालियोंमें गुरुपदरजका माहात्म्य दिखाकर यहभी जनाया है कि यह 'विषयी, साधक और सिद्ध' जो तीन प्रकारके जीव हैं यथा, 'विषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिविध जीव जग वेद बखाने। २. २७७।' उनके सेवने योग्य है। 'जन मन मंजु मुकुर मल हरनी' से विषयीकेलिये जरूरी दिखाया; क्योंकि वे विषयासक्त होनेसे भवबंधनमें पड़े हैं। रजसेवनसे उनका विषयरूपी मल दूर हो जायगा। 'समन सकल भवरुज परिवारू' से साधक (मुमुक्षु) के लिये जरूरी दिखाया; क्योंकि साधकको साधन करनेमें मानसरोगोंसे विघ्नका डर है। 'मंजुल मंगल मोद प्रसूती' से सिद्धोंके भी कामका बताया। सिद्ध (अर्थात् मुक्तकोटिवाले जीव) को 'मंजुल मुद मंगल' स्थित रखनेके लिये रजका सेवन जरूरी है।

नोट—३ 'किये तिलक गुनगन बस करनी' इति। (क) जैसे तंत्रशास्त्रकी रीतिसे वशीकरण मन्त्रसे मन्त्रित करके नामके अनुकरणसे जो तिलक जिसके उद्देश्यसे किया जाता वह वशमें हो जाता है। तिलककर पुरुष स्त्रियोंको वशमें करते हैं, राजतिलकसे प्रजा वशमें होती है और द्वादश वैष्णव तिलक करनेसे देवताओं-सहित श्रीरघुनाथजी वशमें होते हैं, इत्यादि, वैसेही श्रीगुरुपदरजके तिलकसे गुणगण वशमें हो जाते हैं। यथा, 'जे गुरुचरनरेनु सिर धरहीं। ते जनु सकल विभव बस करहीं। २. ३।' (रा. प्र.)। (ख) रज-तिलकमें विशेषता दिखाते हैं कि वहाँ वशीकरणप्रयोगके तिलकमें मन्त्र, तिथि, वार आदिका विचार करना पड़ता है और यहाँ विना मन्त्र, तिथि, वार आदिके विचारके गुरुपदरजके तिलकमात्रसे गुणगण वशमें होते हैं। (रा. प्र.)। (ग) रहूगणसे जड़ भरतजीने महत्पुरुषोंके चरणरजके विषयमें ऐसाही कहा है। यथा, 'रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा। नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैर्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥' भा. ५. १२. १२।' अर्थात् हे रहूगण! इस प्रकारका ज्ञान महापुरुषोंके चरणरजको शिरपर धारण करनेके सिवा तप, यज्ञ, दान, गृहस्थोचित धर्मोंके पालन, वेदाध्ययन, अथवा जल, अग्नि या सूर्यकी उपासना आदि किसीभी साधनसे प्राप्त नहीं हो सकता।' (घ) 'गुणगण' से यहाँ ज्ञान, वैराग्य, विवेक, शांति, दया, क्षमा, शील, संतोष, आदि दिव्य गुण अभिप्रेत हैं। विना इन गुणोंके भक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यथा, 'शांतः समान मनसा च सुशीलयुक्तः तोष क्षमा गुण दया ऋजुबुद्धियुक्तः॥ विज्ञान ज्ञाननिरतः परमार्थवेत्ता निर्धामकोऽभय मनाःस च रामभक्तः।' (महारामायण ४६। ६)।' अतः शुभगुणोंका वश करना कहा गया। (मा. प्र., वै.)।

नोट—४ श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि जीवके कल्याणके तीन मार्ग हैं। कर्म, ज्ञान, और उपासना। 'सुकृत संभुतन....' में कर्म देश कहा, क्योंकि तीर्थादिमें सुकृतोंकी वृद्धि होती है। वैसेही गुरुपदरजका स्मरणकर कर्म करनेसे सुकृतकी वृद्धि होती है। यथा, 'सर्वतीर्थावगाहस्य संप्राप्नोति फलं नरः। गुरोः पादांबुजौ स्मृत्वा जलं शिरसि धारयेत्॥' (गुरुगीता २२)। 'जनमनमंजु....' से ज्ञानदेशमें और 'किये तिलक....' से उपासनामें सहायक दिखाया।

नोट—५ पं० रामकुमारजी, पांडेजी—चार चौपाइयोंमें 'मारण, मोहन, उच्चाटन और वशीकरण' चारों प्रयोगोंका रजसेवनसेभी सिद्ध होना सूचित किया। 'समन सकल भवरुजपरिवारू' अर्थात् भवरोगनाशक है, यह 'मारण' हुआ। सुकृत संभुतनमें लगनेसे शोभा करती है, सब मंगल मोहित हो जाते हैं, यह 'मोहन' है। जनमन 'मंजु मुकुर मल हरनी' से 'उच्चाटन' कहा। और, 'गुनगन बस करनी' से 'वशीकरण' प्रयोग सिद्ध हुआ।

नोट—६ पं० रामकुमारदास (मणिपर्वत, श्रीअयोध्याजी)—गुरुचरणरजको 'प्रसूनी', 'वसकरनी' और 'मलहरनी' विशेषण देकर सूचित किया है कि गुरुमहाराज परब्रह्म हैं, गुरुपदरज आद्याशक्ति है जो उत्पत्ति, पालन और संहार तीनों क्रियाओंसे युक्त है। प्रसूनीसे सृष्टि उत्पत्ति क्रिया, वसकरनीसे पालनशक्ति क्रिया और मलहरनीसे संहार क्रिया सूचित की है।

नोट—७ ग्रंथकारको ग्रंथके रचनेमें मानसरोगका डर था, दूसरे रामचरितमानस रचनेके लिये सद्गुणोंसे युक्त होनेकीभी आवश्यकता है। इसलिये केवल मारण और वशीकरणको प्रगट कहा है।

नोट—८ पं० रा० कु०—(क) व्याकरणमें पुल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग ये तीन रूप कहे गए हैं। गोस्वामीजीने तीनों लिंगोंमें परागका यश गाया है। 'बंदउँ गुरपद पदुम परागा' पुल्लिंगका स्वरूप है, 'सुकृत संभुतन विमल विभूती' स्त्रीलिंगका स्वरूप है। 'चूरन' और 'भवरुजपरिवार' पुल्लिंग हैं, तथा 'पराग' भी पुल्लिंग है; इसलिये चूर्ण को पुल्लिंगकी उपमा दी। 'विभूती' स्त्रीलिंग है; इसलिये 'प्रसूनी, मल हरनी, वसकरनी' कहा। 'रज' नपुंसकलिंग है इसलिये उसके सम्बन्धमें आगे २ (१) में 'अंजन' कहा है।

(ख) यहाँतक यह बताया कि रजको वचनसे वन्दना करे, यथा, 'बंदउँ गुरु पद पदुम परागा'; चूर्ण रूपसे उसे खाय और अंगमें लगावे। पुनः, उसमें मनको लगावे क्योंकि 'जनमन मंजु मुकुर मल हरनी' है, उसका तिलक करे क्योंकि 'किए तिलक गुनगन बसकरनी' है और नेत्रमें लगावे; यथा, 'गुरुपदरज मृदु मंजुल अंजन'। इस तरह गुरुपदरजके आश्रित होकर वचन, तन और मनसे सेवन करे। (पं० रा० कु०)।

नोट—९ पूर्व जो श्रेष्ठ अनुराग रस गुण कहा था, वह यहाँ दिखाया। मनरूपी दर्पणका मैल हर लेना और गुणोंको वश कर देना यही अनुराग रस है। (मा० प्र०)।

श्रीगुरुपदनख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती।५।

शब्दार्थ—नख=नाखुन। मनिगन (मणिगण)=मणियोंका समूह। जोती (ज्योति)=प्रकाश। दिव्य दृष्टि=(नेत्रोंकी) दिव्य ज्योति=देखनेकी अलौकिक शक्ति। शुद्ध बुद्धिमें ज्ञानका प्रकाश। यथा, 'दिव्यं ददामि ते चक्षुः' (गीता ११. ८)। हिय=हृदय।

अर्थ—श्रीगुरुमहाराजके चरणनखरूपी मणिगणके प्रकाशको सुमिरतेही हृदयमें दिव्य दृष्टि (उत्पन्न) होती है। (मैं उनकी वंदना करता हूँ)।५।

नोट—१ जब हृदय शुद्ध हुआ और उसमें शान्ति, क्षमा, दया आदि गुण हुए तब वह ध्यान करने योग्य हुआ, उसमें बढ़िया प्रकाशवाली वस्तुके पानेकी इच्छा हुई। अतः अब ध्यान बताते हैं जिससे दिव्य प्रकाश मिले। (वै., रा. प्र.)।

नोट—२ बाबा जानकीदासजी लिखते हैं कि (क) गोस्वामीजीने पहले गुरुकी वन्दना, फिर गुरुपद-कंजकी और तब गुरुपदकमलपरागकी वन्दना की। यथा, 'वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं', 'बंदौं गुरुपदकंज' और 'बंदौं गुरुपद पदुम परागा'। उसी परंपरासे वे यहाँभी 'बंदौं श्रीगुरुपदनख' कहते हैं, यद्यपि पदमें 'बंदौं' नहीं है। (ख) यहाँ 'बंदौं' पद न देनेमेंभी अभिप्राय है। वह यह कि वे 'गुरु' शब्दके साथ सर्वत्र 'श्री' विशेषण देना

चाहते थे। अर्थात् वे 'वंदौं श्रीगुरुपदकंज' 'वंदौं श्रीगुरुपदपदुम परागा' कहना चाहते थे और उसी तरह यहाँ 'वंदौं श्रीगुरपदनख' लिखना चाहते थे; परंतु छन्दोभंगके विचारसे वे 'वंदौं' और 'श्री' दोनों सर्वत्र न लिख सके। तब उन्होंने यह चमत्कार किया कि आदिमें 'पद' और 'पराग' के साथ 'वंदौं' दिया और 'श्री' यहाँ प्रसंगके बीचमें दे दिया जिससे पाठक समझ लें कि 'वंदौं' और 'श्री' सबके साथ हैं। (मा. प्र.)। इस चमत्कारके उदाहरण औरभी ग्रन्थमें मिलेंगे। यथा, 'सौंपे भूप रिपिहि सुत बहु बिधि देइ असीस। जननी भवन गए प्रभु चले नाइ पद सीस। १. २०८।' इसमें राजाको प्रणाम करना नहीं लिखा केवल राजाका आशीर्वाद देना कहा गया और इसी तरह माताको प्रणाम करना लिखा गया है, पर माताका आशीर्वाद देना नहीं लिखा। एक एक कार्य एक एक जगह लिखकर दोनों जगह दोनों शिष्टाचारोंका होना जना दिया है।

पं. रामकुमारजी लिखते हैं कि नखकी वंदना नहीं करते; क्योंकि गुरुपदकी वंदना कर चुके हैं। नख पदसे भिन्न नहीं हैं, अतः पदही हैं। 'रज' पदसे भिन्न है। इसीसे 'रज' के साथ 'वंदौं' शब्द दिया गया और 'नख' के साथ नहीं दिया गया। [नख पदसे भिन्न नहीं हैं, तथापि 'पद' से प्रायः तलवेका भाव लिया जाता है। रज तलवेमें होती हैं, चरणचिह्न तलवेके लिये जाते हैं, इत्यादि। हो सकता है कि इस प्रकार नखको पदसे पृथक् मानकर वंदना की गई हो।]

टिप्पणी—१ 'प्रथम 'गुरुपदरजकी वन्दना करके फिर पदनखकी महिमा कहनेका भाव यह है कि रजके सेवनसे मन भवरोगसे रहित हुआ, पुनः विषयसे रहित हुआ। विषयही मल है, यही कुपथ्य है। यथा, 'विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे'। विषयरहित होनेपर मल नख प्रकाशके सुमिरनका अधिकारी हुआ। 'दलन मोह तम .' तक मनकी सफ़ाई कही है।'

टिप्पणी—२ 'श्रीगुरपदनख...' इति। (क) पदनखको मणिगण कहा है और मणिगण लक्ष्मीजीके कटाक्ष हैं। इस लिये 'नख' के साथ 'श्री' पद दिया। [ऐश्वर्य वा शोभासे युक्त होनेसे 'श्री' विशेषण दिया। (रा. प्र.)। बैजनाथजी 'श्री' को गुरुका विशेषण मानते हैं। अर्थात् ऋद्धिसिद्धि, यश, प्रताप, गुण, कीर्ति, भुक्ति, मुक्ति, ज्ञान, भक्ति आदि ऐश्वर्ययुक्त ऐसे श्रीमान् जो गुरु हैं उनके पदनख।]

(ख) 'मनिगन जोती' इति। पैरोंमें कई नख हैं, इसीसे 'मणिगण' की उपमा दी। क्योंकि दीपावलीमें तेल बत्ती चुकने और पतंगे, पवन इत्यादिसे बाधाका भय रहता है, और वह हिंसा और उष्णतायुक्तभी है। और मणिमें अखण्ड, एकरस, शीतल, स्वतः प्रकाश रहता है तथा उसमें उपर्युक्त (दीपकवाली) बाधाओंका भयभी नहीं रहता। यथा, 'परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती। ७. १२०।'

(ग) 'जोती सुमिरत....' इति। यहाँ 'नखों' का स्मरण करना नहीं कहते। नखोंसे अलग रहे, यहाँ केवल नखोंकी 'ज्योति' का स्मरण करनेका माहात्म्य कहते हैं। यहाँ 'सुमिरे' न कहकर 'सुमिरत' कहा; क्योंकि 'सुमिरत' से तत्काल वा शीघ्र फलकी प्राप्ति सूचित होती है और 'सुमिरे' से अंतमें फलकी प्राप्ति समझी जाती है। पुनः, 'सुमिरत' शब्द देकर मणिगणसे इसमें विशेषता दर्शित की। (रा. प्र.)।

(घ) 'दिव्य दृष्टि हियँ होती' इति। 'दिव्य दृष्टि' हृदयमें होती है अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, निरावरण, भगवत्स्वरूपका विचार एकरस हृदयमें रहता है, कभी मन्द नहीं पड़ता। (रा. प्र.)। 'हिय होती' कहनेका भाव यह है कि बाहरसेभी दिव्य दृष्टि होती है; जैसे कि ज्योतिष, यंत्र, मंत्र, सिद्धि अथवा किसी देवताकी उपासना, इत्यादिसे। पर उससे हृदयके नेत्र नहीं खुलते। इसी तरह सिद्धांजन लगानेसे बाहरकी दृष्टि अधिक हो जाती है, भीतरकी नहीं। और नखप्रकाशके स्मरणसे हृदयके नेत्रोंमें दिव्य दृष्टि हो जाती है। (पं० रामकुमार)।

नोट—३ 'रजका प्रसंग तो आगे दोहासे फिर उठाया है। यहाँ बीचमें रजका प्रसंग अधूरा छोड़कर नखका माहात्म्य क्यों कहने लगे?' इस शंकाको उठाकर बाबा जानकीदासजी उसका उत्तर यह देते हैं कि रजसे कामादि रोगोंका नाश हुआ, सुकृत शोभित हुए, मंजुल मङ्गल मोद उत्पन्न हुए, मल दूर हुआ और गुणगण वश हुए; परन्तु प्रकाश न देख पड़ा तब रजके निकट नखोंका प्रकाश देख नखोंकी वन्दना प्रकाशप्राप्तिके हेतु करने लगे। नख और रजका आगे मेल दिखाकर दोनोंका प्रसंग एक साथ समाप्त करेंगे। पहले पृथक्-पृथक् इनके गुण दिखाए। नखज्योतिसे आँखें खुलेंगी तब फिर आँखके लिये रज अंजनकी जरूरत होगी। यही क्रम लेकर रज, फिर नख, फिर रजके प्रकरण लगाए हैं।

रजका पूरा प्रकरण न समाप्त करनेसेभी यह बात पुष्ट होती है कि 'बंदौं' और 'श्री' पदरज और पदनख दोनोंके साथ समझे जायँ। (मा. प्र.)।

दलन मोह तम सो-सु-प्रकासू। बड़े भाग उर आवहि जासू। ६।

शब्दार्थ—दलन=नाश करनेवाला। सो सु प्रकासू=वह सुंदर प्रकाश। सोसु प्रकासू=सूर्यका प्रकाश। सोसु=सहस्रांश=सूर्य। भाग=भाग्य=नसीब; क़िस्मत।

अर्थ—१ वह सुन्दर प्रकाश (श्रीगुरुपदनखज्योति) मोहरूपी अंधकारका नाशक है। (वह नखप्रकाशका ध्यान) जिसके हृदयमें आवे उसके बड़े भाग्य हैं। ६। (पं., वै., रा. प्र.)।

नोट—१ (क) श्रीगुरुपदनखज्योतिसे दिव्य दृष्टिका होना पूर्व कहा अब यह दूसरा गुण बताते हैं कि उससे मोहांधकारभी नष्ट हो जाता है। 'सु' प्रकाशका भाव यह है कि दीपकमें ऊपर काजल रहता है, अग्नि, सलाई, तेल, बत्ती, आदिके संयोगसेही उसमें प्रकाश रहता है, बाधाका भय रहता है, फिर रात्रिहीमें और थोड़ीही दूर उसका प्रकाश रहता है। सूर्यका प्रकाश तप्त, फिर इसमें धूम, धूलि, मेघ, ग्रहण आदिकी बाधायें रहती हैं और फिर वह दिनभरही रहता है रात्रिमें नहीं। यदि कहें कि मणिमें प्रकाश थोड़ा होता है सो बात नहीं है। सीमंतक आदि ऐसे मणि हैं जिनमें सूर्यके समान प्रकाश होता है। मणिका प्रकाश दिन और रात दोनोंमें अखण्ड एकरस रहता है, शीतल है, इत्यादि कारणोंसे उसके प्रकाशको 'सुप्रकाश' कहा। अथवा, मणिमें प्रकाश होता है और गुरुपदनखमें 'सुप्रकाश' है, क्योंकि इसमें पारमार्थिक गुण है और मणिमें केवल प्राकृतिक बाह्य प्रकाश है। (वै., रा. प.)।

(ख) 'बड़े भाग....' इति। इस कथनसेभी 'सु प्रकास' पाठ सिद्ध होता है; क्योंकि सूर्यका प्रकाश सबको सुलभ है और 'नखप्रकाश' के लिये कहते हैं कि 'बड़े भाग....।' सीमन्तक आदि मणियाँ सबको प्राप्त नहीं होतीं, बड़ेही भाग्यवानको कहीं नसीब होती हैं। वैसेही श्रीगुरुपदनखमें सब सुलभता है। एक यही बड़ी कठिनाई है कि जब बड़े भाग्य उदय हों तब श्रीगुरुपदमें भक्ति और उनके पदनखप्रकाशका ध्यान हृदयमें आता है। लाखोंमें कोई एक ऐसे बड़भागी होते हैं। गुरुपदानुरागी बड़भागी कहे जाते हैं। यथा, 'जे गुरपद अंबुज अनुरागी। ते लोकहुँ बेदहुँ बड़भागी। २. २५९।'

(ग) 'उर आवहि' कथनसे सूचित करते हैं कि ले आनेवालेके वशकी बात नहीं है, हृदयमें ले आना उसके अख्तियारसे बाहर है। इससे आनेवालेकी इच्छा प्रधान बताई। अथवा, 'जिसके उरमें आवे उसके बड़े भाग्य हैं' इस अर्थमें भागी या अभागीका कोई नियम नहीं, जैसे 'गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही'। (खर्रा)।

अर्थ—२ (श्रीगुरुपदनख प्रकाश) मोहांधकारके नाशके लिये सूर्यके प्रकाशके समान है। जिसके हृदयमें आवे उसके बड़े भाग्य हैं। ६। (मा. प्र., मा. म.)।

नोट—२ पूर्व नखमें मणिगणवत् प्रकाश कहा और अब सूर्यवत् प्रकाश कहते हैं। मणिवत्प्रकाशसे दिव्य दृष्टि हुई, हृदयके ज्ञान वैराग्यरूपी नेत्रोंमें देखनेकी शक्ति तो हुई पर रात्रिके अंधकारके कारण नेत्र बंद ही रहे। जैसे आँखें कैसीही नीरोग हों पर रात्रिमें उन्हें सूझता नहीं, इसीसे मनुष्य आँखें बन्द किये पड़े रहते हैं। वैसेही दिव्य दृष्टि होनेपरभी मोहांधकारके कारण सूझता नहीं; अतः ज्ञान वैराग्य नेत्र खुले नहीं, बन्द पड़े रहे। अतः मोहांधकारके नाशके लिये नखको सूर्यकी उपमा दी। क्योंकि मणिप्रकाशसे रात्रिका नाश नहीं होता, रात तो बिना सूर्योदयके नहीं जाती। यथा, 'बिनु रवि राति न जाइ', 'तुलसी कबहुँक होत नहिं रवि रजनी इक ठाम।' यहाँ नख सूर्य हैं, शिष्यका हृदय आकाश है, हृदयकी अविद्या अन्धकार रात्रि है। अतएव यह अर्थ समीचीन है। (मा. प्र. अभिप्रायदीपक)। (ख) 'सोसु' यहाँ क्रिया नाम है। सूर्य सर्व रसोंके शोषण करनेवाले हैं, इसीसे 'सोसु' नाम है। (मा. प्र.)।

नोट—३ शङ्का—गुरुपदवन्दनासे 'महामोह तमपुंज' का नाश तो कर चुके तब यहाँ 'दलन मोह तम' फिर कैसे कहा ?

समाधान—(क) महामोह राजा है। गुरुवचनसे उसका नाश किया। मोह उस राजाका परिवार वा सेवक वा सेना है, उसके लिये वचनकी आवश्यकता नहीं, नखभी नहीं केवल नखप्रकाशमात्र उसके नाशके लिये पर्याप्त (काफी) है। या यों कहें कि मुखियाको मुखसे और प्रजाको चरणसे जीता। (ख) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'यहाँ ग्रंथकारके अक्षर धरनेकी सावधानता है।' पंचपर्वा अविद्यामें मोह और महामोह दोनों नाम गिनाये गए हैं। इसीसे गोस्वामीजीने दोनोंका नाशभी पृथक्-पृथक् कहा। पुनः, यह बताते हैं कि नखके प्रकाशमें बहुत गुण हैं। मोहांधकारका नाश करनेमें गुरुके वचन अधिक हैं, यह सूचित किया। (पं० रामकुमारजी)।

उघरहिं बिमल बिलोचन ही के। मिटहिँ दोष दुख भव-रजनी के। ७।

शब्दार्थ—उघरना = आवरणरहित होना; खुलना। बिलोचन=दोनों नेत्र। ही= हिय=हृदय। बिलोचन ही के=हृदयके दोनों नेत्र; हियकी आँखें। अर्थात् ज्ञान और वैराग्य। यथा, 'ज्ञान बिराग नयन उरगारी। ७.१२०।' भव रजनी=संसाररूपी रात्रि।

अर्थ—(श्रीगुरुपदनखप्रकाशसे) हृदयके (ज्ञान वैराग्यरूपी) निर्मल नेत्र खुल जाते हैं और संसाररूपी रात्रिके दोष और दुःख मिट जाते हैं। ७।

नोट—१ 'उघरहिं बिमल....' इति। (क) 'उघरहिं' से पहले उनका बंद होना पाया जाता है। हृदयके नेत्र तो 'दिव्य दृष्टि' पाकर पहलेही निर्मल थे, तो बंद क्यों रहे ? समाधान यह है कि—(१) अंधा देख नहीं सकता चाहे सूर्यकाभी प्रकाश क्यों न हो ! यथा, 'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना। १. ११५।' अतएव मनमुकुरके मलका हरण कहकर नेत्रों (में दिव्य दृष्टि) का होना कहा, तत्पश्चात् नखप्रकाशसे अविद्यारात्रिका अन्त कहा। अज्ञानरूपी अन्धकारका नाश होनेपर ज्ञानप्रकाशरूपी प्रभात हुआ तब निर्मल नेत्रोंका खुलना कहा। (२) नेत्र निर्मलभी हों तो क्या ? रात्रिमें तो उन्हेंभी कुछ सूझता नहीं तब बन्दही भले, खुलकर क्या करें ? जैसे सूर्योदय होतेही रात्रि मिट जाती है, उजाला होतेही मनुष्य सोतेसे जाग उठते हैं; नेत्र आपही आप खुल जाते हैं; वैसेही नखप्रकाशसे संसाररूपी रात्रि मिटतेही मोहांधकार दूर हुआ, ज्ञानवैराग्यरूपी नेत्र स्वयं खुलगए। (३) नेत्रके देवता सूर्य हैं और ज्ञानवैराग्यरूपी नेत्रोंके देवता श्रीगुरुपदनखरूपी सूर्य हैं। बिना देवताके इंद्रियोंमें प्रकाश नहीं होता। इसीलिये हृदयके नेत्र बन्द पड़े रहे। जब श्रीगुरुपदनखरूपी सूर्यदेवताका प्रकाश मिला तब खुले। (ख) 'बिमल बिलोचन' इति। 'बिमल' कहनेका तात्पर्य यह है कि

ज्ञान वैराग्यका जो रूप है वह सदा निर्मल रहता है। अथवा, भाव यह है कि जबतक भवरजनीके मोहांधकार रूपी दोष और (विचारका न सूझना रूपी) दुःखसहित रहे तबतक किसी वस्तुकी यथार्थ पहचान न होत थी। (पं० रामकुमारजी)। (ग) प्रथम विषय है तब इंद्रियाँ। इसीसे प्रथम 'सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती' कहकर दृष्टिकी शुद्धता कही तब विषयेन्द्रिय 'लोचन' की शुद्धता कही गई। (पं० रामकुमार)। (घ) 'मिटहिं' से फिर न आना सूचित किया। (पं० रा० कु०)।

नोट—२ 'दोष दुख भवरजनी के' इति। (क) श्रीवैजनाथदासजी कहते हैं कि बेमर्यादा काम करनेसे दोष होता है और उसका फल दुःख होता है। जैसे परस्त्रीगमन, चोरी आदि दोष रात्रिमेंही होते हैं जिसका फल अपयश और राजदण्ड आदि दुःख होता है। वैसेही भवरात्रिमें इन्द्रियोंके विषय जैसे कानोंसे परनिन्दा या कामवार्ता सुनना, त्वचासे परस्त्रीका स्पर्श करना, नेत्रोंसे स्त्री आदिको देखना, रसनासे परवोष गाना, भक्ष्याभक्ष्य खाना इत्यादि दोष हैं। मन विषयोंमें लगकर बुद्धिको भ्रष्ट कर देता है जिससे अनेक योनियोंमें भ्रमना होता है। इत्यादि दोष हैं। जन्म, जरा, मरण, त्रयताप, नरक, गर्भवास आदि दुःख हैं। (ख) बाब जानकीदासका मत है कि रात्रिमें अंधकार दोष है। (मा. प्र., रा. प.) चोर, सर्प, बिच्छू आदिका भय [व दुःस्वप्न। (रा. प)] दुःख हैं वैसेही भवरजनीका दोष अविद्या, अज्ञान आदि हैं जिससे जीव आत्मस्वरूप भूल गया। और कामक्रोधादि सर्प आदिका भय (तथा मोहादिके कारण सूझ न पड़ना) दुःख है। (मा.प्र.) [अथवा, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक दुःख हैं। (रा. प्र.)]

नोट—३ बिनयपत्रिकाके पद ७३, ७४ 'जागु जागु जागु जीव जोहै जगजामिनी।...' और 'जानकीसकी कृपा...' से इस अर्धालीके भाव बहुत स्पष्ट हो जाते हैं। वहाँभी संसाररूपी रात्रिकाही प्रसंग है। रात्रिमें मनुष्य स्वप्न देखता है कि उसका सिर काट लिया गया, वह राजासे रंक हो गया इत्यादि, जिससे उसे बहुत कष्ट होता है। वैसेही संसाररूपी रात्रिमें मोहवश मनुष्य सुत, वित, कलत्र, देह, गेह, नेह आदिको सत्य जानकर उसीके कारण त्रिताप सहता है। यह संसाररात्रि मोहमय है। यथा, 'देह गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी। १। सोवत सपने सहे संसृति संताप रे। बूड़ो मृगवारि खायो जेवरी के साँप रे। २।...दोष दुःख सपनेके जागे ही पै जाहिं रे। ३। तुलसी जागे ते जाइ ताप तिहुँ ताय रे।...' (पद ७३)। मोहमयरूपी भवरात्रि अपना स्वरूप भुला देती है। वासना, मोह, द्वेष आदि भवनिशाका निविड़ अंधकार है जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मद, मान आदि निशाचरों और चोरोंका भय रहता है। सवेरा होना ज्ञानरूपी सूर्यका उदय है। इससे अंधकार मिट जाता है, चोर आदि भाग जाते हैं, त्रयताप दूर हो जाता है। यथा, 'अब प्रभात प्रगट ज्ञान भानुके प्रकास वासना सरोग मोह द्वेष निविड़ तम टरे॥ भागे मद मान चोर भोर जानि जातुधान काम क्रोध लोभ छोभ निकर अपडरे। देखत रघुबर प्रताप बीते संताप पाप ताप त्रिबिध··· ।' (पद ७४)।

नोट—४ मा. प्र. में चोर, सर्प, बिच्छू आदिसे दुःख कहा है। भवरात्रिमें मत्सर, मान, मद, लोभ आदि चोर हैं। यथा, 'मत्सर मान मोह मद चोरा। ७. ३१।' 'मम हृदय भवन हरि तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा। २।...तम मोह लोभ अहँकारा। मद क्रोध बोध रिपु मारा।' (विनय १२५)। संशय अथवा रागादि सर्प हैं। यथा, 'संसय सर्प ग्रसन उरगाद। ३. ११।' 'रागादि सर्पगन पन्नगारि।' (विनय ६४)। भोगादि बिच्छूके डंक हैं। यथा, 'भोगौघ वृश्चिक विकार' (विनय ५६)। मोह अन्धकार है। यथा, 'प्रबल अविद्याकर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा। ७. ११८।'

नोट—५ यहाँ नखप्रकाशमें फिर विशेषता दिखाते हैं कि वहाँ तो फिर रात्रि आती है, अंधकार छा जाता है, नेत्र बंद हो जाते हैं और दुःस्वप्न होता है, इत्यादि। पर श्रीगुरुपदनखप्रकाशसे जो प्रकाश होता है

वह सदा बना रहता है, निर्मल नेत्र फिर बंद नहीं होते और न अज्ञानादितम और त्रयताप आदि दोष दुःख होते हैं। पुनः सूर्य बहिरंग प्रकाशक है और नख अंतरंगप्रकाशक हैं, यह विशेषता है। (रा. प्र.)।

नोट—६ नखमणिसे नेत्रोंमें दिव्य दृष्टि हुई। अब रात बीतनेपर नेत्र खुले। प्रभात होनेसे सब वस्तुएँ सूझने लगती हैं यही आगे कहते हैं।

सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक। ८।

शब्दार्थ—सूझना=देख पड़ना; दिखाई देना। मणि=बहुमूल्य रत्न। जवाहिर। जैसे हीरा, पन्ना, मोती आदि। यह कई प्रकारकी होती है। गजमणि, सर्पमणि इत्यादि। यथा, 'मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी। १. ११।', 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन मिति तुम्हहिं अधीना। १. १५१।' इन उद्धरणोंमें सर्पमणिको मणि, गजमणिको मुक्ता और पर्वतसे प्राप्तको माणिक्य कहा है। पर उत्तरकांडमें पर्वतसे निकले हुये रत्नकोभी मणि कहा गया है। यथा, 'सो मनि जदपि प्रगट जग अहई।...पावन पर्बत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना।...पाव भगति मनि सब सुख खानी।' (७. १२०)। मानिक (माणिक्य)= लाल रंगका एक रत्न जो 'लाल' कहलाता है। पद्मराग; चुन्नी; याक़ूत। गुपुत (गुप्त) = छिपा हुआ। खानिक= खान; खदान।=खानका। खानि (सं०)=वह स्थान जहाँसे धातु, पत्थर, रत्न आदि खोदकर निकाले जाते हैं। खान; उत्पत्तिस्थान।

अर्थ—१ श्रीरामचरित्ररूपी मणिमाणिक्य गुप्त या प्रगट जहाँ जो जिस खानिमें हैं, दिखाई देने लगते हैं। ८।

अर्थ—२ श्रीरामचरितरूपी मणिमाणिक्य जो जहाँ और जिस खानिमें गुप्त हैं (वे सब) प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं। (भाव यह कि मणि और माणिक्य दोनोंही गुप्त होते हैं सो वे दोनों प्रगट हो जाते हैं।)

नोट—१ 'रामचरित मनि मानिक' इति। श्रीरामचरितमें मणि और माणिक्य दोनोंका आरोप है। कारण यह कि—(क) चरित गुप्त और प्रगट दो तरहके कहे गए हैं इसीसे मणि और माणिक्य दोसे रूपक दिया गया। मणि गुप्त हैं, माणिक्य प्रगट है। मणि हाथीके मस्तकके भीतर गुप्त है, सर्पके मस्तकमें गुप्त है। गज और सर्प (जिनमें मणि होती है) यद्यपि संसारमें हैं तथापि दैवयोगसे भलेही मिल जायँ, भेदी का वहाँ गम्य नहीं है। वैसेही अनुभवी सन्तरूपी मणिसर्प या गज संसारमें हैं जिनके हृदयमें अनुभव किया हुआ श्रीरामचरित्र गुप्त है; पर वे श्रीरामकृपासेही मिलते हैं। यथा, 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही। ७, ६६।', 'बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं संता। ५. ७।' भक्तिमणिके विषयमें जैसा कहा है कि 'सो मनि जदपि प्रगट जग अहई। रामकृपा बिनु नहिं कोउ लहई।' (७. १२०), वैसाही यहाँ श्रीरामचरितमणि संसारमें होनेपरभी दैवयोगसेही मिलता है।

माणिक्य पर्वत और खानोंमें होता है। पर्वत प्रगट है। भेदी जानते हैं। वैसेही वेदपुराणरूपी पर्वतोंमें श्रीरामचरित गुप्त है। सज्जन पंडित इसके मर्मी हैं। यथा, 'पावन पर्बत बेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना। मर्मी सज्जन सुमति कुदारी। ज्ञान बिराग नयन उरगारी॥ भाव सहित खोजइ जो प्रानी। पाव भगति मनि सब सुखखानी। ७. १२०।' माणिक्य भेदीसे मिलता है इसीसे उसे 'प्रगट' कहा। इसी तरह बाह्यचरित्ररूपी माणिक्य विद्वान् सज्जनोंसे मिलता है।

'मणि' प्रथम है तब 'माणिक्य', वैसेही दूसरे चरणमें प्रथम 'गुपुत' है तब 'प्रगट'। इस प्रकार यहाँ 'यथासंख्य वा क्रमालङ्कार' है। मणि गुप्त है, माणिक्य प्रगट है।

(ख) (पं० शिवलालपाठकजीके मतानुसार) सगुण और निर्गुण दो प्रकारके चरितोंके लिये दो उपमाएँ दीं । सगुणयश माणिक्यवत् वेदपुराणरूपी पर्वतोंमें है; यह प्रगट है । और, निर्गुण ब्रह्म सब संसारमें व्यापक है । निर्गुणका चरित मणिवत् संसाररूपी सर्पमें स्थित है । यह गुप्त है (मा. म.) ।

नोट—२ 'गुपुत प्रगट जहँ जो' इति । 'गुप्त' चरित कौन हैं और 'प्रगट' कौन हैं इसमें भी कुछ मतभेद है ।

गुप्त	प्रगट
१ ऐश्वर्य वा रहस्यके चरित गुप्त हैं । यथा, 'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ ।...' (१. १९५); 'जो जेहि भाय रहा अभिलाषी । तेहि तेहि कै तसि तसि रुख राखी । २. २४४ ।, 'मुनि समूह महँ बैठे सन्मुख सब की ओर । ३. १२ ।', 'सीता प्रथम अनल महुँ राखी ।...प्रभुचरित काहु न लखे नभ सुर सिद्ध मुनि देखहिं खरे । ६. १०७-१०८ ।', 'अमित रूप प्रगटे तेहि काला ।.. उमा मरम यह काहु न जाना । ७. ६ ।' (पाँ., वै.) ।	१ माधुर्यचरित प्रगट हैं जो सब देखते हैं । दशरथनन्दनरूपसे जन्म, बाल आदि अवस्थायें, विवाह, वनवास, आदि सब प्रगट हैं; सब जानते हैं ।
२ वेद पुराणादिमें जो संक्षेपसे कहे गए हैं । (पं.)	२ वेदपुराणोंमें जो विस्तारसे कहे हैं ।
३ अनेक वारके अवतार गुप्त हैं । (वै., रा. प्र.)	३ जयविजय, जलंधर, हरगण और भानुप्रताप रावणके लिये जो अवतार हुए वे 'प्रगट' हैं ।
४ अनुभवसे उत्पन्न जो चरित हैं वे गुप्त हैं । (मा. प्र.)	४ वेदपुराणमें जो चरित हैं ।
५ कौसल्या अंबा तथा भुशुण्डीजीको एवं सतीजीको जो अद्भुत दर्शन कराया वह गुप्त ।	५ दशरथ-अजिरमें खेलना प्रगट ।
६ पुण्यपर्वतरूपी हृदयगुफाके निर्गुण ब्रह्म का यश गुप्त । (मा. म.) ।	६ सगुण यश जो वेदपुराणोंमें है वह प्रगट ।

नोट—२ 'जो जेहि खानिक' इति । (क) श्रीरामचरित कई खानिके हैं । कहीं तो धर्मोपदेशरूपमें, कहीं योग, ज्ञान, वैराग्योपदेशरूपमें और कहीं लोकसम्मति उपदेशरूपमें हैं । सबको मिला न दे, अलग अलगही रक्खे । (रा. प.) । (ख) (मुं. रोशनलालजी लिखते हैं कि) 'खानि' से अर्थ उन अनेक रसके रंगोंका है जिनमें श्रीरामजीके चरित्रोंका वर्णन किया गया है । जैसे शृङ्गाररस श्याम, करुणरस पीत, वीररस लाल और शांतरस श्वेत है इत्यादि । (ग) 'जो जेहि खानिक' अर्थात् जो जहाँ जिस रंगके थे । तात्पर्य कि जैसे मणि माणिक्य अनेक रंगके होते हैं वैसेही प्रभुके चरित अनेक रंगोंके हैं । कहीं शृङ्गाररसका चरित है जैसे पुष्पवाटिकामें । कहीं करुणरसके चरित्र हैं जैसे श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर । इत्यादि ठौर ठौरपर अनेक रसोंके चरित हैं । (घ) 'सूझहिं' अर्थात् श्रीगुरुनखप्रकाश हृदयमें आनेसे सब गुप्त एवं प्रगट चरित जो जहाँभी और जिस रसमें हैं प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं ।

टिप्पणी—(अ) पूर्व प्रकाशका होना कहा था और इस अर्धालीमें 'प्रकाश हुये का रूप' दिखाया गया। (आ) इस प्रकरणमें सात आवृत्तियाँ हैं। (१) यह मुक्त, मुमुक्षु, विषयी त्रिविध प्रकारके जीवोंद्वारा सेव्य है। (२) तन मन वचनसे सेव्य है (३) मोहन, वशीकरण, मारण और उच्चाटन चारों प्रयोग इसीसे सिद्ध हो जाते हैं यह बताया गया। (४) रजमें सात गुण कहे गए और सातही गुण नखप्रकाशमें कहे। यथा, 'समन सकल १ भवरुज परिवारू।', 'सुकृत संभुतन २ विमल विभूती'। 'मंजुल मंगल ३ मोद ४ प्रसूती।', 'जन मन मंजु मुकुर मल ५ हरनी', 'किए तिलक गुनगन ६ बस करनी'। और 'नयन अमिय दृग दोष ७ विभंजन। ये रजके सात गुण हैं। तथा, 'सुमिरत दिव्य १ दृष्टि हियँ होती।', 'दलन मोह तम' २, 'उघरहिं ३ विमल विलोचन ही के।', 'मिटहिं दोष ४ दुख ५ भवरजनी के।' और 'सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत ६ प्रगट ७।', ये नखप्रकाशके सात गुण हैं। (५) रजकी महिमा पुँल्लिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग तीनों लिंगोंमें गाई गई। (६) रजका छः प्रकारसे सेवन बताया गया। (क) मुखमें खाये। यथा, 'अमियमूरिमयचूरन चारू'। 'चूर्ण' खाया जाता है। (ख) देहमें लगाए। यथा, 'सुकृत संभुतन विमल विभूती।' भस्म देहमें लगाई जाती है। (ग) मनसे ध्यान करे। यथा, 'जन मन मंजु मुकुर मल हरनी।' मनसे ध्यान करनेसे मल दूर होता है। (घ) तिलक करे। यथा, 'किये तिलक गुनगन बस करनी'। (ङ) नेत्रमें लगाये। (यह आगे कहते हैं)। यथा, 'नयन अमिअ दृगदोष विभंजन।' (च) स्तुति करे। यथा, 'तेहि करि विमल विवेक विलोचन। बरनौं...।' यह उसकी प्रशंसा हुई। (७) रजसे भवरोग का मिटना कहा, नख प्रकाशसे भवरजनीके दोष एवं दुःखका दूर होना कहा, रामचरितका सूझना कहा जिससे भवभी मिटा। इति सप्तमावृत्तिः।

दो.—जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान। कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान ॥१॥

शब्दार्थ—अंजन=आँखोंकी रोशनी ठीक रखनेके लिये पलकोंके किनारेपर लगानेकी वस्तु। सुरमा; काजल। सुअंजन=सुन्दर अंजन=सिद्धाञ्जन। तंत्रशास्त्रमें अनेक सिद्धाञ्जन लिखे हैं जिन्हें आँखमें लगा लेनेसे पर्वतमें रत्नोंकी खानें, वनमें ओषधियाँ, पृथ्वीमें गड़ी हुई वस्तु, खज़ाना आदि, घर गाँव इत्यादिमें अनेक कौतुक सहजही दीखने लगते हैं। अंजि (आँजि)=आँजकर; लगाकर। दृग्=नेत्र। साधक=साधन करनेवाला। सिद्ध=जिसका साधन पुरा हो चुका; सिद्धिको प्राप्त प्राणी। कौतुक=तमाशा।=सहजही। सैल (शैल)=पर्वत। वन=जंगल; जल। भूतल=पृथ्वीतल=पृथ्वीमें। भूरि=बहुतसे। निधान=वह स्थान जहाँ जाकर कोई वस्तु लीन हो जाय; लयस्थान।=जिस पात्रमें धन रखकर पृथ्वीमें छिपा दिया जाता है उस पात्रको 'निधान' कहते हैं। यथा, 'द्रव्यं निधाय यत्पात्रं भूमौ संस्थाप्य गोपयेत्। तत्पात्रंच निधानस्यादित्युक्तं कोशकोविदैः॥' (पं. रामकुमारजी)= गड़ाहुआ खज़ाना वा धन।=निधि। (श. सा.), (रा. प्र.; पं.)।

अर्थ—१ जैसे नेत्रोंमें सिद्धांजन लगाकर साधक, सिद्ध और सुजान पर्वत, वन और पृथ्वीतलमें समूह निधान कौतुकही (अर्थात् साधारणही, सहजही, अनायास) देख लेते हैं। १।

नोट—१ इस दोहेके अर्थभी अनेक प्रकारसे टीकाकारोंने लिखे हैं। 'साधक सिद्ध सुजान' के और अर्थ लोगोंने ये किये हैं—(क) साधक और सिद्ध जो सुजान अर्थात् प्रवीण हैं। (पं.)। (ख) साधक लोग सुजान सिद्ध होकर। (वै.)। (ग) ज्ञानवान् कार्यकी सिद्धि चाहनेवाले सिद्ध लोग। (वि. टी.)। (घ) चतुर साधक सिद्ध हो जाते हैं। इसी तरह 'कौतुक देखहिं' और 'भूरि निधान' के भिन्न भिन्न अर्थ लेनेसे कई अर्थ होगए हैं।

अर्थ—२ जैसे नेत्रोंमें सिद्धांजन लगाकर साधक, सिद्ध और सुजान पर्वत, वन और भूतलपर अनेक लयस्थानोंमें कौतुक देखते हैं।※

नोट—२ ऊपर कहा है कि श्रीगुरुपदनखप्रकाशसे हृदयके नेत्र खुल जाते हैं और जहाँभी जो श्रीराम-चरित मणिमाणिक्य हैं वे देख पड़ते हैं। कैसे देख पड़ते हैं? यह विशेपसे समता दिखाकर बताते हैं कि जैसे 'साधक सिद्ध....'। इस तरह यहाँ 'उदाहरण अलङ्कार' है। 'यथा' का संबंध इस प्रकार पूर्वसे है। पुनः, 'यथा' का संबंध आगे रज,अंजन' सेभी है। अर्थात् 'यथा सुअंजन अंजि...' तथा 'गुर पदरज मृदु मंजुल अंजन।....तेहि करि विमल विवेक बिलोचन। बरनौं रामचरित···'। पं. रामकुमारजी लिखते हैं कि 'यहाँतक चार चौपाइयों (अर्धालियों) में रजका माहात्म्य और चारहीमें नखके प्रकाशका माहात्म्य कहा। अब दूसरी बात कहते हैं। वह यह है कि जैसे साधक आदि सुअंजन लगाकर पृथ्वीका द्रव्य देखते हैं, वैसेही मैं गुरुपदरजरूपी अंजनसे विवेक रूपी नेत्रोंको साफ़ करके रामचरित वर्णन करता हूँ।' इस तरह 'यथा सुअंजन....' उपमानवाक्य हुआ और 'गुरुपदरज···' उपमेय वाक्य हुआ। 'यथा···' यह वाक्य दीप देहली न्यायसे इस प्रकार दोनों ओर है। ऐसा करके कविने पदनख-प्रकाश और पदरज दोनोंका यहाँ मिलाप कराया। इस प्रसङ्गसे मिलता हुआ एक श्लोक पंडितजीने संस्कृत खर्रेमें यह दिया है। 'तद्वत्सारस्वतीं चक्षुः समुन्मीलतु सर्वदा। यत्र सिद्धांजनायन्ते गुरुपादाब्जरेणवः॥' अर्थात् जैसे ब्रह्मविद्यारूपी अंजन हृदयके नेत्रोंको खोल देता है वैसाही समझकर सिद्ध लोग श्रीगुरुचरणकमलकी रजको अंजनवत् लगाते हैं।

'साधक सिद्ध सुजान' इति।

पं. रामकुमारजी—'साधक, सिद्ध सुजान तीनही नाम क्यों दिये? साधकको प्रथम क्यों रक्खा?' उत्तर—जीव तीन प्रकारके हैं। मुक्त, मुमुक्षु (वैराग्यवान् परमार्थतत्वका इच्छुक) और विषयी। यथा, 'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। ७. १४।', 'बिषई साधक सिद्ध सयाने। त्रिबिध जीव... । २. २७७।' इसीसे यहाँ तीन नाम दिये। इससे यह सूचित किया कि जैसे सिद्धांजन लगानेमें मनुष्यकी योग्यता आदिका कोई नियम नहीं है, कोईभी हो जो लगायेगा उसको अंजनसे देख पड़ेगा; वैसेही तीनों प्रकारके जीवोंमें कोईभी हो, सभी रजके अधिकारी हैं। नखके प्रकाशके अधिकारी भाग्यवानही हैं, सब नहीं। साधकको प्रथम रक्खा, क्योंकि द्रव्यके देखनेमें साधक (जो अर्थार्थी होते हैं) मुख्य हैं।

पं. शिवलालपाठकजी—कर्म, ज्ञान और उपासना तीन भेदसे तीन नाम दिये। संसारमें कर्मकाण्डी, ज्ञानी और उपासक तीन प्रकारके लोग हैं। कर्मकाण्डी साधक हैं, ज्ञानी सिद्ध हैं और उपासक सुजान हैं। पुनः इस ग्रंथमें चार संवाद हैं। याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद, शिव-उमा-संवाद, भुशुण्डि-गरुड़-संवाद। और तुलसी-संत-संवाद। इनमेंसे याज्ञवल्क्यजी कर्मकाण्डी हैं, कर्मकाण्डके आचार्य हैं, अतः ये साधक हैं। श्रीशिवजी ज्ञानी हैं अतः ये सिद्ध हैं। और श्रीभुशुण्डीजी उपासक हैं अतः ये सुजान हैं। जैसे ये तीनों श्रीरामचरित-मणिमाणिक्यको शैल, वन और भूतलमें देखते हैं और इन्होंने चरित कहा वैसेही मैं श्रीगुरुपदरज अंजन लगाकर संतोंसे कहूँगा।

'सैल, बन, भूतल भूरिनिधान' इति।

(१) यहाँ रामचरितके सम्बन्धमें 'शैल, वन, भूतल' क्या हैं? उत्तर—(क) वेद पुराणादि शैल हैं।

※ ३ पंजाबीजी एवं बाबाहरिहरप्रसादजीने इस दोहेका अर्थ यहभी दिया है कि 'गुरुपदरजके प्रभावसे साधक सिद्ध पदवीको प्राप्त होते हैं और शैल, वन, पृथ्वी और बढ़िया अनेक निधियोंको मायाका कौतुक जानकर देखते हैं अर्थात् मिथ्या जानते हैं।' ४ मा. मा. में उत्तरार्धका यह अर्थ है—'पृथ्वीके पूर्णनिधि (स्वरूप) कौतुकोंको (यथार्थ) देखते हैं।'

यथा, 'पावन पर्वत वेद पुराना। रामकथा रुचिराकर नाना। ७. १२०।' संसारही वन है जिसमें अन्तर्यामी रूपसे श्रीरामजीके अनेक चरित हुआ करते हैं। यथा, 'संसार कांतार अति घोर गंभीर घन....।' (विनय ५९)। अनुभवी संतों, भक्तोंका हृदय भूतल है। यथा, 'संकर हृदय भगति भूतल पर प्रेम अखयबट भ्राजै।' (गीतावली ७. १५)। [सन्तसमाज वा सत्सङ्ग भूतल है। (मा. म., वै.)] अथवा, (ख) चित्रकूट, सुवेल आदि पर्वत हैं, दण्डकारण्य आदि वन हैं और श्रीअवधमिथिला आदि भूतल हैं, जहाँ जहाँ प्रभुके चरित हुए हैं वहाँ वहाँ जैसे जैसे चरित्र और जब जब हुए सब देख पड़ते हैं। (पं.)।

(२) सिद्धांजन लगानेसे पर्वतमें रत्नोंकी खानें, वनमें दिव्य औषधियाँ, (वनका अर्थ जल लें तो जलमें मुक्तावाली सीप जहाँ होती है उसे देख लेते हैं), और भूतलमें गड़ा हुआ धन देखते हैं। वैसेही श्रीगुरुपदरज अंजन लगानेसे वेदपुराणादिमें माणिक्यरूप सगुण यश, संसाररूपी वनमें जीवमात्ररूपी सर्पमें गुप्त मणिवत् अगुण रामचरित और संतसमाजरूपी भूतलमें सगुण-निर्गुण-मिश्रित गुप्त एवं प्रगट चरित्र देखते हैं। (अ. दी.)।

(३) पं. शिवलालपाठकजीका मत है कि 'कर्मकांडीको केवल मीमांसा और वेदरूपी पर्वतका अधिकार है, ज्ञानी संसार वनके अधिकारी हैं और उपासकोंको सत्सङ्गभूतलही आधार है। सुतरां, कर्मकांडी को पावन पर्वत वेदमें माणिक्यवत् श्रीरामचरित, ज्ञानी ज्ञानके अवलंबसे संसारवनमें जीवमात्रमें गुप्तमणिवत् निर्गुण रामचरित और उपासक भक्तिके अवलम्बसे सन्तसमाजरूपी भूतलमें सगुण एवं निर्गुण मणिमाणिक्यवत् गुप्त और प्रगट दोनों प्रकारके चरित देखते हैं।'. (मा. मा.)। यहाँ यथासंख्याक्रमालङ्कार है। कर्मकांडी लौकिक तत्त्व, ज्ञानी वैदिकतत्त्व और उपासक सत्सङ्गतत्त्व देखते हैं।

(४) पं. रामकुमारजी कहते हैं कि शैल, वन और भूतल तीनहीका नाम देनेका भाव यह है कि जगत्‌में तीन स्थान हैं। नभ, जल और थल (भूतल)। शैलसे नभ, वनसे जल और भूतलसे थल (भूमि) कहा। तात्पर्य यह कि सब जगहके द्रव्य देख पड़ते हैं। अतएव ये तीन आकर कहे।

(५) बाबा हरिहरप्रसादजी 'भूरि निधान' का अर्थ 'सम्पूर्ण ऐश्वर्य' करते हैं। श्रीरामचरितसंबंधमें 'नित्य नैमित्य लीला' अर्थ है। (रा. प्र.)।

गुरुपदरज १ मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष बिभंजन। १।
तेहि करि बिमल बिवेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन। २।

शब्दार्थ—मृदु=कोमल। नयन=नेत्र। नयन अमिय=नयनामृत। विभंजन=पूर्णरूपसे नाश करनेवाला, नाशक। विवेक=सत् असत्‌का ज्ञान करानेवाली मनकी शक्ति।=ज्ञान। मोचन=छुड़ानेवाली।

अर्थ—(वैसेही) श्रीगुरुपदरज कोमल-सुन्दर 'नयनामृत' अंजन है जो नेत्रोंके दोषोंको पूर्णरूपसे नाश करनेवाला है। १। उससे विवेकरूपी नेत्रोंको निर्मल करके (अथवा, उसे निर्मल विवेकरूपी नेत्रोंमें लगाकर*) भव (संसार, आवागमन) को छुड़ानेवाला श्रीरामचरित वर्णन करता हूँ। २।

---

१ गुरुपद मृदु मंजुल रज—१७२१, १७६२, भा. दा.। गुरुपदरज मृदु मंजुल–१७०४, छ०, को. रा. पं. शिवलालपाठक।

*(१) कोष्टकांतर्गत अर्थ इस भावसे होगा कि पूर्व नखप्रकाशसे निर्मल विवेक नेत्र खुल चुके हैं, अब, केवल उनमें रज-अंजन लगाना है। यह अर्थ श्रीनंगे परमहंसजीका है। प्रायः और सबोंने दूसरा अर्थ दिया है। उसका भाव टिप्पणीमें पं. रामकुमारजीने दिया है। (२) विनायकीटीकाकारने 'नयन अमिय' का अर्थ 'जो नेत्रोंको अमृतके समान है अर्थात् हृदयको शीतलता और विवेकको स्थिरता देनेवाला है' ऐसा लिखा है।

टिप्पणी—१ 'मृदु मंजुल अंजन।...' इति। (क) प्राकृत अंजन जो औषधियोंसे बनता है और श्रीगुरुपदरज अंजन इन दोनों सिद्धियोंको तोलते हैं। औषधि अंजन प्रायः कटु होता है, आँखोंमें लगता है और प्रायः श्यामरङ्गका होता है जिससे चंचलता उत्पन्न होती है। रजअंजन 'मृदु' अर्थात् कोमल है, कर्कश और नेत्रोंको दुःखदाता नहीं है। तथा 'मंजुल' अर्थात् नेत्रोंको सुन्दर करनेवाला है। पुनः, 'मृदु मंजुल' कहकर लगानेमें 'मृदु' और देखनेमें सुन्दर सूचित किया। (ख) 'नयन अमिय' इति। जैसे अंजनका कुछ न कुछ नाम होता है, वैसेही इस रज अंजनकाभी कुछ नाम होना चाहिए। वही यहाँ बताते हैं। अर्थात् इसका नाम 'नयनामृत' है। तात्पर्य कि विवेकरूपी नेत्रोंकेलिये यह अमृतके समान है। (मा. प्र.)। [अथवा, लौकिक व्यवहारमेंभी एक 'नयनामृत' नामका अंजन है जो शोधा सीसा पारा, और उतना सुरमा, तथा उन सबोंका दशांश भाग भीमसेनी कपूर मिलाकर घोटनेसे बनता है वह आँखोंमें लगता नहीं। रजकी उससे समता दी। (वै.)] (ग) 'दृग दोष विभंजन' इति। 'नयनामृत' नाम बताकर उसका गुण बताया कि 'दृगदोषका दूर करनेवाला' है। बाह्य नेत्रोंके दोष, धुन्ध, माड़ा, फूली, मोतियाविन्दु, तिमिर आदि हैं जो प्राकृत अंजनसे दूर होते हैं। श्रीगुरुपदरजसे 'विवेक विलोचन' को निर्मल करना आगे कहते हैं उसके संबंधसे विवेक (अथवा ज्ञान वैराग्य) रूपी नेत्रोंमें क्या दोष है? बाबा जानकीदासजीका मत है कि अहं मम बुद्धि ज्ञान वैराग्य नेत्रोंके दोष हैं; मैं ज्ञानी हूँ, मैं वैराग्यवान् हूँ ये दोष ज्ञानियोंमें आजाते हैं। काष्ठजिह्वास्वामीका मत है कि किसीको भला जानना, किसीको बुरा यही दोष है जिसे रज मिटा देता है। बाबा हरिदासजी कहते हैं कि इसे नयनामृत कहा है। अमृत मृतकको जिलाता है। यहाँ औरका और सूझना, असत्‌में सत्यका और सत्‌में असत्‌का भासना, परदोष देखना इत्यादि दोष मृतक दृष्टिके हैं। इनको मिटाकर शिष्यको दिव्य निर्मल दृष्टि प्रदान करना जिससे वह जगत्‌को निजप्रभुमय देखने लगता है, परदोष दृष्टि जाती रहती है यही रज-अमृतांजनका जीवन देना है। औषधि अंजनमें ये गुण नहीं है। रजमें विशेषता दिखाई।

टिप्पणी—२ रजके प्रकरणसे यह चौपाई भिन्न क्यों लिखी? समाधान—प्रथम श्रीगुरुपदरजका माहात्म्य कहा। फिर श्रीगुरुपदरज और श्रीगुरुपदनख (प्रकाश) का माहात्म्य कहकर दोनोंका माहात्म्य (दोनोंके गुण) एकहीसा सूचित किया। गोस्वामीजी रजसेही विवेकनेत्रको निर्मल करके रामचरित वर्णन करते हैं। ऐसा करके वे जनाते हैं कि हम रजके अधिकारी हैं, नखके नहीं।

नोट—१ गोस्वामीजीने रजअंजन लगाया जो 'मृदु, मंजु और नयन अमिय...' गुणोंसे युक्त है। इसीसे उनका भाषाकाव्य अन्य रामायणोंसे अधिक मृदु, मंजुल आदि गुणविशिष्ट हुआ। कविने वाल्मीकीय-कोभी 'सकोमल मंजु दोषरहित' कहा है पर इस भाषाकाव्यको 'अतिमंजुल' कहा है। यथा, 'भाषानिबंधमतिमंजुल-मातनोति'। मं. श्लो. ७। (वैं. भू.)

टिप्पणी—३ 'तेहि करि बिमल...' इति। (क) विवेक-नेत्रोंको निर्मल करना कहा; क्योंकि श्रीरामचरित ज्ञान-नेत्रसेही देख पड़ता है। यथा, 'ज्ञान नयन निरखत मन माना। १. ३७।' (ख) 'जथा सुअंजन अंजि...' से लेकर यहाँतक दृष्टांतालङ्कार है। यथा, 'चेद्बिंव प्रतिबिंबत्वं दृष्टांतस्तदलंकृतिः।' (कुवलयानंद ५२), 'वर्न्य अवर्न्य दुहनको भिन्न धर्म दरसाइ। जहाँ बिंब प्रतिबिंब सो सो दृष्टांत कहाइ॥' (संस्कृत खर्रा)। अर्थात् जहाँ उपमान और उपमेय वाक्योंमें बिंब प्रतिबिंबभावसे भिन्न धर्म दर्शित किये जाते हैं वहाँ दृष्टांतालङ्कार होता है। (ग) 'अबतक अन्योक्ति कह आए। अब अपने सन्निधि अर्थात् अपने ऊपर कहते हैं 'तेहि करि बिमल....।' फिर दूसरे चरणमें विमलताका धर्म कहते हैं; 'बरनौं रामचरित भवमोचन'। (खर्रा, रा. प्र.)।

टिप्पणी—४ दृगदोष अर्थात् अज्ञान नाश हुआ, विवेक खुला। 'तेहि करि' का भाव यह है कि विवेक-नेत्र नखप्रकाशसे भी विमल होता है, परंतु हमने रज-अंजनसे उसे विमल किया। तात्पर्य यह है कि सिद्धांजनसे बाहरके नेत्र विमल होते हैं और गुरुपदरजअंजनसे विवेक नेत्र विमल होते हैं, यह गुरुपदरज अंजनमें विशेषता है। उससे विवेक नेत्र विमल करके रामचरित वर्णन करता हूँ, इस कथनका तात्पर्य यह है कि जो कार्य नखके प्रकाशसे होता है वही कार्य रजसे भी होता है।

दोनोंका मिलान

रज	नख प्रकाश
१ रजसे विवेक नेत्र निर्मल होते हैं। यथा, 'तेहि करि विमल विवेक विलोचन'।	नख प्रकाशसे विवेक नेत्र उघरते हैं। यथा, 'उघरहिं बिमल बिलोचन ही के'।
२ रज अंजन लगाकर रामचरित्र वर्णन करते हैं। यथा, 'बरनौं रामचरित भवमोचन'।	नखप्रकाशसे रामचरित्र सूझता है। यथा, 'सूझहिं रामचरित मनि मानिक'।
३ रजसे भवरोग मिटते हैं। यथा, 'समन सकल भवरुजपरिवारू'।	नखप्रकाशसे भव रजनीके दुःख दोष मिटते हैं। यथा, 'मिटहिं दोष दुख भव रजनी के'

नोट—२ (क) रजरूपी चूर्णसे भवरोग मिटा। यथा, 'समन सकल भवरुज परिवारू'। नखसे भवके दोष दुःख दूर हुए। यथा, 'मिटहिं दोष दुख भव रजनी के' और रामचरित्रसे साक्षात् भवका ही नाश हुआ। (ख) 'भवमोचन'; यथा, 'करौं कथा भवसरिता तरनी। १.३१।', 'श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये, ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः।' (समाप्तिपर)। (ग) अंजन लगाया आँखमें और काम किया 'रामचरित्र वर्णन' इसको 'असङ्गति अलङ्कार' कहते हैं। असङ्गति तीन प्रकारकी होती है। यथा, 'तीन असङ्गति काज अरु, कारण न्यारे ठौर। और ठौर ही कीजिये और ठौरको काम ॥ और काज आरंभिये और कीजिये दौर' (मानस रहस्य)। यहाँ 'तीसरी असङ्गति' है। (घ) श्रीगुरुजीकी तथा उनके पद, पदरज, पदनखप्रकाशकी वंदनाके व्याजसे यहाँतक श्रीगुरुदेव तथा श्रीगुरुभक्तिका महत्त्व दिखाया है कि एकमात्र इसी साधनसे सब कुछ सहजही प्राप्त हो सकता है।

। इति श्रीरामचरितमानसान्तर्गत श्रीगुरुवन्दनाप्रकरण सकाप्तः ।

श्रीसंतसमाजवन्दना प्रकरण

वंदौं प्रथम महीसुर चरना। मोहजनित संसय सब हरना। ३।

शब्दार्थ—महीसुर=ब्राह्मण। चरना=चरण; पद। जनित=उत्पन्न। संसय=(संशय)=संदेह। हरना=हरनेवाले।

अर्थ—मैं प्रथम ब्राह्मणोंकी वन्दना करता हूँ (जो) मोहसे उत्पन्न हुये सब सन्देहोंके हरनेवाले हैं। ३।

नोट—(१) 'प्रथम महीसुर' इति। अनेक वंदनायें (श्रीवाणी-विनायक, श्रीभवानीशङ्कर, श्रीवाल्मीकिजी, श्रीहनुमान्जी, श्रीसीतारामजी, पंचदेव, श्रीगुरु, श्रीगुरुपद, श्रीगुरुपदरज, श्रीगुरुपदनखप्रकाशकी) पूर्व कर आए तब यहाँ 'वंदौं प्रथम' कैसे कहा ? यह प्रश्न उठाकर उसका समाधान महानुभावोंने अनेक प्रकारसे किया है।—(क) 'प्रथम' शब्द प्रकरणके साथ है। अर्थात् पहले वाणी विनायकसे लेकर प्रथम

चार सोरठोंतक देवताओंकी (जिनसे चरितमें सहायता मिली इत्यादि) और पंचदेवोंकी वन्दना की । फिर पाँचवे सोरठेसे लेकर 'बरनौं' रामचरित भवमोचन । २.२ ।' तक दूसरा प्रकरण (श्रीगुरुदेववन्दना प्रकरण) हुआ । अब इस चौपाईसे तीसरा प्रकरण प्रारंभ किया । उसमें विप्रपदकी वन्दना करते हैं; क्योंकि चारों वर्णोंमें ये प्रथम वर्ण हैं । (मा. प्र.) । वा, (ख) यहाँ ब्राह्मणके लिये 'महीसुर' पद देकर सूचित किया है कि अभी-तक 'स्वर्ग' के देवताओं वा ईश्वरकोटिवालोंकी वंदना की थी । 'शङ्कररूपिणम्' और 'नररूप हरि' कहकर श्रीगुरुदेवजीकी गणनाभी देवकोटिमें की और उन्हींके साथ उनको रक्खा । अब भूतलके जीवोंकी वंदना प्रारंभ करते हैं । इनमें विप्र 'महीसुर' अर्थात् पृथ्वीके देवता हैं । अतः भूतलके जीवोंमें प्रथम भूदेवकी वंदना की । 'महीसुर' शब्द देकर उनको पृथ्वीके जीवोंमें सर्वश्रेष्ठ और प्रथम वंदनायोग्य जनाया । वा, (ग) 'प्रथम' शब्द 'बंदौं' के साथ नहीं है किंतु 'महीसुर' के साथ है । प्रथम=प्रथम पूजनीय (जो विप्र हैं) । पर प्रथम पूजनीय तो गणेशजी हैं ? ठीक है । पर वेभी तो ब्राह्मणोंद्वाराही पूजनीय हैं । जब जन्म होता है तब प्रथम ब्राह्मणही नाम-करण करते हैं, नक्षत्रका विचारकर पुजवाते हैं तब गणेशजीका पूजन होता है । इस प्रकार ब्राह्मण सर्वकार्यमें सर्वस्थानोंमें सबसे मुख्य हैं । सर्व कर्मोंमें प्रथम इन्हींका अधिकार है । अतः ब्राह्मणको प्रथम पूजनीय कहा । (मा. प्र.) । वा, (घ) प्रथम=मुख्य; जैसे कि वसिष्ठ आदि जिन्होंने स्मृतियाँ बनाईं; ऐसे भाग्यवान् कि श्रीराम-जी उनके शिष्य हुए । (रा. प.) । (ङ) प्रथम महीसुर=जो ब्राह्मण सबसे प्रथम हुये ।=ब्रह्मा वा ब्रह्माके मानस-पुत्र श्रीसनकादि जो सर्वप्रथम उत्पन्न हुए । पर इसमें आपत्ति यह है कि ब्रह्मा और सनकादिकी वंदना तो आगे कविने की ही है । दूसरे, (बाबाहरिदासजी कहते हैं कि) ऐसा अर्थ करनेसे अन्य ब्राह्मणोंकी न्यूनता होती है कि वे वंदनायोग्य नहीं हैं । (च) ब्राह्मण जगत्‌विभूतिमें एवं नरोंमें आदि हैं,मैं उनके चरणोंकी वंदना करता हूँ । (शीला) । (छ) ब्राह्मण ऋषियोंसे प्रथम ही हैं अतः 'महीसुर' के साथ 'प्रथम' शब्द दिया । (मा. मा.) । अथवा, (ज) अबतक तो देवताओं और गुरुकी वंदना की, अब रामचरितवर्णनके आरंभमें महीसुरकी वंदना करते हैं । (वि. टी.) । वा, (झ) साधुओंके पहले ब्राह्मणकी वंदना की अतः 'प्रथम' कहा । (रा. प्र.) । वा, (ञ) महीसुर=भृगु । प्रथम=विष्णु भगवान् । प्रथम महीसुर चरना=भगवान्‌के (वक्षस्थलपरके) भृगु-चरणको । (रा. प्र.) ।

नोट—२ 'महीसुर' क्यों कहलाते हैं । इसकी कथा स्कन्द पु. प्रभासखण्डमें है कि एक समय देवता-ओंके हितार्थ समुद्रने ब्राह्मणोंके साथ छल किया जिसको जानकर ब्राह्मणोंने उसको अस्पृश्य होनेका शाप दिया था । शापकी ग्लानिसे वह सूखने लगा तब ब्रह्माजीने आकर ब्राह्मणोंको समझाया । ब्राह्मणोंने उनकी बात मान ली । तब उनका वचन रखने और समुद्रकी रक्षाभी करनेके लिये यह निश्चय किया कि पर्वकाल, नदीसङ्गम, सेतुबंध आदिमें समुद्रके स्पर्श, स्नान आदिसे बहुत पुण्य होगा और अन्य समयोंमें वह अस्पृश्य रहेगा । और ब्राह्मणोंको वरदान दिया कि आप लोग आजसे पृथ्वीपर 'भूदेव' के नामसे प्रसिद्ध होंगे ।

यहाँ 'महीसुर' कहकर यह दिखाया कि 'मह्यां सुष्ठु राजन्ते' अर्थात् जो पृथ्वीपर अच्छी प्रकारसे 'दीप्त' (प्रकाशित) हों उनको महीसुर कहते हैं । जैसे स्वर्गमें इन्द्रादि प्रकाशित हैं वैसेही पृथ्वीपर ब्राह्मण । (न्या. वे. आ. पं. अखिलेश्वरदासजी) ।

नोट—३ 'मोहजनित संसय सब हरना' इति । (क) पूर्व तो 'महीसुर' कहकर वन्दना की और अब विशेषण देकर जनाते हैं कि जिनकी वंदना करते हैं वे देवतातुल्य हैं अर्थात् वे दिव्य हैं, उनका ज्ञान दिव्य है, वे श्रोत्रीय एवं अनुभवी ब्रह्मनिष्ठ हैं तभी तो 'सब' संशयोंके हरनेवाले हैं । विशेष श्रीगुरुवंदनामें 'महामोह तमपुंज....' मं. सोरठा ५ देखिये । (ख) मोहसेही-संसय होता है, मोह कारण है, संशय कार्य है । इसीसे 'मोह-जनित संशय' कहा । मायावश ज्ञानका ढक जाना और अज्ञानका छाजाना 'मोह' है । यथा, 'प्रगट न ज्ञान हृदय

भ्रम छावा ।....भएउ मोहवस तुम्हरिहिं नाई । ७. ५६ ।' (ग) ये विशेषण साभिप्राय हैं । इसमें ग्रंथके वर्णित वस्तुका निर्देश है । अर्थात् यह जनाते हैं कि यह ग्रंथ मोहजनित संशयोंसेही प्रारंभ हुआ है, प्रत्येक संवाद जो इसमें आए हैं उनका मूल 'संशय' ही है और उसीको निवृत्ति इसमें कही गई है । श्रीरामचरित श्रीभरद्वाजजीके संशयसे प्रारंभ हुआ । यथा, 'नाथ एक संसउ बड़ मोरे ।१. ४५ ।' इनकी निवृत्तिके लिये पार्वतीजीका संशय और उसका श्रीशिवद्वारा निवारण कहा गया । यथा, 'अजहूँ कछु संसउ मन मोरे । १. १०९ ।' श्रीपार्वतीजीके संशयके निवारणमें श्रीगरुड़जीका संशय और भुशुण्डीजीद्वारा उसका निवारण कहा गया । यथा, 'भयउ मोह बस तुम्हरिहिं नाई ।....कहेसि जो संसय निज मन माहीं । ७. ५६ ।', 'तुम्ह कृपाल सबु संसउ हरेऊ । १. १२० ।' 'तव प्रसाद सब संसय गयऊ । ७. ६६ ।', 'तव प्रसाद संसय सब गयऊ । ७. १२५ ।' 'भव भंजन गंजन संदेहा । जन रंजन सज्जन प्रिय एहा । ७.१३० ।' में भरद्वाजजीके संशयकी निवृत्ति ध्वनित है । बस यहीं श्रीरामचरितकी समाप्ति कवि करते हैं । 'सब संसय' शब्द जो यहाँ है वही उपर्युक्त दो संवादोंमेंभी है । ये विशेषण देकर गोस्वामीजी प्रार्थना करते हैं कि मैं यह कथा सन्देह, मोह, भ्रम हरणार्थ लिखता हूँ, आप कृपा करें कि जो कोई इसे पढ़े या सुने उसकेभी संशय दूर हो जायँ । वैजनाथजी लिखते हैं कि गोस्वामीजी कहते हैं कि जहाँ कहीं आप इस कथाको कहें वहाँ इस मेरी प्रार्थनाको समझकर, आप संशय करनेवालोंके संशय शीघ्र हर लिया करें । पुनः, यह विशेषण इससे दिया कि ब्रह्मज्ञान, वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास आदि सबके ज्ञाता ब्राह्मणही होते आए हैं । पुनः, कथाभी प्रायः ब्राह्मणोंसेही सुनी जाती है; अतः जो संशय कथामें होते हैं उनका समाधानभी प्रायः उन्हींके द्वारा होता है । (घ) इस विशेषणसे ब्राह्मणोंके लक्षण और कर्त्तव्य बताये गए जैसा कि महाभारत, भागवत, पद्मपुराणादिमें कहे गए हैं । पहलेके ब्राह्मण ऐसेही होते थे । (वि. टी.) । इससे आजकलके ब्राह्मणोंको उपदेश लेना चाहिये ।

सुजन समाज सकल गुन खानी । करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी । ४ ।

शब्दार्थ—सुजन=सज्जन, साधु, सन्त । समाज=समुदाय । सप्रेम=प्रेमसहित । प्रेमके लक्षण, यथा, 'अन्तर प्रीति उमँगि तन रोम कंठ भरि होइ । विह्वलता जल नेत्रमें प्रम कहावै सोइ ।' (वै.) । अर्थात् रोमांच गद्गद-कंठ, विह्वलता, प्रेमाश्रु इत्यादि प्रेमके लक्षण हैं । सुबानी=सुन्दर (मधुर मिष्ठ) वाणीसे । 'सुबानी' के लक्षण ये हैं । मीठी, कानोंको सुखद, सत्य, समय सुहावनी और थोड़े अक्षरोंमें बहुत भाव लिये हुए जो वाणी होती है वह 'सुबानी' है । यथा, 'अर्थ बड़ो आखर अलप मधुर श्रवण सुखदानि । साँची समय सोहावनी कहिये ताहि सुबानि ।' (वै०)

अर्थ—समस्त गुणोंकी खानि सज्जन समाजको मैं प्रेमसहित सुन्दर वाणीसे प्रणाम करता हूँ । ४ ।

टिप्पणी—१ 'सुजन समाज....' इति । (क) यहाँ 'सुजन' शब्द दिया । आगे इन्हींको 'साधु' 'संत' कहा है । सुजन (सज्जन), साधु और संत पर्यायवाची हैं फिरभी इनके प्रयोगमें कुछ भेद यहाँ दिखाते हैं । वे ये कि 'सकल गुण खानि' होनेसे 'सुजन' कहा और पराया काज साधनेके संबंधसे 'साधु' तथा मुद मङ्गलका विस्तार करनेके संबंधसे 'सन्त' कहा है । (ख) 'सकल' 'गुनखानी' इति । इससे जनाया कि जो गुण ग्रंथारंभसे यहाँतक कह आए उन सबोंकी खानि हैं । (खर्रा) । ['सकलगुणखानि' से वे सब गुण यहाँ सूचित कर दिये जो इस कांडमें आगे दिये हैं तथा जो अरण्यकाण्डमें 'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ।' से 'मुनि सुनु साधुन्हके गुन जेते ।' (दोहा ४५, ४६) तक एवं उत्तरकांडमें 'संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता' से 'गुनमंदिर सुखपुंज' (दोहा ३७, ३८) तक और ग्रन्थमें जहाँ तहाँभी कुछ कहे गए हैं । (ग) गुणखानि कहनेका भाव यह है कि जैसे खानिसे सोना चाँदी, मणि माणिक्य आदि निकलते हैं, वैसेही

शुभगुण सुजनसमाजमें ही होते हैं, अन्यत्र नहीं। जो इनका सङ्ग करे उसीको शुभ गुण प्राप्त हो सकते हैं। पुनः, 'खानि' कहकर यहभी जनाया कि इनके गुणोंका अंत नहीं, अनंत हैं, कितने हैं कोई कह नहीं सकता। यथा, 'मुनि सुनु साधुन्हके गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते। ३. ४६।'] (घ) यहाँ मन, वचन और कर्म तीनोंसे प्रणाम सूचित किया। 'सप्रेम' से मन, 'सुबानि' से वचन और 'करौं' से कर्मपूर्वक प्रणाम जनाया।

२ पहले गुरुजीकी वंदना की, फिर ब्राह्मणोंकी, तब संतोंकी। इस क्रमका भाव यह है कि—(क) विप्र श्रीरामरूप हैं। यथा, 'ममसूरति महिदेव मई है' (विनय पद १३९)। और गुरु श्रीरामजीसेभी विशेष हैं। यथा, 'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी। २. १२९।' यही क्रम ग्रंथमें चरितार्थ भी है अर्थात् कर्त्तव्यद्वारा दिखाया गया है। यथा, 'पुनि वसिष्ठ पद सिर तिन्ह नाए। प्रेम मुदित मुनिवर उर लाए॥ विप्रबृंद बंदे दुहुँ भाई। १. ३०८।' यहाँ प्रथम गुरुवसिष्ठको प्रणाम करना कहा है तब ब्राह्मणोंको। पुनः यथा, 'कुल इष्ट सरिस बसिष्ठ पूजे विनय करि आसिष लही। कौसिकहि पूजत परम प्रीति कि रीति तौ न परै कही॥ बामदेव आदिक रिषय पूजे मुदित महीस। १. ३२०।' यहाँ दोनों गुरुओंको प्रथम पूजकर तब ब्राह्मणोंका पूजन है। पुनः यथा, 'पूजहु गनपति गुर कुलदेवा। सब विधि करहु भूमिसुर सेवा।' (२. ६)। इसमेंभी पहले गुरुपुजाका उपदेश है तब ब्राह्मण सेवाका। पुनश्च 'गुर पद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक....। ७. १२८।' इसमेंभी प्रथम गुरुको कहा है तब द्विजको। (ख) विप्रपदपूजनका फल सन्तमिलन है, इस लिये प्रथम विप्रचरणकी वंदना की, तब संतकी। यथा, 'पुन्य एक जग महुँ नहिं दूजा। मन क्रम वचन विप्रपद पूजा। ७. ४५।' जब ऐसे पुण्यों का समूह एकत्र होता है, तब संत मिलते हैं। यथा, 'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता। ७.४५।' इसका चरितार्थ (पात्रोंद्वारा अनुकूल आचरण) भी श्रीरामचरितमानसमें है। यथा, 'विप्र साधु सुर पूजत राजा। करत रामहित मंगल काजा। २. ७।', 'मुनि महिदेव साधु सनमाने। २. ३१९।' (ग) विप्रवंदन कारणरूप है, साधुवंदना कार्यरूप है। कारणके अनंतर कार्य होता है। विप्रवंदनाके पीछे साधुवन्दनाका यही कारण है। मङ्गलाचरणके द्वारा उपदेश दिया है। (पं. रा. कु.)। [(घ) मानसमें श्रीरामजीने श्रीलक्ष्मणजीसे जो भक्तिके साधन कहे हैं, उनमें प्रथम विप्रपद-प्रीति साधन कहा है और संतपदप्रेम पीछे। इसी भावसे यहाँ संतके पहले विप्रवन्दना की। यथा, 'प्रथमहि विप्रचरन अति प्रीती।... संतचरनपंकज अति प्रेमा। ३. १६।' अथवा, (ङ) बहुधा ब्राह्मणेतर ही भगवद्भक्त होते हैं। उनकी ब्राह्मणोंमें कभी अनादर बुद्धि न होने पावे, इस विचारसे सन्तके पहले ब्राह्मणको रक्खा।]

नोट—१ सुजनसमाज सकल गुणोंकी खानि है, यह कहकर आगे उनके गुण कहते हैं। २ 'गुनखानि'। यथा, 'जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यं, मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति। चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्त्तिं, सत्संगतिः कथय किन्न करोति पुंसाम्।' (भर्तृहरि नीति शतक २३)। अर्थात् सज्जनोंकी सङ्गति बुद्धिकी जड़ता (अज्ञान) को नाश करती है, वाणीको सत्यसे सींचती है, मानकी उन्नत्ति करती है, पाप नष्ट करती है, चित्त-को प्रसन्न करती है और दिशाओंमें कीर्त्तिको फैलाती है। कहिये तो वह मनुष्योंकेलिये क्या नहीं करती ?

साधु चरित १ सुभचरित २ कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू। ५।

शब्दार्थ—चरित=आचरण; रहनसहन, जीवन। सुभ (शुभ)=सुन्दर; उत्तम; कल्याणकारी। ☞ यहाँ

१, २—चरित—१७२१, १७६२, छ०, भा. दा., पं. राम गु. द्वि.। १६६१ में इस पन्नेका पाठ पं. शिवलालपाठकजीकी पोथीसे लिया गया है पर अभिप्रायदीपक और मा. मा. में 'साधु सरिस सुभ

तथा आगेके सब विशेषण श्लिष्ट हैं अर्थात् दोहरे अर्थवाले हैं। कपास तथा साधुचरित दोनोंमें इनके श्लेप अर्थ लगते हैं। ये अर्थ टिप्पणियोंमें तथा आगे दोनोंके मिलानमें दिये गए हैं।

अर्थ—साधुका चरित कपासके चरितसे (वा, चरितके समान) शुभ है, जिसका फल नीरस, उज्ज्वल और गुणमय है। ५।

नोट—१ 'सुभ' इति। मङ्गलमय, कल्याण, परोपकारपरायणताके भावसे 'शुभ' कहा। समानता यह है कि दोनों परोपकार करते हैं। सन्तोंके सब कार्य परोपकारार्थही हुआ करते हैं। यथा, 'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया। ७. १२१।', 'परोपकाराय सतां विभूतयः।' पुनः, 'शुभ' का अभिप्राय यह है कि वे अशुभ कर्म कभी नहीं करते।

२ पं. रामकुमारजी—कपासके फलका रूपक करते हैं। कपासके फलमें तीन भाग होते हैं; इसीसे यहाँ तीन विशेषण दिये। 'फल' भी श्लिष्ट है। साधुपक्षमें, 'फल'=कर्मका परिणाम। कपास पक्षमें, 'फल'=औषधि का विकार। निरस=नीरस=रसरहित। (कपासपक्षमें) अर्थात् बेलज्जत है, किसी रसका धर्म उसमें नहीं है। रूखा।=विषयरसरहित होनेसे रूखे। (साधुपक्षमें)। विशद=उज्ज्वल। (कपासपक्षमें)=निर्मल, मद मोह कामादि रहित होनेसे उज्ज्वल। (साधुपक्षमें)। गुणमय=सूत्र वा तंतुयुक्त (कपासपक्षमें)। माइक्रसकोपसे देखें तो कपासमें सूतके रेशे वा डोरे देख पड़ते हैं। सांख्यशास्त्रका सिद्धांत है कि कारणमें कार्य सूक्ष्मरूपसे रहता है। साधुपक्षमें, गुणमय=सद्गुणयुक्त।

३ वैजनाथजी लिखते हैं कि कपास खेतमें बोया जाता है, सींचा जाय, निराया जाय, इत्यादि। साधुप्रसङ्ग में खेत, बीज, सींचना निराना, वृक्ष, फल आदि क्या हैं?

उत्तर—सुमति भूमि, सत्सङ्ग बीज, उपदेश अंकुर, यम नियमादि सींचना निराना, निवृत्ति वृक्ष और विवेक फल हैं। विवेक फलके अंतर्गत शांति, सन्तोषादि अनेक गुण हैं। (वै.)।

४ कपास उज्ज्वल है, पर और रंग उसपर चढ़ जाते हैं। साधुचरित सदा स्वच्छ रहता है जिसपर 'चढ़ै न दूजो रङ्ग' यह विशेषता है। जहाँभी साधु रहेंगे, वहीं 'फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं'।

५ मिलान कीजिये, 'नीरसान्यपि रोचन्ते कार्पासस्य फलानि मे। येषां गुणमयं जन्म परेषां गुह्य गुप्तये॥' (सु. र. भा. ५. १८४)। अर्थात् कपासके फल नीरस होनेपरभी हमें बहुत अच्छे लगते हैं क्योंकि उनका गुणमय जन्म लोगोंके गुह्यगोपनके लियेही है।

जो सहि [१] दुख पर-छिद्र दरावा। वंदनीय जेहि जग जसु पावा। ६।

चरित कपासू' पाठ है जिसका अर्थ श्रीजानकीशरणजीने यह दिया है। 'कपासके शुभचरित्र सदृश (सच्चरित्र) साधु हैं।' यही पाठ रामायणपरिचर्य्यामें छपा हुआ है। पंजाबीजी, वैजनाथजी, बाबा जानकीदासजी आदिने 'साधुचरित सुभ सरिस कपासू' पाठ दिया है। इस पाठके अनुसार 'साधुचरित' उपमेय, 'कपास' उपमान, 'सरिस' वाचक और 'शुभ' साधारण धर्म होनेसे 'पूर्णोपमा अलङ्कार' होगा। अर्थ यह है, 'साधुका चरित कपासके समान शुभ है।' [वा, सुन्दर कपासके समान है। (नंगेपरमहंसजी)]....' 'साधुचरित सुभचरित कपासू' पाठमें 'साधुचरित' उपमेय है और 'कपासचरित' उपमान है। 'चरितकपासू' पाठ से तद्रूपकालङ्कारद्वारा साधुचरितमें विशेषताभी दिखाई जा सकती है। यह पाठ १६६१ मेंभी है जहांसेभी लिया गया हो।

१ दुख सहि—रा. प.।

शब्दार्थ—दुरावा = छिपाया, ढाँक दिया। वंदनीय=वंदना, प्रशंसा वा आदर करने योग्य। जसु (यश)=कीर्ति; नाम।

अर्थ—जो (स्वयं) दुःख सहकर पराये दोषोंको ढाँकते हैं, जिससे जगत्‌में वंदनीय और यश (वा, वंदनीय यश वा वंदनीय होनेके यश) को प्राप्त हैं। ६।*

अर्धाली ५, ६ का रूपक निम्न मिलानसे स्पष्ट हो जायगा।

कपासचरित्र और साधुचरित्रका मिलान

कपास		साधु
नीरस है अर्थात् इसमें रस नहीं होता।	१	कामक्रोधादि विकारोंसे रहित और इन्द्रियोंके विषयभोगोंमें न लिप्त होना 'नीरसता' है। यथा, 'विगत काम...', 'विषय अलंपट' (७. ३८), 'तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।' (विनय १६९)। साधुचरितका फल नीरस है। अर्थात् उनमें विषयासक्ति नहीं है। अनासक्तिभावसे किये होनेसे वे कर्मफलका भोग नहीं करते।
विशद अर्थात् उज्ज्वल है,	२	साधुके कर्म निष्काम, निःस्वार्थ और भगवत्‌संबंधी होते हैं, उनका हृदय अज्ञानांधकार तथा पापरहित निर्मल होता है और चरित्र उज्ज्वल होते हैं। यही 'विशदता' (स्वच्छता) है। यथा, 'सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥....बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा। ४. १६।'
गुण (सूत्र, तंतु) मय होता है।	३	साधुभी गुण (सद्‌गुण) मय होते हैं। यथा, 'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ। ३. ४५।' से लेकर 'मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते। ४६' तक।
कपास के ढेंढ़में तीन फाल (भाग, फाँक), छिलका, बिनौला, और रुई होती हैं।	४	तीन गुण (सत्त्व, रज, तम) और तीन अवस्थाएँ (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति) तीनों फाल और छिलके हैं। तीनों गुण और तीनों अवस्थायें आत्मासे स्फुरित होती रहती हैं [ये अवस्थाएँ मनकी वृत्ति को लेकर हैं और मन स्वभावतः जड़ है। अतः जब वह आत्मद्वारा चैतन्य हो जाता है तभी अवस्थाओं और वृत्तियोंका अनुभव होता है] सात्विक, राजस और तामस जो भिन्न भिन्न प्रकारके अभिमान हैं और ममत्व हैं येही बिनौले हैं। जब ये अनेक प्रकारके अहं मम निकल गए तब शुद्ध तुरीयावस्थारूपी रूई रह गई।
'सहि दुख'—कपास ओटी जाय, रुई धुनी जाय, उसका	५	साधुका जन्म गृहस्थीमें हुआ। पहले तो उसे कुटुम्ब एवं घर का ममत्व त्याग करनेमें कष्ट, फिर गुरुकी शरण जानेपर वहाँ खूब कसे जानेका कष्ट (जैसा पीपाजी और टोड़ेके राजाकी कथा भक्तमाल टीका क. २८३-५, २९६ से स्पष्ट है)। ज्ञानमार्ग

* अर्थांतर—'जिससे जगत्‌के लोग वंदना योग्य हो जाते हैं और सब सराहते हैं। जगत्‌में उनकी शोभा होती है।' (पं.)।

रेशा रेशा अलग किया जाय, फिर काती जाय, सूत वटा जाय, पीटा जाय, बुना जाय, वस्त्ररूप होनेपर सुईसे छेदा जाय। फाटा जाय, फाड़ा जाय। चीथड़ा होने पर जलाया जाय, भस्म होनेपर वरतनोंपर रगड़ा जाय, सड़ा कर पाँस बनाया जाय। इत्यादि दुःख सहती है।

पर चले तो 'ज्ञान अगम प्रत्यूह अनेका। साधन कठिन न मन कहुँ टेका॥' करत कष्ट वहु पावइ कोऊ। ७, ४५।', भक्तिमेंभी कठिनाइयाँ हैं, 'रघुपति भगति करत कठिनाई। कहत सुगम करनी अपार जानै सोइ जेहि वनि आई। विनय १६७।' वैराग्य और त्याग करके इन्द्रिय मन आदिके साधनोंमें कष्ट, तीर्थाटनमें वर्षाशीतघामका कष्ट, भिक्षामें दूसरोंके कटु वचनोंका कष्ट, परहितमें कष्ट इत्यादि दुःख सन्त सहते हैं। यथा, 'खल के वचन संत सह जैसे ४. १४' 'भूरजतरु सम संत कृपाला। परहित निति सह विपति विसाला। ७. १२१।', 'संत सहहिं दुख पर हित लागी। ७. १२१।' (दधीचिजी शिविजी, श्रीरंतिदेवजी आदिकी कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। देखिए उन्होंने पर हितके लिये कितना कष्ट उठाया।

१ कपासको ओटकर रुई लेना,	साधुपक्षमें क्रमसे १ 'असार छोड़ना, सार ग्रहण करना, संसारसे वैराग्य
२ धुनकना,	२ इन्द्रियोंका दमन,
३ कातना,	३ शम अर्थात् वासनाका त्याग,
४ वैनना,	४ उपराम (साधनसहित सब कर्मोंका त्याग, विषयोंसे भागना, स्त्री देख जीमें ग्लानि होना उपरामके लक्षण हैं)
५ वीनना	५ समाधान (मनको एकाग्र कर ब्रह्ममें लगाना),
६ वस्त्र धोना और	६ मुमुक्षुता,
७ शुद्ध स्वच्छ वस्त्र	७ शुद्ध अमल ज्ञान हैं। (वै.)]

'परछिद्र दुरावा'— (क) पर (शत्रु) रूपी सुईके कियेहुए छेदको अपना धागारूप तन देकर ढकता है। (ख) छिद्र=गोपनीय इंद्रियाँ; लज्जाकी जगह। वस्त्र देकर लज्जाको ढकती है

६ (क) खलोंके अपकार सहकरभी संत उनके साथ उपकारही करते हैं। यथा, 'काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई। ७. ३७।' (ख) परछिद्र=दूसरोंके दोष। दूसरेमें जो अवगुण हैं वे ही 'छिद्र' हैं उनको ढाँक देते हैं जिनसे वे फिर देख न पड़ें ज्ञान वा उत्तम शिक्षारूपी वस्त्र देकर अवगुणको ढक देते हैं। यथा, 'गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा। ४. ७।' वा, पर=विराट। परछिद्र=विराटकी अधगो=नरक। यथा, 'उदर उदधि अधगो जातना। लं. १५।' अर्थात् दूसरोंको नरकसे बचाते हैं। वा; (ग) इन्द्रियोंका विषयासक्त होना ही 'छिद्र' है। यथा, 'इंद्रीद्वार झरोखा नाना।....आवत देखहिं विषय वयारी। ७. ११८।' जो विषयासक्त हैं उनको ज्ञान और भक्तिरूपी वस्त्र पहना देते हैं। विषयरूप लज्जा, गुप्त बातों वा पापों को ढाँक देते हैं यथा, 'पापान्निवारयति योजयते हिताय गुह्यान्निगूहति गुणान् प्रकटी करोति।....'(भर्तृहरि नीतिशतक ७३)।

नोट—१ (क) 'सहि दुख....' अर्थात् दोनों (कपास और साधु) अपने ऊपर दुःख सहकरभी परोपकार करते हैं । कपास वस्त्र और अपने सूतसे परछिद्र ढकता है और संत अपना तन, धन, ज्ञान, भक्ति आदि वस्त्र देकर दूसरोंके अवगुणोंको ढकते हैं । अर्थात् संत दीन हीन मलीनबुद्धि पुरुषोंका सदा कल्याण करते रहते हैं; दुःख सहकर भी उनको सुधारते हैं। यथा, 'महद् विचरणं नृणां गृहीणां दीन चेतसाम्। निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित् ।' अर्थात् महान् पुरुषों का परिभ्रमण दीन हीन गृहस्थ पुरुषोंके कल्याणके लिये होता है । अतः आपका दर्शन व्यर्थ नहीं हो सकता । पुनश्च यथा, 'यः स्नातोऽसित धियो साधुसंगति गंगया । किं तस्य दानैः किं तीर्थैः किं तपोभिः किमध्वरैः ॥ (योग वाशिष्ट) अर्थात् जिस अस्वच्छ (मलिन) बुद्धिवाले पुरुषने भी साधुसङ्गरूपी गङ्गामें स्नान कर लिया, उसे दान, तीर्थ, तप और यज्ञादि करने का क्या प्रयोजन ? अर्थात् संतसंगसे ये सब प्राप्त हो जाते हैं । (ख) 'वंदनीय जेहि जग...' अर्थात् विना अपने किसी स्वार्थके स्वयं दुःख सहकर भी परोपकार करते हैं इसीसे दानोंकी प्रशंसा जगत्में हो रही है । यही वन्दनीय होना है । यथा, 'श्लाघ्यं कार्पासफलं यस्य गुणैरन्धवन्ति पिहितानि ।' (शार्ङ्गधर । सु. र. भा. ५. १८५) । अर्थात् कपासका फल इस लिये प्रशंसनीय है कि वह अपने गुणों (तन्तुओं, तागों) से दूसरोंके छिद्र ढका करता है । कपास कैसा कैसा कष्ट उठाता है यह भी किसी कवि ने यों लिखा है । यथा, 'निष्पेषोऽस्थि च यस्य दुःसह तरःप्राप्तस्तुलारोहणम् । ग्राम्य स्त्री नख चुम्बन व्यतिकरस्तन्त्री प्रहारव्यथा । मातङ्गोज्झित मण्डवारिकणिका पानं च कूर्चाहतिः । कार्पासेन परार्थसाधनविधौ किं किं न चांगीकृतम् ॥" अर्थात् कपास अपनी अस्थिसमूहका कुटवाता है, तुलापर चढ़ाया जाता है, ग्रामीण स्त्रियां द्वारा नखों से उधेड़ा जाता है, फिर धुनिये द्वारा धुनका जाता है, फिर नीच जुलाहोंके हाथका माँड उसे पीना पड़ता है और कूँचियों द्वारा ताड़ित होता है । अब स्वयं देख लीजिये कि परोपकारके लिये उसने कौन कौन कष्ट नहीं सहे । (ग) 'वन्दनीय' यथा, 'काटइ परसु मलय सुनु भाई । निज गुन देइ सुगंध बसाई ॥ ताते सुर सीसन्ह चढ़त जगवल्लभ श्रीखंड । ७. ३७.', 'परहित लागि तजै जो देही । संतत संत प्रसंसहिं तेही । १. ८४ ।' (घ) साधु चरितमें विशेषता यह है कि कपास तो इन्द्रियोंकी लज्जा ढाँककर लोकमें मर्यादा बढ़ाती है और साधु निज गुण देकर परछिद्र दुराकर उसकी परलोकमें मर्यादा बढ़ाते हैं । श्रीकाष्ठजिह्वस्वामीजी लिखते हैं कि कपासने जगत्में यश पाया और संतसे जगत्ने यश पाया अर्थात् यद्यपि असार है, मिथ्या है तथापि 'संसार' (जिसमें बड़ा सार हो) यह नाम पड़ा ।

नोट—२ साधुका जीवन और उनके कर्म परोपकारके लिये ही होते हैं । यथा, 'संत बिटप सरिता गिरि धरनी । परहित हेतु सबन्हि कै करनी । ७. १२५।', 'नेहाथवामुत्र च कश्चनार्थ, ऋते परानुग्रहमात्मशीलम् । भा. १. १९. २३ ।' अर्थात् आपका इहलोक परलोकमें स्वभावतः परोपकारके अतिरिक्त और कोई प्रयोजन नहीं है । अतः यह शंका होती है कि 'तब उनका उद्धार कैसे होता है ?' इसका समाधान यह है कि सन्तोंके सब काम निःस्वार्थ निष्काम भाव से कर्तव्य समझकर एवं भगवदर्पण होते हैं; भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये, भगवान्‌केही लिये तथा समस्त जीवोंमें प्रभुको ही अनन्य भावसे देखते हुए वे सब जीवोंके हितसाधनमें लगे रहते हैं । 'मैं सेवक सचराचररूप स्वामि भगवंत' । प्रभुके बताये हुए इस अनन्यभावसे जन जनार्दनकी सेवा करते हैं । अतः वे तो सदा प्रभुको प्राप्त ही हैं और शरीरांत परभी भगवान्‌कोही प्राप्त होते हैं । यथा, 'ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूत हिते रताः । (गीता १२ । ४) अर्थात् जो सम्पूर्ण जीवोंके हितमें रत हैं वे मुझे प्राप्त होते हैं । पुनश्च, 'येतु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः । अनन्येनव योगेन मां ध्यायन्त उपासते । ६ । तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार सागरात् । भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम् । ७ ।' (गीता १२) । अर्थात् जो सब कर्मोंका मुझमें अर्पण करके मुझे अनन्य ध्यान योगसे मेरे परायण होकर मेरी उपासना करते हैं ऐसे मुझमें चित्त लगानेवाले प्रेमी भक्तोंको मैं शीघ्रही मृत्युरूपसंसार समुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ । पुनः यथा, 'मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संग·

वर्जितः । निर्वैरः सर्वभूतेषु यः समामेति पांडव ॥ ११. ५५ ॥', अर्थात् जो पुरुष केवल मेरेही लिये, सब कुछ मेरा समझता हुआ कर्तव्य कर्मोंको करता है, मुझमें परायण है, मेरा भक्त है और आसक्तिरहित है तथा किसी-से उसको वैर नहीं है, वह मुझको प्राप्त होता है।

मुद मंगल मय संत समाजू। जो जग जंगम तीरथराजू। ७।

शब्दार्थ—मुद=मानसी आनन्द। १ (३) 'मङ्गल मोद' देखिए। पुनः, मङ्गल=प्रसिद्ध उत्सव जैसे भगवान्‌के जन्म, विवाह आदि, कीर्तन आदि एवं इनसे जो सुख होता है। (वै.)। जंगम=चलता-फिरता।= चलनेवाला। मय=प्रचुर। तीरथराजू (तीर्थराज) = प्रयाग।

अर्थ—सन्तसमाज मुदमंगलमय है, जो जगत्में चलता-फिरता प्रयागराज है। ७।

नोट—१ (क) 'मुदमंगल मय' है अर्थात् आनन्द मङ्गलसे परिपूर्ण है। भक्ति और ज्ञान-संबंधी आनन्दसे परिपूर्ण होनेसे 'मुदमय' और भक्तिसंबंधी वाद्योत्सवादि प्रचुर रूपमें करनेसे 'मंगलमय' कहा।

(ख) पूर्व 'साधु' को कहा, अब सन्त समाजको कहते हैं। 'साधु' वे हैं जो साधन कर रहे हैं और संत वे हैं जिनका साधन पूर्ण हो गया, जो पहुँचे हुए हैं, भगवान्‌को प्राप्त हैं। (वै., रा. प.)। विशेष २ (४) में देखिये। 'जंगम तीरथराजू' का भाव कि प्रयाग एकही स्थानपर स्थित वा अचल है, जब वहां कोई जाय तब शुद्ध हो और संत चल तीर्थराज हैं, जो जाकर सबका कल्याण करते हैं। 'जंगम' विशेषण देकर संतसमाजरूपी प्रयागमें विशेषता दिखाई है।

(ग) संत तीर्थस्वरूप हैं। यथा, 'भवद्विधा भगवतास्तीर्थीभूतः स्वयं विभो। भा. १. १३. १०।' श्री युधिष्ठिरजी श्रीविदुरजीसे कह रहे हैं कि आप जैसे महात्मा स्वयं तीर्थस्वरूप हैं। यदि कहो कि वे स्वयं तीर्थ-स्वरूप हैं तो फिर वे तीर्थोंमें क्यों जाते हैं। तो उत्तर यह है कि पापियोंके संयोगसे तीर्थोंमें जो मलिनता आ जाती है वह संतोंके पदस्पर्शसे दूर होती है। यथा, 'तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तः स्थेन गदाभृता। भा.१.१३.१०।' अर्थात् अपने अन्तःकरणमें स्थित हृषीकेश द्वारा तीथकोभी पवित्र करते हैं। पुनश्च यथा, 'प्रायेण तीर्थाभिगमाप-देशैः स्वयं हि तीर्थानि पुनन्ति सन्तः ॥' (भा. १ १९. ८ परीक्षित्वाक्य)। अर्थात् संत लोग प्रायः तीर्थयात्राके बहाने उन तीर्थ स्थानोंको स्वयं पवित्र किया करते हैं।

यहाँसे संतसमाज और प्रयागका साङ्गरूपक कहते हैं।

रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा। सरसइ ब्रह्म बिचार प्रचारा। ८।
बिधि निषेध मय कलिमल हरनी। करम कथा रबिनंदनि बरनी। ९।
हरिहर कथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी। १०।
बटु बिस्वास अचल निज धर्मा। तीरथराज समाज सुकर्मा। ११।

शब्दार्थ—सुरसरि=देवनदी=गंगा। धारा = बहाव, प्रवाह। सरसइ = सरस्वती। ब्रह्म विचार प्रचार=ब्रह्म विद्याका प्रचार=ब्रह्मनिरूपण। (गौड़जी) वा, ब्रह्म जो सदा स्वतंत्र, एकरस, अमल, प्रमाशमय, अंतरात्मा,

१ साज—१७२१, १७६२। साज समाज=सामग्री।=ठाटबाट। तीर्थराजका साज समाज उसके मंत्री, कोश, सेना सिपाह, आदि हैं। यथा, 'सचिव सत्य श्रद्धा प्रिय नारी।...सेन सकल तीरथ वर वीरा। संगम सिंहासनु सुठि सोहा।... २. १०५।' संतसमाजमें शुभ कर्म हैं। अथवा, शंख, घंट, घड़ी, झंडी, आदि साज है (रा. प्र.)। अथवा, 'तीरथसाज सुकर्मा समाज' है, ऐसा अर्थ करें। साज=ठाटबाट, सेना आदि। समाज=समुदाय, समूह।

अन्तर्यामी रूपसे स्थित है उसका विचार अर्थात् ज्ञान 'ब्रह्म विचार' है। उस ब्रह्मज्ञानका प्रचार 'ब्रह्मविद्या' है। (वै.) । प्रचारा प्रचारा)=निरंतर व्यवहार । (श. सा.) ।= कथन; यथा, 'लागे करन ब्रह्म उपदेसा । ७. १११ ।' (पं. रामकुमारजी) । श्रीजानकी 'रणजी इसका अर्थ 'प्रचार करनेवाली बुद्धि' लिखते हैं। विधि= वेदोंमें जिन कर्मोंके करनेकी आज्ञा है=ग्रहणयोग्य कर्म । पूर्वमीमांसामें 'वियोग' का नाम 'विधि' है। अर्थात् जो वाक्य किसी इष्ट फलकी प्राप्तिका उपाय बताकर उसे करनेकी प्रवृत्ति उत्पन्न करे, वही 'विधि' है। यह दो प्रकारका है, प्रधान और अङ्ग । निषेध=वह कर्म जिनके त्यागकी आज्ञा है, त्यागयोग्य कर्म। कलिमलहरनी= कलिके पापोंका नाश करनेवाली । करमकथा=कर्मकाण्ड । रविनन्दनि=सूर्यकी पुत्री=यमुना । यह नदी हिमालयके यमनोत्तरी स्थानसे निकलकर प्रयागमें गङ्गाजीसे मिली है। पुराणानुसार यह यमकी बहिन यमी है जो सूर्यके वीर्यसे संज्ञाके गर्भसे उत्पन्न हुई थी और जो संज्ञाको सूर्यद्वारा मिले हुये शापके कारण पीछेसे नदीरूप हो गई थी। यमने कार्त्तिक शुक्ला २ को अपनी बहिनके यहाँ भोजन किया और उसके प्रसादमें यह वरदान दिया कि जो इस दिन तुम्हारे जलमें स्नान करेगा वह यमदण्डसे मुक्त हो जायगा। इसीको भैयाद्वीज कहते हैं। उस दिन बहिनके यहाँ भोजन करना और उसको कुछ देना मङ्गलकारक और आयुवर्धक माना जाता है। हरि हर=भगवान् और शङ्करजी ।= भगवत और भागवत। शङ्करजी परम भागवत हैं। यथा, 'वैष्णवानां यथा शम्भुः ।' (श्रीमद्भागवत १२. १२. १६)। बिराजति=सुशोभित है; विशेष शोभित है। वेनी (वेणी)=त्रिवेणी=गङ्गा, यमुना और सरस्वतीका सङ्गम । बट=बरगदका वृक्ष । अक्षयवट जो प्रयागमें है; इसका नाश प्रलयमें भी नहीं होता ऐसा पुराणोंमें कहा गया है। प्रयागमें किलेमें अब एक ठूंठसा है। निज धर्म=अपना (साधु) धर्म ।=वेदसम्मत धर्म ।=अपने गुरुका अपनेको उपदेश किया हुआ धर्म । अर्थात् गुरुके उपदेशसे किसी एक निष्ठाको ग्रहणकर जो कर्म करना चाहिये वह 'निज धर्म' है। यथा, 'ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन । जहँ लगि धर्म कहे श्रुति सज्जन ।' ७. ४९, 'जप तप नियम जोग निज धर्मा । ७. ४९.।' सुकर्मा=सुन्दर (शुभ) कर्म । यथा, 'श्रुतिसंभव नाना सुभ कर्मा । ७. ४९ ।' समाज = परिकर, परिषद् ।

अर्थ—जहाँ (उस संतसमाजरूपी प्रयागमें) श्रीरामभक्ति गंगाजीकी धारा है। ब्रह्मविचारका कथन सरस्वतीजी हैं। ८। विधिनिषेधसे पूर्ण कलिके पापोंको हरनेवाली कर्म कथा श्रीयमुनाजी हैं। ९। भगवान् और शङ्करजीकी कथा त्रिवेणीरूपसे सुशोभित है * (जो) सुनतेही संपूर्ण आनन्द और मङ्गलोंकी देनेवाली है। १०। 'निज धर्म' में अटल विश्वास अक्षयवट है। और, शुभकर्मही तीर्थराज प्रयागका समाज है। ११।

नोट—१ गंगा और रामभक्तिसेही सांगरूपकका आरंभकर दोनोंकी श्रेष्ठता दिखाई। प्रयागमें गंगाजी प्रधान हैं और संतसमाजमें श्रीरामभक्ति ही प्रधान है यह दरसानेके लिये इनको आदिमें रक्खा। प्रयागमें गंगा, सरस्वती, यमुना, त्रिवेणी, अक्षयवट और परिकर हैं, संतसमाजमें ये क्या हैं, यह यहाँ बताते हैं। रूपकके भाव नीचे मिलानसे स्पष्ट हो जायँगे।

---

*अर्थांतर—२ 'रामभक्ति, कर्मकथा और ज्ञान' रूपी त्रिवेणी हरिहरकथासे शोभित होती है'। (पं. रामकुमारजी)। ३ 'हरिहरकथारूपी भूमिमें गंगा, यमुना और सरस्वतीरूपी भक्ति आदि त्रिवेणीका संगम हुआ' अर्थात् जो एक साथ इन तीनोंमें स्नान करना चाहता है वह सन्तसमाजमें हरिहरकथाको श्रवण करे क्योंकि यहाँ हरिहरकथाके बहाने भक्ति आदि तीनोंका वर्णन होता है।' (मा. म., मा. त. वि.) ये अर्थ लोगोंने इस शंकासे किये हैं कि 'हरि' और 'हर' तो दो ही हैं, त्रिवेणीमें तो तीन चाहिये? ४ जहाँ हरिहर-कथारूप विराजत (प्रत्यक्ष) वेणी है। (नंगेपरमहंसजी)।

टिप्पणी—१ 'रामभक्ति जहँ सुरसरिधारा' इति। (क) 'जहँ' का भाव यह है कि अन्यत्र रामभक्ति नहीं है, संतसमाजहीमें है। (ख) 'धारा' कहकर जनाया कि यहाँ श्रीरामभक्तिका प्रवाह है, भक्तिकाही विशेषरूपसे कथन होता है। पुनः, 'धारा' शब्द देकर यह भी सूचित किया कि जैसे धारा गंगाजीकीही कहलाती है चाहे जितनी नदियाँ और नद उसमें मिलें; वैसेही कर्म और ज्ञान उपासनामें मिलनेसे उपासना (भक्ति) ही कहलाते हैं। यथा, 'जुग बिच भगति देवधुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा। १. ४०।' 'सुरसरि धार नाम मंदाकिनि। २. १३२।' [गंगा, यमुना, सरस्वती तीनोंमें गंगाकी धाराही प्रबल है, वैसेही संतसमाजमें श्रीरामभक्ति ही प्रबल है। संगम होनेपर फिर 'गंगा' नामही होगया। वैसेही कर्मकथा और ब्रह्मविचारका प्रचार श्रीरामभक्तिके प्रवाहमें मिलनेपर अपना नाम खो बैठे, श्रीरामभक्तिका अंग वा रूप होगए]।

तीर्थराज प्रयाग और संतसमाज का मिलान

१ प्रयागमें गंगाजी हैं, संतसमाजमें श्रीरामभक्ति है। दोनोंमें समानता यह है कि—(१) दोनों सर्वतीर्थमयी हैं। यथा, 'सर्वतीर्थमयी गंगा' 'तीर्थाटन साधन समुदाई। जोग बिराग ज्ञान निपुनाई॥ नाना कर्म धर्म ब्रत दाना। संजम दम जप तप मख नाना॥ भूतदया द्विज गुर सेवकाई। बिद्या बिनय बिबेक बड़ाई॥ जहँ लगि साधन बेद बखानी। सबकर फल हरिभगति भवानी। ७. १२६।' 'तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर।' ७. ४६।' (२) दोनोंकी उत्पत्ति भगवान्‌के चरणोंसे हुई। गंगाजी भगवान्‌के दक्षिण चरणसे निकलीं। यथा, 'जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी। १. २११।', 'मकरंदु जिन्ह को संभु सिर सुचिता अवधि'''' १. ३२४।' 'विष्णुपदसराजजासि' (विनय १७) 'धर्मद्रवं ह्यपां बीजं वैकुण्ठचरणच्युतम्' (प. पु. स्वर्ग. ३१. ७५)। और भक्तिभी भगवच्चरणके ध्यानसे उपजती हैं। इस तरह दोनोंका उत्पत्तिस्थान एकही है। (३) दोनों ऊँच नीच, मध्यम सभीको पावन करते हैं और अपना स्वरूप बना लेते हैं। यथा, 'कर्मनासजल सुरसरि परई। तेहि को कहहु सीस नहिं धरई।' 'श्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात। राम कहत पावन परम होत भुवन बिख्यात। २. १९४।' 'पाई न केहि गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना। ७. १३०'''।' 'बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ। २.२१७।' अर्थात् भक्तमंभी वही गुण आजाता है जो भक्तिमें है। (४) दोनों एक स्थलमें प्राप्त हैं, दोनोंने समान आदर पाया है। गंगाजी शिवजीके शिरपर विराजती हैं और भक्ति उनके हृदयमें विराजती है। यथा, 'देवापगा मस्तके' (अ. मं. श्लो. १) 'संकर हृदय भगति भूतल' (गीतावली ७. १५)। (५) गंगा उज्ज्वल। यथा, 'सोभित ससि धवल धार' (विनय १७), 'आज बिबुधापगा आपु पावन परम मौलि मालेव सोभा बिचित्रं' (विनय ११)। भक्तिकाभी सत्वगुणमय शुद्ध स्वरूप है। यथा, 'अबिरलभगति बिसुद्ध तव श्रुति पुरान जो गाव। ७ ८४।' (६) प्रयाग में गंगाजीका प्रवाह अधिक प्रबल है वैसेही संतसमाजमें श्रीरामभक्तिका प्रवाह अधिक है। (७) गंगाजल बिगड़ता नहीं वैसेही भक्तिभी क्रियानष्ट होनेपरभी निर्मल रहती है। (वि. टी.)।

२ प्रयागमें सरस्वती, वैसेही सन्तसमाजमें ब्रह्मविचारका प्रचार। दोनोंमें समानता यह है कि—(क) दोनोंका उत्पत्तिस्थान एकही है। सरस्वतीजी ब्रह्माकी कन्या हैं जो देवताओंकी रक्षाके लिये एवं गंगाके शापसे नदीरूप हुई। (मं. श्लो. १ देखिये)। ब्रह्मविद्याभी प्रथम ब्रह्माजीने अपने बड़े पुत्र अथर्वासे कही। यथा, 'ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्यकर्त्ता भुवनस्य गोप्ता। स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्या प्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठ पुत्राय प्राह।' (मुण्डकोपनिषद १. १)। (ख) गंगा यमुनाके मध्यमें सरस्वती गुप्त रहती हैं वैसेही कर्मकांड, और भक्तिके बीचमें ब्रह्मविचारका कथन गुप्त है। यथा, 'गंगा च यमुनाचैव मध्ये गुप्ता सरस्वती। तदग्रभागो निः सरति सा वेणी यत्र शोभते।' इति प्रयागमाहात्म्ये। तथा, 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' इति श्रुतिः। (तैति. २. ४। २. ९। ब्रह्मोप., पं. रामकुमार)। सरस्वतीका रंग श्वेत है और ज्ञानभी प्रकाशरूप

है (यह समता पंजाबीजीने दी है । पर सरस्वतीका वर्ण लाल कहा गया है; यथा गीतावल्याम् 'श्याम बरन पद पीठ अरुन तल लसति बिसद नख श्रेनी । जनु रबिसुता सारदा सुरसरि मिलि चली ललित त्रिबेनी । ७. १५ ।)

नोट—'सरसइ ब्रह्मविचार प्रचारा' इति । (क) ब्रह्मविचारप्रचारको सरस्वती कहा क्योंकि जैसे प्रयागमें सरस्वती गुप्त हैं वैसेही सन्तसमाजमें ब्रह्मविद्याका प्रचार गुप्त है । गुप्त कहनेका भाव यह है कि सन्तसमाजमें 'ब्रह्मविद्याका प्रचार है, परन्तु सन्तसमाजके बाहर नहीं है, भीतरही गुप्तरूपसे उसका प्रचार है । कारण कि संतसमाजही उसका अधिकारी है, उससे बाहरका इसका अधिकारी नहीं है । श्रीरामभक्तिका अधिकारी सारा विश्व है । जैसे गंगाजलके सहारे यमुना और सरस्वतीके जलका पान सबको सुलभ है वैसेही भक्तिके सहारे ब्रह्मविद्याभी सबको सुलभ है ।' (प्रोफ़ गौड़जी) । (ख) बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि गंगा और रामभक्तिसे अनेकोंका उपकार होता है, यमुना और कर्मकांडसे थोड़े लोगोंका उपकार होता है पर ज्ञानरूपीसरस्वती से तो घुनाक्षरन्यायही किसीकी भलाई होती है । ये भाव प्रकट करनेके लिये रामभक्तिको सुरसरिधारा और ब्रह्मविचारको सरस्वती कहा । (रा. प्र.) (ग) वे. भू. जीका मत है कि 'प्रचारा' शब्द देकर संतसमाजप्रयागमें यह विशेषता दिखाते हैं कि यहाँ प्रयागमें तो सरस्वती प्रगट नहीं हैं पर यहाँ संतसमाजमें 'ब्रह्मविचार' का प्रचार है, ब्रह्मविचाररूपी सरस्वती प्रगट है, अर्थात् यहाँ भगवद्गुणकथनोपकथनमें ब्रह्मनिरूपण सर्वप्रथम होता है । यथा, 'ब्रह्मनिरूपन धर्मबिधि बरनहिं... । १. ४४ ।'

३ प्रयागमें यमुनाजी हैं, संतसमाजमें कर्मकथा है । नदी प्रवाहरूपा है और कथाभी प्रवाहरूपा है । इसलिये कथाको नदीका रूपक कहा । दोनोंमें समानता यह है कि (क) दोनोंका वर्ण श्याम है । यमुना श्याम हैं । यथा, 'सबिधि सितासित नीर नहाने ।....देखत श्यामल धवल हलोरे । २. २०४ ।' कर्ममें स्थल, काल, वस्तु, देह आदि दस या अधिक प्रकारकी शुद्धियोंकी आवश्यकता होती है । अशुद्धियाँही कालापन है । अथवा, कर्मोंमें जो कुछ न कुछ अहंकार रहना ही है वही कालापन है । (ख) यमुनाजी सूर्यकी कन्या हैं । यथा,, 'कालिन्दी सूर्यतनया इत्यमरे' (१. १०. ३२); 'चले ससीय मुदित दोउ भाई । रबितनुजा कइ करत बड़ाई । २. ११२ ।' और कर्मोंका अधिकार अधिकतर सूर्योदयसेही होता है । यथा, 'यस्योदयेनेह जगत्प्रबुध्यते प्रवर्त्तते च खिलकर्मसिद्धये । ब्रह्मेन्द्रनारायणरुद्रवन्दितः स नः सदा यच्छतु मङ्गलं रविः ॥' इति भविष्योत्तरपुराणे । (पं. रामकुमारजी) । अर्थात् जिनके उदयसे जगत् जागता है और अखिल कर्मोंमें प्रवृत्त होता है और जो ब्रह्मा, इन्द्र, नारायण तथ रुद्रसे वंदित हैं, वे सूर्य सदा हमारा मङ्गल करें । दोनों कलिमल हरती हैं । यथा, 'जमुना कलिमलहरनि सुहाई । ६. ११६ ।', 'दूरस्थेनापि यमुना ध्याता हंति मनः कृतम् । वाचिकं कीर्तिताहंति स्नाता कार्यकृतं ह्यघम् ।' (पद्मपुराणे) । अर्थात् दूरसेही यमुनाजीका ध्यान करनेसे मनके पाप, नामस्मरणसे वाचिक पाप और स्नानसे शारीरिक, पाप दूर होते हैं । 'नित्य नैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयम्' इति श्रुतिः । अर्थात् नित्य और नैमित्तिक कर्मोंसे पापका क्षय करता हुआ (मुक्त होजाता है) । गीतामें भगवान्भी कहते हैं, 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।' अर्थात् इस प्रकार जनकादिभी कर्मद्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं । (गीता ३. २०) । (४) (विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि) कृष्णजीने बहुतसे शुभकर्म यमुनातटपरही किये हैं जैसे अग्निभक्षण, कालीनागनाथन, गोपियोंको उपदेश आदि । इसीसे यमुनाजीसे मिलान कर्मकथासे करना अति उत्तम है ।

४ प्रयागमें त्रिवेणी हैं, संतसमाजमें हरिहरकथायें हैं । दोनोंमें समानता यह है कि—(१) गंगा, यमुना और सरस्वती जहाँ मिलती हैं उस सङ्गमको त्रिवेणी कहते हैं । इसी तरह श्रीरामभक्ति, कर्मकथा और ब्रह्मविचारका प्रचार इन तीनोंका हरिहरकथामें सङ्गम होता है । भाव यह है कि जैसे गङ्गा, यमुना और सरस्वती इन तीनोंके सङ्गमका इन तीनोंसे पृथक् एक 'वेणी' या 'त्रिवेणी' नाम पड़ा, वैसेही यहाँ भक्ति, कर्म,

और ज्ञान इन तीनोंके सङ्गमका नाम तीनोंसे पृथक् 'हरिहरकथा' नाम कविने दिया है। जैसे त्रिवेणीमें तीनोंका स्नान एकही स्थलपर प्राप्त है, अन्यत्र नहीं; वैसेही भक्ति, कर्म और ज्ञान तीनोंका श्रवणरूपी स्नान हरिहरकथामेंही प्राप्त है, अन्यत्र नहीं। (२) दोनों मुदमङ्गलकी देनेवाली हैं। यथा, एहि विधि आइ बिलोकी वेनी। सुमिरत सकल सुमंगल देनी। २. १०६।', 'कल्यानकाज विवाह मंगल सर्वदा सुख पावहीं। १. १०३।', 'मन कामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा। ७. १२९।' श्रवणमात्रसे आनंदमङ्गल देनेवाली होना यह विशेषता है।

नोट—यहाँ पंजाबीजी, करुणासिंधुजी तथा वैजनाथजीने हरिहरकथाको वेणी कहनेमें शङ्का की है, और अपने अपने ढङ्गसे उत्तर दिये हैं। करुणासिंधुजीने जो उत्तर लिखा है प्रायः उसीको बढ़ाकर वैजनाथजीने रक्खा है। 'सरस्वती और यमुनाका गङ्गामें सङ्गम होना वेणी है वैसेही यहाँ ज्ञान और कर्मका भक्तिमें संगम होना कहना चाहिये था। हरिहरकथाको वेणी कहनेसे पूर्व प्रसंग कैसे आवे ?' (वै.)। उत्तर—(क) हरिहरकथामें जहाँ कर्म, ज्ञान, भक्ति मिलकर एक हुए हैं वह वेणी है। वह कहाँ है? याज्ञवल्क्यजीने प्रथम शिवचरित कहा। उसमें सतीके मोहवश सीतारूप धारण करनेपर सतीमें श्रीजानकीभाव ग्रहण करना 'विधि' है, सतीतनमें प्रीतिका त्याग 'निषेध' है; यह विधिनिषेधमय कर्मकथा 'यमुना' हैं। 'हरि इच्छा भावी बलवाना', 'राम कीन्ह चाहहिं सो होई', इत्यादि विचारोंको हृदयमें धारण करनेसे शांति होना यह ब्रह्मविचार है। श्रीजानकीजीमें स्वामिनीभाव भक्ति है। इस तरह तीनोंका संगम है। (करु०)। (ख) भरद्वाजयाज्ञवल्क्यसंवाद कर्ममय है, उसके अंतर्गत उमाशंभुसंवाद ज्ञानमय है और इसका श्रीरामचरितरूपी भक्ति गंगामें संगम हुआ। सती मोह, पार्वतीविवाह कर्मकथा है, उमाशिवसंवादमें ब्रह्मका वर्णन 'आदि अंत कोउ जासु न पावा।...बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै विधि नाना॥ महिमा जासु जाइ नहि बरनी। १. ११८।' यह ज्ञान है...और 'जेहि इमि गावहिं वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान। १. ११८।' यह भक्तिगंगामें उनका सङ्गम है। इस प्रकार हरिहरकथा तीनोंका संगम 'त्रिवेणी' है। (वै.)। (ग) पं.सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'हरि' से सगुण और निर्गुण दोनों ब्रह्मका ग्रहण करना चाहिये। सगुणसे भक्तिरूप गंगा, निर्गुणसे गुप्त ब्रह्मविचार सरस्वती, 'हर' से महादेव और उनके यमसदृश गणोंकी कथा यमुना है। इनके संगमसे त्रिवेणी सोहती है; ऐसी व्याख्या करनी चाहिए। ऐसी व्याख्या न करनेसे पहली चौपाई 'रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा।....' इत्यादिसे असंगति होती है। (घ) पंजाबीजी 'बि राज' से 'पक्षि राज' भुशुण्डीजी, एवं 'बिराजति' से 'हँसपर शोभित ब्रह्माजी ऐसा अर्थ करके शङ्काका समाधान करते हैं जो बहुत क्लिष्ट कल्पना है। पं. रामकुमारजी और पं. शिवलालपाठकजीके अर्थ पूर्व अर्थकी पादटिप्पणीमें दिये गए हैं। (ङ) पं. रामकुमारजी लिखते हैं कि 'हरिहर' कहनेका भाव यह है कि इनमें लोग कुतर्क करते हैं। यथा, 'हरिहरपद रति मति न कुतरकी।...'।

५ प्रयागराजमें अक्षयवट है, संतसमाजमें 'निजधर्ममें अटल विश्वास'। समानता यह है कि (क) अक्षयवटका प्रलयमेंभी नाश नहीं, इससे उसका नाम 'अक्षय' है, मार्कण्डेयजीने प्रलयमें इसीके पत्तोंपर 'मुकुन्द' भगवान्के दर्शन पाये थे। और कितना ही विघ्न एवं कष्ट क्यों न हो सन्तका विश्वास अचल बना रहता है। यथा, 'आपन जानि न त्यागिहहिं मोहिं रघुबीर भरोस। २. १८३।', कोटि विघ्न ते संत कर मन जिमि नीति न त्याग। ६. ३३।' गीतामेंभी यही उपदेश है कि अपने धर्ममें मरना भला है। यथा, 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः। ३. ३५।' (ख) वट और विश्वास दोनों शङ्कररूप हैं। यथा, 'प्राकृतहूँ बट बूट बसत पुरारि हैं। क. ७. १४०।', 'भवानीशङ्करौ वन्दे श्रद्धा विश्वासरूपिणौ' (मं. श्लो. २)। (ग) प्रलयमें

अक्षयवटपर भगवान् रहते हैं, वैसेही विश्वासमें श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है, यथा, 'सिय सनेह बटु बाढ़त जोहा। ता पर राम पेम सिसु सोहा ॥ चिरजीवी मुनि ज्ञान विकल जनु । बूड़त लहेउ बाल अवलंबनु ॥' (२. २८६), 'बिनु विश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु । ७. ९०।' पुनश्च यथा, 'यत्र चैकार्णवे शेते नष्टे स्थावर जंगमे। सर्वत्र जलसंपूर्णे वटे बालवपुर्हरिः ॥ इति पाद्मे प्रयागमाहात्म्ये ।' तथा, 'वर्णाश्रमाचारवता पुरुषेण परः पुमान्। विष्णुराराध्यते पंथा नान्यस्तत्तोषकारणम् ॥' एवंच 'न चलति निज वर्णधर्मतोयः सममतिरात्म सुहृद्विपक्ष पक्षे। न हरति न च हंति किंचिदुच्चैः सित मनसं तमवेहि विष्णुभक्तम्। इति विष्णुपुराणे।' (पं. रामकुमारजी) अर्थात् प्रलयकालमें स्थावरजङ्गमके नष्ट हो जानेपर जिस वटपर बालरूप हरि सोते हैं। वर्णाश्रमपर चलनेवाला पुरुषही भगवान्का आराधन कर सकता है, उनको प्रसन्न करनेका कोई दूसरा मार्ग नहीं है। जो अपने वर्ण-धर्मसे विचलित नहीं होता, शत्रु मित्रको एकसा मानता है। किसीका कुछ हरण नहीं करता, न किसीको दुःख देता है और शुद्धहृदय है वही हरिभक्त है। पुनश्च यथा, 'स चाक्षयवटः ख्यातः कल्पांतेऽपि च दृश्यते। शेते विष्णुर्यस्य पत्रे अतोऽयं अव्ययस्स्मृता ॥ (पद्म पु. उत्तरखण्ड अ. २४ श्लोक ८)। अर्थात् वह प्रसिद्ध अक्षयवट कल्पांतमेंभी देख पड़ता है कि जिसके पत्तेपर भगवान् शयन करते हैं। इसीसे वह अव्यय (अक्षय) है।

प्रयागमें तीर्थराजसमाज है। यथा, 'त्रिवेणी माधवं सोमं भरद्वाजञ्च वासुकिम्। वन्दे अक्षयवटं शेषं प्रयागं तीर्थनायकम् ॥ (वि. टी.)। इनमेंसे त्रिवेणी और अक्षयवटको कह आए। शेष परिकर यहाँ 'तीर्थराज समाज' हैं। ये प्रयागके गौण देवता हैं। संतसमाजमें शुभकर्मोंका यथायोग्य आचरण राजसमाज है। (रा. प्र.)। अथवा, समाजभरके जो स्वाभाविक शास्त्रोक्त शुभकर्म (शुद्ध भगवत्कर्म) हैं, वे राजसमाज हैं (करु०)। अथवा, भगवत्पूजा माधव है, नामस्मरण सोमेश्वर हैं, सद्वार्ता भरद्वाज हैं, एकादशी आदि व्रत वासुकि हैं, कथाकीर्त्तन आदि शेषजी हैं। (वै.) । इत्यादि 'सुकर्म' हैं, यहाँ सिद्धावस्थाके कर्मोंको समाज कहा है। (वै.)

नोट—यहाँ लोग यह शङ्का उठाते हैं कि वेद शास्त्रोंमें कर्मज्ञान, उपासना क्रमसे कहे गए हैं, यहाँ ग्रंथ-कारने व्यतिक्रम क्यों किया ? इसका समाधान यों किया जाता है कि—(१) यहाँ सन्तसमाजका रूपक प्रयागसे बाँधा गया है न कि वेदशास्त्रोंसे। प्रयागराजमें तीनों नदियोंके प्रवाहके अनुसार रूपक बाँधा गया है। वहाँ गंगाजी प्रधान, यहाँ 'भक्ति' प्रधान, इत्यादि। (२) सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि पहले भक्ति, फिर ज्ञान तब कर्म लिखनेका कारण यह है कि पहले कर्मकांडसे शरीरको शुद्ध करना चाहिए; क्योंकि कर्मकांडमें जो दान, धर्म, तपादि कहे हैं उनका यही काम है कि शरीरको शुद्ध करें जिससे मनुष्योंकी अव्याहत गति हो जाती है। मनुष्य कर्मकांड द्वारा इस लोकमें सुख भोगकर स्वर्ग पाता है पर जब पुण्य क्षीण हो जाता है तब वह पुनः मर्त्यलोकमें गिराया जाता है। जन्ममरणप्रवाह नहीं छूटता। अतएव कर्मकांडसे बढ़कर भक्ति है। रहा ज्ञान, उसकी दशा यह है कि बिना पदार्थज्ञान के मुक्ति नहीं। इस ग्रंथमें तो परमार्थभूत श्रीमद्रामचन्द्रजी निरूपण किए गए हैं, उनकी प्राप्ति बिना भक्ति के नहीं होती, क्योंकि वे भक्तवत्सल हैं और ज्ञानका फल यही है कि उनके चरणोंमें भक्ति हो। यथा, 'धर्म ते बिरति जोग तें ज्ञाना।' से 'मिलइ जो संत होइं अनुकूला' तक (३. १६)। अतः भक्ति ज्ञानकांडसे बढ़कर है। इसीसे उसका उल्लेख पहले हुआ।

नोट—'कर्म कथा' को यमुना और 'सुकर्म' को तीर्थराजका समाज कहा। इसमें 'पुनरुक्ति नहीं है। यमुनाजी कर्मशास्त्र हैं जिसमें कर्मोंका वर्णन है कि कौन कर्म धर्म करने योग्य हैं और कौन नहीं, और शुभ कर्मोंका यथा-योग्य आचरण ही राजसमाज है। (रा० प्र०)। (२) सू० प्र० मिश्रः—(क) 'सुकर्म' का अर्थ यह है कि दैवी-सम्पदारूप जो शुभ कर्म हैं उनका एकत्र होना यही-समाज है। तीर्थका अर्थ यही है कि जहाँ बड़े लोग बैठकर ईश्वरका भजन करें वह स्थान उन्हींके नामसे कहा जाता है।' (ख) ग्रंथकारने प्रथम विश्वास पद रक्खा तब अचल। कारण यह कि बिना विश्वासके अचल होही नहीं सकता, अचलताका कारण विश्वास है। (मा० पत्रिका)

सबहि सुलभ सब दिन सब देसा । सेवत सादर समन कलेसा । १२ ।
अकथ अलौकिक तीरथराऊ । देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ । १३ ।

शब्दार्थ—सेवत=सेवा वा सेवन करनेसे, सेवन करते ही । कलेसा=(क्लेश)=दुःख, संकट । पातञ्जल योगसूत्रमें क्लेश पाँच प्रकारके कहे गए हैं । 'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशः' अर्थात् अविद्या (मोह, अज्ञान) अस्मिता (मैं हूँ, ऐसा अहङ्कार), राग, द्वेश और अभिनिवेश (मृत्युका भय)। अकथ= अकथ्य, जो कहा न जा सके । अलौकिक=लोकसे परे; जिसकी समानताकी कोई वस्तु इस लोकमें नहीं। देइ=देता है । सद्य=तुरत, शीघ्र ।

अर्थ—(संतसमाज प्रयाग) सभीको, सब दिन और सभी ठौर प्राप्त होता है। आदरपूर्वक सेवन करनेसे क्लेशोंको दूर करनेवाला है । १२ । (यह) तीर्थराज अलौकिक है। (इसकी महिमा) अकथनीय है। इसका प्रभाव प्रसिद्ध है कि यह तुरत फल देता है । १३ ।

नोट—(१) अब संतसमाजमें प्रयागसे अधिक गुण दिखलाते हैं। यहाँ 'अधिक अभेद रूपक' है; क्योंकि उपमानसे उपमेयमें कुछ अधिक गुण दिखलाकर एकरूपता स्थापित की गई है।

संतसमाज	प्रयाग
१ जंगम है । अर्थात् ये सब देशोंमें सदा विचरते रहते हैं ।	स्थावर है। अर्थात् एक ही जगह स्थित है।
२ 'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा' अर्थात् (१) ऊँच-नीच, धनी-निर्धन, इत्यादि कोई भी क्यों न हो, सबको सुलभ है । पुनः, (२) इसका माहात्म्य सब दिन एकसा रहता है । पुनः, (३) सत्सङ्ग हर जगह प्राप्त हो जाता है। यथा, 'भरत दरस देखत खुलेउ मग लोगन्ह कर भाग । जनु सिंघलवासिन्ह भयउ विधिबस सुलभ प्रयाग । २. २२३'	(१) सबको सुलभ नहीं, जिसका शरीर नीरोग हो, रुपया पास हो, जिससे वहाँ पहुँच सके, इत्यादि ही लोगोंको सुलभ हैं । (२) इसका विशेष माहात्म्य केवल माघमें है जब मकर राशिपर सूर्य्य होते हैं।
३ इसकी महिमा और गुण अकथनीय हैं। यथा, 'विधि हरिहर कवि कोविद बानी । कहत साधु महिमा सकुचानी' (बा० ३), 'सुनु मुनि साधुनके गुन जेते । कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते । ३. ४६ ।'	इसका माहात्म्य वेदपुराणोंमें कहा गया है। यथा 'बंदी वेद पुरानगन कहहिं बिमल गुनग्राम । अ० १०५ ।' अर्थात् महिमा कथ्य है।
४ जैसा इनका कथन है, भाव है, कर्म, निष्ठा, विश्वास इत्यादि हैं वैसा कोई कहकर बता नहीं सकता और न आँखसे देखा जासके।	इसके सब अङ्ग देख पड़ते हैं।
५ इसकी समताका कोई तीर्थ, देवता, आदि लोकमें नहीं है। संतसमाजके सेवन करनेवाले संत स्वरूप हो जाते हैं। यह फल सबपर प्रकट है । वाल्मीकिजी, प्रह्लादजी, अजामिल इत्यादि उदाहरण हैं।	लोकमें इसके समानही नहीं, किंतु इससे बढ़कर पंचप्रयाग, हैं। अर्थात् देवप्रयाग, रुद्रप्रयाग, नन्दप्रयाग, कर्णप्रयाग, और विष्णुप्रयाग । हृषीकेशमेंभी त्रिवेणी हैं, गालव मुनिको सूर्य्य भगवान् के वरदान से यहीं त्रिवेणीस्नान हो गया था, उसका माहात्म्य विशेष है।

६ सन्तसमाजके सादर सेवनसे चारों फल इसी तनमें शीघ्र ही प्राप्त हो जाते हैं और जीतेजी मोक्ष मिलता है। अतः इसका प्रभाव प्रकट है। सत्सङ्गसे जीवन्मुक्त हो जाते हैं, यही 'अछत तन' मोक्ष मिलना है। तुरत फल इस प्रकार कि सत्संगमें महात्माओंका उपदेश सुनते ही मोह अज्ञान मिट जाता है।

इससे भी चारों फल प्राप्त होते हैं। यथा, 'चार पदारथ भरा भंडारू'। अ० १०५।', पर कालांतरमें अर्थात् मरनेपरही मोक्ष मिलता है; इसीसे इसका प्रभाव प्रगट नहीं है।

नोट—२ 'देइ सद्य फल' से यहभी जाना जाता है कि और सब तीर्थ तो विधिपूर्वक सेवनसे कामिक ही फल देते हैं पर सन्तसमाजका यह प्रभाव प्रकट है कि चाहे कामिक हो या न हो पर यही फल देता है जिससे लोक परलोक दोनों बनें। (सू० प्र० मिश्र)

नोट—३ 'सेवत सादर समन कलेसा' इति। (क) अविद्या आदि पंच क्लेशोंके दूर करनेके लिये योगशास्त्रका आरंभ है। परन्तु यह सब क्लेश अनायासही दूर हो जाते हैं, यदि सन्तसमाजका सादर सेवन किया जाय। (ख) 'सादर' से श्रद्धापूर्वक स्नान करना कहा। यथा, 'अश्रद्दधानः पुरुषः पापोपहत चेतनः। न प्राप्नोति परं स्थानं प्रयागं देवरक्षितम्॥' (मत्स्यपुराण) अर्थात् जिनकी बुद्धि पापोंसे मलिन हो गई है, ऐसे श्रद्धाहीन पुरुष देवोंद्वारा रक्षित परम श्रेष्ठ स्थान प्रयागकी प्राप्ति नहीं कर सकते। स्कंदपुराण ब्राह्मखण्डांतर्गत ब्रह्मोत्तरखण्ड अ. १७ में श्रद्धाके सम्बन्धमें कहा है कि 'श्रद्धा सर्वधर्मस्य चातीव हितकारिणी। श्रद्धयैव नृणां सिद्धिर्जायते लोकयोर्द्वयोः। ३। श्रद्धया भजतः पुंसः शिलापि फलदायिनी। मूर्खोऽपि पूजितो भक्त्या गुरुर्भवति सिद्धिदः। ४। श्रद्धया पठितो मन्त्रस्त्व बद्धोऽफलप्रदः। श्रद्धया पूजितो देवो नीचस्यापि फलप्रदः। ५।' अर्थात् सब धर्मोंके लिये श्रद्धाही अत्यंत हितकारक है। श्रद्धाहीसे लोग इहलोक और परलोक प्राप्त करते हैं। ३। श्रद्धासे मनुष्य पत्थर की भी पूजा करे तो वहभी फलप्रद होता है। मूर्खकीभी यदि कोई श्रद्धासे सेवा करे तो वहभी सिद्धिदायक गुरुतुल्य होते हैं। ४। मंत्र अर्थरहितभी हो तोभी श्रद्धापूर्वक जपनेसे वह फलप्रद होता है। और नीचभी यदि श्रद्धासे देवताका पूजन करे तो वह फलदायक होता है। पुनः, अध्याय १७ में कहा है कि मंत्र, तीर्थ, ब्राह्मण, देवता, ज्योतिषी, औषधि और गुरुमें जिसकी जैसी भावना होती है, वैसा उसको फल मिलता है। यथा, 'मंत्र तीर्थे द्विजे देवे दैवज्ञे भेषजे गुरौ। यादृशी भावना यत्र सिद्धिर्भवति तादृशी ॥ ८।' (स्कंदपुराण ब्रह्मोत्तरखण्ड)।

अतएव तीर्थादिका 'सादर' सेवन करना कहा। 'सादर' में उद्धरणोंका सब आशय जना दिया। अश्रद्धा वा अनादरपूर्वक सेवनसे फल व्यर्थ हो जाता है, इसीसे कविने सर्वत्र 'सादर' शब्द ऐसे प्रसङ्गोंमें दिया है। यथा, 'सादर मज्जन पान किये तें। मिटहिं पाप परिताप हिये तें। १. ४३।', 'सादर मज्जहिं सकल त्रिबेनी। १. ४४।' 'सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरवर मानस अधिकारी॥ १. ३८।', 'सादर सुनहिं विविध विहंगवर। ७. ६२।' इत्यादि। (ग) 'जंगम', 'सबहिं', 'सब दिन', 'सेवत', 'अकथ', 'अलौकिक' और 'सद्य' शब्द सन्तसमाजकी विशेषता दिखाते हैं।

नोट—४ इन चौपाइयों (६ से १३ तक) से मिलते हुए निम्न श्लोक पं० रामकुमारजीने अपने संस्कृत खर्रेमें दिये हैं। यथा, 'यत्र श्रीरामभक्तिर्लसति सुरसरिद्भारती ब्रह्मज्ञानम्। कालिंदी कर्मगाथा हरिहरचरितं राजते यत्र वेणी॥ विश्वासः स्वीयधर्मेऽचल इव सुवटो यत्र शेते मुकुन्दः। सेव्यः सर्वैः सदासौ सपदि सुफलदः सत्समाजः प्रयागः॥' अर्थात् जहाँ श्रीरामभक्तिरूपी गंगा शोभित होती हैं तथा ब्रह्मज्ञानरूपी सरस्वती और कर्मगाथारूपी यमुना स्थित हैं। जहाँ हरिहरचरितरूपी त्रिवेणी और जिसपर मुकुन्द भगवान् शयन करते हैं ऐसा स्वधर्ममें विश्वासरूपी सुन्दर वट विराजते हैं ऐसा तत्काल फलप्रद सत्समाजरूपी प्रयाग सबसे सदा सेव्य है।

दो०—सुनि समुझहिँ जन मुदित मन, मज्जहिँ अति अनुराग।
लहहिँ चारि फल अछत तनु, साधुसमाज प्रयाग॥ २॥

शब्दार्थ—जन=प्राणी; लोग; भक्त। मुदित=प्रसन्न, आनंदित। मज्जहिं=स्नान करते हैं, नहाते हैं। लहहिं=लाभ या प्राप्त करते हैं। फल=शुभ कर्मोंके परिणाम जो संख्यामें चार माने जाते हैं और जिनके नाम अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष हैं। अछत ('अछना' का कृदंतरूप जो क्रि. वि. के रूपमें प्रयुक्त होता है। सं. अस., प्रा. अच्छ=होना। मराठीमें 'असते'=रहते हुए। 'स' और 'छ' का अदल बदल हो जाता है। जैसे, 'अप्सरा' से 'अपछरा' इत्यादि रीतिसे 'असते' से 'अछत' हुआ हो)=रहते हुये; जीतेजी। यथा, 'तुम्हहिं अछत को बरनै पारा। १. २७४।' साधुसमाज=सन्तसमाज। यहाँ 'साधु' शब्द देकर इसे 'सन्त' का पर्याय जनाया।

अर्थ—१ जो लोग (या भक्त जन) साधुसमाजप्रयाग (के उपर्युक्त माहात्म्य) को आनंदपूर्वक सुनकर समझते हैं और प्रसन्न मनसे अत्यन्त अनुरागसे इसमें स्नान करते हैं, वे जीतेजी इसी शरीरमें चारों फल प्राप्त कर लेते हैं। २।

टिप्पणी—'सुनि समुझहिं....' इति। यथा, 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं। १. ४१।', 'कासी विधि बसि तनु तजइ, हठि तनु तजइ प्रयाग। तुलसी जो फल सो सुलभ रामनाम अनुराग।' (दोहावली)।

नोट—(१) इस दोहेमें सन्तसमाजप्रयागके स्नानकी तीन सीढ़ियाँ लिखते हैं। 'सुनना' यही किनारे पहुँचना है, 'समझना' धारामें हल जाना है और जो समझनेसे आनंद अनुराग होता है यही डुबकी (गोता) लगाना है। इस विधानसे सन्तसमाजप्रयागके स्नान से इसी तनमें चारों फल मिलते हैं। (पांडेजी)। पुनः, (२) इस दोहेमें श्रवण, मनन और अभ्यास अथवा यों कहें कि दर्शन स्पर्श और स्नान (समागम) ये तीन बातें आवश्यक बताई हैं। यथा, 'जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए।....' (विनय १३६), 'मुख देखत पातक हरैं, परसत करम बिलाहिं। बचन सुनत मन मोह गत, पूरब भाग मिलाहिं।' (वैराग्य सं. २४)। 'सुनि' से सन्त वचन श्रवण करना, 'समुझहिं' से मनन करना और 'मज्जहिं' से निदिध्यासन नित्य निरंतर अभ्यास कहा गया। वैजनाथजी लिखते हैं कि सिवाय सत्संगके और कुछ न सुहाना अति अनुरागसे मज्जन करना है। करुणासिंधुजीका मत है कि 'मुदितमन' से निदिध्यासन और अति अनुरागसे (मज्जहिं अर्थात्) साक्षात् हो।' सम्भवतः आशय यह है कि इन्द्रियद्वारा जो मन बाहर हो रहा है उसका थिर होकर अंतरमुख हो जाना अति अनुरागपूर्वक मज्जन है। (रा. प.)। (३) 'अछत तनु' कहकर जनाया कि प्रयाग चारों फल शरीर रहते नहीं देता। यथा, 'दर्शनात्स्पर्शनात्स्नानाद्गंगायमुनसंगमे। निष्पापो जायते मर्त्यः सेवनान्मरणादपि।' (पं० रामकुमार सं. खर्रा)।

दूसरा अन्वय—'साधुसमाजप्रयागको जे जन मुदित मनसे सुनि समुझहिं ते अति अनुराग ते मज्जहिं (तथा) 'अछत तनु चारि फल लहहिं'।

अर्थ—२ सन्तसमाजरूपी प्रयागके त्रिविधवचन मुदित मनसे जो जन सुनते और समझते हैं, वेही बड़े अनुरागसे इसमें स्नान करते हैं और शरीरके रहतेही चारों फल प्राप्त करते हैं। २। (गौड़जी, रा. प्र.)।

नोट—यहाँ 'प्रयाग' से त्रिवेणी लक्षित है। हरिहरकथा=त्रिवेणी। इस अर्थके अनुसार सन्तसमाजमें 'हरिहरकथा' को सुनकर समझनाही त्रिवेणीका स्नान है। पंजाबीजीका मत है कि सुनकर समझने अर्थात् श्रवण मनन करनेसे जो प्रसन्नता होती है वही प्रेमसहित मज्जन है।

मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिँ पिक बकउ मराला। १।
सुनि आचरज करै जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिँ गोई। २।
बालमीक नारद घटजोनी। निज निज मुखनि कही निज होनी। ३।

शब्दार्थ—पेखिय (सं० प्रेक्षण)=दिखाई देता है; देख लीजिए; देख पड़ता है। ततकाल=उसी समय। काक=कौवा। पिक=कोयल, कोकिल। बकउ=बक+उ=बगुला भी। मराल=हंस। जनि=मत, नहीं। आचरज=आश्चर्य, अचंभा। गोई=छिपी हुई, गुप्त। घटजोनी (घटयोनि)=कुम्भज, घड़ेसे जो उत्पन्न हुए, अगस्त्यजी। मुखनि=मुखोंसे। होनी=उत्पत्ति और फिर क्यासे क्या हो गए। जीवनका वृत्तांत।

अर्थ—(सन्तसमाज प्रयागमें) स्नानका फल तत्काल देख पड़ता है (कि) कौवे कोकिल और बगुले भी हंस हो जाते हैं। १। यह सुनकर कोई आश्चर्य न करे। सत्सङ्गतिका प्रभाव छिपा नहीं है। २। श्रीवाल्मीकिजी, श्रीनारदजी और श्रीअगस्त्यजीने अपने-अपने मुखोंसे अपना अपना वृत्तांत कहा है। ३।

टिप्पणी—१ 'मज्जन फल पेखिय ततकाला' इति। (क) ऊपर दोहेमें 'लहहिं चारि फल अछत तनु' अर्थात् शरीरके रहते जीतेजी चारों फलोंकी प्राप्ति कही। इस कथनसे फलके मिलनेमें कुछ विलंब पाया गया, न जाने कितनी बड़ी आयु हो और उसमें न जाने कब मिले? इस सन्देहके निवारणार्थ यहाँ 'ततकाला' पद दिया। अर्थात् सत्संगका फल तुरंत मिलता है। पुनः, (ख) 'ततककाला' से यहभी जनाया कि प्रयाग 'तत्काल' फल नहीं देता, मरनेपरही (मोक्ष) देता है। (ग) 'ततकाला' देहलीदीपक है, 'मज्जन फल पेखिय' और 'काक होहिं पिक बकउ मराला' दोनोंके साथ है। मज्जनका फल तत्काल देख पड़ता है और तत्कालही काक पिक हो जाते हैं, बगुला हंस हो जाता है। (घ) यहाँ 'अन्योक्ति अलङ्कार' है। काक-पिकके द्वारा दूसरोंको कहते हैं।

२ 'काक होहिं पिक बकउ मराला' इति। (क) काक और बक कुत्सित पक्षी हैं। यथा, 'जहँ तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल। २. २८१।', 'तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे। १. ३८।', 'जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत।' (विनय १८५)। पिक और हंस उत्तम पक्षी हैं। [काक चाडाल, हिंसक, कठोर बोलनेवाला, मलिनभक्षी, छली और शङ्कित हृदय होता है। काकसे काकसमान कुजाति, हिंसक, मलिनभक्षी, कटुकठोरवादी, छली, अविश्वासी इत्यादि मनुष्य अभिप्रेत हैं। यथा, 'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कहतहुँ न प्रतीती। २. ३०२।', 'होहि निरामिष कबहुँ कि कागा। १. ५।' 'सत्य वचन विश्वास न करही। वायस इव सबहीं ते डरही। ७. ११२।', 'मूढ़ मंदमति कारन कागा' (३।१) काकके विपरीत कोकिल सुन्दर रसालादिका खानेवाला, मंगल (शुभ) जाति और मधुरभाषी इत्यादि होता है। काक पिक हो जाते हैं अर्थात् काकसमान जो हिंसक, कटुवादी, कुजाति, छली, मलिन इत्यादि दुर्गुणोंसे युक्त हैं वे पिकसमान सुजाति, उत्तम वस्तुओं (भगवत् प्रसाद आदि) का सेवन करनेवाले, स्वच्छ शुद्ध हृदयवाले, विश्वासी एवं गुरु, सन्त और भगवान् तथा उनके वाक्योंपर विश्वास करनेवाले 'मधुरभाषी (भगवत् कीर्त्तन, श्रीरामनामयशके गान करनेवाले एवं मिष्ट) प्रिय और सत्य बोलनेवाले हो जाते हैं। इसी तरह बगुला हिंसक, विषयी, दंभी (जलाशयोंके तटपर आँख मूँदा हुआसा बैठा देख पड़ता है पर मछलीके आतेही तुरंत उसको हड़प कर जाता है) होता है। हंस विवेकी होता है। वह सार दूधको ग्रहण कर लेता है और असार जलको अलग करके छोड़ देता है] 'बकउ मराला होहिं' अर्थात् जो दंभी, कपटी और विषयी हैं, वे कपट, दंभ आदि छोड़कर हंससमान विवेकी और सुहृद हो जाते हैं। यथा, 'संत हंस गुन गहहिं पय

परिहरि बारि बिकार । १. ६. ।' (ख) बाह्य और अंतर शुद्धि दिखानेके लिये काक और वक दो ही दृष्टांत दिये। बाहरकी शुद्धि दिखानेके लिये काक पिक की उपमा दी और अंतरशुद्धिके लिये वक हंसकी । 'काक होहिं पिक' अर्थात् सन्तोंका जैसा ऊपरका व्यवहार देखनेमें आता है, वैसा वे भी वरतने लगते हैं । मधुर भाषी हो जाते हैं । (प्रथम मिष्ट वाक्य बोलने लगते हैं यह सन्तोंके बाह्यव्यवहारका ग्रहण दिखाया । फिर अंतरसेभी निर्मल हो जाते हैं, यह 'बकउ मराला' कहकर बताया ।) 'बकउ मराल।' अर्थात् विवेकी हो जाते हैं [विशेष भाव (क) में ऊपर दिये गए हैं] । सत्संगसे प्रथम तो सन्तोंकासा बाह्य व्यवहार होने लगता है, फिर अन्तःकरणभी शुद्ध हो जाता है । [भाव यह है कि सन्तसमाज प्रयागमें स्नान करनेसे केवल चारों फलों (अर्थ-धर्मादि) की ही प्राप्ति नहीं होती, किन्तु साथही साथ स्नान करनेवालोंके हृदयोंमें अनेक सद्गुणभी प्राप्त हो जाते हैं, रूप वही बना रहता है] । वा, (ग) विषयी कामीही वक, काक हैं । यथा, 'अति खल जे विषई बक कागा । १. ३८ ।' अतः काक , वककी उपमा देकर अत्यंत विषयी दुष्टोंकाभी सुधरना कहा ।

नोट—१ 'बकउ मराला' इति । पं० रामचरणमिश्रजी लिखते हैं कि 'बकमें लगे उकारसे अद्भुतरस प्रगटात। दंभी हिंसक कुटिलहू ज्ञानी हंस लखात ॥' तथाच काक-पिकका सम्बन्धभी है; क्योंकि काकही कोयलको पोसता है (कोयल अपना अण्डा कौवेके घोंसलेमें रख देती हैं, कौवा उसे अपना जानकर सेता है, वहीं उसमेंसे बच्चा निकलता है) । यहाँ काकमें केवल क्रूरभाषिताका दूषण दिखाकर पिककी मधुरभाषितामें सम्बन्ध मिलाया है । बक और हंसमें बड़ा अंतर है । दोनोंका बोल, चाल, चरण-चोंचका रंग और निवास तथा भोजन एक दूसरेसे भिन्न हैं । कविने इनके केवल अंतरंगभावका मिलान किया है, बाहरी आकृति आदिका नहीं । बकमें अन्तरंग मलिनता आदि अनेक दोष देख 'बक' शब्दमें 'उ' लगाकर उसके दोषोंको सूचित कर हंसके सद्गुणोंमें सम्बन्धित किया है । यहाँ उकार आश्चर्यका द्योतक है कि न होने योग्य बात हो गई ।'

२ सन्तसमाजमें आनेपर भी जब वही पूर्व शरीर बना रहता है तब कौवेसे कोयल होना कैसे माना जाय ? उत्तर यह है कि कौवा और कोकिल की आकृति एकसी होती है । कौवेमें कोयलकी वाणी आ जाय तो वह कोयल कहा जाता है । अतः शरीर दूसरा होनेका कोई काम नहीं । इसी तरह जब बगलेमें हंसका गुण आ जाता है तब वह हंस कहा जाता है; दोनोंकी शक्लभी एकसी होती है । वैसेही मनुष्य जब मायाबद्ध रहता है तब कौवेके समान कठोर वाणी बोलता है, सन्तसमाजमें आनेपर वही कोकिलकी बोली बोलने लगता है, उसमें दया गुण आ जाता है और हिंसक अवगुण चला जाता है । उस समय वह काकसे पिक और बकसे हंस हो जाता है । (नंगेपरमहंसजी) ।

३ यहाँ 'प्रथम उल्लास अलङ्कार' है । यथा, 'और वस्तुके गुणन ते और होत बलवान ।' 'अनुगुन' अलङ्कार नहीं है, क्योंकि 'अनुगुण' का लक्षण है 'अपने पूर्व गुणका दूसरेके संगसे और अधिक बढ़ना' । ११ (१-२) 'मनि मानिक···' देखिए । और 'तद्गुण' भी नहीं है क्योंकि इसमें 'गुण' का अर्थ केवल रंग है और उल्लास और अवज्ञामें 'गुण' का अर्थ 'धर्म' अथवा 'दोष' का विरोधी भाव है । (अलङ्कार मं.) ।

टिप्पणी—३ 'सुनि आचरज करै जनि कोई' इति । (क) कौवे कोयल हो जाते हैं और बगुले हंस । यह सुनकर आश्चर्य हुआ ही चाहे । क्योंकि स्वभाव अमिट है । यथा, 'मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू । १. ७. ।', 'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि । प्रकृतिं यांति भूतानि···' (गीता ३. ३३) अर्थात् सभी प्राणी प्रकृतिको प्राप्त होते हैं, अपने स्वभावसे परवश हुए कर्म करते हैं; ज्ञानवान्भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है । नीतिवेत्ताओंने इस बातको तर्कवितर्क करके खूब दृढ़ किया है । यथा, 'काकः पद्मवने रतिं

न कुरुते हंसो न कूपोदके। मूर्खैः पंडितसङ्गमे न रमते दासो न सिंहासने ॥ कुस्त्री सज्जनसङ्गमे न रमते नीचं जनं सेवते। या यस्यप्रकृतिः स्वभावजनिता केनापि न त्यज्यते ॥' (सु. र. भा. स्वभाववर्णन श्लोक २१)। अर्थात् कौवा कमलवनमें नहीं रमता, हंस कूपोदकमें नहीं रमते। मूर्ख पण्डितोंके सग नहीं रमते और न दास सिंहासनपर। कुत्सित स्त्रियां सज्जनसंगमें न रमणकर नीच पुरुषोंका ही सेवन करती हैं। क्योंकि जिसकी जो प्रकृति होती है वह उसे कदापि नहीं छोड़ता। अतः सन्देह हुआ कि जब स्वभाव अमिट है तो कविने बहुत बढ़ाकर कहा होगा, वस्तुतः ऐसा है नहीं। इस सन्देह और आश्चर्यके निवारणार्थ कहते हैं कि 'सुनि आचरज कर जनि काई।' 'प्राप्तौ सत्यां निषेधः।' जब किसी प्रसंगकी प्राप्ति होती है तभी उसका निषेध किया जाता है। यहां कोई आश्चर्य कर सकते हैं, इसीसे उसका निषेध किया गया है। (ख) 'सतसंगति महिमा नहिं गोई' इति । यहांसे सत्सङ्गकी महिमा कहते हैं। भाव यह है कि जो बात अनहोनी है (जैसे काकका पिक, बकका हंस। स्वभावका बदल जाना) वहभी सत्सङ्गतिसे हो जाती है। इसीको दृढ़ करनेके लिये कहते हैं 'महिमा नहिं गोई', महिमा छिपी नहीं है, प्रसिद्ध है। महिमा प्रसिद्ध है; इसीसे जो महात्मा जगत्प्रसिद्ध हैं, उन्हींका क्रमसे उदाहरण देते हैं। वाल्मीकिजीको प्रथम कहा; क्योंकि 'काक होहिं पिक' और 'बकउ मराला' को क्रमसे घटाते हैं। वाल्मीकिजी काकसे पिक हुए। यथा, 'कूजन्तं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वंदे वाल्मीकिकोकिलम् ॥' (वाल्मीकीयके संगृहीत मंगलाचरणसे)। कठोरभाषी, व्याधा, आदि दुर्गुणयुक्त थे सो मधुरभाषी, ब्रह्माके पुत्र और ब्रह्मर्षि होगए। नारदजी और अगस्त्यजी बकसे मराल होगए। (ग) इनको महात्मा होनेका उदाहरण देकर, आगे उनको पदार्थकी प्राप्ति होनेका उदाहरण देते हैं।

४ 'बालमीक नारद घटजोनी। निजनिज मुखनि....' इति। (क) यहां तीन दृष्टांत और वहभी बड़े बड़े महात्माओंके दिये गए। यही तीन दृष्टांत दिये; क्योंकि ये तीनों महात्मा प्रामाणिक हैं। सारा जगत् इनको जानता और इनके वाक्यको प्रमाण मानता है, इससे ये प्रमाण पुष्ट हुए। (ख) 'निज निज मुखनि'। से सूचित किया कि दूसरा कहता तो चाहे कोई सन्देह भी करता परंतु अपने अपने मुखसे कहा हुआ अवश्य प्रमाण माना जायगा। (ग) कब, किससे और कहाँ इन महात्माओंने अपने अपने जीवन वृत्तांत कहे ? महर्षि वाल्मीकिजीने श्रीरामचन्द्रजीसे अपना वृत्तांत कहा था जब वे वनवासके समय आपके आश्रमपर पधारे थे। यह बात अध्यात्मरामायण अयोध्याकांड सर्ग ६ में लिखी हुई है। श्रीरामनामके प्रभावके संबंधमें यह कथा कही गई है। आपके नामके प्रभावसेही मैं ब्रह्मर्षि हुआ यह कहकर उन्होंने अपनी कथा कही है।

श्रीनारदजीने व्यासजीसे अपने पूर्वजन्मका वृत्तांत कहा। श्रीमद्भागवत स्कंध १ अध्याय ४६ में यह कथा है कि जब व्यासजीने, इस विचारसे कि स्त्री, शूद्र, अंत्यज वेदत्रयीके पढ़ने सुननेके अधिकारी नहीं हैं और कलिमें अल्पबुद्धि लोग होंगे जो उन्हें समझभी न सकेंगे, वेदोंका सारांश भारत उपाख्यान रचा, सत्रह पुराण रच डाले, इतना परोपकार करनेपरभी जब उनका चित्त शांत न हुआ तब वे चिंतामें निमग्न होगए, मनही मन चिंतवन करने लगे कि 'इतनेपर भी मेरा जीवात्मा अपने स्वरूपको अप्राप्तसा जान पड़ता है। क्या मैंने अधिकतर भागवत धर्म्मोंका निरूपण नहीं किया ?....' इसी समय नारदजी इनके पास पहुँच गए। कुशल प्रश्न करते हुए अंतमें कहने लगे कि ऐसा जान पड़ता है कि आप अकृतार्थकी भाँति शोचमें मग्न हैं सो क्यों ? व्यासजीने अपना दुःख कहकर प्रार्थना की कि चित्तको सुखी करनेवाला जो काव्य मुझे करना शेष है वह आप मुझे बताइए। नारदजीने उन्हें हरियश कथनका उपदेश दिया और यह कहते हुये कि कवियोंने भक्तिपूर्वक हरिगुणगान करना ही सर्वधर्मोंका एकमात्र परम फल कहा है, अपने पूर्वजन्मका वृत्तांत कहने लगे। शिवजी सत्संगके लिए अगस्त्यजीके पास जायाही करते थे। यथा, 'एक बार त्रेताजुग माहीं। संभु गए कुंभज रिषि पाहीं। १. ४८।'

श्रीसनकादि ऋषियोंकाभी उनके सत्संगके लिये जाना पाया जाता है यथा, 'तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिवर ज्ञानी ।। ७. ३२।' श्रीरामजीका वनवासके समय उनके यहाँ जाना अरण्यकांडमें कहा गया है। राजगद्दीपर बैठनेके समय अगस्त्यजीका श्रीरामजीके पास आना और श्रीरामजीके प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीहनुमान्‌जी, मेघनाद आदि के चरितका कहना वाल्मीकीयमें पाया जाता है । राजगद्दीके पश्चात्‌भी श्रीरामजीका महर्षि अगस्त्यजीके यहाँ जाना वाल्मीकीयमें एवं पद्मपुराण आदिमें है, जब महर्षिने उन्हें एक आभूषण भेंट किया और उसका सब वृत्तांत कहा। इन्हीं प्रसंगों या अवसरोंपर अगस्त्यजीने संभवतः श्रीशिवजी श्रीसनकादिजी या श्रीरामजीसे अपनी 'होनी' का वृत्तांत कहा होगा।

नोट—५ पं० शिवलाल पाठकका मत यह है कि यहाँ 'वाल्मीकि और नारदके लिए काक पिक और वकमरालसे रूपक दिया है; परन्तु अगस्त्यजीके लिए कोई रूपक नहीं है, अतः 'घटजोनी' शब्दका अर्थ नीच योनि है। अर्थात घटयोनिज (नीच योनीसे उत्पन्न) वालमीकि और नारद सत्संगसे सुधरे हैं....ऐसा अर्थ इस चौपाइका है।'—(मानस अभिप्राय दीपक)। उसी परंपराके महादेवदत्तजीका भी यही मत है। यथा, 'वालमीकि नारद युगल जाके युगल प्रमान। काक कोयली हंस वक घट जू इन कहँ जान ॥' वैजनाथजी लिखते हैं कि वगुले दो प्रकारके होते हैं, एक सफ़ेद दूसरे मैले। इसी प्रकार विषयीभी दो प्रकारके होते हैं, एक विषयासक्त, दूसरे भीतरसे विषयासक्त परन्तु सत्यासत्य विवेक होनेसे ऊपरसे मैली क्रिया नहीं करते। इसलिए वकके दो दृष्टांत दिये गए।

यह जरूरी नहीं है कि जितने कर्म कहे जायँ उतने ही उदाहरण भी दिए जायँ। कभी कई कर्मोंके लिए कवि एकही दृष्टांत पर्याप्त समझते हैं, कभी अधिक महत्व दिखानेके लिए एकही धर्मके कई दृष्टांत देते हैं। यथा, 'लखि सुवेष जग वंचक जेऊ। वेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ ॥ उघरहिं अंत न होइ निवाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू ॥ । १. ७. ।' 'कियेहुँ कुवेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू। १.७।,' 'संत सुधा ससि धेनु प्रगटे खल विष वारुनी ।१. १४।,' इत्यादि में। प्रथम साधारण वात कह दी गई कि 'काक होहिं पिक वकउ मराला' और फिर इसीको अधिक पुष्ट करनेके लिये 'वाल्मीक नारद घटजोनी' उदाहरण विशेष रूपसे दिये गए; इतनाही नहीं वरन् फिर आगे कहते हैं कि 'जलचर थलचर नभचर नाना'। अर्थात् ये सब सत्सङ्गकी महिमाहीके उदाहरण हैं, नाम कहाँतक गिनाये जायँ।

'घटजोनी' शब्द गोस्वामीजीने अ० २३२ (२) में भी अगस्त्यजीहीके लिए प्रयुक्त किया है। यथा, 'गोपद जल बूड़हिं घटजोनी।' अन्य अर्थमें कहीं नहीं आया है । पंजाबीजी, करुणासिंधुजी, वैजनाथजी, वावा जानकीदासजी, वावा हरिहरप्रसादजी एवं प्रायः सभी आधुनिक टीकाकारोंने 'घटजोनी, से श्रीअगस्त्यजीकाही अर्थ लिया है।

श्रीजानकीशरण नेहलताजीने पं० शिवलालपाठकजीके अर्थपर जो उपर्युक्त विचार मानसपीयूप प्रथम संस्करणमें प्रकट किये गए थे उनका खण्डन इस प्रकार किया है—"इसपर मेरा निजी सिद्धांत है कि एक धर्मके हजारों दृष्टांत आए हैं। परंतु 'वाल्मीकि नारद घटयोनी' इस चौपाईमें सारे उदाहरणोंके घटानेसे नहीं वनेगा। इस प्रसङ्ग में दोके उदाहरणसे क्रमालङ्कार होता है और अर्थभी सरल प्रकारसे लगता है। शब्दोंकी खींचखाँच नहीं करनी पड़ती । अगस्तजीका अर्थ नहीं करनेसे कुछ विगड़ता नहीं है ।...घटजोनीका अर्थ अगस्तजीका एक स्थलपर आया है—'गोपद जल बूड़हिं घटजोनी ॥' अब इस प्रमाणसे 'घटयोनी' का अर्थ दूसरा करना मना है । इसपर मैं सहमत नहीं हूँ ।....मानसमें हरि शब्दका अर्थ सैकड़ों स्थलोंपर विष्णु भगवान् है और किष्किधाकांडमें, 'कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा'

में 'हरि' का अर्थ वानर कैसे किया जाता है ? मानसभरमें एकही स्थानपर वानरका अर्थ लगता है। पुनि 'हरि हित सहित राम जब जोहे' में 'हरि' का अर्थ 'घोड़ा' यहभी एकही स्थानपर है। इसी प्रकार 'घटयोनी' का अर्थ एक स्थानपर अगस्तजीका लगानेपर दूसरे स्थानमें उसीका अर्थ (नीच योनि) अलग्न नहीं है।.... वाल्मीकि और नारदजीके इतिहाससे स्पष्ट है कि दोनों पापाचरण करते हुये सत्सङ्गद्वारा महात्मा वन गए परंतु अगस्तजीके इतिहाससे यह वात प्रगट नहीं होती।...अगस्तजीका कौन भ्रष्टाचरण प्रसिद्ध था जिससे सुधरना माना जाय। जैसे वसिष्ठजीका सत्सङ्ग अगस्त्यजीको हुआ उसी प्रकार अगस्तजीका सत्संग वसिष्ठजीको हुआ तो वसिष्ठजीका सुधरनाभी कहा जा सकता है। अगस्तजीकी उत्पत्ति वरुणतेजसे हुई। जन्मभी उत्तम और पश्चात् आचरणका भ्रष्ट होनाभी वर्णित नहीं। इससे उपर्युक्त दोनों (वाल्मीकि, नारद) ही के सुधरनेकी संगति ठीक बैठती है।'

नोट—६ शब्दसागरमें लिखा है कि 'घट' शब्द विशेषण होकर 'वढ़' के साथही अधिकतर होता है। अकेले इसका क्रियावत् प्रयोग 'घटकर' ही होता है, जैसे वह कपड़ा इससे कुछ घटकर है। (श. सा.)। 'घट' इस अर्थमें हिंदी शब्द ही है, संस्कृत नहीं। 'घटयोनि' 'घटयोनिज' समास इस अर्थमें वन नहीं सकता। घटज, कुम्भज, घटसम्भव और घटजोनी श्रीअगस्त्यजीके ये नाम ग्रंथकारने स्वयं अपने सभी ग्रंथोंमें प्रयुक्त किये हैं। वाल्मीकिजी नीच योनिमें उत्पन्न नहीं हुए। वे प्रचेता ऋषि अथवा वल्मीकिजीके पुत्र थे। नारदजी दासीपुत्रमात्र थे; दुराचारी वा 'पापाचरण' वाले न थे जैसा भागवतसे स्पष्ट है। श्रीवसिष्ठजी पूर्वसेही वड़े महात्मा थे और ब्रह्माजीके पुत्रही थे। निमिके शापोद्धारके लिये ब्रह्माने उन्हें अयोनिज होनेका उपाय वताया था। अगस्त्यजी पूर्व क्या थे किसी टीकाकारनेभी इसपर प्रकाश नहीं डाला है। हमने जो खोज अवतक की है वह आगे दी गई है। ग्रंथकार आगे यहभी कहते हैं कि 'जलचर थलचर नभचर' में जहाँभी जो वड़ा महात्मा हुआ वह सत्संगसेही। इससेभी अगस्त्यजीभी यदि सत्सङ्गसे वढ़े हों तो आश्चर्य क्या ?

☞ इस दीनका कोई हठ नहीं है। दोनों विचार लिखे हैं। जिसको जो भावे वह ले सकेगा।

वीरकविजी लिखते हैं कि वाल्मीकिजी विलसे, नारदजी दासीसे और अगस्त्यजी घड़ेसे उत्पन्न हैं। इनकी उत्पत्तिके योग्य एकभी कारण पर्याप्त न होना 'चतुर्थ विभावना अलङ्कार' है।

महर्षि वाल्मीकिजी—अध्यात्मरामायण अयोध्याकांड सर्ग ६ (श्लोक ६४ से ८८ तक) में लिखा है कि वाल्मीकिजीने अपना वृत्तांत रामचंद्रजीसे यों कहा था कि हे रघुनंदन ! मैं पूर्वकालमें किरातोंमें वालपनेसे पलकर युवा हुआ, केवल जन्ममात्रसे तो मैं विप्रपुत्र हूँ; शूद्रोंके आचारमें सदा रत रहा। शूद्राखीसे मेरे वहुतसे पुत्र हुये। तदनंतर चोरोंका सङ्ग होनेसे मैं भी चोर हुआ। नित्य ही धनुषवाण लिये जीवोंका घात करता था। एक समय एक भारी वनमें मैंने सात तेजस्वी मुनियोंको आते देखा तो उनके पीछे 'खड़े रहो खड़े रहो' कहता हुआ धाया, मुनियोंने मुझे देखकर पूछा कि 'हे द्विजाधम ! तू क्यों दौड़ा आता है ?' मैंने कहा कि मेरे पुत्र, स्त्री, आदि वहुत हैं, वे भूखे हैं। इसलिये आपके वस्त्रादिक लेने आरहा हूँ। वे विकल न हुये किंतु प्रसन्न मनसे वोले कि तू घर जाकर सवसे एक एक करके पूछ कि जो पाप तूने वटोरा है इसको वे भी घटावेंगे कि नहीं ? मैंने ऐसाही किया; हरएकने यही उत्तर दिया कि हम तुम्हारे पापके भागी नहीं वह पाप तो सव तुझकोही लगेगा। हम तो उससे प्राप्त हुये फलको ही भोगनेवाले हैं।—'पापं तवैवतत्सर्वं वयं तु फलभागिनः। ७४।' ऐसे वचन सुन मेरे मनमें निर्वेद उपजा, अर्थात् खेद और ग्लानि हुई। उससे लोकसे वैराग्य हुआ और मैं फिर मुनियोंके पास गया। उनके दर्शनसे निश्चय करके मेरा अंतःकरण शुद्ध हुआ। मैं दण्डाकार उनके पैरोंपर गिर पड़ा और दीन वचन वोला कि 'हे मुनि श्रेष्ठ ! मैं नरकरूप समुद्रमें आपड़ा हूँ। मेरी रक्षा कीजिये।' मुनि वोले 'उठ उठ,

तेरा कल्याण हो। सज्जनोंका मिलना तुझको सफल हुआ। हम तुझे उपदेश देंगे जिससे तू मोक्ष पावेगा'। मुनि परस्पर विचार करने लगे कि यह अधम है तो क्या, अब शरणमें आया है, रक्षा करनी उचित है। और, फिर मुझे 'मरा' 'मरा' जपनेका उपदेश दिया और कहा कि एकाग्र मनसे इसी ठौर स्थित रहकर जपो, जबतक फिर हम लौट न आवें। यथा, 'इत्युक्त्वा राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्। एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा। ८०।' (अर्थात् हे राम! ऐसा विचारकर उन्होंने आपके नामाक्षरोंको उलटा करके मुझसे कहा कि तू इसी स्थानपर रहकर एकाग्रचित्तसे सदा, 'मरा मरा' जपा कर।) मैंने वैसा ही किया, नाममें तदाकार होगया, देहसुध भूलगई, दीमकने मिट्टीका ढेर देहपर लगा दिया, जिससे वह बाँबी होगई। हजार युग बीतनेपर वे ऋषि फिर आये और कहा कि बाँबीसे निकल। मैं वचन सुनतेही निकल आया। उस समय मुनि बोले कि तू 'वाल्मीकि' नामक मुनीश्वर है, क्योंकि तेरा यह जन्म वल्मीकसे हुआ है। रघुनंदन! उसीके प्रभावसे मैं ऐसा हुआ कि श्रीसीता-अनुज-सहित साक्षात् घर बैठे आपके दर्शन हुये। विशेष दोहा १४ 'बंदौं मुनि पद...' में देखिये।

देवर्षि श्रीनारदजी—इन्होंने अपनी कथा व्यासजीसे इस प्रकार कही है कि 'मैं पूर्वजन्ममें वेदवादी ब्राह्मणोंकी एक दासीका पुत्र था। चातुर्मास्यमें एक जगह रहनेवाले कुछ योगी वहाँ आकर ठहरे। मैं बाल्यावस्थाहीमें उनकी सेवामें लगा दिया गया। बालपनेसेही मैं चंचलतासे रहित, जितेंद्रिय, खेलकूदसे दूर रहनेवाला, आज्ञाकारी, मितभाषी और सेवापरायण था। उन ब्रह्मर्षियोंने मुझपर कृपा करके एक बार अपना उच्छिष्ट सीथ प्रसादी खानेको दिया—'उच्छिष्टलेपाननुमोदितो द्विजैः। सकृत्स्म भुञ्जे तदपास्तकिल्बिषः।' (भा. १. ५. २५); जिसके पानेसे मेरा संपूर्ण पाप नष्ट और चित्त शुद्ध होगया तथा भगवद्धर्ममें रुचि उत्पन्न हो गई। मैं नित्यप्रति भगवत्कथा सुनने लगा जिससे मनोहरकीर्त्तिवाले भगवान्में मेरी रुचि और बुद्धि निश्चल होगई तथा रजोगुण और तमोगुणको नष्ट करनेवाली भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ। जब वे मुनीश्वर वहाँसे जाने लगे तब उन्होंने मुझे अनुरागी, विनीत, निष्पाप, श्रद्धालु, जितेन्द्रिय और अनुयायी जानकर उस गुह्यतम ज्ञानका उपदेश किया जो साक्षात् भगवान्काही कहा हुआ है। 'ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत्साक्षाद्भगवतोदितम्। ५. ३०।' जिससे मैंने भगवान्की मायाका प्रभाव समझा और जिस ज्ञानके प्राप्त होनेपर मनुष्य भगवान्के धामको प्राप्त होता है। (५। २२-३१)।

ज्ञानोपदेश करनेवाले भिक्षुओंके चले जानेपर मैं माताके स्नेहबंधनके निवृत्त होनेकी प्रतीक्षा करता हुआ ब्राह्मणपरिवारमेंही रहा, क्योंकि मेरी अवस्था केवल पाँच वर्षकी थी। एक दिन माताको सर्पने डस लिया और वह मरगई। इसे भगवान्का अनुग्रह समझकर मैं उत्तर दिशाकी ओर चल दिया। अंतमें एक बड़े घोर भयंकर वनमें पहुँचकर नदीके कुण्डमें स्नान-पानकर थकावट मिटाई। फिर एक पीपलके तले बैठकर जैसा सुना था उसी प्रकार परमात्माका ध्यान मनही मन करने लगा। जब अत्यंत उत्कण्ठावश मेरे नेत्रोंसे आँसू बहने लगे तब हृदयमें श्रीहरिका प्रादुर्भाव हुआ—'औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः। भा. १. ६. १७।' थोड़ीही देरमें वह स्वरूप अदृश्य होगया। बहुत प्रयत्न करनेपरभी जब वह दर्शन फिर न हुआ तब मुझे व्याकुल देख आकाशवाणी हुई कि 'तुम्हारा अनुराग बढ़ानेकेलिये तुमको एक बार यह रूप दिखला दिया गया। इस जन्ममें अब तुम मुझे नहीं देख सकते। इस निंद्य शरीरको छोड़कर तुम मेरे निज जन होगे, तुम्हारी बुद्धि कभी नष्ट न होगी।...तत्पश्चात् मैं भगवान्के नाम, लीला आदिका कीर्त्तन स्मरण करता कालकी प्रतीक्षा करता हुआ पृथिवीतलपर विचरने लगा। काल पाकर शरीर छूट गया। कल्पांत होनेपर ब्रह्माजीके श्वासद्वारा मैं उनके हृदयमें प्रविष्ट हुआ। फिर सृष्टि होनेपर मरीचि आदिके साथ मैंभी ब्रह्माजीका

मानस पुत्र हुआ। भगवान्‌की कृपासे मेरी अव्याहत गति है। भगवान्‌की दी हुई वीणाको वजाकर हरिगुण गाता हुआ सम्पूर्ण लोकोंमें विचरता हूँ। चरित गाते समय भगवान्‌का वरावर दर्शन होता है। ये मेरे जन्म कर्म आदिका रहस्य है (भा. १. ५-६)।

महर्षि श्रीअगस्त्यजी—प्राचीन किसी समयमें इन्द्रने वायु और अग्निदेवको दैत्योंका नाश करनेकी आज्ञा दी। आज्ञानुसार इन्होंने बहुतसे दैत्योंको भस्म कर डाला, कुछ जाकर समुद्रमें छिप रहे। तव इन्होंने उनको अशक्त समझकर उन दैत्योंकी उपेक्षा की। वे दैत्य दिनमें समुद्रमें छिपे रहते और रात्रिमें निकल-कर देवता, ऋषि, मुनि, मनुष्यादिका नाश किया करते थे। तव इन्द्रने फिर अग्नि और वायुको आज्ञा दी कि समुद्रको शोषण कर लो। ऐसा करनेमें करोड़ों जीवोंका नाश देख, इस आज्ञाको अनुचित जानकर उन्होंने समुद्रका शोषण करना स्वीकार न किया। इन्द्रने कहा कि देवता धर्म अधर्मके भागी नहीं होते, वे वही करते हैं जिससे जीवोंका कल्याण हो, तुम्हीं दोनों ज्ञान छाँटते हो, अतः तुम दोनों एक मनुष्यका रूप धारणकर पृथ्वीपर धर्मार्थशास्त्ररहित योनिसे जन्म लेकर मुनियोंकी वृत्ति धारण करते हुए जाकर रहो और जबतक तुम वहाँ चुल्लूसे समुद्रको न पीकर सुखा लोगे तवतक तुम्हें मर्त्यलोकमेंही रहना पड़ेगा। इन्द्रका शाप होतेही उनका पतन हुआ और उन्होंने मर्त्यलोकमें आकर जन्म लिया।

उन्हीं दिनोंकी बात है कि उर्वशी मित्रके यहाँ जा रही थी, वे उसको उस दिनके लिये वरण कर चुके थे, रास्तेमें उसे जाते हुये देख उसके रूपपर आसक्त हो वरुणने उसको अपने यहाँ बुलाया तव उसने कहा कि मैं मित्र को वचन दे चुकी हूँ। वरुणने कहा कि वरण शरीरका हुआ है तुम मन मेरेमें लगा दो और शरीरसे वहाँ जाना। उसने वैसाही किया। मित्रको यह पता लगनेपर उन्होंने उर्वशीको शाप दिया कि तुम आजही मर्त्यलोकमें जाकर पुरुरवाकी स्त्री हो जाओ। मित्रने अपना तेज एक घटमें रख दिया और वरुणनेभी उसी घटमें अपना तेज रक्खा। एक समय निमिराजा जब स्त्रियोंके साथ जूआ खेल रहे थे श्रीवसिष्ठजी उनके यहाँ गए। जूएमें आसक्त राजाने गुरुका आदर सत्कार नहीं किया। इससे श्रीवशिष्ठजीने उनको देहरहित होनेका शाप दिया। पता लगनेपर राजाने उनकोभी वैसाही शाप दिया। दोनों शरीररहित होकर ब्रह्माजीके पास गए। उनकी आज्ञानुसार राजा निमिको लोगोंकी पलकोंपर निवास मिला और वसिष्ठजीने उपर्युक्त मित्रावरुणके तेजवाले घटसे आकर जन्म लिया। इधर वायुसहित अग्निदेवभी उसी घटसे वसिष्ठजीके पश्चात्, चतुर्बाहु, अक्षमाला कमंडल धारी अगस्त्यरूपसे उत्पन्न हुए। इसके पश्चात् उन्होंने स्त्रीसहित वानप्रस्थविधानसे मलयपर्वतपर जाकर बड़ी दुष्कर तपस्या की। इस दुष्कर तपस्याके पश्चात् उन्होंने समुद्रको पान कर लिया तव ब्रह्मादिने आकर इनको वरदान दिया। (पद्मपुराण सृष्टिखण्ड अ० २२ श्लोक ३-४८)।

इस कथासे ये बातें ध्वनित होती हैं कि—(१) अग्नि और वायु इन्द्रकी आज्ञामें रहनेवाले सामान्य देवता थे। (२) शापसे मनुष्य हुए। (३) 'मलयस्यैकदेशेतु वैखानस विधानतः। सभार्यः संवृतो विप्रैः स्तपश्चक्रे सुदुष्करम्। ४०।' इस श्लोकसे जान पड़ता है कि जिन ब्राह्मणोंके साथ वे तपश्चर्या करने गए वे अवश्य उच्च कोटिके महर्षि होंगे और उन्हींके सत्सङ्गद्वारा वे तपश्चर्यामें तत्पर होकर ऐसे समर्थ महर्षि हुए कि इन्द्रादिको उनसे आ आ कर अनेक प्रसंगोंके आनेपर सहायताकी प्रार्थना करनी पड़ी। शङ्करजी ऐसे ईश्वर उनके सत्सङ्गको जाते थे। एक वेश्यापर आसक्त होनेपर उसके नामसे जो तेज पात हुआ उससे उत्पत्ति हुई। धर्मार्थशास्त्ररहित योनिसे जिनकी उत्पत्ति हुई, शापद्वारा जो मर्त्यलोकमें उत्पन्न हुए वेही कैसे परम तेजस्वी और देवताओं तथा ऋषियोंसे पूज्य हुए? यह सत्संगका प्रभाव है।

कोई कोई महात्मा अगस्त्यजीके पूर्वजन्मकी कथा इस प्रकार कहते हैं कि किसी समय सप्तर्षियोंके

यज्ञमें अग्निदेव साक्षात् प्रगट हुए तब ऋषियोंकी स्त्रियोंको देख वे काममोहित हो गए। अनुचित समझकर उन्होंने अपने मनको बहुत रोका पर वह वशमें न हुआ। तब वे वनमें चलेगए और वहाँ जानेपर मूर्च्छित होगए। जब सप्तर्षियोंको यह बात मालूम हुई तब उन्होंने अग्निदेवको शाप दिया कि जाकर मर्त्यलोकमें मनुष्य योनिको प्राप्त हो। वही कुम्भसे अगस्त्य रूपसे प्रकट हुए। परन्तु बहुत खोज करने पर भी यह कथा हमको अबतक नहीं मिली। केवल इस ढंगकी एक कथा कार्त्तिकेयजन्मप्रसंगमें महाभारत वनपर्व अ० २२४-२२६ और स्कंदपुराण माहेश्वरखण्डांतर्गत कौमारखण्ड अ० २९ में मिलती है। परन्तु अग्निको शापका दिया जाना और तदनुसार अगस्त्यरूपसे जन्म होनेकी कथा इन प्रसंगोंमें नहीं मिलती।

वालमीकीयरामायण उत्तरकाण्डमें श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणजीसे यह कथा यों कही है कि "राजानिमिके शापसे वशिष्ठजी देहरहित हुए तब उन्होंने ब्रह्माजी से जाकर प्रार्थना की कि देहहीनकी संसारी क्रिया नष्ट हो जाती है। 'बिनु तनु वेद भजन नहिं बरना'। हमको देह दीजिए। तब ब्रह्माजीने आज्ञा दी कि मित्रावरुणसे जो तेज जायमान है उसमें जाकर तुम निवेश करो, तुम अयोनी रहोगे। वसिष्ठजीने ऐसा ही किया। एक समयकी बात है कि उर्वशी षोडश शृंगार किये हुये मित्रके आश्रमको जा रही थी। वरुण उसे देखकर कामातुर हुये और उससे भोगकी इच्छा प्रगट की। वह बोली कि मैं मित्रसे प्रथमही स्वीकृत हो चुकी हूँ। वरुण कामातुर हो बोले कि हम अपना तेज इस देवताओंसे नि मत कुम्भमें तुम्हारे नामसे स्थापित करते हैं, यह सुन उर्वशी प्रसन्न हो बोली कि ऐसाही हो, हमारा हृदय और भाव आपमें रहेगा और यह शरीर मित्रहीका रहेगा। वरुणने अपने अग्निसमान तेज वाले रेतको कुम्भमें स्थापित किया। इस कुम्भसे पहले अगस्त्यजी उत्पन्न हुये फिर वशिष्ठजी।" कुम्भमें वशिष्ठजीका सत्संग अगस्त्यजीको हुआ। वह घट कहाँ और कैसे निर्माण हुआ उसकी कथा यह है कि मित्रावरुणने एक बार यज्ञ किया जिसमें अनेकों देवता ऋषि मुनि सिद्ध एकत्रित हुये थे; सबने मिलकर घट स्थापित किया और उस घटमें अपनी अपनी शक्तियाँ तेज या प्रताप स्थापित किया था।

नोट—४ 'वालमीक नारद घटजोनी' इति। 'घटजोनी' का अर्थ 'महर्षि अगस्त्यजी' करके ऊपर अगस्त्य जीकी कथा यत्किंचित् जो अबतक मालूम हुई वह दी गई। उन्होंने कथा अपनी किससे कही ? इसका उल्लेख नाना पुराण निगमागममेंसे किसमें है, इसका पता मालूम नहीं है। इसी तरह भानुप्रताप आदिकी कथाओंकाभी ठीक पता अभीतक नहीं मिला है।

जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना। ४।
मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई। ५।
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपाऊ। ६।

शब्दार्थ—जलचर=जलमें विचरने या रहनेवाले। थलचर=पृथ्वीपर रहनेवाले। नभचर=आकाशमें विचरनेवाले। 'नभचर' का प्रयोग इतने अर्थोंमें होता है, 'मेघे, वाते, ग्रहे देवे, राक्षसे, व्योमचारिणी। विहंगमे विद्याधरेऽपि च'। जड़ चेतन='जड़ चेतन जग जीव....' दोहा ७ में देखिये। जहान (फा०)=संसार। गति=शुभ गति; मोक्ष; परमपद। भूति=वैभव, वृद्धि, सिद्धियाँ। भलाई=कल्याण, सौभाग्य, अच्छाई, श्रेष्ठता। जानब=जानिये।

अर्थ—जलमें रहनेवाले, पृथ्वीपर चलनेवाले और आकाश में विचरनेवाले अनेक प्रकारके जड़ या चेतन जो भी जीव संसारमें हैं। ४। (उनमेंसे) जब कभी, जिस किसी यत्नसे, यहाँ कहीं भी

जिसने बुद्धि कीर्त्ति, सद्गति, ऐश्वर्य, या भलाई वड़प्पन पाया है । ५ । वह सब सत्संगकाही प्रभाव जानना चाहिये । लोकमें और वेदोंमेंभी (इनकी प्राप्तिका) दूसरा उपाय है ही नहीं । ६ ।

नोट—१ 'जलचर थलचर....सतसंग प्रभाऊ' कहकर जनाया कि श्रीवाल्मीकिजी, नारदजी और अगस्त्यजी तो मनुष्य थे, जो उसी देहमें सत्संगसे सुधर गए । पर सत्संगतिकी महिमा इससेभी अधिक है । उसका प्रभाव पशु, पक्षी, एवं अन्य चेतन जीवही पर नहीं वरंच जड़ पदार्थोंपरभी पड़ता है; वेभी सुधरते आये हैं । ब्रह्मांडभरमें जोभी सुधरा वह सत्संगसेही सुधरा । अतएव जिसेभी मति कीर्त्ति आदिकी चाह हो उसके लिये इनकी प्राप्तिका एक मात्र सुलभ साधन यही है ।

टिप्पणी—१ 'जलचर थलचर...' इति । (क) सृष्टिके आदिमें प्रथम जल है, तब थल, फिर नभ, जड़ और चेतन । उसी क्रमसे यहाँ लिखा गया । (ख) 'जे जड़ चेतन...' अर्थात् ये ही तीन नहीं, वरंच जहानभर, जो बना सत्संगसे बना । (यहाँ जड़ चेतन 'जलचर थलचर नभचर' तीनोंके विशेषण हैं)

नोट—२ जल, थल और नभमें रहनेवाले जड़, चेतन जिन्होंने 'मति, कीर्त्ति....' पाई वे अनेक हैं । कुछके नाम उदाहरणार्थ यहाँ लिखे जाते हैं ।

(क) जलचरमें—(१) जड़ जैसे मैनाकपर्वत । इसे इंद्रके भयसे बचानेके लिये पवनदेवने समुद्रमें लाकर छिपा दिया था, सो पूर्व पवनदेवके सङ्गसे और फिर समुद्रके संगसे उसे 'सुमति' उपजी कि पवनसुत श्रीहनुमान्जीको विश्राम दे ।

(२) चेतन जैसे मकरी, ग्राह, राघवमत्स्य, और सेतुबंधन होनेपर समुद्रके समस्त जलचरोंको सुमति उपजी । मकरीको श्रीहनुमान्जीके स्पर्श एवं दर्शनसे सुमति उपजी तब उसने कालनेमिका कपट बता दिया । 'मुनि न होइ यह निसिचर घोरा' । जिससे उसे लोकमें भलाई मिली । और दिव्यरूप धर वह देवलोकको गई, यह सद्गति मिली । 'ग्राह' को गजेन्द्र के संग से सुमति उपजी कि इसका पैर पकड़नेसे मेरा उद्धार हो जायगा और सद्गति मिली तथा गजेंद्रके साथ साथ उसकाभी नाम विख्यात हुआ । राघवमत्स्यको, मंजूषामें कौशल्याजीको देख, सुमति उपजी कि इसके पुत्रसे श्रीरामजीका अवतार होगा जिससे रावणादिका नाश होकर जीवोंको सुख होगा, जिससे उसने उन्हें कोशलराजको दे दिया । सेतुके ढिग श्रीरामलक्ष्मणजीका दर्शन पानेसे जलचर आपसका वैर भूल गए और सेनाको पार उतारनेको पुलसरीखा बन गए । यथा, 'देखन कहुँ प्रभु करुनाकंदा । प्रगट भए सब जलचर बृंदा ।।....प्रभुहि बिलोकहिं टरहिं न टारे ।....। अपर जलचरन्हि ऊपर चढ़ि चढ़ि पारहि जाहिं । ६. ४ ।'

(ख) थलचरमें— (१) जड़ जैसे वृक्ष, वन, पर्वत, तृण आदि । श्रीरामजीका दर्शन पा सुमति उपजी और वे श्रीरामजी तथा उनके भक्तोंके लिये उपकारमें तत्पर हुए तथा उनके सङ्गसे उन्होंने कीर्त्ति पाई । यथा, 'सब तरु फरे रामहित लागी । रितु अरु कुरितु काल गति त्यागी । ६. ५ ।,' मंगलरूप भयउ बन तब ते । कीन्ह निवास रमापति जब ते । ४. १३ ।,' 'धन्य भूमि बन पंथ पहारा । जहँजहँ नाथ पाउँ तुम्ह धारा । २. १३६ ।', 'उदय अस्त गिरि अरु कैलासू ।···चित्रकूट जस गावहिं तेते ।। बिधि मुदित मन सुखु न समाई । श्रमबिनु बिपुल बड़ाई पाई । २. १३७ ।' गुरु अगस्त्यजीके सङ्गका यह फल विंध्याचलको मिला । 'परसि चरनरज अचर सुखारी । भये परम पद के अधिकारी । २. १३८ ।'

(२) चेतन, जैसे शबरी, कोल, किरात, भील, पशु, वानर, विभीषण, शुक आदि । शबरीजीको मतङ्गऋषिके सङ्गसे श्रीरामदर्शनकी लालसा, पंपासरको शुद्ध करनेकी कीर्त्ति और श्रीरामजीके दर्शन तथा योगियोंकी दुर्लभ गति एवं प्रेमपहुनाईका यश मिला । कोल किरात भील वनवासी जीव श्रीराम

जीके सङ्गसे हिंसा व्यापार छोड़ प्रेम करने लगे । यथा, 'करि केहरि कपि कोल कुरंगा । विगत बैर बिचरहिं सब संगा । २. १३८ ।', 'धन्य विहग मृग काननचारी । सफल जनम भए तुम्हहिं निहारी । २. १३६ ।' सुग्रीवजीको श्रीहनुमान्‌जीके संगसे श्रीरामजीके सहायक, सखा, पंचम भ्राता इत्यादि होनेकी कीर्त्ति और सद्‌गति मिली। समस्त वानरभालुओंको अविचल यश और सद्‌गति मिली । विभीषण और शुक सारन निशाचरवंशोद्भव भक्तोंकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं । सभीको कीर्ति, सङ्गति और सुमति मिली ।

(ख) नभचरमें:—(१) जड़, जैसे मेघ, वायु आदि । इन्होंने भक्तराज श्रीभरतजीका दर्शनरूपी सङ्ग पाया । यथा, 'किये जाहिं छाया जलद सुखद वहइ वर वात । तस मगु भएउ न राम कहं जस भा भरतहिं जात । २. २१६ । (२) चेतन, जैसे संपातीको चंद्रमा ऋषिके सङ्गसे सुमति उपजी । यथा, 'मुनि एक नाम चंद्रमा ओही ।....वहु प्रकार तेहि ज्ञान सुनावा । देहजनित अभिमान छुड़ावा ।...तिन्हहि देखाइ देहेसु तैं सीता ॥ ....। ४. २८ ।' जिससे उसने वानरोंका उत्साह वढ़ाया, आशीर्वादसे सहायता की, श्रीरामजीके दर्शन कीर्ति और सद्‌गति पाई । यथा, 'राम हृदय धरि करहु उपाई । ४. २६ ।', 'वचन सहाइ करवि मैं पैहहु खोजहु जाहि। ४. २७। इसी तरह भुशुण्डिजीको विप्र और लोमशके सङ्गसे सब कुछ मिला ।

नोट—३ 'जड़ चेतन' को 'जलचर, थलचर, नभचर, के विशेषण मानकर उपर्युक्त भाव एवं उदाहरण दिये गए । मुं. रोशनलालका मत है कि जलचर, थलचर, नभचर, जड़ और चेतन ये पांच हैं, उसी तरह मति, कीरति, गति, भूति और भलाईभी पाँच हैं । अतः इन चौपाइयोंकी एकवाक्यता है । क्रमसे एकके साथ एकको लेकर पहली अर्धाली 'जलचर...' का अन्वय अगलीके साथ करनेसे यह अर्थ होता है कि 'जलचरने मति, थलचरने कीर्त्ति, नभचरने गति, जड़ने भूति और चेतनने भलाई पाई ।' राघवमत्स्यको सुमति उपजी, गजेन्द्रको कीर्त्ति मिली । उसका गजेन्द्रमोक्षस्तोत्र प्रसिद्ध है, जटायुको सद्‌गति मिली, जड़ अहल्या अपने पतिकी विभूतिको प्राप्त हुई और श्रीसुग्रीव, श्रीहनुमान्‌जी आदि वानरोंको इतनी भलाई प्राप्त हुई कि भगवान्‌ने अपनेको उनका ऋणी माना । इस तरह यथासंख्या क्रमालङ्कार है । [गजेन्द्र पूर्व जन्ममें इन्द्रद्युम्न नामक राजा था । अगस्त्यजीके शापसे गजेन्द्र हुआ, हरिके दर्शन स्पर्श से उसका अज्ञान दूर हुआ और मुक्ति पाई 'भगवत्स्पर्शादिमुक्तोऽज्ञानवन्धनात् ।' (भा. ८. ४) । जटायु पूर्व दशरथमहाराजका सखा था । शनिश्चरके युद्धमें जटायुजीने श्रीदशरथमहाराजकी सहायता की थी । पूर्व सङ्गके प्रभावसे तथा श्रीसीतारामजीके दर्शन सङ्गके प्रभावसे उसमें श्रीसीताजीकी रक्षा करनेकी बुद्धि हुई और अपूर्व अलौकिक गति पाई] किसीने इसपर यह दोहा कहा है 'जलचर थलचर ग्राह गज, नभचर कहे जटायु । जड़ मुनितिय चेतन कही एक विभीषण राउ ॥'

टिप्पणी—२ ऊपर यह दिखा आए कि सबोंने 'मति, कीर्त्ति, गति, भूति, भलाई' सत्सङ्गसे पाई । मति, कीर्त्ति, गतिका क्रमभी साभिप्राय है । सत्संगमें विवेककी प्राप्ति मुख्य है । यथा, 'विनु सतसंग बिवेक न होई' यही बात आगे कहते हैं । विवेक बुद्धिमें होता है । इसीसे प्रथम 'मति' का होना कहा, पीछे कीर्त्तिका और तब गतिका होना कहा ।

३—इस चौपाईका जोड़ सुन्दरकांडमें है । यथा, 'जो आपन चाहइ कल्याना । सुजस सुमति सुभगति सुख नाना । सो परनारि लिलार गोसाई । तजउ चउथि के चंद कि नाई । ५. ३८ ।' दोनों जगह एकही पाँच वस्तुओंका वर्णन हुआ है ।

मति, कीरति, गति, भूति, भलाई ।	'जलचर थलचर' से 'जहाना' तक ।
सुमति, सुजस, सुभगति, सुख, कल्यान ।	जो चाहइ ।

उपर्युक्त मिलानसे स्पष्ट है कि वहाँ 'जो चाहइ' जो कहा है, उसीको यहाँ 'जलचर....जहाना' कहा है और जो वहाँ सुयश, सुमति आदि कहा है वहीं यहाँ मति, कीर्ति आदि कहा है । भूति=सुख । भलाई=

कल्याण। 'जो चाहइ' से सूचित करते हैं कि प्रत्येक जीवको ये पाँचों पदार्थ सत्संगसे प्राप्त हो सकते हैं। यह बात इस कांडमें सन्तसङ्गके प्रसङ्गमें दिखाई। और, कामी रावणके प्रसङ्गमें इन्हीं पाँचोंका 'परनारिलिलार' के सङ्गसे नष्ट होना दिखाया है। कामी पुरुषकी मति, कीर्त्ति आदि सबका नाश हो जाता है। मतिका नाश, यथा, 'बुधि बल सील सत्य सब मीना। बंसी सम त्रिय कहहिं प्रबीना। ३. ४४।'; कीर्त्तिका नाश, यथा 'अकलंकता कि कामी लहई। १. २ ६७।', 'कामी पुनि कि रहहिं अकलंका। ७. ११२।'; गतिका नाश, यथा, 'सुभगति पाव कि पर त्रिय गामी। ७. ११२।'; भूतिका नाश, यथा, 'धरम सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहि दहइ सुखमंदा। ३. ४४।'; भलाईका नाश, यथा, 'अवगुनमूल सूलप्रद प्रमदा सब दुखखानि। ३. ४४।' सारांश यह कि सुमति, कीर्त्ति आदिका कुसंगसे नष्ट होना कहकर उन्हींका सुसंगसे प्राप्त होना सूचित किया है।

बिनु सतसंग बिबेक न होई। राम कृपा बिनु सुलभ न सोई। ७।
सतसंगत मुद मंगल मूला। सोइ फल सिधि सब साधन फूला। ८।

अर्थ—विना सत्संगके विवेक नहीं होता, और वह (सत्संग) श्रीरामजीकी कृपाके विना सहजमें प्राप्त नहीं होता। ७। सत्संगति आनंद मंगलकी जड़ है। उसकी सिद्धि (प्राप्ति) फल है [वा, वही (सत्संगतिही) सिद्धिरूप फल है। (मा. प्र.)]* और सब साधन फूल हैं। ८।

टिप्पणी—१ (क) यदि कोई कहे कि 'जब सत्संगसे 'मति कीर्त्ति आदि सब मिलती हैं तो सब सत्संग क्यों नहीं करते?' तो उसका उत्तर देते हैं कि 'रामकृपा०'। अर्थात् श्रीरामकृपाही सत्संगका साधन है, नहीं तो सभी कर लें। यथा, 'जब द्रवै दीनदयाल राघव साधुसंगति पाइये' (विनय १३६), 'बिनु हरिकृपा मिलहिं नहिं संता' (सुं० ७), 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। रामकृपा करि चितवहिं जेही। ७. ६९।', 'सतसंगति दुरलभ संसारा....निज जन जानि राम मोहिं संतसमागम दीन' (उ० १२३) (रा० प्र०)।'

२ पहले कहा कि 'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा' २ (१२), अब कहते हैं कि 'रामकृपा बिनु सुलभ न सोई'। प्रथम कहा कि 'मति कीरति' सब सत्संगसे होते हैं, अन्य उपायसे नहीं; और, अब कहते हैं कि ये सब ज्ञानसे भी होते हैं। भाव यह है कि रामकृपासे सत्संग, सत्संगसे विवेक और विवेकसे गति है। यथा, 'बिनु बिबेक संसार घोर निधि पार न पावइ कोई।

नोट—१ यदि कोई कहे कि मोक्षके लिए तो वेदोंमें विवेकका होना आवश्यक कहा है, तो उसपर ग्रंथकार कहते हैं कि मोक्षका कारण जो विवेक है, वह सत्संग बिना नहीं हो सकता। 'रामकृपा बिनु०' का भाव यह कि भगवत्कृपा बिना सज्जनोंके वाक्योंमें रुचि और विश्वास नहीं होता। (पं.)। भाव यह कि 'नाना साधनोंके और फल मिलते हैं, सत्संगतिलाभ केवल राम-अनुग्रहहीके अधीन है।'

अलङ्कार—सत्संग कारण, विवेक कार्य और फिर सत्संग कार्य और रामकृपा उसका कारण कहा गया। अतः 'द्वितीय कारण माला अलङ्कार' हुआ। यथा, 'कारजको कारण जु सो कारज है जाय। कारणमाला ताहिको कहैं सकल कविराय।' (अ. मं.)।

नोट—जब 'सिद्धि' का अर्थ प्राप्ति' लेते हैं तब 'सोइ फल सिधि....फूला' का भाव यह है कि 'मुदमंगल

* अर्थांतर—३ 'वही सत्संगति सब-सिद्धिका फल है' (नंगे परमहंसजी)। ४ 'वही सिद्ध फल है' (अर्थात् सिद्ध अवस्थाका सत्संग फलरूप है। वै.। वीरकवि। मा. म.)। ५ (यावत् भगवत्संबंधी) सिद्धियाँ (हैं) वही फल हैं। (बाबा हरिदासजी)।

रूपी वृक्षमें जब जप-तप, विप्रपदपूजा आदि अनेक साधनरूपी फूल लगते हैं तब सत्संग-प्राप्तिरूपी फल मिलता है।' अर्थात् जन्म पाकर यदि सत्संग न मिला तो जन्म व्यर्थ गया। इसीसे ग्रंथकारने सिद्धिको फल कहा और साधनको फूल। (पं., सू. प्र. मिश्र)।

मानस और विनयमें गोस्वामीजीने 'सत्संग' शब्दसे क्या भाव सूचित किया है, यह उनके उद्धरणोंसेही जाना जा सकता है। अतएव कुछ उद्धरण दिये जाते हैं। (क) वे विनयमें प्रार्थना करते हैं 'देहि सतसंग निज अंग श्रीरंग भवभंगकारन सरनसोकहारी। जे तु भवदंघ्रिपल्लवसमाश्रित सदा भक्तिरत विगत संसय मुरारी। ५७।' इसके अन्तमें कहते हैं 'यत्र कुत्रापि मम जन्म निजकर्मवस भ्रमत जग जोनि संकट अनेकम्। तत्र त्वद्भक्ति सज्जन समागम सदा भवतु मे राम विश्राममेकम्॥....संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मति विमल कह दास तुलसी॥' इससे 'सत्संग' का अर्थ 'सन्तों सज्जनोंका संग वा समागम' स्वयं कविने कर दिया है।

(ख)—विनय १३६ में कहते हैं 'बिनु सतसंग भग त नहिं होई। ते तव मिलैं द्रवैं जव सोई॥ जब द्रवै दीनदयाल राघव साधुसंगति पाइए। जेहि दरसपरस समागमादिक पापरासि नसाइए॥ जिन्ह के मिले सुखदुख समान अमानतादिक गुन भए।....'। यहाँभी 'सत्संग' से सन्तोंका संग, उनका दर्शन, स्पर्श और समागम ही बताया।

(ग)—मानसमें श्रीहनुमानजीका दर्शन और स्पर्श आदि होनेपर लङ्किनीने कहा है 'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अंग। तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सतसंग।' इसके पश्चात् उत्तरकांड-में जब श्रीसनकादिजी भगवान् श्रीरामजीके दर्शनार्थ उपवनमें आए हैं, उस समय भगवान् कहते हैं 'आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा॥ बड़े भाग पाइअ सतसंगा। बिनहि प्रयास होइ भवभंगा॥ संतसंग अपवर्ग कर कामी भव कर पंथ।' यहाँ ऋषियोंके दर्शनमात्रकोही 'सत्संग' कहा है, आगे चलकर गरुड़जीको मोह होनेपर जब उन्हें नारदजी ब्रह्माजीके और उनने शङ्करजीके पास भेजा तब श्रीशिवजी कहते हैं—'मिलेहु गरुड़ मारग महं मोही। कवनि भांति समुझावौं तोही। तबहिं होइ सब संशय भंगा। जब बहु काल करिय सतसंगा। सुनिय तहाँ हरिकथा सुहाई।....बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।' यहाँ 'सत्संग' का अर्थ सन्तोंका साथ, उनके साथ रहकर हरिकथा आदि श्रवण करना। गरुड़जीको देवर्षि नारद जैसे सन्तका तथा ब्रह्माजी और शङ्करजीका दर्शन हुआ, पर दर्शनमात्रसे क्लेश न गया। हाँ, इन्होंने मार्ग बताया और उससे मोह छूट गया। भुशुण्डिजीके आश्रमके दर्शनसे मोह दूर हो गया। बहुत कालके समागमके अन्तमें भुशुंडिजी कहते हैं—'कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा।....पूछेहु रामकथा अति पावनि। सुक सनकादि संभु मन भावनि॥ सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा॥....आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि मोहि प्रभु संत समागम दीन्ह॥' इससे श्रीरामकथा आदिकी चर्चा संतमिलन होनेपर होनेको 'सत्संगति' कहा है। क्योंकि संवादके अंतमें 'आजु' और 'सन्तसमागम' शब्द कहे गहे गए हैं। यहाँ गरुड़जीका समागम सन्तसमागम कहा गया। और गरुड़जी भुशुंडिजीको सन्त कहते हैं। गरुड़जीके चले जानेके बाद श्रीशिवजी कहते हैं 'गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन।' अर्थात् सन्तमिलन और उनके दर्शन कथा वार्ता आदिका उनसे श्रवण इत्यादि, 'समागम' है। यही अर्थ श्रीयाज्ञवल्क्यजीके शब्दोंसे सिद्ध होता है। वे श्रीशिवचरितकथनके पश्चात् कहते हैं 'सुनु मुनि आजु समागम तोरे। कहि न जाइ जस सुख मन मोरे।' स्मरण रहे कि सन्त जिनका दर्शनमात्र सत्संग कहा गया है, वे श्रीहनुमान्जी, श्रीभुशुण्डिजी सरीखे सन्तहैं, जिनमें वे लक्षण हों जो मानसमें कहे गए हैं। सन्त भगवंतमें भेद नहीं है। सन्त विना भगवत्कृपाके नहीं मिलते और भगवान् विना सन्तकृपाके नहीं मिलते।

☞ सत्संगकी सिद्धावस्थाका फलभी सत्संग है; इसीलिये तो भक्त सदा सन्तसमागम चाहते हैं।

यथा,—'यत्र कुत्रापि ममजन्म निज कर्मबस भ्रमत जगजोनि संकटमनेकं। तत्र त्वद्भक्ति सज्जनसमागम सदा भवतु मे रामबिश्राममेकं' (विनय ५७), 'बार बार बर मांगउ हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सत्संग।' (७. १४)।

टिप्पणी—३ इस प्रसंगमें 'मुदमंगल' पद तीन बार दिया गया है। यथा, 'मुदमंगलमय संतसमाजू' २ (७), 'सुनत सकल मुदमंगल देनी २।१०।' और 'सतसंगति मुदमंगलमूला ३।८।' ऐसा करके सन्तोंके सम्बंधमें तीन बातें सूचित की हैं। सन्त मुदमंगलके स्वरूप हैं। सुननेवालेको मंगलमोद देते हैं और सन्तका संग मुदमंगलका मूलक अर्थात् उत्पन्न करनेवाला है।

नोट—२ बाबा जानकीदासजी 'बिनु सतसंग बिबेक न होई' का अर्थ यह करते हैं कि, 'विना सत्संग (उपर्युक्त बातका) विवेक नहीं होता।' अर्थात् जो ऊपर कहा है कि मति कीर्त्ति आदि पाँचों सत्संगके प्रभावसे मिलते हैं यह ज्ञान (इसका जानना) भी सत्संगसेही होता है। अर्थात् सत्संगका प्रभाव सत्संगसेही जाना जाता है।

नोट—३ 'सतसंगत मुद मंगल मूला।....' इति। (क) 'मूल' कहनेका भाव यह है कि सत्संग जड़ है, मुदमंगल वृक्ष है। जैसे विना जड़के वृक्ष नहीं रह सकता, वैसेही विना सत्संगके मुदमंगल नहीं रह सकते। वृक्षमें फूल और फल होते हैं। यहाँ सब साधन फूल हैं और साधनों से जो सत्संग प्राप्त हुआ वही फल है। (ख) यहाँ मूल और फल दोनोंको एकही बताकर दिखाया कि मूल और फलका सम्बंध है। यही जड़ है और यही फल है। देखिए, परिपक्व फल (बीज) पृथ्वीमें बोया जाता है। तब वह जड़रूपमें परिणत हो जाता है। उसीसे फिर वृक्ष, फूल और फल होते हैं। फल जब परिपक्व हो जाता है तब वही बीज होता है। (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ सत्संगको दो कार्योंका मूल कहा। एक तो विवेकका, दूसरे मुदमंगल का। 'मूला' शब्दसे 'विवेक' और 'मुदमंगल' दोनोंको वृक्षरूप बताया। विवेकरूपी वृक्षके सर्वाङ्ग ये हैं। सिद्ध अवस्थाका सत्संग फलरूप है जो भूमिमें बोये जानेसे मूल होकर सब वृक्ष हो जाता है। यहाँ 'सुमति' भूमि है। सत्संग उपदेश बीज मूल अंकुर है। शम दम दोनों दल हैं। श्रद्धा फुनगी है। उपराम, तितिक्षा बढ़ना है। समाधान हरियाली है। विवेक वृक्ष है, वैराग्य उसकी सेवा (शाखा ?) है। मुमुक्षुता फूल हैं, ज्ञान फल है। सत्संग बीज है।

नोट—४ (क) ग्रंथमें सत्संगके दो साधन बताये गए हैं। एक तो यहाँ 'रामकृपा' बताया गया। अन्यत्रभी ऐसाही कहा है, जैसा टिप्पणी १ में लिखा गया है। दूसरा साधन उत्तरकांडमें विप्रपदपूजासे उत्पन्न पुण्यपुंज। यथा, 'पुण्यपुंज बिनु मिलहिं न संता। सतसंगति संसृति कर अंता॥ पुन्य एक जग महँ नहिं दूजा। मन क्रम बचन बिप्रपद पूजा। ७-४५।' (ख) 'सतसंगत मुदमंगलमूला।....' सब साधनोंको फूल कहा है। 'सब' से जनाया कि साधन अनेक हैं जैसे फूल अनेक। बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि जप, तप, आदि सब साधन फूल हैं। फूलसे फल होता है। परिपक्व फल ही पुनः बीज होता है। अतः 'सोई फल सिधि' कहा। (ग) किसी किसीका कहना है कि 'रामकृपा' का सम्बंध 'विवेक' वाले सत्संगसे है अर्थात् रामकृपा जिसका साधन है उस सत्संगका कार्य विवेक है और अन्य (पुण्यपुञ्ज आदि) साधनोंसे जो सत्संग होता है उसका कार्य मुदमंगल है। कोई इसीको इस प्रकार कहते हैं कि सत्संग दो प्रकारका है, एक कृपासाध्य दूसरा साधनसाध्य। 'कृपासाध्यका सदसद्विवेक फल है और साधनसाध्यका मुदमंगल फल है।

इसपर शङ्का होती है कि 'क्या श्रीरामकृपा बिना केवल साधनसे सत्संगकी प्राप्ति हो सकती है? यदि हो सकती है तो फिर मनुष्यको श्रीरामकृपाकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। अतः यही कहना होता है

कि विप्रपदपूजाद्वारा जो सत्संग प्राप्त होता है उसके लिये भी कृपा आवश्यक है। श्रीरामकृपा स्वतंत्र ही बिना साधन करायेभी सत्संग दे सकती है, जैसे विभीषणजीको। और चाहे साधन कराके दे, पर सत्संग प्राप्त कराने वाली रामकृपाही है। दूसरा प्रश्न यह होता है कि 'क्या साधनद्वारा जो सत्संग होगा उससे सद्सद्विवेक न होगा?' मेरी समझमें गोस्वामीजीका तात्पर्य यह नहीं है कि एक सत्संगसे विवेक होगा, दूसरेसे नहीं। तीसरी शङ्का यह होती है कि क्या रामकृपासे विवेक ही होगा, मुदमंगल न होगा?

सठ सुधरहिं सतसंगति पाई। पारस परस[1] कुधात सुहाई। ९।
बिधिबस सुजन कुसंगत परहीं। फनिमनि सम निज गुन अनुसरहीं। १०।

शब्दार्थ—सठ (शठ)=मूर्ख; जड़बुद्धिवाले; लुच्चे। पारस=एक पत्थर जिसके विषयमें प्रसिद्ध है कि यदि लोहा उसमें छुलाया जाय तो सोना हो जाता है। परस (स्पर्श)=छूना। कुधात (कुधातु)=बुरी धातु।=लोहा। सुहाई=सुहावनी, अच्छी वा शोभित हो जाती है। बिधि=दैव। बिधिबस=दैवयोगसे। फनि (फणि)=सर्प। अनुसरना=पीछे वा साथसाथ चलना; अनुकूल आचरण करना; (के) अनुसार चलना; वरतना; अनुसरण करना।

अर्थ—शठ लोग सत्संग पाकर सुधर जाते हैं (जैसे) पारसके स्पर्शसे लोहा शोभित हो जाता है। (सुन्दर सोना बनजाता है)। ९। दैवयोगसे (यदि कभी) सज्जन कुसंगतिमें पड़ जाते हैं (तो वे वहाँ भी) साँपके मणिके समान अपने गुणोंका ही अनुसरण करते हैं। १०।

नोट—१ 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।....' इति। (क) 'सत्संगको सिद्ध फल कहा। अब उसका प्रमाण देते हैं कि साधनहीन केवल संगमात्रसे सिद्धता होती है।' (वै.)। (ख) 'सुधरहिं' का भाव यह है कि उनकी महिमा बढ़ जाती है। इस लोकमें शोभा होती है और परलोकमें गति मिलती है। (पं०)। (ग) 'पारस परस....' इति। चांदी, सोना, ताँबा, पीतल, लोहा आदि सब 'धातु' हैं। इनमें लोहा सबसे कुत्सित और सोना उत्तम समझा जाता है। इसीलिये शठको कुधातुकी उपमा दी। भाव यह है कि जैसे पारसके स्पर्शमात्रसे निकृष्ट धातु उत्तम धातु हो जाती है, वैसेही सत्संगकी प्राप्तिमात्रसे, सत्संगके प्रारंभ होते ही शठ सुधरकर सुन्दर हो जाते हैं। सत्संग पूरा होने पर तो वह पारस ही हो जाता है, दूसरोंको सोना बना देता है। जैसे पारस लोहेको सोना बनाता है, वैसे ही संत शठको सज्जन बना देते हैं। (घ) 'सुहाई' से जनाया कि रूप सुन्दर हो जाता है और मूल्य भी बहुत बढ़ जाता है। इसी तरह शठका आचरण सुन्दर हो जाता है और उसका सर्वत्र मान होने लगता है। वह पवित्र हो जाता है।

स्कन्दपुराण ब्रह्मोत्तरखण्ड अ. १५ में इस विषय पर बहुत सुन्दर लिखा है। यथा, 'यथा चिंतामणिं स्पृष्ट्वा लोहं कांचनतां व्रजेत्। यथा जम्बूनदीं प्राप्य मृत्तिका स्वर्णतां व्रजेत्। १२। यथा मानसमभेत्य वायसा यान्ति हंसताम्। यथामृतं सकृत्पीत्वा नरो देवत्वमाप्नुयात्। १३। तथैव हि महात्मानो दर्शनादिभिः। सद्यः पुनन्त्यघोपेतान्सत्सङ्गो दुर्लभो ह्यतः। १४।' अर्थात् जैसे चिंतामणिके स्पर्शसे लोहा, और जम्बूनदीमें पड़नेसे मिट्टी सोना हो जाती है, जैसे मानससरोवर में रहनेसे कौवा हंस हो जाता है और एक बार अमृत पीनेसे मनुष्य देवत्वको प्राप्त हो जाता है, वैसे ही महात्मा दर्शन स्पर्शन आदिसे पापियोंको तत्काल पवित्र कर देते हैं। अतः सत्संग दुर्लभ है। ये श्लोक इस प्रसङ्गकी जोड़के हैं। यह सभी भाव चौपाइयोंमें हैं।

---

१ परसि—छ०, १७०४। परस—१६६१, १७२१, १७६२।

२ 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई' यह उपमेयवाक्य है और 'पारस परस कुधात सुहाई' उपमानवाक्य है। बिना वाचकपदके दोनों वाक्योंमें बिंब-प्रतिबिंब-भाव झलकता है। अतः यहाँ 'दृष्टांत अलङ्कार' है। मा. मा. कारका मत है कि यहाँ 'अनुगुण' अलङ्कार है। वे भाषाभूषणका प्रमाण देते हैं। 'अनुगुण संगति ते जबै पूरण गुण सरसात। मुक्तमाल हिय हास्य ते अधिक सेत है जाय।' पर औरोंके मतसे यहाँ 'अनुगुण' नहीं है क्योंकि अनुगुणका लक्षण है 'अपने पूर्व गुणका दूसरेके संगसे और अधिक बढ़ना'। यहाँ 'उल्लास' है क्योंकि और वस्तु पारस (सन्तसंग) के गुणसे और वस्तु कुधातु (शठ) गुणवान हुई है। संसर्गसम्बन्धसे यहाँ सत्संगतिका गुण दूसरेमें वर्णन किया गया है। (अ. मं. । वीरकवि)

३ सन्त और पारसमें तो बहुत अंतर है। यथा, 'पारस सन्तहु महं बहु अन्तर जान। वह लोहा सोना करै यह कर आप समान ॥' तो फिर पारसकी उपमा क्यों दीगई ? यह शङ्का उठाकर उसका उत्तर महानुभावोंने यह दिया है कि यहाँ भाव यह है कि (१) जो शठ नहीं हैं, उनको तो अपने समान कर लेते हैं और शठको अति नीचसे अति उत्तम बना देते हैं। (२) सत्संगमें किंचित् भी कपट हुआ तो सुधार न होगा, जैसे लोहे और पारसके बीचमें महीन कागज़ वा कपड़ा भी हुआ तो सोना न होगा। यही भाव वैराग्य सन्दीपिनी दोहा १८ में दर्शित किया गया है। यथा, 'निज संगी निज सम करत, दुर्जन को सुख दून। मलयाचल हैं संत जन तुलसी दोष बिहून'। (३) अभी 'मज्जन फल पेखिय ततकाला' का प्रसंग चल रहा है, इसीसे पारस लोहेका दृष्टांत दिया, क्योंकि पारसके स्पर्शमात्रसे लोहा स्वर्ण हो जाता है।

४ शठ सन्तका संग पाकर सुधर जाते हैं यह सुनकर सन्देह हो सकता है कि इसी प्रकार सज्जन कुसंग पाकर बिगड़ जाते होंगे। यथा, 'संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ। ७। ३३।' इसपर कहते हैं 'बिधि बस....।'

टिप्पणी—१ 'बिधिबस सुजन....' इति। (क) 'बिधि बस' का भाव यह है कि सज्जन अपने वशभर तो कुसंगतिमें पड़तेही नहीं, परंतु प्रारब्ध प्रबल है। यदि शठके यहाँ उनका अवतार हुआ या उनसे सम्बन्ध हो गया, जैसे मणिकी उत्पत्ति सर्पके यहाँ हुई; इस तरह यदि वे कुसंगमेंभी पड़ जाते हैं....। (ख) 'परहीं' से सूचित किया कि जन्मभरभी पड़े रह जाते हैं, जैसे मणि सर्पमें जीवन पर्यन्त रहती है, तोभी वे नहीं बिगड़ते। जैसे, श्रीप्रह्लादजी और श्रीबिभीषणजी। पुनः, इससे यहभी जनाया कि यद्यपि विधिवशसे उनकी संगतिमें पड़ते हैं तथापि उनकी संगति नहीं करते। (ग) 'फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं' इति। भाव यह कि मणि सर्पके मस्तकमें रहती है और विषभी। पर मणिमें विषका मारक गुण नहीं आने पाता। सर्पका संसर्ग पाकरभी मणि उसके विषको ग्रहण नहीं करती। प्रत्युत् मणि विषको मारती है। वैसेही सन्त यदि दुष्टोंके बीचमें पड़ जाते हैं तोभी दुष्टोंकी दुष्टता उनमें नहीं आने पाती, दुष्टोंके संगका प्रभाव उनपर नहीं पड़ता। [पुनः, जैसे मणि अपने सहज गुण प्रकाशको नहीं छोड़ती वैसेही सज्जन दुष्टोंके साथ रहनेपरभी दुष्टोंको प्रकाशही देते हैं। पुनः, मणि अपना अमृतत्वगुण नहीं छोड़ती, सर्पके विषको वह मारती है। वैसेही जिनपर दुष्टोंका प्रभाव पड़ गया उनको वे सज्जन सुधार देते हैं।] (घ) पारस और लोहेका दृष्टांत देकर सूचित किया कि दूसरोंको बना देते हैं जैसे पारस लोहेको स्पर्श करतेही स्वर्ण बना देता है। और, मणिका दृष्टान्त देकर जनाया कि आप नहीं बिगड़ते। यथा, 'अहि अघ अवगुन नहीं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई। २। १८४।' (ङ) कुसंगका दोष न ग्रहणकर अपनेही गुणोंका अनुकरण करना 'अतद्गुण' अलङ्कार है। यथा, 'रहै आन के सङ्गहु गुन न आन को होय।' (वीरकवि)

बिधि-हरि-हर कबि कोबिद बानी। कहत साधुमहिमा सकुचानी। ११।

सो मो [१] सन कहि जात न कैसे । साकवनिक मनि-गुनगन [२] जैसे । १२ ।

शब्दार्थ—कवि=काव्य करनेवाला । विधिहरिहर आदिके साहचर्यसे यहाँ 'कवि' से उशना शुक्राचार्य आदि अभिप्रेत हैं । यथा, 'कवीनां उशना कविः । गीता १०. ३७ ।' 'कवि' का अर्थ 'शुक्राचार्य' कोशोंमेंभी मिलता है । वैजनाथजी 'कवि' से 'अनन्त आदि' का अर्थ करते हैं । कोविद=पंडित, विद्वान्; जैसे बृहस्पति आदि । वानी (वाणी)—सरस्वती ।=वाक्शक्ति । कैसे=किस प्रकार, किस तरह । साक (शाक)=साग, भाजी, तरकारी, पत्ती, फूल, फल आदि जो पकाकर खाये जाते हैं सब 'शाक' कहलाते हैं । 'शाकाख्यमात्रपुष्पादि इत्यमरः' ।=काँचकी पोत । (विश्वकोशे । वै.; मा. प्र.) । वनिक (वणिक)=बनिया; व्यापार करनेवाला । साकवनिक=साग भाजीका बेंचनेवाला कुँजड़ा ।=पोत बेंचनेवाला ।

अर्थ—श्रीब्रह्मा विष्णु महेश (त्रिदेव), (शुक्राचार्य्य आदि) कवि, (देवगुरु बृहस्पति आदि) विद्वान् पंडितोंकी वाणी (भी) * साधुमहिमा कहनेमें सकुचा गई । ११ । वह (साधुमहिमा) मुझसे किस प्रकार नहीं कही जाती, जैसे सागभाजी बेचनेवाले कुँजड़े या पोतके बेंचनेवालेसे मणिके गुणसमूह नहीं कहे जा सकते । १२ ।

नोट—'विधि हरि...सकुचानी' इति । (१) पं० सूर्यप्रसादमिश्रजी लिखते हैं कि 'सकुचानी' का रहस्य पं० परमेश्वरीदत्त व्यासजीने यों कहा था कि किसी दिन स्वर्गमें देवताओंकी एक सभा हुई और उसमें सब देवता इकट्ठे हुए, तब साधु महिमा कहनेकी वरणी ब्रह्माको हुई। कहते कहते बहुत दिन बीतगए तब तो सरस्वती उदास हो बोलीं 'मेरे पति कबतक कहते रहेंगे अब यह वरणी महादेवजीको देनी चाहिए क्योंकि ये पाँचमुखवाले हैं ।' फिर तो महादेवजी प्रसन्न हो कहने लगे । निदान देवताओंने देखा कि बहुत दिन होगए और अन्त न हुआ तब तो कार्त्तिकेयजीको वरणी दीगई । इन्होंने बहुत कुछ कहा और अन्त न हुआ तब तो पार्वतीजी बोल उठीं, देखो देवता बड़े स्वार्थी होते हैं, मेरा बालक कबतक कहता रहेगा, बहुत दिन बीत गए, अब नहीं कहेगा । तब तो देवताओंने मिलकर वह वरणी शेषनागको दी क्योंकि इनको सहस्र मुख और दो सहस्र जिह्वा हैं । ये बहुत जल्द साधु महिमा कहलेंगे । इनकोभी कहते कहते कई कल्प बीत गए तब तो ये हार मानकर लाचार हो पाताल

---

१ मोहि सन—रा. प.; १७०४

२ गन गुन—१७०४, १७२१, १७६२, छ०, को. राम । गुन गन—१६६१ (गन गुन पहले था । गुनके 'ु' पर हरताल लगाकर 'गुन गन' पाठ बनाया गया है ।), मा. प्र. ।

* 'सकुचानी' स्त्रीलिंग है; इसीसे ऐसा अर्थ किया जाता है। पुनः, योंभी अर्थ हो सकता है कि 'विधिहरिहर, कवि, कोविद और सरस्वतीजी साधुमहिमा कहनेमें सकुचा गईं' । यहाँ 'बानी' अंतिम शब्द है इसी लिये इसके अनुसार स्त्रीलिंग क्रियाभी दीगई । पुनः, तीसरी प्रकार इस तरहभी भावार्थ निकलता है कि विधिहरिहर कवि कोविदवाणी (सब मिलकरभी) साधुमहिमा कहनेमें सकुचाते हैं । सब मिलकरभी संतोंका महत्व नहीं कहसकते । महारामायणमें शिवजीका वाक्य है कि 'अहं विधाता गरुडध्वजश्च रामस्य वाले समुपासकानाम् । गुणाननन्तान् कथितुं न शक्तास्सर्वेषु भूतेष्वपि पावनस्ते ।।' इसीके अनुसार यहाँ भाव है कि संतोंके गुण अनन्त हैं, उन्हें सारे जीव एवं ब्रह्मादि ईश्वर कोटिवाले सब मिलकरभी नहीं कह सकते ।

लोकमें जा माथा झुकाकर बैठ गए, सो उसी लज्जाके कारण आजतक बैठे ही हैं। प्रमाणम् 'सहस्रास्यः शेषः प्रभुरपि ह्रिया क्षितितलमगात्' (स्कंदपुराण)। सो ग्रन्थकारने 'सकुचानी' पद लिखा तो क्या ?'

(२) क्यों सकुचती है ? इसके सम्बन्धमें अनेक समाधान किए जाते हैं—(क) 'सकुच इससे कि इतने बड़े बड़ोंकी वाणी होकर भी न कह सके, आश्चर्य ही तो है'। (पं० रा० कु०)। (ख) 'भगवद्भक्त ही सच्चे साधु हैं। भगवद्भक्तके अधीन सेवकके सदृश विष्णु रहते हैं....। इसलिए जिस साधुकी सेवा स्वयं विष्णु करते हैं उसकी महिमा कौन कह सकता है' ? (द्विवेदीजी)। (ग) ब्रह्माजी रजोगुणके वश हो सृष्टिरचनाकी चिंतामें, शिवजी तमोगुणवश संहारकी चिंतामें और हरि सतोगुणके वश खलोंके नाश और भक्तोंकी रक्षामें मग्न रहते हैं, सन्त महिमाकी ओर ध्यान देने तथा कहने का अवकाश नहीं है। (मा० म०)। (घ) त्रिदेव त्रैगुणाभिमानमें, कवि मानवश उपमानमें, कोविद क्रिया कर्म कर्त्ताके फेरमें पड़े हैं, इससे उनकी वाणी शुद्ध नहीं, फिर सन्तोंके विमल गुण कैसे कह सके ? गोस्वामीजीने वैराग्यसन्दीपनीमें भी कहा है कि 'क्यों वरनै मुख एक तुलसी महिमा संतकी। जिन्हके विमल विवेक सेष महेस न कहि सकत ॥ ३४ ॥'

यहाँ 'सम्बंधातिशयोक्ति अलंकार' है, क्योंकि विधिहरिहर इत्यादि योग्य वक्ताओंको अयोग्य ठहराकर अतिशय बड़ाई कर रहे हैं। 'सो मो सन कहि जात''''जैसे' में 'उदाहरण अलंकार' है, क्योंकि पहले साधारण बात कहकर उसकी विशेष बातसे समता वाचकपद द्वारा दिखाई गई है।

नोट—१ 'साकबनिक मनि गुनगन जैसे' इति। भाव यह कि ईश्वरकोटिवाले सन्तरूपी मणिके जौहरी हैं, जब ऐसे बड़े-बड़े जौहरी ही इस रत्नके परखनेमें अशक्तिमान् हैं तो उनकी महिमा कुँजड़ा वा पोत बेंचनेवाला कैसे कह सकेगा ? गोस्वामीजी अपनी समता कुँजड़ेसे देते हैं।

२ पं० सूर्य्यप्रसादमिश्र लिखते हैं कि 'गोसाईंजी अपना अभिमान दूर करते हैं।...अहंकार पापका मूल है और अमंगलकारी है अतएव ग्रन्थकारने उसका त्याग किया। इससे सिद्ध होता है कि ये सब कुछ करेंगे।....साकबनिक पद देनेसे यह भी जाना जाता है कि जैसे जवाहिरका चाहनेवाला शाकके बाजारमें जाकर पूछे कि आजकल जवाहिरका भाव क्या है, तो उसका जवाहिरका भाव शाकबाजारसे कभी न मालूम होगा। उसको तभी मालूम होगा जब वह जौहरी बाजारमें जायगा।....गोसाईंजीने अपनेको साधु समाजके सामने तुच्छ और अत्यन्त दीन दिखाया है।....'

दो०—बंदौं संत समान चित हित अनहित नहिं कोउ[1]।
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ[1] ॥
संत सरलचित जगतहित जानि सुभाउ सनेहु।
बाल बिनय सुनि करि कृपा रामचरन रति देहु। ३।

शब्दार्थ—समानचित=सबके लिए एकहीसा चित्त है जिनका, शत्रुमित्र सबको चित्तमें समान माननेवाले। यथा, 'सत्रु न काहू करि गनै मित्र गनइ नहिं काहि। तुलसी यह गति संतकी बोलैं समता माहि। (वै० सं० १३)।= रागद्वेषरहित। हित=मित्र। अनहित=शत्रु। अंजलि=दोनों हाथोंकी हथेली एक ओर जोड़नेसे 'अंजलि' कही जाती है।=अंजुरी। गत=(में) प्राप्त। सुभ=शुभ और सुगंधित। सुमन=फूल। सम=बराबर। कर=हाथ। कर=करता है। सरल=सीधा सादा, निश्छल। यथा, 'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं'। रति=प्रीति, प्रेम।

१ कोइ—१६६१ (पं० शिवलालपाठक)। पं०। अन्यसबोंमें 'कोउ' है।

अर्थ—मैं सन्तोंको प्रणाम करता हूँ जिनका चित्त समान है (अर्थात् जिनके चित्तमें समताभाव है), जिनका न कोई मित्र है न शत्रु। जैसे अंजलिमें प्राप्त सुन्दर (सुगंधित) फूल दोनों हाथोंको बराबर सुगंधित करता है। (वैसे ही सन्त मित्र और शत्रु दोनोंमें ही समानभाव रखकर दोनों का भला करते हैं।) ❀ सन्त सरलचित और जगत्के हितकारी होते हैं ऐसा (उनका) स्वभाव और स्नेहको जानकर मैं विनय करता हूँ।+ मेरी बाल विनय सुनकर कृपा करके मुझ बालकको श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम दीजिये। ३।

नोट—१ 'सन्त समान चित....' इति। 'समान चित' में गीतामें कहे हुए 'सम दुःख सुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः। तुल्य प्रियाप्रियो धीरस्तुल्य निन्दात्मसंस्तुतिः। २४। मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः। २५। अ० १४।' इस श्लोकके सब भाव हैं। अर्थात् जो निरंतर अपनी आत्मामें स्थित रहकर दुःखसुखको समान समझता है, मिट्टी पत्थर और सुवर्णको समान समझता है, प्रिय और अप्रियको एकसा मानता है और अपनी निंदा एवं स्तुतिमें समान भाव रखता है, मान और अपमानमें सम है एवं मित्र और शत्रुके पक्षमें भी सम है। ये सब भाव 'समान चित' में हैं। 'समानचित' और 'जगतहित' कहकर भगवान्की पराभक्तिको प्राप्त संतोंकी वंदना सूचित की। यथा, 'समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्। गीता १८-५४।'

२ (क)—पूर्वार्धमें 'सन्त समान चित....कोउ' कहकर उत्तरार्धमें उदाहरण देते हैं। शत्रुमित्रमें समान व्यवहार करना कहा, यह 'चतुर्थ तुल्ययोगिता अलंकार' है। उत्तरार्ध 'अंजलिगत...' में 'उदाहरण अलङ्कार' है। दोनोंमें अङ्गांगीभाव है। पूर्वार्धमें जो कहा उसीको उत्तरार्धमें 'सम सुगंध कर दोउ' कहकर दिखाया। शत्रु मित्र उदासीन सभीका कल्याण करते हैं।

❀ दूसरा अर्थ—'और जो अंजलिमें प्राप्त सुन्दर फूलकी तरह (दाहिने बाएँ) दोनों (हाथों) को बराबर सुगन्धित करते हैं।' (मा० पीयूष प्रथम संस्करण)।

तीसरा अर्थ—(श्रीजानकीशरणजी पं० शिवलालपाठकजीका परंपरागत एक अर्थ यह लिखते हैं) 'जिनके चित्तमें 'समान' अर्थात् प्रवेश किया है हित, (अनहित नहिं कोउ) उनकी दृष्टिमें उनका कोई अनहित अर्थात् शत्रु नहीं।' इस तरह दोहेके पूर्वार्धका अन्वय 'चितमें हित समान' ऐसा किया गया जान पड़ता है। 'समान' को क्रिया माना है। पाठक विचार करलें। गोस्वामीजीने यह अर्थ पढ़ाया हो इसमें सन्देह होता है।

+१ 'जानि सुभाउ सनेह' का अर्थ लोगोंने यों किया है—(क) 'ऐसा अपना स्वभाव जानकर मेरे उरमें प्रभुपदमें प्रीति विचारकर' (वै०)। (ख) 'मेरा दीन स्वभाव और भगवान्के यशमें प्रेम जानकर' (पं०)। (ग) 'और परोपकारमें स्नेह रखते हैं, उनका ऐसा स्वभाव जानकर' (वीरकवि)। (घ) 'उस (सरलचित जगत्हितकारी) स्वभावसे स्नेह करके' (बाबा हरीदासजी)। (ङ) 'ऐसा परोपकारी स्वभाव जानकर मैं स्नेहसे वंदना करता हूँ'। (पं० रामकुमारजी) यह अर्थ भी ठीक बैठता है।

२ बाबाजानकीदासजीके मतानुसार 'बंदौं' शब्द जो इन दोनों दोहोंके आदिमें आया है वह दोनों दोहोंके साथ है। अर्थ करते समय दोनोंके साथ लगा लेना चाहिये। 'बंदौं संत समान चित...', 'बंदौं संत सरलचित...'। उत्तरार्धमें 'बालविनय सुनि' होनेसे हमने 'विनय करता हूँ शब्द 'बालविनय' में ध्वनित समझकर अर्थ किया है जैसा कि वीरकविजीने किया है। बिना 'बंदौं' और विनय करता हूँ' केभी अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं।

अर्थ—२ 'हे सरलचित जगतहित संतो! मेरे (अथवा, अपने) स्वभाव और स्नेहको समझकर मुझ बालककी बालविनय सुनकर कृपा करके श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम दीजिए।'

(ख) मिलान कीजिये, 'अंजलिस्थानि पुष्पाणि वासयन्ति करद्वयम्। अहो सुमनसां प्रीतिर्वामदक्षिणयोः समा ॥' इति प्रसङ्गरत्नावल्याम्। (सुभा. र. भा सज्जनप्रशंसा ३) अर्थ दोहेके उत्तरार्धसे मिलता है।

(ग) 'अंजलिगत...' इति। भाव यह कि जैसे एक हाथसे फूल तोड़कर दूसरे हाथमें रक्खा जाता है, तो जिस हाथसे तोड़ा गया वह शत्रु और जिसमें ग्रहण किया गया वह मित्र हुआ। फूल शत्रुमित्रका विचार न करके दोनों हाथोंको बराबर सुगंधित करता है, एकको कम दूसरेको अधिक ऐसा नहीं। ऐसाही स्वभाव संतका है। यथा, 'काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई। ७. ३७।' वे अपना गुण अपकार करनेवाले-कोभी देते हैं जैसे चन्दन काटनेवाले कुल्हाड़ेको भी सुगन्ध दे देता है।

(घ) 'कर' श्लिष्ट है। देहलीदीपकन्यायसे 'सुगंध' और 'दोउ' दोनोंके साथ है। अन्वय 'सम सुगंध कर दोउ'=दोउ कर (को) सम सुगन्ध कर।=दोनों हाथोंको समान सुगन्धित करता है।

टिप्पणी—१ (क) पहले संतसमाजकी वंदना की थी—'सुजनसमाज सकल गुन खानी। करौं प्रनाम करम मन बानी। २।४।'; अब यहां 'संत' की वंदना करते हैं—'बंदौं संत समानचित....'। (ख) संतवंदनाप्रकरण यहां सम्पुट हुआ। 'सुजनसमाज...' २ (४) उपक्रम है और 'बंदौं संत समानचित....' 'संत सरल चित...' उपसंहार है।

२ 'संत सरल चित जगतहित....' इति। (क) प्रथम 'सरलचित जगतहित' विशेषण देकर तब 'जानि सुभाउ सनेहु' लिखनेका तात्पर्य यह है कि संत स्वभावसे सरलचित हैं, सरलचित होनेसे सबपर निश्छल स्नेह रखते हैं, रागद्वेषरहित हैं ('हित अनहित नहिं कोउ') इसीसे जगत्मात्रके हितैषी हैं। पुनः, (ख) ये विशेषण सहेतुक हैं, साभिप्राय हैं, सरलचित हैं अर्थात् निश्छल हैं और सबपर प्रेम करते हैं। यथा, 'सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं १।२३७।', 'नाथ सुहृद सुठि सरलचित सील सनेह निधान। सब पर प्रीति प्रतीति जिय जानिअ आपु समान। २. २२७।'; इस लिये हमारे दोष न देखिए। 'जगतहित' हैं, अतः मेरा भी हित कीजिए। जैसे आपका चित्त निर्विकार है, मेरा चित्त भी वैसाही कर दीजिये। जैसे आपमें श्रीरामपदरति (पराभक्ति) है वैसीही प्रीति, भक्ति मुझको दीजिये। (ग) ['बाल बिनय' का भाव यह है कि मैं बच्चा हूँ, आप मेरे मातापिता हैं। मेरे वचन बालकके तोतले वचनके समान हैं। जैसे मातापिता बच्चेके तोतले वचनोंको प्रसन्न मनसे सुनते हैं और उसका आशय समझ लेते हैं, जो कुछ वह माँगता है वह उसे देते हैं। वैसेही मेरी टूटीफूटी देशी-भाषामें जो यह वंदना है उसकी अटपट वाणीपर ध्यान न दीजिये, अपनी ओरसे कृपा करके श्रीरामपदप्रीति दीजिए। पुनः, भाव कि बालकोंकी सामान्य बातपर सबका छोह रहता है, यदि विनयमय ठहरे तो कहनाही क्या? (सू. प्र. मिश्र)। पुनः, भाव कि बालकका वचन सबको प्रिय लगता है, चाहे वह किसी अवस्थामें क्यों न हो और चाहे वह मानने लायक हो या न हो, उसका प्रभाव तो दूसरे पर पड़ताही है। (सू. प्र. मिश्र)। (घ) 'करि कृपा' का भाव कि मैं इस योग्य नहीं हूँ, आप अपनी ओरसे कृपा करके दीजिये। बिना आपकी कृपाके श्रीरामपदरति नहीं मिल सकती। यथा, 'सब कर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई ॥ ७. १२०।' (ङ) 'रामचरनरति देहु' कहकर जनाया कि आप लोग श्रीरामपदरतिके मालिक या खज़ांची हैं, बिना आपके वह किसीको मिल नहीं सकती।]

३ उत्तरकांड दोहा १२१ में जो 'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥ (१४)।' यह कहा है, उसे यहां 'सुजनसमाजवन्दनाप्रकरणमें' चरितार्थ (घटित) कर दिखाया है। 'हरिहरकथा बिराजति बेनी। सुनत सकल मुद मंगल देनी' में वचन, 'संत समान चित' 'संत सरल चित' में मन और 'जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा' में कायासे परोपकार दर्शाया।

संतसमाज एवं संत वन्दना प्रकरण समाप्त हुआ।

खल वन्दना प्रकरण

बहुरि बंदि खलगन सतिभाएँ। जे बिनु काज दाहिनेहु [1] बाएँ। १।

शब्दार्थ—बहुरि=(सन्तवंदनाके पश्चात्) अब; इसके उपरांत; पीछे; अनंतर। खलगन=खल समाज, दुष्टसमूह। सतिभाएँ (सतभाव) सच्चे भावसे, सद्भावसे; कपट छल बनावट या आक्षेपसे नहीं; सन्तस्वभाव से।=उचित रीतिसे (सू. प्र. मिश्र)। काज=प्रयोजन, मतलब, अर्थ, उद्देश्य। बिनु काज=बिना प्रयोजनके; व्यर्थ ही; अकारण ही। अर्थात् ऐसा करनेसे उनका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, कुछ भला नहीं होता तो भी। दाहिना=अनुकूल; जो हितमें प्रवृत्त है; हितैषी। बाएँ=प्रतिकूल; शत्रु।

अर्थ—(सन्तवंदनाके अनंतर) अब मैं सद्भावसे खलगणकी वंदना करता हूँ, जो बिना प्रयोजनही जो अपने हितैषी हैं उनकेभी प्रतिकूल हो जाते हैं। १।

टिप्पणी—१ (क) गोस्वामीजीने पहले सन्तसमाजकी वंदना की, फिर सन्तकी। यथा "सुजन समाज सकल गुनखानी। करौं प्रनाम....', 'बंदौं संत समानचित'। वही क्रम उन्होंने खलवंदनामें रक्खा है। पहले 'खलगण' की वन्दना करते हैं, आगे 'खल' की करेंगे। अर्थात् प्रथम समष्टिवंदना करके फिर व्यष्टि वंदना करते हैं। (ख) खलोंकी वंदनासे गोस्वामीजीकी साधुता दर्शित होती है। सन्त समानचित हैं, यह वे अपने इस कर्त्तव्यसे दिखा रहे हैं। सन्त समानचित हैं, उनका न तो कोई हित है न अनहित; अतः उन्होंने सन्तोंकी वंदना की और खलोंकीभी की। सन्तोंकी सद्भावसे वंदना की। यथा, 'करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी। २। ४।' वैसेही खलोंकी 'सतिभाएँ' वंदना करते हैं। पुनः, [संतवन्दनाके पश्चात् खलवन्दनाका भाव यह कि भगवद्भक्तोंको दुष्टोंसे द्वेष न रखना चाहिए। यथा, 'हित सन हित रति राम सन, रिपु सन बैर बिहाय। उदासीन संसार सन, तुलसी सहज सुभाय॥' (सतसई)। (मा. म.)]। अथवा खलके विपर्ययमें साधुके लक्षण देख पड़ते हैं। इसलिये खलवंदना की।

नोट—१ 'खलोंकी वन्दना किस अभिप्रायसे कीगई ?' इस प्रश्नको लेकर टीकाकारोंने अनेक भाव लिखे हैं; जिनमेंसे कुछ ये हैं—(क) वे न हों तो संन्तोंका महत्वही न प्रकट हो। यथा, 'जिते प्रतिकूल मैं तो मानौं अनुकूल, याते संतनप्रभावमणि कोठरीकी ताली है।' (भक्तिरसबोधिनीटीका कवित्त २६५)। (ख) खल-परिहासके डरसे साधु साधुता बनाये रखते हैं। (ग) काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि 'जगत्को तीरथ तारैं जलथल प्रभाव, औ मुनिहु किए आदर ए पाव तीनि बलन को। तीरथको साधू तारैं रामभगति के प्रभाव लोक वेद संमत जे धरे चाल चलन को॥ सर्वस अपनो बिगारि सिर धरि जमदूत मार, सब प्रकार खल धोवैं साधुन के मलन को। महाव्रतधारी बिनु हेतु उपकारी ए, ऐसो जिय जानि प्रणाम किये खलन को॥'

गोस्वामीजीने इस संभवित शङ्काका उत्तर स्वयंही आगे दिया है कि, खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा॥ तेहि तें कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥ ६ (१-२)।'

[1] दाहिने—(रा. प्र.)। दाहिनहु—१७०४। दाहिनेहु—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को. रा.। १६६१ में 'हु' पर हरतालका भाससा है पर लख नहीं पड़ता।

अर्थात् गुण अवगुणका वर्णन लोकशिक्षात्मक है। सन्तवन्दनाके बहाने संतोंके गुण दिखाकर व्यङ्गसे परलोकमार्ग दर्शित किया है और अब खलवन्दनाके व्याजसे उनके सङ्गको भवसागरमें डूबनेका मार्ग बताया। सन्तगुण बताए जिसमें लोग इनका सङ्ग करें। खलोंके लक्षणभी बताये जिसमें लोग इन्हें पहचानकर इनसे बचें, अलग रहें। खलोंकी पहिचान बहुत कठिन है, यदि उनके लक्षण न लिखे जाते तो उनका त्याग असंभव था।

नोट—२ 'बहुरि बंदि' इति। 'बंदि' अपूर्ण क्रिया है। इसका अर्थ है 'बंदना करके'। यथा, 'बंदि बंदि पग सिय सबही के। आसिरबचन लहे प्रिय जी के। २. २४३।', 'प्रभु पद पदुम बंदि दोउ भाई। चले···। २. ३१८।', 'फिरे बंदि पग आसिष पाई। २. ३१९।', 'मन महुँ चरन बंदि सुख माना। ३. २८।', 'बंदि चरन बोली कर जोरी। १. २३५।', 'सतानंदपद बंदि प्रभु बैठे गुर पहिं जाइ। १. २३९।', इत्यादि। अपूर्णक्रिया देनेका भाव यह है कि अभी 'खलगण' की समष्टि वन्दना करके आगे खलकी वन्दना करेंगे। इस अपूर्ण क्रियाकी पूर्त्ति 'बन्दौं खल जस सेष सरोषा। ४। ८।' पर होती है। बीचमें 'जे बिनु काज दाहिनेहु बाए' से लेकर 'जिमि हिमउपल कृषी दलि गरहीं॥' तक 'खलगण' के विशेषण दिये गए हैं। अर्थात् जिनमें ऐसे गुण हैं उनकी सद्भावसे वन्दना करके फिर खलकी वन्दना करेंगे। अपूर्ण क्रिया माननेसे प्रथम चरणका अर्थ होता है कि, अब सद्भावसे खलगणकी वन्दना करके कि जो·····'। (यह अर्थ प्रथम संस्करणमें दिया गया था।) परन्तु समस्त टीकाकारोंने यहाँ 'बंदि' का अर्थ 'वन्दना करता हूँ' लिखा है। अतः हमनेभी इस संस्करणमें वही अर्थ दिया है। किसी किसी महानुभावका मत है कि अभी सन्तवन्दना समाप्त नहीं हुई है, आगे फिर वन्दना करेंगे। यथा, 'बंदउँ संत असज्जन चरना'। ५ (३); इसीसे यहाँ अपूर्ण क्रिया दीगई।

३ 'खल गन सतिभाएँ' इति। (क) 'खल' शब्दकी व्युत्पत्ति सुभाषितरत्नभांडागारमें यों बताई है। 'विशिख व्यालयोरन्त्य वर्णाभ्यां यो हि निर्मितः। परस्यहरति प्राणान्नैतच्चित्रंकुलोचितम्॥ (दुर्जननिंदा श्लोक ३)।' अर्थात् विशिख और व्यालके अन्तिम अक्षरों (ख, ल) से जो शब्द बना है वह यदि दूसरोंके प्राणोंको हरण करता है तो आश्चर्यही क्या? कुलके योग्यही तो करता है। बाण और सर्प दोनोंही प्राण हर लेते हैं। कारणसे कार्य कठिन होता ही है। अतः खल विशिख और व्यालसेभी अधिक हुआही चाहे। (ख) 'सतिभाएँ' सच्चे भावसे। अर्थात् जैसे सन्तोंकी वन्दना मन, कर्म, वचनसे की थी, वैसेही खलोंकी वन्दना सद्भावसे करता हूँ। यदि इनकी वन्दनामें 'सतिभाएँ' न कहते तो निंदा और कुभाव सूचित होता। जिस उत्साहसे सन्तोंके गुण कहे; उसी उत्साहसे खलोंके गुण और स्वरूप कहेंगे, न्यूनाधिक नहीं। (पं० सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'सतिभाए' कहनेका अभिप्राय यह है कि मेरी बातोंसे वे अवश्य बुरा मानेंगे तथापि भीतर उनकी आत्मा यही कहेगी कि तुलसी सच कहता है। इससे 'सत्ये नास्तिभयं क्वचित्' इस वाक्यको दृढ़ प्रमाण कर ग्रंथकार खल वन्दनामें प्रवृत्त हुए।) विशेष दोहा ४ में 'विनती करइ सप्रीति' में देखिए।

४ 'बिनु काज'=व्यर्थ ही। अर्थात् ऐसा करनेसे उनको कोई लाभ नहीं होता, उनका कोई काम नहीं निकलता।

५ 'दाहिनेहु बाएँ' इति। जो अपने हितैषी हैं, अपने अनुकूल हैं, अपने साथ भलाईही करते हैं, उनकेभी ये प्रतिकूल हो जाते हैं, उनके साथभी बुराईही करते हैं।

यही अर्थ पं० रामकुमारजी और प्रो. रामदास गौड़जी करते हैं और यही सबसे उत्तम जँचता है। इसी अर्थमें खलोंका गौरव है। जहाँ संत आप दुःख सहकर बुराई करनेवालोंसेभी भलाई करते हैं, वहाँ खल बिना प्रयोजनही अपने हितुओंके साथभी बुराई करते हैं। यथा, 'बैर अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित

ताहू सों । ७. ३६ ।' वामके साथ तो प्रायः सभी वाम होते हैं, पर ये दाहिनेके साथभी वाम होते हैं। यथा, 'खल बिनु स्वारथ पर अपकारी । ७. १२१ ।'

'दाहिनेहु बाएँ' के अन्य भाव ये कहे गए हैं कि—(१) दाहिनेभी बाएँभी वा दहिने बायें। अर्थात् कभी इस पक्षमें कभी उस पक्षमें; कभी इस पक्षसे उस पक्षमें और उस पक्षसे इस पक्षमें, यों इधर उधर आना जाना खलोंका स्वभाव जगत्प्रसिद्ध है। (द्विवेदीजी)। ग्रंथकार खलोंका स्वभाव दिखाते हैं। जगत्का तो स्वभाव है कि लोग अपनी गरजसे भले बुरे होते हैं, पर खल तो बिना कामहीके भलेबुरे बने रहते हैं। (२) दाहिने अर्थात् पहिले अनुकूल होते हुएभी फिर बाएँ अर्थात् प्रतिकूल हो जाते हैं। (३) 'दाहिने बाएँ' मुहावरा है। अर्थात् जबरदस्ती किसीके काममें कूद पड़ते हैं। (पर इन अर्थोंमें कोई गौरव नहीं दीखता)। (४) पाँडेजी कहते हैं कि 'बिनु काज' भलाई करनेवाले और बुराई करनेवाले दोनोंसे सम्बंधित है। वे 'सतिभाएँ' को 'खलगन' का विशेषण मानकर अर्थ करते हैं कि 'जिनकी सत्य भावना है बिना प्रयोजन भलाई करनेवालोंसे बुराई करते हैं'। (५) (पंजाबीजी लिखते हैं कि) यदि ये मार्गमें चले जाते हों और उधरसे कोई पुरुष किसी कार्यकी सिद्धिके लिये आ रहा है और उसको दाहिना देकर चलनेसे उसका मङ्गल होगा और इनका कुछ बिगड़ता नहीं, तोभी उसको दाहिना न देकर उसके बाएँ हो जाते हैं। (६) 'परमार्थमार्ग त्यागकर दहिने बाएँ चलते हैं। दहिने यह कि कदाचित् कोई उत्तम कार्य किया तो अभिमानसे नामके लिये अथवा किसी अन्य स्वार्थसिद्धिके लिये जिसमें परमार्थ किंचित् छूभी न जाय और 'बाएँ' का भाव तो आगे प्रसिद्ध है।' (वै.)। (७) दाहिनेहु बाएँ=भले बुरे काम करनेमें लगे रहते हैं अर्थात् अनेक भले कामभी केवल दिखावटी और बनावटी होते हैं। (वि. टी.)।

परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद बसेरे। २।

शब्दार्थ—पर=पराये; दूसरेके। हित=भलाई। केरे=का। उजरे (उजड़े)=नष्ट, बरबाद वा वीरान होनेसे; किसीभी प्राणीके न रह जानेसे। बसेरे=घर बस जानेसे। आबाद होनेसे। बिषाद=दुःख, शोक।

अर्थ—पराये हितकी हानि ही जिनका लाभ है। (दूसरेके) उजड़नेमें जिनको हर्ष और बसनेमें दुःख होता है। २।

नोट—१ भाव यह है कि (१) दूसरेका नुक़सान होनेसे उनको चाहे कुछ न मिले, पर वे इसीमें सुख मानते हैं कि दूसरेका भला किसी तरह न होने पावे। दूसरेकी हानि देखनेसे उनको जो सुख होता है, उसे वे परमलाभही होनेके सुखके बराबर समझते हैं। (२) 'उजरे हरष' अर्थात् जैसे किसीके घर आग लगी, सब सम्पत्ति घरबार जल गया, उसका तहसनहस हो गया इत्यादि विपत्तिका आना, उसके बने बनाये खेलका बिगड़ जाना, सुनकर उनको आनन्द प्राप्त होता है। यथा, 'जब काहू कै देखहिं बिपती। सुखी भये मानहुँ जगनृपती। उ० ४०।' (३) 'बिषाद बसेरे' अर्थात् बसा हुआ देखकर दुःख होता है। भाव यह कि किसीका फूलाफला घर देखा तो उनको दुःख होता है। यथा, 'काहू की जो सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई। उ० ४०।', 'खलन्ह हृदय अतिताप बिसेषी। जरहिं सदा परसंपति देखी। उ० ३९।'

२ बैजनाथजी एवं बाबा हरिहरप्रसादजी 'उजरे हरष बिषाद बसेरे' का दूसरा अर्थ यह करते हैं कि इसीसे उनके हृदयका 'हर्ष उजड़ गया और विषादने यहाँ बसेरा लिया है'। पंजाबीजी यह भाव लिखते हैं कि 'लोगोंके हृदयरूपी पुरको भगवत् विमुख देख प्रसन्न होते हैं और हरिपरायण देखकर शोक करते हैं'।

३ अलंकार—'प्रथम असङ्गति'। कार्य और कारण न्यारे न्यारे ठौर हैं, हानि किसीकी कहीं हुई, यह कारण, और उससे भला दूसरेका, यह कार्य।

४ सज्जन परहितमें अपना हित मानकर हर्षित होते हैं और पराई हानिमें हानि मानते हैं। यथा, 'परदुख दुख सुख सुख देखे पर। ७. ३८।' 'परदुख द्रवहिं संत सुपुनीता। ७. १२५।' साधारण लोग अपने लाभ में लाभ और अपनी हानिमें हानि मानते हैं। और, खल इन दोनोंके विपरीत परहितहानिको ही लाभ मानते हैं, कैसेभी दूसरेका हित नष्ट हो, बस इसीमें उनको हर्ष होता है।

५ एक खर्रेमें पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि हानि, लाभ, हर्ष और विषाद ये चार बातें व्यवहारमें सार हैं। खलके साथ वे चारों बातें कहीं। 'परहितहानि' को दो आवृत्ति अर्थमें पढ़नेसे अर्थ होगा कि 'परहित' हानि (है) 'परहितहानि' लाभ (है)। अर्थात् पराया हित होना जिनकी हानि है और पराये हितकी हानि जिनका लाभ है। इस तरह इस चरणमें हानि और लाभ दो बातें कही गईं। दूसरेमें दो स्पष्ट हैं।

टिप्पणी—१ यहाँ दिखाया कि खलोंका लोक बिगड़ा और आगे 'हरिहर जस राकेस राहु से।...' में इनका परलोक बिगड़ना सूचित करके बताते हैं कि इनका लोक और परलोक दोनों बिगड़ता है। भगवान् और भक्तसे विरोधका यही फल है।

नोट—६ सू. प्र. मिश्रजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीने ये विशेषण देकर यह सिद्ध किया है कि खल-स्वभाव अव्यवस्थित है। अर्थात् उनके वचन और कर्मका कुछ विश्वास न करना चाहिए। इनके समान कोई नीच नहीं है। भर्तृहरिजी नीतिशतकमें कहते हैं, 'एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये, सामान्यास्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये। तेऽमी मानुषराक्षसाः परहितं स्वार्थाय निघ्नन्ति ये, ये निघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे। ७५।' अर्थात् जो अपना स्वार्थ त्यागकर दूसरोंका कार्य सम्पादन करते हैं वे सत्पुरुष हैं। जो अपने अर्थमें विरोध न पड़नेपर दूसरोंके कार्यमें उद्यम करते हैं वे सामान्य पुरुष हैं। जो अपने हितके लिये दूसरेका काम बिगाड़ते हैं वे राक्षस हैं। परन्तु जो बिना प्रयोजन पराये हितकी हानि करते हैं, उनको क्या नाम दिया जाय यह हम नहीं जानते। इन्हीं अन्तिमको गोस्वामीजीने 'खल' कहा है।

हरिहर जस राकेस राहु से। पर अकाज भट सहसबाहु से। ३।

शब्दार्थ—जस (यश)=गुणगान, कथा। राकेश=(राका=पूर्णिमा+ईश=स्वामी)=पूर्णचन्द्र। अकाज= कामका बिगाड़ना। से=समान।

अर्थ—हरिहरयशरूपी पूर्णचन्द्र (को ग्रसने) के लिये राहुके समान हैं। पराया काम बिगाड़नेमें सहस्रबाहुके समान योधा हैं। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'हरिहरजस' इति। हरि और हर दोनोंका यश जब कहें तब यशकी पूर्णता होती है, अतएव दोनोंका यश पूर्णचन्द्र है। जैसे गोस्वामीजीने शिवचरित कहा और रामचरित भी। औरोंके यश तारागण हैं, हरिहरयश राकेश हैं। (ख) [हरिहरयशको पूर्णचन्द्र कहनेका कारण यह है कि चन्द्रका धर्म कथामें है। दोनों आह्लादके करनेवाले हैं। चन्द्र शब्द 'चदि आह्लादने' धातुसे बना है। उसका अर्थ है 'चंदयति अमृतरसेन सर्वां भुवं क्लिन्नां करोति वा आह्लादयति इति चंद्रः'। अर्थात् जो जगन्मात्रको अपनी अमृतमय किरणोंसे आह्लादित करता है, उसका नाम 'चन्द्र' है। इसी प्रकार कथा भी जगत्मात्रका ज्ञानामृत-सम्प्रदानसे उपकार करती है। (सू. प्र. मिश्र)]

नोट—१ 'राकेस राहु से' इति। (क) पूर्णचन्द्रसे राहुका सहज वैर है। राहु उसीको ग्रसता है। अन्य तिथियोंके चन्द्रमाको नहीं ग्रसता। यथा, 'वक्र चंद्रमहि ग्रसै न राहू। १. २८१।' इसी प्रकार खलोंका हरिहर-

यशसे वैर है। यथा, 'करहिं मोहबस द्रोह परावा। संतसग हरिकथा न भावा। ७. ४०।' यदि कोई भोले भाले पंडित कथा कहते हैं तो ये जाकर अटपट प्रश्न करके वा तर्क कुतर्क करके कथामें विघ्न डालते हैं, यही ग्रहणका लगना है। कथा बंद हो गई, तो समझो कि पूर्ण वा सर्वग्रास हो गया। जैसे पूर्णचन्द्रको कुछ कालके लिए राहु छिपा देता है, उसी प्रकार किसी समाजमें खल लोगभी हरिहरयशको छिपा देते हैं। (सु. द्विवेदीजी)। (ख) जैसे राहु हर पूर्णिमाको नहीं ग्रसता, संधि पाकर ग्रसता है। यथा, 'ग्रसै राहु निज संधिहि पाई' (१.२३८)। वैसे ही खल मौक़ा पाकर विघ्न डालते हैं। यदि कोई पंडित टेढ़े हुए जो वक्रोक्तिसे कथा कहते हैं, तो वे वहाँ नहीं बोलते। (ग) खल कथासे वैर मानते हैं क्योंकि कथामें उनकी निंदा है। राहु चन्द्रसे वैर मानता है क्योंकि समुद्रमंथनसे अमृत निकलनेपर जब भगवान्‌ने मोहिनीरूप धारणकर अपने सौंदर्य और कुटिल भृकुटिकटाक्षों एवं मनोहर वाणीसे दैत्योंको मोहित कर लिया और असुरोंने उन्हें ही अमृतका घड़ा अमृत बाँटनेके लिये दे दिया और वे देवताओंको ही अमृत पिलाने लगे थे तब राहुने यह देख कि यह स्त्री तो सब अमृत देवताओंको ही पिलाये देती है, देवताओंका वेष धारणकर देवसमाजमें घुसकर अमृत पी लिया; उस समय चंद्रमा और सूर्यने इशारेसे मोहिनीरूप भगवान्‌को यह बात बता दी। यथा, 'देवलिङ्गप्रतिच्छन्नः स्वर्भानुर्देवसंसदि। प्रविष्टः सोममपिबच्चन्द्रार्काभ्यां च सूचितः। भा. ८. ९. २४।' भगवान्‌ने अमृत पान करते समय ही चक्रसे उसका सिर काट लिया। अमृतका संसग न होनेके कारण उसका धड़ प्राणहीन होकर गिरपड़ा, किंतु शिर अमर हो गया। तब ब्रह्माजीने उसे भी एक 'ग्रह' बना दिया। पूर्व वैरके कारण वह चंद्रमा और सूर्यपर अब भी पूर्णिमा अमावस्यामें आक्रमण किया करता है। यथा, 'यस्तु पर्वणि चंद्रार्कावभिधावति वैरधीः। २६।' अमृत राहुके कण्ठके नीचे न उतर पाया था, इसीसे सिर मात्र अमर हुआ। राहु हिरण्यकशिपुकी लड़की सिंहिकाका पुत्र था।

'सहसबाहु' इति। इसके अन्य नाम सहस्रार्जुन, अर्जुन, कार्तवीर्य और हयहय भी हैं। यह राजा कृतवीर्यका पुत्र था जिसकी राजधानी माहिष्मती नगरी थी (जो नर्मदातटपर दक्षिणमें थी। अनूपदेशकी यह राजधानी थी। कोई मण्डलाको माहिष्मती बताते हैं, पर पुराणोंसे इसका नर्मदातटपर होना पाया जाता है।) यह पहले बहुत धार्मिक एवं पवित्र विचारवाला था। कृतवीर्यके मरनेपर जब इसको मन्त्रियों आदिने राज्यपर बिठाना चाहा तब इसने उत्तर दिया कि 'राज्य भविष्यमें नरकमें ले जाता है। जिस उद्देश्यसे प्रजासे कर लिया जाता है, यदि उसका पालन न किया जा सके तो राज्य लेना व्यर्थ है। व्यापारी वाणिज्यके लिये यात्रा कर सकें, लुटेरोंद्वारा लूटे न जायँ, प्रजाकी रक्षा हो, चोर आदि उनकी संपत्ति न लें, इत्यादिके लियेही कर लिया जाता है। यदि राजा कर लेकर रक्षा नहीं कर सकता तो इसका पाप राजाको होता है। यदि राजा वैश्योंसे आयका अधिकांश भाग ले ले तो वह चोरका कर्म करता है, उसके इष्ट और पूर्त कर्मोंका नाश होता है। इस लिये जबतक मैं तपस्या करके पृथिवीके पालनकी शक्ति न प्राप्त कर लूँ जिससे अपने उत्तरदायित्वका पूर्ण निर्वाह कर सकूँ और पापका भागी न हूँ तबतक मैं राज्य ग्रहण नहीं कर सकता'। यह सुनकर महर्षि गर्गने उससे कहा कि राज्यका यथावत् पालन करनेके लिये यदि तुम ऐसा करना चाहते हो तो दत्तात्रेय भगवान् जो सह्यपर्वतकी गुफ़ामें रहते हैं उनकी आराधना करो। (मार्कंडेय पुराण अ. १८)। गर्गमुनिकी आज्ञानुसार सहस्रार्जुन श्रीदत्तात्रेयजीके आश्रमपर जाकर उनकी आराधना करने लगा। उनके पैर दबाता, उनके लिये माला, चंदन, सुगन्ध, जल, फल आदि सामग्री प्रस्तुत करता; भोजनके साधन जुटाता और जूठन साफ़ करता था। उसने दशहज़ार वर्षोंतक दुष्कर तपस्या करके दत्तात्रेयजीकी आराधना की। पद्मपुराणसृष्टिखण्ड अ. १२ में लिखा है कि पुरुषोत्तम दत्तात्रेयजीने उसे चार बरदान दिये।—(१) पहले तो राजाने अपने लिये एक हज़ार भुजाएँ

माँगीं। (२) दूसरे, यह माँगा कि 'मेरे राज्यमें लोगोंको अधर्मकी बात सोचते हुएभी मुझसे भय हो और वे अधर्मके मार्गसे हट जायँ।' (३) तीसरे यह कि 'मैं युद्धमें पृथ्वीको जीतकर धर्मपूर्वक बलका संग्रह करूँ।' (४) चौथे वरके रूपमें उसने यह माँगा कि 'संग्राममें लड़ते लड़ते मैं अपनी अपेक्षा श्रेष्ठ वीरके हाथसे मारा जाऊँ।' (पुलस्त्यवाक्य भीष्म प्रति)। और मार्कण्डेयपुराणमें दस वरदानोंका पाना लिखा है। (१) ऐश्वर्य-शक्ति जिससे प्रजाका पालन करे और पापका भागी न हो। (२) दूसरेके मनकी बात जान ले। (३) युद्धमें कोई सामना न कर सके। (४) युद्धके समय हज़ार भुजाएँ प्राप्त हो जायँ। (५) पर्वत, आकाश, जल, पृथिवी और पातालमें अव्याहतगति हो। (६) वध अधिक श्रेष्ठ के हाथसे हो। (७) कुमार्गमें प्रवृत्ति होनेपर सन्मार्गका उपदेश प्राप्त हो। (८) श्रेष्ठ अतिथिकी प्राप्ति। (९) निरंतर दानसे धन न घटे। (१०) स्मरण-मात्रसे राष्ट्रमें धनका अभाव दूर हो जाय। भक्ति बनी रहे। यथा, 'यदि देव प्रसन्नस्त्वं तत्प्रयच्छर्द्धिमुत्तमाम्॥ १४। यथा प्रजां पालयेयं न चाधर्ममवाप्नुयाम्। परानुस्मरणज्ञानमप्रतिद्वन्द्वतां रणे॥ १५॥ सहस्रमांसमिच्छामि बाहूनां लघुता गुणम्। असङ्गागतयः सन्तु शैलाकाशांबुभूमिषु। १६। पातालेषु च सर्वेषु वधश्चाप्यधिकान्नरात्। तथाऽमार्गप्रवृत्तस्य सन्तु सन्मार्गदेशिकाः। १७। सन्तु मेऽतिथयः श्लाघ्या वित्तन्चान्यत्तथाक्षयम्। अनष्टद्रव्यताराष्ट्रे ममानुस्मरणेनच। त्वयि भक्तिश्चदेवास्तु नित्यमव्यभिचारिणी। १८।' (मार्क. पु. अ. १८)।

महाभारत वनपर्वमें लिखा है कि महर्षि दत्तात्रेयजीकी कृपासे उसे एक सोनेका विमान मिला था। पृथ्वीके सभी प्राणियोंपर उसका प्रभुत्व था। उसके रथकी गतिको कोईभी रोक नहीं सकता था। यथा, 'दत्तात्रेयप्रसादेन विमानं कांचनं तथा। ऐश्वर्यं सर्वभूतेषु पृथिव्यां पृथिवीपते। १२। अव्याहतगतिश्चैव रथस्तस्य महात्मनः। (अ० ११५) वह महान् तेजस्वी राजा था। अश्वमेधयज्ञमें उसने बाहुबलसे जीती हुई सम्पूर्ण पृथ्वी ब्राह्मणोंको देदी। एक बार अग्निदेवने उससे भिक्षा मांगी और उसने अपनी सहस्र भुजाओंके पराक्रमके भरोसे भिक्षा दी। उसके बाणोंके अग्रभागसे प्रकट होकर अग्निने अनेकों ग्रामों, देशों, नगरों, गोशालाओंको भस्म कर दिया। उन्होंने महात्मा आपव (वसिष्ठ)* मुनिके आश्रमकोभी जला दिया जिससे मुनिने उसको शाप दिया कि तेरी भुजाओं को परशुराम काट डालेंगे। अर्जुनने शापपर ध्यान न दिया। (महाभारतशांतिपर्व अ० ४९ श्लोक ३५-४५। पद्मपु० सृष्टि० अ० १२)। आश्वमेधिकपर्वके ब्राह्मण-ब्राह्मणी-उपाख्यानमें कार्तवीर्य और समुद्रका संवाद है। एक दिन कार्तवीर्य समुद्रके किनारे विचरता हुआ बलके घमण्डमें आकर सैकड़ों बाणोंकी वर्षासे उसने समुद्रको ढक दिया। तब समुद्रने प्रकट होकर प्रार्थना की 'बाणवर्षा न कीजिए, इससे मेरे अन्दर रहनेवाले प्राणियोंकी हत्या हो रही है। उन्हें अभय दीजिए और जो आपकी आज्ञा हो उसका मैं पालन करूँ'। उसने कहा कि मेरे समान धनुर्धर योद्धा वीर जो मेरा मुकाबला करसके यदि कोई हो तो उसका पता बता दो। समुद्रने तब उससे जमदग्निऋषिके आश्रमपर जानेको कहा और कहा कि उसका पुत्र परशुराम तुम्हारा अच्छीतरह सत्कार कर सकता है। (अ० २९)।

यज्ञोंमें देवता इसे प्रत्यक्ष दर्शन देते थे। वर्षाकालमें यह समुद्रका वेगतक रोक देता था। एक बार वह पांच बाणोंसेही अभिमानी रावणको उसकी सेनासहित मूर्च्छित करके बांध ले गया था। इच्छा करतेही इसके हज़ार भुजाएँ प्रकट हो जाती थीं। (पद्मपुराण सृष्टिखण्ड)। युद्ध करते समय हज़ार भुजाएँ हो जाती थीं जिनमें बहुत बल होता था पर जो बहुत हलकीं होती थीं, जिससे शरीरपर भार न पड़ता था। (मार्कण्डेय-पुराण)। हरिवंशपुराणमेंभी इसकी कथा है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि उसके सदा दो भुज रहते थे पर जब

* ये वरुण के पुत्र थे। पीछे ये वसिष्ठ नामसे विख्यात हुए। (ब्रह्मपुराण ययातिवंशवर्णनमें।) संभव है कि वरुणके तेजसे घटसे उत्पन्न होनेपर वसिष्ठजीका ही नाम हुआ हो।

यह लड़ता था तब उसे हजार भुजाएँ हो जाती थीं। यथा, 'तस्य बाहु सहस्रं तु युद्धतः किल भारत। योगाद्योगेश्वरस्येव प्रादुर्भवति मायया।' (अ० ३३ श्लोक १४)। पीछे यह बहुत उद्दण्ड होगया। रथ और वरके प्रभावसे वीर देवता, यक्ष और ऋषि सभीको कुचलने लगा। सभी प्राणी उसके द्वारा पीड़ित होने लगे। उसके पुत्रभी बली, घमण्डी और क्रूर थे। आपस्तम्ब वेही अपने पिताके वधके कारण हुए। (महाभारत वन. ११५। १४, १५; शांति पर्व अ० ४९)। यह तन्त्रशास्त्रका आचार्य माना जाता है। पचासी हज़ार वर्ष इसने राज्य किया। परशुरामजीके हाथों मारा गया। शेष कथाएँ परशुरामगर्वहरण और अङ्गदरावण तथा हनुमान्-रावणसंवादमें दीगई हैं। यहां उनका प्रयोजन नहीं है।

इसकी प्रशंसा ब्रह्मपुराणमेंभी इस प्रकार वर्णित है। यज्ञ, दान, तपस्या, पराक्रम और शास्त्रज्ञानमें कोई राजा इसकी स्थितिको नहीं पहुँच सकता था। वह योगी था; इसलिये सातों द्वीपोंमें ढाल, तलवार, धनुष बाण और रथ लिये सदा चारों ओर विचरता दिखाई देता था। वर्षाकालमें समुद्रमें क्रीड़ा करते समय अपनी भुजाओंसे रोककर उसकी जलराशिके वेगको पीछेकी ओर लौटा देता था। वे जब अपनी सहस्रों भुजाओंको जलपर पटकते थे उस समय पातालनिवासी महादैत्य निश्चेष्ट हो जाते थे। ब्रह्मवैवर्त पुराणके गणेशखण्ड अ० २३-२७ मेंभी इसकी कथा है।

नोट—२ उपर्युक्त कार्तवीर्यचरितसे मिलान करनेपर 'पर अकाज भट सहसबाहुसे' के ये भाव निकलते हैं कि—(क) इनके दोही भुजायें हैं पर उनसे दूसरोंको हानि पहुँचानेमें इतना परिश्रम करते हैं मानों हज़ार भुजाओंसे काम कर रहे हों। (ख) सहस्रबाहु प्रजाके घर, उसके मनमें परअकाजका विचार उठतेही, जा खड़ा होता था, प्रजा काँप उठती थी, वैसेही ये ज्योंही किसीका काम बनते सुनते हैं, वहाँ जा खड़े होते हैं जिससे उसे विघ्नका भय हो जाता है। (ग) उसने हज़ार भुजाओंसे दुष्टता की, जमदग्नि मुनिकी गऊ छीनी और ये दूसरेकी वस्तु हरने एवं काम बिगाड़नेमें वैसीही बहादुरी करते हैं। (घ) सहस्रबाहु 'परअकाज' अर्थात् शत्रुको हानि पहुँचानेमें भट था और ये 'पर' अर्थात् दूसरेके कार्यमें हानि पहुँचानेमें भट। लड़ाईमें कार्तवीर्यके सहस्र भुजाएँ हो जाती थीं और पर अकाज करनेमें इनकी भुजाओंमें वैसाही बल आजाता है। (मा. प.)। (ङ) सहस्रबाहु बल पाकर देवता, ऋषि, मुनि, आदिकोभी पीड़ित करने लगा था, वैसेही खल बल, ऐश्वर्य पाकर उदासीन और मित्रोंकाभी अहित करते हैं। (च) उसने कपिला गौ न देनेपर जमदग्निऋषिको मार डाला, वैसेही खल परायी वस्तु सीधे न मिलनेपर वस्तुके मालिकको मारही डालते हैं। इत्यादि।

नोट—३ यहां उपमेय एक ही है 'खल'; पर उसके लिए अनेक उपमान कहे जा रहे हैं। पृथक् पृथक् धर्मोंके लिये पृथक् पृथक् उपमा दी गई है। अतएव यहांसे 'उदय केतु सम' तक भिन्नधर्मामालोपमा अलङ्कार है। २० (८) देखिए। इनके धर्म शब्दोंके भावोंके साथ लिखे गए हैं।

इन चौपाइयोंसे मिलता हुआ श्लोक प्रसंगरत्नावलीमें यह है, 'परवादे दशवदनः पररंध्रनिरीक्षणे सहस्राक्षः। सद्वृत्त वित्त हरणे बाहु सहस्रार्जुनो नीचः॥' (सु. र. भा. में 'सहस्रार्जुनः पिशुनः' पाठ है। दुर्जनप्रशंसा १२९)। अर्थात् परनिंदा करनेमें रावणके तुल्य दशमुखवाले, परछिद्रनिरीक्षणमें इंद्रके समान सहस्र आंखोंवाले, सदाचारियोंकी संपत्ति हरण करनेमें नीच सहस्रार्जुनके समान हज़ार बाहु वाले हैं।

जे पर दोष लखहिं सहसाखी। पर हित घृत जिन्ह के मन माखी। ४।

शब्दार्थ—लखना (सं. लक्ष)=लक्षण देखकर समझ लेना; ताड़ना; यथा, 'लखन लखेउ रघुबंसमनि ताकेउ हर कोदंड। १. २५९।', 'लखइ न रानि निकट दुख कैसे। २. २२।', 'लखन लखेउ भा अनरथ आजू।

२. ७६ ।' 'लखन लखेउ प्रभु हृदय खभारू । २. २२७ ।'=देखना । सहसाखी—टिप्पणी एवं नोटमें दिया गया है । घृत=घी । माखी (सं. मक्षिका)=मक्खी ।

अर्थ—जो पराये दोषोंको 'सहसाखी' देखते हैं । जिनके मन पराये हितरूपी घीमें मक्खी (की तरह जा पड़ते) हैं । ४ ।

नोट—१ 'जे पर दोष लखहिं' इति । 'परदोष लखहिं' कहकर जनाया कि पराये छिपे हुए दोषोंको जो राईसरसोंसमान छोटे हैं उनको भी ढूँढ निकालते हैं और अपने दोषोंको, चाहे वे पर्वतसमान बड़े क्यों न हों, नहीं देखते ।

२ 'लखहिं सहसाखी' इति । (क) यहाँ 'सहसाखी' के चार प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं । (१) सहस आँखी=हज़ार नेत्रोंसे । (२) सह साखी=साक्षी सहित; गवाहको साथ ले जाकर । (३) सहसा आखी=एक-दमसे आँखसे । (४) स हस आखी ।

(१) पं. रामकुमारजी, पंजाबीजी, सुधाकरद्विवेदीजी आदि कई महानुभावोंने प्रथम अर्थ लिया है । पं. रामकुमारजी लिखते हैं कि खलोंके हज़ार नेत्र नहीं हैं, परन्तु वे परदोषोंमें बहुत (सूक्ष्म) दृष्टि रखते हैं इसीसे सहस नेत्रोंसमान कहा । दोही नेत्रोंसे हज़ार नेत्रोंकासा काम करते हैं । इसीके विपरीत 'सहस नयन' होनेपरभी भरतजीके भावको न लखनेसे इन्द्रको बिना लोचनका कहा है । यथा, 'वचन सुनत सुरगुरु मुसुकाने । सहसनयन बिनु लोचन जाने ।' इस अर्थमें बैजनाथजी आदि कुछ टीकाकार पुनरुक्ति दोष बताते हैं क्योंकि आगे अर्धाली ११ में 'सहस नयन पर दोष निहारा' में फिर 'सहस नयन' आया है । पं. रामकुमारजी कहते हैं कि इसमें पुनरुक्ति नहीं हैं क्योंकि वहाँ परदोषको 'निहारना' कहा है । 'निहारना' प्रत्यक्ष वस्तुके देखनेको कहते हैं । यथा, 'भरि लोचन छबि लेहु निहारी । १. २४६ ।', 'जो न मोह येह रूप निहारी । १. २२१ ।', 'प्रभु सनमुख कछु कहन न पारहिं । पुनिपुनि चरन सरोज निहारहिं । ७. १७ ।' वहाँ 'निहारा' कहकर जनाया है कि परदोष खलोंका अत्यंत प्रिय लगता है अतः वे हज़ार नेत्रोंसे उसे देखते हैं । और, 'लखना' छिपीहुई वस्तुको देखलेनेको कहते हैं । 'हज़ार नेत्रोंसे परदोषको लखते हैं' कहकर जनाया कि कोई उनसे छिपाना चाहे तो छिपा नहीं सकता; ये उसे ढूँढ निकालते हैं । पुनः, यहाँ 'खलगण' (खलसमाज) का लक्षण कहते हैं कि ये 'परदोष लखहिं सहसाखी' और वहाँ खलका लक्षण कह रहे हैं । यथा, 'बंदउँ खल जस सेष सरोषा ।....सहस नयन पर दोष निहारा ।' यहाँ खलगणका प्रसङ्ग है । अलग अलग दो प्रसङ्ग होनेसे पुनरुक्ति नहीं है । दो हैं, इस लिये दो कहे ।

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी कहते हैं कि 'सूक्ष्मदर्शक यन्त्रोंसे स्पष्ट है कि मक्खियोंको हज़ारों आँखें होती हैं । वे प्राणियोंके व्रणमलोंको हज़ारों आँखोंसे देखकर तुरंत उनपर टूट पड़ती हैं और उस मलके साथ अपना क्रिमिमय मल और मिला देती हैं जिससे प्राणीको और भी कष्ट भोगना पड़ता है । खललोग भी ठीक इसी प्रकार बड़े चावसे दूसरोंके दोष देखते हैं ।' इस तरह 'माखी' के सम्बन्धसे 'सहस आँखी' कहा गया ।

दूसरा दोष यह कहा जाता है कि 'सहस आखी' पाठ माननेसे 'आ' पर अपनी ओरसे अनुस्वार लगाना पड़ता है । बिना अनुस्वार 'आखी' का अर्थ 'नेत्र' नहीं होता । इसका उत्तर यह दिया जाता है कि 'माखी' के जोड़के लिये यहाँ 'आखी' लिखा गया । फिर कोशमें 'आखना' का अर्थ 'देखना' मिलता है ।

(२) 'सह साखी' पाठमें पुनरुक्ति आदिका प्रश्नही नहीं उठता । 'सह साखी' का भाव यह है कि स्वयं देखते हैं और दूसरोंको साथ लेजाकर दिखाते हैं कि गवाह रहना । इसका कारण यह है कि दुष्ट होनेके कारण इनका कोई विश्वास नहीं करेगा । अतः साक्षीभी साथ ले जाते हैं ।

(३) 'सहसा आखी'। इस पाठका भावार्थ यह है कि 'सहसा' (एकदमसे, एकायक) आँख डालकर (आ, आखी=देखकर) लखलेते हैं अर्थात् बहुत शीघ्र देख लेते हैं। एवं विना दोष निर्णय किये हुएही दोषदृष्टि करते हैं। (वि. टी., रा. प.)।

(४) स हस आखी=हँसते हुए (आँखसे) देखते हैं।

मेरी समझमें 'सहसाखी' शब्द देकर ग्रंथकारने उपर्युक्त सभी भाव एकसाथ सूचित किये हैं। खल पराये दोषोंको इस प्रकार लख लेते हैं कि मानों उनके हज़ारों नेत्र हैं कि उनसे कोईभी छिद्र बच नहीं सकता। इतनाही नहीं वरंच वे शीघ्रही दोषको ढूँढ़ निकालते हैं और दूसरोंकोभी दिखाते हैं और हँसीभी उड़ाते हैं। एक दोषको वे हज़ारगुणा करके देखते हैं। 'लखहिं' से जनाया कि उनकी इतनी तेज़ सूक्ष्मदृष्टि है कि जो दोष अभी मनमेंही गुप्त हैं उनकोभी ढूंढ़ निकालते हैं।

टिप्पणी—इस प्रकरणमें 'परदोष' के संबंधमें चार बातें दिखाई हैं। (क) परदोष लखते हैं। (ख) परदोष कहते हैं। यथा, 'सहस वदन बरनै परदोषा। ८।' (ग) परदोष सुनते हैं। यथा, 'पर अघ सुनइ सहस दस काना।९।' (घ) परदोष निहारते हैं। 'सहस नयन परदोष निहारा। ११।' खलोंके ये लक्षण बताकर भलोंको उपदेश देते हैं कि इन चारों दोषोंसे बचे रहें।

नोट—३ 'परहित घृत जिन्ह के मन माखी' इति। (क) ग्रंथकारने 'हित' को 'घृत' की उपमा दी, सो बहुतही ठीक है; क्योंकि 'घी' से बढ़कर कोई वस्तु शरीरके लिये उपकारक नहीं है।....श्रुतिभी कहती है 'घृतमायुः'। अन्यत्रभी कहा है, 'आयुर्वै घृतं भवति'। घृत परम उपकारक है। आयुका वर्द्धक है। और मनुष्यको आयुसे बढ़कर प्रिय वस्तु नहीं। (सू. प्र. मिश्र)। (ख) भाव यह है कि जैसे घीमें मक्खी गिरती है तो उसके पैर, पङ्ख सब सन जाते हैं, उसका अङ्ग भङ्ग हो जाता है। घीको कोई खराब (अपवित्र) नहीं समझता, मक्खीको लोग निकाल फेंकते हैं। वैसेही खलोंके मन पराया हित बिगाड़नेमें नित्य लगे रहते हैं। जो हितकी हानि न हुई तो उनका परिश्रम व्यर्थ हुआ, मनोरथ छूछा पड़नेसे मनको दुःख हुआ, उदासी छा गई, यही अङ्गभङ्ग होना है, लोग उलटे इन्हींको दोष देने लगते हैं। अथवा, घी मक्खीका नाशक है, उसके लिये विष है, उसमें गिरतेही वह मर जाती है; पर हज़ारों आँखें होते हुएभी वह अपने नाशपर ध्यान नहीं देती, उसे बिगाड़ने के लिये उसमें कूद पड़ती है और प्राण दे देती है। वैसेही खल लोग दूसरेका हितरूपी घृत बिगाड़नेकेलिये आग पानी कुछ नहीं समझते, उसके बनेबनाए कामको बिगाड़नेके लिए प्राणभी दे देते हैं। (द्विवेदीजी; सू. प्र. मिश्र)। अथवा, पर हित (परोपकार) के समान कोई धर्म नहीं है। यथा, 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई। ७. ४१।' और घी भी परमोपकारक है अतः परहितको घृत कहा। जैसे मक्खीके लिये घी विष है, वैसेही परोपकार करना उनके मनरूपी मक्खीके लिये विष है; यदि कहीं किसीका उपकार होगया तो उनके मनको मरणतुल्य दुःख हो जाता है।

यहाँ खलोंको मक्खी नहीं कहा, उनके मनको मक्खी कहा है। अतः भाव यही होता है कि उनका मन सदा परहितके बिगाड़नेमें मक्खीकी तरह लगा रहता है।

तेज कृसानु रोष महिषेसा। अघ अवगुन धन धनी धनेसा। ५।

शब्दार्थ—तेज=प्रचण्डता, ताप। कृसानु (कृशानु)=अग्नि। रोष=क्रोध। महिषेस=यमराज।=महिषासुर। यथा, 'महामोह महिषेसु बिसाला। १. ४७।' अघ=पाप। धनी=धनवान्, धनाढ्य, मालदार। धनेसा (धनेश)=धनके स्वामी; कुबेर। ये विश्रवा मुनिके पुत्र और रावणके सौतेले भाई थे। ब्रह्माजीने इन्हें देवता बनाकर उत्तर दिशाका अधिकारी बना दिया था। संसारभरके धनके स्वामी

इंद्रकी नवनिधियोंके भण्डारी और श्रीशिवजीके मित्र कहे जाते हैं। पूर्व जन्ममें येही गुणनिधिद्विज थे।

अर्थ—जो तेजमें अग्नि और क्रोधमें 'महिषेश' के समान हैं; पाप और अवगुणरूपी धनमें कुवेरके समान धनी हैं। ५।

नोट—१ (क) 'तेज कृसानु' इति। तेजसे यहाँ बल वैभव आदिकी प्रचण्डता से तात्पर्य है। अर्थात् बल, वैभव आदि पाकर जो उनमें दूसरोंको जलानेवाला प्रचण्ड ताप है वह अग्निके समान है। अग्निका तेज बड़ा प्रचण्ड होता है, वह सभी कुछ जला डालनेको समर्थ है। यथा, 'काह न पावकु जारि सक। २. ४७।' खलोंके तेजको अग्नि कहनेका भाव यह है कि (१) जैसे आग स्वयं तप्त है और दूसरोंकोभी अपनी आँचसे तप्त कर देती है, वैसेही यदि इनके वैभव और बल हुआ तो ये उसे दूसरेके जलाने, सन्तप्त करनेकेही काममें लाते हैं। (२) जैसे अग्नि अपने तेजसे बुरीभली सभी वस्तुओंको जला डालती है, वैसेही ये मित्र, शत्रु, उदासीन सभीको अपने तेजसे संताप पहुँचाते, जलाते वा उजाड़ते हैं, किसीको नहीं छोड़ते। (३) बात बातमें जैसे अग्नि (घी, ईंधन, पवन, कपूर, गुग्गुल, राल आदिकी आहुतियाँ पा पाकर) अधिक प्रचण्ड होती है और शुभाशुभ सभी वस्तुओंको भस्म करनेमें उद्यत हो जाती है, वैसेही खलभी ज्यों ज्यों अधिक बल और वैभव पाता है त्यों त्यों वह अपनी तेजी (प्रचण्डता) को अग्निके समान बढ़ाता है। (४) जैसे अग्नि स्वयं तप्त है, वैसेही खलभी सदा अपने क्रोधसे जला करते हैं, सदा लाल मुख रहते हैं।

(ख) 'रोष महिषेसा' इति। 'महिषेश' के दो अर्थ होते हैं। महिषेश=महिष+ईश=भैंसेका देवता=वह देवता जिसका वाहन भैंसा है=यमराज जिनको धर्मराजभी कहते हैं। ये विश्वकर्माकी कन्या संज्ञाद्वारा सूर्यके पुत्र हैं। ये दक्षिण दिशाके स्वामी और मृत्युके देवता हैं। इनके लोकका नाम यमलोक है। मृत्युके समय इनकेही दूत शरीरसे प्राण निकालनेके लिये आते हैं। मनुष्यकी आत्माको लेकर वे यमराजके पास जाते हैं। वहाँ श्रीचित्रगुप्तजी महाराज उसके शुभाशुभकर्मोंका लेखा पढ़ सुनाते हैं जिनपर धर्मपूर्वक विचार कर वे उस प्राणीको स्वर्ग वा नरक आदिमें भेजते हैं। स्मृतियोंमें चौदह यम कहे गए हैं। यम, धर्मराज, मृत्यु, अंतक, वैवस्वत, काल, सर्वभूतक्षय, उदुम्बर, दध्न, नील, परमेष्ठी, वृकोदर, चित्र और चित्रगुप्त। इनका वाहन महिष (भैंसा) है और दण्ड तथा पाश इनके आयुध हैं। पाशसे प्राणीको बाँधते हैं और पापी प्राणियोंको दण्डसे दण्ड दिया जाता है। पापियोंपर ये अत्यन्त क्रोध करते हैं। यमराज अर्थसे 'रोष महिषेसा' का भाव यह होता है कि जैसे यमराज पापी प्राणीका प्राण हरकर क्रोध करके उसको दण्ड देते हैं वैसेही खल क्रोध करके दूसरोंके प्राणही नहीं लेते किंतु मरनेपरभी उसका पीछा नहीं छोड़ते। पुनः, जैसे क्रोधमें भरे हुए यमराजको देखकर भला कौन जीवित रह सकता है। यथा, 'कैर्जीव्यते हि कुपितान्तकदर्शनेन।' (मार्कण्डेय पु. महिषासुरवध अ० ४. १३) वैसेही खलोंके रोषसे दूसरोंके प्राणही हरण हो जाते हैं।

'महिषेश' का दूसरा अर्थ महिषासुर है। यह रम्भ नामक दैत्यका पुत्र था। (भा. ६. १८. १६ में इसे हिरण्यकशिपुके अनुह्लादनामक पुत्रका पुत्र कहा है)। इसकी आकृति भैंसेकीसी थी अथवा यह भयङ्कर भैंसेका रूप धारण करता था इससे महिषासुर नाम पड़ा। इसकी माँका नाम महिषी था। इसने हेमगिरिपर कठिन तपस्या करके ब्रह्माजीसे वह वर पाया था कि स्त्री छोड़ किसी पुरुषसे इसका वध न हो सके। वर पाकर इसने इंद्रादि सभी दिग्पालोंको जीतकर उनके लोक और अधिकार छीन लिये तथा स्वयं सबका अधिष्ठाता बन बैठा। क्रोधावेशमें यह कैसा भयङ्कर हो जाता था यह देवीसे युद्धके समयके वृत्तांतसे कुछ प्रगट हो जायगा। अतः हम संक्षेपसे यहाँ उसका वर्णन करते हैं। अपनी सेनाका संहार देख इसने भैंसेका रूप धारण कर देवीके गणोंको त्रास देना आरम्भ किया। 'माहिषेण स्वरूपेण त्रासयामास तान् गणान्।' (मार्कण्डेय पु. महिषासुर-

यय श्र. ३. । २१) । कितनेहीको थूथुनोंसे, कितनोंको खुरोंसे, किन्हींको सींगोंसे या पूँछसे, किन्हींको सिंहनादसे अथवा निःश्वास वायुके झोंकेसे मारकर धराशायी कर दिया। क्रोधमें भरकर धरतीको खुरोंसे खोदने लगा और अपने सींगोंसे ऊँचे ऊँचे पर्वतोंको उठाकर फेंकता और गरजता था। उसके वेगसे चक्कर देनेके कारण पृथ्वी क्षुब्ध हो फटने लगी। उसकी पूँछसे टकराकर समुद्र पृथ्वीको डुबाने लगा, श्वासकी प्रचण्ड वायुके वेगसे उड़े हुए सैंकड़ों पर्वत आकाशसे गिरने लगे। भैंसासे तुरन्त सिंह, सिंहसे खड्गधारी पुरुष, इसी तरह कभी गजराज कभी पुनः भैंसारूप धारणकर अपने बल और पराक्रमके मदसे उन्मत्त हुआ वह चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंको व्याकुल करने लगा। कालिकादेवीने उसको मारा। देवता इसके क्रोधसे काँपते थे।

रोष महिषासुरके समान है। भाव यह कि अपने बल और पराक्रम एवं वैभवके मदसे उन्मत्त होकर वे सभी प्राणियोंको अनेक यत्न करकरके पीड़ित किया करते हैं। अथवा, अपनी तेजीको आगसरीखा बढ़ाकर, बात बातमें अपने रोषको प्रचण्ड कर करके महिषासुर की तरह लाल लाल आँखें करके हाँफने लगते हैं। (सुधाकरद्विवेदीजी)।

नोट—२ 'अघ अवगुन धन धनी धनेसा' इति। भाव यह कि—(क) 'कुबेरके समान ये हज़ार भुजाओंसे अघ अवगुण रूपी धन बटोरते हैं'। अर्थात् जैसे कुबेरके धनकी संख्या नहीं, वैसेही इनके पापों और अवगुणोंका अंत नहीं। यथा, 'खल अघ अगुन साधु गुन गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा। १. ६।' इसी कारण उनको अघ अवगुणका धनी कहा। (पं. रामकुमारजी)। (ख) कुबेरके भण्डारसे चाहे जितना धन निकलता जाय वह खाली नहीं होता, सर्वदा भरा रहता है। उसी प्रकार खलोंके हृदयसे अनेक पाप, दुर्गुण प्रत्यूह नूतन प्रकट होते जाते हैं; परन्तु तोभी हृदय उनसे भराही रहता है। (सु. द्विवेदीजी)। (ग) (बैजनाथजी लिखते हैं कि) महाकुलक्षणी पुरुषमें अट्ठाईस अवगुण होते हैं। यथा, 'काम क्रोध युत क्रिया हत दुर्वादी अतिलाभ। लंपट लज्जाहीन गनि विद्याहीन अशोभ॥ आलस अति निद्रा बहुत दुष्ट दया करि हीन। सूम दरिद्री जानिये रागी सदा मलीन॥ देत कुपात्रहि दान पुनि मरण ज्ञान दृढ़ नाहिं। भोगी सर्व न समुझई कछु शास्त्रन के माहिं॥ अधिःअहार प्रिय जानिये अहंकारयुत देखु। महा अलक्षण पुरुषमें ये अट्ठाइस लेखु।' इन सब अगुणोंके होनेसे अवगुणका धनी कहा।

३ 'तेज कृशानु, रोष महिषेश, 'अघ अवगुण धन धनी'—'कुबेर'। यहाँ उपमानके गुण उपमेयमें स्थापित करनेसे 'द्वितीय निदर्शना' अलङ्कार है। 'अघअवगुणधनधनी' में रूपक भी है।

उदय केत सम हित सब ही के। कुंभकरन सम सोवत नीके। ६।

शब्दार्थ—केत (केतु)=एक प्रकारका तारा जिसके साथ एक प्रकाशकी पूँछ दिखाई देती है। इसे पुच्छल तारा, बढ़नी, झाड़ू आदिभी कहते हैं। इस तरहके अनेक तारे हैं, इनकी संख्या अनिश्चित है। केतुपुच्छमें स्वयं प्रकाश नहीं होता। यह स्वच्छ, पारदर्शी और वायुमय होता है जिसमें सूर्यके सान्निध्यसे प्रकाश आ जाता है। यह अपने उदयकालहीमें वा उदयके पन्द्रह दिन पीछे शुभ या अशुभ फल देता है। कुम्भकरन (कुम्भकर्ण)=रावणका मँझला भाई। नीके=अच्छा।

अर्थ—सभीके हितमें ये केतुके समान उदय हो जाते हैं। [वा, इनका उदय (=बढ़ती, वृद्धि वा उन्नति) सभीके हितके लिये केतुके समान है] कुम्भकर्णके समान इनका सोतेही रहना अच्छा है। ६।

नोट—१ 'उदय केतु सम' इति। (क) केतुनामक तारागणमेंसे अनेक शुभ भी हैं। यथा, 'धूमाकारा शिखा यस्य कृत्तिकायां समाश्रिता। दृश्यतेरश्मिकेतुः स्यात्सप्ताहानि शुभप्रदः।' (मयूरचित्रे)। कोई कोई

ऐसे हैं कि वे जिस नक्षत्रपर उदय होते हैं उसके देशका नाश करते हैं, अन्यका नहीं। यथा, 'अश्विन्यामश्वकं हंति याम्ये केतुः किरातकान्। वह्नौकलिंग नृपतीन् रोहिण्यां शूरसेनकान्॥' इसके अनुसार भाव यह होगा कि खलोंकी बढ़ती होती है तो सभी अपने हितकी हानि समझकर डर जाते हैं। चाहे वे किसीका हित भी करें तोभी उनसे सब डरते ही हैं। (वै.)। (ख) यदि 'केतु' से केवल उस अधम ग्रहका अर्थ लें जिसका उदय संसारको दुःख देनेवाला होता है, जो अशुभही होता है। यथा, 'दुष्ट उदय जग आरति हेतू। जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू॥ ७. १२१।' तो भाव यह होगा कि जहाँ किसीका हित होते हुए देखते हैं वहाँ केतुके समान जा प्रगट होते हैं। केतु जहाँ प्रकट होता है, वहाँके राजा प्रजाकी हानि होती है। वैसेही इनके पहुँचनेसे उसके हितकी हानि हो जाती है। ये इसीलिये पहुँचते हैं कि उसके हितका नाश हो वा, इनके प्रकट होनेसे उसे हानिका भय होता है। (पं. रामकुमारजी)। अथवा, (ग) (कोष्टकांतर्गत अर्थके अनुसार) भाव यह है कि यदि इनका उदय हुआ अर्थात् भाग्यवश इनको कुछ ऐश्वर्य, बल या अधिकार मिलगया तो सभीके हितमें बाधा पड़ने लगती है, जैसे केतुके उदयसे संसारको अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं।

२ इस चरणके और अर्थ ये किये जाते हैं। (क) सभीके लिये इनका उदय (वृद्धि) केतुके समान (हानिकारक) है। (यहाँ 'हित'=लिये।) (ख) उनका उदय केतुकी तरह सभीका समान (एकसा) हित करनेवाला है। (यह व्यंग है। इसमें ध्वनि यह है कि ये सभीका अहित करते हैं।) (ग) उनका उदय केतुके सदृश सबका अहित करता है। [कोई कोई पण्डित 'सम हित' को सं+अहित (=सदृश अहित) मानकर ऐसा अर्थ करते हैं।]

३ 'कुंभकरन सम सोवत नीके' इति। (क) कुम्भकर्ण तपस्या करके चाहता था कि यह वर प्राप्त करूँ कि छः महीना जागूँ तब केवल एक दिन सोऊँ। जब ब्रह्माजी इसके पास आए तो इसे देखकर विस्मित होगए और सोचने लगे कि 'जौं एहि खल नित करब अहारू। होइहि सब उजारि संसारू।' तब उन्होंने 'सारद प्रेरि तासु मति फेरी। मांगेसि नींद मास षट केरी।' (१. १७७) जगत्की रक्षाके लिये उन्होंने उसकी मति फेर दी जिससे उसने छः महीने नींद हो चुकनेपर एक दिनका जागरण माँगा; नहीं तो संसार चौपट हो जाता। (ख) भाव यह है कि जब इनकी बढ़ती जगत्के लिये केतुके समान अहितकारी है तब इनका सोतेही रहना अच्छा है। इनका ऐश्वर्यहीन, दरिद्र, दुःखी, शोचग्रस्त हो दबे पड़े रहना इत्यादि 'सोते रहना' है। क्योंकि तब जगत् इनके उपद्रवसे बचा रहेगा। इनके मरमिटनेसे जगत्का भला है। जैसे कुम्भकर्णके जागनेसे संसारके चौपट होनेकी संभावना थी वैसेही इनके उदयसे संसारके अकल्याणकी संभावना है। अतः ये सोतेही रहें। पुनः, (ग) पूरी अर्धालीका अन्वय इस प्रकार करें!—(उनका) उदय केतु सम (है) सबहीका हित (उनके) कुम्भकर्णसमान नीके (भली भाँति) सोतेही रहनेमें है।' भाव यह है कि जैसे केतुके अस्त होनेहीसे वा उदय न होनेहीसे संसारकी भलाई है और कुम्भकर्ण की गहरी दीर्घकालकी नींदसेही संसार सुखी रहता था, वैसेही इनका मरे मिटे रहना, कभी वृद्धि न होना, सदा आपत्तिरूपी गहरी नींदमें पड़े रहनाही जगत्के लिये हितकर है। पुनः, (घ) बाबा हरीदासजी अर्थ करते हैं कि 'कुम्भकर्णके समान ये नीके पदार्थसे अर्थात् ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, आदिसे सोते रहते हैं अर्थात् उन्हें भूले रहते हैं। 'सोवत नीके' कहकर यहभी जनाया कि जीवहिंसा, परपीड़ामें आसक्त रहना उनका जागना है।' (शिला)।

पर अकाजु लगि तनु परिहरहीं। जिमि हिम उपल कृषी दलि गरहीं। ७।

शब्दार्थ—परिहरना=छोड़ देना, त्याग देना। हिम उपल=बर्फका पत्थर, ओले। कृषी (कृषि)=खेती, फ़सल। दलि=दलकर, नाश करके। गरना=गलना, घुल जाना।

अर्थ—वे दूसरेका काम बिगाड़नेके लिये अपना शरीरतक छोड़देते हैं; जैसे ओले खेतीका नाश करके (आपभी) गल जाते हैं। ७।

नोट—१ सन्त दूसरेके 'काज' के लिये, पर अकाजकी रक्षामें, शरीरतक छोड़ देते हैं; जैसे गृध्रराज जटायुने। इसीके विपरीत खल पर 'अकाज' के लिये तन त्याग देते हैं जैसे कालनेमि और मारीचने किया। २ इस अर्धालीके जोड़की अर्धाली उत्तरकांडमें यह है। 'परसंपदा विनासि नसाहीं। जिमि ससि हति हिम उपल विलाहीं॥ १२१ (१६)। ३ 'पर अकाज' पहलेभी कहा है। यथा, 'पर अकाज भट सहस बाहुसे।' अर्थात् प्रथम बताया कि पराया काज बिगाड़नेके लिये सहस्रबाहुके समान पुरुषार्थ करते हैं। जब उतने पुरुषार्थसेभी अकाज न हुआ तब क्या करते हैं यह यहाँ बताते हैं कि 'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं'। अर्थात् उसके लिये शरीरतककी पर्वा नहीं करते, तन त्यागकर अकाज करते हैं। 'पराई बदशगूनीके लिये नाक कटाना' मुहावरा है। अपनी नाक कटे तो कटे, पर दूसरेको अपशकुन अवश्य हो। वही भाव यहाँ है। ४ 'जिमि हिम उपल....' इति। यहाँ प्रथम साधारण बात कहकर फिर विशेषसे समता देनेसे 'उदाहरण अलङ्कार' है। ५ 'परिहरहीं' और 'गरहीं' बहुवचन हैं; क्योंकि ये सब लक्षण 'खलगण' के कहे गए हैं। एक दो ओलोंसे खेतीका नाश नहीं हो सकता, जब बहुतसे ओले गिरते हैं तभी खेतीका नाश होता है। वैसेही बहुतसे खल मिलकर परअकाज करते हैं। ६ मानसपत्रिकाकार 'हिम उपल' को दो शब्द मानते हैं। हिम=पाला। उपल=पत्थर=ओला। अर्थात् 'जैसे हिम और उपल दोनों एकसाँ नहीं रहते; थोड़ेही काल बाद नष्ट हो जाते हैं। वैसेही खलोंका नाश तो होगा ही, पर खेद इतनाही है कि ये औरोंको बरबाद कर देते हैं। यथा, 'आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं। जे कहुँ सतमारग प्रतिपालहिं॥ ७. १००।'

बंदौं खल जस सेष सरोषा। सहस बदन बरनइ परदोषा। ८।
पुनि प्रनवौं पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहसदस काना। ९।

शब्दार्थ—जस=जैसा, समान, तुल्य। बदन=मुख। बरनइ=वर्णन करता है। पुनि (पुनः)=फिर, तत्पश्चात। प्रनवौं=प्रणाम करता हूँ। काना (कान)=सुननेवाली इन्द्रिय। यहाँ 'सरोषा', 'सहस बदन', 'परदोष' 'परअघ' शब्द श्लिष्टपद हैं। अर्थात् इनके दो दो अर्थ हैं, एक अर्थ खलपक्षका और दूसरा अर्थ साधारण दूसरे पक्षका है। जो निम्न चार्ट (नक़शा) से स्पष्ट हो जायगा।

शब्द	खलपक्षका अर्थ	साधारण दूसरेपक्षका अर्थ
सरोषा	=सूरता वा जोशसहित। =क्रोधपूर्वक, रोषसहित। =हर्षपूर्वक। यथा, 'सर्बस देउँ आजु सहरोसा। १. २०८।', 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। ३. ४३।'	=सहरोषा=सहर्ष=प्रसन्नतापूर्वक। अथवा, (यदि 'सरोषा' को शेषका विशेषण मानें तो) प्रलयकालीनक्रोधयुक्त। (प्रलयके समय शेषजी रोष करते हैं)।
सहस बदन	स हास्य (हँसते, प्रसन्न) मुखसे। वा, हज़ार मुखोंसे।	हज़ार मुखोंसे
परदोष	पराये दोषोंको। पर=दूसरेका।	दोषोंसे परे (दूर वा अलग) भगवान (का यश)

पर अघ — पराये पापोंको — अघसे परे अर्थात् अनघ, निष्पाप भगवान् (का यश)

शेषजी, पृथुजी—इनकी कथाएँ आगे टिप्पणोंमें दीगई हैं।

अर्थ—मैं खलोंको शेषजीके समान (मानकर) प्रणाम करता हूँ, जो हज़ार मुखोंसे 'सरोष' 'परदोष' का वर्णन करते हैं। ८। फिर उनको राजा पृथुके समान (जानकर) पुनः प्रणाम करता हूँ, जो दस हज़ार कानोंसे 'पर अघ' को सुनते हैं। ९।

नोट—१ खलगणकी वन्दना करके अब खलकी वन्दना करते हैं। सन्तसमाजको तीर्थराजकी उपमा दी थी, वैसेही यहाँ खलको त्रैलोक्यके बड़े बड़े राजाओंकी उपमा देकर वन्दना करते हैं; अर्थात् 'खल राजा' की वन्दना करते हैं। यहाँतक खलगणके गुण कहे, अब खलराजाओंके गुण कहते हैं।

२ 'जस सेष सरोषा।·····' इति। (क) शेषजीके हज़ार मुख और दो हज़ार जिह्वायें हैं, जिनसे वे नित्य निरन्तर प्रसन्नता और उत्साहपूर्वक भगवान्‌के गुण गान करते रहते हैं। खलोंके एकही मुख है, एकही जीभ है, पर वे एकही जिह्वासे दो हज़ार जिह्वाओं और एकही मुखसे एकहजार मुखोंके समान जोश, उत्साह और हर्षपूर्वक पराये दोषोंका नित्य निरन्तर कहते रहते हैं। (इस भावार्थमें 'सहरोषा' का एकही अर्थ दोनों पक्षोंमें लिया गया है। इस तरह यहाँ 'पूर्णोपमा अलङ्कार है।) तात्पर्य कि पर दोषवर्णन करनेमें वे कभी थकते नहीं। पुनः, (ख) 'जस सेष सरोषा'=जो प्रलयकालीन शेषके समान रोषयुक्त हैं (उनकी मैं वन्दना करता हूँ।)=क्रोधमें भरे हुए शेषके समान। भाव यह कि शेषजी सरोष नहीं हैं, पर वे सदा रोषयुक्तही रहते हैं। (वीरकवि)। पुनः, (ग) शेषजी हर्षपूर्वक हरियश हजार मुखोंसे गाते हैं और खल क्रोधपूर्वक पराये दोषोंको कहते हैं। पुनः, (घ) खल जस' ऐसी पदयोजनासे अर्थ होगा कि 'कुपित शेषनागसदृश खलोंके यशकी वन्दना करता हूँ।' (सु० द्विवेदी), यहाँ 'जस'=यश। पंजाबीजीनेभी यश' अर्थ किया है। पुनः, (ङ) शेष हज़ार मुखसे हरियश कहते हैं और खल हँसते हुए मुखसे पराये दोषोंको वर्णन करते हैं। (सु. द्विवेदीजी। जब 'सरोषा' को शेषका विशेषण मानेंगे तब दूसरे चरणका अर्थ इस प्रकार पृथक् होगा।) च) 'बरनइ परदोषा' का ध्वनित भाव यह है कि अपने दोषोंपर कभीभी दृष्टि नहीं डालते। कारण कि ऐसोंको अपना दोष सूझताही नहीं। इसके विपरीत जो अपने दोष देखा करते हैं, अपने दोषोंको कहते हैं, उन्हें सदा दूसरोंमें गुणही देख पड़ते हैं। अपना दोष कह डालनेसे उसका पापभी यदि जाता नहीं रहता तोभी घट तो जाताही है और क्षमाभी कर दिया जाता है; इसीसे कहा है, 'तुलसी अपने राम से कह सुनाउ निज दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष॥'

३ 'सहसबदन बरनइ परदोषा'। 'शेषजी' इति। कद्रूसे कश्यपजीके हज़ार नाग पुत्र हुए। विनताको दासी बनानेके लिये कद्रूने अपने पुत्रोंको आज्ञा दी कि तुम शीघ्र काले बाल बनकर सूर्यके घोड़ेकी पूँछ ढक लो। जिन पुत्रोंने आज्ञा नहीं मानी, उनको उसने शाप दे दिया कि जनमेजयके यज्ञमें भस्म कर दिये जाओगे। तब शेषनागने अन्य सर्पोंका साथ छोड़कर कठिन तपस्या प्रारंभ की। ब्रह्माजीके आनेपर उन्होंने माँगा कि मेरी बुद्धि धर्म, तपस्या और शांतिमें संलग्न रहे। ब्रह्माजीने कहा कि मेरी आज्ञासे तुम प्रजाके हितके लिये इस पृथ्वीको इस तरह धारण करो कि यह अचल हो जाय। तुम्हारी बुद्धि सदा धर्ममें अटल बनी रहे। शेषजीने ब्रह्माजीकी आज्ञाका पालन किया। (महाभारत आदि पर्व अ० ३६)। भगवान्‌की शय्या बनने और निरन्तर उनका गुण गान करनेका उल्लेख इस प्रसंगमें नहीं है। श्रीमद्भागवत स्कन्ध २ अ० ७ में इनका निरन्तर गुणगान करना पाया जाता है। यथा, 'नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये। गायन्गुणान्दशशतानन

आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम् ॥ ४१ ।' अर्थात् उन महापराक्रमी पुराणपुरुषकी मायाके प्रभावका अन्त तो मैं (ब्रह्मा) और तुम्हारे अग्रज सनकादिभी नहीं जानते, फिर औरोंका तो कहनाही क्या ? दशसहस्र-फणवाले आदिदेव शेषजीभी उनका गुणगान करते हुए अभीतक उनका पार नहीं पासके। (ब्रह्माजीने नारदजीसे कहा है)।

४ श्रीपृथुजी—जब राजा वेन प्रजामें अधर्मका प्रचार करने लगा और महर्षियोंके समझानेपरभी न माना तब ऋषियोंने भगवान्की निंदा करनेवाले उस दुष्टको अपने हुंकारमात्रसे (अथवा, महाभारत शांतिपर्वके अनुसार अभिमंत्रित कुशाओंसे) मार डाला। फिर अराजकतासे रक्षा करनेके लिये उन्होंने प्रथम उसकी बाईं जङ्घाको मथा जिससे 'निषाद' की उत्पत्ति हुई। उसके जन्मसे वेनके पाप दूर हो गए। तब उन्होंने वेनके हाथोंका मंथन किया जिससे एक स्त्री पुरुषका जोड़ा उत्पन्न हुआ। दाहिनेसे पृथुकी और बाएँसे अर्चिकी उत्पत्ति हुई। पृथुजीके दक्षिण हस्तमें विष्णुभगवान्की हस्तरेखाएँ और चरणोंमें कमलका चिह्न देखकर महर्षियोंने जान लिया कि ये विष्णुके अंशावतार हैं, क्योंकि जिसके हाथमें अन्य रेखाओंसे बिना मिला हुआ चक्रका चिह्न होता है वह भगवान्का अंश हुआ करता है। अर्चि लक्ष्मीजीका अवतार हैं। (भा. ४. १५. १–१०)। श्रीपृथुजीके शरीरपर दिव्य कवच सुशोभित था, कमरमें तलवार, कंधेपर अजगवनामक धनुष तथा बाण थे। वे वेद वेदाङ्गोंके ज्ञाता और धनुर्विद्यामें पारंगत थे। प्रकट होनेपर उन्होंने ऋषियोंसे कहा, 'मुझे धर्म और अर्थका निर्णय करनेवाली सूक्ष्म बुद्धि प्राप्त है। इसके द्वारा मुझे क्या करना चाहिए, यह ठीक ठीक बताइए।' देवताओं और महर्षियोंने कहा 'जिस कार्यमें तुम्हें धर्मकी स्थिति जान पड़े उसीको निःशङ्क होकर करो। प्रिय अप्रियकी परवा न करके सब जीवोंके प्रति समान भाव रक्खो। कामक्रोधलोभमानको दूरसे नमस्कार करो। सर्वदा धर्मपर दृष्टि रक्खो और जो धर्मसे विचलित होता दिखाई पड़े उसे अपने बाहुबलसे दमन करो।....'। श्रीशुक्राचार्यजी उनके पुरोहित बने, बालखिल्योंने मंत्रीका काम सँभाला। इन्द्र, देवगण, भगवान् विष्णु, प्रजापति, ऋषि, ब्राह्मण और आङ्गिरस तथा देवताओंके साथ ब्रह्माजी (सब) ने मिलकर पृथुजीका राज्याभिषेक किया। कुबेर, इन्द्र, पवन, ब्रह्मा, आदि सभोंने उन्हें दिव्य दिव्य भेंटें दीं जिनका वर्णन भा. ४. १५. १४–२० में है। उनके राज्यमें बुढ़ापा, दुष्काल, आधिव्याधि तथा सर्प, चोर या आपसमें एक दूसरेसे किसी प्रकारका भय नहीं था। पृथ्वी बिना जोते हुये अन्न देती थी। उन्होंने पृथ्वीसे सहस्र प्रकारके धान्य दुहे थे। उन्होंने लोकमें धर्मकी वृद्धि और सारी प्रजाका मनोरंजन किया था, इसीसे वे 'राजा' नामसे प्रसिद्ध हुए। ब्राह्मणोंका क्षतिसे त्राण करनेके कारण वे 'क्षत्रिय' हुए तथा उन्होंने धर्मानुसार पृथ्वीको प्रथित (पालित) किया इससे मेदिनीका नाम 'पृथ्वी' हुआ। (महाभारत शांति पर्व; ब्रह्मपुराण, भा. ४. १४–१५।) श्रीपृथुजीके पूर्व भूमंडल पर पुर ग्रामादिकी कल्पना नहीं थी। 'प्राक्पृथोरिहनैवैषा पुरग्रामादिकल्पना। भा. ४. १८. ३२।' उन्होंने पृथ्वीको समथल कर पुर, नगर, दुर्ग आदिकी योजनाकर सारी प्रजाको यथायोग्य बसाया।

पूर्ववाहिनी सरस्वतीतटपर ब्रह्मावर्तक्षेत्रमें श्रीपृथुमहाराजने सौ अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ग्रहण की। निन्नानवे यज्ञ पूरे होनेपर अंतिम यज्ञमें इन्द्रने विघ्न किये। अनेक रूप धारण करकरके उसने घोड़ा चुराया। कई बार ऐसा करनेपर पृथुने इन्द्रको भस्म करनेका निश्चय किया। ज्योंही उसके भस्म करनेके लिये स्रुवा लेकर वे आहुति देनेको हुए, ब्रह्माजीने आकर उनको रोक दिया। उनकी आज्ञासे राजाने अनुष्ठान निन्नानवेही यज्ञोंसे समाप्त करदिया, इन्द्रसे मित्रता कर ली। अवभृथस्नानसे निवृत्त होनेपर भाग पानेवाले वरदायक देवताओंने इच्छित वरदान दिये। तदनंतर भगवान् विष्णु इन्द्र सहित वहाँ आए और उनके गुण और शीलपर प्रसन्नता प्रकट करके उनसे वर माँगनेको कहा। (भा. ४. २०. १६)। उन्होंने माँगा, 'न कामये नाथ तदप्यहं क्वचिन्न यत्र

युष्मच्चरणाम्बुजासवः । महत्तमान्तर्हृदयान्मुखच्युतो विधत्स्व कर्णायुतमेष मे वरैः । भा. ४. २०. २४ ।' अर्थात् हे नाथ ! जहाँ महान् पुरुषोंके हृदयसे उनके मुखद्वारा बाहर निकला हुआ आपके चरणकमलका (कीर्त्तिरूप) मकरन्द नहीं है, उस पदको मैं कभी नहीं प्राप्त करना चाहता । बस, मेरा वर तो यही है कि (अपने सुयशसुधा-का पान करानेके लिये) आप मुझे दशसहस्र कान दें ।

५ 'पृथुराज समाना....' इति । श्रीपृथुमहाराज दो कानोंसे भगवद्यश दशहज़ार कानोंके बराबर सुनते हैं। वैसेही खल पराये पापोंको इस चावसे और ऐसे ध्यान लगाकर सुनते हैं मानों इनके कानोंमें दशहज़ार कानों की शक्ति है ।

सु. द्विवेदीजीका मत है कि "खलपक्षमें 'सहस दस काना' में 'कान' का अर्थ है 'कानि', 'ग्लानिसे' । अर्थात् दूसरोंके पापोंके ऊपर दुःख भाव दिखलानेके लिये हज़ारों ग्लानिसे सुनते हैं और भीतर बड़ा ही सुननेका चाव है ।"

बहुरि सक्र सम बिनवौं तेही । संतत सुरानीक हित जेही । १० ।
बचन बज्र जेहि सदा पिआरा । सहस नयन पर दोष निहारा । ११ ।

शब्दार्थ—सक्र=इन्द्र । बिनवौं=विनय वा प्रार्थना करता हूँ । तेही=उसको । संतत=सदा । सुरानीक= सुरा+नीक=मदिरा अच्छी लगती है ।=अच्छी मदिरा । (ये अर्थ खलपक्षमें हैं) । सुरानीक=सुर+अनीक= देवताओंकी सेना (इन्द्रके पक्षमें) । वा सुरा=सोम । हित=प्यारी ।=कल्याणकारक । वज्र=इन्द्रका शस्त्र । 'परदोष' भी श्लिष्ट शब्द है । परदोष=दोषसे परे=भगवान् । पर दोष=दूसरेके दोष ।

अर्थ—फिर इन्द्रके समान (मानकर) इनकी विनय करता हूँ, जिनको 'सुरानीक' सदा प्रिय और हितकर है । १० । जिन्हें वचनरूपी वज्र सदा प्रिय लगता है और जो हज़ार नेत्रोंसे 'परदोष' को देखते हैं । ११ ।

नोट—१ 'सक्र सम....सुरानीक हित जेही' इति । (क) इन्द्रको देवताओंकी सेना प्रिय और खलोंको अच्छी तेज़ मदिरा प्रिय है । इन्द्र सोम पान करते हैं, खल मद्य पीते हैं । सू. प्र. मिश्रजी खलपक्षमें 'सुरानीक हित' का अर्थ 'मदिराकी रुचि हित है' करते हैं और पं० रामकुमारजी 'मदिरा नीक (अर्थात् प्रिय) लगती है और हित (अर्थात् गुण) है' ऐसा अर्थ करते हैं । 'सुरा' मदिरा, गाँजा, भाँग, अफ़ीम इत्यादि सब प्रकारके अमलों (नशाओं) की संज्ञा है । देवता जो 'सोम' पीते हैं उसेभी 'सुरा' कहते हैं । दुष्टोंको मदिरा प्रिय होनेका कारणभी है । वे परद्रोहमें तत्पर भी रहते हैं, इससे वे कभी निश्चिन्त नहीं रह सकते । यथा, 'परद्रोही कि होइ निःसंका । ७. ११२ ।' वैद्यकमें शोक और चिन्ताकी औषधि अमल (मदिरा आदि) बताई गई है । डाक्टरभी बहुत कष्टमें रोगीको ब्रांडी नामकी मदिरा देते हैं । ये मदिरा पान करके नशेमें पड़े रहते हैं । अतएव हितकर कहा । (ख) मा. मा. कार 'नीक' को 'हित' का विशेषण मानते हैं । वे कहते हैं कि खलोंको मदिरा प्रिय है, यह खास लक्षण खलोंका नहीं है; कितनेही लोग मद्य नहीं पीते तथापि परनिंदा आदि खलोंके अवगुण उनमें रहते हैं । अर्थ—'जिसे नीक हित सुरासमान है' । भाव यह है कि समुद्रमंथनसमय सुरतरु, ऐरावत आदिको इन्द्रने ले लिया, जब मदिरा निकली तब उसको ग्रहण न किया, क्योंकि देवताओं और ब्राह्मणोंके लिये वह अग्राह्य है । यथा, 'विप्र विवेकी वेदविद संमत साधु सुजाति । जिमि धोखे मद पान कर सचिव सोच तेहि भाँति । २. १४४ ।'; इसी प्रकार खलोंको 'नीक हित' अर्थात् उत्तम परहित अग्राह्य है । इस अर्थमें 'हित' का अर्थ 'परहित' लिया गया है; अथवा, 'नीक हित' का अर्थ 'पर हित' लिया गया जान पड़ता है क्योंकि 'अपने हित' से 'परहित' को उत्तम कह सकते हैं । (ग) बाबा

हरिदासजी 'सुरानीक' का खलपक्षमें 'मद्यकी अनीक (सेना) अर्थात् काम क्रोध मद लोभ मोह मत्सरादि' ऐसा अर्थ करते हैं।

२ 'बचन बज्र...' इति। (क) इन्द्रको वज्र प्रिय है और इनको वज्रसमान दूसरोंका हृदय विदीर्ण करनेवाले, थर्रा देनेवाले कठोर वचन प्रिय हैं। पुनः भाव कि खल वचनसेही वज्रका सा घात करते हैं। वज्रसे पर्वत टुकड़े टुकड़े हो जाता है, इनके वचन धैर्यवानोंकोभी दहला देते हैं, कलेजा फाड़ देते हैं। (ख) 'सदा पिआरा' का भाव कि इंद्र तो वज्र सदा धारण नहीं किये रहते; पर ये वचनरूपी वज्र सदा धारण किये रहते हैं, क्षणभर भी नहीं त्यागते। (पं. रा. कु.)। (ग) 'सहस नयन परदोष निहारा' इति। इंद्रने श्रीरामविवाहके समय हजारों नेत्रोंसे 'परदोष' (दोषोंसे परे) श्रीरामचन्द्रजीके दूलहरूपका दर्शन किया और अपनेको धन्य माना। यथा, 'रामहिं चितव सुरेस सुजाना। गौतम श्रापु परम हित माना। देव सकल सुरपतिहि सिहाहीं। आजु पुरंदर सम कोउ नाहीं। १. ३१७।'; वैसेही खल पराया दोष देखनेमें दोही नेत्रोंसे हजारों नेत्रोंका काम लेते हैं और आनंदित होते हैं कि हमारी तरह कोई दूसरा परछिद्र नहीं देख सकता। परदोष देखनेमें अत्यंत आनन्द प्राप्त करते हैं।

३ यहाँतक खलको तीन बड़े-बड़े राजाओं (नागराज शेषजी, पृथुराजजी, और इन्द्र) के समान कहा। शेषजीसे पाताल, पृथुराजसे भूतल और इन्द्रने स्वर्ग अर्थात् तीनों लोकोंके अधिष्ठाताओंकी समता देकर यहाँ वंदना की गई। बड़ोंकी समता देकर वंदना की; क्योंकि बड़े लोग अपने गुणोंसे बड़े हैं और खल अपने अवगुणोंसे। (पं. रा. कु.)।

४ खलमें तीन प्रकारके दोष पाए, वही यहाँ दिखाये। इनका कहना, सुनना और देखना तीनों दोषमयी हैं। यथा, 'बरनइ परदोषा', बचन बज्र सदा पिआरा'; 'पर अघ सुनइ'; 'परदोष निहारा'। ये तीनों खलमें एकही ठौर मिलते हैं पर तीनों लोकोंमें इन तीनों बातोंकी समताके लिये कोई एकही प्राणी न मिला, एक एक लोकमें खलोंके एक एक कर्मकी एकही एक उपमा मिली; अतएव तीन कर्मोंके लिये तीन दृष्टांत दिये। पुनः, इन तीनकी उपमा दी क्योंकि ये तीनों वन्दनीय हैं, खल यह पढ़ या सुनकर प्रसन्न होंगे कि हमें तीनों लोकोंके बड़े बड़े राजाओंकी उपमा दी गई है।

दो०—उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिँ[१] खल रीति।
जानि[२] पानि जुग जोरि जन बिनती करइ[३] सप्रीति। ४।

शब्दार्थ—उदासीन=जो विरोधी पक्षोंमेंसे किसीकी ओर न हो; जो किसीके लेने देनेमें न हो; जिसका न कोई शत्रु है न मित्र। अरि=शत्रु। मीत=मित्र। रीति = स्वभाव, परिपाटी। पानि (पाणि)=हाथ। जन=दास।

अर्थ—उदासीन (हो), शत्रु (हो अथवा), मित्र (हो, इन तीनों) का भला सुनकर जलते हैं, (यह) खलका स्वभाव (है, ऐसा) जानकर दोनों हाथ जोड़कर यह जन प्रेमपूर्वक उनसे विनय करता है। ४।

टिप्पणी—१ 'उदासीन अरि मीत हित....' इति। (क) पूर्व बता आए कि वे 'परहितहानि' को

---

१ जरत—१६६१। 'त' का 'हि' दूसरी स्याहीसे बनाया गया है। अन्य सबोंमें 'जरहिं' पाठ है। २ जानि—१७२१, १७६२, छ०, को. रा.। जानु—१६६१ ('नु' का 'नि' बनानेकी चेष्टा की गई है। स्याही वैसी ही है।), रा. प्र., वै., पं.। ३ करउँ—ना. प्र. सभा। करइ—प्रायः सर्वत्र। 'जन' के साथ 'करइ' उत्तम और ठीक है।

लाभ समझते हैं। यथा, 'परहित हानि लाभ जिन्ह केरे।' अब बताते हैं कि 'परहित' होनेमें उनको जलन होती है। (ख) 'सुनत' से जनाया कि 'सुन' भर लें कि किसीका भला हुआ तो जल उठते हैं, भला हुआ हो या न हुआ हो; देख लें कि भला हुआ है, तब तो न जाने क्या हो जाय? (ग) 'उदासीन अरि मीत' कहनेका भाव कि शत्रुका हित देखकर तो प्रायः संसारमें सभीको जलन होती है, पर मित्रका भला सुनकर तो सबको प्रसन्नता होती है। परन्तु उदासीन और मित्रकाभी भला सुनकर जलन हो, यह खलहीका स्वभाव है। संतोंका स्वभाव इसके प्रतिकूल है। सन्त सबका हित सुनकर प्रसन्न होते हैं और शत्रुतकका दुःख सुनकर दुःखी होते हैं। यथा, 'परदुख दुख सुख सुख देखे पर। ७. ३८।' (घ) 'जरहिं' अर्थात् उनके हृदयमें संताप हो जाता है, हाय समा जाती है। यथा, 'खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा परसंपति देखी। ७. ३९।'

"जानि पानि जुग जोरि जन" इति

पाठांतर—'जानु पानि जुग जोरि जन' पर विचार। काशिराजकी छपी प्रतिमें 'जानु'-और भागवतदास, रामायणीजी, पं० रामवल्लभाशरणजी आदिका पाठ 'जानि' है। 'जानु' का घुटना अर्थ गृहीत है। परन्तु यह सङ्गत नहीं जान पड़ता; क्योंकि सनातन आर्य मर्यादा साष्टांग प्रणिपात या बद्धाञ्जलि होनेकाही है, बद्धजानु होनेका नहीं, और न कहीं किसी पौर्वात्य काव्यमें उसका वर्णनही है। हाँ, बद्धजानु होकर बैठने की एक शिष्ट मुद्रा है, वीरासनका एक आधुनिक भेद मात्र है, जो अनार्य यवनादि बादशाहोंमें अधिक प्रचलित था। क्षत्रियोंकी सभामें अब भी उसी आसनसे प्रायः बैठते हैं। अतः वह एक आसनविशेष मात्र है। परन्तु विनय प्रसङ्गमें सिवा साष्टांग प्रणिपात करने या बद्धपाणि होनेके और कोई वर्णन नहीं मिलता। यदि 'जानि' का 'जानु' पाठांतरभी माना जाय तोभी उसका अर्थ 'जानना' धातुकेही किसी रूप भेदमें ग्रहण करना उचित है। घुटनापरक 'जानु' का अर्थ बड़ा भद्दा हो जाता है। 'जानने' धातुमें 'जानु' का विधि क्रियापदात्मक अर्थ करना अच्छा होगा। अर्थात् 'शत्रु मित्र उदासीन इनके कल्याण साधनको देखकर दुःखित और संतप्त होते हैं, ऐसा खलोंका स्वभाव जानिए।' अतः इस प्रकारकी प्रकृतिके आवरणमें क्रीड़ा करनेवाले (राममय) प्राणियों को भी अनुरागपूर्वक मैं नमस्कार करता हूँ, उनके निकटभी सस्नेह और सच्ची नम्रता प्रकट करता हूँ। परन्तु 'जानि' पाठही अधिक सङ्गत और स्वभाविक है। यह शब्द और अर्थ, दोनोंही भावोंसे श्रेष्ठ है। क्योंकि एक तो 'पानि' से 'जानि' का प्रास ठीक बैठ जाता है, दूसरे अर्थमें स्वाभाविक है (ऐसा खलस्वभाव जानकर)। अतः हमको भी 'जानि' ही पाठ अभिप्रेत है।

पं० सुधाकर द्विवेदी, पं० रामकुमार और पं० सूर्यप्रसादमिश्रने भी यही पाठ उत्तम माना है। पं० सूर्यप्रसाद 'जानु पानि जुग जोरि' का अर्थ 'घुटना टेककर और हाथ जोड़कर' करते हुए लिखते हैं कि 'घुटना टेकनेका भाव यह है कि हम लाचार होकर प्रणाम करते हैं अर्थात् वही घुटना टेकता है जिसका कुछभी किया नहीं हो सकता और हाथभी वही जोड़ता है जिसका पुरुषार्थ नहीं चलता है। यह भाव वैजनाथजीकी टीका या रामायणपरिचर्यासे लिया गया है।

ग्रियरसनसाहबने जो ताम्रपत्रवाला गोस्वामीजी का चित्र ना. प्र. सभाको दिया था और जो पं० रामेश्वरभट्टकी विनयकी टीका एवं श्रीरूपकलाजीकी भक्तमालटीकामेंभी है, उसमें गोस्वामीजीको 'दोज़ानू' (घुटना जोड़े) बैठे हुए दिखाया गया है। वह चित्र बहुत छोटी अवस्थाका है। यदि उसे ठीक मानें तो 'जानु' पाठभी ठीक हो सकता है यद्यपि किसीभी ग्रन्थमें इस प्रकारका प्रणाम सिवाय यहाँके नहीं देखा जाता।

नोट—१ 'जन बिनती करइ...' इति। (क) 'जन' का भाव कि दास तो सबको प्रिय होता है। यथा,

'सब कें प्रिय सेवक यह नीती। ७. १६।' अतः दास जानकर प्रेम रक्खेंगे। अथवा, मैं श्रीरामजी का अनन्य दास हूँ और अनन्यका लक्षणही है कि वह जगन्मात्रको प्रभुका रूप और अपनेको सबका सेवक मानते हैं अतः उसी भावसे विनती करता हूँ। (ख) 'सप्रीति' इति। भाव यह कि अहितकर्तापर प्रीति नहीं होती, परन्त मैं प्रीतिसहित विनय करता हूँ। 'सप्रीति' विनतीका कारण 'जरहिं खल रीति जानि' में कह दिया है। अर्थात यह तो खलोंका स्वभाव ही है, यह जानता हूँ। स्वभाव अमिट है। वे अपना स्वभाव नहीं छोड़ते तो मैं अपना (संत) स्वभाव क्यों छोड़ूँ? पुनः, 'सप्रीति' में वही भाव है जो पूर्व 'बहुरि बंदि खलगन सतिभाएँ' ४ (१) के 'सतिभाएँ' का है। वहाँ देखिए। पुनः, (ग) इस जगतमें अनेक रूपोंमें चित्र विचित्र स्वभाव विशिष्ट होकर वह जगदीश्वर रम रहा है। कविवर गोस्वामीजी उन्हीं विविध रूप स्वभावोंमें उसे देखकर सद्भावसे प्रणाम करते हैं। यही सिद्ध कवियोंकी भावना है। वे चराचरमें उसी आदि दम्पतिके दर्शन करते हैं, 'सियाराम मय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥' यहाँ गोस्वामीजी आसुरी सम्पत्ति विशिष्ट खलरूपमें उस तत्त्वकी छटाका वर्णन करते और उसको प्रणाम करते हैं। वे इसी भावसे साधुता एवं सरलतापूर्वकही उसको नमस्कार करते हैं। यदि ऐसा न माना गया तो उनका यह नमस्कार व्यङ्ग्य भावसे काकु कूटमय हो जायगा जिसमें चापल्य और छल होता है और जो एक गम्भीर साधुके लिये अशोभित है। इसलिए गोस्वामीजी सरीखे परम साधुका यह खलोंके प्रति नमस्कार सद्भावहीसे है और वह उसी दिव्य ज्ञानसे। (श्रीविंदुजी)। पुनः, (घ) सुधाकर द्विवेदीजी इसका भाव यों लिखते हैं कि 'अर्थात् खल (खल जिसमें वैद्य लोग वनस्पति, हीरा इत्यादि कूटते हैं) के वशमें हो सभी कूटे जाते हैं, सभीका अङ्ग भङ्ग हो जाता है। 'रलयोः सावर्ण्यात्'। खलसे खरका ग्रहण करनेसे खर (गदहों) अर्थात् मूर्खोंकी ऐसी रीति है यह अर्थ करना, ऐसे मूर्खोंको ब्रह्माभी नहीं प्रसन्न कर सकते, मेरी क्या गिनती है, यह जानकर तुलसी जन प्रीतिके साथ विनय करते हैं; अर्थात् व्याघ्रभी अपने बालकोंका पालन पोषण करता है। सो मुझे जन जान मेरे ऊपर अनुग्रह करें'। (मा० प०)। (ङ) वैजनाथजीका मत है कि 'जानु पाणि जोड़कर सप्रीति' विनती करते हैं जिसमें वे हमारे काव्यके कहने सुननेके समय अपने गुणोंका प्रकाश न करें। अर्थात् विद्वान् पंडित हों तो भाषा मानकर अनादर न करें। कवि हों तो काव्यके दोष न निकालें और यदि अनपढ़ हों तो कुतर्क कर करके दूसरोंका चित्त न बिगाड़ें; अपने मनमें सब रक्खे रहें मुखसे न निकालें; मेरे काव्यकी भलाई न करें तो बुराईभी न करें। (वै, वि. टी.)।

संत और खल स्वभाव

सन्त		खल
	उनके प्रति कविकी उक्तियोंकी एकता	
सुजन समाज""करउँ प्रनाम	१	बहुरि बंदि खलगन
सप्रेम सुबानी	२	सतिभाये, सप्रीति
'करउँ प्रनाम सप्रेम सुबानी' अर्थात् कर्म मन वचन से	३	'जानि पानि जुग जोरि जन विनती करइ सप्रीति' अर्थात् कर्म वचन मन से
'जो जग जंगम तीरथराजू'	४	'पृथुराज समाना' 'सुक्र सम' 'जस सेष'
'विधि बस सुजन कुसंगति परहीं फनिमनि सम निज गुन अनुसरहीं'	५	'बायस पलिअहि अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ कि कागा॥'

संत सरल चित जगत हित जानि	६ उदासीन अरि मीत हित····जानि
'बाल बिनय'	७ जन बिनती करइ

८ बंदउँ संत असज्जन चरना

सन्त स्वभाव	खल स्वभाव
सकल गुनखानी	१ 'अघ अवगुन धन धनी धनेसा'
'जो सहि दुख परछिद्र दुरावा'	२ 'जे परदोष लखहिं सहसाखी' 'सहस नयन पर दोष निहारा' 'पर अघ सुनहिं सहस दस काना' 'सहस बदन बरनइ परदोषा'
'हरिहर कथा बिराजति बेनी'	३ 'हरिहरजस राकेस राहु से'
अंजलिगत सुभ सुमन जिमि	४ जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ
संत सरल चित जगत हित	५ 'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति', 'परहित हानि लाभ जिन्ह केरे', 'परहित घृत जिन्हके मन माखी' 'उदय केतु सम हित सबही के।'
सन्त मन वचन कर्म से परोपकार करते हैं। यथा, 'संत सरल चित जगत हित', 'हरिहर कथा बिराजति बेनी' 'सहि दुख परछिद्र दुरावा'	६ खल मन वचन कर्म से अपकार करते हैं। यथा, 'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं'। 'पर हित घृत जिन्हके मन माखी' 'बचन बज्र जेहि सदा पियारा' 'जे परदोष लखहिं सहसाखी'

मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा। तिन्ह निज ओर न लाउब भोरा। १।
बायस पलिअहिं अति अनुरागा। होहिं निरामिष कबहुँ[1] कि कागा। २।

शब्दार्थ—दिशि (सं.)=ओरसे, तरफ़से। निहोरा=बिनती, प्रार्थना। तिन्ह=वे। ओर=तरफ़। लाउब=लावेंगे, लगावेंगे। भोरा=भोलापन, सिधाई, भूल। न लाउब भोरा=भोलापन न लावेंगे; अपना स्वभाव न छोड़ेंगे, चूकेंगे नहीं, धोखा न होने देंगे। बायस=कौवा। पलिअहिं=पालिये, पाला जाय। यथा, 'ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं' (२. १२१) में रखिअहिं=रखिये; रख लिया जाय। निरामिष=बिना मांसका, मांसत्यागी, जो मांस न खाय। आमिष=मांस। कागा (काक)=कौवा। कि=क्या।

अर्थ—मैंने अपनी ओरसे बिनती की है। वे अपनी ओरसे न चूकेंगे, (अर्थात् अपना स्वभाव न भूलेंगे या छोड़ेंगे)। १। कौवेको बड़ेही अनुरागसे पालिये, (तोभी) क्या कौवे कभीभी निरामिष हो सकते हैं (अर्थात् मांस खाना छोड़ सकते हैं)? (कदापि नहीं)। २।

नोट—१ 'मैं अपनी दिसि कीन्ह···' इति। खलोंके गुण सुनकर यह शङ्का होती है कि 'जब वे किसीका भला नहीं देख सकते तो क्या वे ग्रन्थमें दोष लगानेसे चूकेंगे? कदापि नहीं! तो फिर

१ कबहिं—१७२१, १७६२, छ०। कबहुँ—१६६१, १७०४, को. रा.।

उनकी विनती करना व्यर्थ हुआ।'। इस शङ्काकी निवृत्ति इन चौपाइयोंमें की है। ग्रन्थकार कहते हैं कि मैंने इसलिए विनय नहीं की कि वे मुझे छोड़ दें, क्योंकि मैं खूब समझता हूँ, मुझे विश्वास है कि स्वभाव अमिट है, वे अपना स्वभाव कदापि नहीं छोड़ेंगे जैसे कौवे अपना स्वभाव नहीं छोड़ते। भाव यह है कि जब वे अपने स्वभावसे नहीं चूकते, तो हम भी सन्तस्वभावसे क्यों चूकें ? उनका धर्म है निंदा करना, हमारा धर्म है निहोरा करना। वे अपना धर्म करते हैं, हम अपना। [नोट—'होहिं निरामिष कबहुँ कि' में काकुद्वारा वक्रोक्ति अलंकार है अर्थात् कभी नहीं।]

२ इस चौपाईमें 'वायस' और 'कागा' में पुनरुक्तिके विचारसे किसी किसी टीकाकारने 'पायस' पाठ कर दिया है। परन्तु शुद्ध एवम् प्रामाणिक पाठ 'वायस' ही है। यही पाठ प्राचीन प्रतियोंमें मिलता है। यदि पुनरुक्ति दोष होता भी है तो उससे क्या बिगड़ा ? ऋषिकल्प महाकविका वह आर्ष प्रयोग है। अतएव क्षम्य और उपेक्षणीय है। फिर पुनरुक्तिके सम्बन्धमेंभी मतभेद है। गौड़जी कहते हैं कि 'यदि 'कागा' शब्द न होता, तो 'होहिं निरामिष' के लिए उसी पूर्वोक्त 'वायस' को विवक्षित कर्त्ता मानना पड़ता; परन्तु 'कागा' दे देनेसे विवक्षाकी आवश्यकता नहीं रहजाती। पुनरुक्ति दोष तब होता जब 'निरामिष होहिं' क्रियाकी आवश्यकता 'वायस' से ही पूर्ण हो जाती और भिन्न भिन्न वाक्य न होते'। पं० सूर्यप्रसादमिश्र लिखते हैं कि 'जो रामायण परिचर्यामें लिखा है कि 'वायस कागामें क्रिया भेदमें पुनरुक्ति नहीं है', यह बात ठीक नहीं क्योंकि किसी आचार्यने ऐसा प्रयोग नहीं किया है। यहाँ तो वायस और काग लिखा है, एकही शब्द दो बार लिखा गया है। उसका यह कारण है कि उसके स्वभावके अमिट होनेकी दृढ़ताके लिए दो बार आया है और नियमभी है कि जब किसी शब्दकी विशेषता दिखलाना हो तब उसको दोबारभी कह सकते हैं। अथवा, यह द्विरुक्ति आनन्दकी है। जैसे ग्रन्थकार खलका विलक्षण स्वभाव देखकर आनन्दित होगए, अतएव उनके मुखसे दो बार काग शब्द निकल गया'। सुधाकरद्विवेदीजी पुनरुक्तिकी निवृत्ति यों करते हैं कि "कागा सम्बोधन है। अर्थात् हे काग=काग पालनेवाले ! (कागमें लक्षणा करना, काकसे काकयुक्त पुरुष, कुन्ताः प्रविशन्ति, के ऐसा ग्रहण करना)"। इस तरहसे दोषका शमनभी कई प्रकारसे किया जासकता है। वह तो 'सदूषणापि निर्दोषाः' है। किसी किसी महात्माने 'का गा' इस तरह 'कागा' शब्दको तोड़कर पुनरुक्ति मिटानेका यत्न किया है। और कोई कहते हैं कि 'कागा' बड़ा काला कौवेका नाम है और वायस छोटे कौवेका नाम है जिसके परमें कुछ ललाई होती है।

३ इस चौपाईसे मिलता हुआ श्लोक प्रसंगरत्नावलीमें यह है, 'न विना परवादेन रमते दुर्जनो जनः। काकः सर्वरसान्भुङ्क्ते विनाऽमेध्यं न तृप्यति।' अर्थात् विना दूसरेकी निंदा किये दुर्जनका संतोष नहीं होता, कौवा सब प्रकारके रस खाता है फिरभी विना विष्ठा आदि अपवित्र वस्तुके खाये संतुष्ट नहीं होता। यह व्यासजीका वाक्य है।

४ शङ्का—वायस तो अनेक अवगुणोंका स्थान है। यदि सुसंगसे वे अवगुण जाते रहें, एक मांस खानाही न छूटा तो क्या चिंता ?

समाधान—बात यह है कि मांसभक्षण सब अवगुणोंका मूल है; यह छूट जाय तो सभी छूट जायँ। जब यही न छूटा तब और क्या गया ? कुछभी तो नहीं। अतएव गोस्वामीजीने प्रथम मांसकाही छूटना सिद्धान्त किया। (बाबा हरिदासजी)।

खल वन्दना प्रकरण समाप्त हुआ।

संत असंत बंदना (सुसंग कुसंग गुण दोष) प्रकरण

वंदौं संत असज्जन १ चरना। दुखप्रद उभय बीच कछु बरना। ३।
बिछुरत एक प्रान हरि लेहीं। मिलत एक दुख २ दारुन देहीं। ४।

शब्दार्थ—असज्जन=जो सज्जन नहीं है, दुर्जन, खल, असन्त। दुखप्रद=दुःख देनेवाले। उभय=दोनों। बीच=अन्तर, भेद। कछु=कुछ। बरना=वर्णन किया गया, कहा गया है। बिछुरत (बिछुड़त)=बिछोह या वियोग होतेही, सङ्ग छूटते ही। हरि लेहीं=हर लेते हैं। दारुन (दारुण)=कठिन।

अर्थ—(अब मैं) सन्त और असन्त (दोनों) के चरणोंकी वन्दना करता हूँ। दोनों दुःख देनेवाले हैं (परन्तु उनमें) कुछ अन्तर कहा गया है। ३। (सन्त) बिछुड़तेही प्राण हर लेते हैं और दूसरे (असन्त) मिलतेही कठिन दुःख देते हैं। ४।

नोट—१ 'बंदौं संत असज्जन चरना' इति। यहाँ सभी महानुभावोंने यह प्रश्न उठाकर कि 'संत और खल दोनोंकी वंदना कर चुके, अब पुनः दोनोंको मिलाकर वन्दना करनेमें क्या भाव है?' इसका उत्तरभी कई प्रकारसे दिया है। कुछ महानुभावोंका मत है कि पृथक् पृथक् वन्दनासे यह सन्देह हुआ कि इन दोनोंकी जाति, उत्पत्ति, प्रणाली, देश इत्यादि भी पृथक् होंगे। इसके निवारणार्थ एकसाथ वन्दना करके सूचित किया है कि जाति आदि एकही हैं, इनकी पहिचान लक्षणोंहीसे हो सकती है, कुल जाति इत्यादिसे नहीं। साहित्यके विज्ञ यों कहेंगे कि प्रथम सन्त असन्तके गुण अवगुण अलग कह दिये, अब दोनोंका भेद कहते हैं। इससे दोनोंको एकसाथ मिलाकर कहा।

यह चमत्कारिक वर्णन है। एकही बातके वर्णन करनेकी अनेक शैलियाँ हैं, उनमेंसे यह भी काव्यमें एक शैली है। जैसे विष और अमृत संजीविनी और विषौषधिको प्रकृति उत्पन्न करती है, वैसेही खल और साधुको भी। वे जन्म और संस्कारसेही वैसे अशुभ और शुभगुणोंसे विशिष्ट होते हैं। अतः उनके गुणोंका दिग्दर्शन कराना महाकविका कर्त्तव्य है और वह महाकाव्यका एक गुण है। यथा, 'क्वचिन्निंदा खलादीनां सतांच गुणकीर्त्तनम्' (साहित्यदर्पणे)।

द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'भले बुरेको समानरूपसे वर्णन करना यह एक प्रकारका काव्य है। गोसाईंजीने यहाँपर काव्य किया है कि दोनों दुःख देनेवाले हैं, भेद इतनाही है कि एक वियोगसे दूसरा संयोगसे दुःख देता है। साधु अपने समागमसे भगवच्चरितामृत पान कराता है। इसलिये उसके वियोगसे सुधापान न मिलनेसे प्राणीका प्राण जाने लगता है; जैसे श्रीरामके वियोगसे अवधवासियोंका, श्रीकृष्णके वियोगसे गोपियोंका इत्यादि। खलके मिलतेही उसके वचन-विषसे प्राणीका प्राण जाने लगता है, जैसे यतिस्वरूप रावणके मिलतेही श्रीसीताजीका, ताड़का सुबाहु आदिके संयोगसे विश्वामित्रादिका इत्यादि।'

पं० सूर्यप्रसाद लिखते हैं कि बड़ोंके साथ खलोंकी वन्दनाका यही कारण जाना जाता है कि इनपर गोसाईंजीको अत्यन्त दया हुई? उन्होंने यह सोचा कि यदि मैं उनकी वंदना सज्जनके साथ करूँगा तो कदाचित् सज्जन हो जायँ और इनका अवगुण तो सज्जनोंमें नहीं आवेगा। यथा, 'सत्संगात् प्रभवति साधुता खलानां, साधूनां नहि खलसङ्गमात् खलत्वम्। आमोदं कुसुमभवं मृदेव धत्ते मृद्गंधं नहि कुसुमानि धारयन्ति॥' (सु. र. भा. प्रकरण २ सन्त प्रशंसा) अर्थात् दुष्टोंको साधुके सङ्गसे साधुता आजाती है पर साधु दुष्टके सङ्गसे दुष्ट नहीं होते। जैसे फूलके सङ्गसे मिट्टी सुगंधित हो जाती है पर मिट्टीकी गंध फूलमें नहीं आती। (श्लोक २७)।

नोट—२ 'दुखप्रद उभय बीच कछु बरना।....' इति। (क) 'दुखप्रद उभय' अर्थात् दोनों

१ असंतन—१७०४ (परन्तु रा. प. में 'असज्जन' पाठ है, 'असंतन' पाठांतर कहा है), को. रा.। असज्जन—प्रायः अन्य सबोंमें। २ दुख दारुन—१६६१, पं.। दारुन दुख—प्रायः औरोंमें।

दुःखदायी हैं, यह कहकर पहले दोनोंको एक सदृश सूचित किया। फिर कहा कि कुछ भेद है। यह 'उन्मीलित अलंकार' है। यथा, 'उन्मीलित सादृश्यसे भेद फुरै तब मान'। (ख) 'दुखप्रद उभय' कथनसे पहले तो सन्तकी निंदा सूचित हुई, परन्तु फिर जब कहा कि 'बिछुरत प्रान हरि लेहीं' अर्थात् इनके वियोगसे या तो प्राणही चल देते हैं या प्राणांत कष्ट होता है, तब इनकी स्तुति हुई कि ये ऐसे हैं कि इनका सङ्ग सदा बना रहे, कभी साथ न छूटे। यथा, 'कहु कपि केहि बिधि राखौं प्राना। तुम्हहू तात कहत अब जाना॥ ५. २७।' (श्रीहनुमान्‌जीसे श्रीसीताजीने वियोग होते समय यह वचन कहे हैं।) इस प्रकार इस पदमें निंदाके मिष स्तुति हुई। अतः यहाँ 'व्यंग्य' भी है। इसी तरह पहले 'दुखप्रद उभय' से खलोंकी बड़ाई हुई कि इनमें सन्तकासा गुण है, इसीसे सन्तके साथ मिलाकर इनकी वन्दना की गई; परन्तु फिर जब कहा कि ये 'मिलत दुख दारुन देहीं' मिलतेही दारुण दुःख देते हैं, तब इनकी निंदा सूचित हुई कि ये बड़ेही दुष्ट होते हैं अतः इनका दर्शन कभी न हो, यही अच्छा है। इस प्रकार यहाँ स्तुतिके बहाने निंदा की गई। रामायणमें श्रीरामजीके वियोगसे श्रीदशरथ-महाराजके, भक्तमालमें श्रीकृष्णवियोगसे कुन्तीजीके, और सन्तोंके वियोगसे एक राजाके प्राण गए। दुष्ट यतीवेषधारी रावणके मिलतेही श्रीजानकीजीको दारुण दुःख हुआ। इत्यादि उदाहरण प्रसिद्ध ही हैं। (ग) 'बिछुरत' और 'मिलत' दो विरुद्ध क्रियाओंसे एकही कार्य 'दुखप्रद' सिद्ध हुआ। अतः यहाँ 'द्वितीय व्याघात' अलङ्कार है। यथा, 'एकै कारन साधिबो करिकै क्रिया विरुद्ध'। दुखप्रद दोनों हैं, पर एकका वियोग दुःखप्रद और दूसरेका संयोग दुःखप्रद है, यह भेद है।

टिप्पणी—कई प्रकारसे साधु और असाधु के गुण और दोष दिखाते हैं। (१) साधुका मिलना गुण है और बिछुड़ना दोष। इससे इनका वियोग कभी न हो, सदा इनका सत्सङ्ग रहे। खलका मिलना दोष है, उनके बिछुड़नेमें सुख है। इनसे सदा वियोग रहे, कभी इनका सङ्ग न हो। इसीसे मिलना और बिछुड़ना पृथक् पृथक् जनाया। (२) गुण पृथक् पृथक् हैं। यथा, 'जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं।' (३) करतूति पृथक् है। यथा, 'भले अनभल निज निज करतूती।' संत की करतूति सुयशमय है, असंतकी अपयशमय।

उपजहिं एक संग जग* माहीं। जलज जोंक जिमि गुन बिलगाहीं। ५।
सुधा सुरा सम साधु असाधू। जनक एक जग जलधि अगाधू। ६।

शब्दार्थ—उपजहिं=उत्पन्न होते हैं। माहीं=में। जलज=कमल। जोंक=× जलौका।=जलमें रहनेवाले क्रिमि विशेष। (मा० प०)। बिलगाहीं=अलग होते हैं, भिन्न स्वभावके होते हैं। सुधा=अमृत। जनक=पैदा करनेवाला, पिता, उत्पत्तिस्थान। जलधि=समुद्र। अगाध=गहरा, अथाह।

अर्थ—दोनों जगत्‌में एकसाथ उत्पन्न होते हैं, जैसे कमल और जोंक, (परन्तु) गुण जुदा जुदा होते हैं+। ५। साधु अमृत और असाधु वारुणीके समान हैं, दोनोंका उत्पत्तिस्थान एक जगत्‌रूपी अगाध समुद्रही है। ६।

---

* जल—किसी किसी छपी पुस्तकमें है।

× यह प्रसिद्ध कीड़ा बिलकुल थैलीके आकारका होता है, पानीमें रहता है और जीवोंके शरीरमें चपककर उनका दूषित रक्त चूस लेता है। फोड़ा फुंसी आदिके दूषित रक्तको निकालनेके लिये इसे शरीरमें चिपका देते हैं। जब वह खूब खून पी लेती है तब उसे खूब उँगलियोंसे कसकर दुह लेते हैं जिससे सारा खून गुदाके मार्गसे निकल जाता है। साधारण जोंक डेढ़ इंच लंबी होती है। (श. सा.)।

+ अर्थान्तर—२ कमल और जोंकके समान अपने अपने गुणोंको दिखलाते (मा. मा.)।

नोट—१ 'उपजहिं एक संग····' इति। दुःखप्रदत्वमें समानता कहकर उसमें किंचित भेदभी कहा। अब, उत्पत्तिस्थान तथा रहनेका स्थानभी एकही है तोभी, गुण पृथक् पृथक् होते हैं यह बताते हैं। सन्त और असन्त दोनों जगत्में ही होते हैं और एकही घरमेंभी होते हैं (जैसे प्रह्लाद और हिरण्यकशिपु, बिभीषण और रावण, कौरव और पांडव आदि)। पर गुण भिन्नभिन्न होते हैं, गुणोंसेही वे देखे जाते हैं। आगे इसीके उदाहरण हैं।

टिप्पणी—१ (क) जलद जड़ है, जोंक चेतन है। तात्पर्य यह है कि कमल जलसे उत्पन्न है तोभी जलको नहीं जानता और न जलमें लिप्त होता है, वैसेही सन्त हैं। जगत् में रहते हुएभी जगत्का विकार उनमें नहीं आने पाता। यथा, 'जे बिरंचि निर्लेप उपाये। पदुमपत्र जिमि जग जलजाये। २. ३१७।' खल जोंक हैं। जलको जानते हैं और जलहीमें लिप्त रहते हैं। अर्थात् जैसे जोंक पानीमें डूबती उतराती है, वैसेही खल संसारके विषयभोगहीमें डूबे दुःख सुख भोगते हैं। पुनः, (ख) जलज सुखदाता है, जोंक दुःखदाता। कमलको सूँघनेसे रक्तकी वृद्धि होती है, आह्लाद होता है। जोंक रुधिर खींचती है और उसे देखनेसे डर लगता है। इसी तरह संतदर्शनसे क्षमादयादि गुणोंकी वृद्धि और आनन्द होता है। खलका दर्शन खून सोख लेता है, उनको देखनेसेही डर लगता है, इनके संसर्गसे क्षमादिक गुण घटते हैं। [पुनः, (ग) जलज अपने गुणों से देवताओंके शिरपर चढ़ता है और जोंक अपने रक्तपान करनेके स्वभावसे फोड़ेके दुष्ट रक्तकोही पीती है। इसी तरह संत अपने गुणोंसे सबसे सम्मान पाते हैं और खल रागद्वेषादि दूषित विषय भोगते हैं। (मा. प.)। पुनः, (घ) कमल खानेसे दुष्ट रक्तको शुद्ध करता है। जोंक घावकर पीड़ा देकर दुष्ट रक्तको पीकर बाहर खींच लेती है। साधु अनेक कथावार्तासे शरीर में क्षमा आदि गुण उत्पन्न करता है। खल अपने वाक्वज्रोंसे मारकर प्राणीके क्षमा आदि गुणोंकी परीक्षा करता है कि इस प्राणीमें कहाँतक क्षमा है। इस तरह साधु तो क्षमा सिखाता है अर्थात् क्षमाशिक्षक हैं और खल क्षमापरीक्षक। यही दोनोंमें भेद हुआ। (पं. सु. द्विवेदीजी)। पुनः, (ङ) कमल सूँघनेसे शीतलत्व देता है, इसके बीज (कमलगट्टा, मखाना) खानेसे रुधिर की वृद्धि होती है; जोंक रुधिरको खींचकर पी जाती है। वैसेही सन्त त्रयताप छुड़ाते, मधुर वचनों एवं हरिनामयशद्वारा सुख देते हैं और असंत अपने वचनोंसे रुधिरही सुखा देते हैं। (वै.)

दोहावलीमें खलोंको जोंकसेभी अधिक बुरा कहा गया है। यथा, 'जोंक सूधि मन कुटिल गति, खल बिपरीत बिचारु। अनहित सोनित सोख सो, सो हित सोखनिहारु। ४००।' अर्थात् जोंककी गति टेढ़ी है, मन नहीं और खलोंके तो मन, वचन, कर्म सभी कुटिल हैं, जोंक तो दूषित रक्त पीती है और असन्त तो अच्छे रक्त को सुखा देते हैं।]

नोट—सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि यहाँ 'जलज (की उपमा) देनेका भाव यह है कि इस संसारके पहले 'जलज' ही (भगवान्की नाभिसे) उत्पन्न हुआ है, फिर उसीसे सृष्टि चली है। दूसरे यह कि सृष्टिके पूर्व जलही था और कुछ नहीं, इसलिये जलज नाम कहा।'

टिप्पणी—२ 'सुधा सुरा सम साधु असाधू।' इति। (क) यह दूसरा दृष्टान्त इस बातका है कि एक पितासे पैदा होनेवालोंमेंभी यह जरूरी नहीं है कि एकसेही गुण हों। पहले (जलज जोंकके) दृष्टान्तसे

[सरयूपारके देशमें 'बिलगाना' शब्द 'दिखाई देना' अर्थमें बोला जाता है। पर क्रि. स. 'दिखलाना' अर्थ हमको नहीं मालूम कहाँका है।] ३—अपने अपने गुणोंसे अलग हो गये हैं। (मा. प्र.)। बिलगाना=अलग होना। यथा, 'निज निज सेन सहित बिलगाने। १. ६३।' पुनः, बिलगाना=अलग करना। यथा, 'गनि गुन दोष बेद बिलगाये' (१. ६)।

एकही स्थान (देश) में उत्पत्ति होना कहकर भेद बताया था। अमृत और वारुणी दोनों क्षीरसमुद्रसे निकले थे जब देवासुरने मिलकर इसे मथा था। अतः अगाध समुद्रको इन दोनोंका पिता कहा। साधु और असाधु दोनों संसारमें होते हैं। अतः जगतको इनका पिता कहा। [(ख) जैसे 'सुधा' और 'सुरभि' एकही अक्षर। 'ध' और 'र' का भेद है; वैसेही 'साधु' और 'असाधु' में अकारमात्रका भेद है। (मा० प०)। (ग) सुधापानसे अमरत्व और सुरापानसे उन्मादत्वकी प्राप्ति होती है, वैसेही साधुसे भगवद्भक्ति एवं भगवत् प्राप्ति और असाधुसे नरककी प्राप्ति होती है। (घ) सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि यहाँ 'अगाध' का अर्थ 'दुर्बोध' है। अतएव अमृत और मद्यभी दुर्बोध धारणावाले प्रकटे। अगाधका अन्वय 'जग' और 'जलधि' दोनोंमें है।]

टिप्पणी—३ सन्त और असन्तका उत्पत्तिस्थान जगत् कहा। यथा, 'उपजहिं एक संग जग माहीं।' तथा 'जनक एक जग जलधि अगाधू।' और, सुधा एवं सुराकाभी उत्पत्तिस्थान 'जलधि' कहा। पर 'जलज' और 'जोंक' का उत्पत्तिस्थान न कहा। कारण यह है कि कमल और जोंकके उत्पत्तिस्थानका कोई नियम नहीं है। कमल तालाव और नदीमेंभी होता है। जोंक तालाव नदी और गढ़ेमेंभी होती है। (नोट—समुद्री जोंकभी होती है जो दो ढाई फुट लम्बी होती है।) इसीसे इनका स्थान नियत न किया गया। 'जलज' शब्द देकर 'जल' का नियम किया, (अर्थात् इसकी उत्पत्ति जलसे है।) 'सुधा' और 'सुरा' के उत्पत्तिस्थानका नियम है। ये समुद्रसे निकले; इस लिये इनके स्थानको नियम किया। 'साधु' 'असाधु' के उत्पत्तिस्थानका नियम जगत् है, जाति नहीं। अतः दोनों अर्धालियोंमें 'जग' ही लिखते हैं।

भल अनभल निज निज करतूती। लहत सुजस अपलोक बिभूती। ७।
सुधा सुधाकर सुरसरि साधू। गरल अनल कलिमलसरि ब्याधू। ८।

शब्दार्थ—भल=भला, अच्छा। अनभल=बुरा। करतूती=कर्त्तव्यता, कर्तृत्व, करनी कर्म, गुण। लहत=लभन्ते=पाते हैं। सुजस=सुन्दर यश, नेकनामी, कीर्ति। अपलोक=अपयश, अपकीर्ति, बुरा नाम वा यश, बदनामी। बिभूति (विभूति)=सम्पत्ति=ऐश्वर्य। सुधाकर=अमृत किरणवाला=चन्द्रमा। गरल=विष, जहर। अनल=अग्नि, आग। कलिमलसरि=कर्मनाशा नदी। ब्याधू (व्याध)=दुष्ट, खल।

अर्थ—भले और बुरे (दोनों) अपनी अपनी करनीसे (करनीके अनुकूल) सुयश और अपयशकी विभूति पाते हैं *। ७। साधु अमृत, चन्द्रमा और गंगाजी के समान हैं। खल विष, अग्नि और कर्मनाशाके समान हैं। ८।

टिप्पणी—कमल और अमृत अपने गुणोंके कारण सराहे जाते हैं, जोंक और मद्य अपने

* (१) मानसपत्रिका में यों अर्थ किया है—'अपनी अपनी करनीसे लोग भले और बुरे होते हैं और सुयश, अपकीर्ति और ऐश्वर्यको पाते हैं।' (२) द्विवेदीजी—'अपने अपने कर्महीसे लोग भले और बुरे गिने जाते हैं।' शास्त्रमेंभी लिखा है कि 'जन्मना जायते शूद्रः कर्मणा द्विज उच्यते।' (३) सू० प्र० मिश्र—('किम्वा सुधा सुधाकर का अन्वय ऊपरकी चौपाईसे' तो यह अर्थ होगा।—'अमृत, चन्द्र, गंगा और साधु चारों अपनी करनीसे पूजे जाते हैं।' विष, अग्नि, कर्मनाशा नदी और व्याधा ये चारों अपनी अपनी करनीसे बुरे गिने जाते हैं।' (४) बाबा हरिदासजी अर्धाली ८ का अन्वय अर्धाली ९ के साथ करते हैं।

अवगुणोंके कारण अपयशके भागी होते हैं, यद्यपि वे दोनों एकही जगह होते हैं। यह कहकर उनकी करनीभी बताते हैं कि कैसी है, जिससे वे यश अपयश पाते हैं।

(२) 'विभूति' पदसे जनाया कि भारी सुयश अपयशको प्राप्त होते हैं, क्योंकि भारी करतूति करते हैं, सामान्य नहीं। सुयश-विभूति स्वर्गको प्राप्त करती है, अपयश-विभूति यमलोकको प्राप्त करती है। यहाँ 'प्रथम सम अलंकार' है।

(३) 'सुधा सुरा सम साधु असाधू' ५ (६) में उत्पत्ति कही थी और यहाँ 'सुधा सुधाकर....' में करनी वा गुण अवगुण कहे हैं।

(४) यहाँ तीन दृष्टान्त देकर दिखाया कि—(क) 'इन तीनोंके वचन, मन और कर्म कैसे हैं। सुधासम वचन है, सुरसरिसम तन है, सुधाकर सम शीतल स्वभाव है, यह मनका धर्म है। सुरसरि सम तन है, स्पर्शहीसे पापका नाश करते हैं। यथा, 'जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए।' (विनय १३६)। इसी तरह खलका वचन गरलसम, स्वभाव अग्निसम और तन कर्मनाशासम है कि स्पर्शमात्रसे धर्मका नाश करते हैं। अथवा, (ख) सन्त मृत्यु हरैं, ताप हरैं, पाप हरैं। खल मृत्यु करैं, ताप करैं, पाप करैं। अथवा, (ग) 'दरस परस समागम' ये तीनों दिखाये। समागममें सुधासम वचन, दर्शन चन्द्रसम तापहारी और स्पर्श गङ्गासम पापहारी।

नोट—१ (क) सुधा, सुधाकर आदिके अन्य धर्म—(१) सुधाके धर्म स्वाद, संतोष, अमरत्व। सन्तमें श्रीहरिनामरूपलीला सुधा है जिसे पाकर सब साधनोंसे वे तृप्त हो जाते हैं। यथा, 'तेन तप्तं हुतं दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृतं कर्मजालम्। येन श्रीरामनामामृतं पान कृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालम्॥' (वि० ४६)। (२) चन्द्रमामें शीतल प्रकाश, सन्तमें सौजन्य, सौशील्य, कोमल वचन, दयामय हृदय। चन्द्रमा शरदातप और सन्त त्रिताप हरते हैं। पुनः यथा, 'सीतल बानी संतकी ससिहूके अनुमान। तुलसी कोटि तपन हरैं जो कोउ धारैं कान।' (वै० सं० १९)। (३) 'सुरसरि' के धर्म २ (८-११) में देखिये। दोनों अपनासा (स्वरूप) कर देते हैं। (४) विष और खल दूसरेके नाशमें लगे रहते हैं। (५) 'अनल' के धर्म ४ (५) में देखिये। (६) कर्मनाशामें स्नानसे शुभ कर्मोंका नाश, खल सङ्गका भी वही फल। (ख) कुछ महानुभावोंका मत है कि गङ्गा, सुधा और सुधाकर तीनोंका सम्बन्ध समुद्रसे है, इसीसे तीनोंको एक साथ कहा।

गुन अवगुन जानत सब कोई। जो जेहिं भाव नीक तेहिं सोई। ९।

दो०—भलो भलाइहि पै लहै लहै निचाइहिं नीचु।
सुधा सराहिअ अमरता गरल सराहिअ मीचु। ५।

शब्दार्थ—भाव=रुचता है, प्रिय है, भाता है। भलो=भला, साधु, सज्जन। भलाइहि=भलाईहीको। पै=निश्चय करके।=परन्तु, पर। यथा, 'तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी। २. १८३।' =से। लहै=पाता है, प्राप्त करता या होता है।=ग्रहण करता है। (पं० रा० कु०)।=शोभा पाते, सराहना पाते हैं। (मुहावरा है।) (गौड़जी)। सराहिय=सराहा जाता है, प्रशंसा की जाती है। अमरता=अमरत्व गुण, अमर करनेका धर्म।

अर्थ—गुण अवगुण सभी कोई जानता है, जिसको जो भाता है, रुचता है, उसको वही अच्छा लगता है। ९। पर भले भलाईही और नीच नीचताही 'लहते' हैं। अमृतकी अमरता सराही जाती है और विषका मार डालनाही सराहा जाता है। ५।

नोट—१ 'गुन अवगुन जानत सब....'इति। (क) पूर्व जो कहा कि साधु और खल अपनी अपनी करनीसे सुयश या अपयश पाते हैं, साधुकी करनी सुधा आदि और असाधुकी करनी गरल आदिकी सी है। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि खल जानते नहीं होंगे कि क्या गुण है और क्या अवगुण, न यह जानते होंगे कि पापका फल नरक होता है, क्योंकि वे तो पापमें युक्त (आसक्त) हैं। उसपर ग्रन्थकार कहते हैं कि बात ऐसी नहीं है, गुण अवगुण सभी जानते हैं और वे भी जानते हैं पर 'जो जेहिं भाव....'। (मा. प्र., सू. प्र. मिश्र)। (ख) पं. रामकुमारजी कहते हैं कि यहाँ जो कहा कि गुण अवगुण सब जानते हैं, वे गुण अवगुण 'सुधा···कलिमलसरि' के हैं। अर्थात् सुधा, सुधाकर और सुरसरिके गुण और गरल, अनल, और कर्मनाशाके अवगुण सभी लोग जानते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि इन सबोंके गुणोंका व्योरा हमने नहीं लिखा, क्योंकि सब जानते हैं। बाबा हरिदासजीका मत है कि 'सुधाकी अमरता, चन्द्रमाकी शीतलता, गंगाजीकी पुनीतता और साधुकी सुकृति, इन चारोंके ये गुण, तथा गरल का मारना, अग्निका जलाना, कर्मनाशका शुभकर्मोंका नाश करना और व्याधाके पाप, इन चारोंके अवगुण इति गुण अवगुण सब जानते हैं।' इनके मतानुसार पिछली अर्धालीका अन्वय इसके साथ है। भाईजी श्रीपोद्दारजीनेभी ऐसाही अन्वय किया है।

नोट—२ 'जो जेहि भाव' इति। अर्थात् जिस ओर जिसके चित्तकी वृत्ति लगी हुई है उसको वही भाता है, किसीसे उसका निवारण होना कठिन है। (पंजाबीजी)। यही आशय श्रीपार्वतीजीके वचनोंमें है। 'महादेव अवगुनभवन विष्नु सकल गुनधाम। जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम ॥' १. ८०।' पुनः, यथा, 'जो जो जेहिं रस मगन तहँ सो मुदित मन मानि' (दोहावली ३७१)। द्विवेदीजी लिखते हैं कि अतिसङ्ग हो जानेसे चाहे उसमें दोष हो परन्तु वही अच्छा जान पड़ने लगता है। रामायणपरिचर्याकार लिखते हैं कि स्वभाव प्रारब्धके प्रतापसे होता है, इस लिये बिना गुणदोष विचारेही लोगोंका प्रियत्व वस्तुओंमें हो जाता है।

३ 'भलो भलाइहि....' इति। 'लहै' के उपर्युक्त अर्थोंसे इसके ये अर्थ होते हैं—(क) 'भले भलाईहीको ग्रहण किये हैं, नीच निचाईको ग्रहण किये हैं। सुधाकी प्रशंसा अमरता है, गरलकी मीच है'। (पं० रा० कु०)। (ख) पर भले भलाईहीको पाते हैं और नीच नीचताही पाते हैं। (मा. प्र., रा. प्र.) अर्थात् भले भला कर्म करते हैं अतः सब उनके भलाईकी प्रशंसा करते हैं, यही भलाईका पाना है। इसी तरह नीचताके कर्म करनेसे उनको नीच कहते हैं, यही नीचता पाना है। (ग) भले भलाईहीसे प्रशंसा पाते हैं और नीच निचाईसे शोभा पाते हैं।

भाव तीनों अर्थोंका एकही है, केवल अन्वय और शब्दोंके पूरे पूरे अर्थोंकी बात है। भाव यह है कि भलेकी प्रशंसा जब होती है तब भलाही काम करनेकी होती है और नीचकी बड़ाई नीचताहीमें होती है। इस तरह भलेको यश और बुरेको अपयश प्राप्त होता है जैसे अमृतकी प्रशंसा अमरत्वगुणहीकी होती है और विषकी प्रशंसा जब होगी तब उसके मारक (मृत्युकारक) गुणहीकी होगी; यदि विषसे मृत्यु न हुई तो उसकी बुराई होगी कि असल न था। पाण्डेजी लिखते हैं कि 'गुन अवगुन....नीचु' का भाव यह है कि सन्त और खल दोनों जानते हैं; इस तरह निकाईमें भी दोनों बराबर हुए, अपने अपने भावानुसार। अपने अपने कर्ममें दोनों भलाई पाते हैं; इसतरह भी दोनों बराबर हैं'।

नोट—४ 'सुधा सराहिअ....' इति। 'सुधा' के कहते ही 'सुधा, सुधाकर, सुरसरि' तीनोंका ग्रहण हुआ और 'गरल' कहतेही 'गरल, अनल, कलिमलसरि' तीनोंका ग्रहण हुआ। दोनोंका केवल प्रथम शब्द यहाँ देकर और सबभी सूचित किये। यहाँ तक गुण और दोष निरूपण किये गए। (पं० रामकुमारजी)

खल अघ अगुन साधु गुन गाहा । उभय अपार उदधि अवगाहा । १ ।
तेहि तें कछु गुन दोष बखाने । संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने । २ ।

शब्दार्थ—अगुन (अगुण)=अवगुण, दोष, बुरे गुण । गाहा=गाथा; कथा । यथा, 'करन चहउँ रघुपति गुन गाहा' (१. ७) । उदधि (उद्=जल । अधि=अधिष्ठान)=समुद्र । अपार=जिसका कोई पार न पा सके । अवगाहा (सं. अगाध)=अथाह; बहुत गहिरा । यथा, 'लघु मति मोरि चरित अवगाहा' (१. ८), 'नारि चरित जलनिधि अवगाहू' (२. २७) । तें=से । यथा, 'को जग मंद मलिन मति मो तें' (१. ८८), 'राम कीन्ह आपन जबहीं तें । भयउँ भुवन भूपन तबही तें ।' (२. १९६) । बखाने=कहे । संग्रह=ग्रहण करनेकी क्रिया; ग्रहण; स्वीकार । त्याग=छोड़ना ।

अर्थ—खलोंके पापों और अवगुणोंकी कथा और साधुके गुणोंकी कथा (ये) दोनों अपार और अथाह समुद्र हैं । १ । इसीसे (मैंने) कुछ गुण और दोष वर्णन किये (क्योंकि) बिना पहचाने इनका संग्रह या त्याग नहीं हो सकता । २ ।

नोट—१ 'अपार उदधि अवगाहा' इति । 'अपार' और 'अवगाह' का भाव यह कि कोई यह करनेको समर्थ नहीं कि इनमें इतने ही गुण या अवगुण हैं । उनकी थाह और पार नहीं मिल सकता, इसीसे 'कछु' बखानना कहा । सन्तशरणदासजी लिखते हैं कि 'अपार' का भाव यह है कि उनके विस्तार और गम्भीरताहीका प्रमाण नहीं । खलोंके अघ अवगुण और साधुके गुणरूपी उदधिका एकही धर्म 'अपार अवगाह' कथन 'प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार' है ।

पं. सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि शिष्य एक प्रकारका आत्मज (पुत्र) है । 'आत्मनः जायते असावात्मजः', इस व्युत्पत्तिसे पुत्र अपनीही आत्मा है । खलके शिष्य प्रशिष्य तथा साधुके शिष्य प्रशिष्य कल्पांततक चले जायँगे । उनके अवगुण और गुण ऊपरकी उक्तिसे खल और साधुहीके अगुण और गुण हैं । इस लिये कल्पांततक शिष्य प्रशिष्योंके अगुण और गुण लेनेसे दोनों समुद्रके ऐसे अपार और अथाह हैं ।

२ 'तेहि तें कछु गुन दोष बखाने' इति । (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'परदोषकथन तो खलका काम है, तब गोस्वामीजीने साधु होकर पर अवगुण क्यों कहे ?' और उत्तर देते हैं कि उन्होंने उदाहरण तो कोई दिये नहीं । अर्थात् किसीका रूप या नाम लेकर अवगुण नहीं कहे कि अमुक व्यक्तिमें ये अवगुण हैं । खलका क्या लक्षण है, उन्होंने केवल इतनाही कहा है । अतः यह परदोषकथन नहीं है । और लक्षण कहनेका प्रयोजन स्वयं बताते हैं कि 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने' ।

(ख) ऊपर कह आए हैं कि 'गुन अवगुन जानत सब कोई' तो फिर इनके पहिचाननेके लिए इनको क्यों कहा ? इस प्रश्नको लेकर उसका उत्तर पं० रामकुमारजी यह देते हैं कि 'पहिचाननेके लिए सन्त असन्त के गुणदोष कहे हैं और जो गुण अवगुण सब जानते हैं वे तो जलज, जोंक, सुधा, सुधाकर, इत्यादिके हैं, यह भेद है ।

(ग) यदि कोई शङ्का करे कि 'श्रीरामचरित आप लिखने बैठे, आपको सन्त और खलके गुण या अवगुण गिनानेसे क्या प्रयोजन ?' तो उसकी यहाँ निवृत्ति करते हैं कि हमने अपने जाननेके लिए लिखा । इनके स्मरण रखनेसे जिनमें गुण देखेंगे उनका साथ करेंगे । इस प्रकार सन्तका सङ्ग होनेसे चरित्रमें सहायता मिलेगी और जिनमें अवगुण होंगे उनसे दूर रहेंगे । (मा० प्र०) । पुनः, गुणही गुण लिखते तो अवगुणका बोध न होता । (नोट—गुण, अवगुणका वर्णन लोक शिक्षात्मक है ।)

(घ) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि संतोंके गुण पढ़कर लोग उन्हें ग्रहण तो करेंगे, पर असन्तोंके लक्षण न जाननेसे सदा भय है कि कहीं उनके दोषोंकोभी न ग्रहण कर लें, जैसे कि परदोषकथन वा श्रवण बहुतेरे सज्जनोंमेंभी देखनेमें होता है। साधुद्वेष एवं वैष्णवों और प्रतिष्ठित भक्तोंमेंभी द्वेष, परहितहानिमें तत्परता इत्यादि दोष आजभी प्रगट देखनेमें आते हैं। यहाँ गुण अवगुण-कथन यह उल्लेख ठीक वैद्यकासा है जो रोगीको औषधि देते समय पथ्यके साथ कुपथ्यभी बता देता है जिसमें उससे बचा रहे।

३ सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि ग्रन्थकारने यहाँतक खल और सज्जनके 'प्रत्येक इन्द्रियोंके काम और जो जो बातें शरीरमें होनी चाहिए उन सभीको पूर्णरीतिसे दिखलाया है। यहाँ उनका क्रम उल्लेख किया जाता है। खलस्वरूप, 'खल अघ अगुन साधु गुनगाहा'। श्रवण इन्द्रिय, 'पर अघ सुनइ सहसदस काना'। चक्षुरिन्द्रिय, 'सहस नयन परदोष निहारा'। रसनेन्द्रिय, मदिरा आदि। मन, 'जे बिनु काज दाहिनेहु बायें'। बुद्धि, 'परहित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद बसेरे'। हाथ, 'पर अकाज भट सहसबाहु से'। पाद, 'हरिहर जस राकेस राहुसे'। वाक्, 'सहस बदन बरनइ परदोषा'। वचन, विष। दर्शन, अग्नि। स्पर्श, कमनाशा। कर्त्तव्य, 'जे परदोष लखहिं सहसाखी'। तेज, 'तेज कृसानु रोष महिषेसा'। उदय, 'उदय केतुसम हित सबही के' (उपप्लवाय लोकानां धूम्रकेतुरिवोत्थितः।) अस्त, 'कुंभकरन सम सोवत नीके'। दिनकृत्य, 'अनहित सबहीके'। रात्रिकृत्य, 'जे परदोष लखहिं सहसाखी'। संयोगफल, 'मिलत एक दारुन दुख देहीं'। उत्पत्ति, 'उपजहिं एक संग जगमाहीं। धन सम्पत्ति, 'अघ अवगुन धन धनी धनेसा'। प्रिय, 'बचन बज्र जेहि सदा पिआरा'। स्वभाव, 'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति'। नाश, 'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं' इत्यादि।'

४ 'स्वर्गवासी वंदनपाठकजी—ग्रंथकारने खलवंदनामें तीन असुरोंका, तीन राजाओंका और तीन देवताओंका दृष्टांत दिया है। और सहस्रनयन, सहस्रमुख और सहस्रभुजका दृष्टांत तीनों लोकवासियोंमेंसे एक एक दिया है। असुरोंका—राहु, केतु और कुम्भकर्ण। राजाओंका—सहस्रबाहु, पृथुराज और कुबेर। देवताओंका—अग्नि, यम और इंद्र। स्वर्गवासी सहस्रनयन इंद्र, भूतलवासी सहस्रबाहु और पातालवासी सहस्रमुख शेष।' (मा० प०)।

५ पं. रामकुमारजी—यहाँतक साधु असाधुके द्वारा कुछ गुण दोष बखाने; अब (आगे) विधि प्रपंचके द्वारा कहते हैं।

भलेउ पोच सब बिधि उपजाये। गनि गुन दोष बेद बिलगाये। ३।
कहहिं बेद इतिहास पुराना। बिधि प्रपंचु गुन अवगुन साना। ४।

शब्दार्थ—भलेउ=भलेभी। पोच=बुरे। बिधि=विधाता; परमात्मा। उपजाना=उत्पन्न या पैदा करना। गनि=गणना करके; गिना कर; विचारकर। बिलगाना=५ (५) देखिये। इतिहास=वह पुस्तक जिसमें बीती हुई प्रसिद्ध घटनाओं और उससे संबंध रखनेवाले पुरुषोंका वर्णन हो और उसके साथ साथ धर्म, भक्ति, ज्ञान और कर्मकाण्डके गूढ़ रहस्यभी जिसमें हों, इत्यादि। जैसे महाभारत और वाल्मीकीय। बिधि प्रपंच=सृष्टि; संसार। सानना=दो वस्तुओंको आपसमें मिलाना। संयुक्त करना।

अर्थ—भलेभी और बुरेभी सभी ब्रह्माजीने उत्पन्न किये। (पर) गुण और दोषोंको विचारकर वेदोंने उनको अलग कर दिया है। ३। वेद, इतिहास और पुराण कहते हैं कि ब्रह्माकी सृष्टि गुण और अवगुण संयुक्त है। ४।

नोट—१ 'भलेउ पोच....' इति। (क) संग्रह त्याग निमित्त हमने गुणदोष वर्णन किये, यह कहकर अब बताते हैं कि वेदोंनेभी यही किया है। (मा. प्र.)। अथवा, यदि कोई कहे कि किसीके गुणदोष न कहना, यह धर्मशास्त्रकी आज्ञा है तब आपने कैसे कहा ? तो उसका उत्तर देते हैं कि हमने जो गुण दोष कहे, वे वेदके कहे हुए हैं। (पं० रामकुमारजी । वा, साधु असाधुके जो गुण अवगुण हमने कहे हैं, वे हमने विधिप्रपंचमें पाये हैं। कुछ हमनेही नहीं कहे किंतु यह परंपरा तो वेदोंकी चलाई हुई है। (मा. प्र.) (ख) ब्रह्माजी पूर्व कल्पवत् सृष्टि रचते हैं। नित्य और अनित्य जितनाभी यह चराचर जगत् है सबको ब्रह्माजी ने उत्पन्न किया। उन उत्पन्न हुए प्राणियोंमेंसे जिन्होंने पूर्व कल्पमें जैसे कर्म किए थे वे पुनः जन्म लेकर वैसेही कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न ऋतुओंके बारम्बार आनेपर उनके विभिन्न प्रकारके चिह्न पहलेके समानही प्रकट होते हैं; उसी प्रकार सृष्टिके आरम्भमें सारे पदार्थ पूर्व कल्पके समानही दृष्टिगोचर होते हैं। सृष्टिके लिए इच्छुक तथा सृष्टिकी शक्तिसे युक्त ब्रह्माजी कल्पके आदिमें बराबर ऐसा ही सृष्टि किया करते हैं। (पद्म पु. सृष्टिखंड अ. ३)। यथा, 'यथर्तावृतुलिंगानि नाना रूपाणि पर्यये। दृश्यन्ते तानि तान्येव तथाभावा युगादिषु ॥ १२३। करोत्येवं विधां सृष्टिं कल्पादौ स पुनः पुनः। सिसृक्षुश्शक्तियुक्तोऽसौ सृज्य शक्ति प्रचोदितः ॥ १२४।'

२ 'गनि गुन दोष बेद बिलगाये' इति। (क) भले और बुरे दोनोंही सृष्टिमें हैं तब कोई कैसे जाने कि कौन भला है, कौन बुरा। अतएव वेदोंने गुण और दोष अलग अलग बता दिए। (ख) 'गनि' का भाव कि संख्या कर दी कि इतने गुण हैं और इतने दोष हैं। (वै.) (ग) 'वेद बिलगाये' इति। 'बिलगाये' से पाया जाता है कि गुण दोष मिलाकर रचना की गई हैं। वेद शब्द 'विद ज्ञाने' धातुसे बनता है। उसका विग्रह यह है, 'विदन्ति अनेन धर्मम्' इति वेदः। अर्थात् जिसके द्वारा लोग धर्मको जानते हैं। विहित कर्म करने और निषिद्ध कर्म न करनेको ही साधारणतः धर्म कहा जाता है। इसके लिए गुण और दोषोंका ज्ञान आवश्यक है। वह वेदोंने किया है।

३ 'कहहिं बेद इतिहास...'। (क) 'प्रपंच' नाम इसलिए पड़ा कि यह जगत् पाञ्चभौतिक है अर्थात् पंच तत्त्वोंका ही उत्तरोत्तर अनेक भेदोंसे विस्तार है। (ख) 'गुन अवगुण साना' इति। गुण अवगुण संयुक्त है। दोनों एकही साथ मिले हुए हैं। मिले हुए तीन प्रकारसे होते हैं। एक तो साधारण गुन अवगुण। वह यह कि 'एकमें गुण है और दूसरेमें अवगुण, पर दोनों एक साथ रहते हैं। जैसे खट्टी वस्तु और मीठी वस्तु। दूसरे मुख्य गुण अवगुण। यह वह हैं जो एक साथ नहीं रहते। जैसे प्रकाश और अंधकार, सूर्य और रात्रि। और तीसरे, कारण गुण अवगुण। यह एकहीमें सने रहते हैं। जैसे एकही व्यक्ति या वस्तु जिसमें प्रकट रूपसे गुण ही गुण हैं, उसमेंही कारण पाकर कुछ अवगुणभी होता है और जिसमें अवगुणही हैं उसमें कारण पाकर कुछ गुणभी होते हैं।। जैसे दूध, दही गुणदायक हैं पर ज्वरादि कारण पाकर कुपथ्य हैं। कलि अवगुणमय है पर उसमें एक गुण है कि शीघ्र मुक्तिभी इसीमें केवल हरियशनामकीर्त्तनसे सुलभ है। विष्टा आदि अवगुण, पर खेतीके लिये गुण हैं। (वै.) (ग) 'साने' और वेदके 'बिलगाये' का स्वरूप आगे दिखाते हैं।

दुख सुख पाप पुन्य दिन राती। साधु असाधु सुजाति कुजाती। ५।
दानव देव ऊँच अरु नीचू। अमिअ सुजीवनु[1] माहुरु मीचू। ६।
माया ब्रह्म जीव जगदीसा। लच्छि अलच्छि रंक अवनीसा। ७।

१ सजीवन—प्रायः औरोंमें। सुजीवन—१६६१।

कासी मग सुरसरि कविनासा[1]। मरु मारव[2] महिदेव गवासा।८।
सरग नरक अनुराग बिरागा। निगमागम[3] गुन दोष बिभागा।९।

शब्दार्थ—सुजाति=अच्छी जाति, कुलीन। कुजाति=नीच जाति, खोटी जाति,। दानव=दक्ष की कन्या 'दनु' के पुत्र कश्यपजीसे।=दैत्य, असुर। अमिअ=अमृत। सुजीवनु=सुन्दर जीवन। माहुर=विष। मीचु=मृत्यु। लच्छि=संपत्ति=लक्ष्मी। यथा, 'एहि विधि उपजइ लच्छि जव। सुंदरता सुखमूल' (१. २४७)। रङ्क=दरिद्र। अवनीस (अवनी+ईश=पृथ्वीका स्वामी, राजा। महिदेव=ब्राह्मण। गवासा=गऊको खानेवाला=क़साई। म्लेच्छ। सरग=स्वर्ग। बिभागा=भाग (हिस्से) पृथक् पृथक् कर दिये।

अर्थ—दुःख सुख, पाप पुण्य, दिन,रात, साधु असाधु, उत्तम जाति नीच जाति।५। दानव देवता, ऊँच नीच (बड़े छोटे, उत्तम लघु), अमृत, सुन्दर जीवन और विष मृत्यु।६। माया, ब्रह्म, जीव और जगदीश, लक्ष्मी दारिद्र्य, रंक राजा।७। काशी मगह, गंगा कर्मनाशा, मारवाड़ मालवा, ब्राह्मण क़साई।८। स्वर्ग नरक, अनुराग वैराग्य, (ये गुण अवगुण विशिष्ट पदार्थ ब्रह्मसृष्टिमें पाये जाते हैं।) वेद शास्त्रोंने गुण दोषोंका विभाग कर दिया है।९।

नोट—१ ऊपर कहा कि विधिप्रपंच गुण और अवगुण मिश्रित है। अब उसके कुछ उदाहरण देते हैं। दुःख, पाप, रात्रि, असाधु, कुजाति आदि अवगुण और सुख, पुण्य, दिन, साधु, सुजाति आदि गुण हैं जो द्वन्द्व सृष्टिमें पाये जाते हैं।

२ 'अमिअ सुजीवनु माहुर मीचू' इति। प्रायः अन्य पुस्तकोंमें 'सजीवन' पाठ है। पर उसका अर्थ 'सम्यक् प्रकार जीवन' (रा. प्र.), 'जीवन' (पं, मा. प.) ऐसा कुछ महानुभावोंने किया है। यहाँ अमृतकी जोड़में विष ('माहुर') और 'सुजीवन' की जोड़में 'मीचु' कहा गया है। 'सुंदर जीवन' ही मृत्युकी जोड़में ठीक है। इसलिये यही पाठ उत्तम है और प्राचीनतम तो है ही। इस चरणके जोड़का चरण अयोध्याकांडमें यह है, 'जग भल पोच ऊँच अरु नीचू। अमिअ अमरपद माहुरु मीचू। २. २९८।' इसके अनुसार 'सुजीवन' का अर्थ 'अमरपद' ले सकते हैं।

टिप्पणी—१ 'माया ब्रह्म जीव जगदीसा' इति। १ यहाँ 'माया' से त्रिगुणात्मिका माया जानिए जो तीनों गुणोंको परस्पर स्फुरित करके जीवको मोहमें फँसाती है। (करु०)। गोस्वामीजीने 'माया' का स्वरूप बाल, अरण्य और उत्तरकांडमें दिखलाया है। साथ ही साथ ब्रह्म और जीवकेभी स्वरूप जनाये हैं। यथा, 'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया॥ गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥ ३. १५।, 'माया ईस न आपु कहुं जान कहिए सो जीव। बंधमोच्छप्रद सर्वपर माया प्रेरक सीव॥ ३. १५।' जीव अज्ञ है ब्रह्म सर्वज्ञ, जीव मायाके वश, ब्रह्म मायाका प्रेरक। मं० श्लो० ६ देखिए। श्रीरामजी ब्रह्म हैं। यथा, 'रामब्रह्म परमारथरूपा। २. ९३।', 'राम ब्रह्म व्यापक जगजाना।१. ११६।' 'राम ब्रह्म चिन्मय अविनासी। १. १२०।'

२ यहाँ 'ब्रह्म' और 'जगदीस' दो शब्द आये हैं, इसलिए 'जगदीस' से त्रिदेवको सूचित किया है। त्रिदेव गुणाभिमानी हैं, परन्तु गणोंके वश नहीं हैं, सब कर्मोंसे रहित हैं और जीवोंको

---

१ क्रमनासा—को. राम। कर्मनासा—१७६२। कविनासा—१६६१, १७२१, छ०, भा., दा., १७०४। १६६१ में 'कविनासा' मूल पाठ रहा है परंतु 'क' का 'क्र' बनाया गया है और 'वि' पर किंचित् हरताल है। हाशियेपर 'म' है लेखकके हाथका सम्भव है। अयोध्याजीके महात्माओंकी पुस्तकोंमें 'कविनासा' है। अतः हमनेभी वही रक्खा है। विशेष पाठांतर पर विचारमें देखिए। २ मालव—छ०, को. रा., १७२१, १७६२। मारव—१६६१, १७०४। ४ निगमागम—१६६१। निगम अगम—१७०४।

उनके कर्मोंके अनुसार फल देते हैं। अथवा, जगदीश=लोकपाल।=इन्द्रियोंके देवता (मा.प.)। अथवा, ब्रह्मनिरावरणरूप और जगदीश ईश्वर सदा स्वतन्त्र। (रा.प्र.)। जीव नियम्य (परतन्त्र, पराधीन) है और जगदीश ईश्वर नियामक (स्वतन्त्र) है।

नोट—३ कुछ महानुभाव ऊपरकी अर्धाली 'भलेउ पोच सब विधि उपजाये।' ६ (३) के साथ इस गणनाको लेकर शङ्का करते हैं कि "क्या 'माया ब्रह्म जीव जगदीसा' ब्रह्माके उपजाए हैं? यदि नहीं हैं तो उनको यहाँ क्यों गिनाया?"। इसका उत्तर महात्मा यों देते हैं कि—(१) यहाँ गोस्वामीजीने दो भूमिकाएँ दी हैं, एक भलेबुरेके उपजानेकी और दूसरी गुण अवगुण सने होनेकी। यह गणना ६ (४) 'कहहिं बेद इतिहास पुराना। विधि प्रपंच गुन अवगुन साना' के साथ है। अर्थात् यहाँ कवि केवल यह गिना रहे हैं कि विधि प्रपंचमें क्या क्या गुण अवगुण मिले पाये जाते हैं। सबका उपजाना नहीं कहा है। माया तो वह है कि 'सिव चतुरानन जाहि डेराहीं'। जीव ईश्वरका अंश है और ब्रह्म श्रीरामजी हैं कि 'उपजहिं जासु अंश ते नाना। संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना'। फिर भला इनको ब्रह्माके 'उपजाये' कैसे कह सकते हैं? (मा.प्र.)। अथवा, (२) 'जो ब्रह्माके उपजाये हैं, उन्हें विधि प्रपंचमें गिनो और जो विधि प्रपंचमें नहीं हैं, उन्हें प्रपंचमें न गिनो। यथा, 'हृदय सराहत सीय लोनाई। गुरु समीप गवने दोउ भाई' १. २३७ (१) में केवल श्रीरामजीहीके सराहनेका और 'सभय रानि कह कहसि किन कुसल रामु महिपालु। लखन भरत रिपुदमन सुनि भा कुबरी उर सालु' (अ० १३) में केवल 'कुसल रामु महिपालु' से दुःख होनेका अर्थ गृहीत है। तथा, 'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि। मङ्गलानांच कर्त्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ॥ मं. श्लो. १।' में 'कर्त्तारौ' शब्द वाणी और विनायक दोके विचारसे दिया गया यद्यपि दोनों इन सबोंके कर्त्ता नहीं हैं। अर्थ करते समय किस किसके कर्त्ता कौन हैं, यह पाठकको स्वयं विचारकर अर्थ करना होता है। वैसेही यहाँभी बचाकर अर्थ करना चाहिए। (पं. रामकुमार)। अथवा, (३) यहाँ द्वन्द्वोंकी संख्याके निमित्त इनको भी गिनाया। (पंजाबी)। अथवा, (४) जो सुननेमें आवे वह सब प्रपंच है, शब्द सुननेमें आता है। ब्रह्म, माया, जीव शब्द इस प्रपंचहीमें कहे जाते हैं; इतनाही अंश लेकर इनको कहा। (रा.प्र.)। अथवा, (५) ब्रह्मका गुण सर्वव्यापकता है। यदि जगत् न हो तो ब्रह्मकी व्यापकता कैसे कही जा सकती है और फिर कहेगा कौन? अतः ब्रह्मका व्यापकत्व गुण लेकर यहाँ इनको गिनाकर सूचित किया कि विश्वके उत्पन्न होतेही येभी साथ आगए। (मा.प., रा.प्र.)। वा, (६) जगदीश=लोकपाल। शरीर पाञ्चभौतिकमें माया है। इसी मायिक शरीरमें ब्रह्म, जीव और लोकपाल सने हैं; इस प्रकारसे कि नेत्रमें सूर्य, श्रवणमें दिशा, नासिकामें अश्विनीकुमार, मुखमें वरुण, हाथमें इन्द्र, मनमें चन्द्रमा, इत्यादि सम्पूर्ण इन्द्रियोंपर एक एक देवताका वास है और जीवको कर्मानुसार यह शरीर भोगके लिये मिला, ब्रह्मभी अन्तर्यामीरूपसे इसमें है। यथा, 'अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान। मनुज वास चर अचरमय रूप राम भगवान' (पांडेजी)। अथवा, (७) विधि प्रपंच= दृश्यमान् जगत्। यहाँ 'ब्रह्म' पर विशेष रूपसे कविका लक्ष्य नहीं है। यह दृश्यमान् जगत् गुण अवगुणसे सना है। इसमें माया और ब्रह्म दोनों एक साथ सने हैं। जीव और जगदीश दोनों एक साथ सने हैं। यह सारी रचना प्रकृति-पुरुषमय होनेसे द्वन्द्व प्रधान है। (गौड़जी)। अथवा, (८) 'ग्रन्थकारने एक एकका विरोधी कहा है। जैसे, दुःखका विरोधी सुख, पापका विरोधी पुण्य, इत्यादि। आगे छठवीं चौपाईके उत्तरार्ध और सातवींके पूर्वार्धमें दो दोके विरोधी कहे हैं जैसे अमृत और सजीवन (जीवनके साथ) अर्थात् अमृत और जीवन इसके क्रमसे विरोधी माहुर और मृत्यु। माया और ब्रह्म इनके क्रमसे विरोधी जीव और जगदीश'। (सुधाकर द्विवेदीजी) [माया और ब्रह्म तथा जीव और जगदीशकी जो जोड़ी बनाई है, इसमें किसको भला और किसको बुरा समझा जाय, यह समझमें नहीं आता; क्योंकि प्रत्येकमें एक एक

तो अच्छाही है। पहलेमें ब्रह्म, दूसरेमें जगदीश ?] (६) (नोट)—विशिष्टाद्वैतसिद्धांतके अनुसार प्रलयकाल-मेंभी यह सारा जगत् (चित्, अचित् और ब्रह्म) सूक्ष्म अवस्थामें अव्यक्त दशामें था। ब्रह्मकी इच्छासे यह सारा जगत् स्थूलरूपमें अनुभवमें आने लगा। इसीको सृष्टिका उत्पन्न होना कहते हैं। ब्रह्म, जीव और माया ये तीनों तो प्रथम सृष्टिके पूर्वावस्थामेंभी थे और सृष्टि होनेपर स्थूलरूपमेंभी साथही हैं। तीनों नित्य हैं, तीनों सत्य हैं। जगत (माया) भी सदासे है और जीव एवं ब्रह्मभी सदासे हैं। ब्रह्माको सृष्टिरचयिता कहा जाता है, वह केवल इसलिये कि प्रभुकी इच्छासे उनके द्वारा सूक्ष्म जगत् स्थूलरूपमें परिणत होकर अनुभवमें आता है। ब्रह्म और जीव यद्यपि जगत्की तरह परिणामवाले नहीं है; तथापि देह आदिके बिना उनकाभी अनुभव नहीं हो सकता। जीव और ब्रह्मभी स्थूल जगत्के द्वाराही अनुभवमें आते हैं, औपचारिक कर्तृत्व ब्रह्माका कह सकते हैं। वस्तुतः ब्रह्ममें सूक्ष्म स्थूल भेद कोईभी नहीं है। वह तो एक रस सर्वव्यापक है परन्तु व्याप्य जगत् और जीवके सूक्ष्म और स्थूल रूपके कारण ब्रह्मकेभी सूक्ष्म और स्थूल दो रूप कहे जाते हैं। वैसेही यहाँभी सृष्टिमें उनकी गणना की गई। इस तरह यह शङ्काही उपस्थित नहीं हो सकती। अथवा, (१०) गुण अवगुण दो तरहके हैं। १ कारण, २ कार्य। माया ब्रह्म, जीव और जगदीश कारण गुण अवगुण हैं। ब्रह्म आपही चार लीलारूप धारण किए हैं। इन चारोंके जो कार्य गुण अवगुण हैं उनके कर्त्ता विधि हैं। अर्थात् मायाका काय स्वर्ग, नरक, मृत्युलोककी प्राप्ति; ब्रह्मका कार्य सबको चेतन करना; जीवका कार्य हर्ष, शोक इत्यादि; जगदीशका कार्य उत्पत्ति, पालन, संहार है। ब्रह्मका प्रपंच कार्यरूप गुण अवगुणमय है, उसमें ब्रह्मसे चारों रूप उसकी इच्छासे कारणरूप गुण अवगुणमय हैं। (करु०)। परब्रह्मके चार स्वरूप ये हैं। १ ब्रह्मरूप सबका साक्षी, ईश्वररूप प्रदाता। २ जीवरूप भोक्ता। ३ माया इच्छाभूत। ४ भोग्य। (करु०)। (११) ब्रह्मादि देवताओंकी प्रार्थनासे उनकी रची सृष्टिमें माधुर्य स्वरूपसे अपना ऐश्वर्य छिपाए हुए परब्रह्म प्रकट हुए। (१. ४८,१।१६१) इस भावको लेकर उपजाये कहे जा सकते हैं। (रा० प्र०)। (१२) वे. भू. रा. कु. दा.—'भोक्ता भोग्यं प्रेरिता रंच...।' इस वैदिक श्रुतिके अनुसार माया, ब्रह्म और जीव तो किसीके बनाये नहीं हैं, तीनों नित्य हैं। और 'विधि' भी अपनेही बनाये नहीं हैं, भगवान्के बनाये हैं। सृष्टिक्रम बताते हुए शास्त्र कहता है कि 'अण्डमण्डकारणानि च चतुर्मुखं च स्वयमेव सृजति अण्डांतर्गत वस्तूनि चेतनान्तर्यामी सन् सृजति।' अर्थात् प्रकृतिसे महत्तत्वाहङ्कार, पंचतत्व, पंच विषय और एकादश सूक्ष्मेन्द्रिय; और, चतुर्मुख ब्रह्माके शरीरकी रचना स्वयं ब्रह्म करता है। ब्रह्माण्डांतर्गत अन्य वस्तु जैसे दुःख सुख आदि (माया ब्रह्म जीव जगदीशको छोड़कर) बत्तीस जो यहाँ गिनाये गए हैं इन्हें ब्रह्मादि चेतनोंके अन्तर्यामी होकर अर्थात् इन्हींको निमित्त बनाकर रचना करता है जिससे वे तत्तद्रचित कहे जाते हैं। इससे निष्कर्ष यह निकला कि यहाँ वर्णित दुःख सुखादि बत्तीस विधिने बनाए हैं और माया, ब्रह्म, जीव और जगदीश, (ब्रह्म) ये चारों इन्हींमें सने हैं। सनी हुई वस्तु मध्यमें रहती है; इसीसे इनको सोलह सोलहके बीचमें रक्खा है। (१३) बैजनाथजी लिखते हैं कि पूर्व लिखा गया कि गुण अवगुण जो सने हुए हैं वे तीन प्रकारके हैं। उन तीनोंके यहाँ बारह बारह उदाहरण देते हैं। (क) पाप पुण्य, सुजाति कुजाति, अमृत विष, जीव जगदीश, काशी मग और महिदेव गवासा इन बारहमें 'साधारण गुण' कहे। (ख) दुःख सुख, साधु असाधु, ऊँच नीच, माया ब्रह्म, रंक अवनीश, सुरसरि कविनासा ये मुख्य गुण अवगुण सनेके उदाहरण हैं। (ग) दिनमें प्रकाश गुण और घामादि अवगुण, रात्रिमें अन्धकार अवगुण और शीतलतादि गुण, दानवमें उपद्रव अवगुण और वीरता, उदारता आदि गुण, देवताओंमें शांति गुण और स्वार्थपरायणता अवगुण। जीवित रहना गुण और दुःखभोग अवगुण, मृत्यु में मरजाना अवगुण पर अयशी, दुःखी, अतिवृद्ध, मुक्तिभागी आदि के लिए मृत्यु गुण।

संपत्ति संचयमें भोजनवस्त्रादि भोगसुख गुण और अभिमानादि अवगुण, दरिद्रतामें दुःखभोगादि अवगुण और अमानता, दीनता गुण। मारवाड़में दुर्भिक्ष अवगुण और कभी कभी तथा किसी किसी वस्तुका सुखभी, मालवामें सदा सुभिक्ष गुण और कभी किसी बातका दुर्भिक्षभी। स्वर्गमें सुखभोग गुण और सुकृत व्यापारका न होना अवगुण, नरकमें दुःखभोग अवगुण पर साँसतिके कारण जीवमें विकार नहीं रहता, चैतन्यता रहती है यह गुण, ये कारण गुण अवगुण सनेके उदाहरण हैं। (वैजनाथजी अनुराग विराग को गुण अवगुणमें नहीं गिनते। वे अर्थ करते हैं कि 'गुणोंमें अनुराग चाहिये और अवगुणोंसे वैराग्य होना चाहिए।') । ये गुण अव-गुण कैसे जाने जायँ ? उसपर कहते हैं 'निगमागम गुन दोष विभागा।'

नोट—४ 'कासी मग सुरसरि क्रमिनासा' इति। काशी मुक्ति देती है। यथा, 'आकर चारि जीव जग अहहीं। कासी मरत परम पद लहहीं। १. ४६।', 'काश्यां मरणान्मुक्तिः' इति श्रुतिः। 'मग'—मगह, मगहर और मगध इसीके नाम हैं। त्रिशंकुके रथकी छाया जिस भूमि पर पड़ती है उस देशका नाम मगह (मगध) है, जो दक्षिण बिहारका प्राचीन नाम है। यह छियानवे कोश पूर्व पश्चिम और चौंसठ कोश उत्तर दक्षिण है। कहते हैं कि यहाँ मरनेसे सद्गति नहीं होती; यह गुरुद्रोहका फल है। त्रिशंकुकी कथा 'कविनासा' में देखिए। सुरसरि स्वयं पावन हैं और त्रैलोक्यको पावन करनेवाली हैं तथा मुक्ति देनेवाली हैं; भगवान्के दक्षिण अँगूठेसे इनकी उत्पत्ति होती है। कविनाशा (कर्मनाशा) अपवित्र है, स्नान करनेवालोंके सुकृतोंकी नाशक है और गुरुद्रोही, चांडाल त्रिशंकुके शरीरके पसीने और मुखके लारसे इसकी उत्पत्ति है। यह नरकमें डालनेवाली है।

'कविनासा' इति। इस नदीका सम्बन्ध राजा त्रिशंकुसे है। इसने चाहा था कि यज्ञ करके इसी शरीर सहित स्वर्गको जाय। उसने गुरु वसिष्ठजीसे अपनी कामना प्रगटकर यज्ञ करानेकी प्रार्थना की। उन्होंने समझाया कि सशरीर स्वर्गकी प्राप्ति नहीं हो सकती। तब वह वसिष्ठजीके पुत्रोंके पास गया और उनसे यज्ञ करानेकी प्रार्थना की। वे बोले कि जब पिताजीने नहीं कर दिया तब हम ऐसा यज्ञ कैसे करा सकते हैं। इसपर राजाने कहा कि हम दूसरा गुरु कर लेंगे। यह सुनकर पुत्रोंने शाप दिया कि चांडाल हो जा। तदनुसार राजा चांडाल हो गया। फिर वह विश्वामित्रजीकी शरणमें गया और हाथ जोड़कर उसने अपनी अभिलाषा प्रगट की। उन्होंने यज्ञ कराया पर देवताओंने हविर्भाग न लिया। तब वे केवल अपनी तपस्याके बलसे उसको सशरीर स्वर्ग भेजने लगे, यह देखकर इन्द्रने उसे मर्त्यलोककी ओर ढकेल दिया जिससे वह उलटा (सिर नीचे, पैर ऊपर) त्राहि त्राहि करता हुआ नीचे गिरा। विश्वामित्रने अपने तपो-बलसे उसे आकाशमेंही रोककर दक्षिणकी ओर दूसरेही स्वर्गकी रचना आरंभ कर दी। देवताओंकी प्रार्थनापर विश्वामित्रजीने सप्तर्षि और नक्षत्र जो बनाये थे उतनेही रहने दिये और कहा कि त्रिशंकु जहाँ है वहीं रहेगा। (वाल्मी० १. ५७) । उसके शरीरसे जो पसीना और मुखसे लार गिरा वही कर्मनाशा नदी हुई। कोई कहते हैं कि यह रावणके मूत्रसे निकली है। पर कुछ लोगोंका मत है कि प्राचीन कालमें कर्मनिष्ठ आर्य ब्राह्मण इस नदीका पार करके कीकट (मगध) और वङ्ग देशमें नहीं जाते थे; इसीसे यह अपवित्र मानी जाती है। यह शाहाबाद जिलेके कैमोर पहाड़से निकलकर चौसाके पास गङ्गाजीमें मिली है।

'कबिनासा' क्रमनासा' पाठपर विचार। दोनों पाठ 'कर्मनाशा' हीके बोधक हैं। कभी कभी कविजन अपने अधिकृत वृत्त या छन्दमें बैठाने और खपानेके लिए किसी नाम वा शब्दके अक्षरोंका सङ्कोच करके उसका लघुरूप दे देते हैं। उससेभी उसके उसी वृहत् और पूर्ण रूपका बोध होता है और उसी मूलार्थका ग्रहण किया जाता है। क्योंकि ऐसा न्याय है 'नामैकदेशे नामग्रहणम्।' पुरातन कविलोग प्रायः इस

न्यायका अनुसरण करते थे। प्रसिद्ध टीकाकार श्रीमल्लिनाथसूरिने 'किरातार्जुनीय' के 'कथा प्रसंगेन जनैरुदाहृतादनु स्मृताखण्डलसूनु विक्रमः। तवाभिधानाद् व्यथतेनताननः सुदुस्सहान्मन्त्र पदादिवोरगः ॥' इस श्लोकके 'तत्वाभिधानात्' की टीका करते हुए 'तव' का उरग पक्षमें इस प्रकार अर्थ किया है। (नामैकदेश ग्रहणे नाममात्र ग्रहणमिति न्यायात्।), तश्च वश्च तवौ तार्द्य वासुकी तयोरभिधानं यस्मिन्पदे तस्मात्। अर्थात् 'तव' के 'त' अक्षरसे तार्द्य और 'व' से वासुकी नामक नागराजका ग्रहण हुआ। इसी प्रकार 'कविनासा' के 'क' अक्षरसे कर्म माना जायगा। कर्मका ही लघु या सांकेतिक रूप 'क' है और उसका अर्थभी कर्त्ता, सृष्टिकर्त्ता ब्रह्म परक है जो कर्मके अधिष्ठातृ देव हैं। फिर 'क' सूर्यको भी कहते हैं जो कर्मका सञ्चालक है 'मारुते वेधसि व्रध्ने पुंसिकः कं शिरोम्बुनोः' इत्यमरः। (व्यासजी, पं० श्रीहनुमत्प्रसाद त्रिपाठी)।

गौड़जी—कविनासा (कं=आनन्द, विनासा=नाशक)=स्वर्गके आनंदको विनाश करनेवाली नदी। 'नाक' शब्दका भी इसी प्रकार (न+अ+कं=नाकम्) अर्थ करते हैं। 'कविनासा=कर्मनासा नदी जो सत्कर्मोंका ही नाश करती है।

'क्रमनासा' से 'कविनासा' पाठ अच्छा है क्योंकि 'कर्म' शब्द में सत् और असत् दोनोंका ही समावेश है। परन्तु यहाँ केवल सत्कर्म ही अभिप्रेत है। इस तरह कर्मनाशामें अतिव्याप्ति दोष है। कविनासामें अतिव्याप्ति नहीं है। हाँ, अप्रसिद्धि कह सकते हैं।

नोट—आदिमें लिखा है कि 'कहहिं वेद इतिहास पुराना। विधिप्रपंच गुन अवगुन साना।' और अन्तमें लिखते हैं कि 'निगम अगम गुन दोष विभागा।' इसने यह जनाया कि गुण अवगुण सानेका स्वरूप और उन (गुण अवगुण) के विभागका स्वरूप दोनों वेदपुराणोंमें दिखाए गए हैं। (पं. रामकुमार)।

दो०—जड़ चेतन गुन दोष मय बिश्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं[1] पय परिहरि बारि बिकार। ६।

शब्दार्थ—विश्व=संसार। करतार (कर्त्तार)=ब्रह्मा, परमेश्वर। पय=दूध। बारि=जल। विकार=दोष। गहना=ग्रहण करना; लेना।

अर्थ—इस जड़ चेतन और गुणदोषमय विश्वको ब्रह्माने रचा है। सन्तरूपी हंस दोषरूपी जलको छोड़कर गुणरूपी दूधको ग्रहण करते हैं। ६।

नोट—यहाँ गुण दोष और जड़ चेतनको ब्रह्माका बनाया नहीं कहा।

टिप्पणी—१ (क) अब 'विधिप्रपंच गुन अवगुन साना' का स्वरूप दिखाते हैं कि दूध-पानीकी नाईं मिला है। पहले साना कहकर यहाँ विभाग किया कि दूध और पानी मिला है, सन्तने दूध-पानीके स्वरूपको अलग कर दिया। (ख) सन्तको हंसकी उपमा देनेका भाव यह है कि जैसे दूधमें जल मिला हो तो पहचाननेवाले बता देंगे कि इसमें कितना जल है और कितना दूध; इसी तरह वेद शास्त्र बताते हैं कि प्रत्येक वस्तुमें क्या गुण है और क्या दोष। परन्तु जैसे दूधमेंसे जल निकालकर दूध दूध हंस पी लेता है, ऐसा विवेक हंसको छोड़कर और किसीमें नहीं है, वैसेही दोषको छोड़कर केवल गुण सबमेंसे निकालकर ग्रहण कर लेना, यह केवल सन्तहीका काम है, दूसरेमें यह सामर्थ्य नहीं। यथा, 'सगुन पीरु अवगुन जलु ताता।

---

१ ग्रहहिं—१७२१, १७६२, छ०, १७०४ (शं. ना.), परन्तु रा. प. में 'गहहिं' है। १६६१ में 'ग्रहहिं' था पर हरताल देकर 'गहहिं' बनाया है।

मिलइ रचइ परपंचु विधाता ॥ भरतु हंस रविवंस तड़ागा । जनमि कीन्ह गुन दोष विभागा ॥ गहि गुन पय तजि अवगुन वारी । निज जस जगत कीन्ह उँजियारी ॥ (अ० २३२) ☞ इससे विदित होता है कि कर्त्तारसे अधिक उपकार वेदोंने किया है और उनसे अधिक उपकार सन्त करते हैं। (ग) सन्त असन्तके गुणदोष संग्रह त्यागहीके अर्थ बखाने हैं। इनके द्वारा सबको प्राप्त हो सकते हैं; क्योंकि इन्होंने गुण दोषको अलग अलग कर दिए हैं।

सुधाकर द्विवेदीजी—इस दोहसे ग्रन्थकारने यह सूचित किया है कि इस संसारमें जो दोषोंसे बचा रहे, गुणोंहीको ग्रहण करें, वही सन्त है। इस प्रकारसे यह दोहा सन्तका लक्षणरूप है।

अलङ्कार—सन्तमें हंसका आरोप किया गया, इसलिए गुणमें दूध और विकारमें जलका आरोप हुआ। यहाँ परम्परितरूपक है।

अस बिवेक जब देइ बिधाता । तब तजि दोष गुनहिं मनु राता । १ ।

शब्दार्थ—राता=रत होता है, लगता है। अनुरक्त होता है।

अर्थ—जब विधाता ऐसा (हंसकासा) विवेक दें, तभी दोषको छोड़कर गुणहीमें मन रत (अनुरक्त) होता है। १।

टिप्पणी—१ 'यहाँ विवेकप्राप्तिके दो कारण लिखे, एक सत्संग, दूसरा विधि। क्योंकि जगत विधाताका बनाया है। यथा; 'भलेउ पोच सब विधि उपजाये।' सो जब वेही विवेक दें कि हमने ऐसा बनाया है, यह दोष है, यह गुण है, तब विवेक होवे। पुनः, सन्त विधिके बनाए हुए गुणको ग्रहण किए हैं, दोषको त्यागे हैं। अतः इनके सत्सङ्गसे विवेक हो सकता है।' २ 'वेदका बताया हुआ न समझ पड़ा, तब कहा कि 'अस विवेक जब देइ बिधाता।' क्योंकि जो वेदके बतानेमें विवेक होता तो विधाताके देनेका कौन काम था?' । ३ 'प्रथम सन्तोंके गुणदोष निरूपण किए, फिर बिधिप्रपंचद्वारा सन्त असन्तके गुणदोष कहे, अब तीसरी प्रकार लिखते हैं'।

काल सुभाउ करम बरिआई । भलेउ[१] प्रकृति बस चुकइ भलाई । २ ।
सो सुधारि हरिजन[२] जिमि लेहीं । दलि दुख दोष बिमल जसु देहीं । ३ ।
खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू । मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू । ४ ।

शब्दार्थ—बरिआई=बलात्, जबरदस्ती, जबरई। अभंगू=न भंग होनेवाला, अमिट, दृढ़, अनाशवान्। प्रकृति=माया। दलि=नाश करके।

---

१ पाठान्तर—'भलउ'—(व्यासजी)। २ 'हरितन'—यह पाठ दो एक प्राचीन प्रतियोंमें मिलता है। काशिराजकी रामायण परिचर्या और सन्तउन्मनी टीकामेंभी यही पाठ है। 'जिमि' का 'जैसा' अर्थ है; यह अर्थ लेनेसे आगे पीछेकी चौपाइयोंसे सम्बन्ध मिलाते हुए शब्दार्थ और अन्वय करनेमें जो अड़चने पड़ रही हैं ये 'हरितन' पाठमें नहीं बाधा डालतीं। 'हरिजन' पाठमें आगे पीछेकी चौपाइयाँ ठीकठीक नहीं लगतीं इसमें श्रीद्विवेदीजी भी सहमत हैं। 'हरितन' पाठ लेकर सन्त श्रीगुरुसहायलालजीने कई प्रकारसे अर्थ किया है। रामायण परिचर्यामें अर्थ यों किया है कि 'सो साधुओंकी चूक हरि आप सुधार लेते हैं। जैसे कोइ, राहमें चलते पाँव ऊँचा नीचा पड़नेसे गिर पड़े तो उसीका आत्मा 'तनुको झाड़ पोंछ धोय' लेता है, औषधियोंसे चोटकोंभी सँवारता है और फिर यह दशा नहीं आने देता; अपनी चूकको उपदेश मान लेता है'। बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'यहाँ तनकी उपमा देकर साधुओंको हरिका तन जनाया, तातें (इसलिए) हरिकी प्रीति साधुमें विग्रहवत् ठहराया'। मा० त० वि०—'तन=अल्प (तनुःकाये कृशे चाल्पे विरलेपिच वाच्यवत्)। जैसे अल्पही चूक हो तद्वत् हरि उसे सुधार लेते हैं।'

अर्थ—(१) कालके स्वभावसे, कर्मकी प्रवलतासे मायाके वश होकर भलेभी भलाईसे चूक जाते हैं।२। इस चूकको जैसे हरिजन सुधार लेते हैं और दुःख दोषको दलकर निर्मल यश देते हैं (वैसेही) खलभी सुसंग पाकर भलाई करते हैं। (खलतासे चूक जाते हैं। परंतु) उनका मलिन स्वभाव अभंग है, मिटता नहीं। ❀ (पं० रामकुमार, मानस पत्रिका)। ३-४।

अर्थ—(२) काल, स्वभाव और कर्मकी प्रवलतासे मायाके वश भलाभी भलाईसे चूक जाता है। २। इस चूकको भगवद्भक्त सुधार लेते हैं, दुःख दोषको मिटाकर निर्मल यश देते हैं जैसे खल भी सत्संग पाकर भलाई करने लगते हैं (परन्तु) उनका मलिन स्वभाव, जो अमिट है, नहीं छूटता। ३-४। (मानस परिचारिका)।+

नोट—इन चौपाइयोंमें यह दिखाया है कि जो भले हैं उनके अन्तःकरणमें भलाई बनी हुई है; इसीसे यदि वे काल कर्मादिकी प्रवलतासे कभी कुमार्गमें पड़गए तोभी जैसेही सन्तोंका सङ्ग उन्हें मिला, वे सुधर जाते हैं। खल स्वाभाविकही मलिन होते हैं। यदि दैवयोगसे उनको सत्संग प्राप्त हुआ तो वे सुमार्गपर चलने लगते हैं, परन्तु ज्योंही उन्हें कुसङ्ग मिला वे भलाई छोड़ अपने पूर्व स्वभावको ग्रहण कर लेते हैं।

❀ पं० रामकुमारजी 'जिमि' पद 'सो सुधारि हरिजन' के साथ लेकर 'तिमि' पद आगेकी चौपाईमें लगाते हैं और यों अर्थ करते हैं कि 'तैसेही खलको खल सुधार लेते हैं, भलाईसे निवृत्त करके मलिन कर्ममें प्रवृत्त करते हैं। सत्संग जनित धर्म और यशको नाश करके अधर्म और अपयशको प्राप्त करते हैं क्योंकि खलका मलिन स्वभाव अभंग है, मिटता नहीं; सत्संग पाकर भी न मिटा। जैसे सन्तोंका निर्मल अभंग स्वभाव कुसंगसे न मिटा। साधुके संगसे अधर्म धर्मसम होता है, असाधुके संगसे धर्म अधर्मसम होता है।'

इस प्रकार इस अर्थमें अपनी ओरसे बहुतसे शब्द जो कोष्ठकमें दिये जाते हैं, बढ़ाकर अन्वय ठीक हो सकता है। '(जब) भले भलाई से काल स्वभावादिके वश हो जाते हैं (तब) जैसे हरिजन""(वैसेही खल खलोंको सुधार लेते हैं; जब वे) खल सत्संग पाकर (अपनी खलतासे चूककर) भलाई करने लगते हैं क्योंकि उनका स्वभाव""।' सुधाकर द्विवेदीजी इस अड़चनको बचानेके लिए 'सो सुधारि' इस अर्द्धालीका अर्थ यों करते हैं 'परन्तु महात्मा लोग अच्छे लोगोंके दोषोंको सुधारकर, जिमि लेहीं (=जें लेते हैं) अर्थात् उस सन्तको शुद्धकर उसके दोषोंको खालेते हैं (खा डालते हैं)।' और लिखते हैं कि 'ऐसा अर्थ करनेसे चौपाइयोंकी संगति हो जाती है'। (मा० प०)

+मा० प्र०—'यहाँ अर्थ अवरेवसे किया गया है, 'जिमि' वाचक पद आगेकी चौपाईके साथ है। 'जिमि' को 'हरिजन' के साथ लगानेमें कोई उपमेय ठीक नहीं जान पड़ता।'

नोट—अर्थ (१) में 'कालके स्वभाव और कर्मकी प्रवलता' ऐसा अर्थ किया गया है और अर्थ (२) में काल, स्वभाव और कर्म तीनोंको पृथक्-पृथक् मानकर अर्थ किया गया है।

'कालके स्वभावसे' और 'कर्मकी प्रवलतासे' इन दोनोंका भाव एकहीसा जान पड़ता है इससे काल और स्वभाव दोनोंको अलग-अलग लेनेसे एक बात और बढ़ जाती है और गोस्वामीजीने अन्यत्र इनको अलग अलग लिखाभी है। यथा, 'कालके, करमके, सुभाउके करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिये'। (वाहुक), पुनः, यथा, 'काल कर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत' (विनय १३०)।

'समय (काल), लिखनेका कारण यह है, कि समय अत्यन्त प्रवल होता है। यथा, 'समय एव करोति बलाबलम्'। यह एक ही है जो मनुष्यको कमजोर और जोरावर बनाता है। 'कालो जयति भूतानि कालः। संहरते प्रजाः। कालः स्वप्ने च जागर्ति कालोहि दुरतिक्रमः' ॥ अर्थात् काल सब जीवोंको जीत लेता है, प्रजाका

नोट—२ 'काल सुभाउ करम बरियाई ।····' इति । गोस्वामीजीने अन्य स्थानोंपर भी ऐसाही कहा है । यथा, 'काल करम गुन सुभाव सबके सीस तपत' । (वि० १३०), 'काल बिलोकत ईस रुख भानु काल अनुहारि । रविहि राहु राजहिं प्रजा बुध व्यवहरहिं बिचारि ।' (दोहावली ५०४) । और इनसे वचनेकी युक्तिभी श्रीरामचरितमानसहीमें बता दी है कि 'काल धर्म नहिं व्यापहिं ताही । रघुपति चरन प्रीति अति जाही ॥ नट कृत कपट बिकट खगराया । नट सेवकहिं न व्यापहिं माया ॥' हरि माया कृत दोष गुन, बिनु हरि भजन न जाहिं । भजिय राम सबकाम तजि अस बिचारि मन माहिं ॥ ७. १०४ ।' यहाँ प्रायः लोग यह शङ्का किया करते हैं कि बड़े-बड़े ज्ञानी ध्यानी हरिभक्त सन्तभी काल कर्मके कठिन भोगोंको भोगते हुए देख पड़ते हैं और ग्रन्थकारने स्वयंही कहा है कि 'कालकर्म गुन सुभाव सबके सीस तपत' तो ये दोनों तो परस्पर विरोधी बातें हैं, इनमें संगति कैसे हो ?

इस विषयमें 'नहिं ब्यापहिं' पदपर विचार करनेसे यह विवाद रहही नहीं जाता । सन्त, हरिभक्त, ज्ञानी, ध्यानी सभी अवश्य प्रारब्ध भोग करते हैं । यह शरीरही प्रारब्धका स्थूल रूप है, ऐसाभी कहा जा सकता है और शरीर प्रारब्ध कर्मोंके भोग करनेके लिएही मिलता है, पर उनको दुःखका उतना भान नहीं होता, सूलीका साधारण काँटा हो जाता है । क्योंकि उनका मन तो नित्य निरन्तर भगवान्‌में अनुरक्त रहता है । 'मन तहँ जहँ रघुबर बैदेही । बिनु मन तन दुख सुख सुधि केही ॥' (अ० २७५) । जो विषय भोगमें प्रवृत्त रहते हैं, उनको दुःख सुख पूर्ण रीतिसे व्यापता है, हरिचरणरत सन्तोंको दुःखके अनुभव करनेका अवसरही कहाँ ? इसीसे उनपर काल कर्मादिका प्रभाव नहीं जान पड़ता । जैसा कहा है, 'ज्ञानी काटै ज्ञानसे, मूरख काटै रोय' । यही तो अन्तर साधारण जीवों, भगवद्भक्तों और ज्ञानियोंमें है । काल, कर्मपर विशेष पिछली पादटिप्पणीमें आगया है ।

अर्थ—(३) सो (उस चूकको वा उनको) हरि (भगवान्) जनकी नाईं (तरह) सुधार लेते हैं और उनको, दुःखदोष दूर करके, निर्मल यश प्राप्त करा देते हैं । (रा. प्र.) ।*

संहार करता है । वह स्वप्नमेंभी जागता रहता है अतः कालका कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता । समयको कोई दबा नहीं सकता । समय जबरदस्त होता है । एवं स्वभावभी अमिट होता है । 'स्वभावो यादृशो यस्य न जहाति कदाचन' । बिहारीनेभी लिखा है कि 'कोटि जतन कीजै तऊ प्रकृतिहिं पैर न बीच । नल बल जल ऊँचो चढ़ै अन्त नीचको नीच ॥' एवं प्रारब्धभी 'प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति' । श्रुतिमें भी लिखा है 'प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः' । एवं प्रारब्धभी बलवान् होता है । ये तीनों आपसमें एक दूसरेसे चढ़े बढ़े हैं' । (सू० मिश्र) ।

निकृष्ट कालमें शुभ कार्यभी करो तो सिद्ध नहीं होता । देखिए राजा परीक्षितपर कलियुगका प्रभाव पड़ही तो गया, उसने राजाकी मति फेरही तो दी, जिससे राजा भलाईसे चूक गए और मुनिके गलेमें साँप डाल दिया । पुनः, दुर्भिक्ष आदि आपत्तिमें कितनेही अपने धर्मको तिलाञ्जलि दे देते हैं ।

कर्म तीन प्रकारके होते हैं । संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण । पूर्व जन्मोंमेंसे कुछ कर्म प्रारब्धरूप होकर इस शरीरमें भोगनेको मिलते हैं । कर्मकी प्रबलतासे राजा नृगको दत्तगौके पुनर्दानसे गिरगिटान होना पड़ा । 'प्रकृति' (अर्थात् माया) के वश सतीजी भलाईसे चूकीं कि पतिसे झूठ बोलीं । यथा, 'बहुरि राम मायहि सिर नावा । प्रेरि सतिहि जेहि झूंठ कहावा' । (१. ५६) ।

* इस अर्थमें 'हरि जन जिमि' ऐसा अन्वय किया गया । पुनः, ऐसा भी अन्वय सन्त उन्मनी टीकाकारने किया है—'हरि जन (चूक) जिमि सुधारि लेहीं तद्वत् दुखदोष दलि सो (उसे) विमल

टिप्पणी—१ (क) अब धर्मके द्वारा सन्त असन्तके गुणदोष दिखाते हैं। 'कालके स्वभावसे कर्मकी बरिआईसे' यह अर्थ ठीक है, क्योंकि साधुका स्वभाव समीचीन है, उसके वशसे भलाईसे कैसे चूकें?+सत्सङ्ग पाकर खल भलाई करते हैं; इससे यह न समझना कि कुसङ्ग पाकर साधु चूकते होंगे। साधु कुसङ्ग पाकर नहीं चूकते, वे तो 'फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं (१. ३)। इसीलिए कालस्वभावकर्ममायाके वश भलेका चूकना कहा, न कि साधुका। अथवा, (ग) जो सन्त हंसरूपी हैं वे कालादिके वश कभी नहीं चूकते। यथा, 'कोटि विघ्न ते संतकर मन जिमि नीति न त्याग। ६. ३३।' जैसे हंस दूधही ग्रहण करते हैं, पानी नहीं; वैसेही जिन्होंने हंसकासा विवेक विधातासे नहीं पाया है, वे कालादिकी बरिआईसे चूकते हैं और उनको हंसरूपी सन्त सुधारते हैं। तात्पर्य यह है कि सामान्य सन्त चूकते हैं, विशेष सन्त सुधारते हैं।

नोट—१ यहाँ सुधारनेमें 'हरिजन' शब्द है और पूर्व 'चूकने' में 'भलेउ' शब्द है। शब्दोंके भेदसे सूचित करते हैं कि 'भले' वे हैं कि जिनको विधातासे हंसकासा विवेक मिला है पर जो 'हरिजन' नहीं हैं वे चूक जाते हैं, क्योंकि उनके कर्मानुसार विधाताने विवेक दिया जो कालादिकी प्रबलतासे जाता रहा। 'हरिजन' इन भले जनोंको सुधार लेते हैं और स्वयं नहीं चूकते, क्योंकि ये तो सदा भगवान्‌के आश्रयमें रहते हैं, इनको सदा भगवान्‌का बल है तब भला 'सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू।' २ 'चुकइ भलाई' से ध्वनित होता है कि भलाईसे चूकते हैं पर मन सात्विकही बना रहता है। (बाबा हरिदास)। ३ 'मिटै न....' इति। यहाँ दिखाया कि सन्त और खल दोनोंकाही स्वभाव अटल है। कुसङ्ग पाकरभी सन्तका स्वभाव निर्मलही रहता है और सुसङ्ग पाकरभी खलका स्वभाव मलिनही रहता है। ४ पं. सूर्यप्रसाद मिश्र—'इस लेखसे ग्रंथकारने यह भी सिद्धांत किया कि साधुका लक्षण धर्ममय और असाधुका लक्षण अधर्ममय ठीक नहीं है। अब ग्रंथकार अगली चौपाई (सो सुधारि) से यह दिखलाते हैं कि ऊपरकी बातें (काल सुभाउ) तो ठीक हैं पर भक्तोंके लिए नहीं, क्योंकि भक्तोंकी चूक तो आपही आप महाराज सुधार लेते हैं और पापीको प्रायश्चित्त कराके उसके दुःखको नाशकर निर्मल यश प्राप्त कर देते हैं।'

टिप्पणी—२ (क) 'सो सुधारि हरिजन जिमि लेहीं' इति। भाव यह है कि सन्तोंका यह सहज स्वभाव है, इसीसे वे सुधार लेते हैं। यथा, 'संत बिटप सरिता गिरि धरनी। परहित हेतु सबन्हि कै करनी॥ ७. १२५।', 'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाउ खगराया॥ ७. १२१।' राजा परीक्षितकी चूक हरिजन शुकदेवजीने सुधार दी और सतीकी चूक शिवजीने। (ख) 'दुख दोष' इति। बुरा कर्म दोष है, दोषका फल दुःख है। यथा, 'करहिं पाप पावहिं दुखहिं भवरुज सोक बियोग', 'नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महाभव भीरा' (७. ४१)। मनमें चूक होनेका दुःख हुआ, और चूकही दोष है; इन दोनोंको मिटा देते हैं। (नोट—मिश्रजी कहते हैं कि प्रसङ्गानुकूल 'दुःख दोष से पाप और पापजनित दुःखका तात्पर्य नहीं हो सकता। 'दुःख दोष' एक शब्द माननाही ठीक होगा।) (ग) 'बिमल जस देहीं' इति। अर्थात् उनको संसारमें निर्मल यश प्राप्त करा

यश देहीं', अर्थात् हरि जनकी चूक जैसे सुधार लेते हैं, वैसेही उसके दुःख दोषको दलकर उसे विमल यश देते हैं। भगवान् अपने दासोंकी चूक सुधारते आए हैं, वैसेही अबभी सुधारते हैं। मिलान कीजिए, 'रहति न प्रभु चित चूक किये की', 'अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेवसमन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः॥' 'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ', 'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती'। इत्यादि।

+ सू० मिश्रजी और मयङ्ककारने 'काल, कर्म स्वभाव ऐसाही अर्थ किया है। इनका मत टिप्पणी (ख) से मिलता है कि 'भलेउ' और 'हरिजन' में भेद है। भले कर्म, स्वभाव, कालके वश चूकते हैं पर रामभक्त कदापि नहीं चूकते, वे दूसरोंकी चूकको सुधारते हैं।

देते हैं। सुयशका भाजन बना देते हैं, सभी उनकी प्रशंसा करने लगते हैं। यश धर्मका फल है, अतः यह भी भाव निकलता है कि भगवद्भक्तों वा भगवत् कृपासे अधर्मभी धर्मका फल देता है। [पुनः, कुछ लोगोंके मतानुसार 'बिमल जस' से 'निर्मल भगवद्‌यश' का तात्पर्य है; जैसे परीक्षितजी, सतीजी और काकभुशुण्डिजीको मिला।] (घ) 'अभंगू' से सूचित किया कि अनेक जन्मोंसे ऐसा स्वभाव पड़ता चला आया है; इसीसे अमिट है।

नोट—५ यहाँ यह शङ्का प्रायः सभीने की है कि पूर्व कहा है कि, 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई' और यहाँ कहते हैं कि 'मिटइ न मलिन सुभाउ अभंगू' इसमें पूर्वापर विरोधसा दीखता है? और इसका समाधानभी अनेक प्रकारसे किया गया है—(१) यहाँ 'खल' का स्वभाव कहा गया है और पहले 'शठ' का। यही 'शठ' और 'खल' में भेद दिखाया। खल और शठके लक्षण दोहावलीमें यों कहे हैं। 'जो पै मूढ़ उपदेश के होते जोग जहान। क्यों न सुयोधन बोधि कै आये स्याम सुजान ॥ ४८३। फूलइ फरइ न बेत जदपि सुधा बरषइ जलद। मूरुख हृदय न चेत जो गुरु मिलै बिरंचि सिव ॥ ४८४। जानि बूझि जो अनीति रत जागत रहइ जो सोइ। उपदेसिबो जगाइबो तुलसी उचित न होइ ॥ सठ सहि साँसति पति लहत सुजन कलेस न काय। गढ़ि गुढ़ि पाहन पूजिये गंडकि सिला सुभाय ॥ ३९२। (२) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि सामान्य खल सत्संगसे सुधरते हैं, उन्हींको 'शठ' कहा था, और यहाँ विशेष खलको कहा है कि जिनका मलिन स्वभाव सत्सङ्गसेभी नहीं मिटता। (३) यदि 'शठ' और 'खल' को एकही मानें तो उत्तर यह होगा कि सुधरना तो दोनों ठौर कहा है, 'सठ सुधरहिं' और 'खलउ करहिं भल'। 'पूर्वके किञ्चित् संस्कारको वृहत कर देना सत्संगहीका काम है। जिनकी क्रूर बुद्धि है वे नाना धर्म कर्म ज्ञान ईश्वर चिंतवनमें प्रवृत्त होजाते हैं पर रजोगुण वा तमोगुण संसृष्ट स्वभाव नहीं जाता, क्योंकि प्रकृति जो पड़ गई सो पड़ गई। 'चोर चोरीसे गया न कि हेरा फेरीसे' यह लोकोक्ति है।' पुनः जहाँ 'मूरुख हृदय न चेत' कहा है, वह खपुष्प इव दृष्टान्त है'। (सन्तउन्मनीटीका)। (४) श्रीजानकीशरणजीका मत है कि 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई' में शठका सुधरना पारसके स्पर्शसे लोहेके सुधरनेके समान कहकर कविने शठका सुधरकर बाहर भीतरसे पूरा सन्त हो जाना बताया है, न कि केवल 'नाना धर्म कर्म ज्ञान ईश्वरचिंतनमें प्रवृत्त होना' और भीतरसे रजोगुण तमोगुणसंसृष्ट स्वभाव बना रहना। खल और शठमें भेद है। ग्रन्थभरमें 'खल' की जगह 'शठ' कहीं नहीं है। हाँ, दुष्ट अवश्य है। यथा, 'दुष्ट उदय जग आरति हेतू'। खलको असन्त और असज्जन भी लिखा है। यथा, 'सुनहु असंतन केर स्वभाऊ', 'बन्दौं संत असज्जन चरना'। (५) बाबा हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि पारसके स्पर्शसे लोहा सोना तो हुआ पर स्वभावकी कड़ाई न गई जैसे नीमकी लकड़ी मलयप्रसंगसे महकी, चन्दन हो गई, पर उसकी कड़वाहट न गई। वैसेही खल सुधर जाते हैं स्वभाव नहीं मिटता। (रा. प्र.)।

लखि सुबेष जग बंचक जेऊ। बेष प्रताप पूजिअहिं तेऊ। ५।
उघरहिं अंत न होइ निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू। ६।
कियेहु कुबेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू। ७।

शब्दार्थ—लखि=देखकर। सुबेष (सुवेष)=सुन्दर वेष; सुन्दर बाना। बंचक=ठगनेवाले वा छल करनेवाले, ठग, कपटी। जेऊ=जो भी। प्रताप=प्रभाव, महिमा, महत्त्व। पूजिअहिं=पूजे जाते हैं, पुजते हैं। तेऊ=वे भी, उन्हें भी। उघरहिं=खुल जाते हैं; क़लई खुल जाती है। निबाहू=निर्वाह, गुज़र। कियेहु=करनेपर-भी। सनमानू=सम्मान, आदर, इज्ज़त।

अर्थ—जो ठगही हैं (पर सुन्दर वेष धारण किए हैं) उनकाभी सुन्दर वेष देखकर, वेषके प्रतापसे जगत् उनकोभी पूजता है❀। ५। (परन्तु) अन्तमें वे खुल जाते हैं, अर्थात् उनका कपट खुल जाता है, फिर निर्वाह नहीं होता (अर्थात् फिर उनकी नहीं चलती) जैसे कालनेमि, रावण और राहु का + । ६। बुरा वेष बना लेनेपरभी साधुका सम्मान होता है, जैसे संसारमें जाम्बवान और हनुमान्‌जीका हुआ। ७।

टिप्पणी—(१) 'कर्मका व्यतिक्रम कहकर अब वेषके व्यतिक्रमका हाल कहते हैं कि साधु संगसे कुवेषका सम्मान है और असाधुके संगसे सुवेषकाभी अनादर है। 'जग वंचक' बड़ा पापी है। यथा, 'वंचक विरचि वेष जगु छलहीं' (अ० १६८)। ऐसा पापीभी सुवेषके प्रतापसे पूजा जाता है। परन्तु खलता उघरनेपर अन्तमें निर्वाह नहीं होता, क्योंकि इनका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वेषही है। यथा, 'वचन वेषसे जो बनै सो बिगरइ परिनाम। तुलसी मनसे जो बनै बनी बनाई राम। १५४।' इति दोहावल्यां। इसीका उदाहरण आगे देते हैं। (२) 'असन्तके सुवेषको प्रथम और सन्तके कुवेषको पीछे कहनेका भाव यह कि यह अन्ततक निबह जाता है, वह नहीं निभता।' (३) 'कालनेमि जिमि रावन राहू' इति। भाव यह कि ये तीनों मारे गए, ऐसेही वंचकभी मारे जाते हैं। वेष प्रतापसे पूजे गये, खलतासे मारे गये। तीनोंने ठगाई की थी। यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है। (४) 'लखि सुवेष' से सूचित किया कि जो खल सत्संग पाकर भलाई करते हैं फिर बिगड़कर मलिन कर्म करते हैं, वेही सुवेष बनाकर जगत्‌को ठगते हैं। (५) साधुके कुवेष करनेका भाव यह है कि कुवेषसे कुशल है। यथा, 'कह नृप जे विज्ञान निधाना। तुम्ह सारिखे गलित अभिमाना॥ सदा रहहिं अपनपो दुरायें। सब विधि कुसल कुवेष बनायें॥ १६१।' कुवेष बनाये हुएको कोई पूजता नहीं, पूजनेसे हानि है। यथा, 'लोकमान्यता अनलसम कर तप कानन दाहु' (१६१)। सन्त पूजनेके डरसे कुवेष धारण करते हैं, खल पूजानेके लिए सुवेष बनाते हैं।

❀ 'जग वंचक जेऊ' के दो प्रकारसे और अर्थ हो सकते हैं।—'जगत्‌में जो भी ठग हैं', 'जो जगत्‌को ठगनेवाले हैं' अर्थात् जगत्‌को ठगनेके लिए ऊपरसे साधुवेष धारण कर लिया है पर उसमें प्रतीति नहीं है, पुनः, 'जग' 'पूजिअहिं' के साथभी जाता है। 'वंचक' यथा, 'वंचक भगत कहाइ रामके। किंकर कंचन कोह कामके' (१. १२), 'विरचि हरिभक्तको वेष वर टाटिका कपट दल हरित पल्लवनि छावों' (विनय २०८)।

करुणासिंधुजी लिखते हैं कि यहाँ वेषका प्रताप सूचित करते हैं। अतः उपासनाकी रीतिसे इनका अर्थ यों होगा कि 'उघरहिं अंत न, होइ निबाहू' अर्थात् सुवेषके प्रतापसे उनका अन्त उघरता नहीं है, उनका निर्वाह हो जाता है, जैसे कालनेमि, रावण और राहुका हुआ। कालनेमिका अन्तमें निर्वाह हुआ। यथा, 'राम राम कहि छाँड़ेसि प्राना'। रावणका निर्वाह। यथा, 'गरजेउ मरत घोररव भारी। कहाँ राम।' और राहुका, यथा, 'कुटिल संग सरलहिं भये हरिहर करहिं निबाहु। ग्रह गनती गन चतुर विधि किए उदर बिनु राहु' इति दोहावल्यां। राहुकी गिनती नवग्रहोंमें देवताओंके साथ होने लगी। थोड़ीही देरके लिए देवताओंके बीचमें देवता बनकर बैठ जानेका यह फल हुआ कि वह नवग्रहोंमें पूजा जाता है। थोड़ी देर सुन्दर वेष धारण करनेका यह फल हुआ तो सदा सुवेष धारण किये रहनेसे क्यों न निर्वाह होगा?

+ 'कालनेमि'—१. २७ (८) देखिये। 'रावण'—यह यतीके वेषसे पंचवटीमें गया। सीताजीने उसके वेषके प्रतापसे 'गुसाईं' संबोधन किया, उसके दुष्ट वचन सुनकर भी उसको दुष्ट न कहकर 'दुष्टकी नाईं' कहा। (लं० ३५, आ० २८)। 'राहु'—४ (३) देखिए।

हानि कुसंग सुसंगति लाहू। लोकहुँ वेद विदित सब काहू। ८।
गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा। कीचहि मिलइ नीच जल संगा। ९।
साधु असाधु सदन सुकसारी। सुमिरहिं राम देहिं गनिगारी। १०।
धूम कुसंगति कारिख होई। लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई। ११।
सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद जग जीवन दाता। १२।

शब्दार्थ—लाहू=लाभ। विदित=प्रगट, जाहिर, मालूम। काहू=किसीको। गगन=आकाश। रज=धूरि, धूल। पवन=वायु, हवा। प्रसंग=सम्बन्ध, लगाव, साथ। कीचहि=कीचड़में। सदन=घर। सुक=(शुक) तोता। सारी=सारिका, मैना। गनि=गिनगिनकर अर्थात् बुरीसे बुरी, और बहुत अधिक। गारी=गाली। धूम=धुआँ। कारिख=(कालिख)=कालिमा, करिखा। मसि=स्याही। अनिल=वायु। संघाता=मेल; सङ्गठनसे; साथसे। यथा, 'ब्रह्मजीव इव सहज सँघाती'। जलद=मेघ। जीवन=प्राण, जल।

अर्थ—कुसंगसे हानि और सुसंगसे लाभ होता है, यह बात लोकमें भी और वेदोंमें सभीको विदित है। ८। पवनके संगसे धूल आकाशपर चढ़ती है और नीचे (जानेवाले) जलके संगसे कीचड़में मिल जाती है। ९। साधुके घरके तोते मैने राम राम सुमिरते हैं और असाधुके घरके गिन गिनकर गालियाँ देते हैं। १०। धुआँ कुसंगसे कालिख कहलाता है वही (सुसंग पाकर) सुन्दर स्याही होता है तब उससे पुराण लिखे जाते हैं। ११। वही (धुआँ) जल, अग्नि और पवनके संगसे मेघ होकर जगत्का जीवनदाता होता है। १२।

नोट—१ 'हानि कुसंग सुसंगति लाहू' इति। यथा, 'को न कुसंगति पाइ नसाई। रहइ न नीच मतें चतुराई॥ २. २४।', 'केहि न सुसंग बडप्पनु पावा। १. १०।', विनसइ उपजइ ज्ञान जिमि पाइ कुसंग सुसंग। ४. १५।', 'हीयते हि मतिस्तात हीनैस्सहसमागमात्। समैस्तु समतां याति विशिष्टैस्तु विशिष्टताम्॥' (पं० रामकुमारके संस्कृत खर्रेसे)।

टिप्पणी—१ 'गगन चढ़इ रज....' इति। (क) अब कुसङ्ग सुसङ्गसे हानि लाभ दिखाते हैं। (ख) 'गगन जढ़इ...'। यथा, 'रज मग परी निरादर रहई। सब कर पद प्रहार नित सहई॥ मरुत उड़ाव प्रथम तेहि भरई। पुनि नृप नयन किरीटन्हि परई॥ ७. १०६।' वही रज जो पवनके संगसे ऊर्ध्वगामी हो आकाशको जाती है, राजाओंके मस्तकपर जा विराजती है, नीच (नीचेको जानेवाले) जलके सङ्गसे कीचमें मिलती है। (आकाशगामीके संगका फल वह मिला और निम्नगामीके संगका यह फल मिला। कीचड़में मिलनेसे अब सबके पदप्रहार सहती है।) अब यदि पवन उसे उड़ाना चाहे तो नहीं उड़ा सकता। तात्पर्य यह कि जो कुसंगसे अत्यन्त मूर्ख हो गए हैं, वे सत्संगके अधिकारी नहीं रह जाते। यथा, 'फूलइ फरइ न बेत, जदपि सुधा बरसइ जलद। मूरुख हृदय न चेत, जो गुर मिलहिं बिरंचि सम॥ ६. १६।' जब वह उपदेशही न मानेगा तब ऊर्ध्वगतिही कैसे होगी? सत्संग ऐसे नीचको इतने ऊँचेपर पहुँचा देता है और कुसंग इतने ऊँचेसे गिराकर पतित करता है। (ग) [श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि रजमें 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँच विकार हैं। जलमें 'शब्द, स्पर्श, रूप, रस' और पवनमें 'शब्द, स्पर्श' दोही विकार हैं। सन्त पवनके समान हैं, जो रूप, रस और गन्ध विकारोंको जीते हुए हैं, केवल जगत्का स्पर्शमात्र किए हुए हैं और शब्द सुनते हैं। विषयी रजरूप हैं जो शब्दादि पांचों विषय विकारोंमें लिप्त हैं। ये सन्तसंग पाकर ऊर्ध्व-गतिको प्राप्त होते हैं और जलरूपी विमुख जीव, जो शब्द स्पर्श, रूप रसमें आसक्त हैं, उनका संग पाकर

चौरासीलक्षयोनिरूप कीचड़में फँस जाते हैं। यथा, 'संत संग अपवर्ग कर कामी भव कर पंथ' (७. ३३)।]

नोट—२ कुछ महानुभावोंने शङ्का की है कि 'जल तो जगत्का आधार है, 'नीच' कैसे कहा? इसका एक उत्तर तो यही है कि दृष्टान्त एकदेशी है, जलकी नीचेकी गतिहीको यहाँ लिया है। गंगा आदिको इसी कारण निम्नगा कहा है, अर्थात् नीचेको जानेवाली है, वही अर्थ 'नीच' का यहाँभी गृहीत है। इसी प्रकार 'विस्व सुखद खल कमल तुषारू'। [बा० १६ (५)] में 'कमल' को खलकी उपमा दी गई है। कोई कोई इस शङ्काके निवारणार्थ 'नीच' को 'कीच' वा 'रज' का विशेषण मानकर अर्थ करते हैं। वा, 'मिलइ नीच' (नीचे कीचड़में जा मिलती है) ऐसा अन्वय करते हैं।

सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि 'नीच' विशेषण देनेका भाव यह है कि जो जिसके साथसे नीच होता है, वह उसको नीचही समझता है।....यद्यपि जल मनुष्यमात्रका जीवन है तथापि धूलिके लिए नीचही है।'

टिप्पणी—२ 'साधु असाधु सदन सुक सारी।...' इति। (क) साधुके घरके तोता मैना साधुके संगसे श्रीरामनाम रटते हैं। इससे उनके लोक परलोक दोनों बनते हैं। लोकमें लोग उनकी प्रशंसा करते हैं और श्रीरामनामस्मरणसे वे परमधाम पाते हैं। इसी तरह असाधुके घरके तोते मैने असाधुका सङ्ग होनेसे लोकमें अपयश पाते हैं। इस लोकमें लोग उनकी निंदा करते हैं यह तो उनका लोक बिगड़ा। और गाली देनेसे उनका परलोकभी बिगड़ा। (ख) साधुसङ्गसे शुकसारिकाका श्रीरामनामस्मरण करना 'प्रथम उल्लास अलङ्कार' है और असाधुके सङ्गदोषसे गाली देना 'द्वितीय उल्लास' है। दोहा ३ (६) में देखिए। यथासंख्य अलङ्कारभी है।

नोट—३ अर्धाली १० 'साधु असाधु....' के भावके श्लोक ये हैं। 'कांतारभूमिरुह मौलि निवास शीलाः प्रायः पलायनपरा जनवीक्षणेन। कूजन्ति तेऽपि हि शुकाः खलु राम नाम संगस्वभाव विपरीत विधौ निदानम्।।', गवासनानां स शृणोति वाक्यमहं हि राजन् वचनं मुनीनाम्। न चास्य दोषो न च मे गुणो वा संसर्गजा दोष गुणा भवंति।।' अर्थात् जङ्गलमें वृक्षोंके शिखरोंपर बैठनेवाले शुक पक्षीभी जो मनुष्योंको देखकर भागनेवाले होते हैं वेभी मनुष्योंकी संगति पाकर रामनाम रटने लगते हैं। संगतिसे स्वभावका परिवर्तन होता ही है। (सु. र. भा. प्रकरण २ सत्संगति प्रशंसा श्लोक ३१)। वह तो क़साइयोंका वचन सुनता रहा है और मैं मुनियोंके वचन सुनता हूँ। इसीसे हे राजन्! सारिका गालियाँ बकती हैं और मैं रामयश और रामनाम गाता हूँ। इसमें न कुछ उसका दोष है, न मेरा गुण। दोष और गुण संसर्गहीसे उत्पन्न होते हैं—(सु. र. भा. प्र. २ सत्संगप्रशंसा श्लोक २३)।

२ 'देहिं गनि गारी' इति। 'गनि' का अर्थ 'गिनना' करनेमें लोग शङ्का करते हैं कि 'इनको गिननेका विवेक कहाँ?' समाधान यह है कि यह मुहावरा है जिसका अर्थ है बराबर और बुरीसे बुरी बेईतहा (बहुत अधिक) गालियाँ देते हैं। कुछ लोग इस शङ्काके कारण इस प्रकार अर्थ करते हैं 'गाली देते हैं, 'गनि' अर्थात विचार कर देख लो।' पर यह अर्थ खींचखांचही है।

५ 'धूम कुसंगति कारिख होई।....' इति। (क) यहाँ कुसंग और सुसंग क्या है? लकड़ी, कंडा, तृण, भड़भूँजा आदिके संगसे धुआँ जो घरोंमें जम जाता है वह कालिख कहलाता है, घरको काला करता है। लकड़ी, कंडा आदि कुसंग हैं जिससे वह धुआँ 'कालिख' के नामसे कहा जाता है। तेल, बत्ती, विद्यार्थी आदिका संग सुसंग है क्योंकि इनके संगसे जो कालिमा बनती है, वह काजल कहलाता है, जिससे स्याही बनती है, दवातपूजामें उसका पूजन होता है और उससे पुराण लिखे जाते हैं, पुराणोंके साथ उसकी भी पूजा हो जाती है।

(ख) 'लिखिअ पुरान मंजु मसि सोई' इति। यहाँ पुराणोंकाही लिखना क्यों कहा? वेदोंका नाम क्यों न दिया? उत्तर यह है कि पुराणोंके लिखनेका भाव यह है कि वह पूजनीय हो गया। पुराण लिखे जाते हैं, गणेशजीने सर्वप्रथम इन्हें लिखा। यह सब जानते हैं। वेदोंको इससे न कहा कि वे श्रुति कहलाते हैं। इनका लिखना सम्मानार्थ वर्जित है। इनको गुरुपरम्परासे सुनकर कण्ठ किया जाता है। भीष्मपितामहजीने महाभारत आनुशासनिक पर्वमें कहा है कि 'वेदानां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः।' अ० २३ श्लोक ७२।

६ 'सोइ जल अनल अनिल संघाता। होइ जलद' इति। (क) धूमसे मेघोंका बनना हमारे पूर्वज बराबर मानते आये हैं। इसके प्रमाणभी हैं। यथा, 'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥ गीता ३.१४।' अर्थात् सम्पूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं और अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिसे होती है और वह (वर्षा) यज्ञकर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला है। पुनश्च यथा, 'धूम ज्योतिः सलिल मरुतां सन्निपातः क्व मेघः।' (मेघदूत श्लोक ५)। अर्थात् धुआँ, तेज, जल और पवनका मेलही मेघ है। इसी कारण मेघका 'धूमयोनि' और जलका 'जीवन' नाम पड़ा है। उत्तरकांडमभी ग्रंथकारने कहा है, 'धूम अनलसंभव सुनु भाई। तेहिं बुझाव घन पदवी पाई। ७. १०६।' इसपर यह शङ्का होती है कि 'धुएँसे तो विज्ञानके मतानुसार मेघ नहीं बनता। तब क्या यह कथन हमारे पूर्वजों, प्राचीनोंकी भूल नहीं है?' इसका उत्तर है—'नहीं'। तापबलसे जल वाष्प (भाप) होकर अन्तरिक्षमें एकट्ठा होता है सही, पर कितनाही ठण्डा हो जाय, जल और उपल तबतक नहीं बन सकता, जबतक धूमकण या रजकणका संयोग न हो। ज्योंही धूमकण या रजकण वाष्पको ज़मा देते हैं त्योंही जल बन जाता है। [सं+घात=संघात=मेल वा क्रिया वा चोट वा संयोग।] अतः अनल+अनिल+जल+धूमकण, इस संघातसे जलद (जल+द) बनता है। (गौड़जी)।

लिंगपुराणमेंभी लिखा है कि 'अतो धूमाग्निवातानां संयोगस्त्वभ्रमुच्यते। ३९।' धूम, अग्नि और वायुके संयोगसे मेघ बनता है, जो जलको धारण करता है। सूर्य जो जल किरणोंद्वारा खींचता है, वह सूर्यसे फिर चन्द्रमामें जाता है और वहाँसे मेघोंमें आता है। यथा, 'आपः पीतास्तु सूर्येण क्रमंते शशिनः क्रमात्। ३१। निशाकरान्निस्त्रंते जीमूतान् प्रत्यपः क्रमात्। वृन्दं जलमुचां चैव श्वसनेनाभिताडितम्। ३२।' (लिं. पु. पूर्वार्ध अ० ५४)। धुआँ जैसा होता है वैसाही उससे बनेहुए मेघोंका फल होता है। दवाग्निका धुआँ वनके लिये हितकारी होता है। मृतधूमवाले मेघ अमंगलकारी होते हैं और अभिचारिक अर्थात् हिंसात्मक यज्ञका धूम प्राणियोंका नाशक होता है। यथा, 'यज्ञधूमोद्भवं चापिद्विजानां हितकृत् सदा। दावाग्निधूमसंभूतमभ्रं वनहितंस्मृतम्। ४०। मृतधूमोद्भवं त्वभ्रमशुभाय भविष्यति। अभिचाराग्निधूमोत्थं भूतनाशाय वै द्विजाः। ४१।' (लिं. पु. पू. अ० ५४)। इससेभी धूमका सुसंग और कुसंगसे शुभ और अशुभ होना सिद्ध है। लोगोंने पुराणोंकी निंदा करके उसकी ओरसे लोगोंकी श्रद्धा हटा दी, जिसके कारण हम अनेक विज्ञानकी बातोंसे आज वंचित हो गए जो उनमें दी हुई हैं। विदेशी उन्हींको चुराकर जब कोई बात कहते हैं तब हम विदेशियोंकी ईजाद मानकर उनकी प्रशंसा करते हैं।

(ख) 'जग जीवनदाता' इति। जगको जीवनदाता हुआ, इस कथनका भाव यह है कि वह संसारका जीवनदातास्वरूप है। स्याही हो कर पुराण द्वारा पंडितोंको जीवनदाता हुआ और मेघ होकर जगत्‌को जीवनदाता हुआ। (पं० रामकुमारजी)। मेघ पृथ्वीपर जलकी वृष्टि करते हैं, जिससे अन्न पैदा होता है और अन्नमें प्राण है, अर्थात् अन्नसे प्राणोंकी रक्षाके योग्य यह शरीर होता है और जगत्‌मात्रको इससे सुख होता है। यथा, 'मुदित छुधित जनु पाइ सुनाजू। २. २३५।'

७ यहाँ तीन प्रकारके दृष्टान्त दिए गए। 'रज, पवन, जल', 'शुक सारिका' और 'धुआँ'। और इनके द्वारा सुसंग कुसंगसे लाभ हानि दिखायी गई। इस प्रसंगमें इन तीन दृष्टान्तोंके देनेका क्या भाव है? उत्तर—

'रज, पवन और जल' जड़ हैं, 'शुक सारी' चेतन हैं जिनको बुरे भलेका ज्ञान नहीं और 'धूम' जड़रूप है और 'चेतनरूप' भी । इन दृष्टान्तोंको देकर दिखाते हैं कि जड़परभी जड़का, चेतनपर चेतनका, और जड़चेतनसंज्ञक, चेतन संज्ञक और जिनकी जड़चेतन दोनों संज्ञा हैं उन सबोंपर संगतिका प्रभाव पड़ता है।

दो०—ग्रह भेषज जल पवन पट पाइ कुजोग सुजोग ।
होहिं कुवस्तु सुवस्तु जग लखहिं सुलच्छन[१] लोग ॥
सम प्रकास तम पाख दुहुँ नाम भेद बिधि कीन्ह ।
ससि सोषक[२] पोषक समुझि जग जस अपजस दीन्ह । ७ ।

शब्दार्थ—ग्रह=जिन बिम्बोंकी आकाशमें गति है। ग्रह नव माने गए हैं। रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु। भेषज = औषधि, दवाई। पट = वस्त्र, कपड़ा। कुजोग = (कुयोग) बुरेका संग। सुजोग = (सुयोग) अच्छेका संग। कुवस्तु=बुरे पदार्थ, बुरी चीज। सुवस्तु=भला पदार्थ, अच्छी चीज। सुलच्छन = सुलच्छण=भली प्रकार लखनेवाले; अच्छे लखनेवाले अर्थात् सुविज्ञ। पाख = पक्ष, पखवारा। १५ ।' १५ दिनका एक एक पक्ष होता है। दुहुँ = दोनोंमें। प्रकाश=उजाला। पोषक=पालने, पुष्ट करनेवाला, बढ़ानेवाला। सोषक (शोषक)=सुखाने वा घटानेवाला।

अर्थ—ग्रह, औषधि, जल, वायु और वस्त्र (ये सब) बुरा और भला संग पाकर संसारमें बुरे और भले पदार्थ हो (कहे) जाते हैं। सुलक्षण लोगही इसे लख (देख वा जान) सकते हैं। (शुक्ल और कृष्ण) दोनों पक्षोंमें उजाला और अँधेरा समान (बराबर) ही रहता है (परंतु) ब्रह्माजीने उनके

---

१ कोदारामजीकी प्रतिमें 'सुलक्खन' पाठ है। 'लखहिं' के योगसे यह पाठ अधिक अच्छा जान पड़ता है। श्रीअयोध्याजीकी भी एक प्रतिमें यही पाठ है। 'सुलक्खन' पदमें 'लखहिं' का अभिप्राय भरा है। सुलक्खन विशेषण है। अतएव यहाँ 'परिकर अलङ्कार' है। सं. १६६१ की प्रतिमें प्रथम 'सुलष्पन' सा जान पड़ता है परन्तु 'ष्प' पर स्याही अधिक है इससे निश्चय नहीं कि पूर्व क्या पाठ था। अनुमान यही होता है कि 'छ' था। स्याही लगाकर हाशियेपर 'छ' बनाया है। बदखत है। रा. प. में 'सुलष्यन' पाठ है जो सम्भवतः १७०४ की पोथीका पाठ है। पंजाबीजीभी 'सुलष्यन' पाठ देते हैं।

२ 'सोषक पोषक' पाठ १६६१ में है। पोषक सोषक—१७२१, १७६२, १७०४, छ०, को. रा.। 'सोषक पोषक' पाठ पं. सुधाकर द्विवेदीनेभी दिया है और मा. प्र. ने भी। पं. रामकुमारजी लिखते हैं कि इस दोहेमें पहले प्रकाश और शशिपोषक, फिर तम और सोषक कहकर पहले शुक्ल, फिर कृष्ण पक्ष सूचित किये। परन्तु दूसरी ठौर 'घटै बढ़ै बिरहिनि दुखदाई। १. २३८ (१)।' में पहले कृष्ण फिर शुक्ल पक्ष लिखा है। इस व्यतिक्रम-का भाव यह है कि नर्मदाजीके उत्तरार्धमें प्रथम कृष्ण पक्ष माना जाता है और दक्षिणार्द्धमें प्रथम शुक्लपक्ष माना जाता है। श्रीमद्गोस्वामीजीने एक एक मत दोनों जगह देकर दोनों मतोंकी रक्षा कर दी है। (पं. रामकुमारजी भागवतदासजीकी पोथीसे पाठ करते थे।) उसमें 'पोषक सोषक' पाठ यहाँपर है। इसीसे उन्होंने दोनों स्थानोंके पाठका इस तरह समाधान किया है। मानसपीयूषके प्रथम और दूसरे संस्करणमें हमने 'पोषक सोषक' पाठ रक्खा था, और वही अधिक अच्छा जान पड़ता है; पर १६६१ की प्रतिमें 'सोषक पोषक' है और हरताल या काट छाँटभी नहीं है। इस लिये इस संस्करणमें यही पाठ रक्खा गया।

नाममें भेद कर दिया (अर्थात् एकका नाम शुक्ल और दूसरेका कृष्ण रख दिया)। एक चन्द्रमाकी वृद्धि करनेवाला और दूसरा उसको घटानेवाला है, ऐसा समझकर जगत्में एकको यश और दूसरेको अपयश दिया । ७ ।

नोट१—'ग्रह' नौ हैं। यथा, 'सूर्यः शौर्यमथेन्दुरुच्चपदवीं सन्मंगलं मंगलः। सद्बुद्धिं च बुधो गुरुश्च गुरुतां शुक्रः सुखंशं शनिः। राहुर्बाहुबलं करोतु विपुलं केतुः कुलस्योन्नतिं नित्यं प्रीतिकरा भवन्तु भवतां सर्वे प्रसन्ना ग्रहाः॥'(मानसागरी १. ५)। ग्रहोंमेंसे कितनेही स्वाभाविकही शुभ और कितनेही अशुभ हैं, तो भी बुरे स्थानमें आपड़ने, क्षीण होने, अधिकांश बीतने, क्रूरग्रहके साथ पड़ने या उनकी दृष्टि पड़नेसे शुभग्रहभी बुरे हो जाते हैं और इसी प्रकार अशुभग्रह शुभग्रहोंके संयोग, शुभस्थान आदि कारणोंसे शुभ हो जाते हैं। द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'बृहस्पति जन्म और अष्टम प्राणनाशक और वही द्वितीय और नवममें आरोग्य और अनेक सुखदाता भी बुरे भले स्थानके संगसे होता है।' पुनः, यथा, 'ससि सर नव दुइ छ दस गुन मुनि फल बसु हर भानु। मेषादिक क्रम ते गनहि घात चंद्र जिय जानु॥ दोहावली ४५६।' इस दोहेका भावार्थ यह है कि मेष आदि राशियोंसे क्रमशः शशि (एक), सर (पांच), नौ, दो, छः, दश, गुण (तीन), मुनि (सात), फल (चार), वसु (आठ), हर (ग्यारह), और भानु (बारह) वें राशियोंमें स्थित चन्द्रमा घातक होता है। अर्थात् मेषराशिवालेको 'प्रथम' अर्थात् मेषका, वृषभराशिवालेको उससे पंचम अर्थात् कन्याराशिका, मिथुनराशिवालेको उससे नवें अर्थात् कुम्भका चन्द्र घातक होता है। इसी प्रकार औरभी जान लें। मुहूर्तचिंतामणिमें यात्राप्रकरणमेंभी ऐसाही लिखा है। यथा, 'भूपंचाक द्व्यङ्ग दिग्वह्नि सप्त वेदाष्ट शार्काश्च घाताख्याचन्द्रः मेषादीनां राजसेवा विवादे यात्रा युद्धादिये च नान्यत्र् वर्जः॥२७॥' चन्द्रमा पुण्य ग्रह है, परन्तु उपर्युक्त कुयोगोंसे वह कुवस्तु हो जाता है। पूर्व संस्करणोंमें हमने उदाहरणमें यह दोहा दिया था। परन्तु इस समय विचारने पर कुछ त्रुटि देख पड़ी कि इसमें एक ग्रहके केवल कुयोगका किंचित् अंश मिलता है; दूसरे मेषादि राशियां कोई कुवस्तु नहीं हैं कि जिनके सङ्गसे चन्द्रमा 'कुवस्तु' हो जाता है। तब वह बुरा क्यों माना गया? इसका उत्तर यही हो सकता है कि दोनों अच्छी वस्तुओंका योग (मिश्रण) जैसे घृत और मधु समान होनेपर मात्रामें मिलनेसे विष हो जाता है। वस्तुतः यहां ग्रह आदिका कुयोग (कुवस्तुके योग) से कुवस्तु और 'सुयोग' (अच्छी वस्तुके योग) से सुवस्तु होना कहा गया है। इसलिये दूसरा दृष्टान्त खोज करके यह दिया जाता है। बृहत् ज्योतिषसार 'जातक' प्रकरणमें लिखा है, 'द्वित्रिसौम्याः खगार्नाचा व्ययभावेऽथवा पुनः। भवन्ति धनिनः षष्ठे निधनेऽन्ते च भिक्षुकाः। ८१।' अर्थात् जिसके शुभ ग्रह दूसरे, तीसरे स्थानमें हों और पापग्रह बारहवेंमें हों तो वह धनवान् होता है। और, यदि सम्पूर्ण ग्रह छठवें, आठवें और बारहवें स्थानमें पड़ें तो बालक भिक्षुक होता है। कुण्डलीका दूसरा स्थान धनका और तीसरा भाईका है। अतः ये शुभ हैं। बारहवां स्थान इन दोनोंके संगसे शुभही समझा जा सकता है क्योंकि धन और परिवारवालेके लिये खर्चभी साथसाथ होना बुरा नहीं है। ग्रह इन शुभ स्थानोंमें आनेसे शुभ होते हैं। कुण्डलीका छठवां, आठवां और बारहवां स्थान क्रमशः रिपु, मृत्यु और व्ययका है। रिपु और मृत्यु दोनों बुरे हैं ही और इनके सङ्गसे बारहवां स्थानभी बुरा ही है। समस्त ग्रह इन तीनों स्थानोंके सङ्गसे बुरे हो जाते हैं।

२ भेषज—अनोपान अच्छा, समय ठीक हुआ और रोगकी ठीक पहिचान करके दवा दीगई तो गुण करती है, नहीं तो उलटी हानिकारक हो जाती है। इसके भेदको अच्छे वैद्यही जानते हैं। सांपके काटनेपर विष खिलानेसे प्राणोंकी रक्षा, अन्यथा विष प्राणघातक है। पूर्व संस्करणोंमें हमने यह भाव लिखा था और और कुछ टीकाकारोंने उसे अपनी टीकाओंमें उताराभी है। परन्तु 'भेषज' के 'कुयोग सुयोग' की ठीक सङ्गति इसमें नहीं पाकर वैद्यक ग्रन्थसे खोजकर दूसरा उदाहरण दिया जाता है।

'भेषज' इति। लोहेकी भस्म शहदके साथ पथरी और मूत्रकृच्छ्र रोगके लिये परम गुणदायक है। परन्तु यदि मद्य और खटाईका सेवन किया गया तो वही हानिकारक हो जाती है। यथा, 'अयोरजः श्लक्ष्णपिष्टं मधुना

सह योजितम् । अश्मरीं विनिहंत्याशु मूत्रकृच्छ्रञ्च दारुणम् ॥ ७८ ॥' 'मद्यमम्लरसञ्चैव त्यजेल्लोहस्य सेवकः । ५८ ।' (रसेन्द्र-सारसंग्रह) । शहद अच्छी चीज है । उसके सङ्गसे लोहभस्म सुवस्तु और मद्य एवं खटाई बुरी हैं, इनके सङ्गसे वही कुवस्तु हो गया ।

३ 'जल' कर्मनाशामें पड़नेसे बुरा, वही गंगाजीमें पड़नेसे पावन । गुलाब इत्यादिके सङ्गसे सुगन्धित और नाबदान इत्यादिके सङ्गसे दुर्गन्धित । इसी प्रकार वही गंगाजल वारुणी (मदिरामें) पड़नेसे अपावन हो जाता है । स्वातिजल सीपके मुखमें पड़नेसे मोती, केलेमें कपूर, बाँसमें बन्सलोचन, हरदीमें कचूर, गौमें गोलोचन और सर्पके मुखमें पड़नेसे विष होता है ।

४ 'पवन' फुलवारी आदिसे होकर आवे सो सुगन्ध और नाबदान वा किसी सड़ी वस्तुके अवयवोंके सङ्गसे दुर्गन्ध ।

५ 'वस्त्र' सन्त विरक्त महात्माओंकी गुदड़ीका और देवी देवतापर चढ़ा हुआ शुभ, मुर्देके कफनका अशुभ । महात्माओंके मृतक शरीरका वस्त्र भी प्रसादरूप माना जाता है । चूनरी मांगलिक है, पर मृतक स्त्रीके शरीर पर होनेसे वहभी अपवित्र मानी जाती है ।

६ 'लखहिं सुलच्छन लोग' का भाव यह है कि ज्योतिषी, वैद्य और सुजान (जानकार) ही इनके भेदको जान सकते हैं । सबको इनको भेद नहीं जान पड़ते । (पं० रामकुमार) । सुलच्छन=विद्या, विचार आदि सुन्दर लक्षणयुक्त लोग ।

७ 'सम प्रकास तम पाख दुहुँ' इति । (क) द्विवेदीजी—दोनों पक्षोंमें पन्द्रहपन्द्रह तिथि और चन्द्रमाकी कलाएँ बराबर हैं परन्तु शुक्लपक्ष क्रमक्रमसे कलाको बढ़ाता और कृष्णपक्ष घटाता है। इस लिए ब्रह्माने शुक्लको यश और कृष्णको अपयश दिया, अर्थात् मंगलकार्योंमें शुक्ल शुभ और कृष्ण अशुभ मानागया । (ख) सू० प्र० मिश्र—दोनों पक्षोंमें भेद नहीं है, परन्तु ब्रह्माने नाम भेद कर दिया है । शुक्लपक्ष चन्द्रको बढ़ाता और कृष्ण-पक्ष उसे घटाताहै, ऐसा समझकर उनके कर्मके अनुसार यश और अपयश अर्थात् कृष्णको काला और शुक्लको श्वेत कर दिया है । घटाने बढ़ानेका भाव यह है कि धर्मादिका बढ़ाना यश और उसका घटाना अपयश है। (ग) एकको शुक्ल या उजियारी और दूसरेको कृष्ण या अँधेरी कहनेसेही एक भला और दूसरा बुरा जान पड़ता है । जगत्में लोग कृष्णपक्षको शुभ कार्यमें नहीं लाते, शुक्लको लाते हैं ।

मिताक्षरा (याज्ञवल्क्यस्मृतिकी टीका) में वारप्रवृत्तिके सम्बन्धमें कश्यपजीका यह वचन प्रमाणमें दिया गया है—'उदिते तु यदा सूर्ये नारीणां दृश्यते रजः। जननं वा विपत्तिर्वा यस्याहस्तस्यशर्वरी ॥ अर्धरात्रावधिः कालः सूतकादौ विधीयते । रात्रिं कुर्यास्त्रिभागान्तु द्वौ भागौ पूर्व एव तु । उत्तरांशः प्रभातेन युज्यते ऋतु सूतके ॥ रात्रावेव समुत्पन्ने मृते रजसि सूतके । पूर्वमेव दिनं ग्राह्यं यावन्नोदयते रविः ॥' याज्ञवल्क्यस्मृतिके प्रायश्चित्ता-ध्याय अशौच प्रकरणके बीसवें श्लोकपर ये वचन टीकामें उद्धृत किए गए हैं । अर्थ यह है कि सूर्यके उदय होनेपर स्त्रियोंका रजो दर्शन या किसीका जन्म या मृत्यु हो तो उसके सूतकमें अर्द्धरात्रि पर्यन्त वही दिन लिया जायगा जिसमें सूर्य उदय हुआ हो । अथवा, रात्रिके तीन भाग करके पहले दो भाग पूर्व दिनमें और तीसरा भाग अगले दिनमें समझना चाहिये । अथवा, सूर्योदयके पहले यदि उपर्युक्त प्रसङ्ग आ जावें तो पूर्व दिनही समझा जाय । इसपर मिताक्षराकारका कथन है कि ये सब पक्ष देशाचारानुसार मानने चाहिएँ । निर्णयसिंधु और धर्मसिंधुने मिताक्षराके प्रमाणपर यही बात लिखी है। उपर्युक्त तीन पक्षोंमेंसे सूर्यसिद्धांत प्रथम पक्षको ही मानता है । यथा, 'वारप्रवृत्तिः प्राग्देशे क्षपार्धेऽ

भ्यधिके भवेत् । तद्देशांतर नाडीभिः पश्चादूने विनिर्दिशेत् । ६६ । (सूर्यसिद्धांत मध्यमाधिकार) । यह मत प्राचीनतम ज्योतिष सिद्धांतका है । इस श्लोकमें रेखापुरके पूर्व और पश्चिम देशोंमें वारप्रवृत्ति किसप्रकार होती है, यह बताया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि रेखापुरमें ठीक वारह बजे रात्रिमें वारप्रवृत्ति होती है और वही वारप्रवृत्ति सब देशमें मानी जाती है । सिद्धांत कौमुदीमें 'कालोप सर्जने च तुल्यम् । १. २. ५७ ।' इस सूत्रपर लिखा है कि बीती हुई रातके पिछले अर्धके सहित और आगामी रातके पूर्वार्धसे युक्त जो दिन होता है, उसे 'अद्यतन' (आजका दिन) कहते हैं । यथा, 'अतीताया रात्रेः पश्चार्द्धेनागामिन्याः पूर्वार्द्धेन च सहितो दिवसोऽद्यतनः ।' इससे भी आधी रातसे दिनका प्रारम्भ माना जाता है ।

वैष्णवोंमें कुछ सांप्रदायिक दशमी ४५ दंडसे बढ़जानेपर एकादशीको विद्धा मानते हैं । अर्धरात्रिमेंही वारप्रवृत्ति मानकरही ऐसा होता है । अर्धरात्रिसे दिनका प्रारम्भ माननेसे दोनों पक्षोंमें उजाला और अँधेरा स्पष्टही बराबर देख पड़ता है । कृष्णपक्षमें अमावस्याकी पूरी रात अँधेरी होती है । आधी इसमेंसे कृष्णपक्षमें आगई और आधी शुक्लपक्षमें गई । इसी तरह शुक्लपक्षमें पूर्णिमाकी रातभर प्रकाश रहता है, उसमेंका पूर्वार्ध शुक्लमें गिना जायगा और उत्तरार्ध कृष्णमें । शेष सब तिथियोंका हिसाब सीधा है ।

८ 'पाइ कुजोग सुजोग' इति । श्रीमद्भागवतमेंभी ऐसाही कहा है । यथा, 'विद्या तपो वित्तवपुर्वयःकुलैः सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः । स्मृतौ हतायां भृतमान दुर्दृशः स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम् । भा. ४. ३. १७ ।' अर्थात् विद्या, तप, धन, सुदृढ़ शरीर, युवावस्था और उच्च कुल ये छः सत्पुरुषोंके गुण हैं किंतु ये ही नीच पुरुषोंमें अवगुण हो जाते हैं ।

टिप्पणी—पूर्व कहा था कि सन्त असन्त यश अपयश पाते हैं । यथा, 'भल अनभल निज निज करतूती । लहत सुजस अपलोक विभूती । १५ (७) । फिर कुसङ्ग और सुसङ्गसे क्रमशः हानि और लाभ यहाँतक दिखाते आए । अर्थात् साधु और असाधुके सङ्गसे गुणदोष 'गगन चढ़इ रज पवन प्रसंगा' । ७ (८) से लेकर यहाँतक कहा ।

साधु असाधु वन्दना प्रकरण समाप्त

कार्पण्ययुक्तवंदना प्रकरण

जड़ चेतन जग जीव जत, सकल राम मय जानि ।
बंदौं सब के पद कमल, सदा जोरि जुग पानि ॥
देव दनुज नर नाग खग, प्रेत पितर गंधर्व ।
बंदौं किन्नर रजनिचर, कृपा करहु अब सर्व ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—जड़, चेतन—नोटमें दिया गया है । जत=जितना । सकल=सब । दनुज=दनु (कश्यपजीकी एक स्त्री) की सन्तान । पर यहाँ दैत्य, असुरमात्र अभिप्रेत हैं । खग=आकाशमें चलनेवाले=पक्षी । नाग=कद्रू (कश्यपजीकी एक स्त्री) के पुत्र । जैसे शेषनाग, वासुकी, आदि । ६१ (१) और पृष्ठ १४६ देखो । प्रेत, पितर (पितृ)=मरण और शवदाहके अनन्तर मृत व्यक्तिको आतिवाहिक शरीर मिलता है । उसके पुत्रादि उसके निमित्त जो दशगात्रका पिंड दान करते हैं उन दश पिंडोंसे क्रमशः उसके शरीरके दश अंग गठित होकर उसको एक नया शरीर प्राप्त होता है । इस देहमें उसकी 'प्रेत' संज्ञा होती है । षोडश श्राद्ध और सपिंडनके द्वारा क्रमशः उसका यह शरीरभी छूट जाता है और वह एक नया भोग—देह प्राप्तकर अपने बाप, दादा, परदादा

आदिके साथ पितृलोकका निवासी बनता है, अथवा कर्मसंस्कारानुसार स्वर्ग नरक आदिमें सुखदुःखादि भोगता है। इसी अवस्थामें उसको 'पितृ' कहते हैं। पुनः, पितृ=एक प्रकारके देवता जो सब जीवोंके आदिपूर्वज माने गये हैं। गन्धर्व किन्नरादि देवयोनि हैं। यथा, 'विद्याधराप्सरो यक्षरक्षो गन्धर्व किन्नराः। पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः' इत्यमरकोषे (१. १. ११)। नाग भी देवयोनिके प्राणी हैं जो भोगावतीमें रहते हैं। गन्धर्व= ये ब्रह्माजीकी कांतिसे उत्पन्न हुये। पुराणानुसार ये स्वर्गमें रहते हैं। इनका स्थान गुह्यलोक और विद्याधरलोकके मध्यमें कहा जाता है। शब्दसागरमें लिखा है कि इनके ग्यारह गण माने गये हैं। अभ्राज्य, अन्धारि, बंभारि, शूर्यवर्चा, कृधु, हस्त, सुहस्त, स्वन, मूर्धन्वा, विश्वावसु, कृशानु। ये गानविद्यामें प्रवीण होते हैं। किन्नर=इनका मुख घोड़ेके समान होता है। ये संगीतमें अत्यन्त कुशल होते हैं। ये लोग पुलस्त्यजीके वंशज माने जाते हैं। (श० सा०)। गन्धर्व इनसे अधिक रूपवान् होते हैं। रजनिचर=निशाचर, राक्षस। सर्व=सब।

अर्थ—संसारमें जड़ अथवा चेतन जितनेभी जीव हैं सबको श्रीराममय जानकर मैं उन सबोंके चरण-कमलोंकी सदा, दोनों हाथ जोड़कर, वंदना करता हूँ। देवता, दैत्य, मनुष्य, नाग, पक्षी, प्रेत, पितर, गंधर्व, किन्नर, और निशाचर मैं (आप) सबोंको प्रणाम करता हूँ। अब आप सब मुझपर कृपा करें। ७।

नोट—१ (क) पिछले दोहे 'सम प्रकास तम····।' तक साधु असाधुकी वन्दना की। अब जो इनसे पृथक् हैं, उनकी वन्दना करते हैं (पं. रामकुमारजी)। (ख) श्रीसुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'ग्रह भेषज जल····जस अपजस दीन्ह ॥' से यही सिद्ध हुआ कि सब पदार्थ समान परब्रह्म राममय हैं, किसीमें भेद नहीं, केवल सङ्गके वशसे उनमें भेद हो गए हैं। इसलिये संसारमें जितने जड़ जीव और चेतन जीव हैं सबको राममय जानकर वन्दना करना उचितही है। ग्रन्थकारकी यह युक्ति बहुतही सुन्दर है। जब सब राममयही हैं तब देव दनुजादिकी वन्दनाभी उचितही है।

२ 'जड़ चेतन जग जीव जत' इति। 'जड़ चेतन जीव' के विषयमें कुछ लोगोंने साधारण अर्थके अतिरिक्त और अर्थ लगाए हैं—(क) सिद्ध, साधक और विषयी तीन प्रकारके जीव कहे गए हैं। उनमेंसे सिद्ध मुक्त एवं नित्य हैं और साधक (मुमुक्षु) तथा विषयी बद्ध हैं क्योंकि इनका ज्ञान संकुचित और विकसित होता रहता है। बद्धोंमें दो श्रेणी मानी गई हैं। बुभुक्षु (जिनका धर्मभूत ज्ञान संकुचित रहनेके कारण जिन्हें भोग्यकी कामना बनी रहती है।) और मुमुक्षु (जिनका धर्मभूत ज्ञान विकसित हो गया है और जो मोक्षकी इच्छा करते हैं।) बुभुक्षु ही जड़ जीव हैं। यथा, 'हम जड़ जीव जीवगन घाती।····सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ। २. २५१।' और मुमुक्षु एवं सिद्ध चेतन जीव हैं। तीनों लोकमें रहते हैं, इसीसे आगे 'देव दनुज····' आदिसे समस्त भुवनवासियोंकी चर्चा कर देते हैं। बुभुक्षु अधिक हैं, इसीसे 'जड़' को प्रथम कहा। (वे. भू. रा. कु. दा.)। (ख) काष्ठजिह्वस्वामीजीका मत है कि जड़ और चेतन दोनोंसे जीव विलक्षण है। अर्थात् जीव न जड़ है न चेतनही। इसीसे पृथक्-पृथक् कहा। जड़=अविद्या। चेतन=परमात्मा। जीव इन दोनोंसे पृथक् है। (रा. प.)। जीव=अज्ञ। (सू. मिश्र)। (ग) जड़=अज्ञानी। चेतन=ज्ञानी। अथवा, जड़=माया। चेतन=ब्रह्माज्ञा। ये दोनों मिलकर जगत् हुआ। (वै.)। (घ) जड़=श्वासारहित। चेतन=श्वासा सहित। (मा. प्र.)।

इस दोहेसे मिलते हुए श्लोक महारामायण और भागवतमें ये हैं, 'भूमौ जले नभसि देवनरासुरेषु भूतेषु देवि सकलेषु चराचरेषु। पश्यन्ति शुद्ध मनसा खलु रामरूपं रामस्य ते भुवितले समुपासकाश्च ॥' (४९। ८)। 'खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषिसत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित् समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्चभूतं प्रणमेदनन्यः॥' (भा. ११. २. ४१) अर्थात् हे देवी! जो लोग पृथ्वी, जल, आकाश, देवता, मनुष्य, असुर, चर अचर सभी

जीवोंमें शुद्ध मनसे श्रीरामरूपही देखते हैं, पृथ्वीमें वेही श्रीरामजीके उत्तम उपासक हैं। (महारामायण)। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, नक्षत्र, प्राणी, दिशाएँ, वृक्ष आदि नदियाँ और समुद्र जो कुछभी है वह सब भगवान्का शरीरही है। अतः सबको अनन्य भावसे प्रणाम करे। (भा.)।

उपर्युक्त श्लोकों और आगेकी चौपाई 'आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ वासी।' से यह सिद्ध होता है कि वृक्ष पाषाणादि समस्त जड़ पदार्थभी जीवयोनि हैं। ये जीवकी भोगयोनियाँ हैं। जीव इन सबोंमें अपने लिङ्गशरीर (कर्मेंद्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, पंचप्राण, मन, अहङ्कार) सहित रहता है। मोक्षके सिवा लिंगशरीरसे, जीवका वियोग कभी नहीं होता। इसीसे प्रायः 'जीव' शब्दसे लिंगदेहसहित जीवका ग्रहण होता है। वृक्ष पाषाण आदि योनियोंमें यद्यपि सब इन्द्रियाँ वर्तमान हैं फिरभी स्थूल शरीर अनुकूल न होनेसे उनके कार्य सर्वसाधारणके दृष्टिगोचर नहीं होते। इसीसे 'जड़' शब्दसे उनका ग्रहण करना उचित जान पड़ता है। प्रायः रक्त मांस आदिसे बने हुए जो शरीर हैं उनमें प्रविष्ट जीवको 'चेतन' शब्दसे ग्रहण कर सकते हैं; क्योंकि इनमें शरीर अनुकूल होनेसे चेतनताका व्यवहार देखनेमें आता है। अथवा, यद्यपि सब जीव चेतन हैं तोभी 'चेतन' विशेषण देनेका यह भाव भी हो सकता है कि जो धर्म अर्थात् पुण्य, पाप आदिका विशेष ज्ञान रखते हैं जैसे कि मनुष्य, वे चेतनमें लिये जायँ और इनसे इतर अन्य जीव 'जड़' में लिये जावें।

३ 'राममय' के दो अर्थ होते हैं। एक तो यह कि सारे जगत् चर अचर सबमें श्रीरामजी व्याप्त हैं। जैसे गर्म जलमें उष्णता, तप्त लोहेमें अग्नि, बिजलीके तारमें बिजली, पुष्पमें सुगन्ध, दूधमें घृत। इस अर्थमें जड़ चेतन जगत् होते हुए भी उसमें श्रीरामजी व्याप्त हैं। परमाणुमेंभी व्याप्त हैं। यथा, 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥ देस काल दिसि विदिसहु माहीं। कहहु सो कहां जहां प्रभु नाहीं॥ अगजगमय सब रहित विरागी। प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी॥ १. १८५।' सबमें रहते हुए भी वह सबसे अलग भी हैं। यह विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त है। दूसरे यह कि सब जगत् श्रीरामरूपही है, सब श्रीरामही हैं, उनके अतिरिक्त कोई दूसरी वस्तु है ही नहीं। जैसे सोनेके कड़े, कुण्डल आदि सब सोनाही हैं और कुछ नहीं, मिट्टीके घड़े आदि सब मिट्टीही हैं, वस्त्र सब सूत या रूईही है अन्य कुछ नहीं। अर्थात् व्यवहारमें आकार विशेष छोड़ उनमें कोई और वस्तु देखनेमें नहीं आती। इस अर्थके अनुसार श्रीरामजीके सिवा कुछ है ही नहीं। यह अद्वैत सिद्धान्त है।

विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि कोई-कोई लोग गणितकी युक्तिसेभी सिद्ध करते हैं कि सब पदार्थोंमें श्रीरामजी हैं ही। यथा, 'नाम चतुर्गुण पञ्चयुत, द्विगुण कृत्य कर मान। अष्ट वस्तुको भाग दे, शेष राममय जान।' अर्थात् जैसे तीन अक्षरका नाम कोईभी हो उसे चारसे गुणा करो तो ३×४=१२ हुए। उसमें ५ जोड़ें तो १७ हुए, फिर सत्रहके दूने चौंतीस हुए, फिर इसमें आठका भाग दिया तो शेष रहे दो, जो रामनामके अक्षर हैं। इसी प्रकार ४, ५, ६ आदि कितनेही अक्षरोंके नामसे ऊपरकी रीतिसे शेष दोही बचेंगे।

बैजनाथजीका मत है कि अन्तर्यामीरूपसे श्रीरामजी सब जगत्को प्रकाशित किये हैं और बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि 'श्रीरघुनाथजी व्यापकरूपसे पूर्ण हैं, उनके अन्तर्गत व्याप्त (जगत्) है इससे सर्वत्र स्वामीकोही देखा। अथवा, यह जगत् श्रीरघुनाथजीकी एक पाद विभूति है' अतः 'राममय' कहा।

४ इस दोहेमें 'सकल राममय' के 'सकल' शब्दसे सारे विश्वका ग्रहण हो जाता है। यथा, 'यत्सत्वादमृषेव भाति सकलं।' तब जड़ चेतनके लिखनेका क्या प्रयोजन? उत्तर—जगत्में जड़ और चेतन दो भेद हैं। परन्तु चेतनकी अपेक्षा जड़को व्यवहारमें तुच्छ समझा जाता है। अतः कदाचित् प्रणाम करनेमें कोई उनका ग्रहण न माने, इसलिये उसके निराकरणके लिये 'जड़ चेतन' शब्दको देकर सबमें समान भाव दर्शित किया है।

५ 'जड़ चेतन जग···' में समष्टि और 'देव दनुज···' में व्यष्टि वन्दना है। मिलान कीजिए—'आदिमध्यांत भगवंत त्वं सर्वगतमीस पश्यन्ति ये ब्रह्मवादी। जथा पट तंतु घट मृत्तिका सर्प स्रग दारु करि कनक कटकांगदादी ॥' (विनय ५४)।

आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल[1] थल नभ बासी।१।

सीयराम मय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि जुग पानी।२।

शब्दार्थ—आकर=खानि। यथा, 'प्रगटीं सुंदर सैलपर मनि आकर बहु भाँति। १. ६५।'=भेद, प्रकार। लाख चौरासी=चौरासी लक्ष योनि। जाति=वर्ग, योनि। बासी=वास करनेवाले, रहनेवाले।

अर्थ—चार प्रकारके जीव चौरासी लक्ष योनियोंमें जल, पृथ्वी और आकाश में रहते हैं।१। सब जगत्को श्रीसीताराममय जानकर मैं दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ।२।

नोट—१ 'आकर चारि···' इति। जीवकी चार खानि (उत्पत्तिस्थान या प्रकार) कहे गए हैं। यथा, 'अण्डजाः पक्षिसर्पाद्याः स्वेदजा मशकादयः। उद्भिज्जा वृक्ष गुल्माद्या मानुषाद्या जरायुजाः॥ (पद्मपु. शिवगीतायाम्)। मनुस्मृति प्रथम अध्यायमें मनुजीनेभी कहा है। यथा, 'पशवश्च मृगाश्चैव व्यालाश्चोभयतोदतः। रक्षांसि च पिशाचाश्च मनुष्याश्च जरायुजाः।४३। अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रामत्स्याश्च कच्छपाः। यानिचैवं प्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च॥ ४४। स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्। ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत् किंचिदीदृशम्॥ ४५। उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे वीजकांडप्ररोहिणः। ओषध्यः फलपाकांता बहुपुष्पफलोपगाः॥ ४६। अपुष्पा फलवन्तो ये ते वनस्पतयःस्मृताः। पुष्पिणः फलिनश्चैव वृक्षास्तूभयतः स्मृताः। ४७। गुच्छ गुल्मं तु विविधं तथैव तृण जातयः। बीजकांडरुहाण्येव प्रतानावल्य एव च॥ ४८॥' अर्थात् जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज ये चार योनियाँ हैं। मृगादि पशु, दोनों ओर दाँतवाले व्याल, राक्षस, पिशाच और मनुष्यादि 'जरायुज' हैं, क्योंकि ये जरायु (झिल्ली) से निकलते हैं।४३। पक्षी, सर्प, घड़ियाल, मत्स्य और कछुवे 'अण्डज' हैं, क्योंकि ये अण्डेसे पैदा होते हैं। इनमें जलचर और थलचर दोनों प्रकारके जीव होते हैं।४४। डाँस, मच्छड़, जुँए (चीलर), मक्खी, खटमल आदि जो पसीना और गर्मीसे उत्पन्न होते हैं, वे 'स्वेदज' हैं। वीजसे अथवा शाखामें उत्पन्न होनेवाले स्थावर 'उद्भिज' कहलाते हैं जैसे कि वृक्षादि। फल पक जानेपर जिनका नाश हो जाता है, और जिनमें बहुत फूल और फल होते हैं उनको औषधि कहते हैं। जिनमें फूल नहीं होता, केवल फल होता है उनको वनस्पति कहते हैं। जो फूलने और फलनेपरभी बने ही रहते हैं उनकी वृक्ष संज्ञा है। मूलसेही जिनमें लताएँ पैदा होती हैं और जिनमें शाखा नहीं होतीं वे 'गुच्छ' हैं। एक मूलसेही जहाँ बहुतसे पौधे उत्पन्न होते हैं उन्हें 'गुल्म' कहते हैं। इसी प्रकारसे नाना प्रकारकी तृणजाति और प्रतान, वल्लि आदि सब उद्भिजमें हैं।

२ 'लाख चौरासी जाति' इति। जीव कर्मवश चौरासी लक्ष योनियोंमें से किसी न किसी योनिमें जन्म लेता है। मनुष्य चारि खानियोंमेंसे जरायुज खानिमें हैं। पर चौरासी लक्षयोनियोंमें हैं या नहीं इसमें मतभेद है। कोई तो इनको चौरासीसे वाहर मानते हैं अर्थात् कहते हैं कि

---

१ नभ जल थल—भा. दा., रा. वा. दा., मा. प्र.। जल थल नभ—१६६१, १७०४। 'नभ जल थल' पाठ मा. पी. के पूर्व दो संस्करणोंमें था। और उसपर नोट यह दिया गया था कि 'नभादिको उनकी उत्पत्तिके क्रमसे आगे पीछे कहा गया।' परन्तु प्राचीनतम प्रतियोंका पाठ 'जल थल नभ' है और पूर्व भी यह क्रम आचुका है। यथा, 'जलचर थलचर नभचर नाना। जे जड़ चेतन जीव जहाना। ३ (४)।' अतएव यही पाठ समीचीन समझा गया।

चौरासीसे छुटकारा मिलनेपर नरशरीर मिलता है। यह बात उत्तरकांडके 'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी। फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥ कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ ७. ४४।' इस श्रीवचनामृतसे भी पुष्ट होती है। इसमें स्पष्ट कहा है कि परमात्मा इन योनियोंसे छुड़ाकर 'नरदेह' देता है जो 'भववारिधि कहँ बेरा' 'साधनधाम मोच्छ कर द्वारा' है, इसे 'पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥ सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ। ७. ४३।' अर्थात् नरतन पाकर बुरे कर्म किये तो फिर चौरासी भोगना पड़ेगा। प्रायः ज्ञानजन्य मुक्ति तो (सप्तपुरियोंको छोड़कर) बिना मनुष्य शरीरके कदापि होती ही नहीं। यथा, 'चतुर्विधं शरीराणि, धृत्वा मुक्त्वा सहस्रशः। सुकृतान्मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात्॥' (शास्त्रसारे)। अर्थात् चार प्रकारके हजारों शरीरोंको धारण करके और छोड़कर बड़े भाग्यसे जब वह मनुष्य होता है, तब यदि वह ज्ञान प्राप्त करे तो उसको मोक्ष होता है।

करुणासिंधुजी और बैजनाथजीने प्रमाणमें धर्मशास्त्रका यह श्लोक दिया है। 'स्थावरं विंशतेर्लक्षं जलजं नव लक्षकम्। * कूर्मेश्च रुद्रलक्षं च दश लक्षं च पक्षिणः। त्रिंशल्लक्षं पशूनांच चतुर्लक्षं च वानराः। ततो मनुष्यतां प्राप्य ततः कर्माणि साधयेत्।' अर्थात् बीस लक्ष स्थावर, नौलाख जलचर, ग्यारह लाख कृमि, दशलक्ष पक्षि, तीस लाख पशु और चार लक्ष वानर योनियाँ हैं। तत्पश्चात् मनुष्य होकर सत्कर्म करे। पश्चाङ्गोंमें प्रायः इसी प्रकारका एक श्लोक मिलता है। यथा, 'जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्ष विंशतिः। कृमयो रुद्रलक्षाणि पक्षिणो दशलक्षकाः। त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर लक्षाणि मानवाः॥' इस श्लोकसे मनुष्यकाभी चौरासी लक्ष योनियोंमेंही होना पाया जाता है।

सीयराममय सब जग जानी

(१) 'जड़ चेतन जग जीव जत' की वन्दना 'राममय' मानकर कर चुके, फिर यहाँ 'सीयराममय' मानकर वन्दना की, बीचमें व्यष्टिवन्दना की। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'वेदान्त मतसे जगत्को ब्रह्ममय मानकर वन्दना की गई। जीववादीके मतानुसार केवल जीवकी वन्दना 'देव दनुज नर…' में की। और सांख्यमतानुसार जगत्की, प्रकृति पुरुषमय मानकर, तीसरी बार वन्दना की गई। इस तरह तीनों मतोंके अनुसार जगत्को (ब्रह्ममय, जीवमय, प्रकृतिपुरुषमय) मानकर वन्दना की गई।

(२) सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'पहले गोसाईंजीने हम सब जीवोंके अज्ञानके कारण पृथक्-पृथक् नाम लेकर (यथा, 'देव पितर गन्धर्व' आदि) कहा। अब ऊपरकी चौपाईसे यह दिखलाते हैं जो वेदान्त शास्त्रका सिद्धान्त है, तथापि फिर इस कथनसे ग्रन्थकार हम लोगोंको ज्ञानी बनाकर कर्मच्युत नहीं किया चाहते और न उन देवताओंका खण्डन किया चाहते हैं, पर यह दिखलाते हैं कि 'सीयराममय' तभी मनुष्य जान सकता है जब कि हमपर उन देवताओंकी कृपा हो, इसलिए अगली चौपाईको लिखा। शङ्का—देवताओं आदिसे प्रार्थना करनेका क्या कारण है? उत्तर—जीव ज्योंही माताके गर्भके बाहर होता है उसी समय वह देव, पितृ और ऋषिका ऋणी हो जाता है और बिना उनके ऋणके अदा किए मोक्षका अधिकारी नहीं होने पाता है।… प्रार्थना करते हैं कि अपने कर्जेकी वजहसे विघ्न न डालो।'

(३) मा० प्र०-कार लिखते हैं कि उत्तम भक्तोंका लक्षण है कि वे जगत्को अपने इष्टमय देखते हैं। यथा, 'उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत् केहि सन करहिं बिरोध' (उ० ११२),

---

* 'कूर्मेश्च' यह पाठ करु०, बै., तथा पं. ज्वालाप्रसादने दिया है परन्तु वह पाठ अशुद्ध है। शुद्धपाठ 'कृमयो' है। इसीसे हमने अर्थ शुद्ध दिया है।

'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'। 'राममय' कहनेसे पाया गया कि श्रीरामजी इष्ट हैं; इससे बीचमें व्यष्टि वन्दना करके फिर सबको 'सीयराममय' कहकर जनाया कि हमारे इष्टदेव श्रीसीतारामजी हैं। (मा० प्र०)।

(४) वैजनाथजीका मत है कि 'राममय' से ऐश्वर्य स्वरूपकी वन्दना की जो जगत्का प्रकाशक है। यथा, 'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू'। और, यहाँ 'सीयराममय' कहकर दर्शाया कि मेरे मनमें तो माधुर्यरूप बसा है, मुझे सब 'सियाराममय' ही दिखाई देते हैं। यथा, 'लगे रहत मेरे नयनन्ह आगे रामलषन अरु सीता' (गीतावली)।

(५) 'राममय' और फिर 'सीयराममय' कहकर दोनोंको अभेद बताया।

(६) 'सीयराममय सब जग' कहकर जनाया कि जड़ चेतनात्मक जगत् भी है और उसमें श्रीसीतारामजी व्याप्त हैं। यह विशिष्टाद्वैतसिद्धांत हैं। अद्वैतसिद्धान्तमें वस्तुतः जगत् मिथ्या है पर व्यवहारमें अनुभवमें आता है इसलिये उसीको लक्ष्य करके 'सब जग' कहा गया।

'सब जगकी तो दोहेमें वन्दना कर ही चुके, यहाँ 'सीयराममय' कहकर वन्दना क्यों की ?' इसका एक कारण यहभी हो सकता है कि जड़ और चेतन सबमें लिंगभेदसे स्त्री पुरुष प्रायः दोनों होते हैं और व्यवहारमें पुरुषोंकी अपेक्षा स्त्रियोंको न्यून समझा जाता है। अतः प्रणाम करनेमें संभव है कि कदाचित् कोई पुरुषोंकोही प्रणाम माने। इसलिये उसके निराकरणके लिये 'सीयराममय' शब्द देकर सूचित किया कि मैं स्त्री पुरुष दोनोंको समान मानकर सबकी वन्दना समान भावसे करता हूँ। यही भाव अध्यात्मरामायणके 'लोके स्त्रीवाचकं यद्यत्तत्सर्वं जानकी शुभा। पुन्नामवाचकं यावत्तत्सर्वं त्वं हि राघव ॥ २. १. १६। तस्माल्लोकत्रये देव युवाभ्यां नास्ति किंचन्। २०।' इन श्लोकोंसे सिद्ध होता है। देवर्षि नारदजी श्रीरामजीसे कहते हैं कि तीनों लोकोंमें आप दोनोंके सिवा और कुछ नहीं है। स्त्रीवाचक जितने पदार्थ हैं वे सब श्रीजानकीजीके रूप हैं और पुरुषवाचक जो कुछ भी हैं वे सब श्रीरामजी आपके ही रूप हैं। इस तरह 'सीयराममय जगत्' मानकर वन्दना की। अथवा, प्रत्येक वस्तुको श्रीसीताराममय मानकर वन्दना की।

पद्मपुराण उत्तरखण्डमेंभी ऐसाही कहा है। यथा, 'स्त्रीलिङ्गन्तु त्रिलोकेषु यत्तत्सर्वं हि जानकी। पुन्नाम लांछितं यत्तु तत्सर्वं हि भवान् प्रभो ॥ अ० २४३ श्लोक ५६।' अर्थ वही है।

नोट—३ वैजनाथजी लिखते हैं कि जगत्को 'राममय' वा 'सीयराममय' देखना यह दशा प्रेमकी संतृप्त नामक बारहवीं दशा है। यथा, 'साधन शून्य लिये शरणागत नैन रँगे अनुराग नशा है। पावक व्योम जलानल भूतल बाहर भीतर रूप बसा है। चिंतव नाहमें बुद्धिमई मधु ज्यों मखियाँ मन जाइ फँसा है। वैजनाथ सदा रस एकहिं या विधि सो संतृप्त दशा है।' इससे सिद्ध होता है कि गोस्वामीजी इस प्रेमपरादशातक पहुँच चुके थे।

टिप्पणी—१ 'जोरि जुग पानी' इति। जब राममय मानकर वन्दना की तब दोनों हाथ जोड़े थे; इसीसे जब 'सीताराममय' मानकर वन्दना की, तब पुनः हाथ जोड़े जिसमें श्रीरामजानकीजीकी भक्तिमें न्यूनाधिक्य न पाया जावे।

२ शङ्का—'ब्रह्म, जीव, प्रकृतिपुरुष' वाले तीनों मतोंको लेकर, अथवा ऐश्वर्य, माधुर्य वा अपनी उपासनाके कारण एक बारसे अधिक वन्दना करनी थी तो एकके पीछे दूसरेको कह सकते थे, बीचमें 'आकर' का क्या प्रयोजन था ?

समाधान—(क) प्रथम राममय जानकर वन्दना की, फिर 'जीवोब्रह्मैव केवलम्' जीववादीमतसे जीवमय ब्रह्मकी वन्दना की। श्रीसीताराममय वन्दना करनेके लिये यह चौपाई बीचकी लिखी। जब केवल पुरुषकी वन्दना की, तब जीवोंका उत्पत्तिस्थान या जाति न कही; क्योंकि केवल ब्रह्मसे

जगत्‌की उत्पत्ति नहीं है। जब प्रकृति पुरुष दोनों कहा, तब जीवोंकी जाति, उत्पत्तिस्थान इत्यादि भी वर्णन किए; क्योंकि प्रकृतिपुरुषसे जगत की उत्पत्ति है। श्रीसीतारामजी से जगत्‌की उत्पत्ति है। इसीसे सीताराममय जगत है। (पं० रामकुमार)। (ख) जीवकी जाति प्रकृतिमय दृश्य पदार्थरूप होनेसे है और ब्रह्ममय स्थूल-दृष्टिका अदृश्यरूप होनेसे है। (मा. त. वि.)। (ग) दोहेके पीछे 'आकर चारि....' देकर सूचित किया कि जीवकी संख्या इतनीही नहीं है जितनी 'देवदनुज....' में गिनाई गई, किंतु बहुत हैं और वह सभी 'सीताराममय' है।

जानि कृपाकर [१]किंकर मोहू। सब मिलि करहु छाड़ि छल छोहू॥ ३॥

शब्दार्थ—कृपाकर=कृपा+आकर=कृपाकी खानि= (कृपा+कर)=कृपा करनेवाले। किंकर=दास, सेवक। छोह=कृपा।

अर्थ—मुझे भी कृपाके आकर श्रीरामचन्द्रजीका दास जानकर आप सब मिलकर छल छोड़कर कृपा करें। ३। ❀

टिप्पणी—१ (क) 'कृपाकर' का भाव यह है कि श्रीरामजीकी कृपा सब जीवोंपर है। आप सबको भी मैं सियाराममय मानता हूँ, इससे आपकी कृपा भी जीवपर होनी चाहिए। मैं श्रीरामजीका किंकर हूँ, आप सियाराममय हैं; इससे मुझ किंकरपर आप सब कृपा करें। पुनः, 'सब जीवोंपर रामजीकी कृपा है। यह उपकार मानकर मुझपर कृपा करो कि हमारे ऊपर रामजीकी कृपा है, हम रामजी के किंकरपर कृपा करें।' इससे श्रीसीतारामजी आपपर विशेष प्रसन्न होंगे।

(ख) सब जगत्‌को सियाराममय मानकर वन्दना की और अपनेमें किंकर भाव रक्खा, यह गोस्वामी-जीकी अनन्यता है। यथा, 'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत। ४. ३।' आगे अपनेको संतोंका बालक कहा है। यथा, 'सुनिहहिं बाल वचन मन लाई,' 'बाल विनय सुनि करि कृपा'' 'कविकोविद रघुवर चरित,मानस मंजु मराल। बाल विनयसुनि सुरुचि लखि मोपर होहु कृपाल॥ १. १४।'

(ग) 'सब मिलि' इति। भाव यह कि-(१) मेरी मति बहुत बिगड़ी है जैसा वारम्बार कहा है, जबतक आप सबके सब मिलकर कृपा न करेंगे तबतक न सुधरेगी। पुनः (२) जैसे मैंने सबको मिला दिया सबको ही 'सीयराममय' जाना, वैसेही आप सब मिलकर अर्थात् सीतारामरूप होकर कृपा करें। श्रीरामजी में छल नहीं है, वैसेही आप सब हो जायें।

(घ) 'छाड़ि छल' इति। संसार स्वार्थ में रत है। यथा' स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहु प्रभु परमा-रथ नाहीं। ७. ४७।', 'सुर नर मुनि सबकै यह रीती। स्वारथलागि करहिं सब प्रीती। ४. १२।' स्वारथ ही छल है। यथा, 'स्वारथ छल फल चारि विहाई। २. २०१।, गोस्वामीजी कहते हैं कि स्वार्थकी इच्छा मुझसे न कीजिये।

प्रो० गौड़जी—गोसाईंजी सबकी वन्दना करते हैं, जिनमें खल भी हैं। और खलोंका स्वभावही छलकपट है, और यहाँ अपनी गरज है कि वे छोह करें ही, छलके साथ अपना काम न चलेगा। इसीलिये प्रार्थना है कि छल छोड़कर छोह करो। अगर 'सब (खल और सन्त) मिलि'-वाली बात न होती तो छाड़ि छलकी शर्त अनावश्यक होती।

---

१ आधुनिक किसी किसी प्रतिमें 'करि' पाठ है।

❀ पं. रामकुमारजी 'करि' पाठ लेकर अर्थ करते हैं कि मुझे किंकर जानकर कृपा करके छोह करो।' कुछ लोगोंने 'कृपा' और 'कर' दो पद मानकर अर्थ किया है परन्तु ऐसा करनेसे पूर्वापर पदोंके साथ ठीकठीक योजना नहीं होती। द्विवेदीजी इसे जीवोंका सम्बोधन मानते हुए अर्थ करते हैं, 'हे कृपा करनेवाले वा कृपाके आकर सब प्राणी ! मुझे भी अपना सेवक समझ....'।

रा० प०—'देव पितृ आदि अपना अपना भाग पानेके लिये रामपरायण नहीं होने देते। वे परमगति और मोक्षके अनिच्छुक होते हैं; क्योंकि वे समझते हैं कि हमारे वंशजों के ज्ञानी, भक्त और मुक्त हो जानेसे हमें पिण्डदान बलि भाग न मिलेगा। वे नहीं जानते कि यदि यह जीव रामपरायण हो जाय तो उनकी तृप्ति भली भाँति हो जावेगी'। [भा. ११. ५ में स्पष्ट कहा है कि जो समस्त कार्योंको छोड़कर सम्पूर्णरूपसे शरणागत वत्सल भगवान् मुकुन्दकी शरणमें जाता है, वह देव, ऋषि, भूतगण, कुटुम्बी अथवा पितृगण किसीका भी दास अथवा ऋणी नहीं रहता। यथा, 'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किंकरो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्तम्। ४१।'] इसीसे वे विघ्न करते हैं जैसे जरत्कार ऋषिके पितृने किया था। गोस्वामीजी कहते हैं कि इस स्वार्थके हेतु छल न करो, किंतु यश प्राप्त करनेके लिए छोह करो।

मा. प्र.—छल दोनों ओर लगता है। अर्थात् मेरे छल पर ध्यान न दो। वह छल यह है कि ऊपरसे रामजीका बनता हूँ और किंकर तो कामादिका हूँ। दूसरे, आपमें जो आपसका वैर है उसके कारण हमसे वैर न मानिए। (कि यह तो अमुक देवकी वन्दना करता है जो हमारा वैरी है।) मैं तो सबको एकरूप मानता हूँ।

वैजनाथजी—जीवने अपना नित्यरूप भूलकर नैमित्त्यरूपमें अपनपौ मान लिया है, इसीसे वह मान बड़ाई, देह सुख आदिके लिये सदा स्वार्थ में रत रहने से छलीस्वभावका हो गया। इसीसे देवादि भक्ति में विघ्न करते हैं। परन्तु जो सच्चे भक्त हैं वे विघ्नों के शिरपर पैर रखकर चले जाते हैं और जो सवासिक हैं वे देवताओं के फल देनेमें भूल जाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि मेरे कोई वासना नहीं है, इसीसे मैं आपको देवादिरूप नहीं मानता हूँ। मैं तो सबको 'सीयराममय' मानकर प्रणाम करता हूँ। अतएव छल छोड़कर अपने नित्यरूपका किंकर मानकर मुझपर कृपा करो।

निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। तातें बिनय करौं सब पाहीं॥ ४॥
करन चहौं रघुपति गुन गाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा॥ ५॥

शब्दार्थ—पाहीं = पास; से। यथा, 'रामु कहा सबु कौसिक पाहीं। १. २३७।'

अर्थ—मुझे अपने बुद्धिबलका भरोसा नहीं है, इसीसे मैं सबसे विनती करता हूँ। ४। मैं श्रीरघुनाथजी के गुणोंकी कथा करना (कहना) चाहता हूँ। पर मेरे बुद्धि थोड़ी है और श्रीरामचरित अथाह है। ५।

नोट—१ 'निज बुधि बल' इति। वैजनाथजी लिखते हैं कि काव्यके तीन कारण हैं। शक्ति (देवकृपा), व्युत्पत्ति (जो विद्या पढ़ने से आवे) और अभ्यास, (जो स्वयं परिश्रम करनेसे कुछ दिनमें काव्यकी शक्ति उत्पन्न कर देता है।) यहाँ 'निज बुधि बल' से निज अभ्यास, बुद्धिसहित विद्या और बल अर्थात् शक्ति तीनोंका भरोसा नहीं है यह बताया। सबसे विनय करते हैं जिसमें सब थोड़ा थोड़ा दे दें तो बहुत हो जायगा।

२ (क) 'लघु मति मोरि·····' इति। यथा, 'मंदः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्। प्रांशुलभ्ये फले मोहादुद्बाहुरिव वामनः॥ ३॥ अथवा, 'कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः। मणौ वज्र समुत्कीर्णे सूत्रस्यैवास्ति मे गतिः॥ ४॥' (रघुवंश सर्ग १)। अर्थात् मैं मन्द हूँ और कवियोंका सा यश चाहता हूँ, इससे मेरी उसी प्रकार हँसी होगी जैसे कोई बौना (नाटा) पुरुष ऊँचे स्थान पर स्थित फलको हाथ उठाकर मोह-वश उसके लेनेकी इच्छा करने से हँसी पाता है। अथवा, पूर्व ऋषियों ने इस वंशके वर्णन में कुछ ग्रन्थ रचे हैं, उन्हीं के आधार पर मेरा भी उसमें प्रवेश हो सकता है जैसे छिदे हुए मणियों में सूत्रकी गति होती है। (ख) 'अवगाहा' शब्द से जनाया कि रघुपतिगुण समुद्रवत् हैं। कालिदासजी ने भी ऐसाही कहा

है। यथा, 'क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्वचाल्प विषया मतिः। तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥' (रघुवंश १.२)। अर्थात् कहाँ तो सूर्यवंश और कहाँ मेरी अल्प बुद्धि! (इसपर भी मैं उसका वर्णन करना चाहता हूँ, यह मेरा कार्य ऐसा है जैसा) कोई मोहवश छोटी डोंगीसे दुस्तर सागर पार करना चाहे। (ग) 'लघु मति मोरि चरित अवगाहा।'''उपाऊ' यह उपमेय वाक्य है। 'मन मति रंक मनोरथ राऊ' यह उपमान वाक्य है। जैसे दरिद्रको राज्यका मनोरथ असंभव है वैसेही मुझ अल्प बुद्धिके लिये श्रीरामचरितवर्णन असंभव है। इस प्रकार दोनों वाक्योंमें बिंब प्रतिबिंब भाव 'दृष्टांत अलङ्कार' है। (वीरकविजी)। 'चहिअ अमिअ जग जुरै न छाछी' लोकोक्ति है।

सूझ न एकौ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥ ६॥
मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। चहिअ अमिअ जग जुरै न छाछी ॥७॥

शब्दार्थ—सूझना = दिखाई देना, ध्यानमें आना। अङ्ग उपाउ=नोटमें देखिये। राऊ = राजा। आछी= अच्छी, उत्तम। जुरना (जुड़ना)=मिलना, मयस्सर होना। छाछी=मथा हुआ दही जिसमेंसे मक्खन निकाल लिया गया हो।=वह मट्ठा जो घी या मक्खन तपानेपर नीचे बैठ जाता है। (श. सा.)।=मट्ठेको दूसरे बरतनमें उँडेलकर मट्ठेवाले बरतनको धोनेसे जो धोवन निकलता है। (पाँडेजी)।=कच्चे दूधका मट्ठा। (अज्ञात)।

अर्थ—काव्यके एक भी अङ्ग और उपाय नहीं सूझते। मन और बुद्धि दरिद्र हैं और मनोरथ राजा हैं। ६। बुद्धि (तो) अत्यन्त नीची है। और चाह (इच्छा, अभिलाषा) ऊँची और अच्छी है। (जैसी कहावत है कि 'मांगै अमृत मिलै न छाँछ') अमृतकी तो चाह है और संसारमें कहीं जुडता छांछभी नहीं ॥ ७॥

नोट—१ 'अंग' इति। प्रधानरूपसे काव्यके अङ्ग ये हैं। रस, गुण, दोष, रीति और अलङ्कार। दोष वस्तुतः काव्यका अङ्ग नहीं है परन्तु बिना दोषोंके ज्ञानके उत्तम काव्यका निर्माण नहीं हो सकता, अतएव उसकोभी एक अङ्ग कहा गया है। कवियों ने इन अङ्गोंको रूपकमें कहा है जिससे यह ज्ञात होता है कि कौनसे अङ्ग प्रधान हैं, कौन गौण हैं और कौन त्याज्य हैं। यथा, शब्दार्थौ वपुरस्ति काव्यपुरुषस्यात्मारसादिः स्मृतः। शूरत्वादिनिभागुणाः सुविदिता दोषाश्च खंजादिवत् ॥ उत्तमसादिवदस्त्यलंकृतिच यो ह्यङ्गस्य संस्थानवत्। रीतीनां निचयस्त्विदं कविजनैर्श्रेयं यशो लिप्सुभिः ॥' (विशेष दोहा १० (७-१०) नोट १ में देखिए)।

२ 'उपाऊ' इति। उपाय अर्थात् कारण। कौन कौन सामग्री हमारे पास होने से हम काव्य कर सकते हैं, उन्हीं सामग्री या साधनको 'उपाय, कारण या हेतु कहते हैं। काव्यप्रकाशमें वे यों कहे गए हैं। (क) शक्ति (ख) लोकवृत्त, शास्त्र और काव्यादिके अवलोकनसे प्राप्त निपुणता। (ग) काव्यज्ञोंके द्वारा शिक्षाके साथ अभ्यास। ये तीनों मिलकर काव्यकी उत्पत्तिमें 'हेतु' होते हैं। यथा, 'शक्तिर्निपुणता लोक शास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्। काव्यज्ञ शिक्षयाऽभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥' (काव्यप्रकाश १।३)। कवित्व के बीजरूप संस्कारको 'शक्ति' कहते हैं, जिसके न होनेसे कोई काव्य नहीं बना सकता। यदि कोई बिना उस संस्कारके बनावे तो वह हास्यास्पद होता है। काव्यप्रकाशका मत है कि ये तीनों (शक्ति, निपुणता और अभ्यास) मिलकर ही काव्यके हेतु होते हैं, एक एक स्वतंत्र नहीं। पंडितराज जगन्नाथजीका मत है कि काव्यका हेतु एकमात्र 'प्रतिभा' है। वे 'प्रतिभा' का अर्थ यह करते हैं, 'काव्यघटनाके अनुकूल शब्द और अर्थकी उपस्थिति'। प्रतिभाके हेतु दो बताते हैं। एक देवता अथवा महापुरुष आदिका प्रसादजन्य पुण्यविशेष, दूसरा विलक्षण व्युत्पत्ति और काव्य करनेका अभ्यास ('रसगंगाधर' के प्रथम आनन्द के काव्यकारण प्रसंगमें उनके वाक्य हैं)। (पं० रूपनारायण)।

३ अन्य लोगोंने ये अर्थ दिये हैं। अंग उपाय = (१) काव्य के अंग और उनके साधन जिससे

ये अंग प्राप्त हों। (मानस परिचर्या)=(२) अंग और उनके साधनके उपाय। (सू० मिश्र)।=(३) एक भी पक्षका उपाय, किसी तरहकी तदबीर। (गौड़जी)।=(४) हे मित्र वा अंगमें एक भी उपाय। (मा० पत्रिका)।

टिप्पणी—१ (क) मनोरथको राजा कहा, क्योंकि श्रीरघुनाथजीके गुणगानका मनोरथ है। मन मतिको रङ्क कहा; क्योंकि ये रामयशमें प्रवेश नहीं कर पाते और न एक भी अंग उपाय इनको सूझता है। रघुपतिगुणकथनमें तो सब अंग सूझने चाहिए। (ख) मन और मति दोनोंको रंक कहा है। इनको राजा करनेके लिये आगे तीर्थमें स्नान करावेंगे; मतिको मानसमें, यथा, 'अस मानस मानस चषु चाहीं। भइ कविबुद्धि बिमल अवगाही ॥ बा० ३९।, और मनको सरयूमें स्नान कराया, यथा, 'मति अनुहारि सुबारि गुन गन गनि मन अन्हवाइ १. ४३। दोनोंको इसप्रकार निर्मल करके तब कथा कहेंगे। (ग) 'मति अति नीचि' इति। रघुनाथजीके चरित्र कहनेकी योग्यता नहीं है, इसीसे बारम्बार मतिकी लघुता कहते हैं, 'अति नीचि' है अर्थात् विषयमें आसक्त है। यथा, 'कहं मति मोरि निरत संसारा', 'क्वचाल्प विषयामतिः'। इसीसे नीच कहा। रामयश कथनकी रुचि है, इसीसे रुचिको ऊँची और अच्छी कहा। रामचरित-कथनरूपी अमृत चाहते हैं, विषय सुखरूपी छाछ नहीं जुड़ता। (घ) 'जग' का भाव यह कि जगत्के पदार्थ छाँछ हैं। (नोट—'छाछी' से सांसारिक चर्चा, व्यवहारकी बातों, प्राकृत राजाओं रईसोंके चरित-गान इत्यादिका ग्रहण है। इन बातोंका तो बोध है ही नहीं, फिर भला अप्राकृत और शास्त्रीय बातोंको क्या लिखूँगा ?)। मनको चाहिए कि अपने लक्ष्यमें प्रवृत्त हो, बुद्धि उसे विचारे और विचारी हुई वस्तुको ग्रहण करे, सो दोनों इसमें नहीं।

छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बाल बचन मन लाई।८।
जौं बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता।९।
हँसिहहिं कूर कुटिल कुबिचारी। जे पर दूषन भूषन धारी।१०।

शब्दार्थ—ढिठाई=धृष्टता, गुस्ताखी, अनुचित साहस। तोतरि (तोतली)=बच्चोंकीसी अस्पष्ट वाणी या बोली।=अस्पष्ट, जो ठीक समझमें न आ सके। कूर (क्रूर)=निर्दयी, कड़े स्वभावके, जिसका किया कुछ न हो सके, दुष्ट, दुर्बुद्धि। यथा, 'कूप खनत मंदिर जरत आये धारि बबूर। बवहिं नवहिं निज काज सिर कुमति सिरोमनि कूर ॥' (दोहावली ४८७)। कुटिल=टेढ़े, कपटी। यथा, 'आगे कह मृदु वचन बनाई। पाछें अनहित मन कुटिलाई। ४. ७।' कुविचारी=बुरे विचार या समझवाले। दूषन (दूषण)=दोष, बुराई। भूषन (भूषण)= गहना, जेवर।

अर्थ—सज्जन मेरी ढिठाईको क्षमा करेंगे। मुझ बालकके वचन (वा, मेरे बालवचन) मन लगाकर सुनेंगे। ८। जैसे बालक जब तोतले वचन बोलता है तो उसके माता पिता प्रसन्न मनसे सुनते हैं। ९। क्रूर कुटिल और बुरे विचारवाले, जो पराये दोषोंको भूषणरूपसे धारण करनेवाले हैं, वेही हँसेंगे। १०।

नोट—१ (क) 'छमिहहिं सज्जन...' इति। यहाँ श्रीजानकीदासजी यह शङ्का उठाकर कि 'प्रार्थना तो देव दनुज इत्यादि से की कि हमपर कृपा कीजिए, तो उन्हींसे ढिठाई भी क्षमा करानी चाहिए थी। ऐसा न करके कहते हैं कि 'छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई' यह कैसा ?' इसका समाधान भी यों करते हैं कि देवदनुज आदिकी प्रार्थना करते हुए जब यह कहा कि 'सब मिलि करहु छाड़ि छल छोहू'। तब उनकी ओरसे संभव है कि यह कहा जाय कि 'तुम कथा तो सज्जनोंके लिए कहना चाहते हो। यथा, 'साधु समाज भनिति सनमानू'। १। 'तो कृपा भी उन्हींसे चाहो'। इस बातका उत्तर गोस्वामीजी यहाँ दे रहे हैं कि सज्जन तो कृपा करेंगे ही, यह तो उनका स्वभाव ही है। परन्तु आपभी कृपया यह आशीर्वाद दें। श्रीभरत-

जीने भी ऐसाही श्रीवशिष्ठजीकी सभामें कहा था। यथा, 'जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भै मोहि कारन सकल उपाधी ॥ तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा विसेखी ॥ सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ। कृपा सनेह सदन रघुराऊ ॥ अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि वामा ॥ तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी ॥ जेहि सुनि विनय मोहि जन जानी। आवहिं बहुरि राम रजधानी ॥ जद्यपि जनम कुमातु तें मैं सठ सदा सदोस। आपन जानि न त्यागिहहिं मोहि रघुवीर भरोस ॥ २. १८३। भाव यह कि मुझे सज्जनोंकी ओरसे पूरा भरोसा है, आप सब कृपा करें। यहाँ प्रश्नलुप्ता उत्तर है।

(ख) 'सुनिहहिं बाल बचन···तोतरि बाता' इति। यहाँ 'बाल बचन' कहकर फिर 'तोतरि बाता' कहा। इस प्रकार दोनोंको पर्यायवाची शब्द जनाए। 'तोतरी' अर्थात् टूटी-फूटी, अस्पष्ट और अशुद्ध जिसमें अक्षरकाभी स्पष्ट उच्चारण नहीं होता। भाव यह है कि जैसे बालकको लड्डूकी चाह हुई तो वह अड्डू अड्डू कहता है। मातापिता इन तोतले वचनोंको सुनकर प्रसन्न होते हैं, उसका आशय ध्यान देकर सुनकर समझ लेते हैं और उसे लड्डू देदेते हैं। यहाँ भदेस वाणी (भनित भदेस) को मन लगाकर सुनना और प्रसन्न होना लड्डूका देना है। यथा 'वेद बचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुना ऐन। बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन ॥ २. १३६।'

सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'जगत्मात्रके प्राणियोंको सीतारामसमान जानकर प्रणाम किया, इसलिए सब तुलसीदासजीके माता पिता हुए। इसलिए बालककी अटपटी बात सुनकर सब प्रसन्न होंगे। यह ग्रन्थकारकी आशा ठीक है, उसमें भी जो पुत्रादिनी सर्पिणीके ऐसे अपने पुत्रहीके खानेवाले हैं, उन क्रूर कुटिल कुविचारियोंका हँसना ठीक है।

पंजाबीजी कहते हैं कि 'सुनिहहिं बाल बचन' पर यह प्रश्न होता है कि मूर्खोंके वाक्य कोई मन लगाकर कैसे सुनेगा? इसीपर कहते हैं कि 'जौं बालक कह....।'

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'जौं बालक' कहकर आपने सज्जनोंसे पुत्र और माता पिताका नाता जोड़ा। खलोंसे कुछ नाता नहीं है। यथा, 'खल परिहरिय स्वान की नाईं। ७. १०६।'

नोट—२ 'हँसिहहिं क्रूर' इति। (क) यहाँ हँसनेवाले चार प्रकारके गिनाये; आगे दोहेमें इन चारोंका विवरण करेंगे। (ख) इस कथनमें यह सन्देह हुआ कि जो हँसेंगे उनकी कविता अवश्य उत्तम होती होगी, उसपर आगे कहते हैं कि यह बात नहीं है 'निजकवित्त'। (ग) 'जे पर दूषन भूषन धारी' इति। भाव यह कि अपनेमें कोई गुण है नहीं जिससे भूषित होते। इसलिये दूसरोंके दोषोंको ढूँढ़कर दिखाना, यही धारणा ग्रहण की है। दूसरोंका खण्डन करना, उनपर कटाक्ष करना, यही उनका भूषण है, इसीको उन्होंने पहिन रक्खा है। आजभी न जाने कितने स्वयं तो इतनी समझ नहीं रखते कि गोस्वामीजीके गूढ़ भावोंको, उनके उद्देश्यको समझें, उलटे पलटे कटाक्ष करते हैं, जिसमें वेभी अच्छे साहित्यज्ञ या आलोचक समझे जावें। यह तात्पर्य 'कुविचारी' शब्दका है। 'क्रूर' से स्वभाव कहा, 'कुटिल' से बुद्धि निकृष्ट बताई और 'कुविचारी' से विचार खोटे बताये। मिलान कीजिये। 'तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापिवा ॥' (रघुवंश १. १०), 'मक्षिका व्रणमिच्छन्ति दोषमिच्छन्ति दुर्जनाः। भ्रमराः पुष्पमिच्छन्ति गुणमिच्छन्ति साधवः ॥' 'गुणगणगुम्फित काव्ये मृगयति दोषं खलो न गुणजातम्। मणिमयमन्दिर मध्ये पश्यति हि पिपीलिका छिद्रम् ॥' इति शतदूषणम्। (संस्कृत खर्रेसे)। अर्थात् गुण दोषके जाननेवाले महात्मालोगही इस प्रबन्धके श्रोता होनेके योग्य हैं जैसे सोना दागी (खोटा) है या शुद्ध (खरा) यह अग्निमें परीक्षासेही जाना जाता है। (रघुवंश)। मक्खियाँ घावकीही इच्छा करती हैं, दुर्जन दोष (खोज पाने) कीही इच्छा करते हैं, भौंरे फूलको और साधु गुणको ढूँढ़नेकी इच्छा करते हैं। गुणगणयुक्त काव्यमें दुष्ट दोषही देखता है न कि गुण, जैसे मणिखचित भूमिमेंभी च्यूँटी छेदही ढूँढ़ती है। (शतदूषणी)। उत्तररामचरितमेंभी कहा है कि 'यथा

स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः । १. ५ ।' अर्थात् स्त्रियोंकी साधुताके विषयमें जैसे लोग प्रायः दुर्जनही होते हैं, उसी तरह वाणी (कविता) केभी साधुत्वके विषयमें लोगोंकी दोषदृष्टिही रहती है । यही 'परदूषण भूषणधारी' का भाव है ।

निज कबित्त केहि लाग न नीका । सरस होउ अथवा अति फीका । ११ ।
जे पर भनित[१] सुनत हरषाहीं । ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं । १२ ।

शब्दार्थ—सरस=रसीली; जिसमें काव्यके नवों रस और अलङ्कारादि हों ।=अच्छी । अथवा=वा, या, चाहे । फीका = नीरस । भनित (भणित)=कही हुई बात; वाणी, कविता । बर=श्रेष्ठ ।

अर्थ—अपनी बनाई हुई कविता किसको अच्छी नहीं लगती (अर्थात् सभीको अपनी कविता अच्छी लगती है) चाहे वह रसीली हो चाहे अत्यंत फीकी ? । ११ । जो दूसरेकी कविता सुनकर प्रसन्न होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ लोग संसारमें बहुत नहीं हैं । १२ ।

नोट— १ (क) 'निज कबित्त केहि...' इति । पंजाबीजी लिखते हैं कि 'क्रूर' कुटिल, बुरे विचार-वाले हँसेंगे' । इसपर यदि कोई कहे कि और लोग भलेही आपकी कविताकी प्रशंसा न करें पर आप तो श्रेष्ठ समझते हैं । उसपर कहते हैं 'निज कबित्त केहि लाग न नीका ।' इस तरह वे इस अर्धालीको गोस्वामी-जीमें लगाते हैं पर अगली अर्धालीसे यह भाव सङ्गत नहीं है । पं० रामकुमारजी एवं बाबा जानकीदासजी-काही कथन विशेष सङ्गत है कि वे लोग हँसते हैं तो उनकी कविता तो अच्छी होगीही तभी तो वे दूसरोंकी कविता पर हँसते हैं, उसीपर कहते हैं कि यह बात नहीं है । (ख) अपना कवित्त सभीको प्रिय एवं उत्तम लगता है । जैसे अपनी बनाई रसोई अपनेको प्रिय लगती है । अपना दोष किसीको नहीं सूझता, वह दोषकोभी गुण कहता और समझता है । यथा, 'तुलसी अपनो आचरन, भलो न लागत कासु । तेहि न बसात जो खात नित, लहसुनहू को बासु ॥' ' दोहावली ३५५) । अपने दहीको खट्टा होनेपरभी कोई उसे खट्टा नहीं कहता, सभी अच्छा (मीठा) कहते हैं । यह लोकरीति है । इसी प्रकार हँसनेवालेकी कविता नीरस एवं दोषोंसे भरीभी होती है तोभी वे उसको उत्तमही समझते हैं, उसपर प्रसन्न होते हैं, तो इसमें आश्चर्य क्या ? पर दूसरेकी कविता उत्तमभी हो तोभी वे कभी उसे सुनकर प्रसन्न न होंगे । २—यहां दो असमान वाक्योंकी समता 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है । ३—'ते बर पुरुष बहुत जग नाहीं' इति । 'बर' से जनाया कि दूसरों की वाणीपर जो प्रसन्न होते हैं वे 'श्रेष्ठ' हैं । इन्हींको आगे 'सज्जन' कहा है । ऐसे लोग कम हैं । यह कहकर जनाया कि अपने कवित्तहीपर प्रसन्न होनेवाले बहुत हैं । आगे इसीकी उपमा देते हैं ।

जग बहु नर सर[२] सरि सम भाई । जे निज बाढ़ि बढ़हिं जल पाई । १३ ।

१ भनिति–१७२१, १७६२, छ० । भनित–१६६१, रा० प० (काशिराज) ।

२ सरि सर–१७२१, १७६२ । सर सरि–१६६१, १७०४, छ० । १६६१ में पहले 'सुरसरि' था परन्तु ' ु ' पर हरताल है और 'स' स्पष्ट है । इसमें संदेह नहीं है । ना० प्र० सभाकी प्रतिमें 'सुरसरि' पाठ है । अयोध्याजीके मानसविज्ञोंकी छपाई हुई प्रतियोंमें एवम् अनेकों अन्य प्राचीन प्रतियों में 'सर सरि' वा 'सरि सर' पाठ मिलता है । सुधाकर द्विवेदीजीकाभी यही पाठ है । 'सरि' में 'सुरसरि' भी आजाती हैं और 'क्रूर कुटिल कुविचारियों' के लिए 'सुरसरि' का उदाहरण देनेमें जो सन्तोंको सङ्कोच होता है, वह भी सर सरि पाठ में नहीं रहता । पुनः, गोस्वामीजी यहाँ कह रहे हैं कि ऐसे मनुष्य बहुत हैं, इसीप्रकार तालाब और नदियाँभी बहुत हैं । दो बातों के लिए दो दृष्टान्त क्रमसे दिए गये हैं । 'निज कवित्त' का दृष्टान्त 'जग बहु नर सर सरि' है और 'जे पर भनित सुनत हरषाहीं' का दृष्टान्त 'सज्जन सकृत सिंधु' है । यथासंख्य अलङ्कार है ।

सज्जन सकृत ३ सिंधु सम कोई । देखि पूर विधु बाढ़ै जोई । १४ ।

शब्दार्थ—सर=तालाब । सरि=नदी । बाढ़ि (बाढ़)=बढ़ती, वृद्धि, उन्नति । यथा, 'सिर भुज बाढ़ि देखि रिपु केरी । ६. ६८ ।'=नदी या जलाशयके जलका बहुत तेजीसे और बहुत अधिक मानमें बढ़ना । सकृत=एक । सिंधु=समुद्र । पूर=पूरा; पूर्ण । विधु=चन्द्रमा ।

अर्थ—हे भाई ! संसारमें तालाबों और नदियोंके समान मनुष्य बहुत हैं जो (इतर) जल पाकर अपनीही बाढ़से बढ़ते हैं । १३ । समुद्रसा (तो) कोई ही एक सज्जन होता है जो चन्द्रमाको पूर्ण देखकर (अर्थात् दूसरेकी उन्नति देखकर) बढ़ता है । १४ ।

टिप्पणी—१ 'जग बहु नर सर सरि सम ....' इति । (क) नदी और तालाब थोड़े पानीसे उनरा उठते हैं, समुद्र बहुतभी जल पाकर नहीं बढ़ता । वैसेही खल थोड़ीही विद्या पाकर उन्मत्त हो जाते हैं, सज्जन समुद्रसम विद्यासे पूर्ण हैं, तोभी उन्मत्त नहीं होते । (यह भाव 'बाढ़' का अर्थ 'मर्यादा' लेकर कहा गया है ।) (ख) नदी बढ़कर उपद्रव करती है, तालाब अपनी मर्यादाको तोड़ डालते हैं । [वैसेही नीच लोग भी कुछ विद्या और धन पाकर अपने कुलकी मर्यादा छोड़कर सबको तुच्छ मानने लगते हैं । 'अधनेन धनं प्राप्तं तृणवन्मन्यते जगत्' । यह नीच स्वभाव है । (सू० मिश्र)] (ग) जो अपनी बाढ़से बढ़ते हैं (जैसे नदी, तालाब) उनकी बाढ़ अल्पकाल रहती है (अर्थात् वे वर्षाके पीछे फिर घट जाते हैं), जो परायी बाढ़ देखकर बढ़ते हैं (जैसे समुद्र), उनकी बाढ़ प्रति पूर्णिमाको बारहों मास रहती है ।

२ 'निज बाढ़ि बढ़हिं' इति । भाव यह है कि तालाब अपनेमें जलकी बाढ़ अर्थात् अधिकता पाकर उछलने लगते हैं, वैसेही थोड़ी विद्या वैभववाले इतराने लगते हैं, अपनी वृद्धि देख हर्षसे फूले नहीं समाते, दूसरेकी वृद्धिसे उनको हर्ष नहीं होता । यथा, 'छुद्र नदी भरि चली तोराई । जस थोरेहुँ धन खल इतराई । ४. १४ ।'

३ 'सज्जन सकृत सिंधु सम कोई ।....' इति । (क) समुद्र सदा पूर्ण रहता है । अपनेमें बहुत नदियोंका जल नित्य पाकर भी नहीं उछलता । पर जब चन्द्रमा पूर्णिमाको पूर्ण बढ़ा दिखाई देता है तब वह उछलने लगता है । समुद्रमें ज्वारभाटा होनाही हर्ष है । यथा, 'राकाससि रघुपति पुर सिंधु देखि हरषान । बढ़ेउ कोलाहल

---

३ सुकृत—पं० शिवलालपाठक, को० रा०, वै० । परन्तु पं० शिवलालपाठककी परंपरावाले श्रीजानकीशरणजीने 'सकृत' पाठ दिया है । सकृत—१६६१, १७०४, छ० । 'सुकृत' पाठ लेकर 'सज्जन सुकृत सिंधु' का दो प्रकारसे पदच्छेद किया जाता है । 'सज्जन सुकृत-सिंधु-सम' और 'सज्जन-सुकृत सिंधु-सम' । अर्थात् किसीने 'सुकृत' को 'सिंधु' का और किसीने 'सज्जन' का विशेषण माना है । सुकृतसिंधु=पुण्य समुद्र । सज्जन सुकृत=सुकृती सज्जन । 'सकृत' का अर्थ 'एक बार' है । यथा, 'सकृत सहैक वारे' इत्यमरकोशे । अर्थात साथ, सङ्ग तथा एक बार । परन्तु गोस्वामीजी कहीं कहीं उसका 'एक' और 'कोई' अर्थमें प्रयोग करते हैं । जैसे, 'जहँ तहँ काक उलूक बक, मानस सकृत मराल' (अ० २८१), तथा 'सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई' (७. ५४) । इस प्रकार यहां भी 'सकृत' पाठ है और उसका 'एक' अर्थ गृहीत है । और 'सुकृत' पाठ माननेमें भी अच्छा अर्थ बन जाता है, क्योंकि कवि इस समय सज्जनों के गुणगानमें प्रवृत्त हैं, अतः उनके प्रति उनकी आस्था होना स्वाभाविक है और इस लिए विशेषणात्मक 'सुकृतसिंधु' पाठ भी संगत प्रतीत होता है । पर अधिकांश रामायणियोंका मन 'सकृत' हीके पक्षमें है । काशिराज, सुधाकर द्विवेदीजी और वन्दनपाठकजीका भी यही पाठ है ।

करत जनु नारि तरंग समान ॥' (उ० ३), 'सोभत लखि विधु बढ़त जनु बारिधि बीचि बिलासु' (अ० ७)। इसी तरह सज्जन दूसरोंकी पूरी बढ़ती देख प्रसन्न होते हैं।

[(ख) द्विवेदीजी 'सज्जन सकृत सिंधु' का भाव यह लिखते हैं कि सज्जन विरला ही समुद्रसा होता है जो पूर्णचन्द्रमें इसका सम्पूर्ण कलङ्क देखकर भी उसका ध्यान न कर उसके अमृतमय किरणोंको देखतेही नीच जड (जल) का सङ्ग होनेपर भी आह्लादित होता है, इसी प्रकार सन्त दोषका ध्यान न कर थोड़े गुणको भी देखकर आह्लादित होता है, प्रशंसाही करता है। भर्तृहरिजीने कहा है, 'परगुणपरमाणून्पर्वतीकृत्य नित्यं निज हृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः ॥' (नीतिशतक ७६)।' अर्थात् (सज्जन विरलेही हैं) जो दूसरोंके परमाणु बराबर गुणोंको पर्वतके समान बढ़ाकर अपने हृदयको प्रफुल्लित करते हैं]

४ (क) 'जग बहु' का भाव कि जैसे संसारमें तालाव और नदियाँ अगणित हैं वैसेही अपनी बढ़तीसे प्रसन्न होनेवाले अथवा थोड़ी विद्यासेभी इतरानेवाले लोग संसारमें बहुत हैं। 'सर' 'सरि' सेभी अधिक हैं तथा 'सर' शब्द छोटा है अतः इसे प्रथम रक्खा। पुनः भाव कि [(ख) जैसे तालाव और नदी यदि ऊपरका जल न पावें तो नहीं बढ़ते क्योंकि पूर्ण नहीं हैं वैसेही सर और सरितके समान बहुतेरे लोग ऐसेही हैं जो इधर उधरसे दो चार बातें सीखकर वक्ता बन जाते हैं, दूसरोंके काव्यकी या ग्रन्थके भावोंकी चोरी करके स्वयं कवि या पण्डित और लेखक बनकर फूले फूले फिरते हैं कि हमारी बराबरीका कौन है, क्योंकि वे अपूर्ण हैं। ऐसे लोग दूसरोंकी कीर्ति देख जलते हैं, जिनकी चोरी करें उन्हींको दूषण देकर अपनी वाणीकी प्रशंसा करते हैं। सज्जन स्वयं परिपूर्ण हैं और दूसरेकी भनित सुनकर आह्लादित होते हैं। (मा. प्र०)। पुनः, (ग) बहुतसे नर तालावके समान हैं और बहुतसे नदीके समान हैं। तालाव वर्षाका जल पाकर बढ़ते हैं, उनमें स्वयं अपनेसे बढ़नेकी गति नहीं है; वैसेही जिनमें विद्या और शक्ति नहीं है, केवल अभ्यास है, वे औरोंकी वाणीको काट छांटकर अपने नामसे बनाकर प्रसिद्ध होते हैं। ऐसे लोग 'सर' समान हैं। नदियाँ जिनका मूल स्रोत हिमालय आदि पर्वत हैं वे अपनी बाढ़से बढ़ती हैं। ज्येष्ठमासमें वर्फके गलनेपर वे अपने आप अपनी बाढ़से बढ़ जाती हैं, वैसेही जो विद्या और शक्तिभी पाये हुए हैं वे अपनी उक्तिसे काव्य बनाकर देशोंमें प्रसिद्ध हुए; ये नदीके समान हैं। समुद्र न अपनेसे बढ़ै और न वर्षाजल पाकर बढ़ै। वह पूर्णचन्द्रको देखकर बढ़ता है। वैसेही सज्जन न तो अपना काव्य दिखाकर अपनी प्रसिद्धि चाहें और न किसीके काव्यादिको काट छाँटकर अपना नाम धरकर प्रसिद्ध होनेकी चाह करें। वे तो श्रीरामयशरूप पूर्णचन्द्रको देखकरही आह्लादित हो बढ़ते हैं। अर्थात् जिस ग्रन्थमें सुन्दर श्रीरामयशका वर्णन देखते हैं, अपनी विद्या और शक्तिसे उसपर तिलक करके उसके द्वारा लोकमें प्रसिद्ध होते हैं। जैसे श्रीमद्भागवतपर श्री श्रीधरस्वामी, वाल्मीकीयपर पं० शिवलालपाठक आदि। (वै.)]

नोट—१ 'भाई'। इति यह प्यारका सम्बोधन सबकेलिये है। अपने मनकोभी इससे सम्बोधन किया है। यथा, 'जो नहाइ चह एहि सर भाई। १. ३६।'; 'करहि बिचारु करौं का भाई' १. ५२ (४) तथा, 'तरु पल्लव महँ रहा लुकाई।' ५. ६ (१) देखिये।

२ बाबा हरिदासजी 'देखि पूर बिधु' का भाव यह लिखते हैं कि गोस्वामीजी 'कवि कोविद मानस मंजु मराल' से विनय करते हैं कि मेरी कविता एसी हो जैसे पूर्णचन्द्र। (अर्थात् वे अपने काव्यको यहाँ पूर्णचन्द्र कह रहे हैं।) जैसे पूर्णचन्द्र तापहारक, प्रकाशक और अमियरूप होता है, वैसेही मेरे काव्यचन्द्रमें श्रीरामसुयश अमृत है, उससे मोहनिशामें सोतेहुए ईश्वरविमुख, मृतकरूप, त्रयतापयुक्त, भवरोगपीड़ित जीव पठन, श्रवण, मनन करके सर्वबाधारहित हो जायँगे।

३ गोस्वामीजीने सज्जनोंको मातापिता और अपनेको पुत्र माना है जैसा 'सुनहहिं बाल बचन' और 'जौं बालक कह' में बता आए हैं। मातापिता बालक के तोतले वचनपर प्रसन्न होते हैं। इस सम्बन्धसे समुद्र और पूर्णचन्द्रका उदाहरण बहुत उपयुक्त हुआ है। चन्द्रमाकी उत्पत्ति समुद्रसे हुई है, अतः समुद्र मातापिता है और चन्द्र पुत्र। जैसे वह अपने पुत्रको पूर्ण देख प्रसन्न होता है, वैसेही सज्जन मेरे काव्यको सुनकर, देखकर प्रसन्न होंगे यह ध्वनित है।

दो०—भाग छोट अभिलाषु बड़ करउं एक बिश्वास।
पैहहिं सुख सुनि सुजन सब [१] खल करिहहिं उपहास। ८।

शब्दार्थ—भाग=भाग्य। अभिलाष = इच्छा। उपहास=हँसी।

अर्थ—मेरा भाग तो छोटा है और इच्छा बड़ी है (पर) मुझे एक विश्वास है कि इसे सुनकर सब सज्जन सुख पावेंगे और खलगन हँसी उड़ावेंगे※। ८।

पं० रामकुमारजी—(क) पहले कहा कि मति रङ्क है, मनोरथ राजा है। मनमतिके अनुकूल मनोरथ नहीं है, तो क्योंकर पूरा हो ? मनमति अच्छे न सही, यदि भाग्यही अच्छा हो तोभी अभिलाषा पूरी हो जाती है, सो भी नहीं है। भाग्य छोटा है अर्थात् भाग्यके अनुसार अभिलाष नहीं है। (ख) 'एक विश्वास' का भाव यह है कि भाग्यका भरोसा नहीं है और न बुद्धिहीका। यथा, 'निज बुधि बल भरोस मोहिं नाहीं।' एक विश्वास सन्तोंके सुख पानेका है।

द्विवेदीजी—एक विश्वास है कि सज्जन रामचरित्रके कारण प्रसन्न होंगे और खल हँसी करेंगे पर इससे उनको भी सुखही होगा, क्योंकि सुखके बिना उपहास नहीं उत्पन्न होता। भास्कराचार्यजीने भी सिद्धान्त शिरोमणि में लिखा है कि 'तुष्यन्तु सुजना बुद्ध्वा विशेषान् मदुदीरितान्। अबोधेन हसन्तो मां तोषमेष्यन्ति दुर्जनाः॥८॥

श्रीजानकीदासजी—'भाग छोट' अथात् प्राकृत कवियोंमें बैठने योग्य। 'अभिलाष बड़' अथात् व्यास, वाल्मीकि इत्यादिके बराबर बैठनेकी। भाव यह कि चाह तो है कि मेरी कविता व्यासादिके समान प्रामाणिक मानी जावे पर ऐसी योग्यता है नहीं।

बैजनाथजी—भाग छोटा है अर्थात् श्रीरामयशगायकोंमें मेरा हिस्सा छोटा है; तात्पर्य यह कि एक तो कलिका कवि, दूसरे बुद्धिविद्याशक्तिहीन, उसपरभी यह भाषाका काव्य! सब दोषही दोष हैं तब इसका आदर कौन करेगा ? अभिलाषा=भविष्यकी वस्तुका पूर्वही मनोरथ करना।

बाबा हरिदासजी—भाग छोटा है अर्थात् पूर्वजन्मों का संचित पुण्य नहीं है। अभिलाषा रामयशगानकी है, सो बिना पूर्वके सुकृतके हो नहीं सकता। पर मेरी अभिलाषा सुन सज्जन सुखी होंगे, मुझपर कृपा करेंगे और उनकी कृपा अघटित घटना पटीयसी है अतः वह अभिलाषा पूर्ण हो जायगी। खल परिहास करेंगे कि अरे! वह तो अपने मुँहही कहता है कि मेरे अघ सुन नरकनेभी नाक सकोड़ी, तब भला वह कैसे रामयश गा सकता है ? वह तो हमारा सजातीय है।

नोट—१ (क) 'सम प्रकास तम पाख दुहूँ...' इस दोहे तक कुसङ्ग सुसङ्गसे हानि लाभ दिखाया। 'जड़ चेतन जग जीव जत...' से 'सीयराममय सब जग जानी...' तक वन्दना की। 'जानि कृपाकर किंकर

१—१६६१, १७०४, मानस-परिचर्या, पं० शिवलालपाठक, ना० प्र० सभा, मानस-पत्रिकाका पाठ 'सब' है। १७२१, १७६२, छ० में 'जन' है।

※ कालिदासजीने भी ऐसाही कहा है, 'मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्'। यहाँ 'आत्मतुष्टि प्रमाण' अलङ्कार है।

मोहू' से 'मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी' तक अपना मनोरथ कहकर विनय की। 'छमिहहिं सज्जन' से 'पैहहिं सुख सुनि...' तक साधु असाधुके निकट अपनी कविताका आदर अनादर कहा।

(ख) सज्जनोंके सुननेके ५ हेतु लिखे हैं। (१) सज्जन मेरे मातापिता हैं, मैं उनका बालक हूँ। वे मेरी तोतरी बात सुनेंगे। यथा, 'छमिहहिं सज्जन मोरि...'। (२) बड़े दूसरेकी वृद्धि देखकर प्रसन्न होते हैं। 'सज्जन सुकृत सिंधु...'। (३) श्रीरामभक्तिसे भूषित जानकर सुनेंगे। 'रामभगति भूषित जिय जानी।' (४) श्रीरामनामयशअङ्कित जानकर सुनेंगे। 'सब गुनरहित कुकविकृत बानी।...'। और, (५) श्रीरामयश जानकर सुनेंगे। 'प्रभु सुजस संगति भनित भलि होइहि सुजन मनभावनी।' इसीप्रकार खलोंके न सुननेके ५ हेतु कहे हैं। यथा, हँसिहहिं कूर १, कुटिल २, कुविचारी ३, जे परदूषन भूषनधारी ४ और 'जे निज बढ़ि बढ़हिं जल पाई ५।'

खल परिहास होइ हित मोरा। काक कहहिं कलकंठ कठोरा। १।

शब्दार्थ—परिहास=उपहास, हँसी। हित=भला, कल्याण। कलकण्ठ=मधुर कण्ठवाली, कोकिल, कोयल। कठोर=कड़ा।

अर्थ—खलोंके हँसनेसे मेरा हित होगा। (क्योंकि) कौवे कोकिलको कठोर कहते ही हैं। १।

नोट—१ 'होइ हित मोरा' इति। कैसे हित होगा? इस तरह कि—(क) सुननेवाले कहेंगे कि देखिये तो यह दुष्ट कौवा कोकिलको कठोर कहता है, वैसेही मेरे भणितको जब खल हँसेंगे और कहेंगे कि यह तो प्राकृत वाणी है तब सज्जन कहेंगे, देखिये तो यह कैसी दिव्य वाणी है, इसे ये दुष्ट प्राकृत कहते हैं। सज्जनोंके मुखसे बड़ाईका होना ही हित है। (मा. प्र.)। (ख) खलोंकी बातको कोई प्रमाण नहीं मानता। वे सचाही दूषण लगावेंगे तोभी सब उसे झूठाही समझेंगे। इस तरह उनके मुखसे जो दूषण भी निकलेंगे वे भी भूषण हो जायँगे। यह हित होगा। (वै०)। (ग) लोक और परलोक दोनोंमें हित होगा। खल निंदा करेंगे तब सज्जन उनकी बातको झूठी करेंगे। सन्तोंका वाक्य प्रमाण है। अतः यह लोकहित होगा। और परलोकमें हित यह होगा कि निंदा करनेसे वे मेरे पापोंके भागी होंगे। खलोंके कथनको लोग ऐसा ही समझेंगे जैसे कौवे कोयलको कठोर कहें वैसेही इनका हाल है। (पं.)। (घ) गुप्त पापोंको प्रकट करदेनेसे उनका नाश हो जाता है अतएव परिहासद्वारा मेरे अवगुणकथनसे मेरा लाभ होगा। कोयल कौवेके अण्डे गिराकर उसकी जगह अपने अण्डे रख देता है, कौवे उन्हें सेता है। काक कोयलकी निंदा करता है तो कोयलका पाप (अण्डा आदि गिरानेका) मिट जाता है और उसकी बोली सबको प्रिय लगती है। (बाबा हरिदासजी)। महत्पुरुषोंकी एवं सद्ग्रन्थोंकी निंदा करनेसे निंदा करने और सुननेवालोंमें उसका पाप बट जाता है, यह हित होगा। (ङ) काक और कोकिलकी बोली सुनकर सभी पहचान लेते हैं। सज्जन कविताको सुनकर सुख पावेंगे और खल उसीको सुनकर हँसेंगे, इससे मेरी प्रतिष्ठा औरभी बढ़ेगी। यदि सज्जन दुःख पाते और खल आदर करते तो कविता निंदित होती। खल जिसपर हँसे वह सन्त समझा जाता है और जिसकी वे प्रशंसा करें वह खलका सम्बन्धी वा सजातीय अर्थात् नीच समझा जाता है। यही हित होगा। (रा० प्र०)।

२ 'खलपरिहास' दोष है। कवि उसमें गुण मानकर उसकी इच्छा कर रहा है। यहाँ 'अनुज्ञा अलङ्कार' है।

३ 'काक कहहिं कलकंठ कठोरा' इति। (क) भाव यह है कि जैसे कौवेके निंदा करनेसे कोई कोकिलको बुरा नहीं कहता, वैसेही खलोंके हँसनेसे सज्जन इस रामचरितयुक्त कविताकी कदापि निंदा न करेंगे। पुनः, (ख) आशय यह है कि रूपमें तो कौवा और कोकिल दोनों एकसे ही हैं। पर बोलीसे जाना जाता है कि यह काक है और यह कोकिल। 'काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिक काकयोः। प्राप्ते वसन्त समये काकः काकः पिकः पिकः।' एवम् जिसकी खल निंदा करें वह सज्जन है....। (मा० पत्रिका)

हंसहि बक गादुर¹ चातकही । हंसहिं मलिन खल बिमल बतकही । २ ।

शब्दार्थ—गादुर = चमगादड़ । चातक=पपीहा । मलिन=मनके मैले ।

अर्थ—बगुला हंसको और चमगादड़ पपीहेको हँसते हैं (वैसेही) मलिन स्वभाववाले दुष्ट लोग निर्मल वाणीपर हँसते हैं । २ ।

नोट—यहाँ तक दो अर्धालियोंमें खलपरिहाससे अपना हित दिखाया ।

पाठान्तर—श्रावणकुञ्जकी प्रतिमें 'गादुर' का 'दादुर' बनाया गया है । भागवतदासजीका भी 'गादुर' पाठ है । काशीराजकी प्रतिमें भी 'गादुर' है । रामायणीजी और व्यासजी 'गादुर' पाठको शुद्ध और उत्तम मानते हैं । वन्दन पाठकजी, सुधाकरद्विवेदीजी, और पं० रामकुमारजीने भी यही पाठ लिया है । वे कहते हैं कि दादुर जलचर है, चातक नभचर । दोनोंही मेघके स्नेही हैं, पर नभचरपर जलचरका हँसना कैसे बने ? नभचरको नभचर हँसेगा, सजातीयका सजातीयको हँसना ठीक है । गादुर और चातक दोनों पक्षी हैं और दोनोंके गुणधर्म एक दूसरेके विरुद्ध हैं ।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि यहाँ तीनों दृष्टान्त पक्षियोंके दिए गए क्योंकि ये पक्षपात करते हैं, ये सब पक्षपाती हैं । यथा 'सठ सपच्छ तव हृदय बिसाला...' ।

पं० सच्चिदानन्दजी शर्मा, काशी—'गादुर' और दादुर' इन दोनों पाठोंमें कौनसा अधिक उपयुक्त और ग्राह्य है, इस सम्बन्धमें हमारा विचार 'गादुर' के पक्षमें है । इसके कारण ये हैं । प्रथम तो यह प्रसङ्ग वाणीका है और कविलोग पक्षियोंमें ही प्रायः गानकी उत्प्रेक्षा करते हैं । दादुरकी गणना पक्षिकोटिमें होती भी नहीं । दूसरे कविने 'क्रूर', 'कुटिल' तथा 'कुविचारी' विशेषण क्रमसे दिये हैं । ये तीनों इसी क्रमसे काक, बक और गादुरमें चरितार्थ होते हैं । काककी क्रूरता और बककी कुटिलता लोकमें प्रसिद्ध है । रहा गादुर, सो स्वमलभोजी है । तीसरे काकका कोकिलसे, बकका हंससे और गादुरका चातक से वर्णसाम्यभी है । इसी भाँति आकारगत सादृश्यकाभी उल्लेख अप्रासङ्गिक नहीं होगा । चातक और गादुरके सादृश्यकी चतुर्थ बात यह है कि ये दोनों आकाशमेंही वास करते हैं । वृक्षपर उलटे टँगे रहना एक प्रकारसे शून्यवासही है । इस प्रकार हेतुचतुष्टयसे गादुर पाठकी समीचीनता सप्रमाण सिद्ध है । पुनः, सीधा बैठनेमें असमर्थ होनेसे पिपासाशांतिके लिए वर्षा-जलके अधीन रहना गादुरके बारेमें भी असम्भव नहीं, यहभी चातकके साथ पञ्चम सादृश्य है ।

[नोट—चमगादड़के कुछ लक्षण ये हैं । यह भूमिपर अपने पैरोंसे चल नहीं सकता, या तो हवामें उड़ता रहता है या किसी पेड़की डालमें चिपटा रहता है । यद्यपि यह जन्तु हवामें बहुत ऊपरतक उड़ता है पर उसमें पक्षियोंके लक्षण नहीं हैं । इसकी बनावट चूहेकीसी होती है, इसे कान होते हैं और यह अण्डा नहीं देता, बच्चा देता है । दिनके प्रकाशमें यह बाहर नहीं निकलता, किसी अँधेरे स्थानमें पैर ऊपर और सिर नीचे करके औंधा लटका रहता है]

'दादुर' के पक्षमें कह सकते हैं कि वह और चातक दोनों मेघ और वर्षा ऋतुकी प्रतीक्षा करते हैं और दोनों जलकी धारणा रखते हैं । परन्तु इनमेंसे पहला सामान्य जलसे सन्तुष्ट है, उसको जलकी स्वच्छता और मलिनताका विचार नहीं है । और दूसरा (चातक) एक विशिष्ट प्रकारके उत्तम जलका व्रत रखता है और उसमें उसकी दृढ़ धारणा और अनन्यता है ।

पं० महावीरप्रसाद मालवीय लिखते हैं कि 'प्रसङ्गानुसार मेंढक और चातककी समता यथार्थ प्रतीत होती है, क्योंकि वे दोनों मेघोंसे प्रेम रखनेवाले और वर्षाके आकांक्षी होते हैं । उनमें अन्तर यह है कि

¹ दादुर—१६६१ में 'गादुर' था, 'ग' के ऊपर 'द' बनाया है । गादुर-१७०४, १७२१, १७६२, छ० ।

मेंढक जलमात्रमें विहार करता हुआ सभी बादलोंसे प्रेम रखता है; किंतु पपीहा स्वातीके बादल और जलसे प्रसन्न होता है। मेंढक इस लिए हँसता है कि मेरे समान सब जलोंमें यह विहार नहीं करता, स्वातीके पीछे टेक पकड़कर नाहक प्राण गँवाता है। यह दृष्टान्तका भाव है। पर इस गम्भीरताको 'गादुर' नहीं पहुँच सकता है।

श्रीजानकीशरणजी मालवीयजीसे सहमत होतेहुए कहते हैं कि गादुरको पक्षीभी कहना ठीक नहीं है।

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि 'दादुर' और चातक दोनों मेघके स्नेही हैं तब हँसना कैसे बने? साहूकार चोरको और चोर साहूकारको हँसे तब बनै (उचित हो)। और, चौपाईमें ऐसाही पाठ अर्थ है कि 'हँसहिं मलिन खल विमल बतकही'। खलके स्थानपर गादुर है जो मलिन है और 'बिमल बतकही' के स्थान-पर 'चातक' है।

नोट—१ 'हंसहि बक···'इति। भाव यह है कि—(क) जैसे बगुला और चमगादड़ (वा, मेढक) की निंदासे हंस और चातक जगत्में अयोग्य नहीं कहे जाते, वैसेही मलिनोंकी निन्दासे निर्मल वाणी अयोग्य नहीं कही जाती। अच्छे लोगोंमें इनकी प्रशंसाही होती है। (द्विवेदीजी)। (ख) यहाँ दृष्टान्त देकर दिखाया कि खल वचन, कर्म और मन तीनोंकी निंदा करते हैं। काक कोकिलके 'वचन' को कठोर कहता है, बगुला हंसके क्षीर-नीर-विवरण-विवेकको हँसता है कि इसका यह 'कर्म' अच्छा नहीं है और गादुर चातककी टेकको हँसता है कि इसका 'मन' अच्छा नहीं है। टेक मनका धर्म है। (पं० रामकुमारजी)।

पं० रामकुमारजी—१ (क) 'विमल बतकही' पदका भाव यह है कि 'बतकही' विमल (निर्मल, निर्दोष) है तो भी ये दूषण देते हैं।

(ख) 'विमल बतकही' इति। 'बतकही' का अर्थ वाणी है। वाणीका प्रयोग धर्म सम्बन्धहीमें करना चाहिए। इसी तरह 'बतकही' शब्द श्रीरामचरित्रमानसमें सात ठौर गोस्वामीजीने दिया है और सातों स्थानों-पर धर्म सम्बन्धी वार्ताके साथ इसका प्रयोग किया है।

इस ग्रन्थमें सप्त सोपान हैं और सातही बार यह पद आया है; इस प्रकार प्रति सोपान एक बार हुआ। प्रथम सोपानमें दो बार आया, इससे दूसरे सोपानमें नहीं दिया गया। अरण्यकांडका प्रसङ्ग उत्तरकांड सातवें सोपानमें दिया गया। पञ्चम सोपानमें नहीं आया, षष्ठ सोपानमें दो बार आया है। यथा, (१) 'हंसहि बक गादुर चातकही। हँसहिं मलिन खल बिमल बतकही।' (२) 'करत बतकही अनुज सन मन सिय रूप लुभान। १. २३१।' (३) 'दसकंधर मारीच बतकही। ७.६६।' (यह प्रसंग अरण्यकांड का है) ४) 'एहि विधि होत बतकही आये वानरजूथ'। ४.२१।' (५) 'तव बतकही गूढ़ मृगलोचनि। समुझत सुखद सुनत भयमोचनि'। ६.१६।' (६) 'काज हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई'। ६.१७।' (७) 'निज निज गृह गये आयसु पाई। 'बरनत प्रभु बतकही सुहाई। ७. ४७।' सातों ठौर परमार्थसम्बन्धमें यह शब्द देकर उपदेश देते हैं कि वार्ता जब करो परमार्थसम्बन्धी करो; क्योंकि वही वाणी विमल है, उसी वाक्यकी सफलता है और सब वार्ता व्यर्थ है।

☞जैसे इन सातों प्रसङ्गोंमें परमार्थ वा धर्मनीतिकाही जोरदार सम्बन्ध होनेसे 'बतकही' शब्दका प्रयोग हुआ है, वैसेही जहाँ ज्ञान और भक्तिका जोरदार सम्बन्ध होता है वहाँ उसको 'संवाद' कहा है।

२ पूर्व कहा था कि 'हँसिहहिं कूर कुटिल कुविचारी। जे पर दूषन भूषन धारी॥' अब यहाँ उन चारों का विवरण करते हैं। काक क्रूर है, बक कुटिल है, गादुर कुविचारी है और मलिन खल परदूषण भूषण धारी है।

कबित रसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हास रस एहू। ३।
भाषा भनित भोरि मति मोरी[१]। हँसिबे जोग हँसे नहिं खोरी। ४।

---

१ पाठान्तर—'मोरी मति भोरी' (मा० प्र०, रा० प०, मा० प०)।

प्रभु-पद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी । ५ ।
हरिहरपद-रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहुं मधुर कथा रघुबर की। ६ ।
रामभगति भूषित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी। ७ ।

अर्थ—जो कविताके रसिक हैं (परन्तु जिनका) श्रीरामचरणमें प्रेम नहीं है, उनको यह हास्यरस होकर सुख देगी। ३। (एक तो) भाषाका काव्य (उसपर भी) मेरी बुद्धि भोली ❀(इससे) हँसनेके योग्यही है, हँसनेमें उनको दोष नहीं। ४। जिनकी प्रभुके चरणोंमें प्रीति नहीं है और न जिनकी समझही अच्छी है, उनको यह कथा सुननेमें फीकी लगेगी। ५। जिनकी हरिहरचरणकमलोंमें प्रीति है और बुद्धि कुतर्क करनेवाली नहीं है, उनको श्रीरघुनाथजीकी कथा मीठी लगेगी। ६। श्रीरामभक्तिसे भूषित है, ऐसा हृदयसे जानकर सज्जन इसे सुन्दर वाणीसे सराहसराहकर सुनेंगे। ७।

नोट—१ इन चौपाइयोंसे कविके लेखका आशय यह है कि सभी प्रकारके श्रोताओंको इस ग्रन्थसे कुछ न कुछ, पात्रतानुसार, मनोरंजन और सुखकी सामग्री अवश्य मिलेगी। पहले खल-परिहाससे अपना हित कहकर अब तीन अर्धालियोंमें हँसनेवालोंका हित दिखाते हैं।

२ 'हँसिबे जोग' इति। कवितरसिक हास्यरससे सुख पायें। इससे हास्यरसको पुष्ट करते हैं कि हँसने योग्य है। 'भाषा भणिति' का भाव यह है कि संस्कृत कविताके अभिमानी पण्डित लोग इस भाषा भणितिको क्यों पसन्द करेंगे, उनका हँसना उचित ही है।

श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि भगवद्यश चाहे भाषा हो, चाहे संस्कृत, उसको हँसनेसे दोष तो होताही है। पर, गोस्वामीजी 'हँसे नहिं खोरी' कहकर अपनी साधुतासे उन्हेंभी निर्दोष करते हैं।

३ 'प्रभुपद प्रीति न सामुझि नीकी' इति। भाव यह है कि प्रभुपदमें प्रीति नहीं है, इसलिए उनको भक्तिके रसका सुख न मिला और समझ अच्छी नहीं है, इससे कविताका रस न मिला। अतएव फीकी है। 'समझ अच्छी नहीं' अर्थात कुतर्कको प्राप्त है। [बैजनाथजीने दो अर्थ और दिये हैं। (क) श्रीरामपदमें प्रीति नहीं है, पर काव्यांगोंकी समझ अच्छी है अर्थात् जो रजोगुणी चतुर हैं उनको फीकी लगेगी। अथवा, (ख) प्रभुपदप्रीतिमें (क्या लाभ है इस विषयमें) जिनकी समझ अच्छी नहीं है अर्थात् हरिविमुखोंको फीकी लगेगी। (बै०, रा० प्र०)]

४ 'हरिहरपद रति मति न कुतरकी....' इति। (क) हरि=विष्णु भगवान्। हर=शिवजी। करुणासिंधुजी, पांडेजी, हरिहरप्रसादजी इत्यादि कहते हैं कि 'मति न कुतरकी' हरिहरके साथ है। अर्थात् हरि और हरमें जिनकी बुद्धि कुतर्कको नहीं प्राप्त है, जो दोनोंमें अभेद देखते हैं † भेद बुद्धि नहीं रखते, उनको यह कथा

❀ इस अर्धालीका भाव यह है कि मेरी कवितामें काव्यरस एक भी नहीं है और वे कविताके रसिक हैं, इस कारण वे देखकर हँसेंगे। इससे इसमें हास्यरस सिद्ध होगा। काव्यमें नौ रस होते हैं। उनमेंसे उन्हें एक भी न सूझेगा। (पं० रा० कु०, पांड़ेजी)। इस अर्थमें लोग यह शङ्का करते हैं कि इस ग्रन्थमें तो सब रस हैं। कवित्तरसिकोंको तो इसमें सभी रस मिलेंगे, तो फिर 'हास्यरस' क्योंकर होगा ? इसलिए यहाँ देहली-दीपकन्यायसे 'न' का अन्वय 'कवित्त रसिक' और 'राम पद नेहू' दोनोंमें करके यों अर्थ करते हैं कि 'जो न तो कविताके रसिक हैं और न जिनका श्रीरामपदमें प्रेमही है।'

† हरि हरमें भेद वर्जित कैसे ? इस तरह कि 'हरि' और 'हर' दोनोंका अक्षरार्थ एकही है। दूसरे, दोनों स्वरूपोंमें आभूषण और आयुधोंके भावभी एक ही हैं। हरिकी गदा और शिवकी विभूति दोनों पृथिवीतत्व,

मधुर लगेगी। इससे ग्रन्थकारका यह आशय जाना जाता है कि जिस मनुष्यका प्रेम हरिहरपदमें अभेद और कुतर्करहित हो, उसीकी प्रीति श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें तथा उनकी कथामें होगी क्योंकि श्रीरामजीको दोनों बराबर प्रिय हैं। (रा० प्र०)

(ख) 'मति न कुतरकी' और 'हरिहरपदरति' को पृथक् पृथक् दो बातें माननेसे उपर्युक्त भाव तो आजाताही है, साथही साथ चरितमेंभी सन्देह, मोह इत्यादिका भाव सम्मिलित रहता है। 'कुतर्क'—अवतार हैं तो 'खोजत कि अज्ञ इव नारी', 'खर्व निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम' इत्यादि कुतर्क हैं। यथा, 'अस विचारि मति धीर तजि कुतर्क संसय सकल। उ० ९०।'

(ग) वैजनाथजी लिखते हैं कि 'हरि हर पद रति....' से जनाया कि यह स्मार्तों वा पञ्चदेवोपासकोंको मधुर लगेगी; क्योंकि इसमें गणेशजीकी वन्दना, सूर्यवंशकी प्रशंसा, भवानी श्रोता, शिवजी वक्ता और भगवान्का यश ये सभी हैं। अथवा, जो शैव हरिमें अभावादि तर्क नहीं करते वे इसे शिवचरित जानेंगे क्योंकि प्रथम तो शिवचरितही है और फिर शिवपार्वतीसंवादही तो अन्ततक है और जो वैष्णव शिवमें तर्क नहीं करते अर्थात् शिवजीको श्रीरामजीका भक्त जान भेदभाव नहीं रखते, उनको स्वाभाविकही मधुर लगेगी।

(घ) कथा मधुर लगेगी, क्योंकि भक्ति मधुर है। यथा, 'कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहि। ७. १२०।' 'प्रभुपद प्रीति....' और 'हरिहरपद....' दोनों अर्द्धालियोंका मिलान कीजिए।

१ प्रभुपद प्रीति न २ न सामुझि नीकी ३ लागिहि फीकी
१ हरिहरपद रति २ मति न कुतरकी ३ मधुर (लागिहि)

टिप्पणी—१ 'रामभगति भूपित जिअ जानी....' इति। सन्त कवितविवेकसे भूषित जानकर नहीं सुनते। इनके हृदयमें भक्ति और हरिहरपदमें रति है, अतः जो कविता श्रीरामभक्तिसे भूषित होती है, उसीको सुनते हैं। 'सराहि सुबानी' का भाव यह कि सज्जन सुनते जायँगे और सराहतेभी जायँगे कि ओहो! क्या अच्छी सुन्दर वाणी है, क्योंकि रामभक्तिसे भूषित है। (पं० रामकुमारजी)। ('रामभक्ति भूषित'। यथा, 'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥ राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्हके कछु नाहीं। ७. १२८-१२९।', एवं, 'जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना। ७. ६१।', तथा 'जुगुति बेधि पुनि पोहिअहि रामचरित वर ताग। पहिरहिं सज्जन विमल उर सोभा अति अनुराग। १. ११।' और 'राम नाम अंकित जिय जानी।')

२ यहाँ इस प्रसंगमें उत्तम, मध्यम, निकृष्ट और अधम चार प्रकारके श्रोताओंके लक्षण कहे गए हैं। उत्तम, यथा 'रामभगति भूपित जिय जानी। सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥' मध्यम-'हरिहरपद रति मति न कुतरकी। तिन्ह कहँ मधुर कथा रघुबर की'। निकृष्ट-'प्रभुपद प्रीति न सामुझि नीकी। तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी'। अधम-'कवित रसिक न रामपद नेहू। तिन्ह कहँ सुखद हासरस एहू।'

३ इस प्रसंगमें यह दिखाया कि कथाके श्रवणके अधिकारी खल नहीं हैं, क्योंकि 'खल करिहहिं उपहास'; कवि नहीं हैं; क्योंकि जो कवित्त-रसिक हैं 'तिन्ह कहँ सुखद हासरस एहू' और, न वेही हैं जिनकी समझ अच्छी नहीं; क्योंकि 'तिन्हहिं कथा सुनि लागिहि फीकी।' इनके अधिकारी केवल सज्जन हैं। इसीसे वारम्वार सुजनको कहते हैं। यथा, 'छमिहहिं सज्जन', 'पैहहिं सुख सुनि सुजन', 'सुनिहहिं सुजन सराहि' और 'गिरा ग्राम्य सियरामजस गावहिं सुनहिं सुजान', 'सादर सुनहु सुजन मन लाई'।

हरिका पद्म और हरकी गङ्गा दोनों जलतत्व। इसी प्रकार सुदर्शन और भालनेत्र अग्नितत्व, पाञ्चजन्य और सर्प वायुतत्व, नन्दक और डमरु आकाशतत्व। भाव कि दोनों पञ्चतत्वोंके मालिक हैं। (रा० प०)। २ हरिहरपदमें कुतर्करहित प्रीति।

कबि न होउँ नहिं बचन [1] प्रबीनू। सकल कला सब बिद्या हीनू। ८।

अर्थ—मैं न तो कविही हूँ और न बोलनेमें (अर्थात् शब्दोंकी योजना, वाक्यरचनामें) ही प्रवीण (कुशल, निपुण) हूँ। (मैं तो) सब कलाओं सब विद्याओंसे रहित हूँ। ८।

नोट—१ 'कवि' इति। (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'कवि' वह है जो लक्षण और उदाहरण सहित काव्यके अंगोंका वर्णन करे; जैसे मम्टाचार्य काव्यप्रकाश, भानुदेवरसमंजरी, दामोदरमिश्र वाणीभूषण। अथवा, जो काव्यके लक्षण न कहकर केवल उदाहरणमें किसीका चरित वर्णन करते हैं जिसमें उवाचादि किसीका संवाद नहीं रखते और उसीमें अलङ्कारादि काव्यके अङ्ग रहते हैं। जैसे वाल्मीकिजीने वाल्मीकीय रामायण और कालिदासजीने रघुवंश काव्य रचे। (ख) कवि=काव्य करनेवाला। काव्य=वह वाक्यरचना जिसमें चित्त किसी रस वा मनोवेगसे पूर्ण हो, जिसमें शब्दोंके द्वारा कल्पना और मनोवेगोंपर प्रभाव डाला जाता है। (ग) विशेष अर्धाली ११ में वे. भू. रा. कु. दासकी टिप्पणी देखिये।

२ 'वचन प्रबीनू' इति। पाठांतरपर विचार—'चतुर प्रबीनू' का अर्थ होगा 'चतुर और प्रवीण' अथवा 'चतुरोंमें प्रवीण'। चतुर=चमत्कृत बुद्धिवाला। ये दोनों पर्याय शब्द हैं, इससे पुनरुक्ति हो जाती है। पुनः, श्रीरामकथा कहनेमें वा इस ग्रन्थके लिखनेमें वचनकीही प्रवीणताकी आवश्यकता है। वचन प्रवीण वह है जो अपने शब्दोंद्वारा श्रोताओंके चित्तको अपनी ओर आकर्षित करे। यह आवश्यक नहीं है कि वह कविभी हो। कवि तो वचनप्रवीण होसकता है, पर प्रत्येक वचनप्रवीण कवि नहीं होता। अतः 'वचन' पाठ उत्तम है और प्राचीनतम पाठ तो है ही।

३ 'सकल कला' इति। प्रायः टीकाकारोंने यहाँ 'सकल कला' से 'चौंसठ कलायें' ही अर्थ लिया है। अर्थशास्त्र जो अथर्ववेदका उपवेद है वहभी बहुत प्रकारका है जैसे कि नीतिशास्त्र, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र, शिल्पशास्त्र, सूपकारशास्त्र और चतुःषष्टिकलाशास्त्र। ये चौंसठों कलायें शैवागममें यों कही गई हैं। १ गीत (गान), २ वाद्य (बाजा बजाना), ३ नृत्य (नाचना), ४ नाट्य (अभिनय करना), ५ आलेख्य (चित्रकारी करना), ६ विशेषकच्छेद्य (गोदना; टिकुली आदि तिलक बनाना), ७ तंडुलकुसुमवलिविकार (तंडुलकुसुमसे चौक पूरना, सांझी बनाना), ८ पुष्पास्तरणमें (पुष्पशय्या रचना), ९ दशनवसनाङ्गराग (दांतों, वस्त्रों और अंगोंमें राग। अर्थात् मिस्सी लगाना, कपड़े रँगना, अंगमें उबटन लगाना), १० मणिभूमिकाकर्म (मणियोंसे भूमि रचना), ११ शयनरचना (सेजकी रचना करना), १२ उदकवाद्य (जलतरंग बाजा बजाना), १३ उदकघात (हाथ या पिचकारीसे जलक्रीड़ा करना), १४ अद्भुतदर्शनवेदिता (बहुरूपियाका काम करना), १५ मालाग्रथन कल्प (माला गूथना), १६ शेखरापीडयोजन (मस्तकके भूषणोंकी योजना करना), १७ नेपथ्ययोग (नाटकके पात्रोंका वेष सजना), १८ कर्णपत्रभङ्ग (कर्णभूषण विधान), १९ गन्धयुक्ति (अतर आदि सुगन्ध द्रव्योंकी युक्ति), २० भूषणकी योजना, २१ इन्द्रजाल, २२ कौचुमार योग (कुरूपको सुरूप बनानेकी क्रिया जानना), २३ हस्तलाघव (पटा, बाना आदमें फुर्ती), २४ चित्रशाकापूपविकारक्रिया (चित्र विचित्र भोजनके पदार्थ बनाना), २५ पानकरसरागासवयोजन (पीनेके पदार्थ रस आदिका बनाना), २६ सूचीवापकर्म (सुईकी कारीगरी, सीना, काढ़ना, आदि), २७ सूत्रक्रीड़ा (धागेके सहारे खिलौनोंका खेल करना जैसे चर्कई, आदिका

---

१ चतुर—१७२१, १७६२, छ०, भा. दा., को. रा., रा. प.। वचन—१६६१। श्रीशंभुनारायणजी लिखते हैं कि १७०४ में भी 'वचन' है। परन्तु रा. प. में 'चतुर' पाठ मूलमें है और 'वचन' को पाठान्तर कहा है।

नचाना), २८ वीणाडमरुवाद्य, २९ प्रहेलिकाप्रतिमाला (पहेली बूझना, अन्त्याक्षरीसे वैदबाजी करना), ३० दुर्वाचकयोग (कठिन शब्दोंका अर्थ लगाना), ३१ पुस्तकवाचन, ३२ नाटिकाख्यायिकादर्शन (लीला या नाटक दिखाना), ३३ काव्यसमस्यापूरण, ३४ पट्टिकावेत्र वाणविकल्प (नेवाड़, वेत या मूँज आदिकी अनेक रचनायें करना), ३५ तर्ककर्म (तर्क करके काम करना), ३६ तक्षण (लकड़ी, पत्थर आदिको गढ़कर वेल बूटे मूर्ति आदि बनानेका काम), ३७ वास्तुविद्या (सब वस्तुओंका ज्ञान), ३८ रूप्य रत्न परीक्षा (चाँदी सोना रत्नकी परीक्षा), ३९ धातुवाद (धातुओंके शोधनेका ज्ञान), ४० मणिरागज्ञान (रत्नोंके रंगोंको जानना), ४१ आकरज्ञान (खानोंका ज्ञान), ४२ वृक्षायुर्वेद (वृक्षोंके स्वरूप, आयु आदिका जानना); ४३ मेषकुक्कुट-लावकयुद्धविधि (मेढ़ों, मुर्गों और तीतरोंकी लड़ाईका विधान), ४४ शुकसारिकाप्रलापन, ४५ उत्सादन (मालिश करना, अंगको दबाना आदि), ४६ केशमार्जनकौशल, ४७ अक्षरमुष्टिकाकथन (करपल्लवी अर्थात् हस्तमुद्राद्वारा वातें कर लेना); ४८ म्लेच्छितकविकल्प (जिस काव्यमें शब्द तो साधारण होते हैं पर अर्थ निकालना कठिन हैं ऐसे क्लिष्टकाव्यको समझ लेना), ४९ देशभाषाज्ञान (सब देशोंकी भाषा जानना), ५० पुष्पशकटिका निमित्त ज्ञान (दैवी लक्षणोंसे शुभाशुभका ज्ञान), ५१ यन्त्रमातृका (कठपुतली नचाना), ५२ धारणमातृका (धारणशक्ति और वचन प्रवीणता), ५३ असंवाच्यसंपाठ्य मानसी काव्यक्रिया (जो कहने और पढ़नेमें कठिन ऐसा काव्य मनमें करना), ५४ छलितकयोग (छल या ऐयारीका काम करना), ५५ अभिधानकोशच्छन्दोज्ञान (कोश और छन्दोंका ज्ञान), ५६ क्रियाविकल्प (प्रसिद्ध उपायके विना दूसरे उपायसे किसी कार्यको सिद्ध करना), ५७ ललित विकल्प, ५८ वस्त्रगोपन (वस्त्रोंकी रक्षाकी विद्या जानना), ५९ द्यूतविशेष (घुड़दौड़ आदि खेलोंकी बाजीमें निपुणता), ६० आकर्षक्रीड़ा (पाँसा आदिके फेंकनेका ज्ञान), ६१ बालक्रीडनक (लड़कोंको खिलाना, खिलौने बनाना), ६२ वैनायिकी विद्याज्ञान (विजय करनेकी विद्या), ६३ वैजयिकविद्याज्ञान (विजय करनेकी विद्याका ज्ञान), ६४ वैतालिकीविद्याज्ञान (वेताल प्रेतादिकी सिद्धिकी विद्याका ज्ञान)।

बाबा हरीदासजीका मत है कि यहाँ 'कला' से सूर्यादि देवताओंकी कलायें या उपर्युक्त चौंसठ कलायें अथवा नटकी कलायें अभिप्रेत नहीं हैं वरंच 'कला' का अर्थ 'करतब' (कर्त्तव्य) है। यथा, 'सकल कला करि कोटि बिधि हारेउ सेन समेत। १. ८६।', 'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी। १. १२६।' (हमारी समझमेंभी यहाँ 'कला' से 'काव्यकौशल' ही अभिप्रेत है, चौंसठ कलाका यहाँ प्रसंग नहीं है। 'गीतवाद्यमें निपुणता' अर्थ ले सकते हैं क्योंकि कविको इनका प्रयोजन है। टीकाकारोंने यहाँ चौंसठ कलाएँ मानी हैं, अतः हमने प्रामाणिक ग्रंथोंसे खोजकर लिखा है।)

४ 'सब विद्या' इति। विद्याएँ प्रायः चौदह मानी जाती हैं। यथा, 'पुराण न्याय मीमांसा धर्म शास्त्रांगमिश्रिताः। वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥ ३।' (याज्ञवल्क्यस्मृति उपोद्घात प्रकरण १)। अर्थात् ब्राह्मआदि अठारह पुराण, तर्कविद्यारूपन्याय, मीमांसा (वेदवाक्यका विचार), धर्मशास्त्र (मनुस्मृति आदि), वेदके छः अंग (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द), और चारो वेद ये मिलकर १४ विद्याएँ हैं।

आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक विधाना। ९।

अर्थ—अक्षर, अर्थ, अनेक प्रकारके अलङ्कार, (और उनसे) अनेक प्रकारकी छन्द रचनायें। ९।

नोट—१ 'आखर अरथ...' इति। (क) काव्यरचनामें किन किन बातोंकी आवश्यकता होती है, यह यहाँ कहते हैं। 'आखर' का अर्थ अक्षर है। अर्थात् ऐसे अक्षरोंका प्रयोग करना चाहिए जिनसे कुछ अर्थ

निकलें, क्योंकि अर्थ शब्दवाच्य होते हैं। शब्दका अर्थसे वाचक वाच्य सम्बन्ध रहता है। इसलिए इसीके आगे अर्थ पद लिखा है। 'अलंकृति' से अलङ्कारका ग्रहण है; क्योंकि शब्दार्थमें अलङ्कार होता है। अलङ्कार वह विषय है कि जो शब्दार्थकी शोभा बढ़ानेवाले रसादिक हैं, उनकी शोभा बढ़ावे। जैसे मनुष्यकी शोभा सुन्दर आभूषणोंसे होती है, एवम् शब्दार्थकी शोभा अलंकारसे होती है। यथा साहित्यदर्पणे, 'शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभतिशायिनः रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारस्तेऽङ्गदादिवत् ॥' शब्दालङ्कार और अर्थालंकार भेदसे प्रथम दो भेद; फिर इन्हीं दोनोंसे अनेक भेद हुए हैं। (किसी किसीने अलंकार १०८ माने हैं और फिर इन्हीं १०८ के बहुतसे भेद बताये हैं)। अतः 'अलंकृति नाना' कहा। 'छन्द' से गायत्री अनुष्टुपादि छन्दोंका ग्रहण है। इनका वर्णन पिङ्गलमें है। 'प्रबंध' शब्दका अर्थ वाक्यविस्तार है। अर्थात् 'वाक्योंसे महाकाव्यादिकोंको बनाना' है। [छन्द ९२२७४६२ हैं (केवल मात्रा-प्रस्तारमें); और इससे कुछ अधिक वर्ण-प्रस्तारमें हैं (करु०)।] (सू० प्र० मिश्र)। मं० श्लोक १ में 'वर्णानां' 'अर्थ संघानां' और 'छन्दसाम्' भी देखिये।

(ख) वैजनाथजी लिखते हैं कि वर्णोंमें सत्रह वर्ण (ङ, ज, झ, ट, ठ, ढ, ण, थ, प, फ, व, भ, म, र, ल, व, ष,) अशुभ हैं। ये दग्धाक्षर कहलाते हैं। कवित्तमें इनको देनेसे अशुभ फल प्राप्त होता है, ऐसा रुद्रयामलमें कहा है। पुनः, वर्णमैत्री; जैसे कि कवर्ग, अ और ह कंठसे; चवर्ग, इ, य और श तालुसे; टवर्ग, ऋ, र, ष, मूर्द्धासे; तवर्ग, लृ, ल, स, दन्तसे और पवर्ग और उ ओष्ठसे उच्चारण होते हैं। इनमेंभी ऊर्ध्व-वर्गवर्ण नीचे वर्णसे मित्रता रखते हैं, पर नीचेवाले वर्ण ऊपरवालोंसे नहीं मिलते। इत्यादि विचार 'आखर' शब्दसे जनाया। अर्थ तीन प्रकार का है। वाचक, लक्षक और व्यंजक। वाचक=जो सुनतेही जाना जाय। लक्षक=मुख्य अर्थ छोड़कर जो लक्षित अर्थ कहे। व्यंजक=जो शब्दार्थसे अधिक अर्थ दे। वाचक चार प्रकार का है। जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा। लक्षक दो प्रकारका है। रूढी और लक्षणा प्रयोजनवती। व्यंजकके भेद—अभिधामूल और लक्षणामूल। [फिर इन सबोंकेभी अनेक भेद हैं। काव्यके ग्रंथोंमें मिलेंगे। वैजनाथजीकी टीकामेंभी हैं।]

(ग) श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजीका मत है कि 'आखर' से अक्षरोंके पैदा होनेकी युक्ति, 'अर्थ' से 'अर्थ कैसे शब्दोंमें आए'। 'शब्दब्रह्म शाब्दिक शिक्षादि श्रीभगवान् नारद पाणिन्यादि मतसे माने, जैसे अकार कण्ठसे निकला तद्रूप औरभी ऐसेही अपने स्थानवत् अर्थ कैसे शब्दोंमें आए; श्रीभगवान् गौतम और कणादने जैसे षोडशपदार्थ षट्पदार्थ लिखे।' (रा० प०, रा० प० प०। ठीक समझमें नहीं आया अतः वही शब्द उतार दिये हैं)।

(घ) 'अलंकृति नाना। छंद...' इति। अलंकृति और छन्दके साथ 'नाना...' और आगे 'भाव भेद रसभेद' के साथ 'अपारा' कहा। कारण कि अलङ्कारोंमें, सीमाबद्ध होते हुएभी मतभेद है। अलंकारनिर्णय-कोंमें भरतमुनिके नाट्य शास्त्रसे प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। इन्होंने उपमा, दीपक, रूपक और यमक यही चार अलङ्कार माने हैं। इनके पश्चात् काव्यालङ्कारमें रुद्रटने तिहत्तर, काव्यालंकार सूत्रवृत्तिमें एकतीस, सरस्वती कण्ठाभरणमें भोजराजने शब्दालंकार, अर्थालंकार और उभयालंकारके २४-२४ भेद मानकर बहत्तर, काव्यप्रकाशमें मम्मटने सरसठ, काव्यादर्शमें दण्डीने अड़तीस, वागभट्टने उन्तालीस, चन्द्रालोकमें पीयूषवर्षी जयदेवने एकसौ चार, साहित्यदर्पणमें विश्वनाथने चौरासी, अलंकारशेखरमें केशवमिश्रने बाईस, और कवि-प्रियाके केशवदासने केवल सामान्य और विशिष्ट दो भेद मानकर दोनोंके क्रमशः तैंतालीस और छत्तीस उपभेद मानकर कुल अस्सी भेद माने हैं। उपर्युक्त ग्यारह अलंकाराचार्योंमेंसे दोनों केशव गोस्वामीजीके समकालीन हैं। अबतक लोग एकमत नहीं हैं। अतः गोस्वामीजीने 'नाना' आदि विशेषणोंसे सब मतोंकी रक्षा की। (वे. भू. रा. कु. दा.)

(ङ) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'नागसूत्रमें छ्यानवे करोड़ जाति छन्दोंकी कही हैं और तेंतीस करोड़ प्रबंधके भेद हैं। बत्तीस मात्रा तथा बत्तीस अक्षरके आगे जो मात्रा और अक्षर बढ़ता जाय, उसको दण्डक कहते हैं। प्रबंध इसीका नाम है। पुनः, बहुत छन्दोंको एक जगह करना और बहुत अर्थको थोड़े अक्षरोंमें रक्खे, इसकोभी प्रबंध कहते हैं।'

भावभेद रसभेद अपारा। कबित दोष गुन बिबिध प्रकारा। १०।

अर्थ—भावों और रसोंके अपार (अगणित) भेद, और अनेक प्रकारके दोष और गुण काव्यके होते हैं। १०।

नोट—१ (क) 'भावभेद' इति। रसके दूसरे उल्लम्भित एवं चमत्कृत विकास तथा परिणामको 'भाव' कहते हैं। भाव=मनके तरंग। अमरकोषमें कहा है 'विकारो मानसो भावः। १. ७. २१।' रसके अनुकूल मनमें जो विकार उत्पन्न होते हैं उनको 'भाव' कहते हैं। यथा, 'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन राम हृदय गुनि। १. २३०।' में ध्वनि सुननेसे शृङ्गार रसके अनुकूल विकार उपजा। भाव चार हैं।

भाव

- **विभाव** =भावके कारण। जिसके सहारे मनोविकार वृद्धि-लाभ करते हैं, उस कारण-को विभाव कहते हैं।
  - **आलंबन** =जिसके आधारसे या जिसके प्रति आश्रय या पात्रके हृदयमें विकार उत्पन्न हो। जैसे नायकके लिये नायिका यह रसका अवलम्ब है।
  - **उद्दीपन** =जिससे आलंबनके प्रति स्थित भाव उद्दीप्त या उत्तेजित हो। जैसे चांदनी, निर्जन वन, वसंत ऋतु, मारू बाजे। जिनके देखने सुननेसे रस प्रकट हो।
- **अनुभाव** =मनोविकारकी उत्पत्तिके अनंतर वे गुण और क्रियाएँ जिनसे रसका बोध हो=चित्तके भावको प्रकाश करनेवाली कटाक्ष, रोमांच आदि चेष्टाएँ। अनुभाव चार हैं। सात्त्विक (आठ प्रकारकी है। स्तंभ, स्वेद, रामांच, स्वभंग, वेपथु, वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय)। २ कायिक। ३ मानसिक (=मनकी अवस्था प्रकट करना) ४ अहार्य=रूप बदल कर अभिनय द्वारा भाव प्रदर्शित करना।
- **स्थायी** =वे भाव जो वासनात्मक होते हैं, चित्तमें चिरकाल-तक स्थित रहते हैं। ये विभावादिके योगसे परिपुष्ट होकर रसरूप होते हैं। ये सजातीय या विजातीय भावोंके योगसे नष्ट नहीं होते वरंच उनको अपनेमें लीन कर लेते हैं। ये नौ माने गए हैं। रति, हास, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, विस्मय' और निर्वेद।
- **संचारी** =जो रसको विशेष रूपसे पुष्टकर जलकी तरंगोंकी तरह उनमें संचरण करते हैं। ये रसकी सिद्धि तक नहीं ठहरते। ये तेंतीस माने गए हैं। निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, मद, धृति, आलस्य, मति, विषाद, चिंता, मोह, स्वप्न, विबोध, गर्व, आमर्ष, स्मृति, हर्ष, उत्सुकता, अवहित्थ, दीनता, व्रीड़ा, उग्रता, निद्रा, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, भास, उन्माद, जड़ता, चपलता और वितर्क।

(ख) 'रस भेद' इति। विभाव, अनुभाव और संचारी भावोंकी सहायतासे जब स्थायी भाव

उत्कट अवस्थाको प्राप्त हो मनुष्यके मनमें अनिर्वचनीय आनन्दको उपजाता है तब उसे 'रस' कहते हैं। वे नव हैं; सो यों कि (१) रतिसे शृङ्गार, (२) हाससे हास्य, (३) शोकसे करुण, (४) क्रोधसे रौद्र (५) उत्साहसे वीर, (६) भयसे भयानक, (७) जुगुप्सासे वीभत्स, (८) विस्मयसे अद्भुत और (९) निर्वेदसे शांति रस होते हैं। (वि० टी० से उद्धृत)

नव रसोंका कोष्टक (वि० टी०)

संख्या	रस	स्थायी भाव	आलम्बन विभाव	उद्दीपन विभाव	अनुभाव	संचारी भाव	उदाहरण
१	शृङ्गार	रति	नायक नायिका	सखा, सखी, वन, बाग विहार	मुसकाना, हाव भाव आदि	उन्मादिक	सीतहि पहिराये प्रभु सादर।
२	हास्य	हास	विचित्र आकृति वेश आदि	कूदना, ताली देना आदि	अनोखी रीतिसे हँसना	हर्ष चपलता आदि	वर अनुहार बरात न भाई। हँसी करैहहु पर पुर जाई।
३	करुण	शोक	प्रियका वियोग	प्यारेके गुण श्रवण उसकी वस्तुओंका दर्शन आदि	रोना, विलाप करना, मस्तक आदि ताड़ना, अश्रुपात	मोह, चिंता, जड़ता, अपस्मार आदि	पति सिर देखत मंदोदरी। मूर्छित विकल धरनि खस परी।
४	रौद्र	क्रोध	शत्रु	शत्रुकी वार्त्ता वा उसके वचन आदि	भौंहें चढ़ाना, ओंठ चबाना, दाँत पीसना आदि	गर्व, चपलता मोह आदि	माखे लखन कुटिल भइ भौंहें। रदपुट फरकत नयन रिसौंहें॥
५	वीर	उत्साह	रिपुका विभव	मारूबाजा, सैन्यका कोलाहल	सेना का अनुधावन, हथियारों का उठाना	गर्व असूया	मुनि सेवक दुख दीन दयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा विशाला॥
६	भयानक	भय	भयानक दर्शन	घोर कर्म	कँपना, गात्र संकोच आदि	वैवर्ण्य गद्गद आदि	हाहाकार करत सुर भागे।
७	वीभत्स	जुगुप्सा ग्लानि	रक्त मांस आदि	रक्तमांस कृमि पीव आदि दर्शन	नाक मूँदना, मुख परिवर्तन और थूकना आदि	मोह मूर्च्छा असूया	धरि गाल फारहि उर विदारहिं गल अँतावरि मेलहीं।
८	अद्भुत	विस्मय आश्चर्य	आश्चर्यके पदार्थ, वार्त्ता	अलौकिक गुणोंकी महिमा	रोमांच कम्प गद्गद, वाणीका रुकना	वितर्क मोह निर्वेद	जहँ चितवहिं तहँ प्रभु आसीना। सेवहिं सिद्ध मुनीस प्रवीना॥
९	शांत	निर्वेद [शम]	सत्संगति, गुरुसेवा	पवित्र आश्रम तीर्थ स्थान आदि	रोमांच आदि	मति, धृति हर्षभूत दया	द्वादस अच्छर मंत्र वर जपहिं सहित अनुराग। वासुदेव पद पंकरुह दंपति मन अति लाग॥

२. 'कवित दोष गुन विविध...' इति। (क) उपर्युक्त भावभेद, रसभेद आदि सब कवितामें होते हैं। यदि ये ज्योंकी त्यों रहें तो 'उत्तम काव्य' कहा जाता है और यही काव्यके 'गुण' हैं। यदि इनमेंसे कुछ न रहें तो वही 'दोष' कहलाता है। 'गुण' तीन प्रकारके हैं। (१) माधुर्य—जिसके सुननेसे मन द्रवीभूत हो। यथा, 'नव रसाल वन विहरनसीला। सोह कि कोकिल विपिन करीला। २. ६३। (२) ओज—जिसकी रचनासे मन उत्तेजित हो। प्रत्येक वर्गके दूसरे और चौथे वर्ण, टवर्ग जिसमें हों। यथा, 'कटकटहिं जंबुक·····'। (३) प्रसाद—जहाँ शीघ्र अर्थ जान लें, अक्षर रुचिकर हों। यथा, 'ज्ञानी तापस सूर कवि कोविद गुन आगार। केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहि संसार। ७. ७०।' (ख) 'दोष' इति। पीयूषवर्षी जयदेवजीने अपने 'चन्द्रालोक' में लिखा है कि काव्यके दोष सैंतीस प्रकारके हैं, जिनके अनेक भेद हैं।

सरस्वतीकण्ठाभरणमें लिखा है कि जो काव्य निर्दोष, गुणोंसे युक्त, अलंकारोंसे अलंकृत और रसान्वित होता है ऐसे काव्यसे कवि कीर्ति और आनंदको प्राप्त होता है। यथा, 'निर्दोषं गुणवत्काव्यमलंकारैरलंकृतम्। रसान्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति। १. २।' दोष तीन प्रकारके हैं। पददोष, वाक्यदोष और वाक्यार्थदोष। इन तीनोंके सोलह भेद हैं। इन दोषोंको काव्यमें वर्जित करना चाहिए। यथा, 'दोषाः पदानां वाक्यानां वाक्यार्थानां च षोडश। हेयाः काव्ये कवीन्द्रैर्ये तानेवादावौ प्रचक्ष्महे। १. ३।'

'दोष' इति। १ असाधु (शब्दशास्त्रके विरुद्ध), २ अप्रयुक्त (कवि जिसका प्रयोग नहीं करते), ३ कष्ट (कर्णकटु), ४ अनर्थक (पादपूर्त्तिके लिये तु, हि, च, स्म, ह, वै, आदिका प्रयोग), ५ अन्यार्थक (रूढ़िसे च्युत), ६ अपुष्टार्थ (तुच्छ अर्थवाला), ७ असमर्थ (असंगत), ८ अप्रतीत (एक शास्त्रमेंही प्रसिद्ध) ९ क्लिष्ट, १० गूढ़, ११ नेयार्थ (रूढ़ि और प्रयोजनके विना लक्षणावृत्तिसे बोद्ध्य), १२ संदिग्ध, १३ विपरीत, १४ अप्रयोजक (जिनका प्रयोजन कुछ नहीं हो), १५ देश्य (जो व्युत्पत्तिसे सिद्ध नहीं हैं, केवल व्यवहारमें प्रयुक्त होते हैं), और १६ ग्राम्य (अश्लील, अमंगल और घृणावाले)। ये पदके दोष हैं। यथा, 'असाधु चाप्रयुक्तं च कष्टं चानर्थकं च यत्। अन्यार्थकमपुष्टार्थमसमर्थं तथैव च ॥ ४ ॥ अप्रतीतमर्थक्लिष्टं गूढ़ं नेयार्थमेव च। संदिग्धं च विरुद्धं च प्रोक्तं यच्चाप्रयोजकम्। ५। देश्यं ग्राम्यमिति स्पष्टा दोषाः स्युः पदसंश्रयाः। ६। (परिच्छेद १)

इसी तरह वाक्यदोष ये हैं। १ शब्दहीन (अपशब्दोंका प्रयोग), २ क्रमभ्रष्ट (जिसमें शब्द या अर्थके क्रमका भंग हुआ हो), ३ विसंधि (संधिसे रहित), ४ पुनरुक्तिमत, ५ व्याकीर्ण (विभक्तियोंकी असंगति), ६ वाक्यसंकीर्ण (अन्य वाक्योंसे मिश्रित), ७ अपद (छः प्रकारके जो पद हैं उनका अयुक्त संमिश्रण), ८ वाक्य गर्भित (जिसमें गर्भित आशयभी प्रकट कर दियां जाता है), ९ भिन्न लिंग (जिसमें उपमान और उपमेय भिन्न लिंगके हों), १० भिन्नवचन (उपमान उपमेय भिन्न भिन्न वचनके हों), ११ न्यूनोपम (उपमानमें उपमेयकी अपेक्षा न्यूनता), १२ अधिकोपम (उपमानमें उपमेयकी अपेक्षा अधिकता), १३ भग्नछन्द (छन्दोभंग), १४ भग्नयति (अयुक्त स्थानपर विराम होना), १५ अशरीर (जिसमें क्रिया न हो) और १६ अरीतिमत (रीति विरुद्ध)। यथा, 'शब्दहीनं क्रमभ्रष्टं विसंधि पुनरुक्तिमत्। व्याकीर्णं वाक्यसंकीर्णमपदं वाक्यगर्भितम्।१८। द्वे भिन्नलिंगवचने द्वे च न्यूनाधिकोपमे। भग्नच्छन्दोयती च द्वे अशरीरमरीतिमत्। १९। वाक्यस्यैते महादोषाः षोडशैव प्रकीर्तिताः।' वाक्यार्थ दोष ये हैं। १ अपार्थ (पूरे वाक्यका कोई तात्पर्य न निकलना), २व्यर्थ (जिसका तात्पर्य पूर्व आगया है), ३एकार्थ (जो अर्थ पूर्व आचुका वही फिरसे आना), ४ससंशय (संदिग्ध), ५ अपक्रम (क्रमरहित वर्णन), ६ खिन्न (वर्णनीय विषयके यथोचित निर्वाह करनेमें असमर्थ), ७ अतिमात्र (असंभव बातका कथन), ८ परुष (कठोर), ९ विरस, १० हीनोपम (उपमाकी लघुता), ११ अधिकोपम (बहुत बढ़ी उपमा दे देना), १२ असदृशोपम (जिसमें उपमामें सादृश्य नहीं है), १३अप्रसिद्धोपम, १४ निरलंकार,

१५ अश्लील और १६ विरुद्ध। यथा 'अपार्थं व्यर्थमेकार्थं ससंशयमपक्रमम्‌ खिन्नं चैवातिमात्रं च परुषं विरसं तथा। ४४। हीनोपमं भवेच्चान्यदधिकोपममेवच। असदृशोपम चान्यदप्रसिद्धोपमं तथा। ४५। निरलंकारमश्लीलं विरुद्धमिति षोडश। उक्तावाक्यार्थजा दोषाः""। ४६। (परिच्छेद १)

'गुण' इति। उसी ग्रंथमें कहा है कि अलंकारयुक्त काव्यभी यदि गुणरहित हो तो सुनने योग्य नहीं होता। गुण तीन प्रकारके हैं। बाह्य, अभ्यन्तर और वैशेषिक। शब्दगुणको 'बाह्य', अर्थके आश्रित गुणको 'अभ्यन्तर' और दोष होनेपरभी जो कारणवश गुण मान लिये जाते हैं उनको 'वैशेषिक' कहते हैं। शब्दगुण चौबीस हैं। १ श्लेष, २ प्रसाद, ३ समता, ४ माधुर्य, ५ सुकुमारता, ६ अर्थव्यक्ति, ७ कान्ति, ८ उदारत्व, ६ उदात्तता, १० ओज, ११ और्जित्य, १२ प्रेय, १३ सुशब्दता, १४ समाधि, १५ सौक्ष्म्य, १६ गाम्भीर्य, १७ विस्तर, १८ संक्षेप, १६ संमितत्व, २० भाविक, २१ गति, २२ रीति, २३ उक्ति और २४ प्रौढ़। येही वाक्यके गुण हैं और येही वाक्यार्थके भी गुण हैं। परन्तु वाक्यार्थगुणोंकी व्याख्या भिन्न है। यथा, 'श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता। अर्थव्यक्तिस्तथा कान्तिरुदारत्वमुदात्तता। ६३। ओजस्तथान्यदौर्जित्यंप्रेयानथ सुशब्दता। तद्वत्समाधिः सौक्ष्म्यंच गाम्भीर्यमथविस्तरः। ६४। संक्षेपः संमितत्वंच भाविकत्वं गतिस्तथा। रीतिरुक्तिस्तथा प्रौढ़िरथैषां लक्ष्य लक्षणे। ६५।'

काव्यालंकारसूत्रकर्त्ता श्रीवामनजी दस गुण मानते हैं। यथा, 'ओजः प्रसाद श्लेप समता समाधि माधुर्य सौकुमार्योदारतार्थव्यक्ति कान्तयो वन्ध गुणाः।' (अधिकरण ३, अ. १, सूत्र ४)। भट्टभामह माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनही गुण मानते हैं। उनके पश्चात् मम्मटाचार्यादिने उन्हींका अनुसरण किया है। यथा, 'माधुर्योजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश। ८। ८६।' (काव्यप्रकाश)।

इन सबोंका संग्रह सरस्वतीतीर्थजीने एक श्लोकमें कर दिया है। यथा, 'राजाभोजो गुणानाह विंशतिंचतुरश्चयान्। वामनो दशतान्वाग्मी भट्टश्रीनेव भामहः॥' अर्थात् राजाभोज २४, वामन १० और भामह ३ ही गुण कहते हैं। (पं० रूपनारायणजी)।

कबित बिबेकु एक नहिं मोरें। सत्य कहौं लिखि कागद १ कोरें। ११।

अर्थ—(इनमेंसे) काव्यसंबंधी एकभी ज्ञान मुझे नहीं है (यह) मैं कोरे कागजपर लिखकर सत्य कहता हूँ। ११। ❀

---

१ कागर—१७२ , १७६२, छ०। शंभुनारायण चौबेजी लिखते हैं कि १७०४ मेंभी 'कागर' है। (परन्तु रा. प. में 'कागद' पाठ ही मूलमें है)। कागद—१६६१ में 'कागर' था। 'र' पर हरताल देकर हाशियेपर 'द' बनाया है। यह 'द' उतनाही बड़ा और वैसाही है जैसा 'गादुर' को 'दादुर' बनाते समय बनाया गया है। कोदोरामनेभी यही पाठ दिया है। मा . प्र . और ना . प्र . ने 'कागज' पाठ दिया है। 'कागद' शब्दका प्रयोग प्रान्तिक है, कागजके अर्थमें बोला जाता है। 'कागर' गुजरानकी बोली है। यह शब्द केवल पद्यमें प्रयुक्त हुआ है। कागजके अर्थमें सूरदासजीनेभी इसका प्रयोग किया है। यथा, 'तुम्हरे देश कागर मसि खूटी। भूख प्यास अरु नींद गई सब हरिके विना विरह तन टूटी।'

❀ अर्थान्तर—(२) (श्रीरघुनाथजीको छोड़कर) अन्यकी कविताका विवेक मुझे नहीं है। यहाँ एक=अन्य (रा. प्र.)। (३) श्रीरघुनाथचरित बनाने योग्य विवेक एकभी नहीं है। यथा, कहँ रघुपतिके चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा' (रा. प्र.)। (४) 'कविनविवेक एक नहीं है, अनेक हैं। पर मुझे उनकी वासना नहीं है, केवल रामचरितमें वासना है।' (रा. प्र.) (५) 'सत्य जो श्रीसीतारामजी उनका यश कोरे कागजपर लिखता हूँ। (रा. प्र.) (६) श्रीरामजीके स्वरूपका विवेक

नोट—१ (क) यहाँ गोस्वामीजी अपना कार्पण्य (लघुता, दीनता) दर्शित करते हैं। वे सब गुणोंसे पूर्ण होते हुएभी ऐसा कह रहे हैं। विनम्रताकी इनसे हद है। यह दीनता कार्पण्यशरणागतिका लक्षण है; जैसे श्रीहनुमानजीने शपथ की थी कि 'तापर मैं रघुवीर दोहाई। जानउँ नहिं कछु भजन उपाई। ४. ३।' (ख) 'लिखि कागद कोरे' इति। सफ़ेद काग़ज़पर स्याही लगाना यह एक प्रकारकी शपथ है। ऐसा कहकर कहनेवाला अपने हृदयकी निष्कपटता दर्शित करता है। (वि. टी.)

२ 'कवित विवेक एक नहिं····सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे' इति। यहाँ महानुभावोंने यह शंका उठाकर कि 'यह काव्य तो सर्वाङ्गपूर्ण है। यह शपथ कैसी ?' उसका समाधान अनेक प्रकारसे किया है। (१) यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह'। (तैति, २। ४, ९), 'मन समेत जेहि जान न बानी। तरकि न सकहिं सकल अनुमानी॥ १. ३४१।' मन वाणीसे अगोचरके चरित-वर्णनका दुःसाहस करनेवाला सर्वोत्तम कलावान् और कविपूर्ण सत्यतापूर्वकही यह कहता है कि मुझमें कवित्व या शब्दचित्र खींचनेका रत्तीभरभी विवेक नहीं है। साधारणतया संसारके लिये तो गोसाईंजी अप्रतिम विद्वान हैं यह बात वेणीमाधवजीलिखित मूल गुसाईं-चरितसे पूर्णतया सिद्ध है। परन्तु 'कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा॥', 'महिमा तासु कहइ किमि तुलसी।····मति गति बाल बचन की नाईं····मुनि मति तीर ठाढ़ि अबला सी। गा चह पार जतनु हिय हेरा। पावति नाव न बोहित बेरा॥' इत्यादि जो श्रीभरतजीकी भक्ति और महिमाके सम्बन्धमें सरस्वती एवं वशिष्ठजीकी मतिकी दशा दिखाई गई है, वही अकथनीय दशा हमारे प्रगाढ़ विद्वान् महाकविकी श्रीरामचरितकी अगाधता-पर दृष्टि जातेही होने लगी। मनुष्यकी विद्वत्ताभी कोई विद्वत्ता उसके मुकाबले है 'जाकी सहज स्वास श्रुति चारी'। इसीलिए विषय वा वस्तुका जब अपनी वर्णनाशक्तिसे मुकाबला करता है तब कविको लाचार होकर इस सत्यको शपथपूर्वक स्वीकार करना पड़ता है कि 'कवित विवेक एक नहिं मोरे।'

(२) इस काव्यके अलौकिक गुणोंको देखकर वस्तुतः यही कहना पड़ता है कि यह अमानुषी कविता है। किसी अदृष्ट शक्तिकी सहायतासे लिखी हुई है। 'केनापि देवेन हृदिस्थितेन। यथा नियुक्तोस्मि तथा करोमि'। (पां. गी. ५७)। गोस्वामीजीके सम्बन्धमें और उनकी ओरसे पाण्डवगीताका यह वचन अक्षरशः चरितार्थ है। वे कहते हैं कि मैं केवल लिखभर रहा हूँ।

(३) गुणकी कार्पण्यता दिखाकर कविका भाव अपनी नम्रता व्यंजित करनेका है। यहाँ प्रसिद्ध काव्य ज्ञानका निषेध करना 'प्रतिषेध अलंकार' है। बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि यह दीनता है। दीनतामें लघुता भूषण है, दूषण नहीं। पुनः 'संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी' इससे कवि होगए, नहीं तो 'रामचरितमानस कवि तुलसी' न हो सकते थे। उसके योग्य तुलसी न थे। पुनः, कविताका विवेक तीन प्रकारका है। सत्य, शोभा (वा, सादृश्य) और झूठ। सो इनमेंसे दो तो हैं, एक 'झूठ' नहीं है, यह सत्य कहता हूँ।

(४) पंजाबीजी—'आगे मानसरूपकमें तो कहते हैं कि 'धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती।' तब यहाँ कैसे कहा कि 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' ? उत्तर—यथार्थतः तो यह गोस्वामीजीकी अति नम्रता है। फिरभी उनकी प्रशंसाके निमित्त यह अर्थ कर सकते हैं कि 'मेरी केवल कविताही है, श्रीराम-जीके स्वरूपका विवेक मुझे नहीं है।'

मुझे नहीं है। (पं०)। (७) 'काव्यके नायक श्रीरामजीके गुणगणोंका पूर्ण ज्ञाता होना' कविताका यह एक विवेक मुझे नहीं है और सब हैं। (८) कविताके अंगोंपर मेरी दृष्टि नहीं है। (मा. म.)। (९) एकभी कवित्त विवेक ऐसा नहीं है जो इसमेंसे मोड़े (फेरे या लौटाये) गए हों अर्थात् सभी इसमें हैं। मोरे=मोड़े गए=विमुख। (किसीने ऐसा अर्थ किया है)।

(५) बैजनाथजी—गोस्वामीजी कहते हैं कि काव्यके अंगोंपर मेरी दृष्टि नहीं है, श्रीरामतत्त्वपर मेरी दृष्टि है। यथा, 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा'। यह सत्य कहता हूँ। भाव कि रामतत्त्व दिव्य दृष्टिसे देख पड़ता है और काव्यांग प्राकृत दृष्टिकी बात है। इससे स्वाभाविकही इधर दृष्टि नहीं है।

(६) वे. भू. रा. कु. दास—काव्यसंबंधी चार विवेक प्रधान हैं। (क) नायकके विषयमें पूर्ण जानकारी। (ख) नायक धीरोदात्त, सर्वथा निर्दोष तथा सर्वगुणगणविभूषित हो। (ग) कविता काव्यके सर्व गुणों वा लक्षणोंसे पूर्ण हो। (घ) कवि शक्ति एवं उन सब बातोंसे पूर्ण हो जो कविकेलिये अपेक्षित हैं। नारदकृत 'संगीत मकरंद' में कविके लिये सत्रह गुण आवश्यक कहे गए हैं। यथा, 'शुचिर्दक्षःशान्तःसुजन विनतः सुन्दरतरः, कलावेदी विद्वानतिमृदुपदः काव्यचतुरः। रसज्ञः दैवज्ञः सरसहृदयः सत्कुलभवः शुभाकारश्छन्दो गुणगणविवेकी स च कविः।।' यहाँ 'गुणगण विवेकी' से काव्यके गुणों से तात्पर्य नहीं है क्योंकि काव्यचतुर पहले पादमेंही कहा है। प्रत्युत 'काव्यनायकके गुणगणोंका पूर्ण ज्ञाता' होनेसे तात्पर्य है। गोस्वामीजी यहां दैन्यता नहीं दिखा रहे हैं बल्कि सचसच कह रहे हैं कि कविताका यही एक विवेक मेरे नहीं है। अर्थात् मानसकाव्यनायक श्रीरामजीको मैं पूर्णरूपसे नहीं जानता। काव्यके अन्य तीन विवेक हैं और 'संगीत मकरंद' में कथित अन्य सोलह गुण भी हैं।

(७) पं. रामकुमारजी—गोस्वामीजी यथार्थ कह रहे हैं। वे सत्यही नहीं जानते थे। यदि कवित विवेक होता तो ऐसी कविता न बनती। यह देवप्रसादसे बनी है। प्रमाण यथा, 'जदपि कवित रस एकौ नाहीं। रामप्रताप प्रगट एहि माहीं।। १. १०।' पुनः श्रीरामजी और श्रीशिवाशिवका प्रसाद है। जब लिखने बैठे तब सरस्वतीजीका आदिहीमें स्मरण किया। वे आईं और उनके साथ सब काव्यके अंगभी आगए। 'सुमिरत सारद आवत धाई।...होहिं कबित मुकुता मनि चारू।' रघुनाथजीके प्रसादसे वाणी भूषित हुई। ३६ (१) देखिए।

(८) मा. म., मा. प्र.—भाव यह है कि मुझे मुख्यतर रामयश कहना है, काव्यका विचार गौण है। जहाँ काव्यके विचारवश यशकथनमें बाधा होगी, वहाँ काव्यका विचार न करूँगा। इस ग्रन्थके लिखनेमें कविताके दोष गुणका कुछ भी विचार मेरे हृदयमें नहीं है, चाहे आवें चाहे न आवें, मेरा काव्य तो रामयशसेही भूषित होगा। तब काव्यके अंग कैसे आगए ? इस तरह कि सरस्वतीजीके स्वामी श्रीरामजी हैं अतः जब श्रीरामयश लिखने बैठे तब सरस्वतीजी आगईं और उनके साथ सब अंगभी आगए। (मा. प्र.)।

(९) बैजनाथजी लिखते हैं कि अपने मुँह अपनी बड़ाई करना दूषण है। अपनी बड़ाई करनेवाला लघुत्वको प्राप्त होता है। अतः यहाँ यह चतुरता गोसाईंजीने की कि काव्यके सर्वांग प्रथम गिना आए, फिर अंतमें कह दिया कि हममें एकभी काव्यगुण नहीं हैं। यह वेदप्रामाणिक प्रार्थना है। प्रथम षोड़शोपचार पूजन कर अंतमें अपराधनिवारणार्थ प्रार्थना की जाती है; वैसेही यहाँ जानिये।

दो०—भनिति मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक।
सो बिचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के बिमल बिबेक। ९।

एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा। १।
मंगल भवन अमंगलहारी। उमासहित जेहि जपत पुरारी। २।

अर्थ—मेरी कविता सब गुणोंसे रहित है (पर उसमें) एक गुण है जो जगतभरमें प्रसिद्ध है। उसे विचारकर सुन्दर बुद्धिवाले, जिनके निर्मल विवेक है, इसे सुनेंगे। ९। इसमें अत्यन्त पावन, वेदपुराणोंका सार, मंगलभवन और अमंगलोंका नाश करनेवाला श्रीरघुनाथजीका उदार नाम है जिसे पार्वतीजी सहित श्रीशिवजी जपते हैं। १—२।

नोट—१ (क) 'भनिति मोरि सब गुन रहित' इति। जिस बातकी शपथ की, उसीको फिर पुष्ट कर रहे हैं कि मेरी कविता समस्त काव्यगुणोंसे रहित है। (मा. प्र.)। (ख) 'गुन एक' इति। एक=एक। =प्रधान, अनुपम, अद्वितीय। 'गुण एक' अर्थात् एकही गुण है और सब गुणोंसे रहित है। यह गुण अद्वितीय है, अन्य समस्त गुण इसकी समानताको नहीं पहुँच सकते। (पं. रा. कु.) (ग) 'विश्वविदित' इति। देहलीदीपकन्यायसे यह दोनों ओर लगता है। कविता सर्वगुणरहित है, यह सब संसार जानता है और जो एक गुण है वह भी विश्वविदित है। (रा. प्र.)। पुनः 'संसार जानता है' कहा क्योंकि जगत्‌में जीते जी और मरणकालमेंभी राम राम कहने कहलानेकी प्रथा देखी जाती है, काशीमें इसीसे मुक्ति दी जाती है। (रा. प्र.)। पुनः विश्वविदितं, यथा 'रामनाम भुविख्यातम्'। रा. पू. ता. १।३।'। अर्थात् श्रीरामनाम पृथ्वीपर विख्यात है। पुनः, विश्वविदित इससेभी कि शतकोटि रामायण जब तीनों लोकोंमें बाँटा गया तब श्रीशिवजीने 'राम' इन्हीं दो अक्षरोंको सबका सार समझकर स्वयं ले लिया था।

टिप्पणी—१ 'विश्वविदित...' अर्थात् अद्वितीय है, इसकी समताका कोई नहीं है, इसे सब जानते हैं। श्रीरामनामका प्रताप ऐसा है कि सबगुणरहित कविताको सबसे श्रेष्ठ बनाता है, सो रामनाम कवितागुणसे भिन्न है। विश्वविदित है, इसीसे कवितामभी विश्वविदित गुण आगया और वह विश्व-भरमें विदित हुई।

२ 'सो विचारि...' इति। भाव यह कि इस गुणके विचारने और कथा सुननेमें बड़ी बुद्धि चाहिए और वहभी निर्मल। विमल विवेक हृदयके नेत्र हैं। यथा, 'उघरहिं विमल विलोचन ही के'। जिनको इन आँखोंसे देख पड़े और सुन्दर बुद्धसे समझ पड़े वे सुनेंगे।

३ 'सुमति जिन्हके विमल विवेक' इति। लौकिक गुण समझनेके लिये मति और विवेक आवश्यक हैं और दिव्य गुणोंके समझनेके लिये सुमति और विमल विवेक चाहिएँ। इसीसे 'सु' और 'विमल' पद दिये।

नोट—२ द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'सुमति' होनेपरभी 'विमल विवेक' न होनेसे पण्डित लोगभी षट्‌दर्शनके हेरफेरसे नास्तिक होजाते हैं, सभी बातोंका खण्डन मण्डन करते हैं, वितण्डावादहीमें सब आयु समाप्त कर देते हैं। इसलिये 'विमल विवेक' होनेहीसे 'सुमति' को रामचरितमें प्रीति होती है तब उसे सर्वत्र रामरसहीसे आनन्द होता है।

३ 'सुमति...' से जनाया कि जो कुमति हैं, दुर्बुद्धि हैं, जिनके हृदयके नेत्र फूटे हैं, अर्थात् जो मोहांध हैं, उनको नहीं सूझेगा अतः वे न सुनेंगे। (वै.)। पुनः भाव कि जिनको विमल विवेक है वे कविताके दोषोंपर दृष्टि न देकर उस एक गुणके कारण इसे गुणयुक्त समझेंगे। (रा. प्र.) यहाँ निषेधाक्षेप अलंकार है।

४—'एहि महँ रघुपति नाम उदारा' इति। (क) वह विश्वविदित गुण क्या है, यह इस अर्धालीमें बताया है। इसमें श्रीरामनाम है। मानसमें प्रायः सभी चौपाइयाँ 'रकार मकार' से भूषित हैं। (ख) नाम है तो उससे किसीका क्या? उसपर कहते हैं कि वह नाम 'उदार' है। 'उदार' यथा, 'पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्यपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यवचसा हरेः।' (भगवद्गुणदर्पणे। वै.)। अर्थात् पात्र, अपात्र, देश और कालका कुछभी विचार न करके निःस्वार्थभावसे याचक मात्रको वांछितसेभी अधिक देनेवाला है। महान् दाता। श्रीरामनामकी उदारता ग्रंथमें ठौर ठौर और बालकांड दोहा १८ से २७ तक भली भाँति प्रदर्शित की गई है। यथा, 'राम राम कहि जे जमुहाहीं। तिन्हहिं न पापपुंज समुहाहीं॥...उलटा नाम

जपत जगु जाना । बालमीकि भए ब्रह्म समाना ॥ श्वपच सवर खस जमन जड पाँवर कोल किरात । रामु कहत पावन परम होत भुवन विख्यात ॥ नहिं अचिरिजु जुग जुग चलि आई । केहि न दीन्हि रघुवीर बड़ाई । २. १९४-१९५ ।', 'पाई न गति केहि पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना । गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना ॥ आभीर जमन किरात खस श्वपवादि अति अघरूप जे । कहि नाम वारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते । ७. १३० ।' इत्यादि । पुनः, 'रघुपति नाम उदारा' का भाव यह भी है कि श्रीरघुनाथजीके तो अनन्त नाम हैं, परन्तु श्रीनारदजीने श्रीरामजीसे यह वर मांग लिया है कि 'राम' नाम सब नामोंसे 'उदार' होवे । यथा, 'जद्यपि प्रभु के नाम अनेका । श्रुति कह अधिक एकते एका ॥ राम सकल नामन्ह ते अधिका' । (आ० ४२) । वही रामनाम इसमें हैं । यथा, 'रामनाम जस अंकित जानी ।' (पं० रामकुमार) । औरभी भाव ये हैं—'रघुपति नाम' से केवल 'राम' नहीं, वरन् अनेक अभिप्राय सूचित किए हैं । 'रघु' का बड़ा नाम, रघुकुलका बड़ा नाम और रघुकुलके स्वामी श्रीरामचन्द्रजीका बड़ा नाम, रूप, लीला और धाम इत्यादि इन सबका द्योतक है । यथा, 'मंगन लहहिं न जिन्ह के नाहीं' । 'आयसु दीन्हि न राम उदारा ।' इत्यादि । (वै.) । पुनः, उदार इससेभी कि जो भक्ति, मुक्ति अनेक जन्मोंके योग, तप, व्रत, दान, ज्ञान आदि समस्त साधनोंके करनेपरभी दुर्लभ है वह इस कालकालमें यह नाम दे देता है । (शीलावृत्त) । पुनः पूर्व मं. श्लो. ७ में बताया गया है कि अर्थपंचकमें 'उपाय स्वरूप' भी एक अर्थ है । यहाँ 'उदार' कहकर जनाया कि श्रीरामनाम समस्त उपायोंमें सर्वश्रेष्ठ है और यह नाना पुराणनिगमागम संमत है जैसा आगे कहते हैं । (वे. भू. रा. कु. दा.) । पुनः, ब्राह्मणसे चांडालतकको समान भावसे पालन करने और मुक्त करनेसे 'उदार' कहा । उदारका यही लक्षण है । यथा, 'उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम् ।' (सु. द्विवेदी) ।

टिप्पणी—४ 'अति पावन' का भाव यह है कि—(क) सब नाम पावन हैं, यह अति पावन है । (ख) पावन करनेवालोंको भी पावन करनेवाला है । यथा, 'तीरथ अमित कोटि सम पावन । नाम अखिल अघपूग नसावन' । (उ० ९२) । (ग) सब पवित्रोंसे पवित्र है । यथा, 'कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानाम्' (श्रीहनुमन्नाटक), 'पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानाञ्च मंगलम्' । (विष्णु स. नाम १०) ।

नोट—'पुराणश्रुतिसार' कहा; क्योंकि वेदमें सर्वत्र अग्नि, सूर्य और औषधिनायक चन्द्रहीकी प्रायः महिमा वर्णित है । 'राम' अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका बीज है, इसलिए अवश्य वेद पुराणोंका सार है । यथा, 'अपितु पठितवेदः सर्वशास्त्राङ्गतो वा विधिनियमयुतो वा स्नातको वाहिताग्निः । अपितु सकलतीर्थव्राजको वा परो वा हृदि यदि न हि रामः सर्वमेतद् वृथा स्यात् ॥' अर्थात् वेद पढ़ा हो, उनके अनुकूल कर्म करता हो, यदि उसके हृदयमें रामनामका अनुभव न हुआ तो वे सब व्यर्थ हैं । (सु. द्विवेदीजी) । बाबा हरीदासजी कहते हैं कि 'पुरानश्रुति-सारा' का भाव यह है कि जो पुराण और श्रुति रामनाम रहित है उसको असार जानो । 'सार' का विशेष भाव दोहा १९ (२) 'बेद प्रान सो' में देखिये ।

टिप्पणी—५ 'मंगलभवन अमंगलहारी....' इति । पूर्वार्द्धमें 'मंगलभवन अमंगल हारी' कहकर उत्तरार्द्धमें उसीका उदाहरण 'उमासहित जेहि जपत पुरारी' देनेका भाव यह है कि शिवजी अमंगल वेष धारण किये हुएभी मंगलराशि हैं, सो इसी नामके प्रभावसे । यथा, 'नाम प्रसाद संभु अविनासी । साज अमंगल मंगलरासी । १. २५ ।' अतएव इन्हींका उदाहरण दिया । [पुनः, 'मंगलभवन' कहकर 'अमंगलहारी' इससे कहा कि काल पाकर सब पुण्य क्षीण हो जाते हैं । 'क्षीणे पुण्येमर्त्यलोके विशन्ति' । यह बात यहाँ नहीं है । श्रीरामनाम उस अमंगलको पासभी नहीं आने देते । रामनामका यह प्रभाव जानकर श्रीशिवजी जपते हैं । 'जपत पुरारी' से जनाया कि अमंगलकर्त्ता त्रिपुरका श्रीरामनामजपके बलसेही नाश किया और लोककल्याणहेतु वे इसे जपते रहते हैं । (बाबा हरीदास) ।

६ 'उमासहित जेहि जपत पुरारी' इति। रामनामका जप यज्ञ है। यज्ञ सहधर्मिणी सहित किया जाता है। इस लिए आद्याशक्ति सर्वेश्वरी अर्द्धाङ्गिनी सहित जपते हैं। [पुनः, दोनों मिलकर एक अंग है। यदि केवल शिवजीको लिखते तो आधा शरीर रहता और केवल 'उमा' लिखने तोभी पूरा शरीर न होता। 'तनु अरध भवानी' प्रसिद्ध है। अतः 'उमा सहित' कहा। (सु. द्विवेदी)। इससे अर्धनारी-श्वररूपमेंभी जपना कहा।

नोट—५ इन चौपाइयोंमें श्रीरामनामकी श्रेष्ठता तीन प्रकारसे दिखाई गई। १ 'अति पावन पुरान श्रुति सारा', २ मंगल भवन अमंगलहारी' और ३ 'उमासहित जेहि जपत पुरारी'। पहले बताया कि यह सहजही परमपावन है और पावनोंकोभी पावन करनेवाला है और इसके प्रभावसे विषयी जीवभी पवित्र हो जाते हैं। दूसरेसे मुमुक्षुको मोक्षकी प्राप्ति इसीसे दिखाई और तीसरेसे जनाया कि मुक्त और ईश्वरोंकाभी यह सर्वस्व है। ऐसा 'उदार' यह नाम है। पुनः, अन्तमें 'उमा सहित जेहि जपत' पद देकर सूचित किया कि पूर्वोक्त सब गुणोंको समझकर श्रीशिवपार्वतीजी जपते हैं।

६ श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला, धाम चारों नित्य सच्चिदानंद विग्रह हैं। यथा, 'रामस्य नाम रूपञ्च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानंद विग्रहम्॥' (वशिष्ठसंहिता), इसीसे गोस्वामीजीने चारोंको मंगल, पावन और उदारभी कहा है।

चतुष्टय	मंगल	पावन	उदार
नाम	मंगल भवन अमंगलहारी।	अति पावन पुरानश्रुतिसारा।	एहि महँ रघुपति नाम उदारा।
	उमासहित जेहि जपत पुरारी॥	सुमिरि पवनसुत पावन नामू।	
रूप	मंगलभवन अमंगलहारी।	परसत पद पावन सोक नसावन	ताहि देइ गति राम उदारा।
	द्रवउ सो दसरथ अजिरविंहारी॥	...मैं नारि अपावन प्रभु जग पावन।	सुनहु उदार परम रघुनायक।
लीला	मंगलकरनि कलिमलहरनि	जग पावनि कीरति विसतरिहहिं।	बालचरित पुनि कहहु उदारा।
	तुलसी कथा रघुनाथ की।	जस पावन रावन नाग महा।	मैं आउब देखन चरित उदार।
धाम	सकल सिद्धि प्रद मंगल खानी।	पावन पुरी रुचिर यह देसा।	मंदिर मनि समूह जनु तारा।
	मम धामदा पुरी सुखरासी।	वंदौं अवधपुरी अतिपावनि।	नृपगृह कलस सो इन्दु उदारा।

भनिति बिचित्र सुकबि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ। ३।
बिधुबदनी सब भाँति सँवारी। सोह न बसन बिना बर नारी। ४।

शब्दार्थ—विचित्र=विलक्षण, काव्यके सर्वाङ्गोंसे पूर्ण। कृत=की या बनाई हुई। विधुवदनी=चन्द्रमुखी, बड़ी सुन्दर। सँवारी=शृङ्गार किए हुए, सम्मजिता। बसन=वस्त्र, कपड़ा। बर=सुन्दर, श्रेष्ठ।

अर्थ—अनूठी कविता हो और जो अच्छे कविकी (भी) बनाई (क्यों न) हो, वहभी बिना राम-नामके नहीं सोहती। ३। (जैसे) चन्द्रमुखी श्रेष्ठ स्त्री सब प्रकारसे सजी हुईभी बिना वस्त्रके नहीं सोहती। ४।

नोट—१ सुन्दरकाण्ड दोहा २३ में इसके जोड़की चौपाइयां हैं। यथा, 'राम नाम बिनु गिरा न सोहा। देखु बिचारि त्यागि मद मोहा॥ बसन हीन नहिं सोह सुरारी। सब भूषन भूषित बर नारी।'

टिप्पणी—१ 'बिधु बदनी सब भाँति सँवारी।' इति। 'विधु वदनी' कहकर 'सुकबिकृत' का अर्थ खोला है। वह स्वरूपकी सुन्दर है, उसपरभी 'सब भाँति सँवारी' और 'सब भूषणोंसे भूषित' है, तोभी बिना वस्त्रके अशोभित है। यथा, 'बादि बसन बिनु भूषन भारू'। (२. १७८)।

दोनोंका मिलान

१ विधुवदनी	१ भनिति
२ सब भाँति सँवारी	२ विचित्र (=काव्यगुणयुक्त)
३ सोह न वसन बिना बरनारी।	३ रामनाम बिनु सोह न सोऊ।
४ वसन	४ रामनाम
५ नारी वर अर्थात् अच्छे कुलकी	५ कविता, सुकविकृत

[नोट—'सुकविकृत' और 'बरनारी' से जनाया कि सुकविकी वाणी सर्व काव्यांगोंसे पूर्ण होनेसे अवश्य देखने योग्य होती है, उसी तरह सुन्दर नख-शिखसे बनी-ठनी स्त्री देखने योग्य होती है; तथापि यदि वह कविता रामनामहीन हो और यह स्त्री नंगी हो तो दोनों अशोभित हैं और उनका दर्शन पाप है। असज्जनही उन्हें देखते हैं, सज्जन नहीं ।] 'वर' से सुशीला, मधुरवचनी आदिभी जनाये ।

२ 'सोह न वसन बि०।' इति। अर्थात् जैसे शास्त्रमें नंगी स्त्रीको देखना वर्जित और पाप कहा गया है। यथा कूर्मपुराणे, 'न नग्नां स्त्रियमीक्षेत पुरुषो वा कदाचन'। वैसेही रामनामहीन कविताके देखने कहने सुननेसेभी पाप लगता है। [नोट-यह लख शिक्षात्मकभी है । इस विषयमें 'रामचन्द्रिका' में श्रीहनुमान्जी और रावणका सम्वाद पढ़ने योग्य है।

लंकाधिराज रावणके प्रश्न	श्रीहनुमान्जीके उत्तर
रे कपि कौन तू ?	अक्षको घातक, दूत बली रघुनन्दनजूको
को रघुनन्दन रे ?	त्रिशिराखरदूषणदूषण भूषण भूको
सागर कैसे तर्यो ?	जस गोपद
काज कहा ?	सियचोरहि देखो
कैसे बँधेउ ?	जु सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो]

नोट—२ इन अर्धालियोंमें मिलते हुए श्लोक ये हैं—'न तद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो, जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्। तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा, न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्क्षयाः॥ तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो, यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि। नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः॥ भा. १. ५. १०-११।' अर्थात् जिस वाणीसे, चाहे वह विचित्र पदविन्यासवालीही क्यों न हो, जगत्को पवित्र करनेवाला श्रीहरिका यश किसी अंशमें भी नहीं गाया जाता, उसे काकतीर्थही माना जाता है। उसमें कमनीय धाममें रहनेवाले मनस्वी हंस कभी रमण नहीं करते। १०। इसके विपरीत वह वाक्यविन्यास मनुष्योंके संपूर्ण पापोंका नाश करनेवाला होता है जिसके कि प्रत्येक श्लोकमें, भलेही उसकी रचना शिथिलभी हो, भगवान् अनंतके सुयशसूचक नाम रहते हैं, क्योंकि साधुलोग उन्हींका श्रवण, गान और कीर्तन किया करते हैं। ११। तथा च, न तद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्। तद्ध्वाङ्क्षतीर्थं न तु हंससेवितं यत्राच्युतस्तत्र हि साधवोऽमलाः। ५०। भा. १२. १२।' इसका अर्थ वही है जो उपर्युक्त श्लो. १० का है। पुनश्च 'शरच्चन्द्रवक्त्रा ललत्पद्मनेत्रा स्वलंकारयुक्तापि वासो विमुक्ता। सुरूपा प्रियोपि स्मृतौ शोभमाना हरेर्नामहीना सुवाणी तथैव॥ इति सत्संगविलासे।' अर्थात् शरद्चन्द्रवदनी, शरद्कमलनयनी, उत्तम अलंकारोंसे युक्त और रूपसंपन्न स्त्री जैसे वस्त्रहीन होनेसे नहीं शोभित होती वैसेही भगवन्नामरहित सुन्दरवाणी शोभित नहीं होती।

३. 'सब भाँति सँवारी' अर्थात् वस्त्र छोड़ शेष पन्द्रहो शृङ्गार किये हो। इसके संयोगसे 'विचित्र' का अर्थ हुआ 'काव्यके समस्त गुणों से अलंकृत'। यहाँ 'भणिति विचित्र रामनाम बिनु सोह न' उपमेय वाक्य

है और 'सब भाँति सँवारी विधु बदनी वर नारी वसन बिना सोह न' उपमान वाक्य है। 'सोह न' दोनोंका धर्म है। यह धर्म पृथक् पृथक् शब्दों 'भनिति बिनु रामनाम' 'नारी बसन बिना' द्वारा कहा गया। अतः यहाँ 'प्रतिवस्तूपमा' अलंकार है।

सब गुन रहित कुकबि कृत बानी। राम-नाम-जस अंकित जानी। ५।
सादर कहहिँ सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही। ६।

अर्थ—सब गुणोंसे रहित और फिर बुरे कविकी बनाई (पर रामनामयशअंकित) वाणीको रामनाम और यशकी छाप लगी हुई जानकर। ५। पण्डित (बुद्धिमान्) लोग उसीको आदरपूर्वक कहते और सुनते हैं। (क्योंकि) सन्त मधुकरके समान गुणहीको ग्रहण करनेवाले हैं। ६।

नोट—१ 'रामनाम जस अंकित' का अन्वय दीपदेहरीन्यायसे दोनों ओर लगता है। 'वाणी रामनामयशअंकित' है और 'रामनाम जस अंकित' जानकर सन्त सुनते हैं। 'अंकित' अर्थात् युक्त, भूषित, चिह्नित, मुद्रित, मुहर या छाप पड़ी हुई। यथा, 'नाम नरेस प्रताप प्रबल जग जुग जुग चलत चामको।' (विनय ९९)। २ 'गुन' अर्थात् काव्यके समस्त गुण। सू. प्र. मिश्रके मतानुसार यहाँ केवल ओज, प्रसाद और माधुर्य गुणोंसे तात्पर्य है। इन गुणोंसे अथवा व्यङ्ग्य, ध्वनि, आदिसे रहित कविता।

२ 'रामनामजसअंकित' का भाव यह है कि जैसे राजाका कोई चिह्न या अंक (जैसे वर्तमान राजके रुपये, पैसे, मोहर, कागजीरुपये इत्यादिपर राजाका चेहरा होता है) चाँदी, सोना, काग़ज़, पीतल, ताँबा, गिलट इत्यादि पर होनेसे उसका मान होता है और बिना 'अंक' वाला कितनाही अच्छा हो, उसको उस राज्यमें कोई नहीं ग्रहण करता। ठीक वैसेही 'श्रीरामनामयश' की छाप जिस वाणीपर होती है उसीका संतोंमें आदर होता है। जैसे काग़ज़के नोटका।

टिप्पणी—१ 'सादर कहहिं सुनहिं' इति। सन्त आदरसे कहते सुनते हैं। आशय यह है कि सन्त रामनामयशरहित कविताका आदर नहीं करते और रामनामयशयुक्त कविताका आदर करते हैं। पुनः, यहभी ध्वनि है कि 'बुध' आदर करते हैं, अबुध नहीं (अर्थात् ये निरादर करते हैं)। संतोंको गुणग्राही कहकर असन्तोंको अवगुणग्राही सूचित किया। पूर्वार्धमें 'बुध' और उत्तरार्धमें 'सन्त' शब्द देकर दोनोंको पर्याय शब्द सूचित किया। इस तरह 'बुध'=पंडित, संत, सज्जन। रामनामयशके प्रभावसे कुकविकी वाणीका आदरणीय होना 'प्रथम उल्लास अलंकार' है।

२ 'मधुकर सरिस संत गुनग्राही' इति। 'रामनामयशयुक्त कविताको पुष्पसम कहा। जैसे फूल देखने और ग्रहण करनेके योग्य है, वैसेही रामनामयशयुक्त कविता देखने योग्य है।' भौंरा सुगन्धित फूलोंका रस लेता है, चाहे वे फूल तालाब, नदी, वन, वाटिका और बागमें हों, चाहे मैली जगह हों, चाहे साफ़ सुथरी जगहपर। उसको फूलोंके रंग, रूप या जातिका विचार नहीं। उसे तो गन्ध और रससेही काम है। वैसेही सज्जनोंको श्रीरामनामयशसे काम है जहाँभी मिले, चाहे बुरी कवितामें हो, चाहे भलीमें; चाहे कुकविकृत कवितामें हो, चाहे सुकविकृतमें; चाहे ब्राह्मण कविकी, चाहे रैदास, जुलाहे, चाण्डाल आदिकी हो। काव्यकी विचित्रतापर उनका ध्यान क़दापि नहीं रहता। जैसे भौंरा, काँटा, पत्ती, आदिको छोड़ केवल पुष्परसको ग्रहण करता है वैसेही सज्जन यतिभंग और पुनरुक्ति तथा ग्रामीण भाषापर दृष्टि नहीं डालकर केवल श्रीरामयशरूप रस ग्रहण करते हैं। वृद्ध चाणक्यमेंभी ऐसाही कहा है। यथा, 'षट्पदः पुष्पमध्यस्थं यथासारं समुद्धरेत्। तथा हि सर्वशास्त्रेभ्यः सारं गृह्णाति बुद्धिमान्॥" अर्थात् जैसे भौंरा पुष्पके मध्यसे सार ले लेता है वैसेही बुद्धिमान् सर्वशास्त्रोंमेंसे सार ले लेते हैं। यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है।

नोट—३ मानस पत्रिकामें 'मधुकर' का एक अर्थ 'मधुमक्खी' भी किया है। मधुमक्खी मलमेंसेभी

शहदही निकाल लेती है। वैसेही सन्त बुरे पदार्थोंमेंभी मधु सदृश श्रीरामयशको ही ढूँढ़कर लेते हैं। (४) यहाँतक 'गुण एक' अर्थात् श्रीरामनामका महत्व कहा। 'सब गुन रहित', 'गुन एक', 'सो विचारि सुनिहहिं सुजन' उपक्रम हैं और 'सब गुन रहित' 'संत गुनग्राही' उपसंहार हैं। श्री'राम'नाम षट्कला संपन्न है। दोहा १६ (२) देखिये। अतः छः अर्धालियोंमें महत्व कहा गया।

४ पूर्व कविताको 'विचित्र' और काव्यकरनेवालेको 'सुकवि' कहा था। अर्थात् कार्य और कारण दोनोंको सुन्दर कहा। और यहाँ कविताको 'गुणरहित' और उसके कर्ताको 'कुकवि' कहते हैं। अर्थात् कार्य और कारण दोनोंको बुरा कहा। पहलेमें कार्यकारणके सुन्दर होते हुएभी कविताको अशोभित बताया। यथा, 'रामनाम हीन तुलसी न काहू कामको'। और दूसरीको कार्यकारण बुरे होनेपरभी सुशोभित दिखाया। इसकी शोभा रामनामयशसे हुई।

जदपि कबित रस एकौ नाहीं। राम प्रताप प्रगट एहि माहीं। ७।
सोइ भरोस मोरे मन आवा। केहि न सुसंग बड़प्पनु पावा। ८।
धूमौ तजै सहज करुआई। अगरु प्रसंग सुगंध बसाई। ९।
भनिति भदेस बस्तु भलि बरनी। राम कथा जग मंगल करनी। १०।

शब्दार्थ—जदपि=यद्यपि। बड़प्पन=बड़ाई, गौरव। करुआई=कड़ुवापन। अगर=एक सुगन्धित लकड़ीका नाम है। प्रसंग = साथ। बसाई=बसाकर, वास देता है। भदेस=ग्राम्य, गँवारी, भद्दी।

अर्थ—यद्यपि इस (मेरी कविता) में काव्यरस एकभी नहीं है, तथापि इसमें श्रीरामजीका प्रताप प्रत्यक्ष है। ७। यही भरोसा मेरे मनमें आया है कि भलेके संगसे किसने बड़ाई नहीं पाई? अर्थात् सभीने पाई है। ८। धुआँ भी अगरके संगसे सुगन्धसे सुवासित होकर अपना स्वाभाविक कड़ुवापन छोड़ देता है। ९। ❀ वाणी तो भदेसी है, पर इसमें जगत्‌का कल्याण करनेवाली रामकथा अच्छी वस्तु वर्णन की गई है। १०।

नोट—१ 'जदपि कबित रस एकौ···' इति। (क) साहित्यदर्पणमें काव्यपुरुषके अंग इस प्रकार बताए गए हैं। 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्च आत्मा, गुणाः शौर्यादिवत्। दोषाः काणत्वादिवत्। रीतयोऽवयव संस्थान विशेषवत्। अलंकाराः कटककुण्डलादिवत्। इति।' (सा. द. परिच्छेद १) अर्थात् काव्यके शब्द स्थूल शरीर, अर्थ सूक्ष्मशरीर, रसादि आत्मा, गुण शौर्य आदिवत्, दोष काना लूला लंगड़ा, अंगहीनवत्, रीति सुडौल अंगवत् और अलंकार भूषण हैं। रसात्मक वाक्यकोही काव्य कहते हैं। 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' 'दोषाः तस्यापकर्षकाः उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालंकार रीतयाः।' (साहित्य दर्पण १। ३।)। दोष उसकी हानि करनेवाले हैं और गुण, अलंकार ही उसका गुण करनेवाले हैं। उपर्युक्त उद्धरणोंसे सिद्ध हुआ कि काव्यका आत्मा 'रस' है। यदि 'रस' न रहे तो गुण अलंकार आदि व्यर्थ हैं। इसी विचारसे गोस्वामीजीने यहाँ आत्मा (रस) काही ग्रहण किया है अर्थात् यह कहा है कि इसमें 'रस' नहीं, इस लिये शब्दादि सब मृतक सरीखे हैं। (पं. रूपनारायणजी)।

(ख) वैजनाथजीका मत है कि 'माधुर्यादि गुण, उपनागरिका आदि वृत्ति, लाटा जमक आदि शब्द, लक्षकादि अर्थ, शृङ्गारादि नवों रस, उपमादि अलंकार इत्यादि कवितके ' रस ' हैं। यथा, 'उपमा कालिदासस्य···'। (वै०)।

❀ वा यों अर्थ करें कि धुआँ अगर के संगसे अपना स्वाभाविक कड़वापन छोड़ देता है और सुगन्धसे वासित हो जाता है।

(ग) यहाँ तक श्रीरामनाम (तथा श्रीरामनामद्वारा कविता) की शोभा कही, अब श्रीरामप्रताप (तथा उसके द्वारा कविता) की शोभा कहते हैं। 'राम प्रताप प्रगट एहि माहीं' अर्थात् इसमें प्रताप प्रकट है और अन्य कविताओंमें प्रकट नहीं है, किंतु गुप्त है। इसमें श्रीरामप्रतापका वर्णन है, अतः श्रीरामप्रतापसे कविताने भी बड़ाई पाई। (पं. रामकुमारजी)।

(घ) बाबा हरिहरप्रसादजी और सू० मिश्रजी लिखते हैं कि रामप्रतापका अर्थ 'दुष्टनिग्रह और अनुग्रह' दोनों हैं। दुष्टनिग्रह ऐसे हैं कि इसके पढ़नेसे दुष्ट लोग दुष्टता छोड़ देंगे। अनुग्रह इस तौरपर है कि कविने रामनामका माहात्म्य दुष्टोंको भी सरल करके दिखलाया क्योंकि दुष्ट तो उसके अधिकारी नहीं होते। पलाशका पत्ताभी पानके साथ राजाके हाथमें जाता है।

(ङ) 'प्रताप' का अर्थ बैजनाथजी यह लिखते हैं—'कीर्ति स्तुति दान ते भुजबल ते यश थाप। कीरति यश सुनि सब डरें कहिये ताहि प्रताप।'

(च) 'रामप्रताप प्रगट एहि माहीं' इति। यथा 'जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे। १. २९२।', 'सींक धनुष सायक संधाना' से 'अतुलित बल अतुलित प्रभुताई' तक (आ० १-२), 'बान प्रताप जान मारीचा' (६. ३५ से ३७ तक), 'श्रीरघुवीर प्रताप ते सिंधु तरे पाषान' (लं०३), 'समुझि राम प्रताप कपि कोपा। सभा माँझ पन करि पद रोपा' (लं० ३३) से 'तासु दूत पन कहु किमि टरई' (लं० ३४) तक, 'जब तें राम प्रताप खगेसा। उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा' (उ० ३० से ३१ तक) इत्यादि। यह तो हुआ 'एहि माहीं' अर्थात् ग्रंथमें रामप्रतापका प्रगट कथन। उसके संगसे ग्रंथमेंभी सर्वफलप्रदत्वप्रताप आगया। यहभी इसी ग्रंथमें प्रकट किया गया है। यथा 'जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी। १. १५।', 'मन कामना सिद्धि नर पावा। जे यह कथा कपट तजि गावा। ७. १२९।' 'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं। ७. १३०'। इत्यादि। श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम सभीका प्रताप इसमें वर्णित है, जिससे 'लोक लाहु परलोक निबाहू' होगा।

टिप्पणी—१ 'सोइ भरोस मोरे मन आवा।...' इति। 'सोइ' अर्थात् उसी श्रीरामप्रतापका। इस चौपाईमें धूम और अगरका उदाहरण दिया है। अगर रामयश है, धुआँ कविता है। धुएँमें कोई गुण नहीं है। परंतु अगरके प्रसंगसे यह देवताओंके ग्रहण करनेयोग्य हो जाता है। यह भलाई धुएँको मिली। इसी प्रकार कविता गुणरहित है पर श्रीरघुनाथजीके प्रतापसे यह कविता निकली है और श्रीरामप्रतापही इसमें वर्णित है जैसे अगरसे धुआँ निकला और अगर धुएँ में है। इसलिये यह कविताभी संतोंके ग्रहण करने योग्य है। रामप्रतापसे इसे यह बड़ाई मिली। यहाँ 'तद्गुण अलंकार' है। 'केहि न सुसंग....' से सम्बंध लेनेसे 'विकस्वर अलंकार' भी यहाँ है।

नोट—२ 'अगरु प्रसंग' तक प्रतापका वर्णन किया गया, 'भनिति भदेस' से 'जो सरित पावन पाथ की' तक कथाके गुण और तत्पश्चात् रामयशके गुण 'प्रभु सुजस संगति०' से 'गिरा ग्राम्य सियराम जस' तक कहे गये हैं।

छं०—मंगलकरनि कलिमलहरनि, तुलसी कथा रघुनाथ की।
गति कूर कविता सरित की, ज्यों सरित पावन पाथ की। १०। (क)

अर्थ—तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीकी कथा मंगल करनेवाली और कलिके

दोषोंको हरनेवाली है। (मेरी) कविता (रूपिणी) नदीकी चाल टेढ़ी है जैसी पवित्र जलवाली नदीकी होती है। १०। (क)।

नोट—१ यहाँ प्रथम 'सरित' शब्द कविताके साथ संयुक्त कविताका रूपक है, अतः वह स्वतंत्र और वास्तविक 'सरित' पद नहीं रहा। दूसरा स्वतंत्र है।

२ 'सरित पावन पाथ की' इति। पाथ=जल। सरित=नदी। पवित्र जलकी नदी। यहाँ नदीका नाम न लेकर 'सरित पावन पाथ की' पद देकर सरयू, गंगा, मन्दाकिनी, यमुना, नर्मदा आदि सभी पवित्र नदियोंको सूचित किया है। रामकथा पवित्र नदियोंके तुल्य है। ☞ पूज्य कवि प्रायः पुण्यकथा या कविताकी उपमा पावन नदियोंसे देते हैं। यथा, 'चली सुभग कविता सरिता सो ·· सरजू नाम सुमंगल मूला' (३९), 'पावन गंगतरंग माल से' (३२), 'पूँछेहु रघुवर कथा प्रसंगा। सकल लोग जग पावनि गंगा' (११२), 'रामकथा मंदाकिनी' (१.३१), 'जमगन मुँह मसि जग जमुना सी' (१.३१), 'सिव प्रिय मेकलसैल सुता सी' (१.३१)। वाणीका स्थूल स्वरूप माना गया है। प्रसिद्ध सरस्वती नदी इसका उदाहरण है। तीव्र प्रवचनकी उपमा धाराप्रवाहसे देतेही हैं। अतः आवश्यकता-नुसार जहाँ तहाँ पुण्यतोया नदियोंकी उपमा देना सार्थक है।

'सरित पावन पाथ की' और 'कविता सरित' का मिलन।

नदी प्रवाहरूपा।	१ कथा प्रवाहरूपा, अतः इसे सरयू गंगादि कहा।
पवित्र जल की नदी टेढ़ी।	२ कविताकी गति कूर (भदेस) है।
इसमें पावन जल वस्तु है।	३ इसमें अति पावन रामकथा वस्तु है।
पावन जलके संबंधसे नदी पापोंका नाश करके मोक्ष देती है।	४ कथाके संबंधसे कविता कलिमलहरणी और मंगलकारिणी होगी।
जलके आगे नदीका टेढ़ापन कोई नहीं देखता।	५ रामकथाके आगे कविताके भद्देपनपर कोई दृष्टि न डालेगा।

☞ मिलान कीजिये, 'वासुदेव कथा प्रश्नः पुरुषां स्त्रीन् पुनाति हि। वक्तारं पृच्छकं श्रोतृन् तत्पाद सलिलं यथा।' (भा. १०. १.१६)। अर्थात् जैसे भगवान्‌का चरणोदक (गंगा) सबका पवित्र करता है वैसेही भगवान्‌की कथाका प्रश्नभी तीनों प्रकारके स्त्रीपुरुषोंको पवित्र करता है। अर्थात् वक्ता, श्रोता और प्रश्न कर्ताको पावन करता है।

३ (क) मुं० रोशनलाल—कविता-नदीकी गति टेढ़ी है जैसे पावन जलवाली गंगाकी गति है। क्योंकि यह कथा अयोध्यासे प्रारंभ होकर मिथिला गई, फिर अयोध्या आई, वहाँसे फिर चित्रकूट, फिर केकय देश, फिर अयोध्या, फिर चित्रकूट इत्यादिसे लंका और वहाँसे पुनः अयोध्या लौटी। इतनी टेढ़ाई गंगाजीमेंभी नहीं है।

(ख) सू० मिश्र—कूरका अर्थ कुटिल है। कुटिल कहनेका भाव यह है कि नदियाँ सदा टेढ़ीही चलती हैं। 'नद्यः कुटिल गामित्वात्'। अतः कविताभी टेढ़ी होनी चाहिए। कविता-पक्षमें टेढ़का अर्थ गम्भीराशय है, विना इसके कविताकी शोभा नहीं। जैसे नदी पथिकके स्नान करने, जल पीने और उसके संयोगकी वायुके स्पर्शसे श्रम, पाप, आदि हरती है उसी तरह मेरी कविताभी पथिक भक्तको पढ़ने सुननेसे पवित्र करेगी। पंजाबीजी और रा. प्र. का मत है कि कविता पक्षमें 'दूषण' ही क्रूरता है। (पं., रा. प्र.)।

(ग) द्विवेदीजी—रामका माहात्म्य होनेसे यह कथा मंगल करनेवाली और कलिमल हरनेवाली है,

यह पिछली चौपाईकी व्याख्यासे स्पष्ट है। ग्रन्थकारका अभिप्राय है कि यद्यपि मेरी कविताकी गति टेढ़ी है तथापि यह बड़े उच्चस्थान कैलाशसे महादेवके अनुग्रहसे निकली है जैसे कि गंगा आदि नदियाँ जिनमें ब्रह्म-द्रवरूप पवित्र जल भरा है, उसी प्रकार इसमेंभी साक्षात् ब्रह्मरूप रघुनाथकथामृत भरा है।

४ इस छन्दका नाम 'हरिगीतिका' है। इसके प्रत्येक चरणमें १६,१२ के विरामसे २८ मात्राएँ होती हैं, अन्तमें लघु गुरु होता है। यदि पाँचवीं, बारहवीं और उन्नीसवीं मात्राएँ लघु हों तो धाराप्रवाह सुन्दर रहता है।

५ श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि यदि कोई कहे कि श्रीरघुनाथजीकी कथा मंगलकारी तो है परन्तु जब सुन्दरकाव्यमें हो, न कि कुकाव्यमें। इसके उत्तरमें चार दृष्टान्त देते हैं। पहले दृष्टान्तसे यह पुष्ट किया कि पावनके संगसे टेढ़ाभी पावन हो जाता है। अतः कुकाव्य रामयशके संगसे सत्काव्य हो जायगा। यहाँ दृष्टान्तमें एक देश टेढ़ेसीधेका मिला। दूसरे दृष्टान्त 'भव अंग भूति मसान की' में सुहावन असुहावन, पावन अपावन ये दो देश मिले, तीसरेमें उत्तम मध्यमका देश मिला और चौथेमें गुणद अगुणदका देश मिलनेपर पाँच अंग जो चाहते थे पूर्ण होगये। (मा० प्र०)।

छं०—प्रभु सुजस संगति भनिति भलि होइहि सुजन मन भावनी।
भव अंग भूति मसान की सुमिरत सुहावनि पावनी। १०। (ख)

अर्थ—श्रीरामजीके सुन्दर यशके संगसे मेरी कविता भली होजायगी और सज्जनोंके मनको भायेगी। जैसे भव (=शिवजी) के अंगमें श्मशानकी (अपवित्र) विभूतिभी (लगनेसे) स्मरण करतेही सुहावनी और पवित्र करनेवाली होती है। १० (ख)।❀

नोट—भाव यह है कि मेरी कविता मसानकी राखकी तरह अपवित्र है, श्रीरामयशरूपी शिवअंगका संग पाकर भली जान पड़ेगी और सबके मनको भायेगी।

'सुमिरत' पद देकर सूचित किया कि इसका पाठ, इसकी चौपाइयोंका स्मरण सिद्धिका दाता है।

टिप्पणी—१ यहाँ सुयशको भव-अंगकी और भणितिको श्मशानके भस्मकी उपमा दी। 'सुजन मन भावनी' और 'भलि होइहि' दो बातें कहीं, उसीकी जोड़में 'सुहावनी' और 'पावनी' दो बातें कहीं। 'सुमिरत' के जोड़का पद 'कहत सुनत' लुप्त है, उसे ऊपरसे लगा लेना चाहिये।

२ 'परमेश्वरके एक गुणसे युक्त हो तोभी कविता शोभित होती है, और मेरी कविता तो अनेक गुणोंसे युक्त है। (१) रामभक्तिसे भूषित है। यथा, 'रामभगति भूषित जिय जानी', (२) रामनामसे युक्त है। यथा, 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा', (३) रामप्रतापसे युक्त है। यथा, 'रामप्रताप प्रगट एहि माहीं।', (४) रामकथासे युक्त है। यथा, 'भनिति भदेस वस्तु भलि बरनी। रामकथा जग मंगल करनी॥', (५) रामयशसे युक्त है। यथा, 'प्रभुसुजस संगति भनिति भलि'।

३ कविता देखने लायक नहीं है, इससे कविताका कहना सुनना नहीं लिखा।

४ 'भलि होइहि' अर्थात् अच्छी होगी और 'सुजन मन भावनी' अर्थात् दूसरेकोभी अच्छी लगेगी। इन्हीं दोनों बातोंको उपमामें कहते हैं। 'पावनी' आप होती है और 'सुहावनी' दूसरोंको होती है।

❀ मानस-पत्रिकामें इसका अर्थ यह दिया है—"(क्योंकि) महादेवके देहकी श्मशानकीभी राखको लोग स्मरण करते हैं और वह शोभायमान और पवित्र कही जाती है।"

५ 'प्रभु सुजस...' उपमेय वाक्य है। 'भव अंग...' उपमान वाक्य है। वाचक पदके विना विंवप्रतिबिंबका भाव झलकना 'दृष्टांत अलंकार' है।

६ [मिलानका श्लोक, यथा, 'तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्। तदेव शोकार्णव शोषणं नृणां यदुत्तमश्लोक यशोऽनुगीयते ॥ (भा. १२. १२. ४९)]

दो०—प्रिय लागिहि अति सबहि मम, भनिति राम जस संग।
दारु बिचारु कि करइ कोउ, बंदिअ मलय प्रसंग। १०। (क)

शब्दार्थ—दारु=काष्ठ, लकड़ी। विचार=ध्यान, ख्याल।

अर्थ—श्रीरामयशके संगसे मेरी कविता सभीको अत्यन्त प्रिय लगेगी, जैसे मलयागिरिके प्रसंगसे सभी काष्ठ वन्दनीय हो जाते हैं, फिर क्या कोई लकड़ीका विचार करता है?। १० (ग)।

नोट—१ मलयागिरिपर नीम, वबूल इत्यादिभी जो वृक्ष हैं उनमेंभी मलयागिरिके असली चन्दनके वृक्षकी सुगन्ध वायुद्वारा लगनेसेही चन्दनकीसी सुगन्ध आ जाती है। उन वृक्षोंका आकारभी ज्योंका त्यों बना रहता है और वे चन्दनके शुभ गुणसे विभूषितभी हो जाते हैं। लोग इन वृक्षोंकी लकड़ीको चन्दन मानकर माथेपर लगाते हैं, और देवपूजनके काममें लाते हैं। कोई सुगन्धके सामने फिर यह नहीं सोचता कि यह तो नीम या कङ्कोल आदिकी लकड़ी है। भर्तृहरि नीतिशतक श्लोक ८० में जैसा कहा है कि 'किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणावा, यत्रास्थिताश्च तरवस्तरवस्त एव। मन्या महे मलयमेव यदाश्रयेण, कंकोल निम्ब कुटजा अपि चन्दनाः स्युः॥' गोस्वामीजी कहते हैं कि इसी तरह मेरी कविताकी भाषा नीम, वबूल आदिके समान है। रामयश मलयगिरि है। उसका संग पाकर मेरी कविताका भी चन्दनके सदृश आदर होगा। 'चन्दनं वंदते नित्यं।'

दो०—स्याम सुरभि पय बिसद अति, गुनद करहिं सब पान।
गिरा ग्राम्य सिय-राम-जस, गावहिं सुनहिं सुजान। १०। (ख)

अर्थ—काली गऊका दूध बहुत उज्ज्वल और गुणकारी है (इसलिये) सब पीते हैं। इसी तरह गँवारू भाषामें श्रीसीतारामजीका (सुन्दर) यश होनेपरभी सुजान लोग उसे गाते और सुनते हैं तथा गावें और सुनेंगे। १०। (घ)

नोट—१ '........सियरामजस' इति। यशका रंग श्वेत है। उसमेंभी श्रीसीतारामजीका यश परमोज्ज्वल और अतिशय विशद है। अतः उसके लिये विज्ञ कविने चारों दृष्टान्त उज्ज्वल स्वच्छ वस्तुओंकेही दिये। यथा, गंगाजल, शिवजीका शरीर, मलयाचल और दूध।

टिप्पणी—१ (क) सज्जनके ग्रहण करने में 'रामनाम-अंकित' कहा। (ख) वड़ाई पानेमें रामप्रताप कहा। (ग) दूसरेके मंगल करनेमें और कलिमल हरनेमें सरयूगंगादिके समान कहा। (घ) अपना स्वरूप अच्छा होनेमें और पवित्र होनेमें 'भव अंग' पर लगी हुई मसानकी विभूति सम कहा। (ङ) सबको प्रिय लगनेमें मलय दारु सम कहा। (च) ग्राम्यभाषाका सबके ग्रहण करनेमें श्याम गऊके दूधका दृष्टान्त दिया।

२ दूधकी उपमा रामयशकी है। रामयश 'अति विशद' है; इसलिये दूधको 'अति विशद' कहा।

---

१ ग्राम्य—१७२१, १७६२, १७०४, छ०, १६६१ (ग्राम्य के 'ये' पर हरताल लगाया गया है)।
पाठान्तर—ग्राम

सब गायोंके दूधसे काली गऊका दूध अधिक उज्ज्वल और गुणद होता है। बलको बढ़ाता है, वातका नाशक है। 'गवां गोपु कृष्ण गौर्बहुक्षीरा', 'कृष्णाया गोर्भवं दुग्धं वातहारि गुणाधिकम्' इति वैद्यकरहस्ये। [सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि कपिलाका दुग्ध कफ, पित्त और वातवर्धक होता है, इसीलिए इसके रखनेका ब्राह्मण छोड़ और किसीको अधिकार नहीं है। 'त्रीन् हन्ति कपिलापयः'। मिलान कीजिये—'वेदाक्षर विचारेण ब्राह्मणी गमनेनच। कपिला क्षीरपानेन शूद्रो याति विनाशताम्॥' 'श्याम' से यह भी सूचित किया कि कपिला गऊका दूध और सेवनका अधिकार सबको नहीं हैं, दूध सभीका उज्ज्वल है। (रा० प०)। इसी तरह सब भाषाओंमें अर्थ एकही होता है, परन्तु देशी भाषामें अधिक गुण यह है कि थोड़ेही परिश्रमसे यह भाषा पढ़ने, लिखने, समझनेमें आ जाती है और सबको इसके पाठका अधिकार है। एवम् इस मेरी गँवारी भाषासे उत्पन्न अत्यन्त अमृतरूप उज्ज्वल दुग्ध सदृश रामकथाको सब कोई पान करसकता है; पर कपिलासदृश संस्कृत भाषा केवल ब्राह्मणोंहीके यहाँ रहती है; उससे उत्पन्न रामकथामृत और लोगोंको दुर्लभ और स्पष्ट है]

नोट—२ चार दृष्टान्त देनेका भाव—(क) गोस्वामीजी जो रूपक 'राम सुजस संगति' का बाँधना चाहते थे उसके सम्पूर्ण अंग किसी एक वस्तुमें न मिले तब एकएक करके दृष्टान्त देते गए। चौथे दृष्टान्त-पर रूपक पूरा हुआ, तब समाप्ति की। (ख) श्रीरामयशके संगसे मेरी कविता मंगलकारिणी, कलिमलहारिणी, भली और सुजन मनोहारिणी सुन्दर और पवित्र, आदरणीय और अत्यन्त विशद हो जायेगी। (ग) बाबाजानकीदासजी लिखते हैं कि प्रथम पावनी नदियोंकी उपमा देकर दिखाया कि नदीकी टेढ़ी चाल होनपरभी जल पावन ही बना रहता है और अपना गुण नहीं छोड़ता, इसी तरह मेरी कविता भद्दी है पर उसमें रामकथा है यह मंगल करेगीही और पाप हरेहीगी। दूसरे दृष्टान्तसे अपावन वस्तुका शिवअंगसंगसे पावन और सुहावन होना मिला। तीसरेमें मलयगिरिके संबन्धसे नीमादिककाभी चन्दन सम वंदनीय होना अंग मिला। चौथेसे यह अंग मिला कि काली है पर दूध इसका विशेष उज्ज्वल और गुणद है; इससे सब पान करते हैं (मा० प्र०)।

३ गऊके दृष्टांतपर रूपक समाप्त करनेका भाव यह है कि गऊ देशदेश विचरती है और कामधेनु चारो फलकी देनेवाली है। उसका दूध, दही, घृत, मूत्र और गोबरका रस पंचगव्यमें पड़ता है जो कल्याणकारी है। वैसेही यह कविता देश देशान्तरमें प्रसिद्ध होगी, पूजनीया होगी और चारों फलोंकी देनेवाली होगी। यथा, 'रामकथा कलि कामद गाई', 'रामचरन रति जो चहइ अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान', 'रघुबंसभूषनचरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं। उ० १३०।

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी। १।

शब्दार्थ—मणि=बहुमूल्य रत्न जैसे हीरा, पन्ना आदि। माणिक्य=लाल। माणिक्य के तीन भेद हैं। पद्मराग, कुरुविंदु और सौगंधिक। कमलके रंगका पद्मराग, टेसूके रंगका लाल कुरुविंद और गाढ़ रक्तवर्णसा सौगंधिक। हीरेको छोड़ यह और सबसे कड़ा होता है। मुकुता (मुक्ता)=मोती। मोतीकी उत्पत्तिके स्थान गज, घन, वराह, शंख, मत्स्य, सीप, सर्प, बाँस और शेष हैं पर यह विशेषतः सीपमें होती है औरोंमें कहीं कहीं। यथा, 'करीन्द्र जीमूत वराह शंख मत्स्याहि शुक्त्युद्भव वेणुजानि। मुक्ताफलानि प्रथितानि लोकेतेषां तु शुक्त्युद्भवमेव भूरि॥" (मल्लिनाथ सूरि)।

अर्थ—मणि, माणिक्य और मुक्ताकी छबि जैसी है, वैसी सर्प, पर्वत और हाथीके मस्तकमें शोभित

नहीं होतीं। (अर्थात् उनसे पृथक्ही होनेपर इनका वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है और ये सुशोभित होते हैं।)।

टिप्पणी—१ (क) 'ऊपर दसवें दोहेतक अपनी कवितामें गुण दोष दिखाए कि ये गुण समझकर सज्जन ग्रहण करेंगे। जो कहो कि 'कोई न ग्रहण करे तो क्या हानि है, तुम तो गातेही हो ?' उसपर यह चौपाई कही। (ख) मणि, माणिक्य, मुक्ता क्रमसे उत्तम, मध्यम, निकृष्ट हैं, इसी तरह कविताभी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकारकी है। अर्थात् ध्वनि, व्यंग और जो इन दोनोंमें न आवे। (ग) यथासंख्य अलंकारसे मणि सर्पमें, माणिक्य गिरिमें और मुक्ता गजके मस्तकपर होना सूचित किया।'

नृप किरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई। २।

अर्थ—(येही) सब राजाके मुकुट (वा, राजा, राजाका मुकुट) और नवयौवना स्त्रीके शरीरको पाकरही (संबंधसे) अधिक शोभाको प्राप्त होते हैं। २।

नोट—१ कुछ लोग यह शङ्का करते हैं कि 'कविने मणि, माणिक्य और मुक्ता ये तीन रत्न कहे और उनके तीन उत्पत्तिस्थान बताए। इसी तरह उनके सुशोभित होनेके तीन स्थलोंकाभी वर्णन करना चाहिये था। गोस्वामीजीने 'नृपकिरीट' और 'तरुणीतन' ये दो ही क्यों कहे ?' परन्तु यह व्यर्थकी शङ्का है। उन तीन रत्नोंके वर्णन करनेसे यह जरूरी नहीं है कि उनकी शोभाके तीनही ठौरभी बताए जायँ। भूषणों और अंगोंमें उनकी शोभा होती है सो कहा। दोनों दो बातें हैं। फिरभी इस शंकाके समाधानके लिये 'नृप किरीट' का अर्थ राजा और राजाका मुकुट कर सकते हैं। मणिकी शोभा राजाके गलेमें, माणिक्यकी किरीटमें (नग जड़नेपर) और गजमुक्ताकी स्त्रीके गलेमें। इस प्रकार शोभाके तीन स्थान हुए।

२ (क) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि नृप (=नरोंका पालनकर्ता) को प्रजापालनमें मणि काम देती है। 'हरइ गरल दुख दारिद दहई'। पातालमें सूर्यका काम मणिसे लेते हैं। (ख) नंगे परमहंसजी लिखते हैं कि यहाँ काव्यकी समता मणि, माणिक्य, मुक्तासे दी है। सो यहाँ कवितामें जो भक्तिका वर्णन है वही मणि है। यथा, 'रामभगति मनि उर बस जाके। ७. १२०।' ज्ञान का वर्णन हीरा है और कर्मप्रसंगका वर्णन मुक्ता है। अतः भक्ति, ज्ञान और कर्म संयुक्त काव्यही सन्तसमाजमें अधिक शोभा पाता है। क्योंकि इन्हीं तीनोंका निरूपण सन्तसमाजमें हुआ करता है। यथा, 'ब्रह्मनिरूपन धर्मविधि बरनहिं तत्वविभाग। कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ज्ञान विराग। १.४४।' (ग) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि "भक्ति हरिसे, ज्ञान हरसे और कर्म ब्रह्मासे प्रकट हुये, परन्तु इनकी शोभा इन तीनोंके पास नहीं होती। भक्ति मणि सुमति स्त्रीको पाकर, ज्ञानरूपी माणिक्य ज्ञानी और कर्मरूपी मुक्ता कर्मकांडीका विचाररूपी राजाका मुकुटमणि पाकर शोभते हैं।" (घ) पं. रामकुमारजीके पुराने खर्रेमें यह भाव लिखा है कि 'ज्ञानी नृप हैं, उनका ज्ञान किरीट है और उनकी भक्ति तरुणी है।' पर साफ खर्रेमें यह भाव नहीं रक्खा गया।

३ पं० रामकुमारजी 'नृप किरीट' और 'तरुनी तन' का यह भाव कहते हैं कि "गजमुक्तासम सुकविकी वाणी है जो 'नृप किरीट' और 'तरुणी तन' पाकर शोभा पाती है। अभिप्राय यह है कि कैसाभी सुंदर कवि हो यदि वह रामचरित न कहे और राजाओंके चरित्र नायिका-भेद आदि अनेक बातें कहे, तो उस काव्यको नृप अर्थात् रजोगुणी और तरुणी अर्थात् तमोगुणी ग्रहण करते हैं; सतोगुणी नहीं ग्रहण करते और ऐसे

काव्यको सुनकर सरस्वती सिर पीटती है। यथा, 'भगति हेतु विधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई॥ रामचरितसर बिनु अन्हवाये। सो श्रम जाइ न कोटि उपाये॥ कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना। १.११॥ (नोट—१ परन्तु अगली चौपाईसे स्पष्ट है कि काव्यकी एक देशमें उत्पत्ति और दूसरे देशमें शोभा पानाही केवल यहाँ दिखा रहे हैं। २ 'अधिकाई' से जनाया कि शोभा तो वहाँभी थी पर यहाँ अधिक हो जाती है)।

अलंकार—एक वस्तुका क्रमशः बहुत स्थानोंमें आश्रय लेना वर्णन किया गया है। अतएव यहाँ 'प्रथम पर्याय' है। प्रथम स्थान 'अहि गिरि गज' कहकर फिर नृपकिरीट और तरुणीतन दूसरा स्थान कहा गया। इस अर्धालीमें 'लहहिं सकल सोभा अधिकाई' पदसे 'अनगुन अलंकार' हुआ। यथा, 'पहिलेको गुण आपनो बढ़े आन के संग। ताको अनुगुन कहत जे जानत कविता अंग।

तैसेहि सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं। ३।

अर्थ—१ सज्जन कहते हैं कि उसी तरह सुकविकी कविता और जगह रची जाती है और दूसरी जगह शोभाको प्राप्त होती है। ३।

अर्थ—२ उसी तरह सुन्दर कवियोंकी कविताको बुधजन कहते हैं अर्थात् गाते हैं। उपजी तो और ठौर, शोभा पाई और ठौर! [नोट—पर इस अर्थमें यह आपत्ति है कि अपण्डितभी तो कहते हैं। (दीनजी)]

मिलान कीजिये—'कविः करोति काव्यानि बुधः संवेत्ति तद्रसान्। तरुः प्रसूते पुष्पाणि मरुद्वहति सौरभम्॥' (संस्कृतखर्रा)।

नोट—१ (क) 'तैसेहि' इति। अर्थात् जैसे मणिकी सर्पसे, माणिक्यकी पर्वतसे और मुक्ताकी गजसे उत्पत्ति तो होती है परन्तु इनकी शोभा नृपके मुकुट या युवतीके तनमें होती है, वैसेही कविताकी उत्पत्ति कविसे और उसकी शोभा बुधसमाजमें होती है। यहाँ सुकवि 'अहि गिरि गज' हैं, कविता 'मणि, माणिक्य, मुक्ता' है और बुधसमाज 'नृपकिरीट तरुणीतन' है। (ख) कौन कविता मणि है, कौन माणिक्य और कौन मुक्ता? यह प्रश्न उठाकर उत्तर देते हैं कि भक्तियुक्त कविता मणि है, ज्ञानविषयक काव्य माणिक्य है और कर्मसंबंधी कविता मुक्ता है। इसी प्रकार शोभा पानेके स्थान 'नृपकिरीट तरुणीतन' क्रमसे संत पंडित और बुद्धिमान् हैं। पिछली चौपाईमेंभी कुछ लोगोंके भाव लिखे गए हैं। भाव यह है कि मणि, माणिक्य, मुक्ता प्रत्येक एकएक स्थानपर शोभा पाते हैं, पर मेरी कवितामें तीनों मिश्रित हैं, अतएव इसकी शोभा भक्त, ज्ञानी, कर्मकांडी, संत, पंडित, बुद्धिमान् सभीमें होगी, यह जनाया। (मा. मा, खर्रा)। (ग) 'अनत छबि लहहीं' इति। भाव कि जब अन्यत्र गई, अन्य पंडितोंके हाथ लगी, तब उन्होंने उसपर अनेक विचित्र भावसमन्वित तिलक कर दिया, अनेक प्राचीन ग्रंथोंके प्रमाण दिये। जैसे मणि माणिक्य आदि नृपकिरीटादिमें एक तो सुवर्णकान्तिकी सहायतासे दूसरे सुन्दर शरीरके संगसे अधिक शोभाको प्राप्त होते हैं, वैसेही कविता बुधसमाजमें भावोंकी सहायता और प्रमाणोंसे पुष्ट होनेसे अधिक शोभाको प्राप्त होती है। जैसे ब्रह्मसूत्रपर आचार्योंने भाष्य करके उनकी शोभा बढ़ाई। (वै.)। (घ) कविताको मणि आदिकी उपमा दी गई। अब आगे बताते हैं कि मणिमुक्तारूप कविता 'कब और कैसे' बने? सरस्वतीकी कृपासे बनते हैं और सरस्वतीकी कृपा तभी होती है जब रामयश गाया जावे। (करु०, मा. प्र.)।

भगति हेतु बिधि भवन बिहाई। सुमिरत सारद आवति धाई। ४।

रामचरितसर बिनु अन्हवायें। सो श्रम जाइ न कोटि उपायें। ५।

अर्थ—कविके सुमिरतेही सरस्वती भक्तिके कारण ब्रह्मलोकको छोड़कर दौड़ी आती हैं। ४। उनके तत्काल दौड़े आनेका वह श्रम विना रामचरितरूपी तालावमें नहलाये करोड़ों उपाय करनेसेभी नहीं जाता। ५।

नोट—१ 'आवति धाई' इति। क्योंकि वह श्रीरामकी उपासिका है। यथा, 'कपट नारि वर बेष बनाई। मिलीं सकल रनिवासहि जाई। ३१८।', 'लहकौरि गौरि सिखाव रामहिं सीय सन सारद कहैं। १.३२७।', 'देखि मनोहर चारिउ जोरी।...एकटक रही रूप अनुरागी। १.३४६।', इत्यादि। मं. श्लो. १ में देखिये। दूसरा भाव यह है कि रामयशगानभक्ति ऐसी अलभ्य वस्तु है कि शारदा ब्रह्मलोक ऐसी आनन्दकी जगहभी छोड़ देती हैं।

पुनः, विधिभवन=नाभि कमल। सबकी नाभिकमलमें ब्रह्माका वास है। अतः नाभिकमल ब्रह्मभवन हुआ। वहां उनका नाम 'परावाणी' है। वह सरस्वती परावाणी स्थानको छोड़कर हृदयमें पश्यन्ती वाणी हो, कंठमें मध्यमा हो, जिह्वामें वैखरी वाणी हो शब्दरूप होकर आ बैठती है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा सब स्थानोंको छोड़कर जिह्वापर आजानाही 'धाइ आवना' है। (रा. प.)

महामहोपाध्याय पं. श्रीनागेशभट्टजीने 'परम लघु मंजूषा' नामक ग्रंथमें 'स्फोटविचार प्रकरण' में वाणीके स्थान और उनका वर्णन विस्तारसे दिया है। हम उसीसे यहाँ कुछ लिखते हैं। वाणी चार प्रकारकी है। परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। मूलाधारस्थपवनसे संस्कारीभूत शब्दब्रह्मरूप स्पंदशून्य विन्दुरूप मूलाधारमें स्थित वाणीको 'परावाणी' कहते हैं। [उपस्थके दो अंगुल नीचे और गुदाद्वारके दो अंगुल ऊपर मध्यभागमें एक अंगुल स्थानको मूलाधार कहा जाता है। कुण्डलीभी इसी मूलाधारमें स्थित रहती है।] वही परावाणी जब उस पवनके साथ नाभिकमलतक आती है और वहाँ कुछ स्पष्ट (अभिव्यक्त) होनेपर मनका विषय होती है, तब उसको 'पश्यन्ती' कहते हैं। ये दोनों वाणियाँ योगियोंको समाधिमें निर्विकल्पक और सविकल्पक ज्ञानका विषय होती हैं, सर्वसाधारणको इनका ज्ञान नहीं होता। वही वाणी हृदयतक जब पवनके साथ आती है और कुछ अधिक स्पष्ट होती है परन्तु श्रोत्रके द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता, केवल जपादिमें बुद्धिके द्वारा जाननेयोग्य होती है तब उसको 'मध्यमा कहते हैं। यह वैखरीकी अपेक्षा सूक्ष्म है। वही जब फिर मुखतक आती है तब उस वायुके द्वारा प्रथम मूर्द्धासे ताड़ित होकर फिर कण्ठ, तालू, दंत आदि स्थानोंमें अभिव्यक्त पर श्रोत्रसे ग्राह्य होनेपर वही 'वैखरी' कही जाती है। इसके प्रमाणमें उन्होंने यह श्लोक दिया है। यथा, 'परावाङ्मूलचक्रस्था पश्यन्ती नाभिसंस्थिता। हृदिस्था मध्यमा ज्ञेया वैखरी कंठदेशगा॥' हम लोग जो बोलते हैं उसमें मध्यमा और वैखरी दोनों मिली रहती हैं। कान ढकनेपर जो ध्वनि सुननेमें आती है वही मध्यमा वाणी है।

इस प्रमाणके अनुसार वाणीके स्थानोंमें मतभेद देख पड़ता है। श्रीकाष्ठजिह्वा स्वामीभी बड़े भारी विद्वान् और सिद्ध महात्मा थे। संभव है कि उन्होंने कहीं वैसा प्रमाण पाया हो जैसा ऊपर (रा. प.) में दिया है।

२ 'बिधि' पदमें श्लेष है। विधि ऐसे पति, विधि ऐसा लोक और विधि ऐसे भवनको त्याग देती हैं। अपना पातिव्रत्य त्याग देती है, मंदगमन विधानको त्याग देती है और रामयशगान करनेवालेके पास आ प्राप्त होती है। अतः रामयशही गाना चाहिए। ये सब भाव इसमें हैं। (खर्रा)

३ 'सुमिरत सारद आवति' इति। इस कथनसे जान पड़ता है कि मंगलाचरण करतेही वह यह समझकर दौड़ पड़ती है कि मुझसे श्रीरामयश-गान करानेके लिये मेरा स्मरण इसने किया है; इससे प्राकृत मनुष्यका गुनगान करना हेतु जानकर पीछे पछताना कहते हैं। ('भगति हेतु' का अर्थ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'श्रीरामभक्तिभूषित काव्य बनानेके लिए' है)।

४ हरिभक्त जो कोई विद्या पढ़े नहीं होते, भजनके प्रतापसे पदके पद कह डालते हैं। वाल्मीकिजीके मुखसे आपहीआप श्लोक प्रथम निकला था। केवल अनुभवसे स्वतः उद्‌गारद्वारा कविता रचना यही 'वाणीका दौड़ आना' है।

५ श्रमके दूर करनेको स्नान कराना कहा। कोई दूरसे थका आवे तो उसके चरण जलसे धोनेसे थकावट साधारणही दूर हो जाती है, इसलिए स्नान कराना कहा। (पं० रा० कु०)। रामचरित-सरमें श्रीसीताराम-सुयशसुधासलिलमें स्नान कराना सरस्वतीजीसे श्रीसीतारामसुयश अपनी जिह्वाद्वारा कहलाना है। ब्रह्मभवनको छोड़कर कविकी जिह्वापर आनेमें जो श्रम हुआ वह इस श्रीरामगुणगानसे मिट जाता है, अन्यथा नहीं। मिलान कीजिये, प्रसन्नराघवनाटकके, 'झगिति जगतीमागच्छन्त्याः पितामह विष्टपान्महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत। अपि कथमसौ मुंचे देनं न चेदवगाहते रघुपतिगुणग्रामश्लाघा सुधामय दीर्घिकाम्॥ (प्रसन्न राघव १।११)। अर्थात् ब्रह्मलोकसे पृथ्वीपर वेगपूर्वक आनेसे इस बड़े मार्गमें जो सरस्वतीको श्रम होगया है वह श्रीरघुपतिगुणग्रामके प्रेमपूर्वक कथनरूपी अमृतकुंडमें विना स्नान किये कैसे छूट सकता है?

कबि कोबिद अस हृदयं बिचारी। गावहिं हरिजस कलिमलहारी।६।
कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगति[१] पछिताना।७।

शब्दार्थ—प्राकृत=साधारण।=संसारी।=जो मायाके वश हैं।

अर्थ—ऐसा हृदयमें विचारकर कवि कोविद कलिके पापोंका हरनेवाला हरि यश गाते हैं।६। साधारण वा संसारी मनुष्योंका गुण गानेसे वाणी अपना सिर पीटपीटकर पछताने लगती है (कि किस कम्बख्तके बुलानेसे मैं आगई)।७।

नोट—'सिर धुनि' इति। मानों शाप देती है कि जैसे मेरा आना व्यर्थ हुआ वैसेही तेरी कविता निष्फल हो, उसका सम्मान न हो, जैसे तूने मुझे नीचोंके कथनमें लगाया वैसेही तुमभी नीच गति पावोगे। (पंजाबीजी, वै.)। करुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'शारदाका संबंध श्रीरामजीसे है। जब उनका संबंध कोई नीचसे करायेगा, अर्थात् उनका उपयोग किसी अदिव्य पात्रके विषयमें करेगा, तो उनको अवश्य दुःख होगा।' काष्ठजिह्वास्वामीजी कहते हैं कि 'संसारी जीवोंमें ईश्वरत्व माने बिना तो स्तुति वनही नहीं सकती, मिथ्या स्तुति जानकर सरस्वती पछताती है।' (रा. प.)। श्रीरामजी गिरापति हैं। यथा, 'ब्रह्म वरदेस वागीस व्यापक विमल विपुल वलवान निर्वान स्वामी।' (विनय ५४), 'वेद विख्यात वरदेस वामन विरज विमल वागीस बैकुंठस्वामी।' (विनय ५५), 'वरद वनदाभ वागीस विश्वात्मा विरज बैकुंठ मंदिरविहारी।' (विनय ५६), 'सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी। १. १०४।' इसी लिये वह मंगल स्मरण करतेही अपने स्वामीका यश गान करने आती है, पर यहाँ आनेपर कविने उसको परपतिकी सेवामें लगाया। प्राकृत पुरुषोंका यश गान कराना परपतिसेवामें लगाना है। अतः वह पछताने लगती है कि मैं इस कंबख्तके यहाँ क्यों आई, किसके पाले पड़ गई? द्विवेदीजी लिखते हैं कि कवितामें प्रायः अत्युक्ति और झूठी बातें भरी रहती हैं। इस लिए नरकाव्य करनेमें झूठी बातोंके कारण सरस्वती पछताने लगती हैं; क्योंकि नरकाव्यमें मुखकी उपमा चन्द्रसे, स्तनकी उपमा स्वर्णकलशसे दी जाती है जो सब मिथ्याही हैं। इसीपर भर्तृहरि ने लिखा है कि 'मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्'। इत्यादि

१ लगति—१७२१, १७६२, छ०, भा. दा; को. रा.। लगत—१६६१। लागि—ना. प्र., गौड़जी लाग—रा. प्र.

भगवान् सर्वव्यापक, सर्वगुणमय हैं। इस लिए उनके वर्णनमें सभी बातें सत्य होनेहीसे सरस्वती प्रसन्न होती है और अपने परिश्रमको सुफल मानती है।...। सू० मिश्रजी लिखते हैं कि सरस्वती यह देखती है कि स्तुति करनेवाला दीन हो बार बार स्तुति किए चला जाता है, हर्षका लेशभी नहीं रहता है, प्रतिष्ठाभी चली जाती है, तब सरस्वती पछताने लगती है। लिखा है, 'याचना मान नाशाय', 'मरणे यानि चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके'। (रा. प्र.)। बैजनाथजी लिखते हैं कि प्राकृत कविका सारा दिन जो इस तरह आशा, दीनता, निरादर, अमानता और दुःखमें बीतता है, यह सरस्वतीकी अप्रसन्नता का फल है।

☞ मिलान कीजिये, 'हरेर्जन्मकर्माभिधानानि श्रोतुं तदा शारदा भर्तृलोकादुपेत्य। जनानां हृदब्जे स्थिताचेन्न वक्ति शिरो धुन्वती सैवतूष्णीं करोति॥' (सतसंगविलास। संस्कृत खर्रा)। अथात् भगवान्‌के जन्म, कर्म और नामादि सुननेके लिये सरस्वती अपने पतिके लोकसे लोगोंके हृदयकमलमें आकर स्थित होती हैं। यदि वह कवि जन्म-कर्मादिका गुणगान न करे तो वह माथा ठोंककर उदास हो जाती है।

हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति[1] सारदा कहहिं सुजाना।८।
जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू।९।

शब्दार्थ—सीप=शंख या घोंघे आदिकी जातिका एक जलजंतु जो कड़े आवरणके भीतर बंद रहता है और तालाब, झील, समुद्र आदिमें पाया जाता है। मोती समुद्री सीपमेंही होता है। स्वाती=यह एक नक्षत्र है।

अर्थ—सुजान लोग कहते हैं कि हृदय समुद्र, बुद्धि सीप और स्वाती सरस्वतीके समान हैं।८। जो (शारदारूपी स्वाती) श्रेष्ठ विचाररूपी उत्तम जलकी वर्षा करे तो कवितारूपी सुन्दर मुक्तामणि (उत्पन्न) होते हैं।९।

टिप्पणी—१ 'हृदय सिंधु...' इति। (क) 'समान' का अन्वय सबमें है। हृदय सिंधु सम गम्भीर हो, मति सीपके समान कवितारूपिणी मुक्ता उत्पन्न करनेवाली हो। स्वातीको शारदाके समान कहते हैं। 'सिंधुमें सीप है, हृदयमें मति है, सीप स्वातीके जलको ग्रहण करती है, वैसेही मति विचारको ग्रहण करती है।' (ख) 'सरस्वतीके दो रूप हैं। एक मूर्त्तिमती सरस्वती, दूसरी वाणीरूप। कथा सुननेको मूर्त्तिमती सरस्वती ब्रह्मलोकसे आती हैं, जैसे श्रीहनुमानजी आते हैं, और विचार देनेको वाणीरूपसे हृदयमें हैं। यहाँ दोनों रूप कहे।'

नोट—यहाँ सांगरूपक और उपमाका सन्देह संकर है। 'जौं बरषै बर बारि बिचारू।...' में रूपक और संभावनाकी संसृष्टि है।

नोट—१ 'जौं बरषै बर बारि' इति। भाव कि—(क) स्वाति जल हर जगह नहीं बरसता, इसके बरसनेमें संदेह रहता है। यथा, 'कहुँ कहुँ वृष्टि सारदी थोरी' (कि० १६)। इसी तरह सरस्वतीजी सब कवियोंकी बुद्धिमें श्रेष्ठ विचाररूपी जल नहीं बरसातीं। पुनः, समुद्रमें अनेक जीव और अनेक सीप हैं, परन्तु स्वाती सीपहीपर, और वहभी सब सीपियोंपर नहीं, कृपा करती है। वैसेही जगत्‌में अनेक कवि हैं। सरस्वतीकी कृपा जब तब किसीही किसीपर होती है। इस लिये संदिग्ध 'जौं' पद दिया। (ख) स्वातीके जलसे अनेक पदार्थ उत्पन्न होते हैं, इसी लिये जलको श्रेष्ठ कहा। 'बर' शब्द 'बारि' और 'बिचार' दोनोंके साथ है। इसी तरह 'चारू' पद 'कबित' और 'मुक्तामणि' दोनोंके साथ है। (ग) बैजनाथजीका मत है कि यहाँ मनादि मेघ हैं, 'बर विचार' जल है। भाव यह कि मनका तर्क,

१ स्वाती सारद-१७२१, १७६२, छ०, को. रा., १७०४। स्वाति सारदा—१६६१।

चित्तका स्मरण, अभिमानका दृढ़ निश्चय इत्यादि 'वर विचार' रूप जल वरसा अर्थात् सब एकत्र होकर बुद्धिरूपी सीपमें विचार जल आकर थिर होनेपर निश्चय हुआ। फिर वैखरीद्वारा प्रकट हो सुन्दर कवितारूप मुक्तामणि होते हैं। (घ) विनायकीटीकाकार इन अर्धालियोंका भाव यह लिखते हैं कि गम्भीर बुद्धिवाले हृदयमें श्रेष्ठ मतिके कारण उत्तम वाणी प्रकट होकर शुद्ध विचार कवितारूपमें प्रकाशित होवे तो यह कविता बहुतही सुन्दर सुहावनी होगी।

नोट—मति (बुद्धि) को सीपहीकी उपमा देनेका कारण यह है कि स्वाति बिन्दु केवल सीपहीमें नहीं पड़ता, वरंच और भी बहुत वस्तुओंमें पड़ता है जिसमें पड़नेसे अन्य अन्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं। यथा, 'सीप गए मोती भयो, कदली भयो कपूर। अहिगणके मुख विष भयो, संगतिको फल सूर ॥' इसी तरह हाथीके कानमें पड़नेसे मुक्ता होती है, गऊमें पड़नेसे गोरोचन और बांसमें पड़नेसे बंसलोचन होता है। परन्तु सीपके मुखमें पड़नेसे जैसा मोती होता है ऐसा अनमोल पदार्थ स्वातिजलसे और कहीं नहीं होता। गंभीर हृदय वाले सुकविकी मतिको सीप सम कहा; क्योंकि इससे श्रीरामयशयुक्त सुन्दर कविता निकलेगी। यदि कुकविकी बुद्धिमें शारदास्वाती बरसे, तो वह प्राकृत मनुष्योंका गुण गान करता है।

दो०—जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित वर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग। ११।

शब्दार्थ—जुगुति=युक्ति=कौशल (तरकीब)।

अर्थ—(उन कविता रूपी मुक्तामणियोंको) युक्तिसे बेधकर फिर श्रीरामचरितरूपी सुन्दर तागेमें पोहा जावे, (तो उस मालाको) सज्जन अपने निर्मल हृदयमें पहिनते (धारण करते) हैं जिससे अत्यन्त अनुराग रूपी शोभा (को प्राप्त होते हैं)। ११।

नोट—१ 'हृदय सिंधु मति सीप समाना' से यहाँ तक 'साङ्गरूपकालंकार' है। यह रूपक निम्नलिखित मिलानसे भली भाँति समझमें आजायगा। 'पहिरहिं···अनुराग' में तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यंग्य है।

उपमेय		उपमान
हृदय	१	सिंधु
मति (बुद्धि)	२	सीप
शारदा	३	स्वाती नक्षत्र (के मेघ)
सरस्वतीकी अनिश्चित अवतारणा	४	स्वातीकी क्वचित् वर्षा
वर विचार	५	वर वारि
कविता	६	मुक्तामणि
बारीक युक्तिसे कविताकी शोभा	७	बारीक छिद्रसे मोतीकी शोभा
युक्ति	८	सुई, सुदम वा बरमा, सराँग
कवितामें युक्तिसे रामचरितरूपी श्रेष्ठ तागका अवकाश करना।	९	मोतीमें सुईसे बेध कर छिद्र करना।
रामचरितका कविताके भीतर (वर्णन रूप) प्रवेश करना।	१०	डोरेका मोतीके भीतर पोहना।

☞ सब पदोंकी योजना रामचरितहीमें करना 'पोहना' है।

रामचरित	११	तागा
रामचरितयुक्त कविता	१२	मोतीकी माला
हृदयमें धारण करना	१३	हृदयपर पहिनना
सज्जन	१४	लक्ष्मीवान
अनुरागातिशय	१५	शोभा

२ इस ग्रन्थमें युक्ति सरॉंग है, रामचरित तागा है और एक सम्वादके अंतर्गत दूसरा सम्वाद होना छिद्र है। अर्थात् गोस्वामीजी और सज्जन सम्वादके अन्तर्गत याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-सम्वाद है, तदन्तर्गत शिव-पार्वती-सम्वाद है, जिसके अन्तर्गत भुशुण्डि-गरुड़-संवाद है।

पं० रामकुमारजी—१ (क) 'प्रथम प्राकृतजनोंके गुणोंसे युक्त कविताकी अशोभा कही जिसे सुनकर सरस्वतीको दुःख हुआ। अब रामचरितयुक्त कविताकी शोभा कही जिसके धारण करनेसे सज्जनकी शोभा हुई।

(ख) प्रथम कविताको गजमुक्तासम कहा। यथा, 'मनि मानिक मुकुता छवि जैसी।...', अब उसे सिंधु-मुक्तासम कहते हैं। यथा, 'हृदय सिंधु मति सीपसमाना'। रामचरितहीन कविता गजमुक्ता सम है तोभी शोभा नहीं पाती, जब नृप या युवती स्त्री धारण करे तब शोभा पाती है और रामचरितयुक्त कविता जलमुक्ता सम है जो इतनी सुन्दर है कि सज्जनको शोभित कर देती है। इसी भावको लेकर पहले मणिमाणिक्यमुक्ताको नृपके मुकुट और तरुणीके तनसे शोभा पाना कहा था। यथा, 'लहहिं सकल सोभा अधिकाई'। और यहाँ मुक्ताहारसे सज्जनकी शोभा कही।

श्रीजानकीदासजी—यहाँ अन्योन्यालंकार है। मोतीकी शोभा राजाओंके यहाँ होती है और राजाके अंगकी शोभा मोतीसे होती है। इसी तरह रामचरितयुक्त कविता संतसमाजमें शोभित है और संतसमाजकी शोभा उस कवितासे है। रामचरितयुक्त कविता वा पदके गाने या मनन करनेसे हृदय प्रफुल्लित होगा, कंठ गद्गद होगा, यही अनुराग है जिससे सज्जनकी शोभा होगी। 'नृप करीट तरुनी तन' ही यहाँ सज्जन समाज है।

नोट—३ 'पहिरहिं सज्जन...सोभा अति अनुराग' इति। (क) अर्थात् अनुरागही शोभा है। भाव यह है कि रामचरित सुनकर यदि अनुराग न हुआ तो उस प्राणीकी शोभा नहीं है। 'अति अनुराग' 'अति शोभा' है। अर्थात् जैसाही अधिक अनुराग होगा, वैसाही अधिक शोभा होगी। पुनः, भाव यह कि जो 'विमलउर' नहीं हैं वे इसे नहीं पहिनते। 'अति अनुराग' का भाव यह है कि अनुराग तो प्रथमसे था ही, पर इसके धारण करनेसे 'अति अनुराग' उत्पन्न होता है। पुनः, जो 'विमल उर' नहीं हैं उनको अनुराग और इनको अति अनुराग होता है। (ख) बाबा हरिहरप्रसादजी—लिखतेहैं कि यहाँ 'बर तागा' का भाव यह है कि और मालाओंके तागे टूट जाते हैं, यह तागा नहीं टूटता। मोतियोंकी माला राजाओंको प्राप्त है, वैसेही यह 'विमलउर' वाले सज्जनोंको प्राप्त है।

४ (क)—मणि मोतीके सम्बन्धमें 'जुगुति' (युक्ति) से 'चतुराई' का तात्पर्य है, क्योंकि मोती बेधनेमें बड़ी चतुरता चाहिये, नहीं तो मोतीके फूट जानेका डर है। मुक्ता सरॉंगसे बेधी जाती है। टीकाकार महात्माओंके मतानुसार यहाँ युक्ति सरॉंग है। (ख) कविताके सम्बन्धमें युक्ति यह है कि शब्दोंको इस चतुरतासे रक्खे कि कहनेवालेका गुप्त आशय भली भाँति प्रकट हो जाय और सुननेवालेके हृदयमें चुभ जाय। (ग) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि गोस्वामीजीका काव्य युक्ति अर्थात् चातुर्यतासे भरा पड़ा है। प्रथम युक्ति वन्दनाहीसे देखिए। वन्दना व्याजमात्र है। इसमें

सबके अंतमें युगल सरकार श्रीसीतारामजीकी वन्दना लिखकर दोनोंकी प्राप्तिका साधन बताया। फिर नामवन्दना करके नामको नामीसे बड़ा बताया। मानसके रूपकमेंभी चातुरी विचारने योग्य है। गोस्वामी-जीकी युक्ति द्वितीय सोपानमें औरभी सराहनीय है। श्रीभरतजीकी भक्ति शुद्ध शरणागति है। वे प्रेमापराके स्पर्द्धी हैं, आदर्श हैं। कांडभरमें भरतजीकी महिमा, रीति और भक्ति भरी है। यह गोस्वामीजीका स्वतंत्र सिद्धान्त है।

५—मिलान कीजिये, 'चेतः शुक्तिकया निपीय शतशः शास्त्रामृतानिक्रमाद्वान्तैरक्षरमूर्त्तिभिः सुकविना मुक्ताफलै-र्गुम्फिताः। उन्मीलत्कमनीय नायक गुणग्रामोपसंवलगन प्रौढाहं कृतयौ लुठंति सुहृदां कंठेषु हार स्रजः॥' (अनर्घराघव नाटके १. ५)। 'सीताप्रीत्यै सुप्रीत्या विशद गुणगणैर्गुम्फिता गीर्वधूभिर्गद्यैःपद्यै रनेकैरतिशय रुचिरैर्मौक्तिकै राजिताच। श्रृङ्गाराद्यै रुपेता रघुपतिचरण प्रीतिदा भक्तिभाजाम्। सीताश्रृङ्गारचंपूः स्रगिवसु हृदये भाति मे सज्जनानाम्॥ (श्रीसीता-श्रृङ्गारचम्पू)। अर्थात् बुद्धिरूपी सीपीने शास्त्ररूपी जल पीकर सैकड़ों अक्षरों रूपी मोतियां जो क्रमसे उगलीं हैं उन मोतियोंके द्वारा कवियोंने मालाएँ गुही हैं। प्रसिद्ध सुन्दर नायकके गुणसमूहके कथनसे जिनको बहुत अभिमान हो गया है ऐसी वे सुन्दर (कवितारूपी) मालाएँ सज्जनोंके हृदयरूपी कंठमेंही विराजती हैं। (अनर्घ रा. ना. १. ५)। पुनः, वाणीरूपी स्त्रियोंने श्रीजानकीजीकी प्रसन्नताके लिये अपने प्रेमसे गद्यपद्यरूपी अत्यन्त सुन्दर मोतियोंसे सुशोभित और श्रृङ्गारादि रसोंसे युक्त तथा विशद गुणगणरूपी स्त्रियोंद्वारा गुही हुई श्रीरामपदप्रीति देनेवाली यह मेरी सीताश्रृङ्गारचम्पू मालाकी नाईं भक्त जनोंके हृदयमें विराजती है। (श्रीसीताश्रृङ्गारचम्पू)।

जे जनमे कलिकाल कराला। करतब बायस बेष मराला॥ १॥
चलत कुपंथ बेद-मग छाँड़े। कपट कलेवर कलिमल भाँड़े॥ २॥
बंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥ ३॥

शब्दार्थ—कराल=कठिन, भयानक। करतब (कर्तव्य)=काम, करतूत, करनी। कुपंथ=कुमार्ग; बुरी राहपर। मग=मार्ग; रास्ता। कलेवर=शरीर; देह। भाँड़ा (सं. भाण्ड)=बरतन; पात्र। बंचक= ठगनेवाला; धूर्त; पाखंडी। यथा, 'लखि सुवेष जग बंचक जेऊ।' किंकर=दास। कंचन=सोना कोह=क्रोध।

अर्थ—जिनका जन्म कठिन कलिकालमें हुआ है, जिनकी करनी कौवेके समान है और भेस हंसका सा। १। जो वेद (के बताए हुए) मार्गको छोड़कर कुमार्गमें चलते हैं, जिनका कपटहीका शरीर है, जो कलियुगके पापोंके पात्र हैं। २। ठग हैं, श्रीरामजीके तो भक्त कहलाते हैं परन्तु हैं दास लोभ, क्रोध और कामके। ३।

नोट—१ रामचरितयुक्त कवितामालासे सज्जनकी शोभा कही। उसपर यह प्रश्न होता है कि क्या आपकी कविता ऐसी बनी है? इसका उत्तर अब देते हैं कि यह तो मैंने सत्कवियोंके काव्यके लिये कहा है और मेरी दशा तो यह है कि 'जे जनमे...' इत्यादि।

नोट—२ (क) 'जे जनमे कलिकाल कराला' इति। कलि सब युगोंसे कठिन और भयंकर युग है जैसा उ० ९७ से १०१ तक में कहा है। 'सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी॥...बरन धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी॥ द्विज श्रुति बंचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन॥...निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोइ ग्यानी सो बिरागी'॥ पुनः, 'कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना'॥ २६॥ (ख) 'जे जनमे कलिकाल' का भाव यह है कि

कलिकालमें पैदा हुए हैं, इसलिए कलिके धर्मको ग्रहण किये हैं जो आगे कहते हैं। 'जे जनमे कलिकाल कराला' कहकर फिर 'करतब वायस' इत्यादि कलिके भक्तिविरोधी धर्म कहनेका भाव यह है कि कलिमें,ऐसे अधर्मियोंका जन्म होता है। यथा, 'ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक वृन्द बहु होइहहिं कलिजुग माहिं। ७. ४०।' यहाँ यह अर्थ नहीं है कि जोभी कलिकालमें जन्म लेते हैं वे सभी ऐसे होते हैं। सृष्टिमें दैवी और आसुरी दोनों सम्पत्तिके लोग सदा जन्म लेते रहते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि कलिकालमें आसुरी सम्पत्तिकी विशेष वृद्धि होती है। 'कलिकालमें जो इस तरहके लोग जनमें हैं' यह आशय है। पुनः, (ग) भाव यह कि एक तो कलिमें जन्म हुआ, यही बुरा और फिर उसपरभी वेप हंसका किये हैं और कर्त्तव्य कौवेका सा है। इत्यादि। (करु०)। (घ) 'करतब वायस' अर्थात् छली, मलिन, अविश्वासी और पक्षपाती हैं। यथा, 'काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती। २. ३०२।', 'सठ स्वपच्छ तव हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला। ७. ११२।' पुनः, (ङ) पापका रूप काला है, कौआभी काला है। ये सब पाप करते हैं, अतः 'वायस' सम कहा। (च) 'बेष मराला' इति। बेष शुक्ल है, उज्ज्वल है और हंसका रंगभी शुक्ल है।

३ 'कलियुगमें पैदा होनेवालोंकी करनी काकवत् होती है पर इसी कलिमें तो अगणित संत भक्त हो चुके हैं और हैं, तब उपर्युक्त कथनसे विरोध पड़ता है' यह शङ्का उठाकर लोगोंने युक्तिसे उसका समाधान किया है। 'जे जनमे'=जे जन में=जिस मनुष्यमें (कराल कलिकालने निवास किया है उसका कर्त्तव्य....)। (वै.)। इत्यादि औरभी समाधान किये हैं। पर दासकी समझमें यह शङ्का मूलके शब्दोंसे उठही नहीं सकती। कवि यह नहीं कहता कि जोभी जन्मे हैं वे सब 'करतब वायस...' हैं, किन्तु जो कलिमें 'करतब वायस....काम के' ऐसे लोग जन्मे हैं 'तिन्ह महँ प्रथम....'। 'करतब वायस...काम के' यह सब 'जे' का विशेषण है। 'जे' का सम्बन्ध आगे 'तिन्ह' से है। जो कलिकालमें पैदा हुए हैं पर जिनके आचरण ऐसे नहीं हैं,- उनकी गणना यहाँ नहीं है। 'कलिकाल' शब्द देकर जनाया है कि छल और युगोंमेंभी होते हैं पर कलिके ऐसे किसीमें नहीं होते।

४ (क) 'चलहिं कुपंथ बेद मग छाँड़े' इति। यथा, 'दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किये बहु पंथ।' (७. ९७)। दंभियोंके प्रकट किए हुये पंथही 'कुपंथ' हैं। (ख) 'कपट कलेवर' कहनेका भाव यह है कि कपटरूप हैं, उनका शरीर क्या है मानों कपटही रूप धारण करके आ गया है। कलियुग कपटी है। यथा, 'कालनेमि कलि कपट निधानू' (२७); इसीसे जो कलियुगमें जनमे उनको कपटरूप कहा। (ग) 'कलिमल भाँड़े' इति। भाव यह है कि जैसे पात्रमें जल आदि वस्तु रक्खी जाती है वैसेही इनमें पाप भरे हुये हैं।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम कपट और कलिमल दोनोंको अलगअलग कहा। यथा, 'करतव वायस बेप मराला'। यह कपट है। और 'चलत कुपंथ वेद मग छाँड़े'। यह कलिमल है। अब आधी चौपाई 'कपट कलेवर कलिमल भाँड़े' में दोनोंको एकत्रित कर दिया है। (ख) 'वंचक भगत' के साथ 'कहाइ' पद दिया और कंचनादिके साथ 'किंकर' पद दिया; क्योंकि ये रामजीके कहाते भर हैं, उनके किंकर हैं नहीं, किंकर तो लोभ, क्रोध और कामके हैं। जैसे हैं, वैसाही लिखा। 'कोह कामके साहचर्यसे कंचन 'लोभ' का वाचक है। द्रव्य ठगनेको वेष बनाया, इस लिये लोभको पहले कहा। कामक्रोधलोभके किंकर होनाभी कलिका प्रपंच है। यथा, 'साँची कहौं कलिकाल कराल में ढारो बिगारो तिहारो कहा है। काम को कोह को लोभको मोहको मोहि सों आनि प्रपंच रहा है॥ क० उ० १०१।'

तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी । १ धींग धरम ध्वज २ धंधक धोरी । ४ ।

शब्दार्थ—रेख=गिनती । यथा, 'रामभगत महँ जासु न रेखा' । धींग=धिक=धिक्=धिक्कार, लानत, निंदित, धिक्कार योग्य । धरमध्वज=जो धर्मकी ध्वजा (झंडा) खड़ा करके अपना स्वार्थ साधे; धार्मिकोंका सा वेष और ढंग बनाकर पुजानेवाला; पाखंडी । धर्मका झंडा । धोरी=बोझा ढोनेवाला ।=धुरेको धारण करनेवाला । यथा, 'फरति मनहिं मातु कृत खोरी । चलत भगति बल धीरज धोरी । अ० २३४ ।'=बैल । यथा, 'समरथ धोरी कंध धरि रथ ले और निबाहिं । मारग माहिं न मेलिए पीछहिं बिरद लजाहिं ।' (दादू) ।=प्रधान, मुख्य, अगुआ (रा० प०) । यथा, 'कुअँर कुअँरि सब मंगल मूरति नृप दोउ धरम धुरंधर धोरी' (गी०) ।=वह बैल जो गाड़ीमें दोनों बैलोंके आगे लगता है जब बोझ अधिक होता है । धंधक=धंधा । जैसे 'मन क्रम वचन रामपद सेवक । सपनेहु आन भरोस न देवक । आ० १० ।' और 'कीन्हेहु बिरोध तेहि देवक' । में देवक=देवका । वैसेही धंधक=धंधेका । (पं. रा. कु.) । यह शब्द तिरस्कारके भावमें 'खोटे या निकम्मे धंधे' के भावमें प्रयुक्त हुआ है । (गौड़जी) । मिथिलाकी ओर इसे 'धन्धरक' कहते हैं ।

अर्थ—संसारमें ऐसे लोगोंमें सबसे पहले मेरी गिनती है । जो धिक्कारयोग्य धर्मकी ध्वजा हैं और खोटे धन्धोंकी गाड़ीको खींच ले जानेवाले धोरी हैं । ४ ।※

नोट—१ (क) 'तिन्ह महँ प्रथम रेख' इति । अर्थात् जबसे कलियुग शुरू हुआ तबसे आजतक जिनका जन्म हुआ और जिनके धर्म कर्म पहले तीन चौपाइयोंमें कह आए हैं उन सबोंमें मुझसे अधिक पापी कोई नहीं है । 'जग' कहनेका भाव यह है कि जगत् भरमें जितने अधम हैं, उन सबोंमें प्रथम मेरी रेखा है । पुनः, भाव कि 'सत्ययुगमें दैत्य खल, त्रेतामें राक्षस खल और द्वापरमें दुर्योधन आदि जो खल थे, उनको नहीं कहते । जो कलियुगमें जन्मे उनमेंसे अपनेको अधिक कहा । क्योंकि कलिके खल तीनोंसे अधिक हैं' । (पं. रा. कु) (ख) धींग धरमध्वज=(१) धिक्कारयोग्य जो पाखंडियोंका धर्म है उसकी ध्वजा । (रा० प्र०) (२) उन पाखंडियोंमेंभी जो धृग अर्थात् अति नीच हैं । (करु., रा. प्र.) । (३) धर्मध्वजी लोगों वा धर्मध्वज बननेको धिक्कार है । (रा० प्र०) (४) 'ऐसे धर्मध्वजरूपी धन्धेवाले बैलोंको धिक्कार है' ।

२ 'धींग धरमध्वज धंधक धोरी' इति । (क) पाखंडियोंका धिक्कार योग्य (= निन्दित) जो कर्म धर्म है उसकी ध्वजाका धन्धारूपी बोझ ढोने या लादनेवाला हूँ । भाव यह है कि मेरा धन्धा यही है कि धिक्कारयोग्य धर्मका झंडा फहरा रहा हूँ । ध्वजा या झंडेसे दूरसे लोग पहचान लेते हैं कि उस देशमें किसका राज्य या दखल है, उस जगह अग्रगण्य कौन है; इसी तरह मैं निंदित

१ धिग । २ धंधक—१७२१, १७६२, छ०, भा. दा., पं. शिवलालपाठक । १६६१ में 'धींग' है और 'धंधक' के रकारपर हरताल दिया है । १७०४ में 'धींग' 'धंधरच' कहा जाता है पर रा. प. में 'धिग' 'धंधरच' है । श. सा. में 'धींग' शब्द नहीं है, 'धींग' शब्द है जिसके अर्थ 'हट्टाकट्टा मनुष्य' 'कुमार्गी', 'पापी', 'बुरा' इत्यादि दिये हैं । यथा, 'अपनायो तुलसी सो धींग धमधूसरो ।' मानसांकमें 'धींगाधींगी करनेवाला' अर्थ किया है । यदि इसे 'धींग' मान लें तो ये सब अर्थ लग सकते हैं ।

※ अर्थान्तर—(१) ऐसे पाखंडके धन्धेका बोझ ढोनेवालोंको धिक्कार है । (बाबू श. सु. दा.) । (२) तिरस्कृत धर्मोंसे लदीहुई गाड़ीका धोरी हूँ । (मा. मा.) । (३) व्यर्थ धन्धेमें बैलके समान लगा हूँ । (करु.) । (४) जो धींगाधींगी करनेवाले, धर्मध्वजी (धर्मकी झूठी ध्वजा फहरानेवाले, दंभी) और कपटके धन्धोंका बोझ ढोनेवाले हैं, संसारके ऐसे लोगोंमें सबसे पहले मेरी गिनती है । (मानसांक) ।

कर्म करनेवालोंमें अग्रगण्य हूँ। भाव यह कि 'जो अपनेको धर्मकी ध्वजा दिखाते हैं पर लगे हैं दुनियाके धन्धेमें'। (लाला भगवानदीनजी)। (ख) पांड़ेजी यह अर्थ करते हैं कि 'जगमें' दो प्रकारके पुरुष हैं'। एक धृक, दूसरे धर्मध्वज। जो धर्मकी ध्वजा दिखाकर ठगते हैं उनमें मैं वीर हूँ वा धुरी हूँ, मेरे आधार-पर सब ठगनेवाले चलते हैं'। (ग) बाबा हरीदासजी यों अर्थ करते हैं—'मुझे धिक्कार है।।मैं धर्मध्वजी हूँ। अर्थात् जो धर्म ईश्वरप्राप्ति एवं परलोकके साधक हैं, उनसे मैं उदरभरणहेतु नाना यत्न वेष बनाकर ऊपरसे करता हूँ और भीतर मन अहर्निशि धन्धे (जगत्प्रपंच) में रहता है। जगत्प्रपंचका मैं धोरी हूँ। अतः मुझको धिक्कार है।'

३ (क) सुधाकर द्विवेदीजी—'धर्मध्वज उसे कहते हैं जो अभिमानसे अपने धर्मकी स्तुति कर धर्मकी पताका उड़ाते फिरते हैं कि मैंने यह धर्म किया, वह धर्म किया, इत्यादि। 'धंधक धोरी' वे हैं जो थोड़े कामको बहुत जनाते हैं।' (ख) ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी कहते हैं कि 'धरमध्वज, धंधक, धोरी तीनों संज्ञा पद हैं और 'धिक' का अन्वय तीनोंमें है। 'धरमध्वज' हीकी तरह 'धंधक' और 'धोरी' काभी प्रयोग है। पुराने समयमें 'पाखण्डी, दंभी और आडम्बरी' के भावमें इनका प्रयोग होता था। (ग) पं. शिवलालपाठकजी लिखते हैं, 'धीग धरम धंधक कथन, ध्वज धोरी यहि हेतु। चाचरि निज मुख लाइ रज, परमुख कारिख देतु॥' अर्थात्, 'गोस्वामीजीने अपनेको धृक धर्मसे पूरित शकटका धोरी कहा। इसका तात्पर्य यह है कि जैसे होलीमें पहले अपने मुखमें धूल लगानेसे दूसरेके मुखको कालिख लगाते बनता है वैसेही ग्रंथकारने यह नीचानुसंधानवश अपनी निंदा कथनकर खलोंकी निंदासे अपनेको बचाया। यदि खल लोग इस मानसकी इतनेपरभी निंदा करें तो मानों स्वयं अपने हाथसे अपने मुखमें स्याही लगाते हैं। (अ. दीपक)

नोट—यहाँ केवल रामभक्तहीको क्यों 'बंचक' में गिनाया ? उत्तर—रामभक्त सबमें श्रेष्ठ हैं। यथा, 'नर-सहस्र महँ सुनहु पुरारी।···सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगतिरत गत मद माया। ७. ५४।', 'रामादन्यः परोध्येयो नास्तीति जगतां प्रभुः। तस्माद्रामस्य ये भक्तास्ते नमस्याः शुभार्थिभिः' इति शिवसंहितायाम्। (१।८३, ८४)।' ऊँचा होकर पाप करना महान् अधमता है। जैसे सुक्षेत्रमें बीज बोनेसे वह अवश्य उत्पन्न होगा, वैसेही एक पापभी करनेसे लाखों पाप बढ़ेंगे। उत्तम लोगों को ऐसा कदापि न करना चाहिये; इसीसे इन्हींको गिनाया। (वै.)

जौं अपने अवगुन सब कहऊं। बाढ़ै कथा पार नहिँ लहऊं। ५।
तातें मैं अति अलप बखाने। थोरे[1] महँ जानिहहिं सयाने। ६।

अर्थ—जो मैं अपने सब अवगुणोंको कहूँ तो कथा बढ़ जायगी, पार न पाऊँगा। ५। इसीसे मैंने बहुतही थोड़े कहे, चतुर लोग थोड़ेहीमें जान लेंगे। ६।

नोट—१ (क) 'पार नहिं लहऊँ' का भाव यह है कि अपार हैं। यथा 'मैं अपराधसिंधु।' (वि. ११७) 'जद्यपि मम अवगुन अपार' (वि० ११८), 'तऊ न मेरे अघ अवगुन गनिहैं। जो जमराज काज सब परिहरि इहै ख्याल उर अनिहैं'। (वि० ९५)। यदि लिखकर अवगुणोंकी संख्या पूरी होनेकी आशा होती तो चाहे लिखभी डालता। (ख) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'अलप बखाननेके दो हेतु कहे हैं। एक तो कथा बढ़नेका डर, दूसरे यह कि जो सयाने हैं वे थोड़ेहीमें जान लेंगे, बहुत कहनेका क्या प्रयोजन है? 'स्थाली पुलकन्यायेन'। (ग) श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि इसमें यह ध्वनि है कि जो चतुर हैं, वे समझ जायेंगे

[1] थोरेहि—१७२१; १७६२, छ०। थोरे—१६६१, १७०४, को. रा.

कि महत्पुरुष अपना कार्पण्यही कहा करते हैं। कार्पण्यभी षट् शरणागतिमेंसे है। और, जो मूर्ख हैं, वे अवगुणसिंधुही समझेंगे। वे इस बातको न समझ सकेंगे। (मा० प्र०)।

समुझि बिबिधि बिधि१ बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी। ७।
एतेहु पर करिहहिं जे२ असंका। मोहि तें अधिक ते३ जड़ मति रंका। ८।

अर्थ—मेरी अनेक प्रकारकी विनतियोंको समझकर कोईभी कथा सुनकर दोष न देगा। ७। इतनेपरभी जो शंका करेंगे वे मुझसेभी अधिक मूर्ख और बुद्धिहीन हैं। ८।

टिप्पणी—१ 'समुझि...' का भाव यह है कि बिना कहे नहीं जानते थे, अब विविध विधिकी विनती सुनकर कथा सुनकर कोई दोष न देगा; यह समझकर कि ये तो अपने दोष अपनेही मुखसे कह रहे हैं। 'एतेहु' अर्थात् इतनी विनती करनेपर।भी शंका करेंगे, अर्थात् दोष देंगे। मति रंका=मतिके दरिद्र या कंगाल।

नोट—बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यदि कोई अभिमानसहित कोई बात कहता है तो उसपर सबको 'माप' होता है, चाहे वह बात कैसीही उत्तम क्यों न हो और अमान होकर एक साधारण मध्यम बातभी कहता है तो सुननेवाले प्रसन्न होते हैं, सामान्य लोगभी बुराई नहीं करते। अतएव मेरी बनाई हुई श्रीरामकथा सुनकर कोई दोष न देंगे, श्रीरामचरित तो उत्तमही है पर मेरी अमानताभी उत्तम मानेंगे।' 'मोहि ते अधिक' का भाव कि मैं तो अपनेही मुखसे अपनेको जड़ कह रहा हूँ और इनको सब संसार बुरा कहेगा।

नोट—दो असम वाक्योंमें 'जे' 'ते' द्वारा समता दिखाना प्रथम 'निदर्शना अलंकार' है।

कबि न होउं नहिं चतुर कहावौं। मति अनुरूप रामगुन गावौं। ९।

अर्थ—मैं न तो कवि ही हूँ और न चतुर कहलाता हूँ। (वा, किसीसे अपनेको चतुर कहलवाता हूँ)। अपनी बुद्धिके अनुकूल श्रीरामजीके गुण गाता हूँ। ९।

नोट—१ भाव यह है कि जो कवि हो, चतुर हो, उसकी कविताको दोष दें तो अनुचित न होगा। 'जड़मति रंक' की कविताको दोष देना जड़ता है। यहाँ तक अपने दोष कहे। (पं. रा. कु.)। २ ऊपर कहा था कि मणिमुक्तारूपी कविताके मालाको सज्जन धारण करते हैं। तत्पश्चात् यहाँतक अपना कार्पण्य दर्शित किया। भला मेरी ऐसी सामर्थ्य कहाँ कि ऐसी कविता बना सकूँ! मैंने तो जैसे तैसे रामगुण गाया है। इसपर यह प्रश्न होता है कि 'यदि ऐसा है तो विनती करनेकी क्या आवश्यकता थी?' उसका उत्तर आगे देते हैं।

३ कवि=काव्यांग वर्णन करनेवाला। चतुर=व्याकरण आदि विद्यामें प्रवीण। (वै.)।

कहँ रघुपति के चरित अपारा। कहँ मति मोरि निरत संसारा। १०।
जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल केहि लेखे माहीं। ११।

१ बिनती अब—१७२१, १७६२, छ.। बिधि बिनती—१६६१, १७०४। २ जे संका—रा. प., को. रा.। जे असंका—१६६१, १७२१, १७६२। ते असंका—१७०४ (शं. ना. चौ.); परंतु रा. प. में 'जे संका' है। ३—१६६१, में यहाँ 'जे' है। असंका=आशंका=शंका=अनिष्टकी भावना। यहाँ 'खोरी' के संबंधसे 'दोष निकालनेकी भावना।'

शब्दार्थ—निरत=आसक्त । लेखा=गिनती । मारुत=पवन, वायु, हवा । मरु=सुमेरु पर्वत । तूल=रूई ।

अर्थ—कहाँ तो श्रीरघुनाथजीके अपार चरित और कहाँ मेरी संसार (के विषयों) में आसक्त बुद्धि ? । १० । जिस हवासे सुमेरु आदि पर्वत उड़ जाते हैं, (उसके सामने भला) कहिये तो, रूई किस गिनतीमें है ? । ११ ।

नोट—१ इस चौपाईमें दो वार 'कहँ' शब्द आया है । 'कहँ' का मूल 'क्व' है । यह संस्कृतका नियम है कि जहाँ 'क्व' शब्दका प्रयोग दो वार हुआ हो, वहाँ अर्थमें इतनी विशेषता होती है कि जिसके साथ आया है उससे बहुत अन्तर जाना जाता है । 'द्वौ क्व शब्दौ महदन्तरं सूचयतः' । एवं इस चौपाईमें दो वार 'कहँ' शब्द आया है; इससे ग्रन्थकारने यह दिखलाया कि रामचरित और मेरी बुद्धिमें बहुत अन्तर है । कहाँ यह, कहाँ वह !

२ इन चौपाइयोंमें 'प्रथम विषमालंकार' है, क्योंकि अनमिल वस्तुओं या घटनाओंके वर्णनमेंही 'विषमालंकार' होता है । यथा, 'कहाँ बात यह कहँ वहै, यों जहँ करत बखान । तहाँ विषमभूषन कहत, भूषन सुकवि सुजान ॥' (भूषण ग्रन्थावली) । वीरकविजी लिखते हैं कि यहाँ 'जेहि मारुत....' में काव्यार्थापत्ति है । अर्थात् वह तो उड़ी उड़ाई ही है । यह अर्थ अपनेसेही निकल पड़ता है यद्यपि काव्यमें नहीं कहा गया ।

टिप्पणी—१ अब यहाँसे मनकी कादरता और धैर्य कहेंगे । 'जेहि मारुत गिरि' का तात्पर्य यह है कि सुमेरुकी गुरुता नहीं रहजाती, वह हलका हो जाता है, तब रूई तो हलकीही है । शारदा, शेष, महेशादि बड़ेबड़े वक्ता सुमेरु हैं, रामचरित मारुत है, सब नेति नेति कहकर रामचरित गाते हैं, यही आगे कहते हैं । अपनी बुद्धि और अपनेको तूलसम कहा ।

नोट—३ कालिदासजीनेभी ऐसाही 'रघुवंश' काव्यमें कहा है । देखिये, 'लघु मति मोरि···' दोहा ८ (५-७) । चरित अपार, यथा, 'रघुबीर चरित अपार बारिधि पार कवि कौने लह्यो । बा० ३६१ ।'

समुझत अमित राम प्रभुताई । करत कथा मन अति कदराई । १२ ।

दो०—सारद सेष महेस बिधि, आगम निगम पुरान ।
नेति नेति कहि जासु गुन, करहिं निरंतर गान । १२ ।

शब्दार्थ—कदराई=कादर हो जाता है, डरता है, हिचकता, कचुआता या सकुचता है । नेति=न इति, इतनाही नहीं है । इति=निदर्शन, प्रकाशक, इन्तहा, समाप्ति । आगम, निगम=मं. श्लो. ६ देखो ।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीकी ऐसी असीम प्रभुता (वा, प्रभुताको अमित) समझकर कथा रचनेमें मेरा मन बहुतही डरता है । १२ । श्रीसरस्वतीजी, शेषजी, ब्रह्माजी, शास्त्र, वेद और पुराण जिसके गुणोंको 'नेति नेति' कहते हुये सदा गाया करते हैं । १२ ।

नोट—१ 'समुझत अमित राम प्रभुताई' इति । (क) यथा, 'वेदान्तवेद्यं कविमीशितारमनादिमध्यान्तमचिन्त्यमाद्यम् । अगोचरं निर्मलमेकरूपं नमामि रामं तमसः परस्तात् ॥' इति सनत्कुमार संहितायाम् । (वै.) । (ख) 'राम प्रभुताई' इति । यथा, 'महिमा नाम रूप गुन गाथा । सकल अमित अनंत रघुनाथा ॥ निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं । निगम सेष सिव पार न पावहिं ॥...' (उ० ९१ से ९२ तक) । पुनः, 'सुनु खगेस रघुपति प्रभुताई' । उ० ७४ (१) । पुनः, 'जानु पानि धाए मोहि धरना....' उ० ७९ (६) से 'देखि चरित यह सो प्रभुताई' । ८२ (१) तक; इत्यादि ।

पं. रामकुमारजी—१ 'सारद...गान' इति। नेति नेति 'इति नहीं है' ऐसा कहकर गुण गान करते हैं। भाव यह है कि उन्हें गुणगानसे प्रयोजन है, इति लगानेसे प्रयोजन नहीं है। ऐसे वक्ता हैं और निरन्तर गुणगान करते हैं, तो भी इति नहीं लगती, रामचरित ऐसा अपार है।

२ शारदाको प्रथम कहा, क्योंकि कहनेमें शारदा मुख्य हैं। सबकी जिह्वापर बैठकर शारदाही कहती हैं, कथनशक्ति शारदाहीकी है।

३ इस दोहेमें शारदा शेषादि सात नाम गिनाए हैं। सात नाम यहाँ देनेका क्या प्रयोजन है? चौपाईमें वक्ताओंको पर्वतकी उपमा दी थी। यथा, 'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं'। उसीका यहाँ तक निर्वाह किया है। मुख्य प्रधान पर्वत गोस्वामीजीने सात गिनाए हैं। 'उदय अस्त गिरि अरु कैलासू। मंदर मेरु सकल सुर बासू॥ सैल हिमाचल आदिक जेते। चित्रकूट जस गावहिं ते ते॥ बिधि मुदित मन सुखु न समाई। श्रम बिनु बिपुल बड़ाई पाई॥ अ० १३८।' इस लिये सात प्रधान वक्ताओंके नाम दिये।

सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहें बिनु रहा न कोई।१।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीकी इस प्रभुताको सब जानते हैं तो भी कहे बिना किसीसे न रहा गया।१।

नोट—१ (क) 'सोई' अर्थात् प्रभुता जो पहले कह आये कि बड़े बड़ोंकी बुद्धिभी वहाँ थक जाती है, जिससे मेरा मन सकुचाता है। (ख) यहाँ 'तीसरी विभावना' है। तोभी, तदपि, तथापि इसके वाचक हैं। 'प्रतिबंधकके होतहू काज होत जेहि ठौर'।

२ सू. प्र. मिश्र—'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई' से लेकर 'सपनेहु सांचेहु मोहि पर...' तक ग्रन्थकार यह दिखलाते हैं कि भजन-प्रभावके विना हरिचरित्र वर्णन नहीं होसकता। ईश्वर एक है और वह अन्तर्यामीभी है, भक्तोंके लिये अवतार धारण करता है और जिस तरहसे भक्तोंने महाराजका गुण वर्णन किया है उन वातोंको मनमें रखकर भगवत माहात्म्य दिखलाते हैं।'

३ 'तदपि कहे विनु...' इति। भाव कि जैसे उपर्युक्त अपारता देखकरभी कोई रुका नहीं वैसेही मैं भी भरसक कहूँगा।

तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाखा।२।

शब्दार्थ—प्रभाव=महिमा, प्रताप, प्रादुर्भाव। राखना=बताना।

अर्थ—इसमें वेदोंने यह कारण रक्खा (बताया) है कि भजनका प्रभाव बहुत तरहसे कहा गया है।२।

नोट—१ 'अस कारन राखा' यह पुराना मुहावरा है। अर्थात् यह कारण कहते हैं, कारण यह बतलाते हैं। अथवा, अन्वय इस प्रकारभी कर सकते हैं, 'तहाँ अस कारण राखा कि वेद भजन प्रभाव बहु भाँति भाषा है।' अर्थात् इसमें यह कारण रक्खा है कि वेदोंने भजनका प्रभाव बहुत तरहसे कहा है। अर्थात् बहुत तरहसे पुष्ट करके दरसाया है (और यहाँतक भजनका प्रभाव कहा है कि 'एक अनीह अरूप अनामा।...')।

२ श्री पं० सुधाकर द्विवेदीजी इस अर्द्धालीका यह अर्थ लिखते हैं कि 'तिस कहनेमें भी वेदने ऐसा कारण रक्खा है कि कहनेका अन्त नहीं, इसलिए भजनहीके प्रभावको अच्छी तरह कहा है।'

३ पं० रामकुमारजी—'तहाँ' अर्थात् प्रभुकी प्रभुता कहने में। भाव यह है कि भजनका प्रभाव समझकर कविलोग रामचरित्र कहते हैं कि यह भजन है; इसका प्रभाव बहुत भाँतिका है, सो प्रभाव आगे दिखाते हैं। यथा, 'एक अनीह अरूप अनामा।' इत्यादि विशेषण युक्त ब्रह्म भक्तोंके हेतु देह धरते हैं और नाना चरित करते हैं। यह भजनका प्रभाव है।

'भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा' इति।

श्रीमद्गोस्वामीजीकी कविता नैसर्गिक है। कविके हृदयमें श्रीरामचरित गान करनेकी उत्कट इच्छा है,

यह बात ग्रंथके आदिसे बराबर पदपदपर झलक रही है। प्रथमहीसे वे चरित्र जाननेवालोंकी सहेतुक वन्दना करते चले आ रहे हैं। 'कवि न होउँ नहिं चतुर कहावउँ। मति अनुरूप राम गुन गावउँ। १२ (६)।' कहकर यशगान करनेको उत्सुक होते हैं। यहाँसे अब कविके हृदयका दिग्दर्शन करते चलिए। देखिए, कैसे कैसे विचार उनके हृदयमें उठते बैठते हैं, कैसे कैसे असमंजसमें हमारे भक्त कवि पड़ रहे हैं और फिर कैसे उसमेंसे उबरते हैं।

कविके हृदयमें रामगुणगानकी उमंग उठतेही यह विचार स्फुरित हो आता है कि रघुपतिके चरित अपार हैं, मेरी बुद्धि विषयासक्त है। मैं क्योंकर गुणगान करूँ? बड़े-बड़े विमल मतिवाले शारदाशेषमहेशादि, यहाँतक कि वेदभी तो कह ही नहीं सके, फिर भला मेरी क्या मजाल !

यह विचार आतेही जी कदरा जाता है और कविकी हिम्मत टूट जाती है। ठीक नाटककी तरह कोई अदृश्य हाथ आकर उन्हें सहारा देता है। 'उर-प्रेरक रघुबंस बिभूषन', 'तस कहिहउँ हिय हरिके प्रेरे। १.३१।' और कवि यह सोचने लगते हैं कि ये लोग तो चरितका पार पा न सके, 'नेति नेति' कहते हैं, तो आखिर कथनही क्यों करते हैं? इसका उत्तर उन्हें हृदयहीमें मिलता है कि वे पार पानेके लिए यशका कथन नहीं करते हैं। बुद्धि कारण ढूँढने चलती है तो वेदोंको भगवान्का वाक्य और सबसे प्रामाणिक समझकर उसीमें बुद्धि निवेश करती है। देखते हैं कि वेदोंने भजनका प्रभाव बहुत तरहसे पुष्ट करके दर्शाया है और यहाँतक भजनका प्रभाव कहा कि जो "एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ व्यापक विश्वरूप भगवाना" है, वही भक्तोंके भक्तिके प्रभावसे नर शरीर धारण करके अनेक चरित करता है। ऐसा प्रभाव भक्तिका है। यह कारण वेदोंमें उनको मिला कि जिसको सोचसमझकर सभी भक्ति (भजन) करते हैं। श्रीरामयश गान करना यह भी भजन है ऐसा विचारकर निरंतर रामयश गाते रहते हैं और अपनी वाणीको सुफल करते हैं। कहा भी है कि 'जो नहिं करइ रामगुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥ बा० ११३।'

यह समाधान मनमें आता है। इससे पूर्वका संकोच दूर होता है, मनमें बल आ जाता है और कवि कथा कहनेपर तत्पर हो जाते हैं।

इस दिग्दर्शनके होनेसे "तहाँ वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भाँति बहु भाषा" के 'भजन प्रभाव' का अर्थ स्पष्ट होजाता है।

बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि श्रीरामजीकी प्रभुता अमित है, यह समझकर श्रीगोसाईंजीका मन कदराने लगा तब वे विचारने लगे कि देखें तो कि "कोई कवि यश गाकर पार हुये या नहीं?" 'और जो पार हुये, एवं जो नहीं पार हुये, उन्होंने फिर गाया कि नहीं'? यह विचारकर प्रथम उन्होंने देवकवियोंमें देखा। शारदा शेषादि देव कवि हैं। ये सब 'नेति नेति' कहते हैं फिर भी गान करते हैं और इनको कोई दोष नहीं लगता। इनमें देख कर फिर मनुष्य कवियोंमें देखने लगे तो देखते हैं कि 'सब जानत प्रभु प्रभुता सोई। तदपि कहे बिनु रहा न कोई।' तत्पश्चात् सोचा कि वेद जगद्गुरु हैं देखूँ वे क्या आज्ञा देते हैं। देखा तो यह कारण उनमें धरा हुआ मिला कि भजनका प्रभाव बहुत भारी है। कोई किसीभी विधिसे श्रीरामयश गान करे, चाहे सांगोपांग छंद न बने, तोभी वह काव्य दोषरहित है और उससे भारी सुकृतकी वृद्धि होती है। यह भजनका प्रभाव वेदोंने बहुत भाँतिसे भाषण किया है। श्रीरामगुणगानरूपी भजनका अनूठा प्रभाव अनेक प्रकारसे वेदों, शास्त्रों आदिमें वर्णित है। कितनाही थोड़ा क्यों न हो भवपार करनेको पर्याप्त है। वेदाज्ञा मिलनेपर प्रभुकी रीति देखते हैं कि उनका यश न गाते बने तो रुष्ट तो नहीं होते। तो देखा कि 'जेहि जनपर ममता अति छोहू। जेहि करुना करि कीन्ह न कोहू'। तब संतोष हुआ।

'भजन प्रभाव' पदका प्रयोग अन्यत्र भी हुआ है। यथा, 'कौतुक देखि चले गुरु पाहीं। जानि बिलंब त्रास मन माहीं॥ जासु त्रास डर कहँ डर होई। 'भजन प्रभाव' देखावत सोई॥' भक्तिका प्रभाव बहुत ठौर श्रीरामचरित-मानसमें मिलेगा। यथा, "व्यापक अकल अनीह अज, निर्गुन नाम न रूप। 'भगत हेतु' नाना बिधि करत चरित्र अनूप॥ १.२०५।' व्यापक ब्रह्म निरंजन, निर्गुन विगत विनोद। सो अज प्रेम भगति बस, कौसल्याके गोद॥ १.१९८।' बालकाण्डही में मनुशतरूपा प्रकरण दोहा १४४ में भी वेदोंका कथन लगभग ऐसाही कहा गया है। यथा, "अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथ बादी॥ नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥ ऐसेउ प्रभु सेवक बस अहई। भगत हेतु लीला तनु गहई॥ जौं यह बचन सत्य श्रुति भाषा। तौ हमार पूजिहि अभिलाषा।"

इनसे भी यही सिद्ध होता है कि 'भजनप्रभाव भाँति बहु भाषा' से अगली चौपाइयोंमें जो कहा है उसीसे तात्पर्य है। 'भाषा'=कहा। † 'सो केवल भगतन्ह हित लागी' आगे देकर सूचित किया कि भजनसे 'भक्ति' ही का मतलब है॥

सू० मिश्र—'यदि कोई कहे कि सब लोगोंको प्रेम क्यों हुआ? इसके ऊपर ग्रन्थकार लिखते हैं—'तहां बेद अस कारन राखा'। रुचिकी विचित्रताके कारण अनेक प्रकारसे कहा। 'रुचीनां वैचित्र्यादित्यादि।' अतएव सब देशके सब जातिके भक्त लोग अपनी अपनी टूटी फूटी वाणी या कवितामें सब लोगोंने भगवान्‌के गुण गान किये, कर रहे हैं और करेंगे। भक्तिका स्वरूप नवधा भक्ति करके लिखा है इसमें जिसको जो प्रिय हो वह उसीके सहारे भव पार हो जाय।"

---

† श्रीकरुणासिंधुजी, श्रीजानकीदासजी इत्यादि कई महानुभाव 'प्रभाव' का अर्थ 'भाव' करते हुए इस चौपाईका अर्थ यों करते हैं कि 'वेदोंने इसका कारण यह दिया है कि भजनका प्रभाव बहुत भाँति है, बहुत रीति शोभित है और अनेक भाव हैं और अनेक वाणीसे है'। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजा, दास्य, सख्य, शृङ्गार इत्यादि भाव, आत्मनिवेदन, वेद पुराण स्तोत्र पाठ, जप ध्यान प्रेम, यज्ञादिक भगवदर्पण करना ये सब भजन हैं। ('भाषा' का अर्थ ये दोनों महात्मा 'वाणी' करते हैं अर्थात् भजन बहुत भाषाओंसे हो सकता है। इसी तरह मैं अपनी वाणीमें भजन करता हूँ)।

वैजनाथजी लिखते हैं कि—'भजन करनेका प्रभाव बहुत भाँति कहा है। अर्थात् जीव अनेक भाव मानते हैं। जैसे कि शेष-शेषी, पिता-पुत्र, पुत्र-पिता, पत्नी-पति, जीव-ब्रह्म, सेवक-स्वामी, अंश-अंशी, नियम्य-नियामक, शरीर-शरीरी, धर्म-धर्मी, दीन-दीनदयाल, रक्ष्य-रक्षक, सखा-सखी, आदि अनेक भाव हैं जिनसे भक्त भगवान्‌का भजन करता है। पुनः ब्रह्मके अनेक नाम, रूप और मंत्र माने गये हैं। यावत् नाम हैं सब उसी ब्रह्मके हैं। कोई आदि ज्योति, कोई निराकार ब्रह्म, कोई बीज, कोई प्रणव, कोई सोऽहं इस प्रकार भजता है। कोई मानसी सेवा, कोई तीर्थव्रतयज्ञादि करके प्रभुको समर्पण करता है, कोई आत्मतत्व विचारता है, कोई साधु सेवा, कोई गुरु-सेवा और कोई सर्वभूतात्मा मानकर सेवा करता है। इत्यादि अनेक भजनके भाव हैं'। श्रीरामजीका स्वभाव सुरतरुके समान है, जिस तरहसे भी जो उनके सामने जाता है वे उसके मनोरथको पूरा करते हैं। यथा, "देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समनि सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच। २.२६७'। प्रभुने भी कहा है, 'सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ७. ८७।' 'इत्यादि विचारकर सब निश्चित हो भजन करते हैं।

एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा। ३।
ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहिं धरि देह चरित कृत नाना। ४।

अर्थ—जो परमात्मा एक, इच्छा एवं चेष्टारहित, अभिव्यक्त रूपरहित, अभिव्यक्तनामरहित (एवं जाति गुण क्रिया यदृच्छा आदि प्राकृत नामोंसे रहित), अजन्मा, सच्चिदानन्दस्वरूप, सबसे परे धामवाला एवं श्रेष्ठ तेज वा प्रभाव वाला, सर्वचराचरमें व्याप्त, सारा विश्व जिसका रूप है एवं विराट रूप और जो समस्त ऐश्वर्योंसे संपन्न है, उन्हीं भगवान्‌ने (दिव्य) देह धारण करके अनेक चरित किये हैं। ३–४।

नोट—१ इस चौपाईमें जो ब्रह्मका वर्णन किया गया है, उसमें दो भाग हो सकते हैं। एक निषेधमुख दूसरा विधिमुख। 'अनीह, अरूप, अनाम और अज' यह निषेधमुख वर्णन है और 'एक, सच्चिदानंद, परधाम, व्यापक, विश्वरूप, भगवान' यह विधिमुख वर्णन है। अद्वैतसिद्धान्तमें ब्रह्मको नामरूपरहित, निर्गुण और अनिर्वचनीय कहा गया है। अतः निषेधमुख वाक्योंको तो ठीक ठीक लगाया जाता है परन्तु विधिमुख वाक्योंके अर्थ करनेमें कठिनता पड़ती है; क्योंकि इन वाक्योंका यथाश्रुत अर्थ करनेसे ब्रह्मकी निर्गुणता तथा अनिर्वचनीयता नष्ट हो जाती है। इस लिये विधिमुख वाक्योंको अद्वैतसिद्धान्तमें निषेधात्मक ढंगसे लगाया जाता है। जैसे कि (१) एक=द्वित्यादि संख्यासे रहित। अर्थात् जिसके सिवा संसारमें दूसरा कोई नहीं है। (२) सत्=असद्भिन्न। चित्=अचिद्भिन्न। आनंद=दुःखरहित। (३) परधाम और भगवान् ये दो विशेषण विद्योपाधि ब्रह्ममें (अर्थात् जिसको अद्वैतवादी सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहते हैं, उसीको लक्षित करके वे) लगाते हैं। (४) व्यापक और विश्वरूप ये दो विशेषण उस मतके अनुसार व्यावहारिक सत्ता लेकर कहे गए हैं। उपनिषदोंमेंभी जब इस प्रकारका वर्णन आता है, तब वहाँ भी इसी प्रकार श्रुतियोंमें बाध्यबाधक भाव, लक्षणा आदि किसी प्रकारसे उनको लगाना पड़ता है। परन्तु विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमें ब्रह्मको दिव्य गुणोंसे युक्त तथा व्यक्त और अव्यक्त दो रूपवाला माननेसे उपर्युक्त विशेषणोंको ठीकठीक लगानेमें कठिनता नहीं पड़ती।

(१) 'एक' इति। (क) 'द्वितीयस्य सजातीयराहित्यादेकं उच्यते' अर्थात् सरकारी महिमाके तुल्य दूसरा नहीं होनेसे चेतनाचेतनमें अकेले विचरनेसे 'एक' नाम है। श्रुतिभी कहती है, 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।' (श्वे. ६। ८)। मानसमेंभी कहा है, 'जेहि समान अतिसय नहिं कोई। ३. ६।' पुनः, (ख) 'एकैव सर्वत्र वर्तते तस्मादुच्यते एकः।' अर्थात् अकेलेही सर्वत्र होनेसे 'एक' नाम है। पुनः, (ग) चेतनाचेतनविशिष्ट एक ब्रह्म होनेसे 'एक' वा 'अद्वितीय' है। जैसे प्रभाविशिष्ट एक सूर्य, पुत्रपौत्रादियुक्त एक सम्राट्, फेनतरंगादियुक्त एक समुद्र इत्यादि। (घ) समान वा अधिक दूसरा न होनेसे 'एक' कहा।

(२) 'अनीह' इति। (क) अन्+ईहा=इच्छा या चेष्टारहित। दृश्यमान् चेष्टारहित (रा. प्र.)। (ख) कभी प्रसन्न, कभी उदासीन वा अप्रसन्न, कभी हर्षित, कभी शोकातुर, बाल्य, कौमार, पौगंड, कैशोर, युवा, वृद्ध आदि चेष्टाओं रहित सदा एकरस। (वै.)। (ग) अनुपम। (पं०)। एक और अनीह हैं तोभी देह धारण करता है यह अगली अर्धालीमें कहते हैं। इसमें भाव यह है कि सूर्यादि देवगण जगन्नियन्ताके डरसे अपने अपने व्यापारमें नित्य लगे रहते हैं। यथा, 'भीषाऽस्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः। भीषाऽस्मादग्निश्चेन्द्रश्च। मृत्युर्धावति पंचम इति। तै. त. वल्ली २। ८।' अर्थात् परमात्माके डरसे वायु चलता है, सूर्य भ्रमण करता है, अग्नि, इन्द्र और मृत्यु दौड़ते रहते हैं। भागवतमेंभी कहा है, 'मद्भयाद्वातिवातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्। वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्॥ भा. ३. २५. ४२।' (कपिल भग-

वान् दयहूतांज्ञा से कहते हैं । अर्थ वही है जो श्रुतका है) । अथवा, शापादिके कारणभी देवता शरीर धारण करते हैं । परन्तु परमात्माके अवतारमें ऐसे कोई कारण नहीं होते; क्योंकि न तो कोई इनसे बड़ा है जिसके डरसे इन्हें देह धरना पड़े और न कोई इनके बराबरका है । यह सूचित करनेके लिए 'एक' कहा । अच्छा शापादिसे न सही, अपनेही स्वार्थ साधनके लिये देहधारी होते होंगे ? ऐसाभी नहीं है, क्योंकि वे तो पूर्णकाम हैं, उनको कोई इच्छाही क्यों होगी ? यह जनानेके लिये 'अनीह' कहा गया ।

(३) 'अरूप अनामा' इति । (क) स्मरण रहे कि, 'एक, अनीह, अरूप अनामा' आदि सब विशेषण अव्यक्तावस्थाके हैं । 'तेहि धरि देह' से पहलेके ये विशेषण हैं । अरूप है, अनाम है अर्थात् उस समय जिसका रूप या नाम व्यक्त नहीं है । यहाँ यह शंका हो सकती है कि 'यहाँ तो केवल 'अरूप' 'अनाम' शब्द आए हैं तब अव्यक्त विशेषण देकर इनका संकुचित अर्थ क्यों किया जाता है ?' तो उत्तर यह है कि ऐसा अर्थ करनेका कारण यह है कि श्रुतियोंमें अन्यत्र ब्रह्मके नाम और रूपका विशद वर्णन मिलता है। यथा, 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् (श्वे. ३ । १४ ।' 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि शिरो मुखम् । सर्वतः श्रुतिमल्लोके ' (श्वे. ३ । १६) और शास्त्रका सिद्धान्त यह है कि असत् वस्तुका कभी अनुभव नहीं होता और सद्वस्तुका कभी अभाव नहीं होता । यथा, 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।' (गीता) । इस सिद्धान्तानुसार अनुभूत और श्रुतिकथित नाम रूपका अभाव नहीं होता । अतः यहाँ 'अव्यक्त नाम रूप रहित' ऐसा अर्थ किया गया । टीकाकारोंने इनके अर्थ ये किये हैं—(ख) अरूप=दृश्यमान् रूप रहित। (रा. प्र.) ।=पंचतत्वोंसे बने हुए प्राकृत रूप रहित, देही-देहविभागरहित, चिदानंद दिव्य देहवाला । (वै.)। (ग) अनाम=रूपके प्रकट होनेपर उसका नामकरण संस्कार होता है । नाम चार प्रकारके होते हैं। जातिनाम । जैसे, रघुवीर । गुणनाम । जैसे, श्याम । क्रियानाम । जैसे, खरारी । और, यदृच्छानाम । जैसे, प्राणनाथ, स्वामी, भैया आदि । ये सब साक्षर हैं । इन जातिगुणक्रियायदृच्छाके अनुसार जिसका नाम नहीं । राशि, लग्न, योग, नक्षत्र, मुहूर्त एवं सर्वक्रियाकालसे रहित जिसका नाम है । अथवा, जिसके नामकी मिति नहीं होनेसे 'अनाम', कहा । (करु०) । = किसीका धरा हुआ नाम नहीं होनेसे 'अनाम' कहा । (रा. प्र.) ।=रामनाम अक्षरातीत है । अर्थात् रेफ और अनुस्वार केवल नाद बिन्दुमात्र है अतः अनाम कहा । (वै.) = सर्व जीवोंके हृदयोंमें अधिपतिरूपसे बसते हुएभी उन शरीरोंका नामी न होनेसे 'अनाम' कहा ।

(४) 'अज' इति । (क) जिसका जन्म समझमें नहीं आता । अथवा, 'स्तम्भजातत्वादितरवन्नजातत्वादजः स्मृतः ।' अर्थात् भक्त प्रह्लादके लिये खम्भसे प्रकट होनेसे तथा इतर जीवोंके जैसा पैदा न होनेसे 'अज' नाम कहा है । (वे. शि. श्रीरामानुजाचार्य) । (ख) जिसका जन्म कभी नहीं होता । अर्थात् जीवोंका जन्ममरण उनके कर्मानुसार चौरासी लक्ष योनियोंमेंसे किसीमें एवं जो जीवोंकी उत्पत्तिकी चार खानें कही गई हैं उनमेंसे किसीमें, बीज क्षेत्रादि कारणोंसे अथवा जिस किसी प्रकारसे जीवोंका जन्म होता है वैसा इनका नहीं होता, ये सर्वत्र व्याप्त हैं, केवल प्रकट हो जाते हैं । यथा, 'विश्वबास प्रगटे भगवाना' । 'भए प्रगट कृपाला । १. १९२ ।' (वै.) । (ग) जन्मरहित हैं । प्रादुर्भावमात्र स्वीकार करनेसे 'अजन्मा' कहा। (रा. प्र.) । पुनः (घ) यदि कोई कहे कि कश्यप अदिति, वसुदेवजी और श्रीदशरथजी के यहाँ तो जन्म लिया है तो इसका उत्तर है कि प्रभुने जन्म नहीं लिया, वे प्रगट हुए हैं । यह नियम है कि जो जहाँ प्रकट होता है वह उसीके नामसे कहा जाता है । जैसे हैमवती गंगा, भागीरथी । गंगा तो भगवच्चरणसे निकली हैं पर प्रकट तो हिमपर्वतसे हुई । अतएव 'हैमवती' नामसे कही जाती हैं । एवं भूलोकमें भगीरथ

ले आए तब 'भागीरथी' कहलाईं । जह्नु राजर्षिसे प्रकटीं तब 'जान्हवी' नाम पड़ा । पाणिनिऋषिने भी लिखा है 'यतश्च प्रभवः' और प्रकटका अर्थ यही है कि वस्तु पहलेसे थी वही प्रकट होती है, यह नहीं कि नहीं थी अब जनमी है; अतएव व्यासादिकोंने 'प्रादुर्भूवह' लिखा है। इसीलिए अजन्मा लिखा है । अतएव विशेषण लिखा है 'न जायते इति अजः'।

(५) 'सच्चिदानंद' इति । (क) सत्=सत्तागुणवाला । सत्ता=अस्तित्व, स्थित रहना । सत्ता वह गुण है कि जिसके पास वह हो उसके विषयमें 'है' ऐसा कहा जाता है। अर्थात् जो भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंमें बना रहता है । जिसका कभी नाश नहीं होता, उसको, 'सत्' कहते हैं। चित्=चैतन्य गुणवाला । चैतन्य=चेतना=ज्ञान । ज्ञान वह गुण है कि जिसके द्वारा भला बुरा आदि जाना जाता है, वह गुण जिसके पास हो उसे 'चेतन' कहते हैं और जिसके पास वह न हो उसको 'जड़' कहते हैं। अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य कालमें जहाँ जो कुछ हो गया, हो रहा है और होगा, उस सबको यथार्थरूपसे सदा जानते हैं तथा कोईभी विषय जिनको अज्ञात नहीं है उनको 'चित' कहते हैं। आनंद= आनंद गुणवाला । आनंद=सुख । आनंद वह गुण है जिसको सब चाहते हैं, जिसकी प्राप्तिकेलिये सभी यत्न कर रहे हैं। जिसके अनुकूल पदार्थ प्रिय तथा जिसके प्रतिकूल पदार्थ अप्रिय होते हैं । अर्थात् जो तीनों कालोंमें अपरिमिति तथा अविनाशी आनंदसे परिपूर्ण है तथा दुःख या दुःखद क्लेश जिनके पास कभी नहीं आते उनको 'आनंद' कहते हैं। संसारमें सब कोई चाहता है कि हम सदा बने रहें, हमारा कभी नाश न हो, हम सब बातें जान लें, कोई बात विना जाने न रहे, हम सदा पूर्ण सुखी रहें, कोई दुःख या कष्ट हमें न हो; अतः सबको चाहिए कि वह श्रीरामजीके आश्रित होवे क्योंकि इन सब गुणोंका खजाना उन्हींके पास है इत्यादि सब भाव 'सच्चिदानंद' से सूचित होते हैं। पुनः (ख) अव्यय पुरुषकी जो पाँच कलायें (आनंद, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्) हैं, उनमें आनंद प्रसिद्ध है। विज्ञान चित् है, मन प्राण वाक्की समष्टि सत् है। सत् चित् आनंदकी समष्टिही 'सच्चिदानंद ब्रह्म' है। (वे. शि. श्रीरामानुजाचार्यजी)। (ग) असत् पदार्थरहित केवल सत् पदार्थ सर्वकाल एकरस, सदा एकरस चैतन्य, जिसकी चेतनतासे जड़ माया जगत्मात्र चैतन्य है और सबको साक्षीभूत है, जो सबकी गति जानता है और जिसकी गति कोई नहीं जानता । यथा, 'सबकर परम प्रकासक जोई । राम अनादि अवधपति सोई ।' सबको चैतन्य करता है और स्वयं केवल चैतन्यरूप है । पुनः हर्षशोक रहित सदा एकरस अखंड आनंदरूप है। (वै.)

(६) 'परधामा' इति । (क) परधाम=दिव्य धामवाले। यथा, 'तद्विष्णोः परमंपदंसदा पश्यन्ति सूरयः' (ऋग्वेद सं. १ । २ । ७)। (ख) धाम=तेज, प्रभाव । परधाम=सबसे श्रेष्ठ तेज वा प्रभावाला (ग) परधाम= जिसका धाम सबसे परे है। (वै., रा. प्र.)

(७) 'व्यापक' इति । (क) अद्वैती मायिक जगत्में अधिष्ठानभूत ब्रह्मकी व्याप्तिको लक्षित करके यह विशेषण लगाते हैं। परंतु द्वैती कहते हैं कि व्यापक शब्द सापेक्ष है। अर्थात् व्याप्यके विना व्यापकता बनती नहीं। अतः जगत्को व्याप्य (सत्यरूपसे) मानना आवश्यक है। उनका कथन है कि जैसे बालूमें शक्कर मिलाई जाय तो बालूके प्रत्येक कणके चारों ओर शक्करही रहती है उसी प्रकार अचित्के परमाणु और अणुरूप जीवोंके चारों तरफ ब्रह्महो व्याप्त रहता है; परमाणु या जीवाणुके भीतर ब्रह्मका प्रवेश नहीं होता; क्योंकि उन (द्वैती) के मतमें पाँच भेद हैं। ब्रह्मजीवभेद, ब्रह्मजड़भेद, जीवजड़भेद, जीव जीवभेद और जड़जड़भेद । प्रत्येकमें परस्पर भेद है। परन्तु इस प्रकारकी (शक्करबालूवत्) व्यापकतामें ब्रह्म परिच्छिन्न हो जाता है; क्योंकि अनन्त परमाणु तथा जीवाणुमें उसका प्रवेश न होनेसे उतना स्थान

अणुसे रहित है। अतएव विशिष्टाद्वैती इस व्यापकताको नहीं स्वीकार करते। वे परमाणु और जीवाणुमेंभी ब्रह्मकी व्याप्ति मानते हैं। इनका कथन है कि जैसे नेत्र शीशेमें प्रवेश करता है (क्योंकि प्रवेश न करता तो उसे दूसरी ओरकी वस्तु कैसे दिखाई पड़ती?), वैसेही ब्रह्मभी परमाणु और जीवाणुमें प्रवेश करता है। ऐसा माननेसे उसकी ठीकठीक व्यापकता सिद्ध होती है। और, 'य आत्मनि तिष्ठन् आत्मन् अन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्'। यह श्रुतिभी यथार्थ संगत हो जाती है। तथा, 'अणो रणीयान्' (कठोप. १।२।२०) इस श्रुतिकाभी स्वारस्य आजाता है। इस श्रुतिका तात्पर्य यह है कि बड़ी वस्तुमें छोटी वस्तुका प्रवेश हो सकता है. छोटी वस्तुमें बड़ीका प्रवेश नहीं होता, अतः अणुसेभी अणु कहनेका कारण यह है कि परमाणुमेंभी ब्रह्मका प्रवेश माना जा सके।

(८) 'विश्वरूप' इति। (क) जैसे देहमें जीवका निवास होनेसे जीव देहके नामसे पुकारा जाता है, और यह देह जीवका शरीर कहा जाता है यद्यपि जीव न देह है और न देहका नाम उसका नाम है, वह तो चेतन, अमल, सहजसुखराशि है। इसी तरह सारे विश्वमें ब्रह्मके व्याप्त होनेसे, सारा विश्व ब्रह्मकी सत्तासे भासित होनेसे यह सारा विश्व भगवानका देह या रूप और भगवान्को 'विश्वरूप' कहा गया। यथा, 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरम्। बृहदारण्यक ३।७।१५।' अथवा, (ख) विराट्रूप होनेसे विश्वरूप कहा। अथवा, (ग) ब्रह्मके अंगअंगमें लोककी कल्पना करनेसे विश्वरूप कहा है। यथा, 'विश्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिश्वासु। लोककल्पना वेद कर अंग अंग प्रति जासु। ६. १४। पद पाताल सीस अज धामा। अपर लोक अँग अँग बिश्रामा। भृकुटि बिलास भयंकर काला। नयन दिवाकर कच घनमाला। जासु घ्रान अश्विनीकुमारा। निसि अरु दिवस निमेष अपारा। श्रवन दिसा दस वेद बखानी। मारुत श्वास निगम निज बानी। अधर लोभ जम दसन कराला। माया हास बाहु दिगपाला॥ आनन अनल अंबुपति जीहा। उतपति पालन प्रलय समीहा। रोमराजि अष्टादस भारा। अस्थि सैल सरिता नस जारा॥ उदर उदधि अधगो जातना। जगमय प्रभुका बहु कलपना॥ अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान। मनुज वास सचराचर रूप राम भगवान। ६. १५।' अथवा, (घ) 'विश्वतः रूपं यस्य सः विश्वरूपः'। अर्थात् जिसका रूप सब ओर है वह 'विश्वरूप' है। यथा श्रुतिः, 'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो, विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। ऋग्वेद सं.।' पुनश्च यथा गीतायाम् 'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षि शिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति। १३। १३।' अथवा, (ङ) 'विश्वस्य' रूपं यस्मात्' इस व्युत्पत्तिके अनुसार विश्वका रूप जिससे (लोगोंके अनुभवमें आता) है वह 'विश्वरूप' है। प्रलयकालमें विश्व अव्यक्त था। वह परमात्माकी इच्छासे स्थूलरूपमें होनेसे सबके अनुभवमें आ रहा है। इसीसे परमात्माको 'विश्वरूप' कहा। विशेष सं. श्लो. ६ में देखिए। अथवा, (च) 'विश्वेन रूप्यते इति विश्वरूपः'। विश्वद्वारा जो जाना जाता है, वह 'विश्वरूप' है। अर्थात् जैसे कि जीवाणु वायुमंडल में सर्वत्र फैले हुए हैं परंतु उनका सर्वसाधारणको ज्ञान नहीं होता। वेही जब प्रारब्धानुसार स्थूलदेहधारी होते हैं तब उस देहकी चेष्टादिके द्वारा उनके चेतनात्वका ज्ञान हो जाता है। वैसेही परमात्मा सर्वत्र व्याप्त होनेपरभी यदि यह स्थूल विश्व न होता तो हमें उनका ज्ञान न हो सकता, विश्वद्वाराही उनका ज्ञान अनुमानादिद्वारा होता है, इसीसे उनको 'विश्वरूप' कहा गया।

(९) 'भगवान' इति। विष्णु पुराणमें 'भगवान्' का स्वरूप इस प्रकार कहा गया है। यथा, 'यत्तदव्यक्तमजरमचिन्त्यमजमव्ययम्। अनिर्देश्यमरूपंच पाणिपादाद्यसंयुतम्। ६६। विभुं सर्वगतं नित्यं भूतयोनिरकारणम्। व्याप्यव्याप्तं यतः सर्वं यद्वै पश्यन्ति सूरयः। ६७। तद्ब्रह्म तत्परंधाम तद्ध्येयं मोक्षकांक्षिभिः। श्रुति वाक्योदितं सूक्ष्मं तद्विष्णोः परमं पदम्। ६८। तदेव भगवद्वाच्यं स्वरूपं परमात्मनः। वाचको भगवच्छब्दस्तस्याद्यस्याक्षयात्मनः'। ६९। (अंश ६ अ० ५) अर्थात् अव्यक्त, अजर, अचिन्त्य, अज, अव्यय, अनिर्देश्य, अरूप (देवमनुष्यादि

रूप रहित), (मायिक) हस्तपादादि रहित, विभु (नियंता), व्यापक, नित्य, सर्वभूतकी जिनसे उत्पत्ति हुई, स्वयं अकारण, व्याप्यमें जो व्याप्त हैं, जिनका बुद्धिमान् लोग ध्यान करते हैं, वह ब्रह्म, वह परधाम, मुमुक्षुका ध्येय, श्रुतिने जिसका वर्णन किया है, सूक्ष्म और विष्णुका परम पद यह परमात्माका स्वरूप 'भगवत्' शब्दसे वाच्य है और उस अनादि अक्षय आत्माका 'भगवत्' शब्द वाचक है।

यह स्वरूप बताकर उसकी व्याख्या की गई है। (१) 'भगवन्' के भ, ग, व, अक्षरोंके सांकेतिक अर्थ इस प्रकार हैं। भ=सम्भर्ता (प्रकृतिको कार्य योग्य बनानेवाले)।=भर्ता (स्वामी या पोषक)। ग=नेता (रक्षक), गमयिता (संहर्ता) और स्रष्टा। व=जो सबमें वास करता है और जिसमें सब भूत वास करते हैं। यथा, 'सम्भर्त्तेति तथा भर्ता भकारोऽर्थद्वयान्वितः। नेता गमयिता स्रष्टा गकारार्थस्तथा मुने। ७३।'''वसन्ति तत्र भूतानि भूतात्मन्य खिलात्मनि। स च भुतेष्वशेषेषु वकारार्थस्ततोऽव्ययः। ७५।' (वि. पु. ६। ५)। उपर्युक्त गुणोंसे संपन्न होनेसे 'भगवान्' नाम है। इस व्याख्यासे यह सिद्ध किया कि संसारका उपादान कारण, निमित्त कारण तथा उत्पत्ति स्थिति लयके करनेवाले, और अन्तर्यामी यह सब 'भगवान्' हैं। (२) भगवान्='भगः अस्यास्ति इति भगवान्। भग=सम्यक् ऐश्वर्य, सम्यक् वीर्य, सम्यक्यश, सम्यक् श्री, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् वैराग्य ये छओ मिलकर 'भग' कहलाते हैं। ऐश्वर्य आदि संपूर्णरीत्या जिनके पास हों उसे भगवान् कहते हैं। यथा, 'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा। ७४।' (३) भगवान्=जो जीवोंकी उत्पत्ति, नाश, आगमन, गमन, विद्या और अविद्याको जानते हैं। यथा, 'उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव भूतानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति। ७८।' (वि. पु. ६। ५)

महारामायण और निरुक्तिमें भगवान् शब्दकी व्याख्या इस प्रकार है। (१) 'ऐश्वर्य्येण च धर्मेण यशसा च श्रियैव च। वैराग्य मोक्ष षट् कोणैः संजातो भगवान् हरिः।' (महा. रा. अ. ४८ श्लो. ३६)। अर्थात् ऐश्वर्य्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य और मोक्ष (ज्ञान) इन छओंके सहित जिन्होंने अवतार लिया है, वह 'भगवान्' है। (२) 'पोषणं भरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकम्। कारुण्यं षट्भिः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्।' (महारामायणे। करु० की टीकासे)। अर्थात् भरणपोषण करनेवाला, शरणागतको शरण देनेवाला, सर्वव्यापक और करुणापूर्ण इन छओंसे पूर्ण भगवान् श्रीराम हैं। (३) 'सर्व हेय प्रत्यनीक कल्याण गुणवत्तया। ४३३। पूज्यात्पूज्यतमो योऽसौ भगवानिति शब्द्यते।' (निरुक्ति। विष्णुसहस्रनामकी श्लोकबद्धटीका)। अर्थात् त्याज्य मायिक गुणदोषोंके विरोधी, कल्याणगुणोंसे युक्त तथा संपूर्ण पूज्योंसेभी पूज्यतम होनेसे 'भगवान्' नाम है। (पं० अखिलेश्वरदासजी)।

नोट—२ 'तेहि धरि देह चरित कृत नाना' इति। अर्थात् (क) उपासकोंके लिये देहकी कल्पना कर लेते हैं। यथा, 'निज इच्छा निर्मित तनु माया गुनगोपार। १.१९२।', 'चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूप कल्पना। रा. पू. ता. १.७।' अर्थात् जो चिन्मय, अद्वितीय, निष्कल और अशरीरी है वह ब्रह्म उपासकोंके कार्यके लिये रूपकी कल्पना कर लेता है। (ख) भाव यह कि जैसे मनुष्य कहते करते हैं वैसेही भगवान् नरशरीर धारण करके नरनाट्य करते हैं और उन्हींकी तरह बाल्यादि अवस्थायें धारण करते हैं। ब्रह्म अवतार लेता है, इसके प्रमाणमें 'अवतारमीमांसा', 'अवतारसिद्धि' आदि अनेक पुस्तकें मिलती हैं। दो एक प्रमाण यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। (१) "एषो ह देवऽप्रदिशो नु सर्वाःपूर्वो ह जातुऽसऽउ गर्भेऽअन्तः॥

सऽएव जातः स ज निष्यमाणः प्रत्यङ्जना स्तिष्ठति सुर्वतो मुखः ॥ ४ ॥" (यजुर्वेद संहिता अ. ३२, कण्डिका ४, मन्त्र १)। अर्थात् हे मनुष्यो ! वह देव परमात्मा जो सब दिशाविदिशाओंमें व्याप्त है, पूर्व समयमें गर्भके भीतर प्रकट हुआ। जो कि सबको पैदा करनेवाला था और जो सब ओर मुखवाला हो रहा है। (२) "प्रजापतिश्चरति गर्भेऽअन्तर जायमानो वहुधा व्विजायते। तस्य योनिम्परिपश्यन्ति धीरास्तस्मिन्न्हतस्थुर्भुवनानि व्विश्वा ॥" (यजु. ३१.। १६)। अर्थात् सम्पूर्ण जगत् तदात्मक है। आशय यह है कि सर्वत्र परमात्मा स्थित है। वह सबमें व्याप्त होकर अजन्मा होकरभी अनेक रूप धारण करता है। (कांडिका १६ मन्त्र १)। गीतामेंभी कहा है, 'परित्राणाय साधूनां विनाशायच दुष्कृताम्। धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ ४ । ८ ।'

३ बैजनाथजी लिखते हैं कि भगवद्गुणदर्पणमें कहा है कि एक बार महारानीजीने श्रीरामजीसे कहा कि आपका 'सौलभ्य गुण' छिपा हुआ है, आप सुलभ होकर सबको प्राप्त हूजिये। तब भगवान् अन्तर्यामी रूपसे सबके हृदयमें बसे। महारानीजीने कहा कि यह रूप तो सबको सुलभ नहीं है, केवल तत्त्वदर्शियोंको प्राप्त होगा। तब प्रभु चतुर्व्यूह संकर्षण, वासुदेव, अनिरुद्ध और प्रद्युम्नरूपसे प्रकट हुए। तब महारानीजीने कहा कि यह रूप केवल योगियोंको प्राप्त होगा, सबको नहीं। तब प्रभु जगन्नाथ, रङ्गनाथ और स्वयं प्रकट शालग्रामादि अनेक रूपोंसे प्रकट हुए। महारानीजीने कहा कि ये रूप तो सुकृती लोगोंको प्राप्त हैं, अन्यको नहीं। तब प्रभुने मत्स्यादि अवतार ग्रहण किये। इसमेंभी सुलभता न मानी क्योंकि एक तो ये थोड़ेही काल रहे और फिर उनकी कीर्त्तिभी मनोहर नहीं। तब प्रभु स्वयं प्रकृतिमन्डलमें प्रकट हो वहुत काल रहे और अनेक विचित्र चरित किये जिन्हें गाकर, सुनकर इत्यादि रीति संसारका उद्धार हुआ। यहाँ व्यापकसे वह अन्तर्यामीरूप, विश्वरूपसे जगन्नाथादिरूप, भगवान्से चतुर्व्यूह रूप, 'धरि देह'से मत्स्यवराहादि 'विभव' रूप और 'चरित कृत नाना'से नरदेहधारी रूप कहे गए।

४ यहाँ दश विशेषण देकर सूचित करते हैं कि जो इन दशों विशेषणोंसे युक्त है, वही परमात्मा है और वही भक्तोंके लिये देह धारण कर अनेक चरित्र किया करते हैं। पुनः भाव कि चारों वेद और छओं शास्त्र उन्हींका प्रतिपादन करते हैं। यदि 'भगवान्' को विशेषण न मानें तो नौ विशेषण होंगे। नौ विशेषण देनेका भाव यह होगा कि संख्याकी इति नौ (९) हीसे है; अतः नौ विशेषण देकर संख्यातीत वा असंख्य विशेषणोंसे युक्त जनाया। श्रीरामजीके गुण, कर्म, नाम और चरित सेभी अनन्त हैं। यथा, 'राम अनंत अनंत गुनानी। जन्म कर्म अनंत नामानी ॥' 'रामचरित सत कोटि अपारा। ७.५२।' और यदि 'सत् चित् आनन्द' को तीन मानें तो वारह विशेषण होंगे। वारहका भाव यह हो सकता है कि जिस ब्रह्मने पूर्ण वारह कलाओंवाले सूर्यके वंशमें अवतार लिया वह यही हैं।

५ इन चौपाईयोंमें जो भाव गोस्वामीजीने दरसाया है, ठीक वही भाव विष्णुपुराणके षष्ठ अंश अध्याय पाँचमें विस्तारसे कहा गया है जिसमेंसे वहुत कुछ ऊपर 'भगवान् शब्दपर लिखेहुए विवरणमें आ चुका है। जैसे चौपाईमें अव्यक्तरूपका वर्णन करके 'भगवाना' शब्द अन्तमें दिया और तब उनका देह धारण करना कहा है, वैसेही वहाँ प्रथम अव्यक्तरूपका (यत्तदव्यक्तमजरं....) वर्णन करके अन्तमें उसीका वाचक 'भगवान्' शब्द वताया और फिर उस शब्दकी व्याख्या करके अन्तमें उन्हींका देह धरना कहा है। यथा, 'समस्त कल्याण गुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशावृत भूतवर्गः। इच्छागृहीताभिमतोरुदेहस्संसाधिता शेष जगद्धितो यः। ८४।' अर्थात् जिन्होंने अपनी शक्तिके लेशमात्रसे भूतमात्रको आवृत किया है तथा अपनी इच्छासे जो अभिमत देह धारण करते हैं ऐसे समस्त कल्याणगुणोंवाले भगवान् (श्रीरामजी) अशेष जगत्का हित करते हैं। (पं. अखिलेश्वरदासजी)।

सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी। ५।

अर्थ—सो (देह धारण करके चरित्र करना) भक्तोंकेही हितके लिए है (क्योंकि) वे परम दयालु हैं और शरणागतपर उनका प्रेम है। ५।

टिप्पणी—'सो केवल भगतन हित लागी।...' इति। (क) 'केवल' का भाव यह है कि अवतार होनेमें हेतु कुछभी नहीं है। भक्तोंहीके हितके लिए अवतार होता है, यथा, 'सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किए प्रगट प्रहलादा॥ अ० २६५', 'तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे। सुं० ४८।', 'भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल। करत चरित धरि मनुज तन सुनत मिटहिं जगजाल', 'राम सगुन भये भगत प्रेम बस। २. २१९।', 'अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी। १. ५१।', 'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। ७. ७२।', 'भगत प्रेम बस सगुन सो होई। १. ११६।,' 'भगत हेतु लीला बहु करहीं। ७. ७५।', इत्यादि। (ख) भक्तोंका हित क्या है? 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥ । बा. १२२।', यह हित हुआ। पुनः, जो उपकार करते हैं उसे आगे लिखते हैं। (ग) 'परम कृपाल' पदसे अवतार का हेतु कहा कि कृपा करकेही अवतार लेते हैं। यथा, 'भये प्रगट कृपाला दीनदयाला। १. १९२।', 'जब जब होइ धरम कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी। तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा। बा. १२१।', 'गो द्विज धेनु देव हितकारी। कृपासिंधु मानुष तन धारी। ५. ३९।', 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं। १. १२२।', 'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्' (शाण्डिल्यसूत्र ४९)। पुनः, 'परम कृपाल' का भाव कि अन्य स्वामी वा देव 'कृपाल' होते हैं और ये 'परम कृपाल' हैं। श्रीरामजीके सम्बन्धमें 'कृपा' का भाव यह है कि एकमात्र हमही भूतमात्रकी रक्षाको समर्थ हैं। यथा भगवद्गुणदर्पणे, 'रक्षणे सर्व भूतानामहमेव परोविभुः। इति सामर्थ्य सन्धानं कृपा सा पारमेश्वरी।' (वै.)। (घ) 'प्रनत अनुरागी' इति। अर्थात् भक्तोंके प्रेममें मर्यादाका विचार नहीं रह जाता। जो एक है उसका बहुत रूप धारण करना, जो ईहा अर्थात् व्यापाररहित है उसका व्यापार करना, जो अरूप है, अनाम है और अज है उसका रूप, नाम और जन्म ग्रहण करना, जो सच्चिदानन्द है उसका हर्षविस्मयमें पड़ना, जो परधामवासी है उसका नरधाम (मर्त्यलोक) में आना, जो सर्वव्यापी है, विश्वरूप है और षडैश्वर्यसम्पन्न है उसका सूक्ष्म जीवरूप भासित करना, छोटीसी देह धारण करना और माधुर्यमें विलाप आदि करना ये सब बातें उस परम समर्थ प्रभुमें न्यूनता लाती हैं। इसीसे इसका समाधान इस अर्धालीमें किया है कि यह प्रभु परम कृपाल और प्रणत अनुरागी है। वह अपने भक्तोंके लिये यह न्यूनताभी ग्रहण करता है। श्री प्रियादासजी 'भक्तिरसबोधिनी टीका' में 'भगवान्' शब्दकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं, 'वही भगवंत संतप्रीति को विचार करे धरे दूरि ईशताहु पांडुन सों करी है।' वही भाव यहाँ दरसाया है। (शीलावृत्त)। सन्तों भक्तोंके अनुरागमें मर्यादा छोड़ देते हैं। मच्छ, कच्छ, वाराह, नृसिंह, वामनादि देह धारण कर लेते हैं। (ङ) साक्षात् दर्शन क्यों नहीं देते? अवतार क्यों धारण करते हैं? उत्तर—जैसे सूर्यको कोई स्वयं नहीं देख सकता पर यदि उनका प्रतिबिंब जलमें पड़े तो सब कोई अनायास देख सकते हैं वैसेही भगवानको कोई देख नहीं सकता, वे दुष्प्रेक्ष्य हैं। अवतार प्रतिबिंबके समान है। सबको आनन्दके साथ दर्शन मिल जाय इसलिये अवतार ग्रहण करते हैं। (रा. प्र., सू. प्र. मिश्र)। (प्रतिबिंबके समान होना वैष्णवसिद्धांतानुकूल नहीं है। अद्वैतसिद्धांतमें विद्यागत प्रतिबिंबको ईश्वर कहते हैं। और वैष्णवसिद्धांतमें स्वयं ब्रह्म भक्तवश प्रकट हो जाता है। हाँ, इतनी बात अवश्य है कि ब्रह्म अपने अनन्त कोटि सूर्यवत प्रकाशको छिपाये रखते हैं)।

खर्रा—इस प्रकरणमें गोस्वामीजीने प्रथम लोकपरंपरा दिखाई। यथा, 'तदपि कहे बिनु रहा न कोई'। फिर 'भजन प्रभाव भाँति बहु भाषा' से वेदके अनुकूल दिखाया। और 'तेहि धरि देह चरित कृत नाना।' १३ (४) कहकर आचरणसे श्रीरघुनाथजीको अंगीकार है यह दिखाया। तथा, 'परम कृपाल प्रनत अनुरागी' से अपना निर्वाह दिखाया कि मेरी कविताका आदर करेंगे एवम् अपने और रघुनाथजीमें प्रणत और प्रणतपालका नाता दृढ़ किया।

जेहि जन पर ममता अति छोहू। [1]जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू। ६।

अर्थ—जिसकी अपने दासपर अत्यन्त ममता और कृपा है और जिसने कृपा करके (फिर) क्रोध नहीं किया। ६।

नोट—१ यह चौपाई और अगली 'परम कृपाल प्रनत अनुरागी' के विशेषण हैं। दूसरेका दुःख देख स्वयम् दुःखी होजाना 'करुणा' है।

२ (क) 'ममता' और 'अनुराग' (जो ऊपर 'प्रनत अनुरागी' में कह आए हैं) का एकही अर्थ है। इसी तरह 'छोह' और 'कृपा' का (जो ऊपर 'कृपालु' कह आए हैं) एक अर्थ है। पूर्व 'परम' विशेषण दिया, इसीसे यहाँ 'अति' विशेषण दिया। (ख) 'अति' का भाव यह है कि जीव ज्योंही आपकी शरण आता है, आप उसके सब अपराध भूल जाते हैं। श्रीमुखवचन हैं कि 'कोटि विप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं॥...जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रानकी नाई॥ सुं० ४४।', 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीतिच याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम। इति वाल्मीकीय रामायणे ६. १८। ३३।'

३ ऊपर कहा कि प्रणतपर अनुराग करते हैं। इसपर यदि यह संदेह कोई करे कि 'फिर क्रोधभी करते होंगे; क्योंकि जहाँ राग है, वहाँ द्वेषभी है?' तो इसका निवारण इस चौपाईमें करते हैं। भाव यह कि जिस जनपर ममता और छोह है, उसपर क्रोध नहीं करते। यथा, 'साहिब होत सरोष, सेवक को अपराध सुनि। अपने देखे दोष, सपनेहुँ राम न उर धरेउ।' (दोहावली ४७)। पुनः, 'जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहुँ सो न राम हिय हेरी॥ बा. २८।' इत्यादि। वाल्मीकीयमेंभी यही कहा है कि 'नस्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥' (वाल्मी. २. १. ११), 'मित्र भावेन संप्राप्तं न त्यज्येयं कथंचन। दोषो यद्यपि तस्यस्यात् सतामेतद्धि गर्हितम्॥ (वाल्मी. ६. १८। ३)।

४ इस चौपाईमें प्रभुको 'जित क्रोध' और 'पूर्ण समर्थ स्वामी' दर्शित किया है। जो पूर्ण नहीं होते, वेही अपराध पर क्रोधित होते हैं। यथा, 'भली भाँति पहिचाने जाने साहिब जहाँ लौं जग, जूड़े होत थोरेही थोरेही गरम।...रीझि रीझि दिये बर खीझि खीझि घाले घर, आपने निवाजे की न काहू के सरम' (वि० २४६)। 'कहा बिभीषन लै मिल्यो कहा बिगार्‌यो बालि। तुलसी प्रभु सरनागतहि सब दिन आये पालि॥ दोहावली १५६।'

गई बहोर गरीब नेवाजू। सरल सबल साहिब रघुराजू। ७।

अर्थ—श्रीरघुनाथजी खोई हुई वस्तुको दिलानेवाले, गरीबनिवाज (दीनोंपर कृपा करनेवाले), सरल-स्वभाव, सबल, सर्वसमर्थ स्वामी और रघुकुलके राजा हैं। ७।

नोट—१ (क) 'गई बहोरि' इति। अर्थात् (१) गई (=खोई) हुई वस्तुको फिरसे ज्योंकी त्यों प्राप्त

---

[1] तेहि—को. रा., रा. प्र.। जेहिं—१६६१, १७०४ (श. ना. चौ.। परन्तु रा. प. में 'तेहि' है), १७२१, १७६२, छ०। करु०, पं., पं. रा. व. श. जीने 'तेहि' पाठ दिया है।

कर देनेवाले । यथा, (क) दशरथमहाराजका कुलही जाता था। यथा, 'भइ गलानि मोरे सुत नाहीं। १. १८८।' उनके कुलकी रक्षा की। विश्वामित्रजीका यज्ञ मारीचादिके कारण बन्द हो गया था, सो आपने मुनिको निर्भय किया। देखत जग्य निसाचर धावहिं। करहिं उपद्रव मुनि दुख पावहिं। १. २०६।', 'निरभय जग्य करहु तुम्ह जाई॥ मारि असुर द्विज निरभय कारी। १. २०९।', 'कौसिक गरत तुषार ज्यों लखि तेज तिया को' (वि०)। (ख) अहल्याका पातिव्रत्य नष्ट हुआ। उसका रूप उसको फिर दिया, पाषाणसे स्त्री किया और उसे फिर पतिसे मिलाया। 'गौतम नारी साप बस उपल देह धरि धीर।...मुनि श्राप जो दीन्हा....एहि भाँति सिधारी गौतम नारी बार बार हरि चरन परी। जो अति मन भावा सो बर पावा गै पतिलोक अनंद भरी। १. २११।', 'चरनकमलरज परसि अहिल्या निज पतिलोक पठाई। गी. १. ५०।', (ग) गौतम ऋषिकी बिछुड़ी हुई स्त्री दिलाई। 'रामके प्रसाद गुरु गौतम खसम भये, रावरेहु सतानंद पूत भये मायके। गी० १. ६५।' (घ) श्रीजनक-प्रतिज्ञा गई रही, उनका प्रण रक्खा। यथा, 'तजहु आस निज निज गृह जाहू।...तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई। १. २५२।', 'कोदंड खंडेउ राम तुलसी जयति बचन उचारहीं १. २६१।'...'जनक लहेउ सुखु सोचु बिहाई। १. २६३।' (ङ) सुग्रीवजीको फिर राज्य दिया। 'सो सुग्रीव कीन्ह कपि राऊ'। (च) देवताओंकी संपत्ति सब रावणने छीन ली थी, सो उनको दिलायी। यथा, 'आयसु भो लोकनि सिधारे लोकपाल सबै तुलसी निहाल कैकै दिए सरखतु हैं। क. ६. ५८।', 'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाए नाक चना हैं। सुबस बसे गावत जिन्हके जस अमर नाग नर सुमुखि सना हैं। गी. ७. १३।'

(२) महानुभावोंने कुछ औरभी भाव ये लिखे हैं। (क) योगभ्रष्ट होनेपर आपकी शरण जिसने ली आपने उसे फिर योगमें आरूढ़ कर दिया। पुनः, जिसका मायाके आवरणके कारण विषयासक्त होनेसे स्वरूपका ज्ञान जाता रहता है, उसे फिर प्राप्त करानेवाले हैं। (करु०)। पुनः, सम्पूर्ण अवस्था व्यतीत होनेपरभी जब अंतिम समय आ जाता है, तबभी शरण होतेही जन्मका फल प्राप्त कर देते हैं। यथा, 'तरेउ गजेन्द्र जाके एक नाउँ', 'बिगरी जन्म अनेक की सुधरै अबही आज। होहु रामको राम जपु तुलसी तजि कुसमाज॥', 'गई बहोर ओर निरबाहक साजक बिगरे काज के। सबरी सुखद गीध गति दायक समन सोक कपिराज के। (गी.)।

नोट—२ (क) गरीबनिवाजू के उदाहरण। यथा, 'अकारन को हितू और कौन है...', 'बिरद गरीब निवाज कौनको भौंह जासु जन जोहैं'। वि २३०।', 'बालि बली बलिसालि दलि सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपाल को बिरद गरीब निवाज। दोहावली १५८।', 'राम गरीबनिवाज हैं मैं गही न गरीबी। तुलसी प्रभु निज ओर ते बनि परै सो कीबी।' (विनय)। अयोध्याकांडभर इसके उदाहरणोंसे भरा हुआ है। गरीबी, मिसकीनता और दीनता एकही हैं, पर्याय हैं। दीनता यह होनी चाहिये कि मुझसे नीच कोई नहीं है, तृण (घास) बन् हो जाय, पैरसे कुचले जानेपर जो उफभी नहीं करनी। जिस दशामें फिर दूसरा भावही न समा सके, सदा उसी रंगमें रंगा रहे। श्रीदेवतीर्थस्वामीजी 'दीनता' की व्याख्या यों करते हैं, 'पति पद सुरति लगी सियजू की आन भाव न समाई। उनको सुरति आन की कैसे होइ न बात कहाई॥ सखी दीनता यह देवलमें छनक रहै जो आई। तौ चटपटी परै सियजू को इहई नेक उपाई॥' (ख) कोई ऐसा लिखते हैं कि मायाके कारण जो सब धन ऐश्वर्यहीन हो गए उन गरीबोंको ऐश्वर्य देनेवाले होनेसे 'गरीबनिवाज' कहा।

३ 'सरल' के उदाहरण यथा, 'सिसु सब राम प्रेम बस जानें। प्रीति समेत निकेत बखानें॥ निज निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई। १. २२५।', 'राम कहा सब कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं। १. २२७।', 'बेद बचन मुनि मन अगम, ते प्रभु करुना ऐन। बचन किरातन्ह के सुनत, जिमि पितु बालक बैन। अ० १३६।', 'सकल मुनिन्हके आश्रमन्हि, जाइ जाइ सुख दीन्ह। आ० ९।', 'सरल सील साहिब सदा सीतापति सरिस न कोइ।' (विनय)। निषाद और शबरीके प्रसंग इसी गुणको सूचित करते हैं।

४ 'सबल' इति। रामायणभर इसका दृष्टांत है। सबल ऐसे कि 'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई। ६. २२।' पुनः, सबल ऐसे कि शंकरजीकेभी ध्यानमें नहीं आते। (पांडेजी)।

५ 'साहिब' इति। यथा, 'हरि तजि और भजिये काहि। नाहिन कोउ राम सों ममता प्रनत पर जाहि॥ कनककसिपु बिरंचि को जन कर्म मन अरु बात। सुतहि दुखवत विधि न वरजेउ कालके घर जात॥ संभु सेवक जान जग बहु बार दिये दस सीस॥ करत रामविरोध सो सपनेहु न हटक्यो ईस॥ और देवन्ह की कहा कहौं स्वारथहिके मीत॥ कबहुँ काहु न राखि लियो कोउ सरन गये सभीत। वि० २१६।', 'जे सुर सिद्ध मुनीस योगविद वेद पुरान बखाने। पूजा लेत देत पलटे सुख हानि लाभ अनुमाने। वि० २३६।' दोहा २८ (४) में भी देखिये। (वि० २४९ २५०, १९१, कवितावली और १३ (६) नोट ४ देखिये)।

६ 'रघुराजू' इति। ऐसे कुलमें अवतीर्ण हुये कि जिसमें लोकप्रसिद्ध उदार, शरणपालादि राजा हुये और आपका राज्य कैसा हुआ कि 'त्रेता भइ सतजुग की करनी।', 'राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भये गये सब सोका॥ बयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥...काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं। २१।...अति प्रसन्न दस दिसा विभागा। उ० १९ से २३ तक।' पुनः ७. ३१ देखिये। इससे दिखाया कि इनकी शरण लेनेसे जीव अभय हो जाते हैं।

'सरल-सबल साहिब रघुराजू' इति।

ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी—सरलभी हैं और साथही सबलभी और पुनः वे रघुकुलके महाराज हैं। सरलके साथ, सबल इसलिए कहा कि सबलताहीमें 'सरलता' और 'शक्ति'हीमें क्षमाकी शोभा होती है और यह न समझा जावे कि ये शक्तिहीन थे, अतएव दीन (या सरल) थे। यथा, 'शक्तानाम् भूषणं क्षमा'। रघुवंशियोंमें ज्ञानमें मौन और शक्तिमें क्षमा, दानमें अमानता, वैसेही सबलतामें सरलता ये गुण स्वभावसे सिद्ध हैं। यथा, 'ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघा विपर्ययः। गुणा गुणानुबंधित्वात्तस्य सप्रसवा इव॥' (रघुवंश १. २२) सो उन रघुवंशियोंमें और उस रघुकुलमें श्रीरामचन्द्रजी सर्वश्रेष्ठ अतएव पुरुषोत्तम हैं। 'बड़ी साहिबीमें नाथ बड़े सावधान हो। क. ७. १२६।' 'साहिब' के साथ 'रघुराज' पद देनेका यह भी भाव है कि वे साहिब अथवा ईश्वर होते हुए रघुराज हैं और रघुराज होते हुएभी ईश्वर हैं। अर्थात् उनका चरित और महत्व ऐश्वर्य माधुर्यमय है।

पं० रामकुमारजी—अवतार लेकर भक्तोंका जो हित करते हैं सो कहते हैं। मन, वाणी और चरितसे 'सरल' हैं। भक्तोंके लिए बड़े बड़े बलवान् राक्षसोंको मारते हैं, अतः 'सबल' हैं। तीनों लोकोंकी रक्षा करते हैं, अतः 'साहिब' कहा। 'रघुकुलके राजा' हैं, धर्म की रक्षा करते हैं।

छः विशेषण देनेके भाव

१ सन्त श्रीगुरुसहायलालजी—(क) 'गई बहोरि...' से सात अवतार सूचित किये हैं। यथा, 'मीन कमठ सूकर नरहरी। वामन परसुराम वपु धरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुखु पायो। नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो।' लं. १०९।' अथवा, (ख) सब अवतार सूचित किए। (१) 'गई बहोरि' से 'मीन, कमठ, शूकर' अवतार सूचित किये। शङ्खासुर वेदको चुराकर समुद्रमें ले गया था, सो मत्स्य रूपसे ले आए। दुर्वासाके शापसे लक्ष्मी समुद्रमें लुप्त हो गई थीं। क्षीरसागर मथनेके लिये गरुड़पर मंदराचल लाये। देवताओंके सम्भाले जब न सँभला तो कमठ रूपसे मन्द्राचलको पीठपर धारण किया। हिरण्याक्ष पृथ्वीको पाताल ले गया तब शूकररूप हो पृथ्वीका उद्धार किया। (२) 'गरीबनिवाजू' से नृसिंह अवतार सूचित किया जिसमें प्रह्लादजीकी हर तरहसे रक्षा की, 'खम्भमेंसे निकले'। (३) 'सरल' से वामन अवतार सूचित किया। क्योंकि प्रभुता तजकर विप्ररूप धर भीख मांगी।

एवं बुद्धरूप जनाया जो देवगुणोंके हेतु वेदनिंदक कहलाए। (इसीसे कहीं कहीं बुद्धको अवतारमें नहीं गिना है) (४) 'सवल' से परशुरामअवतार कि जिन्होंने एक्कीस बार पृथ्वीको निक्षत्रिय किया, इत्यादि जितने अवतार हैं उन सबके साहिब हैं। (५) 'सबल साहिब रघुराजू=ऐसे सबल परशुराम उनके भी स्वामी श्रीरामजी हैं कि जिनकी स्तुति परशुरामजीने की। अवतारका परास्त होना इसीमें है। इस प्रकार आपको अवतारोंका अवतारी सूचित किया। यथा, 'एतेषामवताराणां अवतारी रघूत्तम'। हनुमत संहितायाम्।

२ सुदर्शनसंहितामें लिखा है कि 'राघवस्य गुणो दिव्यो महाविष्णुः स्वरूपवान्। वासुदेवो घनीभूतस्तनु तेजो सदाशिवः। १। मत्स्यश्च रामहृदयं योगरूपी जनार्दनः। कूर्मश्चाधारशक्तिश्च वाराह भुजयोर्बलम्। २। नारसिंहो महाकोपो वामनः कटिमेखला। भार्गवोजङ्घयोर्जातो बलरामश्चपृष्ठतः। ३। बौद्धस्तु करुणा साक्षात् कल्किश्चित्तस्य हर्षतः। कृष्णः शृङ्गाररूपश्च वृन्दावनविभूषणः। ४। एतेचांशकला सर्वे रामो ब्रह्म सनातनः। ५।' अर्थात् श्रीराघवके जो दिव्य गुण हैं वही विष्णु हैं, उनका कल्याणकारी घनीभून तेज वासुदेव हैं, योगरूपीजनार्दन श्रीरामजीका हृदय मत्स्य हैं, आधारशक्ति कूर्म, बाहुबल वाराह, महाक्रोध नृसिंह, कटिमेखला वामन, जङ्घा परशुराम, पृष्ठभाग बलराम, बौद्ध साक्षात् श्रीरामजीकी करुणा, चित्तका हर्ष कल्कि और श्रीकृष्ण वृन्दावनविहारी श्रीरामजीकें शृङ्गारस्वरूप हैं। इस प्रकार ये सब श्रीरामजीके अंश हैं और श्रीराम अंशी स्वयं भगवान् हैं। संभवतः इसीके आधारपर मानसमयंककारने लिखा है, 'परसुराम अति सबल हैं, साहिब सब पर राम। हिय अधार भुज कोप कटि जंघ अंश सुखधाम॥' अर्थात् उपर्युक्त छओं अवतार क्रमशः हृदय, आधारशक्ति, भुजा, कोप, कटि और जङ्घाके अंशोंसे हुये हैं। अतः श्रीरामजी सबके स्वामी वा अवतारी हैं।

३ रा० प्र०—यहाँ छः विशेषण दिये हैं। ये प्रतिकाण्डकी कथाके लिए क्रमसे एकएक विशेषण हैं। उत्तर काण्ड खिल भाग जानकर छोड़ दिया है। या, छठे विशेषण 'रघुराज' से लङ्का और उत्तरकाण्डोंकी कथाका संग्रह किया। 'गई बहोर, गरीब निवाजू' हैं—विश्वामित्र, अहल्या तथा जनकराजके बाधित और विनष्ट होते हुये ध्येय और प्रेयको लौटाया एवम् शबरी, निषाद आदिपर कृपा की। सरलता शबरी आदिके यहाँ जानेमें, सबलता तालवेध और खरदूषणादिके वधमें, साहबी विभीषणकी रक्षामें, रघुराज रिपुरहित राज्यमें। (प्रतिकांडके लिये क्रमशः एकएक विशेषण माननेसे एक कांडकी कथाके लिये विशेषणकी कमी होती है। इसकी पूर्ति 'साहिब' को सुन्दर एवं लङ्का दोनों कांडोंकी कथा दर्शित करनेवाला विशेषण माननेसे हो सकती है। विनयमें कही हुई 'आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी' श्रीहनुमान्जीके चरित तथा हनुमद्रावणसंवादमें भलीभाँति दर्शित की गई है और लंकाकांडमेंभी मन्दोदरी, अंगद, माल्यवान् कुम्भकर्णादिद्वारा तथा त्रैलोक्य-विजयी रावणके वधसे सिद्ध ही है। मा. प्र. कार 'साहिब' से अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और लंका चार कांड लेते हैं। किष्किंधामें सुग्रीवकी साहिबी सजी, सुन्दरमें विभीषणको लंकेश कहा और तिलक कर दिया तथा लंकामें राज्यपर बिठा दिया।)

बुध बरनहिं हरिजस अस जानी। करहिं पुनीत सुफल निज बानी। ८।

शब्दार्थ—पुनीत=पवित्र। सुफल=जो मुखसे निकले वह सच हो यही वाणीकी सफलता है। श्रीराम-यशगुण कितनाही कोई बढ़ाकर कहे, वह थोड़ाही है। इसलिये रामगुणगानमें जो कुछ कहा जायगा सब सत्यही होगा। इससे वाणी सफल होती है। (मा. प्र.)।=कृतार्थ।

अर्थ—ऐसा जानकर (कि गुणातीत प्रभु भक्तहित देह धारण करके चरित करते हैं जिसे गाकर भक्त भव पार होते हैं और वे प्रभु परमकृपाल, प्रणत अनुरागी और गई-बहोरादि हैं।) बुद्धिमान् पण्डित

हरियश वर्णन करते हैं और अपनी वाणीको पवित्र और सुफल करते हैं। ८।

नोट—'करहिं पुनीत' उपक्रम है. 'निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कहेउ' (३६१) में इसका उपसंहार है। इस चौपाईका चरितार्थ बालकांडके अन्तमें है। यथा, 'तेहि ते मैं कछु कथा बखानी। करन पुनीत हेतु निज बानी॥ निज गिरा पावनि करन कारन, रामजस तुलसी कहेउ। ३६१।'

नोट—रामयश वर्णन करनेका यहाँ दूसरा कारण बतलाया। प्रथम कारण 'तहां वेद अस कारन राखा। भजन प्रभाउ भांति बहु भाषा।' १३ (२) में कह आए।

तेहि बल मैं रघुपति गुनगाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा। ९।

अर्थ—उसीके बलसे मैं श्रीरामचन्द्रजीके चरणोंमें शीश नवाकर (उन्हीं) रघुकुलके स्वामीके गुणोंकी कथा कहूँगा। ९।

टिप्पणी—१ 'तेहि बल' इति। जिस बलसे बुध वर्णन करते हैं, उसी बलसे मैंभी वर्णन करता हूँ। अर्थात् भजन जानकर अथवा बुध ऐसा जानकर वर्णन करते हैं और इनको देखकर वर्णन करना उचितही है। शारदाशेषादिका आश्रय लेकर बुध वर्णन करते हैं और बुधका आश्रय लेकर मैं वर्णन करता हूँ।

२ उस बलसे 'मैं रघुपति गुणगान करूंगा', यहाँ इतना कहकर आगे 'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई' से 'एहि प्रकार बल मनहि दिखाई' तक बलका वर्णन है। [पुनः, 'तेहि बल'='भजन बल' से। (रा. प्र.)। वा, श्रीरामचन्द्रजीको 'गईबहोरि गरीबनेवाज' जानकर उनके बलपर। (करुणासिंधुजी)। 'बल' का अर्थ 'भरोसा, धिर्ता, विश्वास' है। यथा, 'जौं अंतहु अस करतब रहेऊ। मांगु मांगु तुम्ह केहि बल कहेऊ। २. ३५।', 'कत सिख देइ हमहि कोउ माई। गालु करब केहि कर बलु पाई। २. १४।', 'मैं कछु कहउँ एक बल मोरे। तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे॥ १. ३४२।]

३ 'कहिहउँ' अर्थात् आगे कहूँगा, अभी नहीं कहता, अभी तो वंदना करता हूँ। आगे जब कहूँगा तब रामपदमें माथा नवाकर कहूँगा। यथा, 'अब रघुपति पदपंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ जुगल मुनिवर्ज कर मिलन सुभग संवाद॥ १. ४३।'

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मगु चलत सुगम[1] मोहि भाई। १०।

अर्थ—मुनियोंने पहले हरियश गाया है। भाई, उसी मार्गपर चलना मुझे सुगम जान पड़ता है। १०

नोट—१ 'मुनिन्ह...' इति। (क) मुनिन्ह बहुवचनसे निश्चित हुआ कि पूर्वभी मुनियोंने श्रीराम-यश गाया है। (ख) 'तेहि मगु' इति। भाव कि जो राह वे निकाल गये, उसी राहपर हमभी चलेंगे। यह नहीं कहते कि जो उन्होंने कहा वही हमभी कहेंगे। वह मग क्या है? 'तदपि कहे बिनु रहा न कोई', 'निज निज मति मुनि हरिगुन गावहिं। ७. ९१।', 'एहि भाँति निज निज मति बिलास मुनीस हरिहि बखानहीं। प्रभु भावगाहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं। ७. ९२।' यही मार्ग हमभी ग्रहण करेंगे। पुनः किसीने बाल, किसीने पौगंड या विवाह, किसीने वन या रण, और किसीने राजगद्दी इत्यादि प्रसंग लेकर जो जिसको भाया उसीको विस्तारसे जहाँतक उसकी बुद्धि जिस प्रसंगमें चली कहा, वैसे ही हमभी जैसी कुछ प्रभुकी कृपा अनुकम्पासे बुद्धिमें अनुभव होगा कहेंगे। (ग) सुगमता आगे दोहेमें दृष्टान्त द्वारा कहते हैं।

२ 'मोहि भाई'। इसका अर्थ बैजनाथजीने 'मुझे रुचता है, भाता है' किया है। 'भाई' विचार

१ सुलभ—१७२१, १७६२, छ.। सुगम—१६६१, १७०४, को. रा.।

करनेमें मनके संबोधनकेलिये बोलनेकी रीति है, वस्तुतः इसका कोई अर्थ यहाँ नहीं है। विशेष न (१३) 'जग बहु नर सर सरि सम भाई ।' में देखिये ।

दो०—अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिँ ।
चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहि जाहिँ । १३ ।

शब्दार्थ—सेतु = पुल । बर = बड़ी, श्रेष्ठ । पिपीलिका = चींटी (वा, च्यूँटी) । सरित = नदी । श्रम = परिश्रम, थकावट ।

अर्थ—जो बड़ी दुस्तर नदियाँ हैं, यदि राजा उनमें पुल बँधा देते हैं, तो बहुतही छोटीसे छोटी चींटियाँभी विना परिश्रमके पार चली जाती हैं । १३ ।

नोट—१ 'रघुपति कथा' उपमेय है और वह स्त्रीलिङ्ग है; इसलिये स्त्रीलिङ्ग शब्द श्रेष्ठ नदी (सरित वर) से उसकी उपमा दी । पं. रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ 'समुद्र' न कहकर 'सरित वर' ही कहनेका कारण यह है कि 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गई' (जो ऊपर कह आए हैं उस) के 'कीरति' के साथ समुद्रका समानाधिकरण नहीं है' । रघुपति चरित अपार है । यथा, 'कहँ रघुपतिके चरित अपारा' । इसीसे 'अपार सरित' की उपमा दी । पं. शिवलालपाठकजी इस दोहेका भाव यह लिखते हैं कि 'सरित नदी वर पर जलधि, अस सियवर यश जान ।। मन पिपीलिका तोष लगि, कहे सेतु निर्मान' । (मा० अ. २७) । और मा. म. में लिखते हैं—'मकव सिंह वप रामयश लरसुघदुदजल अंत ।' अर्थात् सरितवर (=समुद्र) रूपी रामयशपर पुल बाँधना सर्वथा असंभव है, परन्तु यहाँ मनके संतोषके लिये सेतु बाँधना कहा है । पुनः पूर्व जो 'गईबहोर···'में सात अवतार कहे थे, उनका यश क्रमसे सातों समुद्र है । ल (लवण) र (इक्षुरस) सु (सुरा), घ (घृत) दु (दुग्ध), द (दधि) और जल (मीठे जलका) ये सात समुद्र हैं जो क्रमशः एकसे दूसरा दूना होता गया है । पुल बाँधना तो सभीपर असम्भव है, उसपरभी जो अन्तिम सबसे बड़ा मिष्ट जलधि है वह तो अत्यन्त अपार है । उसपर तो मनसेभी सेतु बन्धन करना महान् असम्भव है । परन्तु मनके सन्तोपके लिये कहते हैं कि वाल्मीकि, व्यास आदिने आखिर उसे गाया ही है और उसपर 'इतिश्री' लिखीही हैं वैसेही मैं कहूँगा । 'इति श्री' लगानाही पुल बाँध देना है ।

२ यहाँ वाचकलुप्तोपमालङ्कार है । जैसे तैसे आदि वाचक पद लुप्त हैं । 'अति अपार सरितवर' रामयश है, नृप 'वाल्मीकि व्यासादि' हैं, सेतु उनके रचे ग्रन्थ और पिपीलिका गोसाईंजी हैं ।

एहि प्रकार बल मनहि देखाई । करिहौं रघुपति कथा-सुहाई । १ ।

अर्थ—इस प्रकार मनको बल दिखाकर श्रीरघुनाथजीकी सुन्दर शुभ कथा कहूँगा । १ ।

टिप्पणी—१ ऊपर पहले यह कह आए हैं कि, 'तेहि बल मैं रघुपति गुन गाथा । कहिहउँ नाइ रामपद माथा' । १३ (६) और यहाँ कहते हैं कि 'एहि प्रकार बल मनहिं देखाई । करिहौं रघुपति कथा सुहाई' ॥ प्रथम 'कहिहउँ' कहा, अब 'करिहौं' कहते हैं । इसका तात्पर्य यह है कि प्रथम गोस्वामीजीने यह कहा था कि 'बुध बरनहिं हरिजस अस जानी । करहिं पुनीत सुफल निज बानी' । जब उनका वर्णन कहा, तब अपने लियेभी वर्णन करना लिखा, अतः 'कहिहउँ' पद दिया । पुनः, जब मुनियोंका सेतु बाँधना कहा, यथा, 'तेहि मगु चलत सुगम मोहि भाई ।। अति अपार जे सरित बर जौं नृप सेतु कराहिं ।' तब आपनेभी कहा कि दूसरोंके लिये मैंभी ऐसाही करूँगा । यह बात 'करिहौं' पद देकर सूचित की है ।

२ प्रथम गोस्वामीजीने 'तेहि बल' कहा और यहाँ 'एहि प्रकार' कहते हैं । इसका कारण यह है कि

यहाँ दो प्रकरण हैं। पहले मन कदराता था, कथा कहनेमें प्रवृत्तही नहीं होता था। जब बल दिखाया तब प्रवृत्त हुआ। यह प्रकरण 'समुझत अमित रामप्रभुताई। करत कथा मन अति कदराई। १२। १२।' से लेकर 'तेहि बल मैं रघुपतिगुन गाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा। १३। ६।' तक है। मनका कदराना दूर हुआ, बुद्धि कथा कहनेको तैयार हुई, परंतु पार होनेमें संशय रहा। दूसरे प्रकरणका यहाँ प्रारंभ हुआ। पार जानेके लिये अब बल दिखाते हैं कि 'मुनिन्ह प्रथम हरिकीरति गाई। तेहि मगु चलत सुगम मोहिं भाई॥ अति अपार जे सरित बर...'। यह दूसरा प्रकरण 'एहि प्रकार बल मनहिं देखाई'। पर समाप्त हुआ। पुनः, मुनियोंको श्रीरामकी अमित प्रभुताई कहनी कठिन है। जितनी मुनि कहते हैं, उतनी हमसे कही जाना दुष्कर था। श्रीरामजीकी प्रभुता समझकर मन कदराता था, उसे इस प्रकार बल दिखाया कि मुनियोंने यथाशक्ति उसे कहा तो हमभी यथाशक्ति कहेंगे, उतना न सही।

नोट—'सुहाई' से कई अभिप्राय निकलते हैं। कथा सुन्दर है, सबको 'सुहाई' अर्थात् प्रिय लगेगी। यथा, 'प्रिय लागिहि अति सबहि मम भनिति रामजस संग',-और जैसी हमको सुहावेगी, भावेगी, वैसी कहेंगे, अर्थात् जैसे किसीने बालचरित, किसीने विवाह इत्यादि अपनी अपनी रुचिके अनुसार कहा वैसेही हमें जो रुचेगा हम उस प्रसंगको विस्तारसे कहेंगे।

निज नीचानुसंधानसहित वन्दनाका प्रकरण समाप्त हुआ।

कविवन्दनाप्रकरण

व्यास आदि कवि पुंगव नाना। जिन्ह सादर हरिसुजस बखाना। २।
चरन कमल बंदौं तिन्ह केरे। पुरवहु सकल मनोरथ मेरे। ३।

अर्थ—व्यास आदि अनेक बड़े बड़े कवि जिन्होंने बड़े आदरपूर्वक हरिसुयश कहा है। २। उन सबोंके चरण-कमलोंको प्रणाम करता हूँ। (वे) सब मेरे मनोरथको पूरा करें। ३।

नोट—१ व्यासहीका नाम दिया, वहभी आदिमें, क्योंकि व्यासजी २४ अवतारोंमेंसे एक अवतार माने गये हैं। आप ऐसे समर्थ थे कि अपने शिष्य संजयको यह सिद्धि आपनेही दी कि वह राजा धृतराष्ट्रके पास बैठे हुए महाभारत युद्ध देखता रहा और राजाको क्षण क्षणका हाल वहीं बैठे-बैठे बताता रहा था। पुनः, काव्यरचनामें आप ऐसे निपुण हुए कि १८ पुराण कह डाले। पुनः, आपने वेदोंके विभाग किये हैं। अतः, सबसे प्रधान समझकर इनको प्रथम कहा। आप शुकदेवजीके पिता और सत्यवतीजीके पुत्र वसिष्ठजीके प्रपौत्र हैं। गोस्वामीजी चाहते हैं कि आप ऐसीही कृपा हमपर करें कि हमेंभी श्रीरामचरित सूझने लगे और हम उसे छन्दोबद्ध कर सकें। पुनः, 'व्यास आदि' पद देकर यह भी सूचित किया कि इनसे लेकर इनके पूर्व जितने बड़े बड़े कवि द्वापर, त्रेता और सतयुगमें हुए उन सबकी वन्दना करते हैं। द्विवेदीजी कहते हैं कि 'आदिकवि'को एक पद कर देनेसे इस रामायणके प्रबंधमें प्रधान श्रेष्ठ वाल्मीकिजीका भावभी आ जाता है। और बैजनाथजीका मत है कि यहाँ व्यास, आदिकवि वाल्मीकि और बड़े बड़े कवि नारद, अगस्त्य, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य आदि जो बहुतसे हुए, उन सबोंकी वंदना है। परन्तु वाल्मीकिजीकी वंदना आगे एक दोहेमें स्वतंत्र रूपसे की गई है जिसका कारण स्पष्ट है कि उन्होंने केवल रामचरित्रही गान किया है और कुछ नहीं और इन व्यासादि महर्षियोंने श्रीहरिचरित्र तो सादर अवश्य गाया है, पर उन्होंने देव, दैत्य, नर, नागादिके भी चरित्र वर्णन किये हैं, केवल भगवच्चरित्र ही नहीं। (वै.भू.)। पुंगव=श्रेष्ठ, बड़े बड़े।

२ 'सकल' पद 'व्यास आदि' और 'मनोरथ' दोनोंके साथ ले सकते हैं। इसे दीपदेहली न्याय कहते

हैं। 'सकल मनोरथ' क्या हैं ? सुन्दर मति हो, सुन्दर कविता बने और कविताका साधुसमाजमें आदर सम्मान हो।

३ 'सादर बरने' इति। प्रेम, उत्साह, सावधानतासे चित्त लगाकर कहनाही आदरसे कहना है। 'सादर' पद देकर बतलाते हैं कि हरियश आदरपूर्वक वर्णन करना चाहिये। यथा, 'जे एहि कथहिं सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता। १. १५।', 'रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह। बा० १११।' इत्यादि। पुनः, 'सादर'=आदरके सहित। 'सादर' कहनेका अभिप्राय यह है कि कविने अपने नायक और उनके चरित आदिका श्रद्धापूर्वक वर्णन किया है, वह उसका प्रिय विषय है। यह भी जनाया कि औरोंके चरित सामान्यतः वर्णन किये हैं, पर भगवच्चरित्र आदरसहित कहे हैं।

टिप्पणी—पूर्व ऐसा कह आये हैं कि 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई।' अब उन्हीं व्यास आदि मुनियोंकी वन्दना करते हैं जो कविभी हैं। पहले रामरूप मानकर वंदना की थी, अब रामचरितके नाते वन्दना करते हैं।

कलि के कबिन्ह करौं परनामा। जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा। ४।

जे प्राकृत कबि परम सयाने। भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने। ५।

भये जे अहहिं जे होइहहिं आगें। प्रनवौं सबहि[१]कपट सब[२]त्यागें। ६।

शब्दार्थ—परनाम = प्रणाम। गुनग्राम=गुणोंका समूह, यश।

अर्थ—कलियुगके (उन) सब कवियोंको (भी मैं) प्रणाम करता हूँ जिन्होंने श्रीरघुनाथजीके गुणसमूहोंका वर्णन किया है। ४। जो बड़े चतुर 'प्राकृत' कवि हैं जिन्होंने भाषामें हरिचरित कहा है। ५। और, जो (ऐसे कवि) होगये हैं, मौजूद हैं या आगे होंगे उन सबोंको सब कपट छोड़कर मैं प्रणाम करता हूँ। ६।

कवियोंकी वन्दना

ग्रन्थकारने दोहा १४ की दूसरी अर्द्धालीमें प्रथम व्यास आदि अनेक श्रेष्ट कवियोंकी वन्दना की। फिर कलियुगके कवियोंकी वन्दना चौथी अर्द्धालीमें की, तत्पश्चात् भूत, भविष्य, वर्तमानके भाषाके कवियोंकी वंदना की।

व्यासादिको 'कवि पुंगव' कहा, इसलिये उनकी वन्दनामें 'चरन कमल बंदौं' पद दिया, जो विशेष सम्मानका द्योतक है। औरोंके लिये केवल 'प्रनवौं' पद दिया है। व्यवहारकी शोभा इसीमें है कि जो जैसा हो, उसका वैसाही सम्मान किया जावे।

उक्त तीनों स्थानोंमें हरियश वर्णन करना सबके साथ लिखा है। यथा, 'जिन्ह सादर हरिसुजस बखाना', 'जिन्ह बरने रघुपति गुन ग्रामा', 'भाषा जिन्ह हरिचरित बखाने'। ये विशेषण तीनों जगह देकर यह सूचित करते हैं कि हम उन्हीं कवियोंकी वंदना कर रहे हैं जिन्होंने 'हरिचरित' वर्णन किया है, जिन्होंने हरिचरित नहीं कहा, वे चाहे संस्कृतके कवि हों चाहे भाषाके, हम उनकी वंदना नहीं कर रहे हैं।

यहाँ तीन प्रकारके कवियोंकी वन्दना की। व्यास आदि बड़े बड़े कवि जो सत्युग त्रेता द्वापरमें

---

१ सबनि—१७२१, १७६२, छ०, भा. दा.। सबहि—१६६१, रा. प्र., १७०४। २ छल—१७२१, १७६२, छ०, रा. पं., मा. प्र.। सब—१६६१, १७०४, (शं. ना.), को. रा.।

हुये, उनकी वंदना प्रथम की। फिर कलिके कवियोंकी दो शाखाएँ कीं। १४ (४) में 'भाषा' पद न देकर सूचित किया कि कलियुगमें जो संस्कृतके कवि कालिदास, भवभूति, आदि हुये हैं उनकी वन्दना करते हैं और अन्तमें भाषाके कवियोंकी वन्दना की।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि तीसरी शैलीमें भाषाके कवियोंको 'प्राकृत कवि' कहकर सूचित किया कि व्यास आदि अप्राकृत कवि हैं।

प्राकृत=साधारण, लौकिक (अर्थात् प्राकृतिक) गुणोंसे विशिष्ट। यथा, 'यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ'। जिनका साधारण व्यवसाय यह है कि स्थूल प्रकृति विशिष्ट अदिव्य नायकोंका वर्णन करते हैं।

प्रोफे० दीनजी—'जे प्राकृत कवि परम सयाने। भाषा...' इति। संस्कृतमें करनेवालोंने कलियुगका विचार न किया कि संस्कृत कौन समझेगा और इन्होंने समयानुसार भाषामें किया; इसलिये 'परम सयाने' विशेषण इनको दिया गया। 'प्राकृत...' अर्थात् कलियुगमें जिन कवियोंने 'प्राकृत' भाषामें रामचरित बखाना और जिन्होंने भाषामें बखाना। दो तरहके कवि। 'परम सयाने' दीपदेहली है।

द्विवेदीजी—'प्राकृत कवि' ऐसा पद डालनेसे प्राकृतभाषाके कवि अर्थात् बौद्धमतके भी कवि जो हरि-चरित्रानुरागी हैं उन्हें जना दिया।

☞'प्राकृत' इति। इस शब्दके दो अर्थ लिये गये हैं। इस लिये यह भी बताना आवश्यक है कि 'प्राकृत' भाषा कौन भाषा है। ईसवी सन्‌से तीनसौ वर्ष पूर्व अर्थात् आजसे दोहजार तीनसौ वर्ष पूर्व भाषा प्राकृत रूपमें आचुकी थी। पूर्वी प्राकृत 'पाली' भाषाके नामसे प्रसिद्ध हुई। संस्कृतके विकृत और वर्तमान हिंदीकी प्रारंभिक अवस्थाका नाम 'प्राकृत' था। चन्द बरदाईके पहले सर्वथा तथा सोलहवीं शताब्दीके आस-पासतक प्राकृतमें कविता होती थी। जैनग्रंथ तथा अनेक बौद्ध ग्रन्थभी प्राकृतहीमें हैं। वर्तमान हिन्दी अर्थात् सूरसेनी (व्रजभाषा), अवधी और मागधी आदिका संमिश्रणही 'भाषा' है। भाषाका लक्ष्य बताया गया है कि 'संस्कृतं प्राकृतं चैव, शूरसेनं च मागधम्। पारसीकमपभ्रंशं भाषा या लक्षणानि षट्।' अर्थात् इन छओंसे मिली हुई जबानका नाम 'भाषा' है। (वे. भू.)।

नोट—२ भए=हुए। अर्थात् हमारे पहले जो हो गये हैं, जैसे चन्द कवि (जो भाषाके आदि कवि हुए जिनका 'पृथ्वीराज रासो' प्रसिद्ध ग्रन्थ है), और गंग आदि। 'अहहिं=आजकल हमारे समयमें मौजूद हैं, वर्तमान। जैसे, सूरदासजी। होइहहिं=आगे होंगे, भविष्यके।

३ 'कपट सब त्यागे' इति। (क) गोस्वामीजीने इन कवियोंको 'कपट त्याग' कर प्रणाम करना लिखा। मुं. रोशनलालजी लिखते हैं कि ये भाषाके कवि आपके सजातीय हुए, इससे उनको कपटछल त्यागकर प्रणाम करते हैं। (पांडेजी)। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'संस्कृत कवियोंके साथ कपटछल करनेकी प्राप्ति नहीं, इसलिये उनसे कपटछल त्याग करना न कहा। भाषाकवियोंके साथ छलकपट होना सम्भव है। क्योंकि ये भी भाषाके कवि हैं, अतः इनसे सफाई की।' (ख) यहाँ 'कपट' क्या है? पं० रामकुमारजी कहते हैं कि ऊपरसे प्रणाम करना और भीतरसे बराबरीका अभिमान रखना कि ये भाषाके कवि हैं और हमभी तो भाषाके कवि हैं यही कपट है। छलसे प्रणाम नहीं करते कि मेरी कविताकी निन्दा न करें, बल्कि सद्भावसे प्रसन्न होनेके लिये प्रणाम करते हैं। आगे होनेवाले कवियोंको प्रणाम किया, इससे लोग यह अनुमान न करें कि छोटेको प्रणाम क्यों किया, अतएव ऐसा कहा कि छोटाईबड़ाई या ऊँचनीचका भेद न रखकर वंदना करता हूँ। (वीरकवि)।

होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु-समाज भनिति सनमानू।७।
जो प्रबंध बुध नहिं आदरहीं। सो श्रम बादि बालकवि करहीं।८।

शब्दार्थ—प्रबंध=रचना, काव्य। बादि=व्यर्थ, बेकार। बाल=बालकोंकीसी बुद्धिवाले, तुच्छबुद्धि, मूर्ख।

अर्थ—आप सब प्रसन्न होकर वरदान दीजिये कि साधुसमाजमें कविताका आदर हो।८। (क्योंकि) जिस कविताका आदर साधु नहीं करते उसका परिश्रमही व्यर्थ है, मूर्ख कवि (व्यर्थही उसमें परिश्रम) करते हैं।९।

नोट—१ सू०:—मिश्र अपने ग्रन्थकी साधुसमाजमें आदरकी प्रार्थना है। इससे यह न समझना चाहिये कि गोसाईंजी काव्यके यशको चाहते हैं। उनका आशय तो यह है कि रामचरित्र वर्णन करनेवालोंके भीतर भेदका नामभी नहीं रहता, यथा, 'सुनु सठ भेद होइ मन ताके। श्रीरघुवीर हृदय नहिं जाके'। अतएव गोसाईंजीने उनकी प्रार्थना की कि जो तत्त्वकी बात हो और उन लोगोंको प्रिय हो वे मुझपर कृपा करके उसका वर देवें।

२ साधुसमाजमें सम्मान हो यह वर मांगा। अब बताते हैं कि कविता कैसी होनी चाहिये कि जिसका साधु सम्मान करते हैं।

३ दो असम वाक्योंमें 'जो' 'सो' द्वारा समता दर्शाना 'प्रथम निदर्शना' है।

कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ[1] हित होई।९।

शब्दार्थ—कीरति=कीर्त्ति, यश जो दान, पुण्य आदि शुभ कर्मोंसे हो, जैसे बाग लगाना, धर्मशाला, पाठशाला, बावली बनवाना, तालाब या कुँआ खुदवाना, इत्यादि। हित=हितकर। भूति=ऐश्वर्य, जैसे अधिकार, पदवी, उहदा पाना, धनवान् होना। भली=अच्छी।

अर्थ—कीर्ति, कविता और ऐश्वर्य वही अच्छे हैं जो गंगाजीकी तरह सबको हितकर हों।९।

नोट—'सुरसरि सम सब कहँ हित होई' इति। राजा भगीरथने जन्मभर कष्ट उठाकर तपस्या की तब गंगाजीको पृथ्वीपर ला सके, जिससे उनके 'पुरुषा' सगरके ६०००० पुत्र जो कपिल भगवान्‌के शापसे भस्म हो गये थे तरे और आजतक सारे जगत्‌का कल्याण उनके कारण हो रहा है। उनके परिश्रमसे पृथ्वीका भी हित हुआ। यथा, 'धन्य सो देस जहाँ सुरसरी'। गंगाजी ऊँच-नीच, ज्ञानी-अज्ञानी, स्त्री-पुरुष, आदि सबका बराबर हित करती हैं। 'सुरसरि सम' कहनेका भाव यह है कि कीर्त्तिभी ऐसी हो जिससे दूसरेका भला हो। यदि ऐसे किसी कामसे नाम प्रसिद्ध हुआ कि जिससे जगत्‌को कोई लाभ न हो तो वह नाम सराहने योग्य नहीं। जैसे खुशामद करते-करते रायसाहब इत्यादि कहलाये अथवा प्रजाका गला घोंटने वा काटनेके कारण कोई पदवी मिल जाय। इसी तरह कविता पवित्र हो (अर्थात् रामयशयुक्त हो) और सबके लिए उपयोगिनी हो, जैसे गंगाजल सभीके काम आता है। (पं० रा० कु०)। 'कविता' सरल हो, सबकी समझमें आने लायक हो, व्यर्थ किसीकी प्रशंसाके लिए न कही गई हो, वरन् 'निज संदेह मोह भ्रम हरनी' होते हुए 'सकल जनरंजनी' और 'भव सरिता तरनी' सम हो, सदुपदेशोंसे परिपूर्ण हो। जो ऐश्वर्य मिले तो उससे दूसरोंका उपकारही करे, धन हो तो दान और अन्य धर्मोंके कामोंमें लगावे। क्योंकि 'सो धन धन्य प्रथम गति जाकी'। धनकी तीन गतियाँ कही गई हैं। दान, भोग और नाश। सू० मिश्र कहते हैं कि 'कीर्ति, भणिति,

[1] कहीं कहीं 'कर' पाठ आधुनिक प्रतियोंमें है।

भूतिकी ममता गंगाजीसे देनेका कारण यह है कि तीनों गंगाके समान हैं। कीर्त्तिका स्वरूप स्वर्ग द्वार है और अकीर्तिका नरक द्वार। यथा, 'कीर्त्तिस्वर्गफलामाहुरासंसारं विपश्चितः। अकीर्तिं तु निरालोक नरकोद्देश दूतिकाम्।।' अर्थात् पंडित लोग कहते हैं कि कीर्त्ति स्वर्गदायक और अकीर्त्ति जहाँ सूर्यका प्रकाश नहीं है ऐसे नरककी देनेवाली है। अतएव सबकी चाह कीर्त्तिकी ओर रहती है। वाणी उसका नाम है जिसके कथनमात्र से प्राणिमात्रका पाप दूर होजाय। 'तद्वाग्विसर्गो जगताघविप्लवो' इति भागवते प्रथम स्कन्धे (५. ११)। भूतिका अर्थ धन है। "धनाद्धिधर्मः प्रभवति", 'नाधनस्य भवेद्धर्मः', इत्यादि। पुनः, 'सुरसरि सम....' का भाव कि वेदादिका अधिकार सब वर्णोंको नहीं, प्रयागादि क्षेत्र एकदेशमें स्थित हैं, सबको सुलभ नहीं, इत्यादि और गंगाजी, गंगोत्तरीसे लेकर गंगासागरतक कीटपतंग, पशुपक्षी, चींटीसे लेकर गजराजादितक, चांडाल, कोढ़ी, अंत्यज, स्त्री-पुरुष, बाल-वृद्ध, रंक राजा, देव यक्ष राक्षस आदि, सभीका हित करती हैं। इसी तरह संस्कृत भाषा सब नहीं जानते, इने गिनेहीका हित उससे होता है और भाषा सभी जानते हैं उसमें जो श्रीरामयश गाया जाय तो उससे सबका हित होगा। यह अभिप्राय इसमें गर्भित है।

नोट—१ (क) यहाँ 'सुरसरि सम हित' कहा। आगे १५ (१-२) में वह 'हित' कहते हैं। 'मजन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अविवेका।' (ख) तीन उपमेयोंका एकही धर्म 'सब कहँ हित' कहना 'प्रथम तुल्ययोगिता अलंकार' है। (ग) आगे भाषाकाव्यका अनुमोदन करते हैं।

राम सुकीरति भनिति भदेसा। असमंजस अस मोहि अँदेसा। १०।

शब्दार्थ—असमंजस=दुविधा, पशोपेश, संदेह, सोच विचार। यथा, 'असमंजस अस हृदय बिचारी, बढ़त सोच...', 'बना आइ असमंजस आजू'; अयुक्त। अँदेसा (अंदेशा)=यह फारसी शब्द है जिसका अर्थ चिन्ता, फिक्र है। सुकीरति=सुन्दर उत्तम कीर्त्ति, निर्मल यश।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीकी कीर्त्ति (तो) सुन्दर है और मेरी वाणी भदेसी है। यह असामंजस्य है, यह असंगति है, इसकी मुझे चिन्ता है। १०।

नोट—१ 'असमंजस अस मोहि अँदेसा' इति। पं० रामकुमारजी—अगली, चौपाईमें अपनी वाणीको टाट और रामयशको रेशम कहते हैं, जैसे रेशमी कपड़े पर टाट (अर्थात् सनकी) बखिया (सीवनि) भदेस है; वैसेही भदेस वाणीमें सुन्दर यश कहना अच्छा नहीं लगेगा, यही असमंजस आ पड़ा है कि करें या न करें और इसीसे चिन्ता है।

२ करुणासिंधुजी—श्रीरामजीकी कीर्त्तिके योग्य मेरी वाणी नहीं है, इससे असमंजस और चिन्ता है कि यदि संत इसे ग्रहण न करें तो न कहना ही भला है परन्तु बिना कहेभी मन नहीं मानता।

३ पुनः, अंदेशा इस लिए है कि मेरी वाणीके कारण श्रीरामयशमें धब्बा न लगे। जैसा कहा है कि 'तुलसी गुरु लघुता लहत, लघु संगति परिनाम। देवी देव पुकारियत, नीच नारि नर नाम।' (दोहावली ३६०)।

तुम्हरी कृपा सुलभ सोउ मोरे। सिअनि सुहावनि टाट पटोरे। ११।

शब्दार्थ—सिअनि=सीवन, सिलाई, बखिया। पटोरे (पटोल)=रेशमी वस्त्र। मोरे=मुझे, मुझको।

अर्थ—(परन्तु) आपकी कृपासे यह बातभी मुझे सुलभ होसकती है (कि वह मेरी भणित समुचित और सुसंगत हो जाय) जैसे रेशमकी सिलाईसे टाट भी सुशोभित होता है। ११। ❀

❀ अर्थान्तर—२ रेशमकी सिलाई टाटपरभी सुहावनी लगती है। (मानसांक, ना. प्र.)। ३ टाटकी हो या रेशमकी हो, सिलाई अच्छी होनेपर सुहावनी लगती ही है। (वीरकवि)। भाव

नोट—१ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि इस मेरी वाणीके माहात्म्यसे मुझे लोग अभिमानी न समझें इसलिए 'राम सुकीरति' इत्यादि दो चौपाइयोंसे अपनी वाणीको अधम ठहराया और उसे टाटके ऐसा बनाया। पण्डित, राजा और बाबूलोग सनके टाटको अधम समझकर उसपर नहीं बैठते, लेकिन् साधारण लोगोंके लिए तो टाटही प्रधान है। जहाँ दस भाई इकट्ठे होते हैं उसकी प्रशंसा 'वहाँ टाट पड़ा है' इस शब्दसे करते हैं; दिवालिया हो जानेसे कहते हैं कि उसका टाट उलट गया है। इस टाटमें रामचरित वर तागकी सीवन है इसलिए अच्छे लोगभी देखकर ललचेंगे, यह ग्रन्थकारकी उत्प्रेक्षा है।

२ मिश्रजी—इस चौपाईसे ग्रन्थकार अपने मनको दृढ़ करते हैं कि सत्संगतिसे क्या क्या नहीं हो सकता है। यद्यपि मेरी वाणी रामगुण वर्णन करनेके लायक नहीं, तथापि आपकी कृपासे हो जायगी।

३ यहाँ 'वाचक लुप्तोपमा अलंकार' है। 'जैसे' और 'तैसे' शब्द लुप्त हैं जैसे रेशमकी सीवनसे टाट शोभित है उसी तरह श्रीरामचरितके योगसे मेरी वाणीभी सुहावनि लगेगी। (मा. प्र.)।

४ 'सुलभ' का भाव यह है कि भदेस वाणीसे रामयश कहना फबता नहीं, सो तुम्हारी कृपासे मुझे सुलभ है। (पं. रा. कु.)

'सिअनि सुहावनि टाट पटोरे' इति।

१ पं० रामकुमारजी—रेशममें टाटकी सीवन भदेस है, सोभी सुहावनी हो जावेगी। अर्थात् वाणीकी भदेसता मिट जावेगी।

२ मा. प्र.—मेरी भदेस वाणीमें श्रीरामकीर्ति शोभित होगी जैसे टाटपर रेशमकी सिलाई शोभित होती है।

३ श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि अब कुछ व्यंगसे लाड़ जनाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि हमारी वाणी श्रीरामकीर्तिके योग्य तो नहीं है, परन्तु आपकी कृपासे योग्यताभी सुलभ (सहजही प्राप्त) हो जावेगी। क्योंकि सुन्दर रेशमके तागेसे अगर टाट अच्छी तरह सिया जावे (भाव यह है कि टाटपर रेशमकी बखिया अगर अच्छी की जावे) तो उससे टाटकी भी शोभा हो जाती है। इसी तरह टाटरूपी वाणीको श्रीरामयश वरतागसे मैं सीता हूँ। आप कृपा करें तो वहभी अच्छी लगेगी। श्रीरामयश रेशम उसमें भी चमकेगा।

४ श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि—यहाँ काकोक्ति अलंकार है। सनसे पाटाम्बर सिला हुआ क्या अच्छा लगेगा ? नहीं*। भाव यह है कि सनसे पाटाम्बर सियें तो देखनेवालोंको तो अच्छा कदापि नहीं लगेगा, वे हँसी उड़ावेंगे; परन्तु पहिननेवाले उसे अंगीकार करलें तो निर्वाह हो जाता है; सीनेवालेका परिश्रमभी सफल हो जाता है। इसी तरह मेरी वाणीको आप अपनावेंगे तो वह भी सुहावेगी। पुनः वाल्मीकि व्यास आदिकी संस्कृत कविताको रेशम और भाषा कविताको टाट सम कहा है। जिन्हें 'सीत' रूपी प्रीति व्यापी है उन्हें टाटभी अच्छा लगेगा। (पं०, रा. प.)।

वैजनाथजी—यदि कहो कि प्रभुकी कीर्ति तो उत्तमही है और भाषा सबको सुलभ है तब उसके बनानेमें क्या असमंजस करते हो, तो उसपर कहते हैं कि नहीं। चाहे संस्कृत हो चाहे भाषा, काव्यकी बनावट सबमें अच्छी लगती है जैसे चाहे रेशमी वस्त्र हो चाहे टाट हो, यदि सिलाई अच्छी बने तो वह टाटमें भी अच्छी

* पहले जो बात कही है पीछे काकोक्तिसे उसके पुष्ट करनेकी आवश्यकता नहीं है। क्योंकि जब कोई अटपट बात कही जाती है तभी उसको काकोक्तिसे पुष्ट किया जाता है। यहाँ वैसी कोई बात नहीं है। (प्रोफे. दीनजी)।

लगेगी और रेशममें भी। वही सीवनरूप सुन्दर काव्य करने योग्य नहीं हूँ वहभी आपकी कृपासे सुलभ है। क्या सुलभ है, यह आगे कहते हैं।

वे. भू. रा. कु. दा.—पूर्व जिन जिन बातोंका निर्देश कर चुके हैं कि मेरी कविताका साधुसमाजमें सम्मान हो, पंडित लोग आदर करें और गंगासमान सबको हितकर हो; भदेस होनेसे मेरी कवितामें अपने गुणोंसे उपर्युक्त बातोंको प्राप्त करनेकी स्वयं शक्ति नहीं है। आपकी कृपासे 'सोउ' वह सबभी मेरी कविताको सुगमतासे प्राप्त हो जायेगी जिसकी कि मुझे आशा नहीं है क्योंकि 'सो न होइ बिनु बिमल मति…'।

नोट—५ 'सुलभ सोउ मोरे' इति। गोस्वामीजी यहाँ कहते हैं कि 'सुलभ सोउ मोरे'। कौनसी वस्तु सुलभ है? जिस वस्तुका सौलभ्य वे चाहते हैं वह उपर्युक्त चौपाईमें होनी चाहिए; परन्तु उसमें उसका निर्देश नहीं मिलता है। तो 'सोउ' का प्रयोग किसके लिए किया है? इसका उत्तर यह है कि असमंजसके विरुद्ध-गुण-धर्मवाली बातका वे सौलभ्य चाहते हैं और उस भावका शब्द 'सामंजस्य' या सुसंगति' होगा। अतः उसका अध्याहार किया गया। इससे यह ज्ञात हुआ कि 'सोउ' का प्रयोग 'सुसंगति' के लिए किया गया है। और उसीका उनकी कृपासे होना मानते हैं। 'राम सुकीरति भनिति भदेसा।' इस चौपाईमें पहिले 'राम सुकीरति को' कहा है, फिर अपनी भणितिको 'भदेसा' कहा है; इसी क्रमसे यथा-संख्यालंकारके अनुसार 'सिअनि सुहावनि टाट पटोरे' के शब्दोंको भी होना चाहिए। अतः 'राम सुकीरति' का उपमान 'पटोरे सिअनि' और 'भनिति भदेसा' का 'टाट' होना चाहिए। इससे इसका यही अर्थ हुआ कि 'रेशमकी सीवनसे टाट सुशोभित होगा।'

*** करहु अनुग्रह अस जिय जानी। बिमल जसहिं अनुहरइ सुबानी। १२।**

शब्दार्थ—अनुहरइ=उसके अनुसार, योग्य, तुल्य वा सदृश हो, प्राप्त करे।

अर्थ—जीमें ऐसा जानकर कृपा कीजिये। निर्मल यशके योग्य सुन्दर वाणी हो जावे। [वा, वाणी विमल यश को प्राप्त करे। (मा० प०)]

'बिमल जसहिं अनुहरइ सुबानी' इति। भाव यह कि यदि आपके जीमें यह बात आवे कि देखो तो कैसा अनाड़ी है कि सुन्दर रेशम टाटमें सीता है तो मुझे अपना जानकर मुझपर कृपा करके पाटके लायक़ वस्त्र दीजिए। अर्थात् श्रीरामयशके लायक़ मेरी वाणी कर दीजिये। (करुणासिंधुजी)

पं० राजकुमारजी—'ऐसा जीमें जानकर अनुग्रह करो कि रेशममें टाटकी सीवन है सो मेरी वाणी सुन्दर होके विमल यशमें अनुहरै अर्थात् रेशम सम हो जावे। रेशममें रेशमकी सीवन अनुहरित है।'

सरल कबित कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान। १४ (क)।
सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मति-बल अतिथोरि।
करहु कृपा हरिजस कहउं पुनिपुनि करउं[1] निहोरि। १४ (ख)

---

* १६६१ में यह अर्धाली थी पर उसपर फीका हरताल है। काशिराजकी छपाई हुई प्रति एवं छक्कनलालजी, भागवतदासजी, बाबा रघुनाथदास और अयोध्याजीके महात्माओंकी प्रतियोंमें यह अर्द्धाली पाई जाती है। अतः हमने भी लिया है।

१ कहौं निहोरि—१७२१, १७६२, छ०। करउं निहोर—१६६१, १७०४, गौड़जी, को. रा.।

शब्दार्थ—सहज बैर=स्वाभाविक वैर, जैसे चूहे बिल्लीका, नेवले साँपका, गौ व्याघ्रका इत्यादि। यह बैर बिना किसी कार्य कारणके होता है और किसी प्रकार भी जीतेजी नहीं छूट सकता। दूसरा कृत्रिम बैर है जो किसी कारणसे होता है और उस कारणके दूर हो जाने वा मान लेनेसे छूट जा सकता है, पर सहज वैर बराबर बना रहता है, कदापि नहीं छूटता। 'सरल कबित'। 'सरल' कविता वह है जिसमें प्रसाद गुण हो, और प्रसाद गुण वह है जिसके आश्रयसे सुनते सुनते कविता समझमें आजावे। कीरति बिमल= 'निर्मल कीर्ति। यथा, 'बरनउँ रघुबर बिसद जस' (२९), 'राम सुकीरति' (१४), 'जिन्हहिं न सपनेहु खेद बरनत रघुबर बिसद जस' (१४)। बखान=बड़ाईसहित वर्णन, प्रशंसा। यथा, 'मंदाकिनि कर करहिं बखाना'।

अर्थ—जो कविता सरल हो और जिसमें निर्मल चरितका वर्णन हो उसीको सुजान आदर देते हैं और उसको सुनकर शत्रुभी सहज बैर छोड़कर सराहते हैं अर्थात् सरलता और निर्मल यश उसमें हों तो सुजान और बैरी दोनों आदर करते हैं। ❀ सो (ऐसी कविता) बिना निर्मल बुद्धिके नहीं हो सकती और बुद्धिका बल मेरे बहुतही थोड़ा है। आपसे बारम्बार बिनती करता हूँ कि आप कृपा करें जिससे मैं हरियश कह सकूँ (अथवा मुझे हरियश कहना है अतएव आपकी कृपा चाहिये)। १४।

टिप्पणी—१ 'सरल कबित कीरति·····' इति। (क) कवित कठिन हो तो सुजान आदर नहीं करते और उसमें रामजीकी विमल कीर्ति न हो तोभी आदर नहीं करते। अर्थात् कवितामें सरलता और निर्मल कीर्ति दोनों होने चाहिए। यथा, 'भनिति बिचित्र सुकबिकृत जोऊ। रामनाम बिनु सोह न सोऊ'। 'रामनाम जस अंकित जानी॥ सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही'। इत्यादि। (ख) 'जो सुनि करहिं बखान' का भाव यह है कि प्रथम तो शत्रु सुनतेही नहीं और यदि सुनेंभी तो 'बखान' नहीं करते, सुनकर चुप रहते हैं। पर वेभी 'दिव्य कविता' को वैर भुलाकर सुनते और कहते हैं।

नोट—१ सू. प्र. मिश्रजी कहते हैं कि नीति तो यही है कि सहज वैर, जैसे बिल्लीचूहेका, न्योले

❀ 'जो कविता सरल हो और यश निर्मल हो उसीका आदर सज्जन करते हैं तथा उसीको सुनकर स्वाभाविक वैरीभी अपने वैरको छोड़कर उसका वर्णन करने लगते हैं'। विनायकी टीकाकार यह अर्थ करते हैं और 'लिखते हैं कि सरल कविताकी सराहना भाषाके विरोधी भी करने लगते हैं।···और विमल कीर्ति जैसे अर्जुनके पराक्रमके सामने उनके शत्रु महारथी कर्णकी प्रशंसा श्रीकृष्णजीने की थी।' परन्तु यहाँ ऐसा अर्थ करनेसे कवितामें केवल एकही गुणकी जरूरत टीकाकार जताते हैं कि वह सरल हो। क्या इतनेहीसे सज्जन उसका आदर करेंगे? कदापि नहीं। और न ग्रंथकारहीका यह आशय है, वे तो बारम्बार कहते हैं कि कैसीही अनूठी कविता क्यों न हो यदि वह हरियशसे युक्त नहीं है तो बुद्धिमान् उसका आदर न करेंगे। इससे जो अर्थ पूर्व आचार्योंने किया है वही ठीक है, यह अर्थ सङ्गत नहीं। यदि यह कहा जाय कि पहलेभी तो 'कीर्ति' और 'कविता' को अलग अलग कह आए हैं। यथा, 'कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कर हित होई॥', तो जरा ध्यान देनेसे दोनों प्रसंगोंमें भेद जान पड़ेगा। देखिए, जब 'कीरति' 'भनिति' 'भूति' को अलग अलग कहा तब यही कहा कि वहही कीर्ति, भणित अच्छी है जो हितकर हो, इनका सज्जनोंसे आदर किया जाना नहीं कहा। पुनः 'बिमल जस' श्रीहरियशहीके लिये गोस्वामीजी अभीही ऊपर कह आए हैं।

करु०, पं., रा. प्र., मा. प्र. के अनुसार हमने ऊपर अर्थ दिया है। परन्तु 'सोइ' और 'जो' का सम्बन्ध होता है उसके अनुसार अर्थ होगा—'कवित सरल और विमलयशयुक्त हो जिसे सुनकर शत्रुभी स्वाभाविक बैर छोड़कर सराहते हैं उसीका आदर सज्जन करते हैं।' बैजनाथजीने यह अर्थ दियाभी है। इसके अनुसार कविताका सज्जनोंमें आदर होनेके लिये तीन गुण चाहिएँ।

सर्प, सिंह, हाथीका, तो जीतेजी कदापि नहीं जाता पर गोस्वामीजीका कथन है कि उत्तम काव्य सहज वैरको भी हटा देता है, इसीमें यह शक्ति है कि स्वाभाविक स्वभावको हटाकर अपूर्व अविरोधी गुणको करता है। ऐसे काव्यके बनानेकी शक्ति मुझमें नहीं है। इस लिए आप लोगोंसे विमल मतिकी प्रार्थना करता हूँ; क्योंकि विना इसके सरल कविता नहीं बन सकती जिसकी सहज वैरीभी प्रशंसा करें। द्विवेदीजी लिखते हैं कि नैषधकार श्रीहर्षकी कविता सुनकर उनके पिताके शत्रु कान्यकुब्जेश्वरके दरवारके प्रधान पण्डितनेभी हार मानकर प्रशंसा की और अपने स्थानपर श्रीहर्षको नियुक्त कर दिया; इसीपर श्रीहर्षने नैषधके अन्तमें लिखा है कि 'ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः कान्यकुब्जेश्वरात्' (सर्ग २२)। २ 'पुनि पुनि'=बारंबार कवि ऐसी प्रार्थना करते हैं। यथा, 'होहु प्रसन्न देहु वरदानू', 'करहु अनुग्रह अस जिय जानी', 'करउ कृपा हरिजस कहउँ'।

३ प्रायः रामचरितमानसके प्रेमी इसपर विचार किया करते हैं कि गोस्वामीजीके इस ग्रंथका आदर देशदेशान्तरमें हो रहा है, इसका क्या कारण है? कोई आपकी दीनताही इसका कारण कहते हैं। कोई और और कारण बताते हैं। हमारी समझमें एक कारण इस दोहेसे ध्वनित होता है। सरलस्वभाव कवि, वैसेही सरल उनकी कविता, वहभी विमलयशसे अंकित, फिर क्यों न सर्वत्र आदरणीय हो! अवतारवादके कट्टर विरोधी, सगुण ब्रह्मके न माननेवाले, वैष्णवसिद्धांतके कट्टर शत्रु, इत्यादि पंथाई एवं अन्यअन्य मतावलंबी लोग एवं भाषाके कट्टर विरोधीभी इधर बराबर किसी न किसी रूपमें श्रीरामचरितमानसकी प्रशंसा करते देखे जा रहे हैं।

कवि कोविद रघुबर चरित मानस मंजु मराल।
वाल विनय सुनि सुरुचि लखि, मोपर होहु कृपाल। १४ (ग)।

शब्दार्थ—कवि=काव्यके सर्वांगोंको जानने और निर्दोष सर्व गुणोंसे विभूषित काव्यमें श्रीहरियश गानेवाला तथा सूक्ष्म दृष्टिवालाही 'कवि' है। कोविद=पंडित। काव्यांगादि जाननेवाले, व्याकरण और भाषाओंके पंडित भाष्यकार आदि 'कोविद' हैं। मानस=मानससरोवर। सुरुचि=सुन्दर इच्छा वा अभिलाषा।

अर्थ—कवि और कोविद जो रामचरितमानसरूपी निर्मल मानससरोवरके सुन्दर हंस हैं वे मुझ वालककी विनती सुनकर और सुन्दर रुचिको जानकर मुझपर कृपा करें।

नोट—१ (क) मंजु=मंजु मानस, मंजु मराल (दीपदेहरी न्यायसे)। सुन्दर हंस कहनेका भाव यह है कि जैसे हंस मानसरोवर छोड़ कहीं नहीं जाते क्योंकि वेही उसके गुणोंको भलीभाँति जानते हैं, वैसेही आप रामचरितहीके श्रवण, मनन, कीर्त्तनमें अपना समय बिताते हैं। यथा, 'सीताराम गुणग्रामपुण्यारण्य विहारिणौ... कवीश्वर कपीश्वरौ' (मं० श्लो०)। आप भूलकरभी और काव्य न करते, न गाते, न सुनते, और न देखते हैं। (ख) वे. भू. रा. कु. दा. जी कहते हैं कि इस ग्रंथमें तीन प्रकारके हंसोंका उल्लेख पाया जाता है। हंस, राजहंस और कलहंस। क्षीरनीरविवरणविवेक मात्र जिनको है उनको 'हंस' कहा है। यथा, 'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि विकार। १.६। अस विवेक जब देइ विधाता।' 'सगुनु खीरु अवगुन जलु ताता। मिलइ रचइ परपंच विधाता। भरत हंस रविवंस तड़ागा। जनमि कीन्ह गुन दोष विभागा॥ २.२३२।' राजहंसमें चालकी प्रधानता है। यथा, 'सखी संग लै कुँअरि तब चलि जनु राजमराल।' (१.१३४)। कलहंस वे हैं जिनमें सुन्दर वोलीकी प्रधानता है। यथा, 'कल हंस पिक सुक सरस रव करि गान नाचहिं अपछरा। १.८६।', 'वोलत जलकुक्कुट कलहंसा' (३.४०)। यहाँ मरालके साथ 'मंजु' विशेषण देकर भगवच्चरित्रके कवि कोविदोंको तीनों गुणोंसे संपन्न सूचित किया, इसीलिये इनके संबंधसे अपने बारे में तीन क्रियाएँ 'सुनि', 'लखि'; 'होहु कृपाल' दीगई; जो संभवतः हंस, कलहंस और राजहंसके गुणोंका द्योतक हैं। (ग) पं. सुधाकर-द्विवेदीजी कहते हैं कि मानसमंजु मरालसे महादेवजीका ग्रहण करना चाहिए। जिस कर्ममें जो प्रधान

रहता है उस कर्मके आरम्भमें लोग पहले उसीका ध्यान करते हैं; जैसे लड़नेके समय महावीरजीका। इसी प्रकार आगे वाल्मीकिजीका स्मरण है। (घ) गोस्वामीजीने श्रीभरतजीके प्रसंगमें 'मंजुमराली' की उपमा दी है। यथा, 'हिय सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई॥ विमल विवेक धरम नयसाली। भरत भारती मंजु मराली॥ २.२९७।' इसके अनुसार निर्मल विवेक और धर्मनीतिशाली होनेसे 'मंजु मराल' का रूपक दिया जाना संभव है। वे मानसकेही सुन्दर कमलवनमें विचरा करते हैं। यथा, 'सुरसर सुभग वनज वनचारी' (२.६०)। उसी समानताके लिये यहाँ 'मराल' की उपमा दी। पुनः, हंस प्राकृत मानससरमें विचरते हैं और ये कवि कोविद अप्राकृत श्रीरघुवर चरित मानस सरमें विचरते हैं इससे इनको 'मंजु मराल' कहा। वा, और अवतारोंके चरित गानेवाले 'मराल' और रघुवरचरितमानसमें विहार करनेवाले होनेसे 'मंजु मराल' कहा। (ङ) लखि—'मनकी बात भाँप लेना' ही लखना कहलाता है। यथा, 'लषन लखेउ रघुवंसमनि ताकेउ हर कोदंड (१.२५९), 'लषन लखेउ प्रभु हृदय खँभारू।' (२. २२७)

टिप्पणी—पं० रामकुमारजी—१ 'बाल विनय सुनि सुरुचि लखि' कृपा करनेको कहते हैं। इसका भाव यह है कि मुझमें एक यही बात है जिससे आप मेरे ऊपर कृपा कर सकते हैं, और वह यह है कि मैं आपका बालक हूँ और मेरे मनमें सुन्दर चाह है। इसे छोड़ आपके कृपा करनेके लायक़ मुझमें और कुछ नहीं है। २ 'बालक' कहनेका भाव यह है कि आप रामचरितमानसके हंस हैं, मैं आपका बालक हूँ, मुझे भी रामचरितमानसका आनन्द दीजिए। ३ गोस्वामीजीने संतोंसे पुत्र पिताका नाता रक्खा है। यथा, 'बाल विनय सुनि करि कृपा' 'बाल बिनय सुनि सुरुचि लखि……।'

कवि-वन्दना-प्रकरण समाप्त हुआ।

समष्टिवन्दना

बंदौं मुनिपदकंज, रामायन जेहिं निरमयेउ।
स खर सुकोमल मंजु, दोषरहित दूषन सहित। १४ (घ)।

शब्दार्थ—निरमयेउ=निर्माण किया, रचा, बनाया, उत्पन्न किया। सखर (स+खर)=खर (राक्षस) सहित; अर्थात् खरकी कथा इसमें है। दूषन (दूषण) खर राक्षसका भाई। अरण्यकांडमें दोनोंकी कथा है।

अर्थ—मैं (वाल्मीकि) मुनि के चरण कमलकी वंदना करता हूँ, जिन्होंने रामायण बनाई, जो 'खर' सहित होनेपरभी अत्यंत कोमल और सुन्दर है, और दूषण (राक्षस) सहित होनेपर भी दोष रहित है। १४।

नोट—१ करुणासिंधुजी लिखते हैं कि यहाँ गोस्वामीजी वाल्मीकिजीकी 'स्वरूपाभिनिवेश वंदना' करते हैं जिससे मुनिवाक्य श्रीमद्रामायणस्वरूप हृदय में प्रवेश करे। नमस्कार करते समय स्वरूप, प्रताप, ऐश्वर्य, सेवा जब मनमें समा जाते हैं तो उस नमस्कारको 'स्वरूपाभिनिवेश वंदना' कहते हैं।

२ 'सखर' और 'दूषण सहित' ये दोनों पद श्लिष्ट हैं। पहलेका एक अर्थ कठोरता और कर्कशता युक्त होता है और दूसरा अर्थ 'खर नामक राक्षसके सहित' है। दूसरेका एक अर्थ 'दोष सहित' और दूसरा 'दूषण नामक राक्षसके प्रसंग समेत' होता है। अतः यहाँ श्लेषालंकार है। इनके योगसे उक्तिमें चमत्कार आ गया है। भाव यह है कि इस रामायणमें कठोरता कर्कशता नहीं है। कठोरताके नामसे 'खर' राक्षसका नामही मिलेगा और दोषरहित है, दोषके नामसे इसमें 'दूषण' राक्षसका नामही मिलेगा। पुनः सखर होते हुयेभी सुकोमल है और दोषरहित होते हुएभी दूषणसहित है इस वर्णनमें 'विरोधाभास अलंकार' है।

३ इस सोरठेको शेखर कविके 'नमस्तस्मै कृता येन रम्या रामायणी कथा। सदूषणापि निर्दोषा सखरापि सुकोमला ॥' इस श्लोकका अनुवाद कह सकते हैं। गोस्वामीजीने उत्तरकांडमें भी लगभग इसी प्रकार कहा है। यथा, 'दंड जतिन्ह कर, भेद जहँ नर्तक नृत्यसमाज। जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र के राज॥ ७. २२।' इस प्रकार विचार करनेसे यहाँ 'परिसंख्यालंकार' भी है।

'सखर सुकोमल...सहित' इति। इस उत्तरार्धके अर्थ टीकाकारोंने अनेक प्रकारसे लिखे हैं। कुछ ये हैं—

१ 'यह रामायण सखर अर्थात् सत्यताके सहित है (खर=सत्य। यथा, 'कर्म उपासन ज्ञान बेदमत सो सब भाँति खरो'), कोमलतासहित है, स्वच्छताके सहित है और दोष दूषणसे रहित है। ('रहित' शब्द दीपदेहली-न्यायसे दोनोंमें है)। काव्य में दोष दूषण अर्थात् रोचक, भयानक वचनभी हुआ करते हैं सो इसमें नहीं हैं, इससे 'खर' (यथार्थ) वचन हैं।' खर दूषणसे राक्षसका अर्थ करनेमें दोष उपस्थित होता है। यदि ग्रंथकारको राक्षसोंकी कथाका सम्बन्ध लेकरही वंदना करना अभिप्रेत होता तो रावण कुंभकर्णकाही नाम लिखते। यह 'भाव दोष' कहलाता है। (नंगे परमहंसजी)।

(२) यह रामायण कैसी है ? उत्तरार्द्ध सोरठे में कहते हैं कि वह कठोरता सहित है। (क्योंकि इसमें अधर्मियोंको दण्ड देना पाया जाता है), कोमलतायुक्त है (क्योंकि इसमें विप्र, सुर, संत, शरणागत आदिपर नेह, दया, करुणा, करना पाया जाता है), मंजु है (क्योंकि उसमें श्रीरामनाम रूप लीला धामका वर्णन है जिसके कथन श्रवणसे हृदय निर्मल हो जाता है), दोषरहित है (क्योंकि अन्य ग्रन्थका अशुद्ध पाठ करना दोष है और इसके पाठमें अशुद्धताका दोष नहीं लगता), दूषण भी इसमें हितकारीही है, क्योंकि अर्थ न करते बनना दूषण है सो दूषणभी इसमें नहीं लगता, पाठ और अर्थ बने या न बने इससे कल्याणही होता है क्योंकि इसके एक एक अक्षरहीके उच्चारणसे महापातक नाश होता है। प्रमाणं, यथा, 'चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातक नाशनम् ॥" (रुद्रयामल अयोध्या माहात्म्य १. १५)

(३) 'सखर' (अर्थात् कठोर स्वभाव वालों) को कोमल और निर्मल करती है, जो दूषणयुक्त हैं उनकोभी दोषरहित करती है।

(४) 'मुनिपद' सखर अर्थात तीक्ष्णसहित हैं (क्योंकि उपासकोंके पाप नाश करते हैं), सुकोमल हैं क्योंकि भक्तोंके हृदयको द्रवीभूत करते हैं, मंजु (उज्जल) हैं (क्योंकि अहंतारूपी मलको निवृत्त करते हैं), दोपरहित हैं। तपादि करके स्वयं निर्मल हुए और दर्शन करनेवालोंकोभी दोषरहित करते हैं और दूषण अर्थात् पादुकासहित हैं'। पुनः यह रामायण कैसी है ? सखर है अर्थात् उसमें युद्धादि तीक्ष्ण प्रसंग हैं, उसके पदोंकी रचना कोमल है, मंजु अर्थात् मनोहर है, दोषरहित अर्थात् काव्यके दोष उसमें नहीं हैं। अथवा सखर है अर्थात श्रीरामजीका सखापन इसमें वर्णित है। सुग्रीव, गुह और विभीषणसे सखाभाव वर्णित है। कोमल, मंजु और दोषरहित तीनों विशेषण सखाभावमें लगेंगे। कोमल सुग्रीवके सम्बन्ध में कहा, क्योंकि उनके दुःख सुनकर हृदय द्रवीभूत हो गया, अपना दुःख भूल गया। गुहकी मित्रताके सम्बन्ध में 'मंजु' कहा क्योंकि उसको कुलसमेत मनोहर अर्थात पावन कर दिया। दोषरहित-दूषणसहित विभीषणके सम्बन्धसे कहा। शत्रुका भ्राता और राक्षस कुल में जन्म दूषण हैं, उन्हें दोषरहित किया। (पं०)।

(५) भक्तिके जो पाँच रस हैं उनसे युक्त है। 'सखर रस कोमल मंजु' अर्थात् उसमें सख्यरस है, कोमल रस अर्थात् वात्सल्यरस है, मंजु अर्थात् शृंगाररस है, दोषरहित रस है अर्थात् शान्तरस है, दूषणसहित (अर्थात् दास्य) रस है। दास्यको दूषणसहित कहा, क्योंकि पूर्ण दास्यरस तब हो जब स्वामी जिस राहमें पदसे चले

सेवक उस राहमें सिरके बल चले, सो ऐसा होनेका नहीं। यथा, 'सिर भर जाउं उचित अस मोरा। सब ते सेवक धरम कठोरा।' (मा. प्र.)।

(६) मुनिपदकंज सखर अर्थात् बड़े उदार दाता हैं, स्मरण करनेसे कामप्रद हैं; मन्जु हैं अर्थात् ध्यानियोंके चित्तके मलको हरते हैं; सुकोमल हैं; दोषरहित अर्थात् निष्कंटक हैं। कमल कण्टकयुक्त है इसीसे दूषणसहित कहा। (बाबा हरिदास)।

(७) वे. भू. रा. कु. दा.—मेरी समझमें तो यहाँ खर और दूषण राक्षसोंका अभिप्राय नहीं है। ये तो सभी रामायणोंमें हैं तब वाल्मीकीयमें विशेषताही क्या रह गई? यहाँ कविताकी वृत्तियोंसे अभिप्राय है। कवितमें प्रधान तीन वृत्तियाँ हैं। उपनागरिका या वैदर्भी; परुषा या गौडी और कोमला या पांचाली। यहां उपनागरिका या वैदर्भी वृत्तिके लियेही श्लोकमें 'रम्या' और सोरठेमें 'मंजु' पद आया है। रम्या या मंजु होनेसेही वैदर्भी वृत्तिके लियेही कहा गया है कि 'धन्यासि वैदर्भिगुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।' परुषा या गौडीके लिये तो परुषका पर्यायवाचीही 'खर' शब्द है और कोमलता वृत्तिके लिये 'कोमल' शब्द है। निष्कर्ष यह कि मुनिकृत रामायण प्रधान वृत्ति त्रयसे परिपूर्ण है। कवितामें अनेक दोष आ सकते है। पीयूष वर्षी जयदेवने 'चन्द्रालोक' में लगभग चालीस दोष लिखे हैं। मुनिकृत रामायण उन दोषोंसे सर्वथा रहित है। झूठ बोलना या लिखना दोष है और सत्य बोलना या लिखना दोष नहीं है परन्तु अप्रिय सत्य दोष तो नहीं किंतु दूषण अवश्य है। इसीसे मनुने कहा है, 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियम्।' और मानसमें भी कहा है, 'कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी।' वाल्मीकिजीने कई जगह अप्रिय सत्य कहा है। जैसे लक्ष्मणजीका पिताके लिये कठोर वचन बोलना और श्रीरामजीका श्रीसीताजीको दुर्वाद कहना, सीताजीका लक्ष्मणजीको मर्म वचन कहना, इत्यादि। गोस्वामीजीने इन अप्रिय सत्योंको स्पष्ट न कहकर अपने काव्यको अदूषण बना दिया। अर्थात् 'लखन कहेउ कछु वचन कठोरा', 'मरम वचन जब सीता बोला', 'तेहि कारन करुना निधि कहे कछुक दुर्वाद' कहकर उस सत्यका निर्वाह कर दिया परन्तु अप्रियतारूप दूषण न आने दिया। इसी लिये तो मुनिकी रामायणको 'मंजु' और अपनी भाषारामायणको 'अति मन्जुलमातनोति' कहा है। (प्रेमसंदेशसे)।

नोट—४ 'बंदौं मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयेउ' इति। (क) वाल्मीकिजी मुनिभी थे और आदिकविभी। ये श्रीरामचन्द्रजीके समयमेंभी थे और इन्होंने श्रीरामजीका उत्तरचरित पहलेहीसे रच रक्खा था। उसीके अनुसार श्रीरामजीने सब चरित किये। इन्होंने शतकोटिरामचरित छोड़ और कोई ग्रन्थ रचाही नहीं। कहीं इनको भृगुवंशमें उत्पन्न प्रचेताका वंशज कहा है। (श. सा.)।

स्कन्द पुराण वैष्णवखण्ड वैशाखमास माहात्म्यमें श्रीरामायणके रचयिता वाल्मीकिकी कथा इस प्रकार है कि ये पूर्व जन्ममें व्याधा थे। इनको महर्षि शंखने दया करके वैशाखमाहात्म्य बताकर उपदेश किया कि तुम श्रीरामनामका निरन्तर जप करो और आजीवन वैशाखमासके जो धर्म हैं उनको आचरण करो, इससे वल्मीक ऋषिके कुलमें तुम्हारा जन्म होगा और तुम वाल्मीकि नामसे प्रसिद्ध होगे। यथा, 'तस्मात् रामेति तन्नाम जप व्याध निरन्तरम्। धर्मऽनेतान् कुरु व्याध यावदामरणान्तिकम्॥ अ० २१. ५५। ततस्ते भविता जन्मवल्मीकस्यऋषेः कुले। वाल्मीकिरिति नाम्नाच भूमौ ख्यातिमवाप्स्यसि। ५६।' उपदेश पाकर व्याधाने वैसाही किया। एक बार कृणु नामके ऋषि बाह्यव्यापारवर्जित दुश्चर तपमें निरत होगए। बहुत समय बीत जानेपर उनके शरीरपर दीमककी बांबी जम गई-इससे उनका नाम वल्मीक पड़ गया। इन वल्मीकऋषिके वीर्यद्वारा एक नटी के गर्भसे उस व्याधाका पुनर्जन्म हुआ। इससे उसका नाम वाल्मीकि हुआ जिन्होंने रामचरित गान किया।

दूसरी कथा 'वालमीक नारद घटजोनी ।' ३ (३) में पूर्व लिखी गई है ।

५ 'मुनि' तो अनेकों होगए हैं जिन्होंने रामायणें रचीं, तब यहाँ मुनिसे वाल्मीकिहीको क्यों लेते हो ? उत्तर यह है कि (क) अन्य मुनियोंने पुराण, संहिता आदिके साथमें रामायणभी कहा है, रामायणगान गौण है जो प्रसंग पाकर कथन किया गया है और वाल्मीकिजीने रामायणही गान किया; अन्य काव्य नहीं । (ख) 'निरमयेउ' शब्दभी 'वाल्मीकि' कोही सूचित करता है, क्योंकि 'आदिकाव्य' रामायणका यही है, इन्हींने प्रथमप्रथम काव्यमें रचना की । (ग) यहांभी गोस्वामीजीके शब्द रखनेकी चतुरता दृष्टिगोचर हो रही है। 'रामायन' शब्द देकर उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि वाल्मीकिजीकीही वंदना वे कर रहे हैं । श्रीमद्रामायण शब्द केवल वाल्मीकीयरामायणके लिये प्रयुक्त किया जाता है, अन्यके लिये नहीं; अतः यहाँ उन्हींकी वन्दना है ।

(६) रामायणमें तो रावण कुंभकर्ण मुख्य हैं, उनका नाम न देकर 'खर', 'दूषण' का क्यों दिया ? इस शंकाका समाधान एक तो अर्थहीसे हो जाता है कि कविको 'खरता' (कठोरता) और 'दोष' के नामके पर्याय येही दो शब्द मिले, रावण और कुंभकर्ण शब्दोंमें यह अलंकार ही नहीं बनता और न वे काव्यके अंगोंमें आए हैं । और भी इसका समाधान महात्मा यों करते हैं कि रावण युद्ध और उसका वध होनेमें मुख्य कारण शूर्पणखा हुई । खरदूषणादि रावणकी तरफ़से जनस्थानमें शूर्पणखासहित रहते थे । ये दोनों रावणके समान बलवान थे, जैसा रावणने स्वयं कहा है—'खर दूषन मोहि सम बलवंता । तिन्हहिं को मारै बिनु भगवंता । आ० २३।' वाल्मीकीयमें जैसा पराक्रम इन्होंने दिखलाया वह भी इस बातका साक्षी है । रावणके वैर और युद्धका श्रीगणेश इन्हींसे हुआ । इस कारण इनका नाम दिया है । पुनः, गोस्वामीजीकी यह वन्दना तो शेखर एवं महारामायणकी वन्दनाके अनुसार है । जो विशेषण वहाँ थे, वही यहाँ दिए गए ।

वंदौं चारिउ वेद, भव बारिधि बोहित सरिस ।
जिन्हहिं न सपनेहु खेद, बरनत रघुबर बिसद जसु । १४ (ङ) ।

शब्दार्थ—बारिधि=समुद्र । बोहित=जहाज़, नाव, बेड़ा। यहाँ समुद्रके लिए 'जहाज़' अर्थ ठीक है । खेद=क्लेश, परिश्रम ।

अर्थ—मैं चारों वेदोंकी वन्दना करता हूँ जो संसार समुद्रके लिये जहाज़ के समान हैं । जिन्हें रघुनाथजीका निर्मल यश वर्णन करते स्वप्नमें भी खेद नहीं होता । १४ ।

नोट—१ भाव यह है कि श्रीरामचरित वेदोंका प्रिय विषय है, इस लिए वे उसे उत्साहपूर्वक गान करते हैं ।

टिप्पणी—१ पहले व्यासजी, फिर क्रमसे वाल्मीकिजी, वेदों और ब्रह्माजीकी वंदना करनाभी भावसे खाली नहीं है । व्यासजी भगवान्के अवतार हैं । वाल्मीकिजी प्रचेताऋषिके पुत्र हैं । इसलिए व्यासजीकी वंदना इनसे पहले की । वाल्मीकिजीके पीछे वेदोंकी वन्दना की, क्योंकि इनके मुखसे वेद रामायणरूप होकर निकले। यथा, 'स्वयम्भू कामधेनुश्च स्तनाश्च चतुराननाः । वेददुग्धामलं शुक्लं रामायण रसोद्भवम् ॥' इतिस्कान्दे । [वेद प्रथमप्रथम भगवान्ने ब्रह्माजीके हृदयमें प्रकट किया था । यथा, 'तेने ब्रह्महृदा य आदिकवये' (भा १. १. १.), 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम् यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै' (श्वेता. उ. ६. १८) अर्थात् जो सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्माको उत्पन्न कर उनके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है ।] वाल्मीकिजी और ब्रह्माजीके बीचमें वेदोंकी वंदना की; क्योंकि ब्रह्माजीके मुखसे वेद निकले और उनके मुखसे रामायण। ब्रह्माजीके पहले वाल्मीकिजीकी वंदना करनेका हेतु यह है कि यहाँ रामायणहीका वर्णन है, इसलिये रामायणके आचार्यको प्रथम स्थान देना उचित ही था । ब्रह्माजीकी

वन्दना करके अन्य देवताओंकी वन्दना करते हैं। (वैजनाथजी लिखते हैं कि रामायणका कर्त्ता जान वाल्मीकिजीकी और उसका पूर्व रूप जान वेदोंकी वन्दना की। और वेदोंका आचार्य जान ब्रह्माकी वन्दना की)।

नोट—२ सन्तश्रीगुरुसहायलालजीका मत है कि 'वोहित' से वे जहाज़ समझने चाहिये जो युद्ध समय प्रायः जलके भीतरही भीतर चलते हैं। वेदरूपी जहाज़ भवसागरके जलके भीतर रहकर मोह दलका नाश भीतरही भीतर कर डालते हैं।

३ 'बरनत रघुबर बिसद जस' इति। यहाँ प्रायः यह शङ्का की जाती है कि 'वेदोंमें रघुनाथजीका यशवर्णन तो पाया नहीं जाता फिर गोस्वामीजीने यह कैसे लिखा?' समाधानः—गोस्वामीजी वैष्णव थे, श्रीरामभक्त थे। अवतारके स्वीकारहीसे भक्ति शुरू होती है। जिसको कोई कोई लोग निराकार, निर्गुण इत्यादि ब्रह्म कहते हैं उसीको हमारे परमाचार्य श्रीमद्‌गोस्वामीजी साकार, सगुण, इत्यादि कहते हैं। और यह मत श्रुतियों पुराणों संहिताओं इत्यादिमें प्रतिपादित भी है। श्रीमद्भगवद्‌गीताके माननेवालोंको भी यह बात माननीही पड़ती है। गोस्वामीजीने श्रीरामचरितमानसमें ठौरठौर इसी बातको दृढ़ किया है, अवतारहीकी शंका तो 'रामचरितमानस' का मुख्य कारण बीजस्वरूप है। 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥ व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥ १. १३।' पुनः 'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥', 'अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥', 'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥ पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि प्रगट परावर नाथ। रघुकुल मनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ॥ ११६॥', 'आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस गावा॥ बिनु पद चलै सुनइ बिनु काना। कर बिनु कर्म करइ बिधि नाना॥ आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥ तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा॥ अस सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥ जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगत हित, कोसलपति भगवान॥ ११८॥', 'व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥ १९८॥', 'सुख संदोह मोहपर ज्ञान गिरा गोतीत। दंपति परम प्रेम बस कर सिसुचरित पुनीत॥ १९९॥' इत्यादि।

जब यह बात श्रीमद्भगवद्‌गीता इत्यादिसेभी सिद्ध है कि परब्रह्म परमात्मा अवतीर्ण होते हैं और रघुकुलमें श्रीचक्रवर्ती दशरथमहाराजको उन्होंने पुत्ररूपसे सुख दिया और 'राम' 'रघुबर' कहलाये तो फिर क्या 'परब्रह्म परमात्माका गुणगान' और 'रघुबर विशद यश गान' में कुछ भेद हुआ? दोनों एकही तो हैं। सगुणोपासक परमात्मा शब्द न कहकर अपने इष्टदेवहीके नामसे उसका स्मरण किया करते हैं। वेदोंका रामायणरूपमें प्रकट होनेका प्रमाण ऊपर आही चुका है। दूसरा प्रमाण श्रीवाल्मीकीयरामायणके श्रीलवकुशजी कृत मंगलाचरणमें यह है। 'वेद वेद्ये परे पुंसिजाते दशरथात्मजे। वेदः प्राचेतसादासीत् साक्षाद्रामायणात्मना॥' फिर वेदका जो संकुचित अर्थ शंकाकर्त्ताके दिमाग़में है वह अर्थ वेदका नहीं है। पूर्व 'नाना पुराण निगमागम....' मं. श्लो. ७ में 'वेद' से क्याक्या अभिप्रेत है यह कुछ विस्तारसे लिखा गया है। वहाँ देखिए। वेदोंके शिरोभाग उपनिषत् हैं, उनमें तो स्पष्टही रघुवरयश भरा है।

पुनः, वेद तो अनन्त हैं। वह इतनेही तो हैं नहीं, जितने आज हमको प्राप्त हैं। जैसे रामायणें न जाने कितनी हैं, पता नहीं और जो महारामायण, आदिरामायण इत्यादिभी हैं, वेभी पूरी पूरी उपलब्ध नहीं। देखिए, यवनोंने छः मासतक बराबर काश्मीरका पुस्तकालय दिनरात जलाकर उसीसे अपने फ़ौजकी रसोई की। क्या ऐसा अमूल्य पुस्तकोंका खज़ाना संसारमें कहींभी हो सकता है?

टिप्पणी—२ 'बरनत रघुबर बिसद जस' से सूचित किया कि चारों वेद रामयशही कहते हैं। यथा, 'जे ब्रह्म जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं' (उ० वेदस्तुति)। इसलिए 'बोहित सरिस' हैं, रामायणके प्रतापसे सबको पार करते हैं।

३ 'जिन्हहिं न सपनेहु खेद' इति। तात्पर्य यह है कि औरोंको रामचरित जाननेमें खेद है और वेद तो भगवानकी वाणी हैं इसलिए इनको जाननेमें कुछ संदेह नहीं है।

करुणासिन्धुजी—श्रीरामजीका विशद यश वर्णन करते हैं, यही कारण है कि उनको स्वप्नमेंभी खेद नहीं होता, जागतेकी तो कहनाही क्या। (रा० प्र०)।

विनायकी टीका—वेद रामायण रूपमें अवतीर्ण हुए हैं इसीसे गोस्वामीजी लिखते हैं कि उनको लेशमात्र क्लेश नहीं होता।

वैजनाथजी—रामयशमें सदा उत्साह है अतः श्रम नहीं होता।

नोट—पाँडेजीका मत है कि ये विशेषण सहेतुक हैं। गोस्वामीजी चाहते हैं कि मुझेभी रामचरित वर्णन करनेमें खेद न हो।

मानसतत्त्वविवरणकार लिखते हैं कि इसका भाव यह है कि रामचरितके परमतत्वको वेदकी युक्ति, अनुभव, सिद्धान्तप्रमाणोंको लेकर वर्णन कीजिये तो किंचित् खेद जरामरण इत्यादिका न रहे।

नोट—वेद परमात्माके ज्ञानके स्वरूपही हैं, वे भगवान्के ऐश्वर्यचरितभूत हैं, स्वतः यशही हैं। उनका भगवद्‌यश वर्णन सहज सिद्ध है।

बंदौं बिधि पद रेनु, भवसागर जेहिं कीन्ह जहं।

संत सुधा ससि धेनु, प्रगटे खल बिष बारुनी। १४। (च)

अर्थ—मैं ब्रह्माजीके चरणरजकी वंदना करता हूँ, जिन्होंने भवसागर बनाया है, जहाँ (जिस संसाररूपी समुद्रसे) संतरूपी अमृत, चंद्रमा और कामधेनु निकले और खलरूपी विष वारुणी प्रकट हुए। १४।✽

टिप्पणी—१ (क) 'पद रेनु' की वंदनाका भाव यह है कि ब्रह्माजीने भवसागर बनाया और भवसागरका सेतु ब्राह्मणपदरेणु है। यथा, 'अपार संसारसमुद्र सेतवः पुनंतु मां ब्राह्मणपाद पांसवः।' (प. पु. अ. २५५। ५७) (ख) 'प्रगटे' देहलीदीपक है। संतसुधाससिधेनु प्रगटे तथा खलविषबारुणी प्रगटे।

नोट—१ संसारको समुद्र कहा। समुद्रसे भलीबुरी दोनों तरहकी वस्तुएँ निकलीं। उसी तरह संसारमें संत और खल दोनों उत्पन्न हुए।

२ (क) संसार समुद्रमें अमृत, चन्द्रमा और कामधेनु सदृश सन्त हैं। अमृत जीवनस्वरूप और अमरत्वदायक है, वैसेही सन्त सच्चिदानन्दस्वरूप और जीवन्मुक्त हैं। उनके मन, कर्म, वचन अमृतके समान सुन्दर और मधुर हैं, उनके वचनको अमृत कहाही जाता है। 'सुधामूचोवाचः'। चंद्रमाकी तरह शीतल और उज्वलचरित हैं। उसी तरह कामधेनुके समान वे उपकारक और सरलप्रकृति हैं। पुनः (ख) इन तीनों उपमानोंमें शुभ्रता, सुन्दरता, मधुरता और परोपकारता है। उसी तरह सन्तोंका स्वरूप और चरित सब प्रकारसे मंजु और सुखद हैं। पुनः (ग)—नारदसूत्रमें भक्तिको 'परम प्रेमरूपा' 'अमृतस्वरूपा' कहा गया है। 'सा त्वस्मिन् परम प्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति।' (भक्तिसूत्र २)। इस भक्तिको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है, फिर उसे किसी

✽ अर्थ—२ जिसमें संत, अमृत, चन्द्रमा, कामधेनु (ये प्रशस्त) और खल विष और वारुणी (ये बुरे) प्रकट हुए। (रा. प्र.)।

पदार्थकी चाह नहीं रह जाती। संतको सुधास्वरूप कहनेमें यह तात्पर्य है कि वे जीवोंको भक्ति प्रदान कर उनकोभी अमरत्व देते हैं। भुशुंडीजीने कहाही है—'ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै बिहंगवर। ७. ७६।' पुनः, (ब) (बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि) संतको अमृत, चन्द्रमा और धेनुकी उपमा देकर जनाया कि संत तीन प्रकारके हैं, कोई तो सुधारूप हैं, जैसे जड़ भरत आदि जिन्होंने रहूगणको विज्ञान देकर अमर कर दिया और संसाररूपी रोग छुड़ाकर उनको नीरोग किया। कोई शशिरूप तापहारी और प्रकाशकारी हैं, अपने वचनकिरणसे अमृत बरसाते हैं। जैसे श्रीशुकदेवजी जिन्होंने वचनोंद्वारा भगवद्यशामृत पिलाकर परीक्षित महाराजको (सर्पभयरूपी) तापसे रहित कर ज्ञानका प्रकाश दिया कि हम देह नहीं हैं, हम अमर हैं। और, कोई कामधेनुरूप हैं, याचक शुभाशुभ जो कुछ भी मांगे वही बिना विचारे देनेवाले हैं। जैसे भृगुमुनि आदि जिनने सगरकी रानीको साठहजार पुत्रका वर दिये, यह न सोचे कि रजोगुणी लोग अनीति करेंगे, दूसरे यह न विचारा कि ऐसा वर विधिसृष्टिके विरुद्ध है। (ङ) धेनु सम कहकर पूज्य भी जनाया।

३ (क) संतोंके उलटे 'खल' हैं जो उपर्युक्त उपमानोंके विरुद्धगुणधर्मविशिष्ट विष और मद्यके समान हैं। जैसे विष मारक और नाशकारक होता है; वैसेही ये जगत्‌का अहित करनेवाले होते हैं। और जिस प्रकार मद्यमें मोह और मद होता है; वैसेही इनमेंभी घोर अज्ञान और मोहोन्माद होता है। (ख)—(बाबाहरीदासजी कहते हैं कि) खल विष और वारुणीके समान हैं। जैसे राजा वेन विषरूप था; जिसने प्रजाको ईश्वरविमुख कर मारा और शिशुपाल वारुणीरूप है क्योंकि श्रीरुक्मिणीजीके विवाहमें श्रीकृष्णजीका प्रभाव जान गया था तबभी युधिष्ठिरजीके यज्ञमें उसने अनेक दुर्वचन कहे। (ग) 'सुधा, शशि, विष और वारुणी' पर विशेष दोहा ५ (८) भी देखिए।

वैजनाथजी—'भवसागर…संतसुधा…' इति। संसारको सागर कहा। सागरमें अगाध जल, तरंगें, जलजन्तु और चौदह रत्न हैं। यहाँ वे क्या हैं? भवसागरमें आशा अगाधता, मनोरथ जल, तृष्णा तरंग, कामादि जलजन्तु और शब्दादि विषयोंका ग्रहण उसमें डूब जाना है। वहाँ चौदह रत्न निकले थे, यहाँ संत उत्तम रत्न हैं, जैसे कि उपासक तो अमृत हैं, ज्ञानी चन्द्रमा हैं, कर्मकांडी कामधेनु हैं) और खल नष्टरत्न हैं (जैसे—विमुख विष हैं, विषयी मदिरा हैं)। इसी तरह धर्मी ऐरावत, चतुर पंडित उच्चैश्रवा, सुकवि अप्सरा, दानी कल्पवृक्ष, दयावान् धन्वन्तरि, ध्रुवादि शंख, साकावाले राजा मणि, मत पक्षी, आचार्य धनुष और पतिव्रता लक्ष्मी हैं।

ब्रह्माजीकी वन्दना

विनायकी टीकाकार यहाँ यह शंका उठाते हैं कि 'ब्रह्माजीकी स्तुति बहुधा ग्रन्थोंमें नहीं मिलती, यहाँपर गोस्वामीजीने क्यों की?' और उन्होंने उसका समाधान यों किया है कि 'इसका कारण तुलसीदासजी स्पष्ट करते हैं कि इस सृष्टिके कर्त्ता तो ब्रह्मदेवही हैं, इसके सिवाय अध्यात्मरामायणमें स्वतः शिवजी ब्रह्मदेवके माहात्म्यका वर्णन करते हैं।'

यह वंदना ग्रन्थका मंगलाचरण नहीं है जिसमें कि ब्रह्माके नमस्कारकी परिपाटी नहीं है। अस्तु! अन्यान्य देवताओंके साथ उनकी वंदनाभी की गई। यह कविकी शिष्टता और उदारता है। सर्वथा ऐसा नहीं है कि ब्रह्माजीकी स्तुति नहींही की जाय। क्योंकि जब और देवताओंकी कीजाय तो उनकी क्यों न की जाय? मंगलाचरणमें न सही, लेकिन साधारणतः उनकी वंदना करनेमें क्या हानि? वह तो अच्छाही है। और पूर्वके कवियोंनेभी उनको नमस्कार किया है। उनकी वंदनाके श्लोक पाये जाते हैं। यथा, 'तं वन्दे पद्मसद्मानमुपवीतच्छटाछलात्। गंगास्रोतस्त्रयेणैव यः सदैव निषेव्यते ॥ १ ॥ कृतकांतकेलिकुतुकश्रीशीतश्वासेकनिद्राणः। घोरितविततालिरुतोनाभिसरोजे विधिर्जयति ॥ २ ॥'

ऊपरके श्लोकोंके देखनेसे मालूम होता है कि ये मंगलात्मक हैं। अतः, ग्रन्थके आरम्भमें सर्वथा उनका नमस्कार वर्जित है, यह बात निरर्थक हुई। सन्तउन्मनीटीकाकार महात्मा भविष्यपुराण पूर्वार्द्ध अ० १६ का प्रमाण देकर लिखते हैं कि 'सबसे प्रथम ब्रह्माजी उत्पन्न हुए, उन्होंने देवता, दैत्य, मनुष्य, पर्वत, नदी इत्यादि पैदा किए; इसीसे ये सब देवताओंके पिता और जीवोंके पितामह कहलाए। सदा भक्तिपूर्वक इनकी पूजा करनी चाहिए'। इसी सम्मतिसे यह वंदना कीगई। पुनः, वे लिखते हैं कि नारदशाप कर्मकांडकी रीतिमें है, न कि योगियोंके ध्यानमें। इनकी स्तुति न सही, पर प्रणाम करना सब ठौर मिलता है।

नोट—ब्रह्माजीकी पूजा एवं प्रतिष्ठाके सम्बन्धमें स्कंदपुराणमें यह प्रमाण मिलता है—'अयन्नजातुपद्मभूश्छलन्मनो दुरात्मान ॥१०॥ अशासि पंचवक्त्रता यदोपहासितोह्यहम्। पुनस्त्यपुत्रिकारतिर्मयीश शिक्षितोऽभवत्। ११। तृतिय एषमातुरस्यहो कथन्तु सह्यते। तदस्यतु प्रतिष्ठया कचिन्न भूयतां विधेः। १२। स्क. पु. माहेश्वर खंड अरुणा-चल माहात्म्य उत्तरार्ध अ. १५।' ब्रह्माजीके झूठ बोलनेपर कि 'हम पता ले आए। हमने शिवजीके मस्तकपर केतकीका पुष्प चढ़ा हुआ देखा', शिवजीको क्रोध आगया और वे बोले कि यह ब्रह्मा नहीं है, किन्तु मनका छली और दुष्टात्मा है। इसने एक बार पंचमुख होनेके कारण मेरा उपहास किया था (कि हमभी पंचवक्त्र हैं, क्या शिवजीसे कम हैं ?)। फिर इसने एक बार अपनी कन्यापर कुदृष्टि डाली, तब मैंने इसको शिक्षा दी परन्तु अब यह तीसरा अपराध है। यह कैसे सहा जाय? अतः अबसे इसकी कहीं प्रतिष्ठा (अर्थात् मान, प्रतिष्ठा एवं स्थापनाद्वारा पूजन) न हो। और इसीके केदारखण्ड अ० ६ श्लोक ६४ में लगभग इसी तरह का शाप है कि तुम्हारी पूजा अबसे न होगी।

पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ. २५५ में लिखा है कि तीनों देवताओंमें कौन श्रेष्ठ है इसकी परीक्षाके लिये जब भृगुजी ब्रह्माजीके पास गए तो उनको दण्डवत् प्रणामकर भृगुजी हाथ जोड़कर सामने खड़े होगए पर ब्रह्माजीने प्रत्युत्थान अथवा प्रिय वाक्यसे उनका आदर न किया किन्तु रजोगुणवृत्त होनेसे ब्रह्माजी देखीअनदेखीसी करके बैठे रहे। इसपर भृगुजीको क्रोध आगया और उन्होंने शाप दिया कि 'तुमने मेरा इस प्रकार अनादर किया है इसलिये तुमभी सर्वलोकोंसे अपूज्य हो जाओ।' यथा, 'रजसा महतोद्रिक्तो यस्मान्मामवमन्यसे। तस्मात्त्वं सर्वलोकानामपूज्यत्वं समाप्नुहि। ४८।'

तीनों उपर्युक्त उद्धरणोंमें कहींभी प्रणाम या वंदनाका निषेध नहीं है; अतएव शंकाही निर्मूल है।

बिबुध बिप्र बुध ग्रह चरन, बंदि कहौं कर जोरि।
होइ प्रसन्न पुरवहु सकल, मंजु मनोरथ मोरि। १४।

अर्थ—देवता, ब्राह्मण, पंडित, ग्रह सबके चरणोंकी वंदना करके मैं हाथ जोड़कर कहता हूँ कि आप सब प्रसन्न होकर मेरे सुन्दर सब मनोरथों को पूरा करें। १४।

नोट—१ 'मनोरथ मोरि'—मनोरथ पुल्लिंग है इसके साथ 'मोर' पद होना चाहिये था। यहाँ अनुप्रासके विचारसे 'मोर' की जगह 'मोरि' कहा। अर्थात् ऊपर आधे दोहेके अन्तमें 'जोरि' पद है उसीकी जोड़में यहाँ 'मोरि' ही ठीक बैठा है। अथवा, कवि इसका प्रयोग दोनों लिंगोंमें करते हैं। यथा, 'मागउँ दूसर बर कर जोरी। पुरवहु नाथ मनोरथ मोरी। २. २६।', 'तेहि तें परेउ मनोरथु छूछें। २. ३२।' रा. प. कार लिखते हैं कि पुल्लिंग बड़े अर्थको जनाता है और स्त्रीलिंग छोटेको। जैसे 'गगरा' बड़ेके लिये और 'गगरी' छोटेके लिये आता है। वैसेही यहाँ स्त्रीलिंगका पद देकर जनाते हैं कि व्यासादिसे बड़ी चाह थी, अतः वहाँ पुल्लिंग पद दिया था। यथा, 'पुरवहु सकल मनोरथ [illegible] १४)।

नोट—२ यहाँतक प्रथम चतुर्दशी (अर्थात् प्रथम चौदह दोहों) में चौदहों भुवनोंके रहनेवाले जीवोंकी श्रीसीताराममयरूपसे वंदना की गई। (शुकदेवलालजी)।

बैजनाथजी—'सागरको देवताओं और दैत्योंने मथा था। भवसागरको मथनेवाले नवग्रह हैं (ये कुंडली मुहूर्त्तादिद्वारा सबके गुण अवगुण लोकोंमें प्रकट कर देते हैं) जिनमें राहु और केतु दैत्य प्रसिद्ध हैं। 'बुध' मध्यमग्रह चन्द्रमा सहित, 'विप्र' बृहस्पति शुक्र और 'विबुध' रवि, मंगल और शनि। अथवा, वेदाभ्यासी विप्र 'विबुध' हैं और जो विशेष वेदाभ्यासी नहीं हैं वे 'बुध' ग्रह दैत्य हैं।' (इस तरह बैजनाथजीने इस दोहेको पूर्वके साथ संबंधित मानकर मुख्य अर्थ यही दिये हैं; परंतु मेरी समझमें यह पृथक् वंदना है)।

पुनि बंदौं सारद सुरसरिता। जुगल पुनीत मनोहर चरिता। १।

मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अबिबेका। २।

अर्थ—अब मैं शारदा और गंगाजीकी वंदना करता हूँ। दोनोंके चरित पवित्र और मनोहर हैं। १। एकमें स्नान करने और जल पीनेसे पाप दूर होते हैं, और दूसरी (शारदा हरियश) कहने सुननेसे अज्ञान हर लेती है। २।

नोट—१ (क) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'ग्रंथकारने प्रथम ब्रह्माजीकी, फिर ब्रह्मादि देवोंकी वन्दना की अब ब्रह्मा की शक्ति शारदा और शिवशक्ति गंगाकी वन्दना करते हैं। गंगाको भवभामिनी कहा है। यथा, 'देहि रघुबीर पद प्रीति निर्भर मातु दास तुलसी त्रासहरनि भवभामिनी' इति विनये (पद १८)। (ख) शारदाके पीछे गंगाकी और गंगाके पीछे शिवजीकी वन्दना करनेसे शारदाकी प्रधानता हुई, परन्तु चरित कहनेमें प्रथम गङ्गाका चरित कहा, यथा, 'मज्जन पान पाप हर।', पीछे शारदाका। यथा, 'कहत सुनत....'। इससे गङ्गाकी प्रधानता हुई। इस तरह दोनोंकी प्रधानता रक्खी।

२ (पं. रामकुमारजी खर्रेमें लिखते हैं कि) भणितको पूर्व सुरसरिसम कह आए। यथा, 'सुरसरि सम सब कहं हित होई। १.१४।' इससे यहाँ दोनोंका समान हित दिखानेके लिये दोनोंकी एक साथ वन्दना की। यहाँ 'क्रम विपर्यय अलंकार' है। और द्विवेदीजी कहते हैं कि 'उत्तम ग्रन्थके लिये शरीर और वाणी दोनोंकी शुद्धता जरूरी है, अतः दोनोंकी वन्दना की।

शारदा और गंगा दोनों भगवान्‌की पूर्व किसी कल्पमें स्त्रियाँ थीं। यथा, 'लक्ष्मीः सरस्वती गंगा तिस्रो भार्या हरेरपि। ब्रह्म वै. पु. २. ६. १७।' फिर जब सरस्वती ब्रह्माजीकी कन्या हुईं तब गंगाजी उनकी सखी हुईं। दोनोंमें बड़ा प्रेम था। इसीसे जब सरस्वती देवहितके लिये नदीरूप हुईं, तब गङ्गाभी नदीरूप होगईं। सरस्वती गङ्गाके प्रेमसे पूर्ववाहिनी और गङ्गा उनके प्रेमसे उत्तरवाहिनी हुईं। गङ्गाने तीन धारा रूप हो त्रैलोक्यका हित किया। सरस्वतीने वडवानलको समुद्रमें डालकर देवादिका हित और मर्त्यलोकमें मनुष्योंके पाप हरकर उनका हित किया। इत्यादि दोनोंमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। (मा. सं.)। शारदा और गङ्गा दोनोंमें बहुत कुछ समानता और सजातीयता है, क्योंकि गङ्गाकी तरह सरस्वतीकाभी एक द्रवरूप है। (रा. कु.)।

३ कुछ महानुभावोंका मत है कि पहले मंगलाचरणमें सरस्वतीजीकी वन्दना कर चुके, अब दुबारा वन्दना है, इसलिए 'पुनि' पद दिया। पहले सरस्वतीरूपकी वन्दना थी, अब शारदाकी वाणी प्रवाहिणी रूपसे वन्दना है। और कोई कहते हैं कि भाषाकाव्यमें यह पहली बार वन्दना है, 'श्लोकोंका कथन तो सूक्ष्मरूपसे सप्तकांडोंकी कथाका वर्णन है, इसलिये उसको वंदनामें नहीं गिनना चाहिए। अतः कोई शंका नहीं उठती।

बैजनाथजी—'पुनीत मनोहर चरिता' इति। 'चरित' अर्थात् उनका धाम, नाम, रूप और गुण पवित्र और

सुंदर हैं। शारदाके धाम तुरीया, परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरीके स्थान नाभि, हृदय, कंठ मुख और सभी पवित्र हैं। गंगाके धाम हरिपद, ब्रह्मकमंडल, शिवशीश, पृथ्वीमें अनेक तीर्थ सब पवित्र हैं। शारदा नाममें भगण और सुरसरिमें नगण दोनों पवित्र गण हैं। नाम और रूपका माहात्म्य तो सब पुराणोंमें प्रसिद्ध ही है।

नोट—४ 'कहत सुनत' से वक्ता और श्रोता दोनोंके अज्ञानका हरना कहा। कहना सुनना मज्जन है। यथा, 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं। १.४१।' सुनना पान करना है। यथा, 'श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहि अघात मति धार। ७.५२।'

गुर पितु मातु महेस भवानी। प्रनवौं दीनबंधु दिन दानी। ३।

अर्थ—मैं महेश पार्वतीजीको प्रणाम करता हूँ, जो मेरे गुरू और माता पिता हैं, दीनबन्धु हैं और नित्य (दीनोंको) दान देनेवाले हैं। ३।

पं० रामकुमारजी—१ (क) ब्रह्माकी वंदना शिववंदनासे पहले की, क्योंकि ब्रह्मा पितामह हैं, शिवजी उनकी भृकुटीसे हुए हैं। (ख) 'गुरु पितु मातु' का भाव कि उपदेश करनेको गुरु हैं। यथा, 'सीतापति साहेब सहाय हनुमान नित हित उपदेस को महेस मानो गुरु क' इति बाहुके। 'मातु पिता' सम हितकर्त्ता हैं। दीनकी सहायता करनेमें बंधु हैं, यथा 'होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए'। दीनके लिए दानी हैं; अर्थात् पालनकर्त्ता हैं। छंदहेतु दीनको 'दिन' कहा—'अपिमापं मपं कुर्याच्छंदो भंगं न कारयेत्'। सबके गुरु माता-पिता हैं—'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना। १। १११।', 'जगत मातु पितु संभु भवानी। १। १०३।'

नोट—१ (क) गुरु और मातापिता कहनेका भाव यह है कि भगवान् शंकर जगद्गुरु हैं और उसके (जगत्के) मातापिताभी हैं। कल्पभेदसे जगत्की उत्पत्तिभी उनके द्वारा होती है। महर्षि कालिदासनेभी कहा है—'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ ॥ (रघुवंश)।' वाल्मीकिजीनेभी जगत्की सृष्टि और लयका कर्त्ता उनको माना है। यथा, 'जगत् सृष्टयन्त कर्त्तारो।' (खरा)। (ख) मूलगोसाईंचरितसे स्पष्ट है कि श्रीभवानीजी उनको दूध पिला जाया करती थीं। प्रगट होनेपर श्रीशिवजीने इनके पालन पोषणका प्रबंध कर दिया। यथा, 'बालकदसा निहारि गौरी माई जगजननि। द्विज तिय रूप सँवारि नितहि पवा जावहि असन। ३।...सिव जानि प्रिया व्रत हेतु हियो। जन लौकिक सुलभ उपाय कियो।' अतएव वस्तुतः वेही मातापिता हैं। सांसारिक मातापिताने तो उन्हें त्यागही दिया था। यथा, 'तनुज तज्यो कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु पिता हूँ। विनय २७५।' परलोककी रक्षा श्रीनरहर्यानन्दजीके द्वारा करने और रामचरितमानस देनेसे 'गुरु' कहा। मं० श्लोक ३ भी देखिए।

२ (क) 'दीनबंधु' का भाव कि जो सब ऐश्वर्यहीन हैं, उनके सहायक हैं। यथा, 'सकत न देखि दीन कर जोरें।....निरखि निहाल निमिष महँ कीन्हें।' (विनय ६)। 'दीनबंधु' कहकर शिवजीसे दीन और दीनबंधुकाभी नाता जोड़ा। (ख) दिनदानी=प्रति दिन दान देनेवाले। यथा, 'दानी बड़ो दिन देत दये बिनु बेद बड़ाई भानी (वि० ५), 'दीनदयाल दिबोई भावत' (वि० ४)। प्रति दिन काशीमें मुक्तिदान करते रहते हैं। पुनः, दिन=दीन अर्थात् दीनको दान देनेवाले। 'दिनदानी' से अत्यन्त उदार और अपना (तुलसीदासका) नित्य सार संभार पालनपोषणका कर्त्ता जनाया। पांडेजी का मत है कि गुरु होके 'दीनबन्धु' हैं, माता पिता होकर 'दिन दानी' हैं, अर्थात् पोषण करनेवाले हैं।

सेवक स्वामि सखा सिय पी के। हित निरुपधि सब बिधि तुलसी के। ४।

शब्दार्थ—निरुपधि=निस्वार्थ, निश्छल। पी=प्रिय, पति। हित=भला करनेवाले।

अर्थ—श्रीसीतापति रामचन्द्रजीके सेवक, स्वामि, सखा हैं, सब तरहसे (मुझ) तुलसीदासके सदा निश्छल हितकारी हैं (अर्थात् भक्तोंके अपराधसे भी उनकी हितकारितामें कभी बाधा नहीं पहुँचती)। ४।

नोट—१ पं० रामकुमारजी 'सब विधि' का भाव यह लिखते हैं कि शिवजीका गुरु, पिता, माता, दाता और सीतापतिके सेवक स्वामी सखा रूपसे हितकारी होना सूचित किया है। पुनः, तुलसीहीके हितकर्ता नहीं हैं, सब जगत्के हितैषी हैं; पर तुलसीके सब विधिसे हितैषी हैं और जगत्के तो एकही विधिसे हैं सो आगे कहते हैं। यथा, 'कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा'।

२ 'सेवक स्वामि सखा सिय पी के' इति। सेवक, स्वामी और सखा होनेके प्रसंग श्रीरामचरितमानसमें बहुत जगह हैं। सेवक हैं। यथा, 'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नाएउ माथ।' (१. ११६.), 'सोइ प्रभु मोर चराचर स्वामी। रघुबर सब उर अंतरजामी' (१. ११९), 'नाथ बचन पुनि मेटि न जाहीं॥ सिर धरि आयसु करिअ तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥' (१. ७७), 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।' (२. ५१)। स्वामी यथा, 'तव मज्जन करि रघुकुलनाथा। पूजि पारथिव नायउ माथा। १. १०३।' लिंग थापि बिधिवत करि पूजा। ६. २' और सखा यथा, 'संकरप्रिय मम द्रोही सिवद्रोही मम दास। ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महँ बास। ६.२।' 'संकर विमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी। ६.२।'

श्रीरामचन्द्रजीने जब सेतुबंधनके समय शिवलिंगकी स्थापना की तब उनका नाम 'रामेश्वर' रक्खा। इस पदमें सेवक, स्वामी और सखा तीनोंका अभिप्राय आता है। ऐसा नाम रखनेसेभी तीनों भाव दर्शित होते हैं। इस सम्बन्धमें एक आख्यायिका है जो 'रामस्तत्पुरुषं वक्ति बहुव्रीहिं महेश्वरः। ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे ब्रह्माद्याः कर्मधारयम्॥' इस श्लोकको लेकर कही जाती है।

जिस समय सेतुबन्ध हुआ था उस समय ब्रह्मा शिव आदि देवता और बड़ेबड़े ऋषि उपस्थित थे। स्थापना होनेपर नामकरण होनेके पश्चात् परस्पर 'रामेश्वर' शब्दके अर्थपर विचार होने लगा। सबसे पहले श्रीरामचन्द्रजीने इसका अर्थ कहा कि इसमें तत्पुरुष समास है। अर्थात् इसका अर्थ 'रामस्य ईश्वरः' है। उसपर शिवजी बोले कि भगवन्! यह बहुव्रीहि समास है। अर्थात् इसका अर्थ 'रामः ईश्वरो यस्यसौ रामेश्वरः' इस भाँति है। तब ब्रह्मादिक देवता हाथ जोड़कर बोले कि महाराज! इसमें कर्मधारय समास' है। अर्थात् 'रामश्चासौ ईश्वरश्च' वा 'यो रामः स ईश्वरः' जो राम वही ईश्वर ऐसा अर्थ है। इस आख्यायिकासे तीनों भाव स्पष्ट हैं। बहुव्रीहि समाससे शिवजीका सेवकभाव स्पष्ट है। तत्पुरुषसे स्वामीभाव और कर्मधारयसे सख्यभाव पाया जाता है।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'शिवजी सदा सेवक रहते हैं; इसलिए 'सेवक' पद प्रथम दिया है। पुनः काष्ठजिह्वास्वामीजीका मत है कि 'भक्तिपक्षमें स्वामीसे सब नाते बन सकते हैं। इसीसे शिवजीको 'सेवकस्वामि सखा' कहा। अथवा, हनुमान्‌रूपसे सेवक हैं, रामेश्वररूपसे स्वामी और सुग्रीवरूपसे सखा हैं। राजाओंमें 'त्रिलोचनका अंश रहता है जिससे कोई राजाओंकी ओर ताक नहीं सकता।' (रा. प.)।

☞ प्रायः सभी टीकाकारोंने यही भाव दिये हैं। केवल पंजाबीजीने इनसे पृथक् यह भाव लिखा है कि शंकरजी श्रीरघुनाथजी परात्पर भगवान्‌के सदा सेवक हैं, विष्णुके स्वामी हैं और ब्रह्मा विष्णु महेश तीनों समान हैं, इससे सखाभी हैं।

☞ इस ग्रंथमें विष्णुभगवान्, क्षीरशायी विष्णु (श्रीमन्नारायण) और परात्पर ब्रह्म राम इन तीनके अवतार वर्णन किये गए हैं। प्रथम दो इस ब्रह्मांडके भीतर एकपादविभूति में ही रहते हैं, जहाँ ऋषियों मुनियों आदिका जाना और लौटना पाया जाता है। परात्पर ब्रह्म एकपादविभूतिसे परे हैं। यहाँ 'सेवक, स्वामि, सखा' जिस क्रमसे कहा है उसी क्रमसे इनके उदाहरण ग्रंथमें आए हैं। 'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा।....सोइ रामु

व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी। १. ५१।' यह अवतार ब्रह्मका है। यथा, 'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहौं विचित्र कथा विसतारी॥ जेहि कारन अज अगुन अरूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा॥ जो प्रभु विपिन फिरत तुम्ह देखा। १. १४१।' इनका अवतार शापवश नहीं होता, ये अपनी इच्छासे भक्तोंके प्रेमके वशीभूत हो अवतार लेते हैं। इन्हींके विषयमें कहा है—'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि शिव नाएउ माथ।' शिवजी इन श्रीरामजीके सदा सेवक हैं। और भी प्रमाण ये हैं—'नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अविचल हृदय भगति कै रेखा॥ प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। १.७६।' इन्हींको शंकरजीने कहा है—'नाथ वचन पुनि मेटि न जाहीं॥ सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरमु यह नाथ हमारा॥ मातु पिता गुर प्रभु कै बानी। बिनहिं बिचार करिअ सुभ जानी॥ तुम्ह सब भाँति परम हितकारी। अज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी॥ १.७७।'

विष्णुके स्वामी हैं, इसका प्रमाण उपर्युक्त उद्धरणोंके पश्चात् इसी ग्रंथमें आता है। यथा, 'सब सुर विष्नु बिरंचि समेता। गए जहाँ शिव कृपानिकेता॥ पृथक पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भए प्रसन्न चंद्र अवतंसा॥ बोले कृपासिंधु वृषकेतू। कहहु अमर आए केहि हेतू॥ १. ८८।' इसमें स्वामी भाव स्पष्ट झलकता है। इन विष्णुके अवतार 'राम' का स्वामी कहा गया।

नारदजीने जिनको शाप दिया उनके सखा हैं। यह 'जपहु जाइ संकर सत नामा। होइहि हृदय तुरत विश्रामा॥ कोउ नहिं सिव समान प्रिय मोरें। १. १३८।' ये क्षीरशायी विष्णु हैं, इन्हींके पास नारदजी गए थे, इन्होंने नारदके हृदयमें गर्वका अंकुर देख उसके नष्ट करनेका उपाय रचा था और इन्हींके शापवश अवतार लिया था। यहाँ अवतारभी सखा शंकरके गणोंके उद्धारके निमित्त था। यथा, 'क्षीरसिंधु गवने मुनिनाथा। जहँ बस श्रीनिवास श्रुतिमाथा॥ १. १२८।' 'करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्व तरु भारी॥ बेगि सो मैं डारिहौं उखारी। १. १२९।', 'भुजबल विश्व जितब तुम्ह जहिआ। धरिहहिं विष्णु मनुज तनु तहिआ। १. १३९।' इस कल्पके अवतार श्रीरामजीके सखा हैं।

उपर्युक्त प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि वे ब्रह्म रामके सदा सेवकही हैं, सखा या स्वामी कभी नहीं। नरनाट्यमें प्रभु अपने शील स्वभावसे यदि कभी स्वामी, सखा, भाई कहतेभी हैं, तोभी वे यह प्रतिष्ठा देतेही डर जाते हैं, अपनी भक्तिमें सदा सावधान रहते हैं। यथा, 'राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा प्रभाउ, जान्यो हर हनुमान लखन भरत। जिन्हके हिये सुथल रामप्रेम सुरतरु, लसत सरल सुख फूलत फरत॥ आप माने स्वामी कै सखा सुभाइ पाइ पति, ते सनेह सावधान रहत डरत। साहिब सेवक रीति प्रीति परिमिति नीति, नेमको निबाह एक टेक न टरत॥' (विनय २५१)।

कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा। सावर मंत्र-जाल जिन्ह सिरिजा। ५।
अनमिल आखर अरथ न जापू। प्रगट प्रभाव महेश प्रतापू। ६।

शब्दार्थ—जाल=समूह। सिरिजा=रचा। अनमिल=(अन्=नहीं+मिल=मिलना) बेमेल। अर्थात् जिसमें अक्षरोंकी मैत्री नहीं मिलती। प्रभाउ=प्रभाव, असर। प्रताप=प्रभाव, महत्त्व, तेज।

अर्थ—कलियुगको देखकर संसारके हितके लिये जिन शिवपार्वतीजीने शाबरमंत्रसमूह रच दिए। ५। जिनमें अक्षर बेजोड़ (पड़े) हैं, जिनका न तो कोई ठीक अर्थही है और न जपही अथवा जिनका कोई अर्थ नहीं जपही प्रधान है। शिवजीके प्रतापसे उनका प्रभाव प्रकट है। ६।

नोट—१ 'कलि बिलोकि ....' इति। (क) कलि अर्थात् कलियुगका प्रभाव देखकर कि पुरश्चरण पूजा विधि किसीसे न बनेगी, कलिके प्रभावसे योग, यज्ञ, जप, तप, ज्ञान, वैराग्य सब नष्ट हुये जा रहे हैं,

कर्मधर्म कुछभी नहीं रह जायगा। यथा, 'कलि न बिराग जोग जाग तप त्याग रे, (विनय ६७) 'ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे' (विनय ६६), 'नहि कलि करम न भगति बिबेकू। रामनाम अवलंबन एकू। १. २७।', 'एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जज्ञ जप तप ब्रत पूजा। ७. १३०।' (ख) शावर मन्त्र सत्युग द्वापर त्रेतामें नहीं था, कलिके प्रारम्भमें हुआ है। कलिमें जीवोंको अनेक प्रकारके क्लेश होते हैं उनके निवृत्यर्थ शावर मन्त्र बनाए गए। दूसरी चौपाईमें शावरमन्त्रका रूपक कहा है। (पं० रा० कु०)। (ग) मयङ्ककार लिखते हैं कि—'सर्पादिक विष हरण कलि, साँबर रचे तुरन्त। सो उमेश कलि अघ दहन मानस यश बिरचन्त॥' जिसका भाव यह है कि जब वैदिक तांत्रिक मन्त्र कील दिए गए तब शिवजीने शावरमन्त्र जीवोंके उपकारार्थ रचा था। अपर मन्त्रोंके कीलित हो जानेसे शावरमन्त्रही फलदायक रह गए। सर्पादिके विष उतारने और नाश करनेवाले शावर मन्त्रोंको जिन्होंने रचा उन्हींने इस मानसका निर्माण किया। (घ) कलियुगमें जीवोंके दुःख निवारण करनेके लिए शिवपार्वतीजी भीलरूपसे प्रकट हुए। शिवजीने भील भाषामें शावरमन्त्र समूहका समूह रच दिया जो पार्वतीजीकी आज्ञासे गणेशजी लिखते गए। यह ग्रंथ 'सिद्ध शावर मंत्र' कहलाता है। 'सवर' भीलको कहते हैं। भीलभापामें भील रूपसे प्रकट हुआ, इसीसे ऐसा नाम पड़ा। वास्तवमें यहाँ गोस्वामीजी भगवान् शंकरकी अपने ऊपर कृपालुता और अनुकूलता दिखाते हैं। इसी लिए उन्होंने उनकी सहज दयावृत्तिघटित चरित (शावरमन्त्रजालसृष्टि) का उल्लेख किया है। जैसे भगवान् शंकरकी कृपाविभूतिसे शावरमन्त्र सिद्ध है। वैसेही श्रीरामचरितमानसभी उन्हींका प्रसादस्वरूप होनेसे वैसाही प्रभाव रखता है।

२—'अनमिल आखर अरथ न जापू।' इति। इसका अन्वय कई प्रकारसे किया जाता है।

(क) 'आखर अर्थ अनमिल (हैं), न जापू'। अर्थात् अक्षर जो कह रहा है, वह अर्थ नहीं है। इससे पाया गया कि शावरमन्त्र अर्थरहित नहीं हैं, परन्तु अर्थ अक्षरोंसे मिलान नहीं खाता। (पं. रा. कु.)। 'न जापू' का भाव यह है कि अन्य मंत्रोंमें जापकी विधि होती है। कोई एक लक्ष, कोई एक सहस्र, कोई शत और कोई इक्कीस इत्यादि बार जपे जाते हैं, तब फल देते हैं; शावरमन्त्रमें जापका विधान कोई नहीं है। एकही वारके जपसे कार्य सिद्ध हो जाता है। (मा. प्र.)। परन्तु तांत्रिक कहते हैं कि कुछ साधारण सा विधान और जप करना होता है, विशेष जाप और विशेष विधान नहीं है।

(ख) 'अनमिल' आखर, अर्थ न, जापू प्रगट प्रभाउ…' (रा. प.)। अर्थात् अक्षर बेमेल हैं (अर्थात् तुक नहीं मिलता), अर्थका सम्बन्ध नहीं बैठता, केवल जपनेसे फल प्राप्त हो जाता है, इसका प्रभाव प्रत्यक्ष देखनेमें आता है।

(ग) 'आखर अनमिल, न अर्थ (है) न जाप' अर्थात् अक्षर बेजोड़ हैं, न तो अर्थही लगता है और न कोई जपकाही विशेष विधान है। अक्षर अनमिल हैं अर्थात् सन्धि, विभक्ति, समास आदिका कोई नियम नहीं है। वर्णमैत्री, शब्दोंकी गंभीरता, तुकांतादि कोई भाषाओंके नियम नहीं हैं। पदोंके विचारनेसे कोई ठीक अर्थभी नहीं निकलता और पुरश्चरणादि कुछ जाप करनेको नहीं। (वै., पां.)।

३—'प्रगट प्रभाउ…' इति। भाव यह कि मन्त्रमें अक्षर यदि गड़बड़ हों या उसका अर्थ कुछ न हो अथवा उसका पुरश्चरण विधानपूर्वक न हो, अथवा उसका जप नियमानुसार न हो, इन चारोंमेंसे यदि कोई भी एक बात ठीक न हुई तो मन्त्र फलप्रद नहीं होता। परन्तु शावरमन्त्रमें ये चारों बातें न होती हुईभी यह मन्त्र श्रीमहेशजीके प्रतापसे फलप्रद होते ही हैं। प्रभाव प्रगट है। अर्थात् तत्क्षण फुरता है। यह न तो अक्षरका ही प्रभाव है न अर्थहीका, केवल महेशके प्रतापका प्रभाव है।

४ कुछ शावरमन्त्र ये हैं —(क) 'वद खकारी गलसुआ तयेला रोगोंको झाड़नेका । गौरा जाई अंजनी सुत जाये हनुमंत । यह खकारी गलसुआ तयैला ये चारों भसमंत' । १ । कालीकंकाली कहाँ चली कैलाश पर्वतको चली कैलाश पर्वत दै जाय कै कहा करेगी, निहानी वसूली गढ़ावेगी निहानी वसूली गढ़ाकर कहा करैगी । वद्द कौं कखारी कौं गलसूए कौं तदेले कौं तीनोंकों काटेगी कपटैगी करैगी विचार देखूँ तेरी शक्ति गुरुकी भक्ति फुरो मंत्र ईश्वर उवाच । २ । (भट्टजी की टीकासे) । (ख) दृष्टिनिवारण मंत्र । यथा, 'ओं नमो नषकटा विषकटा मेंद मजा वद फोड़ा फुनसी आदीठ दुंमल दुलनोरत्यावरी घन वाय चौंसठि योगनी बावन वीर छप्पन भैरव रक्षा करैं जो आइ ।' (ग) दंतपीड़ाका मंत्र । यथा, 'ॐ नमो आदेश गुरुको वनमें व्याई अंजनी जिन जाया हनुमंत, फूनी फुन्सी गूमनी ये तीनों भस्मंत ।' (घ) अँगुली पकनेपर वलायका मंत्र । यथा, 'धोबीकी गदहिया कन्यानकुमारी दोहाईलोना चमारी की' । (ङ) वर्रै काटने का मंत्र । यथा, 'अरे ततैया तैं मोर भैया विषकी घुंडी खोल विषकी घुंडी न खुलै तो डारो टंगन तोरि दुहाई लोना चमारी की' (वै०) ।

सो उमेस मोहि पर अनुकूला । करिहिं कथा मुद मंगल मूला । ७ ।

सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ । बरनउँ रामचरित चित चाऊ । ८ ।

शब्दार्थ—अनुकूल=प्रसन्न । शिवा=पार्वतीजी । पसाऊ=प्रसाद, प्रसन्नता । चाऊ (चाव)= उत्साह, आह्लाद । यथा, 'भयउ तासु मन परम उछाहा । लाग कहै रघुपति गुन गाहा । ७.६४ ।'

अर्थ—वे उमापति मुझपर प्रसन्न हैं (अतः वे) भाषाकाव्यकी कथाको मुद मङ्गल मूलक (उत्पन्न करनेवाला) करेंगे । ७ । श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजी (दोनों) को स्मरण करके और उनकी प्रसन्नता पाकर चित्तोत्साहपूर्वक श्रीरामचरित वर्णन करता हूँ । ८ ।

पाठान्तरपर विचार—सं० १६६१ की प्रतिमें 'सो उमेस' पाठ है । किसीने 'मे' का 'महे' बनाने की चेष्टा की है । १७०४ में भी शं. ना. चौबेजी यही पाठ बताते हैं; परन्तु रा. प्र. में 'सोउ महेस' पाठ छपा है । पण्डित शिवलालपाठकजीकाभी 'सो उमेस' पाठ है और कोदोरामजीकाभी । 'सोउ महेस' पाठ वन्दनपाठकजी और पं०. रा. व. श. जीकी छपी पुस्तकोंका है । 'होउ महेस' पाठ १७२१, १७६२, भा. दा. में में हैं । लाला भगवानदीनजीका मत है कि 'होउ महेस' पाठ उत्तम है, क्योंकि प्रणाम करनेपर वरदान माँगना ही उचित है और अपना अभीष्टभी कह देना चाहिए। यही बात इस पाठमें है । पूर्वके 'जिन्ह' से 'सोउ' स्वयंही लक्षित हो जाता है, क्रियाका स्पष्ट कर देना अधिक अच्छा है । काष्ठजिह्वास्वामीजी लिखते हैं कि जिन श्रीमहेशजीका प्रताप शावरमन्त्रमें प्रगट देखा जाता है वे मुझपर अनुकूल हैं अतः जैसे 'अनमिल आखर अरथ न जापू' वाले शावरमंत्रोंमें उनके प्रतापका प्रभाव है, वैसेही मेरी यह 'भदेस भाषा भणित' भी 'आखर अरथ अलंकृति नाना' आदिसे रहित होते हुए भी उनके प्रतापसे मुदमंगलदाता होगी । वही बात इस प्रसंगके अंतमेंके 'सपनेहु साँचेहु मोहि पर, जौं हरगौरि पसाउ । तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ । १५ ।' इन शब्दोंसेभी पुष्ट होती है । उन्हें पूर्ण विश्वास है, वे शिवजीकी आज्ञासेही भाषामें कथा कह रहे हैं । यथा, 'प्रगटे सिव संग भवानि लिये । मुनि आठहु अंग प्रनाम किये ।। सिव भाषेउ भाषामें काव्य रचो । सुरवानिके पीछे न तात पचो ।। सब कर हित होइ सोई करिये ।.......मम पुन्य प्रसाद सों काव्य कला । होइ हैं सम साम रिचा सफला ।' (मूल गुसाइँ चरित्र) । अतएव वे प्रसन्न होवें यह प्रार्थना नहीं है, क्योंकि उनकी प्रसन्नता है ही, यह विश्वास है । इस तरह 'सो उमेस' पाठ यथार्थही है और प्राचीनतम है ।

२—'करिहिं कथा' इति । १७२१, १७६२ में 'करहु' पाठ है । छ०, भा. दा०, को. रा. में

'करउँ' है। १७०४ में 'करिहि' और १६६१ एवं पं. शिवलालपाठकजीकी पोथियोंमें 'करिहिं' पाठ है।

लाला भगवानदीनजी 'करउँ' को उत्तम मानते हैं। वे कहते हैं कि कविका आशय है कि आप प्रसन्न हों तो मैं करूँ। आज्ञा चाहते हैं। इतना कहकर उनको अनुभव होता है कि उनकी कृपा और प्रसन्नता हुई तब कहते हैं कि 'बरनउँ....'। 'करिहिं' अर्थात् वे इस कथाको मुदमंगलमूलक बनावेंगे वा बनावें। इस पाठ और अर्थमें यह संदेह होता है कि कथा तो 'मुदमङ्गलमूल' है ही, किसीके करनेसे वह 'मुदमङ्गलमूल' थोड़ेही होगी; जैसा कह आए हैं—'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की। गति कूर कबिता सरित की ...। १.१०।' सम्भवतः इसी सन्देहसे प्राचीनतम पाठ आगे लोगोंने नहीं रक्खा। श्रीजानकीशरणजीका मत है कि 'करिहिं' पाठ उत्तम है। विचार करनेपर सन्देह नहीं होता, क्योंकि आगे कवि स्वयं कहते हैं कि 'भनिति मोरि शिव कृपा बिभाती' एवं 'सपनेहु साँचेहु मोहि पर जौं हरगोरि पसाउ।...'। इस प्रसङ्गभरमें कवि शिवकृपाका-ही प्रभाव अपने काव्यमें कह रहे हैं। उनका आशय यही है कि कथा तो मुदमङ्गलमूल है ही, परन्तु भदेस भाषामें होनेके कारण उसका श्रुतिकी ऋचाओंके समान अथवा संस्कृत भाषाकी रामायणके सदृश प्रभाव होगा या नहीं यह जीमें डर था, वहभी जाता रहा, यह सूचित करते हुए कहते हैं कि 'करिहिं कथा..'। अर्थात् मुझे विश्वास है कि इस भाषाकाव्यका वैसाही आदर होगा। यहाँ 'कथा' से 'भाषा भणित' की कथा अभिप्रेत है।

नोट—१ 'करिहिं कथा मुद मंगलमूला' इति। भाव यह है कि जैसे 'अनमिल आखर...'वाले शावर-मन्त्र सिद्ध हैं, वैसेही भाषाका रामचरितमानसभी उनकी कृपासे सिद्ध हो गया है। यहभी जनाया कि इसके प्रयोगोंका सम्पुट देकर केवल पाठ करनेसे मनोरथकी सिद्धि होती है। पुनः भाव कि शावर मन्त्रोंमें तो 'अनमिल आखर अरथ न जापू' है और मेरे इस भाषाकाव्यमें कमसे कम अक्षर और अर्थ 'अनमिल नहीं हैं, वर्णमैत्री' आदिभी है। अतः जब शावर मन्त्रोंमें उन्होंने इतना प्रभाव दे दिया तब इस भाषा भणितको तो अवश्यही मुदमङ्गलोत्पादक करेंगे ही, इसमें संदेह नहीं। (वै., रा. प्र.)

२—'सुमिरि सिवासिव.......' इति। (क) कथाको मुदमंगलमूलक करनेमें 'उमेस' (उमाके ईस) नाम दिया क्योंकि उमाके कहनेसे शिवजीने शावर मंत्र रचा जैसा 'कलि बिलोकि जग हित हर गिरिजा' से ध्वनित है और उमाकेही कहनेसे शिवजीने गोस्वामीजीपर बालपनेसेही कृपा की थी। जगहितके लिये कथाको मुदमङ्गलमूलक कर देंगे। जगहितके संबंधसे 'उमा' का संबंध दिया। यहाँ 'शिवा और शिव' नाम दिया। दोनों कल्याणरूप हैं; कल्याण करें इसलिये स्मरण किया। (ख) 'पाइ पसाउ' इति। स्मरण करतेही दोनोंकी प्रसन्नताका साक्षात् अनुभव हृदयमें हुआ। विश्वास तो था, अब अनुभवभी कर रहे हैं। अतः चित्तमें उत्साह हुआ। पं. रामकुमारजीका मत है कि गोस्वामीजीने अनुकूल होनेकी प्रार्थना की। श्रीमहादेवजी अनुकूल हुए। तब कहते हैं कि शिवाशिवका प्रसाद पाकर वर्णन करता हूँ। प्रसाद पानेसे चित्तमें चाव हुआ, अर्थात् राम-चरित वर्णन करनेके लिये चित्तमें हर्ष हुआ। (ग) पूर्व मन कादर हो रहा था, वह श्रीशिवाशिवकृपासे उत्साहित हुआ।

भनिति मोरि सिव कृपा बिभाती। ससि समाज मिलि मनहु सुराती। ९।

शब्दार्थ—बिभाती = विशेष शोभित है। ससि = शशि = चंद्रमा। सुराती = सुन्दर रात; शुक्ल पक्षकी रात। यथा, 'तुलसी बिलसत नखत निसि सरद सुधाकर साथ' (दो० १६०)।

अर्थ—मेरी वाणी श्रीशिवजीकी कृपासे (ऐसी) सुशोभित है, मानों शशिसमाज (अर्थात् तारागणोंसे युक्त चन्द्रमा) से मिलकर (उनके साथसे) सुंदर रात्रि सुशोभित हो। ९।

नोट—१ 'शशिसमाज मिलि मनहुँ सुराती' इति। (क) शशिसमाजसे सूचित किया कि जैसे रात चन्द्रमा, रोहिणी, बुध और सम्पूर्ण तारागणके उदयसे शोभित होती है, वैसेही मेरी कविता श्रीशिवपार्वतीजी-की कृपाको पाकर शोभाको प्राप्त होगी। भाषा कविताको रात्रिकी उपमा दी, क्योंकि रात अंधकार आदि दोषोंसे भरी है; वैसेही मेरी कविता दोषोंसे भरी है। यहाँ 'शिवकृपा' और 'शशिसमाज' तथा 'भणिति' और 'रात्रि' परस्पर उपमेय उपमान हैं। कविताकी शोभाका कथन उत्प्रेक्षाका विषय है। यहाँ 'उक्तविषया-वस्तूत्प्रेक्षा अलंकार' है। (ख) पं० रामकुमारजी 'शशिसमाज मिलि' का भाव यह कहते हैं कि 'शिवकृपा चन्द्रमा है, पार्वतीकी कृपा रोहिणी, गणेशकी कृपा बुध, सम्पूर्ण गणोंकी कृपा तारागण हैं। इन सबोंकी कृपा मिलकर 'शशि समाज' हुई। और वैजनाथजीका मत है कि शिवकृपा शशि है, अन्य देवगण नक्षत्र हैं, संवादरूपी चाँदनी फैली हुई है। (ग) यहाँ शरद्चंद्र और शरदरात्रि अभिप्रेत हैं। पूर्णचंद्र और तारागणका योग होनेसे रात्रिको 'सुराती' कहा। रात्रिमें प्रकाश नहीं है, वह तो अंधकारमय है, शशिसमाजका संग पाकरही वह प्रकाशित होती है। इसी तरह मेरी कवितामें कुछ प्रकाश नहीं है, शिवकृपासे प्रकाशित होगी।

गोस्वामीजीने जो शाबर मंत्रका रूपक बाँधा है वह १५वें दोहे तक चला गया है। जैसे शाबरमंत्रमें शिवजीके प्रतापका प्रभाव है। वैसेही, आप सूचित करते हैं कि, मेरी कवितामें शिवकृपाका प्रभाव है। शिवा-शिवका प्रसाद पाकर वर्णन करता हूँ। आपके इस कथनका, कि शिव-कृपासे मेरी कविता शोभा पावेगी, यह तात्पर्य है कि 'कथन शक्ति' और कविताकी शोभा दोनों शिवजीहीकी कृपासे हैं।

जे एहि कथहिँ सनेह समेता। कहिहहिँ सुनिहहिँ समुझि सचेता। १०।
होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल-रहित सुमंगल भागी। ११।

अर्थ—जो इस कथाको प्रेम सहित सावधानतापूर्वक समझकर कहें सुनेंगे, वे श्रीरामचन्द्रजीके चरणा-नुरागी हो जावेंगे, कलिके पापोंसे रहित और सुन्दर मंगल-कल्याणके भागी (अधिकारी) होंगे। १०,११।

नोट—१ (क) 'समुझि सचेता' इति। 'समुझि' का अर्थ प्रायः सब टीकाकारोंने भविष्यत्कालिक 'सम-झेंगे' किया है। परंतु 'समुझि' का वास्तविक अर्थ 'समझकर' है। उसी तरह जैसे, 'कहि' का कहकर, 'सहि' का सहकर, और 'देइ-लेइ' का दे-लेकर है। अस्तु, उपर्युक्त चौपाईका अर्थ हुआ, जो सावधानतापूर्वक समझ-कर (अर्थात् विचारकर) इसे कहें और सुनेंगे वे कल्याणफल (ऐहिक-पारलौकिक सुखसौभाग्य) के भागी होंगे। 'सचेता' का अर्थ 'चेतना अथवा सावधानता सहित', 'सचेत होकर' है। दूसरा अर्थ 'सचेत' का 'अच्छे चित्तवाले' भी होता है। परन्तु उपर्युक्त अर्थही साधारणतः ग्राह्य है। किसी-किसी टीकाकारने उसका अर्थभी भविष्यत्कालिक 'सचेत होंगे' किया है, परंच यह वास्तविक और स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। शुद्ध अर्थ यही है जो ऊपर दिया गया है।

२ (क) 'जे' पद देकर सूचित करते हैं कि इस कथाके कहने सुननेका अधिकार सबको है, चाहे कोई किसी भी वर्ण और आश्रमका हो। (ख) 'कहिहहिं सुनिहहिं' के दोनों अर्थ होते हैं। 'कहेंगे और सुनेंगे' अर्थात् कहेंगेभी, और सुनेंगेभी; दोनों साधन करेंगे। और, दूसरा अर्थ है 'कहेंगे अथवा सुनेंगे' अर्थात् दोनोंमें कोईभी कार्य करेंगे। यही अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। (ग) सनेह समेता = प्रेम सहित। कहने सुननेकी इच्छा बढ़तीही जाय, प्रेमकी यहभी एक पहचान है। सचेता=चित्तलगाकर; सावधानीसे।

३ 'होइहहिं रामचरन...' इति। श्रीमद्गोस्वामीजी यहाँ इस ग्रंथके वक्ता, श्रोता और मनन करने-

वालोंको आशीर्वाद देते हैं। कहने, सुनने, समझनेके तीन फल कहे हैं। जो फल यहाँ कहे हैं वही और भी अनेक ठौरपर गोस्वामीजीने स्वयं कहे या और वक्ताओंके मुखसे कहलाए हैं। यथा, 'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम राम-धाम सिधावहीं। ७.१३०।', 'रामचरनरति जो चहै अथवा पद निर्वान। भाव सहित सो यह कथा करौ श्रवन पुट पान' (उ० १२८), 'सकल सुमंगल-दायक रघुनायक गुन गान', 'जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना विधि पावहिं। ७.१५।' ये फल क्रमशः प्राप्त होते हैं; इसीलिए क्रमसे तीन फल कहे हैं। रामचरणमें अनुराग होनेसे कलिमल नाश होता है। यथा—'रामचरन अनुराग नीर बिनु कलिमल नास न पावै' इति बिनये। कलिमलके नाश होनेपर मुक्ति होती है। यथा—'मुक्ति जनम महि जानि ज्ञान खानि अघ-हानिकर' (कि० मं०), अर्थात् ज्ञान होनेपर पाप दूर होते हैं, उससे फिर मुक्ति होती है।

जैसे यहाँ वक्ता श्रोता आदिको आशीर्वाद दिया गया है, वैसेही मानस-प्रकरणमें रामचरितसे विमुख रहनेवालोंको शाप दिया गया है। यथा—'जिन्ह एहि बारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल बिगोए॥ तृषित निरखि रबिकर भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी'॥ (१.४३)।

पं० रामकुमारजी कहते हैं कि जीव तीन प्रकार के हैं। मुक्त, मुमुक्षु और विषयी। तीन फल कहकर सूचित करते हैं कि कथाका फल इन तीनोंको प्राप्त है। यथा—'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई'। ७.१५।' विमुक्त रामानुरागी होते हैं, विरक्त सुमंगलभागी और विषयी कलिमलरहित होते हैं। दूसरा भाव इसका वे यह लिखते हैं कि इनसे यह जनाया है कि कर्म, ज्ञान, उपासना तीनों काण्डके फलकी प्राप्ति कथाके श्रवण, कथन और मननसे हो सकती है। 'कलिमल रहित' होना कर्मका फल है। यथा, 'नित्य नैमित्तिकैरेव कुर्वाणो दुरितक्षयी' इति श्रुतिः, 'मन क्रम वचन जनित अघ जाई'। 'सुमंगल भागी' से ज्ञानकाण्ड सूचित किया, क्योंकि सुमंगल और मोक्ष पर्यायवाची शब्द हैं, यथा 'कहेउँ परम पुनीत इतिहासा। सुनत श्रवन छूटहिं भवपासा', यह ज्ञानका फल है। 'रामचरन अनुरागी' से उपासना काण्ड दिखाया, यथा 'प्रनत कलपतरु करुनापुंजा। उपजइ प्रीति रामपद कंजा', यह उपासनाका फल है।

दो०—सपनेहुँ साँचेहु मोहि पर, जौं हर गौरि पसाउ।
तौ फुर होउ जो कहेउँ सब भाषा भनिति प्रभाउ॥ १५॥

अर्थ—जो मुझपर श्रीशिवपार्वतीजीकी स्वप्नमेंभी सचमुच प्रसन्नता है, तो भाषाकविताका प्रभाव जो मैंने कहा है वह सब सच हो। १५।

नोट—१ सपनेहु = स्वप्नमें भी। यह एक मुहावरा है। इसका भाव 'किसी प्रकार भी,' 'किसी दशामें भी,' होता है। इस तरह कवि कहते हैं कि स्वप्नमेंभी अर्थात् किसी प्रकारभी हर गौरीकी अनुकूलता यदि सचमुच प्राप्त है। पुनः, 'सपनेहु साचेहु' का भाव कि प्रथम स्वप्नमें आपकी प्रसन्नता प्रकट हुई; फिर प्रत्यक्ष जाग्रत अवस्थामेंभी हुई। यथा, 'अठवें दिन संभु दिये सपना। निज बोलीमें काव्य करो अपना॥ उचटी निंदिया उठि बैठु मुनी। उर गूँजि रह्यो सपने की धुनी॥ प्रगटे सिव संग भवानि लिये···' इत्यादि (मूल गुसाईंचरित)। मं. श्लो. ७ और पिछली अर्धाली ७-८ में विशेष लिखा जा चुका है। शंकरजीने प्रकट होकर कहा है कि यह भाषाकाव्य हमारे पुण्य प्रसादसे सामवेदोंकी ऋचाओंके समान फलप्रद होगा। इस तरह यह पद घटनामूलक है। जो आशीर्वाद उमा शिवने स्वप्नमें और प्रकट होकर दिया था, उसीका उल्लेख कविने यहाँ किया है।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम शिवपार्वतीजीका प्रसाद पा चुके हैं, यथा 'सुमिरि सिवासिव पाइ पसाउ', अब उसी प्रसादको 'सँभारते हैं' अर्थात् पुष्ट करते हैं कि जो मुझपर दोनोंकी प्रसन्नता हो, तो जो हमने इस

भाषा-काव्यका प्रभाव कहा है कि 'होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमलरहित सुमंगल भागी' यह सब सत्य हो। (ख) शाबरमंत्रमें 'फुर' शब्द रहता है इसीसे आपने भी 'फुर' ही पद दिया; क्योंकि अपनी कविताको शाबरमंत्रके अनमिल अक्षर आदिकी उपमा दे चुके हैं। उसी बातको यहाँभी निवाहा है। जैसे शाबरमंत्रमें प्रभाव है। यथा, 'प्रगट प्रभाउ महेस प्रतापू', वैसेही यहाँ भाषा-भणितिमें प्रभाव है। यथा, 'जो कहेउँ सब भाषा-भनिति प्रभाउ'। (पं० रा० कु०)।

यहाँ समष्टि वंदना बाहर की चिदचिद् विभूति कि समाप्त हुई।

श्रीअवध-सरयू-पुरवासि-परिकर-रूपवन्दना प्रकरण

वंदौं अवधपुरी अति पावनि। सरजू सरि कलि कलुष नसावनि ॥१॥

शब्दार्थ—कलुष = पाप, मैल, दोष। नसावनि = नाश करनेवाली।

अर्थ—१ मैं अति पवित्र और कलियुगके पापोंको नाश करनेवाली श्रीअयोध्यापुरी और श्रीसरयू नदीको प्रणाम करता हूँ। १।

अर्थ—२ मैं बड़ी पवित्र अयोध्यापुरीकी, जहाँ कलिके पापोंका नाश करनेवाली सरयू नदी है, वंदना करता हूँ।

टिप्पणी—१ (क) श्रीशिवकृपासे श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है, इस लिए शिव-वंदना करके तब राम परिकरकी वंदना की। अथवा, रामपरिकरमें शिव आदि हैं, इसलिये पहले शिवकी फिर अन्य परिकरोंकी वंदना की। अवधपुरीकी वंदना करके अवधवासियोंकी वंदना करते हैं। (ख) अवधपुरी अति पावनी है, इसलिये 'कलिकलुष नसावनि' कहा। यथा 'देखत पुरी अखिल अघ भागा। वन उपवन वापिका तड़ागा' (७.२९) और सरयूजी 'कलिकलुष नसावनि' हैं, अतः वेभी अति पावनी हैं। यथा, 'जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तर दिसि वह सरयू पावनि (७. ४)। तात्पर्य यह है कि दोनों 'अति पावनि' और 'कलिकलुष नशावनि' हैं। दोनोंकी एकही चौपाईमें वन्दना की है, पृथकपृथक् वन्दनाभी नहीं है। क्योंकि सरयूजी श्रीअयोध्याजीका अंग हैं। पुनः 'अवधपुरी' कहकर थलकी और 'सरयूसरि' कहकर जलकी अर्थात् जल थल दोनोंकी वन्दना की।

नोट—१ (क) महर्षि वाल्मीकिजीने श्रीअयोध्यासरयूका वर्णन वालकांडमें एकही श्लोकमें किया है, वैसेही गोस्वामीजीने एकही अर्धालीमें दोनोंको कहा है। यथा, 'कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं परम्। ८। ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेदं मानसं सरः। तस्मात्सुस्राव सरसः सायोध्यामुपगूहते। ९। सरः प्रवृत्ता सरयूः पुण्या ब्रह्मसरश्च्युता। (१.२४) अर्थात् विश्वामित्रजी श्रीरामजीसे कहते हैं कि यह नदी ब्रह्माके मनसे रचे हुए मानस सरसे निकली है। सरसे निकलनेके कारण सरयू नाम हुआ। (ख) श्रीअयोध्यासरयूका सम्बन्धभी है। श्रीसरयूजी श्रीअयोध्याजीके लियेही आई हैं। इसीसे उन्होंने आगे अपना नाम रहनेकी पर्वा न की। गंगाके मिलनेपर अपना नाम छोड़ दिया। दोहा ४० अर्धाली १ देखिये। अतः दोनोंको साथ-साथ एकही अर्धालीमें रक्खा गया। आदिमें 'वंदौं' और अंतमें 'कलि कलुष नसावनि' को देकर जनाया कि ये दोनों पद 'अवधपुरी' और 'सरजू' दोनोंके साथ हैं। 'अति पावनि' देहलीदीपक है।

२ 'अति पावनि' इति। इसका भाव निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाता है। स्कन्धपुराणवैष्णवखंड २ अयोध्यामाहात्म्य अ. १२ में अयोध्यामाहात्म्य अ. १० में श्रीअयोध्याजी और श्रीसरयूजीका माहात्म्य इस प्रकार कहा है—"मन्वन्तरसहस्रैस्तु काशीवासेषु यत्फलम्। तत्फलं समवाप्नोति सरयूदर्शने कृते ॥ २७॥ मथुरायां कल्पमेकं वसते मानवो यदि। तत्फलं समवाप्नोति सरयूदर्शने कृते ॥ २९ ॥ षष्टिवर्षाणि सहस्राणि भागिरथ्य-वगाहजम्। तत्फलं निमिषार्द्धेन कलौ दाशरथीं पुरीम् ॥ ३२ ॥" अर्थात् हजार मन्वन्तरतक काशीवास करनेका

जो फल है वह श्री सरयूजीके दर्शनमात्रसे प्राप्त हो जाता है। मथुरापुरीमें एक कल्पतक वास करनेका फल सरयूदर्शनमात्रसे प्राप्त हो जाता है। साठ हजार वर्षतक गंगाजीमें स्नान करनेका जो फल है वह इस कलिकालमें श्रीरामजीकी पुरी श्रीअयोध्यामें आधे पलभरमें प्राप्त हो जाता है। और, अ. १ में कहा है कि श्रीअयोध्यापुरी पृथ्वीको स्पर्श नहीं करती, यह विष्णुके चक्रपर बसी हुई है। यथा, 'विष्णोराद्या पुरी ये यं क्षितिं न स्पर्शति द्विज। विष्णोः सुदर्शने चक्रे स्थिता पुण्यकरी स्थितौ॥ १.६२॥' प्रायः ये सब श्लोक रुद्रयामल अयोध्या-माहात्म्य अ. ३ श्लोक ७०, ७३, ७७ और अ. १.६४ में ज्योंकी त्यों हैं। फिर श्रीवचनामृत भी है—'जा मज्जन ते बिनहि प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा। ७.४।' और अवधपुरीको वैकुंठसे भी अधिक प्रिय कहा है। तो क्या बिना कोई विशेषताके ?

महानुभावोंने 'अति पावनि' के अनेक भाव कहे हैं—(क) सात पुरियाँ मोक्षकी देनेवाली हैं। यथा, 'अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका। द्वारावती तथा ज्ञेया सप्तपुर्यश्च मोक्षदाः॥' (रुद्रयामल अयोध्या माहात्म्य ३०। ५४।)। ये सातों पुरियाँ विष्णु भगवान्‌के अङ्गमें हैं, इन सबोंमें श्रीअयोध्यापुरी अग्रगण्य हैं। शरीरके अङ्गोंमें मस्तक सबसे ऊँचा होता है और सबका राजा कहलाता है। विष्णु भगवान्‌के अङ्गमें श्रीअयोध्यापुरीका स्थान मस्तक है। यथा रुद्रयामल अयोध्यामाहात्म्ये २। ५८—'विष्णोः पादमवन्तिकां गुणवतीं मध्यं च काञ्चीपुरी, नाभिं द्वारवतीं वदन्ति हृदयं मायापुरीं योगिनः। ग्रीवा मूलमुदाहरन्ति मथुरां नासांच वाराणसीम्, एतद्ब्रह्मपदं वदन्ति मुनयोऽयोध्यांपुरीं मस्तकम्॥' पुनश्च यथा, 'कल्प कोटि सहस्राणां काशीवासस्य यत्फलं। तत्फलं क्षणमात्रेण कलौ दाशरथी पुरि॥ सब पावनी हैं और यह अति पावनी है। पुनः, (ख) गोलोकादि पावन हैं, क्योंकि इसके अंशांशसे हैं। यह अंशी है; इसलिए 'अति पावनि' है। प्रमाणं वसिष्ठ संहितायाम्, 'अयोध्या नगरी नित्या सच्चिदानन्द रूपिणी यदंशांशेन गोलोक वैकुण्ठाद्या प्रतिष्ठिताः।' (सन्तउन्मनीटीका)। (ग) पावनकोभी पावन करनेवाली। (घ) श्रीसीतारामजीका निवास और विहारस्थल होनेसे 'अति पावनि' है। तीर्थराज प्रयाग कहीं नहीं जाते, पर श्रीरामनवमीको वेभी श्रीअवध आते हैं। यथा, 'तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं'। इसके प्रियत्वके विषयमें श्रीमुखवचन है कि 'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। वेद पुरान बिदित जग जाना॥ अवधपुरी सम प्रिय नहिं न सोऊ। यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ॥' फिर भला वह 'अति पावनि' क्यों न हो! (ङ) करुणासिंधूजी लिखते हैं कि जो पदार्थ राजसतामस-गुण रहित है और केवल सात्विक गुणयुक्त है, वह 'पावन' कहा जाता है। और जो काल, कर्म, गुण, स्वभाव सबसे रहित हो वह 'अति पावन' है। (च) द्विवेदीजी—'न योध्या कैश्चिदिति अयोध्या' अर्थात् चढ़ाईकर जिस पुरीको कोई जीत न सके वह अयोध्या है, इसीका अपभ्रंश अवध है; ऐसी बहुतोंकी सम्मति है। 'न वधः कैश्चिदिति अवधः' अर्थात् किसीसे जो नष्ट न हो वह 'अवध'। इस व्युत्पत्तिसे 'अवध' यह नाम भी संस्कृत होता है।

तुलसीदासको तो यह 'अवध' नाम ऐसा पसन्द है कि रामायण भरमें उन्होंने यही नाम रक्खा है। 'अयोध्या' यह नाम कहीं नहीं रक्खा, केवल एक स्थानपर आया है। यथा, 'दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं। देखि नगरु बिराग बिसरावहिं॥ ७.२७।' श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजी ने 'रामसुधा' ग्रन्थके चौथे पदमें 'अयोध्या' की व्याख्या यों की है। 'अवधकी महिमा अपरम्पार, गावत हैं श्रुति चार। विस्मित अचल समाधिनसे 'जो ध्याई' बारम्बार। ताते नाम अयोध्या गायो यह ऋग वेद पुकार॥ रजधानी परबल कंचनमय अष्टचक्र नवद्वार। ताते नाम अयोध्या पावन अस यजु करत विचार॥ 'अकार यकार उकार देवत्रय ध्याई' जो लखि सार। ताते नाम अयोध्या ऐसे साम करत निरधार॥ जगमग कोश जहाँ अपराजित ब्रह्मदेव आगार। ताते नाम अयोध्या ऐसो कहत अथर्व उदार॥' (रा. प.)। रुद्रयामल अयोध्यामाहात्म्यमें शिवजी कहते हैं, 'श्रूयतां महिमा तस्या

मनोदत्या च पार्वति । अकारो वासुदेवः स्याद्यकारस्ते प्रजापतिः ॥ उकारो रुद्ररूपस्तु तां ध्यायन्ति मुनीश्वराः। सर्वोपपातकैर्युक्तैर्ब्रह्महत्यादि पातकैः ॥ ६२ । न योध्या सर्वतो यस्मात्तामयोध्यां ततो विदुः । विष्णोराद्यापुरी चेयं क्षितिं न स्पृशति प्रिय । ६३ । विष्णोः सुदर्शने चक्रे स्थिता पुण्याकरा सदा ।' अर्थात् हे पार्वती ! मन लगाकर अयोध्याजीकी महिमा सुनो । 'अ' वासुदेव हैं 'य' ब्रह्मा और 'उ' रुद्ररूप हैं ऐसा मुनीश्वर उसका ध्यान करते हैं । सब पातक और उपपातक मिलकरभी उससे युद्ध नहीं कर सकते; इसीलिये उसको अयोध्या कहते हैं । विष्णुकी यह आद्यपुरी चक्रपर स्थित है, पृथ्वीका स्पर्श नहीं करती । (१ । ६१—६४) ।

नोट—४ 'कलि कलुप नसावनि' इति । कलियुगकेही पापोंका क्षय करनेवाली क्यों कहा, पापी तो और युगोंमेंभी होते आए हैं ? उत्तर यह है कि यहाँ गोस्वामीजीने और युगोंका नाम इससे न दिया कि औरोंमें सतोगुण रजोगुण अधिक और तमोगुण कम होता है । पाप तमोगुणहीका स्वरूप है । कलि युगमें तमोगुणकी अधिकता होती है, सत्व और रज तो नाममात्र रह जाते हैं, जैसा उत्तरकाण्डमें कहा है—'नित जुग धर्म होहिं सब केरे । हृदय राममाया के प्रेरे ॥ सुद्ध सत्त्व समता विज्ञाना । कृत प्रभाव प्रसन्न मन जाना ॥ सत्व बहुत रज कछु रति कर्मा । सब विधि सुख त्रेता कर धर्मा ॥ बहु रज स्वल्प सत्व कछु तामस । द्वापर धर्म हरप भय मानस ॥ तामस बहुत रजोगुन थोरा । कलि प्रभाव विरोध चहुँ ओरा । १०४ ।,' पुनः श्रीमुखवचन है कि 'ऐसे अधम मनुज खल कृतयुग त्रेता नाहिं । द्वापर कछुक वृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं ॥ ७.४० ।' पुनः 'कलि केवल मलमूल मलीना । पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥ १.२७ ॥' जब ऐसे कलिके कलुपकी नाश करनेकी शक्ति है तो अल्प पाप विचारे किस गिनतीमें होंगे !

प्रनवौं पुर नर नारि बहोरी । ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी । २ ।

अर्थ—फिर मैं श्रीअयोध्याजीके नर और नारियोंको प्रणाम करता हूँ, जिनपर प्रभु (श्रीरामचन्द्रजी) की ममता थोड़ी नहीं है अर्थात् बहुत है । २ ।

टिप्पणी—१ (क) पुरनरनारियोंकी वन्दना की, क्योंकि उनपर प्रभुकी ममता बहुत है, वे पुण्यपुञ्ज हैं । यथा, 'हम सब पुन्य पुंज जग थोरे । जिन्हहिं राम जानत करि मोरे । २. २७४ ।' (ख) 'ममता जिन्ह पर प्रभुहिं न थोरी' । यह चौपाईके अन्तमें दिया है । इससे इसको ऊपरकी चौपाईमेंभी लगा लेना चाहिये । दूसरी चौपाईके अन्तमें इसे देकर बताते हैं कि 'अवध' में ममता है और अवधपुरीके नारिनरमेंभी ममता है । दोनोंपर ममत्व जनानेके लिये ही 'पुर' का संबंध दिया गया । पुरमें वास करनेके सम्बन्धसे प्रियत्व जनाया है । यथा, 'जद्यपि सब वैकुंठ बखाना ।...अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ । यह प्रसंग जानइ कोउ कोऊ ॥...अति प्रिय मोहि इहां के बासी । मम धामदा पुरी सुखरासी । ७.४ ॥' (ग) अवधवासियोंको जगन्नाथरूप कहा है । यथा, 'अयोध्या च परंब्रह्म सरयूः सगुणः पुमान् । तन्निवासी जगन्नाथः सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥' (रुद्रयामल अ. मा. २. । ६७) । अर्थात् अयोध्याजी परब्रह्म हैं और सरयूजी सगुण ब्रह्म हैं । अयोध्यावासी जगन्नाथ रूप हैं, हम सत्य सत्य कहते हैं ।

सियनिंदक अघ ओघ नसाए । लोक बिसोक बनाइ बसाए । ३ ।

शब्दार्थ—निंदक=निंदा करनेवाले । ओघ=समूह । बिसोक=शोकरहित । बनाइ=बनाकर । करके ।=पूर्णतया, पूरी तरहसे ।= अच्छी तरहसे ।

अर्थ—१ (उन्होंने) श्रीसीताजीकी निंदा करनेवाले (अपने पुरीमेंही रहनेवाले धोबी अथवा पुरवासियों) के पापसमूहका नाश किया और अपने विशोक लोकमें आदरसहित उनको वास दिया । ३ ।

अर्थ—२ श्रीसीताजीके निंदकके पापसमूहको नाशकर उनको शोकरहित करके अपने लोकमें बसाया ।

अर्थ—३ सियनिंदकके पापसमूहको नाशकर विशोक लोक बनाकर उसमें उनको बसाया। (यहाँ 'विशोक लोक'=सांतानिक पुर)।

अर्थ—४ सियनिंदक धोबी आदिके पापोंका नाश किया और अपने पुरमें उन्हें शोकरहित करके बसाये रक्खा। (यहाँ 'लोक' का अर्थ 'पुर' किया है)।

नोट—१ अर्थ ३ से 'ममता जिन्ह पर प्रभुहि न थोरी' का महत्व घट जाता है। दूसरे 'मम धामदा पुरी सुखरासी' इस श्रीमुखवचनामृतकी और 'अवध तजे तन नहिं संसारा' इस वाक्यकी महिमा जाती रहती है। ये वाक्य अर्थवादमात्रही रह जायँगे।

नोट—२ पूर्व जो कहा है कि 'जिन्हपर प्रभुकी ममता कुछ थोड़ी नहीं है', अब यहाँ उसी ममत्वका स्वरूप दिखाते हैं। 'सिय निंदक' पुरनरनारि हैं, जिनकी वंदना ऊपर की। वाल्मीकीयरामायण तथा अध्यात्म-रामायणमें यह कथा दी है, और गीतावलीसेभी पुरवासियोंहीका निंदा करना पुष्ट होता है। गीतावली उत्तर कांड पद २७ में कहा है कि 'चरचा चरनि सों चरची जान मनि रघुराइ। दूत मुख सुनि लोक धुनि घर घरनि बूझी आइ॥' ममता यह दिखाई कि प्राणप्यारी श्रीसीताजीका परित्याग सहन किया, निन्दकको दंड न दिया, किन्तु अयोध्यामें उसको बसाए रक्खा और निन्दाके शोकसेभी रहित कर दिया। ऐसा सहनशील प्रभु और कौन होगा? ऐसा लोकमर्यादाका रक्षक कौन होगा? प्रजाको प्राणसेभी अधिक माननेवाला कौन होगा? उनको अपनी प्रजाके लिए कैसा मोह है! वे यह नहीं सह सकते कि प्रजा दुराचारिणी हो जाय। 'मर्यादा पुरुषोत्तम' पदवी इन्हींको मिली है, फिर भला वे कब सह सकेंगे कि उनकी प्रजा 'मनुष्यत्व' और 'धर्मनीति' मर्यादासे गिर जाय? यद्यपि कलंक सर्वथा झूठा है, यद्यपि उसके साक्षी देवता मौजूद हैं, पर इस समय यदि प्रजाका समाधान देवताभी आकर कर देते, तोभी प्रजाके जीसे उसका अंकुर न जाता। मन, कर्म, वचन तीनोंसे उनको सदाचारी बनानेका सर्वोत्तम उपाय यही हो सकता था; अन्य नहीं। पातिव्रत्यधर्मकी मर्यादा नष्ट न होने पावे, राज्य और राजाके आचरणपर धब्बा न लगाया जा सके, इत्यादि, विचार राजा रामचन्द्रजीके हृदयमें सर्वोपरि विराजमान् थे। तभी तो उनके दशहज़ारवर्षसेभी अधिक राज्यके समयमें 'अकाल का नामभी न सुना गया, न्याय श्वानादिके साथभी बर्ता गया। सोचिए तो आजकलके राजा और प्रजाकी दशा! क्या किसी रानीके चरितपर कलङ्क लानेवाला जीता रह सकता था? क्या आजकलके न्याय और न्यायालय हमें सत्य धर्मसे च्युत नहीं करते? इत्यादि। विनयके 'बालिस बासी अवधके बूझिए न खाको। ते पाँवर पहुँचे तहाँ जहँ मुनि मन थाको' (पद १५२) सेभी अनेक पुरवासियोंका निंदा करना पाया जाता है।

अध्यात्मरामायणमें उत्तरकांडके चौथे सर्गमें लिखा है कि 'दशवर्षसहस्राणि मायामानुषविग्रहः। चकार राज्यं विधिवल्लोकवंद्य पदाम्बुजः॥ २६॥.......देवि जानामि सकलं तत्रोपायं वदामि ते। कल्पयित्वामिषं देवि लोकवादं त्वदाश्रयम्॥ ४१॥ त्यज्यामित्वां वने लोकवादाद्भीत इवापरः। ४।' अर्थात् मायामानुषरूपधारी श्रीरामजीने, जिनके चरणकमलोंकी वंदना त्रैलोक्य करता है, विधिपूर्वक दशहजार वर्ष राज्य किया। २६। तत्पश्चात् एक दिन महारानीजीने उनसे कहा कि देवता मुझसे बारबार कहते हैं कि आप वैकुण्ठ चलें तो श्रीरामजीभी वैकुण्ठ आजायँगे, इत्यादि। श्रीरामजीने कहा कि मैं सब जानता हूँ। इसके लिये तुम्हें उपाय बताता हूँ। मैं तुमसे संबंध रखनेवाले लोकापवादके मिषसे तुम्हें, लोकापवादसे डरनेवाले अन्य पुरुषोंके समान, वनमें त्याग दूँगा। इत्यादि।' आपसमें यह सलाह हो जानेपर श्रीरामजीने अपने दूत विजयसे पूछा कि मेरे,

सीताके, मेरी माताके, भाइयोंके अथवा कैकेयीजीके विषयमें पुरवासी क्या कहते हैं तब उसने कहा कि 'सर्वे वदन्ति ते ।....किन्तु हत्वा दशग्रीवं सीतामाहृत्य राघवः । अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा स्वं वेश्म प्रत्यपादयत् । ५० । अस्माकमपि दुष्कर्म योषितां मर्षणं भवेत् । यादृग् भवति वै राजा तादृश्यो नियतं प्रजाः । ५२ ।' अर्थात् सभी कहते हैं कि उन्होंने रावणको मारकर सीताजीको बिना किसी प्रकारका संदेह कियेही अपने साथ लाकर रख लिया । अब हमेंभी अपने स्त्रियोंके दुश्चरित सहना पड़ेंगे, क्योंकि जैसा राजा होता है वैसीही प्रजाभी होती है।

प्रसिद्ध प्राचीन टीकाकारों करुणासिंधुजी, काष्ठजिह्वस्वामीजी, पंजाबीजी आदि और पं. रामकुमारजीने मुख्य अर्थ यही दिया है। कुछ लोग 'सियनिंदक मतिमंद प्रजारज निज नय नगर बसाई' विनयके इस पद १६५ के उद्धरणके बलपर 'सियनिंदक' से 'धोबी' का अर्थ ग्रहण करते हैं । लगभग दश हजार वर्ष राज्य कर चुकनेके पीछे प्रभुकी इच्छासे नगरमें कुछ काना-फूसी श्रीजानकीजीके बारेमें होने लगी । यह चरचा सर्वत्र गुप्तरूपसे प्रारम्भ हुई, प्रकट रूपसे एक धोबीका निन्दा करना पाया जाता है । यह धोबी कौन था ? इसके प्रसंगमें यह कथा है कि यह पूर्व जन्ममें शुक था । यह शुक अपनी शुकीके साथ क्रीड़ा कर रहा था । श्रीजानकीजीका उस समय बालपन था । आपने दोनोंको अलग अलग पिंजरेमें कर दिया । शुकने वियोगमें आपको शाप दिया कि जैसे तुमने हमको शुकीसे छुड़ाया, वैसेही तुम्हाराभी बिछोह तुम्हारे पतिसे होगा ।

वैजनाथजी लिखते हैं कि "अवधवासी सब कृतार्थरूप हैं । यथा, 'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथरूप । ७. ४७ ।', तब उन्होंने ऐसे कठोर वचन कैसे कहे ? और फिर श्रीरघुनाथजीने यह भागवतापराध कैसे क्षमा कर दिया ?" इसका समाधान यह है कि—(क) उनका कोई अपराध नहीं है । बालकृष्णदास स्वामी 'सिद्धांततत्त्वदीपिकाकार लिखते हैं—'तिहि जो कह्यो राम हौं नाहीं । इती शक्ति कहँ है मो माहीं ॥ जिहि आवत रावण है जान्यो । राखहु छाया सियहि बखान्यो ॥ लै निज प्रिया अग्नि महँ राखी । जननी जानि तेहिं सुअभिलाषी ॥ छाया हरणहारहू मारयो । यों जग महँ निज यश विस्तारयो ॥ तिहि समता अब हौं क्यों करौं । या करि जग अपयश ते डरौं । सियहू रूपशील गुण करि कै । सब बिधि अतुल पतिव्रत धरि कै ॥ अपनो पिय अस वश तेहि कीनो । निशि दिन रहै तासु रस भीनो ॥ तिहि सम तू न हौं न बस तेरे । यों नहिं तुहि राखौं निज नेरे ॥' इस प्रकार उसने श्रीजानकीजीके गुण गाकर अपनी स्त्रीको शिक्षा दी । उसके अन्तः करणमें तो कोई विकार न था, परंतु ऊपरसे सुननेमें लोगोंको अनैसी (बुरी) लगी । प्रभु तो हृदयकी लेते हैं। यथा, 'कहत नसाइ होइ हिय नीकी । रीझत राम जानि जन जी की ।' पुनः, (ख) वाल्मीकिजी सीताजीको पुत्रिरूपसे भजते थे । उनकी आशा पूर्ण करनेके लिये यह चरित किया । पुनः, (ग) अपने वीरोंको अभिमान हो गया था कि रावण ऐसेको हम लोगोंने जीता, उन सबोंका अभिमान अपने पुत्रों द्वारा नाश करानेके लिये लीला की । पुनः, (घ) पिताकी शेष आयुका भोग करना है, उस समय सीताजीको साथ रखनेसे धर्ममें बट्टा लगता अतः रजकद्वारा यह त्यागका चरित किया । इसमें रजकका दोष क्या ?

नोट—३ 'सियनिंदक अघ ओघ नसाए' इति । भाव यह कि साधारण किसीकी भी निंदा करना पाप है । यथा, 'पर निंदा सम अघ न गरीसा' (७.१२१) । श्रीसीताजी तो 'आदिशक्ति' ब्रह्म स्वरूपा हैं कि 'जासु कृपाकटाक्ष सुर चाहत चितव न सोई' और 'जासु अंस उपजहिं गुन खानी । अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी । १. १४८ ।' इनकी निंदा करना तो पापका समूहही बटोरना है । इसलिये 'अघ ओघ' कहा ।

४ कोई-कोई लोग (जो भगवद्भक्त नहीं हैं) सीतात्यागके कारण श्रीरामचन्द्रजीपर दोष आरोपण करते हैं। साधारण दृष्टिसे उसका उत्तर यह है कि भगवान्के छः ऐश्वर्योंमेंसे एक 'वैराग्य' भी है।

अर्थात् कामिनीकाञ्चनका त्याग। 'काञ्चन' अर्थात् राज्यवैभवका त्याग जिस प्रकार हँसते-हँसते भगवान्‌ने वनगमनके समय किया था—'नवगयंद रघुबंसमनि राज अलान समान।...उर अनंद अधिकान', उसी तरह अनासक्तभावसे विशुद्धचरिता, पतिव्रता, निज भार्याका त्यागभी भगवान्‌ने मिथ्यापवादके कारण किया। और महापतित रजक के दोष पर तनिकभी ध्यान न देते हुए उसे परधाममें आश्रय दिया, उसपर ज़राभी रोष नहीं प्रकट किया। इस प्रकार रागरोषरहित मानसका परिचय दिया। इसी तरह लोकमतका आदर करके उन्होंने परमोत्कृष्ट नैतिक भावकी प्रतिष्ठा की, एवं इसी मिषसे वात्सल्यरस-रसिक महर्षि वाल्मीकिकी पुरातन इच्छाकी पूर्त्ति की। विशेष ७.२४ (७) 'दुइ सुत सुंदर सीता जाये' में भी देखिए। कुछ पूर्व नोट में भी उत्तर आ गया है।

नोट—५ 'लोक बिसोक बनाइ बसायें' इति। पुरवासियों (अथवा, धोबी) के 'अघओघ' का नाश करके फिर क्या किया? उसको कौन धाम मिला? इसपर महानुभाव अनेक भाव कहते हैं और ये सब भाव 'लोक बिशोक०' सेही निकाले हैं—(क) विनय पत्रिकाके 'तियनिंदक मतिमंद प्रजारज निज नय नगर बसाई' के आधारपर पं० रामकुमारजी यह भाव कहते हैं कि श्रीसीताजीकी निंदा करनेसे दिव्य लोककी प्राप्ति नाश होगई थी, इसलिए दूसरा 'विशोक लोक' जहाँ गिरनेका शोक नहीं है अर्थात् (अक्षयलोक) बनाकर उसमें उसको बसाया। यही विनयपत्रिकावाला 'नया नगर' है। (ये 'नय' का अर्थ 'नया' करते हैं। 'नय' का अर्थ 'लोकोत्तर नीतिसे' भी टीकाकारोंने किया है)। (ख) करुणासिंधुजी एवं रा. प. का मत है कि श्रीअयोध्या बिरजानदीके पार अयोध्याके दक्षिणद्वारपर सांतानिकपुर है जिसकी 'वन' संज्ञा है, (जैसे वृन्दावन, काशी आनन्दवन, अयोध्या प्रमोदवन और प्रयाग बदरीवन) जो अयोध्याहीमें है, वहाँ बसाया। भार्गवपुराण और सदाशिव संहिताका प्रमाण भी दिया है। यथा; 'त्रिपाद भूति वैकुण्ठे विरजायाः परे तटे। या देवानां पुरायोध्याह्यमृते तां नृतां पुरीम्॥ १॥ साकेतदक्षिणद्वारे हनुमान्नाम् वत्सलः। यत्र सांतानिकं नाम वनं दिव्यं हरेः प्रियम्॥ २॥' यह भाव 'अर्थ ३' के अनुसार हैं।

६ कुछ महानुभाव 'विशोक' को 'लोक' का विशेषण न मानकर उसे 'बनाइ' के साथ लेकर यों अर्थ करते हैं कि 'विशोक बनाकर अपने लोकमें बसाया' अर्थात् शक्ति होते हुए भी क्षमा किया और श्रीअयोध्याजीमें ही आदरपूर्वक बसाए रक्खा। अथवा, उनको शोकरहित करके तब अपने साथ अपने लोकको ले गए। निंदारूपी पापके कारण शोक या चिंता थी कि हमारी गति कैसे होगी? हम तो नरकमें पड़ेंगे। इत्यादि। विनायकी टीकाकारजी 'विशोक बनाइ' का भाव यह लिखते हैं कि श्रीसीताजीके पातिव्रत्यपर सन्देह था, इसीसे उनके जीमें इनकी तरफसे शोक था। उस सन्देह और शोकको श्रीवाल्मीकिजी तथा श्रीसीताजीको श्रीरामजीने सबके सामने बुलाकर सत्य शपथ दिलाकर मिटाया; जैसा सर्ग ७ उत्तर काण्ड अध्यात्मरामायणमें कहा है। यथा, 'भगवंतं महात्मानं वाल्मीकिं मुनि सत्तमम्। आनयध्वं मुनिवरं ससीतं देवसंमितम्॥ अस्यास्तु पर्षदो मध्ये प्रत्ययं जनकात्मजा। करोतु शपथं सर्वे जानन्तु गत कल्मषाम्॥ १७.१८॥' इत्यादि। अर्थात् 'श्रीरामजीने कहा कि देवतुल्य मुनिश्रेष्ठ भगवान् श्रीवाल्मीकिजीको सीताजीके सहित लाओ। इस सभामें जानकीजी सबको विश्वास करानेके लिये शपथ करें, जिससे सब लोग सीताजीको निष्कलङ्क जान जायें।' दोनों सभामें आये। पहले महर्षि वाल्मीकिजीने शपथ खाई, फिर श्रीजानकीजीने। करुणासिंधुजी एवं पंजाबीजी 'बनाइ' का अर्थ 'अपना स्वरूप बनाकर' भी करते हैं। इस अर्थमें 'बनाइ' 'बसाए' का क्रियाविशेषण होगा।

ये भाव अर्थ २ और ४ के अनुसार हैं।

बंदौं कौसल्या दिसि प्राची। कीरति जासु सकल जग माची। ४।

प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू । बिस्व सुखद खल कमल तुसारू । ५ ।

शब्दार्थ—प्राची=पूरब । माँची=फैली । तुषार=पाला ।

अर्थ—मैं कौशल्यारूपी पूर्व-दिशाको प्रणाम करता हूँ जिसकी कीर्त्ति सब जगत्‌में फैली है । ४ । जहाँ संसारको सुख देनेवाले और खलरूपी कमलको पालारूपी श्रीरघुनाथजी सुन्दर चन्द्रमारूप प्रगट हुए । ५ ।

नोट—(१) यहाँ श्रीकौशल्याअम्बाको पूरब दिशा, श्रीरामचन्द्रजीको चन्द्रमा और दुष्टोंको कमल कहा है । पूरा रूपक नीचेके मिलानसे समझमें आजावेगा ।

श्रीकौशल्याजी	पूरब दिशा
१ कौशल्याजीकी कीर्त्ति जगत्‌में फैली, यही प्रकाश है ।	चंद्रोदयके पहले प्रकाश पूरबमें होता है ।
२ यहाँ श्रीरामजी प्रगट हुए ।	प्रकाशके पीछे चन्द्रमा निकलता है ।

चन्द्रमामें विकार भी होता है, इस लिए रघुपतिको 'ससिचारू' की उपमा दी । चन्द्रमाका जन्म होता है । यथा 'जनम सिंधु पुनि बंधु विष दिन मलीन सकलंक । १.२३७ ।' श्रीरामजी अजन्मा हैं । 'प्राची' पदके संबंधसे 'चारु' से पूर्णचन्द्रका अर्थ होता है । पूर्व दिशामें वही उदय होता है ।

३ कौशल्याजीके यहाँ इनका प्रगट होना कहा । अर्थात् गर्भसे नहीं हुए । यथा, 'होइहउँ प्रगट निकेत तुम्हारे', 'भए प्रगट कृपाला' इत्यादि ।	चंद्रमाका जन्म पूरबमें नहीं होता, वहाँ वह प्रगट भर होता है ।
४ रामचन्द्रजीका प्रादुर्भाव भी संसारके सुखका हेतु हुआ ।	चंद्रमाके निकलनेसे संसारको सुख होता है ।
५ यहां खलोंका वध होता है ।	चंद्रमासे कमल झुलस जाता है ।

आश्चर्यरामायणमें इनके जोड़के श्लोक ये कहे जाते हैं 'श्रीकोशलेन्द्रदयिता राममाता यशस्विनी । प्राच्या सा वन्दनीया से कीर्त्तिर्यस्यास्तु विश्रुता । १ । रामचन्द्रमसं चारु प्रादुर्भूत सनातनम् । खलाब्जं हिमवद्भाति साधूनां सुखदायकम् । २ । कौशल्यायै नमस्यामि यथा पूर्वादिगुत्तमा । प्रादुर्भावो बभौ रामः शीतांशुः सर्व सौख्यदः ॥ ३ ॥'

नोट—२ 'कौसल्या दिसि प्राची' इति । द्वितीयाका चन्द्रमा मांगलिक है, इसकी सब वन्दना करते हैं; परन्तु यह चन्द्रमा कलाहीन होता है, पश्चिममें उदय होता है, और दूसरेके आश्रित है । पूरब दिशा कहकर पूर्णिमाका चन्द्रमा सूचित किया जो अपनी पूर्ण षोडश कलाओंसे उदय होता है, इसी तरह श्रीकौशल्याजीके यहाँ श्रीरामजी पूर्णकलाके अवतार हुए । इसी प्रकार श्रीकृष्णजीका जन्म श्रीमद्भागवतमें देवकीरूपिणी प्राची दिशासे कहा गया है । यथा, 'देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः । आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥ भा. १०. ३. ८ ।' अर्थात् जैसे पूर्वदिशामें पूर्णचन्द्र प्रगट होता है उसी प्रकार देवरूपिणी देवकीजीकी कोखसे सर्वान्तर्यामी विष्णु प्रकट हुए ।

गोस्वामीजी यहाँ 'रघुपति ससि' का प्रकट होना कहकर जनाते हैं कि जिनका 'रघुनाथ' नाम है वे अवतरे हैं । विष्णुनामधारी भगवान् रघुपति होकर नहीं अवतरे । वे पूर्वसेही रघुपति हैं । इसी प्रकार वाल्मीकीयमें 'कौशल्या जनयेद्रामं' शब्द हैं । अर्थात् श्रीरामजी अवतरे, न कि विष्णु । नामकरणके पूर्व ही जिनका नाम 'राम' था, उनका अवतार सूचित किया ।

३ 'खल कमल तुसारू' इति। (क) कमलको यहाँ खलकी उपमा दी। यह 'विपर्यय अलंकार' है। चन्द्रमाके योगसे कमलको खल कहा। (मा. प्र.)। अथवा, 'कमलमें खलत्व यह है कि जिस जलसे उसकी उत्पत्ति होती है उसीसे वह विमुख रहता है, वैसेही खल प्रभुसे उत्पन्न होतेहुएभी उनसे विमुख रहते हैं।' (रा. प्र., वै.)। (ख) 'विश्व सुखद' इति। संसारमें तो संत और खल दोनों हैं, खलोंको तो सुख नहीं होता फिर 'विश्व-सुखद' कहनेका क्या भाव है? उत्तरः—अधिक लोगोंको सुख होता है, इसलिए 'विश्व सुखद' कहा।

टिप्पणी—१ (क) 'आदिमें कौशल्याजीकी वन्दना की, अन्तमें राजा दशरथजीकी। आदि अंतका संग है। सब रानियोंको संग कहा और आगे पीछेका सब क़ायदा रक्खा।' (ख) कौशल्याजीकी अकेले वन्दना की, इसीसे फिर कहा कि सब रानियोंकी दशरथसहित वन्दना करता हूँ। तात्पर्य यह है कि (१) कौशल्याजी सुकृत और कीर्त्तिमें राजा और सब रानियोंसे अधिक हैं। श्रीरामजी इनसे प्रकट हुए। इसीसे कौशल्याजीकी प्रथम वन्दना की। और पृथक् किसीको समतामें न रक्खा। अथवा, (२) यहां प्रथम जो वन्दना की गई यह मनुपत्नी श्रीशतरूपाकौशल्याजीकी वंदना है और आगे दोहेमें 'वंदौं अवधभुआल' यह मनु दशरथकी वन्दना है। मनु-प्रसंगमें 'होइहहु अवध भुआल तब मैं होब तुम्हार सुत' जो प्रभुने कहा था, उसीका 'अवधभुआल' शब्द दोहा १६ में देकर जना दिया कि यह वन्दना उन्हीं मनु-दशरथकी है। परात्पर ब्रह्म रामके माताकी वन्दना यहां की और दोहेमें उन्हींके पिताकी। इसके आगे जो 'दशरथ राउ सहित सब रानी' की वन्दना है, वह कश्यप-अदितिके अवतार श्रीदशरथकौशल्या आदिकी है। इसका प्रमाण आकाशवाणीके 'कश्यप अदिति महातप कीन्हा। तिन्ह कहुँ मैं पूरबबर दीन्हा॥ ते दशरथ कौसल्यारूपा। कोसलपुरी प्रगट नरभूपा॥ १. १८७।' वही 'दसरथ' नाम देकर 'दसरथराउ सहित सब रानी' में कश्यप-दशरथ आदिकी वन्दना की। (३) मनु और शतरूपाको वरदान पृथक्-पृथक् दिया गया था। यथा, 'होइहहु अवधभुआल तब मैं होब तुम्हार सुत' यह वरदान मनुजीको दिया। उससे पृथक् श्रीशतरूपाजीकी रुचि पूछकर 'देवि माँगु बरु जो रुचि तोरे।' तब उनको वर दिया। 'जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं।' अतएव दोनोंकी वंदना पृथक्-पृथक की गई। जैसे वरमें 'होइहहुँ प्रगट निकेत तुम्हारे' कहा और प्रादुर्भावके समय 'भए प्रगट कृपाला' कहा है, वैसेही यहाँ 'प्रगटे जहँ' कहा गया। अथवा, (४) श्रीरामजीमें जो कौशल्याजीका भाव है वह सबसे पृथक् है इससे इनको सबसे पृथक् कहा। अथवा, (५) सब रानियोंसे बड़ी होनेसे प्रथम कहा और पितासे माताका गौरव अधिक है, इस लिये प्रथम इनकी वन्दना की तब दशरथ महाराजकी। वा,

(६) श्रीरामचन्द्रजीने शतरूपारूपहीमें आपको माता मान लिया और उसी शरीरमें आपको माता कहकर संबोधन किया था। यथा, 'मातु बिबेक अलौकिक तोरें' इत्यादि। (१.१५०)। इसलिए कौशल्या माताकी वंदना प्रथम की। पुनः, 'यह सनातन परिपाटी है कि पहले शक्तिकी वन्दना करते हैं, इसीका निर्वाह कविने किया है। अर्थात् पहले बड़ी अम्बा कौशल्याजीकी वन्दना की फिर महाराज दशरथकी।

दसरथ राउ सहित सब रानी। सुकृत सुमंगल मूरति मानी। ६।
करौं प्रनाम करम मन बानी। करहु कृपा सुत सेवक जानी। ७।

अर्थ—राजा दशरथजीको सब रानियोंसहित पुण्य और सुन्दर मंगलोंकी मूर्ति मानकर मैं कर्ममन-वचनसे प्रणाम करता हूँ। (आप सब) अपने सुतका सेवक जानकर मुझपर कृपा करें। ६-७।

नोट—१ (क) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सब रानियाँ और राजा सुकृतमें बराबर हैं।

राजाने सुकृत किए, इसलिए रामजीके पिता हुए। रानियोंने सुकृत किए, इस लिए रामजीकी माता हुईं। इसीसे एक साथ वन्दना है। सुकृतसे सुमंगल होते हैं, ये दोनों की मूर्ति हैं।' वसिष्ठजीनेभी ऐसा ही कहा है। यथा, 'पुन्य पुरुष कहँ महि सुख छाई॥......तुम्ह गुर विप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी॥ सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयेउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥ तुम्ह ते अधिक पुन्य वड़ काके। राजन राम सरिस सुत जाके॥ तुम्ह कहुँ सर्व काल कल्याना।' (१. २९४)। (ख) 'सब रानी' इति। स्मरण रहे कि श्रीमद्गोस्वामीजीके मतानुसार राजा दशरथजीके ७०० रानियाँ थीं, जैसा कि गीतावलीमें वालकांडके अंतिम पदमें उन्होंने कहा है। यथा, 'पालागन दुलहियन्ह सिखावति सरिस सासु सत साता। देहिं असीस ते वरिस कोटि लगि अचल होउ अहिवाता। १०८।' परन्तु मानसकाव्य आदर्शकाव्य रचा गया है, इसी कारण इसमें आदर्श चरितोंका वर्णन है। केवल तीनही रानियोंके नाम और उन्हींकी चर्चा इसमें की गयी है। तीन स्त्रियोंका होना भी आदर्श नहीं है, तथापि इसके विना कथानक पूरा नहीं हो सकता था। (ग) 'सुत सेवक जानी' इति। पुत्रका सेवक अति प्रिय होता ही है। मातापिता सुतका टहलुआ जानकर अधिक कृपा करते हैं। मैंभी सुतसेवक हूँ, इस लिए मुझपरभी अधिक कृपा कीजिये। (रा. प्र.)।

जिन्हहिं विरचि वड़ भयेउ विधाता। महिमा अवधि राम पितु माता। ८।

शब्दार्थ—अवधि=सीमा, हद, मर्यादा। विरचि=अच्छीतरह रचकर।

अर्थ—जिनको रचकर ब्रह्माने भी वड़ाई पाई (और जो) श्रीरामचन्द्रजीके मातापिता (होने से) महिमाकी सीमा हैं। ८।

नोट—१ (क) भाव यह है कि राजा और रानियाँ परात्पर परब्रह्म श्रीरामचन्द्रजीके मातापिता हुए, फिर भला उनसे बढ़कर महिमा और किसकी हो सकती है ? ऐसी महिमाकी जो सीमा हैं उनको किसने उत्पन्न किया ? ब्रह्माजीने इनको वनाया है। यही ब्रह्माको वड़प्पन मिला। इसीसे ब्रह्माजी वड़े कहलाये। (ख) करुणासिन्धुजी 'महिमा अवधि' को श्रीरामचन्द्रजीका विशेषण मानकर अर्थ करते हैं। अर्थात् जो श्रीरामचन्द्रजी महिमाकी अवधि हैं, दशरथ महाराज और रानियाँ उनके पितामाता हैं। ये मातापिता ब्रह्माके वनाए हैं। इस लिये ब्रह्माजी धन्य हैं। यह वड़ाई मिली। ब्रह्माजीके पुत्र मनुशतरूपा हैं, वेही दशरथ कौशल्या हुए। (करु०)।

सो०—वंदौं अवध-भुआल, सत्य प्रेम जेहि राम पद।
विछुरत दीनदयाल, प्रिय तन तृन इव परिहरेउ। १६।

अर्थ—मैं श्रीअवधके राजाकी वन्दना करता हूँ जिनका श्रीरामजीके चरणोंमें (ऐसा) सच्चा प्रेम था (कि) दीनदयालु भगवान्‌के विछुड़तेही अपने प्यारे शरीरको उन्होंने तिनकेके समान त्याग दिया।

नोट—१ 'सत्य प्रेम जेहि राम पद' इति। श्रीमद्गोस्वामीजी यहाँ वताते हैं कि श्रीरघुनाथजीमें सच्चा प्रेम क्या है ? सच्चा प्रेम वही है कि जव वियोगमें हृदयमें विरहाग्नि ऐसी प्रज्वलित हो कि जीवनपर आ वने, उससे मरण अथवा मरणासन्न दशा प्राप्त हो जाय। यदि ऐसा न हुआ तो फिर 'सच्चा प्रेम' कहना व्यर्थ है। देखिए श्रीगोस्वामीजी दोहावलीमें कहते हैं कि सच्चा प्रेम तो 'मीन' का है, क्योंकि 'जल' से विछुड़तेही उसके प्राण निकल जाते हैं। यथा, 'मकर उरग दादुर कमठ, जल जीवन जल गेह। तुलसी एकै मीन को, है सांचिलो सनेह॥ ३१८॥' अर्थात् मगर, सर्प, मेंढक, कछुए सवहीका जलमें घर है और सवहीका जीवन जल है, परन्तु सच्चा स्नेह जलसे एक मछलीहीका है जो जलसे वाहर

रह ही नहीं सकती, तुरत मर जाती है। इसीतरह संसारमें प्रायः सभी कहते हैं कि 'प्रभो ! आप हमारे जीवन हैं, प्राणप्यारे हैं।' पर कितने मनुष्य ऐसे हैं जिनका यह वचन हार्दिक होता है ? जो वे कहते हैं उसे सत्य कर दिखाते हैं ? औरभी देखिये, जब अवधवासियोंको विछोह हुआ तब वे अपने प्रेमको धिक्कारते थे, कहते थे कि हमारा प्रेम झूठा है। यथा, 'निंदहिं आपु सराहहिं मीना। धिग जीवन रघुबीर बिहीना। २. ८६।'

नोट—१ यह उपदेश है कि सच्चे प्रेमी यदि बनना चाहते हो तो ऐसाही प्रेम कीजिये।

२ 'अवध भुआल' इति। मनुजीको जब श्रीरामजीने दर्शन दिया था तब मनुजीने यही वर माँगा कि 'चाहउँ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ। १।१४९।' प्रभुने एवमस्तु कहा और बोले कि 'आपु सरिस खोजौं कहँ जाई। नृप तव तनय होब मैं आई।' उसी समय शतरूपाजीने भी यही वर पाया। यथा, 'जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहि अति प्रिय लागा॥ १. १५०।' जब दोनोंको मन माँगा वर मिल चुका तब 'बंदि चरन मनु कहेउ बहोरी। अवर एक बिनती प्रभु मोरी। सुत बिषइक तव पद रति होऊ। मोहि बड़ मूढ़ कहै किन कोऊ॥ मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन मिति तुम्हहिं अधीना॥ अस बरु मांगि चरन गहिं रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ॥' प्रभुने तब यह कहा था कि 'होइहहु अवधभुआल तब मैं होब तुम्हार सुत'...'पुरउब मैं अभिलाष तुम्हारा। १. १५१।'

इस कारणसे पहले रानियोंसहित वंदना करते हुए प्रथम वरके अनुसार केवल 'रामजीके माता-पिता' कहा। दूसरी बार दूसरे वरके अनुसार दुबारा वंदनामें प्रभुके श्रीमुखवचन 'अवध भुआल' देकर उसीके साथ 'मम जीवन मिति तुम्हहि अधीना' का सत्य होना दिखाया। दशरथजीका यह प्रेम अनूठा था और ऐसा वरदान भी केवल आपहीने माँगकर पाया था, इसलिए आपकी वंदना पृथक् भी की। पं. रामकुमारजी लिखते हैं कि 'अवध भुआल' कहकर सूचित किया कि सब सुखको प्राप्त हैं; यथा, 'अवधराज सुरराज सिहाई। दसरथ धन सुनि धनद लजाई। २. ३२४।', 'नृप सब रहहिं कृपा अभिलाषे ! लोकप करहिं प्रीति रुख राखे॥ २. २।' ऐसेभी सुखकी इच्छा न की, रामजीके बिना ऐसाभी शरीर (जिसमें ये सुख प्राप्त थे) त्याग दिया। द्विवेदीजीका मत है कि अयोध्या के अनेक राजा हुए। उनका निराकरण करनेके लिए सत्य प्रेम इत्यादि विशेषण दिए हैं। इनसे दृढ़ रूपसे दशरथका बोध कराया। (विशेष पूर्व १६ (५) 'बंदौं कौसल्या...' में देखिए)। यहाँ 'प्रथम पर्यायोक्ति अलंकार' है।

३ मानसमयंककार लिखते हैं कि "दशरथके नेहको देखकर कि रामविरहमें शरीर त्याग दिया। सब कवियोंके हृदयमें वेह (व्रण) हो गया, क्योंकि काव्यमतानुसार विरहसे मरना अयोग्य है और विरहकी दश दशाओंमेंसे अन्तिम दशा मूर्च्छा है, मृत्यु नहीं है; परन्तु दशरथजीने शरीर छोड़कर प्रेमको प्रधान सिद्ध किया। एवं प्रकार गोसाईंजीने काव्यका अनुकरण नहीं किया है, राम प्रेमरसवश काव्य किया, चाहे काव्यरीतिके अनुकूल वा प्रतिकूल हो।" (परंतु प्रेमके ३३ व्यभिचारियोंमें एक मृत्युभी है। भक्तिसुधास्वाद पृष्ठ १८ देखिए)। पं० शिवलालजी पाठकके मतानुसार यह दोहा उनके भावको जो 'कवित विवेक एक नहिं मोरे' का उन्होंने कहा है, पुष्ट करता है। देखिए ९ (११)।

टिप्पणी—'रामपद' इति। दशरथजीका श्रीरामजीमें वात्सल्यभाव था। इस भावमें चरणारविन्दका ध्यान नहीं होता, परन्तु यहाँ 'रामपद' में सत्य प्रेम होना कहा है। इसका कारण यह है कि आपने यह वर माँगा था कि 'सुत बिषइक तव पद रति होऊ।' वरदानके अनुसार यहाँ ग्रन्थकारने कहा।

नोट—४ 'बिछुरत दीनदयाल' इति। (क) 'दीनदयाल' पद दिया, क्योंकि मनुरूपमें तपके समय

आपने दीन देखकर बड़ी दया की थी। (पाँडेजी, रा. प्र.)। पुनः, (ख) बिछुड़नेका हेतु दीनदयालुता है। दीनोंपर दया करके बिछुड़े थे। राक्षसोंके कारण सुर सन्त सब दुःखसे दीन हो रहे थे, उनको मारकर इनका दुःख हरनेके लिये श्रीरामजीने पिताका वियोग स्वीकार किया। ऐसा दीनों पर दयालु कौन होगा ? इस लिये 'दीनदयाल' कहा। (पं. रा. कु.)। 'रामजीके बिछुड़तेही शरीर त्याग दिया। इससे यह पाया जाता है कि राजा उनको देखकर जीते थे। यथा, 'जीवनु मोर दरस आधीना। २. ३३।' यहाँ 'मनिबिनु फनि जिमि जल बिनु मीना' ये वचन सिद्ध हुए।

५ 'प्रिय तन' इति। (क) तनको प्रिय कहा क्योंकि इसी तनसें परब्रह्म श्रीरामजी आपके पुत्र हुए। भुशुण्डिजीने गरुड़जीसे कहा है कि 'एहि तन रामभगति मैं पाई। तातें मोहि ममता अधिकाई॥ जेहि तें कछु निज स्वारथ होई। तेहि पर ममता कर सब कोई। ७. ६५।', 'रामभगति एहि तन उर जामी। तातें मोहि परम प्रिय स्वामी। ७. ९६।' और, दशरथमहाराजके तो श्रीरामजी पुत्रही हुए फिर यह 'तन' 'प्रिय' क्यों न हो ? पुनः, (ख) अपनी देह सभीको प्रिय होती हैं, जैसा श्रीदशरथमहाराजने स्वयं विश्वामित्रजीसे कहा है। यथा, 'देह प्रान तें प्रिय कछु नाहीं। सोउ मुनि देउँ निमिष एकमाहीं। १. २०८।' श्रीहनुमान्‌जीनेभी रावणसे ऐसाही कहा है—'सब के देह परम प्रिय स्वामी। ५. २२।' इस लिये तनको 'प्रिय' कहा।

६ 'तृन इव' कहनेका भाव यह है कि—(क) तिनका फेंक देनेमें किसीको मोह नहीं होता, उसी तरह आपने साधारणही शरीर त्याग दिया। जैसा कहा है 'सो तनु राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेमपनु मोर निबाहा। अ० १५५।' (ख) तिनका आगमें जलता है। यहाँ रामविरह अग्नि है। यथा, 'बिरह अगिनि तन तूल' (५. ३१)। इसलिये रामविरहमें तृन इव तन त्यागना कहा। पुनः, (ग) तृण किसीको प्रिय नहीं होता, तन सबको प्रिय होता है। रामजीके संबंधसे तन 'प्रिय' है और रामजीके बिछुड़नेसे यह शरीर 'तृणके समान' है। यथा, 'राम बिमुख लहि बिधि सम देही। कबि कोबिद न प्रसंसहिं तेही। ७. ९६।' "उत्प्रेक्षा करनेमें तृणही उपमान है, त्याग ग्रहण उत्प्रेक्षणीय हैं" (अज्ञात)।

७ यहाँ लोग शंका करने लगते हैं कि 'बिछुड़तेही तो तनका त्याग नहीं हुआ फिर यहाँ 'बिछुरत' कैसे कहा ?' श्रीरामजीके पयान-समयसे लेकर सुमन्त्रजीके लौटनेतक जो दशा राजाकी वर्णित है, उसका पूरा प्रसंग पढ़नेसे यह शंका स्वयंही निर्मूल जान पड़ेगी।

श्रीदशरथजीने सुमंत्रजीको रामचंद्रजीके साथ भेजा था। यथा, 'लै रथु संग सखा तुम्ह जाहू।', 'रथ चढ़ाइ देखराइ बनु फिरेहु गयें दिन चारि।',' फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥ नाहित मोर मरनु परिनामा॥ २. ८१-८२।' इन वचनोंसे विदित होता है कि इनको विश्वास था कि सुमंत्रजी उनको लौटा लावेंगे। ऐसा भरोसा होते हुए भी वे 'मणि बिनु फणि' के तुल्य जिये, जबतक सुमंत्रजी नहीं लौटे। यथा, 'जाइ सुमंत्र दीख कस राजा।...बूड़त कछु अधार जनु पाई'—(अ० १४८। १४९)। जब सुमंत्रने आकर हाल कहा तब 'परेउ धरनि उर दारुन दाहू।...प्राण कंठगत भयउ भुआलू। मनि बिहीन जनु ब्याकुल ब्यालू॥...राम राम कहि राम कहि राम राम कहि राम। तनु परिहरि रघुबर बिरह०। १५३-१५५।'

पुनः, दूसरा प्रश्न वे लोग फिर यह करते हैं कि 'जब विश्वामित्रजीके साथ श्रीरामजी गए थे तब भी तो बिछुड़न हुआ, तब शरीर क्यों न त्यागा ? उत्तर यह है कि—(क) राजाने विश्वामित्रमें अपना पितृत्व धर्म (अर्थात् श्रीरामजीके प्रति वात्सल्यभावको) स्थापित कर दिया था। यथा, 'मेरे प्राननाथ सुत दोऊ। तुम्ह मुनि पिता आन नहिं कोऊ। २०८।' जब मुनिको अपनी जगह पिता कर दिया तो फिर तन कैसे त्याग कर सकते थे ?

तोभी जो वर माँगा था कि 'मनि बिनु फनि' सा मेरा जीवन हो, वह दशा हो गई थी। जैसे 'मनि गये फनि जिये व्याकुल बेहाल रे।' वही दशा राजाकी जनकपुर पहुँचनेपर दर्शाई है। यथा, 'मृतक सरीर प्रान जनु भेटे। १। ३०८।' पुनः, (ख) इस वियोगमें इस कारण इनका शरीर नहीं छूटा कि यह क्षणिक था, उन्हें पूर्ण विश्वास था कि वे शीघ्र यज्ञरक्षा करके लौटेंगे, जैसा विश्वामित्रजीके वचनोंसे सिद्ध है—'बूझिए वामदेव अरु कुलगुरु तुम पुनि परम सयाने। २। रिपु रन दलि मख राखि कुसल अति अलप दिननि घर ऐहैं' (गीतावली १.४८)। उसमें जटिल तापसिकता नहीं थी। दूसरे, भगवानके दो अंशरूप श्रीभरत-शत्रुघ्नजी यहाँ विद्यमान् थे। संपूर्णतः श्रीरामजी अर्थात् तीनों अंशरूप अनुजोंसहित उनका वियोग होता तो मृत्युकी अवश्य अनिवार्य संभावना थी। भगवान्के तीनों भाई अंशरूप हैं, इसका उन्होंने पूर्वमें निर्देश किया है—'अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेइहउँ दिनकर बंस उदारा॥' (ब्रह्मचारी श्रीबिंदुजी)। दूसरे वियोगमें एकभी अंश श्रीअवधमें उपस्थित न था; अथवा, (ग) वरदानमें दो प्रकारकी दशाएँ माँगी थीं, सो पहली दशा पहले वियोगमें और दूसरी दशा दूसरे वियोगमें प्रगट हुई।

प्रनवौं परिजन सहित बिदेहू। जाहि राम पद गूढ़ सनेहू। १।

शब्दार्थ—परिजन=परिवारवाले, कुटुंबी; वे लोग जो अपने भरणपोषणके लिए किसी एक विशिष्ट कुटुम्बी व्यक्तिपर अवलम्बित हों जैसे स्त्री, पुत्र, सेवक, आदि। गूढ़=गुप्त, गंभीर, बड़ा गहरा।

अर्थ—परिवारसहित राजा जनकजी वंदना करता हूँ। जिनका श्रीरामजीके चरणों में गूढ़ स्नेह था। १।

टिप्पणी—१ (क) श्रीजनकमहाराजकी सब प्रजा ब्रह्मज्ञानी है; इसलिये 'परिजन सहित' कहा। (ख) 'गूढ़ सनेहू' इति। ऊपर दोहेमें दशरथमहाराजकी वन्दना करते हुए कहा था कि '....सत्य प्रेम जेहि रामपद। बिछुरत दीनदयालु प्रिय तनु तृन इव परिहरेउ॥' और यहाँ श्रीजनकमहाराजकाभी 'रामपद' में स्नेह होना कहा। परंतु यहाँ 'गूढ़' विशेषण दिया है। गूढ़ कहकर सूचित करते हैं कि श्रीदशरथमहाराजका प्रेम प्रगट भी था। और इनका गुप्तही था इसीसे आपने शरीर नहीं छोड़ा।

नोट—१ 'बिदेहू' इति। महाराज निमिजी इक्ष्वाकुमहाराजके पुत्र थे। इन्होंने एक हजार वर्षका यज्ञ करनेकी इच्छा की और श्रीवशिष्ठजीको होता वर लिया। वशिष्ठजीने कहा कि इन्द्रने हमें पाँचसौ वर्षके यज्ञके लिये पहलेही निमन्त्रण दे दिया है, उसको पूरा कराके तब तुम्हारा यज्ञ करावेंगे। यह सुनकर राजा चुप हो गए। 'मौनं सम्मति' समझकर वशिष्ठजी चले गए। राजाने गौतमजीको बुलाकर यज्ञ आरंभ कर दिया। इन्द्रका यज्ञ कराके वशिष्ठजी लौटे और निमि महाराजके यहाँ आए। यहाँ देखा कि यज्ञ हो रहा है। राजा उस समय वहाँ नहीं थे, महलमें सो रहे थे। वशिष्ठजीने शाप दिया कि यह राजा देहरहित हो जाय—'अयं विदेहो भविष्यति'। राजा सोकर उठे तो उनको यह समाचार मिलनेपर उन्होंनेभी वशिष्ठजीको शाप दिया कि हम सो रहे थे, हमको जगाया भी नहीं और न कुछ बातचीत की, बिना जाने शाप दे दिया, अतएव उनकाभी देह न रहे। यह शाप देकर उन्होंने देह त्याग दिया। यथा, 'यस्मान्मामसम्भाष्याऽज्ञानत एव शयानस्य शापोत्सर्गमसौ दुष्ट गुरुश्चकार तस्मात्तस्यापि देहः पतिष्यतीति शापं दत्वा देहमत्यजत्।' (विष्णु पु. अंश ४ अ. ५)। महर्षि गौतम आदिने राजाके शरीरको तेल आदिमें रखकर यज्ञकी समाप्तितक सुरक्षित रक्खा। यज्ञ समाप्तिपर जब देवता अपना भाग ग्रहण करनेके लिये आए तब ऋत्विजोंने उनसे कहा कि यजमानको वर दीजिए। देवताओंके पूछनेपर कि क्या वर चाहते हो, निमिने सूक्ष्मशरीरद्वारा कहा कि देह धारण करनेसे उससे वियोग होनेमें बहुत

कष्ट होता है इसलिये देह नहीं चाहता, समस्त लोगोंके लोचनोंपर हमारा वास हो। देवताओंने यही वर दिया। तभीसे लोगोंकी पलकें गिरने लगीं।

महाराज निमिके कोई संतान न थी। इस लिये मुनियोंने उनके शरीरको मथा जिससे एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसके जनन होनेसे 'जनक' नाम हुआ, विदेहका लड़का होनेसे वैदेह और मथनसे पैदा होनेसे 'मिथि' नाम प्रसिद्ध हुआ। यथा, 'जननाज्जनकसंज्ञा चावाप। २२। अभूद्विदेहोऽस्य पितेति वैदेहः मथनान्मिथिरिति। २३।' (विष्णु पु. ४ अ. ५)। राजा निमिको लेकर श्रीसीरध्वजजीतक वाईस राजा इस पीढ़ीमें हुए। इस वंशके सभी राजा आत्मविद्याश्रयी अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ होते आए हैं। सभी विदेह और जनक कहलाते हैं। इनकी कथाएँ ब्राह्मणों, उपनिषदों, महाभारत आदि पुराणोंमें भरी पड़ी हैं। श्रीरामजीके समयमें श्रीसीरध्वज महाराज मिथिलाके राजा थे।

शंका—अभी तो अवधवासियोंकी वन्दना समाप्त नहीं हुई थी, बीचहीमें श्रीविदेहजीकी वंदना कैसे करने लगे?

समाधान—(क) विचारिये तो श्रीविदेहजी महाराज श्रीदशरथमहाराजकी समताके पाए जाते हैं। दोनोंमें 'गूढ़ प्रेम' था। श्रीजनकजीका प्रेम श्रीरामचन्द्रजीके दर्शन होतेही प्रगट हो गया और दशरथमहाराजका प्रेम वियोग होनेपर संसारभरको प्रगट हो गया। पुनः दोनोंमें एकहीसा ऐश्वर्य और माधुर्य था। यथा, 'सकल भाँति सम साज समाजू। सम समधी देखे हम आजू। बा० ३२०।', 'जनक सुकृत मूरति वैदेही। दशरथ सुकृत राम धरे देही। बा० ३१०।' मनुशतरूपाजीको अखण्ड परात्पर परब्रह्मके दर्शन हुए, उसे विचारनेसे स्पष्ट है कि परब्रह्मका युगलस्वरूप है जो मिलकर एकही हैं, अभेद हैं, अभिन्न हैं। इनमेंसे एक स्वरूपसे चक्रवर्ती दशरथमहाराजके यहाँ प्रभु प्रगट हुए और दूसरेसे श्रीजनक महाराजके यहाँ। इससे भी समता हुई। पुनः, श्रीदशरथजी पिता हैं और जनक महाराज ससुर। पिता और ससुरका दर्जा बराबरीका है ही। (ख) पं०. रामकुमारजी कहते हैं कि श्रीजनकजीको रामपरिकर समझकर अवधवासियोंके बीचमें उनकी वन्दना की। और कोई ऐसा उचित स्थान आपकी वन्दनाका न था।

नोट—कोई-कोई महानुभाव 'जाहि' से 'परिजन' और 'विदेहू' दोनोंका अर्थ करते हैं। परन्तु 'जाहि' एक वचन है।

जोग भोग महुँ राखेउ गोई। राम बिलोकत प्रगटेउ सोई। २।

अर्थ—(जिसे उन्होंने) योग और भोगमें छिपा रक्खा था (परन्तु) श्रीरामचन्द्रजीके देखतेही (उन्होंने) उसे प्रगट कर दिया (वा, वह खुल गया)। २।

नोट—१ 'जोग भोग०....' इति। योगपूर्वक भोगमें अनासक्त होते हुए सदैव जिस अनिर्वचनीय तत्त्वका वे अनुभव करते थे और जिस आनन्दको प्राप्त होते थे, भगवान् दशरथकुमार श्रीरामचन्द्रजीके दर्शनोंसे वही दशा उनकी हुई। इस प्रकार उस राजर्षि महायोगेश्वरने एक सुन्दर राजकुमारको देखतेही जब उस अनिर्वचनीय आनन्दकी उपेक्षा की, तब उसकी वृत्ति चौंकी, उसको एकाएक विस्मय हुआ कि मेरी वृत्ति उस कौमार छविमें क्यों तन्मयी हो रही है। इससे यह संदेह होता है कि ये नररूपधारी वही परब्रह्म तो नहीं हैं। इससे उन्होंने महर्षि विश्वामित्रजीसे पूछा कि 'सहज विरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा।...इन्हहिं बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।...सुंदर श्याम गौर दोउ भ्राता। आनँदहू के आनँद-दाता। इत्यादि। (बा० २१६-२१७)।

पुनः, दूसरा भाव यह है कि बड़े-बड़े योगेश्वर आपको ब्रह्मज्ञानी योगेश्वरही समझते रहे और जो इतने दूरदर्शी न थे वे तो यही समझते रहे कि आप राज्य-ऐश्वर्यहीमें पूर्ण आसक्त हैं। आपके प्रेमका पताभी किसीको न था। कोइ योगी समझता था और कोई भोगी। श्रीरामदर्शन होतेही ब्रह्मसुख अर्थात् योग जाता रहा, बस छिपा हुआ प्रेम सबको देख पड़ा। मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि 'एक वेद गुण अर्द्ध लखु नैन श्रुती गुण अंत। भुज दइ मता विदेह के लखिये संगम संत।' अर्थात् विदेहजीका प्रेम श्रीरामजीके परतम स्वरूपहीमें था। वह प्रेमरूपी मणि डब्बेमें रक्खा था, योग और भोग जिस संपुटके ऊपर और नीचेके दोनों भाग थे। जबतक डब्बा न खुले मणिका हाल कोई क्या जाने? यहाँ ब्रह्मसुखका त्यागही मानों ऊपरके ढक्कनका खुल जाना है।

पं० सूर्यप्रसाद मिश्र यह शङ्का उठाकर कि "विदेहका अर्थ जीवन्मुक्त है, जीवन्मुक्त होनेपर पुनः रामचरणमें अनुराग कैसा? मतलब छोड़ मूढ़कीभी प्रकृति किसी काममें नहीं होती, विदेह होनेपरभी राजाका रामचरणमें प्रेम कैसा?" उसका उत्तर देते हैं कि विदेह होनेपरभी फलानुसन्धानरहित प्रेमलक्षणा-भक्ति भक्तोंकी अपने स्वामीमें होती है, क्योंकि प्रभुमें ऐसा गुणही है, वह कहा नहीं जा सकता, भक्तही जानते हैं। इसी लिए श्रीजनकजीका प्रेम श्रीरघुनाथजीके चरणमें था। यथा, 'आत्मारामाश्चमुनयोनिर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकी भक्तिमित्थंभूतगुणोहरिः॥ (श्रीमद्भागवत १।७।१०)

श्री द्विवेदीजी लिखते हैं कि विदेह जीवन्मुक्त थे। उन्होंने अपने ज्ञानसे संचित और प्रारब्धकर्म दोनों-को भस्म कर डाला था, केवल प्रारब्धकर्मसे अपनी इच्छासे शरीर रक्खे थे, इसीसे विदेह कहलाते थे। मुक्ति चार प्रकारकी है। उसमें जनकजीने सामीप्यमुक्तिको पसन्द किया। श्रीरामसमीपमें वासकर उनमें सदा स्नेह रखना यही सामीप्य मुक्ति है।

☞इस गम्भीर विषयपर श्रीमुखवचन हैं कि 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा। करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी। गह सिसु बच्छ अनल अहि धाई। तहँ राखइ जननी अरगाई॥ प्रौढ़ भये तेहि सुत पर माता। प्रीति करइ नहिं पाछिलि बाता॥ मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ यह बिचारि पंडित मोहिं भजहीं। पायेहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥ ३.४३।' यही कारण है कि श्रीसनकादि नारद आदिने जीवनमुक्त ज्ञानी होनेपरभी भक्तिहीका वर माँगा है। यथा, 'परमानंद कृपायतन मन परिपूरन काम। प्रमभगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम॥॥ ७.३४।'

नोट—२ श्रीवैजनाथजीका मत है कि विदेहजीमें जो गूढ़ प्रेम था वह 'योग' में गुप्त रहा और परिजनोंका प्रेम 'भोग' में गुप्त था। दोनोंका प्रेम श्रीरामजीका दर्शन होतेही प्रकट हो गया। श्रीजनक महाराजका प्रेम प्रकट हुआ। यथा, प्रेम मगन मन जानि नृपु करि बिबेक धरि धीर। बोले मुनिपद नाइ सिरु गदगद गिरा गँभीर। १.२१५।' 'गद्गद गिरा' प्रेमका लक्षण है। परिजनोंका स्नेह, यथा, 'भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥ १।२१५।', 'जुवतीं भवनझरोखन्हि लागीं। निरखहिं राम रूप अनुरागीं। १.२२०।', 'धाये धाम काम सब त्यागी। मनहुँ रंक निधि लूटन लागी। १।२२०।' इत्यादि। (परन्तु उनका पाठ है, 'जिन्हहिं रामपद गूढ़ सनेहू' और प्राचीन पाठ है 'जाहि राम पद गूढ़ सनेहू'। उन्होंने 'पुरजन' पाठ दिया है)।

३ "महाराज दशरथजीकी, उनकी रानियोंकी, श्रीअवधसरयूकी और श्रीअवधपुरवासियोंकी वन्दना की गई; परन्तु श्रीजनकजीकी वन्दना केवल परिजनोंके सहित की गई। न तो मिथिलाकी न कमलाविमलाकी

और न मिथिलापुरनरनारियोंकीही वन्दना की, यह क्यों ?" इस प्रकारकी शङ्का उठाकर मा. मा. कार उसका समाधान यह करते हैं कि ग्रन्थकारने जो बहुत प्रकारकी वन्दना की है, वह केवल वन्दनाही नहीं है, उसमें वन्दनाके व्याजसे जीवोंके कल्याणका सुदृढ़ तथा सुगम मार्ग दिखलाया है। राजाधिराज सर्वेश्वर श्रीरामजीके सन्निकट पहुँचनेका मार्ग बताया है। सनत्कुमारसंहिता आदिमें जो दिव्य अयोध्यापुरीमें राजाधिराज श्रीरघुनाथजीका दरबार वर्णन किया गया है, उसमें महाराज दशरथ, कौसल्यादि मातायें और सभी पुरजन हैं, तथा श्रीजनक-महाराजभी अपने परिजनोंसहित उपस्थित हैं, परन्तु महारानी सुनयनाजी एवं मिथिलापुरनरनारियाँ उसमें नहीं हैं। अतएव उनकी वंदनाभी यहाँ नहीं की गई। पुनः यह ध्यान अयोध्यान्तर्गत है, इससे कमला आदि नदियाँ वहाँ न होनेसे उनकी वन्दना नहीं की गई।

प्रनवौं प्रथम भरत के चरना। जासु नेम ब्रत जाइ न बरना। ३।

अर्थ—पहले श्रीभरतजीके चरणोंको प्रणाम करता हूँ जिनका नियम और व्रत वर्णन नहीं किया जा सकता। ३।

नोट—१ 'प्रनवौं प्रथम' इति। इतनी वंदनाएँ कर चुकनेपरभी यहाँ 'प्रनवौं प्रथम' कहा। प्रथम पद देनेके भाव ये कहे जाते हैं। (१) भाइयोंमें प्रथम इनकी वंदना करते हैं, क्योंकि श्रीरामचन्द्रजीके भाइयोंमें ये सबसे बड़े हैं। (२) 'गोस्वामीजी अब वंदनाकी कोटि बदलते हैं। अभीतक श्रीरामजानकीके पुरवासियों और उनके मातापिताकी वंदना की, अब भाइयोंकी वंदना करते हैं। इस लिये 'प्रथम' पद दिया। (पं० रा० कु०)। अथवा, (३) प्रथम श्रीदशरथजी और जनकमहाराजकी वंदना उनको प्रेमी कहकर की, सो व्यवहार-में इन्हें बड़े समझकर प्रथम इनकी वंदना की थी। अब प्रेमियोंमें प्रथम भरतकी वंदना करते हैं, क्योंकि इनसे बढ़कर कोई प्रेमी नहीं है, यथा, 'प्रेम अमिय मंदर बिरह भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर॥ अ० २३८।', 'तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरे देह जनु राम सनेहू॥ २.२०८।', 'भरतहिं कहहिं सराहि सराही। रामप्रेम मूरति तनु आही। अ० १८३।', 'जासु बिलोकि भगति लवलेसू। प्रेम मगन मुनिगन मिथिलेसू॥ २.३०३।', 'भगत-सिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल। अ० २१९।' (पं० रा० कु०, रा० प्र०)। अथवा, (४) 'भरतहि जानि राम परिछाहीं' के भावसे 'प्रथम' पद दिया गया। (मा. त. वि.)। अथवा, (५) गोस्वामीजीने भाइयोंमें इनकी वंदना प्रथम इस विचारसे की कि श्रीरामजीकी प्राप्ति करानेमें आप मुख्य थे। यथा, 'कलिकाल तुलसीसे सठन्हि हठि राम सनमुख करत को।' २.३२६।' (वंदनपाठकजी)। अथवा, (६) इस भावसे प्रथम वंदना की कि ये श्रीरामजीको सब भाइयोंसे अधिक प्रिय हैं; यथा,—'अगम सनेहु भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को। २.२४१।', 'तुम्ह सम रामहिं कोउ प्रिय नाहीं। २.२०५।', 'भयउ न भुवन भरत सम भाई। २.२५९।' 'जग जपु राम राम जपु जेही। २.२१८।' इत्यादि। अथवा, (७) और लोगोंको जितना प्रेम रामचरणमें है, उससे सौगुना प्रेम इनका राम पादुकामें था, इसीसे लोग इन्हें भक्तशिरोमणि कहते हैं। अतः 'प्रथम' कहा। (सु. द्विवेदीजी)। अथवा, (८) ऊपर सबकी मूर्तिकी वंदना की, अब यहाँसे चरणकी वन्दना चली। इसमें प्रथम भरतजीके पदकी वन्दना की।

चरण-वन्दना

पहले जिन जिनकी वन्दना की है प्रायः उनके चरणोंको लक्ष्य नहीं किया है, पर अबसे (अर्थात् 'प्रनवौं प्रथम भरत के चरना' इस चौपाईसे) वे अपने वंद्यके पदोंको लक्ष्य करके वन्दना करते हैं। इसका कारण यह है कि यहाँसे वे श्रीरामचन्द्रजीके विशिष्ट अंग रूप अनुजोंकी वंदना आरम्भ करते हैं जो भगवान्‌के अभिन्न अंश होनेसे ब्रह्मकोटिकी आत्माएँ हैं। भगवान्‌के चरण परम

पूज्य और आराध्य हैं। भगवत्पद, विष्णुपदकी पूजा प्रशस्त है। अतः उनके अन्य स्वरूपोंकेभी चरण पूज्य होंगे। 'पद' या 'पाद' संस्कृत और भाषा साहित्यमें एक बहुत पवित्र और पूज्य शब्द माना जाता है। 'पद' का अर्थ 'स्वरूप' और 'तत्व' भी है। जैसे, 'भगवत्पदकी प्राप्ति', इसका अर्थ हुआ—'भगवत् स्वरूप की प्राप्ति', 'ब्रह्मत्व की प्राप्ति'। भगवत्पाद, त्रिपाद, परमपद, रामपद इत्यादि ऐसेही शब्द हैं। अस्तु, यह शब्द भगवत्सम्बन्धमें विशेषरूपसे व्यवहरित होता है। अतः, पद या चरणका उल्लेख करके वन्दना करना भी स्वरूपहीकी वन्दना करना है। गुरुजनोंके चरण पूज्य हैं। उनके चरणोंकी वन्दना करना लोकमेंभी प्रशस्त है। अतः सर्वश्रेष्ठ जगद्गुरु भगवान्के चरणोंकी वन्दना की जाती है। १७ (५) भी देखिए।

नोट—२ 'जासु नेम व्रत जाइ न बरना' इति। 'नेम व्रत' यथा, 'तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा।...नित नव राम प्रेम पन पीना।...सम दम संजम नियम उपासा।....लषन राम सिय कानन बसहीं। भरत भवन बसि तन तप कसहीं।....सुनि व्रत नेम साधु सकुचाहीं। देखि दसा मुनिराज लजाहीं ।...मुनि मन अगम जम नियम सम दम विषम व्रत आचरत को' (अ० ३२४ से ३२६ तक), 'तापस वेष गात कृस जपत निरंतर मोहि।....बीते अवधि जाउँ जौं जियत न पावउँ बीर॥ ल० ११५।', 'बैठे देखि कुसासन जटा मुकुट कृसगात। राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात' (उ० १); 'जब तें चित्रकोट तें आये। नंदिग्राम खनि अवनि डासि कुस परनकुटी करि छाये। १। अजिन बसन फल असन जटा धरे रहत अवधि चित दीन्हें। प्रभुपद प्रेम नेमव्रत निरखत मुनिन्ह नमित मुख कीन्हें। २। सिंहासन पर पूजि पादुका बारहिं बार जोहारे। प्रभु अनुराग माँगि आयसु पुरजन सब काज सँवारे। ३। तुलसी ज्यों ज्यों घटत तेज तन त्यों त्यों प्रीति सवाई (अधिकाई)। भये न हैं न होहिंगे कबहूँ भुवन भरत से भाई। ४।' (गी ७९) 'जाके प्रिय न राम बैदेही...तज्यो पिता प्रह्लाद...भरत महतारी' (विनय)।

३ 'जाइ न बरना' इति। यथा, 'भरत रहनि समुझनि करतूती। भगति बिरति गुन बिमल बिभूती॥ बरनत सकल सुकवि सकुचाहीं। सेष गनेस गिरा गमु नाहीं॥ अ० ३२५।', 'मोहि भावत कहि आवत नहिं भरतजू की रहनि।' (गीतावली २। ८१), इत्यादि।

राम चरन पंकज मन जासू। लुबुध मधुप इव तजइ न पासू। ४।

शब्दार्थ—पंकज=कमल। लुबुध (लुब्ध)=लुभाया हुआ। मधुप=भौंरा।

अर्थ—जिसका मन श्रीरामचन्द्रजीके चरणकमलोंमें भौंरेकी तरह लुब्ध है, (उनका) पास नहीं छोड़ता। ४।

टिप्पणी—आपका नेम और प्रेम दोनों दिखाया है। नेम और व्रत तनसे करते हैं; और मन रामचरणमें लगाए हैं। नेमव्रतके पीछे रामपदमें प्रेम कहते हैं; क्योंकि रामपदप्रेम नेमव्रत आदि सबका फल है। यथा, 'जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धरम कहत श्रुति सज्जन॥ आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥ तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥' (इति वशिष्ठोक्ति ७. ४९)।

नोट—१ 'लुबुध मधुप इव०' इति। कमल और भ्रमरका सान्निध्य है, कभी वियोग होता ही नहीं, जहाँ कमल वहाँ भ्रमर। भौंरा दिनभर कमलका रस पीता रहता है। उसमें इतना आसक्त हो जाता है कि सायंकालमें जब कमल संपुटित होता है तब वह उसीके भीतर बंद हो जाता है, उससे बाहर निकलनेकी इच्छाही नहीं करता, क्योंकि वह रसासक्तिमें विवश रहता है। इसी तरह श्रीभरतजी श्रीरामचन्द्रजीके चरणारविंदोंके अनन्य और अकृत्रिम प्रेमी हैं। यथा, 'परमारथ स्वारथ सुख सारे। भरत न सपनेहु मनहु निहारे॥ साधन सिद्धि राम पग नेहु। मोहि लखि परत भरत मत एहु। २। २८९।'

बंदौं लछिमन पद जलजाता । सीतल सुभग भगत सुखदाता । ५ ।

शब्दार्थ—जलजाता (जल+जाता)=कमल । सुभग=सुन्दर ।

अर्थ—मैं श्रीलक्ष्मणजीके चरणकमलोंको प्रणाम करता हूँ । जो शीतल, सुन्दर और भक्तोंको सुख देनेवाले हैं । ५ ।

नोट—१ करुणासिन्धुजी तथा रामायणपरिचर्याकार 'सीतल' आदिको पदका विशेषण मानते हैं और पं० रामकुमारजी इनको लक्ष्मणजीके विशेषण मानते हैं । गोस्वामीजीकी प्रायः यह शैली है कि वे पदकी वंदना करते हैं और विशेषण उस व्यक्तिके देते हैं जिनके चरणकी वंदना वे करते हैं । यथा, 'बंदउँ गुरुपदकंज कृपासिंधु नर रूप हरि । महामोह तमपुंज जासु वचन रविकर निकर ॥ (मं. सो. ५), 'बंदउँ मुनिपदकंज रामायन जेहि निरमयउ । सखर सुकोमल मंजु दोप रहित दूपन सहित ॥' (१. १४), 'बंदउँ विधि पद रेनु भवसागर जेहि कीन्ह जहँ । संत सुधा ससि धेनु प्रगटे खल विप वारुनी ॥' (१. १४), इत्यादि । वंद्यसे उनके पदोंको अभिन्न मानकर कविने विशेषणोंकी कल्पना की है । भगवान्‌के चरणमेंही वंदना की जाती है । उसीमें लगनेसे लोग बड़भागी कहलाए हैं । (२११ छंद देखिए) । भक्ति इन्हींसे प्रारंभ और इन्हींपर समाप्त होती है । अतः, चरणोंहीकी वंदना की जाती है । सेवकस्वामिभाव इसीसे जान पड़ता है । विशेष देखिए १७ (२) ।

२ 'सीतल सुभग भगतसुखदाता' इति । भाव यह है कि (क) शीतल स्वभाव है, सुंदर गौर शरीर है । यथा, 'सहज सुभाय सुभग तन गोरे । नाम लषनु लघु देवर मोरे । २ । ११७ ।' अथवा, (ख) शीतल और सुन्दर स्वभाव है, दर्शनसे भक्तोंको सुख देते हैं । पुनः भाव कि (ग) चरणके शरण होतेही त्रिताप दूर होते हैं और परमानंद प्राप्त होता है । (करु०) । पुनः, (घ) श्रीलक्ष्मणजी रामचन्द्रजीके यशको भक्तोंके सामने प्रकाश करनेवाले हैं जिससे भक्तोंका हृदय शीतल हो जाता है और भक्तोंको बहुतही सुख प्राप्त होता है, इस लिए शीतल और भगतसुखदाता विशेषण बहुतही रोचक हैं । (सु. द्विवेदीजी) । अथवा, (ङ) शीतलका भाव यह कि महाप्रलयमें सारे जगत्‌के संहारमें जो परिश्रम भगवान्‌को पड़ता है वह तभी जाता है जब भगवान् शेषशय्यापर सोते हैं । जब अंशमें इतनी शीतलता है तो अंशी जो लक्ष्मणजी हैं उनका क्या कहना है ! (रा. प्र.) ।

रघुपति कीरति विमल पताका । दंड समान भयेउ जस जाका । ६ ।

शब्दार्थ—पताका=झंडा, बाँस आदिके एक सिरेपर पहनाया हुआ तिकोना या चौकोना कपड़ा जिसपर प्रायः कोई न कोई चिह्न रहता है । दंड=दन्डा (जिसमें पताका फहराती है ।)

अर्थ—श्रीरघुनाथजीकी कीर्त्तिरूपी विमल पताकामें जिनका यश डन्डेके समान हुआ । ६ ।

नोट—१ (क) श्रीरघुनाथजीकी कीर्त्तिको पताका और लक्ष्मणजीके यशको दण्ड कहा । भाव यह कि पताका और दन्डा दोनों साथही रहते हैं, इसी तरह श्रीरघुनाथजीकी कीर्त्तिके साथही श्रीलक्ष्मणजीका यशभी है । उदाहरणमें विश्वामित्रजीकी यज्ञकी रक्षाही ले लीजिए । मारीचादिसे लड़ाई हुई, तो सुबाहुको श्रीरामचन्द्रजीने मारा और लक्ष्मणजीने सेनाको । यथा, 'विनु फर वान राम तेहि मारा । सतजोजन गा सागर पारा ॥ पावक सर सुबाहु पुनि मारा । अनुज निसाचर कटकु सँघारा । १. २१० ।' पुनः, रावणवधकी कीर्त्तिके साथ मेघनादवधका यश इत्यादि । पुनः, (ख) संतसिंहजी कहते हैं कि 'जय वस्त्र और बाँस एकत्र हों तभी ध्वजा बनती है; वैसेही जब रामचन्द्रजीके साथ लक्ष्मणजीके चरित्र मिलते हैं, तभी रामायण होती है । (ग) लक्ष्मणजीकी कीर्त्ति आधाररूप है, अतः उसे दंड

कहा। क्योंकि दण्डके आधारपर पताका फहराती है, दण्ड न हो तो पताका नहीं फहरा सकती। यदि लक्ष्मणजीके चरित निकाल डालें, तो रामायणमें कुछ रहही नहीं जाता। इसीसे लक्ष्मणजीने कभी साथ नहीं छोड़ा। जो काम कोई और भाई न कर सके वह इन्होंने किया। परशुरामवादमें परास्तकी, तथा मेघनादके वध और सीतात्यागमें जो कीर्त्ति मिली वह सब इन्हींकी सहायतासे मिली। पुनः (घ) दंड और पताकाकी उपमायें देकर यह सूचित किया कि आप यशको प्राप्त हुए और स्वामीके यशकी उन्नति करनेवाले हैं। (पं० रा० कु०)। (ङ) पताका दण्डमें लगाकर जबतक खड़ी न की जाय तबतक वह दूर तक नहीं देखी जा सकती। इसलिए श्रीरामकी पताकाका दण्डा लक्ष्मणका यश हुआ। श्रीराम विना अभि-मानके नीचे सिर किए हुए विश्वामित्रकी आज्ञासे धनुष तोड़ने के लिए चले, उस समय लक्ष्मणका दिग्गजों इत्यादिसे सावधान होनेके लिए ललकारकर कहना मानों दण्डेमें लगाकर रामप्रतापपताकाको खड़ाकर सबको दिखा देना है। (द्विवेदीजी)। पुनः, (च) 'नागपाशसे रघुपतिकीर्तिपताका गिर गई थी, लक्ष्मणजीने मेघनाद-को मारकर अपने यशदण्डसे उसको फिर ऊँचा कर दिया'। (पांडेजी)। ☞स्मरण रहे कि जहाँ कहीं श्रीरामजीकी कीर्तिमें बट्टा लगनेकी बातका वर्णन हुआ, वहीं आपने उस कीर्तिको अपने द्वारा उन्नत कर दिया। जैसे, धनुषयज्ञमें श्रीजनकजीके 'बीर बिहीन मही मैं जानी।' इन वचनोंपर जब आपको कोप हुआ तब श्रीजनकजी सकुचा गए। परशुरामजीने जब जनकजी से 'बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं....' और फिर श्रीरामजी से 'सुनहु राम जेहि सिवधनु तोरा। सहसबाहु सम सो रिपु मोरा। (१.२७०, २७१), इत्यादि कटुवचन कहे, तो लक्ष्मणजी न सह सके और भगवान्का अपमान करनेवाले परशुरामका मस्तक नीचा करही तो दिया। अरण्यमें शूर्पणखाकी नाक काटना, सुन्दरमें शुकसारनके हाथ पत्रिका रावणको भेजना और लंकामें मेघनादवध आदि सब श्रीरघुनाथजीकी कीर्तिपताकाको अपने यशदण्डपर फहरानेके उदाहरण हैं। पुनः, (छ) पताका दूरसे दिखाई देती है, पर दण्डा तभी दिखाई पड़ता है जब पास जावे, इसी तरह श्रीरामयश ख्यात है, परन्तु लक्ष्मणयश विचारनेहीपर जान पड़ता है। पताकाका रूपक रावणवधसे और 'दण्ड' का रूपक मेघनादवधसे है। (रा. प्र.)। (ज) वैजनाथजी लिखते हैं कि कीर्ति स्तुति और दानसे होती है। उसमें करुणरसका अधिकार होता है जिसमें सौशील्यता और उदारता आदि गुण होना आवश्यक हैं। यश कीर्तिको उन्नत करता है; इसमें वीररसका अधिकार है और शौर्यवीर्यादि गुण होते हैं। श्रीलक्ष्मणजीमें शुद्ध वीररस सदा परिपूर्ण है, जो प्रभु श्रीरामजीके करुणरसका सहायक है। यथा, 'अनुज निसाचर कटक सँघारा', 'चितवत नृपन्ह सकोप', 'बोले परसुधरहिं अपमाने' इत्यादि।

२ यहाँ इस चौपाईमें शब्द-योजनाकी विशेषता यह है कि 'कीर्ति' से 'पताका' का रूपक दिया है और ये दोनों शब्द स्त्रीलिंगके हैं ऐसेही 'यश' जो पुल्लिंग है उसका रूपक 'दण्ड'से दिया है जो पुल्लिंग है।

३ इस चौपाईका भाव लिखते हुए विनायकी टीकाकार लिखते हैं कि 'अवतारका मुख्य हेतु रावणादिका वध था। इसीकी सहायता करनेमें लक्ष्मणजीने विशेष उद्योग किया था, तथा १२ वर्ष-तक नींदनारिभोजनका त्यागकर मेघनाद सरीखे बड़े पराक्रमीका स्वतः वध साधनकर अगणित राक्षसोंको भी मारा था।' [यथा, 'नासावन्यैर्निहन्यते। यस्तु द्वादशवर्षाणि निद्राहारविवर्जितः। अ. रा. ६।८।६४।'] जिस परात्पर परब्रह्मके अवतारकी कथा गोस्वामीजी कह रहे हैं उसमें उन्होंने न तो यही कहीं कहा है कि भोजन शयन किया और न यही कहा कि नहीं किया बल्कि भरद्वाजजीके आश्रममें उनके दिए हुए फलोंके खानेका उल्लेख है। एक रामायणमें किसी कल्पकी कथामें यह भी वर्णन है कि लंकामें श्रीरामचंद्र और

लक्ष्मणकुमारको सोते हुए महिरावण उठा ले गया। अस्तु भिन्नभिन्न कल्पकी भिन्नभिन्न कथाएँ हैं। और यों तो शुद्ध तापसिक जीवन वनमें वे निर्वाह ही करते थे। इस प्रकारका संयम रखना उनके लिये कोई विचित्र बात नहीं। गीतावलीमें श्रीसबरीजीके यहाँ श्रीलक्ष्मणजीका फल खाना स्पष्ट कहा है।

सेष सहस्र सीस जग कारन। जो[1] अवतरेउ भूमि भय टारन। ७।

शब्दार्थ—सीस=शीश=सिर। कारण=हेतु=उत्पन्न करनेवाले। टारन=टालने वा हटानेवाले।

अर्थ—हजार सिरवाले शेषजी और जगत्के कारण, जिन्होंने पृथ्वीका भय दूर करनेके लिए अवतार लिया। ७।

नोट—१ इस अर्धालीके अर्थ कई प्रकारसे किये गये हैं। आधुनिक टीकाकारोंने प्रायः यह अर्थ किया है—'हजार सिर वाले और जगत्के कारण शेष जो पृथ्वीका भय मिटानेके लिए अवतरे हैं।' इस अर्थके अनुसार लक्ष्मणजी शेषावतार हुए। वैजनाथजी लिखते हैं कि सहस्रशीशवाले शेषजी और जगकारण विष्णु और 'सो' अर्थात् द्विभुज गौरवर्ण श्रीलक्ष्मणजी जिन्हें पिछली चौपाईमें कह आए हैं, ये तीनों मिलकर एकरूप हो भूमिभय टारनेके लिए अवतरे हैं। लक्ष्मणअंशसे प्रभुकी सेवामें रहे, विष्णुरूपसे युद्ध करते रहे और शेषरूपसे प्रभुके शयन समय पहरा देते, निषादादिको उपदेश, पंचवटीमें प्रश्न इत्यादि किये। परमधामयात्रासमय तीनों रूप प्रगट हुए। शेषरूप सरयूमें प्रवेशकर पतालको गया। विष्णुरूप विमानपर चढ़कर वैकुण्ठको गया और नित्य द्विभुजलक्ष्मणरूप प्रभुके साथ पर धामको गया।

इस ग्रन्थमें चार कल्पोंकी कथा कही गई है। जो ब्रह्मका अवतार मनुशतरूपाके लिए हुआ उसमें लक्ष्मणजी नित्य हैं और शेषादिके कारण हैं। जहाँ विष्णुका अवतार है वहाँ लक्ष्मणजी शेष हैं। ग्रन्थमें सब कथाएँ मिश्रित हैं, पर मुख्य कथा मनुशतरूपावाले अवतारकी है। हमने जो अर्थ दिया है वह करुणासिंधुजी, बाबा हरिहरप्रसादजी आदिके मतानुसार है। उनका कहना है कि यहाँ लक्ष्मणजीको शेषजी और जगत् दोनोंका कारण कहा है। 'जो हजार सिरवाले शेषनाग हैं और जगत्के कारण हैं....।' ऐसा अर्थ करनेसे निम्न चौपाइयोंका समानाधिकरण कैसे होगा? (क) 'दिसि कुंजरहु कमठ अहि कोला। धरहु धरनि धरि धीर न डोला॥ रामु चहहिं संकर धनु तोरा। होहु सजग सुनि आयेसु मोरा॥ १.२६०।' लक्ष्मणजी यहाँ अहि (=शेषजी) को आज्ञा दे रहे हैं। बराबरवालेको आज्ञा नहीं दी जाती। कारण अपने कार्यको स्वामी सेवकको आज्ञा देगा। (ख) 'ब्रह्मांड भुवन बिराज जाके एक सिर जिमि रजकनी। तेहि चह उठावन मूढ़ रावन जान नहिं त्रिभुवन धनी॥ ६। ८२।' शेषजी हजार सिरपर जगतको धारण किये हैं और यहाँ 'एक सिर जिमि रज कनी' कहा है। पुनः (ग) श्रीरामचन्द्रजीका मुखवचन है कि 'तुम्ह कृतांत भक्षक सुरत्राता ६. ५३।' 'जय अनंत जय जगदाधारा। लं० ७६।' 'सक संग्राम जीति को ताही। सेवहिं सुर नर अग जग जाही। ६. ५४।' इत्यादि। ऐसा विचारकर श्रीकरुणासिंधुजी महाराज लिखते हैं कि 'लक्ष्मणजीको शेषावतार कहनेसे आपमें अनित्यताका आरोपण होता है। लक्ष्मणस्वरूप नित्य है। सीताजी जब श्रीरामजीकी

१—१६६१ में 'जो' था, उसका 'सो' बनाया है, स्याही और लिखावट एकही कलमकी है। अन्य सब पोथियोंमें 'जो' है। वैजनाथजीनेभी 'सो' पाठ दिया है। 'सो' अगली अर्धालीमें आया है अतः हमने यहाँ 'जो' रक्खा।

परीक्षा लेने गईं तब अनेक श्रीसीतारामलक्ष्मणजी देखे पर आकृति सब स्वरूपोंकी एकही देखी। यथा, 'सोइ रघुबर सोइ लछिमन सीता। देखि सती अति भई सभीता' (१.५५)। तीनों स्वरूप अखण्ड एकरस देखे'। उपर्युक्त कारणोंसे लक्ष्मणजी शेषजीके कारण या शेषी हैं।

पं. रामकुमारजी लिखते हैं कि वसिष्ठसंहितामें श्रीदशरथजी महाराज, उनकी रानियाँ और सब पुत्रों तथा पुरी, पुरवासियों और श्रीसरयूजी आदिकी वन्दना जो देवताओंने की है, उसमें श्रीलक्ष्मणजीकी स्तुति इन शब्दोंमें है—'जयानन्त धराधार शेषकारण विग्रह। कोटि कन्दर्प दर्पघ्न सच्चिदानंदरूपक॥' अर्थात् आपकी जय हो रही है, आप अनंत हैं, ब्रह्माण्ड धारण करनेवाले शेषके कारण विग्रह हैं, करोड़ों कामदेवोंके अभिमानको चूर्ण करनेवाले हैं और सच्चिदानन्द स्वरूप हैं। यह प्रमाणभी हमारे दिये हुए अर्थको पुष्ट करता है।

वे. भू. पं. रा० कु० दासजी कहते हैं कि नारदपंचरात्रमें लक्ष्मणजीको शेषशायी क्षीराब्धीश श्रीमन्नारायण कहा है। यथा, 'वैकुण्ठेशस्तु भरतः क्षीराब्धीशस्तु लक्ष्मणः। शत्रुघ्नस्तु स्वयं भूमा रामसेवार्थमागताः॥'; अतः 'सेष सहस्रसीस जगकारन' का अर्थ जो दिया गया वही ठीक है। यदि यहाँ लक्ष्मणजीको केवल जगत्का कारण मानते हुए शेषका अवतार मान लिया जाय तो कुछ ऐसे प्रबल विरोध आ खड़े होंगे कि जिनका यथार्थ समन्वयपूर्वक परिहार करना कठिनही नहीं, किंतु असंभव हो जायगा। जैसे एक तो यह कि कहीं श्रुतियोंस्मृतियोंमें शेषका स्वतंत्ररूपेण जगत्का कारण होना नहीं पाया जाता है और श्रीमन्नारायणको जगत्का कारण कहनेवाली बहुतसी श्रुतियाँ स्मृतियाँ हैं। दूसरे, जो जिसका कारण होता है वह उसका शासन कर सकता है, कार्य अपने कारणपर शासन नहीं कर सकता है। वैसे ही अवतार अपने अवतारीपर शासन नहीं कर सकता, अवतारी अवतारपर कर सकता है और करता भी है। जैसे कि अष्टभुजी भूमा नारायणने श्रीकृष्ण और अर्जुनको आज्ञा दी कि 'इह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे' (भा. १०। ८९। ५९) और श्रीकृष्ण एवं अर्जुनने वहाँ जानेपर 'ववन्द आत्मानम्' (भा. १०। ८९। ५८), तथा लौटते समयभी 'ओमित्यानम्य भूमानम्' (भा. १०. ८९. ६१), प्रणाम किया था। लक्ष्मणजीको शेष माननेके विरुद्ध वर्णन मानसमेंही मिलता है (जो ऊपर (क) (ख) (ग) में आचुका है)। शेष नित्य जीव हैं और लक्ष्मणजी नाना त्रिदेवोंके कारण हैं। ('उपजहिं जासु अंस ते नाना। १। १४४। ६।' देखिए)।

२ जहाँ श्रीअयोध्यावासियोंसहित परधामगमन प्रभुका रामायणोंमें वर्णित है, वहाँ लक्ष्मणजीके तीन स्वरूप कहे गए हैं। एक शेष स्वरूप दूसरा चतुर्भुज स्वरूप और तीसरा द्विभुज किशोर धनुषबाणधारी श्रीलक्ष्मणस्वरूप जिससे वे सदा रामचन्द्रजीकी सेवामें रहते हैं। ब्रह्मरामायणमें इसका प्रमाण है। यथा, 'रामनैवोद्धितोवीरो लक्ष्मणोविदधस्त्वकः। रूप त्रयं महद्वेषं लोकानां हितकाम्यया। १। एकेन सरयू मध्ये प्रविवेश कृपानिधिः। सहस्रशीर्षा भगवान् शेषरूपी रसाश्रयः। २। रामानुजश्चतुर्बाहुर्विष्णुस्सर्वे गुहाशयः। ऐन्द्रं रथं समारुह्य वैकुण्ठमगमद्विभुः। ३। यानस्थो रघुनन्दनः परपुरीं प्रेम्णागमद्भ्रातृभिर्लोकानां शिरसि स्थितां मणिमयीं नित्यैकलीलापदाम्। सौमित्रिश्च तदाकलेन प्रथमं रामाज्ञया वर्त्ततेतैनैवक्रमकेन वन्धु मिलितो रामेण साकंगतः। ४।' अर्थात् श्रीरामजीके साथ-साथ श्रीलक्ष्मणजीने लोकोंके हितार्थ सुन्दर वेषवाले तीन रूप धारण किये। एक स्वरूपसे तो वे श्रीसरयूजीमें प्रविष्ट हुए। यह सहस्रशीश शेष रूप था। दूसरे स्वरूपसे इन्द्रके लाये हुए विमानपर चढ़कर वे वैकुण्ठको गए। यह चतुर्भुज विष्णुरूप था जो सर्व भूतोंके हृदयमें वास करते हैं। और तीसरे द्विभुज लक्ष्मणरूपसे वे श्रीरामजीके साथ विमानपर बैठकर सर्वलोकोंकी शिरमौर, मणिमयी, नित्यलीला स्थान

साकेतपुरीको गए—यथा, 'श्रीमद्रामः परं धाम भरतेन महात्मना। लक्ष्मणेन समं भ्राता शत्रुघ्नेन तथा ययौ।५।' अर्थात् श्रीराम, भरत, और शत्रुघ्नजीके साथ महात्मा लक्ष्मणजी परधामको गए। सु. द्विवेदीजीका मत है कि अनन्योपासक अपने उपास्यदेवको अवतारी मानते हैं और उसीके सब अवतार मानते हैं। जयदेवनेभी कृष्णको अवतारी मान उनके स्थानमें 'हलं कलयते' इस वाक्यसे बलरामको अवतार माना है। उसी प्रकार गोसाईंजीनेभी रामको अवतारी मान उनके स्थानमें लक्ष्मणको अवतार माना है। सू० मिश्रजी लिखते हैं कि 'मेरी समझमें शेषके दोनों विशेषण हैं, 'सहस्रशीस और जगकारण' न कि दोनों जुदे हैं। 'सहस्रास्यः शेषः प्रभुरपिह्निया क्षितितलमगात्'। जगत्के उत्पादक पालक और संहारक हैं। विष्णुपुराणमें ब्रह्माजीके वचन इस विषयमें हैं। लक्ष्मणजी शेष भी हैं और जगत्के कारणभी हैं।

३ 'जग कारन' कहकर जनाया कि आप श्रीरामजीसे अभिन्न हैं। यथा, 'ब्रह्म जो निगम नेति कहि गावा। उभय वेष धरि की सोइ आवा। १. २१६।' यह बात पायसके विभागसे भी पुष्ट होती है। श्रीकौसल्याजीने हविभाग सुमित्राजीको दिया, उससे लक्ष्मणजी हुए जो सदा रघुनाथजीके साथही रहे। भगवान्के वचन हैं कि 'अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता॥ १. १५२।' और लक्ष्मणजीकी वन्दनामेंभी 'सीतल सुभग भगत सुखदाता' ये शब्द हैं। इस तरह अभिन्नता दरसाई है। विशेष १. १८७ (२. ५) देखिए।

सदा सो सानुकूल रह मो पर। कृपासिंधु सौमित्रि गुनाकर। ८।

अर्थ—वे कृपासिंधु श्रीसुमित्राजीके पुत्र और गुणोंकी खानि (श्रीलक्ष्मणजी) मुझपर सदा अनुकूल रहें। ८।

नोट—१ (क) 'सेष सहस्र....कृपासिंधु सौमित्रि०' इति। 'कृपासिंधु' कहकर सूचित किया कि कृपा, दया अनुकम्पाहीसे अवतार लिया। 'भूमिभयटारन' कहकर अवतारका हेतु बताया और 'शेष सहस्र···' से पूर्व रूप कहा। (पं. रामकुमारजी)। (ख) 'सौमित्रि' अर्थात् सुमित्रानन्दन कहकर जनाया कि आप उनके पुत्र हैं कि जो उपासनाशक्ति हैं और अनेक गुणोंसे परिपूर्ण हैं, और जिन्होंने अपने पुत्रको लोकसुख छुड़ाकर भक्तिमें आरूढ़ किया। यथा, 'तात तुम्हारि मातु वैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही॥ अवध तहाँ जहँ राम निवासू। तहँइ दिवस जहं भानु प्रकासू॥ जौ पै सीय राम बन जाहीं। अवध तुम्हार काज कछु नाहीं॥ गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहिं सकल प्रान की नाईं॥ रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के॥ पूजनीय प्रिय परम जहाँ ते। सब मानिअहिं रामके नाते॥.....सकल सुकृत कर बड़ फल एहू। राम सीय पद सहज सनेहू॥...तुलसी प्रभुहिं सिख देइ आयसु दीन्ह पुनि आसिष दई। रति होउ अविरल अमल सियरघुबीरपद नित नित नई॥ २. ७५।' (वै.)। (ग) गुनाकर=समस्त शुभ एवं दिव्य गुणोंकी खानि। यथा, 'लच्छनधाम रामप्रिय सकल जगत आधार। १. १९७।', श्रीलक्ष्मणजी जीवोंके आचार्य हैं, इसीसे इनकी उपासना सर्वत्र श्रीसीतारामजीके साथ होती है। ये सदा साथ रहते हैं। श्रीसीतारामजीका इनपर अतिशय वात्सल्य है। इसीसे इनकी अनुकूलता चाहते हैं।

नोट—२ लक्ष्मणजीकी वन्दना चार अर्धालियोंमें की, औरोंकी दो या एकमें की है, इसका हेतु यह है कि—(क) गोस्वामीजीकी सिफारिश करनेमें आप मुख्य हैं। यथा, 'मारुति मन रुचि भरतकी लखि लखन कही है। कलिकालहु नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है।' (विनय २७९)। इसीसे अपना सहायक जान उनकी सेवासुश्रूषा विशेष की है। नामकरणसंस्कारभी और भ्राताओंका एकही एक चौपाईमें कहा और आपका पूरा एक दोहेमें कहा। (ख) ये श्रीरामजीका वियोग सहही नहीं सकते। यथा, 'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी॥ १। १९८।', 'समाचार जब लछिमन पाए। ब्याकुल बिलख बदन उठि धाए॥

कंप पुलक तन नयन सनीरा । गहे चरन अति प्रेम अधीरा ॥ कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े । मीन दीन जनु जल ते काढ़े ॥ अ० ७० ।'

रिपुसूदन पद कमल नमामी । सूर सुसील भरत अनुगामी । ९ ।

शब्दार्थ—अनुगामी=पीछे चलनेवाला, आज्ञाकारी, सेवक । सूर=वीर,

अर्थ—श्रीशत्रुघ्नजीके चरणकमलोंको नमस्कार करता हूँ, जो बड़े वीर, सुशील और श्रीभरतजीके अनुगामी हैं । ९ ।

नोट—१ (क) 'रिपुसूदन' इति । श्रीशत्रुघ्नजीके स्मरण वा प्रणाममात्रसे शत्रुका नाश होता है । यथा, 'जाके सुमिरन ते रिपु नासा । नाम सत्रुहन वेद प्रकासा । १. १९७ ।', 'जयति सर्वांग सुंदर सुमित्रासुवन भुवनविख्यात भरतानुगामी । बर्मचर्मासिधनुबान तूनीरधर सत्रुसंकटसमन यत्प्रनामी ।' (विनय ४०) । शत्रुका नाशक वही हो सकता है जो शूरवीर हो । अतः 'रिपुसूदन' कहकर 'सूर' आदि विशेषण दिये । (ख) 'सूर' इति । इनकी वीरता परम दुर्जय लवणासुरके संग्राम और वधमें प्रकट हुइ । (आपने उसका वध करके वहाँ मधुरापुरी बसाई) । यथा, 'जयति सत्रु करि केसरी सत्रुघन तमतुहिन हर किरनकेतू ।.........जयति लवनांबुनिधि कुम्भसंभव महादनुज दुर्जन दलन दुरित हारी । ३ ।' (विनय ४०) । वाल्मीकीयरामायण उत्तरकांडमें लवणासुरवधकी कथा विस्तारसे है । पुनः रामाश्वमेधयज्ञमें आपने महादेवजीसे युद्ध किया, यहभी वीरताका एक उदाहरण है। यज्ञपशु रक्षक आपही थे; उसकी रक्षामें आपको बहुतोंसे युद्ध करना पड़ा था । पद्मपुराण पाताल खंडमें यह कथाएँ हैं ।

टिप्पणी—'सूर सुसील.........' इति । शूरकी शोभा शील है और शीलकी प्राप्ति 'बुध सेवकाई' से है। यथा, 'सील कि मिल बिनु बुध सेवकाई' (७. ९०)। अतः 'सूर' कहकर 'सुशील' कहा, फिर भरतजीकी सेवकाई कही। 'भरत अनुगामी', यथा, 'भरत शत्रुहन दूनौ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई ॥ (बा० १९८)

महाबीर बिनवौं हनुमाना । राम जासु जस आपु बखाना । १० ।

अर्थ—मैं महाबलवान् श्रीहनुमान्‌जीकी विनती करता हूँ, जिनका यश स्वयं श्रीरामचन्द्रजीने वर्णन किया है । १० ।

नोट—१ 'महाबीर'—वीरता सुन्दरकांड और लंकाकांडभरमें ठौरठौर है। यथा, 'पुनि पठयो तेहि अच्छकुमारा ।.......ताहि निपाति महाधुनि गरजा ।' (सु० १८)। मेघनादके मुकाबिलेमें पच्छिम द्वारपर ये नियुक्त किए गये थे, कुम्भकर्णरावणभी इनके घूंसेको याद करते थे। (लंकाकांड दोहा ४२, ४३, ५० और ६४ में इनका प्रसंग है, देख लीजिए)। आपका बल, वीरता देखकर विधिहरिहर आदिभी चौंक उठे। इन्होंने तथा भीष्म-पितामह द्रोणाचार्यनेभी इनकी भूरिभूरि प्रशंसा की है। यथा, 'बल कै धौं वीररस धीरज कै साहस कै तुलसी सरीर धरे सबनि को सार सो । ४ ।' 'कह्यो द्रोन भीषम समीरसुत महावीर, वीररस वारिनिधि जाको बल जल भो । ५ ।' 'पंचमुख छमुख भृगु मुख्य भट असुर सुर सर्व सरि समर समरत्थ सूरो । ६ ।' इति हनुमानबाहुक ग्रन्थे। आपकी वीरता श्रीरामाश्वमेधयज्ञमें देखनेमें आती है। महादेवजीभी परास्त हो गए थे।

२ 'हनुमान'—यह प्रधान नाम है। जन्म होनेपर माता आपके लिये फल लेने गई; इतनेमें सूर्योदय होने लगा। बालरविको देखकर आप समझे कि यह लाल फल है। बस तुरन्त आप उसीको लेनेको लपके। उस दिन सूर्यग्रहण उस अवसरपर होनेको था। राहुने आपको सूर्यपर लपकते देख डरकर इन्द्रसे जाकर शिकायत की कि आज मेरा भक्ष्य आपने क्या किसी दूसरेको दे

दिया ? क्या कारण है ? इन्द्र आश्चर्यमें पड़ गए, आकर देखा तो विस्मित होकर उन्होंने वज्रका प्रहार आपपर किया, जो वज्र अमोघ है और जिसके प्रहारसे किसीका जीता बचना बिलकुल असंभव ही है, सो उसके आघातसे महावीर श्रीमारुतनन्दनजीका कुछ न बिगड़ा, केवल हनु जरासा दबसा गया और कुछ देरके लिए मूर्छा आ गई। कहाँ श्रीहनुमानजी नवजात शिशु और कहाँ इन्द्रका कठिन कठोर वज्र! इसीसे ऐसे बलवान् और महादृढ़ हनुके कारण श्रीहनुमान् नाम पड़ा। विशेष किष्किंधा और सुन्दर-कांडोंमें देखिए।

३ 'राम जानु जस आपु बखाना' इति। वाल्मीकीय उत्तरकांड सर्ग ३५ में श्रीरघुनाथजीने महर्षि अगस्त्यजीसे श्रीहनुमानजीकी भूरिभूरि प्रशंसा की है। पाठकगण उसे वहाँ पढ़ लें। लक्ष्मणजीसेभी कहा है कि काल, इन्द्र, विष्णु और कुबेरकेभी जो काम नहीं सुने गए वहभी काम श्रीहनुमान्-जीने युद्धमें कर दिखाए। यथा, 'न कालस्य न विष्णोर्वित्तपस्य च। तानि कर्माणि श्रूयन्ते यानि युद्धे हनूमतः। वाल्मी. ७. ३५. ८'। मानसमेंभी कहा है। यथा, 'सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनु धारी॥ प्रति उपकार करउँ का तोरा। सनमुख होइ न सकत मन मोरा॥......लोचन नीर पुलक अति गाता। सु० ३२।', गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बारबार प्रभु निज मुख गाई' (उ० ५०), 'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना' (कि० ३)।

दोहा—प्रनवौं पवन कुमार, खल बन पावक ज्ञानघन*।
जासु हृदय आगार, बसहिं राम सर-चाप-धर। १७।

शब्दार्थ—पवनकुमार=वायुदेवके पुत्र श्रीहनुमान्जी। पावक=अग्नि। घन=मेघ, बादल।=समूह, घना, ठसाठस, ठोस।=दृढ़। यथा, 'घनो मेघे मूर्तिगुणे त्रिपुमूर्ते निरन्तरे इत्यमरे ३.३.११०।' 'त्रिषुसान्द्र दृढेच' इति मेदिनी। ज्ञानघन=ज्ञानके मेघ अर्थात् ज्ञानरूपी जलकी वर्षा करनेवाले।=ज्ञानके समूह।=सघन, ठोस वा दृढ़ ज्ञानवाले। आगार=घर। सरचापधर=धनुषबाण धारण करनेवाले।

अर्थ—दुष्टोंरूपी वनके लिये अग्निरूप, सघन दृढ़ ज्ञानवाले, पवनदेवके पुत्र श्रीहनुमान्जीको मैं प्रणाम करता हूँ कि जिनके हृदयरूपी घरमें धनुषबाणधारी श्रीरामचन्द्रजी निवास करते हैं। १७।

नोट—१ 'श्रीहनुमान्जीकी वन्दना ऊपर चौपाईमें कर चुके हैं, यहाँ फिर दुबारा वन्दनाका क्या प्रयोजन है?' इस शंकाका समाधान अनेक प्रकारसे किया जाता है—(क) चौपाईमें 'महावीर' एवं 'हनुमान' नामसे वन्दना की और यहाँ 'पवनकुमार' नामसे। तीन नामोंसे वन्दना करनेका भाव किसीने यों कहा है, 'महावीर हनुमान कहि, पुनि कह पवनकुमार। देव इष्ट अरु भक्त लखि, वन्देउ कवि त्रयवार॥' महावीर नामसे इष्टकी वन्दना की, क्योंकि इष्ट समर्थ होना चाहिए, सो आप 'महावीर' हैं ही। 'पवनकुमार'से देवरूपकी वन्दना की, क्योंकि पवन देवता हैं। दूसरे, जैसे पवन सर्वत्र व्याप्त है, वैसेही श्रीहनुमान्जी रक्षाके लिये सर्वत्र प्राप्त हैं। यथा, 'सेवक हित संतत निकट।' (बाहुक)। हनुमान नामसे भक्तरूपकी वन्दना की। 'हनुमान्' होनेपर ही तो आप समस्त देवताओंकी आशिषाओंकी खान और समस्त अस्त्रशस्त्रोंसे अवध्य हुये जिससे श्रीरामसेवा करके रघुकुलमात्रको उन्होंने ऋणी बना दिया। (ख) चौपाईमें पहले भाइयोंके साथ वन्दना की, क्योंकि आप सब भाइयोंके साथ रहते हैं। यथा, 'भ्रातन्ह सहित रामु एक बारा। संग परम प्रिय पवनकुमारा॥ ७. ३२।' 'हनूमान भरतादिक भ्राता। संग

* ग्यानघन—१७२१, १७६२, छ०। ज्ञानघन—१६६१, १७०४, को० रा०। यह सोरठा है। इसमें आवश्यक नहीं है कि अन्तमें तुक मिले।

लिये सेवक सुखदाता ॥ ७. ५० ।' भाइयोंके साथ हनुमान्‌जीकी वन्दना करनेका भाव यहभी है कि श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीहनुमान्‌जी रामभक्ति रामस्वभावगुणशीलमहिमाप्रभावके 'जनैया' (जानकर, ज्ञाता) हैं। यथा, 'जानी है संकर हनुमान लखन भरत रामभगति। कहत सुगम करत अगम सुनत मीठि लगति।' (गी. २। ८२), 'राम रावरो सुभाउ गुन सील महिमा प्रभाउ जान्यो हर हनुमान लखन भरत।' (विनय २५१)। और सुग्रीव आदिके साथ वन्दना करके जनाया कि आपभी पापोंके नाशक हैं। (पं. रामकुमारजी)। पुनः, (ग) श्रीरामचन्द्रजीका भाइयोंसेभी अधिक श्रीहनुमानजीपर प्रेम है। यथा, 'तैं मम प्रिय लछिमन ते दूना। ४. ३।', 'मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे। ७. ८।,' 'संग परमप्रिय पवनकुमारा' (७. ३२)। इस लिए दुबारा वंदना की। पुनः, (घ) गोस्वामीजीपर हनुमानजी की निराली कृपा है। यथा, 'तुलसी पर तेरी कृपा निरुपाधि निनारी। विनय ३४।' इस लिये गोस्वामीजीने ग्रन्थमें आदिसे अंततक कई बार इनकी वंदना की और इनकी प्रशंसाभी बारंबार की है। यथा, 'सीतारामगुणग्राम पुण्यारण्यविहारिणौ। वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ॥ मं. श्लो. ४।', 'महाबीर बिनवौं हनुमाना। राम जासु जस आपु बखाना। १. १७. १०।', 'प्रनवौं पवनकुमार···' (यहाँ), 'अतुलित-बलधामं···वातजातं नमामि॥ ५ मं. श्लोक ३।', 'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। ५। ३२।', 'हनूमान सम नहिं बड़भागी। नहिं कोउ राम चरन अनुरागी॥ गिरिजा जासु प्रीति सेवकाई। बारबार प्रभु निज मुख गाई। ७. ५०।' श्रीरामजीका दर्शनभी आपहीकी कृपासे हुआ, श्रीरामचरितमानसको प्रकाशित करनेके लिये हनुमान्‌जीनेही उनको श्रीअवध धाममें भेजा, पगपगपर आपने गोस्वामीजीकी रक्षा और सहायता की। अतएव आपकी बारंबार वंदना एवं प्रशंसा उचित ही है। पुनः, (ङ) पंजाबीजीका मत है कि बारबार गुरुजनोंकी वन्दना विशेष फलदायक है, अतः पुनः वन्दना की। (च) वैजनाथजी लिखते हैं कि हनुमान्‌जी तीन रूपसे श्रीराम-जीकी सेवामें तत्पर रहते हैं। एक तो वीररूपसे जिससे युद्ध करते हैं, शत्रुओंका संहार करते हैं। दूसरे श्रीचारु-शीला (सखी) रूपसे जिसका यहाँ प्रयोजन नहीं। तीसरे, दासरूपसे। वीररूपकी वन्दना पूर्व की अब दासरूपकी वन्दना करते हैं। [अर्चाविग्रहरूपमें आपके तीन रूप देखनेमें आते हैं। 'वीररूप', 'दासरूप' (हाथ जोड़े हुए) और मारुतिप्रसन्नरूप (आशीर्वाद देते हुए)।]

☞ यह तो हुआ दो या अधिक बार वन्दनाका हेतु! श्रीहनुमान्‌जीकी वन्दना श्रीभरतादि भ्राताओंके पीछे और अन्य वानरोंके पहले करना भी साभिप्राय है। आप सब भाइयोंके सेवक हैं, अतः सब भाइयोंके पीछे आपकी वन्दना की गई। और, आपकी उपासना, आपका प्रेम और आपकी श्रीरामसेवा समस्त वानरोंसे बढ़ी चढ़ी हुई है; यथा, 'सेवक भयो पवनपूत साहिब अनुहरत। ताको लिये नाम राम सब को सुढर ढरत॥' (विनय १३४)। अतएव इस श्रीरघुनाथजीके प्रेम और सेवाके नातेसे सब वानरोंसे पहले आपकी वंदना की गई। (पं० रामकुमारजी)। देखिये, राज्याभिषेक हो जानेपर श्रीसुग्रीवादि सब विदा कर दिये गए परन्तु श्रीहनु-मान्‌जी प्रभुकी सेवामें ही रहे, इनकी बिदाई नहीं हुई। यथा, 'हिय धरि रामरूप सब चले नाइ पद माथ। ७. १७।' 'पुन्यपुंज तुम्ह पवनकुमारा। सेवहु जाइ कृपा आगारा॥ ७. १९।'; शीतल अमराईमेंभी आप भगवान् रामके साथ ही हैं और वहाँ भी सेवामें तत्पर हैं। यथा, 'मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥ ७. ५०।'

नोट—२ 'प्रायः लोग यह शंका करते हैं कि सुग्रीव वानरराज हैं और हनुमान्‌जी उनके मंत्री हैं, इस लिये पहले राजाकी वन्दना करनी चाहिये थी?' इसका उत्तर एक तो ऊपर आ ही गया। दूसरे तनिक विचारसे स्पष्ट हो जायगा कि वन्दनाका क्रम क्या है, तब फिर यह शंकाही न रह जायगी। पं० रामकुमारजी कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीकी प्राप्ति प्रथम श्रीहनुमानजीको हुई, फिर सुग्रीवको, तत्पश्चात् जाम्बवान्‌जीको। इसीके अनुसार वन्दना क्रमसे एकके पीछे दूसरेकी की गई।

३ 'प्रनवों पवनकुमार' इति । 'पवनकुमार' नामसे वन्दनाके भाव कुछ ऊपर आगए । औरभी भाव ये हैं:—(क) 'पवनकुमार' से जनाया कि ये सदा कुमारअवस्थामें प्रभुकी सेवामें रहते हैं । इस कुमाररूपकी यहाँ वन्दना करते हैं । (वै०) । (ख) पवनकुमार पवनरूपही हैं । यथा, 'आत्मा वै जायते पुत्रः' । पुनः, पवनकुमार अग्निरूपभी हैं, क्योंकि पवनसे अग्निकी उत्पत्ति है । खलको वन और इनको अग्नि कह रहे हैं; इसीसे 'पवनकुमार' नामसे वन्दना की, क्योंकि पावक और पवन मिलकर वनको शीघ्र जलाकर भस्म कर देते हैं । (पं० रामकुमारजी) ।

४ दोहेके सब विशेषण 'खलवन पावक', 'ज्ञानघन' 'जासु हृदय आगार बसहिं राम' इत्यादि हेतुगर्भित हैं—(क) पवनसे अग्निकी उत्पत्ति है इसलिये 'पवनकुमार' कहकर फिर खलवनकेलिये आपको अग्नि कहा । दावानलसे जो मेघ बनते हैं वे विशेष कल्याणदायक हैं । इसी प्रकार श्रीहनुमान्‌जी ज्ञानरूपी परम कल्याणके देनेके लिये 'घनरूप' हैं । भाव यह है कि जब खलोंका नाश हुआ तब भगवत जनोंको स्वतः श्रीरामतत्वका ज्ञान उत्पन्न होने लगा । (मा. त. वि.) । पुनः (ख) कामक्रोधादि विषयही खल हैं । यथा, 'मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम विश्राम हारी । (विनय ५८), 'खल कामादि निकट नहिं जाहीं' (७. १२०) । श्रीहनुमान्‌जी विषयकी प्रवृत्तिको पवन और अग्निके समान नाश करते हैं । यथा, 'प्रबल वैराग्य दारुन प्रभंजनतनय, विषयवनदहनमिव धूमकेतू (विनय ५८) (पं. रामकुमारजी) । (ग) ज्ञानघन होनेके कारण कहते हैं कि शरचाप धारण किये हुए (धनुर्धर) श्रीरामचन्द्रजी सदैव हृदयमें बसे रहते हैं, आपको प्रभुका दर्शन निरंतर होता रहता है और प्रभुका श्रीमुखवचन है कि 'मम दरसन फल परम अनूपा । जीव पाव निज सहज सरूपा ।' (३. ३६) । तब आपका ऐसा प्रभाव क्यों न हो ? (मा. त. वि.) । पुनः, (घ) 'खलवनपावक ज्ञानघन' 'जासु हृदय···' से सूचित किया कि आपका हृदय शुद्ध एवं निर्मल है । आपने कामादिरूपी खलवनको (जो हृदयमें बसते हैं) अपने प्रचुर ज्ञानसे भस्म कर दिया । विकाररहित विशुद्ध हृदय हो जानेसे श्रीधनुर्धारी रामचन्द्रजी आपके हृदयभवनमें बसते हैं । मलग्रसित हृदयमें प्रभु नहीं बसते । यथा, 'हरि निर्मल मलग्रसित हृदय असमंजस मोहि जनावत । जेहि सर काक कंक बक सूकर क्यों मराल तहँ आवत ।' (विनय १८५) । (बैजनाथजी) । पुनः (ङ) 'ज्ञानघन' से समझा जाता कि आप केवल ज्ञानी हैं, इस संदेहके निवारणार्थ 'जासु हृदय....' कहा । अर्थात् आप परम भागवतभी हैं । बिना रामप्रेमके ज्ञानकी शोभा नहीं होती । वह ज्ञान ज्ञान नहीं जिसमें श्रीरामप्रेमकी प्रधानता न हो । यथा, 'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू । करनधार बिनु जिमि जलजानू ॥'(२. २७७), 'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू । जहँ नहिं रामप्रेम परधानू ॥ (२. २९१) । अतः ज्ञानघन कहकर 'जासु...' कहा ।

टिप्पणी—१ तीन विशेषण देकर जनाया कि—(क) जगत्‌में तीन प्रकारके जीव हैं । विषयी, साधक (मुमुक्षु) और सिद्ध । यथा, 'विषई साधक सिद्ध सयाने । त्रिविध जीव जग वेद बखाने ।' (२. २७७) सो आप इन तीनोंके सेवने योग्य हैं । 'खलवनपावक' कहकर विषयी लोगोंके सेवन करने योग्य जनाया । क्योंकि विषयी कामादिमें रत रहते हैं, आप उनकी विषयप्रवृत्तिका नाशकर उनको सुख देते हैं । (अथवा विषयी वे हैं जो सकाम भक्ति करनेवाले हैं । उनकी कामनाएँ पूर्ण करते हैं) । 'ज्ञानघन' कहकर साधक (मुमुक्षू) के सेवने योग्य जनाया; क्योंकि मुमुक्षूको ज्ञान चाहिये सो आप ज्ञानके समूह एवं ज्ञानरूपी जलकी वर्षा करनेको मेघरूप हैं । 'जासु हृदय······धर' से उपासकोंके सेवन करने योग्य जनाया । श्रीरामजी परम स्वतंत्र हैं । यथा, 'परम स्वतंत्र न सिरपर कोई (१. १३७) 'निज तंत्र नित रघुकुलमनी' (१. ५१) । पर वे भी श्रीहनुमान्‌जीके वशमें हैं । यथा, 'सुमिरि पवनसुत

पावन नामू । अपने बस करि राखे रामू । १. २६ ।', 'रिनियाँ राजा रामसे धनिक भये हनुमानु ।' (दोहावली १११), 'दीबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तु पत्र लिखाउ ।' (विनय १००)। सिद्ध आपकी सेवा करेंगे तो आप श्रीरामजीको उनके भी बस कर देंगे। यथा, 'सेवक सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि सानुकुल सूलपानि···' 'सानुग सगौरि सानुकूल सूलपानि ताहि लोकपाल सकल लखन रामजानकी ।' (बाहुक)। अथवा, (ख) 'खलवन पावक' से आपके कर्म, 'ज्ञानघन' से विज्ञानी होना और 'जासु...घर' से आपकी उपासना सूचित की। समस्त कर्मोंका फल ज्ञान है और ज्ञानका फल श्रीरामपदप्रेम है। यथा, 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परि समाप्यते' (गीता ४ । ३३); 'जप तप मख सम दम व्रत दाना । विरति विवेक जोग विज्ञाना ।। सब कर फल रघुपतिपद प्रेमा । तेहि बिनु कोउ न पावइ छेमा ।।' (७. ९५) । अतः इसी क्रमसे कहे । कर्मज्ञानउपासना तीनोंसे परिपूर्ण जनाया ।

नोट—५ 'बसहिं राम' इति। 'राम' शब्द अन्तर्यामीमें भी लगाया जा सकता है; इसीसे 'सरचापधर' कहकर सूचित किया कि आप द्विभुज, श्यामसुन्दर, धनुषबाणधारी श्रीसाकेतबिहारीजीके उपासक हैं । (रा. प्र.)

ज्ञानीमें साम्यभावका आशय

सिद्धावस्था और व्यवहार

श्रीमहाराज हरिहरप्रसादजी यहाँ यह शंका उठाते हैं कि 'ज्ञानघन' हैं तो 'खलवनपावक' कैसे ? अर्थात् ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं। ज्ञानमें तो सब प्राणीमात्रमें समता भाव हो जाता है। यथा, 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं । देख ब्रह्म समान सब माहीं ।।' और इसका समाधान स्वयं यों करते हैं कि जब देहमें फोड़ा फुंसी ज्वरादि कोई रोग हो जाता है तो दवाईसे रोग दूर किया जाता है। रोगके नाशसे सुख होता है। ज्ञानी जगत्को विराट्रूप देखते हैं। विराट्के अंगमें रावण राजरोग है। श्रीहनुमान्जी वैद्य हैं। यथा, 'रावन सो राजरोग बाढ़त बिराट उर दिन दिन बिकल सकल सुख रांक सो। नाना उपचार करि हारे सुर सिद्धि मुनि, होत न बिसोक ओत पावै न मनाक सो ।। रामकी रजाइ ते रसायनी समीर सूनु, उतरि पयोधिपार सोधि सरवांक सो। जातुधान बुटपूटपाक लंक जातरूप, रतन जतन जारि कियो है मृगांक सो (क. सुं. २५)।' मानो खलोंका नाश करके विराट्को सुखी किया ।

इस विषयमें गीताका मत श्रीबालगंगाधर तिलकके गीता रहस्यके 'सिद्धावस्था और व्यवहार' प्रकरण (समग्र) तथा 'भक्तिमार्ग' प्रकरण पृष्ठ (४३४-४३५) में पढ़ने योग्य है। उसमेंसे कुछ यहाँ दिया जाता है—"समता शब्दही दो व्यक्तियोंसे संबद्ध अर्थात् सापेक्ष है। अतएव आततायी पुरुषको मार डालनेसे जैसे अहिंसा धर्ममें बट्टा नहीं लगता है, वैसेही दुष्टोंका उचित शासन कर देनेसे साधुओंकी आत्मौपम्य बुद्धि या निश्शत्रुतामें भी कुछ न्यूनता नहीं होती। बल्कि दुष्टोंके अन्यायका प्रतिकारकर दूसरोंको बचा लेनेका श्रेय अवश्य मिल जाता है। जिस परमेश्वरकी अपेक्षा किसीकी बुद्धि अधिक सम नहीं है जब वह परमेश्वरभी साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंका विनाश करनेके लिए समय समय पर अवतार लेकर लोक संग्रह किया करता है (गी० ४ श्लो० ७ और ८) तब और पुरुषोंकी बातही क्या है ! यह कहना भ्रमपूर्ण है कि 'वसुधैवकुटुम्बकम्' रूपी बुद्धि हो जानेसे अथवा फलाशा छोड़ देनेसे पात्रता अपात्रताका अथवा योग्यता अयोग्यताका भेदभी मिट जाना चाहिये। गीताका सिद्धांत यह है कि फलकी आशामें ममत्व बुद्धि प्रधान होती है और उसे छोड़े बिना पाप पुण्यसे छुटकारा नहीं मिलता। किन्तु यदि किसी सिद्ध पुरुषको अपना स्वार्थ साधनेकी आवश्यकता न हो, तथापि यदि वह किसी अयोग्य आदमीको कोई ऐसी वस्तु

ले लेने दे कि जो उसके योग्य नहीं है तो उस सिद्ध पुरुषको अयोग्य आदमियोंकी सहायता करने-का, तथा योग्य साधुओं एवं समाजकीभी हानि करनेका पाप लगे विना न रहेगा। कुवेरसे टक्कर लेनेवाला करोड़पति साहूकार यदि बाजारमें तरकारी भाजी लेने जावे तो जिस प्रकार वह हरी धनियाकी गड्डीकी क़ीमत लाख रुपये नहीं दे देता, उसी प्रकार पूर्ण साम्यावस्थामें पहुँचा हुआ पुरुष किसीभी कार्यका योग्य तारतम्य भूल नहीं जाता। उसकी बुद्धि सम तो रहती है, पर 'समता' का यह अर्थ नहीं है कि गायका चारा मनुष्यको और मनुष्यका भोजन गायको खिला दे।

साधु पुरुषोंकी साम्यबुद्धिके वर्णनमें ज्ञानेश्वर महाराजने इन्हें पृथ्वीकी उपमा दी है। उस पृथ्वीका दूसरा नाम 'सर्वसहा' है। किन्तु यह 'सर्वसहा' भी यदि कोई इसे लात मारे, तो मारने-वालेके पैरके तलवेमें उतनेही जोरका धक्का देकर अपनी समता बुद्धि व्यक्त कर देती है। इससे भली भांति समझा जा सकता है कि मनमें वैर न रहनेपर भी (अर्थात् निर्वैर) प्रतिकार कैसे किया जाता है।

अध्यात्मशास्त्रका सिद्धान्त है कि जब बुद्धि साम्यावस्थामें पहुँच जावे तब वह मनुष्य अपनी इच्छासे किसीकाभी नुक़सान नहीं करता, उससे यदि किसीका नुक़सान होही जाय तो समझना चाहिये कि वह उसीके कर्मका फल है। इसमें स्थितप्रज्ञका कोई दोष नहीं।

प्रतिकारका कर्म निर्वैरत्व और परमेश्वरार्पण बुद्धिसे करनेपर कर्त्ताको कोईभी दोष या पाप तो लगताही नहीं, उलटा प्रतिकारका काम हो चुकनेपर जिन दुष्टोंका प्रतिकार किया गया है उन्हींका आत्मौपम्य दृष्टिसे कल्याण मनानेकी बुद्धिभी नष्ट नहीं होती। एक उदाहरण लीजिये। दुष्ट कर्म करनेके कारण रावणको, निर्वैर और निष्पाप रामचन्द्र (जी) ने मार तो डाला; पर उसकी उत्तर क्रिया करनेमें जब विभीषण हिचकने लगे तब रामचन्द्रजीने उसको समझाया कि '(रावणके मनका) वैर मौतके साथही गया। हमारा (दुष्टोंके नाश करनेका) काम हो चुका। अब यह जैसा तेरा (भाई) है, वैसाही मेराभी है। इस लिये इसका अग्नि-संस्कार कर' (वाल्मी. ६-१०९-२५)।....भगवान्ने जिन दुष्टोंका संहार किया उन्हींको फिर दयालु होकर सद्गति दे डाली। उनका रहस्यभी यही है।

नोट—६ 'जासु हृदय आगार बसहिं राम सर चाप धर' इति। इससे यह सूचित किया कि बाहरके दुष्ट तो आपका कुछ करही नहीं सकते। उनके लिये तो आप स्वयं समर्थ अग्निके समान हैं। पर अन्तःकरणके शत्रु बड़ेही बली हैं। यथा, 'बड़े अलेखी लखि परे परिहरे न जाहीं।' (विनय १४७), 'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि विज्ञानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ। ३. ३८।'; विना धनुर्धारी प्रभुके हृदयमें बसे-हुए इनका नाश नहीं हो सकता। यथा, 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि माथा। ५. ४७।' इस लिये सरचापधारी प्रभुको सदा अपने हृदय-सदनमें बसाये रहते हैं। ज्ञानी इसी विचारसे निरन्तर श्रीरामजीका भजन करते हैं। भगवान्ने नारदजीसे कहाभी है, 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा। भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा। करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी॥...मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ जनहिं मोर बल निज बल ताही। दुहुँ कहँ काम क्रोध रिपु आही॥ यह विचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहु ज्ञान भगति नहिं तजहीं॥ ३. ४३।' पुनः, 'सरचापधर' से प्रभुका भक्तवात्सल्य दर्शाया है कि भक्तकी रक्षामें किंचित्भी विलम्ब नहीं सह सकते, इसी लिये सदा धनुषबाण लिये रहते हैं। प्रपन्नजीसे 'सरचापधर' का एक भाव यह भी सुना है कि श्रीहनुमानजीका हृदय श्रीरामजीका विश्रामस्थान है। यहाँ पर आकर प्रभु आपके

भरोसे निश्चिन्त हो जाते हैं। यथा, 'तुलसिदास हनुमान भरोसे सुख पौढ़े रघुराई'; क्योंकि आप तो 'राम काज करिबेको आतुर' ही रहते हैं, इसलिये यहाँ आकर सरचाप धर देते हैं।

प्रश्न—'तो क्या कभी ऐसा अवसर पड़ा कि इन दुष्टोंने आपको घेरा हो और श्रीरामजीने रक्षा की हो ?' इसका उत्तर है कि हाँ। जब श्रीहनुमानजी द्रोणाचल पर्वतको लिये हुये अवधपुरीकी ओरसे निकले थे, तब उनको अभिमानने आ घेरा था। 'तात गहरु होइहि तोहि जाता। काजु नसाइहि होत प्रभाता॥ चढ़ु मम सायक सैल समेता। पठवौं तोहि जहँ कृपानिकेता॥ ६.५६।' श्रीभरतजीके इन वचनोंको सुनकर श्रीहनुमान्‌जीको अभिमान आगया था। यथा, 'सुनि कपि मन उपजा अभिमाना। मोरे भार चलिहि किमि बाना॥' तब प्रभुने उनकी तुरत रक्षा की। यथा, 'रामप्रभाव बिचारि बहोरी। बंदि चरन कह कपि कर जोरी।...'। प्रभु हृदयमें विराजमान थे ही, तुरंत उन्होंने अभिमानको दूर करनेवाला निज प्रभाव उनको स्मरण करा दिया जो वे जानतेही थे। यथा, 'ता कहँ प्रभु कछु अगम नहिं जापर तुम्ह अनुकूल। तव प्रभाव बड़वानलहिं जारि सकइ खलु तूल। ५.३३।' प्रभावका स्मरण होतेही अभिमान जाता रहा, यही रक्षा करना है।

कपिपति रीछ निसाचर राजा। अंगदादि जे कीस समाजा। १।
बंदौं सब के चरन सुहाये। अधम सरीर राम जिन्ह पाये। २।

शब्दार्थ—पति=स्वामी, राजा। सुहाये=सुन्दर।

अर्थ—वानरोंके राजा (सुग्रीवजी), रीछोंके राजा (श्रीजांबवान्‌जी), राक्षसोंके राजा (श्रीविभीषणजी) और श्रीअंगदजी आदि जितना वानरोंका समाज (सेना) है।१। जिन्होंने अधम (पशु) शरीरमेंही श्रीरामजीको पा लिया (प्राप्त कर लिया), मैं उन सबोंके सुन्दर चरणोंकी वंदना करता हूँ।२।

नोट—१ (क) 'राजा' शब्द रीछ और निशाचर दोनोंके साथ है। जाम्बवान्‌जी ऋक्षराज हैं। यथा, 'कहइ रीछपति सुनु हनुमाना', 'जरठ भयउँ अब कहइ रिछेसा।' (५।३०, ५।२९)। यहाँ सुग्रीव, जाम्बवान् आदि भक्तोंकीही वन्दना है। अतः उनके साहचर्यसे यहाँ 'निशाचरराज' से विभीषणजीही अभिप्रेत हैं। (ख) 'अंगदादि...समाजा' से अठारह पद्म यूथपतियों और उनके यूथों आदिको सूचित किया। तथा इनके अतिरिक्त इनके परिवार आदिमेंभी जिनको भगवत्प्राप्ति हुई वे सबभी आ गए। (ग) 'सुहाये' विशेषण देकर सूचित किया कि जो मनुष्य शरीर सुरदुर्लभ है और जो 'साधनधाम मोच्छकर द्वारा' कहा गया है उसमेंभी भगवत्प्राप्ति कठिन है और इन्होंने तो पशु वानर रीछ और राक्षसी देहमें भगवत्प्राप्ति कर ली, तब ये क्यों न प्रशंसनीय हों ? देखिए, ब्रह्माजीनेभी इनकी प्रशंसा की है। यथा, 'कृतकृत्य बिभो सब बानर ए। निरखंति तवानन सादर ए॥ धिग जीवन देव सरीर हरे। ६।११०।' इसीसे इनके चरणोंको 'सुहाये' कहा और इनकी वन्दना श्रीरामचन्द्रजीके भाइयों, उपासकों और मुनियोंके बीचमें की। पुनः (प्रोफे० श्रीलाला भगवान्दीनजीके मतानुसार) 'सुहाये' इससे कहा कि इन्होंने चरण-द्वाराही दौड़धूप करके अधम शरीरसेही श्रीरामकृपा संपादन की है, श्रीसीताजीकी खोजमें बहुत दौड़े हैं। जिस अंगद्वारा श्रीरामसेवा हो सके, वही सुहावन है, अन्य असुहावन हैं। पुनः, श्रीरामजीने भुशुण्डीजीसे कहा है, 'भगतिवंत अति निचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी॥ ७.८६।' ये सब वानर आदि भगवान्‌को अति प्रिय हैं। यथा, 'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे।...ममहित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे। ७।८।', 'तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करौं बड़ाई॥ ताते मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥ अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय

नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥...७।१६।' अतएव 'सुहाये' विशेषण उपयुक्त ही है। नहीं तो ब्रह्मासमानभी कोई क्यों न हो वह प्रशंसा योग्य नहीं हो सकता। यथा, 'भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई। ७.८६।', 'रामविमुख लहि विधि सम देही। कबि कोविद न प्रसंसहिं तेही॥ ७.९६।'

२ 'अधम सरीर राम जिन्ह पाये' इति। (क) 'अधम सरीर' इति। पृथ्वी, जल, तेज, पवन और आकाश इन पंचभूतोंसे बना हुआ होनेसे शरीरको अधम कहा जाता है। यथा, 'छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥ ४।११।' श्रीरामजीने वालीके मरनेपर तारासे ये वचन कहे हैं। इसके अनुसार पांचभौतिक सभी शरीर 'अधम' हुए। उसपरभी वानर, रीछ और राक्षस शरीर अधिक अधम हैं। इसीका लक्ष्य लेकर तो श्रीहनुमान्‌जीने अपना कार्पण्य दरसाया है। यथा, 'प्रात लेइ जो नाम हमारा। तेहि दिन ताहि न मिलै अहारा। अस मैं अधम सखा सुनु···। ५।७।' पुनः, 'असुभ होइ जिन्ह के सुमिरे तें वानर रीछ बिकारी।' (वि. १६६) एवं 'विषय वस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पाँवर पसु कपि अति कामी। ४.२१।' इससे अधम कहा और राक्षसशरीर तो सर्वतः तामसीही होता है। (ख) 'अधम सरीर...पाये' कहनेका भाव कि जीतेजी इस पापोंमें आसक्त पांचभौतिक शरीरमेंही प्रभुकी साक्षात् प्राप्ति कर ली, दिव्य रूप पानेपर नहीं, न शरीर छूटनेपर परधाममें और न ध्यानादिद्वारा प्राप्त की किन्तु इस स्थूल शरीरमें ही पा लिया। इस कथनसे यहभी जनाया कि अधम शरीर श्रीरामप्राप्तिका कारण प्रायः नहीं होता, पर इन सबोंको उसीसे रामप्राप्तिरूपी कार्य उत्पन्न हुआ है। अतः यहाँ 'चतुर्थ विभावना' अलंकार है। 'किसी घटनाके कारण कोई विलक्षण कल्पना की जाय तो उसे 'विभावना' अलंकार कहते हैं। 'चतुर्थ विभावना' का लक्षण यह है कि 'जाको कारण जो नहीं उपजत ताते तौन।' (अ. मं.)। (ग) 'अधम शरीर' से प्राप्ति कहकर यहभी सूचित किया कि श्रीरामजीकी सेवासे अधमता जाती रहती है और सब लोग उनका आदर सम्मानभी करने लगते हैं। यथा, 'जेहि सरीर रति राम सौं सोइ आदरहिं सुजान। रुद्रदेह तजि नेह बस वानर भे हनुमान॥' (दोहावली १४२); 'वेदविदित पावन भये ते सब, महिमा नाथ तुम्हारी॥' (विनय १६६), 'कियेहु कुवेषु साधु सनमानू। जिमि जग जामवंत हनुमानू। १.७।' (घ) 'पाये' में यहभी भाव है कि शिवजीकोभी जो ध्यानमें अगम हैं, वही प्रभु इनको साक्षात् आकर मिले।

३ ☞ यहाँ केवल पाँच नाम दिये। श्रीहनुमान्‌जी, श्रीसुग्रीवजी, श्रीजाम्बवान्‌जी, श्रीविभीषणजी और श्रीअंगदजी। शेष समाजको 'आदि' में कहा। पाँचके नाम कहकर वन्दना करनेमें अभिप्राय यह है कि ये पाँचो प्रातःस्मरणीय कहे गए हैं। यथा ब्रह्मयामलग्रन्थे, 'श्रीरामञ्च हनूमन्तं सुग्रीवं च विभीषणम्। अङ्गदं जाम्बवन्तं च स्मृत्वा पापैः प्रमुच्यते॥' (पं. रामकुमारजी)। देखिए, श्रीरामजीकी सेवाका यह फल है कि वही अधम जिनका प्रातःस्मरण अशुभ समझा जाता था वेही प्रातःस्मरणीय हो गए, श्रीरामजीके साथही उनका स्मरणभी होने लगा। इतनाही नहीं वे 'तरन तारन' हो गए। यथा, 'मोहि समेत सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं। ६.१०५।' यह श्रीमुखवचन है।

रघुपति-चरन-उपासक जेते। खग मृग सुर नर असुर समेते। ३।
बंदौं पद-सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे। ४।

शब्दार्थ—उपासक = (उप+आसक) = समीप बैठनेवाला, सेवा, पूजा या आराधना

करनेवाला; भक्त। जेते=जितने। समेते=समेत; सहित। सरोज=कमल। मृग=पशु, हिरन, सूकर, वंदर आदि। सभी पशुओंकी 'मृग' संज्ञा है। यथा, 'चलेउ बराह मरुतगति भाजी।...प्रकटत दुरत जाइ मृग भागा। १। १५७।', 'साखामृग कै बड़ि मनुसाई। ५। ३३।', 'पशवोऽपि मृगाः इत्यमरे।' (३. ३. २०)। बिनु काम=बिना किसी कामनाके; स्वार्थरहित; निष्काम। चेरे=गुलाम; मोल लिये हुए दास।

अर्थ—पक्षी, पशु, देवता, मनुष्य और असुरों समेत जितनेभी श्रीरामजीके चरणोंके उपासक हैं। ३। मैं उन सबके चरणोंको प्रणाम करता हूँ जो श्रीरामजीके निष्काम सेवक हैं। ४।

टिप्पणी—१ वन्दनाका क्रम—(क) उपासनाका फल श्रीरामजीकी प्राप्ति है। श्रीसुग्रीवजी आदिको श्रीरामप्राप्ति हो चुकी, वे नित्य परिकरोंमें सम्मिलित हो चुके; इससे वे उपासकोंसे श्रेष्ठ हैं। इसी लिये श्रीसुग्रीवादिके पीछे अब रघुपतिचरणोपासकोंकी वन्दना की गई। (ख) यहाँसे वन्दनाकी कोटि बदल रहे हैं। ऊपर 'बंदउँ प्रथम भरतके चरना' से लेकर 'बंदउँ सबके चरन सुहाये।...' तक एकसे एक लघु कहते गए। अर्थात् श्रीभरतजीसे छोटे लक्ष्मणजी, इनसे छोटे शत्रुघ्नजी, तब उनसे छोटे श्रीहनुमान्‌जी आदि क्रमसे कहे गए। अब 'रघुपति चरन उपासक जेते' से 'बंदउँ नाम राम रघुबर को' तक एकसे एक बड़ा कहते हैं। उपासकोंसे ज्ञानी भक्त बड़े, उनसे श्रीजानकीजी बड़ी, फिर श्रीरामजी और इनसेभी बड़ा इनका नाम है। (ग) शंका—"पूर्व एक बार सुर नर असुरकी वन्दना कर चुके हैं। यथा, 'देव दनुज नर नाग खग प्रेत पितर गंधर्ब। बंदौं किंनर रजनिचर कृपा करहु अब सर्ब। १। ७।' अब यहाँ फिर दुबारा वंदना क्यों की गई?" इसका उत्तर यह है कि पहले उनकी वन्दना जीवकोटिमें की गई थी और अब उपासककोटिमें मानकर उनकी वंदना करते हैं। [अथवा, पहले सबकी वन्दना थी, अब उनमेंसे जितने 'रघुपतिचरण उपासक' हैं केवल उन्हींकी वन्दना है। (पं. श्रीरामवल्लभाशरणजी)] (घ) यहाँ श्रीरामोपासकोंकी समष्टि (यकजाई, एकत्रित) वन्दना है। 'नर खग मृगसे' मर्त्य (भू) लोक, 'सुर' से स्वर्गलोक और असुरसे पाताललोकके, इस तरह तीनों लोकोंके उपासक सूचित किये हैं।

नोट—१ 'खग मृग सुर नर असुर समेते' इति। (क) पं. शिवलाल पाठकजीके मतानुसार यहाँ 'खग मृग' से 'चित्रकूटके बिहंग मृग' का ग्रहण होगा जिनके विषयमें कहा है—'चित्रकूटके बिहँग मृग बेलि बिटप तृन जाति। पुन्यपुंज सब धन्य अस कहहिं देव दिनराति॥ २. १३८॥ नयनवंत रघुबरहि बिलोकी। पाइ जनम फल होहिं बिसोकी॥'; पर यहाँ 'रघुपति चरन उपासक' जो खगादिका विशेषण है वह विचारने योग्य है। जितनेभी खगमृगादि 'रघुपति राम' के उपासक हैं उन्हींकी यहाँ वन्दना है। 'खग' से श्रीकाकभुशुण्डीजी, श्रीगरुड़जी, श्रीजटायुजी आदि पक्षी उपासक लिये जा सकते हैं। 'मृग' से बैजनाथजी एवं हरिहरप्रसादजी वानर भालुको लेते हैं और लाला भगवानदीनजी 'मारीच' को लेते हैं। 'सुर' से दीनजी 'इन्द्रावतारी बाली' को और बैजनाथजी अग्नि और इन्द्र आदिको लेते हैं। 'सुर' से बृहस्पतिजीकोभी ले सकते हैं। इन्होंने इन्द्रादि देवताओंको बारबार उपदेश दिया है, श्रीभरतजीकी भक्ति और श्रीरामजीके गुण और स्वभावका स्मरण कराया है। 'नर' से अनेक नरतनधारी भक्त मनु-शतरूपा आदि, अवधवासी, मिथिलावासी, चित्रकूटादिवासी, कोलभील, निषाद आदि कह दिये। 'असुर' से प्रह्लाद, बलि, वृत्रासुर आदि लिये जा सकते हैं। दीनजीके मतानुसार 'असुर' से 'खरदूषणादि' चौदह हजार सेनाकी ओर लक्ष्य करके गोस्वामीजीने यह बात लिखी है।'

२ लाला भगवानदीनजी—'खगमृगके चरणोंको 'सरोज' कहना कहाँतक ठीक है?' ठीक है; क्योंकि जोभी जीव, चाहे वह पशु पक्षी कोईभी क्यों न हो, श्रीरामजीकी अकाम भक्ति करेगा वह रामाकार हो जायगा,

श्रीरामजीका लोक और सारूप्य मुक्ति पायेगा। रामरूप हो जानेसे उसकेभी चरण श्रीरामचरणसमान हो जायेंगे। अतः 'सरोज' विशेषण उपयुक्त ही है।

सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिवर बिग्यान बिसारद। ५।
प्रनवौं सबहि धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा। ६।

शब्दार्थ—विज्ञान=वह अवस्था जिसमें आत्मवृत्ति परमात्मामें लीन हो जाती है, सबमें समता भाव हो जाता है, तीनों गुणों तीनों अवस्थाओंसे परे तुरीयावस्था आ जाती है, जीव परमानंदमें मग्न रहता है, जीवन्मुक्त ब्रह्मलीन रहता है, सारा जगत् ब्रह्ममय दिखाई देता है। बिसारद (विशारद)=प्रवीण, चतुर। जन=दास।

अर्थ—श्रीशुकदेवजी, श्रीसनक सनातन सनन्दन सनत्कुमारजी और श्रीनारदमुनि आदि भक्त जो मुनियोंमें श्रेष्ठ और विज्ञानमें प्रवीण हैं। ५। उन सबोंको मैं पृथ्वीपर सिर रखकर प्रणाम करता हूँ। हे मुनीश्वरो! आप सब मुझे अपना दास जानकर मुझपर कृपा कीजिये। ६।

नोट—१ 'भगत', 'मुनिवर' और 'विज्ञान विशारद' ये 'शुक सनकादि नारदमुनि प्रभृति' सबके विशेषण हैं। 'भगत' विशेषण देकर इनको 'सोऽहमस्मि', 'अहं ब्रह्मास्मि' आदि वाले रूखे विज्ञानियोंसे पृथक् किया।

२ श्री 'शुकदेवजी' इति। ये भगवान् कृष्णद्वैपायन व्यासजीके पुत्र हैं। पूर्वजन्ममें ये शुक पक्षी थे। भगवान् शंकरने जब परम गोप्य अमरकथा श्रीपार्वतीजीसे कही तब इन्होंने उसे सुनी जिससे ये अमर हो गये। ये जन्मतेही सीधे वनको चल दिये, माता पिताकी ओर इन्होंने देखाभी नहीं। वर्णाश्रमचिह्नोंसे रहित, आत्मलाभसे संतुष्ट, दिगंबर अवधूतवेष, सुकुमार अंगोंवाले आजानुबाहु, तेजस्वी, अव्यक्तगति, निरंतर वनमें रहनेवाले और सदा षोड़शवर्षके श्यामल परम सुन्दर यौवन अवस्थामें रहनेवाले परम निरपेक्ष थे। ऐसे विशुद्ध विज्ञानी आत्माराम होनेपरभी ये परम भक्त थे। श्रीमद्भागवत के 'अहो बकीयं स्तनकालकूटं जिघांसयापाय यदप्यसाध्वी। लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम। भा. ३। २। २३।' इस श्लोकको वनमें अगस्त्यजीके शिष्योंको गाते सुनकर उनके मन और मति हर गए। तब पता लगनेपर कि श्रीव्यासजीने ऐसा ही बहुतसा भगवद्यश रचा है वे पिताके पास आए और उनसे भागवत पढ़ी। यही फिर इन्होंने श्रीपरीक्षित महाराजको उनके अन्त समय सुनाई थी। ज्ञानकी दीक्षाके लिये व्यासजी और देवगुरुने इनको श्रीजनकमहाराजके पास भेजा था। 'रम्भाशुकसंवाद' से ज्ञात होता है कि रंभाने आपको कितनीही युक्तियोंसे रिझाना और आपका तप भंग करना चाहा था परन्तु उसके सभी प्रयत्न निष्फल हुए। दोनोंका संवाद देखने योग्य है। आप सबको भगवत्मय वा भगवद्रूप ही देखते थे, सदा भगवद्रूपामृतमें छके उसीमें मग्न रहते थे। देवर्षि, ब्रह्मर्षि, राजर्षि आदि सब आपको देखकर आसनोंसे उठ खड़े होते थे आप ऐसे परम तेजस्वी थे। यथा, 'प्रत्युत्थितास्ते मुनयः स्वासनेभ्यः (भा. १। १९। २८)।

३ 'श्रीसनकादिजी' इति। ये भगवान्के चौबीस अवतारोंमेंसे एक हैं। विविध लोकोंकी रचना करनेके लिये जब ब्रह्माजीने घोर तप किया तब उनके तपसे प्रसन्न हो 'सन' शब्दसे युक्त नामोंवाले चार तपस्वियोंके रूपमें भगवान् ब्रह्माजीके प्रथम मानसपुत्र होकर प्रकट हुए। श्रीसनक, श्रीसनन्दन, श्रीसनातन और श्रीसनत्कुमार इनके नाम हैं। इन्होंने पूर्व कल्पके प्रलयकालमें नष्ट हुए आत्मतत्त्वका ऐसा सुन्दर उपदेश दिया कि उसे सुनतेही मुनियोंने अपने हृदयमें उस तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया। यद्यपि ये मरीचि आदि मानसपुत्रोंकेभी

पूर्वज हैं, तोभी ये पाँच छः वर्षके बालकोंके समानही देख पड़ते हैं। यथा, 'देखत बालक बहु कालीना', पञ्चषड्ढायनार्भाभाः पूर्वेषामपि पूर्वजाः।' (भा. ७.१.३६)। ये सदा दिगंबर वेषमें (नङ्गे) रहते हैं। सम्पूर्ण लोकोंकी आसक्तिको त्यागकर आकाशमार्गसे समस्त लोकोंमें स्वच्छन्द रूपसे विचरा करते हैं। इन सबोंको स्वतः विज्ञानकी प्राप्ति हो गई थी। वे मात्सर्य आदि दोषोंसे रहित और वीतराग थे। इसीसे उनके मनमें पुत्रोत्पन्न करने, सृष्टि रचनेकी इच्छा न हुई।

४ 'जे मुनिवर विज्ञान विसारद' इति। आत्मतत्वका ज्ञान इन्हींसे और सब मुनियोंको प्राप्त हुआ और सब मुनि इनको अपनेसे बड़ा जानते मानते हैं। अतः 'मुनिवर' और 'विज्ञानविशारद' कहा। 'विज्ञान विशारद' कहकर इनको 'ज्ञानी भक्त' सूचित किया।

५ श्रीसनकादि तो सृष्टिके आदिमें सबसे प्रथम ब्रह्माजीके मानसपुत्र हुए तब शुकदेवजीको उनके पहले लिखनेका क्या कारण है? इसका उत्तर यह है कि—(क) जब कई व्यक्तियोंकी वन्दना एकसाथ ही करनी है तब कोई न कोई तो पहले अवश्यही रहेगा, सबमें ऐसीही शंका की जा सकेगी, वैसेही यहाँभी जानिये। (ख) काव्यमें छन्द जहाँ जैसा ठीक बैठे वैसीही शब्दोंकी स्थिति रक्खी जाती है। (ग) प्रायः यह नियम है कि छोटा शब्द प्रथम रक्खा जाता है तब बड़ा। 'शुक' छोटा है। अतः इसे प्रथम रक्खा। अथवा, (घ) यद्यपि श्रीसनकादिजी ब्रह्माजीके प्रथम मानसपुत्र हैं, सनातन हैं, आदि वैराग्यवान् हैं, वैराग्यके जहाँ बीजमंत्र दिये हैं वहाँ इनका नाम प्रथम है, क्योंकि ब्रह्माजीने इन्हें जैसेही सृष्टिरचना करनेकी आज्ञा दी, इन्होंने उनसे प्रश्नपर प्रश्न कर उन्हें निरुत्तर कर उनकी आज्ञा न मान वनकी राह ली। तथापि श्रीशुकदेवजी तो गर्भसे निकलतेही वनको चलते हुए। ये तो ऐसे वैराग्यवान् और विज्ञानी थे कि जब व्यासजी आपके मोहमें रोते हुए पीछे चले तो आपने वनके वृक्षोंमें प्रवेशकर वृक्षोंसेही कहलाया कि 'शुकोऽहं।' अतः विशेष विज्ञानी और वैराग्यवान् होनेसे इनको प्रथम कहा। पुनः, (ङ) श्रीसनकादि मायाके भयसे पाँच वर्षके बालककी अवस्थामें रहते हैं। यथा, 'चतुरः कुमारान्वृद्धान्दशार्द्धवयसो विदितात्मतत्वान्।' (भा० ३।१५।३०)। तोभी इनपर मायाका प्रभाव पड़ा कि इन्होंने परम सात्विक वैकुण्ठलोकमेंभी जाकर जय विजयको शाप दे दिया। और श्रीशुकदेवजी तो जन्मसेही सोलह वर्षकी यौवनावस्थामें रहते हैं। यथा, 'ते द्व्यष्टवर्षं सुकुमारपाद' (भा० १।१९।२६); तोभी उनमें मायाका कोई विकार नहीं आया। पुनः, (च) बड़प्पन विज्ञान, तेज और भगवदनुरागसे होता है, कालीनतासे नहीं। वसिष्ठजी, विश्वामित्रजी, अगस्त्यजी और अनेक देवर्षि, महर्षि, ब्रह्मर्षि आदि परीक्षितजीके अंत समय उपस्थित थे, सभीने परमहंस शुकदेवजीके आतेही अपने अपने आसनोंसे उठकर उनका सम्मान किया था।

टिप्पणी—१ 'प्रनवों सबहि धरनि धरि सीसा।...' इति। (क) ज्ञानी भक्त प्रभुको अधिक प्रिय हैं। यथा, 'ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पिआरा। १।२२।' ये सब ज्ञानी भक्त हैं। इसी लिये इनको विशेषभावसे, अर्थात् पृथ्वीपर सिर धरकर, प्रणाम किया है। (ख) 'जन जानि' इति। अर्थात् मैं आपको प्रभुका दास समझकर आपके चरणोंकी वन्दना करता हूँ। मैं प्रभुके दासोंका दास हूँ अतएव आपकाभी दास हूँ ऐसा समझकर आप मुझपर कृपा करें। पुनः, आप बड़े बड़े मुनीश्वर हैं। बड़े छोटोंपर कृपा करते ही हैं। यथा, 'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं' (१.१६७)। अतएव आप मुझपर कृपा करें।

२ यहाँ तक छः अर्धालियोंमें गोस्वामीजीने कर्म, उपासना और ज्ञान, वन्दनाकी ये तीन कोटियाँ दीं। श्रीसुग्रीव आदिने अधम शरीरसे श्रीरामजीकी प्राप्ति की, यह कर्मका फल है। इस फलसे श्रीरामजी मिले। इस तरह 'कपिपति रीछ निसाचर राजा।...' में कर्मकोटिकी वन्दना है। 'रघुपतिचरन उपासक जेते।...' में उपासना कोटिकी और यहाँ 'सुक सनकादि...' में ज्ञान कोटिकी वन्दना है।

३ गोस्वामीजीने वानरोंके पीछे रामोपासक मुनियोंकी वन्दना करके तब श्रीसीतारामजीकी वन्दना की है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि वन्दरोंके पीछे श्रीसीतारामजीकी वन्दना अयोग्य थी और मुनियोंके पीछे योग्य है, नहीं तो ज्ञानी भक्तोंकी वन्दना खग मृग उपासकोंके पहले करते। अथवा, अधम शरीरवाले भक्तोंकी वन्दना करके अब उत्तम शरीरवाले भक्तोंकी वन्दना करते हैं।

नोट—पं. श्रीकान्तशरणजीका मत है कि "ऊपर नित्य परिकरोंकी और आगे श्रीसीतारामजीकी वन्दना है। बीचमें इन मुनियोंकी दो अर्द्धालियोंमें वन्दना है, यह तो वाल्मीकि आदिके साथ होनी चाहिये थी, पर ऐसा करनेमें एक रहस्य है और वह है ग्रंथके तात्पर्य निर्णयकी विधि जो उपक्रम उपसंहार आदि छः लिंगोंके द्वारा होता है। इस रामायणका उपक्रम इसी चौपाईसे है, क्योंकि श्रीसीतारामजीकी वन्दना अब प्रारम्भ होगी, जो ग्रन्थके प्रतिपाद्य हैं। उपक्रममें पूर्वही यह 'सुक सनकादि....' की चौपाई वन्दनाक्रमसे भिन्न रक्खी गई है। ऐसेही इस ग्रंथके उपसंहारपर जहाँ गरुड़जीके सातो प्रश्न पूरे हुए, वहाँभी 'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्मविचार विसारद॥ सबकर मत खगनायक एहा। करिय रामपदपंकज नेहा।' (उ. दो. १२१) है। बस, यहींसे मानसके चारों घाटोंका विसर्जन प्रारम्भ हुआ। वहाँपरभी ये मुनि एवं इनके विशेषण हैं, केवल 'सिव अज' दो नाम और जोड़ दिये गये हैं और यह चौपाई वहाँभी इसी प्रकार प्रसंगसे अलग सी है। इसका तात्पर्य यह है कि यह ग्रंथ निवृत्तिपरक है; अतः, प्रवृत्तिकी ओरसे माया विरोध करेगी; तब पंचायत होगी (इस पंचायतका वर्णन 'सत पंच चौपाई मनोहर...' पर होगा), इस लिये अपने निवृत्तिपक्षके दो सतपंच इन शुकसनकादिका यहाँ वरण किया कि आप लोग मुझे अपना जन जानकर कृपा करें अर्थात इस जनके यहाँ आवें और ग्रंथमें शोभित हों, क्योंकि ये लोग महान् विरक्त एवं विवेकी हैं, प्रतिपक्षीके पक्षपाती नहीं हैं। तीसरे सतपंच श्रीनारदजी हैं, इनका वर्णन मध्यस्थ (सरपंच) रूपसे किया गया है, क्योंकि ये उभय पक्षोंके मान्य हैं।..."

इस उपर्युक्त उद्धरणमें पं. श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'इस रामायणका उपक्रम इसी चौपाईसे है।' हमें इसपर विचार करना है। पंडितजीने अपने उपोद्घातमें तात्पर्यनिर्णयके प्रतिपादनमें अपने 'मानस सिद्धान्त विवरण' ग्रंथका हवाला दिया (निर्देश किया) है। मा. सि. वि. में उन्होंने उपोद्घातमें उपक्रमोपसंहार लिखा है और उसी ग्रंथमें आगे पाँचवें अध्यायमें तात्पर्यनिर्णयप्रकरणमेंभी उपक्रम उपसंहारका विस्तृत वर्णन किया है। उनमेंसे उपोद्घातमें जो उपक्रम प्रकरण है उसमें उन्होंने 'यत्पादप्लव...तितीर्षवतां' को उपक्रम बताया है और तात्पर्य निर्णयमें 'यत्सत्त्वाद...भ्रमः' को उपक्रम बताया है तथा उपसंहारभी यथा क्रमशः 'श्रीमद्राम...तुलसी' और 'श्रीमद्रामचरित्र...मानवाः' कहा है। मा. सि. वि. में दिये हुए दोनों स्थानोंके उपक्रमके विषयमें और जो कुछभी लिखा है उसके सम्बन्धमें हमें इस समय कहनेका प्रसंग न होनेसे, कुछ नहीं लिखना है। उसमेंसे हमें केवल इतनाही दिखाना है कि उन्होंने उपक्रम वस्तुतः किस जगह माना है। मा. सि. वि. का ही मत 'सिद्धान्त तिलक' के उपोद्घातमें निर्दिष्ट किया गया है। तब यहाँ जो उपक्रमोपसंहारके स्थान दूसरेही बताए जा रहे हैं यह बात कुछ समझमें नहीं आती।

इस ग्रन्थमें बालकाण्डमें तीन वक्ताओंके द्वारा कथाका उपक्रम किया गया। जहाँ उपक्रम किया है वहाँ 'कहउँ', 'करउँ', 'बरनउँ' आदि शब्द कथाके साथ आए हैं और गोस्वामीजीने तो कई बार प्रारम्भसे लेकर दोहा ४३ तक कथा कहनेकी प्रतिज्ञा की है, पर कथाका प्रधान उपक्रम तो ४३ वाँ दोहाही समझा जाता है। वहाँतक वन्दना, कुछ उपक्रमका अंश और कुछ मानसरूपक आदि

प्रासंगिक विषयही हैं। इस स्थलपर यदि 'कहउँ' या 'करउँ' ऐसाभी कहीं होता तो कदाचित् उपक्रमकी कल्पना की जा सकती थी। इसी प्रकार अन्तमें 'सिव अज सुक...' इस चौपाईपर न तो उपसंहार है और न वह चौपाई असंगतही है। क्योंकि वहाँ मानसरोगोंकी औषधिका वर्णन करते हुए अपने कथनको बड़े बड़े महात्माओंकी सम्मति बताते हैं। उपसंहार तो इसके कई अर्धालियोंके पश्चात् 'कहेउँ नाथ हरिचरित अनूपा' से प्रारम्भ होता है। पञ्चायतके सम्बन्धमें उत्तरकांडमेंही लिखा जायगा। यहाँ केवल इतना कहना है कि 'पक्षपाती' सत्पक्ष नहीं कहा जा सकता।

जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की। ७।
ता के जुग पद कमल मनावों। जासु कृपा निर्मल मति पावों। ८।

शब्दार्थ—अतिशय=अत्यंत, बेहद। अतिशय प्रिय=प्रियतमा। मनावा=मनाता हूँ। किसी कार्यके हो जानेके लिये वंदना, स्तुति या प्रार्थना करना 'मनाना' कहलाता है; यथा, 'मनही मन मनाव अकुलानी। होउ प्रसन्न महेस भवानी। १. २५७।', 'हृदय मनाव भोरु जनि होइ। रामहि जाइ कहै जनि कोई। २। ३७।' करुनानिधान (करुणानिधान)=करुणाका सागर या खज़ाना=करुणासे परिपूर्ण हृदयवाला। मं. सो. ४ देखिए।

अर्थ—श्रीजनकमहाराजकी पुत्री, जगत्की माता, करुणानिधान श्रीरामचंद्रजीकी (जो) अतिशय प्रिया श्रीजानकीजी (हैं)। ७। उनके दोनों चरणकमलोंको मैं मनाता हूँ, जिनकी कृपासे मैं निर्मल बुद्धि पाऊँ। ८।

नोट—१ 'जनकसुता जगजननि....' इति। इतने विशेषण देकर अंबा श्रीजानकीजीकी वन्दना करनेके भाव—(क) उत्तमता या श्रेष्ठता चार प्रकारसे देखी जाती है। अर्थात् जन्मस्थान, संग, स्वभाव और तनसे। 'जनकसुता' से जन्मस्थान, 'जगजननि' से स्वभाव और तन, तथा 'अतिशय प्रिय करुनानिधान' से संगकी श्रेष्ठता दिखाई। (पं० रामकुमार)। श्रीजनकमहाराजकी श्रेष्ठता तो प्रसिद्धही है कि जिनके पास बड़े बड़े विज्ञानी मुनि परमहंस ज्ञानकी दीक्षाके लिये आते थे। यथा, 'जासु ज्ञानरवि भव निसि नासा। वचन किरन मुनि कमल बिकासा। २. २७७।', 'ज्ञाननिधान सुजान सुचि धरमधीर नरपाल।' (२. २९१ वशिष्ठवाक्य)। साधारण मातायें किस प्रेमसे बच्चोंका पालन पोषण करती हैं और जो जगत मात्रकी माता है, अर्थात् जो ब्रह्मादि देवताओं, ऋषियों मुनियों आदि श्रेष्ठ गुरुजनोंकी जननी है उसके दयालु स्वभाव और अतुलित छविका वर्णन कौन कर सकता है? 'जगजननि' यथा, 'आदि सक्ति छबिनिधि जगमूला॥ जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥ १। १४८।', 'उमा रमा ब्रह्मादि वंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥ जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत। ७. २४।', करुणानिधान श्रीरामजीका संतत संग। इससे बढ़कर उत्तम संग और किसका हो सकता है कि जो अखिल ब्रह्माण्डोंका एकमात्र स्वामी है और 'जेहि समान अतिसय नहिं कोई।' उनका प्रेम आपपर कैसा है यह उन्हींके वचनोंमें सुनिये और समझिये। 'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा। जानत प्रिया एकु मनु मोरा॥ सो मन सदा रहत तोहि पाहीं। जानु प्रीति रसु एतनेहि माहीं। ५। १५।' वा, (ख) इन विशेषणोंसे माता पिताके कुल, पतिके कुल और पतिकी श्रेष्ठता दिखाई। अयोध्याकांडमें श्रीनिषादराजने तथा श्रीभरतजीनेभी इसी प्रकार आपकी श्रेष्ठता कही है। यथा, 'पिता जनक जग विदित प्रभाऊ। ससुर सुरेस सखा रघुराऊ॥ रामचंद्र पति सो वैदेही।' (२. ९१ निषादवाक्य), 'पिता जनक देउँ पटतर केही। करतल भोगु जोगु जग जेही॥ ससुर भानुकुल भानु भुआलू। जेहि सिहात अमरावति

...मू ॥ प्राननाथ रघुनाथ गोसाईं । जो बड़ होत सो राम बड़ाई ॥ पतिदेवता सुतीयमनि सीय····। २ । २९९ ।' (ग) सत्योपाख्यान तथा अद्भुत रामायणसे एवं उन बहुतसे प्रमाणोंसे जो 'सीता' शब्दपर मं० श्लो० ५ में दिये गए हैं, स्पष्ट है कि श्रीजानकीजीकी उत्पत्ति हल चलानेपर पृथ्वीसे हुई, श्रीजनकजीसे उनकी उत्पत्ति नहीं हुई। अतएव 'जनकसुता' शब्दसे जनाया कि श्रीजनकजीके हेतु आपने सुता संबंध स्वीकार किया, उनकी 'दृष्टिमें सुताभावको सिद्ध किया' और वस्तुतः हैं तो वे जगत्‌मात्रकी माता। जगत्‌का पालन पोषण करती हैं तोभी कभी श्रीसाकेतविहारीजीसे पृथक् नहीं होतीं, साकेत नित्य निकुंजमें महारासेश्वरीही बनी रहीं । (संत श्रीगुरुसहाय-लालजी । मा. न. वि.) । (घ) 'जनसुता' से उदारता, 'जगजननि' से ग्रंथकारने अपना संबंध और 'अतिसय····' से अतिशय करुणायुक्ता जनाया । (रा. प्र.) । (ङ) 'जनकसुता' से माधुर्य, 'जगजननि' से ऐश्वर्य और 'अतिशय···' से पतिव्रताशिरोमणि जनाया । (च) 'जनकसुता' 'जगजननि' और 'अतिसय···' में अतिव्याप्ति है । अर्थात् इन शब्दोंको पृथक्-पृथक् लेनेसे और भी ऐसे हैं जिनमें ये विशेषण घटित होते हैं । जनक संज्ञा मिथिलाके सब राजवंशियोंकी है। इस प्रकार श्रीउर्मिलाजी, श्रीमाण्डवीजी और श्रीश्रुतिकीर्त्तिजी तथा श्रीसीताजी चारों 'जनकसुता' हैं । अतएव इस शब्दसे शंका होती कि न जाने किसकी वन्दना करते हैं । इससे 'जगजननि' कहा । पर जगज्जननी भी और हैं । यथा, 'जगतजननि दामिनि दुति गाता । १. २३५ ।' 'अतिसय प्रिय···' भी और हैं । यथा, 'नव महुँ एकउ जिन्हके होई । नारि पुरुष सचराचर कोई ॥ सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरे ॥ ३. ३६ ।' जब इन तीनोंको साथ लेंगे तब श्रीसीताजीको छोड़ और कोई नहीं समझा जा सकता । 'जानकी' नाम देकर अन्य बहिनोंसे इनको पृथक् किया । (छ) वैजनाथजी एवं हरिहरप्रसादजी 'जगजननि जानकी' का अर्थ ऐसाभी करते हैं, 'जगतकी जननी एवं जान (जीवों) की जननी। इस प्रकार श्रीरघुनाथजीसे अभेद सुचित किया; क्योंकि रघुनाथजीभी 'प्रान प्रान के जीवन जी के' हैं । अर्थात् आह्लादिनी आदिशक्ति हैं । पंजाबीजी 'जनकसुता' और 'जानकी' में पुनरुक्ति समझकर 'जानकी' का अर्थ 'ज्ञान की' (जननी) करते हैं । (ज) 'जनकसुता' आदिसे क्रमशः श्रीउर्मिलाजी श्रीमाण्डवीजी, श्रीश्रुति-कीर्त्तिजी और श्रीसीताजीकी वन्दना की है। (मा. म.) । विशेष अंतिम नोटमें देखिए। ['जनकसुता' 'जगजननि', 'अतिशय प्रिय करुनानिधानकी' ये श्रीजानकीजीके विशेषण हैं, अतः जनकसुता और जानकीमें पुनरुक्ति नहीं है । ☞ स्मरण रहे कि विशिष्टवाचक (अर्थात जिनमें कोई विशेष गुणधर्म कहा गया हो उन) पदोंका, उसी अर्थका बोधक विशेषण साथ रहनेपर, सामान्य विशेष्य ही अर्थ समझा जाता है। यथा, 'विशिष्टवाचकानां पदानां सति पृथक् विशेषण वाचकपदसमवधाने विशेष्यमात्र परत्वम्' (मुक्तावली दिनकरी टीकासे)। यहाँ 'जनकसुता' और 'जानकी' का अर्थ एक 'जनकपुत्री' होनेसे 'जानकी' विशेष्यका अर्थ 'जनककी लड़की' नहीं किया जायगा; किंतु 'जानकी' नाम वाली ऐसा अर्थ होगा । 'जानकी' नाम है । अतः पुनरुक्ति नहीं है ।]

नोट—२ वे. भू. पं. रा. कु. दासजी—श्रीरामजीने तो जनरक्षणमें वेदकी मर्यादाकोभी एक तरफ़ रख दिया। नित्यधामयात्राके समय परम आनंदोल्लासके साथ समस्त परिजन पुरजनही नहीं वरंच कीटपतंगादितकको साथ ले जाना अन्य किस अवतारमें हुआ है? परन्तु वास्तवमें देखा जाय तो कृपालुता और वात्सल्यमें श्रीरामजी माता श्रीजानकीजीसे पीछे पड़ जाते हैं। श्रीजानकी-जीके द्वारा जीवोंपर होनेवाले उपकार अपरिमित और अनंत हैं तभी गोस्वामीजी आपको 'जगजननि' कहते हैं। आप कृपालुताकी तो मूर्त्तिही हैं। यह एक स्वाभाविक बात है कि पिताके हृदयमें पुत्रके प्रति हितकरत्वगुणकी विशेषता रहती है और माताके हृदयमें प्रियकरत्व गुणकी। पिता पुत्रके

हितार्थ दण्डकी व्यवस्था करता है। परन्तु माता तो सर्वदा पुत्रके प्रिय कर्ममेंही लगी रहती है, उसके हृदयमें सदा प्रियकरत्व गुणही उल्लसित होता रहता है। जब कभी पिता संतानको शिक्षणके लिये दंड देना चाहता है तब पुत्र यदि छिपा चाहे तो माता उसे अपने अंचलमें छिपा लेती है और फिर नाना युक्तियोंसे पतिको समझाबुझा अपराध क्षमा कराकर पुत्रको दण्डसे बचा लेती है। इसी प्रकार अनेकों अपराध करनेवाले जीवोंका भविष्य उज्वल करनेकी इच्छासे दण्डित करनेके लिये जब अपने ऐश्वर्यका स्मरण करके भगवान् यह निर्णय करते हैं कि 'तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥' (गीता १६। १९। अर्थात् उन क्रूर दुष्ट द्वैषियोंको मैं संसारकी आसुरी योनियोंमें डाल देता हूँ') उस समय उक्त अपराधी जीवोंमेंसे माताके अंचलमें छिपनेकी इच्छा रखनेवाले पुत्र (शरणागत जीव) की रक्षाके लिये आप भगवान्से प्रार्थना करती हैं। परन्तु जब भगवान् रूखा उत्तर दे देते हैं कि 'न क्षमामि कदाचन' मैं कदापि नहीं क्षमा करूँगा तब जगदम्बाजी मीठेमीठे शब्दोंमें उसकी सिफ़ारश करती हैं। कहती हैं कि यदि आप इस जीवपर शरणागत होनेपर कृपा न करेंगे और दण्डही देंगे तो आपके क्षमा, दया आदि दिव्य गुणोंपर पानी फिरते कितनी देर लगेगी? अतः इसपर कृपा करनेमेंही आपके दिव्य-गुणोंकी रक्षा है। इस प्रकार दिव्य गुणोंका स्मरण कराकर और भगवान्को माधुर्यकी ओर आकर्षित तथा जीवमात्रको सापराध बताकर एवं अन्यभी उपायोंद्वारा जीवको दण्डसे बचा लेती हैं और उसे दिव्य आनन्दका भोक्ता बना देती हैं। इसी तथ्यको श्रीगुणमंजरीकारने अपनी सजीव भाषामें इस तरह वर्णन किया है 'पितेव त्वत्प्रेयान जननि परिपूर्णागस जने, हितस्रोतोवृत्त्या भवति च कदाचित्कलुषधी। किमेतन्निर्दोषः क इह जगती त्वमुचितैरुपायैर्विस्मार्य स्वजनयसि माता तदसि नः ॥' यह तो हुआ आपके अहर्निशि जीवोंके कल्याण करते रहनेके 'जगज्जननीत्व' कर्मका दिग्दर्शनमात्र। श्रीजगज्जननीजीके इस शरणागतरक्षकत्वका क्रियात्मक प्रौढ़ रूपमें उदाहरण श्रीजनकसुता जानकीरूपमेंही पाया जाता है, अन्य रूपोंमें नहीं। देखिए, जयंत 'सीता चरन चोंच हति भागा।' फिरभी भगवान्के पूछनेपर कि 'कः क्रीडति सरोषेण पंचवक्त्रेण भोगिना' आपने इस विचारसे न बताया कि उसको दण्ड मिलेगा। शरण आनेपरभी वह प्रभुके आगे जब गिरा तब पैर उसके प्रभुकी ओर पड़े। इससे पहले ही कि प्रभु उसकी बेअदबी (अशिष्टता) को देखें उसके प्राण बचानेके लिए 'तस्य प्राण परीप्सया' स्वयं उसके सिरको उठाकर प्रभुके चरणोंपर डालकर उसकी सिफ़ारिश की कि यह शरणमें आया है इसकी रक्षा कीजिए। यथा, 'तच्छिरः पादयोस्तस्य योजयामास जानकी। प्राणसंशय-मापन्नं दृष्ट्वा सीताथ वायसम् ॥ त्राहित्राहीतिभर्तारमुवाच दयया विभुम् ॥...तमुत्थाप्य करेणाथ कृपा पीयूषसागरः। ररक्ष रामो गुणवान् वायसं दययैक्षत ॥' पुनः जैसे कुएँमें बच्चेके गिरनेपर माता उसे निकालने के लिए स्वयं कूद पड़ती है उसी तरह जगज्जननीने देवांगनाओंसहित देवताओंको रावणबन्दीगृहमें पड़े देख उनको निकालनेके लिए स्वयंभी बन्दिनी होना स्वीकार किया और जबतक रावणका नाश कराकर उनको छुड़ा न दिया तबतक (हनुमान्जीके साथभी) लौटना स्वीकार न किया (वाल्मीकीयसे स्पष्ट है)। जिन राक्षसियोंने आपको रावणवधके समयतक बराबर सताया उनकोभी (बिना उनके शरणमें आए स्वयं) हनुमान्जीसे रक्षा की। इसीसे तो आपकी कृपा श्रीरामजीसे बढ़कर कही गई है। श्रीगुणमंजरीकारने क्या खूब कहा है। मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदवार्द्रापराधास्त्वया। रक्षन्त्याः पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठीकृता। काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौरक्षतः, सा नः सान्द्रमहागसः सुखयतु क्षान्तिस्तवाकस्मिकी ॥' [सुन्दरकाण्ड और विनयपीयूषमें विस्तृत लेख दिया जा चुका है।] जगज्जननित्वका उदाहरण और कहाँ मिल सकता है?

नोट—३ 'अतिसय प्रिय करुनानिधान की' इति। प्रोफ़ेसर दीनजी लिखते हैं कि 'सत्संगमें संतोंसे

सुना है कि श्रीजानकीजी श्रीरामजीको 'करुणानिधान' नामसेही संबोधन किया करती थीं, जैसे अवसी स्त्रियाँ अपने पतिको किसी खास नामसे पुकारती हैं। इसका प्रमाण सुन्दरकांडमें मिलता है। श्रीहनुमानजी अनेक प्रकारसे अपना रामदूत होना प्रमाणित करते हैं, पर श्रीसीताजी विश्वास नहीं करतीं। श्रीरामजीके बतलानेके अनुसार जब हनुमानजी कहते हैं कि 'सत्य सपथ करुनानिधान की', तब वे झट उनपर विश्वास करके उन्हें रामदूत मान लेती हैं। आगे महात्मा लोग जानें। श्रीरूपकलाजीभी यही कहते थे।

४ 'जुगपद' मनानेका एक भाव यह है कि—(क) जैसे बालक माँके दोनों पैर पकड़कर अड़ जाता है, माँको टलने नहीं देता, वैसेही मैं अड़ा हूँ जिससे मुझे निर्मल मति मिले। यथा, 'हौं माचल लेइ छाँड़िहौं जेहि लागि अरयो हौं' (विनय २६७)। पुनः, (ख) प्रोफे० दीनजीका मत है कि 'पद मनावों' कहनेसेही काम चल जाता। 'जुग पद' कहनेका विशेष भाव यह है कि श्रीरामजीका पूर्ण ऐश्वर्य और माधुर्य जतानेकी अधिकारिणी श्रीजानकीजी ही हैं। यह ऐश्वर्य और माधुर्य श्रीरामजीके ४८ चरण चिह्नोंके ध्यानसे जाना जा सकता है। यही ४८ चिह्न श्रीजानकीजीके चरणोंमेंभी हैं। माताके चरणदर्शनका मौका बालकको अधिक मिलता है। अतः गोस्वामीजी माताजीके युग चरण मनाकर ही अपनी बुद्धि निर्मल करके श्रीरामजीका पूर्ण प्रभाव जानने-की इच्छा करते हैं। अतः 'युग पद' कहा। विना दोनों पदोंके ध्यानके पूर्ण ऐश्वर्यका ज्ञान न हो सकेगा, अतः 'युग' शब्द रखना यहाँ अत्यंत आवश्यक था।

५ 'जासु कृपा निर्मल मति पावों' इति। इससे जनाया कि जिन जिनकी अबतक वन्दना करते आए वे श्रीरामजीके चरितके विशेष मर्मज्ञ नहीं हैं और श्रीरामवल्लभाजी रहस्यकी विशेष मर्मज्ञा हैं, क्योंकि वस्तुतः तत्वतः श्रीरामजानकी दोनों एकही हैं, दो नहीं जैसा आगे कहते हैं अतः इनसे 'निर्मल बुद्धि माँगते हैं। पुनः, श्रीरामचरित विशद हैं, अतः उनका कथन विना निर्मल मतिके हो नहीं सकता। यथा, 'सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मति बल अति थोरि। १.१४।' औरोंसेभी मति माँगी, परन्तु मिली नहीं, अतः अब इनसे माँगते हैं। इनसे यह बुद्धि मिलभी गई, इसीसे अब चरित प्रारंभ करेंगे।

६ "वन्दे चारिउ भाइ, अन्त राम केहि हेतु भज ? भगिनी चारि न गाइ, जो गाए तो अन्त किम् ?" पं० घनश्याम त्रिवेदीजी यह शंकाएँ करके स्वयंही यह उत्तर देते हैं—(१) श्रीसीतारामार्चामें पहले सब परिवारकी पूजा होती है। इसीके अनुसार यहाँभी वन्दना की गई है। इनके पीछे केवल नामवन्दना है जिसका भाव यह है कि और सबके पूजनका फल श्रीसीतारामजीकी प्राप्ति है जिसका फल श्रीसीतारामनाममें प्रेम होना है। पुनः, (२) श्रीसीतारामजीको एकसाथ रखना आवश्यक था। यदि सब भाइयोंको साथ रखते तो इन दोनोंका साथ छूट जाता। पुनः, (३) लोकरीतिभी यही है कि राजाके पास एकाएकी कोई नहीं पहुँचता, पहले औरोंका वसीला उठाना पड़ता है। अतएव इनकी वन्दना अन्तमें की गई।

दूसरे प्रश्नका उत्तर यह है कि—(१) लोकरीतिमें बड़ेके सामने बहूका नाम नहीं लेते हैं। इसीसे तीन बहिनोंके नाम प्रकट रूपसे नहीं दिये। (२) संकेतसे 'जनकसुता' 'जगजननी' 'जानकी' और 'अतिसय प्रिय करुनानिधान की' ये चार विशेषण देकर चारों बहिनों अर्थात् क्रमसे श्रीउर्मिलाजी, श्रीमाण्डवीजी, श्रीश्रुतिकीर्तिजी और श्रीसीताजीकी वन्दना सूचित कर दी। मा. अ. दीपकमें अंतिम भाव इन शब्दोंमें दिया हुआ है—'जनकसुता जगजननि महँ जानकि लालक राम। यह संदर्भ विचार बिनु लहन न मन सुख धाम। ३०।' श्रीभरतजीके संबंधमें कहा है कि 'विश्वभरन पोषन कर जोई', इसी भावको लेकर 'जगजननि' से श्रीमाण्डवीजी-को लेते हैं। मयंककार कहते हैं कि मिथिलाराजवंशियोंकी 'जनक' संज्ञा है और 'जानकी' का अर्थभी है जनक-

पुत्री। भरतजीका ब्याह माण्डवीजीसे हुआ और शत्रुघ्नजीका श्रुतिकीर्तिजीसे। अतः जगजननिसे जब माण्डवी-जीका ग्रहण हुआ तो 'जानकी' से श्रीश्रुतिकीर्तिजीका ग्रहण हुआ। जनक (शीरध्वज) राजा बड़े भाई हैं और श्रीउर्मिलाजी उनकी पुत्री हैं, अतः 'जनकसुता' से राजा जनककी पुत्री उर्मिलाजीका ग्रहण हुआ।

नोट—मेरी समझमें यहां केवल श्रीसीताजीकी वन्दना है। बहनोंकी वन्दना क्लिष्ट कल्पना है। 'ताके' एकवचन है न कि बहुवचन। 'जासु' भी एकवचन है।

प्रथम संस्करण के मेरे इस नोटपर श्रीजानकीशरणजीने मानसमार्तण्डमें लिखा है कि "परंतु क्या जहाँ उस आनन्दमय महोत्सव, जहाँ सब नर तथा नारि उपस्थित हैं, तहाँ ये तीनों बहुएँ न हों, यह परमाश्चर्य अवश्य है। हाँ! परदेके अंदर विराजमान हैं। तहाँ गोस्वामीजी इन तीनों देवियोंको प्रणाम करनेमें चूकें? इसी कारण श्रीसीतामहारानीकी वन्दनामें संकेतसे चार विशेषण देकर चारोंकी वन्दना सूचित कर दिये हैं। केवल एकवचन और बहुवचनके झगड़ेमें पड़कर भावपर, ध्यान नहीं देना भावुकतासे बाहर है। मानसमें एक नहीं, अनेक स्थानोंमें व्याकरणादिकी गलतियाँ हैं जिनको यह कहकर समाधान कर दिया है कि 'आर्षकाव्यमें इसका दोष नहीं देखा जाता है।'....यहाँ क्यों नहीं उसी प्रकारका समाधान मानकर परमोत्तम सिद्धान्त तथा रहस्यपूरित भावको जानकर प्रसन्न होते?...."

नोट—यही शंका मानसमणि ३ आलोक ३ में एक जिज्ञासुने की थी। उसका उत्तर वेदान्तभूषणजीने दिया है। वह हम यहाँ उद्धृत करते हैं। 'श्रीगोस्वामीजीने वैसे तो समष्टिरूपसे एवं वर्गीकरण करके भी सभी चराचरमात्रकी वन्दना मानसमें की है परन्तु अलग अलग नाम लेकर तो उन्हीं व्यक्तियोंकी वन्दना की है जिन्होंने श्रीरामजीके चरित्रोंमें कुछभी, किसी तरहका भी भाग लिया है। व्यास, शुक, सनकादि, नारदादि किंवा विधि, विनायक, हर, गौरी, सरस्वती आदि श्रीरामचरित्रके पात्र ही हैं, उनके बिना तो रामचरित्रही अधूरा रह जाता है। और श्रीमाण्डवी, उर्मिला तथा श्रुतिकीर्तिजीका किसी प्रकारका भी सहयोग श्रीरामचरित्रमें नहीं है। केवल श्रीरामचरित्रके विशेष विशेष पात्र भरतादिके साथ विवाह होनेके कारण विवाह-के समय उनका नाम एक बार मानसमें आ गया है (यही क्या कम है?)। गोस्वामीजीकी ही लेखनीसे लिखा गया है कि 'पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं राम के नातें।' अतः श्रीरामजीकी लीलामें कुछ भी सहयोग न होनेसे गोस्वामीजीने उनका नाम लेकर स्वतन्त्र रूपसे उनकी वन्दना नहीं की। इस तथ्यका विचार किये बिनाही पंडितम्मन्य लोग गोस्वामीजीपर तथा अन्य श्रीरामचरित्रके कवियोंपर श्रीउर्मिलादिकी उपेक्षाका दोष लगाया करते हैं।

कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि 'श्रीशत्रुघ्नजीकी वन्दना उनका नाम लेकर क्यों की, जब उनका मानसभरमें बोलना तक नहीं लिखा है?' ठीक है, परम सुशील श्रीशत्रुघ्नजीका बोलना श्रीरामचरितमानस भरमें नहीं लिखा है; परन्तु 'जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥ करनबेध उपबीत बिआहा। संग संग सब भयउ उछाहा॥' के अतिरिक्त रामचरित्रमें रामसेवामें आपका पूर्ण सहयोग रहा है। देखिए, जब पता चला कि 'रामराज्यबाधक भई मूढ़ मंथरा चेरि' तब उसे देखतेही आपने दंड देना शुरू किया—'हुमकि लात तकि कूबर मारा', 'लगे घसीटन धरि धरि झोटी'। चित्रकूटके मार्गमें भरतजीने 'भाइहि सौंपि मातु सेवकाई'। स्वयं श्रीरामजीनेही चित्रकूटमें 'सिय समीप राखे रिपुदवनू'। फिर श्रीसीतारामजीके सिंहासना-रूढ़ होनेपर श्रीशत्रुघ्नजी व्यजन लिये सेवामें प्रस्तुत थे। और सतत काल 'सेवहिं सानुकूल सब भाई'। अतः श्रीशत्रुघ्नजीका सहयोग श्रीरामचरितमें पूर्णरूपेण है। इसी लिए उनका नाम लेकर स्वतन्त्र वन्दना की है। हाँ, वह सहयोग सर्वत्र मौनरूपसेही है, बोलते हुए नहीं है। इसीसे एकही पंक्तिमें इनकी वन्दना है।

पुनि मन बचन कर्म रघुनायक। चरन कमल बंदौं सब लायक। ९।
राजिवनयन धरें धनु सायक। भगत बिपतिभंजन सुखदायक। १०।

अर्थ—अब मैं फिर मनवचनकर्मसे कमलनयन, धनुषबाणधारी, भक्तोंके दुःखके नाशक और सुखके देनेवाले श्रीरघुनाथजीके चरणकमलोंकी वन्दना करता हूँ, जो सब योग्य हैं, सर्वसमर्थ हैं। ९, १०।

नोट—१ 'पुनि मन बचन कर्म' इति। (क) 'पुनि' अर्थात् श्रीजानकीजीकी वन्दनाके पश्चात् अब। अथवा, एक बार पूर्व मंगलाचरणमें वन्दना कर चुके हैं—'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।' अब फिर करता हूँ। (ख) मन बचन कर्म तीनोंसे वन्दना करना यह कि मनसे रूपका ध्यान, वचनसे नाम यश कीर्तन और कर्म (तन) से सेवा, पूजा, दण्डवत् प्रणाम, परिक्रमा आदि करते हुए इस तरह तीनोंको प्रभुमें लगाए हुए। चरणोंका ध्यान, चिह्नोंका चिंतन, उनका महत्त्व गाते हुए, हाथोंसे मानसी सेवा करते हुए।

२ 'सब लायक' इति। अर्थात् (क) सब मनोरथों और अर्थ धर्मादि समस्त पदार्थों और फलोंके देनेवाले हैं। यथा, 'नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूरे सब काम हमारे। १. १४९।' 'करि मधुप मन मुनि जोगि जन जे सेइ अभिमत गति लहैं। १. ३२४।' (ख) इनके स्मरणसे मन निर्मल हो जाता है, जीव परमपदकोभी प्राप्त होता है। यथा, 'जे सकृत सुमिरत बिमलता मन सकल कलिमल भाजहीं।', 'जे परसि मुनिबनिता लही गति रही जो पातकमई। १. ३२४।', 'परसि चरनरज अचर सुखारी। भए परमपद के अधिकारी। २. १३९।' (ग) दीन गरीब केवट कोल भील आदिसे लेकर विधि हरिहर ऐसे समर्थोंके भी सेवने योग्य हैं। यथा, 'जासु चरन अज सिव अनुरागी। ७. १०६।', 'सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू। बिधिहरिहरबंदित पद रेनू॥ सेवत सुलभ सकल सुखदायक। १. १४६।', 'बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन। २. १३६।' (घ) सर्वसमर्थ हैं, आपके लिये कुछ भी अदेय नहीं है। यथा, 'जन कहुँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस बिश्वास तजहु जनि भोरें। ३. ४२।', 'मोरे नहिं अदेय कछु तोही। १. १४९।' (ङ) सकल योग्यताके आधारभूत हैं, श्रीगणेशादि समस्त देवोंकी योग्यताके सम्पादक हैं। (रा. प्र.)।

२ 'राजिवनयन धरें धनु सायक।...' इति। (क) प्रोफ़े० लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि इसमें 'राजिव' शब्द बड़ा मजा दे रहा है। कमलवाची अन्य शब्द रखनेसे वह मजा न रहता। 'राजीव' लाल कमलको कहते हैं। भक्तकी विपत्ति भंजन करते समय जब धनुसायकसे काम लिया जायगा तब आरक्त नेत्र ही शोभाप्रद होंगे। वीरता, उदारताके समय लाल नेत्र और शृङ्गारमें नीलोपम नेत्र, तथा शान्तरसमें पुण्डरीकाक्ष कहना साहित्यकी शोभा है। 'राजिवनयन' का प्रयोग प्रायः ऐसेही स्थानोंमें किया गया है जहाँ दुःखियोंके दुःखनिवारणका प्रसंग है। यथा, 'राजीवबिलोचन भवभयमोचन पाहि पाहि सरनहि आई। १. २११।', 'सुनि सीता दुख प्रभु सुख अयना। भरि आए जल राजिवनयना। ५. ३२।', 'अब सुनहु दीनदयाल। राजीव नयन बिसाल। ६. ११२।' इत्यादि। (ख) कमलमें कोमलता, शीतलता, सुगंध आदि गुण होते हैं वैसे ही श्रीरामनयनकमलमें उसी क्रमसे दयालुता, शान्ति (क्रोध न होना), सुशीलता (शरणागत के पापोंपर दृष्टि न डालना) इत्यादि श्रेष्ठ गुण हैं। (ग) वैजनाथजी कहते हैं कि 'राजीव' से तेजोमय, कोटिसूर्य प्रकाशयुक्त और जगपालक गुण सूचित किये हैं। (घ) 'धरे धनुसायक' इति। भगवान् श्रीरामका ध्यान सदैव धनुर्बाणयुक्त ही करनेका आदेश है। यथा, 'अयोध्यानगरे रम्ये रत्नमण्डपमध्यगे। स्मरेत्कल्पतरोर्मूले रत्नसिंहासनं शुभम्। १०। तन्मध्येऽष्टदलं पद्मम् नानारत्नैश्चवेष्टितम्। स्मरेन्मध्ये दाशरथिं''''। कौशल्यानन्दनं रामं धनुर्बाणधरं हरिम्। २१। एवं सञ्चिन्तयेत्'''। २२।' (श्रीरामस्तवराज स्तोत्र), 'ध्यायेत्कल्पतरोर्मूले। १०। कौसल्यातनयं रामं धनुर्बाणधरं हरिम्। २२।''' ध्यायेदाजानुबाहुं धृतशरधनुषं बद्ध पद्मासनस्थम्। ३१।' (आ. रा. राज्यकाण्ड सर्ग १)।

इससे जनाया कि श्रीरामजी भक्तोंकी रक्षामें इतने सावधान रहते हैं कि हरदम धनुर्बाण लिये रहते हैं जिसमें रक्षाके समय शस्त्रास्त्र ढूँढ़ना न पड़े जिससे विलंब हो। श्रीअग्रस्वामीने इसी भावसे लिखा है कि 'धनुष बाण धारे रहैं, सदा भगत के काज। अग्र सु एते जानियत राम गरीब निवाज॥ १॥ धनुष बाण धारे लखत दीनहि होत उछाह। टेढ़े सूधे सबनि को है हरि हाथ निबाह। २।' अर्थात् सरल एवं कुटिल सभी जीवोंका निर्वाह प्रभुकी शरणमें हो जाता है। (वे. भू.)। (घ) 'भगत बिपति भंजन सुखदायक' इति। विपत्तिके नाश होनेपर सुख होता है, अतः बिपति भंजन कहकर सुखदायक कहा। अथवा, आर्त्त भक्तोंकी विपत्ति हरते हैं और साधक तथा ज्ञानी भक्तोंको सुख देते हैं, अर्थात् उनके हृदयमें आनन्द भर देते हैं। (वै०)।

दो०—गिरा अरथ जल बीचि सम कहिअत[1] भिन्न न भिन्न।
बंदौं सीतारामपद जिन्हहिं परमप्रिय खिन्न। १८।

अर्थ—मैं श्रीसीतारामजीके चरणोंकी वन्दना करता हूँ जो वाणी और उसके अर्थ तथा जल और उसकी लहरके समान कहनेमें भिन्न हैं (पर वस्तुतः) भिन्न नहीं हैं और जिन्हें दीन अत्यन्त प्रिय हैं। १८।

नोट—यहाँपर 'गिरा' से मध्यमा और वैखरी वाणीका ग्रहण है तथा अर्थसे बौद्ध (अर्थात् बुद्धिस्थ) और बाह्य अर्थोंका ग्रहण है। इन दोनोंका परस्पर वाचकवाच्यसम्बन्ध है। जिस शब्दसे जिस पदार्थका ज्ञान होता है वह शब्द उस पदार्थका वाचक कहा जाता है। तथा जिस अर्थका ज्ञान होता है, वह वाच्य कहा जाता है। यथा, घटसे घड़ेका (अर्थात् मिट्टी, ताँबा, पीतल आदिका बना हुआ होता है जिसमें जल आदि भरते हैं उस पदार्थका) ज्ञान होता है। अतः 'घट' शब्द वाचक है और घड़ा (व्यक्ति) वाच्य है। इस वाणी और अर्थमें भेदाभेद माना जाता है। शब्द और अर्थमें भेद मानकर 'तस्य वाचकः प्रणवः' (योगसूत्र १। २७) अर्थात् ईश्वरवाचक प्रणव (ओंकार) है। 'रामस्य नाम रूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्द विग्रहम्॥' (वसिष्ठसंहिता) अर्थात् श्रीरामजीका नाम, रूप, लीला और धाम नित्य सच्चिदानन्द विग्रह है इत्यादि व्यवहार शास्त्रोंमें किया गया है। यहाँपर ईश्वर (अर्थ) का वाचक ओंकार (शब्द) कहा गया है, इससे ईश्वर और ओंकार शब्दोंमें भेद स्पष्ट है। ऐसेही दूसरे उदाहरणमें श्रीरामजी और उनके नाममें भी भेद स्पष्ट है।

एवं शब्दार्थमें अभेद मानकरही 'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्' (गीता ८। १३) अर्थात् ओम् इस एकाक्षर ब्रह्मको कहते हुए, तथा 'रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभंगः पिनाकिनः' अर्थात् राम (इत्याकारक) जो द्व्यक्षर नाम है वह परशुरामजीका मानभंग करनेवाला है, इत्यादि व्यवहार शास्त्रोंमें किया गया है। यहाँ पर (उपर्युक्त प्रथम उदाहरण 'ओमित्येकाक्षरं…' में) (शब्द) और ब्रह्म (अर्थ) में अभेद माना गया है; क्योंकि ब्रह्मरूप अर्थका उच्चारण नहीं होता, परन्तु यहाँ ब्रह्मका उच्चारण कहा गया है। अतः दोनोंमें अभेद सिद्ध हुआ। इसी प्रकार (उपर्युक्त दूसरे उदाहरणमें) परशुरामजीका मानभंग करनेवाले श्रीरामजी हैं, न कि

[1] देखियत—१७२१, १७६२, छ., को. रा.। कहियत—१६६१, १७०४। श्रीनंगेपरमहंसजी 'देखिअत' पाठको शुद्ध मानते हैं। वे कहते हैं कि "रूप देखनेमें आता है न कि कहनेमें। नेत्रका विषय रूप है, बुद्धिका विषय विचार है। नेत्र तो रूप करिके भिन्न देखता है किंतु बुद्धि उसको विचारशक्तिसे एक करती है। इसलिये देखनेमें भिन्न है।…कहना वाणीका विषय है। वाणी बुद्धिके अधीन है। जो बुद्धि विचारसे निश्चय करेगी वही वाणी कहेगी।…जब बुद्धिने भिन्न नहीं किया, तब वाणी भिन्न कैसे कह सकती है।"

उनका नाम, परन्तु दोनोंमें अभेद मानकरही नामको परशुरामजीका मान भंग करनेवाला कहा गया है। लोकमें शब्दार्थका तादात्म्य मानकर ही—'श्लोकमश्रृणोतु अर्थं श्रृणोतु इति अर्थं वदति' अर्थात् इसने श्लोक सुना, अब यह अर्थको सुने, अतः अर्थको कहता है—इत्यादि वाक्योंके प्रयोग किये जाते हैं। यहाँपर अर्थको सुनने और कहनेका प्रतिपादन किया गया है; परन्तु सुनना और कहना शब्दकाही होता है, न कि अर्थका। अतः कहना पड़ता है कि शब्द और अर्थमें अभेद मानकरही लोकमें ऐसा व्यवहार प्रचलित है। इन पूर्वोक्त प्रमाणोंसे शब्द और अर्थमें अभेद अर्थात् तादात्म्य सिद्ध होता है।

अब यह शंका होती है कि "यदि शब्द और अर्थमें तादात्म्य है तो 'मधु' शब्दके उच्चारणसे मुखमें माधुर्यास्वाद तथा अग्निशब्दके उच्चारणसे मुखमें दाह क्यों नहीं होता?" उसका एक उत्तर यह है कि 'तादात्म्य' शब्दका अर्थ 'भेदसहिष्णु अभेद' होता है (जिसको गोस्वामीजीने 'कहियत भिन्न न भिन्न' शब्दसे कहा है); क्योंकि तादात्म्यकी परिभाषा 'तदभिन्नत्वे सति तद्भिन्नत्वेन प्रतीयमानत्वं तादात्म्यम्' की गई है। अर्थात् उससे अभिन्न होते हुए भिन्न प्रतीत होना तादात्म्य है। अतः 'तादात्म्य' और 'भेदाभेद' एक तरहसे पर्याय कहे जाते हैं। एवं च शब्द और अर्थमें भेद होनेसे मधु और अग्नि शब्दोंके उच्चारणसे मुखमें माधुर्यास्वाद और दाह नहीं होता। वस्तुतः बुद्धिसत्तासमाविष्ट जो बौद्ध अर्थ है, वही शब्दोंका मुख्य वाच्य है। बौद्ध अर्थमें दाहादि शक्ति नहीं होती है। अतः माधुर्यास्वाद और दाहादि नहीं होते। इसको लघुमंजूषामें नागेशभट्टनेभी कहा है। यथा, 'एवं शक्योऽर्थोपि बुद्धिसत्तासमाविष्ट एव, न तु बाह्यसत्ताविष्टः। घट इत्यत एव सत्तावगमेन घटोऽस्तीति प्रयोगे गतार्थत्वादस्तीति प्रयोगानापत्तेः। सत्तयाविरोधात् घटो नास्तीत्यस्यानापत्तेश्च। ममतु बुद्धिसतो बाह्यसत्तातदभावबोधनाय अस्ति, नास्तीति प्रयोगः। एवं च बौद्धपदार्थसत्ता आवश्यकी। तत्र बौद्धे अर्थेनदाहादि शक्तिरिति।' जिस प्रकार मध्यमादिसे अभिव्यक्त बुद्धिमें प्रतिभासमानही शब्द (स्फोट) वाचक कहलाता है, उसी प्रकार बौद्धही अर्थ 'वाच्य' होता है।* अर्थात् बाह्यसत्तायुक्त जो घटादि हम लोगोंके दृष्टिगोचर होता है वह मुख्य वाच्य नहीं है। इसमें युक्ति यह है कि यदि बाह्यसत्तायुक्त घटही वाच्य कहा जाय तो 'घटोऽस्ति' ऐसा जो प्रयोग बोला जाता है, उसमें 'अस्ति' शब्दका प्रयोग नहीं होना चाहिए; क्योंकि 'घटः' इस (इतना कहने) से ही बाह्यसत्तायुक्त घटका बोध हो गया। किंच अब घटोनास्ति ऐसा प्रयोगभी प्रामाणिक नहीं होगा; क्योंकि घट शब्दसे बाह्यसत्तायुक्तका और 'नास्ति' से सत्ताऽभावका बोध, परस्पर विरुद्ध होनेके कारण, नहीं होगा। बौद्धार्थको जो वाच्य मानते हैं, उनके मतमें यह दोष नहीं होता; क्योंकि बुद्धिमें भासमान घटकी सत्ता रहनेपरभी बाह्यसत्ताका अभाव बोधन करनेके लिये 'नास्ति' शब्दका प्रयोग और बाह्यसत्ता बतलानेके लिये 'अस्ति' शब्दका प्रयोगभी प्रामाणिक है। इससे बौद्धपदार्थका वाच्यत्व स्वीकार करना आवश्यक है। बौद्ध पदार्थमें दाहादिशक्ति नहीं है। अतः शब्द और अर्थमें अभेद स्वीकार करनेपरभी अग्नि शब्द उच्चारण करनेसे न तो मुखमें दाहरूप आपत्ति होगी और न तो मधु शब्दसे माधुर्यास्वाद होगा। अतः गिरा और अर्थमें अभेद सिद्ध हुआ जिसका दृष्टान्त गोस्वामीजी देते हैं। भाव यह है कि 'गिरा' और 'अर्थ' अभिन्न होनेपरभी जैसे भिन्न मालूम पड़ते हैं, उसी तरह 'सीता' और 'राम' दोनों एकही अभिन्न ब्रह्मतत्व है तथापि भिन्न मालूम

---

* जैसे कुम्हारके मनमें प्रथम घटका आकार आता है तब इन्द्रियोंके व्यापार (उद्योग) के द्वारा मिट्टीके आश्रयसे वह घट प्रगट (पैदा) होता है और वही हृदयस्थ घट वैखरी वाणीके आश्रयसे मुखके द्वारा 'घट' ऐसा नाम होकर प्रकट होता है। अतः लोकमें यह कहा जाता है कि मनुष्यके बोलनेसे और व्यवहारसे उसके हृदयका पता लगता है। तात्पर्य यह है कि 'घट' नाम और 'घट' पदार्थ बाहर व्यवहारमें दो मालूम पड़नेपरभी भीतर एकही हैं।

पड़ते हैं। गिरा और अर्थका दृष्टान्त दार्शनिक विचारसे गंभीर होनेके कारण जल और वीचिके सरल दृष्टान्तसेभी श्रीसीताजी और श्रीरामजीको अभिन्न ब्रह्मतत्व प्रतिपादन किया। (दार्शनिक सार्वभौमजीके प्रवचनके आधारपर)।

पं० रामकुमारजीने इस दोहेके भावपर प्रकाश डालनेवाले दो श्लोक ये दिये हैं—'तत्वतो मंत्रतोवापि रूपतो गुणतोऽपि वा। न पृथक् भावना यस्य स ज्ञेयो भावुकोत्तमः। १। काव्य प्रकरणस्यादौ मध्येऽन्ते कविभिः क्रमात्। तत्स्वरूपाङ्ग माहात्म्यकथनं क्रियते पृथक्। २।' अर्थात् शक्ति और शक्तिमान्के प्रति तत्त्वसे, मंत्रसे, गुणसे और रूपसे जिसकी भावना भिन्नभिन्न नहीं (अभिन्न रूपसेही) होती है, वही श्रेष्ठ भावुक है। १। काव्यप्रकरणके आदि, मध्य और अंतमें कवि लोग नायक और नायिकाके स्वरूप, अंग (शक्ति) और माहात्म्यको क्रमशः पृथक् पृथक् वर्णन करते हैं। २। (इनको स्मरण रखनेसे आगेकी बहुतसी शंकायें स्वयं हल हो जायँगी)।

☞ पिछली चौपाइयोंमें श्रीजानकीजीके और श्रीरामजीके चरणकमलोंकी वन्दना पृथक् पृथक् की। अब दोनोंके पदकी एक साथ अभिन्नभावसे वंदना करते हैं। बाबा हरिहरप्रसादजी यहाँ 'सीताराम' यह जो पद है इसकी वन्दना मानते हैं। वे कहते हैं कि चरणोंकी वंदना ऊपर कर चुके, अब नामकी एकता यहाँ दिखाते हैं।

नोट—१ श्रीसीतारामजीकी वन्दना ऊपर चौपाइयोंमें पृथक् पृथक् की थी अब एक साथ करते हैं। इसके कारण ये कहे जाते हैं कि—(क) ये दोनों देखने (कहने) में भिन्न हैं, अर्थात् पृथक् पृथक् दो हैं; इस लिये भिन्न भिन्न (पृथक् पृथक्) वन्दना की थी। और, विचारनेसे दोनों वास्तवमें दो नहीं हैं, एकही हैं, अभिन्न हैं, इस लिये अब एकमें वन्दना की। (पं० रामकुमार)। (ख) श्रीमद्गोस्वामीजी आगे 'नाम की वन्दना करेंगे, तब वहाँ 'बंदउँ नाम राम.....' ऐसा कहेंगे। उससे कदाचित् कोई यह शंका करे कि 'सीता' ब्रह्मका नाम नहीं है, वा, 'सीता' माया हैं, इसीसे उनका नाम छोड़ दिया गया', इसी कारणसे प्रथम ही यहाँ दोनों नामोंकी एकता दिखाई है। ऐक्यका प्रमाण यथा, 'श्रीसीतारामनाम्नस्तु सदैक्यं नास्ति संशयः। इति ज्ञात्वा जपेद्यस्तु सधन्यो भाविनां वरः ॥' (ब्रह्मरामायणे)। दोनोंमें अभेद है और दोनोंही ब्रह्मके नित्य अखंड स्वरूप हैं जैसा श्रीमनुशतरूपा प्रकरण दोहा १४३–१४८ से विदित है। वहाँ मनु शतरूपाजीके 'उर अभिलाप निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥ अगुन अखंड अनंत अनादी। जेहि चिंतहिं परमारथ बादी॥ नेति नेति जेहि बेद निरूपा। निजानंद निरुपाधि अनूपा॥ संभु बिरंचि बिस्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥ १. १४४।'; और भक्तवत्सल प्रभुने उनकी यह अभिलापा जान और उनकी प्रार्थना सुनकर कि 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन' उनको दर्शन दिया। 'श्रीसीताराम' युगल रूपसे दर्शन देकर जनाया कि हमारा अखंड ब्रह्म स्वरूप यही है। बृहद्विष्णु पुराणमें इसका प्रमाणभी है। यथा, 'द्वौ च नित्यं द्विधारूपं तत्त्वतो नित्यमेकता। राममंत्र स्थिता सीता सीतामंत्रे रघूत्तमः। यद्वा शब्दात्मको रामो सीता शब्दार्थरूपिणी। यद्वा वाणी भवेत् सीता रामः शब्दार्थ रूपवान् ॥' पुनश्च अद्भुत रामायणे यथा, 'रामस्सीता जानकी रामचन्द्रो नाहो भेदस्त्वे तयोरस्ति कश्चित्। संतो बुध्या तत्त्वमेतद्विबुध्वापारं जाताः संसृतेर्मृत्युवक्त्रात् ॥' (पं० रा. कु.)। (ग) अगली चौपाईसे कोई यह न समझे कि गोस्वामीजी केवल रामोपासक हैं, क्योंकि यदि (श्रीसीताराम) युगलरूपके उपासक होते तो 'बंदउँ सीताराम नाम' या ऐसे ही कुछ युगलनामसूचक शब्द लिखते। इस लिये भी यहाँ दोनोंमें एकता दिखाई। (मा. प्र.)। (घ) श्रीनंगे परमहंसजी कहते हैं कि ऊपर रूपकी वन्दना है और नीचे नामकी वन्दना है, बीचमें यह दोहा देकर "ग्रन्थकारने श्रीसीतारामजी महाराजका और श्रीसीतारामजीके नामकी ऐक्यता की है। दोनों रूपों और

दोनों नामोंकी ऐक्यताके लिये दो उपमाएँ दी हैं। नामकी ऐक्यता गिरा अर्थकी उपमासे और रूपकी एकता जलवीचिकी उपमासे की है।"

नोट—२ अब यह प्रश्न होता है कि 'एकता तो एकही दृष्टांतसे हो गई तब दो दृष्टांत क्यों दिए?' और इसका उत्तर यों दिया जाता है कि—(१) 'गिरा अर्थ' से गिरा कारण और अर्थ कार्य सूक्ष्म रीतिसे समझा जा सकता है; इससे संभव है कि कोई यह सिद्ध करे कि 'श्रीसीताजी' कारण और 'श्रीरामजी' कार्य हैं। इसी तरहसे 'जल वीचि' से जल कारण और वीचि कार्य कहा जा सकता है। दो दृष्टांत इस लिये दिये कि यदि कोई श्रीसीताजीको कारण कहे तो उसका उत्तर होगा कि 'जल वीचि' की उपमासे तो रामजी कारण सिद्ध होते हैं क्योंकि गिरा स्त्रीलिंग है और अर्थ पुल्लिग है और 'जल वीचि' में जल पुल्लिग (जल नपुंसकलिंग है पर भाषामें दो ही लिंग होते हैं इसलिये पुल्लिग कहा जाता है) और 'वीचि' स्त्रीलिंग है। और यदि कोई 'श्रीरामजी' को कारण कहे तो उसको 'गिरा अर्थ' से निरुत्तर कर सकेंगे। इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक स्पष्ट हो जावेगा कि इनमें कारणकार्यका भेद नहीं है। (मा. प्र.)। (२) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि ब्रह्मके दो रूप हैं। एक सगुण दूसरा निर्गुण। गिराअर्थवाला दृष्टांत निर्गुणका है, क्योंकि यह देखनेकी वस्तु नहीं है। वाणी केवल सुननेसे कर्णसुखद होती है और अर्थ मनमें आनेपर सुख देता है; इससे भिन्न हुआ; पर वास्तवमें दोनों अभिन्न हैं, क्योंकि वाणीमें अर्थ साथही रहता है। जैसे गिराके अभ्यंतर अर्थ है, पर प्रकट होता है वक्ताश्रोताके एकत्र होनेपर, वैसेही श्रीसीताजीमें श्रीरामजी सनातनसे हैं. पर प्रकट होते हैं प्रेमियोंकी कांक्षा होनेपर। श्रीकिशोरीजीके हृदयसे प्रकट होकर प्रेमियोंको सुख देते हैं। यह दिव्य धामकी लीला नित्यही त्रिगुणसे परे निर्गुण है जो देखनेका विषय नहीं है, ज्ञान द्वारा समझा जाता है। 'जलवीचि' का दृष्टांत सगुणरूपका है। जबतक वीची प्रकट नहीं होती, तबतक जलका रूप पृथक् देखनेमें आता है। वायुवश तरंग उठनेपर उसकाभी रूप पृथक् देखनेमें आता है। उसी प्रकार प्रेमियोंके प्रेमरूपी वायुका टक्कर जलवत् सगुणब्रह्म श्रीरामजीमें लगनेसे किशोरीजी प्रकट होती हैं तब दोनोंके रूप भिन्न देखनेमें आते हैं, वस्तुतः जलवीचिवत् दोनों अभिन्न हैं। यह भाव बैजनाथजीके आधारपर है। बैजनाथजी लिखते हैं कि प्रकृति पुरुष एकही हैं। जैसे वाणीमें अर्थ गुप्त, वैसेही प्रकृतिमें अगुणरूप गुप्त। लोकोद्धार हेतु सगुणरूपसे दोनों प्रकट हुए, जलवीचिसम देखनेमें आते हैं। (३) पृथक् पृथक् वन्दनासे यह शंका होती कि "जैसे भरतादि भ्राता श्रीरामजीके अंश हैं, वैसेही श्रीसीताजीभी अंश हैं', इस संदेहके निवारणार्थ गिराअर्थ और जलवीचिकी उपमा देकर दोनोंको एकही जनाया। भरतादि भ्राताओं और श्रीरामजीमें (यद्यपि तत्व एक ही है तथापि) अंश-अंशी भेद है, किन्तु श्रीसीतारामजीमें अंशअंशीभेद नहीं है, दोनों एकही ब्रह्म हैं। ब्रह्मका स्वरूप युगल है और ब्रह्म तो एकही है। ब्रह्म पतिपत्नी युगल स्वरूप अपनी इच्छासे धारण किये हुए है। यथा, 'स इममेवात्मानं द्वेधाऽपातयत् ततः पतिश्च पत्नीचा भवतामिति बृहदारण्यके श्रुतिः'। (१।४।३)।

(४) श्रीनंगे परमहंसजी कहते हैं कि—(क) "शब्दसे अर्थ निकलनेपर शब्द और अर्थ दो देख पड़ते हैं, अतः भिन्न हैं और दोनों एकही तत्त्वके बोधक होनेसे अभिन्न हैं। वैसेही रामनाम और सीतानाम कारणकार्य होनेसे देखनेमें भिन्न और एकही तत्त्व होनेसे अभिन्न हैं। गिराअर्थकी उपमा दोनों नामोंके लिये है। क्योंकि 'गिराअर्थ' आखर (वाणी) का विषय है और नामभी आखरका विषय है। (प्रमाण) 'आखर मधुर मनोहर दोऊ'। जैसे शब्दमें अर्थ (का) लय रहता है वैसेही राम-नाममें सीतानाम (का) लय है, क्योंकि कारणमें कार्य लय रहता है।" इस तरह रामनाम सीतानामको 'गिरा अर्थ' की उपमासे लय करके ग्रन्थकारने एक नाम अर्थात् रामनामकी वन्दना प्रारम्भ की। (ख) 'रूपकी एकता तो केवल एक उपमा जल वीचिसे हो जाती है।' ऐक्यमें क्या बाकी रह जाता है

जिसके लिये टीकाकारोंने 'गिरा अर्थ' की भी उपमा मिलाकर ऐक्य किया है। यदि रूपके ऐक्यमें दोनों उपमायें लगा दी जायँगी तो नामका ऐक्य कैसे होगा ? क्योंकि नाम और रूप दो विषय हैं और दोनोंकी वन्दना पृथक् पृथक् लिखी है तब ऐक्यभी पृथक् पृथक् होगा। परमहंसजीकी इस शंकाके संबंधमें यह समाधान किया जाता है कि दोनों रूपोंकी एकता अभिन्नता स्थापित हो जानेपर नामकी तत्त्वतः अभिन्नता स्वतः ही हो जायगी, उसके लिये फिर उपमाओंकी आवश्यकताही नहीं रह जाती। उपर्युक्त वृहद्विष्णुपुराणके 'द्वौ च....' इस उद्धरणसेभी इस कथनकी पुष्टि होती है क्योंकि उसमेंभी रूपकी एकता कहते हुए दोनोंके मंत्रों और नामोंकी एकता कही गई है।

५ नंगे परमहंसजीका मत है कि श्रीरामजी कारण हैं और श्रीसीताजी कार्य हैं। प्रमाणमें वे ये चौपाइयाँ देते हैं—'तनु तजि छाँह रहति किमि छेकी। प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंद तजि जाई।' और कहते हैं कि तन कारण है, छाया कार्य है। श्रीरामजी शरीर, सूर्य और चन्द्ररूप हैं और श्रीसीताजी छाया, प्रभा और चन्द्रिकारूपा हैं। इससे श्रीरामजी कारण हुए और सीताजी कार्य। अन्य लोगोंके मतानुसार इस दोहेमें कारण कार्यका निराकरण किया है।

पं० श्रीकान्तशरणजी इसके उत्तरमें कहते हैं—"उपमाके धर्मसेही कविताका प्रयोजन रहता है। जैसे 'कमलके समान कोमल चरण' में कोमल धर्म है, अतः कोमलताही दिखानेका प्रयोजन है, कमलके रंग रूप रस आदि चाहे मिलें अथवा न मिलें। वैसेही 'प्रभा जाइ कहँ....' में प्रभा, चन्द्रिका और श्रीसीताजी तथा भानु, चन्द्र और श्रीरामजी क्रमशः उपमान उपमेय हैं। 'जाइ कहँ....बिहाई', 'कहँ....तजि जाई' ये दोनों धर्म हैं, वाचक पद लुप्त है। अतः उपमाद्वारा कविका प्रयोजन, केवल श्रीजानकीजी का अपृथक् सिद्ध संबंध दिखानामात्र है कि प्रभा और चन्द्रिका जैसे सूर्य तथा चन्द्रसे पृथक् होकर नहीं रह सकतीं, वैसेही मैं आपके विना नहीं रह सकती। ऐसेही 'तनु तजि रहति छाँह किमि छेकी' में 'अपृथक् सिद्ध संबंध' ही दिखानेका प्रयोजन है। अतः, उपर्युक्त 'गिरा अरथ' में लिंग विरोध करके श्रीरामजीहीको कारण सिद्ध करना अयोग्य है। जहाँ लिंगके अनुकूल उपमानका अर्थ असंगत होता है, वहाँ लिंग विरोध किया जाता है। यहाँ श्रीजानकी-जीको कार्य कहनेमें अनित्यता होगी, जो भारी दोष है।"

☞ इस उत्तरमें उपमा और उपमेयकी जो बात कही है वह यथार्थ है, परन्तु आगे जो उन्होंने दोनोंके संबंधमें 'अपृथक् सिद्ध' संबंध कहा है वह बात समझमें नहीं आती। 'अपृथक् सिद्ध' संबंध का प्रयोग वहीं किया जाता है जहाँ दो पदार्थ स्वरूपतः भिन्न होनेपरभी एक दूसरेसे पृथक् नहीं हो सकते। जैसे ब्रह्म और जीवमें अपृथक् सिद्ध संबंध कहा जा सकता है। ब्रह्म और जीव इन दोनोंमें वस्तुतः भेद है परन्तु ये एक दूसरेसे कभी अलग नहीं होते। इसी तरह इनका ज्ञान इनसे पृथक् होनेपरभी इनसे अलग नहीं होता। अतः इनमें अपृथक्सिद्ध सम्बन्ध कहा जाता है। नैयायिक जिसको 'समवाय सम्बन्ध' कहते हैं, वेदान्ती उसकोभी 'अपृथक् सिद्ध संबन्ध' कहते हैं। जैसे मिट्टी और मिट्टीका घड़ा। इस दृष्टान्तमें कारण कार्य सम्बन्ध है और प्रथम दो दृष्टान्तोंमें स्वरूपतः स्पष्ट भेद है। अतः श्रीसीताजी और श्रीरामजीमें 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' लगानेसे कार्य कारण भाव या स्वरूपतः भेदही सिद्ध होगा। 'अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध' न कहकर उसका समाधान इस प्रकार हो सकता है—

श्रीहनुमानगढ़ीके श्रीजानकीदासजीका मत है कि इस दोहेके पूर्वार्धके अर्थ चार प्रकारसे हो सकते हैं—

(क) गिराअर्थ और जलवीचिके समान कहनेमें भिन्न हैं, वस्तुतः भिन्न नहीं हैं।

(ख) गिराअर्थ और जलवीचिके समान कहनेमें 'भिन्न न' (अभिन्न) पर वस्तुतः भिन्न हैं।

(ग) गिराअर्थ और जलवीचिके समान कहनेमें भिन्न भी और नहीं भिन्न भी।

(घ) गिराअर्थ और जलवीचिके समान भिन्न भिन्न (जो) नहीं कहे जा सकते।

अर्थ (क) में अभेद प्रधान है और भेद व्यावहारिक है। यह अद्वैती आदिका मत है। अर्थ (ख) में भेद प्रधान है। यह वैयाकरणादिका मत है। अर्थ (ग) में भेद और अभेद दोनोंही प्रधान हैं। यह गौड़िया संप्रदायका मत है। अर्थ (घ) में अभेद प्रधान और भेद लीलार्थ है। यह मत गोस्वामीजीका है। यद्यपि प्रथम अर्थसे ही गोस्वामीजीका मत सिद्ध हो जाता है तथापि उपमानके भेद सिद्ध करनेके जितने प्रकार शास्त्रोंमें प्रसिद्ध हैं उनमेंसे एकभी प्रकार गोस्वामीजीके सिद्धान्तानुकूल नहीं हैं।

भेदाभेद उपमान और उपमेय दोनोंमें है, पर उपमानमें जिस विचारसे भेद सिद्ध होता है वह विचार यहाँके विचार से अलग है। इन उपमानोंका केवल इतनाही अंश उपमेयमें लिया गया है कि अभेद होते हुए भी दोनों भिन्न हैं। 'भिन्न किस प्रकारसे हैं ?' इसका प्रतिपादन दोनों जगह पृथक् पृथक् है।

इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि 'वहाँके (उपमानके) भेदाभेद प्रतिपादन करनेवाले विचार यहाँ क्यों न लिये जायँ ?' तो उत्तर यह है कि वहाँके विचारोंमें बहुत मतभेद है। कोई व्यावहारिकता और पारमार्थिकता लेकर अपना पक्ष प्रतिपादन करते हैं तो कोई कार्य-कारण भाव लेकर, इत्यादि। यदि उनमें एक मत होता तो सब अंश लिया जाता। इस लिये इस दोहेका अर्थ करनेमें लोग अपने अपने सिद्धान्तानुसार भेदाभेदका प्रतिपादन कर सकते हैं। परन्तु गोस्वामीजीका सिद्धान्त यह है, 'एकंतत्त्वं द्विधा भिन्नम्' अर्थात् एकही ब्रह्मतत्त्व लीलाके लिये दो हुआ है। श्रीरामकृष्णादिवत्। श्रीराम और श्रीकृष्ण दोनों एक तत्त्व हैं पर नाम, रूप, लीला और धामसे दोनों भिन्न हैं। इस मतकी पुष्टि मानसके 'एहि विधि करेहु उपाय कदंबा। फिरइ त होइ प्रान अवलंबा॥ नाहिं त मोर मरनु परिनामा। २. ८२।', महाराज दशरथजीके इन व्याक्योंसे होती है। फिर आगेभी कहा है, 'जेहि विधि अवध आव फिरि सीया। सोइ रघुबरहिं तुम्हहि करनीया॥ न तरु निपट अवलंब विहीना। मैं न जियब जिमि जल बिनु मीना॥ २. ९६।' इन वचनोंसे स्पष्ट है कि श्रीरामजी और श्रीसीताजी दोनों एकही हैं। नहीं तो दशरथमहाराजका जीवन तो श्रीरामदर्शनाधीन था। यथा, 'जीवनु मोर राम बिनु नाहीं', 'जीवनु रामदरस आधीना। २. ३३।' 'नृप कि जिइहि बिनु राम। २. ४९।' उन्होंने यही वर माँगा था। यथा, 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन मिति तुम्हहिं अधीना॥ अस बरु माँगि चरन गहि रहेऊ। एवमस्तु करुनानिधि कहेऊ। १. १५१।' तब श्रीसीताजीके दर्शनसे वे कैसे जीवित रह सकते थे, यदि दोनों एक न होते ?

अब विचार करना है 'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई॥' 'तनु तजि रहति छाँह किमि छेकी।' (२. ९७) इत्यादि पर। इसका समाधान यह हो सकता है कि जैसे श्रीरामजी और श्रीसीताजीका नित्य संयोग होनेपरभी (जैसा सतीमोह प्रसंगसे स्पष्ट है) श्रीरामजीका वियोग विरह विलाप, वनमें सीताजीको खोजना, सर्वज्ञ होते हुए भी वानरोंद्वारा खोज कराना, श्रीलक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर प्रलाप करना, इत्यादि सब केवल नरनाट्य है वैसेही श्रीसीताजीके ये वाक्यभी केवल नरनाट्य हैं, लीलार्थ हैं। अर्थात् जैसे कोई प्राकृत पतिव्रता ऐसे प्रसंगोंमें कहती, वैसा उन्होंनेभी कहा। अतएव उपर्युक्त 'प्रभा जाइ...' आदि वाक्योंसे दोनोंमें किसी प्रकारका भेद मानना उचित नहीं जान पड़ता।

६ एक दृष्टान्तमें स्त्रीलिंग पहले, दूसरेमें पुल्लिंग पहले देकर सूचित किया कि चाहे सीताराम कहो, चाहे रामसीता; कोई भेद इसमें स्त्रीपुरुषकाभी नहीं है। यथा, 'रामस्सीता जानकी रामचन्द्रो नित्याखण्डो ये च पश्यन्ति धीराः।' (अथर्व)

७ एकही ब्रह्म स्त्रीलिंग और पुल्लिंग दोनों हैं। यथा, 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' 'सीताराम' में

सीता गिरा स्त्रीलिंग, फिर 'सीताराम' को जलवीचि सम कह 'सीता' को पुल्लिंगकी उपमा दी, इसी प्रकार 'राम' पुल्लिंग और स्त्रीलिंग दोनों हैं। पुनः जैसे 'वानी' से अर्थका बोध और अर्थसे वाणीकी सूचना होती है, जल कहनेसे पानीका बोध होता है, जल पानी एक ही वस्तु हैं, ऐसे ही 'राम' से 'सीता', 'सीता' से 'राम' का बोध होता है। पुनः, जैसे जलवीचि, गिरा अर्थ का सम्बन्ध सनातनसे है वैसे ही श्रीसीतारामजी सनातनसे एक हैं। जबसे वाणी है तभीसे अर्थभी और जबसे जल है तभीसे लहरभी है।

नोट—३ मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि 'गिराअर्थ' और 'जलवीचि सम' कहनेका यह भाव है कि 'जगत्पिता श्रीरामचन्द्रजी और जगत्जननी श्रीजानकीजीमें परस्पर परम प्रीति है अर्थात् अभेद हैं। अतः प्रथम गिरासे रूपक देकर श्रीजानकीजीसे मति और गिरा माँगी और अर्थसे श्रीरामजीका रूपक देकर उस गिरामें अनेक अर्थ माँगा। वह मतिरूपी जल हृदयरूपी जलधिमें पूर्ण है। उस जलधिसे अनेक अर्थतरंगें उठती हैं जिसमें किंचित्भी भेद नहीं है, परस्पर अभेद शोभित हो रहा है।'

नोट—४ 'कहियत भिन्न न भिन्न' इति। (क) जैसे सूर्य और सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा और चाँदनी इत्यादि कथन मात्रको दो भिन्न भिन्न वस्तु हैं, पर वस्तुतः ऐसा है नहीं। यथा, 'रवि आतप भिन्न न भिन्न जथा। ६. ११०।' 'प्रभा जाइ कहँ भानु बिहाई। कहँ चंद्रिका चंदु तजि जाई। २. ९७।' तथा नाम, रूप, वस्त्र, भूपणादि देख यह कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी पुरुष हैं, श्याम स्वरूप हैं, क्रीट मुकुट आदि धारण किए हैं और श्रीसीताजी स्त्रीस्वरूपा गौरांगिनी हैं, चन्द्रिकादिक धारण किए हैं, इत्यादि, रूपसे कहने मात्र दोनों न्यारे हैं; परन्तु तत्वरूपसे दोनों एक ही हैं।* (ख) प्रोफेसर दीनजी लिखते हैं कि मेरी सम्मति यहाँ सबसे भिन्न है।

---

* 'सीता' 'राम' का तत्त्व रूपसे एक होना यों सिद्ध होता है कि (१) वेदमें 'तत्त्वमसि' महावाक्य है, जिसमें 'तत्' 'त्वम्' 'असि' पद क्रमसे ब्रह्म, जीव, मायाके वाचक हैं। प्रमाणं, यथा, 'ब्रह्मेति तत्पदं विद्धि त्वं पदो जीव निर्मलः। ईश्वरोऽसि पदं प्रोक्तं ततो माया प्रवर्त्तते' (महारा० ५२।५५)। वह 'तत्वमसि' 'राम' और 'सीता' दोनों नामोंसे सिद्ध होता है। 'र' से 'तत्', दीर्घाकारसे 'त्वम्' पद और 'म' से 'असि' पद सिद्ध होता है। प्रमाणं, यथा, 'रकारस्तत्पदो ज्ञेयस्त्वं पदाकार उच्यते। मकारोऽसि पदं खंजं तत्त्वं असि सुलोचने'। (महारामायणे ५२।५४)। वही 'सीता' पदसे इस प्रकार सिद्ध होता है कि 'सीता' नाम तीन वार कंकणाकार लिखें तब चित्रकाव्य होता है, जिस अक्षरसे चाहें उठा सकते हैं। इस रीतिसे सीताका 'तासी' हो गया, तहाँ 'त' से 'तत्' पद 'आ' से 'त्वं' पद और 'सी' से 'असि' पद सिद्ध होता है। प्रमाणं, यथा, 'लिखितं त्रिविधं सीता कङ्कणाकृति शोभितम्। चित्रकाव्यं भवेत्तत्र जानन्ति कवि पण्डिताः॥ तकारं तत्पदं विद्धित्वं पदाकार उच्यते। दीर्घताच असि प्रोक्तं तत्त्वं असि महामुने'। (महासुन्दरीतंत्रे)। (२) 'राम' से 'सीता' और 'सीता' से 'राम' हो जाता है। व्याकरणकी रीतिसे रेफ विसर्ग होकर सकार हो जाता है और 'म' अनुस्वार होकर तकार बन जाता है। इस तरह 'राम' का 'सीता' हुआ। पुनः सकार विसर्ग होकर रेफ और तकार अनुस्वार होकर 'म' हुआ। इस तरह 'सीता' का 'राम' हो गया। यों भी दोनों नामोंका तत्व एक है। (मा. प्र.)। मानस-तत्वविवरणकार लिखते हैं कि "रकार वा सकारका विसर्ग और मकारका अनुस्वार इस प्रकार होता है कि 'स्रोविसर्गः। सकार रेफयोर्विसर्जनीया देशो भवत्यधातो रसे पादान्ते च धातोः पदान्ते न तुरसे'। १। 'मो अनुस्वारः मकारस्यानुसारो भवति हसे परे पदान्ते च'। एवं तन्निवारण शब्दमें तकारका नकार होना'। २। ऐक्यभावसे नकारका तकार होना एवं भाषान्तरमें अ, आ का इ, ई वा उ, ऊ होना पाते हैं। यथा, 'तरिषा तारिषी'। तथा, आकारका 'ई' होना 'ईकार' का 'आ' होना, द्विरूपकोशमें सिद्ध होता है। तो अब शब्दरूप निर्भिन्न तत्व ठहरा।"

सब लोग इसे 'सीताराम' का विशेषण मानते हैं, पर मैं इसे पदका विशेषण मानता हूँ। सारा भेद इसीमें भरा है, लिख नहीं सकता, अकथ्य है। (ग) 'सीतारामपद' से भी भिन्नता होते हुए भी अभेदता सूचित की है। इस प्रकार कि जो २४ चिह्न श्रीसीताजीके दक्षिण पदारविन्दमें हैं वे ही श्रीरामचन्द्रजीके वाम पद में हैं और जो उनके वाम पदमें हैं वे इनके दक्षिण पदमें हैं। यथा, 'तानि सर्वाणि रामस्य पादे तिष्ठंति वामके। यानि चिह्नानि जानक्या दक्षिणे चरणे स्थिता ॥ यानि चिह्नानि रामस्य चरणे दक्षिणे स्थिता। 'तानि सर्वाणि जानक्या पादे तिष्ठंति वामके ॥' (महारामायणे)। (घ) श्रीकाष्ठजिह्वास्वामी 'सीतारामपद' का यह भाव कहते हैं कि 'रामोपासक पुरुषके, सीताउपासक प्रकृतिके और श्रीसीतारामोपासक अखण्ड ब्रह्मके उपासक हैं। क्योंकि जैसे ब्रह्म न स्त्री है न पुरुष, किंतु अनिर्वचनीय है, वैसे ही 'सीताराम' के मिलनेसे यह मूर्ति न स्त्री है न पुरुष, किंतु अकथ ब्रह्मरूप है। इस प्रकार सगुणमें निर्गुण सुख भी सुलभ हुआ जानिए'। 'राम मूल सिय तिलक मूल, को दोउनका सानि सकै। जोई देव सोई है देवी यह रहस्य को जानि सकै'। (रा० प० प०)

नोट—५ जब 'सीताराम' अभिन्न हैं और श्रीरामनामकी वन्दनासे श्रीसीतानामकी वन्दना हो गई। इसी तरह यदि श्रीसीतानाममें श्रीरामनामकी वन्दना हो जाती है तो 'सीता' नामकीही वन्दना क्यों नहीं की? समाधान यह किया जाता है कि—(क) श्रीरामावतार प्रथम हुआ। वशिष्ठजीने नामकरण किया। इस तरह रघुवर 'राम' का प्राकट्य प्रथम हुआ। श्रीसीताजीका प्रादुर्भाव छः सात वर्ष पीछे हुआ। इस तरह माधुर्यमें पहले 'राम' रूप और नाम देखनेसुननेमें आए तब 'सीता' रूप और नाम। कवि वन्दना 'रघुवर राम नाम' की कर रहे हैं इसलिये शंकाकी बात नहीं रह जाती। यदि श्रीसीताजी प्रथम प्रकट हुई होतीं, तो सीता नामसे वन्दना उचित होती। (ख) दोनों नामोंमें पतिपत्नी संबंध, शक्तिमान्‌शक्तिसम्बन्ध होनेसेभी पतिकी वन्दना सशक्तिवन्दना समझी जाती है। (ग) उच्चारण की सुलभताभी रामनाममें है। रामनाम निर्गुणसगुण दोनोंका बोधक है। (घ) योगियोंकोभी 'राम' नामही सुलभ होता है। (ङ) महारानीजीकी प्रसन्नताभी इसी नामके प्रचारमें होगी। वे स्वयं भी जीवको उसीका उपदेश करती हैं।

नोट—६ 'परम प्रिय खिन्न' इति। 'खिन्न' (क्षीण)=दीन, दुबला, आर्त्त। यहाँ अन्नवस्त्रादिसे हीन गरीब नहीं हैं, किंतु नाना भोग त्यागकर शरीरका निर्वाह मात्र करके दीनतापूर्वक जो प्रभुकी शरण हैं और जिन्हें प्रभुको छोड़ और किसी साधनका आशा भरोसा नहीं रह गया है वेही दीन हैं। दीन, यथा, 'करमठ कठमलिया कहै ज्ञानी ज्ञान विहीन। तुलसी त्रिपथ विहाइगो रामद्वारे दीन' (दो. ६६)। दीन परमप्रिय हैं, यथा, 'यह दरबार दीनको आदर रीति सदा चलि आई।' (वि. ११६), 'दास तुलसी दीन पर एक राम ही की प्रीति'। (वि. २१६), 'मोटो दसकंध सो न दूबरो विभीषण सो बूझि परी रावरें की प्रम पराधीनता (क. उ.)। पुनः 'परम प्रिय खिन्न' कहकर सूचित किया है कि—(क) प्रिय तो सभी हैं परन्तु जो दीनतापूर्वक शरणमें आते हैं वे परम प्रिय हैं। (वैजनाथजी)। (ख) जब आर्तजनभी परम प्रिय हैं तो ज्ञानी आदि भक्तोंका तो कहना ही क्या? (मा० त० वि०)

श्रीसीतारामधामरूपपरिकर वंदना प्रकरण समाप्त हुआ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

श्रीरामनामवन्दना प्रकरण

वंदौं नाम राम रघुवर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को। १।

शब्दार्थ—कृशानु=अग्नि। भानु=सूर्य। हिमकर=चन्द्रमा।

अर्थ—मैं रघुवरके 'राम' नामकी वंदना करता हूँ जो अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका कारण है। १।

नोट—श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम नित्य सच्चिदानंदविग्रह चतुष्टयमेंसे चरित गान करनेके लिये धाम और रूपकी वन्दना कर चुके अब नामकी वन्दना करते हैं। वन्दनामेंही रामनामका अर्थ, महिमा, गुण आदि कहकर नामका स्मरणकर चरित कहेंगे। यथा, 'सुमिरि सो नाम राम गुन गाथा। करउँ नाइ रघुनाथहि माथा। १. २८।'

२ वैजनाथजीका मत है कि रामनामका अर्थ आगे कहना है, परन्तु नामार्थकथनका सामर्थ्य वेदोंमेंभी नहीं है ऐसा शिवजीका वचन है। यथा, 'वेदाः सर्वेतथाशास्त्रं मुनयोनिर्जरर्षभाः। नाम्नःप्रभावमत्युग्रं ते न जानन्ति सुव्रते ॥....ईशद्ददामि नामार्थं देवि तस्यानुकंपया ॥ महारामायणे ५२। ३, ४।' शिवजी श्रीराम (रूप) की कृपासे कुछ कहते हैं। उनको रूपकी दया प्राप्त है पर हम ऐसोंको वह कहां प्राप्त? नामकी दया नीच ऊँच सबको सुलभ है, इस लिए गोस्वामीजी नामकीही वन्दना करके, नामके दयाबलसे रामनामका अर्थ कहते हैं, अतः 'वंदौ नाम' कहा।

३ 'वंदौं नाम राम····' इति। (क) 'नाम राम' यही पाठ १६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ० को. राम, आदिकी पोथियोंमें है। करुणासिंधुजी, बाबा हरिहरप्रसाद, पं० रामवल्लभाशरणजी, रामायणी श्रीरामबालकदासजी आदि इसीको शुद्ध मानते हैं। कुछ छपी हुई पुस्तकोंमें 'रामनाम' पाठ है। पर किस प्राचीन पोथीसे यह पाठ लिया गया है, इसका पता नहीं। प्राचीनतम पाठ 'नाम राम' है। श्रीमद्गोस्वामीजीने इसमें यह विलक्षणता रक्खी है कि यह रामनामवन्दनाप्रकरण है और इसमें आगे चलकर वे 'रामनाम' को 'ब्रह्म राम' अर्थात् नामीसे बड़ा कहेंगे; इस विचारसे आदिमें ही 'नाम' शब्द प्रथम देकर नामको नामीसे बड़ा कहनेका बीज यहीं बो दिया है। (श्री १०८ रामशरणजी, मौनीबाबा, रामघाट)। ना॰ प्र. सभाका पाठ 'राम नाम' है। (ख) 'नाम राम रघुवर को' इति। किस नामकी वन्दना करते हैं? 'राम' नामकी। पर 'राम' शब्दमें तो अतिव्याप्ति है। यह न जान पड़ा कि किस 'राम' के नामकी वन्दना है। 'राम' से रमणाद्राम, परशुराम, रघुकुलमें अवतीर्ण 'राम', यदुकुलवाले बलराम और किसी किसीके मतसे शालग्रामका भी बोध होता है। मेदिनीकोशमें भी कई राम कहे गए हैं। यथा, 'रामा योषा हिंगुलिन्योः क्लीवं वास्तु ककुष्ठयोः। ना राघवे च वरुणे रैणुकेये हलायुधे। मेदिनी।' पद्मपुराण उत्तरखंड २२६।४० में भी तीन राम 'राम' शब्दसे ही कहे गए हैं। यथा, 'मत्स्यः कूर्मोवराहश्च नारसिंहश्च वामनः। रामो रामश्च रामश्च कृष्णः कल्की च ते दश। ४१।' ज्योतिष, पिंगल और अन्य स्थलोंमें जहाँ संख्याका दिग्दर्शन किया जाता है वहाँ 'राम' से 'तीन' का अर्थ व्यवहारमें आता है। यद्यपि कोशमें 'राम' शब्द अनेक व्यक्तियोंका बोधक कहा गया है तथापि 'राम' शब्द तीनही व्यक्तियोंके साथ विशेष प्रसिद्ध होनेसे लोग उसकी संख्या तीन मानते हैं। मानस और भागवतमें भी तीनका प्रमाण है। परशुराम और बलरामको भी 'राम' कहा गया है। यथा, 'बार बार मुनि बिप्र बर कहा राम सन राम। १. २८२।' इसमें प्रथम 'राम' रघुवर रामका और दूसरा 'राम' परशुरामका बोधक है। इसीसे तो परशुरामजीने कहा भी है कि 'करु परितोषु मोर संग्रामा। नाहिं त छाँड़ु कहाउब रामा। १. २८१।' पुनः, यथा भागवते, 'रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम् ॥ भा. १० अ. ३९।१३ (गोपियोंने सुना कि अक्रूर राम और कृष्णको

मथुरा ले जानेके लिये ब्रजमें आये हैं), 'तावेव ददृशेऽक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ ॥ भा. १०, ३९. ४१ ।' (जलमें जप करते करते अक्रूरने राम कृष्ण दोनों भाइयोंको वहीं अपने पास देखा)। इत्यादि। यहाँ 'राम' शब्द 'बलराम' जीके लिये आये हैं। अन्तर्यामी रूपसे जो सबमें रमते हैं वे भी 'राम' कहलाते हैं। कबीरपंथी, सत्यनामी, आदि कहते हैं कि उनका 'राम' सबसे न्यारा है, वह दशरथका बेटा नहीं है। शालग्राममें भी श्रीरामजीके स्वरूप होते हैं जो कुछ विशिष्ट चिह्नोंसे पहचाने जाते हैं। अतएव 'रघुवर' विशेषण देकर श्रीदशरथात्मज रघुकुलभूषण श्रीरामजीके 'राम' नामकी वन्दना सूचित की और इनको इन सबोंसे पृथक् किया। (ग) मयककारका मत है कि रघुवर=रघु (जीव)+वर (पति)=जीवोंके पति। अर्थात् मुक्त जीवके (एवं चराचरमात्रके जीवोंके) पति (स्वामी) जो श्रीरामजी हैं (यथा, 'ब्रह्म तू हौं जीव हौं तू ठाकुर हौं चेरो' इति विनये) उनके 'राम' नामकी वंदना करता हूँ। (घ) 'राम' से ऐश्वर्य और 'रघुवर' से माधुर्य जताकर दोनोंको एक जनाया। वैजनाथजी लिखते हैं कि 'परब्रह्म' श्रीरामचन्द्रजीने अपना ऐश्वर्य त्यागकर 'रघुवर' रूप हो अपना सौलभ्य गुण दिखाया। इससे 'रामरघुवर कहकर वन्दना की।' (ङ) श्रीभरद्वाजमुनिके प्रश्नसे गोस्वामीजीने श्रीरामचरित प्रारंभ किया है। उन्होंने तथा श्रीपार्वतीजीने यह प्रश्न किया है कि 'ये राम कौन हैं?' यथा, 'राम नाम कर अमित प्रभावा।...एक राम अवधेसकुमारा।...प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि। १. ४६।', 'राम सो अवधनृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥ १. १०८।' श्रीगोस्वामीजीने इसका उत्तर और अपना मत 'रघुवर' शब्दसे सूचित कर दिया है।

गौड़जी—'वंदउँ नाम राम रघुवर को। हेतु कृसानु भानु हिमकर को।' रामनाम रघुवर को। रामनामकी वन्दना आरम्भ करनेमें विशेषतया 'रघुवर' का नाम क्यों कहते हैं? 'राम' नाम तो अनादि है। रामावतार होनेके अनेक युग पहले प्रह्लाद और ध्रुवने इसी नामको जपकर सिद्धि पायी। शङ्कर भगवान् अनादिकालसे यही नाम जपते आये हैं। वसिष्ठजीने तो दशरथके पुत्रोंके पुराने नाम रख दिये। राम तो भार्गव जामदग्नेयका भी नाम था। यहाँ जिस रामनामकी वन्दना करते हैं वह कौनसा नाम है? परशुधरका नाम तो हो नहीं सकता। प्रह्लाद, ध्रुव आदि द्वारा जपे गये नामकी वन्दना अवश्य है, जैसा कि आगे चलकर कहा है,—'नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत सिरोमनि भे प्रहलादू। ध्रुव सगलानि जपेउ हरिनाऊँ। पायेउ अचल अनूपम ठाऊँ।' परन्तु वह रामनाम तो परात्पर परतम ब्रह्मका है और वही ध्रुव, प्रह्लादने जपा है। तो यहाँ 'रघुवर को' रामनाम कहकर मानसकार यह दिखाना चाहते हैं कि रघुवरके रामनाम और परात्पर परतमके रामनाममें कोई अन्तर नहीं है, दोनों एक ही हैं।

अभी तो वह शङ्का कि 'प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि' उठी ही नहीं है, फिर यहाँ 'रघुवर' शब्दकी विशिष्टताका क्या प्रयोजन है? इसी प्रश्नके उत्तरमें मानसकी रचनाका रहस्य छिपा हुआ है। मानस तो त्रिकालके लिये कल्याणकारी है फिर मानसकारको उसके अपने ही कालमें प्रकट करनेका भी कोई विशेष प्रयोजन था? इस प्रश्नका उत्तर मानसकारकी परिस्थितिका इतिहास देता है। मानसकारने अठहत्तर वर्षकी अवस्थामें मानसका लिखना आरम्भ किया। इस अठहत्तर वर्षकी अवधिमें उसने क्या क्या देखा? मुसलमानोंके लोदी पठानोंकी पराजय, बाबरकी विजय, हुमायूँका भागना, शेरशाहसूर और उसके वंशजोंका विभव और पराभव, फिर अकबरका राज्य, उसकी विजय, उसका दीर्घकालीन शासन। जौनपुरकी मुसलमानी सल्तनतका पतन। एक मुसलमानी राजवंशका विनाश और दूसरेका उत्थान। तीन सौ बरसोंसे जड़ जमाये हुए मुसलमानी मत और संस्कृतिका प्रचार। मुसलमानोंके प्रभावसे हिन्दूधर्मकी विचलित दशा और उसकी रक्षाके लिये अनेक सम्प्रदायोंका खड़ा होना। मुसलमानका भक्तिवाद विलक्षण था। वह अव्यक्तकी उपासना करता था, निराकार सगुण ब्रह्मको मानता था। वह देवताओंका पूजक न था और

न भगवान्‌का अवतार मानता था। हिन्दू अपने धर्मका प्रचारक न था परन्तु मुसलमान प्रचारके पीछे हाथ धोकर पड़ा था। उसका सीधासादा धर्म था परन्तु उसके समर्थनमें बल और वैभव दोनों थे, तलवार और दौलत दोनों थीं। उससे हिन्दूजनताकी रक्षा करनेके लिये अनेक पन्थसम्प्रदाय आदि चल पड़े। वैष्णव-सम्प्रदायोंने अवतारवाद, सगुणवाद, मूर्तिपूजा आदिपर प्रतिक्रियात्मक जोर दिया और मुसलमानोंसे अलग ही रहनेका प्रयत्न किया। कबीर और नानकके निर्गुणवादमें मुसलमानोंको मिलानेकी कोशिश की गयी। अवतारवाद, मूर्तिपूजा, वर्णाश्रमधर्म और साकार ब्रह्मका कहीं कहीं खण्डन किया गया और कहीं इन बातोंका निश्चित अपकर्ष दिखाया गया। कबीरपन्थकी यह मुख्य बातें थीं। गोस्वामीजीको कमसे कम कबीरपन्थके मन्तव्योंके साथ अधिक सङ्घर्ष हुआ होगा, क्योंकि इस पन्थका उद्गम भी काशीही नगरी थी। कबीरने परतम परात्पर ब्रह्मका नाम 'राम' माना और उसके जपका उपदेश करते रहे, परन्तु 'रघुवर' का नाम उसे नहीं मानते थे। यह बात गोस्वामीजीको अवश्य खली होगी। उनकी साखी है, 'दशरथ कुल अवतरि नहिं आया। नहिं लंकाके राव सताया॥' जिस परमात्माका नाम राम है वह दशरथके घर कभी नहीं जन्मा। ☞रामचरितमानसमें रामनामकी वन्दनामें इसीका खण्डन आरम्भसे है। 'रघुवर' के रामनामकी वन्दना करते हुए परात्परके रामनामसे उसकी एकता दिखायी है और रामावतारसे उसकी महिमाकी तुलना की है।

नोट—४ परमेश्वरके तो अनन्त नाम हैं, उनमेंसे श्रीरामनामकी ही वन्दनाका क्या हेतु है? उत्तर—(क) प्रभुके अनन्त नाम हैं पर 'राम' नाम सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। यथा, 'परमेश्वर नामानि सन्त्यनेकानि पार्वति। परन्तु रामनामेदं सर्वेषामुत्तमम् महारामायणे ५०। १५।'; 'अनन्ता भगवन्मंत्रा नानेनतु समाःकृताः। श्रियो रमण सामर्थ्यात् सौन्दर्य गुणसागरात्॥ श्रीराम इति नामेदं तस्य विष्णोः प्रकीर्त्तितम्। रमणान्नित्ययुक्तत्वाद्राम इत्यभिधीयते॥' (हारीतस्मृतौ चतुर्थोऽध्यायः)। अर्थात् परमेश्वरके अनेक नाम हैं परन्तु रामनाम सर्वोत्तम है। पुनः भगवान्‌के अनन्त मंत्र हैं पर व सब इस 'राम' नामके तुल्य नहीं हैं। श्रीजीके रमणका सामर्थ्य तथा सौन्दर्यगुणसागर होनेसे श्रीराम यह प्रसिद्ध नाम है। सब को नित्य आनन्द देते हैं इसी लिये उनको 'राम' कहा जाता है। पुनः, पद्मपुराणमें शिवजीका वाक्य है कि 'राम' यह नाम विष्णुके सहस्रों नामके तुल्य है, समस्त वेदों और समस्त मंत्रोंके जपसे कोटि गुणा पुण्यका लाभ श्रीरामनामके जपसे होता है। यथा, 'जपतः सर्ववेदांश्च सर्वमन्त्रांश्च पार्वति। तस्मात्कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते॥ (पद्मपुराणे)। पुनः जिस तरह 'श्रीमन्नारायणके पर्यायवाची 'विष्णु' के अनेक सहस्र नामोंके तुल्य या उनसे अधिक श्रीरामनामका होना पाया जाता है, उसी तरह श्रीराम-नामके बराबर या अधिक श्रीमन्नारायणादिका माहात्म्य किसी श्रुति या स्मृतिमें नहीं पाया जाता। (बाबा श्रीहरिदासाचार्यजी)। पुनश्च 'श्रीरामनाम नमो ह्येतत् तारकं ब्रह्मनामकम्। नाम्नां विष्णोः सहस्राणां तुल्यं एव महामनुः॥' (हारीत); 'रामरामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्रनामतत्तुल्यं रामनाम वरानने।' (प. पु. उ. २५४। २२)।

(ख) जितने अन्य मंत्र हैं, वे सब देवताओंके प्रकाशसे प्रकाशित हैं। जैसे गायत्रीमें सूर्यका प्रकाश है, शाबरमंत्रमें श्रीशिवजीका और इसी भाँति किसीमें अग्निका, किसीमें चन्द्रमाका प्रकाश है। परन्तु श्रीरामनाम स्वतः प्रकाशित हैं और सूर्य, अग्नि, चन्द्र आदि सभी देवताओंको अपने प्रकाशसे प्रकाशित किये हुये हैं। यथा, 'सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई। १. ११७।' (पं० रामकुमारजी), 'स्वभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते।' (रा. पू. ता. २। १), 'रेफारूढा मूर्त्तयः स्युः शक्तयस्तिस्रएवच' (रा. ता. २। ३), 'रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे (जाबालो. १)। इन श्रुतियोंमें 'राम' नामको स्वयम्भू (अपने आप प्रकट होनेवाले, किसी दूसरेसे जायमान् नहीं), ज्योतिर्मय, प्रणव आदि अनन्तरूप धारण करनेवाला अर्थात्

प्रणवादिका कारण और रेफके आश्रित संपूर्ण भगवद्रूपों एवं श्री, भू और लीलादि भगवच्छक्तियों का होना कहकर संपूर्ण मंत्रोंका प्रकाशक और रुद्रद्वारा उपदिष्ट होना कहा गया है।

(ग) श्रीरामनाम सब नामोंके आत्मा और प्रकाशक हैं। यथा 'नारायणादि नामानि कीर्त्तितानि बहून्यपि। आत्मा तेषांच सर्वेषां रामनाम प्रकाशकः॥' (महारामायण ५२।४०)। आत्माकी वन्दना करनेसे सारे शरीरको प्रणाम हो चुका। मयङ्ककार लिखते हैं कि ऐसा करनेसे सबको शीघ्र सन्तुष्ट किया।

(घ) श्रीरामनाममें जो रेफ, रेफकी अकार, दीर्घाकार, हल मकार और मकारकी अकार ये पंच पदार्थ हैं इनके बिना एकभी मंत्र, ऋचा वा सूत्र नहीं बनते हैं। (मा. प्र.)। वेदोंमें व्याकरणोंमें जितनेभी वर्ण, स्वर, शब्द हैं वे सब 'राम' नामसे ही उत्पन्न होते हैं। यथा, 'वेदे व्याकरणे चैव ये च वर्णाः स्वराः स्मृताः। रामनाम्नैव ते सर्वे जाता नैवात्र संशयः।' (महारामायणे ५२।६७)

(ङ) श्रीरामनामके अतिरिक्त जितनेभी नाम परमेश्वरके हैं वे सब गुणक्रियात्मक हैं। अर्थात् वे सब गुण दर्शित करनेवाले नाम हैं। जैसे कि—(१) 'व्यापकोऽपि हियो नित्यं सर्वस्मिश्च चराचरे। विष प्रवेशनेधातोर्विष्णुरित्यभिधीयते। ६०।' (महारा. ५२)। इस प्रमाणके अनुसार संपूर्ण चराचरमें नित्यही व्यापक होनेसे 'विष्णु' नाम है। 'विष प्रवेशने' धातुसे 'स्नु' प्रत्यय लगनेसे विष्णु शब्द निष्पन्न होता है। पुनः, (२) नरपदवाच्य परब्रह्मने प्रथम जल उत्पन्न किया इससे जलका नाम 'नार' हुआ। फिर 'नार' में 'अयन' बनाकर रहनेसे उसी परमेश्वरका नाम 'नारायण' (जलमें है स्थान जिसका) हुआ। 'नृ नये' धातुसे नर शब्द निष्पन्न होता है। जीवोंके शुभाशुभ कर्मानुसार भोगका यथार्थ न्याय करनेसे परमात्माका नाम 'नर' है। यथा, 'नरतीति नरः प्रोक्ता परमात्मा सनातनः' (मनुः), 'आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनुवः। अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥ मनु. १.१०।' 'नारास्वप्सु गृहं यस्य तेन नारायणः स्मृतः।' (महारा० ५२।८८), 'नराज्जातानि तत्वानि नाराणीत विदुर्बुधाः। तस्य तन्ययन पूर्वं तेन नारायणः स्मृतः॥' (महाभारत)। यही बात श्रीमन्नारायणावतार भगवान् श्रीकृष्णजीने स्वीकार की है। यथा, 'सृष्टा नारं तोयमन्तः स्थितोऽहं तेन मे नाम नारायणः।' (महाभारत), पुनश्च 'महार्णवेशयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजी जनः।' (वाल्मी० ७।१०४।४), यह ब्रह्माजीका वाक्य है। वे कहते हैं कि महार्णवमें शयन करते समय आप (श्रीरामजी) ने मुझको उत्पन्न किया। अथवा, 'जीवनाराश्रयो योऽस्ति तेन नारायणोऽपि च॥', (महारा. ५२।८८) इस प्रमाणानुसार 'नार'=जीव, अयन=आश्रय। जीवसमूहका आश्रय अर्थात् अंतर्यामीरूपसे धारण होनेसे 'नारायण' नाम है। पुनः, (३) 'कृषिर्भूवाचकश्चैवणश्च निर्वृत्तिवाचकः। तयोरैक्यं महाविष्णे कृष्ण इत्यभिधीयते।' (महारा. ५२।९१) इस प्रमाणानुसार 'कृष' अवयव भूवाचक अर्थात् सत्ताबोधक है और 'ण' अवयव निवृत्तिवाचक है अर्थात् आनंदबोधक है। ये दोनों अवयव एक होनेपर उनसे कृष्ण शब्द निष्पन्न होता है। अर्थात् सत्तासम्पादक होनेसे कृष्ण नाम है। पुनः, (४) 'सर्वे वसन्ति वैयस्मिन्सर्वस्मिन् वसतेऽपि वा। तमाहुर्वासुदेवञ्च योगिनस्तत्त्वदर्शिनः॥' (महारा. ८९) इसके अनुसार सम्पूर्ण विश्वका निवास परमेश्वरमें होनेसे अथवा सम्पूर्ण विश्वमें वास होनेसे तत्त्वदर्शी योगी उनको 'वासुदेव' कहते हैं। पुनः, (५) 'कथ्यते स हरिर्नित्यं भक्तानांक्लेशनाशनः' (महारा. ५२।९२) के अनुसार भक्तोंके क्लेश हरण करनेसे 'हरि' नाम है। पुनः, (६) वायुवद्गगनेपूर्णं जगतां हि प्रवर्त्तते। सर्वं पूर्णं निराकारं निर्गुणं ब्रह्म उच्यते।' (महारा. ५२।९३)। इस प्रमाणसे पूरे आकाशमें जैसे वायु वैसेही सम्पूर्ण जगत्में वर्त्तते हुएभी सर्वपूर्ण, निराकार और निर्गुण (अर्थात् सबके गुणोंसे अलग) होनेसे 'ब्रह्म' नाम है। पुनः, (७) 'भरणं पोषणं चैव विश्वम्भर इति स्मृतः' अर्थात् विश्वका भरणपोषण करनेसे 'विश्वम्भर' नाम है। (महारा. ५२।९२)। पुनः, (८) 'यस्यानन्तानि रूपाणि यस्य चान्तं न विद्यते। श्रुतयो यं न जानन्ति सोप्यनन्तोऽभिधीयते। ९४।' के

प्रमाणसे प्रभुके रूप, गुणादि अनंत होनेसे, उनका अन्त किसीके न पा सकनेसे, श्रुति भी उनको सांगोपांग नहीं जान सकती इत्यादि कारणोंसे 'अनंत' नाम है। पुनः, (९) 'यो विराजस्तनुर्नित्यं विश्वरूपमयोच्यते।' (महा. रा. ५२।९५) अर्थात् विराट् विश्व उनका शरीर होनेसे 'विश्वरूप' कहे जाते हैं। (१०) इसी प्रकार चौंसठों कलाएँ उनमें स्थिर होनेसे 'कलानिधि' नाम है। इत्यादि। सब नाम गुणार्थक हैं।

महारामायणमें शिवजी कहते हैं कि समस्त नामोंके वर्ण रामनाममय हैं अर्थात् रामशब्दजन्य हैं, अतएव रमु क्रीडा जनक 'राम' शब्द सब नामोंके ईश्वर हैं। यथा, 'रामनाममया सर्वे नामवर्णा प्रकीर्त्तिता। अतएव रमु क्रीडा नाम्नामीशः प्रवर्त्तते। ५२।१०२।'

☞ भगवान्के सभी नाम सच्चिदानंदरूप हैं। तथापि 'राम' नाममें और अन्य नामोंसे कुछ विशेषता है। वह यह कि श्रीरामनामके तीनों पदों 'र, अ, म' में सच्चिदानन्दका अभिप्राय स्पष्ट झलकता है। श्रीरामनाममें सच्चिदानन्दका अर्थ सत्य ही ज्योंका त्यों है, अन्य नामोंमें यथार्थतः 'सच्चिदानन्द' का अर्थ घटित नहीं होता। किसीमें 'सत् और आनन्द' मुख्य हैं, चित् गौण है; किसीमें 'सत् चित्' मुख्य हैं, आनन्द गौण है और किसीमें चित् आनन्द मुख्य हैं, सत् गौण है। प्रमाण—'सच्चिदानन्दरूपैश्च त्रिभिरेभिः पृथक् पृथक् ॥ ९७ ॥ वर्तते रामनामेदं सत्यं दृष्ट्वा महेश्वरि ॥ नामान्येतान्यनेकानि मया प्रोक्तानि पार्वति ॥ ९८ ॥ कस्मिंश्चिन्मुख्य आनन्दः सत्यंच गौणमुच्यते। कस्मिंश्चित् चित्सतौ मुख्यौ गौणं चानंदमुच्यते। ९९।' (महारामायणे ५२)। श्रीरामनामके तीन पदोंमें सत् चित् आनन्द तीनोंके अर्थका प्रमाण। यथा 'चिद्वाचको रकारस्यात्सद्वाच्योकार उच्यते। मकारानन्दवाची स्यात्सच्चिदानन्दमव्ययम् ॥' (महारामायणे), अर्थात् रकार चित्का, अकार सत्का और मकार आनन्दका वाचक है, इस प्रकार 'राम' यह नाम सच्चिदानन्दमय है (५२।५३)। नाम नामीका तादात्म्य होनेसे रा. पू. ता. उप. की श्रुति, 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥ १. ६ ॥' भी प्रमाण है; क्योंकि 'राम' पदका अर्थ ही यह श्रुति है।

(च) अन्तकालमें कोई शब्द जिसके अन्तमें 'राम' हो, उच्चारण करनेसे तुरंत मुक्ति होनेके प्रमाण अनेक मिलते हैं। 'हराम', 'चराम', 'तराम' आदि कहके लोग मुक्त हुए। इस प्रकारके नामाभासमात्रके प्रतापसे मुक्ति भगवान्के अन्य किसी नाममें नहीं सुनी जाती। 'नारायण' नामसे अजामिल यमदूतके बंधनसे छूट गए, ज्ञानोदय हो गया, उसके पश्चात् तप आदिमें प्रवृत्त होनेपर उसकी मुक्ति हुई।

(छ) 'राम' नामका एक एक अक्षर भी कोई कोई जपते हैं। उसके एक एक अक्षरका भारी महत्व है। रम् रम्, राम राम आदि तो व्याकरणसे शुद्ध ही हैं, इनके जपनेकी कौन कहे उलटे नामकी महिमा 'मरा मरा' जपनेके महत्वसे वाल्मीकिजी ब्रह्मसमान हो गए। ऐसा उदाहरण किसी अन्य भगवन्नाममें सुना नहीं जाता। किसी अन्य नामके समस्त वर्णोंकी पृथक् पृथक् ऐसी महिमा नहीं गाई गई है जैसी श्रीरामनामके प्रत्येक वर्ण ही नहीं बल्कि प्रत्येक कला और निर्वर्ण अक्षरोंकी।

(ज) प्रणव ॐ वेदोंका तत्त्व कहा गया है परन्तु अथर्व शिरस्की 'य इदमथर्वशिरो ब्राह्मणोऽधीते... स प्रणवानामयुतं जपं भवति' (उ० ३।७) यह श्रुति कहती है कि जिस ब्राह्मणने अथर्वशिरस् उपनिषत्का अध्ययन किया, वह दस हजार प्रणव जप चुका। इस श्रुतिके अनुसार प्रणवका महत्व अथर्व शिरस्से न्यून है। परन्तु राममंत्रके लिये ऐसा न्यूनत्वद्योतक कोई वाक्य किसी श्रुतिमें नहीं मिलता। अपितु 'य एवं मंत्रराजं श्रीरामचन्द्र षडक्षरं नित्यमधीते।......तेनेतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जप्तानि सफलानि भवन्ति···प्रणवानामयुतकोटि जप्ता भवन्ति।' (रा. उ. ता.)। अर्थात् जो कोई श्रीराम षडक्षर मंत्रराजका नित्य

जप करता है वह करोड़ों बार इतिहास, पुराण और रुद्रपरक (अथर्व शिरस्) उपनिषदोंका अध्ययन कर चुका....वह दस हजार करोड़ प्रणवका जप कर चुका। इस श्रुतिमें स्पष्टरूपसे राममंत्रकी सर्वोत्कृष्टता बताई गई है।

(क) प्रणवमें शूद्रोंका अधिकार न होनेसे प्रणव उन सबोंको अलभ्य है। प्रणव उन्हें कृतार्थ नहीं कर सकता। अतः इतने अंशमें प्रणवकी उत्कृष्टताका व्यर्थ होना सबको स्वीकार करना पड़ेगा। और प्रणवका कारणभूत रामनाम काशीमें मरनेवाले जन्तुमात्रको मोक्ष देता है अतः प्राणीमात्रका इसमें अधिकार होनेसे यह सौलभ्यगुणमें भी सर्वश्रेष्ठ है।

(ख) श्रीवशिष्ठजीने यह कहते हुए भी कि इनके अनेक नाम हैं फिरभी 'राम' ही नाम विचारकर रक्खा। यथा, 'करि पूजा भूपति अस भाषा। धरिय नाम जो मुनि गुनि राखा॥ इन्ह के नाम अनेक अनूपा। मैं नृप कहब स्वमति अनुरूपा। १.१९७।' इससे निस्संदेह निश्चय है कि प्रभुके सब नामोंमें यही श्रेष्ठ नाम है। नारदजी, शिवजी इत्यादि मुनियों और देवताओंका भी यही सिद्धान्त है। यथा, 'जद्यपि प्रभुके नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका॥ राम सकल नामन्ह ते अधिका।...राका रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम। अपर नाम उडुगन बिमल बसहु भगत उर व्योम॥' (आ० ४२)। महारामायणमें शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि जैसे देवताओंमें इन्द्र, मनुष्योंमें राजा, अखिल लोकोंके मध्य गोलोक, समस्त नदियोंमें श्रीसरयूजी, कविवृन्दोंमें अनंत, भक्तोंमें श्रीहनुमान्‌जी, शक्तियोंमें श्रीजानकीजी, अवतारोंमें मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामजी, पर्वतोंमें सुमेरु, जलाशयोंमें सागर, गौओंमें कामधेनु, धनुर्धारियोंमें कामदेव, पक्षियोंमें गरुड़, तीर्थोंमें पुष्कर, धर्मोंमें अहिंसा, साधुत्वप्रतिपादनमें दया, क्षमावालोंमें पृथ्वी, मणियोंमें कौस्तुभ, धनुषोंमें शार्ङ्ग, खड्गोंमें नन्दक, ज्ञानोंमें ब्रह्मज्ञान, भक्तिमें प्रेमाभक्ति, मंत्रसमूहमें प्रणव, वृक्षोंमें कल्पवृक्ष, सप्तपुरियोंमें अयोध्यापुरी, वेदविहित कर्मोंमें भगवत्सम्बन्धी कर्म, स्वरसंज्ञक वर्णोंमें अकार श्रेष्ठ है; वैसे ही भगवान्‌के समस्त नामोंमें श्रीरामनाम परम श्रेष्ठ है—'निर्जराणां यथा शक्रो नराणां भूपतिर्यथा।' से 'किमत्र बहुनोक्तेन सम्यग्भगवतः प्रिये। नाम्नामेव च सर्वेषां रामनाम परं महत्॥' (५२।७७ से ८५ तक)। देवर्षि नारदजीने श्रीरामनामके सर्वश्रेष्ठ होनेका वरदान ही माँग लिया; अतएव सर्वश्रेष्ठ जानकर इसीकी वन्दना की।

(ट) यही नाम श्रीमहादेवजी एवं श्रीहनुमान्‌जीका सर्वस्व और जीवन है; ब्रह्मादिक देवताओंकी कौन कहे श्रीनारायणादि अवतार भी इस नामको जपते हैं, श्रीकृष्ण भगवान्‌ने अर्जुनजीसे श्रीरामनामके महत्त्वको विस्तारसे वर्णन करते हुए यही कहा है कि हम श्रीरामनाम जापकके फलको नहीं कह सकते, हम उनको भजते और प्रणाम करते हैं। यथा, 'राम स्मरण मात्रेण प्राणान्मुञ्चन्ति ये नराः। फलं तेषां न पश्यामि भजामि तांश्च पार्थिव॥', 'गायन्ति रामनामानि सततं ये जना भुवि। नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यः पुनः पुनः' इत्यादि वचन कहकर अर्जुनजीको श्रीरामनाम जपनेका उपदेश दिया और पुनः यह भी कहा कि हम भी 'राम' नाम जपते हैं। यथा, 'तस्मान्नमानि कौंतेय भजस्व दृढ़चेतसा। रामनाम सदा युक्तास्ते मे प्रियतमाः सदा॥', 'राम नामं सदा प्रेम्णा संस्मरामि जगद्गुरुम्। क्षणं न विस्मृतिं याति सत्यं सत्यं वचो मम॥' (आदि पुराणे। 'श्रीसीतारामनाम प्रताप प्रकाश' से उद्धृत)। श्रीकृष्ण भगवान्‌के श्रीमुखवचनसे भी और अधिक प्रमाण श्रीरामनामके सर्वोपर होनेका क्या हो सकता है! श्रीरामचन्द्रजीका भी वचनामृत इस नामके महत्त्वपर है। यथा, 'मम गुनग्राम नाम रत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥' (उ० ४६)। वक्ता 'राम' हैं।

(ठ) सौलभ्य, उदारता, दयालुतादि गुण जैसे इस नामके स्वरूपमें प्रकट हुए वैसे किसी और अवतारमें नहीं हुए। यथा, 'हरिहु और अवतार आपने राखी वेद बड़ाई' (विनय १६३)।

(ङ) और अवतार जिस कारणसे हुए वह कार्य करके शीघ्र ही लुप्त हो गए पर 'राम' रूपमें कार्य करके फिर भी हजारों वर्ष पृथ्वी पर रहकर प्रभुने जगत्को कृतार्थ किया, चक्रवर्ती महाराजा होकर सबकी मर्यादा रखते हुए जगत्का पालन किया।

(ढ) दाशरथी श्रीरामजी ही ग्रंथकारके उपास्यदेव हैं, अतः श्रीरामनामकी वन्दना स्वाभाविक ही उन्होंने की और उनका दृढ़ विश्वास है कि यही नाम सर्वश्रेष्ठ है।

(ण) आगे नौ दोहोंमें सब रामनामकी विशेषता ही है।

☞ यह नामवन्दनाप्रकरण है। इसमें रामनामकी महिमा नौ दोहोंमें गाई गई है। जब किसीकी श्रेष्ठता दर्शानी होती है तो अवश्य प्रसंगवश कुछ दूसरोंकी न्यूनता कथनमें आही जाती है। पर वह किसी बुरे भावसे नहीं होती। भगवान्के सभी नाम, सभी रूप सच्चिदानन्दरूप हैं, सभी चित्तके प्रकाशक हैं, सभी श्रेष्ठ हैं। अतः न्यूनाधिक्य वर्णनसे अन्य नामोंके उपासक मनमें कोई द्वेषभाव न समझें।

नोट—श्रीरामनामवन्दनाप्रकरण यहाँसे उठाकर कविने प्रथम तो नामकी वन्दना की। अब आगे नौ दोहोंमें नामके स्वरूप, अंग और फल कहेंगे। इस लिये इस प्रथम दोहेमें सूक्ष्म रीतिसे इन तीनोंको कहकर फिर आठ दोहोंमें इन्हींको विस्तारपूर्वक कहेंगे। 'हेतु कृसानु.....' यह नामका स्वरूप है।

'हेतुकृसानु भानु हिमकर को' इति। 'हेतु' के प्रधान दो अर्थ हैं, कारण (आदिकारण) और बीज। यथा, 'हेतुर्ना कारणं बीजं निदानं त्वादिकारणम्' अमरकोश (१।४।२८)। मानसपरिचारिकाकारके मतानुसार भूतकारण और बीजकारण, विशेषकारण और सामान्यकारण, ये कारणके भेद हैं। कारणके दो भेद निमित्त और उपादान भी हैं। जैसे, कुम्हार निमित्त है और मिट्टीके बरतनोंका उपादान कारण मिट्टी है क्योंकि मिट्टी स्वयं कार्यरूपमें परिणत हो जाती है। इनके अतिरिक्त साधारण वा सहाय कारण भी कोई कोई मानते हैं जैसे कुम्हारका चाक, डंडा, जल आदि।

श्रीरामनामको अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाका हेतु कहकर यह जनाया है कि इन तीनोंके कारण श्रीरामनाम हैं और ये तीनों कार्य हैं।

प्रथम चरण (पूर्वार्ध) में श्रीरामनामकी वन्दना करके उत्तरार्धमें इस महामंत्रका अर्थ कहते हैं। 'हेतु कृसानु भानु...' इत्यादि 'राम' नामका अर्थ वा गुण है। श्रीरामनामको कृशानु आदिका हेतु कहकर जनाया कि—(क) अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा ये तीनों तेजस्वी हैं। संसारमें परम ज्योतिमान् ये ही तीन हैं। इनके हेतु श्रीरामनाम हैं अर्थात् श्रीरामनामके तेजसे ही ये तीनों तेजस्वी हुए। नामके एक एक अक्षरसे इन्होंने तेज पाया है, संपूर्ण नामका तेज किसीमें नहीं है। (पं० रामकुमारजी)। श्रुतियोंने कहा है। 'अथ यदतः परोदिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः, पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वा वतयदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः। (छां. ३।१३।७) अर्थात् लोकपरलोक उभय विभूतिमें जो कुछ भी ज्योति है (कहीं भी जो कोई ज्योतिष्मान हैं) उन सबकी ज्योतिके कारण श्रीरामजी हैं। इसी तरह इस चौपाईमें इनका हेतु कहकर श्रीरामनामको परब्रह्म कहा। (वे. भू. रा. कु.)।

(ख) कारणसे कार्यकी उत्पत्ति होती है। 'राम' नामसे इनकी उत्पत्ति है। यथा, 'चन्द्रमा मनसोजातश्चक्षोः सूर्योऽजायत। मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।' (यजुर्वेदे पुरुषसूक्त), 'नयन दिवाकर कच घनमाला।... आनन अनल.... ॥ अहंकार सिव बुद्धि अज मन ससि चित्त महान्। ६. १५।' (पं० रामकुमारजी)

(नोट—नाम नामीमें अभेद वा तत्वकारणके विचारसे ये प्रमाण दिये गए हैं)।

(ग) बीजकारण कहनेका भाव यह है कि 'राम' नामके तीनों अक्षर (र, अ, म) क्रमशः इन तीनोंके

बीजाक्षर हैं। 'र' अग्निबीज है, 'अ' भानुबीज है और 'म' चंद्रबीज है। यथा, 'रकारोऽनलबीजं स्याद्येे सर्वे वाडवादयः। कृत्वा मनोमलं सर्वं भस्म कर्म शुभाशुभम्॥ अकारो भानुबीजं स्याद्वेदशास्त्र प्रकाशकम्। नाशयत्येव सद्दीप्त्या याऽविद्या हृदये तमः॥ नकारश्चन्द्रबीजञ्च पीयूषपरिपूर्णकम्। त्रितापं हरते नित्यं शीतलत्वं करोति च॥' (महारामायण ५२। ६२, ६३, ६४) अर्थात् 'र' अग्निबीज है। जैसे अग्नि शुभाशुभ वस्तुओंको जलाकर भस्म कर देता है और कुल वस्तुओंका मल तथा दोष जलाकर उनको शुद्ध बना देता है, वैसे ही 'र' के उच्चारणसे भी दो कार्य यहाँ कहे, एक यह कि उसके उच्चारणसे शुभाशुभकर्म नष्ट होते हैं जिसका फल स्वर्गनरकका अभाव है, दूसरे यह कि मनके मल विषयवासनाओंका नाश हो जाता है, स्वस्वरूप झलक पड़ता है। यहाँ कार्यसे कारणमें विशेषता दिखाई। अग्निसे जो कार्य नहीं हो सकता वह भी उसके बीजसे हो जाता है। 'अ' भानुबीज है, वेदशास्त्रोंका प्रकाशक है। जैसे सूर्य अंधकारको दूर करता है, वैसे ही 'अ' से हृदयमें मोह आदि जो अविद्यातम है, उसका नाश (होकर ज्ञानका प्रकाश) होता है। 'म' चन्द्रबीज है, अमृतसे परिपूर्ण है। जैसे चन्द्रमा शरदातपको हरता है, शीतल करता है वैसे ही 'म' से (भक्ति उत्पन्न होती है जिससे) त्रिताप दूर होते हैं, हृदयमें शीतलतारूपी तृप्ति प्राप्त होती है। जो गुण इस श्लोकमें कहे गए हैं उनसे यह सारांश निकलता है कि 'र', 'अ', 'म' क्रमशः वैराग्य, ज्ञान और भक्तिके उत्पादक हैं। प्रमाण यथा, 'रकार हेतुर्वैराग्यं परमं यच्च कथ्यते। अकारो ज्ञानहेतुश्च मकारो भक्तिहेतुकम्॥' (महारामायण)। इस प्रकार इस चौपाईका तात्पर्य यह है कि मनोमल तथा शुभाशुभकर्मोंका भस्म होना, वैराग्य, वेदशास्त्रादिमें प्रवेश, अज्ञाननाश, ज्ञानप्राप्ति, भक्ति तथा त्रितापशांति इत्यादि सब श्रीरामनामसे ही प्राप्त हो जाते हैं। अतः इन सब वस्तुओंकी चाह रखनेवालोंको श्रीरामनामका जप करना चाहिये। श्रीमद्गोस्वामीजीने 'राम' नाममें अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाकी क्रियाओं और गुणोंका लक्ष्य इस ग्रन्थमें भी दिया है। अग्निका गुण, यथा, 'जासु नाम पावक अघ तूला' (२. २४८)। सूर्यका गुण, यथा, 'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा' (१. ११६)। चन्द्रमाका गुण, यथा, 'राका रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम (३. ४२)। (रा. प्र., पां., मा. प्र., वै., करु.)

(घ) अग्निका प्रकाश दोनों संध्याओंमें, सूर्यका प्रकाश दिनमें और चन्द्रमाका प्रकाश रात्रिमें होता है (एकएक अक्षरके प्रतापसे) और रामनामका प्रकाश सदा रहता है। यह भाव तीनों बीजोंसे जनाया। (रा. प.)। ऊपर (ग), (घ) से यह निष्कर्ष निकला कि 'राम' नामके एकएक अक्षर भी इन तीनोंसे विशेष हैं, तब पूरे 'राम' नामकी महिमा क्या कही जाय? पुनः ये तीनों केवल सांसारिक सुख देते हैं और 'राम' नामके वर्ण इहलोक और परलोक दोनों बना देते हैं। वैराग्य, ज्ञान और भक्ति देनेकी शक्ति कार्यमें नहीं है।

(ङ) पं० श्रीकांतशरणजीने 'हेतु कृसानु···' पर एक भाव यह लिखा है कि "श्रीरामनाम अग्नि, आदि तीनोंका कारण है, मूल है और जिह्वापर इन्हीं तीनोंका निवास भी है। यथा, 'जिह्वामूलेस्थितोदेवः सर्वतेजोमयोऽनलः। तदग्र भास्करश्चन्द्रस्तालुमध्ये प्रतिष्ठितः॥' (योगी याज्ञवल्क्यः)। अतः जिह्वासे इन तीनों वर्णात्मक श्रीरामनामके जपनेसे अपनेअपने मूलकी प्रकाशप्राप्तिसे अग्नि, सूर्य और चन्द्रमा द्वारा होनेवाले उपर्युक्त वैराग्य, ज्ञान और भक्तिका पूर्ण विकास होता है तब वैराग्यद्वारा अन्तःकरणशुद्धिसे कर्मदोष ज्ञानद्वारा गुणातीत होनेसे गुणदोष और भक्तिद्वारा कालदोष निवृत्त होता है।"

रेखांकित अंशपर यह शंका होती है कि 'क्या सामान्य अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाके द्वारा वैराग्य, ज्ञान और भक्ति उत्पन्न होती है?' जिस प्रमाण 'रकारहेतुर्वैराग्यं···' के आधारपर यह कहा जा रहा है उसके अनुसार तो 'र, अ, म' ही वैराग्यादिके उत्पादक हैं, न कि अग्नि आदि। यदि अग्नि आदि वैराग्यादिके कारण नहीं हैं, तब और जो कुछ इसके आधारपर लिखा गया, वह सब विचारणीय ही है। हाँ! योगी याज्ञवल्क्यके

वचनके आधारपर एक भाव यह हो सकता है कि जिह्वापर जब कि इन देवताओंकी स्थिति है तब अन्य नामोंकी अपेक्षा ये तीनों देवता अपने बीजरूपी इस नामके उच्चारणमें अवश्य ही साहाय्य होंगे। योगी याज्ञवल्क्य नामकी दो तीन पुस्तकें हमारे देखनेमें आईं । उनमें यह श्लोक नहीं है।

(च) 'राम' नामको बीजकारण कहनेपर यह शंका हो सकती है कि "जैसे बीज वृक्षको उत्पन्न करके वृक्षमें लीन हो जाता है, मूसाकर्णी बूटी आदि तांबेको सोना करके उसीमें लीन हो जाती हैं, मिट्टी घट बनाकर तद्रूप हो जाती है। बीजकी अलग सत्ता नहीं रह जाती, वह कार्यमें लीन हो जाता है। इसी तरह 'र', 'अ', 'म' कृशानु आदिको उत्पन्न करके उसीमें लीन हो गए, तब 'राम' नामकी वन्दना कैसे होगी, उसकी तो अलग सत्ता ही नहीं रह गई ? वन्दना तो अब होनी चाहिए 'कृशानु भानु हिमकर' की ?" तो इसका समाधान यह है कि कारण भी दो प्रकारका है, एक विशेष, दूसरा सामान्य। सामान्य कारण कार्यमें लीन हो जाता है, जैसे बीज वृक्षको उत्पन्न कर उसीमें लीन हो जाता है, इत्यादि। विशेष कारण अनेक कार्य उत्पन्न करके भी अपने कार्योंसे सर्वथा अलग एवं पूर्ण ज्यों का त्यों बना रहता है, जैसे पारस अनेकों लोहोंको सोना बनाकर फिर भी ज्योंका त्यों बना रहता है; मातापिता अनेकों संतानें उत्पन्न कर उनसे सर्वथा पृथक् रहते हैं; इत्यादि। इसी प्रकार श्रीरामनाम विशेष कारण हैं, अनेकों अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदिकी क्या, अनन्त ब्रह्माण्डोंको उत्पन्न करके भी स्वयं ज्योंके त्यों पूर्ण एवं सर्वथा अलग बने रहते हैं। (करुणासिंधुजी, मा. प्र.)। अथवा कारणके दो भेद हैं—निमित्त कारण और उपादान कारण। श्रीरामनाम निमित्त कारण हैं। जैसे कुम्हार मृतिकाके अनेक पात्र बनाकर उनसे अलग रहता है, उसकी सत्ता ज्योंकी त्यों बनी हुई है, वैसे ही श्रीरामनामको समझिए।

(छ) भूतकारण कहनेका भाव यह है कि 'राम' नामके अक्षर 'र, अ, म' जो कृशानु आदिके बीज अक्षर हैं यदि उनमेंसे निकाल डाले जायँ तो ये निरर्थक हो जायँगे। अर्थात् कृशानुमेंसे 'रकार' जो बीजरूपसे उसके भीतर है, भानुमेंसे 'अकार' और हिमकरमेंसे 'मकार' निकाल लें तो 'कशानु', 'भनु' और 'हिकर' रह जाते हैं। भाव यह कि जैसे र, अ, म के बिना कृशानु आदिका शुद्धोच्चारण नहीं हो सकता वैसे ही 'र' के बिना अग्निमें दाहकशक्ति, 'अ' बिना भानुमें प्रकाशकी शक्ति और 'म' बिना हिमकरमें त्रितापहरणकी शक्ति नहीं रह सकती। तीनोंमें यह शक्ति रामनामसे ही है। (मा. प्र., रा. प्र., पां., रा. बा. दा.)।❀

नोट—२ श्रीरामनामको संसारके परम तेजस्वी, परम हितकारी आदि इन तीनों वस्तुओंका कारण कहकर 'नाम' की शक्ति और महत्त्वका किंचित् परिचय दिया है। कार्यके द्वारा कारणका गुण दिखाया है। तीनों कार्योंका बल कैसा है सो सुनिये। अग्निका बल, यथा, 'काह न पावकु जारि सक। २।४७।' सूर्यका बल, यथा, 'उयेउ भानु बिनु श्रम तम नासा। १. २३९।' चन्द्रमाका बल, यथा, 'सरदातप निसि ससि अपहरई। ४.१७।' पुनः, अग्नि आदि तीनों जगत्‌का पोषण करते हैं। अग्नि भोजनको पकाता, जठराग्नि भोजन पचाकर शरीरको पुष्ट करता, शीतसे बचाता, यज्ञादि द्वारा देवोंका पालन करता है, इत्यादि। सूर्य तमनिवारण द्वारा संसारकी रक्षा, कर्मकांडमात्रकी रक्षा, जलशोषण एवं मेघद्वारा संसारको जल देकर अन्न, औषध आदि उपजाकर

❀ मा. प्र. कारने 'हेतु' का एक अर्थ 'प्रिय' भी लेकर उत्तरार्धका अर्थ यह किया है कि 'हिमकर' (= जो हिम अर्थात् जाड़ाको करे = अगहन पौष मास) को अग्नि और सूर्य बहुत प्रिय हैं वैसे ही अहं मम रूप अगहन पौषमें जड़तारूपी जाड़ा लग रहा है उसमें रामनामरूपी कृशानु भानु जड़ता हरण करता है अतः प्रिय है।

प्राणीमात्रका पोषण करता है, अनेक रोगोंका नाश करता है, इत्यादि। चन्द्रमा अमियमय किरणोंसे औष-धियों आदिको पुष्ट और कामके योग्य बनाता है, शरदातप हरता है, इत्यादि। सूर्य और चन्द्रके विना जगत्का पोषण असंभव है। यथा, 'जग हित हेतु विमल विधु पूषन। १. २०।' अस्तु। जब कार्यमें ऐसे गुण हैं कि विना इनके सृष्टिमें जीवन असंभव है तब तो फिर कारणका प्रताप न जाने कितना होगा!

३ इनका कारण कहकर रामनामको सूर्यसे अनंतगुणा तेजस्वी, चन्द्रमासे अनंतगुणा अमृतस्रावी एवं तापहारक और अग्निसमान सबको अत्यन्त सुलभ जनाया। पुनः यह भी सूचित किया कि कृशानु आदि तीनों-का व्रत, तीनोंकी उपासना एक साथ ही केवल रामनामकी उपासनासे पूरी हो जाती है। रामनामोच्चारणसे ही इन सबोंकी सेवापूजाका फल प्राप्त हो जाता है। अतः इसीमें लग जाना उचित है।

४ बाबा जानकीदासजी यह प्रश्न उठाकर कि "रामनामकी, इतना बड़ा विशेषण देकर, वन्दना करनेमें क्या हेतु है?" इसका उत्तर यह देते हैं कि—(क) गोस्वामीजी तुरत शुद्धि चाहते हैं पर तुरत शुद्धि न तो ज्ञान, वैराग्य, योगसे और न भक्तिसे हो सकती है और विना शुद्धि श्रीरामचरित गान करना असंभव है। तब उन्होंने विचार किया कि रामनामके कार्य अग्नि आदिमें जब इतने गुण हैं तब स्वयं रामनाममें न जाने कितना गुण और महत्व होगा। रामनाम हमारे शुभाशुभ कर्मोंको जलाकर हमारे मन और मतिको रामचरित गाने योग्य तुरत बना देगा। यह सोचकर उन्होंने 'राम' नामकी इन विशेषणोंद्वारा वन्दना की। इसपर यह शंका होती है कि 'यह काम तो 'र' से ही हो जाता है, 'अ', 'म' की वन्दनाका प्रयोजन ही क्या रह गया?' समाधान यह है कि अग्निमें थोड़ा प्रकाश होता है। 'र' से शुभाशुभकर्म भस्म हुए, स्वस्वरूप, परस्वरूप झलक पड़ा, उसे भले ही ध्यान किया करें पर रामचरित विना पूर्ण प्रकाशके नहीं सूझ पड़ता। भानुबीज 'अ' से अविद्यारूपी रात्रि हटेगी तब वेदशास्त्रका यथार्थ तत्व देख पड़ेगा तब रामचरित (जो श्रुतिसिद्धान्तका निचोड़ है)। अग्नि और वैराग्यकी एक क्रिया है। 'र' वैराग्यका कारण है। सूर्य और ज्ञानकी एक क्रिया है। 'अ' ज्ञानका कारण है। जैसे अग्नि और सूर्यमें उष्णता है वैसे ही वैराग्य और ज्ञानमें 'अहंता' रूपी उष्णता है। अहंकार रहेगा तब चरित कैसे सूझेगा? अहंकारको भक्ति शान्त कर देती है। चंद्र और भक्तिका एकसा कर्म है। 'म' भक्तिका कारण है। अतः 'र, अ, म' तीनोंकी वन्दना की। इसपर पुनः शंका होती है कि चन्द्रमाके प्रकाशमें तो सूर्यका अभाव है वैसे ही 'म' के उदयमें 'अ' का अभाव होगा? नहीं, दृष्टान्तका एक देशही लिया जायगा। पुनः, जैसे चन्द्रमणिको अग्नि वा सूर्यके सामने रखनेसे प्रकाश तो वैसाही घना रहता है पर उष्णता हरण हो जाती है। वैसे ही 'र, अ, म' कारण और वैराग्य, ज्ञान, भक्ति एक साथ घने रहते हैं। अथवा, (ख), यद्यपि 'रकार' की ही वन्दनासे शुभाशुभकर्म भस्म हो गए तथापि रामभक्त पूरा नाम ही जपते हैं जिससे पराभक्तिको प्राप्त कर सामीप्य पाते हैं। प्रमाण यथा, 'रकारो योगिनां ध्येयो गच्छन्ति परमं पदम्। अकारो ज्ञानिनां ध्येयस्ते सर्वे मोक्षरूपिणः। पूर्णं नाम मुदा दासा ध्यायेन्त्यचल मानसाः। प्राप्नुवन्ति परां भक्तिं श्रीरामस्य समीपकम्। (महारामायणे ५२।६९-७०)।

बिधिहरिहरमय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुननिधान सो। २।

शब्दार्थ—अगुन (अगुण)=मायिक गुणोंसे रहित।=सत्व, रज, तम तीनों गुणोंसे परे। अनूपम= उपमा रहित, जिसकी कोई उपमा है ही नहीं। गुननिधान=भक्तवात्सल्य, कृपा, शरणागतपालकत्व, करुणा, कारणरहितकृपालुता आदि दिव्य गुणोंके खजाना या समुद्र। सो=वह।=सदृश, समान।

नोट—इस अर्धालीके अर्थ कई प्रकारसे होते हैं।

अर्थ—१ वह (श्रीरामनाम) विधिहरिहरमय हैं, वेदोंके प्राण हैं, मायिक गुणोंसे परे, उपमारहित और दिव्य गुणोंके निधान हैं । २ ।

अर्थ—२ 'वह श्रीरामनाम विधिहरिहरमय वेदके भी प्राण हैं ।' (श्रीरूपकलाजी)

अर्थ—३ 'श्रीरामनाम वेदप्राण (ओंकार) के समान ही विधिहरिहरमय हैं और तीनों गुणोंसे परे, (अर्थात् मायासे परे) हैं और अनुपम गुणोंके खज़ाना हैं ।' (लाला भगवानदीनजी) ।

अर्थ—४ श्रीरामनाम विधिहरिहरमय हैं, वेदप्राण (प्रणव) के समान हैं....(पं० रामकुमारजी) ।

अर्थ—५ (उत्तरार्धका अर्थ पं० शिवलालपाठकजी यह करते हैं) 'अगुण (ब्रह्म), अनुपम (जीव) और गुणनिधान (माया) तद्रूप है ।'

नोट—'विधि हरिहरमय' इति । 'मय' तद्धितका एक प्रत्यय है जो तद्रूप, विकार और प्राचुर्य अर्थमें शब्दोंके साथ लगाया जाता है । उदाहरण—(१) तद्रूप—'सियाराममय सब जग जानी' । (२) विकार—'अमिय मूरिमय चूरन चारू' । (३) प्राचुर्य— मुदमंगलमय संत समाजू । (श० सा०)

श्रीगोस्वामीजीने श्रीरामनामके सम्बन्धमें 'मय' पद दोहावलीमें भी दिया है । यथा, 'यथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास । रामनाम सब धरममय जानत तुलसीदास' (दोहा २९) । इस दोहेको 'मय' के अर्थके लिये प्रमाण मानकर 'विधिहरिहरमय' का आशय यह होता है कि—(१) श्रीरामनाम ही मानों विधिहरिहर-रूप हैं कि जिनसे सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहार होता है, श्रीरामनामहीसे त्रिदेवमें यह शक्तियाँ हैं (जैसे बीज बिना पृथ्वीके वृक्ष अन्न इत्यादि उत्पन्न नहीं कर सकती) । प्रमाण यथा, 'रामनाम प्रभावेण स्वायंभूः सृजते जगत् । बिभर्ति सकलं विष्णुः शिवः संहरते पुनः' (महाशंभु संहितायां) । (२) जैसे आकाशमें अगणित तारागण स्थित हैं ; कितने हैं कोई जान नहीं सकता ; वैसे ही रामनाम में अगणित ब्रह्मांड एवं अगणित ब्रह्माविष्णुशिव स्थित हैं, श्रीरामनामके अंशहीसे सब उत्पन्न होते हैं मानो श्रीरामनाम इन सबोंसे परिपूर्ण हैं । यथा, 'रामनामांशतो याता ब्रह्मांडाः कोटि कोटिशः । (पद्मपुराणे) । 'राम' नामके केवल 'र' से त्रिदेवकी उत्पत्ति है । यथा, 'रकाराज्जायते ब्रह्मा, रकाराज्जायते हरिः । रकाराज्जायते शंभू रकारात्सर्वशक्तयः । (इति पुलह-संहितायाम्) । 'अबला बिलोकहिं पुरुषमय जगु पुरुष सब अबलामयम् । १. ८५ ।' में भी 'मय' इसी (अर्थात् परिपूर्णके) भावमें आया है । पं० रामकुमारजी भी लिखते हैं कि 'रामनाम ही ब्रह्मांडकी उत्पत्तिपालनसंहारके लिये ब्रह्माविष्णुमहेशको उत्पन्न करते हैं । इस प्रकार नाम हीसे समस्त ब्रह्माण्डके व्यवहार होते हैं ।' (३) जैसे रामनाम जपनेसे सब धर्म और धर्मफल प्राप्त होते हैं, वैसे ही विधिहरिहरकी सेवासे जो फल प्राप्त होते हैं, वे केवल श्रीरामनामहीके जपसे प्राप्त हो जाते हैं और त्रिदेव भी स्वयं जापकके पास आ प्राप्त होते हैं, जैसे श्रीमनुशतरूपाजीने नामसुमिरन हीसे तप प्रारम्भ किया, तो त्रिदेव बारंबार उनके पास आये कि वर माँगो । पुनः, (४) करुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'मय' दो प्रकारका होता है, एक तादात्मक, दूसरा बाहुल्यमय, (जिसे 'मानस परिचारिका' में प्रचुरात्मक कहा है) । गुण और स्वरूपकी जब एकता होती है तब उसे तादात्मक कहते हैं । जैसे, सेना मनुष्यमय है, गाँव घरमय है, पट सूत्रमय है, लवण क्षारमय है, घट मृत्तिकामय है, कंठा स्वर्णमय है, इत्यादि । जब गुण और स्वरूप भिन्न होते हैं तब बाहुल्यमय वा प्रचुरात्मक कहते हैं जैसे मणि द्रव्य-अन्न-गजवाजिवस्त्रादिमय है । यथा, 'असन बसन पशु वस्तु बिबिध बिधि सब मणि महँ रह जैसे' (विनय १२४) । अर्थात् मणि बहुमूल्य होनेके कारण उससे द्रव्य अन्नादिक प्राप्त हो सकते हैं मानों ये सब वस्तुएँ मणिमें स्थित हैं ; पण्डित विद्यामय, सन्त दिव्यगुणमय इत्यादि । जब विधि-हरिहर गुणोंसे परे शुद्धरूप हैं तब श्रीरामनाम विधिहरिहरतदात्मकमय हैं, और जब गुणोंको धारण करके

सृष्टि रचते हैं सब प्रचुरात्मकमय हैं। 'रामनाम' में अनेक ब्रह्माण्ड हैं, प्रति ब्रह्माण्डमें विधिहरिहरहर हैं। इस लिए मणिद्रव्यादिमयके अनुसार श्रीरामनामको 'विधिहरिहर' बाहुल्यमय कहा। (५) पं० रामकुमारजी 'विधिहरिहरमय' के भावपर यह श्लोक देते हैं—'रुद्रोऽग्निरुच्यते रेफो विष्णुः सोमो न उच्यते। तयोर्मध्ये गतो ब्रह्मा आकारो रविरुच्यते॥ १॥ स्वरामेऽनिले वह्नौ रश्च रुद्रे प्रकीर्त्तितः। आकारस्तु पितामहः मश्च विष्णौ प्रकीर्त्तितः। इत्येकाक्षरः। २।' अर्थात् रुद्र और अग्नि रेफसे, विष्णु और सोम मकारसे और ब्रह्मा तथा सूर्य मध्यके आकारसे उत्पन्न होते हैं। १। रकारसे राम, पवन, अग्नि और रुद्रका ग्रहण होता है। आकारसे पितामह (ब्रह्मा) और मकारसे विष्णुका ग्रहण होता है।

नोट—१ त्रिदेव त्रिगुणसे उत्पन्न हैं और तीनों गुण धारण किये हैं। रामनाम विधिहरिहरमय हैं। इससे यह शंका होती है कि 'रामनाम' भी त्रिगुणमय हैं। इसी लिए उत्तरार्धमें कहते हैं कि ये अगुण हैं, सबके कारण होते हुए भी सबसे पृथक् हैं, तीनों गुणोंसे परे हैं। (पं० रा० कु०)

'वेदप्रान सो' इति। (१) प्राण=सार, तत्व, आत्मा। श्रीरामनाम वेदके सार, तत्व, आत्मा हैं। यथा, 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन पुरान श्रुति सारा। १. १०।' 'धरे नाम गुरु हृदय विचारी। वेद तत्व नृप तव सुत चारी। १. १९८।' 'त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कारस्त्वमोङ्कारः परात्परः', 'सहस्र शृंगो वेदात्मा शतशीर्षो महर्षभः', 'संस्कारास्त्वभवन्वेदा नेतदस्ति त्वया विना'। (वाल्मीकीय युद्धकाण्डे सर्ग ११९ श्लोक १८, १९, २५। चतुर्वेदीके संस्करणमें यह सर्ग १२० है)।

(२) करुणासिंधुजी 'रामनाम' को 'वेदप्राण' कहनेका भाव यह कहते हैं कि 'जैसे शरीरमें प्राण न रहनेसे शरीर बेकार हो जाता है, वैसे ही वेदकी कोई ऋचा, सूत्र, मंत्रादिकी स्थिति विना रामनामके पञ्च-पदार्थ (रेफ, रेफका आकार, दीर्घाकार, हल् मकार, मकारका अकार) के हो ही नहीं सकती; क्योंकि सब स्वर वर्णादि श्रीरामनामहीसे उत्पन्न हुए हैं, यथा, 'वेदे व्याकरणे चैव ये च वर्णाः स्वराः स्मृताः। रामनाम्नैव ते सर्वे जाता नैवात्र संशयः' (महारामायणे)।

(३) पुनः, यों भी कहते हैं कि प्रणव (ओम्) वेदका प्राण है और ओम् श्रीरामनामके अंशसे सिद्ध होता है। यथा, 'रामनाम्नः समुत्पन्नः प्रणवो मोक्षदायकः। रूपं तत्त्वमसेश्चासौ वेदतत्त्वाधिकारिणः'॥ अतएव रामनाम वेदके प्राण हुए। श्रीरामतापिनीका 'जीवत्वेनेदमों यस्य' इस श्रुतिमें प्रणवकी उत्पत्ति वह्निबीजसे स्पष्टतः पाई जाती है। जैसे अग्निसे तपाये हुए पत्थरसे लोहेकी उत्पत्ति होती है वैसे ही वह्निबीजद्वारा व्याहृ-तियों (भूर्भुवः स्वः) से प्रणवका आविष्कार होनेसे प्रणव इनका कार्य सिद्ध हो गया। (रा. ता. भाष्य)

नोट—२ 'श्रीरामनाम' षट पदार्थ (र, रकारका अकार, आ, म्, मकारका अकार, नाद) युक्त हैं, इनसे व्याकरणकी रीतिसे प्रणव सिद्ध होता है, संस्कृत व्याकरणके जाननेवाले प्रमाणसे समझ सकते हैं। प्रमाण यथा, 'रामनाम महाविद्या षड्भिर्वस्तुभिरावृतम्। ब्रह्मजीव महानादैस्त्रिभिरन्यद्वदामि ते। २९। स्वरेण बिन्दुना चैव दिव्यया माययापिच। पृथक्त्वेन विभागेन सांप्रतं शृणु पार्वति। ३०। परब्रह्म मयोरेफो जीवोकारश्चमस्य यः। रस्याकारो महानादो रायादीर्घ स्वरात्मिका। ३१। मकारो व्यंजनं बिंदुः हेतुः प्रणव माययोः अर्द्ध भागादुकारः स्यादकारान्नाद रूपिणः॥ ३२॥ रकारोगुरु राकारस्तथा वर्ण विपर्ययः। मकारं व्यञ्जनंचैव प्रणवश्चाभिधीयते॥ ३३॥ मस्या सवर्णितं मत्वा प्रणवे नाद रूपधृक्। अन्तर्भूतो भवेद्रेफः प्रणवे सिद्धि रूपिणी॥ ३४। (महारामायणे श्रीशिववाक्यं)

वै. भू.—वैयाकरणिक नियमसे 'वर्णागमो वर्णविपर्ययश्च द्वौ चापरौ वर्णविकारनाशौ' अर्थात् आगम, विपर्यय (निर्देश), विकार और नाश (लोप) ये चार क्रियायें वर्णोंकी होती हैं। महर्षि पाणिनिने इसी लिए 'उणादयो बहुलम्। ३। ३। १' सूत्र लिखा है। इससे 'संज्ञा सु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे। कार्याद्विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु।' अर्थात नामोंमें अनुकूल धातु, उसके आगेके प्रत्यय आदि और उसके आगम,

लोप आदि कार्यके अनुरूप किये जाते हैं। कणादिका यह शास्त्र है। इन नियमोंके कारण 'राम' शब्दसे 'ओम्' की निष्पत्तिके लिये जब 'राम' शब्दका वर्णच्छेद किया जायगा तो उसकी स्थिति होगी र् अ अ म् अ। इसके वर्ण विपर्यय कर देनेसे अ अ र् अ म् यह स्थिति होगी। 'अतोरोरप्लुतादप्लुते। ६। १। ११३' इस सूत्रसे 'र्' का 'उ' विकार होगा। और 'अकः सवर्णे दीर्घः। ६। १। १०१।' इस सूत्रसे 'उकार' के प्रथमके दोनों 'अकार' का दीर्घ 'आ' होकर 'आद्गुणः। ६। १। ८७।' इस सूत्रसे 'आ' और 'उ' दोनोंका विकार 'ओ' होकर 'एङःपदान्तादति। ५। १। १०९।' सूत्रसे अवशिष्ट 'अ' का पूर्वरूप नाश होकर 'ओम्' निष्पन्न होगा। स्मरण रहे कि जिस प्रकार वैयाकरण शास्त्रके द्वारा 'राम' से 'ओम्' उपपन्न होता है उस तरह 'ओम्' से 'राम' बननेकी कोई भी विधि वैयाकरण नहीं प्रकट करता।

पं० शिवलाल पाठकजी कहते हैं कि 'प्रणव रामनामकी पंचकलाके संयोगसे बना है क्योंकि प्रणवमें तारक, दण्डक, कुण्डल, अर्द्धचन्द्र और बिन्दु ये पाँच कलायें हैं और 'राम' में रेफ भी है। यथा, 'बंदउँ श्री दोऊ बरण तुलसी जीवनमूर। लसे रसे एक एक के तार तार दोउ पूर॥ रवि आसा जो अतल से सो त्रयतारक राज। तुलसी दच्छिण दण्ड ह्वै बायें कुण्डल भ्राज॥ अर्ध चन्द्र ताके परे अमीकुण्ड पर पार। सत सूत्र ए शर ब्रह्म ए तुलसी जीवनसार।' इति श्रीरामनाम कलाकोषमणिमयूष। (मा० म०)'

पं० श्रीकान्तशरणजी 'राम' से 'ओम्' की सिद्धिके प्रकार यह देते हैं:—(१) 'जैसे 'राम' इस पदमें 'र, अ, अ, म्, अ' ये पाँच अक्षर हैं, उनमें वर्णविपर्यय करनेपर 'अ, र, अ, म्, अ' होता है, उसमें 'अतोरो-रप्लुतादप्लुते' (पा. ६. १. ११३), इस सूत्रसे 'र' का 'उ' हुआ और आद्गुणः' (पा. ६. १. ८७) सूत्रसे 'अ, उ' के स्थानमें 'ओ' हुआ, और 'एङः पदान्तादति' (पा. ६. १. १०९) से द्वितीय 'अ' का पूर्व रूप और अन्तिम 'अ' का पृषोदरादित्व से वर्णनाश होकर 'ओम्' बनता है।

(२) अथवा 'राम' शब्दकी प्रकृतिभूत 'रम्' धातुमें वर्णविपर्यय मानकर पूर्वोक्त 'अतोरो...' से 'र' से 'उत्व' और उपर्युक्त 'आद्गुणः' से 'ओत्व' करनेपर 'ओम्' बनता है।'

उपर्युक्त दूसरे प्रकार (अर्थात् रम् धातुसे ओम्की उत्पत्ति सिद्ध करने) में लाघवसा जान पड़ता है। परन्तु यह किस प्रमाणके आधारपर लिखा गया है, यह नहीं बताया गया। महारामायणमें एवं श्रीसीताराम-नामप्रतापप्रकाशमें 'राम' नामसे प्रणवकी उत्पत्तिके प्रमाण पाये जाते हैं। इन्हीं प्रमाणोंके आधारपर (ऊपर दिये हुए चार प्रकारोंमेंसे) प्रथम, तृतीय और चतुर्थ प्रकारसे उसकी सिद्धि दिखाई गई। इस प्रमाणसे रम् धातुसे प्रणवकी सिद्धि मानना उचित नहीं है। वैयाकरणोंसे धातुके विषयमें यह मालूम हुआ है कि केवल धातु (जबतक उससे 'तिङादि' कोई प्रत्यय नहीं किया जाता) का व्यवहार कभी नहीं होता। क्योंकि यद्यपि रम्क्रीडायाम् ऐसा लिखा है तथापि जबतक उससे कोई प्रत्यय नहीं किया जाता तबतक उसका कोई अर्थ नहीं होता। अतः ऐसे वर्णसमुदायसे सार्थक प्रणवकी उत्पत्ति मानना कहाँतक उचित होगी? हाँ! यदि कोई प्रमाण मिले तो माननीय होगा।

वे. भू. प. रामकुमारदासजीके प्रकारसे पं. श्रीकान्तशरणजीके प्रकारमें कुछ भेद देखकर मुझे इन सूत्रों आदिको व्याकरणाचार्योंसे समझनेकी आवश्यकता हुई। पंडितोंके द्वारा जो मैं समझा हूँ वह यहाँ लिखता हूँ। (क) 'एङः पदांतादति' सूत्र वहीं लागू होता है जहाँ पदान्तमें 'ए' या 'ओ' होते हैं। प्रथम प्रकारमें केवल एक 'अ' और 'र' का परिवर्तन हुआ है। यद्यपि दो 'अ' के परिवर्तनकी अपेक्षा इसमें लाघवसा जान पड़ता है परन्तु आगे 'र' का 'उ' और गुणसे 'ओ' होजानेपर यहाँ 'एङः पदांतादति' लगाया गया है; परन्तु 'ओ' पदान्त न होनेसे यह सूत्र यहाँ नहीं लग सकता। अतः इससे 'ओम्' की सिद्धि नहीं

होगी। अतः तीसरा प्रकार इससे कुछ ठीक जान पड़ता है; क्योंकि वहाँ दो 'अ' 'र' के प्रथम परिवर्त्तित किये गये हैं; अतः वहाँ 'एङः पदान्तादति' की आवश्यकता नहीं पड़ी। (ख) 'अतोरोरप्लुतादप्लुते' सूत्रसे दोनों प्रकारोंमें 'र' व 'र्' का 'उ' किया गया है परन्तु यह सूत्र यहाँ नहीं लगता। जहाँ 'स स जु षो रुः' आदि सूत्रोंसे रु आदेश (अक्षर परिवर्तन) होता है उसी 'रु' के 'र' का 'उ' होता है। यहाँका 'र' वा 'र्' 'रु'-का नहीं है; वह तो रम् धातुका है। अतः यह सूत्र यहाँ नहीं लगता।

पं० श्रीकान्तशरणजीके प्रथम प्रकारमें एक बड़ी भारी त्रुटि यह भी है कि उसमें 'राम' नामके खण्डोंमें प्रथम खण्ड 'र' अर्थात् अकार युक्त रेफ है और उसीका विपर्यय और उत्व किया गया है। परन्तु उत्व तो केवल रेफका होता है।

नोट—३ (क) महारामायणके उपर्युक्त प्रमाणके अनुसार श्रीरामनामकी छः कलायें ये हैं। र् अ आ म् अ नाद। प्रणवकी सिद्धि करनेमें इसके अनुसार ही पाँचों खण्ड लेना प्रामाणिक होगा। यद्यपि 'राम' नाममें पूर्वाचार्योंने पाँच या छः कलायें मानी हैं तथापि 'राम' से 'ओम्' की सिद्धि करते समय यह आवश्यक नहीं है कि उसके सब खण्ड अलग अलग किये जायँ। जितने वर्ण देखनेमें आते हैं (र्, आ, म्, अ) इतने खण्डोंसे ही हमारा काम चल जाता है, अतः उतने ही खण्ड करना उचित है। ऐसा करनेसे 'र्' और 'आ' का परिवर्त्तन, 'र्' का 'उ'; फिर 'आ' 'उ' का 'ओ' और अंतिम 'अ' का लोप होनेसे 'ओम्' सिद्ध होता है। 'आद्गुणः' 'अकः सवर्णे दीर्घः' ये दो सूत्र छोड़कर अन्य प्रायः सब काम (वर्ण परिवर्त्तन, 'उ', अंतिम अ का लोप आदि) 'पृषोदरादित्व' से कर लेना चाहिए। यथा, 'रकारार्थो रामः सगुणः परमैश्वर्य जलधिर्मकारार्थो जीवस्सकल विधि कैंकर्यनिपुणः। तयोर्मध्याकारो युगलमथसंबंधमनयोरनन्यार्हं ब्रूते त्रिनिगमरूपोयमतुलः॥ इति श्रीराम-मंत्रार्थे।' इसमें 'राम' नामकी तीन ही कलाओं 'र्, आ, म्' को लेकर मंत्रार्थ किया गया है। और प्रमाण नोट २ में आ चुके हैं। (ख) 'पृषोदरादित्व' इति। पाणिनीजीका एक सूत्र है 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टं। ६। ३। १०९।' पृषोदर प्रकाराणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि स्युः। अर्थात् पृषोदर आदि शब्द जैसे शिष्ट लोगोंने कहे हैं वैसे वे ठीक हैं। तात्पर्य कि जो शब्द जिस अर्थमें प्रसिद्ध है उससे वही अर्थ सिद्ध होगा। इस सिद्धान्तको ध्यानमें रखकर पाणिनीके धातु, सूत्र आदि यथासम्भव काममें लाकर जहाँ न बनता हो वहाँ अपनी ओरसे वर्ण परिवर्त्तन, अन्य वर्ण ग्रहण, लोप आदि जो आवश्यक हो, कर लें। यथा, 'पृषत् उदर'= पृषोदर, वारिवाहक=बलाहक, हिंस धातुसे सिंह इत्यादि। (ग) श्रीरामनाममें छः कलायें महारामायणके उपर्युक्त श्लोकोंमें बताई गई हैं। और प्रणवमें भी छः कलायें श्रीरामतापनीयोपनिषद् उत्तरार्ध द्वितीय कंडिका मंत्र ३ में बताई गई हैं। इस तरह कलाओंकी संख्या भी समान है। परन्तु उपर्युक्त श्रीरामनामसे प्रणवकी सिद्धिके प्रकारोंमें केवल पाँच, चार अथवा तीन ही कलायें दिखाई गई हैं। ऐसी अवस्थामें यह शंका हो सकती है कि 'दोनोंकी कलाओंमें वैषम्य होनेसे उनके अर्थोंमें त्रुटि होनेकी संभावना है।' इसका समाधान यह हो सकता है कि प्रणवकी सिद्धिके लिये श्री 'राम' नामके जो खण्ड दिखाये गए हैं, उनमेंसे किसी-किसी खण्डमें यथासम्भव दूसरी कलाका प्रवेश समझना चाहिए। और जिस कलाका लोप दिखाया गया है यद्यपि वह सुननेमें नहीं आती है तथापि अर्थ करते समय उसका भी अर्थ किया जायगा। इस तरह कला और अर्थमें दोनोंमें समानता होती है। दूसरा समाधान यह है कि महर्षियोंने प्रणवकी भी एकसे लेकर अनेक कलायें मानी हैं। श्रीमत्स्वामि हंसस्वरूपनिर्मित 'मंत्र प्रभाकर' (मुजफ्फरपुर त्रिकुटीविलासयंत्रालयमें मुद्रित) में लिखा है कि वाष्कल्य ऋषिके अनुयायी एकमात्रा, साल और कात्यके मतावलंबी दो मात्रा, देवर्षि नारदके ढाई मात्रा, मौण्डल और माण्डूक्य आदिके तीन मात्रा और कोई साढ़े तीन, पराशरादि चार,

भगवान् वसिष्ठ साढ़े चार मात्रा मानते हैं। इत्यादि। इस प्रकार जहाँ जितनी मात्राएँ 'ओम्' की लेंगे वहाँ उतनीही 'राम' नामकी लेंगे। इस तरह भी शंका नहीं रहती।

नोट—४ पं० रामकुमारजी 'सो' का अर्थ 'सम' करते हुए लिखते हैं कि 'रामनाम प्रणव सम है, ओम् के तीन अक्षरोंसे तीन देवता हैं और रामनामसे भी। दोनों ब्रह्मरूप हैं। यथा, 'ॐ मित्यक्षरं ब्रह्म', 'तारकं ब्रह्म संज्ञकं'। प्रणवसे त्रिदेवकी उत्पत्तिका प्रमाण, यथा, 'अकार प्रणवे सत्वमुकारश्च रजोगुणः। तमो हलमकारस्यात्त्रयोऽहंकारसुद्भवः।' (महारामायणे)।

५ रामनामको 'अनूपम' कह रहे हैं और पूर्वार्द्धमें कहा है कि 'वेद प्राण' (प्रणव) सम है। यह परस्पर विरोध है। जब एक समता हो गई तो उपमारहित कैसे कह सकते हैं? लाला भगवानदीनजी इसके उत्तरमें कहते हैं कि इस अर्धालीका ठीक अर्थ 'अर्थ ३' है जो ऊपर दिया गया है। वे कहते हैं कि साहित्य रीतिसे इस अर्धालीमें उपमालङ्कार है। प्रथम चरणमें पूर्णोपमा है जिसमें 'राम' उपमेय, 'वेदप्रान' (ओऽम्) उपमान, 'सो' वाचक, और 'विधिहरिहरमय' धर्म है। 'अनूपम' शब्द 'राम' शब्दका विशेषण नहीं है, वरंच गुणनिधानमें आए हुए 'गुण' शब्दका विशेषण है। इस प्रकार भी उपर्युक्त शङ्का निर्मूल हो जाती है। (प्रोफे० दीनजी)

दोहावलीकी भूमिकामें प्रोफे० दीनजी लिखते हैं कि 'वंदउँ नाम राम' से 'कालकूट फल दीन्ह अमी को' तककी चौपाइयोंमें 'रामनाम' के श्रेष्ठतम होनेके प्रमाण उपस्थित किये हैं। इस उद्धरणकी पहली चौपाई ('वंदउँ' से 'गुणनिधान सो' तक) दार्शनिक ज्ञानवीनसे ओत-प्रोत है। 'राम' शब्दकी बहुत ही ऊँची श्रेष्ठता है। हमारे वेदोंमें 'ॐ' ही ईश्वरका नाम और रूप जो कहिए सो माना गया है और इसी ॐ में समस्त संसारकी सृष्टि प्रच्छन्न है, अर्थात् 'ॐ' शब्दपर यदि गम्भीर दृष्टिसे विचार किया जाय तो इसीके विस्तार और खंड आदिसे संसारकी समस्त वस्तुओंका प्रादुर्भाव हुआ है। सभी इसके रूपान्तर मात्र हैं। यही 'ॐ' 'राम' का या 'राम' 'ॐ' का विपर्ययमात्र है, अन्य कुछ भी नहीं। (पर, 'राम' 'ओम्' का विपर्ययमात्र है, इसमें सन्देह है। श्रीहरिदासाचार्यजीका भाष्य एवं वे० भू० पं० रा० कु० जी का लेख देखिए।) इसी विपर्ययकी सिद्धिके अनन्तर और सभी बातें स्वयं संगत और अर्थानुकूल हो जायँगी। 'ॐ' को दूसरे प्रकार 'ओम्' रूपमें लिखते हैं। यह रूप उक्त 'ॐ' का अक्षरीकृत रूप ही है। दूसरा कुछ नहीं। अब यह दर्शाना चाहिए कि 'ओम्' और 'राम' एक ही हैं, तभी 'वेदप्राण' लिखना सार्थक होगा। सन्धिके नियमानुसार 'ओम्' का 'ओ' 'अः' के विसर्गका रूप परिवर्त्तनमात्र है। इस विसर्गके दो रूप होते हैं, एक तो यह किसी अक्षरकी सान्निद्धिसे 'ो' हो जाता है और दूसरे 'र्' होता है। यदि विसर्गका रूपान्तर 'ो' न करके 'र्' किया जाय तो 'अर्म्' ही 'ओम्' का दूसरा रूप हुआ। अब इन अक्षरोंके पिवर्ययसे राम स्वतः बन जायगा। अर्म् को यदि 'र् अ म्' ढंगसे रखें और 'र्', 'म्' व्यंजनोंको स्वरान्त मानें तो 'राम' बन जाता है।* हमारे

---

* इसी प्रकार 'राम' से भी 'ॐ' सिद्ध होता है। 'राम' और 'ॐ' का परस्पर विपर्यय इस प्रकार है। (लाला भगवानदीनजीके मतसे)

राम = र् अ म	ॐ = ओं
अ र् म	अ ो म्
अ : म	अ : म
अ ो म्	अ र् म
ओं	र अ म
ॐ	राम

विचारसे उक्त चौपाईमें 'वेद प्रान सो' का यही भाव है। जब 'राम' 'ॐ' का रूपान्तर मात्र है तो फिर वह विधिहरिहरमय भी है। वेदमें ब्रह्मा, विष्णु और शिवकी उत्पत्ति 'ॐ' से ही मानी गई है और दार्शनिक इन्हें ब्रह्मका औपाधिक नाम ही मानते हैं अर्थात् ब्रह्म ही सृष्टि करते समय ब्रह्मा, पालन करते समय विष्णु और संहार करते समय शिव नामसे विहित होता है। सुतरां ब्रह्मके नामोंमें 'राम' एक मुख्य नाम हुआ।

इस शंकाका समाधान पं० रामकुमारजी यों करते हैं कि—(क) समता एकदेशीय है, वह एक देश यह है कि दोनों त्रिदेवमय हैं। सब देशोंमें प्रणव रामनामके समान नहीं है क्योंकि रामनाम भगवान्के दिव्य गुणोंके निधान सम हैं। पुनः, (ख) इस तरह भी कह सकते हैं कि त्रिदेवके उत्पन्न करनेके लिए गुणनिधान हैं और स्वयं अगुण हैं। (पं० रामकुमार)। वेदप्राणका अर्थ प्रणव न लेनेसे यह शंका ही नहीं रह जाती। प्राण=जीवन, सर्वस्व। सो=वह।

६ 'अगुन अनूपम गुननिधान सो' इति। (क) अगुण और अनूपम कहकर जनाया कि सब नामोंमें यह परम उत्तमोत्तम है। (अर्धाली १ में सर्वश्रेष्ठता दिखा आए हैं)। 'गुणनिधान' कहकर जनाया कि इसमें अनंत दिव्य गुण हैं। यह ज्ञान, विज्ञान और प्रेमापरा भक्ति आदिका रूप ही है। यथा, 'विज्ञानस्थो रकारः स्यादकारो ज्ञानरूपकः। मकारः परमाभक्ती रमु क्रीडोच्यते ततः।' इति महारामायणे। ५२। ५२)। (ख) मानस अभिप्राय दीपककार लिखते हैं कि 'अनल भानु शशि ब्रह्म हरि, हर ओंकार समेत। ब्रह्म जीव माया मनहिं भिन्न भिन्न सिख देत। ३२।' अर्थात् इस चौपाईमें श्रीरामनामको अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, त्रिदेव, प्रणव, ब्रह्म, जीव, माया इन दशोंका कारण या तद्रूप कहा है। इसका कारण यह है कि इन दशोंका उपकार मनपर है। ये दशों मनको शिक्षा देते रहते हैं। अग्नि आदि पालन पोषणमें सहायक, त्रिदेव उत्पत्ति, पालन और संहार द्वारा जीवोंका कल्यान करते, प्रणव वेदको सत्तावान् करके सृष्टिका रक्षक, निर्गुण ब्रह्म जीवके साथ रहकर इन्द्रिय आदि सबको सचेत करता और विद्या माया भक्ति मुक्तिके मार्गपर लगाती है। इनका उपकार मनपर है। श्रीरामनामकी उपासना करनेसे इन दशोंके उपकारका बदला चुक जायगा। यह शिक्षा 'कारण' कहकर दे रहे हैं।

७ कोई कोई यहाँ यह शंका करते हैं कि 'विधिहरिहर' तो सृष्टिके कर्त्ता हैं, इनको पहले कहना चाहिए था, सो न करके अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाको पहले कहा, यह क्यों? समाधान यह है कि आग, सूर्य चन्द्रमाके गुण, स्वरूप और प्रभाव सब कोई प्रत्यक्ष देखते हैं, इससे उनका हेतु कहनेसे श्रीरामनामका प्रताप शीघ्र समझमें आ जावेगा। विधिहरिहर दिखाई नहीं देते और यद्यपि ये ही जगत्के उत्पत्तिपालनसंहार-कर्ता हैं तथापि इन्हें इन सबका कर्ता न कहकर लोग मातापिताको पैदा व पालन करनेवाला, और रोगको मृत्युका कारण कहते हैं। जैसे सूक्ष्म रीतिसे विधिहरिहर उत्पन्न, पालन, संहार करते हैं वैसेही गुप्त रीतिसे ये नामके अंग हैं, अतएव पीछे कहा।

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू। ३।

अर्थ—रामनाम महामंत्र है जिसे श्रीशिवजी जपते हैं और जिसका उपदेश काशीमें मुक्तिका कारण है। ३।

नोट—१ इस चौपाईमें ग्रन्थकारने स्पष्ट बता दिया है कि—(क) 'राम नामही महामंत्र है। इसके प्रमाण बहुत हैं। यथा, 'यत्प्रभावं समासाद्य शुको ब्रह्मर्षि सत्तमः। जपस्व तन्महामन्त्रं रामनाम रसायनम्॥' (शुक पुराणे), 'सप्तकोटि महामन्त्राश्चित्तविभ्रमकारकः। एक एव परोमंत्रः श्रीरामेत्यक्षर द्वयम्॥' (सारस्वततन्त्रे

श्रीशिवोवाच), 'बीजमंत्र जपिये सोई जो जपत महेस ।' (वि० १०८), 'अंशांशै रामनाम्नश्च त्रयः सिद्धा भवन्ति हि। बीजमोंकारसोऽहं च सूत्रमुक्तिमितिश्रुतिः ॥', 'इत्यादयो महामंत्रा वर्तन्ते सप्तकोटयः । आत्मा तेषां च सर्वेषां रामनाम प्रकाशकः ॥' (महारामायण ५२।३९) अर्थात् प्रणव आदि सात करोड़ महामन्त्रोंके स्वरूप श्रीरामनामहीसे प्रकाशित होते हैं। श्रीरामनामका महामन्त्र होना इससेभी सिद्ध है कि ये महाअपावनकोभी पावन करते हैं और स्वयं पावन बने रहते हैं, शुद्ध अशुद्ध, खाते पीते, चलते फिरते, शौचादिक्रिया करते समयभी यहाँतक कि शव (मुर्दे) को कन्धेपर लिये हुएभी उच्चारण करनेसे मङ्गलकारी ही होते हैं। इसमें किसी विधिकी आवश्यकता नहीं। 'भाय कुभाय अनख आलसहू ', उलटा पलटा सीधा यहाँतक कि अनजानमें भी उच्चारण स्वार्थपरमार्थका देनेवाला है। अन्य मन्त्रोंमें जापकी विधि है, अनेक प्रकारके अनुष्ठान करनेपर भी वे फलें या न फलें, परन्तु रामनाम दीक्षा विना भी ग्रहणमात्रसे फल देता है; अन्य मन्त्रोंके अशुद्ध जापसे लाभ के बदले हानि पहुँचती है। (ख) इसीको शिवजी जपते हैं। यथा, 'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती । १.१०८।', 'उमा सहित जेहि जपत पुरारी । १. १० ।', 'श्रीमच्छंभुमुखेन्दु सुन्दर वरे संशोभितं सर्वदा ।' (कि. मं. २)। इत्यादि। (ग) श्रीशिवजी रामनामहीको जीवोंके कल्याणार्थ उपदेश करते हैं। (देखिये नोट ५)

२ रामनामका माहात्म्य कहनेमें प्रथम महेशजीहीकी साक्षी देते हैं। माहात्म्यका वर्णन इन्हींसे प्रारम्भ किया; क्योंकि—(क) शिवजी उपासकोंमें शिरोमणि हैं, इनके समान नामका प्रभाव दूसरा नहीं जानता। यथा,'नाम प्रभाव जान सिव नीको', 'महिमा रामनाम की जान महेस' (बरवै)। (ख) वैष्णवोंमें ये अग्रगण्य हैं। यथा, 'वैष्णवानाम् यथा शम्भुः' (भा. १२।१२।१६)। (पं. रामकुमारजी)। (ग) जो इनका सिद्धान्त होगा वह सर्वोपर माना जायगा। (करु०)

३ 'महेसू' इति। महेश नाम देकर यह प्रमाणित करते हैं कि ये देवताओंके स्वामी हैं, महान् समर्थ हैं। जब ये महेशही उस नामको जपते हैं, तो अवश्यही महामंत्र होगा, क्योंकि बड़े लोग बड़ीही वस्तुका आश्रय लेते हैं।

४ इस चौपाईमें दो बातें दिखाई हैं, एक यह कि सर्वसमर्थ महेशजी स्वयं जपते हैं और दूसरे यह कि दूसरोंको उपदेशभी देते हैं।

५ 'कासी मुकुति हेतु उपदेसू' इति। मरते समय श्रीरामनामहीका उपदेश जीवोंको करते हैं, तब मुक्ति होती है। यथा, 'कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी। १. ११९।', 'देत परमपद कासी करि उपदेस' (बरवै ५३), 'बेदहू पुरान कहेउ लोकहू बिलोकियत राम नाम ही सों रीझे सकल भलाई है। कासीहू उपदेसत महेस सोई साधन अनेक चितई न चित्त लाई है' (क० ७। ७४), 'जासु नाम बल संकर कासी। देत सबहि सम गति अविनासी। ४. १०।' 'अहं भवन्नाम गुणैः कृतार्थो, वसामि काश्यामनिशं भवान्या। मुमूर्षमाणस्य विमुक्तयेऽहं दिशामि मंत्रं तव रामनाम ॥' (अ. रा. यु. १५। ६२)', 'पेयं पेयं श्रवण पुटके रामनामाभिरामं, ध्येयं ध्येयं मनसि सततं तारकं ब्रह्मरूपम्। जल्प्यं जल्प्यं प्रकृति विकृतौ प्राणिनां कर्णमूले, वीथ्यां वीथ्यामटति जटिलः कोऽपि काशीनिवासी॥' (स्कन्द पु. काशीखंड) अर्थात्, मैं आपके नामके गुणोंसे कृतार्थ होकर काशीमें भवानीसहित रहता हूँ और मरणासन्न प्राणियोंकी मुक्तिके लिये उनके कानमें आपका मन्त्र 'राम' नाम उपदेश करता हूँ। (अ. रा.), तारक ब्रह्मरूप (श्रीरामजी) का मनमें ध्यान करो, सुन्दर श्रीरामनामको कानरूपी दोनेद्वारा बारंबार पियो और प्राणियोंके अन्तकाल समय उनके कानोंमें सुन्दर रामनामको सुनाइये। काशीकी गलीगलीमें कोई काशी-निवासी (श्रीशिवजी) ऐसा कहता हुआ विचरता है। (काशीखण्ड)। पुनश्च यथा, 'रामनाम्ना शिवः काश्यां भूत्वा

पूतः शिवः स्वयन्। स निस्तारयते जीवराशीन्काशीश्वरस्सदा ॥' (शिवसंहिता २ । १४) अर्थात् रामनामसे काशीश्वर शिवजी स्वयं पवित्र होकर नित्य अनन्त जीवोंको तारते हैं। पुनः यथा, 'द्व्यक्षरे याचमाना य मह्यं शेषे ददौ हरिः। तदर्थिन्यायदं कार्यां तेऽन्तकाले नृणां श्रुतौ। १५। रामेति तारकं मन्त्रं तमेव विद्धि पार्वति। १६।' (आ. रा. यात्राकांड सर्ग २)। अर्थात् बाँटमें जो दो अक्षर बचे थे वह मैंने भगवान्‌से माँग लिये, वही 'राम' यह तारक मंत्र मैं जीवोंके अन्तकाल समय उनको उपदेश करता हूँ।

६ अर्थ—२ "काशीमें सब जीवोंके मुक्तिउपदेशहेतु (लिये) शिवजी जिस महामन्त्रको सदा जपते हैं।" (बाबा हरीदासजी)।

मुक्तिका उपदेश देनेके लिए स्वयं सदा उसे जपनेका तात्पर्य यह है कि यदि स्वयं रामनाम न ग्रहण करें तो उनका उपदेश (जिस जीवको वह नाम उपदेश किया जा रहा है उसको) कुछ भी काम नहीं कर सकता। जैसा ही जो नामरसिक नामजापक होगा, वैसा ही उसका उपदेश लगेगा और वैसा ही नामप्रतापसे काम चलेगा। पद्मनाभजी, नामदेवजी और गोस्वामीजीकी कथाएँ प्रसिद्ध ही हैं। (बाबा हरीदासजी)।

७ यहाँ 'प्रथम सम अलंकार' है।

८ श्रीरामतापिनीयोपनिषद्में श्रीरामतारक षडक्षर मंत्रका कानमें उपदेश करना कहा गया है। यथा, 'क्षेत्रेऽस्मिंस्तव देवेश यत्र कुत्रापि वा मृताः। कृमिकीटादयोऽप्याशु मुक्ताः सन्तु न चान्यथा ॥ ४ ॥ अविमुक्ते तव क्षेत्रे सर्वेषां मुक्ति सिद्धये। अहं सन्निहितस्तत्र पाषाण प्रतिमादिषु। ५। त्वत्तो वा ब्रह्मणोवापि ये लभन्ते षडक्षरम्। जीवन्तो मंत्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते। ७। मुमूर्षोर्दक्षिणेकर्णे यस्य कस्यापि वा स्वयम्। उपदेक्ष्यसि मन्मंत्रं स मुक्तो भविता शिव। ८।' (रा. उ. ता.)। अर्थात् हे महादेव! तुम्हारे इस क्षेत्रमें कृमिकीटादि कहींभी यदि मृत्यु पावेंगे वे मुक्त हो जायँगे। आपके इस काशीपुरीमें लोगोंकी मुक्तिके लिए हम प्रतिमाओंमें प्रतिष्ठित रहेंगे। तुमसे या ब्रह्माजीसे जो षडक्षरमंत्र प्राप्त करते हैं वे मुझको प्राप्त होते हैं। जो मर रहा है उसके दक्षिण कानमें हमारा मंत्र उपदेश करनेसे उसकी मुक्ति हो जायगी। और, गोस्वामीजी यहाँ तथा औरभी अनेक स्थलोंपर 'राम' नामका उपदेश करना कहते हैं। तथा अध्यात्मरा०, आनंदरा०, काशीखंड और शिवसंहिता आदिमें भी रामनामकाही उपदेश करना कहा गया है। (नोट ५ देखिये)। इन दोनोंका समन्वय कुछ महात्मा इस प्रकार करते हैं कि षडक्षर श्रीरामनामके बीज और श्री 'राम' नाममें अभेद है। उसपर कुछ महात्माओंका मत है कि मंत्र अथवा बीजका जो अर्थ बताया जाता है उसका और रामनामके जो अर्थ बताये जाते हैं, उनका मेल नहीं होता; अतएव समन्वय इस प्रकार ठीक होगा कि षडक्षरमंत्रका मूलतत्व श्री 'राम' नाम है, इस लिये श्रीरामतापिनीयोपनिषद्वाक्य और गोस्वामीजीके तथा अध्यात्मादि रामायणोंके वाक्योंमें विरोध नहीं है। मंत्र और नाममें अभेद है, इसकी पुष्टि मत्स्यपुराणके 'सर्वेषां राममंत्राणां श्रेष्ठं श्रीतारकं परम्। षडक्षर मनुं साक्षात्तथा युग्माक्षरं वरम् ॥' (श्रीसीतारामनाम प्र. प्र. ६९। अर्थात् समस्त राममंत्रोंमें षडक्षर तथा दोनों अक्षर तारक हैं, अतः अत्यंत श्रेष्ठ हैं) इस श्लोकसे भी होती है। मंत्र और नाम दोनोंको 'तारक' कहा जाता है। मंत्र तो तारक प्रसिद्ध ही है। नाम तारक है, यह श्रीरामस्तवराजमें स्पष्ट कहा है। यथा, 'श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्। ब्रह्महत्यादि पापघ्नमिति वेद विदो विदुः। ५।' अर्थात् श्रीराम (नाम) परम जाप्य है, तारक है और ब्रह्मसंज्ञक है तथा ब्रह्महत्यादि पापोंका नाशक है, वेदोंके ज्ञाता इसे जानते हैं। संभवतः षडक्षर और नाममें अभेद मानकर ही अन्यत्र उपनिषद और पुराणोंमें केवल 'तारक' शब्दका ही प्रयोग किया गया, षडक्षर अथवा युग्माक्षरका उल्लेख नहीं किया गया। यथा, "अत्र हि जन्तोः प्राणेषूत्क्रममाणेषु रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे।' (जाबालो. १), 'यत्र साक्षान्महादेवो

देहान्ते स्वयमीश्वरः। व्याचष्टे तारकं ब्रह्म तत्रैव ह्यविमुक्तये ॥' (पद्म. पु. स्वर्गखंड ३३ । ४७ ।), 'भगवानन्तकालेऽत्र तारकस्योपदेशतः । अविमुक्तेस्थितां जन्तून्मोचयेन्नात्र संशयः ॥' (स्कंद पु. काशीखंड ५ । २८) ।

महिमा जासु जान गनराऊ । प्रथम पूजिअत नाम प्रभाऊ । ४ ।

अर्थ—जिस (श्रीरामनाम) की महिमा श्रीगणेशजी जानते हैं । श्रीरामनामहीके प्रभावसे (वे सब देवताओंसे) पहले पूजे जाते हैं । ४ ।

श्रीगणेशजीकी कथा

पुराणान्तर्गत ऐसी कथा है कि—(१) शिवजीने गणेशजीको प्रथमपूज्य करना चाहा, तब स्वामिकार्त्तिकजीने उज्र किया कि हम बड़े भाई हैं, यह अधिकार हमको मिलना चाहिये । श्रीशिवजीने दोनोंको ब्रह्माजीके पास न्याय कराने भेजा । [पुनः यों भी कहते हैं कि—(२) एक बार ब्रह्माजीने सब देवताओंसे पूछा कि तुममेंसे प्रथम पूज्य होनेका अधिकारी कौन है; तब सब ही अपने अपनेको प्रथम पूजने योग्य कहने लगे । आपसमें वादविवाद बढ़ते देख] ब्रह्माजी बोले कि जो तीनों लोकोंकी परिक्रमा सबसे पहले करके हमारे पास आवेगा वही प्रथम पूज्य होगा । स्वामिकार्तिकजी मोरपर, अथवा, सब देवता अपने अपने वाहनोंपर, परिक्रमा करने चले । गणेशजीका वाहन मूसा है । इससे ये सबसे पीछे रह जानेसे बहुत ही उदास हुए । उसी समय प्रभुकी कृपासे नारदजीने ।मार्गहीमें मिलकर उन्हें उपदेश किया कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड 'श्रीरामनाम' के अन्तर्गत है । तुम 'राम' नामहीको पृथ्वीपर लिखकर नामहीकी परिक्रमा करके ब्रह्माजीके पास चले जाओ । इन्होंने ऐसा ही किया । अन्य सब देवता जहाँ जहाँ जाते, तहाँ ही अपने आगे मूसाके पैरोंके चिह्न पाते थे । इस प्रकार गणेशजी श्रीरामनामके प्रभावसे प्रथम पूज्य हुए ।

कथा (१) शैवतंत्रमें कही जाती है और कथा (२) पद्मपुराणमें ।

प्रथम दो संस्करणोंमें हमने यह कथा दी थी और टीकाकारोंने इसे टीकाओंमें लिया भी है । परन्तु हमें पद्मपुराणमें यह कथा अभीतक नहीं मिली ।

श्रीगणेशजीने गणेशपुराणमें श्रीरामनामके कीर्त्तनसे अपना प्रथम पूज्य होना कहा है और यह भी कहा है कि उस 'राम' नामका प्रभाव आज भी मेरे हृदयमें विराजमान एवं प्रकाशित है । उसमें जगदीश्वरका इनको रामनामकी महिमाका उपदेश करना कहा है । प्रमाण—'रामनाम परं ध्येयं ज्ञेयं पेयमहर्निशम् । सदा सद्भिरित्युक्तं पूर्वं मां जगदीश्वरैः ॥ अहं पूज्यो भवन्लोके श्रीमन्नामानुकीर्तनात् ॥' (सी. रा. नाम प्र. प्र.), 'तदादि सर्वे देवानां पूज्योऽस्मि मुनि सत्तम । रामनाम प्रभा दिव्या राजते मे हृदिस्थले ।' (वै.)

पद्मपुराण सृष्टिखंडमें श्रीगणेशजीके प्रथम पूज्य होनेकी एक दूसरी कथा (जो व्यासजीने संजयजीसे कही है) यह है कि श्रीपार्वतीजीने पूर्वकालमें भगवान् शंकरजीके संयोगसे स्कन्द और गणेश नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया । उन दोनोंको देखकर देवताओंकी पार्वतीजीपर बड़ी श्रद्धा हुई और उन्होंने अमृतसे तैयार किया हुआ एक दिव्य मोदक पार्वतीजीके हाथमें दिया । मोदक देखकर दोनों बालक उसे मातासे माँगने लगे । तब पार्वतीजी विस्मित होकर पुत्रोंसे बोलीं—"मैं पहले इसके गुणोंका वर्णन करती हूँ, तुम दोनों सावधान होकर सुनो । इस मोदकके सूँघनेमात्रसे अमरत्व प्राप्त होता है और जो इसे सूँघता वा खाता है वह सम्पूर्ण शास्त्रोंका मर्मज्ञ, सब तन्त्रोंमें प्रवीण, लेखक, चित्रकार, विद्वान्, ज्ञानविज्ञानके तत्त्वको जाननेवाला और सर्वज्ञ होता है । इसमें तनिक भी सन्देह नहीं । पुत्रो ! तुममेंसे जो धर्माचरणके द्वारा श्रेष्ठता प्राप्त करके आवेगा, उसीको मैं यह मोदक दूँगी । तुम्हारे पिताकी भी यही सम्मति है ।"

माताके मुखसे ऐसी बात सुनकर परम चतुर स्कन्द मयूरपर आरूढ़ हो तुरंत ही त्रिलोकीके तीर्थोंको

यात्राके लिए चल दिये। उन्होंने मुहूर्त्तभरमें सब तीर्थोंका स्नान कर लिया। इधर लम्बोदरधारी गणेशजी स्कन्दसे भी बढ़कर बुद्धिमान् निकले। वे मातापिताकी परिक्रमा करके बड़ी प्रसन्नताके साथ पिताजीके सम्मुख खड़े हो गए। क्योंकि मातापिताकी परिक्रमासे सम्पूर्ण पृथ्वीकी परिक्रमा हो जाती है। यथा, 'सर्वतीर्थमयी माता सर्वदेवमयः पिता। मातरं पितरं तस्मात् सर्वयत्नेन पूजयेत् ॥ मातरं पितरञ्चैव यस्तु कुर्यात् प्रदक्षिणम्। प्रदक्षिणीकृता तेन सप्तद्वीपा वसुन्धरा ॥ (पद्म. पु. सृष्टिखण्ड ४७। ११, १२।' फिर स्कन्द भी आकर खड़े हुए और बोले, 'मुझे मोदक दीजिये'। तब पार्वतीजी बोलीं, 'समस्त तीर्थोंमें किया हुआ स्नान, देवताओंको किया हुआ नमस्कार, सब यज्ञोंका अनुष्ठान तथा सब प्रकारके संपूर्ण व्रत, मंत्र, योग और संयमका पालन, ये सभी साधन मातापिताके पूजनके सोलहवें अंशके बराबर भी नहीं हो सकते। इस लिये यह गणेश सैकड़ों पुत्रों और सैकड़ों गणोंसे भी बढ़कर है। अतः देवताओंका बनाया हुआ यह मोदक मैं गणेशको ही अर्पण करती हूँ। मातापिताकी भक्तिके कारण ही इसकी प्रत्येक यज्ञमें सबसे पहले पूजा होगी।' महादेवजी बोले, 'इस गणेशके ही अग्रपूजनसे संपूर्ण देवता प्रसन्न हों'।

☞ यह कथा 'पूर्वकाल' किसी कल्पान्तरकी होगी। अथवा, श्रीशिवजीने यहाँ आशीर्वाद मात्र दिया जो आगे कुछ काल बाद श्रीरामनामके संबंधसे सफल हुआ।

नोट—यहाँ 'प्रत्यक्ष प्रमाण अलंकार' है, कही हुई बात सब जानते हैं।

जान आदिकवि नाम प्रतापू [१] । भयउ सुद्ध करि [२] उलटा जापू । ५ ।

अर्थ—आदिकवि श्रीवाल्मीकिजी श्रीरामनामका प्रताप जानते हैं (कि) उलटा नाम जपकर शुद्ध हो गए। ५।

महर्षि वाल्मीकिजीकी कथा—आप प्रचेता ऋषिके बालक थे। बचपनहीमें भीलोंका संग हो जानेसे उन्हींमें आपका विवाह भी हुआ, ससुरालहीमें रहते थे, पूरे व्याधा हो गए, ब्राह्मणोंको भी न छोड़ते थे, जीवहत्या करते और धनवस्त्रादि छीनकर कुटुम्ब पालते। एक बार सप्तर्षि उधरसे आ निकले, उनपर भी हाथ चलाना चाहा।...ऋषियोंके उपदेशसे आपकी आँखें खुलीं तब दीनतापूर्वक उनसे आपने अपने उद्धारका उपाय पूछा, उन्होंने 'राम राम' जपनेको कहा। पर 'राम राम' भी आपसे उच्चारण करते न बना, तब ऋषियोंने दया करके इनको 'मरा मरा' जपनेका उपदेश किया। इनका विस्तृत वृत्तान्त दोहा ३ (३) और सोरठा १४ 'बंदौं मुनिपदकंज···' में दिया जा चुका है।

नोट—१ 'जान नाम प्रतापू' इति। उलटा नाम जपनेका यह फल प्रत्यक्ष देखा कि व्याधासे मुनि हो गए, ब्रह्मसमान हो गए, फिर ब्रह्माजीके मानसपुत्र हुए। 'मरा मरा' जपका यह प्रताप है, तब साक्षात् 'राम राम' जपनेका क्या फल होगा, कौन कह सकता है? अध्यात्मरामायण अयोध्याकांड सर्ग ६ में उलटे नाम-जपका प्रमाण है। यथा, 'राम त्वन्नाम महिमा वर्ण्यते केन वा कथम्। यत्प्रभावादहं राम ब्रह्मर्षित्वमवाप्तवान् ॥ ६४।' अर्थात् हे राम! आपके नामके प्रभावसेही मैं ब्रह्मर्षित्व पदवीको प्राप्त हुआ, इस नामकी महिमा कोई कैसे वर्णन कर सकता है? पुनश्च यथा, 'राम ते नाम व्यत्यस्ताक्षरपूर्वकम्। एकाग्रमनसात्रैव मरेति जप सर्वदा ॥ ८०।' अर्थात् सप्तर्षियोंने आपके नामाक्षरोंको उलटा करके मुझसे कहा कि तू यहीं रहकर एकाग्रचितसे सदा 'मरा मरा' जपा कर। ☞ स्वयं उलटा नाम जपनेका प्रताप देखा, इसीसे 'जान नाम प्रतापू' कहा।

२ 'भयउ सुद्ध करि उलटा जापू' इति। (क) मरा मरा जपकर उसी शरीरमें व्याधासे मुनि

१ प्रभाऊ—१७२१, १७६२। प्रतापू—१६६१, १७०४, छ०, को. रा.। २—३ कहि उलटा नाँउ—१७२१, १७६२। करि उलटा जापू—१६६१, १७०४, छ०, को. रा.।

हो गए। वाल्मीकि मुनि नाम हुआ। यथा, 'उलटा नाम जपत जग जाना। वालमीकि भए ब्रह्म समाना। २. १६४।', 'महिमा उलटे नाम की मुनि कियो किरातो।' (विनय १५१), 'राम विहाइ मरा जपते विगरी सुधरी कवि कोकिल हू की।' (क. ७. ८६), 'जहाँ बालमीकि भए व्याध ते मुनींद्र साधु, मरा मरा जपे सिष सुनि रिषि सात की।' (क. ७. १३८)।

नोट—३ उलटे नामके जपसे शुद्ध होना कहकर सूचित किया कि (१) जितने मन्त्र हैं यदि वे नियमानुसार शुद्ध शुद्ध न जपे जायँ तो लाभके बदले विघ्न और हानिही होती है। परन्तु रामनाम ऐसा है कि अशुद्धका तो कहना ही क्या, उलटाभी जपनेसे लाभदायक कल्याणकारक ही होता है। (२) 'राम' नामका प्रत्येक अक्षर महत्वका है। (३) इनको इतनी ब्रह्महत्या और जीवहत्या लगी थी कि शुद्धि किसी प्रकार न हो सकती थी सो वेभी नामके प्रतापसे शुद्ध हो गए।

४ शंका—सप्तर्षिने उलटा नाम जपनेको क्यों कहा ?

समाधान—(क) श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि मकाररूपी जीवको प्रथम उच्चारण कराके 'रा' आह्लादिनीशक्तियुत परब्रह्मकी शरणमें गिरानेका भाव मनमें रखकर 'मरा मरा' जपनेको कहा। (ख) कोई यह कहते हैं कि 'मरा मरा' कहते कहते 'राम राम' निकलता ही है; यह समझकर उलटा नाम जपनेको कहा। (ग) वेदान्तभूषणजीका मत है कि 'मंत्र देनेसे गुरुशिष्यमें पापपुण्य आधोआध बँट जाते हैं; इसीसे सप्तर्षियोंने उन्हें मंत्र न दिया। परन्तु शरणागतको त्यागना भी नहीं चाहिए, इसीसे 'मरा मरा' जपनेका उपदेश दिया कि मन्त्रभी न हुआ और तीसरी बार वही उलटा नाम 'राम' होकर शरणागतका कल्याणभी कर दे।'

नोट—५ इस दोहे (१६) में श्रीरामनाममाहात्म्य जाननेवालोंमें श्रीशिवजीका परिवार गिनाया गया; पर सबको एक साथ न कहकर बीचहीमें महर्षि वाल्मीकिजीका नाम दिया गया है। इसका भाव महानुभाव यह कहते हैं कि (क) यहाँ तीन अर्धालियोंमें तीन प्रकारसे नाममाहात्म्य बताया है, शिवजी सादर जपते हैं। यथा, 'सादर जपहु अनंग आराती। १. १०८।' गणेशजीने पृथ्वीपरही नाम लिखकर परिक्रमा कर ली, शुद्धता अशुद्धता आदिका विचार न किया, और वाल्मीकिजीने उलटाही नाम जपा। सारांश यह है कि आदरसे, शुद्धता वा अशुद्धतासे, सीधा वा उलटा कैसेही नाम जपो, वह सर्व सिद्धियों और कल्याणका देनेवाला है। इस लिये महत्त्वके विचारसे इन तीनों नाम साथ साथ दिए गए। (ख) पं० रामकुमारजी कहते हैं कि गणेशजी और वाल्मीकिजीकी प्रथम दशा एकसी थी, इस लिये गणेशजीके पीछे प्रथम इनका नाम दिया। यथा, 'रामनाम को प्रभाउ पूजियत गनराउ कियो न दुराउ कही आपनी करनि।' (विनय) [आनंदरामायण राज्यकांडमें श्रीगणेशजीने अपनी पूर्व दशा श्रीसनत्कुमारजीसे यों कही है कि मैं प्रथम गजरूपसे महाकाय पैदा हुआ और वृक्षोंको उखाड़उखाड़कर मुनियोंको मारता था। इस तरह बहुतसे मुनियोंके मारे जानेसे ब्राह्मणोंमें हाहाकार मच गया और ब्रह्महत्याओंसे वेष्टित होकर मैं मूर्च्छित हो गया। तब मेरी दशा देखकर मेरे पिताने श्रीरामजीका स्मरण किया। भगवान् सर्वेश्वरस्वामी जगत्‌के स्वामी श्रीरामजी प्रगट हो गए और बोले—'हे महादेव ! तुम तो समर्थ हो ही, फिरभी क्या चाहते हो, कहो। मैं प्रसन्न हूँ। त्रैलोक्यमें भी दुर्लभ जो तुम्हारा मनोरथ होगा वह मैं तुम्हें दूँगा। शिवजीने कहा कि यदि आपकी मुझपर दया है तो ब्रह्महत्याओंसे युक्त इस पुत्रको पापरहित कर दीजिए। भगवान्‌के कृपादृष्टिसे मेरी ओर देखते ही मैं सचेत होकर उठ बैठा और दंडवत् प्रणाम कर मैंने उनकी स्तुति की। उन्होंने कृपा करके अपने सहस्रनामका उपदेश मुझे दिया जिसे ग्रहणकर मैं निष्पाप हो गया। (पूर्वार्ध सर्ग १ श्लोक १४—२४)] (ग) श्रीशिवजी और श्रीपार्वतीजीके बीचमें दोनोंको देकर सूचित किया कि श्रीरामनाम और चरितके संबंधसे वाल्मीकिजी दोनोंको गणेशजीके समान प्रिय हैं।

६ इस चौपाईमें तीन बातें कही गई हैं। वाल्मीकिजीका 'आदि कवि' होना, वाल्मीकिजीका नामप्रताप जानना और उलटे जपसे शुद्ध होना। पूर्व इनका नाम तीन बार तीन प्रसंगोंके संबंधमें आ चुका है। प्रथम बार मंगलाचरणमें 'वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ कवीश्वर कपीश्वरौ'। दूसरी बार सत्संगकी महिमाके वर्णनमें दृष्टान्त-रूपमें। तीसरी बार रामायणके रचयिता होनेसे। और यहाँ उलटा नाम जपकर शुद्ध होने, नामप्रताप जानने और उसीके प्रभावसे आदिकवि होनेके प्रसंगमें उनका नाम आया है।

वाल्मीकिजी 'आदि कवि' कहे जाते हैं। इसके प्रमाण ये हैं। 'काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा। क्रौञ्चद्वन्द्ववियोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः। ५।', 'तथा च आदिकवेर्वाल्मीकेर्निहतसहचर विरहकातर क्रौञ्चयाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः (ध्वन्यालोक उद्योत १), 'पद्मयोनिरवोचत्—ऋषे प्रबुद्धोऽसि वागात्मनि ब्रह्मणि तद्ब्रूहि रामचरितं....। आद्यः कविरसि इत्युक्त्वाऽन्तर्हितः।' (उत्तर रामचरित अंक २)। वाल्मीकीय रामायणके प्रत्येक सर्गके अन्तमें 'इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये' ये शब्द रहते ही हैं।

इस पर शंका होती है कि "इनको 'आदि कवि' कैसे कहा जब कि इनके पूर्व भी छन्दोबद्ध वाणी उपलब्ध थी ?' वेदोंमें वैदिक छन्द तो होतेही हैं परन्तु ऐसेभी कुछ मंत्र हैं कि जिनको हम अनुष्टुप् छन्दमें पढ़ सकते हैं। जैसे कि 'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्। स भूमिं विश्वतो वृत्वा...' (ऋग्वेद पुरुषसूक्त ऋचा १)। उपनिषदोंमें भी श्लोकोंका उल्लेख मिलता है। यथा, 'अत्रै ते श्लोका भवन्ति। अकाराक्षरसम्भूतः सौमित्रि-र्विश्वभावनः। उकाराक्षर सम्भूतः शत्रुघ्नस्तैजसात्मकः॥' (रा. उ. ता. १) इत्यादि। कमसे कम कुछ स्मृतियाँ भी वाल्मीकिजीके पूर्व होंगी ही और स्मृतियाँ प्रायः छन्दोबद्ध हैं। फिर वाल्मीकीयके ही कुछ वाक्योंसेभी श्लोकोंका लोकमें व्यवहार सिद्ध होता है। जैसे कि 'कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति माम्। एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि॥ ६॥ १२६। २।' (श्रीभरतजी कह रहे हैं कि यह जो कहावत लोकमें कही जाती है वह सत्यही है कि यदि मनुष्य जीवित रहे तो सौ वर्षके पश्चात् भी उसे एक बार आनन्द अवश्य मिलता है। इसमें जो यह कहावत 'एति जीवन्त...दपि' कही गई है वह श्लोकबद्ध है); 'श्रूयन्ते हस्तिभिर्गीताः श्लोकाः पद्मवने पुरा। पाश हस्तान्नरान्दृष्ट्वा शृणुष्व गदतो मम॥ इत्यादि।' (६। १६। ६. ८)। (अर्थात पद्मवनमें हाथियोंकोभी यह श्लोक गाते हुए सुना गया है...। इसमें भी पूर्व श्लोकोंका व्यवहार कहा गया है)। पुनः, स्वयं वाल्मीकिजीके मुखसे व्याधाके शापरूपमें जो श्लोक निकला था उस प्रसंगके पश्चात् उनके यह वाक्य हैं। 'पादबद्धोऽक्षरसमस्तन्त्री लय समन्वितः। शोकार्तस्य प्रवृत्तो मे श्लोको भवतु नान्यथा॥ १। २। १८।' (अर्थात् जिनके चरणोंमें समान अक्षर हैं ऐसे चार चरणोंमें बद्ध ताल आदिमें गाने योग्य यह श्लोक शोकके कारण मेरे मुखसे निकल पड़ा है। यह श्लोक ही कहा जायगा)। इससेभी वाल्मीकीयके पूर्व श्लोकका होना सिद्ध होता है।

इसका समाधान यह है कि यद्यपि लोक और वेदोंमें इनके पहले छन्दोबद्ध वाणीका प्रचार पाया जाता है तथापि मनुष्योंके द्वारा काव्य और इतिहासकी जैसी रचना होती है, वैसी इनके पूर्व न थी। इस प्रकारकी रचना इन्हींसे प्रारम्भ हुई। इसीसे इनको 'आदिकवि' कहा जाता है।

७ उलटे जापसे शुद्ध हुए, यहाँ 'प्रथम उल्लास अलंकार' है। यथा, 'और वस्तु के गुणन ते और होत गुणवान।' (अ. मं.)।

सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपति सदा पिय संग भवानी। ६।

अर्थ—श्रीशिवजीके ये वचन सुनकर कि एक 'राम' नाम (विष्णु) सहस्रनामके समान है, श्री पार्वतीजी (तबसे बराबर श्रीरामनामको) अपने प्रियतम पतिके साथ सदा जपती हैं। ६।

नोट—श्रीपार्वतीजीकी इस प्रसङ्गके सम्बन्धकी कथा पद्मपुराण उत्तरखण्ड अ० २५४ में इस प्रकार है। श्रीपार्वतीजीने श्रीवामदेवजीसे वैष्णवमन्त्रकी दीक्षा ली थी। एक बार श्रीशिवजीने श्रीपार्वतीजीसे कहा कि हम कृतकृत्य हैं कि तुम ऐसी वैष्णवी भार्या हमें मिली हो। तुम अपने गुरु महर्षि वामदेवजीके पास जाकर उनसे पुराणपुरुषोत्तमकी पूजाका विधान सीखकर उनका अर्चन करो। श्रीपार्वतीजीने जाकर गुरुदेवजीसे प्रार्थना की, तब वामदेवजीने श्रेष्ठमन्त्र और उसका विधान उनको बताया और विष्णुसहस्रनामका नित्य पाठ करनेको कहा। यथा, 'इत्युक्तस्तु तया देव्या वामदेवो महामुनिः। तस्यै मंत्रवरम् श्रेष्ठं ददौ स विधिना गुरुः। ११। नाम्नां सहस्रविष्णोश्च प्रोक्तमान् मुनिसत्तमः।

एक समयकी बात है कि द्वादशीको शिवजी जब भोजनको बैठे तब उन्होंने पार्वतीजीको साथ भोजन करनेको बुलाया। उस समय वे विष्णुसहस्रनामका पाठ कर रही थीं, अतः उन्होंने निवेदन किया कि अभी मेरा पाठ समाप्त नहीं हुआ। तब शिवजी बोले कि तुम धन्य हो कि भगवान् पुरुषोत्तम में तुम्हारी ऐसी भक्ति है और कहा कि 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्देचिदात्मनि। तेन रामपदेनासौ परंब्रह्माभिधीयते ॥ २१ ॥ राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे। सहस्रनाम तत्तुल्यं रामनामवरानने। २२।'''रामेत्युक्त्वा महादेवि भुङ्क्ष्व सार्धं मयाधुना। २३। (अर्थात् योगी लोग अनन्त सच्चिदानन्द परमात्मामें रमते हैं, इसी लिये 'राम' शब्दसे परब्रह्म कहा जाता है। २१। हे रामे (सुन्दरि)! मैं रामराम इस प्रकार जप करते हुये अति सुन्दर श्रीरामजीमें अत्यन्त रमता हूँ। तुमभी अपने मुखमें इस रामनामका वरण करो, क्योंकि विष्णु सहस्र-नाम इस एक रामनामके तुल्य है। २२। अतः महादेवि! एक बार 'राम' ऐसा उच्चारण कर मेरे साथ आकर भोजन करो। २३।) यह सुनकर श्रीपार्वतीजीने 'राम' नाम एक बार उच्चारण कर शिवजीके साथ भोजन कर लिया। और तबसे पार्वतीजी बराबर श्रीशिवजीके साथ नाम जपा करती हैं। यथा वसिष्ठ उवाच, 'ततो रामेति नामोक्त्वा सह भुक्त्वाथ पार्वती। रामेत्युक्त्वा महादेवी शम्भुना सह संस्थिता। २४।

नोट—१ सं० १६६१ की प्रतिमें पहले 'जपि जेईं' पाठ था। और पद्म. पु. अ. २५४ के अनुसार यह पाठभी सङ्गत है, क्योंकि 'राम रामेति···' यह श्लोक भोजन करनेके पूर्वहीका है, न कि पीछेका। सं० १६६१ में 'जपि जेईं' पर हरताल देकर 'जपति सदा' पाठ बनाया गया है। यह पाठभी उपर्युक्त कथा से सङ्गत है, क्योंकि उसी समयसे सदा 'राम' नाम वे जपने लगीं। इस पाठमें विशेषता है कि विष्णुसहस्रनामका पाठ तबसे छोड़ही दिया गया और उसके बदले श्रीरामनामही सदा जपने लगीं। इस कथनमें नामके महत्वका गौरव विशेष जानकरही गोस्वामीजीने पीछे इस पाठको रक्खा। गोस्वामीजीने यह पूर्वभी लिखा है। यथा, 'मंगलभवन अमंगलहारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी। १। १०। २।' 'जपि जेईं' पाठका अर्थ होगा 'पतिके साथ जाकर भोजन कर लिया'। इस पाठसे यह भाव नहीं निकलता कि तबसे फिर 'विष्णुसहस्र-नामका' पाठ छोड़ दिया, श्रीरामनामही जपने लगीं। इस पाठमें 'जपति सदा' वाला महत्व नहीं है।

नोट—२ 'सिव बानी' इति। शिववाणी कहनेका भाव यह है कि यह वाणी कल्याणकारी है, ईश्वर-वाणी है, मर्यादायुक्त है; इसीसे बेखटके श्रीपार्वतीजीको निश्चय होगया। वे जानती हैं कि 'संभु गिरा पुनि मृषा न होई'। (सत्पंचार्थप्रकाश)

नोट—३ पद्मपुराणकी उपर्युक्त कथासे यह शङ्काभी दूर हो जाती है कि 'क्या पतिके रहते हुये स्त्री दूसरेको गुरु कर सकती है ?' जगद्गुरु श्रीशंकरजीके रहते हुएभी श्रीपार्वतीजीने वैष्णवमन्त्रकी दीक्षा महर्षि वामदेवजीसे ली। श्रीनृसिंहपुराणमें श्रीनारदजीने श्रीयाज्ञवल्क्यजीसे कहा है कि पतिव्रताओंको श्रीरामनाम-

कीर्तनका अधिकार है, इससे उनको इस लोक और परलोकका सब सुख प्राप्त हो जाता है। यथा, 'पतिव्रतानां सर्वासां रामनामानुकीर्तनम्। ऐहिकामुष्मिकं सौख्यं दायकं सर्व शोभते ॥' (सी. ना. प्र. प्र.)

हरषे हेतु हेरि हर ही को। किय भूषन तिय भूषन ती को। ७।

शब्दार्थ—हेतु=प्रेम। ही (हिय)=हृदय। ती=स्त्री।

अर्थ—उनके हृदयके प्रेमको देखकर श्रीशिवजी प्रसन्न हुए और पतिव्रता स्त्रियोंमें शिरोमणि अपनी स्त्री पार्वतीजीको अपना भूषण बना लिया। (अर्थात् जैसे आभूषण शरीरमें पहना जाता है, वैसेही इनको अंगमें धारण करके अर्धाङ्गिनी बना लिया)। ७।

☞श्रीपार्वतीजीका पातिव्रत्य और अनन्यता उनके जन्म, तप एवं सप्तर्षि द्वारा परीक्षामें आगे ग्रंथकारने स्वयं विस्तारसे दिखाई है।

नोट—१ 'हरषे हेतु हेरि....' इति। श्रीरामनाम और अपने वचनमें प्रतीति और प्रीति देखकर हर्ष हुआ। इसमें यहभी ध्वनि है कि सतीतनमें इनको सन्देह हुआ था। यथा, 'लाग न उर उपदेसु''' । १ । ५१।' और अब इतनी श्रद्धा।

२ यहाँ तक चौपाई ४, ५, ६, ७ में गणेशजी, वाल्मीकिजी और पार्वतीजीके द्वारा 'राम' नामका माहात्म्य यह दिखाया है कि (क) सीधेमें जो फल देते हैं, वही उलटेमेंभी देते हैं। (ख) जो फल धर्मात्माको देते हैं, वही पापीको। और, (ग) जो फल पुरुषको देते हैं वही स्त्रीको भी। (पं० रा० कु०)

३ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि "ईश्वर हृदयके स्नेहको देखकर प्रसन्न होते हैं। इनकी प्रसन्नता निष्फल नहीं होती, फल-दात्री होती है। इस लिए यहाँ फलका देनाभी लिखते हैं, वह यह कि भूषण बना लिया।"

४ 'किय भूषन तिय भूषन ती को' के और अर्थ ये हैं :—

अर्थ—२ 'तीयभूषण' श्रीशिवजीने अपनी स्त्री (पार्वतीजी) को भूषण बना लिया। भाव यह कि अभीतक तो शिवजी 'तीयभूषण' थे, क्योंकि स्त्रीका भूषण पति होताही है, परन्तु अब श्रीशिवजीने उनकी श्रीरामनाममें प्रीति देखकर उन्हें अपने भूषणयोग्य समझा। यहाँ 'तीयभूषण' श्रीशिवजीका एक नाम है। उसके अनुसार यह अर्थ किया जाता है।

अर्थ—३ श्रीपार्वतीजीको श्रेष्ठ स्त्रियोंका भूषण कर दिया। भाव यह कि जितनी स्त्रियाँ स्त्रियोंमें भूषण-रूप थीं, उन सबोंकी शिरोमणि बना दिया। यहाँ, 'तीयभूषण'=स्त्रियोंमें श्रेष्ठ वा शिरोमणि अर्थात् पतिव्रता स्त्रियां। इस अर्थसे यह जनाया कि पार्वतीजी सती स्त्रियोंमें शिरोमणि इस प्रसंगके सम्बन्धसे हुईं, पहले न थीं। यह बात रामरसायन विधान ४ विभाग ८ में श्रीअनुसूयाजीसे सतीत्वकी ईर्ष्या करके पराजित होने तथा पद्मपुराणमें सवतियाडाहके कारण पद्मादेवीसे घोर एवं अतिकालिक कलह आदि करनेकी कथाओंसे सिद्ध होती है कि वे श्रीरामनामजपके पूर्व तियभूषण नहीं थीं। श्रीरामनाममें प्रतीति और प्रीति होनेपरही वे 'पतिदेवता सुतीय महं प्रथम' रेखा वाली हुईं। नृसिंहपुराणमेंभी कहा है कि श्रीरामनाममें अत्यन्त प्रेम रखने-वाली स्त्रियोंको पुत्र, सौभाग्य और पतिका प्रियत्व प्राप्त होता है। यथा, 'रामनामरतानारी सुतं सौभाग्यमीप्सितम्। भर्तुः प्रियत्वं लभते न वैधव्यं कदाचन ॥' (सी. रा. नाम प्रताप प्रकाश)

५ 'हरषे...' में 'श्रुत्यनुप्रास अलंकार' है, क्योंकि एकही स्थानसे उच्चारण होनेवाले अक्षरोंसे बने हुए शब्दोंका यहाँ प्रयोग हुआ है।

६ पातिव्रत्य धर्म स्त्रियोंका सर्वश्रेष्ठ धर्म है। उसके पालनसे उनको इस लोकमें पतिप्रेम और

अन्तमें परलोककी प्राप्ति होती है। श्रीपार्वतीजी पतिव्रता तो थी हीं, परन्तु पतिका इतना विशेष प्रेम जो इनपर हुआ कि अर्धांगिनी बना लिया यह उनके श्रीरामनाममें इतना प्रेम देखकर ही हुआ। इस वाक्यसे ग्रन्थकार स्त्रियोंको उपदेश देते हैं कि उनको श्रीरामनामका भी जप करना चाहिए।

नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फलु दीन्ह अमी को। ८।

अर्थ—श्रीशिवजी नामका प्रभाव भली भांति जानते हैं (कि जिससे) हालाहल विषने उनको अमृतका फल दिया। ८।

नोट—१ 'नाम प्रभाउ जान सिव नीको' इति। 'नीको'=भली भांति। शिवजी सबसे अधिक इसके प्रभावको जानते हैं तभी तो 'सतकोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि वामदेव नाम घृतु हैं', (विनय २५४), 'रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि। १। २५।' और अहर्निशि 'सादर जपहिं अनंग आराती'। देखिए, सागर मथते समय सभी देवगण वहाँ उपस्थित थे और सभी नामके परत्व और महत्त्वसे अभिज्ञ थे, तब औरोंने क्यों न पी लिया? कारण स्पष्ट है कि वे सब श्रीरामनामके प्रतापको 'नीकी' भाँति न जानते थे। जैमिनि पुराणमें भी इसका प्रमाण है; यथा, 'रामनाम परं ब्रह्म सर्वदेव प्रपूजितम्। महेश एव जानाति नान्यो जानाति वै मुने॥' (करु०)। पद्मपुराणमें एक श्लोक ऐसा भी है, 'रामनामप्रभावं यत् जानाति गिरिजापतिः। तदर्द्धं गिरिजा वेत्ति तदर्धमितरे जनाः॥' (वै. भू.)। अर्थात् रामनामका प्रभाव जो शिवजी जानते हैं, गिरिजाजी उसका आधा जानती हैं और अन्य लोग इस आधेका भी आधा जानते हैं।

२ 'कालकूट फल दीन्ह अमी को' इति। श्रीमद्भागवत स्कन्ध ८ अध्याय ५ से ७ तकमें यह कथा दी है कि 'छठे मन्वन्तरमें नारायण भगवान् अजितनामधारी हो अपने अंशसे प्रकट हुए। देवासुर संग्राममें दैत्य देवताओंका विनाश कर रहे थे। दुर्वासाऋषिको विष्णुभगवान्‌ने मालाप्रसाद दिया था। उन्होंने इन्द्रको ऐरावतपर सवार रणभूमिकी ओर जाते देख वह प्रसाद उनको दे दिया। इन्द्रने प्रसाद हाथीके मस्तकपर रख दिया जो उसने पैरोंके नीचे कुचल डाला। इसपर ऋषिने शाप दिया कि 'तू शीघ्र ही श्रीभ्रष्ट हो जायगा'। इसका फल तुरन्त उन्हें मिला। संग्राममें इन्द्र सहित तीनों लोक श्रीविहीन हुए। यज्ञादिक धर्मकर्म बन्द हो गए। जब कोई उपाय न समझ पड़ा, तब इन्द्रादि देवता शिवजी सहित ब्रह्माजीके पास सुमेरु शिखरपर गए। इनका हाल देखसुन ब्रह्माजी सबको लेकर क्षीरसागर पर गए और एकाग्रचित्त हो परमपुरुषकी स्तुति करने लगे और यह भी प्रार्थना की कि 'हे भगवन्! हमको उस मनोहर मूर्त्तिका शीघ्र दर्शन दीजिए, जो हमको अपनी इन्द्रियोंसे प्राप्त हो सके। भगवान् हरिने दर्शन दिया, तब ब्रह्माजीने प्रार्थना की कि 'हमलोगोंको अपने मंगलका कुछ भी ज्ञान नहीं है, आप ही उपाय रचें, जिससे सबका कल्याण हो'। भगवान् बोले कि 'हे ब्रह्मा! हे शम्भुदेव! हे देवगण! वह उपाय सुनो जिससे तुम्हारा हित होगा। अपने कार्यकी सिद्धिमें कठिनाई देखकर अपना काम निकालनेके लिए शत्रुसे मेल कर लेना उचित होता है। जबतक तुम्हारी वृद्धिका समय न आवे तबतकके लिए तुम दैत्योंसे मेल कर लो। दोनों मिलकर अमृत निकालनेका प्रयत्न करो। क्षीरसागरमें तृण, लता, औषधि, वनस्पति डालकर सागर मथो। मन्द्राचल-को मथानी और बासुकीको रस्सी बनाओ। ऐसा करनेसे तुमको अमृत मिलेगा। सागरसे पहले कालकूट निकलेगा उससे न डरना, फिर रत्नादिक निकलेंगे इनमें लोभ न करना...'। यह उपाय बताकर भगवान् अन्तर्धान हो गए।

इन्द्रादि देवता राजा बलिके पास सन्धिके लिए गए।... समुद्र मथकर अमृत निकालनेकी इन्द्रकी सलाह दैत्यदानव सभीको भली लगी। सहमत हो दानव दैत्य और देवगण मिलकर मन्द्राचलको उखाड़

ले चले। राहमें थक जानेसे पर्वत गिर पड़ा। उनमेंसे बहुतेरे कुचल गए। इनका उत्साह भंग हुआ देख भगवान् विष्णु गरुड़पर पहुँच गए...और लीलापूर्वक एक हाथसे पर्वतको उठाकर गरुड़पर रख उन्होंने उसे क्षीरसागरमें पहुँचा दिया। वासुकीको अमृतमें भाग देनेका लालच देकर उनको रस्सी बननेको उत्साहित किया गया।... मन्द्राचलको जलपर स्थित रखनेके लिए भगवान्ने कच्छपरूप धारण किया। जब बहुत मथनेपर भी अमृत न निकला, तब अजित भगवान् स्वयम् मथने लगे। पहले कालकूट निकला जो सब लोकोंको असह्य हो उठा, तब (भगवान्का इशारा पा) सब मृत्युञ्जय शिवजीकी शरण गए और जाकर उन्होंने उनकी स्तुति की। भगवान् शङ्कर करुणालय इनका दुःख देख सतीजीसे बोले कि 'प्रजापति महान् संकटमें पड़े हैं, इनके प्राणोंकी रक्षा करना हमारा कर्त्तव्य है। मैं इस विषको पी लूँगा जिसमें इनका कल्याण हो'। भवानीने इस इच्छाका अनुमोदन किया। (सन्त श्रीगुरुसहायलाल शेषदत्तजीके खर्रेमेंसे यह श्लोक देते हैं—'श्रीरामनामाखिलमन्त्रबीजं मम जीवनं च हृदये प्रविष्टम्। हालाहलं वा प्रलयानलं वा मृत्युर्मुखं वा विशतां कुतोभयम्') शिवजीने उस सर्वतोव्याप्त कालकूटको हथेली पर रखकर पी लिया। नन्दीपुराणमें नन्दीश्वरके वचन हैं, कि 'शृणुध्वंभोगणास्सर्वे राम नाम परंबलम्। यत्प्रसादान् महादेवो हालहलमयीं पिबेत्॥ १॥ जानाति रामनाम्नस्तु परत्वं गिरिजापतिः। ततोऽन्योन विजानाति सत्यं सत्यं वचो मम॥ २॥'

कई टीकाकारोंने लिखा है कि 'रा' उच्चारणकर शिवजीने हालाहलविष कंठमें धर लिया और फिर 'म' कहकर मुख बन्द कर लिया। इस दीनको इसका प्रमाण अभीतक नहीं मिला।

३ 'फल दीन्ह अमी को' इति। विषपानका फल मृत्यु है, पर आपको वह विष भी श्रीरामनामके प्रतापसे अमृत हो गया; यथा, 'खायो कालकूट भयो अजर अमर तन। क. ७. १५८।' इस विषकी तीक्ष्णतासे आपका कंठ नीला पड़ गया जिससे आपका नाम 'नीलकण्ठ' पड़ा। यहाँ 'प्रथम व्याघात अलङ्कार' है। जहाँ विरोधी अपने अनुकूल हो जावे, अन्यथाकारी यथाकारी हो जावे, जैसे यहाँ मारनेवाले विषने रामनामके प्रतापसे अमृतका फल दिया, वहाँ 'प्रथम व्याघात अलङ्कार' होता है। 'एकहि वस्तु जहाँ कहूँ करै सुकाज विरुद्ध। प्रथम तहाँ व्याघात कहि बरनै कवि मति शुद्ध।' (अ० मंजूषा)।

टिप्पणीः—पं० रामकुमारजी यहाँ तक ८ चौपाइयों पर ये भाव लिखते हैं कि (१) वंदउँ नाम राम रघुबर को।...अगुन अनूपम गुननिधान सो' में मन्त्रके स्वरूपकी बड़ाई की। फिर यहाँ तक जापकद्वारा मन्त्रकी बड़ाई की। ऊपर शिवजीका जपना कहा। अब मन्त्रके फलकी प्राप्ति कहते हैं कि 'कालकूट फल दीन्ह अमी को'। (२) 'शिवजीको आदि अन्तमें दिया क्योंकि ये जापकोंमें आदि हैं और फलके अवधि हैं कि अविनाशी हो गए।' (३) इस दोहेमें दिखाया है कि जो पंचदेव सूर्य, शिव, गिरिजा (शक्ति) गणपति और हरि जगत्का उपकार करते हैं, उनका उपकार भी श्रीरामनाम करते हैं। सूर्यके प्रकाशक हैं, यह बात 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' इस चौपाईमें जनायी। इसी तरह 'कालकूट फल दीन्ह अमी को' से शिवजीको अविनाशी करना, 'प्रथम पूजियत नाम प्रभाऊ' से गणेशजीको आदिपूज्य बनाना 'विधिहरिहरमय' से हरिको उत्पन्न करना, और 'जपति सदा पिय संग भवानी...किय भूषन ती को' से भवानीके साथ उपकार सूचित किया।' 'सहस नाम सम सुनि सिव बानी। जपति सदा' से पार्वतीजीकी श्रद्धा और 'कालकूट फल...' से शिवजीका अटल विश्वास दिखाया। इसीसे श्रद्धा और विश्वासको साथ रक्खा।

पं० श्रीकान्तशरणजीका मत है कि इस दोहेमें चारों प्रकारके नामके अर्चारूप कहे गए, स्वयंव्यक्त दिव्य, सैद्ध और मानुष्य। जैसे श्रीशिवजीके हृदयमें 'स्वयंव्यक्त' रूप प्रकट हुआ, क्योंकि इन्हें स्वयं नामका ज्ञान एवं विश्वास हुआ। पार्वतीजीके हृदयमें इसी विश्वास तथा ज्ञानको महादेवजीने स्थापित

किया। अतः 'दिव्य' हुआ। वाल्मीकिजीके हृदयमें सप्तर्षि सिद्धोंने स्थापित किया; अतः 'सैद्ध' हुआ। गणेशजीने स्वयं (अपने आप) पृथिवीपर लिखकर और नाममूर्त्ति निर्माणकर परिक्रमा करके फल पाया। अतः, यहाँ 'मानुष्य' हुआ।'

यद्यपि यहां नामका प्रकरण है, न कि नामीका, तथापि गणेशजीने जो पृथिवीपर नाम लिखा था उसको नामका अर्चाविग्रह मानकर यह कल्पना की गई है। कल्पना सुन्दर है। पूर्वोक्त शिवजी, पार्वतीजी और वाल्मीकिजी यदि वर्णात्मक नामका ध्यान करते हों तो उनके विषयमेंभी यह कल्पना ठीक हो सकती है। क्योंकि मानसिक मूर्तिकाभी अर्चाविग्रहमें ग्रहण होता है। जो विग्रह देवताओंके द्वारा स्थापित किया जाय वह 'दैव', जो सिद्धोंद्वारा स्थापित किया जाय वह 'सैद्ध' और जो मनुष्यके द्वारा स्थापित किया जाय उसे 'मानुष' कहा जाता है। श्रीगणेशजी देवता हैं इस लिये उनके द्वारा स्थापित विग्रहको 'दैव' विग्रह कहना विशेष ठीक होगा। चारोंको लाना हो तो शिवजी सिद्ध हैं ही अतः उनके द्वारा स्थापितको 'सैद्ध' और वाल्मीकिजी मनुष्य हैं अतः उनका 'मानुष' मान ले सकते हैं।

पुनः, श्रीपंडितजी लिखते हैं कि 'इन आठ चौपाइयोंके अभ्यन्तर यह भाव दिखाया गया है कि शिवजीसे उतरकर गणेशजी नामप्रभाव जानते हैं। गणेशजी और वाल्मीकिजी दोनोंने बहुत ब्रह्महत्या की थी, दोनों नामसे पवित्र हुए, एक आदिपूज्य हुए, दूसरे आदिकवि, इसलिए दोनोंको एकत्र रक्खा। आगे फिर पार्वतीजीको शिवजीके समीप लिखते हैं।'

दोहा—बरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास।
राम नाम बर बरन जुग सावन भादव* मास। १६।

शब्दार्थ—शालि=धान। वैद्यकके अनुसार पाँच प्रकारके धानोंमेंसे यह एक प्रकारका धान है जो हेमन्त-ऋतुमें होता है। इसके भी अनेक भेद कहे जाते हैं। शालिधानको जड़हन और बासमतीभी कहते हैं। यह प्रायः जेठ मासमें बोया जाता है। फिर श्रावणमें उखाड़कर रोपा जाता है। श्रावण भादोंकी वर्षा इसकी जान है। यह अगहनके अन्त या पौषके आरम्भमें पककर तैयार हो जाता है। यह धान बहुत बारीक और सुन्दर होता है। इसका चावल सबसे उत्तम माना जाता है।

अर्थ—श्रीरघुपतिभक्ति वर्षाऋतु है, तुलसी और सुन्दर दास 'शालि' नामक धान हैं। श्रीरामनामके दोनों श्रेष्ठ वर्ण सावन-भादोंके महीने हैं। १६।

नोट—१ पं० रामकुमारजी कहते हैं कि 'ऊपर चौपाईयोंमें कुछ भक्तोंको सुख देना कहा था और अब सब भक्तोंको सुख देना कहते हैं। यहाँ सुखही जल है। यथा, 'सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी'।

२ यहाँ गोस्वामीजी अपनेकोभी 'धान' सम कहते हैं। यथा, 'श्यामघन सींचिए तुलसी सालि सफल सुखात' (वि० २२१)। यह कवियोंकी उक्ति है। (श्रीरूपकलाजी)। प्रायः लोग यह अर्थ करते हैं कि 'तुलसीदासजी कहते हैं कि 'सुदास धान हैं'।

३ 'तुलसी सालिसुदास' इति। जबतक सावन भादोंकी झड़ी न लगे, शालिनामक धान नहीं होता; वैसेही, श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि उत्तमदासोंका और मेराभी आधार श्रीरामनामके दोनों अक्षर 'रा' 'म' ही हैं, इन्हींकी वृष्टि अर्थात् जिह्वासे निरन्तर जपनेसेही अपना जीवन है। यथा, 'रामनाम तुलसी को जीवन अधार रे' (वि० ६७), 'तुम्हरेई नामको भरोसो भव तरिबे को बैठे उठे जागत बागत सोये सपने' (क० उ० ७८),

* व्यासजी और रामायणीजीका पाठ 'भादों' है।

'अति अनन्य जे हरिके दासा। रटहिं नाम निसिदिन प्रति स्वासा॥' (वैराग्यसंदीपनी)। 'रामनाम' छोड़ और जितनी प्रकारकी भक्तियाँ हैं वे और अन्नों (चना, गेहूँ, ज्वार इत्यादि) के समान हैं जो और महीनोंके जल अथवा सींचसेभी हो जाते हैं। शालि अन्य सब धान्योंसे उत्तम होता है, इसीसे उत्तम दासोंकोही शालि कहा, अन्यको नहीं।

पं० शिवलालपाठकजी कहते हैं कि 'जैसे और महीनोंकी वर्षासे कदापि धानकी उपज नहीं होती, वैसेही भक्ति भक्तोंके दुःखको हरन नहीं कर सकती, यदि 'रामनाम' भक्तकी आशाको पूर्ण न करे, तात्पर्य यह है कि बिना रामनामके अवलम्बके भक्ति असमर्थ है। ध्वनि यह है कि रामभक्ति होने परभी रामनामही भक्तों को हराभरा रखता है'। (मानस मयङ्क)

४ वर्षाऋतुको भक्ति और युगाक्षरको श्रावण भादों कहने का भाव यह है कि—(क) जैसे वर्षा चतुर्मासामें श्रावणभादों दो महीनेही विशेष हैं, वैसेही श्रीरामभक्तिमें 'रा' 'म' ही विशेष हैं। तात्पर्य यह कि भक्ति बहुत भाँतिकी है, परन्तु उन सबोंमें रामनामका निरन्तर रटना, जपना, अभ्यास, यही सबसे उत्तम भक्ति है, जैसे सावनभादोंही वर्षाके मुख्य महीने हैं।

देवतीर्थश्रीकाष्ठजिह्वास्वामी और काशीनरेश दोनोंका मतभी यही है। रा. प. प. कार लिखते हैं कि वैद्यकादिमें वर्षा चार मासकी मानी गई है। काष्ठजिह्वास्वामीजी इस दोहेका भाव यह लिखते हैं कि जैसे वर्षा ग्रीष्मसंतापसे जलेहुये जीवोंको हरे करके सुफल करदेती है, वैसेही जब रघुपतिभक्ति उत्पन्न हुई तब जीवोंके घोर संताप मिटे और जन्म सुफल हुआ; वर्षा चार मास रहती है जिसमेंसे सावन भादों दो मास सार हैं, इसी प्रकार भक्तिके साधन बहुत हैं परन्तु सार ये दोही अक्षर हैं।' पुनः, (ख) प्राकृतिक अवस्थाओंके अनुसार वर्षके दो दो महीनेके छः विभागको ऋतु कहते हैं। ऋतु छः हैं। इसके अनुसार वर्षाऋतु केवल सावनभादोंके लिए प्रयुक्त होता है। इस तरह दोहेका भाव यह होता है कि जैसे वर्षाऋतु सावनभादों दोही महीनेकी होती है, वैसेही 'रा' 'म' हीका नित्य स्मरण केवल यही रघुपतिभक्ति है, इससे बाहर रघुपतिभक्ति है ही नहीं। श्रावण-भादों और वर्षाऋतुमें अभेद है, वैसेही रामनाम और रघुपतिभक्तिमें अभेद है। इन्हींपर उत्तम दासरूपी धानका आधार है।* पुनः (ग) सालमें छः ऋतु होती हैं। वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हिम, शिशिर। इनमेंसे वर्षाऋतुही सबका पोषक है; रघुपतिभक्ति वर्षाऋतु है और श्रीगणेश, गौरी, शिव, सूर्य और विष्णु इन पंचदेवोंकी भक्ति अन्य पाँच ऋतुएँ हैं। यथा, 'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी। अ० २७३।' 'सब करि माँगहिं एक फल रामचरनरति होउ। अ० १२९।' श्रीरामभक्तिहीसे और भक्तिओंकी शोभा है; क्योंकि शिवजी, गणेशजी, पार्वतीजीका रामनामही जपना ऊपर कह आये हैं, और सूर्य और विष्णु भगवान्भी रघुपतिभक्त हैं। यथा, 'दिनमनि चले करत गुन गाना। १।१९६।' 'हरि हित सहित रामु जब जोहे। रमा समेत रमापति मोहे। १।३१७।'

५ ऊपर ४ (क) में 'वर्षारितु' का अर्थ वर्षाकाल, चौमासा है, जैसा साधारण बोलीमें कहा और समझा जाता है, अन्य अर्थमें दोहार्थकी जो चोखाई वा सुन्दरता है वह नहीं रह जाती, क्योंकि जब कई वस्तु हों तभी उनमें कोई प्रधान कहा जा सकता है। रघुपतिभक्तिमें 'रा', 'म' तभी मुख्य कहे

* वर्षाऋतु=रघुपतिभक्ति
वर्षाऋतु=श्रावण भादों } रघुपतिभक्ति=श्रावण भादों='र' 'म'
'र' 'म'=रघुपतिभक्ति।

अर्थात् रामनाम रटना ही रघुपतिभक्ति है।

जा सकते हैं जब रघुपति भक्ति ही कई तरहकी हो, सो वह नौ प्रकारकी है ही, पुनः आगे दोहा २२ में भी 'रामभक्ति' में नामको श्रेष्ठ माना है।

६ 'बरन जुग सावन भादों मास' का भाव यह भी कहते हैं कि जैसे सावन भादों मेघकी झड़ी लगा देते हैं वैसेही रामनामके वर्ण रामभक्तके हृदयरूपी थलपर प्रेमकी वर्षा करते हैं। सावन भादोंकी वर्षासे धान बढ़ता और पुष्ट होता है, वैसेही 'श्रीराम' नामके जपनेसे भक्तिकी वृद्धि होती है।

७ पूर्व रकार, अकार, मकार तीनों अक्षरोंका माहात्म्य कहा, अब यहाँसे 'एक छत्र एक···' तक 'रकार मकार' इन दोनों अक्षरोंका माहात्म्य दूसरे प्रकारसे कहते हैं। (पं० रामकुमारजी)।

८ यहाँ 'रा' 'म' पर श्रावण भादों मास होनेका आरोप किया गया। सावन भादों मास होनेकी सिद्धिके लिए पहलेही 'सुदास' और अपनेमें धान और रघुपतिभक्तिमें वर्षाका आरोप किया गया। अतएव यहाँ 'परंपरित रूपक' हुआ।

चौ०—आखर मधुर मनोहर दोऊ। बरन बिलोचन जन जिय जोऊ। १।

शब्दार्थ—मनोहर=मन हरनेवाला, सुन्दर। बिलोचन=नेत्र, दोनों नेत्र, विशेष नेत्र। जन=भक्त, दास, जापक, प्राणी। जिय=हृदय, जी।=जीव, प्राण। जोऊ=जो (वर्ण ही)।=देखलो (यह गुजरात प्रान्तकी बोली है)। यह शब्द 'जोहना' का अपभ्रंश जान पड़ता है। देखनेके अर्थमें बहुत ठौर आया है। यथा, 'करि केहरि बन जाइ न जोई। अ० ११२।' 'अमित बसन बिनु जाहिं न जोये। अ० ६१।' 'भरी क्रोध जल जाइ न जोई। अ० ३४।', 'समुझि मोरि करतूति कुल प्रभु महिमा जिय जोइ' (२. १६५)।

अर्थ—१ दोनों अक्षर ('रा' और 'म') मधुर और मनोहर हैं। सब वर्णोंके नेत्र हैं और जो जनके प्राण भी हैं। १। (पां.)।

नोट—१ जैसे पूर्व दोहेमें जप और माहात्म्य जानना कहा, वैसेही यहाँ कहते हैं। (पं० रामकुमारजी)।

'आखर 'मधुर मनोहर' दोऊ' इति। (१) नामका जप जिह्वा और मनसे होता है, सो जिह्वाके लिये तो 'मधुर' और मनके लिये 'मनोहर' हैं। अर्थात् उच्चारणमें 'मधुर' होनेसे जिह्वाको स्वाद मिलता है और समझनेमें अपनी सुन्दरतासे मनको (ये वर्ण) हर लेते हैं। (पं० रामकुमारजी)

[नोट—(क) 'दोऊ' पद देकर यथासंख्यका निषेध किया। अर्थात् 'एक मधुर, दूसरा मनोहर' यह अर्थ नहीं है। (ख) प्राचीन ऋषियोंने इन्हें मधुर अनुभव किया है इससे प्राचीन प्रमाण इनके मधुर होनेका पाया जाता है। यथा, 'हे जिह्व ! मधुरप्रिये सुमधुरं श्रीरामनामात्मकम्। पीयूषम्पिव प्रेमभक्ति मनसा हित्वा विवादानलम्॥ जन्म व्याधिकषायकामशमनं रम्यातिरम्यं परम्। श्रीगौरीशप्रियं सदैवशुभगं सर्वेश्वरं सौख्यदम्॥' (श्रीसनकसनातन संहितायां); पुनः, 'हे जिह्व ! जानकीजानेर्नाम माधुर्य्यमंडितम्॥' (श्रीहनुमत्संहितायां); पुनः,यथा, 'कूजंतं राम रामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकि कोकिलम्॥' (वाल्मीकीयरामायण) अर्थात् हे जिह्वे। तू मधुरप्रिय है। अत्यन्त मधुर प्रेमभक्तिपूर्वक वादविवाद छोड़कर जन्मरोग और कामादिका शमन करनेवाले, अत्यन्त रम्य, श्रीशिवपार्वतीजीके प्रिय, सबके स्वामी, सदा सुख और शुभ गतिके देनेवाले श्रीरामनामरूपी अमृतको पान कर। (श्रीसनकसनातन सं०)। हे जिह्वे! श्रीजानकीपतिका नाम माधुर्यसे युक्त है उसे ले। (श्रीहनुमत् सं०)। कवितारूपी शाखापर चढ़कर मधुर जिसके अक्षर हैं ऐसे मधुर रामनामको मधुर स्वरसे बोलनेवाले वाल्मीकिरूपी कोकिलको मैं प्रणाम करता हूँ। पुनः, (ग) महाराजश्रीयुगलानन्यशरणजी 'श्रीनामकान्ति' में लिखते हैं कि 'पक्षपातकी बात नहीं निज नयननसे लखि लीजै। परखो प्रीति बजाय टमय

पुनि रटत महा मधु पीजै ॥ और नाम सुमिरत रसना दशबीश वार में छीजै । युगलानन्य सुनाम राम नित रटत जीह रस भीजै ॥' इनके उदाहरणस्वरूप श्रीसियानागरशरण, गर्जनवाबा श्रीराघोदास, श्रीमौनीवाबा रामशरणजी, श्रीसीतारामदास सुतीक्ष्णजी, श्रीसीतारामशरणजी, श्रीरामकृष्णदासजी आदि कई महात्माओंका परिचय इस दासको हुआ जिनके जिह्वापरभी नाम सदा विराजता रहता है, इतना मधुर लगता है कि कोई कैसाही प्रलोभन देकरभी उसे नहीं छुड़ा सकता ।]

(२) 'य र ल व म' को व्याकरणमें विलकुल व्यंजनही नहीं किंतु स्वरःप्राय कहा है। व्यंजनोंकी अपेक्षा स्वर तो मधुर होते ही हैं। जो मधुर होता है वह मनोहर भी होताही है; ये दोनों गुण एक साथ होते हैं। अतः मधुर और मनोहर कहा । (श्रीरूपकलाजी)

(३) 'र' और 'म' ये दोनों अक्षर संगीतशास्त्र और व्याकरणशास्त्रमें मधुर माने गये हैं । 'र' ऋषभ स्वरका सूचक है और 'म' मध्यम स्वरका। संगीतज्ञ इन दोनों स्वरोंको मधुर मानते हैं और मधुर होनेसे मनोहर हैं, क्योंकि मधुर रसको सारा संसार चाहता है । व्याकरणशास्त्रानुसार 'र' मूर्द्धन्य और 'म' ओष्ठ्य अक्षर हैं। मिठाईका ठीक स्वाद ओंठोंहीसे मिलता है (यह अनुभवकी वात है जो चाहे अनुभव करके देख ले कि मिठाई खानेसे हलक, तालु और जिह्वामें एक प्रकारकी जलन पैदा होती है; परन्तु ओंठोंमें नहीं । 'म' को ओष्ठ्य इस लिए माना गया कि उसका उच्चारण तवतक स्पष्ट नहीं हो सकता जबतक दोनों ओंठ विलग विलग न हो जायँ) ।

(४) प्रोफेसर लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि—(क) 'र' और 'म' अक्षर 'मधुर' और 'मनोहर' शब्दोंके आदि और अन्तमें आते हैं । गोस्वामीजीका भाव इन शब्दोंके रखनेसे यह जान पड़ता है कि वे 'र' और 'म' को 'माधुरी' और 'मनोहरता' का आदिकारण और अन्तिम सीमा मानते थे । नहीं तो वे कोई अन्य शब्दभी रख सकते थे। (ख) गणितविद्यासे 'र' और 'म' की वाराखड़ियोंसे सीधे वा उलटे जितनेभी शब्द बन सकते हैं, उन शब्दोंमें कुछ थोड़े तो निरर्थक होते हैं और कुछही अमधुर और अमनोहर । जो चाहे सो बनाकर देख ले; लगभग अस्सी प्रति सैकड़ा ऐसे शब्द बनेंगे जिनके अर्थसे किसी न किसी प्रकारकी मधुरता और मनोहरता प्रगट होती है ।

(५) दोनों मधुर हैं क्योंकि इनसे जिह्वाको रस मिलता है। मनोहर हैं अर्थात् मनको एकाग्र करते हैं । (पं०) ।

(६) श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि—'ह प फ ठ ध घ भ' गम्भीर योगियोंके लायक हैं, 'म न य र ल ज द ग अ' मधुर हैं, माधुर्यगुणके लायक हैं । पुनः, स्वर 'सा रे गा मा पा दा नी' में रकार ऋषभस्वर, मकार मध्यम स्वर हैं । इस लिए रागके साथ गानेमें मनोहर हैं; भाव भेदमें मधुर, नादमें मनोहर हैं । पुनः, मनोहर अर्थात् सुन्दर हैं । भाव यह कि सन्ध्यक्षर, द्वुत्ताक्षर, संयोगादि नहीं हैं, इस लिये लिखने, देखने और सुननेमें भी मनोहर हैं ।

(७) महात्मा श्रीहरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि यहाँ दोनों अक्षरोंके गुण कहते हैं । अवर्ग और स्पर्शनके पंचम यवर्गके अक्षर उच्चारणमें मधुर हैं और वर्गोंके चतुर्थ वहुत गंभीर हैं, तीसरे आखर भी सुहावने हैं; वाकीके रूखे हैं । इसलिये रकार मकार मधुर कहे गए और अर्थसे दोनों मनोहर हैं ।

(८) जैसे आमका खयाल आतेही आमके मीठे स्वाद और रसहीपर ध्यान जाता है और उसके खानेको जी ललचाता है, वैसेही श्रीरामनामके अक्षरोंका महत्व नामके सुमिरतेही जीमें आता है तो वे जिह्वा और मन दोनोंको मीठे वा प्रिय लगने लगते हैं । प्रिय लगनेसे फिर उनको प्रेमसे सुमिरतेही वनता है और सुमिरन करनेसे मनके सब विकार दूर हो जाते हैं । अतः नामका महत्व विचारते हुए जप करना चाहिए ।

नोट—२ 'बरन विलोचन' इति । (क) मानसदीपककार लिखते हैं कि 'अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग इत्यादि आठों वर्गोंके वर्ण सरस्वतीके अष्टांग हैं । चरणोंके क्रमसे 'र' 'म' दोनों नेत्रके स्थानमें पड़े हैं, 'य' नासिका-स्थानमें है । इस विचारसे 'विलोचन' कहा । 'र' दाहिना नेत्र है, 'म' बायाँ । (ख) वर्णमालाके कुल अक्षरोंसे तन्त्रशास्त्रानुसार जब सरस्वतीका चित्र बनाया जाता है तो रकार मकार नेत्रके स्थानपर स्थापित किए जाते हैं, जिससे यह प्रकट होता है कि यही 'र' 'म' सरस्वतीजीके नेत्र हैं । अर्थात् बिना इन दो अक्षरोंके सरस्वती अंधी हो जायगी, और अंधी होकर संसारमें बेकाम हो जायगी और संसारका सारा काम गड़बड़ हो जायगा। पद्माकर कविके वंशजोंमें अबभी वर्णों द्वारा बनाया हुआ यह सरस्वती तन्त्र है और इसीके पूजनसे उस वंशके लोग कवि होते जाते हैं । (यह बात दीनजीसे संग्रहकर्त्ताको मालूम हुई) । (ग) 'वर्ण विलोचन', यथा, 'लोचने द्वे श्रुतीनाम्' अर्थात् ये दोनों वर्ण श्रुतियोंके नेत्र हैं । श्रुतियाँ जो यश गान कर रही हैं, वह इन्हीं दो नेत्रोंसे देखकर । पुनश्च 'उन्मीलत्पुण्यपुंजद्रुम ललित दले, लोचने च श्रुतीनां·····' (महाशम्भुसंहिता) । अर्थात् उदयको प्राप्त होनेवाला जो पुण्यसमूहरूपी वृक्ष है उसके यही दो दल हैं और श्रुतियोंके नेत्र हैं ।

नोट—३ 'जन जिय जोऊ' इति । इसके और अर्थ ये किये जाते हैं—

अर्थ—२ जो जनके हृदयमें रहते हैं ।

अर्थ—३ 'जनके जीको देखनेवाले हैं' । अर्थात् उनके हृदयको देखते रहते हैं कि इनकेजीमें जो इच्छा हो उसे हम तुरत पूरी करें ।

अर्थ—४ 'जो जनके हृदयके भी नेत्र हैं' । भाव यह है कि जिन प्राणियोंके हृदयमें ये दोनों अक्षर नहीं हैं, वे अन्धे ही हैं, श्रीरामरूपादि नहीं देख सकते । यथा, 'काई बिषय मुकुर मन लागी ॥···मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना । रामरूप देखहिं किमि दीना । १. ११५ ।' 'ताही को सूझत सदा दसरथराजकुमार । चश्मा जाके दृगनमें लग्यो रकार मकार ।' (श्री १०८ युगलानन्यशरणजी) ।

अर्थ—५ पं० रामकुमारजीका मत है कि 'दोऊ' देहलीदीपक है । अर्थात् दोनों वर्ण जनके हृदयके देखनेवाले दोनों नेत्र हैं । भाव यह कि औरोंके अन्तःकरणके नेत्र ज्ञान और वैराग्य हैं । यथा, 'ज्ञान बिराग नयन उरगारी । ७. १२० ।', परन्तु भक्तोंके अन्तःकरणके नेत्र 'रा' और 'म' ही हैं । इन्हींसे वे तीनों कालों और तीनों लोकोंकी बातें देखते हैं । यहाँ 'द्वितीय निदर्शना अलंकार' है ।

अर्थ—६ जिन हृदयके नेत्रोंसे भक्त भगवान्का स्वरूप देखते हैं, वे (नेत्र) मानों ये दोनों अक्षरही हैं ।(पं०)

अर्थ—७ हे प्राणियो ! अपने जीवके नेत्रोंसे देखो । (वै०)

अर्थ—८ हे भक्तजनों ! (स्वयम् अपने) हृदयमें विचार देखो । (दीनजी)

अर्थ—९ ये वर्ण नेत्र हैं, इनसे जीवको (आत्मस्वरूपको) देख लो ।

सुमिरत सुलभ सुखद सब काहु । लोक लाहु परलोक निबाहु । २ ।

अर्थ—स्मरण करनेमें सबको सुलभ और सुख देनेवाले हैं । लोकमें लाभ, परलोकमें निर्वाह करते हैं । २ ।

नोट—१ 'स्मरण करतेही सुलभ हैं', ऐसाभी अर्थ किया जाता है । इसका भाव यह है कि सब मनोरथ इनसे सहजही प्राप्त हो जाते हैं । यथा, 'कासी बिधि बसि तनु तजे हठि तन तजे प्रयाग । तुलसी जो फल सो सुलभ रामनाम अनुराग ॥ (दो० १४), 'पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम । सुलभ सिद्धि सब साहिबो सुमिरत सीताराम' (दो० ५७०), 'तुलसी सुमिरत राम सुलभ फल चारि' (बरवै), 'सेवत सुलभ सुखद हरिहर से' (बा० ३२) पुनः, सुलभता यहाँतक कि 'धोखेहु सुमिरत पातक पुंज सिराने ।' (विनय २३६) ।

२ स्मरण करनेमें 'सुलभ' हैं। इसका भाव यह है कि उच्चारणमें कठिन नहीं, जैसे ट ठ ड ढ ण झ ञ ङ इत्यादि कठिन हैं। इनके उच्चारणमें व्याकरणकी सहायता नहीं लेनी पड़ती। सहजही बच्चे-बूढ़े पढ़े-अनपढ़े, सभी उच्चारण कर लेते हैं। सुलभ=सुगम, सरल, आसान, सहल। पुनः, सुलभ हैं अर्थात् सबको इनके स्मरणका अधिकार है।

३ 'सुलभ सुखद' कहकर सूचित किया कि और मंत्र एक तो स्मरणमें कठिन हैं, दूसरे सबको सुखद नहीं, अधिकारीको सुखद हैं, अनधिकारीको विघ्न करते हैं। (पं० रामकुमारजी)। पुनः भाव कि स्मरण करने में स्थानादिकका कोई विचार या नियम नहीं है। (रा० प्र०)

४ 'सुखद सुलभ सब काहू' इति। गायत्री आदि बहुतसे मन्त्र ऐसे हैं कि उनके जपका अधिकार शूद्र और अन्त्यजको और विशेषतः स्त्रियोंको नहीं है, परन्तु 'रामनाम' के स्मरणका अधिकार स्त्रीपुरुष, नीच ऊँच, महाअधमपापी, कोईभी किसीही वर्ण या आश्रमका क्यों न हो सभीको है। यथा, 'नीचेहू को ऊँचहू को, रंकहू को, रावहू को, सुलभ सुखद आपनो सो घरु है।' (विनय २५५)।' जैसे अपने घरमें रोकटोक नहीं और सब सुख, वैसेही रामनाममें सबका अधिकार और उससे सबको सुख प्राप्त हो सकता है।

५ 'लोक लाहु परलोक निबाहू' इति। भाव यह है कि 'अन्य मन्त्रोंमेंसे कोई लोकमें लाभ देते हैं परलोक नहीं बना सकते, कोई परलोक बनाते हैं इस लोकमें लाभ नहीं देते। परन्तु रामनाम लोक और परलोक दोनों बनाते हैं, स्वार्थ परमार्थ दोनोंके देनेवाले हैं। अर्थात् इस लोकमें रोटी, लूगा, धन, यश, सभी सुखके पदार्थोंको देनेवाले हैं, और परलोकमें प्रभुका धाम प्राप्त करा देते हैं। यथा, 'स्वारथ साधक परमारथ दायक नामु' (वि० २५४), 'कामतरु रामनाम जोई जोई माँगि है। तुलसी स्वारथ परमारथ न खाँगि है' (वि० ७०) 'रोटी लूगा नीके राखे आगेहूके वेद भाषै भलो हुइहै तेरो' (वि० ७६)। (पं० रामकुमारजी)। पुनः भाव कि 'भगवान्के दिव्य धाममें दिव्य देहसे सदा भगवत्सेवामें नियुक्त रखते हैं।' (मानसांक)। पुनः, भाव कि लोकमें सुख होनेसे अनेक शुभाशुभ कर्मभी अवश्यही होंगे, जिनसे स्वर्ग नरक आदि बाधाओंका भय होगा। अतः 'लोक लाहु' कहकर 'परलोक निबाहू' कहा। अर्थात् ये दोनों वर्ण उस बाधाको मिटाकर अकंटक शुभगति देते हैं। यथा, 'श्रीराम रामेति जना ये जपन्ति च सर्वदा। तेषां भुक्तिश्च मुक्तिश्च भविष्यति न संशयः।' (श्रीरामस्तवराज)। यहाँ 'स्वभावोक्ति अलंकार' है। यहाँ 'र, म' का सहज स्वभाव वर्णित है।

कहत सुनत सुमिरत[१] सुठि नीके। राम लखन सम प्रिय तुलसी के। ३।

शब्दार्थ—सुठि=अत्यन्त, बहुत ही। यथा, 'दामिनि बरन लखन सुठि नीके। अ० ११५।', 'सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू। अ० १६१।', 'जौं ए मुनिपट धर जटिल सुन्दर सुठि सुकुमार। अ० ११९।', 'किमि चलिहहिं मारग अगम सुठि सुकुमार सरीर। अ० १२०।', 'सुठि सुंदर संवाद वर। १. ३६।', 'भूषन बसन बेष सुठि सादे। अ० २२१।'

अर्थ—कहने, सुनने और सुमिरनमें बहुतही अच्छे हैं और मुझ तुलसीदासको तो श्रीरामलक्ष्मणके समान प्यारे हैं। ३।

प्रश्न—कहने सुनने सुमिरनेमें नीके होनेका क्या भाव है ?

उत्तर—(१) कहनेमें नीके यह है कि नामके अक्षरोंके शब्दसे यमदूत डर कर भाग जाते हैं। यथा, 'भर्जनं भव बीजानामर्जनं सुखसम्पदाम्। तर्जनं यमदूतानां राम रामेति गर्जनम्॥ श्रीरामरक्षास्तोत्र।' पुनः, जिन्हकर नामु लेत जग माहीं। सकल अमंगल मूल नसाहीं। बा० ३१५।' सुननेमें नीके, यथा, 'जाकर नाम सुनत सुभ होई।

१ समुझत—१७२१, १७६२, छ०, को. रा.। सुमिरत—१६६१, १७०४।

बा० १६३ ।' सुननेसेही कल्याण हो जाता है। स्मरण करनेमें नीके हैं। यथा, 'राम (नाम) सुमिरन सब बिधि ही को राज रे। विनय. ६७।', 'सुमिरत सकल सुमंगल मूला। २. २४८।'

(२) पुनः कहनेमें जिह्वाको नीके हैं, क्योंकि मधुर हैं। सुननेमें कानको नीके हैं, क्योंकि मनोहर हैं। अर्थात् ऊपर जो बातें दो चौपाईयोंमें कही थीं उनको इस चौपाईमें एकत्र करके कहा है।

टिप्पणी—१ (क) 'प्रिय तुलसी के' कहनेका भाव यह है कि औरोंकी हम नहीं कहते, हमको श्रीराम-लक्ष्मण सम प्रिय हैं। 'रा' राम और 'म' लक्ष्मणके वाचक हैं। इस लिए 'राम लखन सम प्रिय' कहा। 'हनुमान बाहुक' में भी ऐसा ही कहा है। यथा, 'सुमिरे सहाय रामलखन आखर दोउ जिन्ह के समूह साके जागत जहान हैं'। ☞ग्रन्थकारकी प्रीति नाम नामीमें समान है। रकार मकार श्रीरामलक्ष्मण सम हैं, इसीसे उनके समान प्रिय कहा। पुनः, (ख) 'रामलखन सम' प्रिय कहा क्योंकि ये सबके प्रिय हैं। यथा, 'ये प्रिय सबहि जहाँ लगि प्रानी'। (१. २१६)। 'तुलसी' को 'राम लखन' सम प्रिय हैं, क्योंकि 'तुलसी' इन्हींके उपासक हैं, इसीसे और किसीके समान प्रिय न कहा। (ग) ग्रन्थकार यहाँ और उपासकोंको उपदेश देते हैं कि नाममें श्रीरामलक्ष्मण सम प्रीति करो। यथा, 'बंदउँ राम लखन बैदेही। जे तुलसी के परम सनेही' (विनय ३६)।

पं०—कोई वर्ण, श्लोक आदि कहनेमें सुन्दर होते हैं पर अर्थ सुन्दर न होनेसे सुननेमें सुन्दर नहीं होते, कोई श्रवणरोचक होते हैं पर शिष्टसमाजमें कथनयोग्य नहीं होते (जैसे कामवार्ता), कोई (अभिचारादिके) मन्त्र सुमिरनयोग्य होते हैं पर मनको मलिन करते हैं और फलभी उनका नीच होता है; पर श्रीरामनामके वर्णोंका कहना, सुनना, सुमिरना सभी अति सुन्दर है।

वैजनाथजी—यहाँ नाम और नामीका एक्य दिखाते हैं। भाव यह कि कोई यह न समझे कि रूपसे भिन्न नामका प्रभाव कहते हैं, अतएव कहते हैं कि हमको 'रामलक्ष्मण' सम प्रिय हैं। श्रीजानकीरूप तो प्रभुकेही रूपमें प्रथम 'गिरा अरथ जलबीचि सम' में बोध करा आये, इससे दोही रूपमें तीनों रूप आगए। 'र' राम हैं, अकार जानकीजी हैं परन्तु दोनों वर्ण एकहीमें हैं। 'म' लक्ष्मणजी हैं। इसीसे मुझे अत्यन्त नीके लगते हैं। 'कहत सुनत....' से जनाया कि मुखसे कहता हूँ, कानोंसे सुनता हूँ और मनसे स्मरण करता हूँ।

प्रोफेसर लालाभगवानदीनजी कहते हैं कि शालग्रामविग्रह रूपान्तरसे श्रीरामही हैं, वे तुलसीको प्रिय हैं ही। अर्थात् तुलसी और शालग्रामका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी प्रकार तुलसीके लिए 'र' 'म' हैं। यहाँ 'उपमा अलंकार' है।

बरनत बरन प्रीति बिलगाती। ब्रह्म जीव सम[1] सहज सँघाती। ४।

अर्थ—रकार और मकारको (पृथक्-पृथक् वर्ण मानकर) वर्णन करनेमें दोनों वर्णोंकी प्रीतिमें पृथकता जान पड़ती है, (पर वास्तवमें ये वर्ण) स्वभावसेही एकसाथ रहते हैं, जैसे ब्रह्म और जीव। ४।

टिप्पणी—वर्णोंके वर्णन करनेमें प्रीति (मित्रता मैत्री) बिलगाती है। अर्थात् 'रकार' 'मकार' (र, म) की वर्णमैत्री नहीं मिलती। क्योंकि (क) 'र' अन्तस्थ है, 'म' स्पर्श है। (ख) 'र' यवर्ग है और 'म' पवर्ग। (ग) 'र' मूर्द्धसंबंधी है और 'म' ओष्ठसंबंधी। पुनः, इनके वर्णनमें न सङ्ग है न प्रीति, पर अर्थमें सङ्ग और प्रीति दोनों हैं, रकार ब्रह्मवाचक है और मकार जीववाचक।

नोट—इस चौपाईके और भी अर्थ और भाव ये कहे जाते हैं।

(१) 'रा' 'म' के स्थान, प्रयत्न, आकार और अर्थ इत्यादि यदि पृथक् पृथक् वर्णन करें, तो इनकी प्रीतिमें अन्तर पड़ जाता है; क्योंकि एकका उच्चारण मूर्धा और दूसरेका ओष्ठ और नासिकासे होता है; एक

१ इव—१७२१, १७६२, छ०। सम—१६६१, १७०४, को० रा०।

वैराग्यका हेतु है तो दूसरा भक्तिका, इत्यादि। परन्तु वस्तुतः ये 'ब्रह्मजीवसम' सहजही साथी हैं। (२) 'वर्णोंका वर्णन वर्णनकरनेवालेकी प्रीतिको अपनेमें विशेष लगा लेती हैं'। यहाँ विलगाती=विशेष करके लगाती है। यथा, 'भनिति मोरि सिवकृपा विभाती।' (बा० १५) में विभाती=विशेष भाती। (३) मानसपरिचारिका और अन्य दो एक टीकाकारोंने एक अर्थ, 'बरनत बर न प्रीति विलगाती' ऐसा पाठ मानकर, यह किया है कि 'वर्णन करनेमें श्रेष्ट हैं, इनकी प्रीति विलग नहीं होती'। (४) इन अक्षरोंके वर्णन करनेसे प्रीति विलग हो जाती (प्रगट हो जाती) है (जैसे दूधमेंसे मक्खन)। अर्थात् अक्षरोंके वर्णन करनेसे प्रेम प्रत्यक्ष सबको देख पड़ता है। (श्रीरूपकलाजी)। यहाँ विलगाती=अलग हो जाती। यथा, 'सो विलगाउ विहाइ समाजा। बा० २७१।' (५) 'यदि इन दोनोंका वर्णन करने लगें कि रामतापिनीमें ऐसा कहा है, सदाशिव-संहिता, ब्रह्मयामल, श्रीरामानुजमंत्रार्थ, महारामायण इत्यादिमें इनके विषयमें ऐसा कहा है तो इस भाँतिके विवरण सुनकर प्रमोद विलग हो आता है अर्थात् जीवको फड़का देता है, सुना नहीं कि मारे आनन्दके रोमांच हो आया' (मानस तत्व विवरण)। (६) 'र' और 'म' का अलगअलग वर्णन करनेमें प्रीति विलगाती है। अर्थात् बीजमंत्रकी दृष्टिसे इनके उच्चारण, अर्थ और फलमें भिन्नता देख पड़ती है। (मानसांक)। (७) वैजनाथजी लिखते हैं कि 'अब नित्यनैमित्य विभूतिका हेतु कहते हैं कि जिस प्रकार नैमित्यविभूति लीलामात्र श्रीराम, श्रीजानकी और श्रीलक्ष्मण तीनों रूप भिन्नभी हो जाते हैं, उसी प्रकार रकार और मकार का अन्य वर्णोंके साथ वाणीसे वर्णन करनेमें इन ('रा, म') की प्रीति विलग हो जाती है। 'अर्थात् छन्दादिमें रकार कहो, अकार कहो, मकार कहो सो यह नैमित्य लीलामात्रवत् है और नित्य विभूतिमें तो 'रा' 'म' सहज सँघाती हैं। यथा, श्रीरामानुजमन्त्रार्थे, 'रकारार्थो रामः सगुण परमैश्वर्यजलधिर्मकारार्थो जीवः सकलविधि कैंकर्यनिपुणः। तयोर्मध्याकारो युगलमथसम्बन्धमनयोरनन्याहंब्रूते त्रिनिगम सुसारोयमतुलः॥' अर्थात् 'र' का अर्थ है, दिव्य गुण और परमऐश्वर्यसे युक्त श्रीरामजी, 'म' का अर्थ है सब प्रकारके कैंकर्यमें निपुण जीव। मध्यके 'आ' का अर्थ है, मैं आपका अनन्य हूँ। यह जीवका श्रीरामजीसे सम्बन्ध बतलानेवाला है। यह तीनों वेदोंका अपूर्व सार है। जबतक जीव' अपना स्वरूप भूला है तबतक भटकता है। जब अपना स्वरूप जान लेता है तब भक्तिद्वारा प्रभुके निकटही है, वैसेही 'रा' 'म' नित्य साथी हैं।' (८) 'रकारमें स्पर्श थोड़ा और मकारमें बहुत है जिससे एकमें 'दूपितस्पृष्ट प्रयत्न' है और दूसरेमें स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्शकाभी है। रकार भीतर मुखके, मकार बाहार मूर्धा ओष्ठस्थानसे। 'रा' नाम शब्दका है और 'म' अर्थज्ञानका। इन दोनोंके गुण कहतेही इनकी परस्परकी प्रीति छूटीसी दिखाती है। (रा. प, रा. प्र.)। (९) विलगाती गोरखपुर, बस्ती और बुन्देलखंडमें देशबोली है। वहाँ 'दिखाती, देख पड़ती' कोभी 'विलगाती' कहते हैं। इस प्रकार यह अर्थ होगा कि वर्णोंके वर्णन (उच्चारण, जप) सेही उनकी प्रीति देख पड़ती है कि वे....। (शेषदत्तजी) (१०) श्रीविन्दुब्रह्मचारीजी—'वर्णन करनेसे वर्णकी प्रीति (मैत्री) विलग अर्थात् अलग होती है। क्योंकि ब्रह्मजीवकी तरह सहज सङ्गी हैं। रामनाममें दो वर्ण रकार और मकार हैं। रकार परमात्मतत्वका वाची है और मकार जीवका वोधक है। जीवतत्व परमात्मासे इस तरहपर मिला हुआ है और परमात्मा जीवतत्वमें इस तरहसे रमण करता है कि उनका सम्बन्ध अथवा लगाव तनकभी नहीं खंडित होता। दोनोंका अभिन्न और अङ्गअङ्गीभावसे अन्योन्य घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार कि कोई उनका खंड एवम् विच्छेद नहीं कर सकता। वे ऐसे सर्वव्याप्त हैं कि सर्वत्र सम्पूर्ण वही हैं, उनके भेदके लिए कहीं तिलमात्रभी अवकाश ही नहीं है। उनकी अभिन्नता यहाँतक सिद्ध है कि वे दो भिन्न वस्तु ही नहीं, 'जीवो ब्रह्मैव नापरः'। 'तत्वमसि' इसीका प्रतिपादक है। इसी प्रकार जैसे जीव ब्रह्मकीअभिन्नता सिद्ध है श्रीरामनामके भी दोनों अक्षर

एक हैं, वे परस्पर एक दूसरेसे अत्यन्त मिले हुए हैं। 'श्रीरामनामकलामणिकोप' में गोस्वामीजी वन्दना करते हुए कहते हैं, 'बन्दौं श्री दोऊ बरन तुलसीजीवनमूर। लसे रसे इक एकते तार तार दोउ पूर' दोनों वर्णोंके अभेदभावकी गोस्वामीजीकी यह उक्ति उनकी उपर्युक्त चौपाईके भावकी पुष्टि करती है। अस्तु, वे दोनों श्रीनामके वर्ण इतने मिले हुए हैं, उनका इतना एकाकार है कि शब्दगत होनेसे, कथनसे उनकी प्रीति अर्थात् मैत्री भंग हो जाती है। इस लिए वस्तुतः उनके संश्लिष्ट एवम् संघनिष्ठ तत्वका वर्णन नहीं हो सकता, वह सर्वदा अनिर्वचनीय है। जिस तरह अंकुरसे, उसके विकाशस्वरूप, दो दल फूटते हैं, इसी प्रकार उस अभिन्न तत्वसे उसके संकेतस्वरूप दो वर्ण प्रकट हुए और जैसे अंकुरमें उनका एकाकार है वैसेही अपनी मूल अवस्थामें वे दोनों वर्ण एक (तत्व) हैं। वे अक्षर निरक्षर हैं, यह आर्ष सिद्धान्त है, 'निवर्णं रामनामेदं केवलं च स्वराधिपम्'। इस रहस्यको यथावत् रामनामके आराधक योगिजन ही जानते हैं। (११) दोनों अक्षरोंका फल भिन्नभिन्न कहनेसे अपनी प्रीतिमें भेद पड़ेगा, क्योंकि कुछ न्यूनता अधिकता अवश्य कही जायगी और ये भिन्नभिन्न होनेवाले नहीं हैं। अतएव इनके फलका भेदकथन ठीक नहीं (पं०)। (१२) वर्णन करनेमें प्रीति बिलगाती है कि दो स्वरूप हो गए, नहीं तो वे तो ब्रह्मजीवके समान सहज सँघाती हैं। (शीलावृत्त)

नोट—२ 'ब्रह्मजीव सम सहज सँघाती' इति। (१) प्रोफेसर दीनजी कहते हैं कि 'र' 'म' ब्रह्म और जीवकी तरह सहज सँघाती हैं। अर्थात् जहाँ एक है, वहाँ दूसरा भी है। बिना जीवके ब्रह्मका अस्तित्व नहीं प्रमाणित हो सकता, न बिना ब्रह्मके जीवका अस्तित्व हो सकता है। इसी तरह 'र' 'म' सहज सँघाती हैं। अर्थात् यद्यपि 'मकार' और 'रकारके' बीचमें 'य' अक्षर आ जाता है तो भी ये दोनों उसी प्रकार एक हैं जिस प्रकार बीचके नाक होनेपरभी 'दोनों' नेत्र एकही अवयव माने जाते हैं, जहाँ एक आँख जायगी वहाँ दूसरी अवश्य जायगी और तत्व भी दोनों नेत्रोंका एकही है, जो शक्ति एकमें है वही दूसरेमेंभी है, यही उनका 'सहज सँघाती' होना है। 'र' को जब हम बीजरूप 'राँ' से उच्चारण करते हैं तो 'म' स्वयं अनुस्वार रूपसे आजाता है यही 'सहज सँघातीपन' है। अर्थात् बिना उसके उसका अस्तित्वही नहीं हो सकता।

(२) जैसे ब्रह्म सदा जीवके साथ रहकर उसकी रक्षा किया करते हैं। यथा, 'तैं निज कर्मडोरि दृढ़ कीन्ही' से 'तू निज कर्म जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तजेउ नहिं तेरो' तक। वि० १३६।', 'ब्रह्मजीव इव सहज सनेहू। ब० २१६।'

(३) श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अ० ११ में भगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा है कि उद्धव! अब मैं तुमसे एकही धर्मीकी बद्ध और मुक्त इन विरुद्धधर्मोंवाली दोनों स्थितियोंकी विलक्षणताका वर्णन करता हूँ। ये दोनों पक्षी (जीव और ब्रह्म) समान (नित्य, चेतन) सखा हैं और एकही वृक्ष (शरीर) में स्वेच्छासे (जीव कर्मफलभोगार्थ और ब्रह्म सर्वव्यापक होनेके कारण) घोसला बनाकर रहते हैं। उनमेंसे एक (जीव) तो उसके फलों (दुःख सुखादि कर्मफलों) को खाता (भोगता) है और दूसरा (ब्रह्म) निराहार (कर्मफलादिसे असंग साक्षीमात्र) रहकरभी अपने ऐश्वर्यके कारण दैदीप्यमान रहता है। यथा, 'अथ बद्धस्य मुक्तस्य वैलक्षण्यं वदामि ते। विरुद्धधर्मिणोस्तात स्थितयोरेकधर्मिणि। ५। सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ, यदृच्छयैतौ कृत नीडौ च वृक्षे। एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्। ६।' यह भाव 'सहज सँघाती' का है। इसी तरह 'रा' 'म' का नित्य साथ है। सेतुबन्धमें जब पत्थर एकसाथ जुटे न रहने पाते थे तब एक पत्थरपर 'रा' लिख दिया जाता था दूसरेपर 'म' और दोनोंको सटा दिया जाता था बस फिर तो वे पत्थर अलग न होते थे। (आनन्द रा. सारकांड सर्ग १० में श्रीरामजीने नलसे कहा है)। पुनः

(४) भाव कि कोई संग ऐसा है कि पहले था अब छूट गया जैसे अज्ञान न जाने कबसे था अब छूट गया। इसे 'अनादिसान्त' कहेंगे। कोई संग पहले न था पीछे हुआ, जैसे ज्ञान पहले न था पीछे हुआ, इसे 'सादिअनन्त' कहेंगे। कोई संग ऐसा है कि न तो पहले ही था न अन्तमें किन्तु बीचमें कुछ समय तक रहा जैसे कि पुत्र मित्र आदिका संग। यह 'सादि सान्त' है। परन्तु यह 'ब्रह्म जीवका संग' तीनोंसे न्यारा है, यह पहलेभी था, अबभी है और सदा रहेगा। अतएव 'सहज सँघाती' कहा। अर्थात् इनका संग 'अनादि अनन्त' है, यह बतानेके लिये 'ब्रह्मजीव सम सहज सँघाती' कहा।

इस पर शंका हो सकती है कि 'अब उनका संग अनादि अनन्त है तब यह कैसे कहा जाता है कि जीव ईश्वरको प्राप्त हुआ। यथा, 'ब्रह्मविदाप्नोति परं' (तै. २। १) (ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मको प्राप्त होता है), 'होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।' (४. १४)? इसका समाधान यह है कि परमात्माके व्यापक होनेसे उसके अव्यक्त रूपसे जीव कभीभी अलग नहीं हो सकता, क्योंकि इन दोनोंका अपृथक्सिद्धसम्बन्ध है। परन्तु जैसे कोई मनुष्य किसी कार्यवश हाथसे अँगूठी उतार अपने गलें या शरीरके किसी अंगमें बाँध ले और विस्मरण हो जानेसे फिर उसे सर्वत्र खोजा करे, जब किसीके बतानेसे वह उसे प्राप्त कर लेता है तब वह कहता है कि अँगूठी मिल गई. इसी तरह जीव सहज सँघाती परमात्माको अनादि अविद्याके कारण भूल गया और परमात्माके हृदयस्थ होते हुएभी वह उसे यत्रतत्र ढूँढ़ता फिरता है; जब परमात्माकी कृपासे कोई सद्गुरु परमात्माका ज्ञान करा देता है, तब वह समझता है कि मुझको भगवान् प्राप्त हो गए। अर्थात् शास्त्रोंमें जो प्राप्ति कही गई है वह ज्ञान होनेको ही कही गई है। यहाँ 'सहज सँघाती' जो कहा गया है वह अव्यक्तरूपको लक्ष्य करकेही कहा गया है।

नर नारायन सरिस सुभ्राता। जग पालक बिसेषि जन त्राता।५।

अर्थ—(दोनों वर्ण) नर और नारायणके समान सुन्दर भाई हैं। (यों तो वे) जगत्भरके पालनकर्त्ता हैं (पर) अपने जनके विशेष रक्षक हैं।५।

नोट—१ 'नर नारायणका भायप कैसा था' यह बात जैमिनीय भारतकी कथासे विदित हो जायगी। जैमिनी भारतमें कहते हैं कि सहस्रकवची दैत्यने तपसे सूर्य भगवान्को प्रसन्न करके वर माँग लिया था कि मेरे शरीरमें हजार कवच हों, जब कोई हजार वर्ष युद्ध करे तब कहीं एक कवच टूट सकै, पर कवच टूटते ही शत्रु मर जावे। उसके मारनेको नरनारायणअवतार हुआ। एक भाई हजार वर्ष युद्ध करके मरता तब दूसरा भाई मंत्रसे उसे जिला कर और स्वयं हजार वर्ष युद्ध करके दूसरा कवच तोड़कर मरता, तब पहला इनको जिलाता और स्वयं युद्ध करता।........इस तरहसे लड़तेलड़ते जब एकही कवच रह गया तब दैत्य भागकर सूर्यमें लीन हो गया और तब नरनारायण बदरीनारायणमें जाकर तप करने लगे। वही असुर द्वापरमें कर्ण हुआ जो गर्भसेही कवच धारण किये हुए निकला, तब नरनारायणहीने अर्जुन श्रीकृष्ण हो उसे मारा (यह कथा सुनी हुई लिखी गई है)।

२—'नर नारायण' इति। धर्मकी पत्नी दक्षकन्या मूर्तिके गर्भसे भगवान्ने शान्तात्मा ऋषिश्रेष्ठ नर और नारायणके रूपमें अवतार लिया। उन्होंने आत्मतत्वको लक्षित करनेवाला कर्मत्यागरूप कर्मका उपदेश किया। वे बदरिकाश्रममें आजभी विराजमान हैं। विनय पद ६० में इनकी किंचित् कथाभी है और भा. ११. ४ ६-१६ में कुछ कथा है। ये भगवान्हीके दो रूप हैं।

टिप्पणी—१ (क) निर्गुणरूपसे जगत्का उपकार नहीं होता, जैसा कहा है, कि 'व्यापक एक ब्रह्म अविनासी। सत चेतन घन आनंदरासी॥ अस प्रभु हृदय अछत अविकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥ २३ (६-७)'। इसी लिए यहाँ सगुणकी उपमा दी। सगुण रूपसे सबका और सब प्रकारसे उपकार

होता है, इसलिए रामनामके दोनों वर्णोंका नर नारायणरूपसे जगत्का पालन करना कहा। (ख) भाईपना ऐसा है कि जिह्वासे दोनों प्रकट होते हैं। इस लिए जीभ माता है, 'र' 'म' भाई हैं। यथा, 'जीह जसोमति हरि हलधर से। २०। ८।'

टिप्पणी—२ 'बिसेषि जन त्राता' इति। अर्थात् (क) जैसे नरनारायणने जगत्भरका पालन किया, पर भरतखण्डकी विशेष रक्षा करते हैं; वैसेही ये दोनों वर्ण जगत्मात्रके रक्षक हैं, पर जापक जनके विशेष रक्षक हैं। जगत्मात्रका पालन इसी लोकमें करते हैं और जापक जनके लोक परलोक दोनोंकी रक्षा करते हैं। वा, (ख) ईश्वरत्वगुणसे सबका और वात्सल्यसे अपने जनका पालन करते हैं। यथा, 'सब मम प्रिय सब मम उपजाये' से 'सत्य कहउँ खग तोहि, सुचि सेवक मम प्रान प्रिय' तक। (७. ८६-८७)।

नोट—३ पुनः, नर नारायण भरतखण्डके विशेष रक्षक हैं और वहाँ नारदजी उनके पुजारी हैं, वैसेही यहाँ 'रा' 'म' भरतजीकी रीति वाले भक्तोंरूपी भरतखण्डके विशेष रक्षक हैं, नामका स्नेह नारदरूपी पुजारी है। (वै०)। पुनः, नर नारायण सदा एकत्र रहते हैं वैसेही 'रा' 'म' सदा एकत्र रहते हैं। विशेष पालन अर्थात् मुक्तिसुख देते हैं। (पं०)।

४ श्रीजानकीशरणजी 'जन' से 'दर्शक' का अर्थ लेते हैं। अर्थात् जो बदरिकाश्रममें जाकर दर्शन करते हैं उनके लोक परलोककी रक्षा करते हैं। 'जो जाय बदरी, सो फिर न आवै उदरी'। (मा. मा.)

भगति सुतिय कल करन बिभूषन। जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन। ६।

शब्दार्थ—सुतिय=सुन्दर अर्थात् सौभाग्यवती स्त्री। कल=सुन्दर। करन (कर्ण) = कान। बिभूषण= विशेष भूषण। करनविभूषन=कर्णफूल। बिधु=चन्द्रमा। पूषन=सूर्य ।=पोषण करनेवाले।

अर्थ—भक्तिरूपिणी सौभाग्यवती सुन्दर स्त्रीके कानोंके भूषण (दो कर्णफूल) हैं। जगत्के हितके लिये निर्मल चन्द्रमा और सूर्य हैं। [अथवा, 'निर्मल चन्द्रमाके समान पोषण करनेवाले हैं'। परन्तु ऊपर दो दो उपमाएँ देते आते हैं और उपमेयभी 'रा', 'म' दो हैं, अतः यह अर्थ अधिक उत्तम नहीं है]। ६।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—इस चौपाई 'नर नारायन सरिस सुभ्राता।...बिधुपूषन॥' में गोस्वामीजीने उपमाओंका क्रम बदल दिया है। उन्होंने 'नर नारायन' तथा बिधुपूषन' में पहिले 'म' की और पीछे 'रा' की उपमायें दी हैं। इसका कारण है। मन्त्र अनुलोम एवं प्रतिलोम दोनों विधियोंसे जप किया जाता है। ❀ पहिले अनुलोम विधिसे महत्व बतला आये हैं, अब इस चौपाईमें प्रतिलोम विधिसे महत्व दर्शित करते हैं।

यह प्रतिलोम विधि 'सुलभ सुखद सब काहू' नहीं है। इतना तो स्मरण रखना ही चाहिये। यह तो 'भक्ति सुतिअ कल करन बिभूषन' है। 'राम' का उलटा होता है 'मरा' और इसी प्रतिलोम मन्त्रका जप करके वाल्मीकि महर्षि हो गये हैं। लेकिन इस प्रतिलोम क्रमसे जपका वही अधिकारी है, जिसमें भक्ति हो। जिसमें अपार श्रद्धा एवं परिपक्व लगन न हो वह प्रतिलोम विधिका अधिकारी नहीं। प्रतिलोम विधि महत्वकी दृष्टिसे बता दी है किन्तु भक्तोंके लिएभी अनुलोम क्रम राम नाम ही आदरणीय है, यह अगलीही

❀ मंत्र अनुलोम एवं प्रतिलोम विधियोंसे जप किये जाते हैं। इसमें श्रीचक्रजीका आशय सम्भवतः भगवन्नाममन्त्रोंसे है क्योंकि पाणिनीय शिक्षामें कहा है कि स्वर अथवा वर्णसे हीन मन्त्र इष्टदायक न होकर बाधक ही होता है। यथा, 'मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्। ५२।'

चौपाईमें गोस्वामीजी सूचित करना विस्मृत नहीं हुए हैं—'जन मन मंजु कंज मधुकर से।' भक्तोंके हृदयमें भी अनुलोम क्रमसेही श्रीराम नाम विराजते हैं। यहाँ अनुलोम क्रम का सूचक पद है 'कमठ सेष' और 'हरि हलधर'। लेकिन प्रतिलोम क्रममें भी वह प्रभावपूर्ण हैं, अवश्य ही इस क्रममें वे स्वयम् घोर तपस्याकी मूर्ति हो जाते हैं और कठोर तपसेही इस क्रम द्वारा लाभ होता है, यही सूचित करनेके लिए तपोमूर्ति 'नर नारायन' का स्मरण किया गया।

'म' वाचक है 'नर' का और 'रा' वाचक है 'नारायण' का। दोनों भाई हैं।... जगके पालक हैं। संसारके कल्याणके लिये ही नर नारायण कल्पके प्रारम्भसे तप कर रहे हैं। 'राम' भी प्रतिलोम क्रममें तपोमय हो जाता है। विश्वके कल्याणके लिये है उसका यह तपोरूप। वह विश्वको क्लेश देनेवाली रावण, हिरण्यकशिपु या भस्मासुरकी राजस तामस तपस्याका रूप कभीभी धारण नहीं कर सकता।

सामान्य रूपसे तो वह 'जग पालक' है। सभी जड़चेतन के लिये है उसकी शक्ति किन्तु जिस प्रकार 'नर नारायणकी तपस्या विशेषतः साधकोंके परित्राणके लिये है, जिस प्रकार उच्चकोटिके सन्तों एवं तपस्वियोंका वे सदा ध्यान रखते हैं, उनके तपोविघ्नोंको अपने प्रतापसे निवारित करते रहते हैं, समय समयपर प्रकट होकर उपदेश एवं दर्शनसे मार्ग प्रदर्शन एवं प्रोत्साहन देते रहते हैं, उसी प्रकार श्रीरामनामकी प्रतिलोमजा शक्तिभी विशेषतः भक्तोंके परित्राणके लिये है। जपमें जब धुनी चलती है तो स्वतः अनुलोम जपमेंभी प्रतिलोमजा शक्ति निहित रहती है और यही शक्ति विकारोंसे जापकका परित्राण करती है।

विकार उठे, कुतर्क तंग करे, या श्रद्धाके पैर डगमगायें तो आप नामकी सतत धुन प्रारम्भ कर दें। नामकी शक्ति आपको तुरंत परित्राण देगी। यह तो प्रत्येक साधकका प्रत्यक्ष अनुभव है। आप चाहें तो करके देख लें।

ये 'म' और 'रा' भक्तिके कर्णाभरण हैं। भक्तिको सुतिय कहा गया है। एक सुतियमें जितने सद्गुण सम्भव हैं, वे उसमें हैं और इसी कारण ये विलोमक्रमी राम नामके वर्ण उसको आभूषित करते हैं क्योंकि ये उग्र तपस्याके प्रतिरूप बिना सद्गुणोंसे परिपूर्ण भक्तिके और किसीको विभूषित कर ही नहीं सकते।

सर्व प्रथम गुरुवाक्यमें अचल श्रद्धा, भगवान्में अविचल विश्वास तथा अहेतुक प्रेम हो तो विलोम क्रमसेभी ये युगल वर्ण उस साधकको भूषित ही करते हैं। वह प्रथम कोटिका नैष्ठिक तितिक्षु साधक हो जाता है। क्योंकि इस विपरीत क्रममें भी ये वर्ण परस्पर नर नारायणकी भाँति वर्ण मैत्रीयुतही रहते हैं। जैसे जगत्के कल्याणके लिये चन्द्र एवं सूर्य हैं, वैसेही ये 'म' और 'रा' भी हैं। बीजाक्षर शक्तिसे दोनों वर्ण दोनोंके स्वरूप हैं। मेरी समझसे नामवन्दनाके प्रसंगमें यह चौपाई ('नर नारायन' से 'बिधु पूषन' तक) श्रीरामनामके प्रतिलोम रूप अर्थात् 'म' 'रा' के स्वरूप, तपोमय स्वरूप, प्रभाव, संबंध, अधिकारी तथा कार्यको बतलानेके लिये आई है। (मानसमणिसे)

टिप्पणी—१ (क) 'केवल कर्णभूषणही नहीं हों किन्तु पहिचाननेवाला भी चाहिये। अर्थात् यहाँ यह दिखाया है कि भक्ति करे और राम नाम जपे।' (ख) 'रामनामसे भक्तिकी शोभा है, इस लिये भक्ति को स्त्री कहा। भक्ति (महारानी) से सुन्दर कुछ नहीं; इसीसे तो उसपर भगवान् सानुकूल रहते हैं और वह उनको 'अति प्रिय' है। यथा, 'पुनि रघुबीरहिं भगति पिआरी। ...भगतिहि सानुकूल रघुराया ॥ ७. ११६।' इस लिये 'सुतिय' कहा।' (ग) आप रामनामको शिरका भूषण कहना चाहते थे परन्तु शिरमें दो भूषण और कोई नहीं हैं और 'र' 'म' को दो दोकी उपमा देते आए हैं। दूसरे, और बड़े लोगोंने भी इनको कर्णहीके

विभूषण लिखे हैं, इस लिए आपने भी यही लिखा, नहीं तो सिरके नीचेका भूषण नामको नहीं कहना चाहते थे। (घ) 'ये वर्ण भक्तिहीके भूषण नहीं हैं' किन्तु विधूपुषण भी हैं। अर्थात् विश्वमात्रके भूषण हैं। (ङ) 'करन' सब इन्द्रियोंकाभी नाम है। यथा, 'विषय करन....', 'षमिंद्रियं हृषीकञ्च'।

नोट—१ (क) कर्णफूल कानमें होना सुहागका चिह्न है। कानसे उसका गिरना सुहाग भंग होनेकी सूचना देता है और कानमें उसका न पहनना विधवापन जनाता है। यथा, 'मंदोदरी सोच उर बसेऊ। जब ते श्रवनपूर महि खसेऊ ॥ सजल नयन कह जुग कर जोरी।' से 'प्रीति करहु रघुबीर पद मम अहिवात न जाइ' तक (लं० १४-१५)। इसी प्रकार भक्तिसुतियके लिए 'रा' 'म' ही कर्णफूल हैं। जिस भक्तिमें नामका यजन नहीं, वह भक्ति न तो भूषित ही है और न सौभाग्यवती ही है, किंतु विधवावत् त्याज्य है। और जैसे विधवासे संतान-प्राप्तिकी आशा नहीं, वैसेही उस भक्तिसे किसी सुफलकी आशा नहीं। (प्रोफेसर दीनजी)। (ख) कर्णविभूषणकी उपमा देनेका कारण यह भी हो सकता है कि नाम और कर्णका सम्बन्ध है। नाम जो उच्चारण होता है उसे कान धारण करते हैं; इस सम्बन्धसे यह उदाहरण दिया। नामका सम्बन्ध मुख (जिह्वा) से भी है परन्तु जिह्वामें कोई प्राकृत भूषण धारण नहीं किया जाता, दूसरे वह संख्यामें एक है और रकार मकार दो वर्ण हैं और कानभी दो हैं तथा दोनों कानोंमें भूषण पहने जाते हैं।

२ (क) 'बिमल' शब्दसे सूचित किया कि 'र' 'म' विकाररहित हैं और सूर्यचंद्रमा समल हैं। सूर्य जल बरसाता और सोखता भी है, उसे राहु ग्रसता भी है। पुनः, कमल सूर्यको देखकर खिलता है, सूर्य उसकोभी जल न रहनेपर जला डालता है। यथा, 'भानु कमलकुल पोषनिहारा। बिनु जल जारि करइ सोइ छारा।' (अ० १७)। चन्द्रमा अपनी किरणोंसे जड़ी बूटी अन्न आदिको पुष्ट करता है और पालारूपसे उन्हींको जला डालता है, पुनः घटता बढ़ता है, इत्यादि विकार उसमें हैं। 'र' 'म' विमल गुण उत्पन्न करके उनकी सदा वृद्धि किया करते हैं। इसमें 'अधिक अभेद रूपक' है; क्योंकि 'र' 'म' में विधु और पूषणसे कुछ अधिक गुण हैं। पुनः, (ख) सूर्य और चन्द्रमासे जगत्‌का पालन पोषण होता है। वे अन्नादिक उपजाते और जीवोंके पोषणयोग्य करते हैं। सूर्य अंधारको मिटाता और चन्द्रमा शरदातपको हरता है, वैसेही 'र', 'म' जनके सुमतिभूमिथलपर विमल गुणोंकी उत्पत्ति करते, अविद्यातम मिटाकर ज्ञानरूपी प्रकाश फैलाते हैं, और त्रिताप हरकर हृदयको शीतल करते हैं। पुनः, (ग) शरद्पूनोंके चन्द्रमामें दो गुण निर्मल प्रकाश और अमृतका स्रवना हैं। प्रकाशसे तपन हरते और अमृतसे अमरत्व गुण देते हैं, वैसे ही 'रा' 'म' शरदातपरूपी जन्ममरण और तापत्रयको हरते हैं और भक्तिरस द्रवते हैं। पुनः, (घ) सूर्य तपकर भूमिको शुद्ध करता, जल सोखकर मेघरूपसे फिर वर्षाद्वारा जीविका प्रदान करता और प्रकाश फैलाता है जिससे सब वस्तुएँ देख पड़ती हैं। वैसेही रकार (अग्निबीज होनेसे) शुभाशुभ कर्मोंको भस्म कर जीवकी बुद्धिको शुद्ध करके ज्ञानप्रकाश देकर परमार्थ दिखाता है। कृपा जल है। शान्तिसंतोषादि अनेक चैतन्यतारूप जीविका देता है। यह उक्ति हनुमन्नाटककी है। यथा, 'मुक्तिस्त्री-कर्णपूरौ मुनिहृदयवयः पक्षती तीरभूमौ...' (महाशंभू संहिता)। इसमें मुक्तिरूपी स्त्रीके कर्णफूल दोनों वर्णोंको कहा है। भाव कि रामनामहीन भक्तिकी शोभा नहीं है। 'जगपालक' से जनाया कि जो संसारमें पड़े हैं वेभी यदि रामनाम लेते हैं तो उनकाभी पालन होता है। (वै०)।

स्वाद तोष सम सुगति सुधा के। कमठ सेष सम धर बसुधा के। ७।

अर्थ—दोनों वर्ण सुगतिरूपी अमृतके स्वाद और संतोषके समान हैं, कच्छप भगवान् और शेषजीके समान पृथ्वीके धारण करनेवाले हैं। ७।

नोट—१ 'स्वाद तोष सम सुगति सुधा के' इति। अमृतमें स्वाद और संतोप दोनों गुण हैं। पीनेसे मन प्रसन्न होता है और फिर किसी वस्तुके खानेपीनेकी इच्छाही नहीं रह जाती, मृत्युका भय जाता रहता है। इसी तरह 'रा' 'म' इस शुभ गतिको प्राप्त कर देते हैं जिससे मनको आह्लाद और सुख होता है और इनका स्वाद मिलनेपर अन्य साधनोंकी तृष्णा नहीं रह जाती। यथा, 'रामनाम मोदक सनेह सुधा पागिहै। पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागिहै। ४।' (वि० ७०)। सुगतिका अनुभव स्वाद है। (रा० प०)।

२ बाबू इन्द्रदेवनारायणसिंह इस चौपाईका भावार्थ यों लिखते हैं कि 'जैसे अमृतमें यदि कुछ स्वाद न हो, और उससे तुष्टता प्राप्त न हो तो वह व्यर्थ है, वैसेही रामनाम विना मुक्ति स्वादतोषहीन है।' इसका भाव यह कहा जाता है कि अद्वैतवादियोंकी जो मुक्ति है, जीवका ब्रह्ममें लय होना वह स्वाद संतोषरहित है। मुक्ति होनेपर अर्थात् ब्रह्मस्वरूप होनेपरभी शिवजी, हनुमानजी, भरतजी, रसिकगण और परधामनिवासी पार्षदसमूह श्रीरामनामको सदैव जपते हैं, यही मुक्ति स्वादसंतोषयुक्त अमृतके समान है।

३ श्रीवैजनाथजीका मत है कि 'यहाँ कर्मविपर्यय विशेष्य विशेषण हैं। स्वाद अमृतसमान है और संतोष सुगतिके समान है। सुगतिकी प्राप्तिपर फिर कोई चाह नहीं रह जाती। इसी तरह 'रकार' वैराग्यरूप होनेसे संसारकी आशा छुड़ाकर जीवको शुद्ध कर देता है और 'अकार' ज्ञानरूप प्रकाश करके आत्मस्वरूप दर्शा देता है जिससे सहजही संतोष आ जाता है। पुनः, स्वाद तीन प्रकारका होता है, दिव्य (जो सदा बना रहे। जैसे जलमिले दूधमें औषधि मिलाकर पीनेसे जन्म पर्यन्त पुष्टतारूप स्वाद बना रहता है), सूक्ष्म (जैसे मिश्री मिलाकर दूध पीनेसे एक दिनकी पुष्टता और कुछ जिह्वाका स्वाद है) और स्थूल (जैसे औटे हुए दूधमें चीनी आदि मिलाकर पीनेसे केवल स्वाद मिलता है)। अमृतमें तीनों स्वाद हैं। वैसेही 'मकार' में अमृतरूपा भक्तिसे भगवल्लीलास्वरूप उत्साह अवलोकनादि स्थूल स्वाद, नामस्मरणसे मनमें आनन्द सूक्ष्मस्वाद और भगवत्प्राप्ति दिव्य स्वाद है। यह तो परमार्थ वालोंकी वात हुई। और जो स्वार्थमें लगे हैं उनकी चाहरूपी वसुधाको धारण करनेके लिये दोनों वर्ण कमठ और शेष समान हैं, धर्मसहित उनको सुखी रखते हैं।'

४ 'सुगति' का अर्थ ज्ञान और सदाचारभी कहा जाता है। इस अर्थसे भाव यह होगा कि जैसे अमृतमें स्वाद और संतोष न हो तो वह व्यर्थ है, वैसेही ज्ञानादि होनेपरभी यदि ये दोनों वर्ण (अर्थात् रामनामस्मरण) न हों तो वेभी फीके हैं।

'कमठ सेष सम धर बसूधाके' इति।

(१) पद्मपुराण उत्तरखण्डमें जहाँ चतुर्व्यूह और विभवोंका वर्णन है उस प्रसंगमें मन्दराचलको धारण करनेके लिए श्रीकच्छप अवतारका जो वर्णन है उसीमें यह लिखा है कि लक्ष्मीजीकी उत्पत्तिके पश्चात् सब देवता कूर्मभगवान्के दर्शनको आए और भक्तिपूर्वक पूजनकर, उनकी स्तुति की, तब भगवान्ने प्रसन्न होकर वरदान माँगनेको कहा। देवताओंने वर माँगा कि शेष और दिग्गजोंकी सहायताके लिये आप पृथ्वीको धारण करें। एवमस्तु कहकर भगवान्ने पृथ्वीको धारण किया। यथा, 'शेषस्य दिग्गजानां च सहाय्यार्थं महाबल। धत्तुमर्हसि देवेश सप्तद्वीपवतीं महीम्॥ १७॥ एवमस्त्विति हृष्टात्मा भगवाँल्लोकभावनः। धारयामास धरणीं सप्तद्वीप समावृतान्। १८। अ० २३४।' सु. र. भा. दशावतार प्रकरणमें कच्छप भगवान् और शेषजी किस प्रकार पृथ्वी धारण करते हैं इस सम्बन्धमें यह श्लोक मिलता है। 'यो धत्ते शेषनागं तदनुवसुमतीं स्वर्गपातालयुक्ताम्। युक्तां सर्वैः समुद्रैर्हिमगिरिकनकप्रस्थमुख्यैर्नगेन्द्रैः। एतद्ब्रह्माण्डमस्यामृतघट सदृशं भाति वंशेमुरारेः, पायाद्वः कूर्म देहः प्रगटित महिमा माधवः कामरूपी। २२।' अर्थात् जिन कच्छप भगवान्की पीठपर यह सारा ब्राह्मांड (अर्थात् स्वर्ग, पाताल और हिमाचल तथा सुमेरु आदि पर्वतोंसे युक्त पृथ्वीसहित श्रीशेषनाग) एक अमृतघटके तुल्य सुशोभित है, वे अतुल महिमावाले कामरूपी भगवान् हमारी रक्षा करें।

(२) श्रीकच्छपभगवान् और शेषजी पृथ्वीको धारण करते हैं और 'रा' 'म' धर्मरूपी वसुधाको धारण किये हुए हैं। यथा, 'मातु पिता गुरु स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनी धर सेसू। २. ३०६।', 'जथा भूमि सब बीजमय, नखत निवास अकास। राम नाम सब धरममय जानत तुलसीदास।' (दोहावली २९)। पुनः, वसु=धन्। वसुधा=जो धनको धारण करे। इसी तरह धर्ममें जो अनेक सुख हैं वे ही धन हैं, उनको नाम धारण किये हुये हैं। (पं० रामकुमारजी)।

जन मन मंजु[1] कंज मधुकर से। जीह जसोमति हरि हलधर से। ८।

अर्थ—(दोनों वर्ण) भक्तके सुन्दर मनरूपी सुन्दर कमल (वा, मनरूपी सुन्दर कमल) के लिये 'मधुकरके समान हैं, जीभरूपी यशोदाजीको श्रीकृष्ण और बलरामजीके समान हैं। ८।

टिप्पणी—१ (क) नाममें मन और जिह्वा दो इन्द्रियाँ लगती हैं। रकार मकार जनके मनमें बसते हैं और जीभसे प्रगट होते हैं—यशोदाजीकी तरह से। पुनः, (ख) यशोदाजी प्रभुका आना नहीं जानतीं, वैसे ही मन और वाणी रामनामके आनेको नहीं जानते। यथा, 'मन समेत जेहि जान न बानी।' पुनः, (ग) यहाँ मनको कमल और 'रा' 'म' को भ्रमर कहनेका अभिप्राय यह है कि 'कमल भौंरेको नहीं ग्रहण कर सकता। भौंरा अपनी ओरसे आता है। वैसेही श्रीकृष्णजी और बलदेवजी अपनी ओर से आए, यशोदाजी नहीं जानतीं। इसी तरह जिह्वा में 'रामनाम' अपनी ओरसे आते हैं, इन्द्रियोंसे अग्राह्य हैं। इसी विचारसे यशोदाका उदाहरण दिया, अन्य माताएँ (गर्भ आदि सम्बन्धसे) जानती हैं, यथा, 'नाम चिन्तामणी रामश्चैतन्य परविग्रहः। पूर्ण शुद्धो नित्यमुक्तो न भिन्नो नाम नामिनोः। अतः श्रीरामनामेदं न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः। स्फुरति स्वयमेवैतज्जिह्वादौ श्रवणे मुखे॥' (सी. ना. प्र. प्र., पद्म. पु.)। अर्थात् नाम चिन्तामणि शुद्ध और नित्य मुक्त चिद्विग्रह रामस्वरूप हैं क्योंकि नाम नामीमें भेद नहीं है। अतः यह श्रीरामनाम इन्द्रियोंसे ग्राह्य नहीं हैं। (वह परमात्माकी कृपासे ही) स्वयंही लोगोंके मुखमें, जिह्वा और कानोंमें प्राप्त होता है। श्रुतिभी यही कहती है, 'स्वभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते। 'अर्थात् श्री रामनाम स्वयं उत्पन्न हैं, ज्योतिः (तेज, प्रकाश) मय हैं, प्रणव आदि अनंतरूपधारी हैं और भक्तोंके हृदय और जिह्वा पर अपनी अनिर्हेतुकीय कृपासेही भासित होनेवाले हैं। (रा. पू. ता. २।१)। (घ) 'मंजु' देहली दीपक है, मन और कंज दोनोंके साथ है। मनमें भक्ति होनाही उसकी सुन्दरता है। 'जन मन...' उपसंहार है और 'जन जिय जोऊ' उपक्रम है।

नोट—१ बाबा जानकीदासजी आदि दो एक महात्माओंने 'मधुकर' का अर्थ 'भ्रमर' लेनेमें यह शंकायें की हैं कि—(क) "रकार मकार दो वर्ण हैं, मधुकर एकही है। दोके लिये दो दृष्टांत होने चाहियें। (ख) 'भ्रमर तो कमलको दुःखही देता है, उसका रस खींचता, पाँखुरियोंको बिथुराता है और सदा कमलपर बैठा नहीं रहता। और, 'र', 'म' तो जनको सदा आनन्द देते हैं। अतएव भ्रमरकी उपमा ठीक नहीं'। (ग) कमल का स्नेही भ्रमर है, भ्रमरका कमल नहीं ?"; और, इन्हीं शंकाओंके कारण उन्होंने 'मधुकर' का अर्थ जल और सूर्यकिरण किया है।

इन शंकाओंका समाधान एक तो योंही हो जाता है कि यहाँ उपमाका एक देश वा अंग लिया गया है। गोस्वामीजीने भक्तोंके मनको कमल और श्रीरामचन्द्रजीको भ्रमर अन्य स्थलोंमें भी कहा है। यदि ये शंकाएँ यहाँ हो सकती हैं तो वहाँ भी हो सकती थीं, पर वहाँ इनका गुजर नहीं हुआ। प्रमाण—'संकर हृदि पुंडरीक निवसत हरि-चंचरीक, निर्व्यलीक मानस गृह संतत रहे छाई' (गीतावली उ० ३)', 'निज भक्त हृदय

---

[1] कंज मंजु- १७२१, १७६२, छ०। मंजु कंज- १६६१, १७०४, को. रा.।

पाथोज भृंग' ॥ (वि० ६४), 'हृदय कंज मकरंद मधुप हरि' (उ० ५१)। यहाँ भ्रमर कहनेका स्पष्ट भाव यह है कि ये दोनों अक्षर भक्तोंके हृदयकमलमें निरन्तर निवास करते हैं—'अति अनन्य जे हरि के दासा। रटहिं नाम निसि दिन प्रति स्वासा' (वै० सं०)। पराग-मकरंद-सुगन्धयुक्त खिले हुए कमलमें भ्रमर आसक्त रहता है, यहाँतक कि रातमें उसके भीतर बन्द भी हो जाता है वैसे ही जापक जनके मनसे 'र' 'म' दोनों नहीं हटते—'जन जिय जोऊ'। मधुकर भी दो कहे गए हैं। 'से' बहुवचन देकर जनाया कि 'रा' 'म' दो भ्रमर हैं। यहाँ अर्थमें दो भ्रमर समझने चाहिए। सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि "आज्ञाचक्रमें द्वै दल कमल जहाँ भ्रमर गुफा सर्वत्र प्रसिद्ध है और हृदयकमलमें वशिष्ठजीने एक भ्रमरका होना स्वर्णवर्णका लिखा है।" हृदयके अन्दर एक स्थान है (योगशास्त्रके अनुसार) जिसे भ्रमर गुफा कहते हैं। इस योगसे भ्रमर अर्थ और भी उत्तम और सार्थक प्रतीत होता है।

भ्रमर सदा बैठा नहीं रहता यह ठीक है, पर जबतक फूलमें मकरन्द रहता है तभीतक यह वहाँ रहता है। और 'रा' 'म' जापक जनके मनमें सदा रहते हैं। यह 'रा' 'म' में विशेषता है।

तीसरी शंकाका समाधान यों किया जा सकता है कि जब सब आशाभरोसा छोड़कर जीव प्रभुहीका हो रहता है, तभी 'जन' कहलाता है, तब फिर आश्चर्यही क्या कि प्रभु अपने नाम-रूपादिको उसके हृदयमें बसा देते हैं। 'मंजु कंज' कहकर मनकी विशेषता कमलसे सूचित की। कमल भ्रमरका स्नेही न सही, पर जनमन तो 'रा', 'म', का स्नेही है ही। पुनः आगे 'जीह जसोमति' कहकर जनाया कि जब ये वर्ण जिह्वाको प्रिय होते हैं तभी ये जनके मनमें बसते हैं। (नोट ३ भी देखिए)।

२ श्री नंगे परमहंसजी 'जन मन मंजु…' का अन्वय इस प्रकार करते हैं—"जन मन मधुकर राम नाम मंजु कंज।' अर्थात् 'रा' 'म' ये दोनों दो कमल हैं, जो जनोंके मन मधुकरको सुखदाता हैं। दोनोंका ध्यान करके जनमन आनन्दित रहता है।" इस अर्थकी पुष्टिमें आप लिखते हैं कि 'रा' 'म' कमल होंगे तब अपने जनोंके मन भ्रमरको सुख देनेवाले हुए और जब रामजी भ्रमर होंगे तब सुख भोगनेवाले हुए। कमल और भ्रमरमें यही दो बातें हैं, सुख देना और सुख भोगना। अतः सुख देनेके प्रसंगमें 'रा' 'म' को कमल अर्थ करना पड़ेगा और सुख भोगनेके प्रसङ्गमें 'रा' 'म' भ्रमर अर्थ किये जायँगे। नामवंदनामें नाम महाराजका ऐश्वर्य कहा गया है, नामवन्दना सुख देनेका प्रसङ्ग है, अतएव रामनाम कमलही अर्थ किये जायँगे; वे जनमन भ्रमरको सुखद हैं। पुनः वे लिखते हैं कि 'जल' और 'सूर्य' की समता अयोग्य है क्योंकि (क) जल और सूर्यकिरणसे विरोध है, सूर्य जल शोषण करते हैं और 'रा' 'म' में परस्पर प्रीति है। (ख) सूर्यकी उपमा पूर्व इसी प्रसङ्गमें आ चुकी है। 'पं० रामकुमारजीने यह नहीं लिखा कि 'नाममें मन और इन्द्रियाँ कैसे लगती हैं। उसको मैं लिखता हूँ कि मन तो 'रा' और 'म' का ध्यान करता है क्योंकि मन इन्द्रियका काम ही है ध्यान करना। और जिह्वाका काम है नाम रटना। इन्हीं दोनों कामोंको नामजापक करते भी हैं और इन्हीं दोके लिये दो उपमाएँ दी भी गई हैं।"

३ वै. भू. जी कहते हैं कि कमलकी कर्णिकामें एक चिकना मादक पदार्थ (द्रव्य) उत्पन्न होता है जो भ्रमरके बैठने मात्रसे नष्ट हो जाता है। यदि भ्रमर न बैठे तो उस मादक द्रव्यके कारण कमलमें कीड़े उत्पन्न होकर कमलको नष्ट कर देते हैं। अतः भ्रमरका आकर बैठना कमलके लिये सुखावह है। वैसेही 'रा' 'म' रूपी भौंरे जनके मनरूपी कमलपर बैठकर अविद्यारूपी मादकद्रव्यको नष्ट कर देते हैं। नहीं तो अविद्या के रहनेसे मानस रोगादि कीड़े लगकर मनको तामसी बना विनाशके गर्तमें पात कर दें। भ्रमर मकरन्दको पान

करता है और रामनाम जनके दिये हुये मानसिक पूजन ध्यान आदिको पान करता है, यह उपमा है। यथा, 'नील तामरस श्याम काम अरि। हृदय कंज मकरंद मधुप हरि।' (७. ५१)।

४ उपर्युक्त टिप्पणीमें 'मधुकर' को एक शब्द मानकर 'भ्रमर' अर्थ किया गया। दूसरा अर्थ है 'मधु+कर'=जल और सूर्य वा किरण। यथा, 'मधु दुग्धे जले क्षौद्रे मिष्टे चैव मनोहरे', 'करः सूर्यः कराहस्तो भागधेयो करः स्मृतः। शुण्डादंडे च किरणे नक्षत्रे करने नरे' (अनेकार्थशब्दमाला)। इस तरह अर्थ होगा कि 'जनके मनरूपी सुन्दर कमलके।लिये जल और सूर्यकिरणके समान हैं।' भाव यह कि जैसे कमलका पोषण जल और सूर्य दोनोंसे होता है। यदि जल न रहे तो सूर्य उसे जला डालेगा और यदि सूर्य न हुआ तो वह प्रफुल्लित नहीं होगा। रकार अग्निबीज है, अकार भानुबीज है, अतः 'रा' यहां रविकिरण हुआ और मकार चन्द्रबीच होनेसे जलरूप है। ये वैराग्य, ज्ञान, और भक्ति देकर जनमनको सदा प्रफुल्लित रखते हैं।

५ वैजनाथजी—'जन मन मंजु कंज मधुकर से' यह हृदयमें नाम जपनेवालोंकी बात कहते हैं। नाम जपके प्रभावसे मन निर्मल हो गया है, इसीसे उनके मनको 'मंजु' कहा। मकार जलरूप सहायक है, मनको आनन्दरूप रस देकर लवलीन रखता है। रकार रविरूप है। अनुभवरूप किरण देकर मनरूपी कंजको प्रफुल्लित रखता है।

नोट—'जीह जसोमति हरि हल धरसे' इति। (१) जैसे घर सब तरहके भोगोंसे परिपूर्ण हो परन्तु एक लड़का ही न हो तो घरकी शोभा नहीं होती, घर सूना लगता है, वैसेही मुखरूपी घरमें जिह्वारूपी माताकी गोदमें 'रा' 'म' बालक न हों तो मुखकी शोभा नहीं। पूर्ण रूपक दोहावली के 'दंपति रस रसना दसन परिजन बदन सुगेह। तुलसी हर हित बरन सिसु संपति सहज सनेह। २४।' इस दोहेसे स्पष्ट हो जाता है।

(२) यशोदाजीको 'हरि हलधर' प्रिय, वैसेही भक्तोंकी जिह्वाको 'रा' 'म' प्रिय। यशोदाजी सदा उनके लालनपालनमें लगी रहतीं, वैसेही जापक जन इन वर्णोंका सदा सँभार रखते हैं। टिप्पणी १ भी देखिए।

(३) जैसे यशोदाजी ब्राह्मणी भी नहीं किन्तु अहीरिन थीं, पर हरि-हलधरसे प्रेम होनेसे वे विरंचि आदिसे पूजित हुईं, वैसेही यह चमड़ेकी जिह्वा अपावन है पर 'रा' 'म' से प्रेम रखनेसे पावन और प्रशंसनीय हो जाती है।

(४) पूरा रूपक यह है—श्रीकृष्णजी देवकीजीके यहाँ प्रकट हुये पर गुप्त ही, और यशोदाजीके यहां पुत्र प्रसिद्ध कहाये। इसी तरह बलरामजी रहे तो देवकीजीके गर्भमें पर योगमायाने खींचकर उन्हें रोहिणीके उदरमें कर दिया, वहींसे प्रकट होकर प्रसिद्ध हुये। नाममात्र वे यशोदाके कहलाये। ग्यारह वर्ष पुत्रका सुख देकर पश्चात् अपने स्थानको चले गए। उसी प्रकार परावाणीसे नामोच्चारण नाभिस्थानसे प्रकट होता है। यह नाभिस्थान मथुरा है, परावाणी देवकी हैं, मुख गोकुल है, जिह्वा यशोदा हैं, 'रा' श्रीकृष्ण हैं सो जिह्वाने उच्चारणमात्र पुत्र करके पाया। 'म' बलदेव, ओष्ठस्थान रोहिणीके पुत्र प्रसिद्ध, पर नाममात्र जिह्वा रूपी यशोदा-के कहाए। जो जन ग्यारह वर्ष जिह्वासे जपे तो उसके स्वाभाविकही नाम परावाणीसे उच्चारण होने लगे। (वै०)। वैजनाथजीके भाव लेकर किसीने यह दोहे बना दिये हैं। 'मनहिं स्वच्छ अरु सबल कर है मकार जल प्रेम। रवि अकार प्रफुलित करत रेफ तेज कर क्षेम॥ परावाणि देवकी गगन बन्दीगृह मधु ग्राम। मुख गोकुल यशुमति रसन र. म. हरि बलराम॥'

टिप्पणी—२ (क) 'नर नारायन सरिस सुभ्राता', 'राम लषन सम प्रिय', 'जीह जसोमति हरि हलधर से' कहकर तीन युगोंमें हितकारी होना सूचित किया। नरनारायणरूपसे सत्ययुगमें (क्योंकि यह अवतार सत्ययुगमें हुआ); श्रीरामलक्ष्मणरूपसे त्रेतामें, श्रीकृष्णबलदाऊरूपसे द्वापरमें और कलियुगमें तो नाम छोड़ दूसरा उपाय है ही नहीं। यथा, 'कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ॥' या यों कहिए कि 'और सब युगोंमें सब

अवतारोंके समान नामको दिखाया', अब कलिमें केवल 'रा' 'म' हैं, कोई अवतार नहीं है। ऐसे कराल कलिकालमें नामही कृतार्थ करते हैं। यथा, 'कलि केवल मल मूल मलीना।…' (ख) जो ऊपर 'बरनत बरन प्रीति बिलगाती' में कहा है कि वर्णन करनेहीसे दोनोंकी प्रीति सूझ पड़ती है, अन्यथा नहीं, वही 'ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती' और उक्त तीनों दृष्टान्त देकर, दोनों वर्णोंका वर्णन करके दिखाया है कि इन चारोंके समान सहज प्रीति है। इन तीनों दृष्टान्तोंसे नामके वर्णोंका सौभ्रात्र गुण दिखाया।

नोट—६ 'राम लषन सम', 'ब्रह्म जीव इव', 'नर नारायन सरिस', 'कल करन बिभूषन', 'बिधु पूषन', 'स्वादतोष सम', 'कमल शेष सम', 'मधुकरसे', 'हरि हलधर से', इतने उपमान एक उपमेय 'रकार मकार' के लिए इनके पृथक्पृथक् धर्मोंके लिए चौपाई ३ से लेकर यहाँ तक कहे गए। अतएव यहाँ 'भिन्नधर्मा मालोपमालंकार' है। इन धर्मोंको इन चौपाइयोंमें लिख चुके हैं।

दो०—एकु छत्रु एकु मुकुटमनि सब बरननि पर जोउ।
तुलसी रघुबर नाम के बरन बिराजत[1] दोउ ॥२०॥

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—देखो, श्रीरघुनाथजीके नामके दोनों वर्णोंमेंसे एक छत्ररूप (ॅ) दूसरा मुकुटमणिरूप (ं) से सब अक्षरोंपर विराजते (सुशोभित होते) हैं॥ २० ॥

नोट—१ नाम प्रकरणके पहले दोहेतक (अर्थात् पूरे दोहा १९ में शब्दवत् रामनाम लेकर उसके स्वरूप, अंग, और फल कहे, फिर बीसवें दोहेमें 'हरि हलधरसे' तक नामके वर्णोंकी महिमा कही और युगाक्षरोंकी मित्रता दिखाई, अब यहाँ दोनों अक्षरोंको निर्वर्ण लेकर नामका महत्व दिखाते हैं।

२ यह दोहा महारामायणके, 'निर्वर्णं रामनामेदं केवलञ्च स्वराधिपम्। मुकुटं छत्रं च सर्वेषां मकारो रेफ व्यञ्जनम्॥' (५२।१०१), इस श्लोकसे मिलता है।

३ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सब पदार्थों और सब मूर्तियोंको देखनेके लिये इस प्रकरणके आदिमें प्रथम नेत्र वर्णन किया—'बरन बिलोचन जन जिय जोऊ'। इस प्रकरण को 'जिह्वा' और 'मन' से उठाकर इन्हींपर समाप्त किया है। 'रामनाम बर बरन जुग…' उपक्रम है और 'रघुबर नाम के बरन बिराजत दोउ' उपसंहार है।

४ 'एकु छत्रु एकु मुकुटमनि' इति। भाव कि—(क) छत्र और मणिजटित मुकुट जिसके सिरपर होता है वह राजा कहलाता है, वैसेही जो भक्त इन वर्णोंको धारण करते हैं वे भक्तशिरोमणि कहलाते हैं; जैसे प्रह्लादजी, शिवजी, हनुमान्‌जी। (ख) स्वरहीन होनेसे 'र' 'म' सब वर्णोंपर विराजने लगते हैं; वैसेही जो जन इनका अवलम्ब लेते हैं वे भी स्वरहीन (श्वासरहित, मृत्यु) होनेपर ऊर्ध्वगतिको प्राप्त होते हैं। यथा, "यन्नामसंसर्गवशाद्द्विवर्णौ नष्टस्वरौ मूर्द्धिगतौ स्वराणाम्। तद्रामपादौ हृदि सन्निधाय देही कथंनोदूर्ध्वगतिं प्रयाति॥'

समुझत सरिस नाम अरु नामी। प्रीति परसपर प्रभु अनुगामी। १।

अर्थ—नाम और नामी (नामवाला) समझनेमें एकसे हैं। दोनोंमें परस्पर प्रीति है जैसे स्वामी सेवकमें। १।

नोट—१ 'र' 'म' वर्ण हैं; इसलिए पहले इनको और वर्णोंसे बड़ा कहा था। नामका सम्बन्ध नामीसे है; इसलिए अब नामको नामीसे बड़ा कहते हैं। नामके दो रूप निर्गुण और सगुण हैं; इसलिए इन दोनोंसे भी नामको बड़ा कहेंगे।

---

[1] बिराजित—१७२१, १७६२, छ०। बिराजत—१६६१, १७०४।

२ 'सरिस' कहनेका भाव यह है कि जो गुण वा धर्म नामीमें हैं वे सब नाममें भी हैं। नाम बिना रूपके और रूप बिना नामके नहीं हो सकता। देखिये २१ (२)।

३ 'प्रभु अनुगामी' की प्रीति कैसी है ? यथा, 'जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे ॥ सेवहिं लषनु सीय रघुबीरहिं। २. १४२।'

४ गोस्वामीजीने 'नाम' को सब प्रकारसे श्रेष्ठतर सिद्ध किया है। वे लिखते हैं कि समझनेमें 'नाम' और 'नामी' (दोनों) समान हैं और परस्पर प्रेमभी है अर्थात् 'नाम वाला' 'नाम' को चाहता है, उसकी अपेक्षा करता है और 'नाम' 'नामवाले' की अपेक्षा करता है। दोनों अन्योन्याश्रय संबंधसे जकड़े हैं, किंतु फिरभी 'प्रभु' 'नाम' के अनुगामी हैं, पीछे पीछे चलनेवाले हैं। पीछे पीछे चलनेवाला इसी लिए कहा है कि 'नाम' लेनेसे नामी (ईश्वर) आता है। इसका अनुभव कोईभी संसारमें कर सकता है। मान लीजिये किसीका 'नाम' 'मोहन' है। अब 'मोहन' संज्ञा और 'मोहन संज्ञावाला व्यक्ति' दोनों एकही है। किंतु जिस समय "मोहन" मोहन पुकारा जायगा, उस समय 'मोहन' नामधारी व्यक्तिको नामका अनुसरण करनाही पड़ेगा, वह पुकारनेवाले के पास अवश्यही आवेगा। यद्यपि 'मोहन' नामधारीके साथ साथ 'मोहन' नामभी रहता है. (यही सादृश्य है) पर व्यक्तिके द्वारा 'नाम' इङ्गित नहीं किया जायेगा, वरंच 'नाम' के द्वारा वह व्यक्ति ही इङ्गित किया जायगा। यही कारण है कि नामी (व्यक्ति) को नामका अनुगमन करनेको बाध्य होना पड़ता है, 'नाम' को नहीं। यहाँपर विषयको स्पष्ट करनेसे हमारा अभिप्रेत यही है कि आगेका प्रसंग जिसमें सुगमतासे हृदयङ्गम हो सके। इन बातोंका विवेचन 'देखिअहिं नाम रूप आधीना ॥' में देख लीजिए। (दोहावली, भूमिका प्रोफे० लाला भगवान्दीनजी कृत)।

५ बाबा जानकीदासजी कहते हैं कि 'नाम सेवक है या नामी ?' यहाँ यह प्रश्न नहीं उठता। यहाँ दृष्टान्तका एक देश 'स्वामी सेवक जैसी परस्पर प्रीति' लिया गया है, यह भाव नहीं है कि एक स्वामी है, दूसरा सेवक। सेवक स्वामीकी प्रीतिका लक्ष्य; यथा, 'पाहि नाथ कहि पाहि गोसाईं। भूतल परे लकुट कीं नाईं ॥ २. २४०।' यह सेवकका स्वामीपर प्रेम है और वैसेही 'भरत प्रनाम करत रघुनाथा। उठे रामु सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा ॥' यह भरतजीके प्रति स्वामीका प्रेम। दोनोंमें परस्पर प्रेम होता है वैसेही नाम नामीमें परस्पर प्रेम है। श्रीकाष्ठजिह्वस्वामीजी कहते हैं कि नामीमें जो धर्म हैं, नामभी उन्हीं धर्मोंको कहता है, अतः सदृश कहा। प्रभु अनुगामी नाम-मात्र कहनेमें दो हैं, वस्तुतः दोनों तुल्य हैं। जैसे राजा हुक्म देनेका मालिक है और हुक्म बिना मन्त्रियोंकी सलाहके नहीं बनता। इस तरह दोनोंकी परस्पर प्रीति है। बैजनाथजीका मत है कि नाम सेवक है और नामी स्वामी है। दोनोंकी परस्पर प्रीति यही है कि दोनों कभी भिन्न नहीं होते। सेवक इस तरह जैसे देह देही, अङ्ग अङ्गी, शेष शेषी, प्रकाश प्रकाशी तथा नाम नामी। प्रकाश अनुगामी है, प्रकाशी (सूर्य) प्रभु हैं। इत्यादि।

नाम रूप दुइ[१] ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी। २।

अर्थ—नाम और रूप यही दो ईशकी 'उपाधियाँ' हैं। दोनों अकथनीय (अनिर्वचनीय) हैं, अनादि हैं, सुन्दर समझवालोंने इस बातको साधा है। २।

नोट—१ इस चौपाईके और अर्थ भी किए गए हैं।

अर्थ—२ बाबा हरिदासजी यों अर्थ करते हैं कि 'नाम रूप दोनों समर्थ हैं और दोनों अपने समीप प्राप्त हैं [अर्थात् हमारे हृदयहीमें दोनों प्राप्त हैं, हम उनको मोहवश नहीं जानते। यथा, 'परिहरि हृदय कमल

१ किसी किसी छपी पुस्तकमें 'दोउ' पाठ है।

सुनावहिं बाहर फिरत विकल भयउ धायो ।'''अपनेहि धाम नाम सुरतरु तजि विषय बबूर बाग मन लायो । वि० २४४ ।']
पर सुन्दर समझसे सधते हैं।

अर्थ—३ अकथ अनादि ईशने उपाधि (धर्म चिन्ता, कर्त्तव्यका विचार) विचारकर नाम और रूप दोनोंको धारण किया है। अर्थात् 'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा' जो ईश है उसने नाम रूप दोनों धारण किए हैं जिससे उनका प्रतिपालन हो।

अर्थ—४, ५ मानसमयङ्ककार 'ईश उपाधि' का भाव यह लिखते हैं कि 'अगुण और सगुण दोनों ईशोंकी प्राप्ति करा देने वाले हैं।' और अभिप्राय दीपकमें इसके भावपर यह दोहा है। 'लखब सच्चिदानन्द दोउ, रूप उपाधी नाम। वा उपाधि पोषण भरन, प्रगट करत सुखधाम। ३५।' इसके अनुसार अन्वय यह है, 'नाम ईश (के)' दुइ रूप (अगुण, सगुण) उपाधी अर्थात् नाम ब्रह्मके निर्गुण और सगुण दोनों रूपोंकी प्राप्ति करा देनेवाला है। उत्तरार्धमें दूसरा अर्थ है। उपाधि=भरणपोषण। इसके अनुसार अर्थ है कि नामके दो रूप 'रा' 'म' हैं। ये दोनों जीवका ईश्वरके समान भरणपोषण करते हैं।' (दीपक चक्षु)।

६ श्रीकाष्ठजिह्वस्वामीजी लिखते हैं कि 'उप=समीप। आधीन=स्थापन; जो अपनेमें माना जाय उसे 'उपाधि' कहते हैं। जैसे फूलोंकी छाया पड़ने से दर्पणमें वे सब रंग माने जाते हैं, वैसेही कर्मोंकी छाया पड़नेसे जीवोंमें रूप माने गए हैं। ईश्वरमें कर्मका संबंध नहीं है, इस लिये उसमें जीवके समान नाम रूप नहीं हैं। उसमें केवल भक्तोंके भावकी छाया पड़ी है और भाव सत्तारूप अविनाशी है; इससे ईश्वरके नामरूपादि नित्य हैं ऐसी समझ आवे तब ईश्वरके नाम रूपमें ईश्वरहीका भाव सधै।

७ संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'समुझत सरिस नाम अरु नामी' जो कह आए उसीका यहाँ हेतु कहते हैं। एक भाव इस चौपाईका यह भी हो सकता है कि 'अकथ अनादि उपाधि ईश्वरके नाम वा रूप ये दोही हैं, लीला और धाम नहीं हैं। ये नाम रूप हीके अभ्यन्तर हैं जैसा गर्गसंहितामें गोलोककी उत्पत्ति श्रीकृष्णजीके शरीरसे होना कहा है। और लीलायोगमायाद्वारा। एवं 'विष्णोर्पाद अवन्तिका' इत्यादि। क्योंकि यह जो कहा है कि 'कार्योपाधिरयं जीवो कारणोपाधिरीश्वरः' तहाँ कारणरूप उपाधि यही दो हैं।' (मा. त. वि.)।

अर्थ—८ ईश्वरके नाम रूप दोनोंका 'झगड़ा' (कि इनमेंसे कौन बड़ा है कौन छोटा, कौन पहले हुआ कौन पीछे इत्यादि) अनादिसे है और अकथनीय है।

अर्थ—९ शब्दसागरमें 'उपाधि' के अर्थ ये भी लिखे हैं कि 'जिसके संयोगसे कोई वस्तु किसी विशेष रूपमें दिखाई दे'। 'वेदान्तमें मायाके सम्बन्ध और असम्बन्धसे ब्रह्मके दो भेद माने गए हैं, सोपाधि ब्रह्म (जीव) और निरुपाधि ब्रह्म।'

अर्थ—१० प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि यहाँ 'उपाधि' का अर्थ है 'विकृतरूप वा, दूसरा रूप'। अतः इस अर्द्धालीका अर्थ यह हुआ कि 'नाम और रूप ईशहीके दूसरे रूप हैं।' अर्थात् यदि हम नामको पकड़ लें तो हमने ईशको पा लिया और रूपको पकड़ लें तो भी वही बात हो चुकी। यह बात साधन करके भली भाँति समझो।' वे 'दुइ' की ठौर 'दोउ' पाठ शुद्ध मानते हैं। यह 'उपाधि' का अर्थ वेदान्त शास्त्रके अनुकूल बताते हैं।

नोट—२ पं० रामकुमारजी कहते हैं कि अकथ, अनादि, सुसामुझि साधी ये सब 'ईस' के विशेषण हैं। जैसे 'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा।।' और 'ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा' में अकथ आदि 'ब्रह्म सरूप' और 'ब्रह्मसुख' के विशेषण हैं।

३ 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी' इति। 'उपाधि' के कई अर्थ हैं। (क) धर्माचिन्ता, कर्त्तव्यका विचार। (ख) उपद्रव, उत्पात। (ग) पदवी, प्रतिष्ठासूचक पद। (घ) समीप प्राप्त।

इन अर्थोंको एक एक करके लेनेसे 'दुइ ईस उपाधी' के ये भाव निकलते हैं—(क) नामको सुमिरें या रूपका ध्यान करें, दोनोंहीसे प्रभुके चित्तमें भक्तका मनोरथ पूरा करने, दुःख हरने, इत्यादिकी चिन्ता हो जाती है, क्योंकि उनको अपने 'बान' की लाज है। यथा, 'जो कहावत दीनदयाल सही जेहि भार सदा अपने पनको।' (क० उ० ६), 'मम पन सरनागत भयहारी' (सुं० ४३), 'कोटि विप्रवध लागहिं जाहू । आये सरन तजउँ नहिं ताहू' (सुं० ४४), 'सो धौं को जो नाम लाज तें नहिं राख्यो रघुवीर' (वि० १४४)। मानसतत्व विवरणकार लिखते हैं कि यहाँ 'पूर्व चौपाईका हेतु कहते हैं। 'ईस' अर्थात् ईश्वर जो सृष्टिका निमित्त कारण है, कार्यको उत्पन्न करके भिन्न रहता है। ऐसे भिन्न पुरुषकी प्रातिकी कोई उपाधि खोजना अवश्य हुआ। अस्तु। महानुभावोंने केवल नाम और रूप यही दो पाया। दोनों सम इस कारणसे हैं कि ईशकी उपाधि अर्थात् 'धर्मचिंता' वा 'निज परिवार' ('उपाधि धर्मचिंतायाँ कुटुम्ब व्यापृते छले' इति मेदिनी कोशे) नाममात्र है किंवा रूपमात्र'। (ख) 'उपाधि' उपद्रवकोभी कहते हैं। भाव यह कि नाम रूपसे ईश पकड़े जाते हैं। इस प्रकार भी दोनों बराबर हैं। (पं० रामकुमारजी)। (ग) जैसे पदवी पानेसे मनुष्य प्रतिष्ठित हो जाता है। उसके गुण अधिकार इत्यादि सभी जान जाते हैं। वैसेही ईश्वरके नामरूपहीसे उसका यथार्थ बोध होता है। बिना नाम रूपके उसका ध्यान, ज्ञान, समझना, उनमें और उनके गुणोंमें विश्वास होना इत्यादि असम्भव हैं। नाम और रूपहीसे परमेश्वर जगत्‌में सुशोभित होते हैं; उनकी चर्चा घरघर होती है; अतएव नाम और रूप मानों पदवी हैं जिससे प्राणियोंकी दृष्टिमें परमेश्वरकी प्रतिष्ठा है। (श्रीसीतारामप्रपन्न गयादत्त चौबे, ज़िला बलिया)। (घ) ईशके समीप (जापक, जनको) प्राप्त करदेनेवाले हैं। अर्थात् प्रभुकी प्राप्तिके दोनोंही मुख्य साधन हैं। प्रमाणं यथा, 'रकारो योगिनां ध्येयो गच्छन्ति परमं पदम्। अकारो ज्ञानिनां ध्येयस्ते सर्वेमोक्षरूपिणः॥ पूर्णं नाममुदादासा ध्यायन्त्यचल मानसाः। प्राप्नुवन्ति परां भक्तिं श्रीरामस्य समीपताम्॥ महारामायणे (मा० त०)। (५२, ६६, ७०)

नोट—४ पं० रामकुमारजी इस चरणपर यह श्लोक देते हैं, 'अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपंचकम्। आद्यंत्रयं ब्रह्मरूपं मायारूपं ततो द्वयम्॥' इति उपनिषदे। अर्थात् जगत्‌का जो भान होता है उसमें अस्ति (है), भाति (भासता है), प्रिय, रूप और नाम इन पांचोंका अनुभव होता है। इसमेंसे प्रथम जो तीन हैं वे ब्रह्मका रूप हैं जिसे सच्चिदानन्द कहा गया है और नाम और रूप ये माया के हैं। (यह अद्वैत सिद्धान्तानुसार प्रतिपादन है)।

५ इन अर्थोंमें कोई कोई शंका करते हैं कि 'ईशकी उपाधि' कहनेसे 'ईश' तीसरा पदार्थ ज्ञात होता है। यद्यपि यह शंका केवल शब्द कहने मात्र है तथापि 'ईश' और 'उपाधी' को पृथक् करके 'ईश' का अर्थ 'समर्थ' कर लेनेसे शंका निवृत्त हो जाती है।

६ 'अकथ अनादि सुसामुझि साधी' इति। (क) अकथनीय और अनादि, यथा, 'नाम जपत शंकर थके शेष न पायो पार। सब प्रकार सो अकथ है महिमा अगम अपार' (विजयदोहावली), 'महिमा नाम रूप गुन गाथा।...निगम सेष सिव पार न पावहिं।' (उ० ६१)। (ख) सुसामुझि=अच्छी बुद्धिवालोंने। सुन्दर बुद्धिसे। भाव यह है कि उनमें भेद न मानकर इस उपदेशपर चले कि 'रामनाम मनि दीप धरु जीह देहरी द्वार। तुलसी भीतर बाहरहु जौं चाहसि उजियार', पुनः 'जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ' ऐसा समझकर प्रेमसे रामनाम जपें तो दोनोंका बोध आपही हो जावेगा।

को बड़ छोट कहत अपराधू। सुनि गुन भेदु समुझिहहिं साधू। ३।

अर्थ—कौन बड़ा है, कौन छोटा, (यह) कहनेमें अपराध होता है। गुणको सुनकर साधु भेद (वा, गुणोंका भेद सुनकर) समझ लेंगे। ३।

टिप्पणी—१ समझनेमें सुखद हैं। यथा, समुझत सुखद न परत बखानी।' इसीलिए 'सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू' कहा। यहां कहते हैं कि बड़ा छोटा कहनेमें अपराध होगा, इसीसे आगे कहेंगे कि 'न परत बखानी'।

नोट—इस दोहेका सम्पूर्ण विषय कठिन है इसी कारण विषयके साथ 'समुझत' या समझसे सम्बन्ध रखनेवाले शब्द प्रसंग भरमें दिये हैं। यथा, 'समुझत सरिस नाम अरु नामी', 'सुसामुझि साधी', 'समुझिहहिं साधू', 'समुझत सुखद।' देखिए कहते हैं कि 'को बड़ छोट कहत अपराधू' और आगे चलकर बड़ा कह भी दिया है, 'कहउँ नाम बड़ राम ते।' यह क्यों? उत्तर—(१) पंडित रामकुमारजी लिखते हैं कि 'यदि एकके गुण और दूसरेके दोष कहकर एक को बड़ा और दूसरेको छोटा कहें, तो दोष है; इसीसे हम गुण दोष न कहकर दोनोंके गुणही कहकर बड़ा छोटा कहते हैं, दोनोंके गुण सुनकर साधु समझ लेंगे, इसमें दोष नहीं। बड़ा छोटा कहनेकी प्रायः यह रीति है कि एकके गुण कहे और दूसरेके अवगुण, जैसा ग्रन्थकारने श्रीसीताजीके प्रसंगमें (२३७, २३८ दोहेमें) श्रीरामचन्द्रजीके मुखारविन्दसे कहलाया है। यथा, 'सीय बदन सम हिमकर नाहीं ॥ जनम सिंधु पुनि बंधु बिष दिन मलीन सकलंक। सिय मुख समता पाव किमि चंद बापुरा रंक ॥ २३७। 'घटइ बढ़इ' इत्यादि। गोस्वामीजी कहते हैं कि हम इस रीतिसे बड़ाई छुटाई नहीं कहते।' (२) प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि यहां बड़ा छोटा कहनेमें अपराध मानते हुए भी आगे बड़ा छोटा कहही डाला। इसका कारण यह है कि रामनामपर उनका इतना विश्वास है कि उनसे रहा न गया और अपने इष्ट (रामनाम) की बड़ाई करही डाली और अपना विश्वास प्रगट कर दिया कि इतना बड़ा अपराध करनेपर भी रामनाममें वह शक्ति है कि अपराध क्षमा हो ही जायगा। (३) मानसदीपिकाकार लिखते हैं कि 'इस रीतिसे वास्तविक सिद्धान्त न कहकर अब, केवल भक्तोंके उपासनानुसार और कलियुगमें नामीसे नामका प्रभाव अधिक समझकर निज भावके अनुकूल सिद्धान्त कहते हैं। (४) सू. प्र. मिश्र—'को बड़ छोट कहत अपराधू' इस आधी चौपाईतक ग्रन्थकारने शास्त्रसिद्धान्त बातें कहीं, आगे केवल भक्तोंके उपासनानुसार कहते हैं। 'सुनि गुन भेद' अर्थात् नामीसे नामके अधिक गुण सुनके। (५) सु. द्विवेदीजी—'दोनोंमें समान गुण होनेसे एकको बड़ा दूसरेको छोटा कहना अपराध है। साधु लोग अपनी अपनी रुचिसे इन दोनोंके गुणोंको सुनकर तथा विचारकर आप इन दोनोंके भेदको समझेंगे। यह कहकर ग्रन्थकार ने अपनी रुचिसे नामके बड़ा होनेमें हेतु दिखलाया।

देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना। ४।
रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतलगत न परहिं पहिचानें। ५।
सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदय सनेह बिसेषें। ६।

अर्थ-रूप नामके अधीन (आश्रित, वश) देखा जाता है। बिना नामके रूपका ज्ञान नहीं हो सकता।४। विशेष रूपका पदार्थभी हथेलीपर प्राप्त होनेपरभी बिना नामके नहीं पहचाना जा सकता।५। और बिना रूपके देखे नामको 'सुमिरिए' तो वह रूप हृदयमें बड़े स्नेह समेत आ जाता है। ६।

नोट—१ देखिअहि—श्रीरूपकलाजी कहते हैं कि इस शब्दसे भूत भविष्य और वर्तमान तीनों काल का बोध होता है, जैसे फ़ारसीमें मुज़ारेसीगासे। भाव यह कि सदैव देखते आए, देखते हैं और अब भी देखेंगे। अथवा, ऊपर कहा है कि साधु समझ लेंगे और अब कहते हैं कि वे स्वयम् देख लेंगे कि रूप नामके अधीन है। देखिअहि=देखिए, देखते हैं, देखा जाता है। यथा, 'नाथ देखिअहि बिटप बिसाला' (अ० २३७); 'भरत परिखिअहिं अति अनुरागा' (बा० ५); 'ए रखिअहिं सखि आँखिन्ह माहीं' (अ० १२१) में रखिअहि=रखिए, रख लें, रख लिया जाय। 'करुनामय रघुनाथ गोसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई' में पाइअहि = पाते हैं।

नोट २—'रूप नाम आधीना' इति। रूप नामके अधीन है, इसका प्रमाण इसी ग्रंथमें देख लीजिये। श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामचन्द्रजीको न पहचान सके जबतक उन्होंने अपना नाम न बताया। यदि वे रूप देखकर पहचान गए होते तो यह प्रश्न न करते कि 'को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा। छत्री रूप फिरहु बन बीरा॥…' जब श्रीरामचन्द्रजीने नाम बताया तभी पहचाना। यथा, 'कौसलेस दसरथ के जाये। नाम राम लछिमन दोउ भाई।… प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना' (कि० २)। 'देखिए दस पाँच मनुष्य एकही ठौर सोये हों तो जिसका नाम लेकर पुकारोगे वही बोल उठेगा। नामहीके बेधनेसे नामीकी मृत्यु हो जाती है'। (बैजनाथजी)। कोई मनुष्य किसी जाने हुए ग्राम वा नगर इत्यादिको जा रहा हो, रास्ता भूल जाय तो उस ग्रामका नाम न जाननेसे उसको उसका पता लगाना असम्भव हो जाता है। बिना नाम कहे कोई किसीको कोई वस्तु समझाना चाहे तो नहीं समझा सकता। इससे निश्चय है कि समग्र गुणोंसहित रूप सूक्ष्मरूपसे नाममें बसा है, नामकी प्रशंसासे रूप प्रसन्न होता है, अतः अधीन कहा। (बै०)। श्रीलाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि 'नाम रूप दुइ ईस उपाधी।....आवत हृदय सनेह बिसेषें।' में गोस्वामी तुलसीदासजीने अपनी दार्शनिक प्रवीणता भली भाँति दिखला दी है। इसमें एक चौपाईपर मनन करनेकी आवश्यकता है। वह चौपाई यह है। 'देखिअहि रूप नाम आधीना। रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना॥ रूप बिसेष नाम बिनु जानें। करतलगत न परहिं पहिचानें॥' बिना नामके किसीभी रूपका (वस्तुका) ज्ञानही असम्भव है। सबसे भारी असमंजस यह है कि नामके बिना रूपकी विशेषताही नहीं जानी जा सकती; चाहे वे कितनेही समीप क्यों न हों। यह बात इस प्रकार स्पष्ट हो सकती है कि मान लीलिए आपके सामने दो भिन्न वस्तुएँ रक्खी हैं। अब जब तक उनका नामकरण नहीं होता, तबतक उन्हें, दूसरेको समझाना तो दूर रहा, आप स्वयम् भी समझ नहीं सकते। एक स्थानपर आम और आँवला रखे हों और उनके नाम यदि आप नहीं जानते, केवल रूपके जानकार हैं तो 'आँवला' कहनेपर 'आम' तथा 'आम' कहनेपर आँवलाका ग्रहण आपके लिए कोई असंभव बात नहीं। केवल दो वस्तुओंमें जब 'अनामता' से भ्रम हो जाना सम्भव है, तो असंख्य वस्तुओंमें 'अनामता' से गलती होना ही सर्वथा संभव है। यही 'नाम' और 'रूप' का अन्तर है। बिना दोनोंके सफलीभूत होना कठिन है। किन्तु 'नाम' में अधिक बल है, क्योंकि रूप नामका अनुगामी है। यथा किसी समाजमें बहुतसे व्यक्ति बैठे हैं और एकका नाम बताकर बुला लानेको कहा जाय तो वह चट आ जायगा। उसी प्रकार 'नाम' द्वारा 'रूप' का ग्रहण होता है। नाम लेकर पुकारनेपर जो व्यक्ति उठेगा उसके 'रूप' को भी बुलानेवाला हृदयंगम कर लेगा। किन्तु केवल 'रूप' जाननेसे इतना काम नहीं सध सकता। इस बातका प्रमाण मन्त्रशास्त्रसे प्रत्यक्ष मिलता है। इस शास्त्रके अनुसार मारण, मोहन, इत्यादि प्रयोग केवल नामहीके द्वारा सिद्ध होते हैं और प्रभाव नामीपर पड़ता है। इसी बातको तुलसीदासजीने स्पष्ट किया है। 'सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निरगुन मन तें दूर। तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवन मूर॥ ८।' (दोहावली), 'ब्रह्मरामते नाम बड बरदायक बरदानि। रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जिय जानि॥' इससे भी अधिक स्पष्ट रामचरितमानसमें कहा है। यथा, 'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा'। इत्यादि।

३ 'रूप बिसेष' इति। शब्दसागरमें 'विशेष' के अर्थ ये हैं—भेद, विचित्रता, तारतम्य, अधिकता, और वैशेषिक दर्शनके अनुसार 'वे गुण जिनके कारण कोई एक पदार्थ शेष दूसरे पदार्थोंसे भिन्न समझा जाता है'। टीकाओंमें इसके अर्थ ये किये गए हैं—(क) विशेष रूपका पदार्थ जैसे कोई रत्न, हीरा, पन्ना आदि। इसके रूप रङ्गको सुना है। वह मिला भी तो बिना उसका नाम जाने कितनोंहीने उसको साधारण पत्थर जानकर सेर भर सागके बदलेमें दे दिया है। जब उसका नाम जाना तब पछताए। विदेहजीने श्रीरामलक्ष्मणको देखा, पर, जबतक विश्वामित्रजीने नाम न बताया उनको न पहिचाना। (पंजाबीजी)। (ख) 'रूपका विशेष ज्ञान

होनेपरभी नाम जाने बिना' (करुणासिंधुजी, रा० प्र०)। (ग) 'रूपकी विशेपता' कि यह ऐसे गुणवाला है, इत्यादि। (घ) 'यद्यपि रूप विशेष है। अर्थात् जो गुण रूपमें हैं सो नाममें नहीं हैं। यथा चन्द्रोपल नाममें पत्थरका कठोरता गुण है और उसके रूपमें इतने गुण हैं कि वह अमूल्य है, पुत्रदायक है, सुखदायक है, विप और ग्रहकी बाधाको हरता है, इत्यादि। इस प्रकार रूप गुणोंमें विशेप है, तोभी 'करतल गत...' अर्थात् रूपके गुण नाम ही से प्रकट होते हैं, अन्यथा नहीं। (वै०)। (ङ) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'यहाँ देखिअहि...से लेकर चार चरणोंमें एकही बात कही है, इससे पुनरुक्तिदोष होता है'। 'देखिअहि....आधीना' से जनाया कि नामके अधीन होनेसे रूपका दर्शनमात्र होता है। 'रूप ज्ञान नहि नाम बिहीना' से जनाया कि नामकी विमुखतासे रूप किंचिन्मात्रभी पहचाना नहीं जाता। और 'रूप बिसेप...'से जनाया कि नाम का उपकार, सबलता, माहात्म्य वा प्रभाव बिना जाने जो रूप करतलगत है उसका वह दिव्य रहस्य जाना नहीं जाता। (च) 'रूप विशेप करतलगत है पर नामविना...' (नं. प.)

नोट—४ 'आवत हृदय सनेह बिसेपे' इति। इसकेभी दो तीन तरहसे अर्थ किए जाते हैं।—(क) एक ऊपर लिखा गया कि 'रूप हृदयमें बड़े स्नेहसे आ जाता है'। प्रमाणं यथा, 'रूपं श्रीरामचन्द्रस्य सुलभं भवति ध्रुवम्' (मार्कण्डेयपुराण)। (ख) नाम जपनेसे हृदयमें नामीमें विशेप स्नेह आ जाता है; जिसका फल रूपदर्शन है। (श्रीरूपकलाजी)। प्रमाणं यथा, 'मन वच करम नामको नेमा। तब उपजै नामी पद प्रेमा'। (महात्मा श्री १०८ युगलानन्यशरणजी, लक्ष्मणकिला, श्रीअयोध्याजी)। पुनः, यथा, 'हरि ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रगट होहिं मैं जाना' (बा० १८५), 'अतिशय प्रीति देखि रघुबीरा। प्रगटे हृदय हरन भव भीरा' (आ० १०)। (ग) 'विशेप स्नेहसे नामका स्मरण करनेसे बिना देखे रूप हृदयमें आ जाता है'। क्योंकि देवता मंत्रके अधीन हैं, यह श्रीजैमिनीय मीमांसा, तापिनी आदिसे प्रसिद्ध है। यथा, 'यथा नामी वाचकेन नाम्नायोभिमुखो भवेत्। तथा बीजात्मको मंत्रो मन्त्रिणोभिमुखो भवेत् ॥' (रा. पू. ता. उ. ४।३), अर्थात् जैसे वाचक नामके द्वारा नामी सम्मुख हो जाता है, उसी प्रकार बीजात्मक मन्त्र श्रीरामजीको जापकके सम्मुख कर देता है। पुनः यथा, 'मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब। महामत्त गजराज कहुँ बस कर अंकुस खर्ब (बा० २५६)। 'श्रीरामनाम' महामंत्र है। यथा, 'महामंत्र जोइ जपत महेसू' इसके अधीन देवताओंके स्वामी श्रीरामचन्द्रजी हैं।

५ विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि 'नाम लेनेसे वस्तुका अच्छी तरह ज्ञान हो जाता है तभी तो व्याकरणमें नामको संज्ञा कहते हैं और संज्ञा शब्दका अर्थ अच्छी तरहसे ज्ञान करानेवाला ऐसा होता है। संज्ञाको मराठी व्याकरणमें नाम कहते हैं'।

नाम रूप गति[१] अकथ कहानी। समुझत सुखद न परत बखानी। ७।

अर्थ—नाम और रूप दोनोंकी गतिकी कहानी अकथनीय है; समझनेमें सुखद है, वर्णन नहीं करते बनता। ७।

---

१ गुन—(पं० रामकुमारजी, व्यासजी, रामायणीजी)। गति कहत कहानी—(मानस-पत्रिका), अर्थात् 'इनकी गति, कथा कहते, और समझते सुख देनेवाली है'। (मा. प.)। नंगे परमहंसजी 'नाम रूपकी कहानीकी गति' यह अर्थ करते हैं।

नोट—१ 'अकथ' का भाव यह है कि ये दोनों एक दूसरेमें ऐसे गुथे हैं कि एककी बड़ाईके साथ दूसरे-की बड़ाई झलकही पड़ती है अर्थात् नामस्मरणसे रूप स्नेहसहित न आवे तो सेवककी स्वामीपर प्रीति ही कैसी ? दूसरी ओर दृष्टि डालिये तो यह विचार होता है कि बड़ेका स्नेह छोटेपर होता है। यथा, 'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं। गिरि निज सिरन्हि सदा तृन धरहीं' (बा० १६७)। इससे नामीका भी बड़प्पन झलक उठता है। अतएव 'अकथ' कहा। विशेष २१ (३) में टिप्पणी पं० रामकुमारजीकी देखिए। (मानसपरिचारिका)।

२ श्रीसुदर्शनसिंहजी—नामकी गति अवर्णनीय है। नामसे नामीका अभेद और नामके स्मरणसे हृदयमें नामीका प्रादुर्भाव, यह साधनकी वस्तु है।…किस प्रकार नामका नामीसे अभेद है और किस प्रकार नामसे नामी आकर्षित होता है, यह नामका आश्रय लेनेसे समझमें आ जायगा और समझमें आनेसे उससे आनन्द प्राप्त होगा। यह सुखद है, परन्तु यह बात वर्णन नहीं की जा सकती। नामकी कहानी भी अकथ है। उसके द्वारा अनन्त जीवोंका उद्धार हुआ है, यह समझनेपर हृदय श्रद्धासे पूर्ण हो जायगा और श्रद्धाजन्य आनन्द उपलब्ध होगा पर नामके चरितका वह महत्व तो शेषभी नहीं कह सकते। रूपकी गति एवं कथाभी अकथ है।…भगवान्‌का दिव्य रूप कैसा है ? कैसे हृदयमें आता है ? कैसे क्षणभरमें हृदय कुछसे कुछ हो जाता है ? यह कौन बता सकेगा ? यह तो अनुभव कीजिए ! समझिये। राम अनन्त हैं, इसलिये रूपके चरितभी वर्णन नहीं किये जा सकते।…इस प्रकार नाम एवं रूपमें दोनोंकी गति (कार्यशैली) तथा कहानी (चरित) अवर्णनीय है। वे अनुभवकी वस्तु हैं और अनुभव करनेपर उनसे आनन्द प्राप्त होता है। (मानसमणि)।

३ पं० सूर्यप्रसाद मिश्रः—यहाँ 'गति' के तीन अर्थ हैं। राह, हालत, और ज्ञान। नामरूपकी राह या उनकी हालत या उनका ज्ञान ये बातें कहाँसे कही जा सकती हैं ? समझनेमें तो सुख देनेवाली हैं, पर कही नहीं जा सकतीं। इसका कारण यह है कि प्रिय वस्तुका कहना नहीं हो सकता। क्योंकि उस वस्तुके साक्षात्कार होनेसे मन उसीके आनन्दमें डूब जाता है फिर कहनेवाला कौन दूसरा बैठा है ? यही बात श्रुतिमें लिखी है। 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै० ३।२।४)।

४ श्रीसुधाकर द्विवेदीजी—'नाम और रूपकी गति उनके महात्म्य कहने और समझनेसे सुख देनेवाली है। अर्थात् और देव अनेक पूजादिसे प्रसन्न होकर तब सुखद होते हैं परन्तु नामके स्मरण और उस नामके साथ साथ उस नामीकी स्तुति करते ही वह नामीकी गति सुखद हो जाती है इसलिए वह गति वर्णनसे बाहर है। (मानस-पत्रिका, सं० १९६४)।

अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी। ८।

अर्थ—निर्गुण (अव्यक्त) और सगुणके बीचमें नाम सुन्दर साक्षी है। (नाम) चतुर दुभाषिया (दो भाषाएँ जाननेवाले) के समान दोनोंका (यथार्थ) बोध करानेवाला है। ८।

नोट—नामको 'साक्षी, प्रबोधक और दुभाषिया' कहा। क्योंकि नामका जप करनेसे निर्गुण और सगुण दोनोंहीका बोध हो जाता है। दोहा २१ देखिए। जो ब्रह्मको नामरूपरहित कहते हैं वे भी तो उसको किसी न किसी नामहीसे पुकारते और जानते हैं जैसे ईश्वर, परमात्मा, अलख। याज्ञवल्क्यस्मृति यथा, 'परमात्मानमव्यक्तं प्रधानपुरुषेश्वरम्। अनायासेन प्राप्नोति कृते तन्नामकीर्त्तने ॥' अर्थात् भगवन्नामकीर्त्तन करनेसे माया और जीवका स्वामी अव्यक्त परमात्मा अनायास प्राप्त हो जाता है।

२—सुसाखी=सु+साखी=सुन्दर साक्षी (गवाह)। 'सु' विशेषण इससे दिया कि एक गवाह ऐसे होवे

हैं कि जिधर झुकते हैं उधरहीकी सी कहते हैं, सत्य-असत्यका विचार नहीं करते, जानबूझकर दूसरेका पक्ष नष्ट कर देते हैं और श्रीरामनामके जपनेसे दोनोंकी यथार्थ व्यवस्था जानी जा सकती है। पुनः गवाह वादी-प्रतिवादी दोनों ओरके झगड़ेको साबित (निरूपण) करते हैं, इसी तरह नाम इस बातको साबित करते और इसका यथार्थ बोध भी करा देते हैं कि जो अगुण है वही सगुण, और जो सगुण है वही अगुण ब्रह्म है। यथा, 'सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज विज्ञानरूप बल धामा' से 'प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी ॥" भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप। किये चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ॥ जथा अनेक वेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। जोइ जोइ भाव दिखावइ आपुन होइ न सोइ'। उ० ७२ तक। इस तरह दोनोंका मेल करा देते हैं। अतः सुसाखी कहा।

नोट—३ 'चतुर दुभाषी' इति। जब एक देशका रहनेवाला दूसरे देशमें जाता है जहाँकी बोली वह नहीं जानता तब उसे दोनों देशोंकी बोली जाननेवालेकी आवश्यकता पड़ती है, जो इसकी बात उस देशवालोंको और उनकी इसे समझा दे इन्हींको दुभाषिया कहते हैं। 'नाम को चतुर दुभाषिया कहा क्योंकि—(क) देश-भाषा समझा देना तो साधारण काम है और निर्गुणसगुणका दृढ़ बोध कराना अति कठिन है, यह ऐसी सूक्ष्म बात है कि वेदोंको भी अगम है। (ख) दुभाषिया तो हर देशवालेको उसीकी बोलीमें समझाता है और श्रीनाम महाराज ऐसे चतुर हैं कि ये एकही शब्दमें दोनोंका बोध कर देते हैं। यथा, राम=जो सबमें रमे हैं और सबको अपनेमें रमाये हैं। यथा, 'रमन्ते योगिनो यस्मिन्' यह निर्गुणका बोध हुआ। पुनः राम=जो रघुकुलमें अवतीर्ण हुए सो सगुण हैं। मानसदीपिकाकार लिखते हैं कि 'राम ऐसा नाम अक्षरोंके बलसे रूढ़ीवृत्तिसे दशरथात्मजका बोध कराता है और योगवृत्तिसे निर्गुणका।

४ 'उभय प्रबोधक' यथा, 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥रा. पू. ता. १।६।' इति निर्गुणप्रबोधनम्। अर्थात् जिस अनन्त, सत्य, आनन्द और चिद्रूप परब्रह्ममें योगी लोग रमते हैं वही 'राम' शब्दसे कहे जाते हैं। यह निर्गुणका प्रबोध हुआ। पुनः यथा, 'चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ। रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः। स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटी कृतः।१। राक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतोऽथवा। रामनाम भुविख्यातमभिरामेण वा पुनः। २।' इति श्रीरामतापिन्यामिति सगुण रामप्रबोधनम्। (रा. पू. ता.)। अर्थात् रघुवंशी नरेश दशरथमहाराजके घरमें पुत्ररूपसे महाव्यापकत्वादि गुणवाले इन चिन्मय, भक्तदुःखहारी श्रीरामनामक ब्रह्मके भक्तानुग्रहार्थ अवतीर्ण होनेपर विद्वानोंने इस लोकमेंभी उस परब्रह्मका वही श्रीरामनामही इस लिये प्रकट किया कि मनुष्यरूपमें अवतीर्ण होनेपरभी वह भक्तोंको यथेष्ट देता है और पृथ्वीपर रहते हुए भी अपने दिव्यगुणोंसे दीप्त रहता है। १। जिसके द्वारा राक्षस लोग मरणको प्राप्त हुए। राक्षसका रकार और मरणका मकार मिलाकर संपूर्ण राक्षसोंके मारनेवालेका नाम राम प्रसिद्ध हुआ। अथवा, जो शक्ति आदिमें सबसे बढ़कर है, उसका नाम राम है। अथवा अत्यन्त सुन्दर विग्रह होनेसे पृथ्वीपर 'राम' नामसे विख्यात है। (पं० रा० कु०)।

५ जिसका समझना समझाना दोनोंही कठिन है उसकाभी प्रबोध करा देते हैं।

६ श्रीकाष्ठजिह्वस्वामीजीका मत है कि 'नामका अर्थ अगुणरूपका साक्षी है और अक्षर सगुणरूपका साक्षी है; क्योंकि रूपवालेहीका नाम कहते बनता है। इस तरह नाम दोनोंको जनाता है और दोनोंसे अलग है। (रा. प.)।

७ मानसमयङ्ककार लिखते हैं, 'जापक रघुबर बीचमें नाम दुभापी राज। जो जापक अगुणहिं चहे अगुण आपकहि साज ॥' अर्थात् नामजापक और श्रीरघुनाथजीके बीचमें नाम दुभाषियाका काम करता है, रघुनाथजीके

रहस्य जापकको समझाकर और जापककी दीनता प्रभुको सुनाकर उसको प्रभुकी प्राप्ति कराता है। और यदि जापकको निर्गुण ब्रह्मकी चाह हुई तो नाम उस जापकको निर्गुणकी प्राप्ति करा देता है।

८ वैजनाथजी लिखते हैं कि अगुण अंतर्यामीरूप है, और पररूप साकेतविहारी, चतुर्व्यूह, अवतारादि विभु और अर्चा सगुणरूप हैं। नाम दोनोंका हाल यथार्थ कह सकता है। पुनः, अगुण और सगुण दो देश हैं। दोनोंकी भाषा भिन्न-भिन्न है। अगुण देशकी बोली है, सारासारका विवेक, वैराग्य, षट् संपत्ति (शम, दम, उपराम, तितिक्षा, समाधान और मुमुक्षुता) इत्यादि। सगुणदेशमें श्रवण, कीर्त्तन आदि नवधा, प्रेमा, परा भक्ति मिलते हैं। वहाँकी बोली, धम, शान्ति, सन्तोष, समता, सुशीलता, क्षमा, दया और कोमलता आदि। नाम दोनोंकी बोली समझाकर दोनोंसे मिला देता है।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—पहले कह आए हैं कि 'नाम रूप गति अकथ' और साथही उसे अनुभूतिका विषयभी बता आए हैं। अब यहाँ रूपके दो भेद बताकर दोनोंसे नामका अभिन्न सम्बन्ध एवं नामके द्वाराही दोनोंके अभेदकी उपलब्धिका निरूपण किया गया। रूपके दो भेद कर दिये, निर्गुण स्वरूप और सगुण स्वरूप। समझ लेना चाहिए कि नाम और रूप 'अकथ' हैं। अतएव नामके द्वारा इन दोनोंका सामञ्जस्यभी अकथही है। नामकी साधनासेही ज्ञान होता है कि वस्तुतः दोनों अभिन्न हैं। तर्कके द्वारा अभेद प्रतिपादित नहीं हो सकता।

'समुझत सरिस नाम अरु नामी' से प्रारम्भ करके यहाँतक नाम और नामीका परस्पर सम्बन्ध, नामके द्वारा नामीकी उपलब्धि, नामीके दो स्वरूप निर्गुण और सगुण तथा दोनोंकी उपलब्धि एवं एकात्मता नामके द्वारा बताई गई। अब इसके पश्चात् नामके साधनका स्पष्टीकरण करेंगे।

नाम-वन्दनाके इस प्रसंगमें नामीकी इस चर्चाका क्या प्रयोजन था? नामीके चरितके वर्णनके लिये तो पूरा 'मानस' ही है। यह बात समझ लेना चाहिये। सामान्यतः साधक नामका जप करता है और उसका ध्यान नामी पर रहता है। इस प्रकार निष्ठामें विपर्यय होनेसे उसे साध्यकी प्राप्तिमें विलम्ब होता है। विलम्ब कई बार अश्रद्धा तथा उपरतिका कारण होता है। अतः इस दोषका यहाँ निराकरण हुआ है।

यहाँ यह समझाया गया है कि नाम स्वयं साधन और साध्य दोनों है। तुम आराध्यका सगुण रूप मानो या निर्गुण, दोनोंका स्वरूप है नाम। नाम स्वयं आराध्य है। वह स्वतः प्राप्य है। अतः साधककी निष्ठा नाममें आराध्यकी होनी चाहिये। नाममें प्रेम और निष्ठा होगी तो नामी तो बिना बुलाये हृदयमें प्रत्यक्ष हो जायगा। उसके लिये इच्छा एवं अपेक्षाकी आवश्यकता नहीं। नाममें ही सम्पूर्ण अनुराग होना चाहिये। (मानसमणि)।

दो०—रामनाम मनि दीप धरु जीह देहरीं द्वार।
तुलसी भीतर बाहेरहुँ [1] जौं [2] चाहसि उँजियार। २१।

अर्थ—श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि (मुख रूपी दरवाजेकी) जीभरूपी देहलीपर श्रीरामनाम मणिदीपक रख, जो तू भीतर और बाहरभी उजाला चाहता है। २१✲।

नोट—१ श्रीरामनामको 'मणिदीप' कहनेका भाव यह है कि—(क) साधारण दीपकमें तेल बत्ती

---

१ बाहरौ—१७२१, १७६२, छ०। बाहरहु—१७०४। बाहेरहुँ—१६६१। २ जों—१६६१

✲ श्रीनंगेपरमहंसजी 'देहरी' का अर्थ 'दीयठ' करते हुये यह अर्थ लिखते हैं कि 'जीहरूपी दीयठपर रखकर द्वारपर धरु'। उनका आग्रह है कि 'जब दीपकका रूपक कहा जाता है तब तब दीयठका रूपकभी कहा जाता है, क्योंकि दीयठ दीपकका आधार है। अतः आधार आधारीरूपसे दीपक दीयठ । संबंध है। प्रमाण,

बुझनेका भय तथा पतंगों और हवा इत्यादिका डर रहता है, फिर प्रकाशभी एकसा नहीं बना रहता। नाम छोड़ अन्य साधन उस दीपकके समान हैं। उनमें घन चुकनेका डर और कामक्रोधादिकी बाधाका भय रहता है। नाम-साधन मणिदीपसम है जिसमें किसी विघ्नका भय नहीं है। विनयपद ६७ और १०५ में भी नामको मणि कहा है। यथा, 'रामनाम महामनि', 'पायो नाम चारु चिंतामनि'। भक्ति चिंतामणिके लक्षण उ. १२० में कहे गए हैं और श्रीरामभक्तिमें नाम मुख्य है ही। (बा. १९)। अतएव ये लक्षण यहाँ भी लगते हैं। लक्षण, यथा, 'परम प्रकास रूप दिन राती। नहिं कछु चहिय दिया घृत बाती॥ मोह दरिद्र निकट नहिं आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥ अचल अविद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥ खल कामादि निकट नहिं जाहीं।' (७. १२०)। (ख) जैसे मणिदीप बुझता नहीं, वैसेही श्रीरामनाम

'मनिदीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी विद्रुम रची।', 'चित्त दिया भरि धरै दृढ़ समता दिअटि बनाइ।' 'मणिदीप राजहिं।....' में 'देहरी' का अर्थ सिवाय दीयठके दूसरा होही नहीं सकता, क्योंकि दरवाजेका प्रसंग अभी तीन प्रसंगके बाद कहा गया है। यदि कोई महाशय हठवश 'देहली वा चौखटा' अर्थ करेंगे तो अल्पबुद्धिका विचार कहा जायगा।' दोहेके भाव ये हैं कि—(क) जैसे दीपदेहरीसंयोग वैसेही नाम और जीहका संयोग। नाम जीभपर निरंतर बना रहे। (ख) द्वारपर धरना मुखसे रटना है, क्योंकि जब द्वार खुला रहेगा, तभी भीतर उजाला होगा। मुख रटनेपरही खुला रहता है। (ग) जैसे दीयठ दीपकके अतिरिक्त अन्य कार्योंमें नहीं लाई जाती, वैसेही जिह्वाको अन्य शब्दके उच्चारणमें न लाया जाय।'

वे. भू. पं. रा. कु. दासजी लिखते हैं कि अमरकोशमें गृहद्वारके अधोभाग (चौखट) को देहली बताया गया है। (अमरविवेक टीकाने विस्तारसे इसपर टीका की है)। पद्माकर और ब्रजभाषाके ख्यातनामा कवियोंने भी इसी अर्थमें 'देहरी' का प्रयोग किया है। यथा, 'एक पग भीतर सु एक देहरी पै धरे, एक कर कंज एक कर है किवार पर।', 'देहरी धर थराइ देहरी चढ़्यो न जाइ देह री। तनक हाथ देह री लंघाइ ले।' इत्यादि। 'मनिदीप राजहिं...देहरी विद्रुम रची' इस तुकमें मूँगेकी चौखट रचा जाना कहा जा चुका, इसीसे इस छंदके चौथे तुकमें जब फाटकका वर्णन किया गया तब चौखटका वर्णन नहीं है। अतः 'देहरी' का चौखट अर्थही प्रामाणिक और समीचीन है। 'दीयट' अर्थ उपयुक्त नहीं, क्योंकि दीयटका नियम नहीं कि द्वारपरही रहे। दूसरे, दीयट तो जहाँ चाहें तहाँही उठाकर रख सकते हैं और उससे काम ले सकते हैं, परंतु उपमेयभूत जिह्वाको चाहे जहाँ रखकर काम नहीं ले सकते, वह तो मुखद्वारपरही रहनेसे काम दे सकेगी। यहाँ शरीर घर, मुख द्वार, जिह्वा द्वारके अधोभागमें स्थित चौखट है, जो इस लिये है कि उसपर रामनामरूपी मणिदीप रक्खा जाय।

नोट—'देहरी' के 'दीयट' अर्थका प्रमाण किसी उपलब्ध कोशमें नहीं है। देहलीका सम्बन्ध घरके भीतर और बाहर दोनोंसे रहता है। देहलीपर दीपक रखनेसे भीतर और बाहर दोनोंमें प्रकाश रहता है। इसी संबंधसे 'देहलीदीपकन्याय' प्रसिद्ध है। दीपके साथही 'देहरी' का नाम रखनेका उद्देश्य यह हो सकता है कि 'देहली' और दीपकका इतना घनिष्ट सम्बन्ध है कि 'देहलीदीपकन्याय' ही प्रसिद्ध हो गया और उस न्यायका प्रयोग देहली (चौखट) अर्थात् द्वारके मध्य भागपर दीपक रखनेसे जो दोनों ओर प्रकाश होता है उस भावको दर्शित करनेके लिये होता है। देहलीका अर्थ दीयट यदि लें तो देहलीदीपकन्यायमें जो द्वार या चौखटका सम्बन्ध आ जाता है उसका बोधक शब्द फिर यहाँ कोई नहीं मिलता। और, ज्ञानदीपक प्रसंगमें भीतरबाहरका कोई विषय नहीं है, केवल दीपक रखनेका प्रसंग है, इस लिये वहाँ दीयटही कहा गया, देहरी न कहा गया।

जिह्वापर बराबर चलता रहे, जिह्वा कभी नामसे खाली न रहे, यह भी सूचित किया । वा, (ग) दुभाषियारूपसे अगुणसगुणका यथार्थ स्वरूप बताते हैं और मणिरूपसे उनके दर्शनभी करा देते हैं ।

नोट—२ द्विवेदीजी—डेवढ़ीपर दीपक रखनेसे भीतर और बाहर दोनों ओर उजाला हो जाता है, इसी लिए संस्कृतमें 'देहलीदीप'-न्याय प्रसिद्ध है । और दीपकी शिखामें मोहसे अनेक अधम कीट पतङ्गादि पतित होकर प्राण दे देते हैं, इस लिए वे सब दीप हिंसक हैं; परन्तु मणिदीपकी ऐसी शिखा है कि प्रकाश तो इतर दीपोंसे सौगुणा होता है और जीवहिंसक एकभी नहीं । यदि उस प्रकाश में अधम पतित आदि कीटपतंगादिके समान पतित हों तो शरीरनाशके विनाही सब कल्मष भस्म हो जायँ और उनका रूपभी पवित्र होकर दिव्य होजाय । और यह दीपशिखा प्रचण्ड विघ्नरूप प्रखर वायुसे भी नहीं बुझ सकती, इसलिये संसारमें यह अनुपम मणिदीप है । यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

मिश्रजी—यह देह मन्दिरके समान है, उसका द्वार मुख है, जिह्वा देहली है और जिह्वा इस तरहसे भी देहली है कि नेत्र और बुद्धि दोनोंके बीचमें है । इसपर नाम रहता है । अर्थात् जैसे डब्बेके भीतर रत्न रहता है, उसी तरह बुद्धि और नेत्र दोनोंके बीच रसनापर रत्नरूपी नाम रहता है । रामनाम जपनेवालेको दूसरेकी सहायताकी आवश्यकता नहीं पड़ती ।

टिप्पणी—१ गोस्वामीजीने मनसे और वचनसे भजन करनेके फल भिन्न भिन्न दिखाए हैं । 'सुमिरिय नाम रूप बिनु देखें । आवत हृदय सनेह बिसेषें' यह मनसे स्मरण करनेका फल है । और, 'तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजिआर' यह जिह्वासे भजन करनेका फल दिखाया । अर्थात् मनमें भजन करनेसे भगवान् हृदयमें आते हैं और जिह्वा द्वारा भजन करनेसे भीतर बाहर देख पड़ता है । भीतर बाहर उजाला हुआ तो भीतर निर्गुण, बाहर सगुण देख पड़ा । २ प्रथम कह आए कि नाम दोनों ब्रह्मको कहते हैं, अब नामजपसे दोनों ब्रह्मका प्रगट होना कहते हैं । नामके जपसे भीतर प्रकाश होता है तब निर्गुण ब्रह्मका अनुभव होता है, बाहर प्रकाश हो तब सगुण ब्रह्म देख पड़ेगा । [नोट—हृदयमें जो निर्गुण (अव्यक्त) रूप है उसका बोध होना भीतरका उजाला है, सगुणरूपका बोध होना बाहरका उजाला है । इस अर्थका प्रमाण दोहावलीमें है जिसमें यही दोहा देकर फिर ये दो दोहे दिये हैं । 'हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम । मनहु पुरटसंपुट लसत, तुलसी ललित ललाम ॥ (दोहा ७), 'सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं, निर्गुन मन ते दूरि । तुलसी सुमिरहु रामको, नाम सजीवन मूरि ॥' (दोहा ८) । 'भीतर बाहरका उजाला क्या है और वह कैसे मिले ?' यही इनमें बताया गया है जो इस अर्थसे मिलता है । दूसरे यहाँ प्रसंगभी सगुण निर्गुणका है ।]
३ 'निर्गुणके बिना जाने सगुणकी उपासना करें तो मोह हो जाता है, जैसे गरुड़जी और भुशुण्डिजीको हुआ । निर्गुणको बुद्धिसे निश्चित करके सगुणमें प्रीति करना चाहिए । (निर्गुण उपदेश, यथा, 'माया संभव भ्रम सकल…।' सगुण उपदेश, यथा, 'मोहि भगति प्रिय संतत।') इसी तरह सगुणको बिना जाने निर्गुणकी उपासना करें, तो कष्टही है जैसा कहा है, 'जे असि भगति जानि परिहरहीं।…' । ४ निर्गुण सगुण दोनोंको छोड़कर केवल नाम जपनेमें यह हेतु है कि 'सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन तें दूरि । तुलसी सुमिरहु रामको नाम सजीवनमूरि' । ५ मणिदीप स्वतः सिद्ध है, उपाधिरहित है । इसको द्वारकी देहरीपर रक्खे तो निर्गुण ब्रह्म मकानके भीतर अन्तःकरणमें देख पड़ता है सो जीभके भीतर है, और सगुण मकानके बाहर नेत्रोंके आगे देख पड़ता है । नेत्रसे सगुणका दर्शन होता है सो जीभके बाहर है । इस लिए भीतर बाहर कहा । ६ हृदयका मोहांधकार दूर होना, निर्गुण सगुण देख पड़ना, उजियार होना है ।' [कोई कोई महानुभाव ऐसाभी कहते हैं

कि मोहका दूर होना भोरका उजाला है। यथा, 'अचल अविद्यातम मिटि जाई' और इन्द्रियोंका दमन होना ही सात्त्विक उजाला है। यथा, 'खल कामादि निकट नहिं जाहीं'। ७ 'जौं' का भाव यह है कि विना रामनामके जपे हृदयमें प्रकाश नहीं हो सकता, निर्गुण सगुण ब्रह्म नहीं देख पड़ते। आगे भक्तोंके द्वारा इसका उदाहरण देते हैं।

शंका—आजकलके कुछ मतानुयायी कहते हैं कि 'जीह' का अर्थ यहाँ जीभ नहीं है, क्या यह सही है?

समाधान—श्रीगोस्वामीजीने 'जीह शब्द बहुत जगह दिया है उससे निस्संदेह यह स्पष्ट है कि श्रीगोस्वामीजीने 'जीह' से 'जीभ' ही बताया है। यथा, 'जीह हूँ न जपेउँ नाम बकेउँ आउ बाउ मैं' (वि० २६१) यह कौन 'जीह' है जिससे अनाप शनाप बकना कहते हैं? 'गरैगी जीह जो कहउँ और को हौं' (वि० २२६) 'कान मूँदि करि रद गहि जीहा' (अ० ४८); 'गरि न जीह मुँह परेउ न कीरा' (अ० १६२); 'साँचेहुँ मैं लबार भुज बीहा। जौं न उपारउँ तव दस जीहा' (लं० ३३), 'संकर साखि जो राखि कहउँ कछु तौ जरि जीह गरो' (वि० २२६) इत्यादिमें जो जीह शब्द आया है वह इस जीभके लिये यदि नहीं है तो वह और कौन 'जीह' है जिसका गलना, दाँतोंसे दाबना, उखाड़ना, जलकर गिरना इत्यादि कहा गया है?

चौ०—नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी। १।
ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा। २।

अर्थ—१ योगी जीभसे नामको जपकर जागते हैं (जिससे) वे ब्रह्माके प्रपंचसे विशेष योग रखते हुए भी पूर्ण विरक्त हैं। १। उपमारहित ब्रह्मसुखका अनुभव करते हैं जो अकथनीय है, निर्दोष है, और जिसका न नाम है न रूप। २। (प्रोफे० दीनजी)।

अर्थ—२ जो वैराग्य द्वारा ब्रह्माके प्रपंचसे (संसारके व्यसनादिके) वियोगी हैं (छोड़े हैं) वे योगी भी जिह्वासे नामको जपकर जागते हैं। और अनिर्वचनीय, अनामय, नामरूपरहित ब्रह्मके अनुपम सुखका अनुभव करते हैं। (द्विवेदीजी, मिश्रजी)।

अर्थ—३ योगी जीभसे नामको जपकर जागते हैं। (जिससे वे) वैराग्य द्वारा (अर्थात् वैराग्य प्राप्त करके) विधि प्रपंचसे वियोगी (उदासीन) हो जाते हैं। और अनुपम, अकथ्य, अनामय (रोगरहित, निर्दोष), नामरूपरहित ब्रह्मके सुखका अनुभव करते हैं। (पं० रामकुमारजी प्रभृति)।

नोट—१ प्रोफेसर दीनजी कहते हैं कि यहाँ 'वियोगी' शब्द मेरी रायसे जोगीका विशेषण है अर्थात् योगसाधनसमयभी कुछ वस्तुओं (वल्कल वस्त्र कमण्डल आदि) से निर्वाहार्थ योग (संबंध) रखते हुए भी नामको जिह्वासे जपकर ब्रह्माकृत सृष्टिसे विरति प्राप्त करके चेतनात्माका ज्ञान प्राप्त करते हैं। जैसे राजा जनक आदि विधिप्रपंचसे विशेष योग रखते हुए भी पूर्ण विरक्तवान थे। विशेषण न माननेसे 'वियोगी' और 'विरति' में पुनरुक्ति दोष हो जायगा।

टिप्पणी १—पहले कहा कि 'रामनाम मणिदीप धरु।' यह कहकर अब मनका उत्साह बढ़ानेके लिए चार प्रकारके भक्तोंका उदाहरण देते हैं कि देख सबका आधार रामनामही है, सभी इसको जपते हैं, तू भी जप। देख, नामजपसे केवल अगुण सगुणहीका ज्ञान नहीं होता, किन्तु सब पदार्थ प्राप्त होते हैं, संकट दूर होते हैं, सब मनोरथ पूरे होते हैं और वैराग्य होकर ब्रह्मसुखका आनंद प्राप्त होता है। (पं० रामकुमारजी)।

नोट—२ योगी=जो आत्माका परमात्मासे योग किए रहते हैं। यथा, 'सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी। १. २६।' पुनः, योगदर्शनमें अवस्थाके भेदसे योगी चार प्रकारके कहे गए हैं। (१) प्रथम कल्पिक, जिन्होंने अभी योगाभ्यासका केवल आरम्भ किया हो और जिनका ज्ञान

अभी दृढ़ न हुआ हो। (२) मधुभूमिक, जो भूतों और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना चाहते हों। (३) प्रज्ञाज्योति, जिन्होंने इन्द्रियोंको भली भाँति अपने वश कर लिया हो। और, (४) अतिक्रांतभावनीय, जिन्होंने सब सिद्धियाँ प्राप्त कर ली हों और जिनका केवल चित्तलय बाक़ी रह गया हो। (श० सा०)।

पं. रामकुमारजीके मतसे योगी=ज्ञानी, संयमी। और वैजनाथजी योगीसे अष्टांग योग साधन करनेवाले ऐसा अर्थ करते हैं। श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि यहाँ ज्ञानीको 'योगी' नहीं कहा। ज्ञान, योग, वैराग्य और विज्ञान चारों भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। यहाँ 'योगी' मुमुक्षु है, मुक्ति पानेकी इच्छासे योगद्वारा ब्रह्मसुखका अनुभव करता है, विधिप्रपंचसे वियोगी होकर विरागी होता है। इनमें योगके सब लक्षण यम नियम आदि घटते हैं। आगे गूढ़ गतिके जाननेवाले ज्ञानी हैं क्योंकि उनको और कोई आकांक्षा नहीं है। श्रीसुदर्शनसिंहजीका मत है कि यहाँ 'जोगी' से परोक्ष ज्ञानी अभिप्रेत है। 'वह परोक्ष ज्ञान रखता है और अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) के लिए नाम जप करता है।' (मानसमणि)। इस प्रसंगपर विशेष दोहा २२ में लिखा जायगा, वहाँ देखिए।

पं. रामकुमारजीका तथा प्रायः अन्य टीकाकारों के मतानुसार यहाँ 'ज्ञानी भक्त' ही योगी हैं। ज्ञानी भी नाम जपते हैं। यथा, 'प्रायो विवेकिनः सौम्य वेदान्तार्थैक नैष्ठिकाः। श्रीमतोरामभद्रस्य नामसंसाधने रताः।' (बृहद्विष्णु पुराण)। गोस्वामीजीने आगे कहाभी है कि 'रामभगत जग चारि प्रकारा। ज्ञानी प्रभुहिं बिसेषि पियारा'। ज्ञानी विशेष हैं, इसीसे यहाँ ज्ञानीहीका दृष्टांत प्रथम देते हैं।

नोट—३ 'जागहिं जोगी' का भाव यह है कि यह संसार रात है, इसमें योगी जागते हैं। यथा, 'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। २। ९३।' तथा 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी। गीता २। ६९।' पुनः, यहाँ मोह रात्रि है। इस संसारके व्यवहार स्वप्न हैं जो मोहरूपी रात्रिमें जीव देख रहा है और सत्य मानता है। इस संसार वा मोहरात्रिमें योगी नामके बलसे जागते हैं (अर्थात् संसारी सब व्यवहार और वस्तुओंसे योगीको वैराग्य रहता है)। यथा, 'सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ। जागें लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ। २. ९२।'

प्रश्न—'जागहिं' से पहले सोना पाया जाता है। यहाँ रात, सोना और जागना क्या हैं ? नोट (३) में इनका उत्तर संक्षेपसे दिया जा चुका है। पुनः, देह, स्त्री, पुत्र, धन, धाम, देह सम्बन्धमात्रको अपना मानकर उनमें ममत्व करना, आसक्त होना ही, सोते रहना है। यथा, 'सुत वित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी। वि० १४०।', 'मोह निसा सब सोवनिहारा...। अ० ९३।', इन सबको नाशवान और बाधक जानकर इनकी मोह ममता छूटना, विषयसे वैराग्य होना 'जागना' है। यथा, 'अहंकार ममता मद त्यागू।', 'मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू। महामोह निसि सूतत जागू। लं० ५५।', 'जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा॥ होइ बिवेकु मोह भ्रम भागा। अ० ९३।', 'जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी।' (वि०), 'विषया परनारि निसा तरुनाइ, सुपाइ परेउ अनुरागहि रे। जम के पहरू दुखरोग वियोग विलोकतहू न विरागहि रे॥ ममता बस तैं सब भूलि गयउ, भयो भोर महाभय भागहि रे। जरठाइ दिसा रविकाल उयउ अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे (क० उ० ३१)।

पं. रामकुमारजी लिखते हैं कि 'जागना' योगसिद्धिको भी कहते हैं। यथा 'गोरख जगायो जोग भगति भगायो···' (क० ७।८४)। इस तरहसे यह भाव निकलता है कि नामके जपसे योगी जागते हैं, उनका विराग योग जागता है अर्थात् सिद्ध होता है—'राग रामनाम सों विराग जोग जागि है।'

नोट—४ जागना कहकर 'विरति' होना और 'विधि प्रपंच' से वियोगी होना कहा। क्योंकि ये क्रमशः

[illegible] हैं। जबतक चित्तमें प्रपंच रहता है तबतक ब्रह्मसुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसीलिये प्रपंचसे वियोग होना कहकर ब्रह्मसुखका अनुभव करना कहा।

५ बिरंचि प्रपंच = ब्रह्माके भवजालसे। प्रपंच=सृष्टि; सृष्टिके व्यवहार, जंजाल, सांसारिक सुख और व्यवहारोंका फैलाव। यथा, 'जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करम अरु कालू॥ धरनि धामु धनु पुर परिवारू।...देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं' (अ० ९२)। 'वियोगी' अर्थात् 'प्रपंचमें अभाव हो जाता है, उससे मन हट जाता है। = उदासीन। ऐसाही टीकाकारोंने लिखा है।'

नोट—२२ (१) के जोड़की चौपाई यह है 'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी'। २.९३।'

६ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि "अनूपा, अकथ, इत्यादि ब्रह्मके विशेषण हैं। उपमा देकर उसे दिखाना चाहे तो नहीं हो सकता। पुनः उसे कहकर भी नहीं दिखा सकते। क्योंकि 'मन समेत जेहि जान न बानी'। तो उसका वर्णन कैसे हो सके? 'अनामय' पद देकर सूचित किया कि प्रपञ्चके द्वारा भी दिखाना असंभव है। जो कहो कि नामरूपद्वारा तो दिखा सकोगे तो उस पर कहते हैं कि वह (मायिक) नामरूप रहित है। ऐसे ब्रह्मसुखको नाम प्राप्त कर देता है।"

७ 'अकथ अनामय नाम न रूपा' इति। श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि "ब्रह्मसुख नाम है ही, तब 'अनाम' कैसे हुआ? 'अनाम' कहनेमें अभिप्राय यह है कि ब्रह्मसुख तो यौगिक नाम अथवा लाक्षणिक है, रूढ़ि नहीं है। जैसे दाशरथी, रघुनन्दन आदि यौगिक हैं। रघुसिंह, काकपक्षधर लाक्षणिक हैं। ऐसाही 'ब्रह्म-सुख' को जानिये। ब्रह्मका जो सुख वह ब्रह्मसुख। 'ब्रह्म ऐसा पद छोड़के अनाम हैं, सुखेति वस्तुतः नामशून्य, कौन वस्तुका नाम है सुख? अतएव अनाम है। अरूप कैसे है? जैसे देही-देह है। जब देही देहाश्रित है तब देहवन है और जब देही देहभिन्न है, तब अरूप है। इसी प्रकार जब ब्रह्मसुख ब्रह्माश्रित है तब रूपवान् है और जब ब्रह्मसे भिन्न देखना चाहें तो रंचक भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। अतएव अरूप है।'

जाना[1] चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ। ३।

अर्थ—जो गूढ़ गतिको जानना चाहते हैं, वे भी नामको जिह्वासे जपकर जान लेते हैं। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'जेऊ' और 'तेऊ' से तात्पर्य उन मनुष्योंसे है जो योगी नहीं है और ब्रह्मसुखको जानना चाहते हैं। (ख) 'गूढ़ गतियाँ' अनेक हैं। आत्मापरमात्माकी गति; कालकर्मकी गति; ज्ञान, वैराग्य और भक्तिकी गति, तत्त्व, माया और गुणकी गति; इत्यादि। [विज्ञानी अखण्ड ज्ञान कैसे प्राप्त करके उसमें मग्न रहता है? यह सुख कैसा है? श्रीपार्वतीजीने यह कहकर कि 'गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं' (१.।११०), फिर प्रश्न किया है कि 'पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी। जेहि बिज्ञान मगन मुनि ज्ञानी' (१.१११)। अथवा, प्रभुके गुप्त रहस्य; जीव और परमात्माके बीचमें जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, बुद्धि, अहंकार और माया ये आठ आवरण हैं उनका जानना, इत्यादि 'गूढ़ गति' में आ जाते हैं।] इसीसे 'गूढ़ गति' का कोई विशेष नाम नहीं दिया। अथवा, 'गूढ़ गति' से 'ब्रह्मसुखका अनुभव' ही सूचित किया। (ग) क्रियाका संबंध वस्तुके

१ जानी—१७२१, १७६२, छ०, १७०४। जाना—१६६१ ('जानी' को हरताल देकर 'जाना' शुद्ध किया है)। को. रा.।

२—जानहु (शं. ना. चौ.)—१७०४। (परन्तु रा. प. में 'जानहि' है)। १६६१ में 'जानहु' था, हरताल देकर शुद्ध किया गया है।

साथ होता है, नामके जपसे हृदयमें प्रकाश होता है। इसीसे गूढ़ गति जानते हैं। (घ) ये जिज्ञासु भक्त हैं। जिज्ञासु ब्रह्मकी जिज्ञासा करता है, इसीसे योगीके पीछे जिज्ञासुका उदाहरण दिया। श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि पहले ज्ञानीको कहकर अब जिज्ञासुको कहते हैं। इसको न परोक्ष ज्ञान है और न अपरोक्ष। इसको दोनोंकी चाह है। ज्ञानीको अपरोक्ष ज्ञानकी चाह थी, परोक्ष ज्ञान उसे था ही। (मानसमणि)।

साधक नाम जपहिं लय १ लाएँ। होहिँ सिद्ध अनिमादिक पाएँ। ४।

शब्दार्थ—लय=तदाकार वृत्ति। चित्तकी वृत्तियोंका एकही ओर प्रवृत्त होना। अनिमादिक-अणिमा आदि सिद्धियाँ। अणिमाको आदिमें देकर यहाँ प्रधान आठ या अठारह सिद्धियाँ सूचित कीं। भा. ११. १५ में भगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा है कि आठ सिद्धियाँ प्रधान हैं, जो मुझे प्राप्त होनेपर योगीको मिल जाती हैं। ये मेरी स्वाभाविक सिद्धियाँ हैं। मं. सोरठा १ 'जो सुमिरत सिधि होइ' में देखिए।

अर्थ—साधक लौ लगाकर नामको जपते हैं और अणिमादिक सिद्धियाँ प्राप्त करके सिद्ध हो जाते हैं। ४।

नोट—१ 'साधक' शब्द स्वभावतः पारमार्थिक साधन करनेवालेमें रूढ़ है। वह साधक यहाँ अभिप्रेत नहीं है। उसकी निवृत्तिके लिए यहाँ 'अनिमादिक' शब्द दिया है। 'अनिमादिक' शब्द देकर उसका अर्थार्थित्व सूचित किया है। 'साधक' शब्द देनेका तात्पर्य यह है कि अनिमादिक सिद्धियाँ (जो परंपरासे अर्थप्रद होती हैं) प्राप्त करनेके लिये जप आदि साधन करना पड़ता है। गीतामें जो 'अर्थार्थी' शब्द आया है उसका अर्थ गोस्वामीजीने 'साधक' शब्द देकर खोल दिया है कि संसारी जीवोंसे खुशामदादि करके अर्थप्राप्ति चाहनेवाला यहाँ अभिप्रेत नहीं है, किन्तु जो भगवदाराधनद्वारा ही अर्थकी प्राप्ति चाहता है उसीसे यहाँ तात्पर्य है।

२ (क) 'लय लाएँ' इति। अर्थात् उसीमें लगन, गूढ़ अनुराग, लगाए हुए, ऐकाग्रमनसे। ब्रह्मांड पुराणमें 'लय' के संबंधमें यह श्लोक मिलता है—'पाठ कोटि समा पूजा, पूजा कोटि समो जपः। जप कोटि समं ध्यानं ध्यान कोटि समो लयः॥' (अज्ञात)। पूजा करोड़ों पाठके समान है, जप करोड़ पूजाके समान है, ध्यान करोड़ जपके समान है और लय करोड़ ध्यानके समान है। [पं. रामकुमारजीके संस्कृत खर्रेमें यह श्लोक है; पर मेरी समझमें यहाँ 'लय' का अर्थ 'लगन' है। यथा, 'मन ते सकल वासना भागी। केवल रामचरन लय लागी। ७. ११०।]' (ख) 'लय लाएँ' अर्थात् अपनी कामना या सिद्धियोंमें मनको लगाए हुए। (श्रीव्यासजी, श्रीरूपकलाजी)। श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि जहाँभी कामना है वहाँ विधि है। विधिका ठीक पालन होनेपरही कामनाकी सफलता निर्भर है। यह स्मरण रहे कि कामनाओंके विनाशकी कामना, ब्रह्मात्मैक्यकी इच्छा, स्वरूपके प्रति जिज्ञासा, भगवत्साक्षात्कारकी कामनाको कामना नहीं माना जाता। अतएव योगी तथा जिज्ञासु ये दो निष्काम भक्त हैं। उनके लिये किसी विधिका बंधन नहीं। उन्हें 'जीह जपि' केवल नामका चाहे जिस अवस्थामें चाहे जैसे जप करनेको कहा गया। पर साधकको तो सिद्धि चाहिए। अतएव उसे विधिका पालन करना पड़ेगा। उसके लिये कहा है कि 'लय लाये' जप करना चाहिये। नामजपमें उसका मन लगा होना चाहिये और जिस सिद्धिकी कामना हो भगवान्‌के वैसे रूपमें चित्त स्थिर होना चाहिये। भा. ११. १५ में विविध सिद्धियोंके लिये ध्यान बताये गए हैं। अतः यहाँ 'लय लाये' कहा। (ग) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि ये अर्थार्थी भक्त हैं। इनका मन धनकी प्राप्तिमें अत्यन्त लगता है। ये भक्त अणिमादिक सिद्धियोंको पाकर अर्थको सिद्ध होते हैं। पुनः, (घ) किसी किसीका यह मत है कि यद्यपि मन सिद्धियोंमें लगा है तोभी उनकी प्राप्तिके लिए एक लयसे नाम जपते हैं। (ङ) 'होहिं सिद्ध'। यथा, 'सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू' (बा० १११)।

जपहिं नामु जन आरत भारी । मिटहि कुसंकट होहिं सुखारी । ५ ।

अर्थ—बड़े ही आर्त (पीड़ित, दुखित) प्राणी (भी) नाम जपते हैं तो उनके बड़े बुरे संकट (दुःख, आपत्ति) मिट जाते हैं और वे सुखी होते हैं । ५ ।

टिप्पणी—१ 'आरत भारी' इति । (क) भाव यह कि बड़े-बड़े कठिन दुःख दूर हो जाते हैं, छोटे-मोटेकी बातही क्या ? 'आर्तजनके कुसंकटही नहीं मिटते, किन्तु वे सुखी भी होते हैं । क्योंकि प्रभु संकट मिटाकर दर्शनभी देते हैं । जैसे गजेंद्र, प्रह्लाद, द्रौपदी आदिके संकट मिटाये और दर्शन दिया । (ख) मिलता हुआ श्लोक यह है—'आर्ता विषण्णाः शिथिलाश्च भीता घोरेषु च व्याधिषु वर्तमानाः । संकीर्त्य नारायण शब्दमात्रं ते मुक्त दुःखाः सुखिनो भवन्ति ॥' (पांडवगीता) । अर्थात् आर्त, दीन, ग्लानियुक्त, घोर व्याधियोंमें वर्तमान ऐसे लोगभी भगवन्नाम, जपकर दुःखसे मुक्त और सुखी हो जाते हैं । (ग) 'भारी' पद देकर सूचित किया है कि साधारण दुःखमें तो भक्त प्रभुको संकोचमें नहीं ही डालते, जब ऐसा कोई भारी ही कष्ट आ पड़ता है कि जो प्रभुही निवारण कर सकते हैं, अन्यथा दूर नहीं हो सकता, तभी प्रभुसे कष्ट दूर करनेके लिये कहते हैं ।' इसके उदाहरणमें श्रीद्रौपदीजीहीको लीजिए । जब आप राजसभामें लाई जाने लगीं तब प्रथम तो आपने साड़ी कसकर बाँध ली थी, पुनः, दरबारमें भीष्मपितामहजी, द्रोणाचार्यजी, आदि गुरुजनोंका भरोसा था । पुनः पाँचों विख्यात वीर पाण्डव पतियोंका भरोसा जीमें रहा । जब इन सब उपायोंसे निराश हुईं तभी उन्होंने भगवान्का कष्टनिवारणार्थ स्मरण किया । ऐसाही गजेन्द्रका हाल है । इत्यादि ।

२ (क) इन पाँच चौपाइयोंमें यह दिखाया है कि योगी (ज्ञानी), जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्त इन चारोंको अपनी मनोकामनाकी सिद्धिके लिए नामका जप आवश्यक है । इसीसे सब प्राप्त हो जाते हैं । (ख) अर्थार्थीके पीछे आर्त भक्तोंको कहा । क्योंकि द्रव्यके पीछे दुःख होता है ।

नोट—१ 'जीह जपि' और 'जपहिं' इन शब्दोंका प्रयोग इन चौपाइयोंमें किया गया है । हिन्दी शब्दसागरमें 'जप' शब्दकी व्याख्या यों की गई है—(१) किसी मंत्र वा वाक्यका बारम्बार धीरे-धीरे पाठ करना । (२) पूजा वा संध्या आदिमें मंत्रका संख्यापूर्वक पाठ करना । पुराणोंमें जप तीन प्रकारका माना गया है । मानस, उपांशु और वाचिक । कोई-कोई उपांशु और मानस जपके बीच जिह्वा जप नामका एक चौथा जप भी मानते हैं । ऐसे लोगोंका कथन है कि वाचिक, जपसे दसगुना फल उपांशुमें, शतगुना फल जिह्वाजपमें, और सहस्रगुना फल मानसजपमें होता है । मनही मन मंत्रका अर्थ मनन करके उसे धीरे-धीरे इस प्रकार उच्चारण करना कि जिह्वा और ओंठमें गति न हो, 'मानसजप' कहलाता है । जिह्वा और ओंठको हिलाकर मंत्रोंके अर्थका विचार करते हुए इस प्रकार उच्चारण करना कि कुछ सुनाई पड़े 'उपांशु जप' कहलाता है । जिह्वा जपभी उपांशुहीके अन्तर्गत माना जाता है, भेद केवल इतनाही है कि 'जिह्वा जपमें जिह्वा हिलती है पर ओष्ठोंमें गति नहीं होती और न उच्चारण ही सुनाई पड़ सकता है । वर्णोंका स्पष्ट उच्चारण करना 'वाचिक जप' कहलाता है । जप करनेमें मंत्रकी संख्याका ध्यान रखना पड़ता है, इस लिए जपमें मालाकी भी आवश्यकता होती है ।' श्रीमद्गोस्वामीजीने 'नामजप' के प्रसंगमें 'जपना, रटना, रमना, सुमिरना, कहना, घोखना, जतन करना, इन शब्दोंका प्रायः प्रयोग किया है । 'जप' शब्द बहुत ठौर साधारणही बारम्बार कहनेके अर्थमें कहा है, और इस शब्दके साथही 'रसना' 'जीह' वा अन्य पर्यायवाची शब्दोंका प्रयोगभी जहाँ तहाँ

१ लो—१८२१, १७६२, छ० । लड–को. रा. । लय-१६६१, १७०४ ।

किया है जिससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि वे 'जप' शब्द प्रायः जिह्वासे वारम्वार उच्चारण ही के लिए लिखते हैं। और कहीं-कहीं प्रसंगानुकूल मन लगाकर स्मरण वा 'जिह्वा जप' करनेके अर्थमें भी लाए हैं। श्रीगोस्वामीजीने साधनावस्थामें उच्च स्वरसे ही उच्चारणको विशेष माना है। कारण यह कि इससे सुननेवालेका भी उपकार होता है।

नोट—२ यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि गोस्वामीजीने तो मनके कर्मको ठौर ठौर पर प्रधान कहा है, यथा—"तुलसी मन से जो वनै वनी वनाई राम" (दोहावली), "मन रामनाम सों सुभाय अनुरागिहै" (वि० ७०) इत्यादि। फिर यहाँ जिह्वासे जपना क्यों लिखा ? इसका कारण महारामायणसे स्पष्ट हो जाता है। वह यह है कि अन्तःकरणसे जपनेसे जीवन्मुक्तिकी प्राप्ति होती है और जीभसे जपनेसे भक्ति मिलती है जिससे प्रभु शीघ्र 'द्रवते' हैं। पुनः, जापकको दूसरेकी सहायताकी जरूरत नहीं पड़ती। यथा—"अन्तर्जपन्ति ये नाम जीवन्मुक्ता भवन्ति ते। तेषां न जायते भक्तिर्न च रामसमीपकाः॥ जिह्वयाऽप्यन्तरेणैव रामनाम जपन्ति ये। तेषां चैव परा भक्तिर्नित्यं रामसमीपकाः॥", "योगिनोज्ञानिनोभक्ताः सुकर्म निरताश्चये। रामनाम्निरताः सर्वे रमुक्रीडात एव वै॥" (महारामायण ५२। ७१। ७३) अर्थात् वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती और परा किसी वाणीका अवलम्बन लेकर अंतर्निष्ठ होकर जो नाम जपते हैं वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं, किन्तु उनको श्रीरामसामीप्यकारिणी परा भक्ति नहीं मिलती है। ७१। जो अन्तःकरणके अनुरागसहित जिह्वासे नाम जपते हैं उनको नित्य ही भगवत्सान्निध्यकारिणी प्रेमपराभक्ति प्राप्त होती है। ७२। योगी, ज्ञानी, भक्त तथा कर्मकाण्डी ये चारों श्रीरामनाममें रत रहते हैं। अतएव रामनामसे निष्पन्न रमु क्रीड़ा कहा जाता है। पुनः यहाँ तक जो साधन वताया गया वह उनके लिये है जिन्हें कुछ भी कामना है। कामनाओंके रहते मनसे जप हो नहीं सकता, क्योंकि मन वरावर चंचल रहेगा। जब समस्त कामनाहीन हो जाय तभी मानसिक जप स्वाभाविक हो सकेगा। उस अवस्थाके प्रेमी जापकोंकी चर्चा आगे दोहेमें ग्रन्थकारने की है। साधनावस्थावालोंके लिये जिह्वासे ही जप करना वताया है। इसीसे धीरे-धीरे वह अवस्था प्राप्त होनेपर तव मनसे जप होगा।

राम-भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा॥ ६॥
चहूँ चतुर कहँ नाम अधारा। ज्ञानी प्रभुहि विसेषि पियारा॥ ७॥

शब्दार्थ—सुकृती=पुण्यात्मा, भाग्यवान्, धन्य। यथा—"सुकृति पुण्यवान् धन्यो इत्यमरः ३। १। ३।" अनघ=पापरहित। उदार=श्रेष्ठ। अधारा=आधार, सहारा, अवलंव।

अर्थ—जगत्में श्रीरामभक्त चार प्रकारके हैं। चारों पुण्यात्मा, निष्पाप और उदार होते हैं॥ ६॥ चारों चतुर भक्तोंको नामहीका अवलंव है। इनमेंसे ज्ञानी भक्त प्रभुको अधिक प्रिय हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीमद्भगवद्गीतामें चार प्रकारके भक्त कहे गए हैं। उसीका अनुसरण करते हुए गोस्वामीजीने भी चार प्रकारके भक्तोंका होना कहा। (ख) यहाँ चार प्रकारके भक्त कहे और चारही विशेषण दिये। सुकृती, अनघ, उदार और चतुर ये चारों विशेषण प्रत्येक भक्तके हैं। क्योंकि चारोंको और किसी साधन वा देवादिका भरोसा नहीं है। अर्थकी कामना होगी तो भी अपने ही प्रभुसे माँगेंगे; संकटमें भी अपने ही प्रभुका स्मरण करेंगे क्योंकि ऐसा न करें तो फिर विश्वास ही कहाँ, यथा—"मोर दास कहाइ नर आसा। करइ त कहहु कहा विश्वासा॥ ७. ४६॥"

नोट—१ चारों विशेषण प्रत्येक भक्तके हैं। इस प्रकार कि—(१) जो सव आशा भरोसा छोड़कर श्रीरामजीके हो रहे वे ही सुकृती हैं, यथा—"सो सुकृती सुचिवंत सुसंत सुजान सुसील सिरोमनि स्वै।.......सव भाव सदा छल छाँड़ि सबै तुलसी जो रहै रघुवीर को है।" (क० उ० ३४); "सकल सुकृतफल राम सनेहू। १। २७।"

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सुकृती' भगवानको प्राप्त होते हैं। जो दुष्कृती हैं वे प्रभुका भजन नहीं करते और न प्रभुको प्राप्त होते हैं। यथा—"न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः" (गीता ७।१५)। (२) जो भजन करते हैं वे अनघ हैं क्योंकि जो प्रभुके सम्मुख हो उनका नाम जपने लगे उसमें पाप रह ही नहीं सकता। जिनको भजन भाता ही नहीं, जो भजन नहीं करते और श्रीरामविमुख हैं वे ही "अघी" हैं, उन्हींके लिये कहा है कि "पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ। ५।४४।" पुनः स्मरण रहे कि पुण्यसे पाप कटते हैं पर यह नियम नहीं है कि प्रत्येक पुण्यसे प्रत्येक पाप कटे। जो जिसका बाधक होता है उसीको वह काटता है। इस नियमानुसार सुकृतीभी पापयुक्त हो सकते हैं, इसीके निराकरणार्थ 'सुकृती' कहकर 'अनघ' कहा। तात्पर्य कि वह पुण्यवान् भी हैं और पापरहित भी। (३) जो उदारका साथ करता है वह भी उदार ही हो जाता है। ये भक्त श्रीरामनामको धारण किये हैं जो उदार हैं, यथा—"एहि महुँ रघुपति नाम उदारा। अति पावन...। १। १०।" इसलिये भी उदार हुये। आप पवित्र हुये और दूसरोंको नाम-भजनका उपदेश दे पवित्र करते हैं, यह उदारता है। पुनः "उदार" शब्दका एक अर्थ है "महान्"; यथा—'उदारो दातृ महतोः' इत्यमरः ३। २। ६१। 'महतो महीयान्' ऐसे परमात्माका आश्रय करनेवाला भी तो महान् होना चाहिये। इस भावमें तात्पर्य यह है कि तुच्छ वस्तुओंके लिये भगवान्का आश्रय करनेसे कोई-कोई इनको तुच्छ या छोटा कह सकते हैं, अतः कहते हैं कि ये छोटे नहीं हैं बड़े हैं। यद्यपि ज्ञानी और जिज्ञासुकी अपेक्षा ये छोटे हो सकते हैं तथापि अन्य लोगोंकी अपेक्षा बड़ेही हैं; जैसे राजा-महाराजाका टहलुआ हम सब साधारण लोगोंके लिये बड़ा है। पुनः, उदार वह है जो अपना कुछ त्याग करे। इन भक्तोंने अपना क्या छोड़ा है? जीवके पास सबसे बड़ा उसका अपनापन है उसका अहंकार, उसका अपनी शक्तिका भरोसा। नामका आश्रय लेनेवाला अपनी शक्तिके अहंकारको छोड़कर भगवान के द्वारा अपना लौकिक या पारलौकिक उद्देश्य पूर्ण करनेमें लगा है। उसने अपने अहंकारको शिथिल करनेकी महती उदारता दिखलाई है अतः वह उदार कहा गया। (श्री चक्रजी)। पुनः, 'उदार' का एक अर्थ 'सरल' भी है, यथा—'दक्षिणे सरलोदारौ। अमर ३। १। ८।' इस अर्थके अनुसार चारों रामभक्तोंको 'सरल' अर्थात् सीधा-सादा जनाया। यह गुण भक्तों-संतोंमें श्रीरामजीने आवश्यक बताया है, यथा—'सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती। ३। ४६। २।', 'सीतलता सरलता मयत्री। द्विजपद प्रीति धर्म जनयत्री। ७। ३८। ६।', 'सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथालाभ संतोष सदाई।७।४६।२।', 'नवम सरल सब सन छलहीना।३।३६।५।' इत्यादि। (४) जो श्रीरामजीका भजन करते हैं, वे ही चतुर हैं। यथा—'परिहरि सकल भरोस रामहिं भजहिं ते चतुर नर। आ० ६।' अतएव इन सबको चतुर कहा। यहाँ और गीतामें आर्त्त और अर्थार्थीको भी, सुकृती उदार और अनघ कहनेसे भगवान्की उदारता, दयालुता आदि देख पड़ती है कि किसी प्रकारसे भी जो उनके सम्मुख होता है, स्वार्थके लिये ही क्यों न हो तो भी वे उसको सुकृती आदि मान लेते हैं। यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः। गीता ९।३०।" आर्त्त आदि सकाम भक्तोंको भी सुकृती, अनघ, आदि कहनेका यह भी भाव हो सकता है कि कदाचित् कोई कहे कि साधारण कामनाओंके लिये उस 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ' को कष्ट देना यह उचित नहीं जँचता, तो उसके निराकरणार्थ उनको 'सुकृती' कहा। पुनः, यदि कोई कहे कि "पापीने यदि किसी कामनासे नाम जपा तो उसका फल 'कामनाकी पूर्ति' उसको मिल गया, तब पाप तो उसका बना ही रहा। तब अनघ कैसे कहा?" तो इसका समाधान यह है कि जैसे कोई किसी कार्यके निमित्त अग्नि जलावे, तो उससे वह कार्य (रसोई आदि) तो होता ही है पर साथ ही साथ शीतका भी निवारण हो जाता है, उसी प्रकार श्रीरामनामके जपसे कामनाकी सिद्धिके साथ साथ जापकके पाप भी नष्ट हो जाते हैं। अतः वह अनघ कहा गया।

टिप्पणी २—ज्ञानीको विशेष प्रिय कहा। कारण कि ये एकरस रहते हैं, और भक्त प्रयोजन मात्रके लिए

बड़ी प्रीति करते हैं। प्रयोजन सिद्ध होनेपर वैसी प्रीति फिर बनी नहीं रहती। ज्ञानी परमार्थमें स्थित हैं। अन्य तीन भक्त स्वार्थ सहित भजन करते हैं। स्वार्थसे परमार्थ विशेष है ही। इसी लिए ज्ञानीको श्रेष्ठ कहा। "विशेष" कहकर जनाया कि अन्य भी प्रिय हैं, पर ये उनसे अधिक प्रिय हैं।

नोट २—मिलते हुये श्लोक ये हैं—'न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः। माययाऽपहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः। गीता। ७। १५। चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन। आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥ तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥ उदाराः सर्व एवै ते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम् ॥१८॥" अर्थात् माया द्वारा हरे हुए ज्ञानवाले और आसुरी स्वभावको प्राप्त मनुष्योंमें नीच और दूषित कर्मवाले मूढ़ मुझे नहीं भजते हैं ॥१५॥ चार प्रकारके सुकृती पुरुष मुझे भजते हैं—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी ॥ १६ ॥ इनमेंसे मुझमें नित्य लगा हुआ और मुझमें ही अनन्य प्रेम-भक्तिवाला ज्ञानी भक्त विशेष उत्तम है; क्योंकि मुझे तत्त्वसे जाननेवाले ज्ञानीको मैं अति प्रिय हूँ और वह ज्ञानी मुझको अत्यन्त प्रिय है ॥ १७ ॥ यद्यपि ये सभी उदार हैं तथापि ज्ञानी तो मेरी आत्मा (स्वरूप) ही है ऐसा मेरा मत है क्योंकि वह स्थिर बुद्धि ज्ञानी भक्त अति उत्तम गति स्वरूप मुझ सर्वोत्तम प्राप्य वस्तुमें ही भली प्रकार स्थित है ॥ १८ ॥ गीताके उपर्युक्त अठारहवें श्लोकमें ज्ञानीको भगवान्‌ने अपनी आत्मा कहा है और गोस्वामीजीने "आत्मा" के बदले 'विशेष प्रिय' कहा है, इस तरह उन्होंने 'आत्मा' का भाव स्पष्ट कर दिया कि ज्ञानी भक्त भगवान्‌को वैसाहीं विशेष प्रिय है जैसे मनुष्योंको आत्मा प्रिय है। पुनः 'आत्मा' शब्द यहाँ न देकर उन्होंने अपना सिद्धान्त भी बता दिया है। 'आत्मा' शब्द से अद्वैतमतका प्रतिपादन किया जा सकता है पर 'विशेष पियारा' शब्दसे अद्वैतमत नहीं रह जाता।

३—यहाँ गोस्वामीजीने चार प्रकारके भक्तोंमेंसे एककी ज्ञानी संज्ञा दी है। इससे यह स्वयं सिद्ध है कि जो रूखे ज्ञानी हैं और रामभक्त नहीं हैं उनका यहाँ कथन नहीं है। भक्तिहीन ज्ञानी अन्य सब साधारण प्राणियों के समान प्रभुको प्रिय हैं, भक्त सबसे अधिक प्रिय हैं। यथा—"भगति हीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहिं सोई ॥ भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी ॥ उ० ८६ ।।"

चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ। कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ ॥ ८ ॥

अर्थ—चारों युगों और चारों वेदोंमें 'नाम' का प्रभाव (प्रसिद्ध) है और खासकर कलियुगमें तो दूसरा उपाय है ही नहीं ॥ ८ ॥

नोट—१ "चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ" इति। (क) सतयुग, त्रेता, द्वापर तीन युगोंके प्रमाण क्रमसे ये हैं— 'नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगतसिरोमनि भे प्रहलादू। १।२६।', 'ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ। १।२६।', "जो सुनि सुमिरि भाग भाजन भइ सुकृतसील भील भामो।" (विनय २२८), "आभीर जमन किरात खस श्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारक तेऽपि पावन होहिं राम नमामि ते ।७।१३०।" 'श्वपच सबर खस जमन जड़ पावँर कोल किरात। राम कहत पावन परम होत भवन बिख्यात। २।१९४।' कलियुगके उदाहरण तो भक्तमालमें भरे पड़े हैं। गोस्वामीजी और चाण्डालकी कथा प्रसिद्ध ही है। (ख) "चहुँ श्रुति" इति। श्रुतियोंमें नामके प्रभावके प्रमाण ये हैं—(१) "मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरिनाममनामहे। विप्रासो जातवेदसः।" (ऋग्वेद ५।८।३५)। (२) "स होवाच बालाकिर्य एवैषोऽक्षु पुरुषस्तमेवाहमुपास इति तं होवाचाजातशत्रुर्मामैतस्मिन्समवादयिष्ठा नाम्न्यस्यात्मेति वा अहमेत-मुपास इति स यो हैतमेवमुपासते नाम्न्यस्यात्मा भवतीत्यधिदैवतमथाध्यात्मम्।" (ऋग्वेदान्तर्गत कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषत् ४।६)। (३) "न तस्य प्रतिमाऽअस्ति यस्य नाम महद्यशः।" (यजुर्वेद अ० ३२ मं० ३)।

(४) "सहोवाच श्रीरामः कैवल्यमुक्तिरेकैवपारमार्थिकरूपिणी। दुराचाररतो वापि मन्नाम भजनात्कपे ॥१८॥ सालोक्यमुक्तिमाप्नोति न तु लोकान्तरादिकम् ।" (यजुर्वेदान्तर्गत मुक्तिकोपनिषत् अ० १)। (५) "किमित्ते विष्णो परिचक्षि नाम प्रयद्ववक्षे शिपिविष्टो अस्मि। मावर्पो अस्मदपगूह एतद्यदन्यरूपः समिथे बभूथ ॥" (सामवेद अ० १७ खंड १)। (६) 'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्म विदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति तं होवाच यद्वै किञ्चैत-दध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३ ॥ नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः आथर्वणश्चतुर्थ इतिहास पुराणः पंचमोवेदानां वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजन-विद्या नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥ ४ ॥ स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यो नाम ब्रह्मेत्युपास्तेऽस्ति भगवोनाम्नो भूय इति नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति तन्मे भगवान्ब्रवीत्विति ॥ ५ ॥" (छान्दोग्योपनिषत् अ० ७ खण्ड १)। (७) "नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात्पुरोषसः। यदजः प्रथमं संबभूव सहतत्स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत्परमस्ति भूतम् ॥ ३१॥" (अथर्ववेदसंहिता काण्ड १० सूक्त ७)। (८) "श्रीराम उवाच। अथ पञ्च दण्डकानि पितृघ्नो मातृघ्नो ब्रह्मघ्नो गुरुहननः कोटियतिघ्नोऽनेककृतपापो यो मम षण्ण-वतिकोटिनामानि जपति स तेभ्यः पापेभ्यः प्रमुच्यते। स्वयमेव सच्चिदानन्द स्वरूपो भवेन्न किम् ।" (अथर्व-वेदान्तर्गत श्रीरामरहस्योपनिषत् अ० १)। श्रीसीतारामनामप्रतापप्रकाशमें कुछ प्रमाण ये आए हैं—(९) अथर्व-णोपनिषत् यथा—"जपात्तेनैव देवता दर्शनं करोति कलौ नान्येषां भवति ॥ यश्चाखडालोऽपि रामेति वाचं वदेत्तेन सह संवसेत्तेन सह संभुञ्जीयात् ॥" (१०) ऋग्वेदे यथा—"ॐ परब्रह्म ज्योतिर्मयं नाम उपास्यं मुमुक्षुभिः ।" (११) यजुर्वेदे यथा—"रामनाम जपादेव मुक्तिर्भवति ।" (१२) सामवेदे यथा—"ॐ मित्येकाक्षरं यस्मिन्प्रतिष्ठितं तन्नामध्येयं संसृतिपारमिच्छोः ।"

२—"कलि बिसेपि नहिं आन उपाऊ" इति। यथा—"कलौ केवलं राजते राम नाम", "हरेर्नामैव नामैव ममे नामैव जीवनम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ।।" (पांडवगीता ५३); "सोइ भवतरु कछु संसय नाहीं। नाम प्रताप प्रगट कलि माँही। ७। १०३"। १। २७ (७) भी देखिये।

यदि 'कलि बिसेषि' का अर्थ यह लें कि 'कलिमें नामका विशेष प्रभाव है' तो भाव यह होगा कि इस युगमें ध्यान, यज्ञ और पूजा है' ही नहीं, कारण कि मन स्थिर नहीं रहता, वासनाओंसे सदा चंचल रहता है, बनियों-व्यापारियोंके पाप और अधर्मकी कमाईसे यज्ञ होते हैं, वनस्पति और चर्बी गोघृतकी जगह होममें पड़ते हैं, पूजनके लिये चमड़े और रक्तसे भीगी हुई केसर मिलती है, शकर घृत आदि सभी अपवित्र मिलते हैं। नाम छोड़ दूसरा उपाय है ही नहीं, मन लगे या न लगे, जीभपर नाम चलता रहे, बस इसीसे सब कुछ हो जायगा। यह विशेषता है। उत्तरकांडमें जो कहा है कि "कृतजुग त्रेता द्वापर, पूजा मख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग। ७।१०२।...कलियुग जोग न जग्य न ज्ञाना।...नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं।' यही भाव यहाँ 'कलि विशेषि' का है। अर्थात् और युगोंमें अन्य साधनोंके साथ नाम-जपसे जो फल होता था वह इस युगमें केवल नाम-जपसे ही प्राप्त हो जाता है, यह विशेषता है। 'नहि आन उपाऊ' का भाव यह है कि इस युगकी परिस्थिति जैसी है उसमें अन्य साधन हो नहीं सकते।

दो०—सकल कामना-हीन जे, राम-भगति-रस लीन।
नाम-सुप्रेम[1] पियूष हृद, तिन्हहुँ किए मन मीन ॥२२॥

१ पेम पीयूष—१७२१, १७६२, छ०, १७०४। प्रेम पीयूष—को० रा०। सुप्रेम पीयूष—१६६१। (इसमें 'प्रेमपीयूष' था, चिह्न देकर 'सु' बढ़ाया गया है।)

शब्दार्थ—लीन = तन्मय, मग्न, डूबा हुआ, अनुरक्त । 'सुप्रेम' = सुष्ठु, सुन्दर प्रेम । पियूष' (पीयूष) = अमृत । 'ह्रद' = कुंड । = अगाध जल, यथा—'तत्रागाधजलोह्रदः' (अमरे १।१०।२५)

अर्थ—जो सब कामनाओंसे रहित हैं, श्रीरामभक्तिरसमें लीन हैं वे भी नामके सुन्दर प्रेमरूपी अमृतके अगाध कुण्डमें अपने मनको मछली बनाए हुए हैं । २२ ।

नोट—१ 'कामनाहीन' कहकर सूचित किया कि ऊपर कहे हुए चारों प्रकारके भक्त कामना-युक्त हैं । यह भक्त सकल-कामना-हीन है, इसे कुछभी चाह नहीं, यह सहज ही स्नेही है ।

पं० रामकुमार जी लिखते हैं कि श्रीमद्भगवद्गीता ७।१६ में जो य. श्लोक है "चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन । आर्त्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥" इसमें चार भक्त स्पष्ट कहे हैं । श्रीमधुसून-स्वामीजीके भाष्यके अनुसार इसमें 'च' अक्षर जो अंतमें दिया है वह पाँचवें भक्तका बोधक है । जैसे मधु-सूदनी टीकाके अनुसार श्रीगीताजीमें चार भक्त स्पष्ट कहे गए और एक गुप्त रीतिसे, वैसे ही पूज्यपाद गोस्वामी-जीने चारको स्पष्ट कहा और एकको गुप्त रीतिसे, इससे हमारे पूज्य कविकी चतुरता झलक रही है ।

मधुसूदनी टीका देखनेपर मालूम हुआ कि 'च' शब्दसे उन सबोंका भी ग्रहण 'ज्ञानी'–शब्दमें कर लिया गया जो इन चारोंमें न होनेपर भी भगवान्‌के निष्काम भक्त हैं; जैसे कि श्रीशबरीजी, गृध्रराज श्रीजटायु, श्रीनिषादराज और गोपिकायें आदि । इस तरहसे "सकल कामना हीन जे...." ये 'च' से ज्ञानियोंमें ही गिने जायँगे । यथा—"तदेते त्रयः सकामा व्याख्याताः । निष्कामश्चतुर्थ इदानीमुच्यते । ज्ञानी च । ज्ञानं भगवत्तत्वसाक्षात्कार-स्तेन नित्ययुक्तो ज्ञानी । तीर्णमायो निवृत्तसर्वकामः । चकारो यस्यकस्यापि निष्काम प्रेमभक्तस्य ज्ञानिन्यन्तर्भावार्थः ॥" अर्थात् प्रथम तीन सकाम कहे गए, अब निष्काम कहा जाता है । भगवत्तत्वसाक्षात्कारको ज्ञान कहते हैं, उस ज्ञानसे जो नित्ययुक्त है वही ज्ञानी है । वह मायासे उत्तीर्ण हो चुका है और उसकी सब कामनाएँ निवृत्त हो चुकी हैं । यहाँपर 'ज्ञानी च' में जो च-शब्द है वह जिस किसी निष्काम प्रेमी भक्तका ज्ञानियोंमें अन्तर्भाव करनेके लिये है । इस प्रकार भक्तोंकी संख्या गीताके भगवद्वाक्यानुसार चारकी चार ही रह जाती है और 'राम भगत जग चारि प्रकारा' तथा 'चतुर्विधा भजन्ते मां' से संगति भी हो जाती है । करुणासिंधुजी-का भी यही मत है कि इस दोहेमें भी 'ज्ञानी भक्त' का वर्णन है ।

२—श्रीरामभक्तिकी कामना कामना नहीं मानी जाती । इसके अनुसार ज्ञानी भक्त भी निष्काम भक्त हैं । परंतु इस दोहेमें उन ज्ञानी भक्तोंको कहा गया है जिनमें पूर्ण परिपक्व भक्ति है, जिन्हें भक्तिकी वृद्धि या परिपक्वताके लिये साधन नहीं करना है । ये तो श्रीरामभक्तिरसमें सदा लीन ही हैं । श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि जब मनसे समस्त कामनायें दूर हो जाती हैं और वह श्रीरामके प्रेमरसमें डूबता है तो नामके अमृत-रसका उसे स्वाद मिलता है । कामना न होनेसे उसे कहीं जाना नहीं है । फलतः वह उस नामके सरोवरमें मीन बनकर निवास करता है । उस समय मनसे स्वतः जप होता रहता है । मानसिक जपकी इस सहजावस्थाका इस दोहेमें निदर्शन किया गया है । इसी सहज जपमें नामकी साधना समाप्त होती है । अतएव नामकी साधन-रूपताका वर्णन भी यहीं समाप्त हुआ है ।

"नाम जीह जपि जपि जागहिं जोगी ।....रस लीन ' इति ।

पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि—"(१) ब्रह्मसुखके ज्ञानमात्रसे आनंद होता है क्योंकि वह स्थूल वस्तु नहीं है । (२) वह स्थूल, सूक्ष्म और कारण देहोंसे भिन्न अणु-परिमाण है।···(३) वह प्राकृत विकार क्षीण-पीनादि आमयों (रोगों) से रहित है । (४) इस आत्मसुखके समान दूसरा प्राकृत सुख नहीं है ।"

यहाँ पर (१) और (२) का विषय किसीके मतका अनुवाद या पूर्वपक्षके रूपमें ही कहा गया जान पड़ता

है, क्योंकि सुख स्वप्रकाश है। जैसे रातमें पदार्थोंको देखनेके लिये दीपककी आवश्यकता पड़ती है परन्तु दीपकको देखनेके लिये अन्य दीपककी आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही ज्ञान और सुखका अनुभव करनेके लिये अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं, वे स्वप्रकाश होनेसे स्वयं अनुभवमें आते हैं। जो ब्रह्मको सुखस्वरूपही मानते हैं (जैसे कि अद्वैती आदि) उनके मतानुसार ब्रह्म अप्रमेय होनेसे उसको अणु-परिमाण नहीं कहा जा सकता। जो सुखको गुण मानते हैं (जैसे कि नैयायिक आदि) उनके मतसे भी उसको अणु-परिमाण नहीं कह सकते क्योंकि परिमाण गुण है और गुण गुणका आश्रित नहीं होता। जो सुखको द्रव्य मानते हैं, उनके मतसे जीव अणु होनेसे उसके सुखको अणु-परिमाण कह सकते हैं। परन्तु जिस परब्रह्मको आनंदसिंधु सुखराशि कहा जाता है उस ब्रह्मसुखको अणुपरिमाण कैसे कहा जायगा?—अतः उपर्युक्त कथन (१) और (२) को परमतका अनुवाद या पूर्वपक्ष कहा गया। नंबर (३) में धर्मी और धर्ममें अभेद मानकर ही प्रयोग किया गया है। अर्थात् क्षीणसे क्षीणत्व तथा पीनसे पीनत्वका ग्रहण करनेसे कोई आपत्ति नहीं आती। नं० (४) में यद्यपि आत्मा शब्दसे प्रायः जीवात्माका ही ग्रहण होता है, पर यहाँ आत्मसुखसे परमात्मसुख ही लक्षित है, क्योंकि यहाँ ब्रह्मसुखका ही प्रतिपादन हो रहा है।

पं० श्रीकान्तशरणजीके मतानुसार यहाँ 'योगी' शब्दसे गीतोक्त चार प्रकारके भक्तोंसे अलग 'निर्गुण-समर्पण रूप ज्ञान' वाले तथा 'निष्कामकर्मयोग' वाले अथवा जिज्ञासु अभिप्रेत हैं। उनका मत है कि यहाँ जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्त भक्तोंका वर्णन करके तब ज्ञानीको अति प्रिय कहा और तत्पश्चात् "सकल कामना हीन जे ······" से उस ज्ञानीका वर्णन किया। इत्यादि।

परन्तु इसमें यह शंका उठती है कि, "जो नाम-जप द्वारा वैराग्यपूर्वक ब्रह्मसुखका अनुभव करता है, उसको 'रूप ज्ञानवाले कर्मयोगी' कहना उचित होगा?" तथा, "इनको यथा-कथंचित् जिज्ञासुका अंग माननेसे जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्त इन तीनका ही कथन करके 'राम भगत जग चारि प्रकारा' कैसे कह सकेंगे? चौथेका उल्लेख ही नहीं हुआ तब 'चारि प्रकारा', कहना कैसे संगत होगा?" (क्योंकि 'जगमें चार प्रकारके भक्त हैं' ऐसा कहते ही प्रश्न उठता है कि 'चौथा कौन है?' और फिर 'ज्ञानी विशेष प्रिय है' इसको सुनते ही शंका होगी कि यह ज्ञानी कौन है और क्यों प्रिय है?)

आगे "सकल कामना हीन जे..." के 'जे' से 'ज्ञानी भक्तका संकेत' उन्होंने माना है। परन्तु ऐसा मानना कहाँ तक ठीक होगा? क्योंकि बीचमें 'चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ...' यह चौपाई पड़ी है, तथा 'सकल कामना हीन जे....' इस दोहेमें 'ज्ञानी' का संकेत करनेवाला कोई शब्द नहीं है। हाँ, निष्काम प्रेमीभक्त आ सकता है।

इसकी अपेक्षा प्रसंगकी संगति इस प्रकार लगाना ठीक होगा कि यहाँ नामका महत्व प्रतिपादन कविका मुख्य उद्देश्य है। साथही साथ सबको नामजपका उत्साह दिलाना है, नाममें प्रवृत्त करना है।

नामस्मरण निष्काम प्रेमीभक्तोंका तो प्राणाधारही है, सर्वस्व है, जीवन है; परन्तु अर्थार्थी और आर्त्त तथा जिज्ञासु और ज्ञानी, अर्थात् प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्गोंवाले, सभी लोग नामके जपसे अपना अपना साध्य प्राप्त करते हैं। इनमेंसे प्रथम तीन तो सकाम होनेसे अपने स्वार्थ साधनके लिये नामका जप करेंगे, इसमें कोई विशेष बात नहीं है। परन्तु वैराग्यपूर्वक प्रपंचको छोड़कर नामरूपातीत उस अनिर्वचनीय ब्रह्मसुखमें निमग्न रहनेवाले ज्ञानीभी नामजपद्वारा ही उस ब्रह्मसुखका अनुभव करते आए हैं, इससे बढ़कर नामका महत्व क्या कहा जा सकता है?

इस प्रसंगमें शाब्दिक प्रयोगभी बड़ी चतुरतासे किया गया है। यहाँ 'योगी' शब्दसे ज्ञान-योगीका ग्रहण है, क्योंकि नाम-जप-द्वारा नामरूपातीत अकथनीय ब्रह्मसुखका अनुभव लेना यहाँ कहा गया है और यह अनु-

भव ज्ञानी भक्तके अतिरिक्त अन्य कोई नहीं कर सकता ।—"योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ।" श्री श्रीधरस्वामीजीने 'योगिनां' का अर्थ ज्ञानिनां किया है । दोहा २६ (१-२) देखिए । अतएव यहाँ ज्ञानी भक्तका ही वर्णन है ।

यहाँ ज्ञानी' शब्द न देकर 'योगी' शब्द देनेमें अभिप्राय यह है 'योगी' से 'ज्ञानयोगी और भक्तयोगी वा प्रेमयोगी दोनों का ग्रहण हो सके । प्रारंभमें ' ब्रह्मसुखहिं अनुभवहिं' यह ज्ञानी भक्तका विशेष लक्षण दिया और बीचमें 'ज्ञानी प्रभुहि बिसेषि पियारा' कहकर गीताके 'ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्' इन शब्दोंका अपना अभिमत अर्थ सूचित किया और अन्तमें 'सकल कामनाहीन जे···' से प्रेमयोगीके विशेष लक्षण देकर अत्यंत प्रिय तथा इसी प्रसंगमें इनकाभी ग्रहण दिखाया । श्री पं० रामकुमारजीने जो लिखा है 'एकको गुप्त कहा' उसका तात्पर्य संभवतः यही है ।

'योगी' के पश्चात् जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्त्तका वर्णन करके इन चारोंको सुकृती, अनघ और उदार आदि कहकर सर्वप्रथम कहे हुए ज्ञानीको विशेष प्रिय कहा । श्रीरामजीके नामका ही आधार लिया है, अन्य साधन वा अन्य देवोंके नामका आश्रय दुःख मिटाने आदिमेंभी नहीं लिया, इसीसे चारोंको चतुर कहा । 'चहूँ' कहकर पूर्वही चारों भक्तोंका कथन इंगित कर दिया गया । 'नाम अधारा' यह 'चतुर' कहनेका कारण बताया । ज्ञानी होकर भी भक्ति करना यह ज्ञानियोंकी चतुरता है । जो भक्ति नहीं करते उनको गिरनेका भय रहता है । यथा—'जे ज्ञान मान बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी । ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी ।७।१३।', 'मोरे प्रौढ़···तजहीं । ३ । ४३ ।' यही ज्ञानियोंकी चतुरता है । चारों भक्तोंको कहकर आगे प्रमाणमें कहते हैं—"चहुँ जुग·········बिसोका ।।" "अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी ।।" २१ (८) और आगे के 'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा ।' २३ (१) के बीचवाले दोहे और आठ चौपाइयाँ प्रसंगसे कुछ अलग सी जान पड़ती हैं । परन्तु विचार करनेसे ज्ञात होता है कि असंगति नहीं है, केवल अन्य विषयका साथ ही साथ प्रतिपादन होनेसे वह असंगतसा जान पड़ता है । पहले नामको अगुण-सगुणके बीचमें साक्षी रूपसे कहा, फिर यह कहा कि भीतर सूक्ष्म सच्चिदानन्दरूपसे तथा बाहर विश्वरूपसे अथवा सगुण विग्रहरूपसे यदि दर्शन करना चाहते हो तो नाम जपो । दृष्टान्तरूपमें ज्ञानीभक्तका निर्देश किया, क्योंकि ज्ञानी भक्तही अव्यक्त और व्यक्त स्वरूपका अनुभव करनेवाला होता है । साथही अन्य भक्तोंका निर्देश करके चारोंको चतुर और उनमेंसे ज्ञानीको विशेष प्रिय कहा उसका कारण दोहेमें बताकर इस विषयको यहाँ समाप्त किया और पूर्वोक्त अगुण-सगुणके प्रसंगकी जो बातें रह गई थीं उनका कहना प्रारंभ किया ।

अथवा, इन सब प्रसंगोंकी पृथक्-पृथक् संगति कर सकते हैं । इस प्रकार कि—"अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी । २१ । ८ ।' पर एक प्रसंग समाप्त हो गया । "रामनाम मनिदीप धरु···" यह दूसरा प्रसंग है । फिर "नाम जीह जपि जागहिं जोगी" से लेकर 'कलि बिसेषि नहिं आन उपाऊ' तक तीसरा प्रसंग है । इस प्रसंग में गीतामेंके स्पष्ट रूपसे चार भक्तोंकी चर्चा करके तब चौथे प्रसंगमें "सकल कामनाहीन···" से प्रेमी भक्तका भी नाममेंही निमग्न रहना कहा ।

नोट—३ (क) यहाँ 'श्रीरामभक्तिको 'रस' और 'नाम सुप्रेम' को 'अमृतकुंड' कहकर श्रीरामभक्तिमें नामप्रेमको सर्वोपरि बताया । जलको और गुड़, शकर, ओले, संतरे आदिके रसको भी रस ही कहते हैं । इनमें स्वाद तो होता है पर संतोष नहीं होता । अमृतमें स्वाद और संतोष दोनों हैं । इसे पीकर फिर किसी पदार्थके खाने पीनेकी इच्छा ही नहीं रह जाती । २० (७) देखिये । अमृतको किसी रसके समान नहीं कह सकते । यथा—'राम मनुज कस रे सठ बंगा । धन्वी काम नदी पुनि गंगा ।। पसु सुरधेनु कल्पतरु रूखा । अन्न दान अरु रस पीयूषा । लं० २६ ।'; वैसे ही रामभक्ति रसके समान है और नामप्रेम अमृतकुंडके । (ख) 'पियूष-हृद'

ध्वनिका भाव यह है कि अगाध जलके कुंडमें मीन सुखी तो रहती हैं पर कभी न कभी मरही जाती हैं और नामजापक जन सदा अमर हैं। अतएव उनके मन-मीनके लिये अमृतकुंड कहा। (ग) पं० शिवलाल पाठक जी इस दोहेका भाव यों कहते हैं—"रामरूप रस भक्ति को रघुवर को रस नाम। नाम प्रेम रस नाम को नर्द मन रगु निःकाम" जिसका भाव यह है कि "भक्तिका फल रामरूपकी प्राप्ति है और रूपसे नाम की। अतः नाम सबसे श्रेष्ठ है। उस प्रेममें कामनारहित मग्न रहना कर्तव्य है। ध्वनि यह है कि जो भक्तिवश रामपदमें लीन हैं उनको भी नामही आधार है।" (घ) श्री पं० शिवलाल पाठकजी 'पीयूष' का अर्थ जल करते हैं क्योंकि मछलीका जीवन जलही प्रायः सुननेमें आता है न कि अमृत। उनके मतानुसार नाम-प्रेम जल है, जिह्वा कुंड है, यथा—'नाम प्रेम जल जीह हृद चार भक्तिरस राम। तजि जेष्ठा युगधा सदा मन सफरी करु धाम॥" (अभिप्राय दीपक)। मा० मा० कार इसका भाव यह लिखते हैं कि "जैसे मीन जलमें रहता है परन्तु केवल जल उसका जीवन है। चारा तो और वस्तु हैं, वैसे ही मन मछली रसना ह्रदमें नाम-प्रेम-जलमें मग्न रहती है और सर्व सांसारिक आकांक्षा रहित होकर रामभक्तिरस चारामें लीन हो रही है।"

४ चार भक्तोंको तो 'प्यारा' कहा था और इस भक्तको यह विशेषण न दिया इसका कारण यह जान पड़ता है कि इनकी विशेष-उत्कृष्टता और अधिक प्रिय होना इनमें अधिक श्रेष्ठ गुण दिखाकर ही सूचित कर दिया है। ज्ञानीको ब्रह्मसुखभोग ही की चाह है और प्रेमी भक्त (जिनका दोहेमें वर्णन है वे) तो भरतजी सरीखे स्वार्थ परमार्थ सभीपर लात मारे हुए हैं। इन्हें न तो ब्रह्मसुखकी चाह है न सिद्धियोंकी, न अर्थकी कामना और न आर्ति मिटनेकी वासना। अर्थात् ये स्वार्थ-परमार्थ दोनोंसे रहित होकर भक्ति करते हैं; नाम जपते हैं। 'स्वारथ परमारथ रहित सीताराम सनेह। तुलसी सो फल चारि को''''''(दोहावली) पुनः, "जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेह। बसहु निरंतर तासु उर, सो राउर निज गेह। अ० १३१।' यह प्रेमीकी दशा है। इनके प्रियत्वके संबंधमें श्रीमुखवचनामृतही प्रमाण यथेष्ट है, यथा—"ज्ञानिहु ते अति प्रिय बिज्ञानी॥ तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा॥ उ० ८६।" "मोरे प्रौढ़ तनय सम ज्ञानी। बालक सुत सम दास अमानी॥ आ० ४३।'

५ अब यह प्रश्न उठाया जाता है कि—'ब्रह्मसुख तो अति दुर्लभ और अलभ्य वस्तु है फिर प्रेमी भक्त उसे क्यों नहीं भोगना चाहते?' इसका कारण यह है कि ज्ञानीके ब्रह्मसुखको प्रेमी तुच्छ समझते हैं, उसकी ओर देखते भी नहीं, यथा—'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति॥ उ० ८८।' पुनः, यथा—"मम गुनग्राम नामरत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह॥ उ० ६।'

६ कामना हीन होनेपर भी प्रभुके नाम और भक्तिमें लीन रहते हैं, यह इस लिये कि फिर और कामनाएँ न उठने पावें। (पं० रा० कु०)। श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि श्रीरामभक्तिरसमें निमग्नता प्राप्त होनेपर भी नामकी आवश्यकता और उसके विस्मरणमें मछलीके समान व्याकुलता होनेका समाधान 'नामसुप्रेमपियूषह्रद' शब्दोंमें कविने स्वयं कर दिया है। नाममें यदि सुप्रेम (प्रगाढ़ प्रेम) हो तो वह अमृतकुंड हो जाता है, श्रीरामभक्तिरसलीन भक्तोंका जब नाममें प्रगाढ़ प्रेम हो गया तो उनको इतना आनंद आता है कि नाम उनके लिये अमृतकुंड हो जाता है। अमृतका गुण है कि उससे तृप्ति कभी नहीं होती। उत्तरोत्तर सेवनेच्छा बढ़ती ही जाती है और ऐसी दशामें उससे पृथक् होनेमें तीव्र व्याकुलता होती है। विदित हो कि भगवत्संबंधी कामनाएँ वे कामनाएँ नहीं हैं, जिनके छोड़नेकी आज्ञा, जन्ममृत्युसे निवृत्तिके लिए दी जाती है। क्योंकि यदि ऐसा न हो तो श्रीमद्भगवद्गीता अ० १२ में यह उपदेश भगवान् न देते कि "मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।

निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ ८ ॥....अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव । मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।१०।'

अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा । अकथ अगाध अनादि अनूपा ॥ १ ॥

अर्थ—ब्रह्मके निर्गुण (अव्यक्त) और सगुण (व्यक्त) दो स्वरूप हैं । (दोनों) अकथ (अनिर्वचनीय) हैं, अगाध (अथाह) हैं, सनातन और उपमारहित हैं । १ ।

*** अगुण सगुण दुइ ब्रह्मसरूपा ***

वैजनाथजी लिखते हैं कि "अन्तरात्मा, चिदानन्दमय, प्रकाशक, अमूर्ति सद्गुणराशि' अगुण है । सगुण स्वरूपके दो भेद हैं—एक चित्स्वरूप, जैसे ईश्वर जीव गुण ज्ञान । दूसरा अचिन् स्वरूप जिसके दो भेद हैं—एक प्राकृत, दूसरा अप्राकृत । अप्राकृतके भी दो भेद हैं—एक नित्यविभूति वैकुंठादि, दूसरा अप्राकृत कालरूप जैसे कि दण्ड, पल, दिन, रात, युग, कल्प आदि ।" वे० भू० जी लिखते हैं कि परमात्माके पर, व्यूह, विभव और अर्चा ये चारों रूप तो सदैव सगुण ही हैं । अन्तर्यामी स्वरूपके ही दो भेद हैं । गोस्वामीजीका अभिप्राय यहाँ अन्तर्यामीके ही कथन का है, क्योंकि इस अगुण-प्रकरणका उपसंहार करते हुए वे कहते हैं कि "अस प्रभु हृदय अछत अविकारी । सकल जीव जग दीन दुखारी ।' इन दोनों स्वरूपोंका वर्णन इसी ग्रंथमें अन्यत्र मिलता है । यथा—"जद्यपि सम नहिं राग न रोषू । गहहिं न पाप पूनु गुन दोषू ॥ तदपि करहिं सम बिषम बिहारा । भगत अभगत हृदय अनुसारा ॥" इसमें एकरस सबमें साक्षीरूपसे व्यापकको अगुण स्वरूप कहा जाता है, यथा—"साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्चेति श्रुतिः ।" और भक्तोंके हृदयमें अति कमनीय सच्चिदानंदघन विग्रहसे विराजमान विग्रहको सगुण स्वरूप कहा जाता है । काष्ठमें अप्रगट अग्निवत् जो सर्वत्र व्यापक स्वरूप रहता है उसे 'अमूर्त अन्तर्यामी' कहते हैं और जो भगवत् स्वरूप भक्तोंके ध्यानमें आता है, भक्तोंकी रक्षाके लिये हृदय प्रदेशमें किसी विग्रह विशेषसे स्थित रहकर भक्तका रक्षण करता रहता है वह स्वरूप 'मूर्त अन्तर्यामी' कहाता है। जैसे 'अन्तस्थः सर्वभूतानामात्मा योगेश्वरो हरिः। स्वमाययावृणोद्‌गर्भं वैराट्याः कुरुतन्तवे। भा० १।८।१४।" सर्वान्तर्यामी योगेश्वर हरिने अपनी कृपासे उत्तराके गर्भकी रक्षा की । उस स्वरूपका वर्णन भा० १ । १२ में इस प्रकार है । गर्भके बालक (परीक्षित्‌जी) ने देखा कि एक पुरुष जिसका परिमाण केवल अंगुष्ठमात्र है, स्वरूप निर्मल है, सिरपर स्वर्णका चमचमाता हुआ मुकुट है, सुंदर श्याम शरीरपर पीतांबर धारण किये हैं, आजानुलंबित चार भुजाएँ हैं, बारंबार गदा घुमा रहा है, इत्यादि । अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्रके तेजको नष्ट करके वह सर्वव्यापक सर्वैश्वर्यशाली धर्मरक्षक सर्वसामर्थ्यमान् श्रीहरि वहीं अन्तर्धान हो गए । (श्लोक ७—११) ।—इसी तरह मूर्त अन्तर्यामी अपने भक्तोंकी भावनानुसार उनके हृदयमें रहते हैं । 'अंतरजामी राम सिय' मानसमें भी कहा ही है ।

स्वामी श्रीराघवाचार्यजी लिखते हैं कि मानसके उद्धरणोंसे प्रमाणित होता है कि मानसका सिद्धान्त यह है कि परब्रह्म राम सगुण एवं निर्गुण हैं । उनमें सगुणरूपमें भी उसी प्रकार पारमार्थिकता है जिस प्रकार उनके निर्गुणरूपमें । इन दोनों स्वरूपोंकी रूपरेखाको हृदयंगम करनेके लिये श्रीयामुनाचार्यजीका श्लोक पर्याप्त होगा—"शान्तानन्त महाविभूति परमं यद्‌ब्रह्मरूपं हरेः । मूर्तंब्रह्म ततोऽपि यत्प्रियतरं रूपं यदत्यद्‌भुतम् ।" इससे प्रकट होता है कि परब्रह्मका एक रूप शान्त अनन्त एवं महाविभूतिवाला है और दूसरा रूप जो इस रूपकी अपेक्षा अधिक प्रिय किन्तु साथही अधिक अद्‌भुत है वह मूर्तरूप है । पाञ्चरात्र आगमने भगवान्‌के पंचरूप बताए हैं । वे हैं पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चा । उनमेंसे पररूप के ही महाविभूतिवाला रूप तथा मूर्तरूप दो भेद किये गए हैं । महाविभूतिवाला रूप शान्त है, अनंत है और मूर्त नहीं है । शान्त अवस्थामें प्रदर्शन-

की आवश्यकता न पड़नेसे गुणोंका प्रदर्शन नहीं होता। जहाँ इन गुणोंके प्रदर्शनकी आवश्यकता प्रतीत हुई, सर्वविभूतिवाला अमूर्तरूप मूर्तरूपमें परिणत हो जाता है। इस मूर्तरूपकी सनातन सत्तामें कभी किसी प्रकारकी बाधा उपस्थित नहीं होती। अमूर्तरूपमें सौलभ्य, सौशील्य, कारुण्य, वात्सल्य आदि गुणोंका साक्षात्कार न होनेके कारण गोस्वामीजीने उस रूपको निर्गुण कहकर संबोधित किया है। मूर्तरूपमें इन गुणोंका प्रयोग मिलता है, अतः गोस्वामीजी उसे सगुण कहते हैं। मानस मूर्तरूप और अमूर्तरूपकी सत्तामें किसी प्रकारका भेद नहीं मानता। 'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा'। दोनों ही स्वरूप अनादि हैं। किंतु दोनोंकी अनुभूतिमें पर्याप्त अन्तर है।...... श्रीरामके मानसप्रोक्त सगुण एवं निर्गुण रूपमें वस्तुतः अभेद है। इसी लिये उनके निर्गुणरूपके अनुभवसे सगुणरूपका साक्षात्कार और सगुणरूपमें निर्गुणरूपका अनुभव होता है। निर्गुणरूप महाविभूति संयुक्त है, सगुणरूप दयाका विस्तार है। वह वाणी और मनके लिये अगम्य है, यह वाणी और मनको आकर्षित करता है। रामचरितमानस श्रीरामजीके दोनों ही रूपोंमें स्थित व्यक्तित्वके साथ साधकका नाता जोड़ देता है। मानसकी यह ऐसी विशेषता है जिसमें निर्गुणवाद और सगुणवादका सामरस्य हो जाता है।

नोट—गोस्वामीजीने 'अगुन' और 'सगुन' से ब्रह्मके 'अव्यक्त' और 'व्यक्त' ये दो स्वरूप कहे हैं जैसा हम पूर्व भी लिख चुके हैं। प्रमाण, यथा—"कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहिं श्रुति गाव। मोहि भाव कोसलभूप श्रीराम सगुन सरूप। ६। ११२।", 'व्यक्तमव्यक्त गत भेद विष्णो। विनय ५४।' पद्मपुराण उत्तरखण्डमें भी निर्गुणको अव्यक्त और सगुणको व्यक्त कहा है; यथा—"व्यक्ताव्यक्तस्वरूपस्त्वं गुणभृन्निर्गुणः परः।२४२।७४।"

नोट—१ अकथ अगाध आदि विशेषण 'अगुन सगुन' दोनोंके हैं। निर्गुणमें तो ये विशेषण प्रसिद्ध हैं ही, सगुणके प्रमाण सुनिए—(क) 'अकथ'; यथा—'राम सरूप तुम्हार वचन अगोचर बुद्धिपर। अविगत अकथ अपार...। अ० १२६।,' रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा। बा० १९९।' 'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।' (तै० ३।२।१)। (ख) 'अगाध'; यथा—'महिमा नाम रूप गुनगाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥...प्रभु अगाध सत कोटि पताला।......राम अमित गुन सागर थाह कि पावइ कोइ।७।९१।९२।' (ग) 'अनादि'; यथा—'आदि अंत कोउ जासु न पावा।...सोइ दसरथसुत.......' (११८)। (घ) 'अनूपा'; यथा—"अनुपम बालक देखेन्हि जाई। रूपरासि गुन कहि न सिराई" (१९३), 'जय सगुन निर्गुनरूप रूप अनूप भूप सिरोमने।७।१३।', 'निरुपम न उपमा आन राम समान रामु निगम कहै।७।९२।'

२ श्रीचक्रजी लिखते हैं कि—(क) मानस ब्रह्मके समग्ररूपको स्वीकार करता है। ब्रह्मका समग्ररूप है, उसके दोनों स्वरूपोंमें कोई भेद नहीं। दोनों एकही तत्व और अभिन्न हैं। 'राम ब्रह्म व्यापक जग जाना' इस प्रकार सगुण साकार विग्रहभी विभु एवं निर्गुण है और 'हरि व्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम ते प्रकट होइ मैं जाना।' इस प्रकार निर्गुण तत्वभी सगुण ही है। दोनोंका भेद तो मानवके दुर्बल मानसकी कल्पना है। अतः दोनोंको 'अकथ' कहा गया। मन और वाणी त्रिगुणात्मक हैं, उनका वर्णन गुणोंके आधारसे होता है। तब निर्गुणका वर्णन कैसे हो? सगुण तत्वभी वाणीमें नहीं आता। 'राम अतर्क्य बुद्धि मन बानी।' वाणी एवं मनकी एक सीमित शक्ति है, किन्तु वे गुणधाम तो अनन्त हैं। कोई लोटेमें समुद्र भरना चाहे तो कैसे भर सकता है? लोटेमें जो भरा जायगा वह समुद्रका जल भले हो, समुद्र नहीं है। उससे समुद्रकी वास्तविकताका परिचय नहीं मिलता। इसी प्रकार मन या वाणीमें भगवान्‌का जो दिव्यरूप एवं जो गुण आता है, वह उनका गुण या रूप होनेपर भी उनके चिन्मयरूप एवं अनंत दिव्य गुणोंका तनिक भी परिचय देनेमें समर्थ नहीं। (ख) 'अनादि' कहकर जनाया कि सगुणरूप मायावच्छिन्न या कल्पनाप्रसूत नहीं है। ऐसी बात नहीं कि भक्तकी भावनाके अनुसार भगवान्‌ने रूप धारण कर लिया है, उस भावनासे पूर्व वह रूप था ही नहीं। भगवान्‌का एक सगुण स्वरूप है जो अनादि है। उसीके अनुसार मानस-स्तर है और इसी लिये भक्त वह भावना कर सकता

है। जो रूप भगवान्‌का नहीं है, उसका तो मन संकल्पही नहीं कर सकता। क्योंकि मन संकल्प स्वयं नहीं करता, केवल मानस-स्तरोंके संकल्पोंको ग्रहण करके व्यक्त करता है। जैसे रेडियो यंत्र स्वयं कुछ नहीं बोलता। वह अमुक स्तरमें पहुँचाए हुए स्तरकी ध्वनियोंको केवल व्यक्त करता है। (ग) दोनों रूप अनुपम हैं। जगत् मायाके गुणोंका परिणाम है और भगवान्‌के गुण अमायिक हैं। अतः जगत्‌की कोई उपमा नहीं दी जा सकती।

३ 'अकथ' आदि कहकर जनाया कि निर्गुण और सगुण दोनों रूप प्रत्यक्ष, अनुमान एवं उपमान इन तीनों प्रमाणोंसे नहीं जाने जा सकते। 'अकथ' से वाणी आदि इन्द्रियोंका निषेध करके प्रत्यक्षका अविषय, 'अगाध' से मनके द्वारा अचिन्त्य कहकर अनुमानका अविषय और 'अनादि' कहकर उनकी निर्विकल्पसत्ताका प्रतिपादन करते हुए 'अनूप' कहकर उन्हें उपमान का भी अविषय बताया गया है। उनकी सत्ता एवं स्वरूप-बोधमें केवल शब्द (शास्त्र) ही प्रमाण है। इन विशेषणोंसे सूचित किया कि ऐसे प्रभावशालीसे भी नाम बड़ा है। नाम द्वारा दोनोंकी प्राप्ति हो जाती है।

४ (क) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि ऊपर दोहे तक चार भक्तोंके द्वारा भीतर-बाहरका उजाला दिखाया। अब फिर अगुण सगुणको उठाया। पूर्व अगुण-सगुणका प्रसंग 'अगुन-सगुन बिच नाम सुसाखी।...' इस चौपाईपर छोड़ दिया था, बीचमें भीतर बाहर उजालेका उदाहरण दिया, अब पुनः अगुण-सगुणका प्रसंग उठाकर नामको इनसे बड़ा कहते हैं। (ख) मानस-परिचारिकाकार लिखते हैं कि "नाम रूप गुन अकथ कहानी। समुझत सुखद न परत बखानी॥" तक नामका स्थूल स्वरूप कहकर फिर ग्रन्थकार 'अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी।......'से अंग कहने लगे। नामके अधीन अगुण सगुण दोनों हैं। यह स्थूल अंग कहते समय आपने देखा कि आर्त, अर्थार्थी इत्यादि पाँचोंकाभी नामही आधार है सो येभी नामके अंग हैं, इस लिये अगुण सगुणका बीज वहाँ बोकर पाँचों भक्तोंकी नामाधार-वृत्तिका वर्णन उठाया और अब यहाँसे विस्तार पूर्वक अगुण सगुणका प्रसंग फिर ले चले। (ग) यहाँसे अब चतुर्थ प्रकारसे नामकी बड़ाई दिखाते हैं। अर्थात् निर्गुण सगुण दोनोंसे बड़ा कहकर नामका बड़प्पन दिखाते हैं।

मोरें[1] मत बड़ नाम दुहू तें। किए जेहि जुग निज बस निज बूतें॥ २॥

अर्थ—मेरी सम्मति (राय) में नाम (निर्गुण सगुण) दोनों (ब्रह्म) से बड़ा है कि जिसने दोनोंको अपने बलसे अपने वशमें कर रक्खा है॥ २॥

नोट— १ (क) 'मोरें' मत कहकर बताते हैं कि यह मेरा मत है (दूसरोंके मतमें जो चाहे हो क्योंकि यह सामर्थ्य नामही में है कि उसने दोनोंको अपने अधीन कर रक्खा है। इसी बातको आगे और स्पष्ट कहते हैं—'कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की'। पुनः, (ख) 'मोरें मत' का भाव कि दोनों स्वरूपोंकी उपलब्धिमें एकमात्र शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र कहते हैं कि नाम द्वारा दोनोंकी प्राप्ति होती है। इस तरह शास्त्रोंका फलितार्थ तो यह निकलता है कि नाम दोनोंसे बड़ा है, किन्तु शास्त्र कहीं भी यह बात स्पष्ट कहते नहीं। अतएव मानसकार इसे अपनी सम्मति कहते हैं। उनका अनुरोध है, आग्रह नहीं कि आपभी इसे ऐसाही स्वीकार कर लें—पर यह एक सम्मति है।

२ "निज बस निज बूतें" इति। (क) 'निज बूतें' का भाव यह है कि श्रुतियोंके समान प्रार्थना करके नहीं, किन्तु अपने पराक्रमसे, वश कर रक्खा है। कथनका तात्पर्य यह है कि नामके बलसे भक्त भीतर बाहर दोनों ब्रह्म (स्वरूपों) को देखते हैं। (पं० रामकुमारजी)। जैसे मनुशतरूपाने निर्गुण ब्रह्मके लिये नाम-जपसे ही तप प्रारम्भ किया, यथा—"सुमिरहिं ब्रह्म सच्चिदानंदा" उससे निर्गुण ब्रह्म वशमें हुए, तब ब्रह्मगिरा हुई

१ हमरे—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। मोरें—१६६१, १७०४, को० रा०।

और फिर वे ही सगुण रूपसे प्रगट हुए। पं० सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि जैसे 'राम' इसमें जो रा और म अक्षर हैं उनसे दशरथापत्य साकार ब्रह्मका बोध होता है, रामका जो अर्थ सर्वत्र 'रमन्ते इति रामः' है इससे निराकार ब्रह्मका भी बोध होता है। यदि नाम न होता तो साकार और निराकारको कोई जानता भी नहीं। दोनोंका बोधक केवल नाम ही है। (मानस पत्रिका)। पुनः, (ख) भाव कि जो 'अकथ अगाध अनादि अनूपा' ऐसे बलवान् ब्रह्मको वश कर रक्खे है उसमें अवश्य बहुत अधिक बल बूता होगा। (ग) पूर्वार्द्धमें अपने मतानुसार नामको दोनोंसे बड़ा कहकर उत्तरार्द्धमें उसका (अपनी सम्मति स्थिर करनेका) कारण कहा। 'निज बूतें' से स्पष्ट कर दिया कि नाम निरपेक्ष साधन है, उसमें किसीभी दूसरे साधनकी सहायता अपेक्षित नहीं है। केवल नाम लेना ही पर्याप्त है।

३ (क) पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'ग्रन्थकारका मत बहुत सत्य जान पड़ता है क्योंकि जिसके वश जो हो जाय वह वशकर्त्ता बड़ा और वशीभूत छोटा कहा जाता है। नामके अधीन निर्गुण और सगुण दोनों सर्वत्र शास्त्रादिकोंमें प्रसिद्ध हैं। इस लिये स्पष्ट है कि दोनोंसे नाम बड़ा है।" (ख) पांडवगीतामें भृगुजीनेभी ऐसाही कहा है। यथा, "नामैव तव गोविन्द नाम त्वत्तः शताधिकम्। ददात्युच्चारणान्मुक्तिं भवानष्टाङ्गयोगतः। ५६।" अर्थात् हे गोविन्द आपका नाम आपसे सौ गुना अधिक है। आप तो अष्टाङ्ग योगसे मुक्ति देते हैं और आपका नाम केवल स्मरणसे मुक्ति देता है।

प्रौढ़ * सुजन जन जानहिं जन की। कहउँ प्रतीति प्रीति रुचि मन की॥ ३॥

अर्थ—प्रौढ़ सज्जन लोग मुझ जन (के मन) की जानते हैं (वा जान लेंगे) (कि) मैं अपने मनकी प्रतीति, प्रीति और रुचि कह रहा हूँ॥ ३॥

नोट—१ "प्रौढ़ सुजन जन...." इति। (क) बाबा जानकीदासजी लिखते हैं कि "यदि कोई कहे कि क्या 'व्यास, वाल्मीकि, अगस्त्य, जैमिनि, शाण्डिल्य, गौतम, पराशर आदिसे तुम्हारा न्यारा मत है?' तो उसपर कहते हैं कि नहीं। प्रौढ़ सुजन जन व्यासादि मुझ जनकी जानते हैं। मैं जो अपने मनकी प्रतीति, प्रीति, रुचि कह रहा हूँ वह सभी प्रवीणोंका मत है यह वह जानते हैं।" (मा० प्र०)। जो शास्त्रों एवं सज्जनोंके

---

* प्रौढ़ि सुजन जनि—१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०, रा० प०, गौड़जी। प्रौढ़ सुजन जनि— ना० प्र०, सु० द्विवेदी। प्रौढ़ सुजन जन—मा० प्र०, १६६१। १६६१ में पहले 'प्रौढ़ि सुजन जनि' था। हरताल देकर 'प्रौढ़ सुजन जन' पाठ शुद्ध किया गया है।

प्रौढ़ि = ढिठाई, = प्रौढ़ोक्ति (अलंकार जो काव्यका एक अंग है, जिसमें कवि अपनी बुद्धिकी चतुरतासे बातको बहुत बढ़ाकर कह डालते हैं)। संतउन्मनी टीकाकार मंगलकोपका प्रमाण देकर 'प्रौढ़ि' और 'प्रौढ़' का अर्थ यों लिखते हैं—'प्रौढ़ि' = अभिमानसे बात कहना। 'प्रौढ़' = चालाक विद्वानोंकी सभाका = सभा-प्रवीण। शब्दसागरमें 'प्रौढ़' का अर्थ "ढीठ, चतुर, अच्छी तरह बढ़ा हुआ" लिखा है।

'प्रौढ़ सुजन जनि जानहिं' का अर्थ सुधाकर द्विवेदीजी यों करते हैं कि 'प्रौढ़ सुजन' शङ्कर, विशिष्टाद्वैत-वादी, अद्वैतसिद्धिकर्त्ता मधुसूदन सरस्वती आदि हैं। वे लोग मेरे इस जनकी बात न मानें पर मैं अपने विश्वास और प्रीतिसे अपने मनकी रुचि कहता हूँ। और, पं० सूर्य्यप्रसाद मिश्र प्रौढ़ का अर्थ 'जबरदस्ती, हठ' करके यह अन्वय करते हैं—सुजन जनकी (दासकी) प्रौढ़ जनि जानहिं'।

पं० रामकुमारजी—'प्रौढ़ि सुजन जनि' का भाव यह लिखते हैं कि 'मोरें मत' कहनेसे 'प्रौढ़ि' पाई जाती है, इसीसे कहा कि सज्जन इसे 'प्रौढ़ि' न जानें; क्योंकि अपने इष्टमें प्रतीति आदि बताना प्रौढ़ता नहीं है, यथा—"प्राप्ता स्तमां निषेधः।"

वाक्योंका फलितार्थ है वही मैंने स्पष्ट कह दिया, यह वे जान लेंगे ।' (ख) गोस्वामीजी नामका प्रभाव जानते हैं; इसी लिए उन्होंने 'प्रतीति' पद दिया है; क्योंकि 'जाने बिनु न होइ परतीती' और, प्रतीति होनेसे 'प्रीति' होती है यथा—'बिनु परतीति होइ नहि प्रीती । ७।८९ ।' प्रतीति और प्रीतिसे रुचि बढ़ती है । (पं० रामकुमारजी)

२ गोस्वामीजीने यहाँ अपनी दीनता प्रकट की है । कपिल, व्यास जैमिनिका मत नहीं दिखलाया है । वे कहते हैं कि अच्छे लोग यह न समझें कि मैं हठ करके (वा बढ़ाकर) इस बातको कहता हूँ, मैं तो अपने मनकी जो प्रतीतिसे प्रीति और प्रारब्धकर्मसे रुचि हुई है इन्हीं कारणोंसे नामको बड़ा मानता हूँ। प्रतीतिका कारण श्रुति है—"मर्ता अमर्त्यस्य ते भूरि नाम" । प्रीतिका कारण बड़ोंका उपदेश है । (मानस-पत्रिका, रा० प्र०, सू० प्र० मिश्र) ।

३ संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि गोस्वाजीने प्रीति, प्रतीति और रुचि आगेकी चौपाइयोंमें दिखायी है । अर्थात् 'एक दारुगत देखिय एकू ।' से 'राजा राम अवध रजधानी' तक प्रतीतिका हेतु दिखाया। पुनः, 'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती ।' से 'अपत अजामिल गज गनिकाऊ' तक प्रीतिका हेतु दिया। और 'कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई' से 'भाय कुभाय अनख आलसहू' तक मनकी रुचि दिखाई।

एक दारु गत देखिअ एकू । पावक सम जुग-ब्रह्म-बिबेकू ॥ ४ ॥
उभय अगम जुग सुगम नाम तें । कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें ॥ ५ ॥

अर्थ—एक (अग्नि) जो लकड़ीके भीतर रहता है और दूसरा जो प्रत्यक्ष देखनेमें आता है उन दोनों अग्नियोंके समान [अगुण (अव्यक्त) और सगुण (व्यक्त)] दोनों ब्रह्मका विचार है । ४ । दोनों कठिन हैं, परन्तु दोनों नामके अभ्याससे सुगम हैं, इसीसे मैंने नामको ब्रह्म (अगुण; अव्यक्त) और राम (सगुण, व्यक्त) से बड़ा कहा । ५ ।

टिप्पणी—'एक दारुगत देखिअ एकू ।...' इति । (क) पहले ब्रह्मके दो स्वरूप कहे, अब दोनोंका विवेक कहते हैं कि वास्तवमें दोनों अग्नि एकही हैं, भेद केवल इतना है कि एक गुप्त है, दूसरा प्रगट । ऐसेही ब्रह्मको जानिए । (ख) 'विवेक' का भाव यह है कि एक अग्नि तो लकड़ीमें है सो प्रगट की जाती है (प्रगट करनेकी बात आगे कहते हैं) और दूसरी प्रगट है, सो प्रगट ब्रह्मकी बातभी आगे कहते हैं ।

नोट—१ काष्ठमात्रमें अग्नि गुप्तरूपसे रहता है । वनमें बाँस आदिके परस्पर रगड़से दवाग्नि प्रकट होकर वनको जला डालता है । अरणी लकड़ीको परस्पर रगड़नेसे अग्नि यज्ञके लिए उत्पन्न की जाती है, यथा—'पुनि बिबेक पावक कहँ अरनी । १।३१ । ६ ।' इससे सिद्ध होता है कि काष्ठमात्रके भीतर अग्नि अव्यक्तरूपसे व्याप्त है, दिखाई नहीं देता । उसी 'अव्यक्त अग्नि' को 'दारुगत पावक' कहा गया है । दूसरा अग्नि वह है जो संघर्षणसे उत्पन्न होनेपर प्रत्यक्ष देखनेमें आया अथवा प्रगटरूपसे संसारमें देखनेमें आता है और जिससे संसारका काम चलता है । जबतक वह अव्यक्तरूपसे लकड़ीमें रहा तबतक उससे संसारका कोई काम न निकल सकता था । इसी प्रकार ब्रह्मके संबंधसे देह एवं चराचरमात्र काष्ठ है । इस चराचरमात्रमें जो ब्रह्म अव्यक्त अंतर्यामीरूपसे सर्वत्र व्याप्त है वह अव्यक्त अग्नि (दारुगत पावक) के समान है और वही ब्रह्म जब पर, व्यूह, विभव आदि रूपोंसे व्यक्त होता है तब वह प्रकट पावकके समान है जिससे संसारका हित होता है । इससे जनाया कि तत्त्वतः अव्यक्त और व्यक्त (अगुण और सगुण) दोनों एकही हैं । केवल अप्रकट और प्रकट भेदसे दोनों भिन्न-भिन्न जान पड़ते हैं ।

२ जैसे बारंबार संघर्षण करनेसे काष्ठसे अग्नि प्रकट हो जाता है, यथा—'पुनि विवेक पावक कहुँ अरनी । १ । ३१ ।', "अति संघर्षन जौं कर कोई । अनल प्रगट चंदन ते होई ।। ७ । १११ ।" वैसे ही इस शरीर (की जिह्वा) रूपी अरणीपर नामको उत्तरारणि करके नामोच्चारणरूप संघर्षण वा मंथन करनेसे हृदयस्थ ब्रह्म सगुण होकर प्रत्यक्ष हो जाता है जैसे महाभागवत श्रीप्रह्लादजीके निरंतर अभ्याससे वह खंभसे प्रकट हो गया।

३ सगुण ब्रह्मसे जगत्का काम चलता है। उनके चरित्रोंको गाकर सुनकर लोग भवपार होते हैं। यथा—"तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।''''सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं । कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं ।। १२१-१२२ ।" जैसे प्रगट अग्नि किसी-किसीको जलाभी डालता है, वैसेही व्यक्त ब्रह्मद्वारा दुष्टोंका दलनभी होता है। यथा—'असुर मारि थापहिं सुरन्ह''''।१।१२१।'

४ "बिबेकू" इति। इस शब्दको देकर जनाया कि इस प्रकार उसको समझ सकते हैं।

५ इन चौपाइयोंसे मिलती हुई ये श्रुतियाँ श्वेताश्वतरोपनिषद्में हैं—"वह्नेर्यथा योनिगतस्य मूर्तिर्न दृश्यते नैव च लिङ्गनाशः। स भूय एवेन्धनयोनिगृह्यस्तद्वोभयं वै प्रणवेन देहे । १३ । स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासाद्देवं पश्येन्निगूढवत् ।१४। (अध्याय १) ।" अर्थात् जिस प्रकार अपने आश्रय (काष्ठ) में स्थित अग्निका रूप दिखाई नहीं देता और न उससे लिङ्ग (अव्यक्त, सूक्ष्मरूप) का ही नाश होता है और फिर ईंधनरूपी कारणके द्वाराही उसका ग्रहण हो सकता है, उसी प्रकार अग्नि और अग्निलिंग (अव्यक्त अग्नि) के समान ही इस देहमें प्रणवके द्वारा ब्रह्मका ग्रहण किया जा सकता है। १३ । अपने शरीरको अरणि और प्रणवको उत्तरारणि करके ध्यानरूप मंथनके अभ्याससे स्वप्रकाश परमात्माको छिपे हुए अग्निके समान देखे।

टिप्पणी—१ 'उभय अगम....' इति। (क) नामसे ब्रह्मके सुगम होनेकी व्याख्या आगे नहीं दी गई है; निर्गुणसगुणसे नाम बड़ा है—केवल इसीकी व्याख्या आगे की है। इससे यह स्पष्ट जान पड़ता है कि पूर्व ही जो 'तुलसी भीतर बाहेरहुँ जौं चाहसि उजियार' इस दोहेमें कह आए हैं उसीको विस्तार से यहाँ तक कहा है। (ख) 'जुग सुगम नाम ते' कहकर सूचित किया कि अन्य साधनोंसे अगम है, नाम ही से सुगम है। यही आशय दोहावलीके "सगुन ध्यान रुचि सरस नहिं निर्गुन मन ते दूरि। तुलसी सुमिरहु राम को नाम सजीवनमूरि । ८ ।" इस दोहेमें पाया जाता है।

नोट—१ (क) सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि नाम राम ब्रह्मसे भी बड़ा है यह ग्रन्थकारका कहना काष्ठाग्नि और संघर्षण दृष्टान्त द्वारा प्रामाणिक ठहरा। (ख) यहाँ दोनों वाक्योंकी समतामें 'प्रतिवस्तूपमालंकार' की ध्वनि है। दोनोंकी प्राप्ति दुर्गम है, परन्तु नामसे दोनों सुगम हैं, इस प्रकार नामके ब्रह्म रामसे बड़े होनेका समर्थन करना 'काव्यलिंग अलंकार है। (वीरकवि)

ब्यापक एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनँद रासी ।। ६ ।।
अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ।। ७ ।।

अर्थ—जो ब्रह्म अन्तर्यामीरूपसे चराचरमें व्याप्त है, अद्वितीय है, अविनाशी (कभी नाश न होनेवाला) है, सत् चैतन्यघन (चिद्रूप) और आनन्दकी राशि है। ६। ऐसे सब विकारोंसे रहित प्रभुके, हृदयमें, रहते हुए भी संसारके सभी जीव दीन और दुःखी हो रहे हैं। ७।

नोट—१ (क) चौपाई ६ में 'ब्रह्म' विशेष्य है और 'व्यापक' आदि छः विशेषण हैं। (ख) व्यापक, एक और 'सत् चित् आनन्द' की व्याख्या पूर्व "एक अनीह''''१।१३।३-४।' में हो चुकी है, वहीं देखिए। (ग) "व्यापक

एक....", यथा—"एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । श्वे० ६।११।।", "आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्" (तैति० भृगु० ६) । अर्थात् समस्त प्राणियोंमें स्थित एक देव है जो सर्वव्यापक है और समस्त भूतोंका अन्तरात्मा है । (श्वे०) । आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना । (तैत्ति०) ।

नोट—२ "व्यापक एक……" इति । भाव यह है कि ब्रह्मके हृदयस्थ रहनेपर जीवको दीन दुखारी नहीं होना चाहिए । इस भाव-कथनकी पुष्टिमें यहाँ छः विशेषण दिये गए हैं । इन विशेषणोंके साथ साथ यहभी ध्वनित है कि ब्रह्म और जीवमें महदन्तर है । 'व्यापक' कहकर सूचित किया कि ब्रह्म व्यापक है और जीव व्याप्य तथा परिच्छिन्न है । व्यापकताके दृष्टान्त प्रायः 'तिलमें तैल, दूध और दहीमें घी, लकड़ी आदिमें अग्नि, सब पदार्थोंमें आकाश' आदि के दिये जाते हैं । यथा—"तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतस्स्वरणीषु चाग्निः । एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥ १५ ॥ सर्वव्यापिनमात्मानं क्षीरे सर्पिरिवार्पितम् ।" (श्वेताश्वतर अ० १), "आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः" । अर्थात् जैसे तिलमें तेल, दहीमें घी, प्रवाहमें जल और अरणीमें अग्नि स्थित है, वैसेही आत्मामें परमात्मा व्याप्त है । सत्य और तपके द्वारा जो साधक इसे जान जाता है वही उसको ग्रहण करनेमें समर्थ है । आत्मा सबमें इस प्रकार स्थित है जैसे दूधमें घी । आकाशकी तरह आत्मा सर्वगत और नित्य है । "व्यापक" विशेषणसे बताया कि जीव प्रारब्धानुसार कहींभी जाय तो ब्रह्मसे कभी भी पृथक् नहीं हो सकता । आगे ब्रह्मको 'सत् चित् आनंद' कहेंगे—'सत चेतन घन आनंदरासी ।' इससे कोई यह न समझे कि ब्रह्म तीन हैं । अतः कहा कि वह 'एक' है । शरणपालत्व, भक्तवात्सल्य, सर्वज्ञत्व, कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं सामर्थ्य, अकारण दयालुत्व, आदि समस्त दिव्य गुणोंमें उसके समान कोई नहीं है यह भी 'एक' से जनाया । इस विशेषणका अभिप्राय है कि ऐसे गुणोंसे युक्त ब्रह्मके साथीको दुःखी न होना चाहिए । आकाश व्यापक है परन्तु कुछ लोग उसको नाशवान् कहते हैं, अतः ब्रह्मको अविनाशी कहा । 'अविनाशी' की पुष्टिके लिये आगे 'सत्' कहा । जीवभी सत् और अविनाशी है, परन्तु अनादि अविद्यावश वह स्वस्वरूप तथा परस्वरूपको भूल जाता है । अणु-स्वरूप होनेसे जीवका ज्ञान और आनन्द भी संकुचित है । अविद्यारहित और विभु होनेसे ब्रह्मका ज्ञान तथा आनन्द अखंड और अपरिमित है; यह दिखानेके लिये 'चेतन' के साथ 'घन' और 'आनन्द' के साथ 'राशि' कहा । अतः जीवका दीन दुःखी होना ठीक ही है ।

अब यह शंका हो सकती है कि—"'सत्, चेतन घन, आनंदराशि' तो तीन कहे और तीनोंका अनुभवभी होता है, तब ब्रह्मको 'एक' कैसे कहा ?" इसका समाधान अग्निके दृष्टान्तसे कर सकते हैं । अग्निमें उष्णता, ज्वाला और प्रकाश तीनों हैं पर अग्नि एक ही है ।

"ब्रह्म चेतनघन है और व्यापक है । तब अचित्में भी तो वह हुआ ही । परन्तु अचित् में रहनेसे अचित्कोभी चेतनवत् भासमान होना चाहिए जैसे शरीरमें चेतनके होनेसे शरीर चेतन भासता है ।"—इस शंकाका समाधान यह है कि ब्रह्मके दो स्वरूप हैं, स्थूल और सूक्ष्म, अर्थात् व्यक्त और अव्यक्त । ब्रह्म जो अन्तर्यामी रूपसे सर्वत्र स्थित है वह उसका अव्यक्त स्वरूप है । अव्यक्तस्वरूपके उपर्युक्त सब दिव्य गुणभी अव्यक्त ही रहते हैं, इसीसे अचित्में चेतनताका अनुभव हमें नहीं होता । यदि वह चाहे तो उसमेंभी चेतनता अनुभवमें आ सकती है ।

"अस प्रभु……अविकारी" इति । उपर्युक्त छः विशेषणोंसे युक्त ब्रह्मको 'अविकारी' कहकर जनाया कि वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर षट्विकारोंसे रहित है और जीव 'विकारी' है । जो सर्वव्यापक है, एक अर्थात् अद्वितीय है, उसको कोई कामना होगी ही नहीं, वह पूर्णकाम है । अतः काम विकार उसमें नहीं है । कामना होनेसे उसकी पूर्त्ति न होनेपर क्रोध होता है और पूर्त्ति होने पर लोभ और अधिक होता है; यथा—"जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई" । जब कामनाही नहीं तब क्रोध और लोभ क्योंकर होंगे । तीन विकारों-

का न होना इन्हीं दो विशेषणोंसे सिद्ध हो गया। जीवमें ये दो गुण न होनेसे उसमें ये तीनों विकार आ जाते हैं। मोह मद अज्ञानके कार्य हैं और ब्रह्म चेतनघन अर्थात् अखंड ज्ञानवान् है, अतः उसमें ये नहीं हैं। मत्सर तब होता है जब कोई अपने समान हो या अपनेसे बड़ा हो। ब्रह्म 'एक' है, उसके समान या बड़ा कोई नहीं, अतः उसमें यह विकारभी नहीं होता।

भगवानका वास हृदयमें है, यथा—"एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। श्वे०श्व०४। १७।" अर्थात् वह दिव्य क्रीडनशील विश्वका उत्पन्न करनेवाला परमात्मा सदाही सभी मनुष्योंके हृदयमें सम्यक् प्रकारसे स्थित है। पुनश्च "सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो। गीता १५। १५।," "अन्तः प्रविष्टः शास्ता जनानां सर्वात्मा।" अर्थात् 'मैं सबके हृदयमें प्रविष्ट हूँ।', 'प्राणियों का शासक, सबका आत्मा अन्तरमें प्रविष्ट है'।

३ श्रीचक्रजी लिखते हैं—(क) यहाँ ब्रह्मके हृदयस्थ स्वरूप चतुर्व्यूहमेंसे वासुदेवरूपका वर्णन है अद्वैत वेदान्ती इसे द्विविध चेतना कहते हैं। व्यापक तो कहही दिया तब यहाँ 'हृदय अछत' की क्या विशेषता ? मोटी बात तो यह है कि अनुभूतिका स्थान हृदय है। दीनता एवं दुःखका अनुभव हृदयमें मनको होता है अतः यहीं सच्चिदानंदघन ब्रह्मसत्ताको बताकर विरोध दिखलाया गया। दूसरे सर्वत्र ब्रह्मका सद्घन, आनन्दघन, अविनाशी, निर्विकार स्वरूप प्रकाशित नहीं है। (ख) दीन=अभावग्रस्त। दुःखी=अभीष्टके नाशसे युक्त। भाव कि जीव जो चाहता है वह उसे मिलता नहीं और जो कुछ है वह नष्ट होता रहता है, इन्हीं दीनता और दुखमें सब विकार आ जाते हैं।

४ पं० रामकुमारजी इस चौपाईका भाव यह लिखते हैं—"ऐसे विशेषणोंके प्रतिकूल जीवकी दशा हो रही है। अविनाशीके रहते हुए सबका नाश हो रहा है, 'सत्' के समीप रहते हुए भी जीव 'असत्' हो रहा है; चेतनके अछत जड़ है, आनन्दराशिके रहते हुए जीव दुःखी है, 'अविकारी' के होते हुए विकारयुक्त है। ऐसा अमूल्य रत्न हृदयमें है तोभी जीव दीन(दरिद्र) हो रहा है और सब पदार्थोंके होनेपर भी दुःखी है। दुःखी होनेका कारण केवल यही है कि वह ब्रह्मको नहीं जानता। 'सकल जीव' इस लिए कहा कि समस्त जीवोंमें ब्रह्म है।"

५ सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'वेदान्ती पुकारा करते हैं कि 'सोऽहम् सोऽहम्' अर्थात् ब्रह्म मैं ही हूँ, यह मेरे हृदय ही में अछत निर्विकार सच्चिद्घनानन्दराशि बैठा है, परन्तु इस दन्तकथा से कुछ फल प्राप्त नहीं। कहनेवाले सब प्राणी जगत्में दीन और दुःखी देख पड़ते हैं। वह हृदयस्थ ब्रह्म बाहर आकर उन दीन दुःखियों-की रक्षा नहीं करता'। (ख) दीन दुःखी होनेका कारण नाममाहात्म्य न जानना है। (सू० मिश्र)।

६ 'व्यापक एक अविनाशी' कहकर सूचित किया कि वह बड़ाही अद्भुत है, कहनेको तो एक है पर चराचरमें स्थित है और जिस चराचरमें व्याप्त है उसके विनाश होनेपरभी वह ब्रह्म अविनाशी ही बना रहता है। ऐसा ब्रह्मभी नामके अधीन है।

७ ऐसे आनन्दराशि ब्रह्मके हृदयस्थ रहतेभी जीव दुखी है इस कथनमें 'विशेषोक्ति और विरोधाभास' का सन्देह सङ्कर है।

नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें॥ ८॥

शब्दार्थ—निरूपन (निरूपण)=प्रकाश, भली भाँति उसका यथार्थ स्वरूप, अर्थ, माहात्म्य इत्यादि जानना, समझना और उसपर विश्वास करना, विवेचनापूर्वक निर्णय, विचार। वर्णन, कथन, कीर्त्तन। (सुधाकर दूवेदी)। 'जतन'=यजन, अभ्यास, उपाय, यत्न, रटना, जपना, रमना, अभ्यास करना।

अर्थ—वही ब्रह्म, नामका निरूपण करके नामके जपनेसे (वा, नामरूपी यत्नसे), ऐसे प्रकट हो जाता है जैसे रत्नसे मोल । ८ । ❀

टिप्पणी—१ (क) "ब्रह्म रत्न है । उसका जानना मोल है । विना जाने जीव दुःखी है । ब्रह्मका प्रकट होना मोलका प्रकट होना है । जैसे रत्नके भीतर मोल था, उसी तरह ब्रह्महीमें ब्रह्म प्रकट हुआ । 'जतन' जोखनेको कहते हैं । जौहरी रत्नका निरूपण बुद्धिसे करते हैं और उसको जोखते हैं, इसी प्रकार रामनामका अर्थ बुद्धिसे निरूपण करते हैं और उसे जपते हैं । जपना ही जोखना है ।" अथवा, (ख) "जैसे रत्न और मोल पृथक् नहीं, वैसेही रामनाम और ब्रह्म पृथक् नहीं । रत्नको जौहरी निरूपण करता और जोखता है, रामनामके जौहरी साधु हैं । रत्नके भीतर मोल है, वैसेही नामके भीतर ब्रह्म है । विना निरूपण और जतनके मोल प्रकट नहीं होता, इसी प्रकार रामनामके निरूपण और यत्नके विना ब्रह्म प्रकट नहीं होता । (ग) रत्न और नाममें यहाँतक सम रूपक दिखाया । आगे नाममें विशेषता यह कहेंगे कि रत्नके मोलका पार है और 'नामप्रभाव' अपार है । (घ) 'मोल रतन तें' का भाव यह है कि रत्न तो प्रथमसे ही रहा है; पर मोल प्रकट नहीं था, सो प्रकट हुआ । इसी प्रकार ब्रह्म तो हृदयमें रहा ही है पर प्रगट नहीं था, सो प्रगट हुआ ।" अथवा, (ङ) "ब्रह्म और प्रगट होना दो बातें हैं । ब्रह्म रत्न है और प्रकट होना मोल है । इसी तरह रत्न और मोल दो बातें हैं । जैसे मोल और रत्न पृथक् नहीं, वैसेही ब्रह्म और उसका प्रगट होना पृथक् नहीं ।" अथवा, (च) "नाम निरूपण" और "नाम-जतन" ये ही रत्न हैं । इन्हींसे ब्रह्म रूपी मोल प्रकट होता है । नामनिरूपणसे ब्रह्म प्रगट होता है; ऐसा कहनेसे यह पाया जाता है कि नामके अर्थमें निर्गुण ब्रह्म है । विना ब्रह्मके प्रगट हुए 'नामनिरूपण नाम-जतन' व्यर्थ जान पड़ता है, वैसेही विना मोलके रत्न व्यर्थ है ।

नोट—'नाम निरूपन' इति । नामका रूप, अर्थ, महिमा जो नाम प्रकरण दोहा १७ से २८ (२) तक में कहा है और जैसा विनयपत्रिका, कवितावली, दोहावली, श्रीसीतारामनाम-प्रताप-प्रकाशादि ग्रन्थोंमें दिया है, उसे विचारना समझना यह निरूपण है । विनयपत्रिकामें, यथा—"राम (नाम) सुमिरन सब विधि ही को राज रे । राम को बिसारिबो निषेध सिरताज रे ॥ रामनाम महामनि फनि जगजाल रे । मनि लिये फनि जिये व्याकुल बिहाल रे ॥ रामनाम कामतरु देत फल चारि रे । कहत पुरान वेद पंडित पुरारि रे ॥ रामनामप्रेम परमारथ को सारु रे । रामनाम तुलसी को जीवन अधार रे ॥ ६७ ।', "राम राम राम जीय जौ लौं तू न जपिहै । तौ लौं जहां जैहै तहां तिहूँ ताप तपिहै । ६८ ।', "सुमिरु सनेह सों तू नाम राम राय को । संबरु निसंबरी को सखा असहाय को । भागु है अभागेहू को गुन गुनहीन को । गाहक गरीब को दयालु दानि दीन को ॥ कुल अकुलीन को सुने न कोउ माषिहै । पांगुरे को हाथ पांय, आँधरे को आँखि है ॥ माय बाप भूखे को, अधार निराधार को । सेतु भवसागर को हेतु सुख सार को ॥ पतित पावन रामनाम सों न दूसरो । सुमिरें सुभूमि भयउ तुलसी सो ऊसरो । ६९ ।' इत्यादि, विनयमें बहुतसे पद हैं उन्हें देखिये । कवितावली, यथा—'सोच संकटनि सोच संकट परत, जर जरत, प्रभाउ नाम ललित ललाम को । बूड़ियौ तरति बिगरीयो सुधरति बात, होत देखि दाहिनो सुभाउ विधि वाम को ॥ भागत अभाग अनुरागत विराग भाग जागत आलसी तुलसीहूँ से निकाम को । धाई धारि फिरि कै गोहारि हितकारी होति, आई मीचु मिटति जपत रामनाम को ॥ क० उ० ७५ ।' इत्यादि ।

"जिमि मोल रतन तें" इति ।

❀ दूसरा अर्थ—नामहीके यत्नसे नामनिरूपण करते-करते (नाममाहात्म्य कहते-कहते) हृदयस्थ ब्रह्म प्रगट हो जाता है । जैसे रत्नकी प्रशंसा करते-करते बिक जानेपर उससे मूल्य (द्रव्य) प्रगट हो जाता है । (मा० प०) ।

(१) पं० रामकुमारजीके भाव ऊपर दिये गए। और भाव ये हैं—

(२) रत्नको यदि हम जान लें कि यह पोखराज है, हीरा है, इत्यादि, तो नामके (जाननेके) कारण उसका बहुमूल्य होना प्रकट हो जाता है। ऐसेही नामको गुरु, शास्त्रों आदि द्वारा जानकर अभ्यास करनेसे ब्रह्मका साक्षात्कार होता है।

(३) रत्नमें उसका मूल्य गुप्त रहता है। यदि वह कुँजड़ेके हाथ पड़ा तो वह पत्थर ही समझता है, वह उसके गुणको क्या जाने? वही जौहरीके हाथ लगा जो उसका पारखी है तो उसका यथार्थ गुण और मोल प्रगट होता है कि हजार, लाख, करोड़⋯कितनेका है। वैसेही नाम रत्न है; उसके जापक ही (जो उसके स्वरूप, अर्थ और महत्त्वको जानते हैं) उसके पारखी हैं, जिनको पाकर ब्रह्मरूपी मोल नामसे प्रगट होता है।

इस दृष्टान्तसे भी नामको ब्रह्मसे बड़ा प्रामाणिक ठहराया। जैसे, रत्न मुहर रुपियासे दूसरी वस्तु मोल लेते हैं। जिससे मोल लेते हैं वह वस्तु बड़ी मानी जाती है; रत्न ऐसे भी होते हैं कि उससे राज्य तक मोल ले लेते हैं। इसी प्रकार नामरूपी रत्नके अभ्याससे नामीका प्रगट होना ही मानों नामीको नामसे मोल लेना है। यहाँ 'उदाहरण अलंकार' है।

(४) 'जैसे रत्नसे द्रव्य। अर्थात् जैसे किसी अज्ञके पास रत्न है, वह न तो उसका प्रभाव जानता है और न व्यवहार। जब किसी जौहरी द्वारा उसे बोध होगा कि यह बहुमूल्यका है तो उसकी दीनता जाती रहेगी। परन्तु दुःखारी बना है क्योंकि न तो वह उससे क्षुधाकी निवृत्ति कर सकता है, न ओढ़ सकता है। यह 'दुःख' तभी जायगा जब वह उसका 'यत्न' भी कर लेगा। अर्थात् जब वह उस रत्नको बेचकर उसका मोल प्रकट करके उस द्रव्यसे अन्न-वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थ लेगा। वैसेही नाम-रत्नके यथार्थ ऐश्वर्यको जाननेवाले संत सद्गुरु हैं। उनके द्वारा जब यह जीव निश्चय करके नामावलंबी होकर श्रीरामनामका रटन कीर्त्तन 'तथा तथ्य' करेगा तब यह 'हृदय अछत अन्तर्यामी व्यापक ब्रह्मभी प्रकट हो जायगा जिसका साक्षात्कार होनेसे वह मायादि-की परवशतारूप दीन दशा तथा जन्ममरणादि संसृति दुःखसे निवृत्त हो जायगा। यह रामनामका ऐश्वर्य है।" (श्रीनंगे परमहंसजी)।

(५) रत्नके परखनेसे अथवा रत्नका व्यापार करनेसे मोल प्रकट होता है। वैसे ही रामनामका अर्थ समझना उसका परखना है और जपना व्यापार है। मोल अर्थात् द्रव्य निर्गुण ब्रह्म है सो प्रकट हो जाता है। (मा० प्र०)।

(६) हृदयरूपी पर्वत कन्दरामें श्रीराम-ब्रह्म-रत्न रहते हैं और उन ब्रह्ममें ब्रह्मसुख रहता है। नामनिरू-पणयुक्त नाम जपनेसे ब्रह्मसुख प्रकट होता है। जीव रत्नी, सच्चिदानंद रत्न, नाम जौहरी, ब्रह्मानंद मोल है। (मा० मा०)।

(७) "जैसे मोल रत्नसे" का भाव यह है कि रत्न चाहे किसी भी गुह्य स्थलमें क्यों न हो पर यदि कोई मोल लेकर जावे तो उसको प्रगट मिलता है। (पं०)

(८) ऐसे समर्थ प्रभुके हृदयमें रहते हुए भी जीव क्यों दुःखी है, इसका समाधान 'नाम निरूपन⋯' में करते हैं। 'नाम निरूपण'—किस नामका? भगवान्‌के तो अनंत नाम हैं। हमारे अधिकारके अनुसार कौनसा भगवन्नाम हमारे उपयुक्त है, यह अधिकार-निर्णय-पूर्वक प्राप्त दीक्षा और साथ ही नामके स्वरूप, माहात्म्य आदिका ज्ञान, प्राप्त करके नाम जपना चाहिए। नाम-निरूपणसे दुःख दैन्य तो चला जाता है किन्तु आनन्दोपलब्धि नहीं होती। नामका जप करनेसे वह ब्रह्मस्वरूप प्रकट होता है। उसका अपरोक्ष साक्षात्कार होता है, ब्रह्मतत्व हृदयमें व्यक्त हो जाता है, इन्द्रियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, मनोनाश हो जाता है और हृदयका वह वासुदेव सचमुच अन्तःकरणमें देदीप्यमान हो उठता है⋯निर्गुण उपासकोंके लिये इस प्रसंगमें अत्यन्त

सुन्दर नामसाधनका निर्देश है। समस्त निर्गुण संतमत गुरुको परमात्मा मानते हैं और दीक्षापर उनका अत्यंत बल है। अतः इस निर्गुण साधनामें 'नाम निरूपण' से दीक्षा तत्व सूचित किया गया है। आगे सगुणोपासकके लिये दीक्षाका कहीं प्रतिबंध नहीं बताया है। (श्रीचक्रजी)

नोट—इस प्रसंगमें व्यापकादिगुणविशिष्ट ब्रह्म (अव्यक्त) के हृदयमें रहते हुएभी जीवका 'दीन दुखारी' होना तो बताया गया, परन्तु 'नाम निरूपण' पूर्वक नामजपद्वारा उसका प्रकट मात्र होना ही यहाँ कहा, जीवका सुखी होना स्पष्ट शब्दोंमें नहीं कहा गया। तो क्या यह समझा जाय कि जीव फिरभी दुःखी ही रहता है? नहीं। यहाँ प्रसंग केवल नामका अपार प्रभाव दिखानेका है, जीवके दुःखी सुखी होनेके कथनका नहीं। इस लिये सुखी होनेके विषयमें स्पष्ट उल्लेखका प्रयोजन नहीं। दूसरे यहाँ ब्रह्मके हृदयमें रहते हुए भी जीवका दुःखी होना और फिर नामजपसे उसका प्रकट होना कहनेसे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म विना 'नामनिरूपण नाम-यतन' के अप्रकट था, वह इस साधनसे प्रकट हुआ। जैसे पूर्व अप्रकट होना केवल आशयसे जनाया वैसेही यहां प्रकट होनेके कथनमात्रसे जीवका सुखी होना भी सूचित कर दिया गया है।

ब्रह्मका साक्षात् प्रकट होना, उसका हृदयमें साक्षात्कार होना एवं उसकी महिमाको जान लेना—ये सब अर्थ 'सोउ प्रगटत' के हो सकते हैं। इन तीनों प्रकारोंसे जीव सुखी होता है। प्रह्लादजीके लिये नामके साधन-से ही ब्रह्म प्रकट हुआ और वे सुखी हुए। साक्षात्कार तथा महिमाका ज्ञान होनेसे जीवके सुखी होनेका प्रमाण एक तो अनुभव ही है, दूसरे श्रुतिभी प्रमाण है। यथा—"जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः। श्वेताश्वतर ४।७।", 'तमात्मस्थं येनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्। श्वे० ६।१२।' अर्थात् उस परमात्माकी सेवा करनेसे जब जीव उसकी महिमाको जानता है तब उसका शोक नष्ट होता है। (४।७) अपने हृदयमें स्थित उस परमात्माका जब साक्षात्कार कर लेते हैं, तव उन्हींको नित्य सुख प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं।

दोहा—निरगुन तें येहि भांति बड़ नाम प्रभाउ अपार।
कहउँ नामु बड़ राम तें निज बिचार अनुसार ॥२३॥

अर्थ—इस प्रकार निर्गुण (ब्रह्म) से नाम बड़ा है और उसका प्रभाव अपार है। अब अपने विचारा-नुसार नामको रामसे बड़ा कहता हूँ ॥२३॥

नोट—१ 'एहि भांति' अर्थात् जैसा ऊपर दृष्टान्तों द्वारा 'रूप ज्ञान नहिं नाम विहीना। २१।४।' से लेकर 'नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें। २३।८।' तक उनके गुणोंको वताकर सिद्ध कर दिखाया है।

२—गोस्वामीजीने पूर्व कहा था कि "को बड़ छोट कहत अपराधू" तो यहाँ बड़ा कैसे कह दिया? इसके विषयमें पूर्व 'को बड़ छोट....' इस चौपाईमें भी लिखा जा चुका है। और यहाँ भी कुछ लिखा जाता है।

गोस्वामीजीने इस प्रश्नका उत्तर 'एहि भांति' इन दो शब्दोंमें स्वयं ही दे दिया है। पूर्व यह भी कहा था कि 'सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू' सो यहाँतक गुण कहकर दोनोंमें भेद बताया और कहते हैं कि इन गुणोंके भेदको समझकर हमारे मतमें जो आया सो हम कहते हैं, दूसरे जो समझें। भाव यह है कि तत्त्व-परत्वमें नाम-नामी सरिस हैं पर जो सौलभ्य आदि गुन नाममें हैं वे नामीमें नहीं हैं और नामहीसे नामीभी सुलभ हो जाता है। तत्व-परत्वमें, ऐश्वर्य्यपराक्रममें, दिव्यगुणों में नाम-नामीमें न कोई बड़ा है न कोई छोटा, दोनों समान हैं, इनमें छोटाई बड़ाई कहना अपराध है। उपासकोंको नाम सुलभ है; इस गुणसे वे नामको बड़ा कहते हैं।

गोस्वामीजीने यह विचार जहाँ-तहाँ अन्य स्थलोंपरभी दर्शित किया है, यथा "प्रिय न रामनाम तें जेहि रामो। भलो तासो कठिन कलिकालहु आदि मध्य परिनामो॥ नाम ते अधिक नाम करतव जेहि किये नगर गत गामो। वि० २२८।' श्रीहनुमानजीनेभी ऐसा ही कहा है, यथा—"रामत्वत्तोऽधिकं नाम इति मे निश्चला मतिः। त्वया तु तारिताऽयोध्या नाम्ना तु भुवनत्रयम्" (हनुमत् संहितायाम्)। अर्थात् हे श्रीरामजी! मेरा निश्चल मत है कि आपका नाम आपसे बड़ा है। आपने तो एक अयोध्यामात्रको तारा और आपका नाम तीनों लोकोंको तारता है। अतएव गोस्वामीजीसे रहा न गया; उन्होंने कह ही डाला।

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि—ग्रंथकारका आशय यह मालूम होता है कि उनको जो ईश्वरकी प्राप्ति हुई है वह न निर्गुणसे और न सगुणसे, किन्तु केवल नामद्वारा हुई है। अतएव वे नामहीको सबसे बड़ा मानते हैं।

बाबा जानकीदासजी कहते हैं कि—(क) "गोस्वामीजीने श्रीरामजीके दो स्वरूप दिखाये हैं। जब उन्होंने नामका स्वरूप कहा तब नाम-नामीका अभेद कहा और जब नामका अंग कहने लगे तब कहते हैं कि रामसे नाम बड़ा है। श्रीरामजीके दो स्वरूप हैं—पर और अपर। श्रीमनुशतरूपाजीके लिये जो अवतार हुआ यह पर है, क्योंकि यह ज्योंका त्यों प्रादुर्भूत हुआ है उन्हींके नामकी वन्दना स्वरूप, अंग और फल कहकर की। अन्य तीन कल्पोंके अवतारकी कथा जो आगे कही है वे अवर स्वरूप हैं; क्योंकि उनमें श्रीमन्नारायण और वैकुंठवासी विष्णु भगवान् श्रीरामस्वरूपसे अवतरे हैं। गोस्वामीजीने सूक्ष्मरूपसे दोनों स्वरूप यहाँ दिखाये। जब उन्होंने कहा कि 'बंदौं नाम राम रघुबर को' और फिर कहा कि 'समुझत सरिस नाम अरु नामी', तब पर स्वरूप दिखाया। और जब कहा कि 'अगुण सगुण' से नाम बड़ा है तब कहते हैं—"कहउँ नाम बड़ राम तें'। सगुण राम अवर स्वरूप हैं। यदि उन्हीं रामसे बड़ा कहें जिनकी वन्दना करते हैं तो ठीक नहीं; क्योंकि इसमें दो विरोध पड़ते हैं—एक तो पूर्व नाम-नामीको सरिस कहा, दूसरे अगुण-सगुणसे नामको बड़ा कहते हैं। यहाँ प्रकरण अगुण-सगुणका है, सगुण रामसे बड़ा कह रहे हैं। 'बंदौं नाम राम रघुबर' वाले 'राम' का यहाँ न प्रकरण है न प्रयोजन ही। (मा० प्र०)। (ख) क्षीरशायी आदि तथा साकेताधीश परात्पर ब्रह्म रामके अवतारोंके प्रमाण ये हैं—'ज्ञात्वा स्वपार्षदौ जातौ राक्षसौ प्रवरौ प्रिये। तदा नारायणः साक्षाद्रामरूपेण जायते॥१॥ प्रतापी राघवसखा भ्रात्रा वै सह रावणः। राघवेण तदा साक्षात्साकेतादवतीर्यते। २।', "भार्गवोऽयं पुरा भूत्वा स्वीचक्रे नामतो विधिः। विष्णुर्दाशरथिर्भूत्वा स्वीकरोत्यधुना पुनः।१। संकर्षणस्ततश्चाहं स्वीकरिष्यामि शाश्वतम्। एकमेव त्रिधा जातं सृष्टिस्थित्यन्तहेतवे। २।" (मा० प्र०) अर्थात् अपने दो श्रेष्ठ पार्षद राक्षस हो गए हैं यह जानकर साक्षात् नारायण श्रीरामरूपसे प्रगट होते हैं। १। श्रीरामजीका सखा प्रतापी जब भाई सहित आकर रावण होता है तब साकेतलोकसे साक्षात् श्रीरामजी उनके उद्धारके लिये अवतीर्ण होते हैं। २। (शिव सं०)। पूर्वकालमें विष्णुभगवान् भार्गवरूपसे प्रगट हुए थे फिर दाशरथी होकर वही (राम) नाम स्वीकार किया है।१। इसीप्रकार मैं संकर्षण नामसे प्रकट होऊँगा। एकही ब्रह्म सृष्टि-स्थिति-संहारके लिये तीन रूप हुआ है।

नोटः—३ 'नाम प्रभाउ अपार'। राम नाम मंत्रमें यह भारी प्रभाव है कि निर्गुण ब्रह्मको प्रगट करके जीवोंका कल्याण करते हैं; इसी कारण 'नाम प्रभाउ अपार' कहा और निर्गुणसे नामको बड़ा कहा, क्योंकि उसीके प्रभावसे वह प्रकट होता है। वह स्वयं अपनेको व्यक्त नहीं कर पाता और न दुःख दीनताको मिटा सके। नामने स्वयं को प्रकाशित किया, हृदयको शुद्ध किया, इन्द्रियनिग्रह किया और मनोनाश सम्पन्न किया। इसके पश्चात् ही ब्रह्मतत्व प्रकाशित हुआ अर्थात् ब्रह्मतत्वकी अनुभूतिमें बाधक मंत्र, विक्षेप आवरण के तीनों पर्दे दूर किये। (श्रीचक्रजी)

४ "कहउँ नाम बड़ राम तें......" इति। (क) अर्थात् अब इसका प्रतिपादन करूँगा कि सगुण ब्रह्म रामसे

भी नाम बड़ा है। (ख) नाम और नामीमें अभेद कह आए हैं—'समुझत सरिस नाम अरु नामी'। इससे नामका महत्वाधिक्य नहीं सिद्ध होता है। अतः गोस्वामीजी नामको रामसे बड़ा बताते हुए कहते हैं कि यह शास्त्रीय बात नहीं है। यह वर्णन तो मेरे विचारके अनुसार है। 'नाना पुराण निगमागम संमतम्' की बात नहीं है; यहाँ 'कचिदन्यतोऽपि' की बात है (श्रीचक्रजी)।

राम भगत-हित नर-तनुधारी। सहि संकट किय साधु सुखारी॥ १॥
नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होंहिं मुद मंगल बासा॥ २॥

शब्दार्थ—संकट=दुःख, क्लेश। सुखारी=सुखी। अनयास (अनायास)=बिना परिश्रम, सहजही। बास=निवास स्थान, रहनेकी जगह।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी भक्तोंके लिये मनुष्य-शरीर-धारी हुए और दुःख सहकर उन्होंने साधुओंको सुखी किया।१। पर, भक्त नामका प्रेमसहित जपते-जपते बिना परिश्रमही आनन्द मंगलके निवास स्थान हो जाते हैं।२।

नोट—१ यहाँसे ग्रंथकार उपर्युक्त वचन 'कहउँ नाम बड़ राम तें को अनेक प्रकारसे पुष्ट करते हैं। 'राम भगत हित''''।२४।१।' सातों कांडोंका बीज है। २४ (२) "नामु सप्रेम जपत" के चरण मूल सूत्रके समान हैं जिनकी व्याख्या आगे दो दोहों में है।

२ 'भगत हित नर तनु धारी', यथा—'तेहिं धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी। १।१३।', 'सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किये प्रगट प्रहलादा। अ० २६५।', 'राम सगुन भए भगत प्रेम बस।', 'सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी। १।५१।', 'भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तन भूप। ७। ७२।' दोहा ११६ (२) भी देखिये।

टिप्पणी—१ 'नर तनु धारी' इति। भाव यह कि नरतन धरनेमें हीनता है। यही समझकर नारदजीने शाप दिया कि 'बंचेहु मोहिं जवनि धरि देहा।''''।१।१३७।' यदि नरतन धरना उत्तम होता तो यह शाप क्यों कहलाता? श्रीरामचन्द्रजीको तन धरना पड़ा, इस कथनका भाव यह है कि वह तन सनातन (सदा) यहाँ नहीं रहता और नाम सनातन बना रहता है। सो वे रामजी 'तनधारी' हुए, अर्थात् अपनी प्रतिष्ठासे हीन हुये, ईश्वरसे नर कहलाये, बड़ा परिश्रम करके अनेक शत्रुओंसे लड़कर साधुओंको सुखी किया'''।"

नोट—३ विष्णु भगवान्, वैकुंठ भगवान् और क्षीरशायी श्रीमन्नारायण चतुर्भुज हैं; इनका नरतन धारण करना यह है कि चतुर्भुजरूपसे द्विभुज रामरूप धारण करते हैं। वैकुंठादि स्थानोंको छोड़कर पृथ्वीपर अवतीर्ण होते हैं। और, साकेत विहारी परात्पर परब्रह्म राम नित्य द्विभुज हैं। नारदपंचरात्र, आनन्दसंहिता, सुन्दरीतंत्र आदिमें इसके प्रमाण हैं, यथा—"आनन्दो द्विविधः प्रोक्तो मूर्त्तश्चामूर्त एव च। अमूर्तस्याश्रयो मूर्तः परमात्मा नराकृतिः।" (पंचरात्र), "स्थूलं चाष्टभुजं प्रोक्तं सूक्ष्मश्चैव चतुर्भुजम्। परं च द्विभुजं रूपं तस्मादेतत्त्रयं यजेत्।" (आनंदसंहिता), "ययौ तथा महाशम्भू रामलोकमगोचरम्। तत्र गत्वा महाशम्भू राघवं नित्य विग्रहम्। ददर्श परमात्मानं समासीनं मया सह। सर्वशक्तिकलानाथं द्विभुजं रघुनंदनम्॥ द्विभुजाद्राघवान्नित्यात्सर्वमेतत्प्रवर्तते।" (सुंदरी तंत्र), "यो वै वसति गोलोके द्विभुजस्तु धनुर्धरः। सदानन्दमयोरामो येन विश्वमिदं ततम्॥" (सदाशिवसंहिता)। (वाल्मी० १। १। १ शिरोमणिटीकासे उद्धृत)। इन प्रमाणोंसे स्पष्ट है कि श्रीरामजी नित्य द्विभुज नराकृति है। उनके 'नर-तनधारी' कहनेका भाव यह है कि साकेतसे पृथ्वीपर आविर्भाव होनेपर वे अपने चिदानंदमय शरीरमें प्राकृत नरवत् बाल्य, युवादिक अवस्थाएँ ग्रहण करते हैं और मनुष्य सरीखे नरनाट्य चरित करते हैं। दूसरा भाव ऊपर टिप्पणीमें दिया गया है।

४ "सहि संकट", यथा—"अजिन बसन फल असन महि, सयन डासि कुस पात। बसि तरु तर नित सहत हिम आतप बर्षा बात॥ अ० २११।"

५ यहाँ 'राम' से नाममें विशेषता जनानेके लिये ग्रन्थकारने एकके साथ 'नरतनुधारी' और 'सहि संकट' शब्दोंका और दूसरेके लिये 'अनयास' शब्दका प्रयोग किया है। भाव यह कि श्रीरामजीने अवतार लिया और वनगमन तथा दुष्टोंके दलनमें अनेक कष्ट झेले तब त्रेतामें साधुओंको सुखी कर सके और नाम महाराज विना परिश्रम केवल सप्रेम उच्चारण करने ही से मुद-मंगलका घर ही वना देते हैं कि स्वयं आनंद लूटें और दूसरोंको भी सुख दें, तरें और तारें।

श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि—(क) इस प्रसंगमें जो एक गुण रूपमें कहा है वही नाममें अनंत कहा है। क्योंकि जो गुण रूपमें होता है वही नामद्वारा लोकमें प्रसिद्ध होता है। पुनः, नामकी जो प्रशंसा होती है वह रूपमें स्थित होती है; जैसे भक्तमालमें भक्तोंके नामकी प्रशंसा सुनकर सब उनके रूपको धन्य मानते हैं। नाममें विशेषता यह है कि रूप तो एक समय प्रसिद्ध और एक स्थलमें स्थित था। जो-जो गुण उस रूपमें स्थित हैं, अर्थात् अवतार लेकर जो श्रीरामजीने नरनाट्य करते हुए लीलामात्र दुःख सहकर लोगोंको सुखी कर अपने गुण प्रकट किये, उन्हीं गुणोंको लेकर नाम दशों दिशाओंमें चला। जैसे एक मूल (वा, वीज) से कोई वेल ज्यों-ज्यों फैलती है त्यों-त्यों उसकी शाखाएँ वढ़ते-वढ़ते अनंत हो जाती हैं जिससे उनके दल, फूल, फल आदिसे लोकका कल्याण होता है। इसी तरह नाम-जप-स्मरणादिसे लोकमात्रका भला है जिससे उस गुणकी अनंत देशों-स्थलोंमें प्रशंसा होती है। यही गुणका नाममें अनंत होना है। रूप मूल है, नाम वेल है, गुण शाखा है, गुणका सर्वत्र नामद्वारा फैलना उसका अनंत होना है; नामका जप-स्मरण आदि उस वेलके दल, फूल; फलादिका सेवन करना है। (ख)—'नाम सप्रेम जपत····' इति। पूर्व अर्धाली 'राम भगत हित····' के अन्तर्गत यावत् गुण (उदारता, वीरता आदि) हैं, वे सब नाममें हैं। नामके भीतर रूपका प्रभाव सदा रहता है, यह लोकमें प्रसिद्ध देखा जाता है, क्योंकि धर्मात्माओं का नाम लोग स्मरणकर अपने अपने व्यापारमें लगते हैं, अधर्मीका नाम कोई नहीं लेता।

६ यहाँसे लेकर 'नामप्रसाद सोच नहीं सपने। २५। ८।' तक 'अर्थान्तरन्यास लक्षण' अलंकार है। क्योंकि पहले साधारण वात कहकर उसका समर्थन विशेष उदाहरणसे किया गया है। पं० महावीरप्रसाद वीरकवि लिखते हैं कि "यहाँ उपमान रामचन्द्रसे उपमेय रामनाममें अधिक गुण कहना कि रामचन्द्रजीने नर तन धारण किया...। यह व्यतिरेक अलंकार है।"

राम एक तापस-तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥ ३॥

शब्दार्थ—एक=केवल, गिनतीका एक। तापस=तपस्वी (यहाँ गौतम ऋषिसे तात्पर्य है)। तापस-तिय= गौतम ऋषिकी स्त्री, अहल्या। सुधारी=शुद्ध किया, भगवत्‌विमुखका भगवत्‌सन्मुख करना, सन्मार्गपर लगाना 'सुधारना' है। तारना=उद्धार करना, सद्गति देना, भवपार करना।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने एक तपस्वी गौतमकी (वा, एक तपस्विनी) स्त्री ही को तारा और नामने करोड़ों दुष्टोंकी कुमतिको सुधारा। ३।

नोट—१ अहल्याजीकी कथा दोहा २१० (१२) में देखिए। संक्षिप्त कथा यह है कि इन्द्र इसके रूपपर मोहित था। एक दिन गौतमजीके वाहर चले जानेपर वह उनके रूपसे अहल्याके पास आया और उसके साथ रमणकर शीघ्र चलता वना। उसी समय मुनि भी आ गये। उसे अपना रूप धारण किये देख उससे पूछा कि तू कौन है और जाननेपर कि इन्द्र है, उन्होंने उसे शाप दिया। फिर आश्रममें आकर अहल्याको शाप दिया कि तू पाषाण होकर आश्रममें निवास कर। जब श्रीरामजी आकर चरणसे स्पर्श करेंगे तब तू पवित्र होकर अपना रूप पायेगी।

नोट—२ पहलेमें 'एक' और वहभी 'तपस्वी' ऋषिकी स्त्री, और दूसरेमें 'कोटि' और वह भी 'खल' (दुष्टों) की कुमतिरूपिणी स्त्री कहकर दूसरेकी विशेषता दिखाई। 'तापस-तिय' से जनाया कि तपस्वी स्त्री तो तरने योग्यही है, उसका तारना क्या ! अधमका तारना काम है। रूपकी प्राप्ति सब काल अगम है और नाम सर्वत्र सुलभ है, इसीसे यह अनंत लोगोंका उद्धार करता है।

सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि "अहल्या अज्ञातसे परपुरुष-संग करनेसे दुष्ट हुई थी। यह खलोंकी कुमतिरूपी स्त्री परनिन्दादि अनेक दोषोंसे भरी हुई होती है। इस लिये एक और कोटि में जितना अन्तर है उतना ही रामब्रह्म और उनके नाममें अन्तर है किंतु अहल्यामें अल्प दोष और खलकुमतिमें अधिक दोष होनेसे कोटि-अधिक दोष-निवृत्ति करनेवाला नाम, एक—अल्पदोषयुक्त अहल्याके तारनेवाले रामसे अनन्तगुण अधिक है।"

श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि अहल्याने इन्द्रको अपना पति समझकर ही उनकी सेवा की, उसकी बुद्धिमें कोई दुर्भावना न थी। गौतमने उसे शाप दिया कि तेरी बुद्धि पत्थरके समान है। तू देवता और मनुष्यका भेद न जान सकी, तू पत्थर हो जा। देवताओंकी परछाइं नहीं पड़ती, अहल्याने इस ओर ध्यान नहीं दिया था। अहल्याका यह दोष बौद्धिक प्रमाद था, ऐसी भूलें अच्छे बुद्धिमानोंसे हो जाया करती हैं। वह पाषाण हो गई किन्तु थी वह पवित्र। नामकी स्थिति दूसरी है। नामने जिनका उद्धार किया वे सब 'खल' थे, जान बूझकर दुष्टता करना उनका स्वभाव था। उनकी बुद्धि 'कुमति' थी। उसमें प्रमाद नहीं था....वह तो कुकर्मको ही ठीक बतानेवाली थी। [पर वाल्मीकीयके अनुसार अहल्याने जानबूझकर यह घोर पाप किया था। यथा—'मुनिवेषं सहस्राक्षं विज्ञाय रघुनंदन। मतिं चकार दुर्मेधा देवराजकुतूहलात्। १।४८।१९।' इतना ही नहीं किन्तु उसने इस कर्मसे अपनेको कृतार्थ माना। यथा—'अथाब्रवीत्सुरश्रेष्ठं कृतार्थेनान्तरात्मना। कृतार्थास्मि....।२०।' इसीसे गोस्वामीजीने आगे 'कृत अघ भूरी' शब्द उसके लिए लिखे हैं। अ० र० में केवल इतना लिखा है कि इन्द्रने गौतमके रूपसे उसके साथ रमण किया। अहल्याने जाना या नहीं, इस सम्बन्धमें कुछ नहीं लिखा है।]

नोट—३ यहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ बराबर होनेसे 'तुल्य प्रधान गुणीभूत व्यंग है' (वीर कवि)

श्रीबैजनाथजी—(क) दिशायें दस हैं। इसीसे अब यहाँसे केवल दश गुण नामद्वारा कहेंगे। अहल्याके उद्धारमें 'उदारता' गुण प्रकट हुआ। देश-काल, पात्र-अपात्र कुछ भी न विचारकर निःस्वार्थ याचकमात्रको मनोवांछित देना उदारता है। यह गुण इसी चरितमें है क्योंकि वह तो पाषाण थी, न तो दर्शन ही कर सकती थी और न प्रणाम। औरोंके उद्धारमें दर्शन या प्रणामादि कुछ हेतु प्रथम हुए तब उनका उद्धार हुआ। और अहल्यामें वे कोई हेतु न थे; उसका उद्धार निःस्वार्थ और निर्हेतु था। यथा—'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित दयाल।१।२११।' (ख) उदारता-गुण, यथा भगवद्गुणदर्पणे "पात्राऽपात्राविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यंवचसा हरेः॥ (अर्थ ऊपर आगया है)।

नोट— ४ यहाँसे नाम-साधनाका क्रम चलता है। मनुष्यकी बुद्धि ही दूषित होती है। दुष्टता-अपकर्मकी जड़ बुद्धि है। बुद्धि बुरे कर्मोंमें भलाई देखने लगती है। पाप करनेमें सुखानुभव होता है और उसीमें उन्नति जान पड़ती है। भगवन्नामके जपसे वह दुर्बुद्धि प्रथम सुधरती है। पाप कर्मोंमें दोष दीखने लगता है। स्वभाववश अपनी दुर्बलताके कारण वे छोड़े भलेही न जा सकें, परन्तु उनमें पतन दीख पड़ता है। वे अनुचित हैं, उनसे हानि होती है, ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। बुद्धि धोखा नहीं देती। दुष्कृत्य करके पश्चात्ताप होता है। इस प्रकार नाम-जप बुद्धिको पहले विशुद्ध करता है। (श्रीचक्रजी)।

रिषि हित राम सुकेतु-सुता की। सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी॥ ४॥
सहित दोष दुख दास दुरासा। दलइ नाम जिमि रबि निसि नासा॥ ५॥

शब्दार्थ—सेन=सेना। बिबाकी=बे+बाकी=निःशेष, समाप्त। दलइ=दलता, नष्ट करता है।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने तो विश्वामित्रजीके लिये सुकेतु यक्षकी कन्या (ताड़का) को सेना और पुत्र समेत समाप्त किया। ४। पर नाम दासों की दुराशाओंको दुःख-दोषसहित इस तरह नाश करता है जैसे सूर्य्य रात्रिका (नाश बिना श्रम सहज ही कर डालता है)। ५।

नोट—१ 'रिषि हित' इति। (क) ऋषिसे श्रीविश्वामित्रजीका तात्पर्य है, क्योंकि इन्हींके लिये ताड़का आदिका वध किया गया। (ख) वीरोंके लिये स्त्रियोंका वध 'निषिद्ध' है; इस लिये 'रिषि हित' मारना कहकर सूचित किया कि मुनिकी आज्ञासे उनके हितके लिये उसे मारा। ऋषिकी रक्षा न करनेसे क्षत्रियधर्ममें बट्टा लगता। अतएव दोष नहीं है।

२ सुकेतु एक बड़ा वीर यक्ष था। इसने सन्तानके लिए बड़ी तपस्या करके ब्रह्माजीको प्रसन्न कर लिया। उनके वरदानसे इसके ताड़का कन्या हुई जिसके हजार हाथियोंके सदृश बल था। यह सुंदको व्याही थी। मारीच इसका पुत्र था। जब सुंदको महर्षि अगस्त्यने किसी बात पर क्रुद्ध होकर शाप देकर मार डाला, तब यह अपने पुत्रोंको लेकर ऋषिको खाने दौड़ी, उस पर दोनों उनके शापसे घोर राक्षस योनिको प्राप्त हुए। तबसे यह विश्वामित्रके आश्रममें मुनियोंको दुःख दिया करती थी। (वाल्मीकीय)। विशेष १।२०९ (५)में देखिये।

३ "सहित सेन सुत कीन्हि बिबाकी" इति। श्रीरामजीने ताड़का और सुबाहुको मारा पर मारीचको बचा दिया था, यथा—"बिनु फर बान राम तेहि मारा। सत जोजन गा सागर पारा।१।२१०।" इस विचारसे दो एक टीकाकारोंने 'बिबाकी' का भाव यह लिखा है कि—(क) वि=पक्षी। 'बिबाकी' पद देकर जनाया कि उड़नेवाला मारीच बाक़ी रह गया। (सू० मिश्र)। (ख) मारीचको विशेष बचा रक्खा (मा० मा०)। पर यह अर्थ चौपाईमें लगता नहीं। 'सुत' से 'सुबाहु' ही ले लिया जाय तोभी हर्ज नहीं। आश्रममें एकभी न रह गया वहाँसे सबको निःशेष कर दिया।

४ "सहित दोष दुख दास दुरासा....." इति। यहाँ ताड़का उसके पुत्र और सेना क्या हैं? उत्तर—(क) दासकी बुरी आशायें, दुर्वासनाएँ, ताड़का हैं। जैसे, ताड़का ऋषिका अनहित करती थी, वैसे ही दुराशा दासके विश्वासको जड़से उखाड़ फेंकती है। जब भक्त औरोंकी आशा करने लगा तब जान लो कि उसका विश्वास जाता रहा, और "बिनु बिश्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न राम।" इसी प्रकार, "अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि दारुन आस पिसाची" (वि० १६३) में आशाको पिशाची कहा है। जब आशा नहीं रहती तब हृदय निर्मल रहता है, यथा—"बिनु घन निर्मल सोह अकासा। हरिजन इव परिहरि सब आसा। कि० १६।" पुनः यथा—"जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे। प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे। वि० १६८।" (ख) वहाँ ताड़काके दो पुत्र मारीच और सुबाहु, यहाँ दुराशाके दो पुत्र, दोष और दुःख। दुराशा-से दोष और दुःख उत्पन्न होते हैं। (ग) सेनाका लक्ष्य 'सहित' शब्दसे ध्वनित हो सकता है। सहित=स+हित=हितके सहित=हितैषी जो सेना उसके समेत। "काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि"—यही दुःख-दोषकी उत्साह बढ़ानेवाली सेना है।

नोट—५ यहाँ नाममें विशेषता दिखानेके विचारसे एकमें 'ऋषिहित', 'सुकेतुसुता' और 'बिबाकी' और दूसरेमें 'दलइ जिमि रबि निसि नासा' शब्दोंका प्रयोग हुआ। भाव यह कि विश्वामित्र ऋषिकी आज्ञासे उनके हितके लिए मारा; समस्त अस्त्र-शस्त्रविद्यामें निपुण और फिर ऋषि! वे तो स्वयं मार सकते थे, ये तो केवल निमित्त मात्र हुए। पुनः, ऋषिहितमें अपनाभी स्वार्थ सिद्ध होना था, क्योंकि न मारते तो गुरु और पिता दोनोंकी अवज्ञा होती और जनकपुरमें विवाह क्योंकर होता? 'सुकेतुसुता' से सूचित किया कि उसका पतिभी न था, वह विधवा थी (नहीं तो पतिका नाम देते)। पुनः, मारीच मारा न गया वह बच रहा था और यहाँ दोष

दुःख दुराशा तीनोंमेंसे कोईभी शेष नहीं रह जाता, जैसे सूर्यके उदयसे रात्रिका नामोनिशानभी नहीं रह जाता। पुनः सूर्य लाखों योजन दूर होनेपर भी विना परिश्रम अंधकारका नाश करता है, वैसेही नाम दूरहीसे सब काम कर देता है। रामचन्द्रजीने तो निकट जानेपर इन्हें मारा, पर नाम महाराज तो इन्हें निकट ही नहीं आने देते।

श्रीचक्रजी—(क) श्रीरामद्वारा केवल उपस्थित विघ्नका नाश हुआ। आगे कोई राक्षस विघ्न न करेगा ऐसी कोई बात यहाँ तक नहीं हुई। नाम जापकके धर्मकी सदाके लिये निर्विघ्न रक्षा करता है। मनुष्यके धर्ममें बाधक हैं उनके दोष, और दोष आते हैं दुःखके भयसे। दुःखसे छूटकर सुख पानेकी दुराशासे ही मनुष्य दोष करता है। (ख) पूर्व कह आए कि नामके जपसे प्रथम बुद्धि शुद्ध होती है। पर बुद्धि शुद्ध होनेपर भी उसके निर्णयके विपरीत असत्कर्म अभ्यास-लोभादि अनेक कारणोंसे हो सकते हैं। अतः यहाँ बताते हैं कि नामजपका दूसरा स्तर है 'दोषोंका नाश'। बुद्धिके निर्णय कार्यमें आने लगते हैं। असत्कर्म, असदाचरण, अनीति, अन्याय छूट जाता है। (ग) दोषोंके छूट जानेपर भी मनमें अभावजन्य दुःख रहता है। पदार्थोंके मिलने या नष्ट होनेपर मनमें सोच होना दोषोंका बीज है। नामजप इस दुःखको नष्ट कर देगा। इस तीसरे स्तरमें जापक प्रभुका विधान एवं प्रारब्ध समझकर सदा सन्तुष्ट रहता है। (घ) दुःखके पश्चात् भी दुराशा रहती है। साधक अपने साधनके फलस्वरूप अनेक कामनाएँ प्रभुसे करता है, यह भी दुराशा है। नाम इस दुराशाका नाश करता है। जापक किसी लौलिक पारलौकिक वैभवमें सुखकी आशा नहीं करता। सुखाशा न रहनेपर उधर आकर्षण हो नहीं सकता। इस तरह नाम जापकके धर्मकी सदाके लिये रक्षा करता है।

वैजनाथजी—यहाँ 'रिषिहित···बिबाकी' में प्रभुका 'वीर्य' (वीरता) गुण दिखाया है। क्योंकि अभी एक तो किशोरावस्था थी, दूसरे बालकेलिके धनुष-बाण धारण किये हुए हैं, तीसरे साधारण भी युद्ध अभी तक नहीं देखा था और चौथे एकाएक विकट भटोंका सामना पड़ गया तबभी मुखपर उदासीनता न आई, मुख प्रसन्न ही बना रहा। इत्यादि, मनमें उत्साहसे वीररसकी परिपूर्णता है। (ख) भगवद्गुणदर्पणे यथा "वीर्यं चाक्षीणशक्तित्वं वर्द्धमानातिपौरुषम्। अपि सर्वदशास्थस्य रामस्याविकृतिश्च तत्॥", "त्यागवीरो दयावीरो विद्यावीरो विचक्षणः। पराक्रम महावीरो धर्मवीरः सदास्वतः॥ पंचवीराः समाख्याता राम एव स पंचधा। रघुवीर इति ख्यातिः सर्ववीरोपलक्षणा॥" अर्थात् श्रीरामजीकी शक्ति कभी क्षीणत्वको प्राप्त नहीं हुई, सदा अक्षीण है, उनका पौरुष अत्यन्त वर्द्धमान होता है और सर्व दशाओं में वे निर्विकार रहते हैं—इसी गुणको वीर्य कहते हैं। कोई त्यागवीर होता है, कोई दयावीर, कोई विद्यावीर, कोई पराक्रममें महावीर और कोई धर्मवीर ही होता है पर श्रीरामजी इन पाँचों वीरताओंमें परिपूर्ण हैं। 'रघुवीर' यह कथन पाँचों वीरोंका उपलक्षण है, अर्थात् पाँचों वीरताओंसे युक्त होनेसे 'रघुवीर' कहा गया है। (ग) इस प्रसंगमेंभी पाँचों वीरतायें हैं—पिताकी आज्ञा, ऋषिका हित और यज्ञकी रक्षामें 'धर्मवीरता'। ऋषियोंको खल सताते थे, उनकी करुणा मिटानेके लिये 'दयावीरता'। युद्धमें प्रसन्नतासे 'युद्ध वीरता'। माता-पिताके त्यागमेंभी प्रसन्न बने रहनेमें 'त्यागवीरता'। एक ही बाणसे सुबाहुको जला दिया इत्यादिमें 'बाण-विद्या-वीरता'। ये रूपमें प्रकट हुईं। यही सब गुण नामद्वारा संसारभरमें विस्तृत हुए। (घ) 'दलइ नाम जिमि रबि···' में तेज गुण दिखाया। शौर्य, वीर्य और तेज ये 'प्रताप' के ही अंग हैं।

नोट—६ "प्रथम ताड़का-वध है दूसरे उसमें ऋषिका हितभी है; उसको पहले न कहकर यहाँ प्रथम अहल्योद्धार कहा गया, यह क्रम-भंग क्यों? यह शंका उठाकर उसका समाधान यों किया गया है कि—(क) प्रभुका सर्वोत्तम गुण 'उदारता' एवं 'कारण-रहित कृपालुता' है जो अहल्याके उद्धारमें पूर्ण रीतिसे चरितार्थ हुआ, औरोंके उद्धारमें कुछ न कुछ स्वार्थभी लक्षित हो सकता है। पुनः (ख) इससे श्रीरामचन्द्रजीका ऐश्वर्य और ब्रह्मत्वभी प्रगट होता है, यथा—'सखि इन्ह कहँ कोउ कोउ अस कहहीं। बड़ प्रभाउ देखत लघु अहहीं।' बा० २२३।', "परसि जासु पदपंकज धूरी। तरी अहल्या कृत अघ भूरी"। पुनः, वह ब्रह्माजीकी कन्या, गौतम महर्षि-

की पत्नी और पंचकन्याओंमेंसे है। ❀ अतएव सब प्रकार मांगलिक जान उसको प्रथम कहा। पुनः, (ग) यहाँ प्रकरणके विचारसे क्रमभंग नहीं है। यह नामयशका प्रकरण है, रामयशका नहीं। अतः प्रधानता नामचरित्रकी है, रामचरित्र तो एक प्रकार दृष्टान्तमात्र है। यदि दुराशाके नाशके पीछे कुमतिका सुधरना कहते तो क्रम उलटा हो जाता; क्योंकि बिना कुमतिका सुधार हुए दुराशाका नाश असंभव है। यहाँ वही क्रम रक्खा गया है जो भवनाशका है। अर्थात् इसमें प्रथम कुमतिका सुधार होता है तब दुराशा एवं दुःखदोषका नाश होता है और तभी भवभय छूटता है। कुमतिके रहते दुराशा आदि तो बढ़ते ही जाते हैं जिससे भवभय छूट ही नहीं सकता। श्रीरामनामके प्रतापसे कुमति, दुराशा आदिका क्रमशः नाश होता है। आगे भवनाश कहते ही हैं। दोहा २८ (८) टिप्पणी देखिये। पुनः, (घ) प्रभुने अवतार लेकर प्रथम उदारता गुण ही प्रकट किया कि जीवमात्रको भवसागरसे पार कर दें, तब वेदोंने आकर प्रार्थना की कि मर्यादा न तोड़िये, जो कोई किंचित् भी भक्ति करे उसीका उद्धार कीजिए, तब प्रभुने प्रतिज्ञा की कि जो तन-मनसे रूपके दर्शनमात्र या नामका उच्चारणमात्र करे उसका उद्धार कर देंगे। ऐसा भगवद्गुणदर्पणमें कहा है। निर्हेतु उद्धार अहल्याहीका है—यह उदारता गुण इसीमें प्रकट हुआ। इस लिये उसीको प्रथम रक्खा। (वैजनाथजी)।

भंजेउ राम आपु भवचापू। भव-भय-भंजन नाम-प्रतापू॥ ६॥

शब्दार्थ—भंजना=तोड़ना। आपु=स्वयं, अपने ही से। भव=शिवजी। चाप=धनुष। भव=संसार; जन्ममरण, आवागमन।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं ही 'भव' (शिवजी) का धनुष तोड़ा और नामका प्रताप आप ही 'भव'-भयको नाश कर देने वाला है॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) भव-चाप श्रीरामजीसे ही टूटा, वैसेही भव-भयका नाश श्रीरामनामही करते हैं, अन्य कोई नहीं कर सकता। 'भव-चाप' से 'भव-भय' अधिक है। (ख) यहाँ नाममें यह विशेषता दिखाई कि श्रीरामजीको जनकपुर स्वयं जाना पड़ा तब धनुष टूटा, ऐसा नहीं हुआ कि उनकी दृष्टि पड़नेसे ही वह टूट जाता, और यहाँ 'नाम' महाराजका प्रताप ही सब काम कर देता है। पुनः, भव-भय अति दुस्तर है, नाम उसे नाश ही कर डालता है जैसा प्रह्लादजीने कहा—"रामनाम जपतां कुतो भयम्।' क० उ० ७० में भी नामके प्रतापको प्रभुसे बड़ा कहा है, यथा—'प्रभुहू तें प्रबल प्रताप प्रभु नाम को।" [(ग) 'भव' शब्द ध्यान देने योग्य है। शंकरजीने इस धनुषसे त्रिपुरका विनाश किया था। यह दण्ड एवं भयका प्रतीक है। 'भवभय'—शंकरजीके और भी भयदायक आयुध हैं जिनमें त्रिशूल मुख्य है। श्रीरामजीने एक धनुष तोड़ा पर उनके त्रिशुल आदि अन्य भयप्रद आयुध बने ही रहे। और नामका प्रताप 'भवभय' को ही नष्ट कर देता है, आयुध रहें तो रहा करें, किंतु वे भयप्रद नहीं होते। शंकरजी प्रलयके अधिष्ठाता हैं और नामजापकोंके परमादर्श परम गुरु हैं। नामजापकोंकी उनके द्वारा रक्षा होती है; अतः मृत्यु या प्रलय आदिका भय जिसके वे अधिष्ठाता हैं नामके प्रभावसे ही नष्ट हो जाता है। (श्रीचक्रजी)]

❀ ☞ अहल्यादिको लोग पंचकन्या कहते हैं। वे प्रातः स्मरणीय तो हैं ही। शुद्ध श्लोक यह है—"अहल्या द्रौपदी कुन्ती तारा मन्दोदरी तथा। पंचकं ना स्मरेन्नित्यं महापातकनाशनम्।" अर्थात् अहल्या द्रौपदी आदि यह पंचक मनुष्य नित्य स्मरण करे, यह महापातकका नाशक है। 'पंचकं ना' का अपभ्रंश होकर पंचकन्या हो गया। बस इसीका लोगोंमें व्यवहार हो गया। आह्निक सूत्रावलि प्रथम भागकृत्य पुण्यश्लोक जनस्तुति ८२। आचारमयूखसे उद्धृत। ऋग्वेदीय ब्रह्मकर्म समुच्चय आह्निक आचार प्रकरण, प्रातःस्मरण श्लोक ६। इन दोनोंमें कुन्तीकी जगह 'सीता शब्द है। शेष श्लोक इन दोनोंमें ऐसाही है। संभव है कि 'कुन्ती' का नाम 'सीता' भी हो।)

नोट—१ द्विवेदीजी 'भवभय भंजन' का भाव यों लिखते हैं कि 'नामका प्रताप संसारभरके शापके भयको भंजन करता है। वा, नामप्रताप साक्षात् भव (महादेव) हीके भयको भंजन करता है। कथा प्रसिद्ध है कि विष पीनेके समय विषसे मर न जायँ इस भयसे महादेवजीने रामनाम स्मरण कर तब विषको पिया, इस बातको गोस्वामीजी पूर्व दोहा १९ (८) 'नाम प्रभाउ जान सिव नीको। कालकूट फल दीन्ह अमी को।' में लिख आये हैं।

वैजनाथजी—(क) भवचाप तोड़नेमें 'आपु' कहा। भाव यह कि अस्त्र शस्त्र-विद्यादि किसी उपायसे नहीं तोड़ा, किंतु अपने करकमलसे तोड़ डाला और उसमें किंचित् परिश्रम न हुआ। इसमें श्रीरामजीका 'बल' गुण प्रकट हुआ, यथा—"तब भुजबल महिमा उदघाटी। प्रगटी धनु बिघटन परिपाटी॥ १। २३९।", "संकर चापु जहाजु सागरु रघुबर बाहु बलु। १। २६१।" 'बल' गुणका यही लक्षण है, यथा—भगवद्गुणदर्पणे—"व्यायामस्य गुर्व्यान्तु खेदाभावो बलं गुणः।" (ख) यहाँ श्रीरामजीमें एक स्थानपर 'बल' दिखाया, वही गुण नाममें अनंत स्थलोंमें दिखाया। (ग) 'भवभयभंजन' यह नामका प्रताप है, नामके प्रतापसे भवभयभंजन सदा होता ही रहता है। उसका कारण यह है कि शौर्य-वीर्य-बल तेज-उदारतादि गुणोंकी क्रिया जो रूपसे प्रकट हुई, वही नामके साथ लोकोंमें फैल गई। वही यश वा कीर्त्ति है। कीर्त्तिको सुनकर जो शत्रुके हृदयमें ताप होता है और संसार स्वाभाविकही डरने लगता है, उसीको 'प्रताप' कहते हैं। यथा—"जाकी कीरति सुयश सुनि होत शत्रु उर ताप। जग डरात सब आपही कहिये ताहि प्रताप॥" रूपके गुण नामके संगमें 'प्रताप' कहलाते हैं।

श्रीचक्रजी—नामके द्वारा क्रमशः बुद्धिशोधन, दोष-नाश, दुःख-परिहार, दुराशा-क्षय कह आए। यह उसके प्रतापसे भवभयका नाश कहा। त्रिशूल, दैहिक, दैविक, भौतिक ताप एवं मृत्यु, प्रलय, विनाश ये नाम-जापकको भयभीत नहीं करते। भव (संसार) में ऐसा कोई भय नहीं रह जाता जो उसे डरा सके। सम्पूर्ण जगत् उसे दयामय, मंगलधाम, प्रभुकी क्रीड़ा है। प्रत्येक कार्य, प्रत्येक परिस्थिति उसी करुणासागरके सुकुमार करोंकी कृति है।....माता हँसे या बड़ासा मुख फैलाये, बच्चेके लिए तो दोनों क्रीड़ाएँ उसे हँसानेका ही कारण हैं।

भव-भय को भव-चाप से तुलनामें लाकर गोस्वामीजीने यहाँ अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। भगवान् शंकर वही हैं, परन्तु भक्तोंके लिए वे शिव, कल्याण धाम, कुन्द-इन्दु-दर गौर सुन्दर हैं और दुष्टोंके लिए, संसाररत जीवोंके लिए प्रलयङ्कर, महारुद्र, महाकाल हैं। इसी प्रकार संसार भी वही है, किंतु साधारण प्राणियोंके लिए उसमें विनाश ही विनाश है। दुःख ही दुःख है। अत्यन्त भयप्रद है संसार, परन्तु नाम जापकके लिए तो भवका भय नष्ट हो जाता है। भव भयप्रद नहीं रहता। यह तो उसके करुणामय प्रभुकी परम मंजुल क्रीड़ा है और है भी उसीको प्रसन्न करनेके लिये। ज्योंका त्यों रहता हुआ भी यह संसार उसके लिए आनन्द-दायी, पवित्र, आह्लादमय हो जाता है।

नोट—२ 'प्रताप' का भाव यह है कि नामका आभास-मात्र आवागमनको छुड़ा देता है। जैसे यवनने 'हराम' शब्द कहा परन्तु उसमें "राम" शब्द होनेसे वह तर गया, अजामिलने अपने पुत्र "नारायण" को पुकारा, न कि भगवान्को, इत्यादि नामके प्रमाण हैं। (देखिय क० उ० ७६)।

३ यहाँ मूलमें धनुषभंगके पश्चात् दण्डकारण्यकी कथाका रूपक गोस्वामीजीने दिया है। अयोध्या-काण्ड समग्र छोड़ दिया, उसमेंसे कोई प्रसंग न लिया। इसका कारण पं० रामकुमारजी यह लिखते हैं कि 'मुनियोंकी रीति है कि प्रायः यह कांड छोड़ देते हैं। अथवा, इस काण्डको श्रीभरतजीका चरित्र समझकर छोड़ा। अथवा, इस कांडमें कोई दृष्टान्त न मिला इससे छोड़ा। जैसा कि रावण-मारीच-संवाद और रावण-हनुमान्-संवाद इत्यादिमें मारीच और श्रीहनुमानजी आदिने किया है। यथा—"जेहि ताड़का सुबाहु हति खंडेउ

हर कोदंड। खरदूषन तिसिरा बधेउ मनुज कि अस बरिबंड। ३। २५।', 'धरइ जो बिबिध देह सुरत्राता। तुम्ह से सठन्ह सिखावन दाता॥ हर कोदंड कठिन जेहि भंजा। तेहि समेत नृपदल-मद गंजा॥ खर दूषन त्रिसिरा अरु बाली। बधे सकल अतुलित बलसाली॥ ५। २१।', मंदोदरीजीनेभी बालकांडके पश्चात् अरण्यकांडकी कथा कही है, यथा—"दसि सुरतिहि नृपति जनि मानहु। अगजगनाथ अतुल बल जानहु॥", "बान प्रताप जान मारीचा।"' मंजि धनुर जानकी बिआही। तब संग्राम जितेहु किन ताही॥ सुरपतिसुत जानै बल थोरा। राखा जिअत आँखि गहि फोरा॥ सूपनखा कै गति तुम्ह देखी॥"'। ६। ३६।", इत्यादि।

पं० शिवलाल पाठकजी इसका कारण यह कहते हैं कि—"इन कथाओंका रूपक नाममें नहीं है। अतएव इन प्रसंगोंको छोड़कर दंडकारण्यके पवित्र होनेकी कथा कही; क्योंकि नाम भक्तोंकी रसनापर स्थित हो भव नाश करता है और मनको पवित्र करता है। (मानस मयङ्क)।" अथवा, पद्मपुराण श्रीरामाश्वमेध प्रसंगमें कहा है "षट्काण्डानि सुरम्याणि यत्र रामायणेनव। बालमारण्यकं चान्यत्किष्किधा सुंदरं तथा॥ युद्धमुत्तरमन्यच्च षडेतानि महामते (पाताल ६६। १६४)। अर्थात् वाल्मीकीयरामायणमें अत्यन्त सुन्दर छः कांड हैं—बाल, अरण्य, किष्किंधा, सुन्दर, युद्ध और उत्तर। इससे यह भाव निकलता है कि अयोध्याकांड करुणरसपूर्ण होनेसे 'सुरम्य' न मानकर उसका उल्लेख नहीं किया गया (पं० रा० कु०)।

बाबा हरिहरप्रसादजीका मत है कि बालकांडका विवाहादि शेष चरित धनुर्भंगके अन्तर्गत है— 'टूटतही धनु भयो बिबाहू।' और समस्त अयोध्याकांड और आधा अरण्यकांड "दंडकवनपावनत" है। अथवा, यहाँ कांडक्रम नहीं है, नामका अधिक प्रताप वर्णनही अभीष्ट है। अयोध्याकांड माधुर्यचरित पूर्ण है, इसमें ऐश्वर्य नहीं है और यहाँ प्रसंग प्रतापका है; अतः जहाँ-जहाँ प्रतापके प्रसंग हैं, वहाँसे लिये

दंडक वन प्रभु कीन्ह सुहावन। जन मन अमित नाम किय पावन॥ ७॥

अर्थ—प्रभु (श्रीरामजी) ने दंडकवनको सुहावना (हराभरा) कर दिया। और, नामने अमित (अनंत) प्राणियोंके मनको पवित्र कर दिया। ७।

नोट—१ "दंडक वन प्रभु कीन्ह सुहावन" इति। 'सुहावन' अर्थात् (क) हरा-भरा जो देखनेमें अच्छा लगे। भाव यह कि निशाचरोंके वहाँ रहनेसे और फल-फूल न होनेसे वह भयावन था, सो शोभायमान हो गया। यथा—"जब ते राम कीन्ह तहँ बासा। सुखी भये मुनि बीती त्रासा। गिरि बन नदी ताल छबि छायो। दिन दिन प्रति अति होत सुहाये। ३। १४।" (ख) पुनीत, पवित्र; यथा—"दंडक वन पुनीत प्रभु करहू। ३। १३।", "दंडक पुहुमि पायँ परसि पुनीत भई उकठे बिटप लागे फूलन.फरन। वि० २५७।",

श्रीबैजनाथजी—दण्डकवनको सुहावना कर देना, यह निःस्वार्थ जीवोंका पालन करना 'दया' गुण है। यथा भगवद्गुणदर्पणे—"दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थस्तत्र न कारणम्।" पुनश्च 'प्रतिकूलानुकूलोदासीन सर्वचेतनाचेतन वस्तुविषयस्वरूप रूत्तोपलंभनरूपदालनानु गुणव्यापार विशेषो हि भगवतो दया' अर्थात् दयावानोंकी उस दयाको दया कहा जायगा जिसमें स्वार्थका लेशभी न हो। रूपमें जो यह दयालुता प्रगट हुई, उसी गुणको नामने लोकमें फैला दिया। उस दयाकी प्यासले अनेक लोग दयालु प्रभुका नाम स्मरण करने लगे और पवित्र हो गए। इसीसे अमित जनोंके मनका नामद्वारा पावन होना कहा।

नोट—२ दंडकवन एक है और जनमनरूपी वन 'अमित' यह विशेषता है।

३ श्रीजानकीशरणजीका मत है कि जैसे इक्ष्वाकुपुत्र दंड शुक्राचार्यजीके शापसे दंडकवन हो गया, उसी प्रकार जन-इक्ष्वाकुका मन दंड है, वेदोंकी अवज्ञा करके कुत्सित मार्गमें उसने गमन किया है, इससे वेदरूपी शुक्राचार्यके शापसे दंडके सदृश भ्रष्ट हो रहा है। ऐसे अनेकोंको नामने पवित्र किया। (मा० मा०)। ["दंड" ही दंडकवन हो गया इसका प्रमाण कोई नहीं लिखा कि किस आधारपर ऐसा कहा है। (मा. सं.)]

४ 'दंडक वन' इति। श्रीइक्ष्वाकुमहाराजका कनिष्ठ पुत्र दण्ड था। इसका राज्य विन्ध्याचल और नीलगिरिके बीचमें था। यहाँके सब वृक्ष झुलस गए थे, प्रजा नष्ट हो गई और निशिचर रहने लगे। इसके दो कारण कहे जाते हैं—(१) एक तो गोस्वामीजीने अरण्यकाण्डमें 'मुनिवर शाप' कहा है, यथा—"उग्र साप मुनिवर कर हरहू।" कथा यह है कि एक समय बड़ा दुर्भिक्ष पड़ा। ऋषियोंको अन्न जलकी बड़ी चिन्ता हुई। सब भयभीत होकर गौतमऋषिके आश्रमपर जाकर ठहरे। जब सुसमय हुआ तब उन्होंने अपने-अपने आश्रमोंको जाना चाहा, पर गौतम महर्षिने जाने न दिया, वरंच वहीं निवास करनेको कहा। तब उन सबोंने संमत करके एक मायाकी गऊ रचकर मुनिके खेतमें खड़ी कर दी। मुनिके आतेही बोले कि गऊ खेत चरे जाती है। इन्होंने जैसे ही हाँकनेको हाथ उठाया वह मायाकी गऊ गिरकर मर गई, तब वे सब आपको गोहत्या लगा चलते हुए। मुनिने ध्यान करके देखा तो सब चरित जान गए और यह शाप दिया कि तुम जहाँ जाना चाहते हो, वह देश नष्ट भ्रष्ट हो जायगा। आपका आश्रम नरमदा नदी अमरकण्टकके जिस कुण्डसे निकली है वहाँपर था। आपने अपने तपोबलसे यह कुण्ड निर्माण किया था। [इस कथाका मूल अभी हमको नहीं मिला है]।

(२) दूसरी कथा यह है—पूर्वकालके सत्युगमें वैवस्वत मनु हुए। वे अपने पुत्र इक्ष्वाकुको राज्य पर बिठाकर और उपदेश देकर, कि 'तुम दंडके समुचित प्रयोगके लिये सदा सचेष्ट रहना। दण्डका अकारण प्रयोग न करना।', ब्रह्मलोकको पधारे। इक्ष्वाकुने बहुतसे पुत्र उत्पन्न किये। उनमेंसे जो सबसे कनिष्ठ (छोटा) था, वह गुणोंमें सबसे श्रेष्ठ था। वह शूरवीर और विद्वान था और प्रजाका आदर करने के कारण सबके विशेष गौरवका पात्र हो गया था। इक्ष्वाकुमहाराजने उसका नाम 'दंड' रक्खा और विंध्याचलके दो शिखरोंके बीचमें उसके रहनेके लिये एक नगर दे दिया जिसका नाम मधुमत्त था। धर्मात्मा दंडने बहुत वर्षों तक वहाँका अकंटक राज्य किया। तदनन्तर एक समय जब चैत्रकी मनोरम छटा चारों ओर छहरा रही थी राजा दंड भार्गव मुनिके रमणीय आश्रमके पास गया तो वहाँ एक परम सुन्दरी कन्याको देखकर वह कामपीड़ित हो गया। पूछनेसे ज्ञात हुआ कि वह भार्गववंशोद्भव श्रीशुक्राचार्यजीकी ज्येष्ठ कन्या 'अरजा' है। उसने कहा कि मेरे पिता आपके गुरु हैं, इस कारण धर्मके नाते मैं आपकी बहिन हूँ। इसलिये आपको मुझसे ऐसी बातें न करनी चाहिएँ। मेरे पिता बड़े क्रोधी और भयंकर हैं, आपको शापसे भस्म कर सकते हैं। अतः आप उनके पास जायँ और धर्मानुकूल बर्तावके द्वारा उनसे मेरे लिये याचना करें। नहीं तो इसके विपरीत आचरण करनेसे आपपर महान् घोर दुःख पड़ेगा। राजाने उसकी एक न मानी और उसपर बलात्कार किया। यह अत्यन्त कठोरतापूर्ण महाभयानक अपराध करके दंड तुरत अपने नगरको चला गया और अरजा दीन भावसे रोती हुई पिताके पास आई। श्रीशुक्राचार्यजी स्नान करके आश्रमपर जो आए तो अपनी कन्याकी दयनीय दशा देख उनको बड़ा रोष हुआ। ब्रह्मवादी, तेजस्वी देवर्षि शुक्राचार्यजीने शिष्योंको सुनाते हुये यह शाप दिया—"धर्मके विपरीत आचरण करनेवाले अदूरदर्शी दंडके ऊपर प्रज्वलित अग्निशिखाके समान भयंकर विपत्ति आ रही है, तुम सब लोग देखना। वह खोटी बुद्धिवाला पापी राजा अपने देश, भृत्य, सेना और वाहनसहित नष्ट हो जायगा। उसका राज्य सौ योजन लंबा चौड़ा है। उस समूचे राज्यमें इंद्र धूलकी बड़ी भारी वर्षा करेंगे। उस राज्यमें रहने वाले स्थावर जंगम जितने भी प्राणी हैं, उन सबोंका उस धूलकी वर्षासे शीघ्रही नाश हो जायगा। जहाँ तक दंडका राज्य है वहाँतकके उपवनों और आश्रमोंमें अकस्मात् सात राततक जलती हुई रेतकी वर्षा होती रहेगी।'—"वक्ष्यते पांसुवर्षेण महता पाकशासनः। वाल्मी० ७। ८१। ८।" यह कहकर शिष्योंको आज्ञा दी कि तुम आश्रममें रहनेवाले सब लोगोंको राज्यकी सीमासे बाहर ले जाओ। आज्ञा पातेही सब आश्रमवासी तुरत वहाँसे हट गए। तदनंतर शुक्राचार्यजी अरजासे बोले कि—यह चार कोसके विस्तारका सुन्दर शोभासंपन्न सरोवर है। तू सात्विक जीवन व्यतीत करती हुई सौ वर्षतक यहीं रह। जो पशु-पक्षी तेरे

सात रहेंगे ये नष्ट न होंगे।—यह कहकर शुक्राचार्यजी दूसरे आश्रमको पधारे। उनके कथनानुसार एक सप्ताहके भीतर दंडका सारा राज्य जलकर भस्मसात् हो गया। तबसे वह विशाल वन 'दंडकारण्य' कहलाता है। यह कथा पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें महर्षि अगस्त्यजीने श्रीरामजीसे कही जब वे शंबूकका वध करके विप्रबालकको जिलाकर उनके आश्रमपर गए थे। (अ० ३६)। और, वाल्मीकीय ७ सर्ग ७९ ८० और ८१ में भी है। इसके अनुसार चौपाईका भाव यह है कि प्रभुने एक दंडकवनको, जो सौ योजन लंबा था और दंडके एक पापसे अपवित्र और भयावन हो गया था स्वयं जाकर हरा-भरा और पवित्र किया किंतु श्रीनाम महाराजने तो असंख्यों जनोंके मनोंको, जिनके विस्तारका ठिकाना नहीं और जो असंख्यों जन्मोंके संस्कारवश महाभयावन और अपवित्र हैं, पावन कर दिया। 'पावन' में 'सुहावन' से विशेपता है। 'पावन' कहकर जनाया कि जनके मन के जन्मजन्मान्तरके संचित अशुभ संस्कारोंका नाश करके उसको पवित्र कर देता है और दूसरोंको पवित्र करनेकी शक्ति भी दे देता है।

निसिचर निकर दले रघुनंदन। नामु सकल कलि कलुष निकंदन ॥ ८ ॥

दोहा—सबरी गीध सुसेवकनि, सुगति दीन्हि रघुनाथ।
नाम उधारे अमित खल, बेद बिदित गुनगाथ ॥२४॥

शब्दार्थ—निकर = समूह, दल, झुंड। दले = दलित किया, नाश किया। कलुप=पाप। उधारे=उद्धार वा भवपार किया। = सद्गति दी। अमित = असंख्य, अगणित। निकंदन=नाश करने वाला।

अर्थ—श्रीरघुनाथजीने निशाचरोंके समूहको मारा और नाम तो कलिके समस्त पापोंको जड़से उखाड़ डालनेवाला (नाशक) है। ८। श्रीरघुनाथजीने तो शबरी, गृद्ध्रराज (जटायू) ऐसे अच्छे-अच्छे सेवकोंको सद्गति दी; (पर) नामने अनेकों दुष्टोंका उद्धार किया, वेदोंमें उनके गुणोंकी कथा प्रसिद्ध है। २४।

नोट—१ नामका बड़प्पन एकमें 'निकर' और 'निशाचर' (पाप करनेवाले। अर्थात् कार्यको), 'दले', 'सबरी गीध' (दो) और वह भी 'सुसेवक' और दूसरे में 'सकल' और 'कलिकलुप' (पापहीको, कारणहीको), 'निकंदन' 'अमित' और 'खल' शब्दोंको देकर दिखाया गया। अर्थात निशाचरोंमें कुछ न कुछ बचही रहे और यहाँ 'पाप' रह ही न गया। 'दले' शब्द जनाता है कि राक्षसकुलका सर्वविनाश नहीं किया। जो बचे उन्होंने विभीपणको राजा मान लिया। 'निकंदन' में निःशेपका भाव है। नाम निश्शेप कर डालता है फिर कलुपित भावोंके आनेका अवकाश ही नहीं रह जाता। कलिके कलुप अर्थात राक्षसी भावोंके कारणको। कारण ही न रह गया तो कार्य हो ही कैसे? शबरी और गृध्रराज उत्तम सेवक थे। उनको गति दी तो क्या? दुष्टोंको सद्गति देना वस्तुतः सद्गति देना है।

नोट—२ "निसिचर निकर दले रघुनंदन" इति। (क) दण्डकवनको सुहावन-पावन करने और श्री शबरी एवं गृध्रराजके प्रसंगके बीचमें 'निसिचर....' कहने से यहाँ खर-दूपण-त्रिशिरा और उनकी अजय अमर चौदह हजार निशाचरोंकी सेना अभिप्रेत है। यह युद्ध पंचवटीपर हुआ, जहाँ श्रीरामजी दंडकवनमें रहते थे। खर-दूपण रावणके भाई हैं जो शूर्पणखाके साथ जनस्थानमें रावणकी ओरसे रहते थे। इनकी कथा अरण्यकाण्डमें आई है। (ख) "नाम सकल कलि कलुप निकंदन" इति। काष्ठजिह्वा स्वामीजी इसका रूपक इस प्रकार लिखते हैं—"भाई पंचवटी के रन में बड़ो रंग समुझन में। चाह सूपनखा सदा सुहागिनि खेलि रही मन बन में॥ लपनदान नाके धरि काटे नाक कान एक छन में भाई०॥ खर है क्रोध, लोभ है दूपन, काम बसै त्रिसिरन में। कामक्रोध लोभ मिलि दरसैं तीनों एकै तन में। भाई॥" अर्थान् चाह (तृष्णा) शूर्पणखा है, क्रोध खर राक्षस है, लोभ दूपण राक्षस है और काम त्रिशिरा राक्षस है। ये सब इसी शरीर में देख पड़ते हैं।

श्री वैजनाथजी—निशाचर समूहका नाश क्षणभरमें कर डालना "शौर्य गुण" है। यथा भगवद्गुण-दर्पणे—"सर्वस्माद्भीतिराहित्यं युद्धोत्साहश्च कीर्त्यते। शूरैः शौर्यमिदं चोक्तं राज्ञां स्वर्ग्ययशस्करम् ।।...राम वद्ध्यो न शक्यः स्यात् रक्षितुं सुरसत्तमैः। ब्रह्मरुद्रेन्द्रसंघैश्च त्रैलोक्य प्रभुभिस्त्रिभिः।" अर्थात् नर, नाग, सुर, असुर आदि तीनों लोकोंके वीर एकत्र होकर युद्धके लिए आवें तो भी किंचित् भय न करें, बड़े उत्साहसे युद्ध करें और क्षण भरमें सबका नाश कर दें, यही 'शौर्य' गुण है। जिसको वे मारना चाहें उसे ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र आदि त्रैलोक्य के वीर नहीं बचा सकते। यथा—"जौ रन हमहिं प्रचारै कोऊ। लरहिं सुखेन कालु किन होऊ॥ १। २८४।', "सकल सुरासुर जुरहिं जुझारा॥ रामहि समर न जीतनिहारा। २। १८६।", "रिपु बलवंत देखि नहिं डरहीं। एक बार कालहु सन लरहीं। ३। १६।", "करि उपाय रिपु मारे छन महुँ कृपानिधान। ३। २०।", "खरदूषन मुनि लगे पुकारा। छन महुँ सकल कटक उन्ह मारा। ३। २२।" खरदूषणादिके प्रसंगमें शौर्यगुणके सब अंग स्पष्ट हैं। प्रभुने यह शौर्यगुण एक स्थलमें जो प्रकट किया, वही प्रताप नामके साथ लोकोंमें फैला, जिससे पापरूपी खलोंसे भयातुर हो प्रतापी प्रभुका नाम लोग जपने लगे, जिससे अगणित लोगोंके सब प्रकारके पाप जड़मूल से नाशको प्राप्त हो गये।

नोट—३ "सबरी गीध सुसेवकनि सुगति दीन्हि" इति। (क) श्रीशबरीजी श्रीमतंग-ऋषिकी चेली थीं, उनके प्रेमका क्या कहना? श्रीरामजी स्वयं उसे दृढ़ भक्तिका प्रमाणपत्र दे रहे हैं, यथा—'सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें। ३। ३६। ७।' गीतावली और भक्तमालमें उनकी प्रेम-कहानी खूब वर्णन की गई है और उनके बेरोंकी प्रशंसा तो प्रभुने श्रीअवध-मिथिलामें भी की थी, यथा—"घर गुरु गृह प्रिय सदन सासुरे भइ जब जहँ पनहाई। तब तहँ कहि सबरी के फलनि की रुचि माधुरी न पाई॥ वि० १६४।' वाल्मीकिजीने श्रीशबरीजीके लिये 'महात्मा' विशेषण दिया है। अरण्यकांडमें इसकी कथा विस्तारसे दी गई है। ३। ३४—३६ में देखिये। इसीसे इनको 'सुसेवक' कहा। (ख) 'गीध' इति। यहाँ प्रसंगसे गृध्रराज श्रीजटायु ही अभिप्रेत हैं। ये दशरथ-जीके सखा थे; ऐसा उन्होंने (वाल्मीकीयमें) श्रीरामजीसे कहा है। इसीसे श्रीरामजी उनको पिता समान मानते थे। ये ऐसे परहितनिरत थे कि इन्होंने श्रीसीताजीकी रक्षामें अपने प्राण ही दे दिये। अरण्यकांड दोहा २६ से ३२ तक इनकी कथा है। विशेष विस्तारसे वहाँ लिखा गया है। गीतावलीमें इनकी सुन्दर कथा है और इनकी मनोहर मृत्युकी प्रशंसा गोस्वामीजीने दोहावलीमें दोहा २२२ से २२७ तक छः दोहोंमें की है। पक्षी और आमिषभोगी होते हुए भी इन्होंने सेवासे कैसी सुन्दर गति पाई!! इसीसे 'सुसेवक' कहा। (ग) 'सुगति'=शुभगति; प्रभुका निज धाम। शबरीकी गति, यथा—"तजि जोग पावक देह हरिपद लीन भइ जहँ नहिं फिरे। ३। ३६।' इसीको श्रीरामजीने कहा है कि—"जोगिवृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आजु सुलभ भइ सोई। ३। ३६।" जटायुजीकी गति, यथा—"तनु तजि तात जाहु मम धामा। ३। ३१।', "गीध-देह तजि धरि हरि रूपा...अस्तुति करत नयन भरि बारी॥...अबिरल भगति मांगि बर गीध गयउ हरिधाम। तेहि की क्रिया जथोचित निज कर कीन्ही राम। ३। ३२।...गीध अधम खग आमिषभोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥ ३। ३३।", "मुए मुकुत जीवत मुकुत मुकुत मुकुतहूँ बीच। तुलसी सबही तें अधिक, गीधराज की मीच॥ दोहावली २२५।"

४ 'नाम उधारे अमित खल' इति। भाव कि सुसेवकको गति दी तो यह कोई विशेष बात नहीं हुई। नामने सत्-असत्को कौन कहे सेवकतककी सीमा नहीं रक्खी। सेवक न सही तो सज्जन तो हो, पर वह भी नहीं। नामने 'खलों' का उद्धार किया।

५ 'बेद बिदित गुनगाथ' इति। गोस्वाजीने अबतक तो शास्त्र पुराणकी बातभी नहीं की और इस सम्बन्धमें एकदम 'वेद' को प्रमाण दे दिया। बात यह है कि पुराणादिमें जितने उदाहरण अधम उद्धारणके हैं उनमें या तो क्रमोद्धार है या पूर्व जन्म सुन्दर बताया गया है। खलोंके सुधारके सम्बन्धमें अबतक साधन-

का यह क्रम चला आ रहा था। 'नाम कोटि खलकुमति सुधारी' से क्रम-साधन चला। कुमति शुद्ध होनेपर वह 'दास' हुआ। 'सहित दोष दुख दास दुरासा।...' फिर जन हुआ—'जनमन अमित नाम किय पावन'। दास (सेवक) नामाभ्यासीके स्थितिमें दो स्तर रहे। दोष, दुख एवं दुराशाका नाश और उसके अनंतर 'भवभयभंजन'। इसके पश्चात् वह 'जन' हुआ। नामके अभ्यासमें अनुराग हो गया। यहाँ भी दो स्तर हुए मनकी पावनता और कलि कलुषका नाश। इस प्रकार यह क्रम पूर्ण हुआ।

अब गोस्वामीजी कह रहे हैं कि नामके लिये आवश्यक नहीं कि वह उपर्युक्त क्रमसे 'खल' को 'कुमति-सुधार' करना इत्यादि पूर्णता प्रदान करे। इसमें तो श्रुति प्रमाण है कि नामने दुष्टों-खलोंका उद्धार किया है जो पूर्वजन्ममेंभी दुष्ट थे और उद्धारके समय भी दुष्ट थे। साधु बनाकर नहीं उद्धार किया। किंतु दुष्ट रहते ही उद्धार किया। इस संबंधमें श्रुति है—'यश्चाण्डालोऽपि रामेति वाचं ब्रूवीत् तेन सह संवदेत् तेन सह संवसेत् तेन सह सम्भुञ्जीयात्।' (अथर्ववेद) जो चाण्डाल भी 'राम' यह नाम ले उसके साथ बोले, रहे, भोजन करे। 'राम' कहते ही वह पंक्तिपावन हो जाता है। यहाँ श्रुतिके प्रमाणकी आवश्यकता थी, क्योंकि शास्त्रोंमें सदाचार, साधनादि-का जो महत्त्व है, उससे यह नाम-माहात्म्य असंगत सा लग सकता है। ऐसी दशामें इसे सत्य सिद्ध करनेके लिये एकमात्र श्रुतिप्रमाणकी ही आवश्यकता थी। (श्रीचक्रजी)।

६ श्रीशबरीजी और श्रीगृध्रराजको गति देकर श्रीरामजीने अपना "अनुकंपा गुण" प्रकट किया। यथा भगवद्गुणदर्पणे—"रक्षिताश्रित भक्तानामनुराग सुखेच्छया। भूयोभीष्टप्रदानाय यश्चताननुधावति॥ अनुकंपा गुणो ज्ञेया प्रपन्न प्रियगोचरः।" अर्थात् जो पूर्वसे रक्षित-आश्रित अनुरागी भक्त हैं उनके सुखके लिये भगवान् उनके पीछे धावते हैं, वह 'अनुकंपा' गुण है जिसका भक्त अनुभव करते हैं। प्रभुने इन दोनों प्रेमी भक्तोंकी सब अभिलाषा पूर्ण की। शबरीजीको माता समान और जटायुजीको पितासे भी अधिक माना। दोनोंको दर्शन देकर मुनिदुर्लभ गति दी। यह 'अनुकंपा गुण' जो प्रभुने यहाँ प्रकट किया वही नामद्वारा लोकोंमें विस्तृत हुआ, और असंख्यों खलोंको वही सद्गति नामद्वारा प्राप्त हुई। (श्रीबैजनाथजी)।

द्विवेदीजी—"जहाँ रामकी गति ही नहीं उस कलिकालमें भी नाम ही अपना प्रताप दिखा रहा है। सुसेवकको गति दी, अर्थात् परीक्षा करके देख लिया कि मेरे सच्चे सेवक हैं, तब गति दी।

नोट—७ कवि लोगोंकी रीति है कि जिसको बड़ा बनाना चाहते हैं उसके लिए बड़े-बड़े विशेषण लिखते हैं और जिसको छोटा बनाया चाहते हैं उसके लिए छोटे-छोटे विशेषण देते हैं। इसी लिये ग्रंथकारने 'राम' के विशेषणमें 'एक' का और 'नाम' के विशेषणमें 'कोटि' 'अमित' इत्यादिका प्रयोग किया है।"

टिप्पणी—१ इस दोहेका जोड़ ऊपर "नाम कोटि खल कुमति सुधारी" से मिलाया है। नामने खलोंकी बुद्धि सुधारी। जब बुद्धि सुधरती है तभी उद्धार होता है, सो यहाँ उनका उद्धार कहा। श्रीरामचरित्रका जो क्रम है वैसाही श्रीनामचरित्रका है—

श्रीराम-चरित्र	श्री नाम-चरित्र
१-श्रीकौसल्याजीसे श्रीरामचंद्रजी की आविर्भावना	भक्तकी जिह्वासे नामका आविर्भाव।
२-श्रीरामचन्द्रजीने ताड़का-सुबाहु आदिका वध किया इत्यादि।	नाम दोष-दुःख-सहित दुराशाका नाश करके तब भवका नाश करते हैं। दुराशाके रहते भवका नाश नहीं होता। इत्यादि।

नोट—८ यहाँ श्रीशबरीजीको प्रथम कहा और श्रीजटायुजीको पीछे, यद्यपि लीलाक्रममें पहले जटायुजीको गति दी गई तब श्रीशबरीजीको। इसका एक कारण तो पूर्व लिखा ही जा चुका। पंजाबीजी और पं० रामकुमार-जीका मत है कि यह व्यतिक्रम छन्दहेतु किया गया। 'पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्'। अर्थ करते समय आगे

पीछे ठीक करके अर्थ करना चाहिए। तीसरा कारण यह भी हो सकता है कि श्रीरामजी शबरीजीमें माता-भाव और जटायुजीमें पिता-भाव मानते थे। यथा—'खग सबरी पितु मातु ज्यों माने कपि को किए मीत। विनय १६१।' माताका गौरव पितासे अधिक है, यह पूर्व १८ (१०) में भी दिखाया गया है। अतः सबरीको प्रथम कहा।

राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सबु कोऊ॥ १॥
नाम गरीब अनेक नेवाजे। लोक वेद बर बिरिद बिराजे॥ २॥

शब्दार्थ—नेवाजे (फारसी शब्द है)=कृपा की। बिरिद=बाना, पदवी, यश। बिराजे=विराजमान हैं, प्रसिद्ध हैं, चमचमा रहे हैं।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषणजी दोनोंको शरणमें रक्खा (यह) सब कोई (सभी) जानते हैं। १। पर, रामनामने अनेक गरीबोंपर कृपा की, (यह नामका) श्रेष्ठ यश लोक और वेद दोनोंमें विशेषरूपसे चमचमा रहा है। २।

नोट १—यहाँ नामकी विशेषता एकमें 'सुकंठ बिभीषन', 'दोऊ', 'जान सब कोऊ' और दूसरेमें 'गरीब', 'अनेक', 'लोक बेद०' शब्दोंको देकर दिखायी है। 'जान सब कोऊ' में व्यङ्ग यह है कि अपने स्वार्थके निमित्त उनको शरण दिया। एकने वानरी सेनासे और दूसरेने रावणका भेद देकर सहायता की, यह सब जानते हैं। पर गज, अजामिल, गणिका, ध्रुव, प्रह्लाद आदिका उद्धार नाम हीसे हुआ कि जो उसका कुछ भी बदला नहीं दे सकते थे। सुग्रीव बिभीषण दोनों राजा (बड़े आदमी) हैं, अतएव उन्हें सभी पूछना चाहेंगे और यहाँ 'गरीब' जिनको और कोई न पूछे वे तारे गए।

२ 'बर बिरद बिराजे' इति। अर्थात् वेदोंने नामकी महिमा इन्हींके कारण गाई है। वेद कहते हैं कि नाम ग़रीबनिवाज़ हैं और लोकमें प्रत्यक्ष देखनेमें आता है कि नामजापक सुखी हैं। 'बर' कहकर जनाया कि महिमा श्रेष्ठ है। (पं० रामकुमारजी)

श्रीवैजनाथजी—(क) सुग्रीव और विभीषण दोनों अपने अपने भाइयोंसे अपमानित होनेसे दीन होकर शरणमें आए थे, यथा—"हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी। ताकें भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ भुआला। इहां सापबस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं।४।६।" "बालित्रास ब्याकुल दिन राती। तनु बहु ब्रन चिंता जर छाती। सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ॥ ४।१२।" श्रीहनुमान्‌जीने 'श्रीरामजीसे सुग्रीवको दीन जानकर शरणमें लेनेको कहा है, यथा—"नाथ सैल पर कपिपति रहई।....दीन जानि तेहि अभय करीजे। ४। ४।" विभीषण भी दीन थे, यथा—"दीन बचन सुनि प्रभु मन भावा।५। ४५।" "जौ सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रान की नाई।५।४४।' 'रावनक्रोध अनल निज स्वास समीर प्रचंड। जरत बिभीषन राखेउ दीन्हेउ राजु अखंड। ५। ४९।', 'रघुबंस बिभूषन दूषनहा। कृत भूप बिभीषन दीन रहा।६।११०।' (ख) ऐसे दीन सुग्रीव और विभीषणजीको राजा बनाया, नित्य पार्षद बना लिया और प्रातःस्मरणीय कर दिया। यह 'करुणा' गुण है, यथा भगवद्गुणदर्पणे—"आश्रितार्त्यग्निनाहेम्नो रक्षितुर्हृदयेद्रवः। अत्यन्तमृदुचित्तत्वमश्रुपातादिकृद्द्रवत्। कथं कुर्याम् कदाकुर्यामाश्रितार्तिनिवारणम्। इति या दुःखदुःखित्वमार्त्तानां रक्षणे त्वरा॥ पर दुःखानुसंधानाद्विह्वली भवनं विभोः। कारुण्यात्मगुणस्त्वेष आर्तानां भीतिवारकः।" अर्थात् जैसे अग्निसे सोना गलता है वैसे ही आश्रितोंके दुःखसे रक्षक भगवान् द्रवित होते हैं। अत्यन्त मृदुचित्त होनेसे नेत्रोंसे भक्तोंका दुःख देख अश्रुपात होने लगता है; और आश्रितके दुःख निवारणार्थ क्या करूँ और कब कर डालूँ—इस विचारसे दुःखित आश्रितोंके रक्षणकी जो त्वरा है तथा परदुःखके चिंतनसे विह्वल हो जाना यह सब भगवान्‌का 'कारुण्य गुण' है जो भक्तोंके भयको निवारण करता है।

नोट—३ श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषणजी दोनों अत्यन्त दीन (आर्त) थे। सुग्रीवने अपना दुःख स्वयं

श्रीरामजीने कहा ही है और विभीषणजीने श्रीहनुमान्‌जीसे कहा है, यथा—"सुनहु पवनसुत रहनि हमारी। जिमि दसनन्हि महँ जीभ बिचारी ॥ तात कबहुँ मोहि जानि अनाथा। करिहहिं कृपा भानुकुलनाथा।५।७।" फिर रावणने इन्हें लात मारकर निकाल दिया जिस अपमानसे उनको बड़ी ग्लानि हुई जिससे वे शरणमें आए—"तुलसी सुकृति हित हन्यो लात, भले तात चल्यो सुरतरु ताकि तजि घोर घामै" । गीतावली ५ । २५ ।', "गरत गलानि जानि सनमानि सिख देति....", "जात गलानिन्ह गरयो" (गीतावली ५ । २६, २७), "कृपासिंधु सनमानि जानि जन दीन लियो अपनाइ कै" (२८) । सुग्रीवका दुःख सुनकर प्रभुको इतना दुःख हुआ कि तुरंत बालिवधकी प्रतिज्ञा कर दी, यथा—"सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं द्वै भुजा बिसाला ॥ सुनि सुग्रीव मारिहौं बालिहि एकहि बान। ४ । ६ ।" विभीषणको तुरंत तिलक करके उसकी ग्लानि दूर की।

'गरीब' का अर्थ—"सुग्रीव-विभीषणके प्रसंगसे दीन, आर्त, दुःखसे व्याकुल, जिसका कोई रक्षक नहीं" है। प्रभुका 'करुणा' गुण नामद्वारा अनंत हुआ, उसने अनेकों ऐसे दीन आर्त्तजनोंका दुःख नाश कर उनको सुखी किया।

४ सुग्रीव और विभीषण दोनों सर्वथा अनुपयोगी शरणागत न थे। फिर विभीषणजीने तो शरण आनेसे पूर्व ही हनुमान्‌जीको पता बताकर उनकी सहायता की थी, और रावणकी सभामें भी 'नीति विरोध न मारिय दूता' कहकर उनकी रक्षा की थी। अतएव इनको शरणमें लेना औदार्यका आदर्श नहीं कहा जा सकता। नामने गरीबोंका उद्धार किया। गरीब अर्थात् संपत्ति, बुद्धि, वर्ण, तप, जप, धर्म, प्रेम या साधन, इस प्रकारका कोई धन जिनके पास न था; जो किसी उपयोगमें नहीं आ सकते थे। 'लोक बेद बर बिरिद बिराजे' का भाव कि यह बात प्रख्यात एवं निर्विवाद है, अतः इसके लिये उदाहरणकी आवश्यकता नहीं।

यहाँ नामका व्यापक महत्व प्रतिपादित किया गया। पूर्व जो कह आए कि नामने अमित खलोंका उद्धार किया उसीको स्पष्ट करते हैं कि उनके उद्धारमें केवल एक बात है। जहाँ दैन्यका अनुभव हुआ, हृदयमेंसे जहाँ अपना गर्व गया बस एक बार नाम लेते ही कल्याण हो जाता है। जब तक शरीर, बुद्धि, धन, उच्च वर्ण, तप, त्याग, धर्माचरण, यज्ञ, ज्ञान प्रभृति साधनोंका भरोसा है, बस तभी तक मायाका आवरण भी है। जो अपनेको संपूर्ण असहाय दीन समझकर नाम लेता है, नाम उसका उद्धार कर देता है। फिर वहाँ खल या सत्पुरुषका भेद नहीं रह जाता। (श्रीचक्रजी)।

राम भालु कपि कटकु बटोरा। सेतु हेतु श्रमु कीन्ह न थोरा ॥ ३ ॥
नामु लेत भवसिंधु सुखाहीं। करहु बिचारु सुजन मन माहीं ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—कटक=सेना। बटोरा=इकट्ठा किया। श्रम=परिश्रम। माहीं=में।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने (तो) रीछ और बन्दरोंकी सेना इकट्ठी की, पुल (बाँधने) के लिए कुछ थोड़ा परिश्रम नहीं उठाया, अर्थात् बहुत परिश्रम करना पड़ा। ३। (पर) नाम लेते ही भवसागर सूख ही जाते हैं। सज्जनों! मनमें सोच विचार लीजिए (कि कौन बड़ा है)। ४।

नोट—१ यहाँ नाममें यह विशेषता दिखाई कि वहाँ तो 'भालु कपिकी सेना' और 'स्वयं श्रीरामचन्द्रजी' और यहाँ केवल 'नाम', वहाँ 'बटोरने में समय और परिश्रम' यहाँ नाम 'लेते ही'; वहाँ 'पृथ्वीके एक लघु प्रदेशपर रहनेवाला समुद्र' यहाँ 'भवसिंधु' जो सृष्टिमात्र भरमें है, वहाँ पुल बाँधनेके लिए परिश्रम, उपवास, इत्यादि और फिर भी समुद्र ज्योंका त्यों बना ही रहा क्योंकि वह सेतु पीछे टूट भी गया और यहाँ भवसिंधु सूख ही गये—स्मरण मात्रसे; वहाँ एक समुद्र यहाँ सब। वहाँ प्रयास यहाँ सेतु बनाने का प्रयास नहीं।

२ 'बटोरा' शब्द यहाँ कैसा उत्तम पड़ा है! इधर-उधर बिथरी फैली, बिखरी हुई वस्तुओंको समेटकर

एकत्र करनेको 'बटोरना' कहते हैं, और यहाँ कपि दल चारों दिशाओंमें जहाँ-जहाँ था, वहाँ वहाँसे दूतों द्वारा एकत्र किया गया था। बटोरनेमें समय लगता है, वैसेही कपिदलके इकट्ठा करनेमें भी समय लगा।

३ 'श्रम कीन्ह न थोरा'; यथा—"विनय न मानत जलधि जड़ गये तीनि दिन बीति। ५। ५७।" श्रीरामचन्द्र-जीको सिंधुतटपर 'माँगत पंथ' में तीन उपवास हुए यह बात कवित्तरामायणमें स्पष्ट कही गयी है, यथा—"तीसरे उपास बनवास सिंधु-पास सो समाज महाराजजूको एक दिन दान भो" (सु० ३२)। कपि-भालु-दलका परिश्रम तो सब जानते ही हैं कि हिमालय तकसे पर्वतों को ला लाकर समुद्रमें पुल बाँधा। इतनेपर भी वह सेतु सेना पार उतारनेके लिये अपर्याप्त हो गया, कितने ही जलचरोंपर चढ़ चढ़कर गए, इत्यादि।

टिप्पणी—१ (क) भवसिंधुका कारण 'शुभाशुभ कर्म' है। सो रकारके उच्चारणसे कर्म भस्म हो जाते हैं। पुनः, भवसिंधुका कारण 'अविद्या' है। यह अविद्या अकारके उच्चारणसे नाश होती है। पुनः भवसिंधु तापसे भरा है, वह ताप मकारसे नाश हो जाता है। १९ (१) 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' में देखिये। (ख) "सुखाहीं" का भाव यह कि फिर भवसिंधु नहीं होता। 'सुखाहीं' बहुवचन क्रिया देकर सूचित किया कि जैसे इस जगत्में मुख्य समुद्र सात हैं वैसे ही भवसिंधु भी सात हैं। बहुवचन देकर जनाया कि वे सब सूख जाते हैं। परमेश्वरके मिलनेमें सात विक्षेप वा आवरण हैं, वेही सात समुद्र हैं। वे सात समुद्र ये हैं—"मानसिक, कायिक और वाचिक कर्म, अविद्या, दैहिक, दैविक, भौतिक ताप।"

नोट—४ (क) पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि अविद्यात्मक कर्मका परिणाम देह है, उसेही सागर भी कहा है, यथा—"कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर बिपुल अवगाह दुस्तर अपारं। वि० ५८।" यह देह सप्त धातुओंसे निर्मित हैं, यथा—"सातैं सप्त धातुनिर्मित तनु करिय बिचार। वि० २०३।", 'जायमानो ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः। भा० ३। ३१।' [भा० ३। ३१। ११ में यह श्लोक है। परन्तु पाठ "नाथमान ऋषिर्भीतः" है। अर्थ यह है—"उस समय सात धातुओंसे युक्त शरीरमें अभिमान करनेवाला वह जीव अति भयभीत होकर याचना करता हुआ" (गीताप्रेससंस्करण)] इस प्रकार भी सप्तसागर आ जाते हैं। देहाभिमानको सोखना भवसिंधुका सोखना है।

(ख) सातकी संख्या इस प्रकार भी पूरी कर सकते हैं—पंच कोश (अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय), अहंकार और अविद्या। पुनः, यदि हम समुद्र चार मानें, क्योंकि ये हमारे दृष्टिगोचर होते हैं और कालिदासजीने चार समुद्र मानकर ही रघुवंश में लिखा है—"पयोधरी भूत चतुः समुद्रां जुगोप गोरूपधरामिवोर्वीम् २। ३।", तोभी बहुवचन ही रहता है और उस समय स्थूल, सूक्ष्म, कारण और महाकारण ये चारों शरीर ही चार भवसमुद्र हैं। नामके जपसे पंचकोषादि एवं स्थूल-सूक्ष्मादि शरीर-रूपी भवसिन्धुओंका सूखना यह है कि ये पुनर्जन्मादिके कारण नहीं रह जाते, केवल प्रारब्धक्षयतक आपाततः (ऊपर-ऊपर, देखनेमात्रके) लोक-व्यवहारोपयोगी भर्जितबीजवत् बने रहते हैं। अथवा सात या चारकी संख्या न लेकर भी बहुवचनकी सार्थकता इस प्रकार दिखाई जा सकती है कि 'भव' का अर्थ 'जन्म मरण' होना है और जीवका न जाने कितना संचित कर्म है जिनको भोगनेके लिये न जाने कितने जन्म लेना पड़े। प्रत्येक बारका जन्म-मरण एक समुद्र है। अतः बहुवचन 'सुखाहीं' दिया। (ग) सू. मिश्र लिखते हैं कि 'सुखाहीं' से जनाया कि भवसागरका एकदम अभाव नहीं हो जाता, किन्तु उसका नामभर रह जाता है, उसका गुण कुछ नहीं रहता।

वैजनाथजी—"राम भालु कपि····" इसमें प्रभुका 'चातुर्य गुण' प्रकट हुआ कि सबकी बोली (भाषा) और सर्वकला विद्यामें प्रवीण हैं तभी तो देश-देशके रीछ-वानरोंकी भाषा समझते हैं, उनसे वार्तालाप करते हैं और अगाध समुद्रमें जलके ऊपर चारसौ कोशतक पत्थरोंको तैराकर पुल बाँध दिया। ऐसा दुष्कर दुःसाध्य कार्य केवल अपनी बुद्धिसे किया—यही चातुर्यगुण है। यथा भगवद्गुणदर्पणे—'केवलया स्वबुद्ध्यैव प्रयासार्थविद्····'।

दुःसाध्यकर्मकारित्वं चातुर्य्यं चतुराः विदुः ॥ शाधकात्रपि सिद्धानां चतुराणां च राघवः । कीशानां भाषयः रामः कीशेषु स्वपदेशिकः ॥ ऋचराचस पक्षीषु तेषां गीर्भिस्तथैव सः ॥' यही गुण नामद्वारा अनंतरूप हो लोकोंमें प्रसिद्ध हुआ, ऐसे दुःसाध्य कार्य सुन भवसिंधुसे भयभीत पामर प्राणियोंको शरणमें आनेका उत्साह हुआ और वे नाम जपकर पार हो गए।

नोट—५ "करहु विचार सुजन मन माहीं।" इति। (क) भाव यह कि हम वढ़ाकर नहीं कह रहे हैं, आप स्वयं सुजान हैं, अतः आप विना परिश्रम विचारकर स्वयं देख लीजिये कि नाम वड़ा है कि नहीं। (ख) पूर्व जो कहा है कि—'सुनि गुन भेद समुझिहहिं साधू।' उसीको यहाँ पुनः कहते हैं कि सज्जनो! मनमें विचार करो। अर्थात् इस प्रसंगमें जो विदग्ध शब्दोंमें वचन चातुरी है उसे शब्दार्थ ही समझकर वोध न कर लो किन्तु इसके भीतर जो गुण वर्णन है उसका कारण मनसे विचारो। तात्पर्य यह कि जो गुण रूपसे एक वार प्रकट हुआ वही नाम द्वारा अनंत हो गया, उनका स्मरणमात्र करनेसे अनेकोंका भला हो रहा है। जैसे किसी पंडितने अपने तंत्र-मंत्र-विद्याद्वारा किसी चोरका नाम प्रसिद्धकर उसे पकड़ा दिया तो पंडितका नाम लोकमें प्रसिद्ध हो फैल गया। जहाँ चोरी हुई और उस पंडितका नाम लोगोंने लिया तहाँ ही चोर डरकर वस्तु डाल देता है। रूपके ही गुणका प्रभाव नाममें है। (वैजनाथ जी)

श्रीसुदर्शनसिंहजी—'करहु विचार सुजन'। यहाँ सज्जनोंको विचार करनेको कहा जा रहा है। जो सज्जन नहीं हैं उनके हृदयमें तो भगवल्लीलारहस्य विचार करनेपर भी नहीं आ सकता, किंतु सज्जन विचार करें तो जान सकते हैं। भाव यह है कि आप सज्जन हैं, परमार्थमें आपकी रुचि है, अतः आपको विचार करके यह देख लेना चाहिए कि नामके समान महामहिम और कोई साधन नहीं है। अतः खलोंकी रुचि तो नाममें भलेही न हो पर आपकी रुचि तो नाममें होनी ही चाहिए। सज्जनोंको तो एकमात्र नामका ही आश्रय लेना चाहिए।

राम सकुल* रन रावनु मारा। सीय सहित निज पुर पगु धारा। ५।
राजा राम अवध रजधानी। गावत† गुन सुर मुनि वर वानी। ६।
सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। विनु श्रम प्रवल मोह दलु जीती। ७।
फिरत सनेह मगन सुख अपनें। नाम प्रसाद सोच नहिं सपनें। ८।

शब्दार्थ—सकुल=कुल वा परिवार सहित। रन=लड़ाई। पुर=नगर। पगु (पग)=पैर। धारा=धरा। पगु धारा=प्रवेश किया, गये, पधारे।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीने रावणको परिवार सहित रणमें मारा। (तब) श्रीसीताजी सहित अपने नगरमें प्रवेश किया। ५। श्रीराम राजा हुए, अवध उनकी राजधानी हुई। देवता और मुनिश्रेष्ठ श्रेष्ठ वाणीसे उनके गुण गाते हैं। ६। पर, सेवक नामका प्रेमसे स्मरण मात्र करते हुये विना परिश्रम वड़े भारी वलवान मोहदलको जीतकर प्रेममें मग्न स्वच्छन्द अपने सुखसे विचरते हैं। नामके प्रसाद (कृपा) से उनको स्वप्नमें भी शोच नहीं होता। ७, ८।

नोट—१ इन चौपाइयोंका स्पष्ट भाव यह है कि श्रीरामचंद्रजीको अपनी सेनासहित श्रीसीताजीके लिये रावणसे संग्राम करना पड़ा। रावणको जीतनेमें उनको वड़ा परिश्रम पड़ा, तव कहीं वे श्रीसीतासहित अपने पुर गए और राज्यलक्ष्मीसे सुसम्पन्न हुए। इतने प्रकाण्ड प्रयासके वाद वे सुखी हुए। और उनके सेवकने महा-महिमामय राम नामका सप्रेम स्मरण करके विना परिश्रम ही मोहरूपी रावणको दल सहित जीत लिया और

* सकल कुल-१७२१, १७६२, छ०, भा० दा०। सकुल रन-१६६१, १७०४, को० रा०। † गावत सुर मुनिवर वर-छ०, भा० दा०। गावत गुन सुर मुनि वर—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२।

स्वतंत्र (विमुक्त) स्वराट् होकर स्वानन्दरूपी पुरको प्राप्त हुआ। 'सनेह मगन' अर्थात् नामके स्नेहमें मग्न। 'सुख अपने'=निजानन्द। 'मोह दोल' को जीतनेसे निजानन्दकी प्राप्ति हुई, अर्थात् जीव सम्राट् हुआ।

२ (क) नामकी विशेपता दिखानेके लिए 'रावन' के साथ कोई विशेषण न दिया और 'मोहदल' के साथ 'प्रवल' विशेषण रक्खा। ऐसा करके यह भी जनाया कि रावणसे मोहदल अधिक वलवान् है। रावण तो वहुतों से हार चुका था, यथा—"वलिहि जितन एक गयउ पताला। राखेउ वाँधि सिसुन्ह हयसाला।' इत्यादि (लं० २४), और स्वयं मोहके वश था। (ख) यहाँ मोह रावण है और मोहकी सेना—"काम-क्रोध-लोभादि मद प्रवल मोह कै धारि। ३। ४३।" रावणका सारा परिवार मेघनाद कुम्भकर्ण आदि हैं। यथा—"देव मोह दसमौलि तद्भ्रात अहंकार पाकारिजित काम विश्रामहारी। लोभ अतिकाय मतसर महोदर दुष्ट क्रोध पापिष्ट विवुधांतकारी।४॥ देव द्वेष दुर्मुख दंभ खर अकंपन-कपट दर्प-मनुजाद मद सूलपानी। अमित वल परम दुर्जय निसाचर चमू सहित षडवर्ग गो जातुधानी॥ ५॥' विनय ५८। (ग) वह रावण मोहरूपी रावणसे कम वली था। वह अपनेको, अपनी सेनाको और लंकाराज्यको वचानेके लिये गढ़से वाहर निकल-निकलकर स्वयं लड़ता था, पर मोहरावण तो अपने दल समेत निरन्तर जीवके हृदयरूपी लंकामें निर्भय निवास करता है, वहभी, नामके सप्रेम स्मरण करनेसे सामने आनेकी ताव नहीं लाता, लड़ना तो कोसों दूर रहा। वह तो नामके स्मरणमात्रसे हृदयरूपी लंकाको छोड़कर भाग ही जाता है।

टिप्पणी—१ (क) "गावत गुनसुर मुनि" इति। भाव यह कि जव संकट सहकर साधुओंको सुखी किया तव सुरमुनिने सुंदर वाणीसे यश गाया। यहाँ सुर-मुनिहीको कहा, क्योंकि सुर रावणके वंदीखानेसे छूटे और मुनियोंका भय मिटा। सुरमुनिके यशगानका लक्ष्य उत्तरकाडमें है, यथा—"रिपु रन जीति सुजसु सुर गावत। सीता अनुज सहित प्रभु आवत। ७। २। (ख) 'वर वानी' का भाव कि सुर और मुनि असत्य नहीं वोलते, इसीसे उनकी वाणी श्रेष्ठ है। तात्पर्य यह कि जैसा चरित्र हुआ है, यथार्थ वैसाही गुण गाते हैं। अथवा श्रीरामचन्द्रजीके गुण श्रेष्ठ हैं, सुर मुनि इन गुणोंको गाते हैं इसीसे उनकी वाणीको श्रेष्ठ कहा। (ग) [इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि जवतक रावण जीवित रहा, तवतक श्रीरामजीके गुणोंको सुरमुनि नहीं गाने पाए, उसके मरनेके पीछे इनकी प्रतिष्ठा हुई। (मिश्रजी)। जिस समय रणमें श्रीरामजीका दल विचलित होता था तथा नागपाश और शक्ति लगने इत्यादि अवसरोंपर सुरमुनि हाहाकार मचाते थे। वे न समझते थे कि यह नरनाट्य है। इसीसे जव प्रभु जीते तव परत्व जानकर उनके परत्वका गान करनेवाले हुए। (मा० त० वि०)। 'वरवानी' स्वयं वेद है। इन्होंने भी रूप धारणकर परत्व वर्णन किया ही है। (मा० त० वि०)]

वैजनाथजी - (क) 'राम सकुल····धारा।' के अन्तर्गत वहुतसे गुण हैं। वरके प्रतापसे त्रैलोक्यविजयी तो रावण स्वयं था और उसके परिवारमें कुंभकर्ण मेघनाद आदिभी वर पाये हुए अजित महावली थे—इससे इनसे युद्ध करनेमें स्थिरता, धैर्य, शौर्य, वीर्य (वीरता), तेज और बल आदि गुण प्रकट हुए और वाहुवलके कारण यश हुआ। दूसरे, लोकपालोंको निर्भय किया, पृथ्वीका भार उतारा और सन्तों मुनियोंको अभय किया। यह कृपा, दया गुण है। तीसरे, विभीषणको अचल किया—इसमें अनुकम्पा उदारता गुण है। चौथे, श्रीजानकीजी सहित श्रीअवधमें आना और विभवसहित राज्यसिंहासनासीन होना—यह भाग्यशालीनता गुण है। ये गुण नामद्वारा अनन्त हो लोकमें प्रसिद्ध हुए। (ख) 'राजा राम····' इति। इसमें पूर्व जितने गुण सूक्ष्मरीतिसे कहे गए वे सव तो हैं ही और उनके अन्तर्गत सौंदर्य, लावण्य, आदि अनेक और भी गुण हैं जिनका वोध केवल नामसेही नहीं होता। रूप और चरितके ध्यानकी भी आवश्यकता होती है।

नोट—३ "सेवक सुमिरत नाम सप्रीती" इति। श्रीरामजीके सम्बन्धमें रावणादिका मारना कहा, मारना तमोगुणी क्रिया है। और यहाँ 'सुमिरत' पद दिया जो सात्विक क्रिया है। पुनः 'सप्रीति' पद देकर सूचित किया

कि मोहदलके मारनेमें क्रोध नहीं करना पड़ता और रावण तथा उसके कुलके वधमें रोष करना पड़ा है, यथा—“हाहाकार सुरन्ह जब कीन्हा । तब प्रभु कोपि कारमुक लीन्हा ॥ सर निवारि रिपु के सिर काटे । ६ । ६२ ।”, “राम कृपा करि सूत उठावा । तब प्रभु परम क्रोध कहँ पावा ॥ भए क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे । कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे । ६ । ९०”, “भयउ रोषु रन रावनु मारा । १ । ४६ ।” (भरद्वाजवाक्य), “तब प्रभु कोपि तीब्र सर लीन्हा । धर ते भिन्न तासु सिर कीन्हा ॥६। ७०।” (कुंभकर्णवध प्रसंग), “निर्वानदायक क्रोध जाकर भगति अबसहि बस करी ।३।१६।’

श्रीबैजनाथजीका मत है कि—(क) यहाँ ‘सेवक=सेवा (अर्थात् षोड़शोपचार पूजा श्रीशालग्रामजी वा श्रीस्वरूप वा चित्रादिमें, अथवा मानसी परिचर्या) करनेवाले । सप्रीति प्रेमपूर्वक, अर्थात् इन्द्रियोंके विषय मनमें मिल जायँ, मन-चित्त-अहंकारकी वासना बुद्धिमें लीन हो जाय और बुद्धि शुद्ध अनुकूल होकर प्रभुके गुणोंका स्मरण करती हुई लाखों प्रकारकी अभिलाषाएँ करती रहे । यथा भगवद्गुणदर्पणे—“अत्यंत-भोग्यताबुद्धिरनुकूल्यादिशालिनी । अपरिपूर्णरूपा या सा स्यात्प्रीतिरनुत्तमा ।।” प्रीतिके आठ अंग ये हैं—प्रणय (मैं तुम्हारा हूँ तुम हमारे हो), आसक्ति, लगन, लाग, अनुराग (चित प्रेमरंगमें सदा रँगा रहे), प्रेम (रोमांच, गद्गद् कंठ आदि चिह्नोंसे सदा शरीर पूर्ण रहे), नेह (मिलनि, बोलनि, हँसनिमें प्रसन्नता) और प्रीति (शोभासहित व्यवहार) । भाव यह कि ऐसे जो सेवक हैं वे प्रेममें भरे हुए प्रभुके स्थिरता, शौर्य, वीर्य आदि उपर्युक्त गुणोंको स्मरण करते हुए नाम जपते हुए प्रबल मोहदलको अनायास जीत लेते हैं । (ख) ‘प्रबल’ कहनेका भाव यह है कि विवेकादिके मानके ये नहीं हैं, इनके सामने विवेकादि भाग जाते हैं यथा—‘भागेउ विवेक सहाय सहित…।१।८४।’ “मुनि विज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ ।३।३८।’

नोट—४ ‘सेवक सुमिरत नाम सप्रीती ।…’ यह उपसंहार है । ‘नामु सप्रेम जपत अनयासा ।२४।२।’ इसका उपक्रम है । ‘फिरत सनेह मगन सुख अपने…’ उपसंहार है और ‘भगत होहिं मुद मंगल वासा ।२४।२।’ उपक्रम है । सगुण राम और श्रीरामनामकी तुलनाके इस अंतिम प्रसंगमें नाम-साधनके उच्च एवं आदर्श स्वरूपका वर्णन करके उसका परम फल दिखलाते हैं । जिस उच्च साधन (नाम सप्रेम…मंगल वासा) से यह प्रसंग प्रारंभ हुआ था, उसी स्थितिमें उसका पर्यवसान भी किया गया । वहाँ ‘सप्रेम और ‘भगत’ यहाँ ‘सप्रीती’ और ‘सेवक’, वहाँ ‘मुद मंगल वासा’ और यहाँ ‘फिरत सनेह मगन सुख अपने’ । पर्यवसानके समय यह स्पष्ट कर दिया गया कि ‘सप्रेम जप’ करनेवालेका मोह एवं समस्त मोह-परिवार नष्ट होता है और वह ‘अपने सुख’ आत्मानन्दमें मग्न होकर विचरण करता है । उसका मुद मंगल वाह्य उपकरण या निमित्तकी अपेक्षा नहीं करता । (श्रीसुदर्शनसिंहजी) ।

नोट—५ “फिरत सनेह मगन सुख अपने” इति । (क) बैजनाथजी लिखते हैं कि—स्मरण करते-करते नामके प्रतापसे प्रभुके चरणकमलोंमें प्रीति हुई, जिससे मन ‘स्नेह’ रंगमें रँग गया, लोक-वासना छूट गई, मन शुद्ध होकर श्रीरामस्नेहसे अपने सुख.. मग्न हो गया अर्थात् स्वतंत्र हो गया; इसीसे निर्भय विचरते हैं । (ख) श्रीरामजीके सेवक वानर, रीछ, राक्षस विभीषणादि ब्रह्मानंदमें मग्न हो गए थे, प्रभु पदमें प्रीति ऐसी थी कि उनको छः मास बीतते जानही न पड़ा । यथा—“नित नइ प्रीति रामपदपंकज ।…ब्रह्मानंद मगन कपि सब कें प्रभु पद प्रीति । जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीति । ७ । १५ । बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं ।”—यह जो श्रीरामरूपमें गुण दिखाया वही गुण नाममें अनंत सेवकों द्वारा दिखाते हैं ।

६ “नाम प्रताप सोच नहिं सपने’ इति । (क) ‘नाम-प्रताप’ का भाव कि रीछ, वानर आदि रूपके प्रतापसे निर्भय थे । यथा—“अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम । सदा सर्वगत सर्वहित जानि करेहु अति प्रेम । ७ । १६ ।”, ‘निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू । सुमिरेहु मोहिं डरपहु जनि काहू । ६ । ११७ ।’ और नामके प्रतापसे सभी नामजापक सेवक निजानंदमें मग्न निर्भय रहते हैं । (ख) रूपके सेवकोंको शत्रु आदिका शोच, घरबार

आदिका शोच, अपने शरीर आदिका शोच प्रभुके बलपर नहीं था और नामजापक सेवकको कामादि शत्रुओंका, घरबार आदिके पालनका एवं अपनी देहादिका शोच नामके प्रतापसे नहीं रहता। (ग) "सोच नहिं सपने" में ध्वनि यह है कि रामचन्द्रजीको राज्य मिलनेपर भी लवणासुरके मारनेकी, श्रीसीताजीके प्रति पुरवासियोंके संदेह इत्यादिकी चिन्ताएँ बनी ही रह गईं, पर जापक जनको स्वप्नमेंभी चिन्ता नहीं रहती, जाग्रतिकी कौन कहे? यथा—"तुलसी गरीब की गई-बहोर रामनाम, जाहि जपि जीह रामहू को बैठो धुति हौं। प्रीति राम नाम सौं प्रतीति रामनाम की, प्रसाद रामनाम के पसारि पायँ सूति हौं। क० उ० ६९।" सप्रेम नाम-जप करनेवालेको आत्म साम्राज्य प्राप्त हो जानेपर राज्यरक्षणादिका कोई दायित्व उसपर नहीं रह जाता।

श्रीसुदर्शनसिंहजी—मानसका पूरा प्रसंग आत्मबलका आध्यात्मिक अर्थभी रखता है। उस अर्थकी ओर भी यहाँ संकेत है। 'अष्ट चक्रा नवद्वारा देवानां पुर अयोध्या।' आठचक्रों और नव द्वारोंकी अयोध्या नगरीसी मानव देह ही है। मोह रावण है और उसका प्रबल दल कामादि हैं। मोहदलको जीतकर रावणवधके पश्चात् आत्मसुख-अयोध्याके सिंहासनपर शान्तिके साथ प्रतिष्ठा होती है।

दोहा—ब्रह्म राम तें नामु बड़ बरदायक बरदानि।
रामचरित सतकोटि महँ लिय महेस जिय जानि॥ २५॥

शब्दार्थ—बरदायक=बरदान देनेवाले=बरदानि। जिय = हृदयमें=प्राण, आत्मा, सार। सत=सौ।

अर्थ—ब्रह्म (निर्गुण अव्यक्त) और राम (सगुण व्यक्त) से (राम) नाम बड़ा है, बड़े-बड़े वर देनेवालोंको भी वरका देनेवाला है। श्रीमहादेवजीने मनमें (ऐसा) जानकर (अथवा, इसको सबका प्राण जानकर) 'शतकोटि रामचरित' में से चुनकर ले लिया॥ २५॥

नोट—१ 'रामसे नाम क्यों बड़ा है', यह बात दृष्टान्त देकर दोहा २३ 'कहउँ नाम बड़ राम तें निज बिचार अनुसार' से लेकर यहाँतक बताई। और निर्गुण (अव्यक्त) ब्रह्मरामसे नामका बड़ा होना दोहा २३ (५) से 'निरगुन तें येहि भांति बड़ नाम प्रभाउ अपार। ५३।' तक कहा गया। अब यहाँ उपसंहारमें दोनोंको फिर एक-साथ कहते हैं। 'ब्रह्म राम तें नामु बड़....' 'कहेउँ नाम बड़ ब्रह्म राम तें' २३ (५) उपक्रम है। यहाँ तक अव्यक्त ब्रह्म राम, व्यक्त ब्रह्म (सगुण) राम और नाम दोनोंके गुण दिखलाकर यह सिद्ध किया कि जो गुण राममें हैं वे सब वरंच उनसे अधिक नाममें हैं। क्योंकि वे गुण नामद्वारा अनंत हो जाते हैं।

२ "बरदायक बरदानि" इति। मुख्य वरदाता तीन हैं—ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ये भी रामनाम जपकर ही सिद्ध हुए हैं। यथा—"अहं च शंकरो विष्णुस्तथा सर्वे दिवौकसः। रामनामप्रभावेन संप्राप्ताः सिद्धिमुत्तमाम्।" (विष्णुपुराणे ब्रह्मवाक्यं), "सावित्रीब्रह्मणासार्द्धं लक्ष्मीनारायणेन च। शम्भुना रामरामेति पार्वति जपति स्फुटम्॥" (पुलह संहिता), "यत्प्रसादेन कर्त्ताभूद्देवो ब्रह्मा प्रजापतिः। यत्प्रभावेनहर्त्ताहं त्राता विष्णु रमापतिः॥ ये नराधम लोकेषु रामभक्तिपराङ्मुखाः। जपं तपं दयां शौचं शास्त्राणामवगाहनम्। सर्वं वृथा विना येन शृणुत्वं पार्वति प्रिये॥" (रुद्रयामल)। इन उद्धरणोंसे भी यह सिद्ध है कि विधि-हरि-हर आदि सभी रामनामके प्रभावसे वरदाता हैं। गणेशजी इसीसे प्रथम पूज्य हुए। शक्तिजी सदा जपती ही हैं।

☞ 'रामचरित सतकोटि महँ'...इति*। आनन्दरामायण मनोहरकाण्डमें लिखा है कि वाल्मीकिजीने 'शतकोटि रामायण' रचा। उसमें सौ-करोड़ श्लोक, नौ लाख कांड और नव्वेलाख सर्ग हैं। यथा—"नव-

* अर्थ—(२)—"राम ब्रह्मसे नाम बड़ा है, वरदेनेवाला है। इसीके प्रसादसे श्रीमहादेवजी स्वयं वरदायक हुए हैं (सु० द्विवेदीजी।)॥

श्लोकानामानि शतकोटिमिते द्विज ॥ १४ ॥ सर्गाः नवति लक्षांश्च ज्ञातव्या भुवि कीर्त्तिताः । कोटिनां च शतं श्लोक मानं नैव विस्तरैः ॥ सर्ग १७ । २५ ।" आनंदरामायणादि अनेक रामायणोंमें उसीकी बहुत संक्षिप्त कथाएँ हैं और जो वाल्मीकीय आजकल प्रचलित है वहभी उसीमेंसे ली हुई संक्षिप्त कथा है। यह चतुर्विंशति वाल्मीकीय रामायण सबमें प्रथम है। (सर्ग ८ श्लोक ६३ आदि)।

(२) आनन्दरामायण यात्राकांडमें लिखा है कि—वाल्मीकिजीने शतकोटि रामायण लिखा। मुनियोंने उसको ग्रहण किया। आश्रममें कथा होती थी। तीनों लोक देव, यक्ष, किन्नर, दैत्य आदि सुननेको आते थे। तब सबने सविस्तर सुना तब सभीको चाह हुई कि हम इस काव्यको अपने लोकको ले जाएँ। परस्पर बहुत वाद-विवाद होने लगा तब शिवजी सबको रोककर उस ग्रंथको लेकर सबके सहित क्षीरसागरको गए और भगवानसे इन्होंने सब कलह निवेदन किया। तब भगवान्‌ने उसके तीन भाग बराबर-बराबर किये। इस तरह तेंतीसकरोड़ तेंतीसलाख तेंतीस हज़ार तीनसौ तेंतीस श्लोक और दस अक्षर प्रत्येक भागमें आए। केवल राम ये अक्षर बच रहे। तब शिवजीके माँगनेपर भगवान्‌ने ये दोनों अक्षर उनको दिये जिससे शिवजी अंतकालमें काशीके जीवोंको मुक्ति देते हैं। यथा—"द्व्यक्षरं याचमानाय मह्यं शेषे ददौ हरिः। उपदिशाम्यहं तावत्तेऽन्तकाले नृणां श्रुतौ। १५। रामेति तारकं मंत्रं तमेव विद्धि पार्वति। १६" (सर्ग २)।

(३) उपर्युक्त तीन भागोंमेंसे एक भाग देवताओंको, एक मुनियोंको और तीसरा नागोंको मिला। मुनियोंवाला भाग पृथ्वीमें रहा। पृथ्वीमें बराबर-बराबरके सात भाग करके यह भाग बाँट दिया गया। चार करोड़ सत्तर लाख उन्नीस हज़ार सैंतालीस श्लोक सातोंको बटनेपर चार श्लोक बच रहे। वह भगवानसे ब्रह्माजीने माँग लिये। ये चार श्लोक वही हैं जो नारदजीने व्यासजीको उपदेश किया जिसका विस्तार 'श्रीमद्भागवत' हुआ। जिस द्वीपमें जितने खण्ड हैं उस द्वीपका भाग उतने खंडोंमें समभाग होकर बँटा। जम्बूद्वीपमें नौ खण्ड हैं। अतएव इसके प्रत्येक खण्डमें बावन लाख एकानवे हज़ार पाँच श्लोक और सात-सात अक्षर गए। एक अक्षर 'श्री' बच रहा। भगवान्‌ने कहा कि यह अक्षर नवो खण्डवाले अपने यहाँके नामके समस्त मंत्रोंमें लगा लें। जितनेभी पुराण, उपपुराण, शास्त्र आदि ग्रन्थ जम्बूद्वीपके भारतवर्षमें हैं, वे सब इन्हीं बावन लाख एकानवे हज़ार पाँच श्लोकोंसे निर्माण किये गये हैं।

शतकोटि रामचरितके बटवारेका उल्लेख तथा श्रीशिवजीका उसमेंसे केवल 'रा' 'म' इन दो अक्षरोंका पाना हमें बहुत खोजने पर भी अभीतक आनन्दरामायण ही में मिला है। इस लिये प्रसंगानुकूल हमने इसको सर्वप्रथम यहाँ लिखा।

(४) शतकोटिकी चर्चा कुछ पुराणों तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी पाई जाती है। (क) पद्मपु० पाताल-खण्डमें शेषजीने वात्स्यायनजीसे जो कहा है कि—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटिप्रविस्तरम्। येषां वै यादृशी बुद्धिस्ते वदन्त्येव तादृशम्॥ १। १४।" अर्थात् श्रीरघुनाथजीका चरित शतकोटि श्लोकमें विस्तारसे लिखा गया है। जिसकी जितनी बुद्धि है, उतना वह कहता है—इससे भी श्रीरामचरितका शतकोटि-श्लोकबद्ध होना प्रामाणिक है।

(ख) पाराशर्य उपपुराणमें वाल्मीकीय रामायणके माहात्म्यमें लिखा है कि—यह जो शतकोटि रामायण है वह मेरे (शिव) लोकमें, विष्णुलोक और सत्य लोकमें विराजमान है। ध्रुवलोकमें पचास करोड़, गोलोकमें दस करोड़, इन्द्रलोकमें एक करोड़, सूर्यलोकमें पचास करोड़, गन्धर्व-यक्षादि मुख्य-मुख्य लोकोंमें एक-एक करोड़ गाया जाता है। उसीमें चौबीस हज़ार देवर्षि नारदजी परमानन्दमें निमग्न होकर व्याख्यान करते हैं जिसको उनके मुखसे सुनकर तुम (पार्वतीजी) पाठ किया करती हो। इसीका उपदेश नारदजीने वाल्मीकिजीको किया और उनके द्वारा यह मर्त्यलोकमें प्रसिद्ध हुआ। यथा—"एतद्रामायणं श्रीमच्छतकोटिप्रविस्तरम्। मल्लोके

विष्णुलोके च सत्यलोके च भामिनी ।३५।''व्याख्याति नारदस्तेषां परमानन्दनिर्भरः । ३८ । चतुर्विंशति साहस्री श्रीरामायण संहिताम् । उपादिशत् स वाल्मीके लोके प्राची कशत सताम् ।३६। यामेतां नारदात् श्रुत्वा त्वन्नित्यं पठसि प्रिये । सैषा चरति भूलोके श्रीरामायणसंहिता । ४० । (अ० ५) ।''

(ग) शिवसंहिता (श्रीहनुमत्प्रेस, श्रीअयोध्याकी छपी हुई) में इस सम्बन्धके श्लोक ये हैं—''रामायणस्य कृत्स्नस्य वक्ता तु भगवान्स्वयम् । ब्रह्मा चतुर्मुखश्चान्ये तस्योच्छिष्ट भुजः प्रिये । ९ । अनन्तत्वेपि कोट्यानां शतेनास्य प्रपंचनम् । रामायणस्य बुध्यर्थं कृतं तेन विजानता । १० । अ० ७ ।' अर्थात् समग्र रामायणके वक्ता स्वयं चतुर्मुख भगवान् ब्रह्मा हैं । यद्यपि श्रीरामचरित अपार है तथापि अपने बोधके लिये शतकोटिमें रचा गया है ।

इन तीनोंमें रामचरितका 'शतकोटि' होना पाया जाता है । परन्तु इनमें बटवारेकी चर्चा नहीं है । अन्य किसी स्थलपर हो तो ज्ञात नहीं है । तीसरेमें केवल भेद इतना है कि शतकोटिरामायणके कर्त्ता ब्रह्माजी बताए गए हैं जो कल्पभेदसे ठीक हो सकता है । अथवा, ब्रह्मा और वाल्मीकिमें अभेद मानकर कहा गया हो। तत्त्वदीपिकाकार श्रीमहेश्वरतीर्थजीने स्कंद पुराणके—''वाल्मीकिरभवद्ब्रह्म वाणी वाक्तस्यरूपिणी । चकार रामचरितं पावनं चरितव्रतः ।'' इस प्रमाणसे वाल्मीकिजीको ब्रह्माजीका अंशावतार माना है ।

श्री पं० नागेशभट्टजीने अपने 'रामाभिरामीय' टीकामें लिखा है कि ब्रह्माके अंशभूत प्राचेतस वाल्मीकिजीने अपनी रची हुई शतकोटि रामायणका सारभूत चतुर्विंशति सहस्र श्लोकात्मक वाल्मीकीय रामायण कुश और लवको पढ़ाया । यथा—''ब्रह्मांशभूत एव भगवान् प्राचेतसो वाल्मीकिः स्वकृतशतकोटिरामायणसारभूतं'''रामायणं चतुर्विंशतिसहस्रश्लोकरूपं कुशलवाभ्यामग्राहयत् ।'' (बालकांड सर्ग १ श्लोक १ में से) । इसका प्रमाण वे यह देते हैं—''शापोक्त्या हृदिसंतप्तं प्राचेतसमकल्मषम् । प्रोवाच वचनं ब्रह्मा तत्रागत्य सुसत्कृतः । ननिषादः स वै रामो मृगयाम् चर्तुमागतः । तस्य संवर्णनेनैव सुश्लोक्यस्त्वम् भविष्यसि ।। इत्युक्त्वा तं जगामाशु ब्रह्मलोकं सनातनः । ततः संवर्णयामासः राघवं ग्रंथ कोटिभिः ।।'' अर्थात् निषादको शाप देनेके पश्चात् मुनिको पश्चात्ताप हुआ, तब वहाँ ब्रह्माजी आ प्राप्त हुए । उनका सत्कार होनेके बाद उन्होंने कहा कि वह निषाद नहीं था किंतु श्रीरामही मृगयाके मिष आए थे । उनके वर्णनसे तुम प्रसिद्ध हो जाओगे । ऐसा कहकर वे ब्रह्मलोकको चले गए । तत्पश्चात् उन्होंने कई करोड़ श्लोकोंमें रामायण बनाया । श्रीनागेशभट्टजी श्लोकान्तर्गत ''कोटिभिः'' का अर्थ शतकोटि करते हैं । कोटिभिः का अर्थ है 'करोड़ों', परन्तु अन्यत्र 'चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्' ऐसा वाक्य आया है । उसके संबंधसे यहाँ 'कोटिभिः' का अर्थ शतकोटि किया है । इससे भी हमारे उपर्युक्त कथनकी पुष्टि होती है ।

परन्तु, (घ) मत्स्य पुराण अ० ५३ में भगवान्ने कहा है कि प्रथम एकही पुराण था जिसको ब्रह्माने शतकोटि श्लोकोंमें बनाया था । यथा-''पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम् ।३। पुराणमेकमेवासीत्तदा कल्पान्तरेऽनघ । त्रिवर्गसाधनं पुण्यं शतकोटिप्रविस्तरम् । ४ ।'' कालानुसार जब लोग इतने भारी विषयको ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाते हैं तब मैं ही व्यासरूपसे द्वापरके अंतमें चार लक्ष प्रमाण में अठारह पुराणोंके रूपमें उसीको बनाता हूँ । वह शतकोटि देवलोकमें अद्यापि विराजमान् है । (श्लोक ८—१०) । वेदार्थप्रतिपादक एकलक्षप्रमाणका महाभारत बनाता हूँ । ब्रह्माने जो शतकोटि बनाया है, उसमेंसे श्रीरामोपाख्यान ग्रहण करके उन्होंने नारदजीको बताया और उसीको वाल्मीकिजीने चौबीसहजार प्रमाणमें बनाया । इस प्रकार सवापाँच लाख प्रमाणका पुराण भारतवर्षमें वर्तमान है । यथा—'भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम् लक्षेणैकेन यत्प्रोक्तं वेदार्थपरिबृंहितम् । ६९ । वाल्मीकिना तु यत्प्रोक्तंरामो पाख्यानमुत्तमम् ब्रह्मणाभिहितं यच्च शतकोटिप्रविस्तरम् । ७० । आहृत्य नारदायैव तेन वाल्मीकये पुनः । वाल्मीकिना च लोकेषु धर्मकामार्थ साधनम् । एवं सपादः पंचैतेलक्षामर्त्ये प्रकीर्तिताः ।। ७१ ।।''

लगभग यही सब विषय स्कंद पु० प्रभासखंड प्रभासमाहात्म्य अ० २ श्लोक ६३ इत्यादिमें है और कुछ श्लोकभी दोनोंके मिलते हैं, केवल इतनी बात (स्कंदमें इस स्थानमें) नहीं है कि प्रथम एकही पुराण था। इन दोनों ग्रंथोंमें वर्तमान वाल्मीकीयका इस शतकोटिपुराण से रचा जाना सिद्ध होता है और उपर्युक्त अन्य प्रमाणोंमें वर्तमान वाल्मीकीयका शतकोटिरामायणसे रचा जाना पाया जाता है। इससे यह निश्चय होता है कि शतकोटिरामायण और शतकोटि पुराण एकही वस्तु हैं। ऐसा मान लेनेसे एकवाक्यता हो सकती है।

इसपर शंका हो सकती है कि जब वह शतकोटि रामायण ही है तब उसको पुराण कहकर उससे वर्तमान चतुर्विंशति वाल्मीकीयका होना क्यों कहा ? तो उसका समाधान यह हो सकता है कि संभवतः उसमें श्रीरामचरितके साथ-साथ अन्य देवताओं; अवतारों और राजाओं आदिके उपाख्यान प्रसंगानुसार विस्तृतरूपसे कहे गए हैं, उसमेंसे रामभक्तोंके लिये केवल श्रीरामचरित चुनकर यह वालमीकीय ग्रंथ बनाया गया और उसका नाम रामायण रक्खा गया और इस चतुर्विंशतिवालमीकीयसे उस शतकोटिका भेद दिखानेके लिये उसका नाम रामायण न कहकर व्यासजीने उसे 'पुराण' कहा; जिसका अर्थ पुराण अर्थात् प्राचीन पुरातन (रामायण) हो सकता है।

नोट—३ श्रीसुदर्शनसिंहजीका मत है कि प्रत्येक त्रेतायुगमें श्रीरामावतार होता है। इस तरह ब्रह्मा के एक दिनमें चौदह बार श्रीरामावतार होता है। (हमको इसका प्रमाण नहीं मिला)। ब्रह्माकी पूरी आयु भगवान् शंकरका एक दिन है। शंकरजी अपने वर्षोंसे सौ वर्ष रहते हैं। फिर शिवकी पूरी आयु भगवान् विष्णुका एक दिन है। ये भी अपनी आयुसे सौ वर्ष रहते हैं। विष्णुके सौ वर्ष पूरे होनेपर एक सृष्टिचक्र पूरा होता है। स्मरण रहे कि यहाँ जिन त्रिदेवकी बात है वे त्रिगुणोंमेंसे रज, तम और सत्वके अधिष्ठाता हैं। त्रिपाद्विभूतिस्थ त्रिदेव शाश्वत हैं, उनकी चर्चा यहाँ नहीं है।—सृष्टिके इतने दीर्घ चक्रमें प्रत्येक त्रेतामें जो रामावतार होते हैं उनमें कुछ-न-कुछ चरितगत अंतर रहता है। अतः प्रत्येक त्रेताका रामचरित भिन्न-भिन्न है। ऐसे रामचरितों रामायणोंकी कोई संख्या करना कठिन है। ७। ५२ (२) 'राम चरित सतकोटि अपारा'में 'शतकोटि' के साथ 'अपारा' कहकर सूचित किया है कि कवि शतकोटि को 'अनंत' के अर्थमें लेता है। इन रामायणोंमेंसे अपनी रुचि एवं अधिकारके अनुसार लोग किसी चरितको अपना आदर्श आराध्य बना लेते हैं। किन्तु भगवान् शंकरने अपना कोई चरित आराध्य नहीं बनाया। वे तो रामनामके आराधक हैं, यही यहाँका भाव है।

गोस्वामीजीका मत है कि कल्प कल्पमें श्रीरामावतार होता है। इस प्रकार भी ब्रह्माकी आयुभरमें छत्तीस हजार बार श्रीरामावतार होना निश्चित ही है। शिवजी की आयुभरमें ३६००० × ३६००० बार अवतार होना चाहिए और सृष्टिके एक चक्र में ३६००० × ३६००० × ३६००० अर्थात् ४६६५६००००००००० बार अवतार निश्चित होता है।

नोट—४ "जब 'रा' 'म' को शिवजीने सार समझकर ले लिया, तो वहाँ तो छाँछ ही रह गया ?" इस शंकाका समाधान यों किया जाता है कि 'रामायण' का अर्थ 'राम + अयन' अर्थात् 'रामका घर' है। वे तो उसमें सदा रहते ही हैं। पुनः, 'रामायण' को राम-तन भी कहते हैं क्योंकि नाम, रूप, लीला, धाम चारों नित्य परात्पर सच्चिदानन्द विग्रह (भगवान्के) माने गए हैं और रामचरित्र ही रामलीला है। पुनः, रामायणके लिए आशीर्वाद है कि उसका एक-एक अक्षर महापातकको नाश करनेवाला है। प्रमाण यथा—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातकनाशनम् ॥"

विनयपत्रिकामें भी ऐसा ही कहा है, यथा—"सतकोटि चरित अपार दधिनिधि मथि लियो काढ़ि वामदेव नाम घृत है।" (पद २५४)। जो भाव वहाँ है वही यहाँ है। वहाँ पूरा रूपक है, यहाँ साधारण वर्णन है। इसमें

उपमाका एक देश केवल ग्रहण किया गया है। जैसे वेदोंका सार प्रणव 'ॐ' और 'राम' नाम है। ॐ या राम नाम सार लेनेसे वेदका महत्व घटा नहीं और न वह निःसार हुआ, वैसे ही 'राम' नाम रामायणमेंसे लेनेसे रामायण फिरभी वैसीही परिपूर्ण है। 'राम' नाममें सारा चरित बीजरूपसे है, उसके अर्थमें सारा चरित है जैसा आगे दिखाया गया है। वाक्य और अर्थ अभिन्न हैं। भाव यह कि 'राम' नामसे ही सारा चरित भरा है, जो कार्य चरितसे होता है वह 'राम' नामसे होता है, यह समझकर उन्होंने इसीको अपनाया।

मिश्रजी—'राम' यह दोनों अक्षर रामायणका सार कैसे? उत्तर—रामतापिनी उपनिषद्में लिखा है 'राजते महीस्थतः' इसके दोनों शब्दोंके प्रथम अक्षर लेनेसे 'राम' निकलता है। यथा 'राजते' का 'रा' और 'महीस्थितः' का 'म' अर्थात् राम। एवं समस्त रामायण 'राम' इस नामसे निकलता है। इस कारण रामायण-का जीवात्मा 'राम' शब्द है।

संतश्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'राम' के अर्थमें सारा चरित्र है जैसा रामतापिनीसे सिद्ध होता है—"रवोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः। स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः॥···राक्षसान्मर्त्य-रूपेण राहुर्मनसिजं यथा। प्रभा हीनांस्तथा कृत्वा राज्यार्हाणां महीभृताम्॥ धर्म्म-मार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः। तथा ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्य्यं स्वस्य पूजनात्॥ तथा रामस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्वतः॥" अर्थात् पृथ्वीतलपर जो रघुकुलमें विराजते हैं और जिनको तत्ववेत्ताओंने 'राम' नामसे प्रकट किया। नररूप धारण करके राक्षसों को इस तरह प्रभाहीनकर, जैसे राहुचन्द्रमाको करता है, अपने चरितद्वारा यथायोग्य राजाओंके धर्ममार्गको, नामसे ज्ञानमार्गको, ध्यानसे वैराग्यको और पूजनसे ऐश्वर्यको दर्शित करनेके कारण पृथ्वीपर तत्त्वतः श्रीरामजीका रामनाम प्रसिद्ध होगया। (रा० पू० ता० १—५)।

नाम प्रसाद संभु अबिनासी। साजु अमंगल मंगलरासी॥ १॥
सुक सनकादि सिद्ध[1] मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी॥ २॥

अर्थ—नामके प्रसादसे शिवजी अविनाशी हैं और (शरीरमें) अमंगल सामग्रियाँ होनेपर भी मंगलकी राशि हैं। १। श्रीशुकदेवजी श्रीसनकादिजी, सिद्ध, मुनि और योगी लोग नामहीके प्रसादसे ब्रह्मसुखके भोग करनेवाले हैं। २।

नोट—१ अब नामकी बड़ाई पाँचवें प्रकारसे कहते हैं। (पं० रामकुमारजी)। वा, अब नामका फल कहते हैं (मा० प्र०)। अथवा, अब नामके बड़ाई की करनी वा कामका फल कहते हैं। (रा० प्र०, सू० मिश्र)।

२—पं० सुधाकर द्विवेदी—"विष खानेसे भी न मरे, इसलिए 'अविनाशी' होना सत्य हुआ। यद्यपि चिताकी भस्म, साँपका आभूषण, नरमुण्डके माल इत्यादि अशुभ वेष किए हैं, तथापि नामके बलसे महादेव मंगलकी राशि कहलाते हैं, शंकर शिव इत्यादि नामसे पुकारे जाते हैं और बात-बातपर सेवकोंपर प्रसन्न हो अलभ्य वरदान देते हैं; जिनके पुत्र गणेशजी मंगलमूर्त्ति कहलाते हैं, वे वस्तुतः मंगलराशि हैं।

३—मा० मा० कारका मत है कि "शंभु तो सनातन अविनाशी हैं ही, पर नामके प्रसादसे सब साज भी अविनाशी और मंगलके राशि हो गए।" पर अर्थमें उन्होंने यही लिखा है कि "नाम ही की कृपासे शिवजी अविनाशी हैं।" और यही ठीक है जैसा कि "कालकूट फल दीन्ह अमी को" से स्पष्ट है।

श्रीरामनामकेही प्रतापसे अविनाशी भी हुए इसके प्रमाण ये हैं—"यन्नाम सततं ध्यात्वाऽविनाशित्त्वं परं मुने। प्राप्तं नाम्नैव सत्यं सगोप्यं कथितं मया।" (शि० पु०)। "रामनाम प्रभावेण ह्यविनाशि पदं प्रिये।

[1] साधु—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। सिद्ध—१६६१, १७०४।

प्राप्तं मया विशेषेण सर्वेषां दुर्लभं परम् ।' (आदिपुराण) । विशेष १६ (३) "महामंत्र जोइ जपत महेसू ।…" में लिखा जा चुका है । (पूर्व संस्करणों में जो लिखा गया था वह प्रसंगानुकूल न होने से छोड़ दिया गया) ।

नोट—४ "साजु अमंगल मंगलरासी" इति । श्रीरामनामकी ही कृपा और प्रभावसे अमंगल वेषमें भी मंगलराशि हैं, इसका प्रमाण पद्मपुराणमें है । कथा इस प्रकार है—श्रीपार्वतीजी पूछ रही हैं कि—"जब कपाल, भस्म, चर्म, अस्थि आदिका धारण करना श्रुतिवाह्य है तब आप इन्हें क्यों धारण करते हैं ।" यथा—"कपालभस्मचर्मास्थिधारणं श्रुतिगर्हितम् । तत्त्वया धार्यते देव गर्हितं केन हेतुना । १६ ।" श्रीशिवजीने उत्तर देते हुए कहा है कि एक समयकी वात है कि नमुचि आदि दैत्य सर्वपापरहित भगवद्भक्तियुक्त वेदोक्त आचरण करनेवाले होकर, इन्द्रादिदेवताओंके लोक छीनकर राज्य करने लगे । तब इन्द्रादि भगवान्‌की शरण गए पर भगवान्‌ने उनको भगवद्भक्त और सदाचारी होनेके कारण मारना उचित न समझा । भक्त होकर भी भगवान्‌के बाँधे हुए लोक-मर्यादा और नियम भंग कर रहे हैं, अतः उनका नाश करना आवश्यक है; इसलिये उनकी बुद्धिमें भेद डालकर सदाचारसे मन हटानेकी युक्ति सोचकर वे (भगवान्) हमारे पास आए और हमें यह आज्ञा दी कि आप दैत्योंकी बुद्धिमें भेद डालकर उस सदाचारसे उनको भ्रष्ट करनेके लिये स्वयं पाखंडधर्मोंका आचरण करें । यथा—"त्वं हि रुद्र महाबाहो मोहनार्थे सुरद्विषाम् । पाखण्डाचरणं धर्मं कुरुष्व सुरसत्तम् । २८ ।" [पाखंडाचरणधर्मका लक्षण पार्वतीजीसे उन्होंने पूर्वही बताया है । वह इस प्रकार है—"कपालभस्मास्थिधरा ये ह्यवैदिक लिङ्गिनः । ऋते वनस्थाश्रमाच्च जटावल्कलधारिणः । ५ । अवैदिक क्रियोपेतास्ते वै पाखंडिनस्तथा ।"] "आपका परत्व सब जानते ही हैं । इसलिये आपके आचरण देखकर वे सब दैत्य उसीका अनुकरण करने लगेंगे और हमसे विमुख हो जायँगे । और जब-जब हम अवतार लिया करेंगे तब-तब उनको दिखानेके लिये हम भी आपकी पूजा किया करेंगे जिससे उनका इन आचरणोंमें विश्वास हो जायगा और उसीमें लग जानेसे वे नष्ट हो जायँगे ।" यह सुनकर हमारा मन उद्विग्न हो गया और मैंने उनको दंडवत कर प्रार्थना की कि मैं आज्ञा शिरोधार्य करता हूँ पर मुझे बड़ा दुःख यह है कि इन आचरणोंसे मेरा भी नाश हो जायगा और यदि नहीं करता हूँ तो आज्ञा उल्लंघन होती है, यह भी बड़ा दुःख है ।

मेरी दीनता देख भगवान्‌ने दया करके मुझे अपना सहस्रनाम और षडक्षर तारक मंत्र देकर कहा कि मेरा ध्यान करते हुए मेरे इस मंत्रका जप करनेसे तुम्हारा सर्व पाखंडाचरणका पाप नष्ट हो जायगा और तुम्हारा मंगल होगा । यथा—"दत्तवान्कृपया मह्यमात्मनामसहस्रकम् । ४६ । हृदये मां समाधाय जप मंत्रं ममाव्ययम् ॥ षडक्षरं महामंत्रं तारकब्रह्मसंज्ञितम् । ४७ । इमं मंत्रं जपन्नित्यममलस्त्वं भविष्यसि । भस्मास्थिधारिणाद्यत्तु संभूतं किल्बिषं त्वयि । ५१ । मंगलं तदभूत्सर्वं मन्मंत्रोच्चारणाच्छुभात् ।" अतएव देवताओंके हितार्थ भगवान्‌की आज्ञासे मैंने यह अमंगल साज धारण किया । (पद्म पु० उत्तरखंड अ० २३५) ।

"साजु अमंगल" इति । कपाल, भस्म, चर्म, मुंडमाला आदि सब 'अमंगल साज' हैं । शास्त्र-सदाचारके प्रतिकूल और अवैदिक हैं, इसीसे कल्याणका नाश करनेवाला है जैसा कि उपर्युक्त कथासे स्पष्ट है । पर श्रीरामनाम-महामंत्रके प्रभावसे, उसके निरंतर जपसे, वे मंगलकल्याणकी राशि हैं । अन्यत्रभी कहा है—"अशिव वेष शिवधाम कृपाला ।" ☞ मिलान कीजिये—"स्मशानेष्वाक्रीडा स्मरहर पिशाचाः सहचराश्चिता-भस्मालेपः स्रगपि नृकरोटीपरिकरः । अमङ्गल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलं तथापि स्मर्तॄणां वरद परमं मङ्गलमसि । २४ ॥" (महिम्नस्तोत्र) । अर्थात् हे कामारि ! स्मशान तो आपका क्रीडास्थल है, पिशाच आपके संगी साथी हैं, चिताभस्म आप रमाये रहते हैं, मुंडमालधारी हैं, इस प्रकार वेषादि तो अमंगल ही हैं फिरभी जो आपका स्मरण करते हैं उनके लिये आप मंगलरूप ही हैं ।

नोट—५ "सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी ।…" इति । (क) श्रीशुकदेवजीभी श्रीरामनामके प्रसादहीसे

ऐसे हुए कि परीक्षित्‌महाराजकी सभामें व्यासादि जितनेभी महर्षि बैठे थे सबने उठकर उनका सम्मान किया। शुकसंहितामें उन्होंने स्वयं कहा है कि श्रीरामनामसे परे कोई अन्य पदार्थ श्रुतिसिद्धान्तमें नहीं है और हमने भी कहीं कुछ और न देखा है न सुना। श्रीशंकरजीके मुखारविन्दसे श्रीरामनामका प्रभाव शुकशरीरमें सुनकर हम साक्षात् ईश्वरस्वरूप समस्त मुनीश्वरोंसे पूज्य हुए। यथा—"यन्नामवैभवं श्रुत्वा शंकराच्छुकजन्मना। साक्षादीश्वरतां प्राप्तः पूजितोऽहं मुनीश्वरैः॥ नातः परतरं वस्तु श्रुतिसिद्धान्तगोचरम्। दृष्टं श्रुतं मया क्वापि सत्यं सत्यं वचो मम॥" (शुक सं०। सी० रा० प्र० प्र० से उद्‌धृत)।

श्रीशुकदेवजीके श्रीरामनामपरत्व सुनकर अमर होनेकी कथा इस प्रकार है—एक समय श्रीपार्वतीजीने श्रीशिवजीसे पूछा कि आप जिससे अमर हैं वह तत्त्व कृपा करके मुझे उपदेश कीजिए। यह सोचकर कि यह तत्त्व परम गोप्य है भगवान् शंकरने डमरू बजाकर पहले समस्त जीवोंको वहाँ से भगा दिया। तब वह गुह्य तत्त्व कथन करने लगे। दैवयोगसे एक शुकपक्षीका अंडा वहाँ रह गया जो कथाके समयही फूटा। वह शुकपोत अमरकथा सुनता रहा। बीचमें श्रीपार्वतीजीको झपकी आगई तब वह शुकपोत उनके बदले हुँकारी देता रहा। पार्वतीजी जब जगीं तो उन्होंने प्रार्थना की कि नाथ! मुझे झपकी आगई थी, अमुक स्थानसे फिरसे सुनानेकी कृपा कीजिए। उन्होंने पूछा कि हुँकारी कौन भरता था? और यह जाननेपर कि वे हुँकारी नहीं भरती थीं, उन्होंने जो देखा तो एक शुक देख पड़ा। तुरंत उन्होंने उसपर त्रिशूल चलाया पर वह अमरकथाके प्रभावसे अमर हो गया था। त्रिशूलको देख वह उड़ता-उड़ता भगवान् व्यासजीके यहाँ आया और व्यासपत्नी (जो उस समय जँभाई ले रही थीं) के मुखद्वारा उनके उदरमें प्रवेश कर गया। वही श्रीशुकदेवजी हुए। ये जन्मसेही परमहंस और मायारहित रहे। इनकी कथाएँ श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि में विलक्षण-विलक्षण हैं। (श्रीरूपकलाजीकृत भक्तमाल टीकासे)।

सु० द्विवेदीजी लिखते हैं कि "शुक नाम-माहात्म्यरूप भागवतके ही कारण महानुभाव हुए, पिता व्यास, पितामह पराशरसे भी परीक्षित्‌की सभामें आदरको पाया।"

(ख) 'ब्रह्मसुखभोगी' कहकर जनाया कि वे ब्रह्मरूपही हो गए। यथा—"योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे।" (भा० १२। १३। २१)।

(ग) श्रीसनकादिभी नामप्रसादसेही जीवन्मुक्त और ब्रह्मसुखमें लीन रहते हैं, यह इससेभी सिद्ध होता है कि ये श्रीरामस्तवराजस्तोत्रके ऋषि (प्रकाशक) हैं। उस स्तवराजमें श्रीरामनामकोही 'परं जाप्य' बताया गया है। यथा—"श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्। ५।", 'ब्रह्मानंदसदा लयलीना। देखत बालक बहुकालीना। ७। ३२।', 'जीवनमुक्त ब्रह्मपर। ७। ४२।'

सू० मिश्र—यह बात भा० २। १। ११ में लिखी है कि ज्ञानियों को यही ठीक है कि प्रत्येक क्षणमें परमेश्वरका नाम लेवें और कुछ नहीं। यथा—"योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम्।" 'योगिनां' का अर्थ श्रीधरस्वामीने यह लिखा है—"योगिनां ज्ञानिनां फलं चैतदेव निर्णीतं नात्र प्रमाणं वक्तव्यमित्यर्थः" अर्थात् यह फल योगियों अर्थात् ज्ञानियोंका निर्णय किया हुआ है।

श्रीमद्भागवतके अन्तमें भी यह लिखा है कि परमेश्वरका नाम सारे पापको नाश करनेवाला है। यथा—'नाम संकीर्त्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्। प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥" (१२। १३। २३)। इसी कारण गोसाईंजीने लिखा कि शुक सनकादिभी नामके प्रभावसे सुखका अनुभव करते हैं। (मानसपत्रिका)।

नोट—६ श्रीशुकदेवजीको श्रीसनकादिके पहले यहाँ भी लिखा है। इसका कारण मिश्रजी यह लिखते हैं कि "शुकदेवजी अनर्थप्रद युवावस्थाके अधीन न हुए। सनकादिकोंने परमेश्वरसे वरदान माँगा कि हम बालक ही बने रहें जिसमें कामके वशीभूत न हों। इस कारण इनके नामका उल्लेख ग्रंथकारने पीछे किया।…"

शुकदेवजी परमेश्वरके रूपही कहे जाते हैं, यथा—"योगीन्द्राय नमस्तस्मै शुकाय ब्रह्मरूपिणे। संसारसर्पदष्टं यो विष्णुरातममूमुचत्॥ भा०। १२। १३। २१।" दोहा १८ (५) देखिए।

श्रीबालअलीजीने इसका कारण यों लिखा है कि—"जन जु अनन्य आश्रय बल गहै। तिनपर दया न करि हरि चहै। वय आश्रित सनकादिक भयो। क्रोध अभयपुर में ह्वै गयो। हरि आश्रित शुक यौवन माहीं। काम क्रोध नहिं तिहि ढिग जाहीं।" (सिद्धान्त दीपिका। मा० मा०), अर्थात् श्रीशुकदेवजी युवावस्थामें रहते हुए सदा भगवान् के आश्रित रहे, तव "सीम कि चाँपि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू।" और श्रीसनकादिजीने पाँचवर्षकी अवस्थाको विकाररहित जानकर उस अवस्थाका आश्रय लिया था न कि प्रभुका। इसीसे उनमें विकार आ ही गया।

नारद जानेउ नाम प्रतापू। जग प्रिय हरि[१] हरि हर प्रिय आपू॥ ३॥

अर्थ—श्रीनारदजीने नामका प्रताप जाना। जगत्मात्रको हरि प्रिय हैं, हरिको हर प्रिय हैं और हरि तथा हर दोनोंको आप प्रिय हैं। ३।

नोट—१ "नारद जानेउ नाम प्रतापू" इति। कैसे जाना? इसी ग्रंथमें इसका एक उत्तर मिलता है। नारदको दक्षका शाप था कि वे किसी एक स्थान पर थोड़ी देरसे अधिक न ठहर सकें। यथा—'तस्माल्लोकेषु ते मूढ न भवेद्भ्रमतः पदम्। भा० ६।५।४३।' अर्थात् संपूर्ण लोकोंमें विचरते हुए तेरे ठहरनेका कोई निश्चित स्थान न होगा। परन्तु हिमाचलकी एक परम पवित्र गुफा जहाँ गंगाजी वह रही थीं, देखकर ये वहाँ बैठकर भगवन्नामका स्मरण ज्योंही करने लगे, त्योंही शापकी गति रुक गई, समाधि लग गई। यथा—'सुमिरत हरिहि श्राप गति बाधी। सहज विमल मन लागि समाधी॥ १। १२५। इन्द्रने डरकर इनकी समाधिमें विघ्न डालनेके लिये कामको भेजा। उसने जाकर अनेक प्रपंच किये, पर 'काम कला कछु मुनिहि न व्यापी।' नारदके मनमें न तो कामही उत्पन्न हुआ और न उसकी करतूतिपर उनको क्रोध हुआ। यह सब नाम स्मरणका प्रभाव था, जैसा कहा है—"सीम कि चापि सकै कोउ तासू। बड़ रखवार रमापति जासू। १। १२६।' परंतु उस समय दैवयोगसे वे भूल गए कि यह स्मरणका प्रभाव एवं प्रताप है। उनके चित्तमें अहंकार आ गया कि शंकरजीने तो कामहीको जीता था और मैंने तो काम और क्रोध दोनोंको जीता है। उसका फल जो हुआ उसकी कथा विस्तारसे ग्रंथकारने आगे दी ही है। भगवानने अपनी मायासे उनके लिये लीला रची जिसमें उनको काम, लोभ, मोह, क्रोध, अहंकार सभीने अपने वश कर लिया। माया हटा लेनेपर प्रभुके चरणोंपर त्राहि-त्राहि करते हुए गिरनेपर प्रभुकी कृपासे इनकी बुद्धि ठीक हुई और इन्होंने जाना कि यह सब नामस्मरणका ही प्रताप था; इसीसे अवतार होनेपर उन्होंने यह वर माँग लिया कि 'रामनाम सब नामों से श्रेष्ठ हो', श्रीरामनामके वे आचार्य और ऋषि हुए। गणेशजी, प्रह्लादजी, व्यासजी आदिको नामका प्रताप आपने ही तो बताया है।

२ "जग प्रिय हरि हरि हर प्रिय आपू" इति। इसमें 'मालादीपक अलंकार' है। इस अलंकारमें एक धर्मके साथ उत्तरोत्तर धर्मियोंका संबंध वर्णित होता है। यथा साहित्यदर्पणे "तन्मालादीपकं पुनः। धार्मिणा-

---

१—यह पाठ 'हरि हरि हर' १७०४, १७२१, १७६२, छ०, को० रा० में है। १६६१ में प्रथम यही पाठ था; पर बीचके 'हरि' के 'ि' पर हरताल दिया गया है जिससे 'हरि हर हर' पाठ हो जाता है। इस पाठका अर्थ होगा—"जगतको हरि प्रिय, हरिको हर प्रिय और हरको आप प्रिय हैं।" पंजाबीजी और वि० टी० तथा मा० प्र० ने 'हरि हर हरि' पाठ दिया है। जिसका अर्थ होगा—"जगको हरि प्रिय, हरिको हर और हर-हरिको आप प्रिय हैं।" या, "जगको हरिहर प्रिय हैं और हरिको आप प्रिय हैं।"

मेकधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम् ॥" उदाहरण यथा—"त्वयि संगर सम्प्राप्ते धनुषा सादिताः शराः । शरैररिशिरस्तेन भूस्तयात्वं त्वया यशः ।" अर्थात् संग्राममें आपके आनेपर धनुषने शर, शरने शत्रुशिर, उसने पृथ्वी, पृथिवीने आपको और आपने यशको प्राप्त किया । यहाँ धनुरादि सभी धर्मियोंका प्राप्ति कर्तृत्वरूपी एक धर्मका वर्णन हुआ है । अतः यहाँ मालादीपकालंकार माना गया । उसी तरह 'जग', 'हरि हर' और 'आपू' इन सभी धर्मियोंमें 'प्रियत्वरूपी एक धर्म' के वर्णनसे 'मालादीपक अलंकार' माना गया है । काव्यप्रकाशके मतमें पूर्वकथित वस्तुको उत्तरोत्तर वस्तुके उत्कर्षके हेतु होनेसे 'मालादीपकालंकार' माना गया है । यथा—"मालादीकमाद्यं चेदयथोत्तर गुणावहम् ।" इस मतसेभी यहाँ 'मालादीपक' ही होता है । क्योंकि जगत्के प्रिय हरि, हरिके प्रिय हर और उनके प्रिय आप (नारद) हैं । इस प्रकारके कथनसे उत्तरोत्तर उत्कर्षकी प्रतीति स्पष्ट हो रही है ।❀

जगको हरि, हरिको हर, हरिहरको नारद प्रिय हैं । प्रमाण क्रमसे यथा—(१) 'ये प्रिय सबहिं जहाँ लगि प्रानी । बा० २१६', 'मो बिनु को सचराचर माहीं । जेहि सियराम प्रानप्रिय नाहीं । अ० १८१', 'अस को जीव जंतु जग माहीं । जेहि रघुनाथ प्रान प्रिय नाहीं । २ । १६२ ।' (२) 'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा' (लं० २), 'कोउ नहि सिव समान प्रिय मोरें । असि परतीति तजहु जनि भोरें । १ । १३८ ।' (३) 'करत दंडवत लिये उठाई । राखे बहुत बार उर लाई ।...कवन वस्तु असि प्रिय मोहि लागी । जो मुनिवर न सकहु तुम्ह मांगी । ३ । ४१-४२ ।' 'मार चरित संकरहिं सुनाये । अति प्रिय जानि महेसु सिखाये । १ । १२७ ।' पुनश्च यथा—"शास्यहं त्वया विशेषेण मम प्रियतमो भवान् । विष्णुभक्तो यतस्त्वं हि तद्भक्तोतीव मेऽनुगः" (शिवपुराण रुद्रसंहिता २ अ० २ श्लोक ३४)। ये वचन श्रीशिवजीके हैं ।

३ श्री सु० द्विवेदीजी लिखते हैं कि "प्रथम 'हरि' से विष्णुका ग्रहण करनेके अर्थमें कुछ रोचकता नहीं आती ।" वे उत्तरार्द्धका अर्थ यों करते हैं—जगत्में जितने हरि और हरके प्रिय पात्र थे सबको (हरि) हरण-कर अर्थात् सबको नीचाकर आप हरिहरके सर्वोत्तम प्रिय हुए; दासीपुत्रसे देवर्षि हो गए । यही अर्थ ग्रंथकारको अभिप्रेत है" ।

पं० रामकुमारजी इसका एक भाव यह कहते हैं कि "रामनाम भक्तके हृदयको निर्विकार कर देते हैं, हरिहरमें भेद नहीं रह जाता, भेद रहना ही विकार है, यथा—'प्रथमहि कहि मैं सिवचरित बूझा मरम तुम्हार ।"

नामु जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू । भगत सिरोमनि भे प्रहलादू ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—प्रसादू = प्रसन्नता, रीझ, कृपा । 'प्रसादस्तु प्रसन्नता' (अमरे १ । ३ । १६)

अर्थ—नामके जपनेसे प्रभुने प्रसन्नता (प्रकट) की जिससे प्रह्लादजी भक्तोंमें शिरोमणि होगए ।४।

नोट—१ "भगतसिरोमनि" । प्रह्लादजीको भक्तशिरोमणि कहा क्योंकि द्वादश प्रधान भक्तोंमें से इनका नाम पाण्डवगीतामें प्रथम दिया गया है । यथा—"प्रह्लाद-नारद-पराशर-पुण्डरीक व्यासाम्बरीष शुक शौनक भीष्म-दाल्भ्यात् । रुक्मांगदार्जुन वशिष्ठ विभीषणादीन्पुण्यानिमान्परमभागवतान्स्मरामि । १ ।" भक्तशिरोमणि होनेका प्रमाण श्रीभागवतमें भी मिलता है, यथा—'भवन्ति पुरुषा लोके मद्भक्तास्त्वामनुव्रताः । भवान् मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रति-रूपधृक्' ॥ (भा० ७ । १० । २१) । श्रीनृसिंहभगवान् कहते हैं कि "संसार में जो लोग तुम्हारा अनुकरण करेंगे वे मेरे भक्त हो जायँगे । निश्चयही तुम मेरे संपूर्ण भक्तोंमें आदर्शस्वरूप हो ।" भगवान्ने जब स्वयं उनको

❀ अप्पय दीक्षितके मतानुसार यह अलंकार दीपक और एकावलीके मेलसे बनता है । 'जग जपु राम राम जपु जेही' में मालादीपक है । विषय करन सुर जीव समेता । सकल एकतें एक सचेता ।" "बिनु गुरु होइ कि ज्ञान ज्ञान कि होइ बिराग बिनु" में एकावली है । "संग ते जती कुमंत्र ते राजा । मान तें ज्ञान पान तें लाजा ॥ प्रीति प्रनय बिनु मद ते गुनी । नासहिं बेगि नीति अस सुनी" में दीपक है ।

संपूर्ण भागवतोंमें आदर्श माना-जाना है तब 'भक्तशिरोमणि' गोस्वामीजीने ठीकही कहा है। नवधाभक्तिके 'मति सुमिरन' (अत्यन्त स्मरण रूप भक्तिनिष्ठाके नियन्ता वा नेता आपही हैं। किसने भगवान्‌को पाषाणसे प्रकट कराकर उनकी सर्वव्यापकता प्रकट की ? नारदजी कहते हैं—"सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः। अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्॥ भा०। ७।८। १८।" अर्थात् भक्तकी वाणीको सत्य करने, अपनी व्यापकता सबको दिखानेके लिये सभाके उसी खंभेसे विचित्र रूप धारण किये हुए, जो न मनुष्य ही था न सिंह, प्रकट होगए।—गोस्वामीजीनेभी कहा है—"सेवक एक तें एक अनेक भए तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े। प्रेम बदौं प्रह्लादहि को जिन्ह पाहन तें परमेश्वर काढ़े। क० ७। १२७।" श्रीसुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं कि नृसिंहजी हिरण्यकशिपुको मार कर प्रह्लादको गोदमें लेकर जिह्वासे चाटते थे। ऐसी कृपा किसी भक्तपर नहीं प्रकट की गई। इसीसे उनको भक्तशिरोमणि कहा।

२ शंका—प्रह्लादजी भक्तशिरोमणि हैं तो यहाँ उनको नारदजीसे पहले क्यों न कहा ?

समाधान—पांडवगीता और भागवतकी बात उन्होंने 'भक्त शिरोमणि' कहकर रक्खी और यह कहते हुए भी नारदजीको प्रथम रखकर गुरुकी मर्यादा, उनका उचित सम्मान करके रक्खी।

३ प्रह्लादजीने नारदजीसे कब उपदेश पाया? यह कथा भा० स्कं० ७ अ० ७ में है। यह कथा प्रह्लादजीने स्वयं दैत्यबालकोंसे उनको रामनाममें विश्वास दिलानेके लिए कही थी। वह यह है कि "जब हिरण्यकशिपु तप करनेको चला गया तब इन्द्रादि देवताओंने दैत्योंपर धावा किया, वे सब जान बचाकर भगे। इन्द्र मेरी माता राजरानीको पकड़कर स्वर्गको चले। मार्गमें नारदजी मिले और उनसे बोले कि निरपराध सती और परस्त्रीको ले जाना अयोग्य है। इन्द्रने कहा कि इसके गर्भमें दैत्यराजका दुःसह वीर्य्य है, पुत्र होनेपर उसे मार डालूँगा और इसे तब छोड़ दूँगा। नारदजीने उत्तर दिया कि इसके गर्भमें एक निष्पाप, अपने गुणोंसे महान्, विष्णुभगवानका अनुचर और पराक्रमी महाभागवत है। वह तुम्हारे द्वारा मारा नहीं जा सकता। यथा—"अयं निष्किल्बिषः साक्षान्महाभागवतो महान्। त्वया न प्राप्स्यते संस्थामनन्तानुचरो बली। ७। १०।" नारदजीके वचनका आदर कर विश्वास मान इन्द्रने उसे छोड़ दिया। नारदजी उसे अपने आश्रममें ले आए और मेरे उद्देश्यसे उन्होंने मेरी माताको धर्म्म के तत्त्व और विशुद्ध ज्ञानका उपदेश दिया। ऋषिके अनुग्रहसे मैं उसे अभीतक नहीं भूला…जो प्रेमपूर्वक लज्जा छोड़कर "हे हरे! हे जगन्नाथ! हे नारायण!" इत्यादि रीतिसे कीर्त्तन करता है वह मुक्त हो जाता है।"

प्रह्लादजी सर्वत्र 'राम' हीको देखते थे। पिताने इनको पानीमें डुबाया, आगमें डाला, सिंह और मतवाले हाथियोंके आगे डलवाया, इत्यादि अनेक उपाय करके हार गया, पर इनका बाल बाँका न हुआ और इन्होंने 'रामनाम' न त्याग किया। अन्तमें उस दुष्टने स्वयं इनका वध करना चाहा। उसी समय पत्थरके खम्भेसे भगवान् रामचन्द्रजी नृसिंहरूपसे प्रगट होगए और हिरण्यकशिपुका वध किया।

ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायेउ* अचल अनूपम ठाऊँ॥ ५॥

शब्दार्थ—सगलानि = ग्लानिसहित। ग्लानि मनकी वह वृत्ति है जिसमें किसी अपने कार्यकी बुराई या दोष आदिको देखकर अरुचि, खेद और खिन्नता उत्पन्न होती है। नाऊँ (नाँव, नाम) = नाम। ठाऊँ = ठाम, स्थान।

अर्थ—श्रीध्रुवजीने ग्लानिसे (सौतेली माँके कठोर वचनोंसे हृदय विध जानेसे दुःखी होकर) भगवान्‌के नामको जपा। उससे उन्होंने अटल उपमारहित धाम पाया। ५।

* पायेउ-१७२१, १७६२।

नोट—१ "ध्रुव" इति। इनकी कथा भागवत स्कंध ४ अ० ८,९,१०,११,१२ में है। "सगलानि" का प्रसंग अ० ८ श्लोक ९ से ३८ तक है। अ० ९ श्लोक २९ भी 'सगलानि जपेउ हरि नाऊँ' का प्रमाण है यथा—"मातुः सपत्न्या वाग्बाणैर्हृदि विद्धस्तु तान्स्मरन्। नैच्छन्मुक्तिपतेर्मुक्तिंतस्मात्तापमुपेयिवान्।" (मैत्रेयजी कहते हैं कि ध्रुवजीने अपनी सौतेली माताके वाग्बाणोंसे हृदयमें विद्ध होकर हरिका स्मरण करते हुए भी उन मुक्तिदातासे मुक्ति नहीं माँगी इससे उनको पश्चात्ताप हुआ। कथा इस प्रकार है—स्वायंभुव मनुके पुत्र उत्तानपाद थे जिनके दो रानियाँ थीं--एक सुनीति, दूसरी सुरुचि। छोटी रानी सुरुचिपर राजाका बड़ा प्रेम था, उससे 'उत्तम' हुआ और सुनीतिसे ध्रुवजी हुए। राजा प्रायः सुरुचिके महलमें रहते थे। एक दिन वहाँ बैठे जिस समय राजा उत्तम को गोदमें लिये खिला रहे थे, ध्रुवजी बालकोंके साथ खेलते-खेलते वहाँ पहुँच गए और पितासे जाकर कहा कि हम भी गोदमें बैठेंगे। राजाने सुरुचिके भयसे इनकी ओर देखाभी नहीं। ये बालक (पाँच वर्षके) थे इससे सिंहासनपर चढ़ न सकते थे। इन्होंने कई बार पुकारा पर राजाने कान न दिया। तब सुरुचि राजाके समीप ही बड़े अभिमानपूर्वक भक्तराजजीसे बोली—"वत्स! तू राजाकी गोदमें सिंहासनपर बैठनेकी इच्छा करता है, तू उसके योग्य नहीं। तू यह इच्छा न कर, क्योंकि तू हमारे गर्भसे नहीं उत्पन्न हुआ। तू राज्यसिंहासनका अधिकारी तभी होता जब हमारे उदरसे तेरा जन्म होता। तू बालक है, तू नहीं जानता कि तू अन्य स्त्रीका पुत्र है। जा, पहले तप करके भगवानका भजनकर, उनसे वर माँग कि तेरा जन्म सुरुचिसे हो तब हमारा पुत्र हो राजाके आसनका अधिकारी हो सकता है। पहले अपने संस्कार अच्छे बना। अभी तेरा या तेरी माँका पुण्य इतना नहीं है।" अपने और अपनी माताके विषयमें ऐसे निरादरके और हृदयमें विधनेवाले विषैले वचन सुन ध्रुवजी खड़े ठिठकसे रहगए और लम्बी साँसें भरने लगे—राजा सब देखता सुनता रहा पर कुछ न बोला। राजाको तुरत छोड़, चीख मारकर रोते, साँसें लेते, ओंठ फड़फड़ाते हुए आप माँके पास आये। साथके लड़केभी साथ गए। माँने यह दशा देख तुरत गोदमें उठा लिया। बालकोंने सब वृत्तान्त कह सुनाया। वह बोली—"वत्स! तू किसीके अमंगलकी इच्छा न कर; कोई दुःख दे तो उसे सह लेना चाहिए।....सुरुचिके वचन बहुत उत्तम और सत्य हैं। हम दुर्भगा हतभाग्या हैं, हमारे गर्भसे तुम हुए सो ठीक है। सिवाय भगवान्के और कोई दुःखके पार करने और सुखका देनेवाला नहीं। ब्रह्मा, मनु आदि सभी उन्हींके चरणोंकी भक्ति करके ऐश्वर्य और सुखको प्राप्त हुए। तू भी मत्सररहित और निष्कपट होकर उनके चरणोंकी आराधना कर।" माताके ऐसे मोह-तम-नाशक वचन सुन बालक ध्रुव यही निश्चयकर माताको प्रणामकर आशीर्वाद ले चल दिए। नारद मुनिने सब जाना तो बड़े विस्मित हुए कि "अहो! बालककी ऐसी बुद्धि.......क्षत्रिय कभी अपमान नहीं सह सकते। पाँच वर्षका बालक! इसको भी सौतेली माँके कटुवचन नहीं भूलते!" नारदजीने इन्हें आकर समझाया-बुझाया कि घर चल, आधा राज्य दिला दें। भगवान्की आराधना क्या खेल है? योगी मुनिसे भी पार नहीं लगता। इत्यादि (परीक्षार्थ कहा)। ध्रुवजीने उत्तर दिया कि 'मैं घोर क्षत्रियस्वभावके वश हूँ, सुरुचिके वचनरूपी बाणोंसे मेरे हृदयमें छिद्र हो गया। आपके वचन इसीसे उसमें नहीं ठहरते। यथा—"अथापि मेऽविनीतस्य क्षात्त्रं घोरमुपेयुषः। सुरुच्या दुर्वचोबाणैर्न भिन्ने श्रूयते हृदि। भा० ४। ८। ३६।" 'सगलानि' का प्रसंग यहाँ समाप्त हुआ।

नारदजीने मंत्र और ध्यान इत्यादि बताया। छः मासहीमें भगवान्ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और ध्रुवजीके गालोंपर शंख छुआया जिससे उनकी जिह्वापर देवसम्बन्धी वाणी प्राप्त हो गई, उनको अपना और परस्वरूपका ज्ञान हो गया।...घर आनेपर फिर उसी सुरुचिने भी इनको प्रणाम किया। भगवान् प्रसन्न होते हैं तो चराचरमात्र प्रसन्न हो जाता है। ध्रुवजीको राज्य मिला और अन्तमें अचल स्थान मिला। ध्रुवतारा इन्हींका लोक है। विनय पद ८६ भी देखिए।

नोट—२ 'सग्लानि' जपसे छः मासमें ही श्रीहरिने उनको ध्रुवलोक दिया और इस पृथ्वीका छत्तीस हज़ार वर्ष राज्य दिया तथा यह वर दिया कि नाना प्रकारके भोग भोगकर तू अंतकालमें मेरा स्मरणकर संपूर्ण लोकोंसे वन्दनीय सप्तर्षियोंके लोकोंसे भी ऊपर मेरे निज धामको जायगा जहाँसे फिर संसारमें लौटना नहीं होता, यथा—"ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम् । उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः । भा० ४।६।२५ ।"

३—'अचल अनूपम ठाऊँ' इति । ध्रुवतारा स्थिर है । सप्तर्षि आदि तारागण उसकी नित्य परिक्रमा करते हैं । कल्पमें भी उसका नाश नहीं होता । अतः अचल कहा । यह तेजोमय है । उसमें ग्रह, नक्षत्र और तारागणरूप ज्योतिश्चक्र स्थित हैं [भा० ४ । ६ । २०] । परम ज्ञानी सप्तर्षिगणभी उसे न पाकर केवल नीचेसे देखते रहते हैं । सूर्य्य चन्द्र आदि ग्रह, नक्षत्र और तारागण इसकी निरन्तर प्रदक्षिणा करते रहते हैं । इस पदको उस समय तक और कोई भी न प्राप्त कर सका था, यह विष्णुभगवान् जगद्वन्द्यका परमपद है (भा० ४ । १२ । २४) । यह सब ओर अपनेही प्रकाशसे प्रकाशित है और इसके प्रकाशसे तीनों लोक आलोकित हैं । (भा० ४ । १२ । ३६) । अतः 'अनुपम' कहा ।

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'ध्रुव' का एक प्रतिबिंब दूसरा 'ध्रुव' भी दक्षिण ओर अचल है । इन्हीं दोनों की प्रदक्षिणा आकाशमें सब ग्रह नक्षत्र करते हैं । [संभवतः दूसरा ध्रुव आदि वह हैं जो विश्वामित्रजीने अपने तपोबलसे निर्माण किये थे ।]

सुमिरि पवनसुत पावन नामू । अपने बस करि राखे रामू ॥ ६ ॥

अर्थ—पवनदेवके पुत्र श्रीहनुमान्‌जीने (भी) इस पवित्र नामको स्मरण कर श्रीरामचन्द्रजीको अपने वशमें कर लिया । ६ ।

नोट—१ "सुमिरि पवनसुत" इति । आपका रामनाम स्मरण बड़ा विलक्षण है । श्रीरामनाम आपका जीवन है, आपके रोम-रोममें श्रीरामनाम अंकितही नहीं किन्तु श्रीनामकी ध्वनि भी उनमेंसे उठती है । ऐसा आश्चर्यमय स्मरण कि न भूतो न भविष्यति !!! प्रमाण यथा—"नाम्नः पराशक्तिपतेः प्रभावं प्रजानते मर्कटराजेराजः । यद्रूपरागीश्वर वायुसूनुस्तद्रोमकूपे ध्वनिमुल्लसन्तम् ॥ (प्रमोद नाटक) भक्तमाल भक्तिरसबोधिनी टीका कवित्त २७ भी आपके वैराग्य और नामस्मरणका उदाहरण है कि रामनामहीन अत्यन्त अमूल्य पदार्थको भी वे तुच्छ समझ अपने पास भी नहीं रखते—"राम बिनु काम कौन फोरि मणि दीन्हे डारि, खोलि त्वचा नामही दिखायो बुद्धि हरी है ॥"

२ 'पवनसुत' का भाव यह है कि पवित्र करनेवालोंमें 'पवनदेव' सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं । भगवान्‌ने अपनी विभूतियोंमें उनको गिनाया है । यथा—"पवनः पवतामस्मि" (गीता १० । ३१), अर्थात् मैं पवित्र करनेवालोंमें वायु हूँ । उनके ये पुत्र हैं तब भी उन्होंने श्रीरामनामकोही परम पावन समझ कर उसे जपा । यही कारण है कि उन्होंने अनन्य भक्तोंको यही कहकर रामनाम जपनेको कहा है । यथा—"कल्याणानां निधानं कलिमलमथनं पावनं पावनानां पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य ॥...." (श्रीहनुमन्नाटकका यही मंगलाचरण है) । 'पावन' को 'पवनसुत' और 'नामू' दोनों का विशेषण मान सकते हैं । पवनसुतभी पावन और नाम भी पावन; यथायोग्यका सम्बन्ध दिखाया । 'पावन' विशेषण देकर जनाया कि इन्होंने 'राम' यही नाम जपा । यह सब नामों में श्रेष्ठ है जैसा पूर्व दिखाया जा चुका है—'राम सकल नामन्ह ते अधिका' । अतः 'पावन' विशेषण इसीके लिये दिया ।

३ बाबा हरिदासजी कहते हैं कि—"श्रीहनुमानजीने निष्काम नामको जपा है, इसीसे 'पावन' कहा । अर्थात् वे स्वयं पवित्र हैं और उन्होंने पवित्र रीतिसे स्मरण किया है । [सकाम स्मरण 'अपावन' है । यदि ये निष्काम न होते तो प्रभु उनके हृदयमें धनुष-बाण धारण किये हुए कभी न बसते । श्रीवचनामृत है कि

'बचन करम मन मोरि गति भजन करहिं निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा विश्राम। ३। १६।']

द्विवेदीजी—'पावन नामू' इति। 'हजारों नामोंमें यही (राम) नाम सबसे पवित्र है—"सहस नाम सम सुनि सिव बानी"। नामके प्रसादसे हनुमान्‌जीने श्रीरामजीको वसमें कर लिया। रामजी रहस्य-विहारके समयमें भी इनको साथ रखते थे। उत्तरकाण्डमें लिखा है कि 'भ्रातन्ह सहित राम एक बारा। संग परम प्रिय पवन-कुमारा॥' जिसने जगज्जननी जानकीजीसे आशीर्वाद पाया ("अजर अमर गुननिधि सुत होहू। करहुँ बहुत रघुनायक छोहू॥ सुं०" और पुत्र कहवाया, वह यदि रामको वस कर रक्खे तो कुछ चित्र नहीं। ग्रंथकार भी हनुमत्कृपाहीसे रामदास कहाए। रामजीने मुख्य इन्हींके कहनेसे तुलसीदासको अपना दास बनाया, यह विनय-पत्रिकाके अन्तिम पदसे स्पष्ट है।"

टिप्पणी—१ यहाँ गोसाईंजी श्रीरामचन्द्रजीको वशमें करनेका उपाय बताते हैं। श्रीरामनामके स्मरणसे वश होते हैं; परन्तु वह स्मरणभी पवनसुतका-सा होना चाहिए। पवन पवित्र, उनके पुत्र पवित्र और नाम पवित्र। "पावन" शब्द देकर सूचित करते हैं कि पवित्रतासे स्मरण करे, किसी प्रकारकी कामना न करे। यह भाव 'करि राखे' पदसे भी टपकता है। 'करि राखे' का तात्पर्य यह है कि श्रीरामचन्द्रजीसे कुछ चाहा नहीं, कुछ लिया नहीं; इसीसे वे वशमें हो गये।

नोट—४ श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि "यहाँ पावन-शब्द बड़ा सुन्दर और सारगर्भित है ग्रंथकारने प्रथम श्रीरामनामकी महिमा बड़ी विलक्षणतापूर्वक कही। पश्चात् अन्य नामोंकी महिमा उदाहरण संयुक्त कही, यथा—"ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊं।" अब पुनः रामनामका महत्व वर्णन करना है। हनुमानजी वृत्ति तथा नियम और प्रेमका उदाहरण समेत। इससे रामनामके साथ 'पावन' शब्द देकर गंभीर रहस्यको बतलाया।"

५—'अपने बस करि राखे" इति। (क) 'वशमें कर रक्खा'; यथा—'दीबे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ।" (विनय १००), "तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों" (विनय १६४), "सांची सेवकाइ हनुमान की सुजानराय रिनिया कहाये हौ बिकाने ताके हाथ जू।" (क० ७। १६)। वाल्मीकीयमें भी प्रभुने कहा है कि तुम्हारे एक एक उपकारके लिये मैं अपने प्राण दे सकता हूँ, पर शेष उपकारोंके लिये तो मैं तुम्हारा सदा ऋणी ही रहूँगा। तुमने जो जो उपकार मेरे साथ किये हैं वे सब मेरे शरीर हीमें जीर्ण हो जायँ, यही मैं चाहता हूँ। इनके प्रत्युपकारका अवसर नहीं चाहता, क्योंकि उपकारीका विपत्तिग्रस्त होना ही प्रत्युपकारका समय है, सो मैं नहीं चाहता कि तुमपर कभी विपत्ति पड़े। यथा "एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते। कपे शेषस्येहोपकाराणां भवाम ऋणिनो वयम्॥ मदङ्गे जीर्णतां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। नरः प्रत्युपकाराणामापत्स्वायाति पात्रताम्॥" (वाल्मी० ७। ४०। २३, २४)। (ख) "वशमें कर रक्खा।" कहकर जनाया कि श्रीहनुमान्‌जीमें सन्तोंके वे समस्त गुण हैं जिनसे श्रीरामजी उनके वश होते हैं। श्रीरघुनाथजीने नारदजीसे वे गुण यों कहे हैं। यथा—"सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ जिन्ह तें मैं उनके बस रहऊँ॥ षट विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुख धामा। ३। ४५ (६-७)।" से "हेतु रहित परहितरतसीला" तक। (ग) देवता अपने मंत्रके वशमें रहते हैं, यथा—"मंत्र परम लघु जासु बस बिधि हरि हर सुर सर्ब। १। २५६।" श्री 'राम' यह नाम श्रीरामजीका मंत्र है, यथा—"महामंत्र जोइ जपत महेसू"। इसीसे श्रीरामनामके जपसे श्रीरामजी वशमें होगए।

६—'रामू' इति। बाबा हरिहर प्रसादजी कहते हैं कि—'राम' का 'रामू' लिखा। एक मात्रा और बढ़ाकर 'स्वतंत्रतासे भिन्न वश होना जनाया।' (रा० प्र०)।

अपतु* अजामिलु गजु गनिकाऊ। भये मुकुत हरि-नाम-प्रभाऊ॥ ७॥

---

* अपरु—१७०४। जपत—को० रा०। अपत—१६६१, १७२१, १७६२, छ०।

शब्दार्थ—अपतु = पतित, पापी, यथा—"पावन किय रावनरिपु तुलसिहुँ से अपत" (वि० १३०), "अपत उतार अपकारको अगार जग जाकी छाँह छुए सहमत ब्याध बाघको" (क० उ० ६८)।

अर्थ—अजामिल, गजेन्द्र और गणिका, ऐसे पतित भी भगवान्‌के नामके प्रभावसे मुक्त हो गए। ७।

टिप्पणी—'अपतु' इति। उत्तम भक्तोंकी गिनती श्रीशिवजीसे प्रारम्भ की। यथा—'महामंत्र जोइ जपत महेसू।' और शिवजीहीपर समाप्त की। यथा—'सुमिरि पवनसुत पावन नामू।' श्रीहनुमान्‌जी रुद्रावतार हैं, यथा—"रुद्रदेह तजि नेह बस, बानर भे हनुमान। १४२। जानि रामसेवा सरस समुझि करब अनुमान। पुरुषा ते सेवक भए, हर ते भे हनुमान॥ १४३॥" (दोहावली)। अर्थात् 'महामंत्र जोइ जपत महेसू' से 'सुमिरि पवनसुत' तक उच्च कोटिके भक्तोंको गिनाया, अब पतितोंके नाम देते हैं जो नामसे बने।

'अपत' की गिनती अजामिलसे प्रारंभ करके अपनेमें समाप्ति की। गोस्वामीजीने अपनी गणना भक्तोंमें नहीं की। यह उनका कार्पण्य है।

नोट—१ "अजामिल" इति। इनकी कथा श्रीमद्भागवत स्कंध ६ अ० १, २ में, भक्तिरसबोधिनी टीकामें विस्तारसे है। ये कन्नौजके एक श्रुतसम्पन्न (शास्त्रज्ञ) सुस्वभाव और सदाचारशील और क्षमा दया आदि अनेक शुभगुणोंसे विभूषित ब्राह्मण थे। एक दिन यह पिताका आज्ञाकारी ब्राह्मण जब वनमें फल, फूल, समिधा और कुशा लेने गया, वहाँसे इनको लेकर लौटते समय वनमें एक कामीशूद्रको एक वेश्यासे निर्लज्जतापूर्वक रमण करते देख यह कामके वश हो गया....उसके पीछे इसने पिताकी सब सम्पदा नष्ट कर दी, अपनी सती स्त्री और परिवारको छोड़ उस कुलटाके साथ रहने और जुआ चोरी इत्यादि कुकर्मोंसे जीवनका निर्वाह और उस दासीके कुटुम्बका पालन करने लगा। इस दासीसे उसके दस पुत्र थे। अब वह अस्सी वर्षका हो चुका था। (भा० ६। १। ५८-६५, २१-२४) एक साधु मंडली ग्राममें आई, कुछ लोगोंने परिहाससे उन्हें बताया कि अजामिल बड़ा सन्तसेवी धर्मात्मा है। वे उसके घर गये तो दासीने उनका आदर सत्कार किया। उनके दर्शनोंसे इसकी बुद्धि फिर सात्विकी हो गई। सेवापर रीझकर उन्होंने इससे कहा कि जो बालक गर्भमें है उसका नाम 'नारायण' रखना। इस प्रकार सबसे छोटेका नाम 'नारायण' पड़ा। यह पुत्र उसको प्राणों-से प्यारा था। अंतकालमें भी उसका चित्त उसी बालकमें लग गया। उसने तीन अत्यन्त भयंकर यमदूतोंको हाथोंमें पाश लिये हुए अपने पास आते देख विह्वल हो दूरपर खेलते हुए पुत्रको 'नारायण' 'नारायण' कहकर पुकारा। तुरन्त नारायण-पार्षदोंने पहुँचकर यमदूतोंके पाशसे उसे छुड़ा दिया। (भा० ६। १। २४-३०)। भगवत् पार्षदों और यमदूतोंमें वाद-विवाद हुआ। उसने पार्षदोंके मुखसे वेदत्रयीद्वारा प्रतिपादित सगुण धर्म सुना। भगवान्‌का माहात्म्य सुननेसे उसमें भक्ति उत्पन्न हुई। (६। २। २४-२५)। वह पश्चात्ताप करने लगा और भगवद्-भजनमें आरूढ़ हो भगवद्‌लोकको प्राप्त हुआ। श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि पुत्रके मिस भगवन्नाम उच्चारण होनेसे तो पापी भगवद्धामको गया, तो जो श्रद्धापूर्वक नामोच्चारण करेंगे उनके मुक्त होनेमें क्या संदेह है?—"नाम लियो पूत को पुनीत कियो पातकीस। क० उ० १८।", "म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन्पुत्रोपचारितम्। अजामिलोऽप्यगाद्धाम किं पुनः श्रद्धया गृणन्॥ अ० २ श्लो० ४९।"

२ "गज"—क्षीरसागरके मध्यमें त्रिकूटाचल है। वहाँ वरुण भगवान्‌का ऋतुमान् नामक बगीचा है और एक सरोवर भी। एक दिन उस वनमें रहनेवाला एक गजेन्द्र हथिनियों सहित उसमें क्रीड़ा कर रहा था। उसीमें एक बली ग्राह भी रहता था। दैवेच्छासे उस ग्राहने रोषमें भरकर उसका चरण पकड़ लिया। अपनी शक्ति भर गजेन्द्रने जोर लगाया। उसके साथके हाथी और हथिनियोंने भी उसके उद्धारके लिये बहुत उपाय किये पर उसमें समर्थ न हुए। एक हजार वर्षतक गजेन्द्र और ग्राहका परस्पर एक दूसरेको जलके भीतर और बाहर खींचा-खींची करते बीत गए। अन्ततोगत्वा गजेन्द्रका उत्साह, बल और तेज घटने लगा और

उसके प्राणोंके संकटका समय उपस्थित हो गया—उस समय अकस्मात् उसके चित्तमें सबके परम आश्रय हरिकी शरण लेनेकी सूझी और उसने प्रार्थना की—"यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्। भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान् मृत्युः प्रधावत्य रणं तमीमहि। (भा० ८। २। ३३)। अर्थात् जो काल-सर्पसे भयभीत भागते हुए व्यक्तिकी रक्षा करता है, जिसके भयसे मृत्यु भी दौड़ता रहता है, उस शरणके देनेवाले, ईश्वरकी मैं शरण हूँ। यह सोचकर वह अपने पूर्वजन्ममें सीखे हुए श्रेष्ठ स्तोत्रका जप करने लगा। यथा—"जजाप परमं जाप्यं प्राग्जन्यनुशिक्षितम्। अ० ३।१।" स्तुति सुनते ही सर्वदेवमय भगवान् हरि प्रकट हुए। उन्हें देखते ही बड़े कष्टसे अपनी सूँड़में एक कमलपुष्प ले उसे जलके ऊपर उठा भगवान्को "नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते। ३।३२।" इस प्रकार "हे नारायण! हे अखिल गुरो! हे भगवन्! आपको नमस्कार है" कहकर प्रणाम किया। यह सुनते ही भगवान्, गरुड़को भी मंदगामी समझ उसपरसे कूद पड़े और तुरंत ही उसे ग्राह-सहित सरोवरसे बाहर निकाल सबके देखते-देखते उन्होंने चक्रसे ग्राहका मुख फाड़ गजेन्द्रको छुड़ा दिया।

पूर्वजन्ममें यह ग्राह हूहू-नामक गंधर्वश्रेष्ठ था और गजेन्द्र द्रविड़ जातिका इन्द्रद्युम्न नामक पाण्ड्य देश-का राजा था। वह मनस्वी राजा एक बार मलयपर्वतपर अपने आश्रममें मौनव्रत धारणकर श्रीहरिकी आरा-धना कर रहा था। उसी समय दैवयोगसे अगस्त्यजी शिष्योंसहित वहाँ पहुँचे। यह देखकर कि हमारा पूजा-सत्कार आदि कुछ न कर राजा एकान्तमें बैठा हुआ है उन्होंने उसे शाप दिया कि—'हाथीके समान जड़बुद्धि इस मूर्ख राजाने आज ब्राह्मणजातिका तिरस्कार किया है, अतः यह उसी घोर अज्ञानमयी योनिको प्राप्त हो। इसीसे वह राजा गजयोनिको प्राप्त हुआ भगवान्की आराधनाके प्रभावसे उस योनिमें भी उन्हें आत्मस्वरूपकी स्मृति बनी रही।—अब भगवान्के स्पर्शसे वह अज्ञानबंधनसे मुक्त हो भगवान्के सारूप्यको प्राप्त कर भगवान्का पार्षद हो गया [भा० ८। ४। १-१३]। हूहू गंधर्वने एक बार देवलऋषिका जलमें पैर पकड़ा; उसीसे उन्होंने उसको शाप दिया कि तू ग्राहयोनिको प्राप्त हो। भगवान्के हाथसे मरकर वह अपने पूर्व रूपको प्राप्त हुआ और स्तुति करके अपने लोकको गया। गजेन्द्रके संगसे उसका भी नाम चला। गजेन्द्रका "गजेन्द्रमोक्ष" स्तोत्र प्रसिद्ध ही है। विनयमें भी कहा है—"तर्यो गयंद जाके एक नायँ"। (भक्तमाल-टीकामें श्रीरूपकलाजीने पूर्वजन्मकी और भी एक कथा दी है)।

३ "गणिका" इति। पद्मपुराणमें गणिकाका प्रसंग श्रीरामनामके संबंधमें आया है। सत्ययुगमें एक रघु नामक वैश्यकी जीवन्ती नामकी एक परम सुन्दरी कन्या थी। यह परशुनामक वैश्यकी नवयौवना स्त्री थी। युवा-वस्थामें ही यह विधवा होकर व्यभिचारमें प्रवृत्त हो गई। ससुराल और मायका दोनोंसे यह निकाल दी गई। तब वह किसी दूसरे नगरमें जाकर वेश्या हो गई। यह वह गणिका है। इसके कोई सन्तान न थी। इसने एक व्याधासे एक बार एक तोतेका बच्चा मोल ले लिया। और उसका पुत्रकी तरह पालन करने लगी। वह उसको 'राम, राम' पढ़ाया करती थी। इस तरह नामोच्चारणसे दोनोंके पाप नष्ट होगए। यथा—"रामेति सततं नाम पाठ्यते सुन्दराक्षरम्॥ २७॥ रामनाम परब्रह्म सर्वदेवाधिकं महत्। समस्तपातकध्वंसि स शुकस्तु सदा पठन्॥ २८॥ रामोच्चारण-मात्रेण तयोश्च शुकवेश्ययोः विनष्टंभवत्पापं सर्वमेव सुदारुणम्॥ २९॥ दोनों साथ-साथ इस प्रकार रामनाम लेते थे। फिर किसी समय वह वेश्या और वह शुक एकही समय मृत्युको प्राप्त हुए। यमदूत उसको पाशसे बाँध कर ले चले, वैसे ही भगवान्के पार्षद पहुँच गए और उन्होंने यमदूतोंसे उसे छुड़ाया। छुड़ानेपर यमदूतोंने मारपीट की। दोनोंमें घोर युद्ध हुआ। यमदूतोंका सेनापति चण्ड जब युद्धमें गिरा तब सब यमदूत भगे। भगवत्-पार्षदोंने तब जय-घोष किया। उधर यमदूतोंने जाकर धर्मराजसे शिकायत की कि महापातकी भी रामनामके केवल रटनेसे भगवानके लोकको चले गए तब आपका प्रभुत्व कहाँ रह गया? इसपर धर्मराजने उनसे कहा—"दूताः स्मरन्तौ तौ राम रामनामाक्षरद्वयम्। तदा न मे दण्डनीयौ तयोर्नारायणः प्रभुः॥ ७३॥ संसारे नास्ति

तत्पापं यन्नामस्मरणैरपि । न याति संचयं सद्योदृढं शृणुत किंकराः ॥ ७४ ॥"—हे दूतो । वे 'राम राम' ये दो अक्षर रटते थे, इसलिये वे मुझसे दण्डनीय नहीं हैं। उनके प्रभु श्रीरामजी हैं। संसारमें ऐसा कोई पाप नहीं है जो रामनामसे न विनष्ट हो गया हो यह तुम लोग निश्चय जानो ।—वे दोनों श्रीरामनामके प्रभावसे मुक्त हो गए। यथा—"रामनाम प्रभावेण तौ गतौ धाम्नि सत्वरम् ॥ पद्म पु० क्रियायोगसारखंड अ० १५ ।"

एक 'पिंगला' नामकी वेश्याका प्रसंग भा० ११ । ८ में इस प्रकार है कि एक दिन वह किसी प्रेमीको अपने स्थानमें लानेकी इच्छासे खूब बनठनकर अपने घरके द्वारपर खड़ी रही। जो कोई पुरुष उस मार्गसे निकलता उसेही समझती कि बड़ा धन देकर रमण करने वाला कोई नागरिक आ रहा है, परन्तु जब वह आगे निकल जाता तो सोचती कि अच्छा अब कोई दूसरा बहुत धन देनेवाला आता होगा। इस प्रकार दुराशावश खड़े-खड़े उसे जागते-जागते अर्धरात्रि बीत गई। धनकी दुराशासे उसका मुख सूख गया, चित्त व्याकुल हो गया और चिन्ताके कारण होनेवाला परम सुखकारक वैराग्य उसको उत्पन्न हो गया। वह सोचने लगी कि—ओह ! इस विदेहनगरीमें मैं ही एक ऐसी मूर्खा निकली कि अपने समीप ही रमण करनेवाले और नित्य रति और धनके देनेवाले प्रियतमको छोड़कर कामना-पूर्तिमें असमर्थ तथा दुःख, शोक, भय, मोह आदि देनेवाले, अस्थिमय टेढ़े-तिरछे बाँसों और थूनियोंसे बने हुए, त्वचा, रोम और नखोंसे आवृत, नाशवान् और मलमूत्रसे भरे हुए, नवद्वारवाले घररूप देहोंको कान्त समझकर सेवन करने लगी। अब मैं सबके सुहृद, प्रियतम, स्वामी, आत्मा, भवकूपमें पड़े हुए कालसर्पसे ग्रस्त जीवोंके रक्षकके ही हाथ बिककर लक्ष्मीजीके समान उन्हींके साथ रमण करूँगी। यह सोचकर वह शान्तिपूर्वक जाकर सो रही और भजनकर संसार सागरसे पार होगई। (परन्तु इस कथामें नाम-जप या स्मरणकी बात भागवतमें नहीं है और न अवधूतके इस कथा-प्रसंगमें नामका प्रसंग ही है। संभवतः इसीसे आगेका चरित्र न दिया गया हो।)

४ "भये मुकुति हरि नाम प्रभाऊ" इति। अभीतक इसके पूर्व यह दिखाया था कि भक्तोंने नाम जपकर उसका प्रभाव जाना। (शिवजी कालकूट पीकर भी अविनाशी होगए, वाल्मीकिजी और गणेशजीकी अनेकों ब्रह्महत्याएँ मिटीं और एक ब्रह्माके समान भारी महर्षि हुए, दूसरे प्रथम पूज्य हुए। गणेशजीने जाना कि त्रैलोक्य रामहीमें है। पार्वतीजीने सहस्रनाम समान जाना। शुकसनकादिने ब्रह्मसुख पा ब्रह्मसमान जाना। प्रह्लादने सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक आदि जाना। ध्रुवजीने इहलोक-परलोक दोनों देनेवाला जाना। नारदजीने जाना कि हरि-हर सब इसीके वश हैं, नामजापक सबका प्रिय हो जाता है। इत्यादि)। अब अजामिल आदिके दृष्टान्त देकर दिखाते हैं कि ये महापापी प्राणी नामके प्रभावसे उसके उच्चारणमात्रसे, मुक्त हो गए। यथा—"जानि नाम अजानि लीन्हें नरक यमपुर मने।" (विनय १६०)। जैसे अग्निको जानो या न जानो वह छूनेसे अवश्य जलावेगी वैसे ही होठोंके स्पर्शमात्रसे नाम सर्व शुभाशुभकर्मोंको नष्टकर मुक्ति देगा ही। अजामिल पतितोंकी सीमा था, इसीसे उसका नाम प्रथम दिया। ग्रन्थके अन्तमें भी कहा है कि ये सब नामसे तरे। यथा—"गनिका अजामिल-व्याध-गीध-गजादि खल तारे घना। आभीर जमन किरात खस श्वपचादि अति अघरूपजे। कहि नाम बारक तेऽपि पावन होंहिं राम नमामि ते ॥ ७। १३० ।"

कहउँ कहाँ लगि नाम बड़ाई । रामु न सकहिं नाम गुन गाई ॥ ८ ॥

अर्थ—(मैं श्रीरामजीके) नामकी बड़ाई कहाँ तक करूँ ! श्रीरामजी (भी) (अपने) नामके गुण नहीं कह सकते। ८।

नोट १—इस प्रकरणमें नामकी विशेषता दिखा रहे हैं। 'राम' न सकहिं नामगुन गाई' कहकर नामकी अत्यन्त अपार महिमा दिखाई है। नामके गुण अनन्त हैं तो उनका अन्त कैसे कर सकें ? कथनका तात्पर्य

यह है कि ईश्वरकोटिवाले तो कोई कहही नहीं सकते, रहे श्रीरामजी जो परात्पर ब्रह्म हैं सो वेभी नहीं कह सकते तो भला अल्पबुद्धि वाला मैं क्योंकर कह सकता हूँ ? अतएव कहते हैं कि अब मैं कहाँतक कहता जाऊँ, इसीसे हद है कि स्वयं श्रीरामजीभी नहीं कह सकते।

२—'राम न सकहिं नाम गुन गाईं' इति। क्यों नहीं कह सकते ? इस प्रश्नको उठाकर महानुभावोंने अपने विचारानुसार इसके उत्तर यों लिखे हैं—(१) नामके गुण अनन्त हैं। यथा—"राम नाम कर अमित प्रभावा।" (१।४६), 'महिमा नाम रूप गुनगाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा" (७।६१) जिसका अन्तही नहीं, वह कैसे कहा जा सकता है ? यदि यह कहें कि श्रीरामजी कह सकते हैं तो फिर उनके नामके गुणोंके अनन्त होनेमें बट्टा लगता है। अतएव यह बात स्वयं सिद्ध है कि वे भी नामके समस्त गुणोंका कथन नहीं कर सकते। गुणकथन महाप्रलयतक भी नहीं समाप्त हो सकता। प्रमाण, यथा—"राम एवाभिजानाति रामनाम्नः फलं हृदि। प्रवक्तु नैव शक्नोति ब्रह्मादीनान्तु का कथा॥" (वशिष्ठ तंत्र); "राम एवाभिजानाति राममाग्नः फलं हृदि। प्रवक्तुं नैव शक्नोति ब्रह्मदीनान्तु का कथा॥ (वशिष्ठ तंत्र); "राम एवाभिजानाति कृत्स्नं नामार्थमद्भुतम्। ईषद्वदामि नामार्थं देवि तस्यानुकंपया॥" (महारामायण, ५२ : ४); "नाम संकीर्त्तनं विद्धि अतो नान्यद्वदाम्यहम्। सर्वस्वं रामचन्द्रोपि तन्नामानन्त वैभवम्॥" (तापनी संहिता)। (२) अपने मुख अपने नामकी प्रभुता कहना अयोग्य होगा। श्रीरामजी तो 'निज गुन श्रवण सुनत सकुचाहीं' तो फिर कहें कैसे ? (३) श्रीरामजी धर्मनीतिके प्रतिपालक हैं। वेद-पुराण कहते हैं कि नामकी महिमा अनन्त है, अतएव आप वेद-मर्यादा न तोड़ेंगे। (४) मानसकारने नामका महत्व श्रीरामके लिये अवर्णनीय बताकर अपने प्रयत्नका उपसंहार किया है। बात मनमें आ जानेकी है। भगवन्नाम जैसा सुलभ, सर्वाधिकारीके लिये उपयुक्त, विधि-निषेध रहित, अनन्त प्रभाव संपन्न साधनका माहात्म्य कैसे वर्णन किया जा सकता है ? सम्पूर्ण विश्व नामरूपात्मक है और उसमें भी नाम व्यापक है। विश्वसे परे परमपद प्राप्त करनेका मार्ग भी नाम है और परमपदस्वरूप भी नामही है। नाम साधन, साध्य, उपकरण, आचार्य, चेष्टा और प्राप्य सब कुछ है। नामके महत्वका कहीं पार है ही नहीं। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)

(५) मयङ्ककार कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी "अपने नामके रस अर्थात् प्रेमके वश स्वयं मत्त रहते हैं, यद्यपि चाहते हैं कि महत्वको कहें किन्तु मत्ततावश नहीं कहा जासकता।" (६) "संसारकी रीति है कि कोई यदि भ्रमसे किसी प्रतिष्ठितसे पूछे कि आपका नाम अमुक है ? इसपर सच्चा नाम होनेपर भी वह पुरुष संकोचसे उत्तर देता है कि नहीं वह मेरा नाम नहीं है, उस नामकी बड़ी महिमा है, मैं अधम उस नामकी प्रशंसा नहीं कर सकता।" (सु० द्विवेदी जी)। (७) यदि श्रीरामजी कहा भी चाहें तो कहें किससे ? ऐसा कौन है जो सुनकर, समझे ? वक्ता और श्रोता दोनों समशील और समदर्शी होने चाहिएँ तभी वक्ताका कहा श्रोता समझ सकता है। नामके गुणोंमें किसी श्रोताकी गति नहीं है, इसीसे प्रभु भी नहीं कह सकते। [वै०]। (८) "राम" शब्द सगुणरूपका वाचक है और उसका जो अर्थ है वह निर्गुणरूपका वाचक है; इससे यह सिद्ध हुआ कि नाममें तो शब्द अर्थ दोनों भाग रहते हैं। इसलिए नाम दोनों के जानने योग्य है। रूप तो आधे भागका मालिक है, वह दोनों भागका स्वामी जो नाम है उसको कैसे जान सकता है। (रा० प्र०)। (९) गोसाईंजी रघुनाथजीकी व्यंगस्तुति करके उनको प्रसन्न कर रहे हैं। जैसे कोई किसी राजा वा धनिकसे कहे कि आप तो बड़े कंजूस हैं पर आपके नामका प्रताप ऐसा है कि वनमेंभी आपका नाम लें तो सिंह नहीं बोल सकता। वा, आपके नामसे मैं करोड़ों रुपया ला सकता हूँ। यह सुन वह 'कंजूस' कथनके दोषको मनमें किंचित् नहीं लाता वरंच प्रसन्न हो जाता है। (करु०, मिश्रजी)। श्रीहनुमान्‌जीने भी ऐसाही कहा था। (१०) मा० त० वि० कार एकभाव यह भी लिखते हैं कि "मैं राम नहीं हूँ जो नामके गुण गा सकूँ। इत्यादि।"

नोट—३ यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि वन्दना तो 'राम' नामकी की, पर, दृष्टान्त अन्य नामोंके भी

दिए गए। इनसे श्रीरामनामकी बड़ाई कैसे हुई ? समाधान-सब नाम आपहीके हैं। 'राम' नाम सबका आत्मा और प्रकाशक है [१६ (१-२) में देखिए]; सब नाम पतितपावन हैं और सब 'राम' नामके अशांश-शक्तिसे प्रकट होते हैं और महाप्रलयमें श्रीरामनाममें ही लीन हो जाते हैं। प्रमाण—"विष्णुनारायणादीनि नामानि चामितान्यपि। तानि सर्वाणि देवर्षे जातानि रामनामतः"—(पद्मपुराण)।

दोहा—नाम राम को कलपतरु कलि कल्यान निवास।
जो सुमिरत भयो भांग ते तुलसी तुलसीदास ॥ २६ ॥

अर्थ—कलियुगमें श्रीरामचन्द्रजीका नाम कल्पवृक्ष और कल्याणका निवास (वास करनेका स्थान) है। जिसके स्मरण करनेसे तुलसीदास भाँगसे तुलसी होगए ॥ २६ ॥

नोट १—"कल्प तरु कलि कल्यान निवास" इति। (क) कल्पतरुका यह धर्म है कि जो कोई जिस विचारसे उसके नीचे जाय उसका मनोरथ वह पूर्ण कर देता है "कल्पद्रुमः कल्पितमेव सूते"। 'नाम' से सभी-ने अपने-अपने मनोरथ पाए और आजतक पाते चले जाते हैं, इसलिए वस्तुतः कल्पवृक्षका धर्म 'नाम' में है। (मा० प०)। (ख) कल्पवृक्ष अर्थ, धर्म, काम देता और सूर्यकी तपन हरता है। नाम अर्थ-धर्म काम और मोक्ष (भी) देते हैं और त्रिताप हरण करते हैं। यथा—"रामनाम कामतरु देत फल चारि रे" (वि० ६७), "बैठे नाम कामतरु तर डर कौन घोर घन घाम को" (वि० १५५), "सुमिरें त्रिविध घाम हरत" (वि० २५५), 'जासु नाम त्रयताप नसावन। ५। ३६।'

२ "कलि कल्यान निवास" इति। (क) भाव यह कि कलियुगमें तो कल्याण अन्यत्र किसी स्थानपर है ही नहीं, केवल 'नाम' रूपी कल्पवृक्षके नीचे ही उसका घर रह गया है। इसमें यह भी ध्वनि है कि और युगोंमें अन्य साधन रूपी वृक्षोंके नीचे भी कल्याणका वास था। यथा—"पीपर तरु तर ध्यान जो धरई। जाप जग्य पाकर तर करई॥ आँब छाँह कर मानसपूजा। तजि हरि भजनु काजु नहिं दूजा॥ बर तर कह हरि-कथा प्रसंगा" (उ० ५७)। अर्थात् सत्ययुगमें पीपर, त्रेतामें पाकर और द्वापरमें आमके नीचे वास था क्योंकि सत्ययुगमें योग ध्यान, त्रेतामें जप यज्ञ और द्वापरमें पूजन मुख्य साधन थे जिनसे कल्याण होता था। कलियुगमें कल्याण सब स्थानों से भागकर 'नाम' कल्पतरुके नीचे आ बसा है, अन्य किसी उपायसे कल्याण होना असम्भव है, यथा—"एहि कलिकाल सकल साधन तरु है श्रमफलनि फरो सो।....सुख सपनेहु न योग सिधि साधन रोग वियोग धरोसो। काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान विराग हरो सो।" (वि० १७३)। (ख) श्रीसुदर्शन सिंहजी लिखते हैं कि नाम कल्याण-निवास कल्पवृक्ष है। अन्य युगोंमें तो अनेक प्रकारके यज्ञ, योग, तप अनुष्ठान थे। पुत्र होनेके लिये पुत्रेष्टि यज्ञ और लक्ष्मीके लिए अनुष्ठान। इस युगमें तो जो इच्छा हो वह नामके द्वारा ही प्राप्त होती है। कुछभी इच्छा हो नाम उसे पूरा कर देगा।—यदि ऐसी बात है तब तो नामके द्वारा धन, भवनादि पानेका प्रयत्न करना चाहिए ? 'कल्यान निवास' कह रहा है कि ऐसा करना बुद्धिमानी न होगी। नाम स्वर्गके कल्पवृक्षकी भाँति केवल अर्थ, धर्म, काम ही देनेवाला नहीं है। वह तो कल्याण-निवास है। जीवका परम कल्याण करनेवाला है। अतएव उससे तुच्छ भौतिक पदार्थ लेनेकी मूर्खता न करके अपना परम कल्याणही प्राप्त करना चाहिए। यहाँ नामको कल्पवृक्षसे विशेष मोक्षदाता बताया गया और उससे कल्याणही प्राप्त करनेका संकेत भी किया गया। यहाँ महिमा वर्णनके पश्चात् उपयोग बताकर गोस्वामीजी उत्तरार्धमें अपने अनुभवकी साक्षी देते हैं। 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' वाली बात नहीं है। वे कहते हैं कि मैंने स्वयं नाम जप किया है और करता हूँ। 'सुमिरत' सूचित करता है कि अभी स्मरण समाप्त नहीं हुआ। उस स्मरणसे प्रत्यक्ष लाभ हुआ है। (ग)

वैजनाथजी "नामरूपी कल्पवृक्षका रूपक" यह लिखते हैं—अयोध्याधाम थाल्हा है, रामरूप मूल है, नाम वृक्ष है, ऐश्वर्यमाधुर्य-मिश्रित लीला स्कंध है, नाना दिव्य गुण शाखायें हैं, शृङ्गारादि आठो रस पत्र हैं, विवेक वैराग्यादि फल हैं, ज्ञान फल है नवधा-प्रेमा-परादि भक्तियाँ रस हैं, श्रीरामानुरागी संत प्रेमानुरागरसके भोक्ता, हैं। (घ) अभिप्रायदीपककारके मतानुसार यहाँ यह रूपक है—कलि सूर्य है, कलिके पाप सूर्यकी तीक्ष्ण किरणें हैं, कल्याण बटोही (यात्री, राह चलनेवाला मुसाफिर) है, जप-तप-योग-ज्ञानादि अनेक साधन वृक्ष हैं जो सूर्यके किरणोंसे झुलस गये उनके नीचे छाया न रह गई, नाम कल्पतरु है जो अपने प्रभावसे हराभरा बना रह गया। अतः कल्याण-बटोहीने उसकी छायाकी शरण ली।

"जो सुमिरत भयो भाँग ते तुलसी..." इति।

(पं० राजकुमारजी लिखते हैं कि इस दोहेमें यह अभिप्राय गर्भित है कि- क) जैसे तुलसी चार पदार्थोंकी देनेवाली है, वैसेही भवरोगहारी और सर्वकामप्रद मैं हो गया। पुनः, (ख) श्रीरामजीको प्रिय हुआ और पावन तथा पूज्य हो गया, यथा— "रामहिं प्रिय पावन तुलसी सी" (१। ३१)

(२) श्रीसुधाकर द्विवेदीजी—"तुलसीदासजी माता-पितासे परित्यक्त एक अधम भाँग ऐसे थे, पर नामके महात्म्यसे 'तुलसी' वृक्षके ऐसे पवित्र हो गए जिनकी वाणीरूपी पत्रिकासे हजारों पतित पवित्र होते हैं। विनयपत्रिका के २७५ पदसे स्पष्ट है कि मूलमें जन्म लेनेसे माताने इन्हें फेंक दिया था।" यथा— "तनुज तऊ कुटिल कीट ज्यों तज्यो मातु-पिता हूँ। काहे को रोष दोष काहि धौं मेरे ही अभाग, मोसों सकुचत सब छुइ छाहूँ॥...नाम की महिमा सीलु नाथ को मेरो भलो, बिलोकि अब ते सकुचाहुँ सिहाहूँ। २७५।", "जननी जनक तजेउ जनमि करम बिनु" (वि० २२७)

(३) सू० प्र० मिश्र—"आधे दोहेमें अपने भाग्यकी बड़ाई नामद्वारा निरूपण करते हैं कि जिसको स्मरण करके मैं भाँगसे तुलसी हुआ हूँ। इसका आशय यह है कि भाँग और तुलसीकी मञ्जरी दोनों एकसी होती हैं, उसपर भी भाँग मादक तथा अपावन है। और यह पावन एवं रोगनाशक है। उसी तरह मेरा रूप तो साधुओंके समान था पर मेरा कर्म मलिन था वह भी नामके प्रभावसे शुद्ध हो गया।" (यह भाव पं० का है)

(४) वैजनाथजी—भंग जहाँ जमती है वह भूमि अपावन मानी जाती है और तुलसी जहाँ जमती है वह भूमि और उसकी मिट्टी भी पावन हो जाती है। वहाँकी मिट्टी भी तुलसीके अभावमें भगवान्‌की सेवामें काम आती है। नामके प्रभावसे तुलसीके समान लोकपूज्य हो गया।

नोट—३ भाँग मद्य अर्थात् मदकारक है। और हर प्रकारके मादक द्रव्यमें विषाक्त परमाणु रहते हैं। इसी लिए उनकी मात्रा अत्यधिक हो जानेसे वे मृत्युके कारण हो जाते हैं। उपर्युक्त मादक पदार्थ विशेष भंगके विरुद्ध गुणधर्मवाली औषधि 'तुलसी' है। उसके स्वरसके सेवनसे विषका नाश होता है और मद दूर होता है। अस्तु। गोस्वामीजीकी 'भये भाँग ते तुलसी' इस उक्तिका भाव यह है कि वे विषयीसे रामभक्त हो गए।

४ साधारण मनुष्यका विषयलीन जीवन भंगके समान ही होता है। वह स्वयं तो प्रमत्त होता ही है, दूसरों को भी प्रमत्त बनाता है। पुत्र, स्त्री, मित्र, पड़ोसी सबको प्रेरित करता है कि वे पदार्थोंकी प्राप्तिमें लगें: जो नहीं लगते उन्हें अयोग्य समझता है। विवेकहीन होकर विषयोंमें ही सुख मानता है और अपने संसर्गमें आने-वाले प्रत्येकको यही प्रेरणा देता है। 'तुलसी भयो' का भाव कि जैसे तुलसीके बिना भगवान्‌की पूजा पूर्ण नहीं होती वैसेही उनके 'मानस' के बिना श्रीरामजीकी पूजा पूर्ण नहीं होती। संपूर्ण लोकमें वे तुलसीके समान आदरणीय हो गए।

"भांग कहीं तुलसी बन सकती है, यह तो कवि की काव्योक्ति है।" इस प्रकारकी शंका नहीं करनी

चाहिये। गोस्वामीजी पहिले कह आये हैं कि नाम-माहात्म्यमें मैं धृष्टता या काव्योक्ति नहीं कर रहा हूँ। यह मेरी 'प्रीति प्रतीति' है। नाममें प्रेम और विश्वास होनेपर तो नामने महाविषको अमृत बना दिया था, फिर भांग तो केवल मादक मात्र है। इसी लिये 'जो सुमिरत' कहा गया और पहिले नाममें प्रीति-प्रतीतिकी बात कह ही आये हैं। भगवन्नामके जपका प्रभाव यह हुआ कि स्वयं मत्त एवं दूसरोंको मत्त करनेवाला स्वभाव स्वयं पवित्र और दूसरोंको पवित्र करनेवाला बन गया। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)।

५ यहाँ गोस्वामीजीने अपनेको 'तुलसीवृक्ष' कहा है। संभवतः श्रीमधुसूदनसरस्वतीजीने इसीको लेकर प्रसन्न होकर पुस्तकपर यह श्लोक लिख दिया—"आनन्दकानने कश्चिज्जङ्गमस्तुलसीतरुः। कविता मंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता।।" जिसका अनुवाद काशीनरेश ईश्वरीप्रसादनारायणसिंहजीने इस तरह किया है—दोहा—"तुलसी जंगम तरु लसे, आनँदकानन खेत। कविता जाकी मंजरी, रामभ्रमर रस लेत।।"

६ कल्पवृक्षका गुण श्रीरामनाममें स्थापन करना 'द्वितीय निदर्शना और रूपक' का सन्देह संकर है। नामके प्रभावसे तुलसीदास भाँगसे तुलसी हो गए—यहाँ 'प्रथम उल्लास' अलंकार है (वीरकवि)।

७ कुछ टीकाकारों ने इस दोहेका भाव न समझकर 'भाँग' पाठको बदलकर "भाग" रख दिया है, जो अशुद्ध है। यही भाव अन्यत्र भी आया है, यथा—"केहि गिनती महँ गिनती जस बन घास। राम जपत भए तुलसी तुलसीदास' (बरवै ५६), "तुलसी से खोटे खरे होत ओट नाम ही की। तेजी माटी मगहू की मृगमद साथ जू'। "रामनामको प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप तुलसी सो जग मानियत महामुनी सो' (क० उ० १६,७२)।

८ इस दोहेमें रामनामके ग्यारह फल दिखाए। नाम क्रम, (१) अविनाशी करते हैं, (२) अमंगल हरते हैं, (३) मंगल-राशि बनाते हैं, (४) ब्रह्ममुख भोगी बनाते हैं, (५) हरिहरप्रिय करते हैं, (६) भक्तोंमें शिरोमणि बनाते हैं, (७) अचल अनूपम स्थान देते हैं, (८) श्रीरामजीको वशमें कर देते हैं, (९) मुक्ति तथा (१०) अर्थ, धर्म, काम देते और (११) पवित्र कर देते हैं।

चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका।। १।।
बेद-पुरान-संत-मत एहू। सकल-सुकृत फल राम[1] सनेहू।। २।।
ध्यानु प्रथम जुग मख बिधि दूजें। द्वापर परितोषत[2] प्रभु पूजें।। ३।।
कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना।। ४।।
नाम कामतरु काल कराला। सुमिरत समन सकल जगजाला[3]।। ५।।

शब्दार्थ—तिहुँ=तीनों में। एहू=यह। मख=यज्ञ। मखविधि=क्रिया, यज्ञकी विधि। परितोषत=सन्तुष्ट होते हैं, प्रसन्न होते हैं। पूजें=पूजनसे। मल=पाप। पयोनिधि=समुद्र।

अर्थ—चारों युगों, तीनों कालों और तीनों लोकोंमें प्राणी नाम जपकर शोक रहित हुए।। १।। वेदों पुराणों और सन्तोंका यही मत है कि समस्त पुण्योंका फल श्रीराम (नाम) में स्नेह होना है।। २।। पहले युग (अर्थात् सत्ययुग) में ध्यानसे दूसरे (त्रेता) युगमें भगवान् सम्बन्धी यज्ञ क्रियासे और द्वापरमें पूजनसे प्रभु प्रसन्न होते थे।। ३।। परन्तु कलियुग केवल पापकी जड़ और मलिन है। पापसमुद्रमें प्राणियोंका मन मछली हो रहा है।। ४।। ऐसे कठिन कलिकालमें नाम कल्पवृक्ष है। स्मरण करते ही सब जगजालका नाश करनेवाला है।। ५।।

---

१ नामसनेह-(मानस पत्रिका)। २ परितोषत-१६६१,१७०४, को० रा०। परितोषन-१७२१,१७६२, छ०। ३ जंजाला—१७२१,१७६२, छ०। जगजाला—१६६१, १७०४।

टिप्पणी—१ (क) अब यहाँसे नाम माहात्म्य छठे प्रकारसे कहते हैं। अर्थात् 'काल' के द्वारा नामकी बड़ाई दिखाते हैं। (ख) 'चहुँ जुग' कहकर तब 'तीन काल' भी कहा। भाव यह कि निरन्तर जीव नाम जपकर विशोक होते आये हैं। विशेष दोहा २२ (८) "चहुँ जुग चहुँ श्रुति...." में देखिये।

नोट—१ (क) "तीन काल" इति। काल वह संबंधसत्ता है जिसके द्वारा भूत, भविष्य, वर्तमान आदि की प्रतीति होती है और एक घटना दूसरीसे आगे पीछे आदि समझी जाती है। वैशेषिकमें काल एक नित्य द्रव्य माना गया है। देश और काल वास्तवमें मानसिक अवस्थाएँ हैं। कालके तीन भेद भूत, वर्तमान और भविष्य माने जाते हैं। भूत = जो बीत गया। वर्तमान = जो उपस्थित है, चल रहा है, बीत रहा है। भविष्य जो आगे आनेवाला है। (ख) "तिहुँ लोका" इति। निरुक्तमें तीन लोकोंका उल्लेख मिलता है—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। इनका दूसरा नाम भूः, भुवः, स्वः है, जो महाव्याहृति कहलाते हैं। इनके साथ महः, जनः, तपः और सत्यम् मिलकर सप्तव्याहृति कहलाते हैं। इनके नामसे सात लोकों—भूलोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक—की कल्पना हुई। पीछे इनके साथ सात पाताल—अतल, वितल, सुतल, तलातल, (अग्निपु० और विष्णुपु० में 'गभस्तिमान') महातल, रसातल, (विष्णुपु० में 'नितल') और पाताल मिलकर चौदह लोक या भुवन माने गये हैं। प्रायः 'लोक' के साथ 'त्रै' और 'भुवन' के साथ 'चौदह' का प्रयोग देखा जाता है। मर्त्य (पृथिवी), स्वर्ग और पाताल भी इन्हीं तीनके नाम हैं। (ग) 'तिहुँ लोक' का भाव कि केवल पृथ्वीपर ही नहीं किंतु स्वर्ग और पातालमें भी। असुरोंके प्रबल होनेपर स्वर्गमें भी शोक होता है। तीनों लोकोंमें जीव विशोक हुए। सत्ययुगमें ध्रुव पृथ्वीपर, स्वर्गमें हिरण्यकशिपुसे पीड़ित देवता, पातालमें हिरण्याक्षसे पीड़ित पृथ्वी, इस प्रकार प्रत्येक युगमें प्रत्येक लोकमें जीवोंके विशोक होनेके उदाहरण शास्त्रमें मिलते हैं। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)।

"भये नाम जपि जीव बिसोका" इति। शंका—भविष्यके लिये 'भये' क्रिया कैसे संगत है?

समाधान—(१) यहाँ 'भविष्य अलंकार' है जिसका लक्षण ही यह है कि भविष्यको वर्तमानमें कह दिया जाय। (२) यह क्रिया अंतिम शब्द 'तिहुँ लोका' के विचारसे दी गई। (३) तीन कालके लिये जब एक क्रियाका प्रयोग हुआ तो भूत और वर्तमान दोके अनुसार क्रिया देनी उचित ही थी। (४) चारों युग पूर्व अमित बार हो चुके हैं, उनमें नाम जपकर लोग विशोक हुए हैं, अतएव यह भी निश्चय जानिये कि आगे भी होंगे— इति भावः। जो हो गए उनका हाल लिखा गया। और, (५) व्याकरणशास्त्रका नियम है कि वर्तमानके समीपमें भूतकालिक अथवा भविष्यकालिक क्रियाओं का प्रयोग किया जा सकता है। यथा—'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा। अष्टाध्यायी ३। ३। १३१।' (६) जब किसी कार्यका होना पूर्ण निश्चित होता है तो उसे हो गया कहते हैं। भगवान्ने गीतामें कहा—मेरे द्वारा ये सब पहिले ही मारे जा चुके हैं; अर्जुन! तुम केवल निमित्त बनो। यहाँ भी कार्यके होनेकी पूर्ण निश्चयात्मकता ही है। इसी प्रकार यहाँ गोस्वामीजी कहते हैं कि आगे भी जो शोकार्त नाम जप करेंगे, वे शोकहीन निश्चय ही हो जायँगे, अतः वे भी शोकहीन हो गये, ऐसा अभी कहनेमें कोई हानि नहीं। ऊपरके दोहेमें नामको कलिमें कल्याण-निवास कल्पतरु कहा था, अतः नाम केवल कलियुगका साधन नहीं है, इसे तुरन्त स्पष्ट करनेके लिये यहाँ चारों युग, तीनों काल तथा तीनों लोकोंकी बात कही गई। (श्रीचक्रजी)।

"बिसोका" हुए अर्थात् जन्म, जरा, मरण, त्रितापादिके शोकसे रहित हो गये।

नोट—२ "वेद पुरान संत मत एहू।...राम सनेहू" इति। 'वेद पुराण सन्त' तीनकी साक्षी देनेका भाव कि "कर्म प्रत्यक्ष प्रमाणका विषय नहीं है। अनुमान तथा उपमान भी प्रत्यक्षके ही कर्म अनुगामी होते हैं। तथा कर्मफल शास्त्र प्रमाणसे ही जाने जाते हैं। शास्त्रोंमें परम प्रमाण श्रुति हैं", अतः उनको प्रथम कहा। "श्रुति

प्रमाण होनेपर भी परोक्ष है। 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्' इतिहास पुराणोंके द्वारा वेदार्थ जानना चाहिए। अकेले वेदार्थ जाननेमें भ्रमकी संभावना है।' अतः 'पुराण' को कहा। "पुराण अधिकारी भेदसे निर्मित हैं उनमें अनेक प्रकारके अधिकारियों के लिये साधन हैं। नाम महिमा पता नहीं किस कोटिके अधिकारीके लिए होगी। भ्रांतिहीन सत्यका पता तो सर्वज्ञ संतोंको ही होता है"। अतः अन्तमें इनको कहा। (ख) वेदका मत है कि संपूर्ण पुण्योंका फल रामनाममें प्रेम होना ही है। क्योंकि "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" यह परात्पर तत्त्व साधनसे नहीं मिलता। जिसे वह स्वयं वरण करे उसे ही मिलता है। वह किसे वरण करेगा? सीधा उत्तर है कि जिससे उसका प्रेम होगा। प्रेम उसका किससे होगा? जिसमें उसके प्रति प्रेम होगा। समस्त पुण्य उसीको पानेके लिए किये जाते हैं। पुण्यका उद्देश्य है सुखकी प्राप्ति और दुःखका विनाश। अतः समस्त पुण्योंका फल उससे प्रेम होना ही है। शाश्वत सुखकी प्राप्ति एवं दुःखका आत्यंतिक विनाश नामसे होता है, अतएव नाममें अनुरागही पुण्यमात्र का फल है। (श्रीचक्रजी)। (ग) तीनोंका मत यही है, यथा—'सिव अज सुक सनकादिक नारद। जे मुनि ब्रह्म बिचार बिसारद॥ सब कर मत खगनायक एहा। करिय रामपदपंकज नेहा॥ श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥ ७। १२२।"

बैजनाथजी लिखते हैं कि—गुरु-साधुसे शासे भजनकी रीति प्राप्त कर उसे करते-करते हृदयमें प्रकाश होनेपर जो अनुभवादि होते हैं उसीको 'संतमत' कहते हैं। 'सकल सुकृत फल रामसनेहू'—अर्थात् जप-तप-व्रत-तीर्थ-दान, गुरु-साधुसेवा, पूजा-पाठ, संध्या-तर्पणादि यावत् कर्मकाण्ड है; विवेक-वैराग्य, शम, दम, उपराम श्रद्धा, समाधान और मुमुक्षुतादि जो ज्ञानकांड हैं तथा नवधा-प्रेमा-परा भक्ति, षट् शरणागति इत्यादि जो उपासनाकांड हैं—इन सब सुकृतोंका फल केवल एक 'रामसनेह' है। यथा—"जप तप नियम जोग निज धर्मा। श्रुति संभव नाना सुभ कर्मा॥ ज्ञान दया दम तीरथ मज्जन। जहँ लगि धर्म कहत श्रुति सज्जन॥ आगम निगम पुरान अनेका। पढ़े सुने कर फल प्रभु एका॥ तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर॥....सोइ सर्वज्ञ तज्ञ सोइ पंडित। सोइ गुन गृह बिज्ञान अखंडित॥ दच्छ सकल लच्छन जुत सोई। जाके पद सरोज रति होई॥ ७। ४९॥"

कोई-कोई पुराणमतका अर्थ 'लोकमत' कहते हैं। यथा—"प्रगट लोकमत लोकमें, दुतिय बेदमत जान तृतिय संतमत करत जेहि, हरिजन अधिक प्रमान॥" इस अर्थका आधार है—वसिष्ठजीका वचन "करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि। २। २५८।" वेदादि सबका यही मत है, यथा—"सर्वेषां वेदसाराणां रहस्यं ते प्रकाशितम्। एको देवो रामचन्द्रो व्रतमन्यन्न तत्समम्॥" (पद्मपु०, वै०)। "सकल सुकृतोंका फल" कथनका एक भाव यह भी होता है कि जब समस्त सुकृत एकत्र होते हैं तब कहीं श्रीरामजी और उनके नाममें प्रेम होता है। श्रीरामप्रेम होना अन्तिम पदार्थ है जिसके पानेपर कोई चाह ही नहीं रह जाती। अतएव सब धर्मोंको त्यागकर इसीमें लगना उचित है, इससे सब सुकृतों का फल प्राप्त हो जायगा।

पं० रामकुमारजी—"सनेह" का भाव यह है कि नाम जपनेमें रोमांच हो, अश्रुपात हों, कभी जपमें एक तो विक्षेप पड़े ही नहीं और यदि कदाचित् पड़ जाय तो पश्चात्ताप हो, विह्वलता हो, इत्यादि। यथा—"जपहि नाम रघुनाथ को चरचा दूसरी न चालु।" (विनय १९३), "मति रामनाम ही सों रति रामनाम ही सों गति रामनामही की...। वि० १८४।', 'तुम्हरेइ नाम को भरोसो भव तरिवे को बैठे उठे जागत बागत सोये सपने"। (क० ७। ७८), "पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नामु जप लोचन नीरू॥' (२। ३२६)। भरतजीकी श्रीरामप्रेममें यह दशा थी तभी तो भरद्वाजजीने कहा है कि—"तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू। धरें देह जनु राम सनेहू। २। २०८।' और श्रीअवधके सभी लोगोंने भी कहा है—'रामप्रेम मूरति तनु आही। २। १८४।' रामस्नेह क्या है भरतजीकी दशा, रहनी-सहनी, त्याग-वैराग्यादि ही उसका उदाहरण है।

नोट—३ मा० मा० का मत है कि—"एहू—यह भी। 'एहू' से ज्ञात होता है कि यह मुख्य बात नहीं है। वेदमें दो मत हैं—परमत और लघुमत। ऊपर परमत कह आए—'ब्रह्म राम तें नाम बड़', "सकल कामनाहीन जे...." और 'राम न सकहिं नाम गुन गाई।' इत्यादि। भगवत्प्राप्ति होनेपर भी नाममें रत रहनेसे प्रभु वशमें हो जाते हैं और लघुमत यह है कि—"नामद्वारा प्रेम उत्पन्न होना।" इसी सिद्धान्त से नवधाभक्तिमें 'विष्णु-स्मरण' को तीसरी सीढ़ीमें रक्खा है।' पर मेरी तुच्छ बुद्धिमें यह आता है कि यह नामका प्रसंग है और यहाँ कहते भी हैं—'भये नाम जपि जीव विसोका'; अतः, यहाँ 'रामसनेह' से श्रीरामनाममें स्नेह ही अभिप्रेत है। नाम-नामीमें अभेद है भी। "एहू" शब्द कई ठौर 'यह, यही' अर्थमें आया है। यथा—"तुम्ह तौ भरत मोर मत एहू २।२०८।"

वीरकवि—पहले साधारण बात कहकर फिर विशेष सिद्धान्तसे उसका समर्थन करना 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है। 'सकल सुकृत....' में 'तृतीयतुल्ययोगिता' अलंकार है।

नोट—४ 'ध्यान प्रथम जुग....' इति। (क) ऐसाही उत्तरकांड दोहा १०३ में कहा है और श्रीमद्भागवतमें भी; यथा—'कृतजुग सब जोगी विज्ञानी। करि हरिध्यान तरहिं भव प्रानी। त्रेता विविध जग्य नर करहीं। प्रभुहिं समर्पि करम भव तरहीं। द्वापर करि रघुपति पद पूजा। नर भव तरहिं उपाय न दूजा॥ कलिजुग जोग न जज्ञ न ज्ञाना।... नाम प्रताप प्रगट कलि माहीं। ७। १०३।', "कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः। द्वापरे हरिचर्यायां कलौ तद्धरि कीर्तनात्। भा० १२। ३। ५२।'

वैजनाथजी लिखते हैं कि अब 'राम सनेह' होनेका उपाय बताते हैं कि सत्ययुगमें रूपके ध्यानसे स्नेह होता था। अर्थात् उस युगमें जीव शुद्ध रहे, सत्वगुण होनेसे चित्तकी वृत्ति विषयोंसे विरक्त हो थिर रहती थी जिससे मन श्रीरामरूपके ध्यानमें लग जाता था, उससे श्रीरामस्नेह होनेपर जीव कृतार्थ होता था। 'मख विधि दूजे' अर्थात् त्रेतायुगमें यज्ञविधिसे। यज्ञ पाँच प्रकारका है—देवयज्ञ (अग्निमें हवन करना), पितृयज्ञ (तर्पणादि), भूतयज्ञ (अग्रासनादि), मनुष्ययज्ञ (साधु ब्राह्मणादिको भोजन देना) और ब्रह्मयज्ञ (सामादि वेदोंकी ऋचा पढ़ना)। त्रेतामें जीवोंमें कुछ रजोगुण भी आ जानेसे चित्तमें कुछ चंचलता आ जाने से "रामयशरूप-धर्मके आधार" यज्ञद्वारा रामस्नेह होता था। द्वापरमें रजोगुण बहुत हो गया और कुछ तमोगुण भी आ गया, सत्वगुण थोड़ा रह गया। इससे अधर्मका प्रचार बढ़ा और विषयसुखकी चाह हुई तब विभवसहित भगवान् का पूजन करके रामस्नेह प्राप्त करते थे जिससे प्रभु प्रसन्न होते थे और जीव कृतार्थ होता था।

नोट—५ सत्ययुगमें मन सात्विक होनेसे एकाग्र था। शरीरमें पूर्णशक्ति थी। अतः उस समयका साधन ध्यान था। त्रेताके आते-आते मनमें अहंकार आ जानेसे यशेच्छा उत्पन्न हुई। मन इतना शुद्ध न रह गया कि निरन्तर ध्यान हो सके। संग्रहमें रुचि हो गई। अतः यशेच्छाको दूर करके निष्काम भावसे भगवानके लिए यज्ञ करना उस युग का साधन हुआ। द्वापरमें शारीरिक शक्तिभी क्षीण हो गई। संग्रह पवित्र था पर शरीरमें आसक्ति हो जानेसे संग्रहके प्रति भी आसक्ति हो जानेसे यज्ञके लिये सर्वस्व त्याग संभव नहीं था। परलोकके संबंधमें संदिग्धभाव होने लगे थे। अतः उस युगका साधन पूजा हुआ। भगवानके निमित्त संग्रह करके प्रसाद-रूपसे उसका सेवन विधान बना। कलिके मनुष्यके संबंधमें कहा जाता है—"असन्तोष अविरत पदतलन, भोली भूलें, सूनी आशा। अर्धतृप्ति उद्दाम वासना मानव जीवन की परिभाषा॥" अतः ध्यान हो नहीं सकता। अन्यायोपार्जित द्रव्य न यज्ञके काम का न पूजाके। शुद्ध पदार्थ अप्राप्य, श्रद्धा विश्वास एकाग्रता स्वप्न हो गए। मन आचार, शरीर सभी अपवित्र हैं। अतः ऐसे समयको 'कराल' कहा गया।

टिप्पणी—२ 'कलि केवल मल मूल मलीना।...' इति। (क) कलि मलको उत्पन्न करता, आप मलिन है और दूसरोंको मलिन करता है जैसा आगे कहते हैं। (ख) 'केवल' कहकर सूचित किया कि और युगोंमें

और धर्म प्रधान रहे, नामका भी माहात्म्य रहा परन्तु कलियुगमें और कोई धर्म नहीं है क्योंकि पापीको और धर्मोंमें अधिकार नहीं है, यथा—'अन्यत्र धर्मे खलुनाधिकारः'। नाममें पापीका अधिकार है, यथा—"पापिउ जाकर नाम सुमिरहीं। अति अपार भवसागर तरहीं ॥ ४।२९ ।" (ग) तीन युगोंके धर्म कहकर तब कलियुगमें नामसे भलाई होना कहा। ऐसा करके जनाया कि चारों युगोंका फल कलियुगमें नामहीसे मिलता है, यथा—"कृतजुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग । ७।१०२।' (घ) पूर्व नामको कल्पतरु कह चुके हैं—'रामनाम कलि कल्पतरु०।' अब फिर कल्पतरु कहते हैं। भाव यह है कि नाम कलिको कल्याणकारक एवं कल्याणका निवास-स्थान कर देते हैं और युगका धर्म ही बदल देते हैं।

नोट—६ 'केवल मलमूल' कहनेका भाव कि कलियुगमें सत्वगुण नहीं रह गया, प्रायः तमोगुण ही रह गया और कुछ रजोगुण है। अतः धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होनेसे प्राणियोंके मन पापमें रत रहते हैं। यथा—"तामस बहुत रजोगुन थोरा। कलि प्रभाव विरोध चहुं ओरा ॥ ७। १०४ ।"

"कलि केवल मल मूल मलीना..." का अर्थ श्रीकान्तशरणजीने "कलियुगमें 'केवल' (नामसे) क्योंकि कलि पापका मूल और मलिन है तथा... । ४। ऐसे कठिनकालमें नाम कल्पवृक्ष है..." ऐसा किया है। फिर इसके विशेषमें वे लिखते हैं कि—"यहाँ कलिके साथ 'केवल' कहकर उसे उद्देश्यांशमें साकांक्ष ही छोड़ कलिकी करालता कहने लगे। उसे फिर अगली चौ० "नाम कामतरु...." इत्यादिसे खोलेंगे क्योंकि फिर वहाँ कलिका नाम नहीं है।.... इससे स्पष्ट हुआ कि जब कलिमें केवल नाम ही अभीष्ट-पूरक है तब अन्य युगोंमें दो-दो साधन थे।'

पं० रूपनारायण मिश्रजी कहते हैं कि—यहाँ इस भावके लिये 'केवल शब्द पर जोर देकर खींचातानी करके अर्थ करनेकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती, क्योंकि स्वयं कविने ही प्रथम "चहुँ जुग, तीन काल तिहुँ लोका। भए नाम जपि जीव बिसोका।" कहकर चारों युगोंमें नामसाधनका होना भी जना दिया है, तथा आगे इसी प्रसंगमें 'नहि कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू।' से सूचित करेंगे कि पूर्व तीन युगोंमें कर्म (मख), भक्ति (पूजा) विवेक (ध्यान) और 'नाम' इनका अवलंब था, कलिमें कर्म, भक्ति, विवेक ये तीन छूट गए, एकमात्र नामका ही अवलम्ब रह गया है। अतः इस भावको कलिमें 'केवल' (नाम से) यहाँपर लगाना ठीक नहीं तथापि यदि आग्रह ही हो तो 'कलि केवल' से 'जगजाला' तक चार चरणोंका एकत्र अन्वय करके उसमें 'केवल' शब्दको नामका विशेषण कर देनेसे भी यह अर्थ सिद्ध हो जाता है। 'केवल' शब्दको उद्देश्यांशमें साकांक्ष छोड़नेकी आवश्यकता नहीं। वस्तुतः यहाँ ग्रन्थकारका उद्देश्य केवल नामका महत्व ही दिखानेका है कि जो कार्य पूर्व तीन युगोंमें ध्यान, मख और पूजासे होता था वह कलिमें श्रीरामनामके जपसे सिद्ध हो जाता है।

'पाप पयोनिधि जन मन मीना' इति।

(क) जैसे, मछली जलसे अलग होना नहीं चाहती, अगाध जलहीमें सुखी रहती है, जलके घटनेपर वह संकोचयुक्त हो जाती है और जलसे अलग होते ही तड़पने लगती है; वैसेही कलियुगमें प्राणियोंका मन पाप-समुद्रमें मग्न रहता है, विषयरूपी जलके कम होनेमें, सबकी ममता-मोहके वश होनेके कारण वह उलटे शोचमें पड़जाता है, यथा—"विषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक। ताते सहिय बिपति अति दारुन जनमत योनि अनेक। वि० १०२।' विषयोंको वह कदापि नहीं छोड़ना चाहता। उनके विना तड़पने लगता है। पुनः, (ख) जैसे मछलीका चित्त जल छोड़ दूसरी ओर नहीं जाता, वैसेही इनके चित्तकी वृत्ति पापहीकी ओर रहती है, ध्यान, योग, यज्ञ, पूजन आदिकी ओर उसकी प्रवृत्ति कदापि नहीं हो सकती। पुनः, (ग) जैसे बड़ा जाल डालकर मछलीको पकड़कर जलसे जबरदस्ती बाहर निकाल लेनेपर वह मर जाती है, वैसे ही यहाँ

श्रीनाममहाराज जालरूप होकर मनरूपी मीनको पापसमुद्रके विषयरूपी जलसे खींचकर उसके जग (संसार, भव, जन्म मरणादि) का नाश करते हैं, मन संसारकी ओरसे मर सा जाता है, विषयवासना जाती रहती है। पुनः, (घ) भाव यह कि मन सर्वथा पापमें डूबे रहनेसे ध्यान, यज्ञ और पूजन इन तीनोंके काम का नहीं। इन तीनोंमें मनकी शुद्धता परम आवश्यक है। अतएव इनमें लगनेसे श्रममात्रही फल होगा। कलिमें नामका ही एकमात्र अधिकार रह गया है। (ङ) मन पाप समुद्रमें मछली बन गया है, किन्तु यहाँ भी स्वतन्त्र नहीं है। जप तपके जालमें उलझा हुआ है। पाप करके भी वह अभीष्ट नहीं प्राप्त कर पाता। संसारकी विकट परिस्थिति में फँसा हुआ तड़फड़ा रहा है। छुटकारा पानेके लिये जितना प्रयत्न करता है उतना ही उलझता जाता है। नामके स्मरणसे सब परिस्थितियोंकी जटिलता दूर तो होती ही है, साथही सभी प्रकारके अभीष्ट पूरे हो जायँगे। इस प्रकार सकाम भावसे नाम लेनेसे अनिष्टकी निवृत्ति और अभीष्टकी प्राप्ति ठीक वैसे ही हो जाती है जैसे अन्य युगोंमें अन्य साधनोंसे होती थी, यह कहना अभीष्ट है। (श्रीसुदर्शनसिंहजी)।

नोट—७'नाम कामतरु काल कराला....।' इति (क) 'काल कराला' पर दोहा १२ (१) देखिए। उत्तरकाण्डमें कराल कलिकालके धर्म "सो कलिकाल कठिन उरगारी। पाप परायन सब नर नारी ॥" ९७ (८) से "सुनु व्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार। १०२।" तक में वर्णित हैं। (ख) "नाम कामतरु" इति। तीन युगोंके साधनरूपी वृक्षोंका वर्णन करके अब कराल कलिका साधन कहते हैं। ध्यानादि कोई साधन कलि में नहीं रह गये। नामही एकमात्र साधन है जिसपर कलिका प्रभाव नहीं पड़ता और जो सब कामनाओंका देनेवाला है। विशेष दोहा २६ देखिये। (ग) 'सुमिरत समन' का भाव कि इसमें किंचित् भी परिश्रम नहीं। केवल स्मरणमात्र करना पड़ता है, इतनेहीसे सब जगजाल शान्त हो जाता है, जैसे कल्पवृक्षके तले जानेसे वह सब शोकोंको शान्त कर माँगनेमात्रसे अभिमत देता है। यथा—"जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोचु। मागत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोचु।२।२६७।" एकमात्र श्रीरामके आश्रित हो जानेसे काम बन जाता है। 'सुमिरत' से जनाया कि अनायास सब जगजाल दूर हो जाता है। (घ) "जगजाला" इति। जाल=समूह, विषम पसारा; जाल। 'जगजाल' अर्थात् दुःख-सुख, राग-द्वेष, योग वियोग, स्वर्ग नरक आदि द्वन्द्व, धन-धाम-धरणी इत्यादि समस्त भव पाश। यथा—"योग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥ जनम मरन जहँ लग जग जालू २। ९२।" ये सब संसारमें फँसानेवाले 'जाल' हैं जैसे मछुवाहा-धीमर आदि मछलोंको जालमें फाँसते हैं वैसेही ये सब इन्द्रियोंके विषय प्राणियोंके मनको फाँसनेके जाल हैं जो कलिकालरूपी मछुवाहे-ने फैला रक्खा है। श्रीरामनाम उस जालको काटकर प्राणीको सब प्रकारके संसार बंधनोंसे छुड़ा देते हैं। अथवा, तरुके रूपकसे जगजालको त्रयताप कह सकते हैं। तरु छायासे सुख देता है—"छाँह समन सब सोचु" वैसेही नामकामतरु सब त्रयतापरूपी तीक्ष्ण धूपसे संतप्त प्राणीको सुख देते हैं।

रामनाम कलि अभिमतदाता। हित परलोक लोक पितु माता ॥ ६ ॥
नहिं कलि करम न भगति बिबेकू। राम नाम अवलंबन एकू ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—अभिमत=मनोरथ, मनोवाञ्छित पदार्थ, अभीष्ट।

अर्थ—कलियुगमें रामनाम मनोरथके देनेवाले हैं, परलोकके लिए हित और इस लोकमें माता-पिता (रूप) हैं। ६। कलिमें न कर्म है और न भक्ति वा ज्ञान ही, रामनामही एक सहारा है। ७।

नोट—१ "राम नाम कलि अभिमत दाता" इति। (क) पापपरायण रागद्वेषादिमें रत मनुष्यके मनोरथ निष्फल जाते हैं। यथा—"विफल होहिं सब उद्यम ताके। जिमि परद्रोहनिरत मनसा के। ६। ९१।" और, कलियुग में सब पापरत रहते हैं तब उनके मनोरथ कैसे सिद्ध हों—यही यहाँ कहते हैं कि 'रामनाम' कलिके जीवोंको

भी अभिमतदाता हैं। किस प्रकार अभिमत देते हैं यह दूसरे चरणमें बताते हैं। (ख) "हित परलोक" अर्थात् जैसे परम हितैषी स्वार्थरहित मित्रके हितमें तत्पर रहता है वैसेही श्रीरामनाम जनके परलोकको विना किसी स्वार्थके बनाते हैं। ऐसे परलोकके हित हैं। पुनः, 'हित परलोक' कहकर सूचित किया कि कल्पवृक्ष मोक्ष नहीं देता और श्रीरामनाम परलोक (मोक्ष) भी देते हैं, (ग) "लोक पितु माता" इति। 'पितु माता' के समान कहकर जनाया कि विना वाञ्छा किये अपनी ओरसे देते हैं, माँगना नहीं पड़ता। कामतरु माँगनेपर देता है, यथा—'माँगत अभिमत पाव जग'। २। २६७।' पुनः, जैसे माता-पिता बालकका निःस्वार्थ पालन पोषण करते हैं। बालकपर ममत्व रखते हैं, वैसेही श्रीरामनाम रूपी मातापिता बालककी तरह जनका हित करते हैं। यथा—"करउँ सदा तिन्हकै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी। ३।४३।" विशेष दोहा २० चौ० २ 'लोक लाहु परलोक निबाहू' में देखिये।

२—कल्पवृक्ष अर्थ, धर्म और काम देता है, मोक्ष नहीं। फिर याचक यदि अहितकारक वस्तु माँगे तो यह उसे अहितकारक वस्तु भी दे देता है जिससे याचकके मनकी इच्छाकी पूर्त्तिके साथ ही उसका विनाश भी हो जाता है। सत्ययुग आदिमें तो सत्वकी विशेषता होनेसे मनुष्य प्रायः सात्विक पदार्थ माँगते थे पर कलि तो 'केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥' है; अतः आज कल तो लोग प्रायः पापमय वासनाओंकी ही माँग करेंगे। अतः 'राम नाम कलि अभिमत दाता।...' इस चौपाईकी प्रवृत्ति हुई। अर्थात् श्रीरामनाम इस युगमें इच्छाओंकी पूर्ति अवश्य करते हैं पर किस तरह? 'हित परलोक लोक पितु माता' बनकर करते हैं। तात्पर्य कि समस्त बुरी भली इच्छाओंकी पूर्तिकी पूर्ण शक्ति होते हुए भी वह कल्पवृक्षकी तरह अपने जापकको उसके अकल्याणकी वस्तु नहीं देता वह चाहे जितना रोवे, चिल्लावे। देवर्षि नारदकी कथा इसी ग्रंथमें ही उदाहरणके लिये है ही। भगवान् कहते हैं—'जेहि विधि होइहि परम हित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु...। १३२। कुपथ माँग रुज व्याकुल रोगी। वैद न देइ सुनहु मुनि जोगी। एहि विधि हित तुम्हार मैं ठएऊ।' नारदजीके पूछने पर श्रीरामजी ने कहा है कि "भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउँ सदा तिन्ह कै रखवारी। जिमि बालक राखइ महतारी।' (३। ४३)। वही बात यहाँ नामके संबन्धमें कह रहे हैं। श्रीरामनाम महाराजकी दृष्टि भक्तके 'परम हित' (परलोक हित) की ओर विशेष रहती है। पारलौकिक कल्याणमें हानि न पहुँचे यह उद्देश्य दृष्टिमें रखते हुए उसके लौकिक कामनाओंकी पूर्ति की जाती है जहाँ तक संभव है। इसीसे प्रथम 'हित परलोक' कह कर तब 'लोक पितु माता' कहा। 'लोक पितु माता' का भाव कि जापककी इच्छाकी पूर्ति उसी प्रकार करते हैं जैसे पिता और माता बच्चोंकी इच्छाओंकी पूर्ति करते हैं। बच्चा यदि रोगमें कुपथ्य माँगता है तो माता-पिता उसे नहीं देते, यथा—'जिमि सिसु तन व्रन होइ गोसाईं। मातु चिराव कठिन की नाईं।... ७।७४।' नामको प्रथम पिता कहा क्योंकि माताकी अपेक्षा पिताका ध्यान पुत्रके भविष्यकी उन्नतिकी ओर विशेष रहता है। फिर मातारूपसे हित करनेमें भाव यह है कि माताकी तरह नाम महाराज स्नेहमय हैं, तात्कालिक कष्टके निवारणकी सर्वथा उपेक्षा भी उनमें नहीं है। वे उसके 'परलोक हित' की रक्षा करते हुए लौकिक हित भी करते हैं। पुनः भाव कि 'हित परलोक' के संबंधमें तो नाम 'अभिमत दाता' हैं अर्थात् परमार्थ संबंधी जो भी कामनाएँ होती हैं नाम उसे उसी रूपमें पूर्ण कर देता है किन्तु 'लोक' (लौकिक कामनाओं) के संबंधमें नाम 'पितु माता' है। अर्थात् परलोकके हितकी रक्षा करते हुए ही सांसारिक कामनाओंकी पूर्ति करता है। (श्री सुदर्शनसिंह जी)

३ 'नहिं कलि करम'...इति। (क) तात्पर्य कि कलिमें मनुष्यके अत्यन्त शक्तिहीन हो जानेसे इनका साधन उससे निबह नहीं सकता, इन सबोंमें उपाधियाँ हैं। 'करम' (कर्म) शब्दसे क्रियारूप उन सभी कर्मोंकी ओर संकेत है जो आध्यात्मिक उन्नतिके लिए किये जाते हैं। मनके पापपरायण होनेसे प्राणियोंको इनका

अधिकार ही नहीं रह जाता (क्योंकि अपवित्र मनसे जो धर्म होता है वह धर्म नहीं रह जाता)। प्रमाण यथा—"कर्मजाल कलिकाल कठिन, आधीन सुसाधित दाम को। ज्ञान विराग जोग जप को भय लोभ मोह कोह काम को॥ वि० १५५।", "रामेति वर्णद्वयमादरेण सदा स्मरन्मुक्तिमुपैति जन्तुः। कलौ युगे कल्मषमानसानामन्यत्र धर्मे खलु नाधिकारः॥", 'कर्म उपासना कुवासना विनास्यो, ज्ञान वचन, विराग वेष, जगत हरो सो है। क० उ० ८४।'

उपर्युक्त उद्धरणोंके अनुसार कर्मकांडमें धन चाहिये, श्रद्धा चाहिए। कलिमें जिनमें कुछ धर्म है वे निर्धन हैं। मनमें कुवासनाएँ होनेसे, काम-क्रोध-लोभ-मोह होनेसे, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि भी नहीं हो सकते; क्योंकि इनमें मन शुद्ध चाहिये। (ख) "कर्म शुद्ध नहीं तो क्या ? भगवान् तो भाव देखते हैं। द्रव्य अन्यायोपार्जित और अशुद्ध हो, किन्तु भाव शुद्ध हो तो यज्ञादि किये जा सकते हैं। भाव ही फल देगा।" यह विकल्प ठीक नहीं। कर्मके दो प्रकार हैं। एक क्रियामात्रसे फल देनेवाले, दूसरे भावानुसार फल देनेवाले। जो क्रियारूप कर्म हैं, सर्वज्ञ महर्षियोंने उन क्रियाओंमें शक्तिका ऐसा विधान किया है कि वे विधिपूर्वक हों तो उनसे फल होगा ही। वहाँ भावकी अपेक्षा नहीं है। विधिके अज्ञान, पदार्थदोष, अन्यायोपार्जित पदार्थोंका भाव-दोष, इन कारणोंसे क्रियारूप कर्म तो इस युगमें शक्य नहीं। रहे भावरूप कर्म, उनके लिये अविचल विश्वास और श्रद्धा चाहिये। भाव मनका धर्म है और आज मनमें अविश्वास, चंचलता, मलिनता संदेह स्वभावसे भरे हुए हैं। भक्तिके लिए मन निर्मल चाहिए। "संदेहयुक्त मनसे किये हुए कर्मोंमें भावदोष होनेसे फलप्रद नहीं होते किंतु बुद्धि तो विकारहीन है। ज्ञान बुद्धिका धर्म है। अतः कमसे कम ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है!" इसपर कहते हैं 'न विवेकू' अर्थात् कलिमें सत् असत्का विवेक नहीं रह गया। आज कलकी सत्को असत् और असत्को सत् माननेवाली बुद्धि कैसे तत्त्वका निर्णय करेगी ? दूसरी बात यह है कि बुद्धिका विवेचन जब मनके विपरीत होता है, वह पाखंड बन जाता है। वैराग्यादि साधन चतुष्टय सम्पन्नके लिए ही ज्ञान मोक्षप्रद है। आज मनमें वैराग्य नहीं, इन्द्रियोंका संयम नहीं, अतः अपरोक्ष साक्षात्काररूप ज्ञान संभव नहीं।

वैजनाथजी कहते हैं कि 'कर्म नहीं हैं' कहनेका भाव यह है कि चारों वर्ण अपने धर्मसे च्युत हो गए। ब्राह्मणके नौ कर्म कहे गए हैं, यथा—"शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च। ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ गीता १८।४२।" इसी तरह क्षत्रियोंके छः और वैश्योंके तीन कर्म कहे गए हैं। यथा—"शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्मस्वभावजम्॥४३। कृषिगौरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्मस्वभावजम्। परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ४४।"—ये कोई कर्म इन चारोंमें नहीं रह गए। यदि कोई सत्कर्म करता भी है तो मान प्रतिष्ठा, लोकप्रशंसा आदि दुर्वासनासे करता है। उपासना नहीं है, यदि कोई करता है तो मन तो उसका विषय आदिमें रहता है ऊपरसे पूजापाठ तिलक माला आदिका पाखंड। ज्ञानभी वचनमात्र है।

५ "राम नाम अवलंबन एकू" अर्थात् यही एकमात्र उपाय 'श्रीरामजीमें स्नेह और भजन' का है। इसमें लगनेसे पाप नाश होते हैं, मनभी शुद्ध हो प्रभुमें लग जाता है और विवेक भी होता है तथा कोई विघ्न नहीं होने पाते। कहा भी है—"एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि रे। ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे!" (विनय ६६)।

६ श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि पूर्व जो 'ध्यान प्रथम जुग' 'मख विधि दूजे' और 'द्वापर परितोषन प्रभु पूजे' कहा था उसीको यहाँ विवेक, कर्म और भक्ति कह कर निषेध करते हैं। (मा० मा०)।

कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥ ८॥

अर्थ—कपटका निधान (स्थान; खजाना) कलि कालनेमि (रूप) है। (इसके नाशकेलिये) नामही अत्यन्त बुद्धिमान् और समर्थ श्रीहनुमान्जी हैं। ८।

नोट १—'कालनेमि' इति। यह रावणका मामा था। बड़ा ही कपटी था। इसने रावणके कहनेसे श्रीहनुमान्‌जीको छलनेके लिये साधुवेष बनाया था। श्रीहनुमान्‌जीने उसके कपटको जान लिया और उसको मार डाला। कालनेमिका प्रसंग लं० दोहा ५६ (१) से ५७ (७) तक है।

२—पूर्व कहा कि रामनामही एक अवलंब रह गया है। उसपर यह शंका होती है कि जैसे कलि कर्म, ज्ञान और भक्तिमें बाधक हुआ वैसेही 'नामजापकोंपर भी विघ्न करेगा?', उसपर कहते हैं कि नहीं।

टिप्पणी १—"कलि कपट निधानू" इति। (क) कलियुगको कपटी कहनेका भाव यह है कि वह नामके प्रभावको जानता है इसीसे साक्षात् प्रकट रूपसे विघ्न नहीं कर सकता, कपटसे विघ्न करना चाहता है। जैसे, कालनेमि श्रीहनुमान्‌जीके बलको जानता था। यथा—'देखत तुम्हहिं नगर जेहि जारा। तासु पंथ को रोकन पारा। ६। ५५।'—यह उसने रावणसे कहा है इसीसे साक्षात् प्रकट रूपसे विघ्न न कर सका कपट करके उसने विघ्न करना चाहा था। यथा—"अस कहि चला रचिसि मग माया। सर मंदिर बर बाग बनाया॥ राच्छस कपट बेष तहँ सोहा। मायापति दूतहि चह मोहा॥६। ५६।" कलि कपटी है। इसने राजा नल और राजा परीक्षित्‌के साथ कपट किया। यथा—"बीच पाइ नीच बीचही नल छरनि छर्‌यो हौं। विनय २६६।' भागवतमें परीक्षित्‌की कथा प्रसिद्ध ही है।

नोट—३ (क) सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि—"जैसे कालनेमि ऊपरसे तो मुनि था और भीतर से तो राक्षस था इसी तरह कलियुग भीतरसे कपटवेष और ऊपरसे युगवेष किये हुए है। (ख) 'कपटनिधान' का भाव कि कपटी तो सभी राक्षस होते हैं, यथा—'कामरूप जानहिं सब माया। १८१। १।' पर कालनेमि कपटका भंडार ही था, इसके समान मायावी दूसरा न था। श्रीहनुमान्‌जीको राक्षसी मायासे भ्रममें डाल देना अन्य किसीका सामर्थ्य न था तभी तो रावण कालनेमिके पास ही गया। इसकी शक्ति बड़ी अपूर्व थी। वह हनुमान्‌जीसे पहले ही मार्गमें पहुँचकर माया रच डालता है और उसकी मायाके भ्रम में हनुमानजी पड़ ही तो गए। मकरीके बतानेसे ही वे कालनेमिके कपटको जान पाए। कलिको कपटनिधान कालनेमि कहनेका भाव कि जैसे कालनेमिने साधुवेषद्वारा कपट किया वैसे ही कलियुग धर्मकी आड़में अधर्म करता है—'मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहुँ संत कहइ सब कोई। ७। ९८।' कलि दंभ, कपट और पाखंडरूपी खज़ानेसे भरा हुआ है। इसके दंभ कपट पाखंड जाल बड़े-बड़े बुद्धिमानोंको भ्रममें डाल देते हैं।

टिप्पणी २—"नाम सुमति समरथ हनुमानू" इति। (क) 'सुमति' का भाव कि बुद्धिमानीसे उसका कपट भाँप गए। कालनेमिने पहले श्रीरामगुणगान किया। इस तरह उनको वहीं सवेरेतक रोक रखनेका यही उपाय था। श्रीहनुमान्‌जी श्रीरामगुणगान सुनते रहे। पर जब वह अपनी बड़ाई करने लगा कि "इहां भएँ मैं देखउँ भाई। ज्ञानदृष्टि बल मोहि अधिकाई॥ ६। ५६।' तब वे ताड़ गए कि यह संत नहीं है, क्योंकि सन्त तो 'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। ३। ४६।' मुखसे कहना तो बहुत ही असंभव है। अतः वे पानी पीनेका बहाना कर चल दिये। जल पीकर लौटे तो लांगूलमें लपेटकर उसे धर पटका, तब उसका कपट वेष भी प्रकट हो गया। पुनः; (ख) 'सुमति' विशेषण देकर यह भी सूचित किया कि हनुमान् जी तो मकरीके बतलानेपर कि—'मुनि न होइ यह निसिचर घोरा। मानहु सत्य बचन कपि मोरा। ६। ५७।' कालनेमिके कपटको जान पाये थे और तब उसे मारा था। परन्तु श्रीरामनाम महाराजको दूसरे के बतानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। कालनेमि गुरु बनकर हनुमान्‌जीको ठगना चाहता था, वैसेही जब कलि जापकको ठगनेका कोई उपाय करेगा तभी मारा जायगा।—यहाँ 'सुमति' में शाब्दी व्यंग्य है कि नामरूपी हनुमान्‌जी 'मतिमान्' हैं, बिना किसीके सुझाये कलिके कपटका नाश करते हैं।

नोट—४ वैजनाथजी रूपककी पूर्ति इस प्रकार करते हैं—श्रीरामजी विवेक और लक्ष्मणजी विचार हैं। मोह-रावणके पुत्र काम-इन्द्रजितने असत् वासनारूप शक्तिसे जब विचार लक्ष्मणको घायल किया तब वैराग्यरूप हनुमान् सत्संगरूप द्रोणाचलसे चैतन्यतारूप संजीवनी लेने चले। कालनेमिरूपी कलिने कपट निधान मुनि बनकर संसाररूप बागमें गृहसुखरूप मन्दिर इन्द्रियविषयरूप तड़ाग रचकर ज्ञानवार्ता की अर्थात् घर ही में भजन बनता है, गृहस्थका आसरा त्यागी भी करता है, इत्यादि वार्ता करके वैराग्य-हनुमानको लुभाया। जब इन्द्रियसुखरूपी जल पीने गए; तब रामनामका अवलंब जो वे लिये हुए हैं वही सहायक हुआ, भगवत्-लीला देख पड़ी। कुमतिरूपी मकरी शापोद्धारसे सुमति हुई, उसीने वैराग्यरूप हनुमानजीको समझा दिया। नामके प्रतापसे सुमतिके प्रकाशसे वैराग्य हनुमान्ने कलिका नाश कर दिया।

५ इस चौपाईका आशय यह है कि हम यदि नामका नियम ले लें तो हमारे लिये कलियुगका नाश हो चुका। "कलिकी दंभकी प्रवृत्ति वासनात्मक है, बहिर्मुख है। बहिर्मुखताके साथ नाम चल नहीं सकता। अतः यदि हम किसीके द्वारा कभी भ्रममें पड़ेंगे भी तो यदि नाममें दृढ़ रहेंगे तो बहिर्मुख वृत्ति एवं कार्य नष्ट हो जायगा। उसकी पोल खुल जायगी और हम उसे स्वभावतः छोड़ देंगे।" (श्रीसुदर्शनसिंहजी)।

दोहा—रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल।
जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल ॥२७॥

शब्दार्थ—नरकेसरी=नृसिंहजी। सुरसाल=देवताओंको पीड़ित करने वाला; दैत्य। दलना=नाश करना। कनककसिपु=हिरण्यकशिपु।

अर्थ—कलिकालरूपी हिरण्यकशिपुके लिये श्रीरामनाम नृसिंह (रूप) हैं, जापक जन प्रह्लादजीके समान हैं, वे (रामनामरूपी नृसिंह) देवताओंको दुःख देनेवाले (कलिरूपी हिरण्यकशिपु) को मारकर (जापकरूपी प्रह्लादका) पालन करेंगे। भाव यह कि जैसे नृसिंहजीने देवताओंको दुःख देनेवाले हिरण्यकशिपुको मारकर अपने दास प्रह्लादकी रक्षा की थी, वैसे ही इस कराल कलिकालमें श्रीरामनाम कलिकालसे नामजापकोंकी रक्षा करते हैं एवं करेंगे। २७।

टिप्पणी १—(क) रामनामका नृकेसरीसे रूपक देकर दिखाया है कि जैसे कनककशिपु सबसे अवध्य था, नृसिंहजीने उसको मारा, इसी तरह कलि सबसे अवध्य है, नामही उसका नाश करते हैं। (ख)—'जापकजन प्रहलाद जिमि·····' इति। 'सुरसाल' का भाव यह कि जबतक हिरण्यकशिपु देवताओंको दुःख देता रहा तबतक भगवान् प्रकट न हुए। परन्तु, जब प्रह्लादजीको उसने मारना चाहा तब तुरंत प्रकट होगए, यथा—'सहे सुरन्ह बहु काल बिषादा। नरहरि किए प्रगट प्रहलादा॥ २। २६५।' इसी प्रकार जबतक कलि सद्धर्मोंका नाश करता है तबतक 'नाम' महाराज कलिका कुछ अपकार नहीं करते, परन्तु जब वह जापकको दुःख देता है तब उसका नाश करते हैं।

नोट—१ नृसिंह ही की उपमा क्यों दी और किसी अवतारकी क्यों न दी? क्योंकि जब हिरण्यकशिपु ने दासपर विघ्न किया तब प्रभुको अत्यन्त क्रोध हुआ। ऐसा क्रोध अन्य किसी अवतारमें नहीं प्रदर्शित किया गया, इससे इस अवतारकी उपमा दी गई।

२ यहाँ 'रामनाम', 'कलिकाल' और 'जापकजन' पर क्रमसे 'नृसिंहजी', 'कनककशिपु' और 'प्रह्लाद' होनेका आरोपण किया गया; पर, 'सुरसाल' शब्दमें 'सुर' उपमानका उपमेय नहीं प्रगट किया गया कि क्या है? इसमें 'वाचकोपमेयलुप्ता' अलंकारसे अर्थ समझना चाहिए। हिरण्यकशिपुसे देवताओंको दुःख और कलियुगमें सद्गुण सद्धर्मको धक्का पहुँचा, यथा—'कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भये सद्ग्रंथ। (७। ९७), "कलि

मर्दत सोई सुचाल निज कठिन कुचालि चलाई। चि० १६५।' सद्गुण ही सुर हैं, यथा—'सद्गुन सुरगन अंब अदिति सी। बा० ३१।' यहाँ परम्परितरूपक और उदाहरण हैं। 'पालिहि' भविष्य-कालिक क्रिया देकर जनाया कि नामजापकजन निश्चिन्त रहें, कलि जब विघ्न करेगा तभी मारा जायगा।

३ "कालनेमि कलि" इस चौपाईमें श्रीरामनामरूपी हनुमान्‌जीद्वारा कलिरूपी कालनेमिका नाश कहा गया; जब उसका नाश हो गया तो फिर दोहेमें दुबारा मारना कैसे कहा? अर्थात् दो रूपक क्यों दिए गए? यह प्रश्न उठाकर उसका समाधान यों किया जाता है कि— (१) 'नहिं कलि करम न भगति बिबेकू' २७ (७) कहकर जनाया गया था कि कलिने कर्म, भक्ति और ज्ञान तीनोंको नाश कर डाला, अब केवल नाम हीका एक अवलम्ब रह गया है। इस वाक्यसे यह संदेह उत्पन्न हुआ कि 'नाम' को भी नाश कर देगा। इस शंकाकी निवृत्ति "कालनेमि कलि कपट निधानू।···" से की गयी। जैसे हनुमान्‌जीने अपनी सुमति और सामर्थ्यसे कालनेमिको नाश किया वैसेही श्रीरामनाम महाराज ऐसे समर्थ हैं कि वे कलिसे अपनी रक्षा सदा किए हैं। श्रीरामनामको चौपाईमें अपनी रक्षाके लिए स्वयं समर्थ होना जनाकर फिर दोहेमें अपने भक्तोंकी रक्षाके लिये भी समर्थ होना निरूपण किया। भाव यह कि कलि न तो 'नाम' हीका और न 'नाम जापक' का ही कुछ कर सकता है या कर सकेगा। पुनः, (२) श्रीरामनाममहाराजने हनुमान्‌रूपसे कलिका कपट नाश किया और नृसिंहरूपसे उसका पुरुषार्थ नाश किया। दो बातें दिखानेके लिये दो बार कहा। यथा—"इहाँ कपट कर होइहि भाँडू। २। २१८।" "अब कुचालि करि होइहि हानी। २। २१८।" (पं० रामकुमारजी)। अथवा, (३) कालनेमि हनुमान्‌जीको डरता था जैसा उसके "रामदूत कर मरौं बरु। ६।५५।" इन वचनोंसे स्पष्ट है, वैसे ही कलि रामनामसे डरता है यह चौपाईमें दिखाया। हिरण्यकशिपु नामजापक प्रह्लादसे डरता नहीं था किन्तु अपना पुत्र समझकर वह उनको अपनी राहपर लाना चाहता था। और न वह भगवान्‌से डरता था; वैसेही कलिकाल न तो नामजापकसे डरता है और न नामसे। वह नामजापकको कलिमें उत्पन्न होनेसे अपना पुत्र मानकर जब अपने मार्गपर चलाना चाहता है और जापक अपनेमें दृढ़ हैं, तब नाममहाराज अद्भुतरूपसे कलिका नाश कर देते हैं। यह दोहेसे दिखाया। अथवा, (४) दो बार लिखकर जनाया कि कलि चाहे कपट-छलसे विजय चाहे, चाहे सम्मुख लड़कर, दोनों हालतोंमें उसका पराजय ही होगा। हिरण्यकशिपुने सम्मुख लड़कर विजय चाही सो भी मारा गया।

४ कलियुगके दो रूप हैं। एक तो धर्मकी आड़में अधर्म; इसीको दंभ या आडंबर कहते हैं; चाहे साधक स्वयं दंभ करे चाहे दूसरेके दंभसे भ्रान्त हो, ये दोनों दंभ इसमें आ जाते हैं। दूसरा, प्रत्यक्ष अधर्म। यह रूप पहलेकी अपेक्षा बहुत भयंकर है क्योंकि प्रत्यक्ष अधर्ममें पाप करनेमें घृणा, लज्जा या भय नहीं लगता। कलिके प्रथमरूपको कालनेमि और दुर्दमनीय दूसरे रूपको हिरण्यकशिपु बताया गया। कलिके दंभात्मक रूपमें सच्चे साधकको भ्रान्त करनेका प्रयत्न भी एक सीमातक उनका समर्थन करते हुए ही होता है। उसमें सत्यधर्मके प्रति सम्मानका प्रदर्शन है, उत्पीड़न नहीं है! पर कलियुगके प्रत्यक्ष अधर्मरूपके द्वारा साधक उत्पीड़ित किया जाता है। अधर्मका यह रूप अपने आपमें सन्तुष्ट नहीं रहता। धर्म या ईश्वरको मानना अपराध बना देना उसका लक्ष्य है। जैसे हिरण्यकशिपु अपनेको ही सर्वोपरि सत्ता मानता था, दैविक सम्पत्तिका शत्रु था, ईश्वर और धर्मका मानना अपराध घोषित कर दिया था वैसे ही कलियुगमें संध्या-वंदन, वर्णाश्रम धर्म, पूजा-पाठ और शास्त्र उपहास एवं अपमानके कारण होते जायँगे। ईश्वरको भीरु एवं मूर्ख समाजकी कल्पना कहा जाने लगा ही है। आध्यात्मिकताके लिये कोई प्रयत्न करना अशक्य हो जायगा। ऐसी दशामें धार्मिक एवं आस्तिक लोग क्या करें? गोस्वामीजी

इसका उत्तर इस दोहेमें देते हैं। सबपर प्रतिबन्ध लग सकता है किन्तु आपकी वाणी आपकी ही रहेगी। जोरसे न सही, मनमें तो आप नाम सदा ले सकेंगे। नामही रक्षाका एक मात्र साधन है। नामजापक भी सताये जा सकते हैं परंतु जब ऐसा होगा, अधर्म स्वतः नष्ट हो जायगा। अनैतिक उत्पीड़नसे भी वही रक्षा कर लेता हैं। (श्रीचक्रजी)।

५. श्रीजानकीशरणजीने कलिकालके रूपकका विस्तार इस प्रकार किया है कि—"हिरण्यकशिपुने वर मांगा था कि मैं न नरसे मरूँ न देवसे, न भीतर न बाहर, न दिनमें न रातमें, न पृथ्वीपर न आकाशमें, न पशुसे न पक्षीसे। वैसेही कलिने भगवान्से वर माँगा कि मैं न कर्मधर्म करनेवालों से (रजोगुणी वा सतोगुणी से) मरूँ, न गृहस्थसे न तपस्वीसे, न अविद्यासे न विद्यासे, न पापसे न पुण्यसे, न मूर्खसे न साक्षरसे और जैसे हिरण्यकशिपुने माँगा था कि मेरा एक रक्तबुंद गिरे तो सहस्रों हिरण्यकशिपु पैदा हो जायँ वैसेही कलिने माँगा कि "यदि कोई ज्ञानवैराग्यादि बाणों से मुझे छेदन करे तो मेरा तेज और अधिक होजाय।" जापकके जिह्वारूपी खंभसे नामनृसिंह निकालकर कलिका नाश करेंगे। रकार सिंह और मकार नरवत् हैं।" (मा० मा०)। कलिको जापक पर क्रोधका कारण यह है कि द्वापरमें जन्मे हुए राजा नल, युधिष्ठिरमहाराज और राजा परीक्षित् भी मेरी आज्ञापर चले—जूआ खेले, घोड़ेपर चढ़े, फलके बहाने मांस खाया, मुनिके गलेमें 'मरा सर्प डाला; और यह जापक मेरेही राज्यमें जन्म लेकर मेरी आज्ञाके विरुद्ध चलता है! (अ० दी० च०)

६—"कालनेमि कलि०" में पहले कालनेमि कलि को रक्खा तब 'हनुमानजीको' और दोहेमें प्रथम 'नरकेसरी' को तब 'कनककसिपु कलिकाल' को अर्थात् एकमें मारनेवालेको पहले और दूसरेमें पीछे कहा गया है। शब्दोंका यह हेरफेर भी भावसे खाली नहीं है। (१)—'कालनेमि·····' में यह दिखाया है कि नाम महाराज अपनी रक्षामें इतने निश्चिन्त वा असावधान (लापरवा) हैं कि कालनेमि कलियुगको देख रहे हैं फिर भी उसकी उपेक्षा कर रहे हैं, उसकी परवा नहीं करते और दोहेमें यह बताते हैं कि अपने 'जापक जनकी रक्षामें' प्रथमसे ही तैयार रहते हैं। पुनः, (२) चौपाई में बताया कि श्रीहनुमानजीने यह जानकर भी कि यह राक्षस है, साधु बनकर ठगना चाहता था, तो भी उन्होंने उसपर रोष नहीं किया। वैसेही श्रीरामनाम-महाराज अपने ऊपर अपराध करनेपर भी रोष नहीं करते। और दोहेमें बताते हैं कि यदि कोई जापक जनका अपराध करे तो वे उसे नहीं सह सकते, उसके लिये नृसिंहरूपसे सदा तैयार रहते हैं। यथा—"सुनु सुरेस रघुनाथ सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ॥ जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई॥ लोकहु बेद बिदित इतिहासा। यह महिमा जानहिं दुरबासा॥" (२।२१८)

भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ॥ १॥

अर्थ—भाव, कुभाव (खोटे भाव, अप्रीति), क्रोध या आलस्य (किसी भी प्रकार) से नाम जपनेसे दशो दिशाओं में मंगल ही होता है॥ १॥

नोट १—"भाय कुभाय अनख·····" इति। (क) बैजनाथजीका मत है कि-'भाय=भाव। जैसे कि शेष-शेषी, पिता-पुत्र, भार्या-स्वामी, शरीर-शरीरी, धर्म-धर्मी, रक्ष्य-रक्षक इत्यादि भाव। यह मित्र पक्ष है। कुभाय=कुत्सित भाव। जैसे कि अनरस जिसमें स्वाभाविक विरोध है, ईर्ष्या-भाव (जो बढ़ती न सह सके), असूया-भाव (जो गुणमें दोष आरोप करे), वैरभाव—इत्यादि जो शत्रुपक्षके भाव हैं। 'अनख' अर्थात् जो प्रीति-विरोधरहित है पर किसी कारणसे रुष्ट होगया। 'आलस'-जैसे शोकमें या थकित होनेपर मुख आजाना, नाम निकल पड़ना—ये उदासीन पक्षमें हैं।"

(ख) मिलान कीजिये—"सांकेत्यं पारिहास्यंवा स्तोभं हेलनमेव वा । वैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः ॥ भा० ६ । २ । १४ ।" अर्थात् संकेतसे, हँसीसे, गानके आलापको पूर्ण करनेके लिये, अथवा अवहेलनामें भी लिया हुआ भगवन्नाम मनुष्यके समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है, इसे महात्मालोग जानते हैं। इसमें 'हेलनं' का भाव 'कुभाव' से समझा जा सकता है।

(ग) विजय दोहावलीमें इनके उदाहरण ये दिये हैं—'भाव सहित शंकर जप्यो, कहि कुभाव मुनि बाल । कुंभकरण आलस जपेउ, अनख जपेउ दशभाल'। मानसमें इसके प्रमाण, यथा—'सादर जपहु अनंग आराती । १ । १०८ ।', 'भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू । १ । १९ ।', 'राम रूप गुन सुमिरत मगन भयउ छन एक । ६ । ६२ ।' और 'कहाँ रामु रन हतउँ प्रचारी । ६ । १०२ ।'

(घ) 'कु' शब्दके—पापबोधक, कुत्सा (बुरा), ईषदर्थ (थोड़ा) और निवारण-ये चार अर्थ, हेमकोशमें मिलते हैं। यथा—'कु पापीयसि कुत्सायामीषदर्थे निवारणे ।' 'कुभाव' में इन चारोंका ग्रहण हो सकता है। कुभाव=पाप भावसे, बुरे भावसे, किंचित् भावसे तथा 'अभाव' से।

☞ इस तरह हम 'भाय कुभाय' के तात्पर्य यह निकाल सकते हैं कि—'भाय (भाव)' से शुद्ध निष्काम प्रेम और श्रद्धा-विश्वासादि सात्विक भावका ग्रहण होगा। इस व्याख्यासे आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु, ज्ञानी और प्रेमी सभी भक्तोंका समावेश 'भाय' में आ जाता है। 'कुभाय' से पूर्वोक्त शुद्ध निष्काम या सात्विक तथा तामसी भावोंके अतिरिक्त जितने भी भाव हैं उन सबोंका ग्रहण होगा। इसमें सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा आदि के लिये होनेवाले राजस-तपको ले सकते हैं। यथा—'सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् । क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥ गीता १७ । १८ ।' विनोद, नामाभास, अनुवाद आदिभी 'कुभाय' में ही लिये जायँगे। अनख और आलस्य तामस वृत्तियाँ हैं, अतएव क्रोध, ईर्ष्या, आलस्य, निद्रा आदि सब इनमें आयँगे।

☞ नव दोहोंमें नामका माहात्म्य कहकर अब सबका सारांश यहाँ अंतमें लिखते हैं। चाहे कोई प्रेमपूर्वक मन और वचनकी एकतासे एवं उसके अर्थ और महत्वको समझते हुए नामका जप करे। अथवा, अनादर और असूयापूर्वक निन्दाके मिष उसका उच्चारण करे किंवा आलस्यवश अँगड़ाई लेते हुए विश्रामभाव-विशिष्ट नामका जप करे, वह कल्याण-लाभ अवश्य करेगा, प्रत्येक देश कालमें वह मंगल फल प्राप्त करेगा। इसमें संदेह नहीं।

२-श्रीसुदर्शनसिंहजी लिखते हैं कि "कुभाव" का अर्थ है-निंदाके लिये,हेय बतानेके लिये, घृणाप्रद र्शनके लिये, दंभसे, किसीको ठगनेके लिये लिया गया नाम। 'क्या राम राम बकते हो, क्या रक्खा है इसमें ? राम एक आदर्श राजा अवश्य थे, पर उनका नाम रटना व्यर्थ है !' इस प्रकार हेय बतानेके लिए भी नाम लिया जाता है। 'राम राम कहनेवाले सब धूर्त्त या मूर्ख होते हैं !' इस प्रकार निन्दाके लिये भी नाम लिया जाता है। 'राम ! राम ! छिः !'—घृणाप्रदर्शनभी नामद्वारा होता है। दूसरोंको पुकारनेमें यदि उनका नाम राम हो तथा परस्पर अभिवादनमें जो 'जय रामजी' या 'राम राम' किया जाता है उसमें कुभाव तो नहीं है; किन्तु भगवन्नाम-बुद्धि नहीं है। इस प्रकार प्रत्येक रीतिसे भावहीन या दुर्भावपूर्वक नामोच्चारण भी मंगलप्रद है।" छींकते, खाँसते, गिरते, चौंकते, डरकर, चोट लगनेपर नाम लेना भी 'आलस्य' में ही है, क्योंकि जान बूझकर सावधानीसे नाम नहीं लिया गया।

'दिसि दसहूँ' इति। इसका एक अर्थ तो यह है ही कि नाम सभी स्थानोंमें सर्वत्र मंगलप्रद है। दूसरा भाव यह है कि दूसरे सभी साधन एवं पुण्य कार्य केवल मर्त्यलोकमें मनुष्ययोनिमें किये जानेपर मंगलप्रद होते हैं। दूसरी योनियोंमें तथा दूसरे लोकोंमें किये गए कर्म मंगलप्रद नहीं होते। क्योंकि मनुष्येतर सभी

योनियाँ भोगयोनि हैं और मर्त्यलोकको छोड़ सभी लोक भोगलोक हैं। भोगयोनियों तथा भोगलोकोंके कर्म फलोत्पादक नहीं होते। परंतु नामोच्चारण सभी योनियों और सभी लोकोंमें कल्याणकारी होगा, व्यर्थ नहीं जायगा, वहाँके नियम उसे बाधित नहीं करते।

भाव, कुभाव आदिसे नाम जपनेवालेका मंगल होगा, यह बात कठिनतासे समझमें आनेकी है। बात यह है कि कर्ममात्र अपना फल भावके आधारपर ही देते हैं। भावके द्वारा ही कर्मसंस्कार बनते हैं और वही संस्कार फल उत्पन्न करते हैं। यह नियम है। केवल मनुष्य ही स्वतंत्र भाव कर सकता है। दूसरे सभी देव, राक्षस, पशु, पक्षी, कीट प्रकृतिसे नैसर्गिक स्वभावसे संचालित होते हैं। अतः उनके कर्मोंमें भाव स्वातंत्र्य न होनेसे कर्मसंस्कार नहीं बनते। ऐसी दशामें नामोच्चारणका फल सर्वत्र कैसे हो सकता है? यह केवल मनुष्ययोनिमें और भावके अनुसार होना चाहिए। दुर्भाव आदिसे लिया गया नाम मंगलप्रद कैसे हो सकेगा?

ये तर्क इस लिये उठते हैं कि नामको 'भावरूप कर्म' समझ लिया गया है। वस्तुतः नाम भावरूपकर्म न होकर पदार्थरूप है। सत्य, अहिंसा, दान, चोरी इत्यादि भावरूप कर्म हैं। अतएव इनके करनेमें भावानुसार पाप पुण्य होता है। बच्चे, पागल, निद्रितकेद्वारा ये कर्म हों तो उनका कोई फल नहीं होता। इसी प्रकार भोगयोनियोंके जीव सिंहादि हिंसा करनेपर भी उसके पापके भागी नहीं होते।

अग्निका स्पर्श—यह वस्तुरूप पदार्थात्मक कर्म है। इसके परिणामके प्रगट होनेमें भावकी अपेक्षा नहीं है। अग्निका स्पर्श श्रद्धा, अश्रद्धा, घृणा, द्वेष, या आलस्यसे, जानकर या अनजानमें करें, परिणाम एक ही है। चाहे बच्चा हो, पागल हो तो भी अग्नि उसे जलावेगा ही। वहाँ स्पर्शरूप कर्मका एक ही फल सभी भाववालोंको होगा। भगवन्नाम अपने नामीका स्वरूप है, वह भाव नहीं है, सत्य है। वह सच्चिदानंद स्वरूप है, परमतत्व है। अतएव उसका संसर्ग 'भावरूप कर्म' न होकर वस्तुरूप कर्म है। वस्तुरूप कर्म भावकी अपेक्षा नहीं करता, अतः वह कर्ममात्रसे फल प्रकट करता है। इसीसे नाम 'जपत' जपकी क्रिया होते ही मंगल होता है। क्योंकि भगवान् सर्वव्यापी हैं अतः उनका स्वरूप नाम भी सर्वव्यापी है। वह उच्चारणमात्रसे कल्याणकारी है। जैसे अग्निका स्वाभाविक गुण दाह है वैसे ही नामका स्वाभाविक गुण मंगल करना है।

नाम-वन्दनाका उपसंहार करते हुए गोस्वामीजीने यहाँ जपके अधिकारीकी सूचना दी है कि ब्रह्मलोकसे लेकर पातालपर्यन्त सभी प्राणी जपके अधिकारी हैं। भावकी यहाँ अपेक्षा नहीं। अभ्यासके द्वारा नामको स्वभाव बना लेना चाहिए जिसमें सभी स्थितियों में नाम ही निकले।

३ 'दिसि दसहूँ' का भाव यह है कि नाम-जापक सबसे निर्भय रहता है, प्रह्लादजी इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। सुश्रुतसंहितामें भी ऐसा ही कहा है—'तदेव लग्नं सुदिनं तदेव, ताराबलं चन्द्रबलं तदेव। विद्याबलं दैवबलं तदेव सीतापतेर्नाम यदास्मरामि ॥'

इसका भाव यह भी निकलता है कि श्रीअयोध्या, मथुरा, इत्यादि पुरियों और प्रयागराज आदि तीर्थों तथा पर्वत आदि सत्य स्थानोंका कोई भेद यहाँ नहीं है किन्तु सर्वत्र ही, जहाँ रहे तहाँ ही, मंगल होगा।

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'दशो दिशाओंको कहनेका भाव यह है कि मंत्रजापके संबंधमें तंत्रोंमें दसो दिशाओंका संशोधन करके तब बैठकर जप करना कहा है, अन्यथा सिद्धि नहीं होती। अतः 'मंगल दिसि दसहूँ' कहकर जनाया कि श्रीरामनाममें बिना संशोधन ही फलकी प्राप्ति होती है।

दश दिशाएँ ये हैं—पूर्व, आग्नेयी (पूर्व-दक्षिणके बीच), दक्षिण, नैर्ऋती (दक्षिण-पश्चिमके बीच), पश्चिम, वायवी (पश्चिम-उत्तरका मध्य), उत्तर, ऐशानी (उत्तर-पूर्वका मध्य), ऊर्ध्व (ऊपर), अधर (नीचे)।

वराहपुराणमें इनकी उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है—"ब्रह्मणस्सृजतस्सृष्टिमादिसर्गे समुत्थिते।''' प्रादुर्बभूवुः श्रोत्रेभ्यो दशकन्या महाप्रभाः ॥ ३ ॥ पूर्वाच दक्षिणा चैव प्रतीचीचोत्तरा तथा। ऊर्ध्वाधरा च षण्मुख्याः कन्याह्यासंस्तदा नृप ॥ ४ ॥ तासां मध्ये चतस्रस्तु कन्याः परमशोभनाः ॥ अ० २६ ।"

४ श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—"नवों दोहोंके लिखनेपर यह चौपाई लिखनेका भाव यह है कि गोस्वामीजीने वैद्यवत् जीवरूपी भवरोगग्रसितको नामरूपी भेषज खानेको बतलाया। नवों दोहोंके अंदर नाम जपनेकी रीति, संयम आदि विस्तार पूर्वक वर्णन किये। उसके अनुकूल नामस्मरण करनेसे सारे भवरोगोंका नाश हो जायगा और वह भगवत्प्राप्तिरूपी आनंदमें मग्न रहेगा। पर जो रोगी मरणासन्न हो रहा है, संयम करता ही नहीं, अपना हठ नहीं छोड़ता, उसकी दशा देखकर परम कृपालु वैद्य उसको भी यही दवा देकर कहता है कि यह अपूर्व गुणदायक है, इसको खाते रहना, मुखमें जानेसे रोगका नाश अवश्य करेगा। हाँ, भेद इतना है कि मेरे बचनोंपर विश्वास करके भाव (=विधि) के साथ खाते तो शीघ्र नीरोग हो जाते। अच्छा कुभावसे ही सही, खाते जाना, मंगल ही होगा। (मा० मा०)।

५—नाम वंदना सबकी वन्दनासे विशेष की गई, नौ दोहोंमें यह प्रकरण लिखा गया, यह क्यों? उत्तर—(१) अंकका प्रमाण '९' ही तक है, उसके पश्चात् शून्य (०) है। नव दोहोंमें इस प्रकरणको समाप्त करके सूचित किया है कि श्रीरामनाम साधन ही संपूर्ण कल्याणोंकी सीमा है, इसे छोड़ अन्य साधनोंसे कल्याणकी आशा रखनी व्यर्थ है। यथा—"तुलसी अपने रामको भजन करहु निःशंक। आदि अंत निरवाहि है जैसे नवको अंक ॥" (सतसई) "राम नामको अंक है, सब साधन हैं सून। अंक गए कछु हाथ नहिं अंक रहे दसगून", "रामनाम छाँड़ि जो भरोसो करै और रे। तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे। वि० ६६।" (२) लोक परलोक दोनोंके लिए कलिमें दूसरा उपाय नहीं है, अतएव सबके कल्याणार्थ विस्तारसे कहा। (३) श्रीमत्गोस्वामीजी श्रीरामनामहीके उपासक हैं, अपना मतभी उन्होंने इसी प्रकरणमें दरसाया है, यथा—'मोरे मत बड़ नाम दुहूँ तें'। (२३)। अपना मुख्य सिद्धान्त एवं इष्ट 'नाम' ही होनेके कारण अपने उपास्यको इतने दोहोंमें वर्णन किया है। उपास्यके प्रमाण, यथा—'रामनाम मातु पितु स्वामी समरत्थ हित, आस राम नामकी भरोसो रामनाम को। प्रेम रामनामही सों नेम रामनामहीको जानउँ न मरम पद दाहिनो न बामको। स्वारथ सकल परमारथ को रामनाम, रामनामहीन तुलसी न काहू कामको। राम की सपथ सरबस मेरें रामनाम, कामधेनु कामतरु मोसे छीन छामको ॥ क० उ० १७८।'; 'रावरी सपथ रामनाम ही की गति मेरें, यहाँ झूठो झूठो सो तिलोक तिहूँ काल है। क० उ० ६५।' 'मेरे माय बाप दोउ आखर हौं शिशु अरनि अरयौं। संकरसाखि जो राखि कहउँ कछु तो जरि जीह गरो। अपनो भलो रामनामहिते तुलसिहि समुझि परो। वि० २२६।', 'नाम अवलंब अंबु मीन दीन राउ सो। प्रभु सों बनाइ कहउ जीह जरि जाउ सो। वि० १८२।', 'रामनाम ही की गति जैसे जल मीन को। वि० ६८।', "और ठौर न और गति अवलंब नामु बिहाइ", "मोको गति दूसरी न बिधि निरमई" इत्यादि।

नोट–४ श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि नामवंदना-स्थूल-प्रकरणके अवान्तर सूक्ष्म सप्त प्रकरण हैं, यथा—'नाम वंदना सात बिहार। प्रथम स्वरूप अंग अरु फल कहि, दूजे जुग अक्षर निस्तार। तीजे नामी नाम सरिस कहि, चौथे भक्तनको आधार। पांचव अगुन सगुन ते बड़ कहि, छठवें फल उद्धार। सतयें चारिउ जुग नामहि को जानकीदास निहार। (मा० प्र०)।

श्रीरामनामवंदना प्रकरण समाप्त हुआ।

निज कार्पण्य तथा श्रीरामगुणवर्णन-प्रकरण

सुमिरि सो नाम राम-गुन गाथा। करौं नाइ रघुनाथहि माथा ॥ २ ॥

अर्थ—उस श्रीरामनामको सुमिरकर और श्रीरघुनाथजीको माथा नवाकर मैं उन श्रीरामजीके गुणोंकी कथा रचता हूँ ॥ २ ॥

नोट—१ (क) "भाय कुभाय अनख आलसहूँ। नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ। २८।१।" तक नाम की बड़ाई की। अब यहाँसे दो दोहोंमें रूपकी बड़ाई करते हैं। यहाँसे लेकर—'एहि बिधि निज गुन दोष कहि····। २९।' तक ग्रंथकार अपना कार्पण्य और स्वामीके गुण वर्णन करते हैं। (ख) नामका स्मरण किया जाता है और रूपके सामने मस्तक नवाया जाता ही है, अतः 'सुमिरि नाम' और 'नाइ रघुनाथहि माथा' लिखा।

टिप्पणी—पहले श्रीरामनामकी वन्दना की। वन्दनासे नमस्कार-स्तुति हो चुकी, यथा—'वदि अभिवादन स्तुत्योः' (सि० कौमुदी ११)। अब स्मरण करते हैं। ये गुणगाथ श्रीरघुनाथजीके हैं और श्रीरामनामसे अंकित हैं, यथा—"एहि महँ रघुपति नाम उदारा", "राम नाम जस अंकित जानी। १। १०।' इस लिये श्रीरामनामको सुमिरके श्रीरघुनाथजीको माथा नवाके उनकी गुणगाथा रचते हैं।

नोट—२ (क) अब ग्रन्थकार दिखलाते हैं कि पूर्वोक्त नामके स्मरणके ही प्रभावसे मैं श्रीरामचरित्र लिखता हूँ और कोई दूसरा भरोसा मुझे नहीं है। इससे सूचित हुआ कि ग्रन्थकार श्रीरामनामके अनन्य भक्त थे। (मा० प०)। (ख) यहाँ गोस्वामीजी अपनी अनन्यता दिखाते हैं कि जिस नामसे सर्व-देश कालमें मंगल होता है अब तो मैं उसी नामको स्मरणकर उसके नामी (श्रीरामजी) ही के गुणोंकी गाथा अनन्य भावसे उन्हें प्रणाम करके करता हूँ। (पं० शुकदेवलाल)। (ग) यहाँ नामको साधन और चरित्रको सिद्ध फल जनाया। (रा० प्र०)। (घ) वैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ दिखाते हैं कि मन, कर्म और वचनसे मुझे प्रभु हीकी गति है। प्रभुने जो कहा है कि—"वचन करम मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम। तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा बिश्राम। ३। १६।' इसी रीतिको कवि यहाँ दृढ़ कर रहे हैं। पंच ज्ञानेंद्रियोंके विषयोंको वशमें करके मनद्वारा नाम स्मरण करते हैं, पंच कर्मेन्द्रियोंके विषयोंको रोककर शीशद्वारा वन्दन करते हैं और वचनद्वारा गुणगाथा वर्णन करते हैं।

३ "सुमिरि सो नाम···" इति। गौड़जीका टिप्पण 'वन्दौं नाम राम रघुवर को। १९। १।' में देखिए। 'वंदौं नाम राम रघुबर को' में 'रघुवर'के रामनामकी वन्दना करते हुए परात्परके रामनामसे उसकी एकता दिखाई है और रामावतारसे उसकी महिमाकी तुलना की है। "सुमिरि सो नाम····"—'सो' कौन ? वही 'रघुबरको' नाम। फिर 'रामगुनगाथा' करता हूँ, उन्हीं 'रघुनाथ' की वन्दना करके। 'रघुनाथ' और 'रघुवर' शब्दोंपर काफी जोर दिया है। लोग शिकायत करते हैं कि तुलसीदास मौके-बेमौके हर जगह पाठकोंको याद दिलाते रहते हैं कि राम वही ब्रह्म हैं। वे (आलोचक) यह नहीं जानते कि सारे मानसका यही उद्देश्य है कि यह दिखावें कि अवधेशकुमार राम और परात्पर ब्रह्म एकही हैं और पाठकका ध्यान सदा इस उद्देश्यकी ओर केन्द्रित रहे। (गौड़जी)।

४—यदि कोई कहे कि तुम्हारी मति मलिन है तुम प्रभुके गुण क्योंकर वर्णन करोगे, तो उसपर आगे लिखते हैं—'मोरि सुधारिहि····।' (पं०)।

मोरि सुधारिहि सो सब भांती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अघाना = किसी चीजसे जी (मन) का भर जाना। = संतुष्ट होना।

अर्थ—वे मेरी (बिगड़ीको) सब तरहसे सुधार लेंगे, जिनकी कृपा कृपा करनेसे नहीं अघाती॥ ३॥

टिप्पणी—"मोरि सुधारिहि" इति। 'सुधारिहि' कहनेसे बिगड़ा होना पाया गया। गोस्वामीजी कहते हैं कि मेरी सब तरहसे बिगड़ी है—(१) मन और मति दोनों बिगड़े हैं, यथा—"सूझ न एकौ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ। १। ८। ६।" (२) कविता सब गुणरहित है, यथा—'आखर अरथ अलंकृति नाना। छंद प्रबंध अनेक बिधाना। भावभेद रसभेद अपारा। कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा॥ कवित बिबेक एक नहिं मोरें'''। १। ६। ६-१०।' (३) भणित सर्वगुणरहित है, यथा—"भनिति मोरि सब गुन रहित। ६।" (४) भाग्य बिगड़ा है, यथा—"भाग छोट अभिलाषु बड़। १। ८।" "सब भांती" अर्थात् इन सब बिगड़ियोंको सब प्रकार सुधारकर बना देंगे।

नोट—१ "जासु कृपा" इति। 'कृपा' गुणकी व्याख्या भगवद्गुणदर्पणमें इस प्रकार है—"रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसंधानं कृपा सा पारमेश्वरी॥", "स्वसामर्थ्यानुसंधानाधीनकालुष्य-नाशनः। हार्दोभाव विशेषो यः कृपा सा जगदीश्वरी॥" अर्थात् मैं ही समस्त जीवोंकी रक्षाके लिये समर्थ हूँ ऐसे सामर्थ्यका अनुसंधान करना 'कृपा' गुण है। अपने सामर्थ्यके अनुसंधानसे शरणागतोंके पापोंका नाश करनेवाला जो जगदीश्वरका हार्दिक भाव है उसी विशेष भावको 'कृपा' गुण कहते हैं। इस प्रकार भगवान्की कृपाके तीन रूप हैं—जीवोंकी रक्षा, पापका नाश और मित्र भाव।

२ "जासु कृपा नहिं कृपा अघाती" के भाव ये हैं—(१) जिनपर एक बार कृपा हो गई; फिर उनपर बराबर कृपा होती ही रहती है, तो भी वे सहज कृपाल भगवान् यही समझते हैं कि जितनी कृपा चाहिये उतनी नहीं हो सकी। गोस्वामीजीका आशय यह है कि जो मुझपर कृपा हुई है तो अब वह बराबर बढ़ती ही जायगी और प्रभु मेरी सब तरहसे सुधारेंगे। (२) आपकी जो मूर्तिमती कृपा है वह अपने तीनों रूपोंसे लोकोंके जीवोंका हित करते हुए भी कभी अघाती नहीं। (वै०)। (३) मूर्त्तिमती कृपा भी आपकी कृपाकी सदैव अभिलाषिणी रहती है कि मुझे भली भाँति काममें लावें। (४) जिसपर कृपा की, उससे फिर चूक भी हो तो उस चूकपर दृष्टि भी नहीं देते। प्रभु यही सोचते हैं कि हमने इसपर कम कृपा की, इसीसे चूक हुई, नहीं तो न होती। उसकी चूक अपने मत्थे ले लेते हैं। ऐसे कृपालु हैं। (रा० प्र०)। (५) करुणासिन्धुजी एक भाव यह देते हैं कि जिनकी कृपा बिना अपर-देव-कृपासे अघका हतन नहीं होता। रा० प्र० में भी यह भाव दिया है। इस प्रकार 'अघाती'=अघ हाती। (६) जिनकी कृपासे आजतक कृपाधिकार देवी भी सन्तुष्ट नहीं, ज्यों-की-त्यों बनी ही रहती हैं। (७) कृपा देवी सदा चाहती है कि रघुनाथजी मुझपर कृपा बनाये रहें जिससे मुझमें कृपात्व सामर्थ्य बना रहे। (मानस-पत्रिका)। (८) श्रीपांड़ेजी "सो" और "जासु" को ऊपरकी अर्धालीके 'सो नाम' का सर्वनाम मानकर अर्थ करते हैं कि—"सो (वही) नाम मेरी सब भाँति सुधारेगा जिसकी कृपा दीनोंपर कृपा करनेसे नहीं अघाती।" (९) मानसमयंककार "जासु कृपा" से 'नामकृपा" और 'कृपा अघाती' से 'रूपकृपा अघाती' का अर्थ करते हैं। यथा—"रूपकृपा चाहति सदा नाम कृपाकी कोर। दंती लसे तकार तहँ पूर्व अर्थ बरजोर॥" श्रीजानकीशरणजीका मत है कि "ऊपर नामका महत्व वर्णन हुआ, अब यहां वन्दनाका फल लिखते हैं कि सर्वप्रकार सुधारेंगे, अतः यह भाव उत्तम जँचता है कि—'जिस नामकी महिमाका वर्णन हो चुका उसकी कृपासे कृपा अघाती नहीं।'

आगे अपने ऊपर कृपा होनेका स्वरूप दिखाते हैं।

राम सुस्वामि कुसेवकु मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो॥ ४॥

शब्दार्थ—"दया"—बिना स्वार्थ जीवोंका भला करना 'दया' गुण है, यथा—"दया दयावतां ज्ञेया स्वार्थ-

स्तत्र न कारणम् ।'' (भ० गु० द०) । 'निधि'=निधान, राशि, धन, समुद्र, पात्र इत्यादि । यथा—''निधिर्निधाने राशौ च निधिर्वित्तसमुद्रयोः । शङ्खपद्मादि भेदे च निधिः पात्रे च कथ्यते ।।'' (अभिधानचिन्तामणि नामक कोश) । पोसो=पोषण किया; पालन किया ।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी सा अच्छा स्वामी और कहाँ मुझसा-बुरा सेवक । तो भी दयासागरने अपनी ओर देखकर मेरा पालन किया ॥ ४ ॥

नोट—१ 'सुस्वामि', 'कुसेवकु' और 'दयानिधि' पद देकर सूचित किया कि स्वामी कुसेवकको नहीं रखते, और सेवाके अनुसार ही मजूरी देते हैं । श्रीरामचन्द्रजी सुस्वामी हैं विना सेवा ही कृपा करते हैं । ऐसा दयालु और नहीं ।

यथा—(१) ''भूमिपाल व्यालपाल नाकपाल लोकपाल, कारनकृपालु मैं सबै के जी की थाह ली । कादर को आदर काहू के नाहिं देखियत, सबनि सोहात है सेवा सुजान टाहली ॥ तुलसी सुभाय कहै नाहीं कछु पच्छपात, कौने ईस किए कीस भालु खास माहली । राम ही के द्वारे पै बोलाइ सनमानियत, मोसे दीन दूबरे कुपूत कूर काहली ।। क० उ० २३ ।''

(२) 'सेवा अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों, विहीन गुन पथिक पियासे जात पत्थ के । लेखे जोखे चोखे चित तुलसी स्वारथ हित, नीके देखे देवता दिवैया घने गत्थ के ।। गीध मानो गुरु कपि भालु मानो मीत कै, पुनीत गीत साके सब साहिब समरत्थ के । और भूप परखि सुलाखि तौलि ताइ लेत, लसम के खसम तुही पै दसरत्थ के ॥ क० उ० २४ ।'

(३) 'बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं । वि० १६२ ।', 'सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न देत बिनु पाए । कोसलपालु कृपालु कलपतरु द्रवत सकृत सिर नाए ॥ वि० १६३ ।'

(४) 'व्योम रसातल भूमि भरे नृप कूर कुसाहिब सेतिहुँ खारे ।''' स्वामी सुसील समर्थ सुजान सो तोसों तुही दसरत्थ दुलारे ॥ क० उ० १२ ।'

(५) 'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु । प्रेम कनौड़ो राम सों नहिं दूसरो दयालु ॥ तन साथी सब स्वारथी सुर व्यवहार सुजान । आरत अधम अनाथ हित को रघुबीर समान ॥ नाद निठुर समचर सिखी सलिल सनेह न सूर । ससि सरोग दिनकर बड़े पयद प्रेम पथ कूर ।'''सुनि सेवा सहि को करै परिहरै को दूषन देखि । केहि दिवान दिन दीन को आदर अनुराग विशेषि । वि० १९१ ।'; 'साहिब समत्थ दसरत्थके दयालु देव, दूसरो न तोसों तूही आपने की लाज को । क० उ० १३ ।'; 'आपने निवाजे की तौ लाज महाराज को । क० उ० १४ ।'; 'बेचें खोटो दामु न मिलैं न राखें कामु रे । सोउ तुलसी निवाज्यो ऐसो राजा रामु रे । वि० ७१ ।'

नोट—२ ''निज दिसि देखि....'' इति । भाव यह कि कुछ मेरी सेवा देखकर मेरा पालन नहीं किया, क्योंकि मैं तो कुसेवक हूँ, मुझसे क्या सेवा हो सकती, वरन् अपनी दया, अनुकम्पा इत्यादि गुणोंके कारण मेरा पालन किया है। यथा —'मेरा भलो कियो राम आपनी भलाई । हौं तो साईं द्रोही पै सेवकहित साईं ॥ वि० ७२ ।'

पं० रामकुमारजी—ऊपर कहा था कि 'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती', अब यहाँ से बताते हैं कि यह भरोसा हमें क्यों है ।

लोकहुँ बेद सुसाहिब रीती । बिनय सुनत पहिचानत प्रीती ।।५।।

शब्दार्थ—सुसाहिब = सुस्वामी = अच्छा स्वामी ।

अर्थ—वेदोंमें और लोकमें भी अच्छे स्वामीकी यह रीति (प्रसिद्ध) है कि वे विनय (सुनते हैं और) सुनते ही हृदयकी प्रीतिको पहिचान लेते हैं । ५ ।

नोट—१ पं० रामकुमारजी यों अर्थ करते हैं कि 'लोकमें देखनेमें आता है और वेदमें लिखा है कि सुन्दर साहेबकी यह रीति है कि विनती सुनता है और प्रीति पहिचानता है ।' अब इसीका विस्तार आगे करते हैं । २—अर्धाली ४,५ की टीका आगेके दोनों मूल दोहे हैं । (मानसपत्रिका) ।

गनी गरीब ग्रामनर नागर । पंडित मूढ़ मलीन उजागर ॥ ६ ॥
सुकवि कुकवि निज मति अनुहारी । नृपहि सराहत सब नर नारी ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—'गनी' अरबी भाषाका शब्द है । इसका अर्थ 'धनवान्' 'अमीर' है, जिसको किसी वस्तुकी पर्वा या चिन्ता न रह जाय । मलीन (मलिन) = अपयशी = मल-दूषित । = जिनके कर्म, स्वभाव या कुल बुरे हों, मैली वृत्तिवाले, मैले । गरीब = निर्धन। नागर = नगरका रहनेवाला, चतुर, सभ्य, शिष्ट और निपुण व्यक्ति। मूढ़ = मूर्ख । ग्रामनर = देहाती, गँवार । उजागर=स्वच्छ, भले, प्रसिद्ध, दीप्तिमान् । स्वच्छवृत्तिवाले, यशस्वी । अनुहारी=के अनुसार ।

अर्थ—धनी, गरीब, गँवार, चतुर, पण्डित, मूर्ख, मलिनवृत्तिवाले और स्वच्छवृत्तिवाले (पवित्र, यशस्वी) तथा अच्छे और बुरे कवि, ये सब स्त्री क्या पुरुष अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार राजाकी प्रशंसा करते हैं ॥ ६-७ ॥

नोट—१ ये दशों क्यों सराहना करते हैं, यह आगे बताया है कि वह 'नृपाल' है और 'ईश-अंश' से उत्पन्न है । इस कारण उसकी सराहना करते हैं ।

२ मा० म०-कार 'ग्राम' का अर्थ 'समूह और 'वृन्द, करते हैं और उसको 'गनी, गरीब, नागरनर' इत्यादि सबके साथ लगाते हैं । इस तरह नौ प्रकारके लोगोंके नाम यहाँ होते हैं । वे शब्दोंके अर्थ यह लिखते हैं—पंडित=क्षर ब्रह्म और अक्षर ब्रह्मके वेत्ता । मूढ़=क्षर और अक्षर दोनों ब्रह्मके ज्ञानसे रहित । मलीन= वेदोक्त कर्म और दिव्यतीर्थाटन इन दोनों कर्मोंसे रहित । उजागर=वेदोक्त कर्मों और दिव्य तीर्थाटन करके बाह्याभ्यान्तरमें विमल । पं० रामकुमारजीके मतानुसार, पण्डित=मान और अपमानमें समान रहनेवाला तथा अक्षोभ । यथा—"न हृष्यत्यात्मसम्माने नावमानेन कुप्यति । गंगाहृद इवाक्षोभ्यः स वै पण्डित उच्यते ।" पुनः, पंडित=प्राणितत्व, योगतत्व, कर्मतत्व, और मनुष्यहितकारी संपूर्ण उपायोंका ज्ञाता, निष्कपट, रोचक वक्ता, सतर्क एवं प्रतिभाशील, ग्रंथोंका शीघ्र तथा स्पष्ट वक्ता । यथा—"तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्व कर्मणाम् । उपायज्ञोमनुष्याणां स वै पंडित उच्यते । न वृत्तवाकूचित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् । आशु ग्रंथस्य वक्ता च स वै पंडित उच्यते । मूढ़=बिना बुलाये भीतर जानेवाला, बिना पूछे बहुत बोलनेवाला, प्रमत्तों में विश्वास रखनेवाला 'मूढ़' कहलाता है, यथा—'अनाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भाषते । विश्वासश्च प्रमत्तेषु मूढ़चेता नराधमः ॥'' (महाभारत उ० प०)

३ पं० शिवलालपाठकजी इन चौपाइयों, "गनी गरीब···रीझत राम सनेह निसोतें" का भाव यह कहते हैं—"गनी आदि पाँचो बहुरि, धनप आदि लखि पंच । हौं गरीब आदिक निगम, रटना मोर न रंच ॥" इसका भावार्थ बाबू इन्द्रदेवनारायणसिंहने यह लिखा है कि 'मयङ्ककार सन्दर्भ कहते हैं कि जिसके यशको (गनी) कुबेर, (नागर) सनकादि, (पण्डित) बृहस्पति, (उजागर) नारद, (सुकवि) शुक्राचार्यादिक साहसकर कुछ कथन करते हैं, उसके यशको मैं गरीब, ग्रामनर, मूढ़, मलिन और कुकवि होकर क्या कह सकता हूँ ? परन्तु आशा है कि मेरी किंचित् रटनाको प्रेमसंयुक्त विचार श्रीरामचन्द्रजी रीझेंगे, जो शुद्ध प्रेमके रसिक हैं।' [तात्पर्य यह है कि प्राकृत महिपालके राज्यके 'गनी, नागर, पण्डित, उजागर और सुकवि' ये पाँचो अप्राकृत महिपाल कोसलराज श्रीरघुनाथजीके दरबारमेंके क्रमसे कुबेर (धनद), सनकादि, बृहस्पति, नारद और शुक्राचार्य इत्यादि हैं. जो अपनी भक्ति, नति और भणितसे सम्मान पाते हैं । और मैं गरीब आदि 'निगम' (=वेद=चार) हूँ । मेरे पास न तो धन ही है न बुद्धि, न नम्रता है न सुंदर वाणी ही । मेरी तो गति ही देखकर सम्मान करेंगे कि इस बेचारेकी इतनी ही गति है]

साधु सुजान सुसील नृपाला। ईस-अंस-भव परम कृपाला॥ ८॥
सुनि सनमानहिं सबहि सुबानी। भनिति भगति नति* गति पहिचानी॥ ९॥

शब्दार्थ—नृपाल=नर अर्थात् मनुष्योंका पालन करनेवाला=राजा। भव=उत्पन्न, पैदा। साधु=समीचीन मार्ग में चलनेवाला (पांड़ेजी)।=पवित्र, सीधा। सुजान=मतिकी गति जाननेवाला—(पांडेजी)।=जानकार। सुसील=सुन्दर स्वभाववाला।=दीन, हीन, मलिनको भी अपनानेवाला।

अर्थ—साधु, सुजान, सुशील, ईश्वरके अंशसे उत्पन्न और परम कृपालु राजा सबकी सुनकर उनकी वाणी, भक्ति, नम्रता और गति पहिचानकर सुन्दर कोमल वचनोंसे उन सबोंका आदर सत्कार करता है॥८-९॥

नोट—१ गोस्वामीजीने राजाकी स्तुति करनेवाले दश प्रकारके लोग गिनाये, राजामें साधुता, सुजानता, इत्यादि पाँच गुण बताये और फिर यह बताया कि राजा प्रशंसा करनेवालोंकी 'भणिति, भक्ति नति, गति' पहिचानकर उनका आदर-सत्कार करते हैं।

२ पं० रामकुमारजी और श्रीकरुणासिंधुजी राजामें पाँच गुण मानते हैं और बाबा हरिहरप्रसादजी 'नृपाला' को भी विशेषण मानकर छः गुण मानते हैं। बाबा जानकीदासजी 'साधु, सुजान, सुशील और परम कृपाला' ये चार गुण मानते हैं। पं० रामकुमारजी अर्धाली ७ में आए हुए 'प्रीति' शब्दको भी 'भणिति, भक्ति, नति और गतिके साथ गिनकर पाँच बातोंका पहिचानना मानते हैं।

३ "ईस अंस भव" इति। राजा ईश्वरका अंशावतार माना जाता है यथा—"नराणां च नराधिपम्। गीता १०। २७।' मनुस्मृतिमें कहा है कि राजाको चन्द्रमा, सूर्य्य, अग्नि, पवन, इन्द्र, कुबेर, वरुण और यम इन अष्टलोकपालोंका शरीर समझो, क्योंकि इन अष्टलोकपालोंके सारभूत अंशोंको खींचकर (परमात्माने राजाको बनाया)। इन्द्रादि लोकपालोंके अंशसे राजाकी शक्ति निर्माण की गई है, इसी लिये राजाका पराक्रम और तेज सब प्राणियोंसे अधिक होता है। यथा—"सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च। अष्टानां लोकपालानां वपुर्धारयते नृपः॥" (मनु० ५। ९६), "इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च। चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः॥ यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः। तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा॥" (मनुस्मृति ७। ४-५)। इस तरह यहाँ 'ईश' का अर्थ लोकपाल है।

४ श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—"चन्द्रांशसे साम हो, कुबेरांशसे दाम हो, यमांशसे दंड हो इन्द्रांशसे विभेद हो, यह चारो अंशसंयुक्त उत्पत्ति राजाकी हो और कृपालु हो, यह प्राकृत उत्तम राजाओंका लक्षण है।" (मा० मा०)

नोट—५ अब प्रश्न यह है कि—(१) 'दशों सराहनेवालोंमेंसे किसमें क्या बात पहिचानकर राजा उसका सम्मान करते हैं?' (२) 'अपने किस गुणसे किसकी पहिचान करते हैं?'

इसपर पं० रामकुमारजी, श्रीकरुणासिंधुजी, श्रीजानकीदासजी तथा महाराज हरिहरप्रसादजीने जो विचार प्रकट किये हैं वे निम्नलिखित हैं—

पं० रामकुमारजी—राजाकी स्तुति करनेवाले पाँच प्रकारके हैं—(१) ज्ञानी, गरीब; (२) ग्रामनर, नागर नर; (३) पण्डित, मूढ़; (४) मलिन, उजागर। और (५) सुकवि, कुकवि। राजा—(१) साधु, (२) सुजान, (३) सुशील, (४) ईश-अंश-भव और (५) परमकृपालु हैं। अर्थात् पाँच गुणोंसे युक्त हैं। राजा अपने इन गुणोंसे प्रजाकी—(१) प्रीति, (२) भणिति, (३) भक्ति, (४) नति और (५) गति

* मति—रा० प०, करु०, वै०, पं०।

क्रमसे पहिचानते हैं। पहिचाननेमें भी पाँच ही बातें कही हैं, यथा—"बिनय सुनत पहिचानत 'प्रीती', 'भनिति', 'भगति', 'नति', 'गति', पहिचानी"।

(इनमें क्रमालङ्कार हुआ)—। सुकवि और कुकविकी भणित, मलिन एवं उजागरकी भक्ति, पण्डित तथा मूढ़की नति, ग्रामनर और नागरकी गति और ग़नी-ग़रीबकी प्रीति पहिचानते हैं। यह क्रम उलटा है जैसा 'कृतयुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग। ७।१०२।' में भी है।

प्रशंसकोंके नाम	क्या बात देखकर आदर करते हैं	अपने किस गुणसे प्रीति इत्यादि पहिचानते हैं
१ ग़नी, गरीब	प्रीति	साधुतागुणसे प्रीति पहचानते हैं, यथा—कहहिं सनेह मगन मृदुबानी। मानत साधु प्रेम पहिचानी। २। २५०।'
२ ग्रामनर, नागर	गति	कृपालुतासे गति।
३ पण्डित, मूढ़	नति	ईशअंशत्व गुणसे 'नति' पहिचानते हैं। क्योंकि ईश्वर एक ही बार प्रणाम करनेसे अपना लेते हैं—'सकृत प्रनामु किहें अपनाये। २।२९९।' 'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फल पाइहै। वि० १३५।'
४ मलिन, उजागर	भक्ति	सुशीलता से भक्ति पहिचानते हैं।
५ सुकवि, कुकवि	भनिति	सुजानतागुणसे भणिति।

यह पं० रामकुमारजीका मत हुआ। अब औरोंके मत दिये जाते हैं।

प्रशंसकोंके नाम	क्या बात देखकर आदर करते हैं	अपने किस गुणसे प्रीति इत्यादि पहिचानते हैं
१ सुकवि, पण्डित —(मा० प्र०, मा० पत्रिका, रा० प्र०, करु०, मा० मा०)	भणिति। भणितिके कहनेवाले यह दोनों हैं। सुकविकी काव्य-रचना देखकर, पण्डितोंका वेद शास्त्र आदिके भाव और अर्थका ज्ञान देखकर जो उनकी वाणीमें प्रकट होता है।	सुजानता गुण से। सुजान ही भणितकी पहचान कर सकता है। यहाँ चौदहो विद्याओंमें निपुण होनेसे 'सुजान' कहा है।

बैजनाथजी इसीमें 'नागर' को भी लेते हैं।

२ ग़नी, नागर (करु०), गनी (मा० मा०)	भक्ति। ग़नी धनसे राजाकी सेवा करते हैं, यह राजभक्ति है। नागर कुल और क्रियामें श्रेष्ठ हैं। वे राजासे धर्मकर्म कराकर (करु०), या नागर चतुर हैं अपनी चतुराई से देश-कोपका काम करके, सेवा करते हैं—(मा० प्र०)	साधुता गुणसे।

(क) रा० प्र० में कुकवि और मूढ़की भक्ति पहिचानकर आदर करना सूचित किया है; क्योंकि इनके भीतर किसी प्रकारका अभिमान नहीं रहता है, ये जब कुछ कहेंगे तो भक्ति ही से। इसकी पहिचान 'साधु' का काम है। सुकवि और पंडितके विपर्ययमें ये दो हैं। (ख) बैजनाथजी गनी और उजागरकी भक्ति साधुतागुणसे पहचानना कहते हैं।

३ उजागर (करु०, मा० प्र०)	मति। उजागर=सभाचातुरीमें निपुण—(करु०)। या अच्छी क्रियावाले—(मा० प्र०)। ये राजाको सुन्दर मति देते हैं।	सुशीलता गुणसे।

करु०, मा० प्र० में 'मति' पाठ है उसके अनुसार भाव कहा गया है।

रा० प्र०-कार गनी, और उजागरकी नति (=नम्रता) देखकर राजाका अपनी सुशीलतासे आदर करना लिखते हैं। मा० मा० कार 'नागर, उजागर' की नति देखना लिखते हैं। जब वे अपनी चतुराई और अभिमान छोड़कर दीन होकर रहेंगे तभी राजा प्रसन्न होगा। और बैजनाथजी गरीब और मलिनकी नम्रता देखना कहते हैं।

४ गरीब, गँवार मलिन, मूढ़, कुकवि (करु०, मा० प्र०)	गति। ये लोग किसी लायक नहीं हैं, हम न पूछेंगे तो इन्हें कौन पूछेगा? इनकी गति हम ही तक है, ऐसा विचाकर आदर करते हैं।	परमकृपालुता गुणसे।

बैजनाथजी मूढ़, कुकवि और ग्रामनर इन तीनको यहाँ लेते हैं।

यह प्राकृत महिपाल सुभाऊ। जान-सिरोमनि कोसल-राऊ॥ १०॥

शब्दार्थ—प्राकृत=साधारण, मायिक। महिपाल=पृथ्वीका पालन करनेवाला=राजा। जान=ज्ञानी, सुजान। कोसल=अयोध्याजी। राऊ=राजा।

अर्थ—यह स्वभाव तो प्राकृत राजाओंका है। कोशलनाथ श्रीरामचन्द्रजी तो सुजानशिरोमणि हैं। १०।

नोट—१ औरोंको प्राकृत कहकर श्रीरामजीको अप्राकृत बतलाया और राजा सुजान हैं, ये सुजानशिरोमणि हैं। यथा—'नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु। २।२५४।', 'सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ। २।२५७।' 'राम सुजान जन जी की। २।३०४।'

पं० रामकुमारजी—ग्रन्थकार यहाँ राजाओंकी रीति लिख रहे हैं। इसी लिये श्रीरामजीको भी 'कोसल-राऊ' लिखा।

नोट—२ श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि ऊपरकी चौपाइयोंमें तो केवल दृष्टान्त है। इन दृष्टान्तोंके दार्ष्टान्त क्या हैं? अर्थात् श्रीरामराज्यमें गनी गरीब आदिक कौन हैं?"

ग्राम	ग्रामी	नागर	पण्डित	सुकवि	उजागर	गरीब, कुकवि मूढ़ मलिन, ग्राम-नर
समस्त ब्रह्माण्ड	दिग्पाल	पुत्रों सहित ब्रह्माजी (करु०)। शारदा गणेश (मा० प्र०)	मुनीश, बृहस्पति, शेष, इत्यादि	वाल्मीकि आदि	शारदा इत्यादि (करु०)। दशों पुत्रों सहित ब्रह्माजी (मा० प्र०)	इनमें गोस्वामीजी अपनेको रखते हैं कि हमें कुछ नहीं आता, आप ही की गति है।
मा० म०	कुबेर	सनकादि	बृहस्पति	शुक्राचार्य	नारद	गोस्वामीजी

विशेष दोहा २८ (६-७) में मा० म० का मत देखिये।

नोट—यह ध्वन्यात्मक अर्थ है।

रीझत राम सनेह निसोतें । को जग मंद मलिन मति * मोते ॥११॥

शब्दार्थ--निसोत=नि+स्रोत=जिसकी धार न टूटे; तैलधारावत्। = जिसमें और किसी चीजका मेल न हो; शुद्ध, निरा, यथा 'तौ कत त्रिविध सूल निसि बासर सहते बिपति निसोतो', 'कृपा-सुधाजलदानि मानिबो कहौं सो साँच निसोतो'। रीझत=प्रसन्न होते हैं, द्रवीभूत होते हैं—(श० सा०)

अर्थ-श्रीरामचन्द्रजी शुद्ध प्रेमसे रीझते हैं, (परन्तु) जगत्में मुझसे बढ़कर मन्द और मलिन बुद्धिवाला कौन है ? अर्थात् कोई नहीं ॥११॥

पं० रामकुमारजी—भाव यह है कि "मुझमें स्नेह नहीं हैं, इसीसे मलिन हूँ। स्नेह जल है, यथा—'माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु। १।३७।' स्नेहसे मलिनता नहीं रहती, यथा—'रामचरन अनुराग-नीर बिनु मल अति नाश न पावै। वि० ८२।' प्राकृत राजा गुणसे रीझते हैं और स्नेहसे, परन्तु श्रीरामजी केवल स्नेहसे रीझते हैं।"

नोट—१ 'निसोते' अर्थात् 'जैसे शुद्ध तैलकी धारा टूटती नहीं चाहे एक बूँद भी रहे, जब उसको गिराओगे तो वह एक बूँदकी भी धारा न टूटेगी। भाव यह कि जिनका निरवच्छिन्न प्रेम रामचरणमें है उन्हीं पर रीझेंगे, तो मेरे ऊपर कैसे रीझेंगे, मैं तो मैं ही हूँ।'

२ सुधाकर द्विवेदीजी—निषाद, शबरी आदिकी कथासे स्पष्ट है कि अविच्छिन्न स्नेहकी धारा ही से रीझते हैं; इसी लिए मुझे भी आशा है कि मुझपर राम रीझेंगे, नहीं तो मेरे ऐसा संसारमें कौन मन्द मलिन मति है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है।

मा० प्र०--यदि कोई कहे कि श्रीरामजी तो शुद्ध प्रेमसे रीझते हैं तो उसपर कहते हैं कि यद्यपि ऐसा है और यद्यपि मैं अत्यंत मंद मलिन मति हूँ तथापि "सठ सेवक···"।

दोहा—सठ सेवक की प्रीति रुचि, रखिहहिं राम कृपालु।
उपल किये जलजान जेहि, सचिव सुमति कपि भालु ॥२८॥

* मन—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। मति—१६६१, १७०४।

शब्दार्थ – उपल=पत्थर । जलजान = जल + यान = जलपर चलनेवाला रथ या सवारी=नाव, जहाज। सचिव = मंत्री । सुमति = सुंदर बुद्धिवाला ।

अर्थ—(मुझ) शठ सेवककी प्रीति और रुचिको कृपालु श्रीरामचन्द्रजी (अवश्य) रक्खेंगे कि जिन्होंने पत्थरोंको जलयान (जलपर तैरने व स्थिर रहनेवाला) बना दिया और वानर-भालुओं को सुन्दर बुद्धिवाला मन्त्री बना लिया । २८ ।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ काव्यलिङ्ग अलंकार है। 'रामकृपालु' कहनेका भाव यह है कि प्राकृत राजा अपने कृपालुता गुणके कारण सबका सम्मान करते हैं तो मुझे विश्वास है कि शठ सेवककी प्रीति रुचि रामचन्द्रजी रक्खेंगे क्योंकि वे कृपालु हैं। इसीको उदाहरण देकर और पुष्ट करते हैं। (ख) 'पत्थरको नाव बना देना', और कपि-भालुको 'सुमति मन्त्री बनाना' कहना साभिप्राय है। श्रीरामकथा रचनेका प्रेम और रुचि है, बिना सुमतिके उसे कर नहीं सकते और अपनी 'मति अति नीच' है, जैसा कहा है—'करन चहउँ रघुपति गुनगाहा। लघु मति मोरि चरित अवगाहा । १ । ८ ।', 'सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मति बल अति थोरि । १ । १४ ।' श्रीरघुनाथजीने कपि-भालुको सुन्दर मति देकर मन्त्री बनाया तो मुझेभी सुमति देंगे। (ग) पुनः भाव यह कि उन्होंने पत्थरको पानी पर तैराया जिसपर कपि-भालु चढ़कर समुद्र पार हुए, इसी तरह कथा अपार है, वे मुझे भी पार लगायेंगे। (घ) पत्थरको 'जलजान' करना, कपि-भालुको सुमति देना यह अयोग्यको योग्य करना है।

नोट—१ 'प्रीति रुचि' क्या है ? पण्डित रामकुमारजीका मत ऊपर आ चुका। सन्त श्रीगुरसहायलालजीके मतानुसार 'सुमिरि सो नाम रामगुनगाथा। करउँ नाइ रघुनाथहिं माथा । २८ । २ ।' यह प्रीति है। और मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती', यह रुचि है।

सन्तउन्मनीटीका—(क) नल-नीलको शाप था कि जो पत्थर वे जलमें डालेंगे वह डूबेगा नहीं इससे जलपर इनके स्पर्श किये हुए पत्थर तैरते थे। परन्तु एक साथही ठहरना असम्भव था, सो भी आपने कर दिखाया, यथा— 'बूड़हिं आनहिं बोरहिं जेई। भये उपल बोहित सम तेई ॥ श्रीरघुवीर प्रताप तें सिंधु तरे पाषान। लं० ३ ।' आप तो डूबतेही हैं, दूसरोंको भी ले डूबते हैं, सो दूसरोंको पार करनेवाले हुए। लं० ३ में भी देखिये। (ख) 'उपल किये जलजान' का भाव यह भी है कि पत्थर आप डूबे सो तैरने लगा और कपिभालु जो केवल नटोंके नचाने योग्य थे वे सुन्दर सम्मति देनेवाले मन्त्री बन गये। जिनकी ऐसी अद्भुत करनी है कि गुरुतर पत्थर काष्ठवत् लघु हो गया और पशुयोनिवाले नर के काम करने लगे, तो वे मेरा मनोरथ क्यों न पूरा करेंगे, मैं तो नर-शरीरमें हूँ, यद्यपि शठ सेवक हूँ ?

नोट—२ "सचिव सुमति कपि भालु" इति । यह कहकर जनाते हैं कि उत्तम कुलमें जन्म, सौंदर्य, वाक्‌चातुरी, बुद्धि और सुंदर आकृति—ये कोईभी गुण प्रभु श्रीरामजीकी प्रसन्नताका कारण नहीं हो सकते। यह बात दिखानेके लिये ही आपने उपर्युक्त सब गुणोंसे रहित होनेपर भी वानरोंसे मित्रता की। यह हनुमानजी अपने नित्य स्तोत्रके पाठमें कहा करते हैं। यथा—"न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः। तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः। भा० ५ । १९ । ७ ।" आपकी यह कृपालुता कहाँ तक वर्णन की जाय ? गोस्वामीजी कहते हैं कि मैं वाक्-चातुरी और बुद्धि आदिसे रहित हूँ, मुझे भी अवश्य अपनाकर सुंदरबुद्धि आदि देंगे। अत्यंत अयोग्य होनेपर भी उनकी इस कृपालुतामें विश्वास होना है कि वे मेरी प्रीति और रुचि रक्खेंगे जैसे वानर-भालुओंकी प्रीति और रुचि रक्खी थी।—विशेष दोहा २९ (४) "कहत नसाइ…" पर गौड़जीकी टिप्पणी देखिए। पूर्वार्धमें सामान्य बात कहकर उत्तरार्धमें विशेष सिद्धान्त कहकर उसका समर्थन करनेसे 'अर्थान्तरन्यास अलंकार' हुआ।

नोट—३ श्रीकरुणासिन्धुजी महाराज लिखते हैं कि ऊपरकी चौपाई 'रीझत राम सनेह निसोते०' से लेकर राम निकाई रावरी है सबही को नीक०' दोहा २६ तक श्रीगोस्वामीजीने पट्शरणागति कही है। इस लिये यह जानना परमावश्यक है कि पट्शरणागति क्या है। पट्शरणागति यथा—"आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वं वर्णनं तथा ॥ आत्मनिक्षेपकार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ॥" (करु०)। इसका भावार्थ यह है कि जो उपासनाके अनुकूल हो उसका सङ्कल्प करना 'प्रथम शरणागति' है। जो भक्तिका बाधक हो जिसमें उपासनामें विक्षेप हो उसका त्याग, यह 'दूसरी शरणागति' है। मेरी रक्षा प्रभु अवश्य करेंगे यह विश्वास दृढ़ रखना, 'तीसरी शरणागति' है। यथा—'जद्यपि जनमु कुमातु तें मैं सठु सदा सदोष। आपन जानि न त्यागिहहिं मोहिं रघुबीर भरोस। २। १८३।', 'जद्यपि मैं अनभल अपराधी।···तदपि सरन सनमुख मोहिं देखी। छमि सब करिहहि कृपा बिसेषी। २। १८३।।' कोल, भील, कपि, भालु, गीध, निशाचर आदि जो चौरासी भोगने योग्य थे उनकी प्रणाममात्रसे रक्षा की, उनके अवगुणोंका विचार न किया, इत्यादि रीतिसे स्तुति करना, यह 'गोप्तृत्ववर्णन' 'चौथी शरणागति' है। प्रभुके लिये अपनी आत्मातक समर्पण कर देना यह 'आत्मनिवेदन' है। गृध्रराज जटायुने यही किया। मुझसे कुछ नहीं बनता, मैं तो किसी कामका नहीं, सब प्रकार अपराधी, पतित इत्यादि हूँ, यह 'कार्पण्य शरणागति' है। ये छः प्रकारकी शरणागतियाँ हैं। (करु०)

☞ पट्शरणागतिके उपर्युक्त श्लोकोंका पाठ ऐसाही 'आनंदलहरीटीका' में दिया है और उसी पाठके अनुकूल अर्थ भी दिया गया है जो ऊपर लिखा गया। परन्तु वाल्मीकीय युद्धकांड सर्ग १७ के आरंभमें प्रसिद्ध भूषण-टीकामें श्लोक इस प्रकार है—"आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः ॥" इस श्लोकके पाठमें "गोप्तृत्ववरणं" है और श्रीकरुणसिंधुजीके पुस्तकमें 'गोप्तृत्ववर्णनं' है। गोप्तृत्ववर्णनका अर्थ ऊपर दिया गया है। और "गोप्तृत्ववरणं" का अर्थ है—'रक्षकरूपसे भगवानको वरण करना। अर्थात् आपही एकमात्र मेरे रक्षक हैं इस भावसे उनको स्वीकार कर लेना।'

"सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम। ३३। मित्रभावेन संप्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतद्विगर्हितम्। वाल्मी० सुं० सर्ग।१८।३।" ये श्रीवाल्मीकीय रामायणमें श्रीरामचन्द्रजीके श्रीमुखवचन हैं, इनपर विश्वास करना 'रक्षिष्यतीति विश्वासः', तीसरी शरणागति है। "रीझत राम सनेह निसोते" में "आनुकूल्यस्य सङ्कल्पः' और 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' पहिली दो शरणागतियाँ दिखाई। 'को जग मंद मलिन मति मोतें' में कार्पण्यशरणागति' है। 'सठ सेवक····' में कार्पण्य और 'गोप्तृत्ववरणं' दोनों शरणागतियाँ मिश्रित हैं।

नोट—४ श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि 'राजाओंके चार गुण ग्रन्थकारने दिखाये थे, अब उन गुणोंको 'कोसलराऊ' श्रीरामचन्द्रजीमें दिखा रहे हैं। ऊपर चौपाइमें जानिसिरोमनि' गुण कहा, और यहाँ 'कृपालुता' गुण। (मा० प्र०)।

दोहा—होंहु कहावत सबु कहत राम सहत उपहास। साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास ॥ २८ ॥

अर्थ—मैं भी कहलवाता हूँ और सब लोग कहते हैं, और श्रीरामचन्द्रजी इस उपहासको सहते हैं कि कहाँ तो श्रीसीतानाथ ऐसे स्वामी और कहाँ तुलसीदास-सा उनका सेवक ॥ २८ ॥

नोट—१ अब अपने विश्वासका प्रत्यक्ष प्रमाण देते हैं कि हमारी प्रीति-रुचि अवश्य रक्खेंगे।

२ (क) 'सीतानाथ' पद देकर श्रीरामचन्द्रजीका बड़प्पन दिखाते हैं। श्रीसीताजी कैसी हैं कि 'लोकप होहिं विलोकत जाके। । २ । १०३ ।', सो वे श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा करती हैं, यथा—'जासु कृपा कटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ। राम पदारबिंद रति करति सुभावहिं खोइ। उ० २४।' जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका ऐश्वर्य या बड़प्पन दिखाना अभिप्रेत होता है वहाँ ग्रन्थकारने प्रायः 'सीतानाथ', 'सीतापति' ऐसे पद दिये हैं, यथा— 'जेहि लखि लषनहु ते अधिक, मिले मुदित मुनिराउ। सो सीतापति भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ। २। २४३।', "तुलसी रामहि आपु तें, सेवक की रुचि मीठि। सीतापति से साहिबहि, कैसे दीजै पीठि। दोहावली ४८।" (ख) करुणासिन्धुजी 'सीतानाथ'-पद देनेका भाव यह लिखते हैं कि शक्तियाँ तीन हैं—श्री-शक्ति, भू-शक्ति, लीला-शक्ति। ये श्रीसीताजीसे उत्पन्न हुई हैं, प्रमाण यथा—'जानक्यंशसमुद्भृता श्रीभूलीलादिभेदतः। प्रकाशं श्रीश्च भुधारं लीलालयभवस्थितिम् ॥'

नोट—३ 'राम सहत उपहास' इति। (क) यहाँ क्या उपहास है जो श्रीरामजी सहते हैं? उत्तर—हँसी लोग यह उड़ाते हैं कि देखो तो कहाँ तो श्रीरामचन्द्रजी कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश जिनके सेवक हैं, यथा—'सिव बिरंचि हरि जाके सेवक'। लं० ६२।', 'देखे सिव बिधि बिष्णु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका। बंदत चरन करत प्रभु सेवा। १।५४।', पुनश्च, ऐश्वर्यमयी ब्रह्मस्वरूपिणी श्रीसीताजीके जो स्वामी हैं उनका सेवक 'तुलसीदास' बनता है, भला यह ऐसे बड़े स्वामीका सेवक होने योग्य है? कदापि नहीं। अथवा, हँसी यह कि ऐसे पुरुषोत्तम भगवान्‌को भी कोई और सेवक न जुड़ा जो ऐसे शठको सेवक बनाया। (मा० त० वि०) ☞ उत्तम सेवक (जैसे हनुमान्‌जी, अंगदजी इत्यादि) से स्वामीकी कीर्त्ति उन्नत होती है और कुसेवकसे स्वामीकी बुराई व हँसी होती है। यथा—"बिगरे सेवक स्वानके साहिब सिर गारी" (विनय)। (ख) 'सहत' पद देकर यहाँ प्रभुकी सुशीलता दर्शाते हैं। गोस्वामीजी कहते हैं कि मुझे यह अभिमान है कि मैं श्रीरामजीका दास हूँ, जो मुझसे कोई पूछता है तो मैं कहता हूँ कि मैं रामदास हूँ। इससे दूसरे भी कहते हैं, श्रीरामचन्द्रजी शीलके कारण कुछ कहते नहीं, हँसी सह लेते हैं। पुनः,

नोट—४ "सहस नाम मुनि भनित सुनि तुलसी-वल्लभ नाम। सकुचत हिय हँसि निरखि सिय धरम धुरंधर राम ॥" दोहावली १८८ तथा तुलसीसतसईके इस दोहेके आधारपर वैजनाथजी उपहासका कारण यह कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी एक-नारीव्रत-धारी हैं। सहस्रनाममें 'तुलसीवल्लभ' भी आपका एक नाम दिया है, इस नामको सुनकर श्रीसीताजी आपकी ओर देखकर मुसुकुराती हैं कि एकपत्नीव्रत हैं तो 'तुलसी' के वल्लभ कैसे कहलाये? एकपत्नीव्रत आपका कहाँ रहा? जिस तुलसीके आप वल्लभ हैं, उसके सम्बन्धसे गोस्वामीजी अपनेको श्रीसीतानाथका सेवक प्रसिद्ध करते हैं। स्वयं कहते हैं, दूसरोंसे कहलाते हैं। इस तरह अभीतक जो बात सहस्रनाम ही में गुप्त थी उसको मैं जगत्‌मात्रमें फैला रहा हूँ। जिसमें प्रभुका उपहास हो, जो बात सेवकको छुपानी चाहिये, मैं उसको प्रकट करता हूँ। श्रीसीताजी हँसी करती हैं कि यदि आपका एकपत्नीव्रत सच होता तो 'तुलसी' का दास आपसे क्योंकर नाता जोड़ता; 'सीता' या 'जानकी' दास ही आपका सेवक हो सकता था?

श्रीसुधाकर द्विवेदीजीका भी मत यही है। वे लिखते हैं कि "मेरे ऐसे नालायकको अपना दास बना लेनेसे रामजी उपहास सहते हैं कि श्रीसीतानाथ ऐसे प्रभु और तुलसीदास ऐसा सेवक! प्रभु राम जगज्जननी सीताके नाथ और मैं राक्षसपत्नी तुलसीका दास; इन दोनों में प्रभुदासका सम्बन्ध होना असम्भव है—यह ग्रन्थकारका आन्तरिक अभिप्राय है। इस ढिठाईपर आगे लिखेंगे और कहेंगे भी कि स्नेहके नातेसे रघुनाथजीने स्वप्नमें भी इस ढिठाईपर ध्यान न दिया।"—गौड़जीका टिप्पणी भी २९ (४) में देखिये। उत्तरार्धमें 'प्रथम विषम अलंकार' है।

अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी । सुनि अघ नरकहुँ नाक सकोरी ॥१॥

शब्दार्थ—खोरी (खोरि)=खोटाई, दोष, ऐब; यथा—'कहउँ पुकारि खोरि मोहि नाहीं'। ढिठाई खोरी =ढिठाई और दोष। =ढिठाईकी खोरि।=ढीटतारूपी दोष-(पं० रा० कु०)।

अर्थ—'इतने बड़े स्वामीका अपनेको सेवक कहना', तुलसीके दासका अपनेको सीतापतिका सेवक कहना—यह मेरी बहुत बड़ी ढिठाई और दोष है। इस पापको सुनकर नरक भी नाक सिकोड़ता है॥ १॥

टिप्पणी—इसी दोषको सज्जनोंसे क्षमा कराया है, यथा—"छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई"। स्वामीको कष्ट हुआ, उन्होंने उपहास सहा; यह पाप है, यथा—"मोहि समान को साँइ दुहाई"। अत्यन्त बड़ी खोरी है। ढिठाई यह है कि जिनकी सेवकाई ब्रह्मादिक चाहते हैं तो भी उनको नहीं मिलती, यथा—'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई।" उनका मैं सेवक बनता हूँ। (आगेकी चौपाईकी टिप्पणी भी देखिये)। [सन्त-उन्मनी-टीकाकार लिखते हैं कि 'ढिठाई' पद देकर सूचित किया कि जान-बूझकर अवगुणमें तत्पर हैं]।

नोट—'सुनि अघ नरकहुँ नाक सकोरी' के भाव। (१) यह मुहावरा (लोकोक्ति) है। जब कोई घृणाकी बात देखता है तो नाक सिकोड़ता है। इस प्रकार वह यह सूचित करता है कि यह बात हमको बुरी लगी। (२) यह सुनकर मूर्तिमान् अघको भी मुझसे घृणा होती है और नरक भी नाक सिकोड़ता है कि हमारे यहाँ ऐसे पापीकी समाई नहीं। पाप और नरकके अभिमानी देवता नाक सिकोड़ते हैं। भाव यह है कि पाप ऐसा है कि नरकमें भी हमें ठौर ठिकाना नहीं। (३) पाप कारण और नरक कार्य है; इस लिये पापका फल नरक है। कार्य-कारण दोनों ही मुझसे घृणा करते हैं। (४) करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि पाप सोचता है कि यह हमारा सम्बन्धी है और नरक अपने योग्य समझता है। ऐसा होते हुए भी मैं अपनेको राम सेवक कहता हूँ, इस ढीठताको देखकर वे नाक सिकोड़ते हैं। (५) गोस्वामीजीका विनयका १५८ पद यहाँ देखने योग्य है। यथा—"कैसे देउँ नाथहिं खोरि। कामलोलुप भ्रमत मन हरि भक्ति परिहरि तोरि॥ बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि। देत सिख सिखयो न मानत मूढ़ता असि मोरि॥ किए सहित सनेह जे अघ हृदय राखे चोरि। संग बस किय सुभ सुनाये सकल लोक निहोरि॥ करउँ जो कछु धरउँ सचि पचि सुकृत सिला बटोरि। पैठि उर बरबस दयानिधि दंभ लेत अँजोरि॥ लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि। बात कहउँ बनाइ बुध ज्यों बर बिराग निचोरि॥ एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत लाज अँचई घोरि। निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहि छोरि॥" पुनश्च, 'बड़ो साईं-द्रोही न बराबरी मेरी को कोउ, नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं'। इस भावपर सूरदासजीका भी पद है, यथा—"बिनती करत मरत हौं लाज॥ यह काया नख शिख लौं मेरी पापन्ह भरी जहाज। आगे भयो न पाछे कबहूँ सब पतितन सिरताज॥ भागत नरक नाम सुनि मेरो पीठ देत यमराज। गीध अजामिल गणिका तारी मेरे कौने काज। सूर अधम को जबहिं तारिहौ तब बदिहौं ब्रजराज॥"

समुझि सहम मोहि अपडर अपने । सो सुधि राम कीन्हि नहि सपने ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सहम=डर। अपडर—(१) झूठा डर अर्थात् जहाँ डरकी कोई बात न हो वहाँ डरना इसीको 'अपडर' कहते हैं, यथा—"अपडर डरेउँ न सोच समूले। रविहिं न दोष देव दिसि भूले"-(अ० २६७), 'सब बिधि सानुकूल लखि सीता। मे निसोच उर अपडर बीता। २।२४२।" पुनः, (२) 'अपडर' का अर्थ 'अपने आपसे डर होना', 'अपनीही तरफसे डर मानना' भी लेते हैं। पुनः, अपडर (सं० अपदर)=अपभय, दुःखद भय। (मा० प०)। सुधि=स्मरण, ख़याल, ध्यान। सपने=सोतेमें।= स्वप्नमें अर्थात् भूलकर भी।

अर्थ—अपनी ढीठता और दोषको समझकर मुझे अपने अपडरके कारण आप डर हो रहा है। (परन्तु) श्रीरामचन्द्रजीने स्वप्नमें भी इसका ख़याल नहीं किया। २।

नोट १—"समुझि सहम मोहि अपडर अपने०" से लेकर "ते भरतहिं भेंटत सनमाने । राजसभा रघुराज बखाने" तक 'आत्मसमर्पण' शरणागतिके लक्षण मिलते हैं । (करु०)

२ पण्डित रामकुमारजी इस चौपाईका भाव यों लिखते हैं कि - (क) "पापी पापको नहीं डरता परन्तु मेरा पाप ऐसा भारी है कि उसे समझकर मुझे डर लगता है । इस कथनमें पापकी बड़ाई दिखाई ।" (ख) "अपडर यह कि रामजीकी ओरसे डर नहीं है, समझनेसे मुझे अपनी ओरसे डर मानकर भय हुआ है । मेरे ढिठाईरूप पापकी सुधि स्वप्नमें भी नहीं की कि यह मेरी सेवकाईके योग्य नहीं" (ग) श्रीरामचन्द्रजीने ढिठाईको भक्ति मानकर मेरी प्रशंसा की जैसा श्रीभरतजीने कहा है—"सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई । प्रभु मानी सनेह सेवकाई । २ । २९८ ।' सब धर्म छोड़कर श्रीभरतजी श्रीरामजी की शरण आये—इसीको अपनी ढिठाई कहा, श्रीरामचन्द्रजीने उसीको सनेह और सेवकाई मान लिया । वैसे ही अपनेको प्रभुका सेवक बनाने और कहनेको श्रीमद्गोस्वामीजी ढिठाई मानते हैं—सेवकका धर्म यही है । उसीको रामजीने भक्ति मानकर सराहा-स्वामीका धर्म यही है ।-"लोक कहैं राम को गुलाम हौं कहावउँ । एतो बड़ो अपराध भो न मन बावों" (वि०) "ऐसेहु कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावों । विनय १७१ ।' (घ) 'सपने'—ईश्वर तो तीनों अवस्थाओंसे परे है, उसमें स्वप्न कहाँ ? उत्तर—'स्वप्नमेंभी' यह लोकोक्ति (मुहावरा) है अर्थात् भूलकर भी, स्वप्नमेंभी कभी ऐसा नहीं हुआ, जागनेकी कौन कहे । अथवा, स्वप्न होना माधुर्यमें कहा गया है जैसे उनका जागना और सोना बराबर कहा गया है वैसेही स्वप्नभी कहा जा सकता है ।

३ स्वप्नमें भी इसपर ध्यान न दिया, यह कैसे जाना ? करुणासिन्धुजी इसका उत्तर लिखते हैं कि यदि ध्यान देते तो हृदयमें उद्वेग उठता । सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि "इस कथनका भाव यह हुआ कि रघुनाथजी मुझे छोड़े होते और मेरे दोषोंकी ओर उनकी दृष्टि होती तो मेरा मन उनके गुणानुवादकी ओर न लगता और मेरे मनमें अधिक उद्वेग होने लगता सो मैं व्यर्थ अपने दोषोंको समझकर डरा हूँ ।" पं० सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—कहाँ सीतानाथ प्रभु और कहाँ मैं अधम तुलसीदास सेवक, इस मेरी बड़ी भारी बुरी ढिठाईको सुनकर अघसे भरा नरकभी नाक सिकोड़ेगा, यह समझकर सङ्कोचसे ग्रन्थकार कहते हैं कि मुझे स्वर्ग महाभय है । भय होते ही ग्रन्थकारके हृदयमें रामकृपाका प्रादुर्भाव हुआ जिससे स्पष्ट हो गया कि दासकी अधमतापर रामजीने स्वप्नमें भी नहीं ध्यान दिया ।

सुनि अवलोकि सुचित चख चाही । भगति मोरि* मति स्वामि सराही ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अवलोकि=देखकर । सुचित=सुन्दर चित्त । =स्वस्थचित्त—(मा० पत्रिका) । चख (चक्षु)=आँख, नेत्र । सुचितचख=दिव्य दृष्टि । चाही=देखी, यथा—'सीय चकित चित रामहिं चाहा । । १ । २४८ ।' = विचार किया । सुचित चख चाही = मनमें विचारकर । (पं० रा० कु०) ।

---

* भोरि—१७२१, १७६२, छ०, भा० म० । मोरि—१६६१, १७०४ । भोरि—रा० प्र० । 'भोरि' पाठके अर्थ ये हैं—(१) भोरी (भोली-भाली) मतिकी भक्ति स्वामीने सराही है । (रा० प्र०) । (२) संसारकी ओरसे जिनकी मति भोली है उनकी प्रीति स्वामीने सराही है । (पं०) । (३) मेरी भुलनी भक्ति और भुलनी मति । (मा० मा०) । (४) मेरी भोरी भक्ति और स्वामीकी दीनपालिनी मति । (मा० मा०) । (५) भक्ति करते हुए जो मति भूल जाय अर्थात् विधानपूर्वक भक्तिको जो मति नहीं जानती वह 'भक्ति भोरी मति' कहलाती है । (मा० मा०) । (६) मेरी भक्ति और भोलीबुद्धिकी सराहना की । (नं० प०) । (७) मेरी भक्तिमें उसकी मति विभोर होगई है, यह सराहना की । (गौड़जी) ।

अर्थ—१ दूसरोंसे सुनकर और स्वयं सुन्दर चित्तरूपी नेत्रसे (भी) देखकर, स्वामीने मेरी भक्ति और बुद्धिको सराहा। (पं० रामकुमार, रा० प्र०, पाँ०) । ३ । ॐ

टिप्पणी—"भक्तिके सराहनेमें सुनना, देखना और विचारना लिखा। भाव यह है कि चूककी खबर नहीं रखते, हृदयकी भक्तिका वारम्वार स्मरण करते हैं, क्योंकि उनको भक्ति प्रिय है। इसी बातको आगे पुष्ट करते हैं, यथा—"कहत नसाइ होइ हिय नीकी०" से "प्रभु तरु तर०" तक। इसीसे मेरी भक्तिको सुना, देखा, विचारा। विनयमें इनकी भक्ति लिखी है। उसीको देख विचार हृदयमें डाल लिया।"

नोट—१ सुनने, देखने और सराहनेके प्रमाण विनयपत्रिकाके अन्तिम पदमें हैं। यथा—"मारुति मन रुचि भरत की लखि लखन कही है। कलिकालहु नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है॥ सकल सभा सुनि लै उठी जानी रीति रही है। कृपा गरीब निवाज की देखत गरीब को साहिब बाँह गही है॥ विहँसि राम कह्यो सत्य है सुधि मैं हूँ लही है। मुदित माथ नावत बनी तुलसी अनाथ की परी रघुनाथ सही है। विनय २७९ ।।"

श्रीलक्ष्मणजीसे सुना, पुनः श्रीसीताजीसे सुना, क्योंकि पूर्व प्रार्थना कर आये हैं कि "कबहुँक अंब अवसर पाइ। मेरियो सुधि द्याइवी कछु करुन कथा चलाइ०", "कबहुँ समय सुधि द्याइवी मेरी मातु जानकी।'''' वि० ४१-४२।।' 'देखत' में 'अवलोकि' का ग्रहण हो गया और, 'विहँसि राम कहेउ०' से सराहना पाया जाता है।

अर्थ—२ जब "मैंने (गुरु वा सन्तोंसे) सुनकर, हृदयके नेत्रोंसे सुचित्त होकर † अवलोकन किया तब देख पड़ा कि मेरी मतिके अनुसार जो भक्ति मुझमें है सो रघुनाथजीकी सराही हुई है। " (करु०)

अर्थ—३ "सन्त महात्माओंसे सुनकर, शास्त्रोंका अवलोकन करके फिर सुन्दर चित्तरूपी नेत्रोंसे देखा (विचारा) तो देख पड़ा कि मतिअनुकूल जो मुझमें भक्ति है सो स्वामीकी सराही हुई है।" (मा० प्र०)

ॐ पंजाबीजी इस अर्थमें यह दोष निकालते हैं कि—श्रीरघुनाथजीका तो निरावरण ज्ञान है, उनका एक बार साधारण देखना और फिर चित्तसे देखना कैसे बने ?' दूसरा दोष यह बताते हैं कि यह वाक्य निज-प्रशंसा है इससे 'पुण्य नाश होते हैं'; इन दोषोंके सम्बन्धमें सूर्यप्रसाद मिश्रजी कहते हैं कि "ग्रन्थकार इस बातको किसी दूसरेसे तो कहते नहीं हैं पर अपने मनके सन्तोषके लिये अपनेहीको आप समझाते हैं। दोष तब होता जब दूसरेसे कहते। दूसरा दोष भी ठीक नहीं, कारण कि प्रेमदृष्टिसे सब ठीक है, क्योंकि प्रभु प्रेमहीके अधीन हैं। यहाँ तक कि सुदामाके तन्दुल और शबरीके जूठे फल खाये। विदुरका शाक भी खाया है, इत्यादि अनेक प्रमाण पुराणोंमें हैं, तब गोसाईंजीने जो इतना कहा तो इनमें क्या दोष है ?' पंजाबीजी अर्धालीका यह अर्थ करते हैं कि "मैंने यह बात गुरु, शास्त्रोंसे सुनी और अवलोकी है। धन्य हैं मीराबाई आदिक। प्रभु हृदयके सुष्ठु नेत्र चाहनेवाले हैं। अर्थात् भक्तोंके ध्यान-परायणताको ग्रहण करते हैं और मेरी मतिमें भी ऐसा ही आता है कि स्वामी हृदयकी प्रीतिवाले भक्तोंहीकोसराहते हैं"।

† सुनि अवलोकि, यथा—"राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत विदित निगमागम गाई॥ क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥ तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥ देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥" (अ० २९९)।' पुनश्च—"देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख विमुख न काहुहि काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोच। अ० २६७।''''मिटेउ छोभु नहिं मन संदेहू।", "मम प्रन सरनागत भयहारी''''कोटि विप्र बध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू।''''रखिहउँ ताहि प्रान की नाईं। सुं० ४४।' इत्यादि। पुनश्च, यथा—"कलि कुटिल जीव निस्तार हित वाल्मीकि तुलसी भयो" (यह संत श्रीनाभाजीकी वाणी है। संतवाणी प्रभुकी प्रेरणासे होती है।)

अर्थ—४ संसारमें मैंने सुना (क्योंकि संसारभर मेरा यश गाता है), देखा (कि सब मेरा आदर श्री-रामजीके समान करते हैं) और सुन्दर चित्तके नेत्रोंसे देखा अर्थात् विचारा) कि विना श्रीरामजी के आदर किये कोई न आदर करता, श्रीरामजीही सूत्रधर हैं) । [बाबा हरीदासजी] ।

अर्थ—५ "जो मेरी ढिठाई-खोराईको सुनेंगे, जो जो देखते हैं और ज्ञानवैराग्यरूपी नेत्रोंसे देखेंगें वे मेरी भोरी भक्ति और स्वामीकी दीनपालिनी मतिकी सराहना करेंगें" । "सुचित = (नेत्रको) अव्यय करके" [मा० मा०] । [मा० मा० मयंककारकी परंपराके हैं । उनका पाठ "भोरि" है ।]

अर्थ—६ "गुरु अरु वेदसे श्रवण करके तथा ध्यानद्वारा हृदयके नेत्रोंसे देखकर मुझे यही निर्णय हुआ कि पराभक्तिवश, भूल भी हो जाय तो, श्रीरामचन्द्रजी रूठते नहीं, प्रसन्न होकर हृदयसे लगाते हैं और यदि जान-कर भक्ति बिसारे तो दुःख होता है" (मा० मा०) । ☞ सब अर्थोंपर विचार करनेसे प्रायः दोही अर्थ प्रधान जान पड़ते हैं । एक तो श्रीरामजीका सुनना, देखना आदि, दूसरा कविका स्वयं सुनना, आदि । अब प्रश्न यह है कि क्या सुना, देखा, प्रभु श्रीरामचन्द्रजीके सुनने देखनेके भाव प्रथम ही टिप्पणी और नोट १ में लिखे गए हैं । कविके सुनने देखने आदिका भाव यह है कि—अपनी धृष्टता समझकर संतोंसे अथवा गुरुजीसे घबड़ाकर पूछा तो उन्होंने ढारस दिया कि श्रीरघुनाथजी झूठेहू भक्त से, कैसाही अपराध क्यों न बन पड़े कभी क्रोध नहीं करते । अथवा, जहाँ-तहाँ संतोंमें अपनी बड़ाई सुनी, संत और भगवंतमें अन्तर नहीं है, अतः उनकी बड़ाई करने से जाना गया कि भगवान् प्रसन्न हैं (पां०) । वेदशास्त्रोंमेंभी यही सिद्धान्त देखा । (प्रमाण दोहा २९ (५) में देखिए) । और अपने सुंदर चित्तरूपी अथवा ज्ञानवैराग्यरूपी नेत्रोंसे यही अनुभवभी किया ।

मा० मा० कारका मत है कि "ज्ञान वैराग्यरूपी नेत्रोंसे देखनेका तात्पर्य है-'ध्यानावस्थित होकर देखना' इससे क्योंकर जाना कि 'प्रभु कोप नहीं करते, कृपाही करते हैं ?' उत्तर यह है कि जब किसीपर किंचित् भी प्रभुका कोप होता है, तब उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और विधानपूर्वक समाधि नहीं बनती ।... मेरी समाधि विधानपूर्वक समाधिद्वारा ध्यानरसको प्राप्त हुई, इससे मैं जानता हूँ कि कृपा है, कोप नहीं ।" गौड़जी की टिप्पणी दोहा २९ (४) में देखिए ।

नोट—२ कौन भक्ति सराही है ? 'होहुँ कहावत'—वह भक्ति यह है । क्योंकि श्रीमुखवचन है कि 'सकृ-देव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम' और यह बात शास्त्रमें देखी और सुनी भी है ।

३—यहाँसे यह बताते हैं कि हमने क्योंकर जाना कि प्रभुने हमारे अघोंपर किंचित् ध्यान नहीं दिया है—(मा० प्र०) ।

कहत नसाइ होइ हिअ नीकी । रीझत राम जानि जन जी की ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—नसाइ=नष्ट हो, बिगड़ जाय । नष्ट होजाती है, बिगड़ जाती है ।

अर्थ—१ कहनेमें चाहे बुरी जान पड़े (कहते न बने) मगर हृदयकी अच्छी हो । श्रीरामचन्द्रजी दासके हृदयकी जानकर रीझते हैं ॥ ४ ॥

अर्थ—२ श्रीरामजी अपने जनके जीकी बात जानकर रीझते हैं यह बात कहने की नहीं है, कहनेसे इसका रस जाता रहता है (मनही मन समझ रखनेकी है, उसके आनन्दमें डूबे रहनेकी है) । हृदयहीमें इसका रहना अच्छा है । [पं०, गौड़जी, मा०प०] ।

---

१ हिय० को० रा० ।

टिप्पणी—अर्थात् मुझसे कहनेमें नशानी है जो मैं अपनेको सेवक कहता हूँ, यथा—'राम सुस्वामि कुसेवक मोसो।", "सठ सेवक की प्रीति रुचि ···।", रही यह कि मेरे हृदयमें प्रीति है, यही हियकी नीकी है।

नोट—१ (क) बाबा जानकीदासजी 'हिय नीकी' का भाव यह कहते हैं कि 'हम श्रीरामजीके हैं' यह हृदयमें दृढ़ हो। यथा—"हौं अनाथ प्रभु तुम अनाथहित चित यहसुरति कबहुँ नहिं जाई। विनय २४२।"

(ख) अर्थ २ के भाव आगे गौड़जीके लेखमें देखिये। पंजाबीजी कहते हैं कि—संत यह कभी नहीं कहते कि स्वामी हमारी सराहना करता है अतएव वे नहीं कहते। उस सुखको हृदयहीमें रखना उत्तम है। इससे गंभीरता सिद्ध होती है। हृदयकी अनन्यता और गंभीरता को जानकर प्रभु प्रसन्न होते हैं। (पं०)।

२—इस चौपाईके भाव नारदपंचरात्रके प्रथम रात्रके अ० १२ के श्लोक ३६ से स्पष्ट हो जाते हैं—"मूर्खो वदति विष्णाय बुधो वदति विष्णवे। नम इत्येवमर्थं च द्वयोरेव समं फलम्॥ ३६॥" अर्थात् मूर्ख 'विष्णाय नमः' कहता है और पंडित 'विष्णवे नमः' कहते हैं। दोनोंका तात्पर्य (नमन) और फल एकही है। आशय यह है कि मूर्ख समझता है कि जैसे 'राम' से 'रामाय' होता है वैसेही 'विष्णु' से 'विष्णाय' होगा, यह समझकर वह भगवानको प्रणाम करते हुए 'विष्णाय नमः' कहता है जो व्याकरण दृष्टिसे अशुद्ध है। वस्तुतः 'विष्णवे नमः' कहना चाहिए। और पंडित शुद्ध शब्द—'विष्णवे नमः' कहकर प्रणाम करता है। भगवान् मूर्खके हृदयके शुद्ध भावको लेकर उसे वही फल देते हैं जो पण्डितको।—यही 'कहत नसाइ होइ हिय नीकी' का भाव है।

नोट—३ 'जानि जन जी की' इति। जीकी जानकर रीझते हैं। भाव यह है कि हृदय अच्छा न हो और वचन ही से रिझाना चाहो तो नहीं रीझते।—(पं० रा० कु०)। यह अर्थ और भाव विनयके १७८ वें पदके "कहत नसानी है है हिये नाथ नीकी है। जानत कृपानिधान तुलसी के जी की है॥" इन चरणोंसेभी सिद्ध होता है। सुधाकर द्विवेदीजी दूसरे प्रकारसे अर्थ करते हैं। वे लिखते हैं कि—"यह मंत्ररूप हृदयगत प्रभुकी प्रसन्नता हृदयमें रखने हीमें भला है, कह देनेसे, बाहर चली जानेसे, उसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। ग्रन्थकारका यह भाव है कि मुझे तो रामजीको प्रसन्न करना है और प्राकृत जनोंसे क्या काम और राम जी तो भक्तजनके जीवकी प्रीति जानकर रीझते हैं।" श्रीमान् गौड़जी भी लगभग ऐसाही अर्थ करते हैं। सूर्यप्रसादमिश्रजी ऊपर दिये हुए अर्थका खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि 'कहत नसाइ' का यह अर्थ अत्यन्त अशुद्ध है, यह अर्थ कथमपि नहीं निकल सकता है। वे लिखते हैं कि "ऊपरके कथनसे यह बात सिद्ध हो गई कि जीवमात्रका बाह्य व्यवहार संसारकी दृष्टिमें निहायत बुरा (नसाइ) हो वा भला हो पर जगदीश्वर तो हृदयके प्रेमको जानकर प्रसन्न होता है वह बाह्य व्यवहार को कदापि नहीं देखता है।

गौड़जी - गोस्वामीजी पहले तो कहते हैं कि अपनी प्रशंसा सुनकर तो प्राकृत राजा भी रीझ जाता है, फिर सरकार तो जानकारोंमें शिरोमणि हैं, हृदयके अन्तरतमकी बात जानते हैं। वह तो विशुद्ध प्रेमसे रीझते हैं सो यहाँ मेरी क्या स्थिति है सो सुनिये, कि जगतीतलमें मेरे जैसा "मन्द" और "मलिनमति" खोजे नहीं मिलेगा। इतनी अयोग्यतापर भी मुझे आशा होती है कि वह मेरे जैसे शठ सेवककी प्रीति और रुचि रखेंगे, क्योंकि आपने बन्दर-भालुओंकी प्रीति और रुचि रखकर पत्थरको जहाज-सरीखा बना डाला था। [नल-नीलके स्पर्श किये पत्थर तैर भले ही जायँ पर वह बोझ भी सँभाल लें और बँधे और स्थिर भी रहें और अपने स्वभावको त्याग दें यह होना आवश्यक नहीं था। स्वभावसे ही उनका पुल बनना सम्भव न था। सरकारने उनकी प्रीतिको सम्मान दिया और असम्भवको सम्भव करनेकी उनकी रुचि उन्होंने रख ली। मेरी भी वह सब तरहसे सुधार ही लेंगे।] ऐसी आशा भी कठिन ही है क्योंकि वे पशु हैं, पशुता स्वाभाविक है, फिर भी वे अपराधी नहीं हैं। परन्तु मैं तो मनुष्य होते हुए भी पशुसे गया बीता हूँ। मैं भारी

ढीठ और अपराधी हूँ। मालिक तो "सीतानाथ" हैं, एक-पत्नी-व्रती और उसकी भी कठिन अग्निपरीक्षा लेनेवाले और उनका सेवक मैं क्या हूँ 'तुलसीदास', जारपत्नीका दास, अपने प्रभुके बदनाम करनेवाले नामको धारण करनेवाला! मैं स्वयं अपनेको "तुलसी"-दास कहता हूँ और सबसे यही कहलवाता भी हूँ। सरकारके हजारों नामोंमें "तुलसी वल्लभ" ही नामको चुनकर बारम्बार उनको इस बदनामीकी याद ही नहीं दिलाता हूँ, बल्कि उपहास कराता रहता हूँ। [तुलना कीजिये दोहावलीके १८८ वाँ दोहासे—"सहसनाम मुनिभनित सुनि "तुलसी वल्लभ" नाम। सकुचत हिय हँसि निरखि सिय, धरमधुरंधर राम॥" जिसका भाव यह है कि सरकार सीताजीकी ओर देखकर सकुचते हैं कि देखो हमारी करनी कि हमने जलन्धरकी स्त्रीका सतीत्व बिगाड़ा और सीताजीके हरणके कारण हमही हुए. फिर हमारी यह जबरदस्ती कि फिर उनकी ही अग्निपरीक्षा ली]। "तुलसी" का नाम लेते ही हर तरहपर प्रभुके मनमें तो संकोच और लज्जा होती है और दूसरोंको याद दिलाकर मर्यादापुरुषोत्तमकी घोर बदनामी और हँसी होती है; परन्तु मैं ऐसा शठ और ढीठ सेवक हूँ कि यह अपराध सदा करता रहता हूँ। मेरी यह ढिठाई और शठता बहुत बड़ी है और इतनी घृणित है कि सुनकर नरकने भी नाक सिकोड़ी कि ऐसा पातकी है कि हमको भी इसकी गन्दगी घिनौनी लगती है। इस दशाको समझकर मुझे अपने भीतरही-भीतर हृदयके अन्तःस्तलमें भारी भय है, अपने ही क़सूरसे जी काँपता रहता है। परन्तु सरकारको देखिये कि सपनेमें भी इस महापातककी ओर कभी ध्यान न दिया। (जब कुटिल मनवाले कर्मचारियों और यम, चित्रगुप्तादि नरकके परमाधिकारियोंने देखा कि सरकार उधर ध्यान नहीं देते तो उन्होंने हमारी निन्दा की) तो सरकारने निन्दा (अवलोक=अपलोक) सुनकर बड़े स्नेहभरे चित्तसे और वात्सल्यभरी निगाहोंसे मेरी ओर देखा (और मैं निहाल हो गया) और (क्रोध या दण्डके बदले) सरकारने उलटे सराहना की कि "(मेरी) भक्तिमें (ऐसा डूबा है कि अपनेको और मेरी बदनामीको) उसकी मति बिल्कुल भूल गयी है। (यह कोई दोष नहीं है, बल्कि भक्तिमें ऐसा विभोर हो जाना मेरे सच्चे दासका एक भारी गुण है, ऐसा ही आदर्श दास होना भी चाहिये।)"। प्रभुकी ऐसी कृपा, 'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती', ऐसी ममता एक रहस्यकी बात है, अपने जीमें समझकर प्रभुकी इस प्रभुता और ममतापर लोट-पोट हो जाने और बलि-बलि जानेकी बात है, मुँहसे कहनेकी बात नहीं है। यह बात कि सरकार अपने भक्तके जीकी बात जानकर रीझ जाते हैं, ऊपरकी बातें कैसी ही बुरी हों उनकी परवा नहीं करते, कहनेकी नहीं है, मन-ही-मन समझकर उसके आनन्दमें डूबे रहनेकी है, कहनेसे तो उसका स्वाद घट जाता है। दुष्टात्मा विषयोंके भक्त कहनेसे उलटा समझने लगेंगे कि—"सरकार शायद अपनी निन्दासे ही रीझते हैं, उनको अपना उपहास ही प्रिय है। देखो न, तुलसी-जैसे निन्दाके अपराधीको दण्ड देना तो दूर रहा उलटे सराहना करते हैं।" इसलिये इसके कहनेमें हानि है, बात बिगड़ जाती है। [वह यह नहीं समझेंगे कि प्रभुकी अपने दासोंपर विशेष ममता है।] प्रभुके ध्यानमें दासकी की हुई चूककी बात तो आती ही नहीं। हाँ; उसके हृदयमें एक बार भी अच्छा भाव आता है तो सरकार उसे सौ-सौ बार याद करते हैं। देखो तो, बालिको जिस पापपर मार डाला वही पाप सुग्रीव और विभीषणने किया पर सरकारने उसका ख्याल तो सपनेमें भी नहीं किया और भरतजी आदिके सामने उनकी प्रशंसा करते नहीं अघाये, उनका आदर-सत्कार इतना किया कि अपना सखा कहा और कहा कि ये न होते तो हम रावणसे युद्धमें न जीतते, इत्यादि।

रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिए[1] की॥ ५॥

शब्दार्थ—किये की = की हुई, हो गई हुई। चूक = भूलचूक, खता, अपराध। सुरति = याद, स्मरण।

१—शेषदत्तजी एवं कोदोरामजीकी पुस्तकमें 'बार दिए की' पाठ है। नंगेपरमहंसजी उसे शुद्ध मानते हैं परन्तु मा० मा० कार उसको लेखप्रमाद बताते हैं। कहीं अन्य किसी पोथीमें यह पाठ नहीं मिलता।

सत=शत=सौ। सयवार=सैकड़ों बार, अनेक बार। "चूक किये की"=चूककी बात, की हुई चूक की बात=चूककरने की बात (मा० प०)=भूलसे की हुई भक्ति की कुकृति—(द्विवेदीजी)।

अर्थ—प्रभुके चित्तमें (अपने जनकी) भूलचूक नहीं रहती। वे उनके हृदयकी ('नीकी' को) बारम्बार याद करते रहते हैं॥ ५॥

टिप्पणी—चूक करना यह कर्म है। भाव यह है कि वचन और कर्मसे बिगड़े, पर मनसे अच्छा हो, तो श्रीरामजी रीझते हैं, यथा—'बचन बेष से जो बनै, सो बिगरै परिनाम। तुलसी मन तें जो बनै बनी बनाई राम' दोहावली १५४।' अब इसीका उदाहरण देते हैं।

नोट—१ वाल्मीकीयमें भी कहा है कि—"कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति। न स्मरत्यपकाराणाँ शतमप्यात्मवत्तया।२।१।११।" अर्थात् (वाल्मीकिजी कहते हैं—) कदाचित् किसी प्रसंगसे कोई किंचित्भी श्रीरामजीका उपकार करे तो वे संतुष्ट हो जाते हैं। और यदि सैकड़ों अपराध भी कर डाले तो उसको अपना समझकर उनका खयाल नहीं करते। पुनः श्रीमद्भगवद्‌गीतामें भी कहा है कि यदि कोई दुराचारीभी अनन्य भावसे मेरा भजन करता है तो उसे साधुही मानना चहिये क्योंकि वह यथार्थ निश्चयवाला है। यथा—"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ ९। ३०।" तात्पर्य यह है कि जिसने यह भली प्रकार निश्चय कर लिया है कि भजनके समान और कुछ नहीं है और जिसके मनमें केवल अनन्य भजनका निश्चय है, परन्तु काल स्वभाव कर्म आदिके वश वचन और कर्मसे व्यभिचार होते रहते हैं, इसमें उसका क्या वश? ऐसा समझकर प्रभु उसके हृदयहीकी सचाईको देखते रहते हैं और चूक की ओर देखते भी नहीं। यथा—"जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन। विनय २०६।" "अपने देखे दोष सपनेहु राम न उर धरेउ। दोहावली ४७।" "अपराध अगाध भए जन ते अपने उर आनत नाहिंन जू। गनिका गज गीध अजामिल के गनि पातक-पुंज सिराहिं न जू॥ क० उ० ७।"

जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ ६॥
सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥ ७॥

अर्थ—जिस पाप और अपराधसे वालिको (श्रीरामचन्द्रजीने) बहेलियेकी तरह मारा था फिर वही कुचाल सुग्रीवने की॥ ६॥ और वही करनी विभीषणकी थी। (परन्तु) श्रीरामचन्द्रजी स्वप्नमें भी उस दोषको हृदयमें न लाये॥ ७॥

नोट—१ 'जेहि अघ', 'सोइ कीन्ह कुचाली', 'सोइ करतूति'—'सोइ' पद देकर 'अघ', 'कुचाली' और 'करतूति' तीनोंको एक ही बताया। २—वालिका क्या 'अघ' था? भाईकी पत्नीपर बुरी दृष्टिसे देखना तथा अपनी पत्नी बनाना। वालिने सुग्रीवकी स्त्रीको छीन लिया और उसको अपनी स्त्री बनाया। यही अपराध वालिका था, यथा—'हरि लीन्हेसि सर्बस अरु नारी। ४। ५। ११।', 'अनुजबधू भगिनी सुतनारी। सुनु सठ कन्या सम ए चारी॥ इन्हहि कुदृष्टि बिलोकहि जोई। ताहि बधें कछु पाप न होई। ४। ९।'—यह उत्तर वालिके इस प्रश्नका रघुनाथजीने दिया था कि "अवगुन कौन नाथ मोहिं मारा।"—(कि० ९)। पुनः यथा "बंधु बधूरत कहि कियो, वचन निरुत्तर वालि। दोहावली १५७।"

सुग्रीवनेभी वालिके मारे जानेपर उसकी स्त्री ताराको अपनी स्त्री बनाया। धर्मशास्त्रकी रीतिसे दोनों पाप एक-से हैं, क्योंकि दोनों अगम्य हैं। छोटी भावज (छोटे भाईकी स्त्री) कन्या सम है, बड़ी भावज माताके समान है। देखिये श्रीसुमित्रा-अम्बाने श्रीलक्ष्मणजीसे क्या कहा है—'तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता रामु सब भांति सनेही। २। ७४।' परन्तु सुग्रीवने प्रथम यह प्रतिज्ञा की थी कि—'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ४। ७।' यदि ऐसी प्रतिज्ञा है तो वह परम भक्त है। परम भक्त होकर भी उसने जान-

बूझकर कुचाल की। इसी तरह विभीषणजीने भी मन्दोदरीको अपनी स्त्री बनाया था। यथा—"सज्जन सींव बिभीषन भो अजहूँ बिलसै बर-बंधु-बधू जो।" (क० उ० ५), तो भी प्रभुने उनके अवगुणोंपर ध्यान न दिया, क्योंकि श्रीमुख-वचन है कि 'मित्रभावेन संप्राप्तं न त्यजेयं कथंचन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात् सतामेतद-गर्हितम्॥ वाल्मी० यु० १८।२।'

देखिये विभीषणजी जब शरणमें आए तब कुछ हृदयमें वासना लेकर आए थे पर प्रभुके सामने आतेही उन्होंने उस वासनाका भी त्याग कर दिया और केवल भक्तिकी प्रार्थना की, जैसा उनके—"उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभुपद-प्रीति-सरित सो बही॥ अब कृपाल निज भगति पावनी। देहु सदा सिव मन भावनी। ५। ४९।" इन वचनोंसे स्पष्ट है। प्रभु श्रीसुग्रीवजी एवं श्रीविभीषणजी दोनों की इस भक्तिपर प्रसन्न हुए। इसी गुणको लेकर उनके चूकोंका कभी भूलसे भी स्मरण न किया, क्योंकि भक्तिगुण विशेष है। चूक सामान्य है। देखिए सुग्रीवने पीछे बालिका वध करानेसे इनकार कर दिया और विभीषणने राज्य न चाहा तो भी श्रीरामजीने यह कहकर कि—"जो कछु कहेहु सत्य सब सोई। सखा वचन मम मृषा न होई॥ ४।७।", "जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जग माहीं। ५। ४९।" बालि और रावणका वधकर दोनोंको राज्य दिया। विभीषणजीके शरण आते ही पहले ही उनका तिलक किया और 'लंकेस' संबोधित किया। राज्य पद पानेपर दोनोंसे 'चूक' हुई। श्रीरामजीने केवल उनके हृदयकी 'नीकी' परही ध्यान दिया चूकपर नहीं। (नंगे परमहंसजी)।

☞ स्मरण रहे कि बालि शरणागत न था किन्तु भक्तका शत्रु था, इसीसे उसको नीतिके अनुसार कर्म-दण्ड दिया गया। जब वह शरणमें आया तब प्रभुने उसकी वह चूक माफ (क्षमा) करदी और कहा कि 'अचल करउँ तनु राखहु प्राना' (४। १०) और उसके सिर पर अपना करकमल फेरा था। यथा—"बालि सीस परसेउ निज पानी।४।१०।"

नोट—३ 'ब्याध जिमि' इति। बहेलिये छिपकर पक्षीपर घात करते हैं, वही यहां सूचित किया। भाव यह है कि अपने जनके लिये यह अपयशतक लेना अङ्गीकार किया कि व्याधाकी तरह बालिको मारा। ('बालि वधके औचित्य' पर किष्किन्धाकाण्ड देखिये)। अपयश होना विनयके "सहि न सके जनके दारुन दुख हत्यो बालि सहि गारी। १६६।" से स्पष्ट है।

४ 'सपनेहु सो न राम हिय हेरी' इति! यथा—'कहा बिभीषन लै मिलेउ कहा बिगारी बालि। तुलसी प्रभु सरनागतहिं सब दिन आयो पालि॥", "तुलसी प्रभु सुग्रीव की चितइ न कछू कुचालि"–[दोहावली १५६, १५७]

५ गोस्वामीजीके कथनका आशय यह है कि सुग्रीव आदिकी कुचालि नहीं देखी, वैसेही मेरीभी 'ढिठाई' नहीं देखी।

ते भरतहि भेंटत सनमानें। राजसभा रघुबीर बखानें॥ ८॥

अर्थ—प्रभुने श्रीभरतजीसे मिलते समयभी उनका सम्मान किया और राजसभामें भी उनकी बड़ाई की॥ ८॥

नोट १—भरत-मिलाप-समय सम्मान यह किया कि उनको भरतजीसे भी अधिक कहा, यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भये समर-सागर कहँ बेरे॥ मम हित लागि जनम इन्ह हारे। भरतहुँ तें मोहि अधिक पियारे। उ० ८।" पुनः, 'राम सराहे भरत उठि, मिले रामसम जानि। दोहावली २०८।' (पं० रा० कु०)।

२ पं० रोशनलालजी लिखते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी भरतजी से १४ वर्षके वियोगपर मिले तो सम्भव था कि भरत-मिलाप-समय इनको भूल जाते, क्योंकि प्रायः बिछुड़े-हुओंसे मिलनेपर लोग उस समय उन्हींपर ध्यान रखते हैं। परन्तु आपने उस समय भी इन दोनोंके सम्मानपर भी दृष्टि रक्खी।

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—"सुग्रीव विभीषणादि प्रभुकी रणक्रीड़ा देखकर उनके ऐश्वर्यमें पगे गए हैं। सर्वोपास्य एक प्रभुको छोड़कर किसको प्रणाम करें? प्रणाम न करनेसे वसिष्ठजीने उनको नीचबुद्धि समझ प्रभुसे पूछा कि ये कौन हैं? प्रभु आत्मसमर्पण करनेवाले भक्तोंकी न्यूनता कैसे सहन कर सकें? इससे वे उसी समय उनकी बड़ाई करने लगे।....भला कहां भक्त शिरोमणि श्रीभरतजी और कहाँ वानर और राक्षस! उनकी न्यूनताके कारण ऐसा कहकर उन्होंने उनकी मर्यादा तीनों लोकोंमें विख्यात करदी।"—
[श्रीवसिष्ठजीके संबंधमें जो ऊपर कहा है कि उन्होंने सबको नीच बुद्धि समझा, इत्यादि, किसी प्रामाणिक आधार पर है इसका कोई उल्लेख उन्होंने नहीं किया है। ध्वनिसे ऐसा भाव संभवतः लिखा गया हो।]

नोट—३ 'राजसभा रघुवीर बखाने', यथा—"तब रघुपति सब सखा बुलाये। आइ सबन्हि सादर सिरु नाये॥ परम प्रीति समीप बैठारे। भगत सुखद मृदु बचन उचारे॥ तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुख पर केहि बिधि करउँ बड़ाई॥ तातें मोहि तुम्ह अति प्रिय लागे। मम हित लागि भवन सुख त्यागे॥ अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही॥ सब मम प्रिय नहिं तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना॥ सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दास पर प्रीती॥ उ० १६।" ☞ राजसभामें प्रशंसा करनेका यह भाव है कि जो बात सभाके सामने कही जाती है वह अत्यन्त प्रामाणिक होती है।

टिप्पणी—सुग्रीव और विभीषणके अपराध कहकर अब वानरोंके अपराध कहते हैं। क्योंकि इन्होंने खास रामजीका अपराध किया।

दोहा—प्रभु तरु तर कपि डार पर ते किय आपु समान।
तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील-निधान ॥२६॥ (क)

शब्दार्थ—प्रभु=स्वामी। तरु=वृक्ष, पेड़, दरख्त। तर=तले, नीचे। डार=डाल, शाखा। आपु=अपने। शील—नोट ४ में देखिये।

अर्थ—स्वामी श्रीरामचन्द्रजी तो पेड़के नीचे और बन्दर डाल पर! (अर्थात् कहाँ शाखामृग वानर और कहाँ सदाचारपालक पुरुषोत्तम भगवान आर्य्यकुल-गौरव श्रीरामचन्द्रजी! आकाश-पातालका अन्तर! सो उन विजातीय विषम-योनि पशुतकको अपना लिया) उनको भी अपने समान (सुसभ्य) बना लिया। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीसरीखा शीलनिधान स्वामी कहीं भी नहीं है ॥२६॥

नोट—१ अब रक्षामें विश्वास 'रक्षिष्यतीति विश्वासः'—यह शरणागति दिखाते हैं। (करु०)।

२ (क) "प्रभु तरु तर कपि डार पर" इति। पूर्व जो कह आए कि "रीझत राम जानि जन जी की' और 'रहति न प्रभु चित चूक किये की' उसीके और उदाहरण देते हैं कि देखिये, प्रभु तो वृक्षके नीचे बैठे हैं और वानर उनके सिरपर उसी वृक्षके ऊपर बैठे हैं, उनको इतनी भी तमीज (विवेक) नहीं कि हम ऊँचेपर और फिर स्वामी के सिर पर ही बैठते हैं यह अनुचित है। ऐसे अशिष्ट वानरोंके भी इस अशिष्ट व्यवहार पर प्रभु ने किंचित ध्यान न दिया किन्तु उनके हृदय की 'निकाई' ही पर दृष्टि रक्खी कि ये सब हमारे कार्य में तन-मन से लगे हुए हैं। यथा— "चले सकल बन खोजत सरिता सर गिरि खोह। रामकाज लयलीन मन बिसरा तन कर छोह॥ ४।२३।" इससे जनाया कि श्रीरामकार्य में, श्रीरामसेवामें, श्रीरामप्रेममें मनको लवलीन कर शरीरकी सुध भुला देने से प्रभु प्रसन्न होते हैं। उस समय जो शरीरसे दोष या अपराध हो भी जाय तो प्रभु उसे स्वप्नमें भी नहीं देखते। (ख)-इस दोहेभरमें गोस्वामीजीने यही कहा है कि सेवकका अपराध प्रभु कभी नहीं देखते, केवल उसके हृदयकी प्रीति देखते हैं। प्रथम अपना हाल कहा फिर सुग्रीव और विभीषणजीका। अब वानर-भालु-सेनाका हाल कहते हैं कि उनके भी अशिष्ट व्यवहारको कभी मनमें न लाए, किन्तु उनके हृदयकी 'निकाई' हीपर रीझे हैं।

३—'ते किय आपु समान' इति । उनकोभी अपने समान बना लिया । 'समान' बनाना कई प्रकारसे है— (क) विभीषणजीसे श्रीरामचन्द्रजीने कहा है कि "पिता वचन मैं नगर न आवउँ । आपु सरिस कपि अनुज पठावउँ । लं० १०५ ।" यहाँ वचन और मनसे समान होना जनाया । (ख) उनको अपना रूप भी दिया, यथा—"हनुमदादि सब बानर बीरा । धरे मनोहर मनुज सरीरा । ७।८।२।" (ग) उनकी कीर्त्ति भी अपनी कीर्त्तिके सदृश कर दी । यथा—"मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं । संसार-सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं । लं० १०५ ।" (घ) सखा बनाया । यथा—"ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे । भए समर-सागर कहँ बेरे । ७।८ ।" (ङ) वन्दन पाठकजी कहते हैं कि—"भरतजी श्रीरामजीके अंश हैं; इस लिये उनसे अधिक कहनेसे सिद्ध हुआ कि मेरे समान हैं, इसीपर सभाके सब लोग सुखमें मगन हो गये । "सुनि प्रभु बचन मगन सब भये । निमिष-निमिष उपजत सुख नये । ७ । ८ ।"

४—'शीलनिधान' इति ।—ऐसे बन्दरोंको भी कुछ न कहा, इसीसे जान पड़ा कि बड़े ही शीलवान् हैं । हीन, दीन, मलिन, कुत्सित, बीभत्स आदिके भी छिद्रोंको न देख उनका आदर करना 'शील' है । यथा—"हीनैर्दीनैर्मलीनैश्च बीभत्सैः कुत्सितैरपि । महतोऽच्छिद्रसंश्लेषं सौशील्यं विदुरीश्वराः ॥" (भ० गु० द०; वै०) ।

ऊपर कहा है, "रीझत राम जानि जन जी की" यहाँ बन्दरोंके हृदयमें क्या अच्छी बात देखी ? करुणासिन्धुजी लिखते हैं कि वे सब रामकाजमें तत्पर हैं, उन्हें ऊपर-नीचे की सुधि नहीं । "मम हित लागि जनम इन्ह हारे । ७ । ८ ।" यह श्रीमुखवचन है । प्रभुके प्रेममें वे घरभी भूल गये, यथा—'प्रेम मगन नहिं गृह कै ईछा । ६ । ११७ ।', "बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं । ७ ।१६ ।", इत्यादि ।

६—गोस्वामीजीने पहले अपना हाल कहकर उदाहरणमें श्रीसुग्रीव और श्रीविभीषणजीको दिया । दोनोंका मिलान इस प्रकार है—

गोस्वामीजी	सुग्रीव-विभीषणजी
१ "अति बड़ि मोरि, ढिठाई खोरी"	"जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली । फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली ॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी ।"
२ 'सो सुधि राम कीन्हि नहिं सपने'	'सपनेहु सो न राम हिय हेरी ।'
३ 'कहने में नशानी, यथा, 'कहत नसाइ'	इनकी करनी 'नशानी'
४ 'मेरी भक्ति भरतजी इत्यादि के बीच सभामें बखानी (साकेतमें), यथा "सकल सभा लै उठी..."	"ते भरतहिं भेंटत सनमाने राजसभा रघुबीर बखाने ॥"

☞ भक्तोंको इस दोहेमें उपदेश है कि हृदयकी निकाईसे श्रीरामजी रीझते हैं ।

दोहा—राम निकाई रावरी, है सबही को नीक ।
जौं यह साची है सदा, तौ नीको तुलसीक ॥२९॥ (ख)

शब्दार्थ—निकाई = भलाई । रावरी = आपकी । सदा==सदैव, हमेशा ।==आवाज, वाणी,—यह अर्थ फारसी शब्द 'सदा' का है । तुलसीक==तुलसीको ।

अर्थ—हे श्रीरामचन्द्रजी ! आपकी (यह, उपर्युक्त) भलाई सभीको अच्छी है; यदि यह सदा 'सच' है तो मुझ तुलसीदासको भी भली ही होगी ॥ २९ ॥

करुणासिन्धुजी तो तुलसीको भी भलीही होगी । यह 'अचल विश्वास' है । यहाँ तक गोस्वामीजीने परधारणा-संयुक्त षटशरणागति वर्णन की ।

नोट—१ 'निकाई''''नीक'। आपकी भलाई से सबका भला है, यथा—'रावरी भलाई सबही की भली भई। वि० २५२।', "तुलसी राम जो आदरो खोटो खरो खरोइ। दीपक काजर सिर धरो धरो सुधरो धरोइ॥", 'तन विचित्र कायर बचन अहि अहार मन घोर। तुलसी हरि भए पच्छ धर ताते कह सब मोर॥ दोहावली १०६, १०७।' अतएव मेरा भी भला होगा, यथा—"लहै न फूटी कौड़िहू, को चाहै केहि काज। सो तुलसी मँहगो कियो, राम गरीबनिवाज।", "घर घर मांगे टूक पुनि भूपनि पूजे पाय। ते तुलसी तब राम बिनु ते अब राम सहाय" (दोहावली १०८, १०९); "मेरो भलो कियो राम आपनी भलाई। हौं तो साईंदोही पै सेवकहितु साईं।" (विनय ७२)।

पं० राजकुमारजीः—सेवकका अपराध न देखना यह 'निकाई' है, जैसा ऊपरसे दिखाते चले आए हैं। पुनः, यथा "जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥" इसीसे सबको नीक है।

नोट—२ "सबही को नीक" कहकर जनाया कि सुग्रीव, विभीषण और वानरसेना ही मात्रके साथ 'निकाई' बरती हो सो नहीं, सभीके साथ वे अपनी 'निकाई' से भलाई करते आए और करते हैं। उत्तम, मध्यम, नीच, लघु कोई भी क्यों न हो।

दोहा—एहिं बिधि निज गुन दोष कहि सबहि बहुरि सिरु नाइ।
बरनउं रघुबर बिसद जसु सुनि कलिकलुष नसाइ॥२९॥ (ग)

अर्थ—इस तरह अपने गुणदोष कहकर और सबको फिर माथा नवाकर (प्रणाम करके) श्री रघुनाथजी के निर्मल यशको वर्णन करता हूँ—जिसके सुननेसे कलियुगके पाप नाश होते हैं॥ २९॥

नोट—१ (क) एहि बिधि = इस प्रकार, जैसा ऊपर कह आये हैं। (ख) 'निज गुनदोष' इति। अपने गुण-दोष। गुण यह कि मैं श्रीरामचन्द्रजीका सेवक हूँ, मुझे उन्हींकी कृपालुताका बल-भरोसा है, यथा—"होहुँ कहावत सब कहत राम सहत उपहास। साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास।२८।", "मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती", "सठ सेवक की प्रीति रुचि रखिहहिं राम कृपालु।२८।', "राम निकाई रावरी है सबही को नीक। जौं यह साँची है सदा तौ नीको तुलसीक"—यह अनन्य शरणागति, रक्षा का दृढ़ विश्वास ही गुण है, जो आपने कहे हैं। 'निज दोष', यथा—"को जग मंद मलिन मति मोते", "अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी", "राम सुस्वामि कुसेवक मोसो", "तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। धिग धरमध्वज धंधक धोरी।१।१२।' पुनः 'निज गुन दोष', यथा—"है तुलसी के एक गुन अवगुननिधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो, राम रीझिबे जोग॥ दोहावली।८५।' मा० प्र० में 'निज' पद गुन और दोष, दोनोंमें अलग-अलग लगाकर 'निज गुन' का अर्थ यों भी किया है कि 'निज' अर्थात् अपने स्वामी श्रीरामचन्द्रजी के गुण, और 'निज दोष' अर्थात् अपने दोष। ऐसा जान पड़ता है कि यह भाव दोहावलीके ७७ वें दोहे—"निज दूषनु गुन राम के समुझे तुलसीदास। होय भलो कलिकालहू उभय लोक अनयास॥' के आधारपर लिखा गया है। परन्तु दोहावलीहीमें दोहा ९६ है जो यहाँके दोहेसे मिलता है। यथा—"तुलसी राम कृपालु सों कहि सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष॥" दोहा ७७ में उपदेश है कि अपने दोषोंको समझे और श्रीरामजीके गुणोंको समझा करे, अपनेमें कभी गुण न समझे। और दोहा ९६ में उपदेश है कि प्रभुसे जब कहे तब अपने गुण दोष सब कह दे। ☞ इसीपर गोस्वामीजीने विनयमें अपने गुण भी कहे हैं, यथा—"निलजता पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहि छोरि। पद १५८।", "तुलसी जदपि पोच तउ तुम्हरोइ और न काहू केरो। पद १४५।", "सकल अंग पद-बिमुख नाथ मुख नाम की ओट लई है। है तुलसिहि परतीति एक प्रभु मूरति कृपामई है। पद १७०।", "खीझिबे लायक करतब कोटि कटु, रीझिबे लायक तुलसी की निलजई पद। २५२।", "तुलसीदास कासों कहै तुमही सब मेरे प्रभु गुरु मातु पितै हो। पद २७०।" इत्यादि। दोहावलीमें भी कहा है—"है तुलसी के एक गुन अवगुननिधि कहैं लोग" जैसा ऊपर कह आए हैं।

वैजनाथजीने 'गुणदोष' के ये अर्थ कहे हैं—(१) दोषरूपी गुण। (२) शरणागतिरूपी गुण और सब दोष। (३) शरणागति करके अपने दोष ठीक-ठीक कहनेसे स्वामी प्रसन्न होकर गुण मान लेते हैं, दोष भी प्रभुकी कृपासे गुण हो जाते हैं, अतः 'गुणदोष' कहा।

नोट—२ अपने गुण दोष क्यों कहे? इस प्रकरणमें एक चौपाईका सम्बन्ध दूसरीसे ऊपर कहते आये हैं। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि "निज गुण श्रीरामजीके रीझने योग्य हैं, इसलिये गुण कहे। दोष कहने-का कारण दोहावलीके दोहा ९६ में है, यथा—'तुलसी राम कृपालु सों कहि सुनाव गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष ॥'" विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि कोई-कोई शङ्का कर बैठते हैं कि "गोस्वामीजीने अपने ही मुँहसे अपने गुणका कथन क्यों किया?" और फिर उसका समाधान यों करते हैं कि इन्होंने लोगोंकी कथनप्रणालीके अनुसार ऐसा कहा है। लोग प्रायः प्रत्येक वस्तुके बारेमें प्रश्न करते समय उसके गुण-दोष पूछते हैं। क्योंकि गुण-दोष प्रायः सभीमें पाये जाते हैं। जैसा कह आये हैं कि "जड़ चेतन गुन दोष मय बिस्व कीन्ह करतार" आदि। इसके सिवा तुलसीदासजीने भी अपनी कविताके बारेमें यों कहा है कि "भनित मोरि सब गुन रहित बिस्व बिदित गुन एक" आदि। और वह गुण यह है कि "एहि महँ रघुपति नाम उदारा"। बस, इन्हीं आधारों-से कविजी अपनेको श्रीरामचन्द्रजीका सेवक समझ इस बातपर विश्वासकर लिखते हैं कि "राम निकाईं····"। भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजीने मुझे अपना लिया है; नहीं तो मैं इस ग्रन्थके लिखनेमें सामर्थ्यवान न हो सकता। यदि वे मेरे चित्तमें ऐसे विचार उत्पन्न कर देते कि मैं रामचरित्रोंको लिख ही नहीं सकता।

पं० रामकुमारजीः—"बहुरि सिर नाइ" इति। फिरसे सबको माथा नवानेका भाव यह है कि 'सबकी वन्दना कर चुके तब नामकी बड़ाई की'; श्रीरामजीको माथा नवाकर रूपकी बड़ाई की। यथा—"करिहउँ नाइ राम पद माथा।" सबको सिर नवाकर लीलाकी बड़ाई की है; यथा—"...बरनउँ रघुबर बिसद जस।" इसी तरह फिर सबको सिर नवाकर आगे धाम की बड़ाई की है, यथा—"पुनि सबही बिनवउँ कर जोरी" १। ४।'

नोट—३"सुनि कलिकलुष नसाइ" इति। रघुवरयश निर्मल है, विशद है, इसलिये उससे कलिकलुषका नाश होता है, यथा—"सोइ स्वच्छता करइ मल हानी" "रघुबंस-भूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं ॥ उ० १३०।" "बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा ॥ १।३५।" इत्यादि।

निज कार्पण्य वा षट्शरणागति तथा श्रीरामगुणवर्णन प्रकरण समाप्त हुआ

—:०:—

जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई ॥ १ ॥
कहिहौं सोइ संवाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुखु मानी ॥ २ ॥

☞किसी-किसी महानुभावका मत है कि श्रीमद्गोस्वामीजी श्रीरामचरितमानसके आचार्योंकी पर-म्परा यहाँसे कहते हैं और बताते हैं कि किस तरह उनको रामचरित प्राप्त हुआ। पर दासकी समझमें इसे पर-म्परा तभी कह सकते जब श्रीशिवजीसे श्रीशिवा (पार्वती) जीने और श्रीपार्वतीजीसे श्रीभुशुण्डिजीने पाया होता। यह भले ही कह सकते हैं कि गोस्वामीजीने श्रीमद्भागवतादि पुराणोंकी कथाकी जो शैली है, जो क्रम व्यासजीका है, उसीका अनुसरण करते हुए यह दिखाया है कि जो कथा हम कहते हैं इसकी उत्पत्ति कहाँसे हुई, इसके वक्ता श्रोता कौन थे और हमको कैसे प्राप्ति हुई। भा० स्कन्ध १ अध्याय ४ में ऋषियोंके ऐसे ही प्रश्न हैं- "कस्मिन् युगे प्रवृत्तेयं स्थाने वा केन हेतुना। ततः सञ्चोदितः कृष्णः (व्यासः) कृतवान् संहितां मुनिः। ३।" अर्थात् यह कथा किस युगमें किस कारणसे किस स्थानपर हुई थी और व्यासजीने किसकी प्रेरणासे इस संहिता को रचा था? विशेष दोहा ३० 'मैं पुनि निज गुर···' में देखिए।

अर्थ—श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिने जो सुहावनी कथा मुनिश्रेष्ठ भरद्वाजजीको सुनाई, वही संवाद मैं बखानकर (विस्तारपूर्वक) कहूँगा। आप सब सज्जन सुख मानकर सुनें। १, २।

टिप्पणी—१ गोस्वामीजीने पहिले चारों संवादोंका बीज बोया है, तब चारों संवाद कहे हैं। पहिले अपने संवादका बीज बोते हैं, यथा—"तेहि बल मैं रघुपति गुन गाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा॥···।१। १३।", "सुनिहहिं सुजन सराहि सुबानी॥ ६।" और, कथा आगे कहते हैं, यथा—"कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई। ३५।" फिर "जागबलिक जो कथा सुहाई। भरद्वाज···।" में भरद्वाजयाज्ञवल्कके संवादका बीज बोया। कथा आगे कहते हैं, यथा—"अब रघुपति-पद-पंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ जुगल मुनिबर्जकर मिलन सुभग संबाद॥४३।" तत्पश्चात्, "कीन्हि प्रश्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी।। ३३। १।" में शिवपार्वती-संवादका बीज है; आगे कथा कहते हैं, यथा—"कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा-संभु-संवाद। १। ४७।" और "सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़॥ १। १२०।" में भुशुण्डि-गरुड़-संवादका बीज बोया और कथा उत्तरकाण्डमें कही है। यथा—"भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति गुन गाहा। ७। ६४। ६।"

मा० म०—"गोस्वामीजीके कहनेका यह तात्पर्य है कि इस रामचरित-मानसमें चार घाट हैं जो आगे कथन करेंगे। उन चारोंमें दक्षिण घाट कर्मकाण्डमय याज्ञवल्क्यजीका है। अतः ग्रन्थकारका यह अभिप्राय है कि मैं सुलभ दक्षिण घाटसे रामचरितमानसरमें सज्जनोंके सहित प्रवेश करता हूँ। इसकी अगम तरङ्गोंमें विधिपूर्वक क्रीड़ा-विनोद करूँगा। अर्थात् इसमें कोई गोपनीय तत्त्व मैं कथन किये बिना नहीं छोड़ूँगा। जो अनुभवगम्य है, अनिर्वाच्य है, उसे तो सज्जनोंको स्वयम् अनुभव करना होगा। जो कथन किया जा सकता है उसे कहता हूँ। सब सज्जन उसे सुखपूर्वक सुनें।"

नोट—१ याज्ञवल्क्यजी ब्रह्माजीके अवतार हैं। इनकी कथा स्कन्दपुराणके हाटकेश्वरक्षेत्रमाहात्म्यके प्रसंगमें इस प्रकार है—किसी समयकी बात है कि ब्रह्माजी एक यज्ञ कर रहे थे। ब्रह्माजी की पत्नी सावित्रीजीको आनेमें देर हुई और शुभ मुहूर्त जा रहा था। तब इंद्रने एक गोपकन्या (अहीरिन) को लाकर कहा कि इसका पाणिग्रहण कर यज्ञ आरंभ कीजिए। पर ब्राह्मणी न होनेसे उसको ब्रह्माने गौके मुखमें प्रविष्टकर योनिद्वारा निकालकर ब्राह्मणी बना लिया; क्योंकि ब्राह्मण और गौका कुल शास्त्रमें एक माना गया है। फिर विधिवत् उसका पाणिग्रहणकर उन्होंने यज्ञारंभ किया। यही गायत्री हैं। कुछ देरमें सावित्रीजी वहाँ पहुँचीं और ब्रह्माके साथ यज्ञमें दूसरी स्त्रीको बैठे देख उन्होंने ब्रह्माजीको शाप दिया कि तुम मनुष्यलोकमें जन्म लो और कामी हो जाओ। अपना संबंध ब्रह्मा से तोड़कर वह तपस्या करने चली गईं। कालान्तरमें ब्रह्माजीने चारणऋषि के यहाँ जन्म लिया। वहाँ याज्ञवल्क्य नाम हुआ। तरुण होनेपर वे शापवशात् अत्यंत कामी हुए जिससे पिताने उनको निकाल दिया। पागल सरीखा भटकते हुए वे चमत्कारपुरमें शाकल्य ऋषिके यहाँ पहुँचे और वहाँ उन्होंने वेदाध्ययन किया। एक समय आनर्त्तदेशका राजा चातुर्मास्यव्रत करनेको वहाँ प्राप्त हुआ और उसने अपने पूजापाठके लिये शाकल्यको पुरोहित बनाया। शाकल्य नित्य प्रति अपने यहाँका एक विद्यार्थी पूजापाठ करनेको भेज देते थे, जो पूजापाठ करके राजाको आशीर्वाद देकर दक्षिणा लेकर आता था और गुरुको दे देता था। एक बार याज्ञवल्क्यजीकी बारी आई। यह पूजा आदि करके जब मंत्राक्षत लेकर आशीर्वाद देने गए तब वह राजा विषयमें आसक्त था, अतः उसने कहा कि यह लकड़ी जो पास ही पड़ी है इसपर अक्षत डाल दो। याज्ञवल्क्यजी अपमान समझकर क्रोधमें आ आशीर्वादके मंत्राक्षत काष्ठपर छोड़कर चले गए, दक्षिणा भी नहीं ली। मंत्राक्षत पड़ते ही काष्ठमें शाखापल्लव आदि हो आए। यह देख राजाको बहुत पश्चात्ताप हुआ कि यदि यह अक्षत मेरे सिरपर पड़ते तो मैं अजर-अमर हो जाता। राजाने शाकल्यजीको कहला भेजा कि उसी

शिष्य को भेजिए। परन्तु इन्होंने कहा कि उसने हमारा अपमान किया इससे हम न जायँगे। तब शाकल्यने कुछ दिन और विद्यार्थियोंको भेजा। राजा विद्यार्थियोंसे दूसरे काष्ठ पर आशीर्वाद छुड़वा देता। परन्तु किसीके मंत्राक्षतसे काष्ठ हरा भरा न हुआ। यह देख राजाने स्वयं जाकर आग्रह किया कि याज्ञवल्क्यजीको भेजें, परन्तु इन्होंने साफ़ जवाब देदिया। शाकल्यको इसपर क्रोध आगया और उन्होंने कहा कि—"एकमप्यक्षरं यस्तु गुरुः शिष्ये निवेदयेत्। पृथिव्यां नास्ति तद्द्रव्यं यद्दत्वा चानृणी भवेत्। ८५।" अर्थात् गुरु जो शिष्यको एक भी अक्षर देता है पृथ्वीमें कोई ऐसा द्रव्य नहीं है जो शिष्य देकर उससे उऋण हो जाय। उत्तरमें याज्ञवल्क्यजीने कहा—"गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथे वर्तमानस्य परित्यागो विधीयते। ८८।" अर्थात् जो गुरु अभिमानी हो, कार्य अकार्य (क्या करना उचित है, क्या नहीं) को नहीं जानता ऐसे दुराचारीका चाहे वह गुरु ही क्यों न हो परित्याग कर देना चाहिए। तुम हमारे गुरु नहीं, हम तुम्हें छोड़कर चल देते हैं। यह सुनकर शाकल्यने अपनी दी हुई विद्या लौटा देनेको कहा और अभिमंत्रित जल दिया कि इसे पीकर वमन करदो। याज्ञवल्क्यजीने वैसा ही किया। अन्नके साथ वह सब विद्या उगल दी। विद्या निकल जानेसे वे मूढ़बुद्धि हो गए। तब उन्होंने हाटकेश्वरमें जाकर सूर्यकी बारह मूर्त्तियां स्थापित करके सूर्यकी उपासना की। बहुत काल बीतनेपर सूर्यदेव प्रकट होगए और वर माँगनेको कहा। याज्ञवल्क्यजीने प्रार्थना की कि मुझे चारो वेद साङ्गोपाङ्ग पढ़ा दीजिए। सूर्यने कृपा करके उन्हें मंत्र बतलाया जिससे वे सूक्ष्म रूप धारण कर सकें और कहा कि तुम सूक्ष्म शरीरसे हमारे रथके घोड़ेके कानमें बैठ जाओ, हमारी कृपासे तुम्हें ताप न लगेगी। मैं वेद पढ़ाऊँगा, तुम बैठे सुनना। इस तरह चारो वेद साङ्गोपाङ्ग पढ़कर सूर्यदेवसे आज्ञा लेकर वे शाकल्यके पास आए और कहा कि हमने आपको दक्षिणा नहीं दी थी, जो मांगिये वह हम दें। उन्होंने सूर्यसे पढ़ी हुई विद्या माँगी। याज्ञवल्क्यजीने वह विद्या उनको दे दी। (नागरखंड अ० २७८)। इनकी दो स्त्रियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। कात्यायनी के पुत्र कात्यायन हुए। (अ० १३०)। लगभग यही कथा अ० १२९ व १३० में भी है। विशेष दोहा ४५ (४) व (८) में देखिए।

सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि—(१) छान्दोग्य उपनिषद्में इनकी बड़ी महिमा लिखी है। इन्होंने जनकमहाराजकी सभामें छः मासतक शास्त्रार्थ किया है। ये धर्मशास्त्रादिके प्रधान विद्वान् हैं। भगवान्के ध्यान में समाधि लगानेमें अद्वितीय योगी हैं, इसीलिये इन्हें 'योगि याज्ञवल्क्य' कहते हैं। भगवद्भक्तोंमें प्रधान होनेसे पहले याज्ञवल्क्यका नाम लिया। प्रयागमें ऋषिसभाके बीच प्रथम रामचरित्रके लिये भरद्वाजहीने प्रश्न किया, इसलिये प्रधान श्रोता भरद्वाजका प्रथम नामोच्चारण किया। (२) 'सुख मानी' इति। सुख माननेका भाव यह है कि वह कथा संस्कृतके गद्यपद्यमें होनेसे दुःखसाध्य थी और मेरी रचना तो देशभाषामें होनेसे सबको अनायास सुखसे समझमें आवेगी।

सूर्यप्रसाद मिश्र—भरद्वाजजीको मुनिवर कहनेका आशय यह है कि इन्होंने रामकथा सुनी, इसीसे मुनिवर हुए।

संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥ ३॥
सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम-भगत अधिकारी चीन्हा॥ ४॥
तेहि सन जागबलिक पुनि पावा। तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा॥ ५॥

अर्थ—श्रीशिवजीने यह सुन्दर चरित रचा। फिर कृपा करके श्रीपार्वतीजीको सुनाया॥ ३॥ वही चरित शिवजीने कागभुशुण्डिजीको श्रीरामभक्त और अधिकारी (पात्र) जानकर दिया॥ ४॥ उनसे फिर श्रीयाज्ञवल्क्यजीने पाया और इन्होंने (उसे) भरद्वाजजीसे कह सुनाया॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) "कथाको 'सुहाई' और चरितको 'सुहावा' स्त्रीलिङ्ग पुँल्लिङ्गभेदसे कहा है। कथा और चरित दोनोंका बीज बोते हैं क्योंकि आगे दोनोंका माहात्म्य कहना चाहते हैं। पहिले कथा कही, पीछे चरित कहा। इसी क्रमसे ग्रन्थकी परम्परा कहकर फिर माहात्म्य कहेंगे। यहाँसे दोहेतक परम्परा है।" (ख) "सुहावा अर्थात् औदार्यादि गुणसहित और अनर्थक आदि दोषरहित है।" (वैजनाथजी लिखते हैं कि जैसे शिवजीने लोक सुखके लिये शाबरमंत्र सिद्धरूप बनाये, वैसे ही लोक परलोक दोनों सुखके लिये मानस रचा, यथा—"सुदुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंत काल रघुपति पुर जाहीं ।।७।१५।।" सुखदायक होनेसे सब जगको प्रिय है। अतः 'सुहावा' कहा)।

२—"सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा।''''" इति। बालकाण्डमें तीन ही संवाद हैं; इस लिये तीनका नाम दिया। भुशुण्डि-गरुड़-संवाद उत्तरकाण्डमें है, इस लिये भुशुण्डिजीका गरुड़जीसे कहना यहाँ नहीं लिखा।

नोट—१ शिवजीने पार्वतीजी और कागभुशुण्डिजीको यह रामचरित दिया। पार्वतीजीको 'कृपा करि' देना लिखते हैं और भुशुण्डिजीको 'रामभगत अधिकारी' जानकर देना कहा है। याज्ञवल्क्यजी और भरद्वाजजीको देनेका कारण नहीं लिखते। पं० रामकुमारजी इस भेदका भाव यह लिखते हैं कि "पार्वतीजीके अधिकारी होने में सन्देह था—'स्त्रीशूद्रौ नाधीयाताम्' इति श्रुतिः। पुनः पार्वतीजीका वचन है कि 'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी।। गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं।। अति आरति पूछउँ सुरराया। रघुपतिकथा कहहु करि दाया।। बा० ११०।' इस लिये कृपा करके सुनाना लिखा। "कृपा" पद देकर यह भी जनाया कि ईश्वरके कृपापात्र अधिकारी हैं। "भुशुण्डिजीके अधिकारमें सन्देह था, यथा—'देखु गरुड़ निज हृदय बिचारी। मैं रघुबीर भजन अधिकारी।।', 'सकुनाधम सब भाँति अपावन। उ० १२३।' इसलिये रामभक्त अधिकारी लिखा। रामभक्त को अधिकार है, चाहे जिस योनिमें हो, चाहे जिस जातिका हो, जैसा कहा है कि 'ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्रीरघुराई। ७।१२८।' भरद्वाज याज्ञवल्क्यजी पूर्ण अधिकारी हैं इस लिये उनके अधिकारका हेतु नहीं कहा।

नोट—२ यहाँ गोस्वामीजी लिखते हैं कि 'सो सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा' और उत्तरकाण्डमें भुशुण्डिजी लोमशऋषिसे पाना कहते हैं, यथा—'मेरु सिखर बटछाया मुनि लोमस आसीन।...मुनि मोहि कछुक काल तहँ राखा। रामचरितमानस तब भाषा। उ० ११०, ११३।' यह परस्पर विरोध-सा दीखता है, परन्तु जरा ध्यान देनेसे समझमें आजायगा कि कोई विरोध इन दो चौपाइयों में नहीं है। इस चौपाईका 'दीन्हा' पद गूढ़ता और अभिप्रायसे भरा है। गोस्वामीजीने यह शब्द रखकर अपनी सावधानता दर्शा दी है।

श्रीशिवजीने भुशुण्डिजीको आशीर्वाद दिया था कि—"पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरें। राम-भगति उपजिहि उर तोरें।। उ०। १०९।' जब इनमें रामभक्तिके चिह्न पूरे आ गये, यथा—'राम भगति जल मम मन मीना। किमि बिलगाइ मुनीस प्रबीना।। सो उपदेस कहहु करि दाया। निज नयनन्हि देखउँ रघुराया।।'...'पुनि पुनि सगुन पच्छ मैं रोपा। तब मुनि बोले बचन सकोपा।।'...सठ स्वपच्छ तब हृदय बिसाला। सपदि होहि पच्छी चंडाला।। लीन्ह श्राप मैं सीस चढ़ाई। नहिं कछु भयउँ न दीनता आई।। तुरत भयउँ मैं काग तब पुनि मुनिपद सिरु नाइ। सुमिरि राम रघुबंसमनि हरषित चलेउँ उड़ाइ।। उमा जे रामचरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।।११२।। सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंसबिभूषन।। कृपासिंधु मुनि मति करि भोरी। लीन्ही प्रेम परीच्छा मोरी।।...रिषि मम सहनसीलता देखी। रामचरन बिस्वास बिसेषी।। उ०। ११३।' इस तरह जब पूरी परीक्षा इनकी मिलगयी तब शिवजीने रामचरित-मानस इनको दिया। कोई चीज किसीको देना हो तो उसके दो तरीके हैं—एक तो स्वयं देना, दूसरे किसी और के द्वारा भेजना। जिसके द्वारा चीज दी जाती है वह मुख्य देनेवाला नहीं है। यही रीति यहाँ जानिये। देखिए लोमशजी ने भुशुण्डिजीसे यह कहा भी है कि—'राम-

चरित-सर गुप्त सुहावा । संभु प्रसाद तात मैं पावा ॥ तोहि निज भगत राम कर जानी । ताते मैं सब कहेउँ बखानी ॥ उ० ११३ ।' और यहाँ भी गोस्वामीजीने "राम भगत अधिकारी चीन्हा" लिखा है ।

'दीन्हा' शब्दका प्रयोजन भी स्पष्ट हो गया । सुनाना या कहना इत्यादि पद न दिया । क्योंकि कहना, सुनाना, कहने और सुननेवाले का समीपही होना सूचित करता है । उमाजीको 'सुनावा' और भरद्वाजप्रति 'गावा' लिखा है ।

पं० शिवलालपाठकजी इस शंकाका समाधान इस प्रकार करते हैं—"मुनि लोमश गुरु ते बहुरि, शिव सद्गुरु ढिग जाय । लहे सविधि सह ग्रंथ तब यह मत लखे लखाय ॥ अ० दीपक ४४ ।" श्रीजानकीशरणजी इस दोहेका भाव यह लिखते हैं कि—उत्तरकाण्डमें 'रामचरितमानस तब भाषा' कहा है और यहाँ 'दीन्हा' पद दिया है । इसमें भाव यह है कि लोमशजीने कथामात्र सुनाई और शिवजीने मानस ग्रंथका प्रयोग, मंत्र, यंत्र-विधि सहित दिया । भाव यह कि लोमशजी भुशुण्डीजीके मंत्रदाता गुरु थे और शिवजी सद्गुरु थे । "श्रीराम-तत्त्वादिका उपदेशपूर्वक भक्ति तथा ज्ञानमार्गका बताना सद्गुरुका काम है ।" श्रीकबीरजीने भी कहा है—"गुरु मिले फल एक है, संत मिले फल चारि । सद्गुरु मिले अनेक फल कहे कबीर विचारि ।" बाबा हरिहर-प्रसादजीका मत है कि परंपरा से शिवजीका देना सिद्ध है; अथवा, लोमशजीसे सुननेके पीछे शिवजीसे भी सुना हो ।

नोट—३ कहा जाता है कि यह बात कि शिवजीहीसे भुशुण्डिजी को रामचरितमानस मिला, भुशुण्डि-रामायण (आदिरामायण) से भी सिद्ध होती है । उसमें कहा जाता है कि भुशुण्डिजीने स्वयं यह बात कही है । पुनः देखिये जब श्रीअवधपुरीमें बालक रामललाजीके दर्शनोंकी अभिलाषासे श्रीशिवजी और श्रीभुशुण्डिजी आये तो गुरु-शिष्यरूपसे आये थे, जैसा गीतावलीसे सिद्ध है । यथा—"अवध आज आगमी एक आयउ ।...बूढ़ो बड़ो प्रमानिक ब्राह्मन संकर नाम सुहायो । संग सुसिष्य सुनत कौसल्या भीतर भवन बुलायो ॥" (बा० पद १४) । पुनः, यथा—'कागभुसुंडि संग हम दोऊ । मनुज रूप जानइ नहिं कोउ ॥...१ । १९६ ।' सम्भव है कि पं० शिवलाल पाठकजीने भुशुण्डिरामायणके आधारपर शिवजीका देना लिखा हो, परन्तु गोस्वामीजीने रामचरितमानसमें यह बात कि किस तरहसे दिया उत्तरकाण्डहीमें दर्शाया है ।

☞ हमको यहाँपर इस प्रश्न वा शङ्काके उठानेकी कोई आवश्यकता ही नहीं जान पड़ती कि 'जो क्रम यहाँ गोस्वामीजीने दिया है वह ठीक ऐसाही है या इसमें उलट फेर है ।' क्योंकि यहाँ ग्रन्थकारके लेखका केवल यह तात्पर्य है कि हमको शिवकृतमानस क्योंकर मिला । श्रीपार्वतीजी परम्पराके बाहर हैं क्योंकि श्रीपार्वतीजीसे किसीको पाना नहीं कहा गया । परम्परामें पूर्वापर क्रम जरूरी है । यहाँ केवल इतना दिखाना है कि शिवजीसे भुशुण्डिजीने पाया, उनसे श्रीयाज्ञवल्क्यजीने और याज्ञवल्क्यजीसे श्रीभरद्वाजजीने पाया, हमको अपने गुरुदेवजीसे मिला । अन्यत्र इस प्रश्नपर विचार किया गया है, परन्तु लोगोंने यहाँ यह शंका की है अतः उसपर कुछ लिखा जाता है ।

पं० शिवलाल पाठकके मतानुसार "शिवजीने कागभुशुण्डिजीको दिया, फिर कागभुशुण्डिजी से स्वयं सुनकर तब पार्वतीजीको सुनाया । इस बातके प्रमाणमें वे यह कहते हैं कि कथा कहनेमें शिवजीने बारम्बार कागभुशुण्डिजीको साक्षी दिया है और भुशुण्डिजीने शिवजीको साक्षी नहीं दिया । इसी तरह याज्ञवल्क्यजीने शिवजीसे पाया, अतएव इन्होंने शिवजी और भुशुण्डिजी दोनोंको साक्षी दिया है । यथा—"शंकर साखी देत हैं काक काक ना शंभु । लहे यागवलि शंभु ते साखी दे हैं कंभु ॥" इसका निष्कर्ष यह है कि यदि याज्ञवल्क्यजी भुशुण्डिजीसे पाते तो केवल उन्हींकी साक्षी देते, शिवपार्वतीसंवादकी न देते । मुं० रोशनलालजीने भी

याज्ञवल्क्यजीका श्रीशिवजीसे पाना लिखा है।—प्रायः अन्य सभी प्रसिद्ध टीकाकारोंका मत यह नहीं है, "तेहि" शब्द शिवजीके लिये नहीं है किन्तु कागभुशुण्डिजीके लिये है।

ते श्रोता बकता समसीला। सँवँदरसी* जानहिं हरिलीला॥ ६॥
जानहिं तीनि काल निज ग्याना। करतलगत आमलक समाना॥ ७॥

शब्दार्थ—श्रोता=सुननेवाले। बकता=वक्ता, कथा कहनेवाले। सँवँदरसी=सर्वदर्शी=सर्वज्ञ। आमलक=आँवलाके। दर्पण के। समशीला=समशील तुल्यस्वभाव। गत=प्राप्त=रक्खा हुआ।

अर्थ—ये कहने-सुननेवाले एक-से शीलवान् हैं, सर्वज्ञ हैं और हरिलीलाको जानते हैं॥६॥ अपने ज्ञान से तीनों कालों (भूत, भविष्य, वर्त्तमान) का हाल हथेलीमें प्राप्त आमलक के समान जानते हैं॥७॥

नोट—१ (क) 'सँवँदरसी' अर्थात् सर्वज्ञ हैं, इसीसे हरिलीला जानते हैं। सन्त श्रीगुरुसहायलाल 'सँवँदरसी' का भाव यह लिखते हैं कि जो लीला केवल अनुभवात्मक है उसको भी जानते हैं। (ख) 'जानहिं तीनि काल' अर्थात् त्रिकालज्ञ हैं, इसलिये उनको कथामें सन्देह नहीं होता। आगे कहते हैं कि श्रोता-वक्ता ज्ञाननिधि होने चाहिए। इनको त्रिकालज्ञ कहकर इनका 'ज्ञान-निधि' होना सूचित किया। (ग) सुधाकर द्विवेदीजी कहते हैं कि परम्परासे यह कथा रामभक्तोंके द्वारसे याज्ञवल्क्य और भरद्वाजको प्राप्त हुई, इसलिये बराबर निर्मल जनोंके बीचमें रहनेसे इस कथामें अशुद्ध वस्तुकी एक बूँद भी न पड़ी। कदाचित् याज्ञवल्क्य और भरद्वाजके बीचमें कुछ कलङ्क होनेसे (क्योंकि याज्ञवल्क्यने अपने गुरुसे द्रोह किया था और भरद्वाज दो पुरुषोंके वीर्यसे उत्पन्न हुए हैं) यह कथा कलुषित हो गई हो, इसपर कहते हैं कि वे वक्ता और श्रोता समशील इत्यादि हैं, इन कारणोंसे वे निःकलङ्क हो गये हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'ग्रन्थकारने वक्ताश्रोता दोनोंको समशील कहा ही नहीं बल्कि अपने अक्षरोंसे भी उनकी समशीलता दिखा दी है। इस तरहसे कि पहिले तीन चौपाइयोंमें वक्ताओंके नाम प्रथम देकर तब श्रोताओंके नाम दिये हैं, यथा—'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥', 'सोइ सिव कागभुसुंडिहि०', 'तेहि सन जागबलिक०', 'तिन्ह पुनि भरद्वाज प्रति गावा।' और तत्पश्चात् दूसरी बार 'श्रोता' पद पहिले दिया और 'वक्ता' पीछे। यथा 'ते श्रोता बकता सम०।' इस तरह दोनोंको बराबर जनाया। ['समशील' अर्थात् एकसे एक शीलवान्। वा, श्रोता श्रवणमें परस्पर तत्पर, वक्ता परस्पर कथनमें कुशल। अथवा, जैसे शंकरजी ज्ञानी, याज्ञवल्क्यजी भगवत्संबंधी कर्मकांडी और भुशुण्डीजी उपासनाकांडवाले वक्ताओंमें शिरोमणि, वैसेही पार्वतीजी ज्ञानी, भरद्वाजजी कर्मकांडी और गरुड़जी उपासक श्रोताओंमें शिरोमणि। (मा० मा०)] (ख) निज ग्याना' अर्थात् किसीके अवलम्बसे नहीं जानते अपने ज्ञानसे जानते हैं।

नोट—२ (क) 'आमलक समाना' अर्थात् जैसे आमला हाथकी हथेलीपर रखनेसे वह पूर्ण रीति से रेशा-रेशा दिखलायी देता है, इसी प्रकार तीनों काल उनके नेत्रके सम्मुख हैं, सब हाल इनको प्रत्यक्ष सा देख पड़ता है। तीनों कालके पदार्थोंके सब अवयव देख पड़ते हैं। (ख) रा० प्र० में आमलकका अर्थ 'जल' भी किया है और यह भाव दिया है कि जैसे जल हाथमें प्राप्त हो तो उसका ज्ञान निरावरण होता है वैसे ही इनको तीनों कालोंका ज्ञान है। अथवा, जैसे हथेलीपर स्वच्छ जल रखनेसे साफ-साफ हथेलीकी रेखाएँ कुछ मोटी-मोटी ऊपरसे झलकती हैं, उसी प्रकार उनको त्रिकालके पदार्थ साफ-साफ दीखते हैं। यहाँ वे 'आमलक=

* 'समदरसी' इसका पाठान्तर है जो प्राचीन पुस्तकोंमें भी मिलता है। आधुनिक प्रतियोंमें कहीं-कहीं 'समदरसी' पाठ मिलता है। १७०४ में भी 'समदरसी' है। (शं० चौ०)। परन्तु रा० प्र० में 'सबदरसी' ही है।

'स्वच्छ जल-सरीखा' ऐसा अर्थ करते हैं। (ग) मानसतत्वविवरणमें 'आमलक' का अर्थ 'दर्पण' भी दिया है और प्रमाणमें शेषदत्तजीकी व्याख्या जो 'करामलकवद्विश्वं भूतं भव्यं भविष्यवत्।' श्रीमद्भागवत वाक्यपर है, देते हैं।

☞ आमलकका अर्थ 'आँवला' लेनेपर 'तीन काल' उपमेय और 'करतलगत आमलक' उपमान है। 'जानना' निरावरण देख पड़ना है। तथा 'निज ज्ञान' अपने 'नेत्र' हैं। और, उसका अर्थ 'दर्पण' लेनेपर 'तीन काल' उपमेयका उपमान 'मुख' होगा और 'निज ज्ञान' का उपमान 'करतलगत आमलक' होगा। इसका भावार्थ यों होगा कि—वे तीनों कालोंकी बातें अपने ज्ञानसे इस प्रकार देख लेते हैं जैसे अपने हाथमें लिये हुए दर्पणसे मनुष्य अपना मुख देख लेता है। श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि "शिवादिका ज्ञान दर्पण है और श्रीरघुनन्दन-जानकीजीका यश मुखवत है। जैसे दर्पण हाथमें लेनेसे अपना मुख यथार्थ मालूम होता है, ऐसेही जब ये ज्ञानानंदमें स्थित होते हैं तब परमानंदसंयुक्त श्रीजानकी-रघुबरका यश विधानपूर्वक जिह्वाग्रपर आजाता है।"—इस तरह आपके मतानुसार 'श्रीरघुवर-जानकी यश' अपना मुख है (और अर्धालीमें 'तीन काल' का जानना लिखा है)। आप लिखते हैं कि "निज-ज्ञानके विषय जो श्रीरघुनन्दनजानकी रहस्य कर आए हैं और कर रहे हैं तथा करेंगे, उसको अच्छी प्रकार जानते हैं।"

☞ श्रीमद्भागवत स्कंध २ अ० ५ में भी यह प्रयोग आया है। नारदजी ब्रह्माजीसे कहते हैं—"सर्वं ह्येतद्भवान्वेद भूतभव्यभवत्प्रभुः। करामलकवद्विश्वं विज्ञानावसितं तव ॥३॥" अर्थात् आप यह सब जानते हैं, क्योंकि भूत, भविष्यत्, वर्तमान सबके स्वामी होनेसे यह संपूर्ण विश्व हाथपर रक्खे हुए आँवलेके समान आपके ज्ञानका विषय है।—यही भाव यहाँ इस अर्धालीका है।

टिप्पणी—२ यहाँ 'करतलगत आमलक समाना।' कहा और अयोध्याकाण्डमें कहा है कि 'जिन्हहिं बिस्व कर बदर समाना। २।१८२' त्रिकालका जानना पथ्य है और 'आमला' भी पथ्य है, यथा—"धात्री फलं सदा पथ्यं कुपथ्यं बदरीफलम्।" इस लिये पथ्य फलकी उपमा दी। 'बेर' कुपथ्य है और संसार भी कुपथ्य है; इससे वहाँ विश्वको बेरकी उपमा दी। विशेष अ० १८२ (१) में देखिए।

औरौ जे हरि-भगत सुजाना। कहहिं सुनहिं समुझहिं बिधि नाना॥ ८॥

अर्थ—और भी जो सुजान हरिभक्त हैं वे अनेक प्रकारसे कहते, सुनते, समझते हैं॥ ८॥

नोट—१ 'औरौ' पद देकर सूचित किया कि भरद्वाजजीसे और मुनियोंने प्रयागराज में सुना क्योंकि वहाँ तो हरसाल (प्रतिवर्ष) मुनियोंका समाज उनके आश्रमपर होता ही था। इनसे फिर औरोंने सुना और उनसे दूसरोंने।

टिप्पणी—१ (क) 'उत्तम कोटिके वक्ताओं-श्रोताओंके नाम कहकर अब मध्यम कोटिके कहते हैं। क्योंकि ये नाना विधिसे सब शङ्कायें समझते हैं तब समझ पड़ती हैं। इससे ग्रन्थकी गम्भीरता दिखायी कि यह ईश्वरका बनाया हुआ है, अत्यन्त गम्भीर है।' (ख) 'यहाँ तक श्रोता-वक्ताकी समशीलता कही, आगे अपने गुरुसे अपनेको न्यून कहते हैं, क्योंकि गुरुसे न्यून होना उचित है।' (ग)—'कहहिं०' इति। अर्थात श्रोतासे कहते, वक्तासे सुनते हैं, और श्रोता-वक्ताके अभाव में समझते हैं, यथा—'हरि अनंत हरि कथा अनंता'।

नोट—१ 'कहहिं' इति। कथन अर्थात् व्याख्या छः प्रकारसे की जाती है। यथा—"पदच्छेदःपदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना। आक्षेपश्च समाधानं षड्धा व्याख्यानमुच्यते ॥" अर्थात् पदच्छेद (वाक्य के पदों को अलग-अलग करना), शब्दार्थ, विग्रह (समासार्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः। अर्थात् समासयुक्त पदों का बोधक वाक्य), अन्वय, आक्षेप (जो शंकाएँ उस विषयपर किसीने की हों, अथवा जो शंकाएँ हो सकती हैं उनका उल्लेख) और समाधान।—व्याख्याके ये छः भेद हैं। "कहहिं" शब्दसे इस प्रकार व्याख्या करना जनाया।

२—"सुनहिं समुझहिं विधि नाना" इति। कथा कही सुनी जाती है और अर्थ एवं भाव समझा जाता है। कहना सुनना तो 'नाना विधि' से होता ही है, पर "समुझहिं विधि नाना" का क्या भाव है? उत्तर—अर्थ का समझना भी आठ प्रकार से होता है। यथा—"ध्वनि शब्दाक्षर व्यङ्ग्य भावावर्त्त पदोक्तिभिः। अर्थां वैयासकि प्रोक्ता श्रोत्यास्तेतु मनीषिभिः।" इति भागवते पंचाध्यायी सरसीनाम्निटीकायाम्। अर्थात् ध्वनि, शब्दों (की योजना), अक्षरोंकी योजना, व्यंग्य, भाव, आवर्त्त, पद और उक्ति—इन आठ भेदोंसे कथाका रहस्य बुद्धिमानों को समझना चाहिये। ऐसा व्यासपुत्र श्रीशुकदेवजीने कहा है। आठोंकी व्याख्या इस प्रकार है—"वक्ता स्वार्थं समुद्दीश्य यत्र तद्गुणरूपकम्। स्वच्छमुरसिच्यमानं च ध्वन्यर्थः स उदाहृतः। १। रूढयर्थं संपरित्यज्य धातु प्रत्ययोर्बलात्। युज्यते स्वप्रकरणे शब्दार्थः स उदाहृतः। २। प्रसिद्धार्थं परित्यज्य स्वार्थे व्युत्पत्तियोजना। पर भेदो न यत्रस्यादक्षरार्थः स उच्यते। ३। शब्दरूप पदार्थेभ्यो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्। विरुद्धः स्यात्प्रकरणे व्यंग्यार्थः सनिगद्यते। ४। बह्वर्थेनापि संपूर्णं वर्णितं स्वादसंयुतम्। तद्योजनं भवेद्येन भावार्थः प्रोच्यते बुधैः।५। धात्वक्षरनियोगेन स्वार्थो यत्र न लभ्यते। तत्पर्यायेण संसिद्धेदावर्त्तार्थः सगद्यते। ६। पदैकेन समादिष्टः कोश-धात्वर्थयोर्बलात्। पदभेदो भवेद्यत्र पदार्थः सोऽभिधीयते। ७। विरुद्धं यत्प्रकरणादुक्तिभेदेन योजनम्। वाक्यार्थ-पदपर्याय उक्तिः सा कथिता बुधैः। ८।" अर्थात् प्राकरणिक भावको उद्देश्य करके तदनुकूल जो सुन्दर रहस्यमें अर्थ कहा जाता है वह 'ध्वनि' है। १। रूढ्यर्थको छोड़कर धातु और प्रत्ययके बलसे प्रकरणके अनुकूल जो अर्थ किया जाय उसे 'शब्दार्थ' कहते हैं। २। प्रसिद्ध अर्थको छोड़कर स्वार्थमें व्युत्पत्तिकी योजना जिसमें हो, पर साथही प्रसिद्ध अर्थका भेदभी न हो उसे 'अक्षरार्थ' कहते हैं। ३। जहाँ शब्दरूप और पदार्थोंसे भिन्न अर्थ न हो, पर प्रकरणके विरुद्ध हो वहाँ 'व्यंग्य' होता है। ४। बहुतसे अर्थोंको लेकर संपूर्ण वर्णित पदार्थको जिसके द्वारा स्वाद युक्त बनाया जाय उसे 'भावार्थ' कहते हैं। ५। धातुके अक्षरोंके बलसे जहाँ स्वार्थ न सिद्ध होनेपर उसके पर्याय से उस अर्थको सिद्ध किया जाय उसे 'आवर्त्तार्थ' कहते हैं। ६। एक पदसे कहा हुआ पदार्थ कोश और धातुके बलसे जहाँपर दो पद होने लगे वहाँ 'पदार्थ' कहेंगे। ७। प्रकरण के जो विरुद्ध हो, पर जिसे शब्दके भेद से संगत किया जाय उसे वाक्यार्थ, पदपर्याय वा उक्ति कहते हैं। ये ही आठ भेद हैं।

दोहा—मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो सूकर-खेत।
समुझी नहिं तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत ॥३०॥ (क)

शब्दार्थ—सूकर-खेत = वाराहक्षेत्र। यह श्रीअयोध्याजीके पश्चिम बारह कोशपर श्रीसरयूजीके तटपर है। (करु०)। सुधाकर द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'मेरे मतमें यह सूकरक्षेत्र नेपालराज्यमें है जिसे लोग वाराहक्षेत्र कहते हैं।' ☞ यहाँ घाघरा-सरयू-सङ्गम है। यहाँ वाराहक्षेत्रपर पौष महीनेमें कल्पवास किया जाता है। सन्तमत यही है परन्तु कोई-कोई टीकाकार इसे सोरों पर एटा जिलेमें बताते हैं। विशेष नोट २ में देखिए। तसि=जैसी औरोंने समझी कि जिनको ऊपर कह आये हैं।=जैसी ठीक-ठीक कथा है वैसी नहीं समझी-(पाण्डेजी)।

अर्थ—मैंने उस कथाको वाराहक्षेत्रमें अपने गुरुजीसे सुना। उस समय बालपन था। मैं अत्यन्त अचेत (अजान, अज्ञान) था (मुझे कुछ भी ज्ञान न था), इसलिये वैसी समझमें न आई॥ ३०॥

टिप्पणी—(१) उत्तम, मध्यम कहकर अब निकृष्ट कोटिको कहते हैं। क्योंकि वे लोग सुजान थे उन्हें समझ पड़ी, मुझे नहीं समझ पड़ी, क्योंकि तब मैं अति अचेत' था। 'अति अचेत' अर्थात् अचेत तो अब भी हूँ, कलिमलग्रसित हूँ, विमूढ़ हूँ।' उस समय 'अत्यन्त' अचेत था। (२) 'मैं पुनि' यह बोली है; दोनोंका मिलकर 'मैं' अर्थ है। यथा—'सब चुपचाप चले मग जाहीं।' (अ०) में चुपचापका अर्थ चुप है,—'मैं पुनि पुत्र-

बधू प्रिय पाई', 'मैं पुनि करि प्रमान पितु बानी', 'मैं पुनि गयउँ बंधु संग लागा।' इत्यादि अनेक प्रमाण हैं। (३) अपने गुरुका किसीसे मानस पढ़ना न कहा। क्योंकि गुरु साक्षात् भगवान् हैं। इसीलिये किसीका शिष्य होना न कहा। शिष्यका धर्म है कि अपने गुरुको किसीसे लघु न माने, यथा—'तुम्ह ते अधिक गुरहि जिय जानी। २।१२९।' (४) गुरुका पढ़ना साक्षात् न कहा, आशयसे जना दिया है।

नोट—१ 'मैं पुनि निज गुर सन सुनी' इति। गोस्वामी तुलसीदासजीके गुरु (मन्त्र उपदेष्टा) श्रीस्वामी नरहर्य्यानन्दजी महाराज थे, यह पूर्व लिखा जा चुका है। रामचरितमानस इन्हीं गुरुके द्वारा गोस्वामीजीको प्राप्त हुआ। गुरुको कहाँसे मिला, यह इस ग्रन्थमें महाकविने नहीं स्पष्ट लिखा, बिना इसके जाने इनकी मानस-परम्परा नहीं बतायी जा सकती। (न लिखने का कारण यह जान पड़ता है कि वे गुरुको 'हर' और 'हरि रूप कह चुके हैं। हरिरूप कहकर जनाया कि श्रीराममन्त्र इनसे मिला और हररूप कहकर गुनरूपसे यह कह दिया कि 'हर' रूपसे इन्होंने 'मानस' दिया)—वस्तुतः भगवान् शङ्कर ने ही रामचरितमानस इनको गुरुके द्वारा दिया (जैसे भुशुण्डीजीको लोमशजीद्वारा दिया था।) 'मूल 'गुसाईंचरित' में भी कहा है—"प्रिय सिष्य अनन्तानद हुते। नरहर्य्यानंद सुनाम छते॥···तिन कहँ भव दरसन आपु दिये।····प्रिय मानस रामचरित्र कहे। पठये तहँ जहँ द्विजपुत्र रहे॥ दोहा—लै बालक गवनहु अवध विधिवत मंत्र सुनाय। मम भाषित रघुपति कथा ताहि प्रबोधहु जाय॥"❀

श्रीशङ्करजीकी आज्ञानुसार तुलसीदासजीको गुरु श्रीअवध लाये, वैष्णवपञ्चसंस्कार यहीं इनका हुआ और राममन्त्र मिला। लगभग साढ़े सात वर्षकी अवस्था उस समय थी। १० मास श्रीहनुमान्गढ़ीपर रहकर पाणिनिसूत्र आदि पढ़ा। फिर शूकरक्षेत्रमें, हेमन्त ऋतुमें, सम्भवतः मार्गशीर्ष मासमें गए। तब ८ वर्ष ४ मास की अवस्था थी। शूकरक्षेत्रमें ५ वर्ष रहे, यहीं गोसाईंजीने गुरुजीसे पाणिनिसूत्र अर्थात् अष्टाध्यायीका अध्ययन किया। सुबोध होनेपर रामचरित्रमानस गुरुने इनको सुनाया और बारम्बार सुनाते समझाते रहे। इस प्रकार गोस्वामीजीने गुरुसे जब रामचरित्रमानस सुना तब उनकी अवस्था तेरह-चौदह वर्षसे अधिक न थी, इसीको कविने 'बालपन' 'अति अचेत' (अवस्था) कहा है। यह अपरिपक्व अतः अबोध अवस्था है ही। इस तरह मानसकी गुरुपरम्परा आपकी यह हुई, १ भगवान् शङ्करजी। २ स्वामी श्रीनरहर्य्यानन्दजी। ३ गोसाईंजी। रामचरितमानसके मूल स्रोत भगवान् शंकर ही हैं, इन्हींसे अनेक धाराएँ निकलीं।

२—मानसतत्त्वविवरणकार लिखते हैं कि 'वृहद्रामायणमाहात्म्यमें कहा है कि ममता नाम्नी स्वस्त्रीकी शिक्षा होनेपर गोस्वामीजी श्रीअयोध्याजीमें आकर गुप्तारघाटपर सो रहे। स्वप्नमें देखा कि पिताजी उनसे कहते हैं कि आँख खुलनेपर जिस सन्तका प्रथम दर्शन हो उन्हींसे शिष्य हो जाना। जागनेपर श्रीनरहरिदासजी के दर्शन हुए। प्रार्थना करनेपर उन्होंने उपदेश दिया। तत्पश्चात् नैमिषारण्यके वाराहक्षेत्रको साथ-ही-साथ गये। वहाँ कुछ दिन रहकर रामायण श्रवण किया।

❀ 'मूल गुसाईं चरित' के सम्बन्धमें मतभेद है। उसमें तिथियों की अशुद्धियाँ पाई जाती हैं। इससे कुछ विशेष साहित्यज्ञोंने उसको प्रमाण माननेमें संदेह प्रकट किया है। श्रीरामदास गौड़जीने उसको प्रामाणिक माननेके कारण अपने एक लेखमें (जो कल्याणमें छपा था) कहे हैं। कुछ लोगोंने यह मत प्रकट किया है कि तिथियोंकी अशुद्धियाँ होनेपर भी वह सर्वथा अग्राह्य नहीं है। उसकी प्रतिलिपि जो बाबा रामदासकी लिखी हुई है उसके कागज और मसिसे वह प्राचीन लिखी हुई ही सिद्ध होती है, संतमंडलोंमें उसका मान है। अतः हम उसके उद्धरण भी कहीं-कहीं दे रहे हैं।

नोट—३ गोस्वामीजी द्वारा मानसमें निर्दिष्ट 'सूकरखेत' कौन है जहाँ उन्होंने अपने गुरुदेवसे प्रथम-प्रथम मानसकी कथा सुनी ?

श्रीअयोध्याजीके निकटवर्ती भूभागमें 'सूकरखेत' के नामसे प्रसिद्ध प्राचीन शूकरक्षेत्र गोंडा जिलेमें अयोध्याजीसे लगभग तीस मीलकी दूरीपर उत्तर-पश्चिमकोणपर स्थित है। अवध-तिरहुत रेलवेकी 'कटिहार' से 'लखनऊ' जानेवाली प्रधान लाइनपर कर्नैलगंज स्टेशनसे यह बारह मील उत्तर पड़ता है। यहाँ प्रतिवर्ष पौषकी पूर्णिमाको बड़ा भारी मेला लगता है और श्रीअयोध्या, काशी, प्रयाग, चित्रकूट, नैमिषारण्य एवं हरिद्वार आदिके साधुओंके अखाड़े भी पौषभर कल्पवास करनेके लिये आते हैं। यह क्षेत्र पसका-राज्यके अंतर्गत है। मेला पसकासे एक फरलाँगकी दूरीपर लगता है। यहाँ एक मंदिर बाराह भगवान्का और बाराही देवीका भी है। घाघराके बहावकी दिशा निरंतर बदलती रहने तथा प्रतिवर्ष बाढ़के प्रकोपके कारण प्राचीन मूर्ति और मंदिर प्रायः लुप्त हो चुके थे। सौ वर्षसे अधिक हुआ कि राजा नैपालसिंहजीने नये मंदिरकी स्थापना की। देवीभागवतमें भी बाराह भगवान् और बाराहीदेवीका उल्लेख आया है। यथा—"वाराहे चैव वाराही सर्वैं सर्वाश्रया सती।······।२५।···पूर्व रूपं वराहं च दधार स च लीलया। पूजां चकार तां देवीं ध्यात्वा च धरणीं सतीम्॥ ३३।" (स्कंध ९, अ० ९)। सूकरखेतमें दोनोंकी मूर्तियाँ स्थापित हैं। वाराहीदेवी या उत्तरी भवानीका मंदिर पसकाके उत्तर-पूर्व-दिशामें स्थित है।

गोस्वामीजीका संबंध इसी शूकरक्षेत्रसे था, इसका एक प्रमाण यह भी मिलता है कि शूकरक्षेत्रके मंदिरसे मिली हुई एक बहुत प्राचीन कुटी है जो अपने आसपासकी भूमिसे बीस फुटकी ऊँचाई पर स्थित है। कुटीके द्वारपर बरगदका एक विसाल वृक्ष है और पीछे एक उतनाही पुराना पीपलका। ये दोनों बाबा नरहरिदास (नरहर्यानंद) के लगाए कहे जाते हैं और यह कुटी भी उन्हींकी है, यह वहांके वर्तमान अधिकारी बाबा रामअवधदासने बताया और संतसमाजमें भी यही ख्याति है।

बाबा रामअवधदास नरहरिदासजीकी शिष्यपरंपराकी दसवीं पीढ़ीमें हैं। इनका कथन है कि इस गद्दीके संस्थापक श्रीनरहरिदासजीकी साधुतापर मुग्ध होकर उनके समकालीन पसकाके राजा धौकलसिंहने कुछ वृत्ति दी थी जो अबतक वैसीही उनकी शिष्यपरम्पराके अधिकारमें चली आती है। मेरे विचारमें तो गोस्वामीजीके गुरुदेवकी स्मृति भी अबतक उसी भूमि (वृत्ति) के कारण सुरक्षित रह सकी है, नहीं तो दो एक पीढ़ियोंके बाद ही उसका भी चिह्न मिट जाता। उस भूमिपर आज भी लगान नहीं लिया जाता। पसकाराज्यके पदाधिकारी उपर्युक्त कथनकी पुष्टि करते हैं। वृत्तिदाता तथा भोक्ता दोनोंकी परंपरा अबतक अविच्छिन्न रूपसे चली आती है।

गोस्वामीजीके पसका वा सूकरखेत आनेकी बात इस प्रकार भी सिद्ध होती है कि बाबा वेणीमाधवदास, जो 'गोसाईं-चरित' के परंपरासे प्रसिद्ध रचयिता हैं, पसकाके ही निवासी थे। 'शिवसिंह सरोज' तथा यू० पी० डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, गोंडा डिस्ट्रिक्ट, दोनों इसकी पुष्टि करते हैं। 'सेंगर' ने स्वयं गोसाईं-चरित देखा था तभी तो वे लिखते हैं कि "इनके (तुलसीके) जीवन चरित्रकी पुस्तक श्रीवेणीमाधवदास कवि पसका-ग्रामवासीने, जो इनके साथ रहे, बहुत विस्तार पूर्वक लिखा है। उसके देखनेसे इन महाराजके सब चरित्र प्रकट होते हैं। इस पुस्तकमें की ऐसी विस्तृत कथाको हम कहाँ तक वर्णन करें ?" तुलसी या उनके परिचित किसी अन्य महानुभावके जीवनसे सम्बद्ध आजतक किसी अन्य पसका गाँवका उल्लेख साहित्यके इतिहासोंमें नहीं मिलता। डिस्ट्रिक्ट गजेटियर लिखता है—

"One or two Gonda worthies have attained some measure of literary fame,

Beni Madho Das of Paska was a disciple and Companion of Tulsi Das whose life he wrote in the form of Poem entitled "The Goswami-Charita."

(Vol. XILV) District Gazetteer of Gonda
By W. C. Benett

उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ 'शिवसिंह सरोज' और 'डिस्ट्रिक्ट गजेटियर उन्नीसवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें उस समय लिखे गये थे जब 'सूकरखेत' की स्थिति एक प्रकारसे सर्वमान्य होकर वर्तमान वर्गोंके दुराग्रहसे एक समस्या नहीं बना दी गई थी और न उनके लेखकों विद्वानोंपर, जिनमें एक अँग्रेज महाशय भी थे, किसी प्रकारका साम्प्रदायिक अथवा वैयक्तिक स्वार्थोंका दोष ही लगाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त मानसकी भाषा ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि अवश्य ही तुलसीने अयोध्याके निकटमें अपने प्रारंभिक जीवनका अधिकांश भाग व्यतीत किया था, क्योंकि किसी स्थानकी भाषा उसी अवस्थामें पूर्णरूपेण ग्रहण की जा सकती है।

गोंडा ज़िलेका शूकरक्षेत्र आज भी 'सूकरखेत' के नामसे ही, जिस रूपमें उसका उल्लेख रामचरितमानसमें हुआ है, प्रसिद्ध है।—यह बात बड़े मार्केकी है। 'सोरों' शूकरका अपभ्रंश हो सकता है, और वाराहावतारका किसी कल्पमें स्थान भी, किन्तु उसे तुलसीका 'सूकरखेत' कहना एक बहुत बड़ी साहित्यिक तथा ऐतिहासिक भूल है।

यह भी बता देना आवश्यक है कि उकारकी मात्राका प्रयोग आज भी पसकाके रहनेवाले बोलनेमें बहुत करते हैं जैसा कि मानसमें भी है जैसे कि रामु, भरतु, इत्यादि।

सूकरखेतको वराहावतारका स्थान सिद्ध करने वाले मुख्य प्रमाणोंमें 'शूकरक्षेत्र' नामके अतिरिक्त 'पसका' तथा 'घाघरा' नदीके नाम विशेष सहायक हैं। पसका=पशुका=वह स्थान जहाँ पशु रहते हैं=वह स्थान जहाँ भगवान्‌ने पशुरूप धारण किया था=शूकरक्षेत्र। अथवा, पसका=पशुकः=पशु एव इति (पशुप्रधान स्थान)= कुत्सितः पशुः (कुत्सित पशु अर्थात् शूकर)। अथवा, भगवान् जब अधिक समयतक रसातल से न लौटे तब अनिष्टकी शंकासे ऋषियोंने यहां उपवास किया था जिससे इस स्थानका नाम 'उपवासकाः' पड़ा जो धीरे-धीरे पवासका, पासका, पसका हो गया। घाघरा 'घुरघुर' शब्दका अपभ्रंश माना जाता है। क्रोधावेशमें हिरण्याक्षके वधके समय वाराहभगवान् बड़े ऊँचे स्वर से 'घुरघुर' शब्द करते हुये निकले थे, इससे नदीका नाम घाघरा पड़ा। (श्रीभगवती प्रसाद सिंहजी)

नोट—४ श्रीनंगेपरमहंसजीका मत है कि—"ग्रंथकार अपनेको बालपनकी तरह अचेत सूचित करते हैं, किन्तु अपने बालपन नहीं थे। क्योंकि बालपन तो अति अचेत अवस्था है। उस अवस्था में कोई रामचरितकी कथा क्या सुनेगा?......अतः गोस्वामीजीको गुरुसे कथा श्रवण करते समय बालक अवस्था का अर्थ करना असंगत है।"—(गोस्वामीजी संस्कारी पुरुष थे। वाल्मीकिजीके अवतार तो सभी मानते हैं—उनके समय से ही। संस्कारी बालकोंके अनेक उदाहरण अब भी मिलते हैं।)

वे उत्तरार्धका अर्थ यह करते हैं—"जसि बालपन अति अचेत है तस मैं अचेत रहेउँ।" वे लिखते हैं कि "बिना 'जस' शब्दको लिये 'तस' शब्दका अर्थ हो ही नहीं सकता।......ग्रंथकारकी अवस्था समझने की थी पर अचेत होनेके कारण नहीं समझे। एक तो रामकी कथा गूढ़, दूसरे मैं जीव जड़, तीसरे कलिमलग्रसित। अतः नहीं समझ सका। और बालपन तो समझनेकी अवस्था ही नहीं है। उसमें जीव की जड़ता, कथाकी गूढ़ता, कलिका ग्रसना, कहनेका क्या प्रयोजन है?"

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी कहते हैं कि—'ज्ञानमें तुलसीदासजी बालक थे। अर्थात् उस समय विशेष हरि-

चरित्रका ज्ञान न था। थोड़े ही दिनोंमें साधु हुए थे। इसीलिये वे आगे लिखते हैं कि मेरा जीव जड़ कलिके मलसे ग्रसा हुआ उस गूढ़ रामकथाको कैसे समझे। पूर्व नोट २ भी देखिए।

दोहा—श्रोता बकता ज्ञान-निधि, कथा राम कै * गूढ़।
किमि समुझौं † मैं जीव जड़, कलिमल-ग्रसित बिमूढ़ ॥३०॥ [ख]

अर्थ—श्रीरामजीकी कथा गूढ़ है। इसके श्रोता-वक्ता दोनों ज्ञाननिधि होने चाहिये। मैं जड़, कलिमलसे ग्रसा हुआ और अत्यन्त मूर्ख जीव कैसे समझ सकता ?॥ ३०॥

नोट—१ (क) "श्रोता बकता ज्ञाननिधि···" का एक अर्थ ऊपर दिया गया। मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि—"यद्यपि श्रोता-वक्ता दोनों ज्ञाननिधि हों तो भी कथा गूढ़ है।" तात्पर्य यह कि ज्ञाननिधि वक्ता-श्रोता होने पर भी कथाका समझना कठिन है और मैं तो 'जीव जड़···' हूँ। (ख)-किसी किसीका मत है कि आशय यह है कि "गुरुदेव तो ज्ञाननिधि थे ही और श्रोता भी जो वहाँ थे वे भी ज्ञाननिधि थे, इस कारण वक्ताका भाषण संस्कृतमें ही होता था। वे सब कथामें वर्णित गुप्त रहस्यको खूब समझते थे। मुझे वैसी समझमें नहीं आती थी, जैसी उन्हें।" और 'मूल गुसाईं चरित' के अनुसार शंकरजीकी आज्ञा केवल गोस्वामी जीको यह कथा पढ़ाने-समझानेकी थी और उन्हींको गुरुजीने पढ़ाया-समझाया भी; क्योंकि इन्हींके द्वारा भगवान् शंकरको उसका प्रचार जगत्में कराना अभिप्रेत था। यथा—"मम भाषित रघुपति कथा ताहि प्रबोधहु जाय। ७। जब उघरहिं अंतर दृगनि तब सो कहिहि बनाय।··· पुनि पुनि मुनि ताहि सुनावत भे। अति गूढ़ कथा समुझावत भे।" (ग) "कथा रामकै गूढ़" इति। कथासे तात्पर्य श्रीरामजीके चरित्र, उनके गुणग्राम, उनकी लीला जो उन्होंने की इत्यादि से है न कि केवल काव्यरचना या पदार्थ ही से। किस चरितका क्या अभिप्राय है यह जानना कठिन है। कथाका विषय एवं गुप्त रहस्य जानना कठिन है। गूढ़=कठिन; अभिप्रायगर्भित गम्भीर; जिसका आशय शीघ्र न समझमें आवे; गुप्त। यथा—"उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरि बिमुख न धर्म रति।" (आ० मं० सो०)।

तदपि कही गुर बारहिं बारा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥ १॥
भाषाबद्ध ‡ करबि मैं सोई। मोरे मन प्रबोध जेहि होई॥ २॥

शब्दार्थ—बद्ध-बँधा हुआ, प्रबंध बना हुआ। भाषाबद्ध=साधारण देशभाषामें बना या रचा हुआ। प्रबोध=पूर्ण बोध; सन्तोष।

अर्थ—(यद्यपि मैं बालक था, अति अचेत था, कलिमलग्रसित और विमूढ़ था) तो भी श्रीगुरुदेवजी ने बारंबार कथा कही। तब बुद्धिके अनुकूल कुछ समझमें आई॥ १॥ उसीको मैं भाषा (काव्य) में रचूँगा, जिससे मेरे मनको पूरा बोध होवे॥ २॥

नोट—१ 'तदपि कही' का भाव कि जड़ जानकर भी गुरुजीने मेरा त्याग न किया, मेरे समझनेके लिये बारंबार कहा। इसमें यह अभिप्राय गर्भित है कि यदि गुरु तत्त्ववेत्ता और दयालु हों तो शिष्यको, चाहे कैसा ही वह मूढ़ हो, बारंबार उपदेश देकर बोध करा ही देते हैं। इस तरह अपने गुरुमहाराजको ज्ञाननिधि और परम दयालु सूचित किया। (मा० प०)।

---

* की। † समुझै यह—पाठान्तर किसी-छपी पुस्तकमें है।

‡ बंध—१७२१, १७६२, छ०, को० रा०। बद्ध—१६६१, १७०४। सुधाकर द्विवेदीजी 'बंध' को उत्तम मानते हैं।

२ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ गोस्वामीजीने 'बारहिं बारा' पद देकर यह भी जना दिया कि कितने वार गुरुजीने आपसे कथा कही। बारह-बारह अर्थात् चौबीस बार पढ़ाया। पुनः, इससे यह सूचित किया कि रामकथा एक बार सुनकर न छोड़ देनी चाहिये वरन् बारंबार सुनते रहना चाहिये। वायुपुराणमें लिखा है कि सारे कामोंसे सङ्कोच करके कथा सुननी चाहिये। यथा—'स्नानसन्ध्यादिकर्माणि परित्यज्य हरेः कथाम्। शृणोति भक्तिसम्पन्नः कर्मपाशाद्विमुच्यते ॥ कथानिमित्तं यदि कर्मलोपो स कर्मलोपो न भवेन्मदीयः।' (मानसपत्रिका)

पं० शिवलालपाठकजी "राम भगत अधिकारी चीन्हा" के 'अधिकारी' शब्दका अर्थ यह करते हैं कि "जिसके उरमें पूर्व हीसे भक्तिका वास हो रहा है, तत्पश्चात् जिसने मानसविज्ञ गुरुको पाकर उससे पंचावृत्ति मन लगाकर मानस पढ़ा हो, वह अधिकारी है"। इस प्रमाणसे कुछ लोगोंका मत है कि 'बारहिं बारा' से केवल पाँच बार पढ़ानेका तात्पर्य है।

☞ गोस्वामीजी 'पाँच बार' स्वयं कह सकते थे पर ऐसा न कहकर उन्होंने 'बारहिं बारा' लिखा। इससे निश्चय नहीं कहा जा सकता कि कितने वार कही। मूल गुसाईंचरितमें भी 'पुनि पुनि मुनि ताहि सुनावत भे' कहा है, जिसका अर्थ 'बारंबार' ही है। जब प्रबोध हो गया तब वहाँसे चले। यथा—'येहि भाँति-प्रबोधि मुनीस चले।' अपने-अपने मति-अनुसार जो अर्थ चाहें लोग लगा सकते हैं। हाँ, समयका खयाल अवश्य रहे कि जितनी बारका अर्थ लगाया जाय उतनी आवृत्तियाँ उतने समयमें संभव हों। यह भी प्रश्न यहाँ उठता है कि—क्या यहाँ कोई ग्रन्थ पढ़ानेकी बात है या केवल शंकर द्वारा कही हुई कथा? ग्रन्थ पढ़ने-पढ़ानेमें समय अधिक लगेगा, केवल चरित कहने और समझनेमें समय कम लगेगा। यहाँ ग्रन्थका पढ़ना नहीं है।—यह इस दीनका विचार है, आगे जो संतों मानस-विज्ञोंका विचार हो, वही ठीक है।

श्रीशंकरजी ने 'अधिकारी' का अर्थ ७। १२८ में स्वयं कहा है। यथा—'राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी ॥ गुरपद प्रीति नीतिरत जेई। द्विजसेवक अधिकारी तेई ॥'"

टिप्पणी—१ 'कछु मति अनुसारा' इति। "मति लघु थी इससे कुछ समझ पड़ा, जो मति भारी होती तो बहुत समझ पड़ता। कुछ समझनेमें तो जगत्‌भरका उपकार हुआ, जो बहुत समझ पड़ता तो न जाने क्या होता?"

नोट—३ 'भाषाबद्ध-करबि' से सूचित किया कि आपने गुरुजीसे संस्कृतहीमें पढ़ा-सुना था।

४ चौपाईके उत्तरार्द्धमें भाषामें रचनेका कारण यह बताया कि पूरा बोध हो जावे। श्रीकरुणासिन्धुजी यहाँ शङ्का उठाते हैं कि—"क्या गुरुके कहनेसे आपको बोध न हुआ और स्वयं अपना ग्रन्थ बनानेसे बोध हो जावेगा? ऐसा कहनेसे आपकी आत्मश्लाघा सूचित होती है, अपने यशकी चाह प्रतीत होती है—यह दोष आता है" और फिर इसका समाधान भी करते हैं कि भाषाबद्ध करनेमें यह कोई प्रयोजन नहीं है। आप यह नहीं कहते कि हमने गुरुके कहनेसे नहीं समझा। बल्कि यह कहते हैं कि जो कुछ हम गुरुसे पढ़कर समझे हैं उसीको भाषामें लिखते हैं।

५ भाषा-बद्ध करनेसे अपने जीको सन्तोष हो सकेगा कि—(क) हमने जो गुरुजीसे सुना है वह ठीक-ठीक स्मरण है, भूल तो नहीं गया। यह बात लिखने हीसे ठीक निश्चय होती है। लिखनेसे कोई सन्देह नहीं रह जाता, सब कमी भी पूरी हो जाती है। (ख) आगे भूल जानेका डर न रहेगा। लिखनेसे फिर भ्रम न रहेगा क्योंकि बहुत गूढ़ विषय है—(पं० रा० कु०)। पुनः, (ग) भाव कि साधारण बुद्धिवाले जब इसे पढ़ें, सुनें और समझें तब हमें पूरा बोध हो कि गुरुजीने जो कहा वह हमें फलीभूत हुआ, हमारा कल्याण

हुआ, औरोंका भी कल्याण होगा। इससे हमारे गुरुको परमानन्द होगा। (मा० प्र०)। [नोट—यथार्थ समझना तभी है जब दूसरेको समझा सकें]

टिप्पणी—२ गोस्वामीजीने इस ग्रन्थके लिखनेका कारण आदिमें 'स्वान्तःसुखाय' कहा—(मं० श्लोक० ७), ग्रन्थके अन्तमें 'स्वान्तस्तमःशान्तये' कहा और यहाँ 'मोरे मन प्रबोध जेहि होई' कहा। ये तीनों बातें एक ही हैं। अन्तस् मनका वाचक है। मनको प्रबोध होता है तभी सुख और शान्ति आती है।

जस कछु बुधि बिबेक बल मेरें। तस कहिहौं हियं हरि कें प्रेरें॥ ३॥

अर्थ—जैसा कुछ मुझमें बुद्धि-विवेकका बल है वैसा ही मैं हृदयमें 'हरि' की प्रेरणासे कहूँगा॥ ३॥

पं० रामकुमारजी—यहाँ गोस्वामीजी अपनी दीनता कहते हैं। इनको बुद्धि-विवेकका बड़ा बल (परमेश्वरका दिया हुआ) है। क्योंकि बुद्धि श्रीजानकीजीसे पायी है, यथा—'जनकसुता जगजननि जानकी। ····जासु कृपा निर्मल मति पावउँ। १।१८।८।' पुनः समस्त ब्रह्माण्डके प्रसादसे आपको मति मिली, यथा—'आकर चारि लाख चौरासी।' से 'निज बुधि बल भरोस मोहिं नाहीं। ताते बिनय करउँ सब पाहीं। ।१।८।१-४।' और शम्भु-प्रसादसे सुमति मिली है; यथा—'संभुप्रसाद सुमति हियँ हुलसी। रामचरितमानस कबि तुलसी। १।३६।१।' इसी तरह इनको विवेकका बड़ा बल है। प्रथम गुरुपदरजसेवनसे विवेक मिला, यथा—'गुरुपद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष बिभंजन॥ तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनउँ रामचरित भवमोचन। दो० २।' उसपर भी हरि-प्रेरणाका बड़ा बल है। उरके प्रेरक भगवान् हैं, यथा—'सुनु खगेस नहिं कछु रिषि दूषन। उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन ॥७।११३।', 'सारद दारु-नारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी ॥१।१०५।५।' हरिप्रेरणासे ही सरस्वतीजी कविके हृदयमें विराजकर कहलाती हैं।

सूर्य्यप्रसाद मिश्र—यह बात सच है कि मानस अति गम्भीर है, उसके पूरा-पूरा कथनका अधिकार किसीको नहीं है, मैं क्या कह सकता हूँ, उसी हृदयप्रेरक भगवान्‌की प्रेरणासे कहूँगा। इस कथनसे यह बात साफ हो गयी कि मैं कुछ नहीं कह सकता।

नोट—'हरि' से कोई-कोई क्षीरशायी-भगवान्‌का अर्थ लेते हैं क्योंकि प्रथम इनको हृदयमें बसाया है, यथा—'करउ सो मम उर धाम सदा छीरसागर सयन।' काष्ठजिह्वास्वामीजी 'हरि' से मंगलमूर्त्ति श्रीहनुमान्‌जीका अर्थ करते हैं। हरि 'वानर' को भी कहते हैं। सुधाकर द्विवेदीजीका भी यही मत है। वे लिखते हैं कि 'हनुमान्‌जीकी रचनापर जब रामजीने सही नहीं की, क्योंकि वे वाल्मीकीयपर सही कर चुके थे, तब हनुमान्-जीने नियम किया कि मैं कलिमें तुलसीकी जिह्वापर बैठकर भाषामें ऐसा रामायणका प्रचार करूँगा कि वाल्मीकिकी महिमा बहुत थोड़ी रह जायगी।'

'हरि' का अर्थ ग्रन्थकारने प्रथमही मंगलाचरणमें लिख दिया है। यथा—'वन्देऽहं तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं हरिम्।' अर्थात् जिसका 'राम' यह नाम है वे हरि। फिर यहाँ कहा है कि 'कहिहौं हिय हरि के प्रेरे'। और आगे श्रीरामजीका सूत्रधररूपसे हृदयमें सरस्वतीका नचाना कहा है। यथा—'सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी॥ जेहि पर कृपा करहिं जन जानी। कबि उर अजिर नचावहिं बानी॥' (१।१०५)। इस प्रकार भी 'हरि' से श्रीरामजी ही अभिप्रेत हैं। भागवतमें भी कहा है—'प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती वितन्वता यस्य सतीं स्मृतिं हृदि।' (भा० २।४।२२)। 'मूलगुसाईं चरित' का मत है कि श्रीहनुमान्‌जीने गोस्वामीजीको श्रीअवध भेजा और चैत्र शु० ६ को दर्शन देकर हनुमान्‌जीने उनको आशीर्वाद दिया।—'नवमी मंगलवार सुभ प्रात समय हनुमान। प्रगटि प्रथम अभिषेक किय करन जगत कल्यान॥' इससे श्रीहनुमान्‌जीका भी ग्रहण 'हरि' शब्दसे हो सकता है।

श्रीरामचरितमानसमाहात्म्यवर्णन प्रकरण ।

निज संदेह मोह भ्रम हरनी । करौं कथा भव-सरिता तरनी ॥ ४ ॥

अर्थ—मैं अपने सन्देह, मोह और भ्रमकी हरनेवाली और संसारनदीके लिये नावरूप कथा रचता हूँ ॥ ४ ॥

नोट—१ (क) यहाँ से गोस्वामीजी श्रीराम-कथाका माहात्म्य एवं ग्रन्थका प्रयोजन विशेषणों द्वारा कहते हैं ॥ पचीस विशेषण स्त्रीलिङ्गके और अठाइस पुल्लिङ्गके हैं । यहाँ अपना तथा संसारभरका भला करना प्रयोजन बताया (ख) सन्देह, मोह, भ्रमके रहते हुए भवका नाश नहीं होता । इसीसे पहिले तीनोंका नाश कह कर तब 'भव सरिता तरनी' कहा । (पं० रा० कु०) ।

"संदेह मोह भ्रम" इति ।

बैजनाथजीका मत है कि मन विषयसुखभोगमें जब आसक्त हो जाता है तब भगवत्-रूपमें आवरण पड़ जानेसे चित्तमें संदेह उत्पन्न हो जाता है, जिससे मन मोहवश होकर बुद्धिको हर लेता है, यथा—'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुऽविधीयते । तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥ गीता २ । ६७ ।' किसीका मत है कि संदेह चित्तमें होता है, मोह मनमें और भ्रम बुद्धिमें । रा० प०-कार लिखते हैं कि आत्माके ज्ञानमें द्विविधा होना, यह बोध न होना कि मैं कौन हूँ 'संदेह' है । अपनेको देह मानना 'भ्रम' है । सू० प्र० मिश्र लिखते हैं कि 'यह ठीक है या नहीं, यही संदेह है—'इदमेव भवति न वा इति संदेहः' । काम और वेकाम, इनका विचार न होना मोह है—'कार्य्याकार्य्यविवेकाभावरूपो मोहः ।' झूठेमें सच्चेकी प्रतीति होना भ्रम है—'भ्रमयतीति भ्रमः ।" श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि—"संदेह अर्थात् संशय, किसी वस्तुके ज्ञानमें द्विविधा होना, जैसे श्रीरामजीको परब्रह्म मानकर श्रीशिवजीने प्रणाम किया और पार्वतीजीको चरित की दृष्टिसे रामजी मनुष्य जान पड़े । अतः संदेह हो गया कि शिवजी ईश हैं इनका निश्चय अन्यथा कैसे हो ? पर मुझे तो रामजी मनुष्य ही दिखते हैं । अतः 'संदेह' का अर्थ ईश्वरके स्वरूप-ज्ञानमें द्विधा है । 'मोह' का अर्थ 'अपने (जीव) स्वरूपमें अज्ञान होना है' जिससे अपने को देह ही मानना और इन्द्रियाभिमानी होकर दशों इन्द्रियोंके भोक्ता होनेमें दशमुखरूप होना है ।''' 'भ्रम' का अर्थ अचित् (माया) तत्वमें अनिश्चय होना अर्थात् ब्रह्मके शरीररूप जगत्में नानात्व-सत्ताका भ्रम होना है।''' अतः यहाँ संदेह, मोह और भ्रम क्रमशः ब्रह्म, जीव और मायाके विषयमें कहे गए हैं ।"

परन्तु सतीजी, गरुड़जी और भुशुण्डिजीके मोह-प्रसङ्गोंके पढ़नेसे स्पष्ट है कि ब्रह्मके संबंध हीमें तीनों को मोह, भ्रम और संदेह होना कहा गया है । ग्रन्थमें 'सन्देह, मोह और भ्रम' ये तीनों शब्द प्रायः पर्यायकी तरह एकही अर्थमें प्रयुक्त हुए हैं । पर यहाँ तीनों शब्द एक साथ ही आए हैं, इसलिये इनमें कुछ न कुछ भेद भी होना पाया जाता है । साधारणतया तो ऐसा जान पड़ता है कि ये तीनों अज्ञानके कार्य हैं । जब किसी पदार्थके विषयमें मनुष्यको अज्ञान होता है तब उसको उस विषयका किसी प्रकारका ज्ञान नहीं होता, अज्ञानकी इस प्रथम अवस्था (कार्य) को 'मोह' कहते हैं–'मुह वैचित्ये' 'वैचित्यमविवेकः' । 'मोह' वह अवस्था है जिसमें निश्चयात्मक या संदेहात्मक किसी प्रकारका विचार नहीं होता । इस अवस्थाका अनुभव प्रायः देखनेमें कम आता है, बहुधा इसके स्थूलरूप (संदेह या भ्रम) ही विशेष अनुभवमें आते हैं । जब मोह स्थूल रूप धारण करता है तब उसीको 'भ्रम' कहते हैं । किसी पदार्थके विपरीत-ज्ञान (अयथार्थ अनुभव) को 'भ्रम' कहते हैं । इस अवस्थामें मनुष्यको पदार्थका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता, किन्तु वह कुछको कुछ समझता है । इसके दृष्टांत 'रज्जौः यथाऽहेर्भ्रमः', 'रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकरवारि । जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ

टारि ॥ १ । १६७ ।' इत्यादि हैं । जब 'भ्रम' अनिश्चित रहता है तब उसको 'संदेह' भी कहते हैं। एक विषयमें भिन्न भिन्न प्रकारके ज्ञानको 'संदेह' कहते हैं। अर्थात् ऐसा है अथवा ऐसा, मनकी इस द्विविधा वृत्तिको 'संदेह' (संशय) कहते हैं। संशयात्मा यह निर्णय नहीं कर सकता कि ठीक क्या है। यह दोनों प्रकारसे होता है। प्रथम यथार्थ ज्ञान होनेपर जब कोई कारण होता है तब उसमें संदेह होता है। जैसे गरुड़जी और भुशुण्डिजी आदिको प्रथम यथार्थ ज्ञान था कि श्रीरामजी ब्रह्म हैं। पश्चात् लीला देखनेसे उनको संदेह हो गया। कहीं प्रथम अयथार्थ ज्ञान रहता है तब कारणवशात् उसमें संदेह होता है। जैसे सतीजीको प्रथम निश्चय था कि श्रीरामजी मनुष्य हैं परन्तु शिवजीके प्रणाम करनेपर उनको संदेह हो गया। यथा—'सतीं सो दसा संभु कै देखी। उर उपजा संदेहु बिसेषी। संकरु जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥ तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥ ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत वेद। १।५०। बिष्नु जो सुरहित नर तनु धारी। सोउ सर्वज्ञ जथा त्रिपुरारी॥ खोजै सो कि अज्ञ इव नारी। ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी॥ संभुगिरा पुनि मृषा न होई। शिव सर्वज्ञ जान सब कोई॥ अस संसय मन भयउ अपारा। होइ न हृदय प्रबोध प्रचारा॥' इस प्रकार संदेह, मोह, भ्रम और इनके मूल कारण अज्ञानमें यद्यपि सूक्ष्म भेद है तथापि कार्य-कारण, स्थूल-सूक्ष्म भावमें अभेद मानकर एक प्रसंगमें भी समान रूपसे इनका प्रयोग प्रायः देखनेमें आता है। इनमें से 'संदेह' में एक अंशमें विपरीतज्ञान भी होता है, इसलिये 'संदेह' (अनिश्चित ज्ञान) के स्थलमें 'भ्रम' शब्दका प्रयोगभी कतिपय स्थानोंमें हुआ है, परन्तु जहां निश्चयपूर्वक विपरीत ज्ञान है उस स्थलमें 'संदेह' शब्दका प्रयोग नहीं होता, क्योंकि वहाँ उसका लक्षण नहीं आता। उस स्थलमें 'भ्रम' शब्दकाही प्रयोग होगा। अज्ञान तथा मोह ये संदेह तथा भ्रमके कारण हैं। अतः उनका प्रयोग निश्चित और अनिश्चित दोनों स्थलोंमें होता है। अतएव सतीमोह और गरुड़मोह प्रसंगोंमें इन चारों शब्दोंका प्रयोग एकही अवस्थामें किया गया है। गरुड़प्रसंगमें अज्ञानके बदले माया शब्दका प्रयोग हुआ है।

अज्ञानकी स्थूल या सूक्ष्म कोई भी अवस्था क्यों न हो उसकी निवृत्ति कथासे होती है, यह बताने के लिये ही यहाँ पर 'संदेह मोह भ्रम' इन तीनों शब्दोंका ग्रहण किया गया है। इसी भावको लेकर ही अन्यत्र भी एक साथ इन शब्दोंका प्रयोग किया है। यथा—"देखि परम पावन तव आश्रम। गयउ मोह संसय नाना भ्रम।७।६४।', 'तुम्हहिं न संसय मोह न माया। ७। ७०।'

नोट—२ 'संदेह' को आदिमें रखनेका कारण यह है कि यह तीनोंमें सबसे भयंकर है। मोह और भ्रम होनेपर कदाचित् सुख हो भी जाय परन्तु संदेहके रहते सुख नहीं हो सकता। जैसे सतीजीको जब तक यह निश्चयात्मक अयथार्थ ज्ञान (अर्थात् भ्रम) रहा कि श्रीरामजी मनुष्य हैं तबतक उनको कोई दुःख न था; परन्तु जब शिवजीको प्रणाम करते देख उन्हें संदेह उत्पन्न हुआ तभीसे उनके दुःखका प्रारंभ हुआ। गीताके—'अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। नाऽयं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः। ४। ४०।' इस श्लोकपर स्वामी श्रीशङ्कराचार्यजी भी भाष्यमें कहते हैं कि—अज्ञानी और अश्रद्धालु यद्यपि नष्ट होते हैं पर वैसे नहीं कि जैसे संशयात्मा नष्ट होता है। क्योंकि उसको न यह लोक न परलोक और न सुख प्राप्त होता है।

नोट—३ कथा भवसागरके लिये तरणोपाय है। यथा—"एतद्ध्यातुरचित्तानां मात्रास्पर्शेच्छया मुहुः। भवसिंधुप्लवो दृष्टो हरिचर्यानुवर्णनम्॥ भा० १। ६। ३५।" अर्थात् (नारदजीने व्यासजीसे कहा है कि) जिन लोगों का चित्त विषय भोगोंकी इच्छासे बारंबार व्याकुल होता है, उनके लिये भगवान्‌के चरित्रोंकी कथा ही संसार-सागर से पार उतरनेवाला प्लव निश्चित किया गया है।

पं० रामकुमारजी—'निज संदेह…' का भाव यह है कि गुरुवचन रवि-किरण-सम है, उससे मोह-अंध-

कार दूर होता है, कथा हमने गुरु-मुखसे सुनी इससे सन्देह-मोह-भ्रम अत्र न रहेगा। (इससे जनाया कि कथा से श्रीराम-स्वरूपका बोध हो जाता है।)

रा० प्र०—भवसागर न कहकर यहाँ भवसरिता कहनेका भाव यह है कि रामकथाके आगे भवसागर कुछ नहीं रह जाता, एक साधारण नदीके समान जान पड़ता है जिसके लिये नाव बहुत है। इससे भव या संसारजन्य दुःखकी तुच्छता दिखायी।

बुध विश्राम सकल-जन-रंजनि। रामकथा कलि-कलुष-विभंजनि॥ ५॥

अर्थ—रामकथा पण्डितोंको विश्राम देनेवाली, सब प्राणियोंको आनन्द देनेवाली और कलिके पापोंका नाश करनेवाली है॥ ५॥

टिप्पणी—१ (क) पहिले कह आये हैं कि "सब गुन रहित कुकवि कृत बानी। रामनाम जस अंकित जानी॥ सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही॥१॥१०" अर्थात् यह कथा श्रीरामनाम और श्रीरामयशसे अंकित है इसीसे 'बुधजन' को विश्रामदात्री है। अथवा, आपने जो कवियोंसे प्रार्थना की थी कि-'होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधुसमाज भनितिसनमानू॥१।१४।" वह प्रसाद आपको मिला, इसलिए बुध विश्राम कहा।

यह कथा केवल 'बुध' ही को विश्रामदात्री नहीं है, सकल जन-रञ्जनी है। यह शक्ति इसी कथामें है क्योंकि प्रायः जहां बुध-विश्राम है वहाँ सकल-जन-रञ्जन नहीं और जहाँ सकल-जन-रञ्जन होता है वहाँ बुध को विश्राम नहीं। परन्तु यह दोनोंको विश्राम देती है। 'सकल' से श्रोता, वक्ता, पृच्छकादि सभीका ग्रहण है। [पुनः, (ख) बुध-विश्रामका भाव यह है कि जो बुद्धिमान् अनेक शास्त्र पढ़कर श्रमित हो गए हैं उनको विश्रामरूपी है-'विश्रामस्थानमेकं कविवरवचसाम्॥' (रा० प्र०)। ☞परिश्रमके उपरान्त विश्राम ही से प्रयोजन रहता है और उसका वास्तविक अनुभव भी परिश्रम करनेवाला ही कर सकता है। यथा—"जो अति आतप व्याकुल होई। तरुछाया सुख जानै सोई। ७। ६९।" पुनः, (ग)-'विश्राम' पद 'पूर्व थका हुआ' का सूचक है। पण्डित लोग वेद-शास्त्र-पुराणादि अध्ययन करते-करते थक गये पर उनको यथार्थ तत्वका निश्चय न हुआ। उनको भी मानसमें विश्राम मिलेगा। क्योंकि इसमें सब 'श्रुति सिद्धांत निचोरि' कहा गया है।] '(मानस मयङ्क)
☞अध्यात्मरामायणके माहात्म्य में भी कहा है "तावत्सर्वाणि शास्त्राणि विवदन्ते परस्परम्॥ २५॥" अर्थात् समस्तशास्त्रों में परस्पर विवाद तभी तक रहेगा जबतक श्रीरामायण को नहीं पढ़ते। तात्पर्य कि इस कथा को पढ़नेपर वाद-विवाद सब छूट जाते हैं।

२ 'कलि कलुष विभंजनि' इति। (क) कलिकलुषको विशेष नाश करती है। 'वि'=विशेष, पूर्ण रीतिसे। 'विशेष भंजनि' कहा क्योंकि सुकर्मसे भी पाप नाश होते हैं पर विशेष रीतिसे नहीं, यथा—'करतहु सुकृत न पाप सिराहीं। रक्त-बीज जिमि बाढ़त जाहीं॥ वि० १२८।' (ख) कलि-कलुषका नाश कहकर आगे कलिका नाश कहते हैं। कलि कारण है, कलुष कार्य है। यदि कारण बना रहेगा तो फिर कार्य हो सकता है। इसीसे कार्यका नाश कहकर कारणका नाश कहते हैं जो केवल कलिका नाश कहते तो कलिसे जो कार्य 'कलि-कलुष' हो चुका है वह बना रहता। इसलिये दोनोंका नाश कहा। [सूर्य प्रसाद मिश्र—नाश करनेका क्रम यह है कि भगवत्कथा सुननेवाले प्राणीके कर्णद्वारा हृदयमें प्रवेश करके भगवान् उसके अकल्याणोंको दूर कर देते हैं। जैसे शरद् ऋतुके आते ही नदीमात्रका गँदलापन दूर हो जाता है]।

३ तीन प्रकारके जीव संसारमें हैं। मुक्त, मुमुक्षु और विषयी। चौपाई ४ और ५ में यह जनाया कि यह कथा इन तीनोंका कल्याण करनेवाली है।—"सुनहिं विमुक विरत अरु बिषई। ७। १५।" 'बुधविश्राम'

से मुक्तकोटिका हित, 'संदेह मोह भ्रम हरनी' और 'भवसरिता तरनी' से मुमुक्षुका हित सूचित किया। इनके सन्देह-मोह-भ्रम दूर करके भव पार करेगी। और 'सकल जन रंजनि' से विषयीका हित दिखाया। इनके पापका नाश करके इनको आनन्द देगी।

☞ अध्यात्मरामायण माहात्म्यमें भी कहा है—"तावद्विजृम्भते पापं ब्रह्महत्यापुरःसरम्। यावज्जगति नाध्यात्मरामायणमुदेष्यति। २२। तावत्कलिमहोत्साहो निःशङ्कं सम्प्रवर्तते।" अर्थात् संसारमें ब्रह्महत्यादि-पाप तभीतक रहेंगे जबतक अध्यात्मरामायणका प्रादुर्भाव नहीं होगा और कलियुगका महान् उत्साह भी तभी तक निःशंक रहेगा।

नोट—यहां सबको आनंद देना और पापका नाश करना काव्यका प्रयोजन बताया।

रामकथा कलि—पन्नग भरनी। पुनि विवेक—पावक कहुँ अरनी॥ ६॥

शब्दार्थ—पन्नग=सर्प, साँप। 'भरनी'—भरणीके अनेक अर्थ किये गये हैं—(१) ब्रजदेशमें एक सर्प-नाशक जीवविशेष होता है जो मूसेका-सा होता है। यह पक्षी सर्पको देखकर सिकुड़कर बैठ जाता है। साँप इसे मेंढक (दादुर) जानकर निगल जाता है तब वह अपनी काँटेदार देहको फैला देता है जिससे सर्पका पेट फट जाता है और साँप मर जाता है। यथा—'तुलसी छमा गरीब की पर घर घालनिहारि। ज्यों पन्नग भरनी ग्रसेउ निकसत उदर बिदारि॥', 'तुलसी गई गरीब की दई ताहि पर डारि। ज्यों पन्नग भरनी भषे निकरै उदर बिदारि॥" (२) 'भरनी' नक्षत्र भी होता है जिसमें जलकी वर्षा से सर्पका नाश होता है—'अश्विनी अश्वनाशाय भरणीसर्प-नाशिनी। कृत्तिका पद्विनाशाय यदि वर्षति रोहिणी॥" (३) भरणीको मेदिनीकोश में 'मयूरनी' भी लिखा है—'भरणी मयूरपत्नी स्यात् वरटा हंसयोषिति' इतिमेदिनी। (४) गारुड़ी मन्त्रको भी भरणी कहते हैं। जिससे सर्पके काटनेपर झाड़ते हैं तो साँपका विष उतर जाता है। (५) 'वह मन्त्र जिसे सुनकर सर्प हटे तो बचे नहीं और न हटे तो जल-भुन जावे।' यथा—'कीलो सर्पा तेरे बामी' इत्यादि। (मानसतत्त्वविवरण)। बाबा-हरीदासजी कहते हैं कि झाड़नेका मंत्र पढ़कर कानमें 'भरणी' शब्द कहकर फूँक डालते हैं और पाँड़ेजी कहते हैं कि भरणी झाड़नेका मंत्र है। (६) राजपूताने की ओर सर्पविष झाड़नेके लिये भरणीगान प्रसिद्ध है। फूलकी थाली पर सरफुलईसे तरह-तरहकी गति बजाकर यह गान गाया जाता है। (सुधाकर द्विवेदीजी)। अरणी=एक काठका बना हुआ यंत्र जो यज्ञों में आग निकालने के काम आता है।

अर्थ—रामकथा कलि-रूपी साँपके लिये भरणी (के समान) है और विवेकरूपी अग्निको (उत्पन्न करनेको) अरणी है॥ ६॥

नोट—१ (क)-भरणीका अर्थ जब 'भरणी पक्षी' या 'गारुड़ी मन्त्र' लेंगे तब यह भाव निकलता है कि कलिसे ग्रसित हो जानेपर भी कलिका नाश करके जीवको उससे सदाके लिये बचा देती है। कलिका कुछ भी प्रभाव सुनने-पढ़नेवाले पर नहीं पड़ता। पुनः (ख)-'कलि कलुष बिभंजनि' कहकर 'कलि-पन्नग भरनी' कहनेका भाव यह है कि कथा के आश्रित श्रोता-वक्ताओंके पापोंका नाश करती है और यदि कलि इस वैर से स्वयं कथाका ही नाश किया चाहे तो कथा उसका भी नाश करनेको समर्थ है। अन्य सब ग्रंथ मेंढकके समान हैं जिनको खा-खाकर वह परक गया है। यथा—"कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सद् ग्रंथ। ७।९७।" पर यहां वह बात नहीं है; क्योंकि श्रीरामकथा 'भरणी पक्षी' के समान है जिसको खाकर वह पचा नहीं सकता। इस तरह कथाको अपना रक्षक भी जनाया। [☞ कलिके नाशका भाव यह है कि कलिके धर्मका नाश करती है, कलियुग तो बना ही रहता है पर उसके धर्म नहीं व्यापते। (पं० रा० कु०)] (ग) उसका अर्थ 'भरणी नक्षत्र' या 'मयूरनी' करें तो यह भाव निकलता है कि कलिको पाते ही वह उसका नाश कर देती है। उसको

हसने का अवसर ही नहीं देती। ऐसी यह रामकथा है। यह भी जनाया कि कलिसे श्रीरामकथा का स्वाभाविक वैर है, वह सदा उसके नाशमें तत्पर रहती है चाहे वह कुछ भी बाधा करे, या न करे। वह कामादि विकारों को नष्ट ही करती है, रहने नहीं देती। (ध इस तरह 'भरणी' शब्द देकर सूचित किया है कि श्रीरामकथा दोनोंका कल्याण करती है—जिन्हें कलिने ग्रास कर लिया है और जिनको अभी कलि नहीं व्यापा है उनकी भी रक्षा करती है।

२ 'अरनी' इति। इसके दो भाग होते हैं, अरणि वा अधरारणि और उत्तरारणि। यह शमीगर्भ अश्वत्थसे बनाया जाता है। अधरारणि नीचे होती है और उसमें एक छेद होता है। इस छेदपर उत्तरारणि खड़ी करके रस्सीसे मथानीके समान मथी जाती है। छेदके नीचे कुश वा कपास रख देते हैं जिसमें आग लग जाती है। इसके मथनेके समय वैदिक मन्त्र पढ़ते हैं और ऋत्विक् लोग ही इसके मथने आदिके कामोंको करते हैं। यज्ञमें प्रायः अरणीसे निकाली हुई अग्नि ही काममें लायी जाती है। (श० सा०)।

सूर्यप्रसाद मिश्रजी लिखते हैं कि—"अरणीसे सूर्यका भी बोध होता है। सूर्यपक्षमें ऐसा अर्थ करना चाहिये कि सूर्यके उदय होनेसे अन्धकार नष्ट हो जाता है एवं रामकथारूपी सूर्यके उदय होनेसे हृदयस्थ अविवेकरूप अन्धकार नष्ट होकर परम पवित्र विवेक उत्पन्न होता है।" (स्कंदपुराण काशी खंड अ० ६ में सूर्य भगवान्के सत्तर नाम गिनाकर उनके द्वारा उनको अर्घ्य देनेकी विशेष विधि बताई हैं उन नामोंमेंसे एक नाम 'अरणि' भी है। यथा—'गर्भस्तिहस्तस्तीव्रांशुस्तरणिः सुमहोरणिः। ८०।' इस प्रकार 'अरणि' का अर्थ 'सूर्य' भी हुआ)।

श्रीजानकीशरणजीने 'अरणी' का अर्थ 'लोहारकी धौंकनी' भी दिया है, पर कोई प्रमाण नहीं दिया है। इस अर्थमें यह रूपक भी ठीक नहीं जमता, क्योंकि जहाँ किंचित् अग्नि होगी वहीं धौंकनी काम देगी और जहाँ अग्नि है ही नहीं वहाँ उससे कुछ काम न चलेगा।

टिप्पणी—१ (क) कलि और कलुषके रहते विवेक नहीं होता। इसीसे कलि और कलुष दोनोंका नाश कहकर तब विवेककी उत्पत्ति कही। (ख) 'अरणी' कहनेका भाव यह है कि यह कथा प्रत्यक्षमें तो उपासना है परन्तु इसके अभ्यन्तर ज्ञान भरा है, जैसे अरणीके भीतर अग्नि है यद्यपि प्रकटरूपमें वह लकड़ी ही है। (ग) यहाँ 'परंपरित रूपक' है।

नोट—३ यहाँ काव्यका प्रयोजन पापनाशन और विवेकोत्पत्ति बताया।

४ गोस्वामीजीने ३१ वें दोहेमें 'कथा' पद और ३२ वेंमें 'चरित' पद दिया है। पं० शिवलालजी पाठक इस भेदको यों समझाते हैं कि 'अठारहवें दोहेमें ग्रन्थकारने यह लिखा है कि (गिरा अर्थ जल बीचिसम''') श्रीजानकीजीने गिरा और श्रीरामचन्द्रजीने अर्थ प्रदान किया सो गिराको ३१ वें और अर्थ को ३२ वें दोहेमें कथा और चरित करके लिखा है। 'निज संदेह मोह भ्रम हरनी' से 'तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु' तक जो महत्व इस मानसका कहा वह श्रीजानकीजीकी प्रदानकी हुई गिराके प्रभावसे कहा। पुनः, 'रामचरित चिंतामनि चारु' से 'सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेष बड़ लाहु' तक जो महत्व कहा वह श्रीरामचन्द्रजीके प्रदान किये हुए अर्थ के प्रभावसे कहा। ध्वनि यह है कि श्रीरामजानकीजीके प्रभावसे पूरित यह महत्वका भण्डार मानस मैं कथन करता हूँ।'

रामकथा कलि कामद गाई। सुजन सजीवनि-मूरि सुहाई॥ ७॥

शब्दार्थ—कामद = कामनाओं अर्थात् अभीष्ट मनोरथको देनेवाली। सजीवनी = जिलानेवाली। कामदगाई=कामधेनु।

अर्थ—रामकथा कलियुगमें कामधेनु है और सज्जनोंके लिये सुन्दर सञ्जीवनी जड़ी है ॥ ७ ॥

नोट—१ 'कलि कामद गाई' इति। कलियुगमें कामधेनु है, ऐसा कहनेका भाव यह है कि—(क) कलियुगमें जब कामधेनुके समान है तब और युगोंमें इस कथाका जो महत्व है वह कौन कह सकता है? (रा० प्र०)। (ख) कलिमें प्रधान धर्म रामकथा है—'कलौ तद्धरिकीर्त्तनात्।' अथवा, ऐसे भी कलिकालकरालमें कामधेनुके समान फल देती है।—(पं० रा० कु०)। (ग) कामधेनु सर्वत्र पूज्य है और सब कामनाओंकी देनेवाली है। इसी तरह रामकथा सर्वत्र पूज्य है और अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी देनेवाली है।

सूर्यप्रसाद मिश्रः—'कामधेनु शब्दसे यह व्यञ्जित होता है कि कामधेनु सर्वत्र नहीं होती और बड़ी कठिनतासे मिलती है एवं रामकथा कलियुगमें बड़ी कठिनतासे सुननेमें आती है। सत्ययुग, त्रेतामें घर-घर गायी जाती थी, द्वापरमें केवल सज्जनोंके घरमें, पर कलियुगमें तो कहीं कहीं। स्कन्दपुराणमें भी रामकथाको कामधेनु कहा है—'कलौ रामायणकथा कामधेनूपमा स्मृता।'

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि जैसे देवता कामधेनुकी पूजा करते हैं वैसे ही सबको श्रीरामकथाकी पूजा करनी चाहिए। यह उपदेश इस चौपाईमें है।

नोट—२ 'सजीवनिमूरि सुहाई।' संजीविनीसे मरे हुए लोग भी जी उठते हैं। 'सजीवनि मूरि' कहकर सूचित किया कि—(क) सज्जन इसीसे जीते हैं। भाव यह है कि सज्जनोंको यह जीवनस्वरूप है अर्थात् उनको अत्यन्त प्रिय है, इसीको वे जुगवते रहते हैं। यथा—'जिवनमूरि जिमि जोगवत रहऊँ। २। ५६।' (पं० रा० कु०)। अस्तु। जीवनमूल अतिशय प्रियत्वका बोधक है। (ख) अविनाशी कर देती है...(करु०, रा० प्र०)। (ग) इससे सज्जन लोग संसारसर्पसंदष्ट मृतक जीवोंको जिला देते हैं। चौदह प्राणी जीते हुए भी मरेही माने गए हैं। यथा—'कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥ सदा रोगबस संतत क्रोधी। बिष्नुबिमुख श्रुति संत बिरोधी। तनुपोषक निंदक अघखानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥ ६। ३०।' इनको भी कथारूपिणी संजीवनी देकर भक्त बना श्रीरामसम्मुख कर सज्जन लोग भवपार कर देते हैं।

३ सकामियोंके लिये कामधेनु-सम कहा और सज्जनों अर्थात् निष्कामियोंको सजीवनि-मूरि-सम कहा। (पं० रा० कु०)। यहाँ काव्यका प्रयोजन 'संपत्ति' है। (वै०)।

सोइ बसुधा तल सुधा-तरंगिनि। भय*भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि॥ ८॥

शब्दार्थ—बसुधा-तल = पृथ्वीतल। तरङ्गिनि=लहरोंवाली, बड़ी नदी। तरङ्गें भारी नदियोंमें होती हैं।

अर्थ—पृथ्वीपर वही (रामकथा) अमृत-नदी है। भयकी नाशक और भ्रमरूपी मेंढकके लिये सर्पिणी है॥ ८॥

नोट—१ 'वसुधातल सुधा-तरंगिनि' कहनेका भाव यह है कि—(क) पृथ्वीपर तो अमृतका एक बूँद भी प्राप्त नहीं है सो इस पृथ्वीपर इसे अमृतकी नदी समझना चाहिए, पृथ्वीभरका जरामरण इससे छूटेगा। (पं० रा० कु०)। (ख) यह नदी पृथ्वीभरमें है। इसके लिये किसी खास स्थान (स्थानविशेष) पर जानेकी आवश्यकता नहीं है। यह सर्वत्र प्राप्त है, घर बैठे ही यह अमृतनदी प्राप्त है। अपना ही आलस्य वा दोष है

* 'भव' पाठान्तर है। पं० रामकुमारजी 'भव' पाठ देकर यह भाव लिखते हैं कि ऊपर चौपाई ४ में रामकथाको 'भवतरनी' कहा। इससे भवका बना रहना निश्चय हुआ। इस लिये अब 'भव' का नाश यहाँ भवभंजनि' पद देकर कहते हैं। 'भव'-वै०। भ्रम भवका मूल है। 'तव भवमूल भेद भ्रम नासा'।

यदि हम उसका दर्शन, स्पर्श, पान और स्नान नहीं करते।—'सुरसरि तीर बिनु नीर दुख पाइहै।' (ग) 'सोइ बसुधातल' का भाव यह भी है कि प्रथम यह श्रीरामकथामृत-सरिता देवलोक-कैलासमें भगवान शंकरके निकट रही, परन्तु श्रीयाज्ञवल्क्यजीके संबंधसे वही भूलोकमें आई।

२ श्रीरामकथाको कामदगाई, सजीवनमूरि और सुधातरंगिनि कहना "द्वितीय उल्लेख अलंकार" है।

३ "भय भंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि" इति। (क) यहाँ 'भय' से जन्ममरण आदिका भय अर्थात् भव-भय समझना चाहिए। (रा० प्र०)। (ख) श्रीरामकथाको अमृतनदी कहा। नदीके दो तट होते हैं। यहाँ कथा का कीर्त्तन और श्रवण उसके दोनों तट हैं। नदी तटके वृत्तोंको उखाड़ती है, श्रीरामकथा-नदी भवभयरूपी वृत्तोंको उखाड़ती है। (ग) 'भ्रम भेक भुअंगिनि' इति। गोस्वामीजीने पहिले इससे अपने भ्रमका नाश होना कहा, यथा—'निज संदेह मोह भ्रम हरनी' और अब दूसरेके भ्रमका नाश कहते हैं; इसलिये पुनरुक्ति नहीं है। नदीके तीर मेंढक रहते हैं, इसी तरह कथाके निकट जितने भ्रम हैं उनको यहाँ कथा सर्पिणीरूपा होकर खाती है। सर्पिणी बिना श्रम मेंढक को निगल जाती है, वैसे ही रामकथा भ्रमको खा जाती है, उसका पता भी नहीं रह जाता। (घ) यहाँ, 'परंपरित रूपक' है। (ङ)-बाबा हरिहरप्रसादजी कहते हैं कि स्वस्वरूप, परस्वरूपमें अन्यथाज्ञान भ्रम है। कथारूपसर्पिणी शंकर-हृदय-बांबीमें बैठी थी, उमाके भ्रम दादुर-को देख प्रगट हो निगल गई।

असुरसेन सम नरक निकंदिनि। साधु-विबुध कुल-हित गिरि-नंदिनि ॥९॥

शब्दार्थ—नरक*=पाप कर्मोंके फल भोगनेके स्थान। निकंदिनि (निकंदिनी)=खोद डालनेवाली, नाश करनेवाली। विबुध=देवता, पण्डित। कुल=वंश, समूह, समाज। हित=लिये। निमित्त=हित करनेवाली।

अर्थ—'असुरसेन' के समान नरककी नाश करनेवाली है और साधुरूपी देव-समाजके लिये श्रीपार्वतीजीके समान है॥ ९॥

नोट—१ श्रीश्यामसुंदरदासजीने-"असुरोंकी सेनाके समान नरककी नाश करनेवाली है और साधु तथा पण्डित जनोंके समूहके लिये पर्वतनन्दिनी गंगाजीके समान है" ऐसा अर्थ किया है। विनायकी टीका ने भी गिरिनन्दिनि का 'गंगा' अर्थ किया है।

नोट—२ 'असुरसेन' के दो अर्थ टीकाओं और कोशमें मिलते हैं। (क) असुर+सेन'=दैत्योंकी सेना। साधारणतया 'तो असुरसेन' का अर्थ यही हुआ। सूर्यप्रसादजी कहते हैं कि नरककी सब बातें असुरोंमें पायी जाती हैं इसीसे नरकको 'असुरसेन' कहा। (ख) दूसरा अर्थ हिन्दी शब्दसागरमें यों दिया है—'असुर-

---

* शब्दसागरमें लिखते हैं कि 'मनुस्मृतिमें नरकोंकी संख्या २१ बतलायी गयी है जिनके नाम ये हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, नरक, महानरक, कालसूत्र, सञ्जीवन, महावीचि, तपन, प्रतापन, संहात, काकोल, कुड्मल, प्रतिमूर्त्तिक, लोहशंकु, ऋजीष, शाल्मली, वैतरणी, असिपत्रवन और लोहदारक। इसी प्रकार भागवतमें भी २१ नरकोंका वर्णन है जिनके नाम इस प्रकार हैं—तामिस्र, अन्धतामिस्र, रौरव, महारौरव, कुम्भीपाक, कालसूत्र, घोर, असिपत्रवन, शूकरमुख, अन्धकूप, कृमिभोजन, संदंश, तप्तशूर्मि, वज्र-कण्टक शाल्मली, वैतरणी, पूयोद, प्राणरोध, विशसन, लालाभक्ष, सारमेयादन, अवीचिमान् और अयः पान। और इनके अतिरिक्त क्षारमर्दन, रसोगणभोजन, शूलप्रोत, दन्दशूक, अवटनिरोधन, पर्या-वर्त्तन और शूचीमुख ये सात नरक और भी माने गये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ पुराणोंमें और भी अनेक नरककुंड माने गये हैं, जैसे—वसाकुण्ड, तप्तकुण्ड, सर्पकुण्ड, चक्रकुण्ड। कहते हैं कि भिन्न-भिन्न पाप करनेके कारण मनुष्यकी आत्माको भिन्न-भिन्न नरकोंमें सहस्रों वर्षों तक रहना पड़ता है जहाँ उन्हें बहुत अधिक पीड़ा दी जाती है।'

सेन'—इसकी संज्ञा पुल्लिङ्ग है। संस्कृत शब्द है। यह एक राक्षस है, कहते हैं कि इसके शरीरपर गया नामक नगर बसा है। महात्मा हरिहरप्रसादजी, श्रीबैजनाथजी और सन्त श्रीगुरुसहायलालने भी इसका अर्थ 'गयासुर' किया है। गयातीर्थ इसीका शरीर है।

वायुपुराणान्तर्गत गयामाहात्म्यमें इसकी कथा इस प्रकार है—यह असुर महापराक्रमी था। सवासौ योजन ऊँचा था। और साठ योजन उसकी मोटाई थी। उसने घोर तपस्या की जिससे त्रिदेवादि सब देवताओं ने उसके पास आकर उससे वर माँगनेको कहा। उसने यह वर माँगा कि "देव, द्विज, तीर्थ, यज्ञ आदि सबसे अधिक मैं पवित्र हो जाऊँ। जो कोई मेरा दर्शन वा स्पर्श करे वह तुरत पवित्र हो जाय।' एवमस्तु कहकर सब देवता चले गए। सवासौ योजन ऊँचा होनेसे उसका दर्शन बहुत दूर तकके प्राणियोंको होनेसे वे अनायास पवित्र होगए जिससे यमलोकमें हाहाकार मच गया। तब भगवान्ने ब्रह्मासे कहा कि तुम यज्ञके लिये उसका शरीर माँगो। (जब वह लेट जायगा तब दूरसे लोगोंको दर्शन न हो सकेगा, जो उसके निकट जावेंगे वे ही पवित्र होंगे)। ब्रह्माजीने आकर उससे कहा कि संसारमें हमें कहीं पवित्र भूमि नहीं मिली जहाँ यज्ञ करें, तुम लेट जाओ तो हम तुम्हारे शरीरपर यज्ञ करें। उसने सहर्ष स्वीकार किया। अवभृथस्नानके पश्चात् वह कुछ हिला तब ब्रह्मा-विष्णु आदि सभी देवता उसके शरीरपर बैठ गए और उससे वर माँगनेको कहा। उसने वर माँगा कि जब तक संसार स्थित रहे तबतक आप समस्त देवगण यहाँ निवास करें, यदि कोई भी देवता आपमेंसे चला जायगा तो मैं निश्चल न रहूँगा और यह क्षेत्र मेरे नाम (अर्थात् गया नाम) से प्रसिद्ध हो तथा यहाँ पिण्डदान देनेसे लोगोंका पितरों सहित उद्धार हो जाय। देवताओंने यह वर उसे दे दिया। (अ० १, २)।

नोट—३ (क) 'असुरसेन' का अर्थ असुरोंकी सेना लेनेसे इस चौपाईका भाव यह होता है कि जैसे पार्वतीजीने दुर्गारूपसे असुरों की सेनाका नाश देवताओंके लिये किया, वैसे ही रामकथा नरकका नाश साधुओंके लिये करती है। (मा० प०)। यहाँ 'असुरसेन' से शुंभ, निशुंभ, चंड, मुंड, महिषासुर आदि का ग्रहण होगा।

(ख) 'असुरसेन' का अर्थ गयासुर लेनेसे यह भाव निकलता है कि 'रामकथा गयासुर वा गयातीर्थ के समान नरकका नाश करनेवाली है। पुनः साधुरूप देवताओंका हित करनेको दुर्गारूप है।

कोई-कोई महानुभाव इस अर्थको 'क्लिष्ट एवं असंगत कल्पना' कहते हैं। परन्तु एक प्रामाणिक कोशमें असुरसेन' का अर्थ ऐसा मिलता है। रामकथाका माहात्म्य 'निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा भव सारिता तरनी' से प्रारम्भ हुआ है। प्रत्येक चौपाईमें यहाँतक दो-दो विशेषण पाये जाते हैं, यथा—(१) संदेह मोह भ्रम हरनी। (२) भव सरिता तरनी। (३) बुध बिश्राम सकल जन रंजनि। (४) कलि कलुष बिभंजनि। इत्यादि जन पड़ता है कि इसी रीतिका निर्वाह करनेके लिये 'गयासुर' अर्थ किया गया। इस तरह अर्थ और प्रसङ्गमें सङ्गति भी है। हाँ! एक असङ्गति पड़ती है कि रामकथाके और सब विशेषण स्त्री लिङ्गके हैं और 'गयासुर' पुल्लिङ्ग है, जो कि काव्यदोष माना गया है। वे० भू० दो-दो की संगति लगानेके लिये 'गिरि नंदिनि' के दो अर्थ करते हैं—एक तो 'पार्वतीजी' जो अर्थ प्रसिद्ध ही है; दूसरा गंगाजी। गंगाजीको हिमालयकी कन्या कहा है, यथा—"शैलेन्द्रो हिमवान् राम धातूनामाकरो महान्। तस्य कन्या द्वयं रामरूपेणाप्रतिमं भुवि। १३। या मेरु दुहिता राम तयोर्माता सुमध्यमा। नाम्ना मेना मनोज्ञा वै पत्नी हिमवतः प्रिया। १४। तस्या गंगेयमभवज्ज्येष्ठा हिमवतः सुता। उमा नाम द्वितीया भूतकन्या तस्यैव राघव। १५। एते ते शैलराजस्य सुते लोक नमस्कृते। गंगा च सरितां श्रेष्ठा उमा देवी च राघव। २१। (वाल्मी० १। ३५। अर्थात् धातुओंकी खानि पर्वतराज हिमाचलके मेरुपुत्री मेनासे दो कन्याएँ हुईं, प्रथम गंगा हुई, दूसरी उमा। ये दोनों पूजनीय हैं। गंगा नदियोंमें और उमा देवियोंमें श्रेष्ठ हैं। इस तरह

यहाँ भी दो विशेषण हो जाते हैं। 'गिरिनंदिनी' कहकर दोनों अर्थ सूचित किये हैं। पाराशर्यउपपुराणमें भी कहा है कि—"वाल्मीकि-गिरि-संभूता राम-सागर-गामिनी। पुनातु भुवनं पुण्या रामायण महानदी ॥" अर्थात् वाल्मीकिरूपी पर्वतसे उत्पन्न श्रीरामरूपी सागरको जानेवाली यह पवित्र रामायणरूपी महानदी लोकोंको पवित्र करे। (वाल्मीकीयमाहात्म्य अध्याय १ श्लोक ३८)

नोट—४ "साधु-विबुध-कुलहित गिरिनंदिनि" इति। पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि—(क) 'गिरिनंदिनि' पार्वतीजी हैं क्योंकि हिमाचलके यहाँ इनका जन्म हुआ था। राम-कथाको गिरिनंदिनिकी उपमा बहुतही सार्थक है। क्योंकि राम-कथाको भी 'पुरा रगिरिसम्भूता' कहा गया है। (ख) पार्वतीजीने ही दुर्गारूप होकर शुम्भ निशुम्भ, कुम्भेश आदि असुरोंको मारकर देवताओंको सुख दिया, यथा—'चंड भुजदंड खंडनि बिहंडनि मुंड महिष मद भंग करि अंग तोरे। सुंभि निःसुंभि कुंभेस रन केसरिनि क्रोध बारिधि बैरि बृंद बोरे। वि० १५।' इसी प्रकार कथा भक्तके लिये नरकोंका नाश करती है। (ग) 'पार्वतीजीने दुर्गारूप होकर देवताओंके लिये असुरोंको मारा, उससे और सबका भी हित हुआ। इसी तरह राम-कथा साधुओंके लिये नरकका नाश करती है, इसीसे और सबका भी हित होता है।' (एक भाव यह भी हो सकता है कि जैसे दुर्गा सप्तशती है वैसे ही रामकथा 'सप्त सोपान' है)।

टिप्पणी—१ 'राम-कथा साधु लोगोंके बाँटे पड़ी है, इसीसे बार-बार साधुओंका हित होना लिखते हैं। यथा—(१) बुधबिश्राम सकल जन रंजनि, (२) सुजन सजीवनि मूरि सुहाई, (३) साधु बिबुधकुलहित गिरिनंदिनि, (४) संतसमाज पयोधि रमा सी, (५) तुलसिदास हित हिय हुलसी सी, (६) सिव प्रिय मेकलसैलसुता सी। २—छः बार स्त्रीलिङ्गमें कहा। इसी तरह छः प्रकारसे हित पुल्लिङ्गमें कहा है, यथा—(क) संत सुमति तिय सुभग सिंगारू। (ख) काम कोह कलिमल करिगन के। केहरि सावक जन मन बन के। (ग) सेवकसालिपाल जलधर से। (घ राम-भगत जन जीवनधन से। (ङ) सेवक मन मानस मराल से। (च) रामकथा राकेस-कर सरिस सुखद सब काहु। सज्जन कुमुद चकोर...। (पं० रा० कु०)।

संत समाज पयोधि रमा सी। बिस्व[1] भार भर अचल छमा सी ॥ १० ॥

शब्दार्थ—पयोधि = समुद्र, क्षीरसागर। रमा=लक्ष्मीजी। भार=बोझ। भर=धारण करनेके लिये।=धारण करनेवाले। छमा (क्षमा)=पृथिवी।

अर्थ—संत-समाजरूपी क्षीर-समुद्रके लिये रामकथा लक्ष्मीजीके समान है। जगत्का भार धारण करनेको अचल पृथ्वीके सदृश है ॥ १० ॥

नोट—१ 'संत समाज पयोधि रमा सी' इति। सन्त-समाजको क्षीरसमुद्रकी और रामकथाको लक्ष्मीजीकी उपमा देनेके भाव ये हैं—

(क) लक्ष्मीजी क्षीरसमुद्रसे निकलीं और उसीमें रहती हैं। इसी तरह श्रीरामकथा संत-समाजसे प्रकट हुई और इसीमें रहती है। इसीसे कहा है कि 'बिनु सतसंग न हरि कथा'—(करु०, रा० प्र०, पं० रा० कु०)। (ख) जैसे लक्ष्मीजी क्षीरसागरमें रहकर अपने पितृकुलको आनन्द देती हैं और उनके सम्बन्धसे भगवान् भी वहीं रहते हैं; वैसे ही श्रीरामकथाके सम्बन्धसे श्रीरामचन्द्रजी भी सन्तोंके हृदयमें वास करते हैं। अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी सहित रामकथा संत-समाजमें सदा वास करती है। (ग) लक्ष्मीजी दुर्वासा ऋषिके शापसे क्षीरसागरमें लुप्त हो गयी थीं जो क्षीरसमुद्र मथनेपर प्रकट हुईं, इसी तरह कलि-प्रभावसे रामकथा सन्त-समाजमें लुप्त हो गयी थी, सो श्रीगोस्वामीजीद्वारा प्रकट हुई। विश्वमें जीव, पर्वत नदी आदि हैं। यहाँ विवेकादि जीव हैं, संहिता आदि सागर, पुराणादि नदी, वेदादि पर्वत हैं। कथा सबका आधार है। (वै०)। (घ) लक्ष्मीजी क्षीरसागर-

[1]—बिस्वाभार—१६६१

की सर्वस्व, इसी तरह रामकथा सन्तसमाजकी सर्वस्व। (रा० प्र०) (ङ) क्षीरसागर श्वेतवर्ण है, वैसे ही संतसमाज सत्वगुणमय है।

नोट—२ प० पु० उ० में लिखा है कि शुद्ध एकादशी तिथिको समुद्रका मंथन प्रारंभ हुआ। इंद्रको दुर्वासा ने शाप दिया था कि 'तुम त्रिभुवनकी राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न होनेके कारण मेरा अपमान करते हो। (मैंने जो पारिजातकी माला तुमको यात्रा समय भेंट की वह तुमने हाथीके मस्तकपर रखकर उसे रौंदवा डाला) अतः तीनों लोकोंकी लक्ष्मी नष्ट हो जायगी।' इससे लक्ष्मीजी अंतर्धान हो गई थीं। उनको प्रकट करनेके लिये समुद्रका मंथन हुआ। श्रीसूक्त और विष्णुसहस्रनामका पाठ प्रारंभ हुआ और भी पूजन होने लगा। मंथनसे क्रमशः ये चौदह रत्न निकले।—१ कालकूट जिसे शंकरजी भगवान्‌के तीन नामोंका जप करते हुए पी गए। यथा 'अच्युतानन्त गोविन्द इति नामत्रयं हरेः।....' (२६०।१७–२१)। २ दरिद्रादेवी। ३ वारुणीदेवी जिसे नागराज अनंतने ग्रहण किया। ४ स्त्री, जिसे गरुड़ने अपनी स्त्री बनाया। ५ दिव्य अप्सराएँ। ६ अत्यंतरूपवान्, सूर्य, चन्द्र और अग्निके समान तेजस्वी गंधर्व। ७ ऐरावत हाथी। ८ उच्चैः श्रवा अश्व। ९ धन्वन्तरि वैद्य। १० पारिजात वृक्ष। ११ सुरभि गौ।७,८,९,१०,११ को इन्द्रने ग्रहण किया। फिर १२-द्वादशीको महालक्ष्मी प्रकट हुईं। १३ चन्द्रमा। १४ श्रीहरिकी पत्नी तुलसी देवी। इनका प्रादुर्भाव श्रीहरिकी पूजाके लिये हुआ।—तत्पश्चात् देवताओंने लक्ष्मीकी स्तुति की कि आप भगवान् विष्णुके वक्षः स्थलमें सदा निवास करें। लक्ष्मीजीने इसे स्वीकार किया।

अमृतके लिये जब समुद्र मथा गया तब उसमेंसे जो रत्न निकले उनमेंसे उपर्युक्त १,३,५,७,८,९,११,१२, १३,१४ और कल्पवृक्षके नाम प० पु० सृष्टि खंडमें आए हैं।

नोट—३ श्रीरामप्रसादशरणजी लिखते हैं कि—उत्तरकांडमें संतोंके लक्षण बतलाते हुए श्रीमुखवाक्य है कि–'ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर। ७।३८।' इसके अनुसार द्वीपान्तरमें भी जिस किसी व्यक्तिमें वे लक्षण पाये जायँ, तो उसे भी 'संत' कहना ही होगा। और संतमात्र चाहे किसी देश व वेषमें हों उन्हें 'पयोधिसमान' कहना भी सार्थक है। परंतु जैसे क्षीरसिंधुमें सर्वत्र लक्ष्मीजीका वास नहीं है, किन्तु उस महोदधिके किसी विशेष स्थानमें है, उसी तरह संतमात्रमें इस कथाका निवास नहीं है, वरंच श्रीसंप्रदायवाले महानुभावोंके अन्तःकरणमें यह कथा रमावत् रमी हुई है। जहाँ रमा हैं, वहीं रमापति हैं।पुनः, आगे कहा है—'जो नहाइ चह एहि सर भाई। सो सतसंग करौ मन लाई॥'...'संतसभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल। १। ३९।' एवं 'संतसभा चहुँ दिसि अँवराई' (१, ३७।) अतएव संतसभामें जानेसे कथा रूपिणी रमाकी प्राप्ति प्रयोजन है। (तु० प० ३। ६)।

नोट—४ 'बिस्वभार भर अचल छमा सी' इति। (क) हिन्दू-मतानुसार पृथिवी स्थिर है। इसीसे अचलताके लिये पृथिवीकी उपमा दी। पृथिवी प्रलय आदि कारणोंसे चलायमान हो जाती है पर श्रीरामकथा शिव सनकादिके हृदयमें वास होनेसे सदा अचल है। यह विशेषता है। हिन्दू ज्योतिषमतपर अन्यत्र लिखा जायगा। (ख) जैसे पृथिवीमें सब विश्व है वैसेही कथामें सब विश्व है—(पं० रा० कु०)। (ग) विश्वका भार धारण करनेमें पृथिवी सम अचल है वा अचल पृथिवीके समान है। भाव यह है कि रामकथा संसारकी आधारभूता है। (रा० प्र०)।

टिप्पणी—'श्रीरामकथाको गिरि-नन्दिनी पार्वतीजीके समान कहा, फिर यहाँ 'रमा' सम कहा, परन्तु सरस्वती-सम न कहा। यद्यपि उमा, रमा, ब्रह्माणीकी त्रयी चलती है जैसे त्रिदेवकी ?' समाधान यह है कि कथा तो सरस्वती सम है ही; इससे उसकी उपमा देनेकी आवश्यकता नहीं—'सारद दारुनारि सम स्वामी। राम सूत्रधर अंतरजामी।'

जमगन मुहँ मसि जग जमुना सी। जीवन मुकुति हेतु जनु कासी ॥११॥

अर्थ—श्रीरामकथा यम-दूतोंके मुखमें स्याही लगानेको जगत्‌में यमुनाजीके समान है। जीवोंको मुक्ति देनेके लिये मानो काशी है ॥११॥

नोट—१ (क) 'जीवन मुकुति हेतु' का दूसरा अर्थ यह भी निकलता है कि काशीमें मरनेसे मुक्ति होती है और श्रीरामकथा जीतेजी ही काशीके समान मुक्ति देती है। अर्थात् जीवन्मुक्त कर देती है। (ख) जीवन्मुक्ति जीवकी वह अवस्था है जिसमें कर्म, भोग, दुःख, सुख आदि जो चित्तके धर्म हैं उनसे शरीर रहते जीव रहित हो जाता है। यथा—"पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदुःखादिलक्षणाश्रितधर्मः क्लेशरूपत्वाद्बन्धो भवति तन्निरोधनं जीवन्मुक्तिः" (मुक्तिको०२)। जीवन्मुक्तके लक्षण महाभारत शान्तिपर्वमें अरिष्टनेमिने सगरमहाराजसे ये कहे हैं—जिसने क्षुधा, पिपासा, क्रोध, लोभ और मोहपर विजय पा ली है, जो सदा योगयुक्त होकर स्त्रीमें भी आत्मदृष्टि रखता है, जो प्राणियोंके जन्म, मृत्यु और कर्मोंके तत्त्वको यथार्थ जानता है, जो करोड़ों गाड़ियों अन्नमेंसे सेर भरको ही पेट भरनेके लिये पर्याप्त समझता है, तथा बड़े-बड़े महलोंमें भी लेटने भरकी जगहको ही अपने लिये पर्याप्त मानता है, थोड़ेसे लाभमें संतुष्ट रहता है, जिसे मायाके अद्भुत भाव छू नहीं सकते, जो पलंग और भूमिकी शय्याको समान समझता है, जो रेशमी, ऊनी, कुशके बने अथवा वल्कल वस्त्रमें भेद नहीं समझता, जिसके लिये सुख-दुःख, हानि-लाभ जय-पराजय, इच्छा-द्वेष और भय-उद्वेग बराबर हैं, जो इस देहको रक्त, मलमूत्र तथा बहुतसे दोषोंका खजाना समझता है और आनेवाले बुढ़ापेकी बुराइयोंको नहीं भूलता। यथा—"क्षुत्पिपासादयो भावा जिता यस्येह देहिनः। क्रोधो लोभस्तथा मोहः सत्ववान्मुक्त एव सः। २५। आत्मभावं तथा स्त्रीषु मुक्तमेव पुनः पुनः। यः पश्यति सदा युक्तो यथावन्मुक्त एव सः। २८। संभवं च विनाशं च भूतानां चेष्टितं तथा। यस्तत्त्वतो विजानाति लोकेऽस्मिन्मुक्त एव सः। २९। प्रस्थं वाहसहस्रेषु यात्रार्थं चैव कोटिषु। प्रासादे मञ्चकं स्थानं य पश्यति स मुच्यते। ३१।'''यश्चाप्यल्पेन संतुष्टो लोकेऽस्मिन्मुक्त एव सः।३२।'''न च संस्पृश्यते भावैरद्भुतैर्मुक्त एव सः।३३। पर्यङ्कशय्या भूमिश्च समाने यस्य देहिनः। शालयश्च कदन्नं च यस्य स्यान्मुक्त एव सः। ३४। क्षौमं च कुशचीरं च कौशेयं वल्कलानि च। आविकं चर्म च समं यस्य स्यान्मुक्त एव सः। ३५। सुख-दुःखे समे यस्य लाभालाभौ जयाजयौ। इच्छाद्वेषौ भयोद्वेगौ सर्वथा मुक्त एव सः।३७। रक्तमूत्रपुरीषाणां दोषाणां संचयांस्तथा। शरीरं दोष बहुलं दृष्ट्वा चैव विमुच्यते। ३८। वलीपलितसंयोगं कार्श्यं वैवर्ण्यमेव च। कुब्जाभावं च जरया यः पश्यति स मुच्यते। ३९।" (अ० २८८)।

आश्वमेधिकपर्व सिद्ध-काश्यपसंवादमें कहा है कि—जो सबका मित्र, सब कुछ सहनेवाला, चित्त निग्रहमें अनुरक्त, जितेन्द्रिय, निर्भय, क्रोधरहित, सबके प्रति आत्मभाव रखनेवाला, पवित्र निरभिमान, अमानी, जीवन-मरण-दुःख-सुख, प्रिय-द्वेष, लाभालाभ, इत्यादिमें समबुद्धिवाला, निस्पृही, किसीका अपमान न करनेवाला, निर्द्वन्द्व, वीतरागी, मित्र-पुत्र-बन्धु-आदिसे रहित, अर्थ-धर्म-कामादि आकांक्षासे रहित, वैराग्यवान् आत्मदोष देखते रहनेवाला, इत्यादि है, वह 'मुक्त' है। यथा—"सर्वमित्रः सर्वसहः शमे रक्तो जितेन्द्रियः। व्यपेत भयमन्युश्च आत्मवान्मुच्यते नरः ।२। आत्मवत्सर्व भूतेषु यश्चरेन्नियतः शुचिः। अमानी निरभिमानः सर्वतो मुक्त एव सः। ३। जीवितं मरणं चोभे सुखदुःखे तथैव च। लाभालाभे प्रियद्वेष्ये यः समः स च मुच्यते ।४। न कस्यचित्स्पृहयते नाऽवजानाति किंचन। निर्द्वन्द्वो वीतरागात्मा सर्वथा मुक्त एव सः।५। अनमित्रश्च निर्बन्धुरनपत्यश्च यः क्वचित्। त्यक्तधर्मार्थकामाश्च निराकांक्षी च मुच्यते ।६।" इत्यादि। (अ० १९। अनुगीतापर्वप्रकरण)।

(ग)—कथासे मुक्ति होती है। यथा भागवते—"यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थि निबन्धनम्। छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ॥ भा० १।२।१५।' अर्थात् जिनके चिन्तनरूपी खड्ग से युक्त पंडित कर्मजन्य

ग्रन्थिरूपी बंधनको काट देते हैं उनकी कथामें प्रेम कौन न करेगा ?

नोट—२ पद्मपुराणमें ऐसी कथा है कि—"कार्तिक शुक्ल द्वितीयाको जो कोई यमुनाजीमें स्नान करके धर्मराजकी पूजा करे उन्हें यमदूत नरकमें नहीं ले जाते।" ऐसा वरदान यमराजने यमुनाजीको दिया था। यमुनाजी सूर्यकी पुत्री और यम पुत्र हैं। यह लोकरीति है कि इस द्वितीयाको भाई अपनी वहिनके यहाँ जाता है, भोजन करता है और फिर यथाशक्ति वहिनको कुछ देता है। इसी द्वितीयाको धर्मराजने वरदान दिया था। [१.२ (६) 'करम कथा रविनंदिनि०' देखिये]

☞ परन्तु गोस्वामीजीके मतानुसार यमुनामें यह गुण सदैव है। यथा—'जमुना ज्यों ज्यों लागी बाढ़न। त्यों त्यों सुकृत सुभट कलिभूपहिं निदरि लगे बहुँ काढ़न। ज्यों ज्यों जल मलीन त्यों-त्यों जमगन मुख मलीन लहै आढ़न। तुलसिदास जगदघजवास ज्यों अनघ मेघ लागे डाढ़न। वि० २१।' इसीसे यमुनाजीकी उपमा दी।

३ 'जमगन मुँह मसि जग जमुना सी'। (क) मुखमें स्याही लगनेका भाव यह है कि यमदूत पापीको जब लेने आते हैं तब उस समय यदि उसके या और किसीके मुखसे श्रीरामकथाकी एक भी चौपाई निकले तो उसके पास वैष्णव-पार्षद पहुँच जाते हैं, यमदूत उस पापी प्राणीको नहीं लेने पाते। अपना-सा मुँह लेकर चले जाते हैं। पुनः, रामकथाके पढ़ने-सुननेवाले नरक-भोग नहीं करते—यह भी भाव है।

(ख)—यमुनाजी यमदूतोंको लज्जित कर देती हैं। इसका प्रमाण पद्मपुराणमें यह है—'ऊर्जे शुक्लद्वितीयायां योऽपराह्णेऽर्चयेद्यमम्। स्नानं कृत्वा भानुजायां यमलोकं न पश्यति ॥' इस प्रकार रामकथाके वक्ता-श्रोताके समीप यमदूत अपना मुख नहीं दिखाते। अर्थात् उनसे भागे-फिरते हैं। (मा० प०)।

टिप्पणी—यमपुर निवारण होनेपर जीवकी मुक्ति हो सकती है। इसीसे प्रथम यमुनासम कहकर तब काशी-सम कहा।

रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी सी ॥१२॥

शब्दार्थ—हित=लिये=भलाई। हुलसी सी=हुल्लासरूप, आनन्दरूप, आनन्दकी लहर-सदृश। यथा—'सुख मूल दूलह देखि दंपति पुलक तन हुलसेउ हियो ।१।३२४।'=हुलसी माताके समान।

अर्थ—श्रीरामजीको यह कथा पवित्र तुलसीके समान प्रिय है। मुझ तुलसीदासके हितके लिये हुलसी माताके एवं हृदयके आनन्दके समान है ॥१२॥

नोट—१ "रामहि प्रिय पावनि तुलसी सी" इति। (क)-'तुलसी' पवित्र है और श्रीरामजीको प्रिय है। तुलसीका पत्ता, फूल, फल, मूल, शाखा, छाल, तना और मिट्टी आदि सभी पावन हैं। यथा—"पत्रं पुष्पं फलं मूलं शाखा त्वक् स्कंधसंज्ञितम्। तुलसीसंभवं सर्वं पावनं मृत्तिकादिकम् ॥ (प०पु० उत्तरखण्ड (२४।२)। वह इतनी पवित्र है कि यदि मृतकके दाहमें उसकी एक भी लकड़ी पहुँच जाय तो उसकी मुक्ति हो जाती है। यथा—'यद्येकं तुलसीकाष्ठंमध्ये काष्ठस्य तस्य हि। दाहकाले भवेन्मुक्तिः कोटिपापयुतस्य च।" (उत्तराखण्ड २४।७)। तुलसीकी जड़में ब्रह्मा, मध्यभागमें भगवान् जनार्दन और मंजरीमें भगवान् रुद्रका निवास है। इसीसे वह पावन मानी गई है। दर्शन से सारे पापोंका नाश करती है, स्पर्शसे शरीरको पवित्र करती, प्रणामसे रोगोंका निवारण करती, जलसे सींचनेपर यमराजको भी भय पहुँचाती है और भगवान्के चरणोंपर चढ़ानेपर मोक्ष प्रदान करती है। यथा—"या दृष्टा निखिलाघसंघशमनी स्पृष्टा वपुष्पावनी रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्तान्तकत्रासिनी। प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यैतु लस्यै नमः॥" (प०पु० उत्तर, ५६।२२। पाताल० ७६.६६।)। प्रियत्व यथा—"तुलस्यमृतजन्मासि सदा त्वं केशवप्रिया" स्व० व० सृष्टि. ५६।११।", (ख) भगवानको तुलसी कैसी प्रिय है, यह बात स्वयं भगवान्ने अर्जुनजीसे कही है। तुलसीसे बढ़कर कोई पुष्प, मणि सुवर्ण आदि उनको प्रिय नहीं है। लाल, मणि, मोति, माणिक्य, वैदूर्य और मूँगा आदिसे भी

जड़में ब्रह्मा, मध्यभागमें भगवान् जनार्दन और मंजरीमें भगवान् रुद्रका निवास है। इसीसे वह पावन मानी गई है। दर्शनसे सारे पापोंका नाश करती है, स्पर्शसे शरीरको पवित्र करती, प्रणामसे रोगोंका निवारण करती, जलसे सींचनेपर यमराजको भी भय पहुँचाती है और भगवान्‌के चरणोंपर चढ़ानेपर मोक्ष प्रदान करती है। यथा—"या दृष्टा निखिलाघसंघशमनी स्पृष्टा वपुःपावनी रोगाणामभिवन्दिता निरसनी सिक्तान्तकत्रासिनी। प्रत्यासत्तिविधायिनी भगवतः कृष्णस्य संरोपिता न्यस्ता तच्चरणे विमुक्तिफलदा तस्यै तुलस्यै नमः ॥" (प० पु० उत्तर, ५६।२२। पाताल० ७६.६३)। प्रियत्व यथा—"तुलस्यमृतजन्मासि सदा त्वं केशवप्रिया" (प० प० सृष्टि० ५६।११)
(ख) भगवान्‌को तुलसी कैसी प्रिय है, यह बात स्वयं भगवान्‌ने अर्जुनजीसे कही है। तुलसीसे बढ़कर कोई पुष्प, मणि, सुवर्ण आदि उनको प्रिय नहीं है। लाल, मणि, मोती, माणिक्य, वैदूर्य और मूँगा आदिसे भी पूजित होकर भगवान् वैसे संतुष्ट नहीं होते, जैसे तुलसीदल, तुलसीमंजरी तुलसीकी लकड़ी और इनके अभावमें तुलसी वृक्षके जड़की मिट्टीसे पूजित होनेपर होते हैं। (प० पु० उ० अ० ५६)। ☞ भगवान् तुलसीकाष्ठकी धूप, चन्दन आदिसे प्रसन्न होते हैं तब तुलसीमंजरीकी तो बात ही क्या ?

'तुलसी' इतनी प्रिय क्यों है, इसका कारण यह भी है कि ये लक्ष्मी ही हैं कथा यह है। कि सरस्वतीने लक्ष्मीजीको शाप दिया था कि तुम वृक्ष और नदी रूप हो जाओ। यथा—"शशाप वाणी तां पद्मां महाकोपवती सती। वृक्षरूपा सरिद्रूपा भविष्यसि न संशयः ॥ ६।३२।" पद्माजी अपने अंशसे भारतमें आकर पद्मावती नदी और तुलसी हुईं। यथा—"पद्मा जगाम कलया सा च पद्मावती नदी। भारतं भारतीशापात्स्वयं तस्थौ हरेः पदम् ॥ ७।७। ततोऽन्यया सा कलया चालभज्जन्म भारते। धर्मध्वजसुता लक्ष्मीर्विख्याता तुलसीति च ॥ ८ ॥ (ब्रह्मवैवर्तपुराण प्रकृतिखंड)।

(ग)—पुनः, तुलसीके समान प्रिय इससे भी कहा कि श्रीरामचन्द्रजी जो माला हृदयपर धारण करते हैं, उसमें तुलसी भी अवश्य होती है। गोस्वामीजीने ठौर-ठौर पर इसका उल्लेख किया है। यथा—'उर श्रीवत्स रुचिर बनमाला। १।१४७।', 'कुंजरमनि कंठा कलित उरन्हि तुलसिका माल ॥१।२४३।', 'सरसिज लोचन बाहु बिसाला। जटा मुकुट सिर उर बनमाला। ३।३४।' बनमालमें प्रथम तुलसी है, यथा—"सुंदर पट पीत बिसद भ्राजत बनमाल उरसि तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिधि बनाई। गी० ७।३।" पुनः,

(घ)—'तुलसी-सम प्रिय' कहकर सूचित किया कि श्रीजी भी इस कथाको हृदयमें धारण करती हैं। (पं० रामकुमार)। पुनः, (ङ) तुलसीकी तुलनाका भाव यह है कि जो कुछ कर्म-धर्म तुलसीके बिना किया जाता है वह सब निष्फल हो जाता है। इसी प्रकार भगवत् कथा के बिना जीवन व्यर्थ हो जाता है।

नोट २—"···हिय हुलसी सी" इति। (क) करुणासिन्धुजी इसका अर्थ यों करते हैं कि "मेरे हृदयको श्रीरामचन्द्र-विषय हुल्लासरूप ही है"। (ख)—पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'हृदयमें निरन्तर कथाका उल्लास (आनन्द) बना रहनाही बड़ा हित है। (ग)—सन्तउन्मनी-टीकाकार लिखते हैं कि वृहद्रामायण माहात्म्यमें गोस्वामीजीकी माताका नाम 'हुलसी' और पिताका नाम अम्बादत्त दिया है। पुनः,—"सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय। गोद लिये हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय ॥"

इस दोहेके आधारपर भी कुछ लोग 'हुलसी' आपकी माताका नाम कहते हैं। यह दोहा खानखानाका कहा जाता है। माताका 'हुलसी' नाम होना विवादास्पद रहा है। वेणीमाधवदासकृत 'मूलगुसाईं चरित' में भी माताका नाम हुलसी लिखा है। यथा—'उदये हुलसी उदघाटिहि ते। सुर संत सरोरुह से बिकसे', हुलसी-सुत तीरथराज गये'। 'हुलसी' माताका नाम होनेसे अर्थ पिछले चरणका यह होता है कि "मुझ तुलसीदासका हृदयसे हित करनेवाली 'हुलसी' माताके समान है।" भाव यह है कि जैसे माताके हृदयमें हर समय बालकके हितका विचार बना रहता है वैसे ही यह कथा सदैव मेरा हित करती है। तुलसीदास अपने

टिनके लिये रामकथाको माता हुलसीके समान कहकर जनाते हैं कि पुत्र कुपूत भी हो तो भी माताका स्नेह नसपर सदा एकरस बना रहता है—"कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।" और 'हुलसी' माताने हित किया भी। पिताने तो त्याग ही दिया। यथा—"हम का करिबे अस बालक लै। जेहि पालै जो तासु करै सोइ छै। जननेउ सुत मोर अभागो महीं। सो जिये वा मरै मोहिं सोच नहीं॥" (मूल गुसाईं चरित)। माताने सोचा कि यह मूलमें पैदा हुआ है और माता-पिताका घातक है—यह समझकर इसका पिता इसको कहीं फेंकवा न दे, अतएव उसने बालक दासीको सौंपकर उसको घर भेज दिया और बालकके कल्याणके लिये देवताओंसे प्रार्थना की। यथा—'अबहीं सिसु लै गवनहु हरिपुर।...नहिं तो ध्रुव जानहु मोरे मुये। सिसु फेंकि पवारहिंगे भकुये। सखि जानि न पावै कोउ बतियाँ। चलि जायहु मग रतियाँ-रतियाँ। तेहि गोद दियो सिसु ढारस दै। निज भूषन दै दियो ताहि पठै। सुरचाप चली सो गई सिसु लै। हुलसी उर सूनु बियोग फबै। गोहराइ रमेस महेश बिधी। बिनती करि राखबि मोर निधी॥...॥ ५॥" (मूल गुसाईं चरित)। इस उद्धरणमें माताके हृदयके भाव झलक रहे हैं। ३—बैजनाथजी लिखते हैं कि—"जैसे हुलसीने अपने उरसे उत्पन्नकर स्थूलरूपका पालन किया वैसे ही रामायण अपने उरसे उत्पन्न करके आत्मरूपका पालन करेगी। यहाँ रामवश होना प्रयोजन है।"

सिव प्रिय मेकल-सैल-सुता सी। सकल सिद्धि सुख संपतिरासी॥ १३॥

शब्दार्थ 'मेकल-सैल-सुता'—मेकल-शैल अमरकण्टक पहाड़ है। यहाँसे नर्मदा नदी निकली है। इसीसे नर्मदाजीको 'मेकल-शैल-सुता' कहा। 'रेवती तु नर्मदा सोमोद्भवा मेकलाकन्यका' इत्यमरः। १।१०।३२।'

अर्थ—श्रीशिवजीको यह कथा नर्मदाके समान प्रिय है। सब सिद्धियों, सुख और सम्पत्तिकी राशि है॥ १३॥

नोट—१ सूर्यप्रसाद मिश्रः—नर्मदाके समान कहनेका भाव यह है कि नर्मदाके स्मरणसे सर्पजन्य विष-नाश हो जाता है। प्रमाण—'नर्मदायै नमःप्रातर्नर्मदायै नमोनिशि। नमस्ते नर्मदे तुभ्यं त्राहि माँविषसर्पतः॥' (विष्णु पुराण); वैसेही रामकथाके स्मरणसे संसारजन्य विष दूर हो जाता है।

२ 'सिव प्रिय मेकल-सैल-सुता-सी' इति। नर्मदा नदीसे प्रायः स्फटिकके या लाल वा काले रंगके पत्थरके अण्डाकार टुकड़े निकलते हैं जिन्हें नर्मदेश्वर कहते हैं। ये पुराणानुसार शिवजीके स्वरूप माने जाते हैं और इनके पूजनका बहुत माहात्म्य कहा गया है। शिवजीको नर्मदा इतनी प्रिय है कि नर्मदेश्वररूपसे उसमें सदा पड़े रहते हैं या यों कहिये कि शिवजी अति प्रियत्वके कारण सदा अहर्निश इसीद्वारा प्रकट होते हैं। रामकथा भी शिवजीको ऐसीही प्रिय है अर्थात् आप निरन्तर इसीमें निमग्न रहते हैं।

संत उनमनी टीकाकार लिखते हैं कि—"शिवजीका प्रियत्व इतना है कि अनेक रूप धारण करके नर्मदामें नाना क्रीड़ा करते हैं, तद्वत् इसके अक्षर-अक्षर प्रति तत्त्वोंके नाना भावार्थरूप कर उसीमें निमग्न रहते हैं। अतः मानसरामायण पर नाना अर्थोंका धाराप्रवाह है।"

कोई-कोई 'मेकल सैल सुता' को द्वन्द्वसमास मानकर यह अर्थ करते हैं कि—'मेकलसुता नर्मदा और शैलसुता श्रीगिरिजा (पार्वतीजी) के सदृश प्रिय है।' पर इस अर्थमें एक अड़चन यह पड़ती है कि पूर्व एकबार 'गिरिनंदिनि' की उपमा दे आए हैं। दूसरे, नर्मदाके साथ पार्वतीजीको रखने में [श्रीजानकी-शरणजीके मतानुसार] एकदम भावविरोध होता है—"कहाँ नर्मदा अर्थात् माताके समान कहकर उसी जगह पार्वतीजी अर्थात् पत्नीके समान कहना कितना असंगत होता है। रामकथाको भला परमभक्त शिवजी पत्नी-समान मानेंगे।" (मा० मा०)। नर्मदा शिवजीको प्रिय हैं प्रमाण "यथा—"एषा पवित्र विपुला नदी त्रैलोक्यविश्रुता। नमः सरितां श्रेष्ठा महादेवस्य वल्लभा॥" (सं० खर्रा) अर्थात् (वायुपुराणमें कहा है कि) यह पवित्र, बड़ी,

और त्रैलोक्यमें प्रसिद्ध नदियोंमें श्रेष्ठ नर्मदा महादेवजीको प्रिय हैं। पद्मपु० स्वर्गखण्डमें नर्मदाकी उत्पत्ति श्रीशिवजीके शरीरसे कही गई हैं। यथा—'नमोऽस्तु ते ऋषिगणैः शंकरदेहनिः सृते ।१८।१७।' और यह भी कहा है कि शिवजी नर्मदा नदीका नित्य सेवन करते हैं। अतः 'शिव प्रिय···' कहा। पुनः, स्कंदपुराणमें कथा है कि नर्मदाजीने काशीमें आकर भगवान् शंकरकी आराधना की जिससे उन्होंने प्रसन्न होकर वर दिया कि तुम्हारी निर्द्वन्द्व भक्ति हममें बनी रहे और यह भी कहा कि तुम्हारे तटपर जितने भी प्रस्तरखण्ड हैं वे सब मेरे वरसे शिवलिङ्गस्वरूप हो जायँगे। (काशीखंड उत्तरार्ध)।

३ 'सुख संपति रासी' से नव निधियों का अर्थ भी लिया जाता है। निधियाँ ये हैं—"महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकर कच्छपौ। मुकुंद कुंद नीलश्च खर्वश्च निधयो नव।" मार्कण्डेय पुराण में निधियों की संख्या आठ कही है, यथा—"यत्र पद्म महापद्मौ तथा मकर कच्छपौ। मुकुन्दो नन्दकश्चैव नीलः शंखोऽष्टमो निधिः ॥६५।५।" 'पद्म' निधि सत्त्वगुणका आधार है, महापद्म भी सात्त्विक है, मकर तमोगुणी होती है, कच्छपनिधिकी दृष्टिसे भी मनुष्यमें तमोगुणकी प्रधानता होती है, यह भी तामसी है, मुकुन्दनिधि रजोगुणी है और नन्द-निधि रजोगुण और तमोगुण दोनोंसे संयुक्त है। नील-निधि सत्वगुण और रजोगुण दोनोंको धारण करती है और शङ्ख निधि रजोगुण-तमोगुण-युक्त है। विशेष २। १२५ (१) 'हरषे जनु नव निधि घर आई' तथा १। २२० (२) 'मनहुँ रंक निधि लूटन लागी' में देखिये।

सद-गुन-सुर-गन अंब अदिति सी। रघुपति भगति प्रेम परमिति सी॥ १४॥

शब्दार्थ—अंब=माता। अदिति—ये दक्षप्रजापतिकी कन्या और कश्यप ऋषिकी पत्नी हैं। इनसे सूर्य, इन्द्र इत्यादि तैंतीस देवता उत्पन्न हुए और ये देवताओंकी माता कहलाती हैं। (श० सा०)। परमिति=सीमा, हद। सदगुन(सद्गुन)=शुभ गुण।

अर्थ—(यह कथा) सद्गुणरूपी देवताओं (के उत्पन्न करने) को अदिति माताके समान है वा अदितिके समान माता है। रघुनाथजीकी भक्ति और प्रेमकी सीमाके समान है *॥ १४॥

नोट—१ 'सद्गुण' जैसे कि सत्य, शौच, दया, क्षमा, त्याग, संतोष, कोमलता, शम, दम, तप, समता, तितिक्षा, उपरति, शास्त्रविचार, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, शूरवीरता, तेज, बल, स्मृति, स्वतंत्रता, कुशलता, कांति, धैर्य, मृदुलता, निर्भीकता, विनय, शील, साहस, उत्साह, बल, सौभाग्य, गंभीरता, स्थिरता, आस्तिकता, कीर्ति, मान और निरहंकारता आदि। यथा—"सत्यं शौचं दया क्षान्तिस्त्यागः संतोष आर्जवम्। शमो दमस्तपः साम्यं तितिक्षोपरतिः श्रुतम्॥ २६॥ ज्ञानं विरक्तिरैश्वर्यं शौर्यं तेजो बलं स्मृतिः। स्वातंत्र्यं कौशलं कान्तिर्धैर्यमार्दवमेव च। २७। प्रागल्भ्यं प्रश्रयः शीलं सह ओजो बलंभगः। गाम्भीर्यं स्थैर्यमास्तिक्यं कीर्तिमातोऽनहंकृतिः। २८। भा० १। १६।"

२—'अदिति सी' कहनेका भाव यह है कि जैसे—(क) अदितिसे देवताओंकी वैसे ही श्रीरामकथासे शुभ गुणोंकी उत्पत्ति है। पुनः, जैसे (ख) अदितिके पुत्र दिव्य और अमर हैं; वैसे ही कथासे उत्पन्न सद्गुण भी दिव्य और नाशरहित हैं—(पं० रा० कु०)। (ग) अदिति देवताओंको उत्पन्न करके बराबर उनके हितमें रत रहती है और जिस तरह हो उनका भोग-विलास ऐश्वर्य सदा स्थित रखती है—देखिये कि देवहितके लिये इन्होंने भगवान्‌को अपने यहाँ वामनरूपसे अवतीर्ण कराया था। इसी तरह रामकथारूपी माता सद्गुणोंको उत्पन्न करके उनको अपने भक्तोंमें (कलिमलसे रक्षा करती हुई) स्थिर रखती है।

---

* अर्थान्तर—(१) भगति प्रेम=प्रेमा-पराभक्ति। (करु०)। (२)—"भगति प्रेम···"=भक्तिमें प्रेम की अवधि के समान है। (रा० प०)। 'भक्ति और प्रेम' ऐसा अर्थ करनेमें 'भक्ति' से सेवाका भाव लेंगे, क्योंकि यह शब्द 'भज् सेवायाम्' धातुसे बना है।

टिप्पणी—यहाँ प्रथम सद्‌गुणोंकी उत्पत्ति कहकर तब प्रेम-भक्ति कही। क्योंकि सद्‌गुणों का फल प्रेमभक्ति है जिसका फल श्रीसीतारामजीकी प्राप्ति और उनका हृदयमें बसना है, यथा—'तव पद पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर फल यह सुंदर।', (७। ४९), 'सब साधन कर एक फल जेहि जाने सो जान।…' (दोहावली)। यह आगे कहते हैं।

नोट—२ श्रीजानकीदासजी 'रघुबर-भगति प्रेमपरमिति सी' का भाव यह लिखते हैं कि 'रामकथाके आगे अपर प्रेमाभक्ति नहीं है।' संतसिंहजी लिखते हैं कि इससे परे प्रेमभक्तिका प्रतिपादक ग्रन्थ और नहीं है। इस दीनकी समझमें भक्ति और प्रेमकी सीमा कहनेका आशय यह है कि श्रीरामकथामें, श्रीरामगुणानुवादमें, श्रीरामचर्चामें दिन रात बीतना भक्तके लिये भक्ति और प्रेमकी सीमा है। प्राणपतिकी ही कीर्त्तिमें निरंतर लगे रहनेसे बढ़कर क्या है? श्रीसनकादि तक कथा सुननेके लिये ध्यानको तिलांजलि दे देते हैं और ब्रह्मा आदि नारदजीसे बारंबार श्रीरामचरित सुनते हैं।—"बार-बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥ सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं॥ सनकादिक नारदहिं सराहहिं। जद्यपि ब्रह्मनिरत मुनि आहहिं॥ सुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥ जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।…। ७। ४२।' यदि कथा प्रेम और भक्तिकी सीमा न होती तो ब्रह्मनिरत मुनि ध्यान छोड़कर उसे क्यों सुनते तथा श्रीभुशुण्डीजी भी नित्य कथा क्यों कहते?

३ बैजनाथजी कहते हैं कि—"श्रीरामभक्तिके मूल प्रेमकी मर्यादा है। अर्थात् रामायणके श्रवण कीर्त्तन से परिपूर्ण प्रेम उत्पन्न होनेसे जीव भक्तिको धारण करता है। इसमें चातुर्यता प्रयोजन है।" पुनः, 'सीमा' का भाव यह है कि जैसे जलकी कांक्षा होनेपर तालाब कुआँ या नदीके तटपर जाने से उसका ग्रहण होता है वैसे ही कथाके निकट जानेसे भक्ति और प्रेम प्राप्त होते हैं। अथवा, जैसे सीमा अपनेमें जलको रोके रखती है वैसे ही यह भक्ति और प्रेमको अपनेमें रोके हुए हैं।

दोहा—रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु।
तुलसी सुभग सनेह बन सिय-रघुबीर-बिहारु॥३१॥

अर्थ—श्रीरामकथा मन्दाकिनी-नदी है सुन्दर निर्मल चित्त चित्रकूट है। तुलसीदासजी कहते हैं कि (भक्तोंका) सुन्दर स्नेह (ही) वन है जहाँ श्रीसिय-रघुबीर विहार करते हैं॥ ३१॥

नोट—१ 'मंदाकिनी'—यह नदी अनसूया पर्वतसे निकली है जो चित्रकूटसे कोई पाँच कोस पर है। पौराणिक कथाके अनुसार यह नदी श्रीअनसूया महादेवी अपने तपोबलसे लायीं। इसकी महिमा अयोध्याकाण्डमें दी है।—'अत्रिप्रिया निज तपबल आनी। २। १३२। ५-६।' देखिये। 'बन' के दो अर्थ हैं—जंगल और जल। विहार दोनोंमें होता है। स्नेहको बनकी उपमा दी। दोनोंमें समानता है। स्नेहमें लोग सुध-बुध भूल जाते हैं। देखिये निषादराज भरतजीके साथ जब चित्रकूट पहुँचे और भरतजीको वृक्ष दिखाये जहाँ श्रीरामचन्द्रजी विराजमान थे उस समय भरतजीका प्रेम देख 'सखहिं सनेह बिबस मग भूला'। जंगलमें भी लोग भटक जाते हैं। पुनः, स्नेह जल है, यथा—'माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु।'

ॐसिय रघुबीर बिहारु इतिॐ

'बिहार'—मं० श्लो० ४ देखिये। श्रीसीतारामजी विहार करते हैं। श्रीकरुणासिन्धुजी और काष्ठजिह्वास्वामी 'रघुबीर' से श्रीरामलक्ष्मण दोनोंका भाव लेते हैं। क्योंकि चित्रकूटमें दोनों साथ-साथ थे। यथा—"रामु लखन सीता सहित सोहत परन निकेत। जिमि बासव बस अमरपुर सची जयंत समेत॥" (२। १४१)। इस दोहेमें भी

विहारगर्भित उदाहरण है। श्रीगोस्वामीजीके मतानुसार श्रीसीतारामजीका चित्रकूटमें नित्य निवास रहता है। यह बात दोहावलीमें स्पष्ट लिखी है। यथा—"चित्रकूट सब दिन बसत प्रभु सिय लषन समेत। रामनाम जप जापकहिं तुलसी अभिमत देत॥ दोहा ४॥" 'रघुबीर' पद यहाँ सार्थक है। स्त्रीसहित वनमें विचरना यह वीरका ही काम है।

बैजनाथजी लिखते हैं कि—'चित्त विषे प्रणय, प्रेम, आसक्ति, लग्न, लाग, अनुराग आदि श्रीरामस्नेह सुभग वनके वृक्ष हैं। अर्थात् नेहकी ललित दृष्टि ललिताई शोभा है उसीमें श्रीसियरघुवीरका नित्य विहार है। भाव यह कि जो श्रीरामस्नेहमें सुंदर चित्त लगाकर रामायण धारण करे उसीको प्रभुका विहार प्राप्त हो। यहाँ रामवश होना काव्यका प्रयोजन है।'

सब दिन श्रीसीतारामजीका यहाँ निवास एवं विहार—यह प्रभुका नित्य वा ऐश्वर्यचरित है, जो प्रभुकी कृपासे ही जानने और समझनेमें आता है। माधुर्य वा नैमित्तिक लीलामें तो वे कुछ ही दिन चित्रकूटमें रहे। 'विहार' का किंचित् दर्शन अरण्यकांड 'एक बार चुनि कुसुम सुहाए।''' ३। १।' में कविने करा दिया है। प्रेमी वहाँ देख लें। गीतावली २।४७ में भी यहाँ नित्य विहार कहा है। यथा—"चित्रकूट कानन छवि को कवि बरनै पार। जहँ सिय लषन सहित नित रघुबर करहिं बिहार॥ २१॥ तुलसिदास चाँचरि मिस कहे राम-गुन-ग्राम।"—'विहार' शब्दमें गूढ़ भाव भरे हैं।

इस दोहेका भाव यह है कि—(क) जैसे चित्रकूटमें मन्दाकिनीके तटपर वनमें श्रीसीतारामजी सदा विहार करते हैं, वैसे ही जिनके निर्मल चित्तमें रामकथाका सुन्दर प्रेम है उनके हृदयमें श्रीसीतारामजी सदा 'विहार करते हैं। (ख) मन्दाकिनीका प्रवाह सब ऋतुओंमें जारी रहता है। इसी तरह शुद्ध अन्तःकरणके सन्तोंमें रामकथाका प्रवाह जानिये। पुनः, जैसे जल न रहनेसे जल-विहार नहीं हो सकता और जङ्गलका विहार निर्जल वनमें मनको नहीं भाता, वैसे ही कथामें प्रेम न हुआ और चित्त उधरसे हटा तो सियरामविहार न होगा। अर्थात् न तो कथा ही समझनेमें आवेगी और न प्रभुकी प्राप्ति होगी। (ग) जैसे श्रीरघुनाथजीके चित्रकूटमें रहनेसे दुष्ट डरते थे वैसे ही यहाँ कामादि खल चित्तमें बाधा न कर सकेंगे।

नोट—यहाँतक २५ विशेषण स्त्रीलिङ्गमें दिये। प्रायः प्रत्येक चौपाईमें दो-दो विशेषण हैं, कहीं-कहीं एक ही एक दिया है (मा० प्र०)।

राम-चरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिअ सुभग सिंगारू॥ १॥

अर्थ—श्रीरामचरित सुन्दर चिन्तामणि हैं, सन्तोंकी सुमतिरूपिणी स्त्रीका सुन्दर शृङ्गार है॥ १॥

नोट—१ (क) 'चिन्तामणि सब मणियोंमें श्रेष्ठ है, यथा—'चिंतामनि पुनि उपल दसानन। ६। २६।' इसी तरह रामचरित सब धर्मोंसे श्रेष्ठ हैं। सन्तकी मतिकी शोभा रामचरित्र धारण करनेसे है; अन्य ग्रन्थसे शोभा नहीं है। 'सुभग सिंगारू' कहकर सूचित किया कि और सब शृङ्गारोंसे यह अधिक है। यथा—'तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने।' (विनय २३५)। विना रामचरित जाने चित्तकी चिन्ता नहीं मिटती। प्राकृत शृङ्गार नाशवान् है और यह नाशरहित सदा एकरस है। (पं० रा० कु०)। (ख) जैसे चिन्तामणि जिस पदार्थका चिन्तन करो सोई देता है वैसे ही रामचरित्र सब पदार्थोंका देनेवाला है। (करु०)। (ग) 'सुभग सिंगारू' का भाव यह है कि यह 'नित्य, नाशरहित, एकरस और अनित्य प्राकृत शृङ्गारसे विलक्षण है।' (रा० प्र०)।

२—उत्तरकांडमें सुन्दर चिन्तामणिके लक्षण यों दिये हैं—"(राम भगति) चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर॥ परम प्रकास रूप दिनराती। नहि तहं चहिय दिया घृत बाती॥ मोह दरिद्र निकट नहिं

आवा। लोभ बात नहिं ताहि बुझावा॥ प्रबल अविद्या तम मिटि जाई। हारहिं सकल सलभ समुदाई॥ खल कामादि निकट नहिं जाहीं। (बसइ भगति जाके उर माहीं)॥ गरल सुधा सम अरि हित होई। तेहि मनि बिनु सुख पाव न कोई॥ ब्यापहिं मानस-रोग न भारी। जिन्हके बस सब जीव दुखारी॥ (राम-भगति-मनि उर बस जाके)। दुख लवलेस न सपनेहु ताके॥१३०॥" यहाँ रामचरितको 'सुन्दर चिन्तामणि' कहकर इन सब लक्षणों का श्रीरामचरित्रसे प्राप्त हो जाना सूचित किया है।

☞ 'चिन्तामणि' के गुण स्कंदपुराण ब्रह्मखण्डान्तर्गत ब्रह्मोत्तरखंड अध्याय ५ में ये कहे हैं—वह कौस्तुभमणिके समान कान्तिमान् और सूर्यके सदृश है। इसके दर्शन, श्रवण, ध्यानसे चिन्तित पदार्थ प्राप्त हो जाता है। उसकी कान्तिके किंचित् स्पर्शसे ताँबा, लोहा, सीसा, पत्थर आदि वस्तु भी सुवर्ण हो जाते हैं। यथा—"चिन्तामणिं ददौ दिव्यं मणिभद्रो महामतिः। १५। स मणिः कौस्तुभ इव द्योतमानोऽर्क संनिभः। दृष्टः श्रुतो वा ध्यातो वा नृणां यच्छति चिन्तितम्। १६। तस्य कान्तिलवस्पृष्टं कांस्यं ताम्रमयस्त्रपु। पाषाणादिकमन्यद्वा सद्यो भवति कांचनम्॥ १७॥"

३—बैजनाथजी लिखते हैं कि चिंतामणिमें चार गुण हैं—"तम नासत दारिद हरत, रुज हरि विघ्न निवारि" वैसे ही श्रीरामचरित्रमें अविद्या-तमनाश, मोह-दारिद्र्य-हरण, मानस-रोग-शमन, कामादि-विघ्न-निवारण ये गुण हैं। संतोंकी सुन्दर बुद्धिरूपिणी स्त्रीके अंगोंके सोलहों शृङ्गाररूप यह रामचरित है। यथा—'उबटि सुकृति प्रेम मज्जन सुधर्म पट नेह नेह माँग शम दमसे दुरारी है। नूपुर सुबैनगुण यावक सुबुद्धि आँजि चूरि सज्जनाई सेव मेंहदी सँवारी है॥ दया कर्णफूल नथ शांति हरिगुण माल शुद्धता सुगंधपान ज्ञान त्याग कारी है। घूँघट सध्यान सेज तुरिया में बैजनाथ रामपति पास तिय सुमति शृंगारी है॥" इति श्रवणमात्रसे प्राप्त होता है।

नोट—४ 'चारु' विशेषण देकर जनाया कि जो चिन्तामणि इन्द्रके पास है वह अर्थ-धर्मकाम ही दे सकती है और यह चिन्तामणि भक्ति एवं मुक्ति भी देती है। वह चिन्तित पदार्थ छोड़ और कुछ नहीं दे सकती और रामचरित्र अचिन्तितको भी देनेवाला है।

जग मंगल गुन-ग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के॥ २॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके गुणग्राम जगत्‌का कल्याण करनेवाले हैं। मुक्ति, धन, धर्म और धामके देनेवाले हैं॥ २॥

नोट—१ 'जग मंगल००' से जनाया कि जगत्‌के अन्य सब व्यवहार अमंगलरूप हैं।

२ (क धामसे 'काम' का भाव लेनेसे चारों फलोंकी प्राप्ति सूचित की। चार फलोंमेंसे तीन धन (अर्थ), धर्म और मुक्ति तो स्पष्ट हैं। रहा 'काम' उसकी जगह यहाँ 'धाम' है। (ख) श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि—"यहाँ चारों फलोंका देना सूचित किया।······धाम अर्थात् गृहसे गृहिणीसमेतका तात्पर्य है, क्योंकि गृहिणी ही गृह है, यथा—"न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते। वृक्षमूलेऽपि दयिता यस्य तिष्ठति तद्‌गृहम्॥ प्रासादोऽपि तया हीनं कान्तार मिति निश्चितम्।" (महाभारत)। अतः काम भी आगया।"—इस कथनसे यहाँके 'धाम' शब्दसे लक्षणाद्वारा कामदेवका ग्रहण उनका अभिप्रेत जान पड़ता है। परन्तु मेरी समझमें चारों पुरुषार्थोंवाले 'काम' शब्दसे केवल कामदेवका ही ग्रहण नहीं है किन्तु समस्त कामनाओंका ग्रहण होगा। ऐसा जान पड़ता है कि 'धन धरम धाम' पाठमें (लगातार तीन धकारादि शब्द आनेसे) शब्दालंकार भी होता है इससे कामके बदले धाम शब्द ही दिया गया। (ग) मा० प्र० कार 'मुक्तिरूपी धन और धर्मरूपी धाम देते हैं' ऐसा अर्थ करते हैं। जैसे धनकी रक्षाके लिये धाम होना जरूरी है, वैसे ही मुक्तिके लिये धर्मका होना जरूरी

है। रामचरित दोनों पदार्थोंके देनेवाले हैं। (घ) पं० रामकुमारजीका मत है कि "मुकुति, धन, धरम, धाम।" इसमें धर्म, धन (अर्थ) और मुक्ति, ये तीन तो स्पष्ट ही हैं परन्तु काम अस्पष्ट है, वह अर्थमें गतार्थ है। क्योंकि अर्थहीसे कामकी प्राप्ति शास्त्र-सम्मत है। (ङ) ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजीका मत है कि 'धरम-धाम' तत्पुरुष समास है। 'उसका है धर्मका स्थान; जो धर्म हीका विशिष्ट पद है।'

३ मानसपत्रिकाकार अर्थ करते हैं कि 'रामका गुणसमूह जगत्के लिये मङ्गल है, मुक्तिका देनेवाला है और धन धर्मका गृह है'।

सद्गुर ज्ञान बिराग जोग के। बिबुध बैद भव-भीम-रोग के ॥ ३ ॥

अर्थ—ज्ञान, वैराग्य और योगके सद्गुरु हैं और संसाररूपी भयङ्कर रोगके लिये देवताओंके वैद्य अश्विनीकुमारके समान हैं ॥ ३ ॥

नोट—१ 'सद्गुरु' कहनेका भाव यह है कि (क) जैसे सद्गुरुके मिलनेसे सब भ्रम दूर होते हैं और यथार्थ बोध होता है, यथा—'सदगुर मिलें जाहि जिमि संसय भ्रम समुदाइ' (४ । १७)। वैसे ही इनका सम्यक् बोध श्रीरामगुणग्रामसे हो जाता है। (ख) 'ज्ञान, वैराग्य और योगसिद्धिप्राप्ति करानेमें सद्गुरुके समान रामचरित्र है अर्थात् सिद्धिजन्य फल इससे अनायास प्राप्त हो सकता है।' (सू० मिश्र)। ['योग' से यहां 'भक्ति' को भी ले सकते हैं क्योंकि ज्ञान, वैराग्य और भक्ति प्रायः साथ रहते हैं—ऐसा भी मत कुछ लोगों का है]

२ (क) 'बिबुध-बैद' इति। त्वष्टाकी पुत्री प्रभा नामकी स्त्रीसे सूर्य भगवान्के दो पुत्र हुए जिनका नाम अश्विनीकुमार है। एक बार सूर्यके तेजको सहन करनेमें असमर्थ होकर प्रभा अपनी दो सन्तति यम और यमुना तथा अपनी छायाको छोड़कर चुपकेसे भाग गयी और घोड़ी बनकर तप करने लगी। इस छायासे भी सूर्यके दो सन्तति हुईं, शनि और ताप्ती। शनिने अपने भाई धर्मराजपर लात चलायी, तब धर्मराजने सूर्य (पिता) से कहा कि यह हमारा भाई नहीं हो सकता। सूर्यने ध्यान किया तो सब बात खुल गयी। तब सूर्य घोड़ा बनकर प्रभाके पास गये जहाँ वह घोड़ीरूपमें थी। इस संयोगसे दोनों कुमारोंकी उत्पत्ति हुई। इस लिये अश्विनीकुमार नाम पड़ा। ये देवताओंके वैद्य हैं। इन्होंने एक कुण्डमें जड़ी-बूटियाँ डालकर च्यवन ऋषिको उसमें स्नान कराया तो उनका सुन्दर रूप १६ वर्षकी अवस्थाका हो गया। ऐसे बड़े वैद्य हैं। (ख) 'भव भीम रोग के' इति। छोटे रोगके लिये छोटे वैद्य ही बस हैं। पर यह भीम रोग है, इस लिये इसके लिये भारी वैद्य भी कहा। (ग) श्रीकरुणासिन्धुजी 'बिबुध-बैद' का अर्थ धन्वन्तरि भी करते हैं। (घ) भाव यह है कि भव रोगके वश सब जीव रोगी हो रहे हैं। जिस जीवको रामचरित प्राप्त हुआ उसके संसार-रोग (जन्म मरण) नष्ट हो जाते हैं।

जननि जनक सिअराम प्रेम के। बीज सकल ब्रत धरम नेम के ॥ ४ ॥

अर्थ—श्रीसीतारामजीके प्रेमके माता-पिता अर्थात् उत्पन्न, पालन और रक्षा करनेवाले हैं। सम्पूर्ण व्रत, धर्म और नियमोंके बीज हैं ॥ ४ ॥

नोट १—'जननि जनक' अर्थात् श्रीरामपदमें प्रीति उत्पन्न करके उसको स्थिर रखते हैं। जननि जनकके संबंधसे 'सिअ' और 'राम' दोनों नामोंका दिया जाना यहां बहुत ही उत्कृष्ट हुआ है। 'जननि…प्रेम के' हैं, इससे जनाया कि यदि चरित्रके पठन श्रवणसे प्रेम उत्पन्न न हुआ तो निश्चय समझ लेना चाहिए कि हमारा चित्त चरित्रमें नहीं लगा। वस्तुतः हमने पढ़ा सुना नहीं।

२ 'बीज' इति। (क) जैसे वृक्ष बिना बीजके नहीं हो सकता वैसे ही कोई भी व्रत, धर्म, नियम बिना इनके नहीं हो सकता। (ख) श्रीरघुनाथजीके प्रतिकूल जितने नियम-धर्म हैं वे सब निर्मूल हैं, निष्फल हैं। (रा० प्र०)। (ग) जैसे बिना बीजका मंत्र या यंत्र सफल नहीं होता वैसे ही रामचरितके बिना संपूर्ण व्रत, धर्म और नियम सफल नहीं होते। पुनः, (घ) श्रीरामजीने अपने चरित द्वारा समस्त व्रतों, धर्मों और नियमोंका पालन करके एक आदर्श स्थापित कर दिया है जिसके अनुसार सब लोग चलें, इसीसे 'चरित' को व्रतादिका 'बीज' कहा। यथा—"धर्ममार्गं चरित्रेण" (रा० पू० ता० १।४)।

समन पाप संताप सोक के। प्रिय पालक परलोक लोक के॥ ५॥

अर्थ—पाप, सन्ताप और शोकके नाश करनेवाले हैं। इस लोक और परलोक के प्रिय पालक हैं॥ ५॥

नोट—१ (क) पाप जैसे कि परनिंदा, परद्रोह, परदारामें प्रेम इत्यादि। संताप=दैहिक, दैविक भौतिक ताप। शोक जैसे कि प्रिय-वियोग, इष्टहानि इत्यादि। पाप कारण है, शोक-संताप उसके कार्य हैं यथा—"करहिं पाप पावहिं दुःख भय रुज सोक वियोग। ७। १००।" कारण और कार्य दोनोंके नाशक श्रीराम-गुणग्रामको बताया। (ख) पं० सू० प्र० मिश्र अर्थ करते हैं कि "पापजन्य संताप ही शोक है, उसके नाशक हैं।' (ग) "प्रिय पालक" कहनेका भाव कि श्रीरामगुणग्राम बड़े प्रेमपूर्वक दोनों लोक बना देते हैं, इस लोकमें सब प्रकारके सुख देते हैं और अन्तमें सद्गति देते हैं, प्रभुकी प्राप्ति करा देते हैं।

सचिव सुभट भूपति-विचार के। कुंभज लोभ-उदधि-अपार के॥ ६॥

अर्थ—विचाररूपी राजाके मन्त्री और अच्छे योद्धा हैं। लोभरूपी अपार समुद्रके सोखनेको अगस्त्यजी हैं॥ ६॥

नोट—१ 'सचिव सुभट भूपति विचार के' इति। (क) राजाके आठ अंग कहे गये हैं—१ स्वामी (राजा), २ अमात्य (मन्त्री), ३ सुहृद् (मित्र), ४ कोश, ५ राष्ट्र (देश-भूमि), ६ दुर्ग, ७ बल (सैन्य), और ८ राज्याङ्ग (प्रजाकी श्रेणियाँ, विभिन्न गुण कर्मके पुरजन)। इनमेंसे मन्त्री और सेना ये दो अंग प्रधान हैं। इनसे राज्य स्थिर रहता है। यदि राजाके सब अंग छूट गये हों पर ये दो अंग साथ हों तो फिर और सब भी सहज ही प्राप्त हो सकते हैं। इस ग्रन्थमें भी जहाँ-जहाँ राजाका वर्णन है वहाँ-वहाँ इन दोनों अंगोंको भी साथही कहा गया है। यथा—'संग सचिव सुचि भूरि भट। बा० २१४।' 'नृपहितकारक सचिव सयाना……। अमित सुभट सब समर जुझारा। बा० १५४।' इसी तरह सद्विचारोंके स्थित रखनेके लिये रामचरित्र मन्त्री और सुभटका काम देते हैं। मन्त्री राजाको मन्त्र (अच्छी सलाह) देते हैं, सुभट उसकी रक्षा करते हैं। मोह, अविवेक आदि राजाओंको जीतनेमें ये सुभट सहायक होते हैं। यथा—"जीति मोह महिपाल दल…।२।२३५।" (ख) 'विचारको यहाँ भूपति कहनेका भाव यह है कि रामचरित्रमें विचार मुख्य है, रामकथापर विचार करनेसे लोभका नाश होता है। सद्विचारोंकी वृद्धि होती है' (पं० रा० कु०)। (ग) रामचरित विवेक-राजाके मन्त्री इस तरह हैं कि 'श्रीराममन्त्रकी दृढ़ता कराते हैं, और सुभट इस कारण हैं कि पापोंका क्षय करते हैं।' रामचरित्रसे पापका नाश होकर राम और रामचरित्रकी दृढ़ता होती है। (पं०)।

२—"कुंभज लोभ उदधि अपार के" इति। समुद्रशोषणकी कथा स्कंदपुराण नागरखंड अध्याय ३५ में इस प्रकार है कि कालेय दैत्यगण जब समुद्रमें छिपगए और नित्य रात्रिमें बाहर निकलकर ऋषियों-मुनियों आदिको खा डाला करते थे, देवता समुद्रके भीतर जाकर युद्ध न कर सकते थे। तब ब्रह्मादि देवताओंने यह सम्मतकर कि अगस्त्यजी ही समुद्रशोषणको समर्थ हैं, सब उनके पास चमत्कारपुर नामक क्षेत्रमें गए और उनसे समुद्रशोषण की प्रार्थना की। उन्होंने कहा कि एक वर्षकी अवधि हमें दी जाय इसमें योगिनियोंके विद्या

बलके आश्रित होकर हम समुद्रका शोषण कर सकेंगे। यथा—"अहं संवत्सरस्यान्ते शोषयिष्यामि सागरम्। विद्या बलं समाश्रित्य योगिनीनां सुरोत्तमाः ॥२७॥" आप सब एक वर्ष बीतनेपर यहाँ आवें तब मैं आपका कार्य करूँगा। तब देवता चले गए और महर्षि अगस्त्यजीने यथोक्तविधिसे विशोषिणीनामक विद्याका आराधन प्रारम्भ किया। एक वर्षमें वह प्रसन्न होगई और वरदान देनेको उपस्थित हुई। अगस्त्यजीने माँगा कि 'आप मेरे मुखमें प्रवेश करें जिससे मैं समुद्रका शोषण कर सकूँ।' यथा—"यदि देवि प्रसन्ना मे तदास्यं विश सत्वरम्। येन संशोषयाम्याशु समुद्रं देवि वाग्यतः। ३३।' तत्पश्चात् देवताभी आए और अगस्त्यजीने साथ जाकर समुद्रको सहज ही में पी लिया। [पूर्वका प्रसंग दोहा ३ (३) में देखिए]।

समुद्र-शोषणकी कथा महाभारत वनपर्व अ० १०३-१०५ तथा पद्मपुराण सृष्टिखण्डमें भी है, परन्तु इनमें महर्षि अगस्त्यजीका देवताओंकी प्रार्थना सुनकर तुरंत समुद्रतटपर उनके साथ जाना और समुद्रको देखते-देखते चुल्लू लगाकर पी जाना लिखा है। कल्पभेदसे ऐसा संभव है।

ऐसा भी सुना जाता है कि अगस्त्यजीने 'रामाय रामचन्द्राय रामभद्राय' ऐसा कहकर समुद्रको तीन आचमनमें पी लिया। इसीसे इनका नाम समुद्रचुलुक और पीताब्धि आदि भी है। विनय पत्रिकामें भी श्रीरामनामके प्रतापसे सोखना कहा है।

समुद्र-शोषणकी कथा ऐसी भी सुनी जाती है कि एक बार समुद्र किसी चिड़ियाके अंडे को बहा लेगया तब वह पक्षी समुद्रतटपर आ अपनी चोंचमें समुद्रका जल भर-भरकर बाहर उलचने लगा कि मैं इसे सुखा दूँगा। दैवयोगसे महर्षि अगस्त्यजी वहाँ पहुँच गए। सब वृत्तान्त जाननेपर उन्हें दया आगई और उन्होंने 'रामाय रामचन्द्राय रामभद्राय' कहकर जल सोख लिया।

ऐसा भी सुना जाता है कि एक बार आप समुद्रतटपर पूजन कर रहे थे। समुद्र आपकी पूजन सामग्री बहा ले गया तब आपने कुपित हो उसे पी लिया। और फिर देवताओं की प्रार्थनापर उसे भर भी दिया। यथा—'रोक्यो बिन्ध्य सोख्यो सिंधु घटजहूँ नाम बल, हारयो हिय खारो भयो भुसुर डरनि॥ विनय २४७।' आनंदरामायणमें लिखा है कि—"पीतोऽयं जलधिः पूर्वं श्रुतं क्रोधादगस्तिना। मूत्रद्वाराद्बहिस्त्यक्तो यस्मात्क्षारत्वमागतः॥" (विलासकांड सर्ग ६।२१) अर्थात् सुना है कि क्रोधसे कुंभजजीने इसे पी लिया था और फिर मूत्रद्वारसे इसे भर दिया, इसीसे वह खारा हो गया।

३ 'लोभ उदधि·····' इति। (क) लोभ को अपार समुद्र कहा क्योंकि जैसे-जैसे लाभ होता जाता है तैसे-तैसे लोभ भी अधिक होता जाता है। इच्छाकी पूर्ति होनेपर भी यह नहीं जाता—'जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई'। ६।१०१।' (ख) रामचरितको अगस्त्यजीकी उपमा देनेका भाव यह है कि रामचरितसे सन्तोष उपजता है जिससे लोभ दूर हो जाता है, यथा—'जिमि लोभहि सोखइ संतोषा।४।१६।' (ग) पंजाबीजी यह शंका उठाते हैं कि 'कुंभज ऋषिने समुद्र पी लिया, पर वह अब भी प्रकट है तो इसी तरह लोभ भी रामनामसे निवृत्त होनेपर भी रहा तो अविद्या बनी रही ?' और उसका समाधान यों करते हैं कि यहाँ दृष्टान्तका एक अंग लिया है। अथवा, जैसे समुद्र देखनेमें आता है परन्तु पीनेके कामका नहीं, क्योंकि उसका जल खारा हो गया है वैसे ही विवेकियोंमें व्यवहारमात्र लोभका आभास होता है। वह जन्मान्तरोंका साधक नहीं अर्थात् जन्मान्तरों पर उसका प्रभाव न पड़ेगा। [इस कथनका आशय यह है कि वस्तुतः लोभका तो नाश ही हो गया, परन्तु प्रारब्धानुसार कुछ व्यवहार ऐसा होता है कि जिससे अज्ञानी लोग उनमें लोभादिकी कल्पना कर लेते हैं। वह प्रारब्धकर्म केवल भोगका निमित्त हो सकता है, पुनर्जन्मका नहीं, जैसा भर्जित बीज। भुना हुआ अन्न केवल उदरपूर्ति आदिके काममें आसकता है पर वह बीजके काममें नहीं आसकता। गीतामें स्थिरबुद्धि पुरुषोंके विषयमें भी जो ऐसा ही कहा गया है, यथा—"आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्। तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे...

२।७० ।'') अर्थात् जैसे नाना नदियोंका जल समुद्रमें जाकर समा जाता है, उनसे समुद्र चलायमान नहीं होता वैसे ही स्थिरबुद्धि पुरुषके प्रति संपूर्ण भोग समाकर भी कोई विकार नहीं उत्पन्न करते); वह दशा मानसके उपासकमात्रको सहज प्राप्त हो जाती है]।

काम कोह कलिमल करिगन के। केहरि सावक जन मन बन के ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—करिगन=हाथियोंका समूह। केहरि=सिंह। शावक=बच्चा। जन=भक्त, दास।

अर्थ—भक्तजनोंके मनरूपी वनमें बसनेवाले कलियुगके विकाररूप काम, क्रोध हाथियोंके झुंडके (नाश करनेके) लिये सिंहके बच्चेके समान हैं। ७।

पं० रामकुमारजीः—१ लोभ, काम और क्रोधको एकत्र कहा। क्योंकि ये तीनों नरकके द्वार हैं। यथा—'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।' (५।३८), "त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ गीता १६।२१।" इन्हींके वश पाप होते हैं। इसीसे तीनोंके अन्तमें कलिमल कहा। कामादिसे पाप होते हैं और पापसे नरक होता है। इसलिये कार्य और कारण दोनोंका नाश कहा।

२-जिस वनमें सिंह रहता है वहाँ हाथी नहीं जाते। इसी तरह जिस जनके मनमें रामचरित्र रहते हैं, वहाँ कामादि विकार नहीं रहते और यदि वहाँ गये तो रामचरित्र उनका नाश कर देते हैं। सावक=किशोर सिंह, यथा—'मनहु मत्त गजगन निरखि सिंह किसोरहिं चोप। १।२६७।'

नोट—१ 'केहरिसावक' इति। सिंहके बच्चेको हाथीके झुंडको भगानेमें विशेष उत्साह होता है। अतः श्रीरामचरितको 'शावक' बनाया। (सु० द्विवेदीजी)। पुनः, 'शावक' कहनेका भाव यह है कि बच्चा दिनोंदिन बढ़ता जाता है और काम-क्रोधादि कलिमल तो क्षीण होते जाते हैं। अतएव रामचरित्रपर इनका प्राबल्य नहीं होगा। सिंह और हाथीका स्वाभाविक वैर है, इसी तरह कामादिका रामचरित्रसे स्वाभाविक वैर है। पां०)। पुनः, चरितको शावक कहकर श्रीरामजीको सिंह जनाया।

२ काम-क्रोधका क्रम यों है कि पहले मनमें कामना उठती है, उसकी पूर्ति न होनेसे क्रोध होता है और 'क्रोध पापकर मूल' है, यही कलिमल है।

अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के। कामद घन दारिद दवारि के ॥ ८ ॥

शब्दार्थ-अतिथि=वह अभ्यागत या मेहमान जिसके आनेका समय निश्चित न हो या जो कभी न आया हो; यथा—"दूरागतं परिश्रान्तं वैश्वदेव उपस्थितम्। अतिथिं तं विजानीयान्नातिथिः पूर्वमागतः।" अर्थात् जो दूरसे आया हो, थका हो और बलिवैश्वदेव कर्मके समय आ पहुँचे, वह 'अतिथि' कहा जाता है। परन्तु ऐसा होनेपर भी जो कभी पहले आ चुका हो वह 'अतिथि' नहीं है। दवारि=दावाग्नि। वह आग जो वनमें आपही-आप लग जाती है। =दावानल। कामद=मनमाँगा देनेवाला।

अर्थ—१ श्रीरामचरित्र त्रिपुर दैत्यके शत्रु शिवजीको अतिथिसम पूज्य और अतिप्रिय (एवं प्रियतम पूज्य अतिथिसम) हैं। दरिद्रतारूपी दावानल (को बुझाने) के लिये कामना पूर्ण करनेवाले मेघके समान हैं ॥ ८ ॥

नोट—१ 'पूज्य प्रियतम' इति। (क) 'पूज्य'का भाव यह है कि अतिथिका किसी अवस्थामें त्याग नहीं होता है, वह सदा वन्द्य है, उसकी पूजा न करनेसे दोष होता है। यथा—"अतिथिर्यस्य भग्नाशो गेहात्प्रतिनिवर्तते। स दत्वा दुष्कृतं तस्मै पुण्यमादाय गच्छति। ४। सत्यं तथा तपोऽधीतं दत्तमिष्टं शतं समाः। तस्य सर्वमिदं नष्टमतिथिं यो न पूजयेत्। ५। दूरादतिथयो यस्य गृहमायान्ति निर्वृताः। स गृहस्थ इति प्रोक्तः शेषाश्च गृहरक्षिणः ॥६॥" (स्कंद पु० ना० उ० १७६)। अर्थात् जिसके घरसे अतिथि निराश होकर लौट जाता है, उसे वह अपना पाप

देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता है। जो अतिथिका आदर नहीं करता उसके सौ वर्षोंके सत्य, तप, स्वाध्याय, दान और यज्ञ आदि सभी सत्कर्म नष्ट हो जाते हैं। जिसके घरपर दूरसे प्रसन्नतापूर्वक अतिथि आते हैं, वही गृहस्थ कहा गया है। शेष सब लोग तो गृहके रक्षकमात्र हैं। (ख) अतिथिलक्षण मनुजीने यह कहा है—"एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः। अनित्यं हि स्थितो यस्मात्तस्मादतिथिरुच्यते ॥३।१०२॥" अर्थात् ब्राह्मण यदि एक रात्रि दूसरेके घरपर रहे तो वह अतिथि कहलायेगा। उसका रहना नियत नहीं है इसीसे उसको अतिथि कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि सम्मान्य पुरुषको भी अतिथि पूजनीय है तब मर्यादा पुरुष श्रीशंकरजीका 'प्रियतम' क्यों न होगा? (सू० प्र० मिश्र)। (ग) 'प्रतिक्षण श्रीरामजीके नये-नये चरित्रोंको हृदयमें अति प्रेमसे स्मरण करनेसे गुणग्राम श्रीमहादेवजीका प्रियतम पूज्य हुआ।' (सु० द्विवेदी)। पुनः, (घ)—सभी अतिथि पूज्य होते हैं। उनमें जो ज्ञान वयोवृद्ध होते हैं वे तो परम पूज्य हैं। प्रियतम (अतिशय प्रिय) कहकर जीवनधन होना जनाया। (ङ) वैजनाथजी कहते हैं कि रूप अतिथि है, नाम पूज्य है और लीला प्रियतम है। (परन्तु यहाँ तीनों विशेषण चरित ही के लिये आए हैं)।

अर्थ—२ श्रीत्रिपुरारिजीको श्रीरामचरित अतिथि, पूज्य और प्रियतम हैं। भाव यह कि मनसे प्रियतम है, कर्मसे पूज्य है और वचनसे अतिथिरूप है। (वै०)

नोट—२ "कामद घन दारिद···" इति। (क) 'कामद' कहनेका भाव कि श्रीरामचरित्रसे फिर कोई इच्छा शेष नहीं रह जाती। दरिद्री सब संपत्तिका आगार हो जाता है। (ख)—'कामद घन' का भाव कि जिस समय जो सुख दरिद्र चाहता है वह उसी समय देते हैं। यथा—"मागें बारिद देहिं जल रामचंद्र के राज। ७।२३।"

पं० रामकुमारजी—सामान्य जनोंको कहकर अब विशेष जनोंको कहते हैं। 'शिवजी रामचरितकी पूजा करते हैं और उसे प्राण-प्रिय मानते हैं। उससे कुछ कामना नहीं करते। इसलिये शिवजीके प्रति कुछ देना नहीं लिखा, औरोंको देते हैं सो आगे कहते हैं कि दारिद-दवारिके कामद धन हैं, सुकृतमेघरूप होकर सुखरूपी जल बरसाते हैं जिससे दारिद्र्य बुझता है।'

मंत्र महामनि बिषय ब्याल के। मेटत कठिन कुअंक भाल के ॥ ९ ॥

अर्थ—श्रीरामचरित विषयरूपी सर्प (का विष उतारने) के लिये मन्त्र और महामणि हैं। ललाटपर लिखे हुए कठिन बुरे अंकों अर्थात् दुर्भाग्यके मिटा देनेवाले हैं ॥ ९ ॥

नोट—१ 'मंत्र महामनि···' इति। (क) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि "यहाँ मन्त्र और महामणि दोकी उपमा दी। क्योंकि मन्त्रके सुननेसे या मणिके ग्रहण करनेसे विष दूर होता है। इसी तरह रामचरित दूसरेसे सुने अथवा आप धारण करे तो विषय-विष दूर हो जाता है। दो भाव दिखानेके लिये दो उपमाएँ दीं।"

मा० मा० कारका मत है कि "शाबरमंत्रका धर्म है कि गारुड़ी मंत्र जाननेवाला दूसरेको झाड़ कर अच्छा कर सकता है पर स्वयं अपनेको उस मंत्रसे नहीं अच्छा कर सकता और महामणिका धर्म है कि जिसके पास हो उसको प्रथम तो सर्प डसता ही नहीं और डस भी ले तो उसे धोकर पीनेसे विष उतर जाता है, पर उस मणिसे वह दूसरेको अच्छा नहीं कर सकता। यहाँ दो उपमाएँ देकर जनाया कि वक्ताके लिये मणिवत् है और श्रोताओंके लिये मंत्रवत् है। चरित्र सुनाना मंत्रसे झाड़ना है और उसका 'आराधन नेमयुक्त पाठ, नवाह, संपुट नवाह प्रयोगिक पाठ' करना मणिको स्वयं धोकर पीना है।" वे० भूषणजी इसपर कहते हैं कि—'परन्तु शास्त्रोंका कहना है कि मणि सबको अच्छा कर देती है, यह नहीं कि जिसके पास हो उसीको

प्रत्युत जिस किसी विषव्याप्य शरीरसे उसका स्पर्श हो जाय उसीका विष वह हरण कर ले। मानसमें भी कहा है—'हरइ गरल दुख दारिद दहई। २। १८४।'

(ख)'महा' पद दीपदेहलीन्यायसे मन्त्र और मणि दोनोंके साथ है। (पं०)।

(ग) रामायण-परिचर्याकार लिखते हैं कि 'विष हरनेवाले तीन हैं—मन्त्र, महौषधि और मणि। मन्त्रसे झाड़नेसे या मन्त्र-जपसे, महौषधिके लगाने या सेवनसे और मणिके स्पर्शसे सर्पका विष दूर होता है। यहाँ ये तीनों सूचित किये हैं।' (यहाँ 'महा' से वे महौषधि का ग्रहण समझते हैं)। इसी प्रकार रामचरित्र विषयसर्पका विष उतारनेके लिये तीनों प्रकारसे उत्तम है।' (यह भाव वैजनाथजीके आधार पर लिया हुआ जान पड़ता है)।

(घ) 'मणि'—यह जहर-मुहरा कहलाता है, इसको घावपर औषधिरूपसे लगानेसे विष दूर होता है। सर्पमणिसे विष दूर होता है। यथा—'अहि अघ अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई।२।१८४।'

(ङ)—दूसरा भाव महामणिका यह है कि सर्पका विष तो मणिहीसे उतर जाता है और रामचरित तो महामणि है। इनके ग्रहणसे विष चढ़ने ही नहीं पाता। और पहिलेका चढ़ा हुआ हो तो वह भी उतर जाता है।

२ वैजनाथजी विषय-सर्पका रूपक यों देते हैं कि—"विषयमें मनका लगना सर्पका डसना है, कामना विष है, काममें हानि होनेसे क्रोध होता है। यही विष चढ़नेकी गर्मी है। क्रोधसे मोह होता है। यह मूर्छा (लहर) है, मोहमें आत्मस्वरूप भूल जाता है। यही मृत्यु है। श्रीरामगुणग्राम मंत्र है, महाऔषधी है और मणि है। मंत्रके प्रभावसे सर्प नहीं काट सकता और जिसको सर्पने डसा हो उसे मंत्रसे झाड़कर फूक डालनेसे विष उतर जाता है। श्रीरामनाम महामंत्र है। इसके स्मरणसे विषय लगता ही नहीं और जो पूर्वका लगा है वह छूट जाता है। पुनः, घृत, मधु, मक्खन, पीपलछोटी, अदरक, मिर्च, सेंधानमक इन सबको मिलाकर औषधि बनाकर खानेसे भी विष उतर जाता है। यहाँ प्रभुकी लीला औषधि है जिसके श्रवणमात्रसे विषका नाश हो जाता है। पुनः, मणि हीरा आदिके स्पर्शसे भी विष नहीं व्यापता। यहाँ श्रीरामरूप मणि है। श्रीरामरूपके प्रभावसे विषय व्यापता ही नहीं।'

३ (क) 'विषय-सेवनसे भालमें कुअंक पड़ते हैं। इसलिये प्रथम विषयका नाश कहा तब भालके कुअंक मेटना'। (ख) 'कठिन कुअंक' अर्थात् जो मिट न सकें। कठिन कहा, क्योंकि विधिके लिखे अंक कोई नहीं मिटा सकता। यथा—'कह मुनीस हिमवंत सुनु जो विधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥ । १। ६८।', 'विधि कर लिखा को मेटनिहारा', 'तुम्ह ते मिटिहि कि विधि के अंका' इत्यादि। श्रीरामचरित ऐसे कठिन कर्मबंधनको भी मिटा देता है। शुकदेवजीने भी यही कहा है; यथा—"पुरुषो रामचरितं श्रवणैरुपधारयन्। आनृशंस्यपरो राजन्कर्मबन्धैर्विमुच्यते ॥ भा०। ९। ११। २३।" पुनः, 'कठिन कुअंक'=पूर्व जन्मोंके बुरे कर्मोंकी फलस्वरूप ललाटरेखाएं। इन अंकोंके मिटानेका भाव विनय-पत्रिकाके—'भागु है अभागेहु को' (पद ६६) और 'वाम विधि भालहू न कर्मदाग दागिहैं' (७०) से मिलता है। पुनः, देखिये चरवारिके ठाकुरकी कन्याको रामचरितमानससे ही पुत्र बनाया गया था, मृतकको जिलाया गया था। गोस्वामीजीकी जीवनीसे स्पष्ट है।

हरन मोह-तम दिनकर-कर से। सेवक-सालि-पाल जलधर से॥ १०॥

अर्थ—मोह अन्धकारके हरनेको सूर्य-किरणके समान हैं। सेवकरूपी धानके पालन करनेको मेघ-समान हैं॥ १०॥

टिप्पणी—मोहके नाशमें बड़ा परिश्रम करे तो भी वह नहीं छूटता, यथा—'माधव मोह पास क्यों टूटै। वि० ११५।' रामचरित सुनने से विना परिश्रम ही अज्ञानका नाश होता है, यथा—"उएउ भानु बिनु श्रम तम नासा। १। २३९।' सूर्य-किरणमें जल है; यथा—'आदित्याज्जायते वृष्टिः'। सेवक-शालिको मेघकी नाईं पालते

हैं, शालि मेघके जलसे पलता है, नहीं तो सूख जाता है। वह स्थावर है। इसी तरह सेवक रामचरितसे जीते हैं, रामचरितके भरोसे हैं। पुनः, जैसे मेघ और भी अन्नोंको लाभकारी है पर 'शालि' का तो यही जीवन है (भाव यह कि और अन्न तो अन्य जल से भी हो जाते हैं) वैसे ही जो सेवक नहीं हैं रामचरित उनका भी कल्याण करता है पर सेवकका तो जीवन ही है। ('सेवक' को शालि कहनेके भाव 'तुलसी सालि सुदास' दोहा १९ में देखिये)।

अभिमत दानि देव-तरु-बर से। सेवत सुलभ सुखद हरिहर से ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—अभिमत=मनमाँगा, मनमें चाही हुई वस्तु, वाञ्छित पदार्थ। देवतरु=कल्पवृक्ष। यह वृक्ष क्षीरसागर मथनेपर निकला था, चौदह रत्नोंमेंसे एक यह भी है। यह वृक्ष देवताओंके राजा इन्द्रको दिया गया था। इस वृक्षके नीचे जानेसे जो मनमें इच्छा उठती है वह तत्काल पूरी होती है। यथा—'देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख बिमुख न काहुहि काऊ ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाँहँ समन सब सोच। माँगत अभिमत पाव जग राउ रंकु भल पोच ॥ अ० २६७ ।,' 'रामनाम कामतरु जोई जोई मागिहै। तुलसी स्वारथपरमारथौ न खाँगिहै ॥' (विनय०)। यह अर्थ, धर्म और कामका देनेवाला है। इसका नाश कल्पान्ततक नहीं होता। इसी प्रकारका एक पेड़ मुसलमानोंके स्वर्गमें भी है जिसे 'तूबा' कहते हैं। कल्पवृक्षके फूल सुफेद होते हैं।

अर्थ—(श्रीरामचरित) वाञ्छित फल देनेमें श्रेष्ठ कल्पवृक्षके समान हैं। और सेवा करनेसे हरिहरके समान सुलभ और सुखद हैं ॥ ११ ॥

नोट—१ रामचरितको श्रेष्ठ कल्पवृक्ष सम कहा। क्योंकि कल्पवृक्षके नीचे यदि बुरी वस्तुकी चाह हो तो बुरी ही मिलेगी। एक कथा है कि एक मनुष्यने जाकर सोचा कि यहाँ पलंग होता, बिछौना आदि होता तो लेटते, भोजन करते, भोग-विलास करते। यह सब इच्छा करते ही उसको मिला। इतने ही में उसके विचारमें आया कि कहीं यहाँ सिंह न आ जाय और हमें खा न डाले। विचारके उठते ही सिंह वहाँ पहुँचा और उसे निगल गया। रामचरितमें वह अवगुण नहीं है, इसीलिये यहाँ 'वर' पद दिया है। पुनः कल्पवृक्ष अर्थ, धर्म और काम तीन ही फल दे सकता है, मोक्ष नहीं। और रामचरित चारों फल देते हैं; अतएव इन्हें 'देव-तरु-वर' कहा।

टिप्पणी—१ ऊपर चौपाईमें सेवकको शालिकी उपमा दी। धान स्थावर है। इससे रामचरितको मेघ की उपमा दी कि सेवकके पास जाकर उसको सुख दें। अब रामचरितको वृक्षकी उपमा दी, वृक्ष स्थावर है। इसलिये सेवकका वहाँ जाकर सेवन करना कहा। दोनों तरह की उपमा देकर सूचित किया है कि श्रीरामचरित दोनों तरहसे सेवकको सुख देते हैं।

नोट—२ 'सुलभ सुखद हरिहर से' इति। भगवान् स्मरण करतेही दुःख हरते हैं। द्रौपदी, गजेन्द्र आदि इसके उदाहरण हैं। 'हरि' पद भी यही सूचित करता है। पुनः, सुलभता देखिये कि सम्मुख होते ही, प्रणाम करते ही, अपना लेते हैं। यथा—'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं। सुं० ४४।', 'उठे राम सुनि पेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा। अ० २४०।' ऐसे सुलभ। पुनः, हरि-हरसे सुखद हैं अर्थात् मुक्ति-भुक्तिके देनेवाले हैं। ऐसे ही सुलभ भगवान् शंकर हैं, यथा—'सेवा सुमिरन पूजिबो पात आखत थोरे'—(वि० ८), "अवढर दानि द्रवत पुनि थोरे। सकत न देखि दीन कर जोरे।" (वि० ६) ☞ श्रीरामचरितमें सुलभता यह है कि चौपाई-दोहा पढ़नेमें परिश्रम नहीं। (ख) 'हरिहर' कीही उपमा दी और किसी देवताओंकी नहीं। इसका भाव बैजनाथजी यह लिखते हैं कि अन्य देवताओंकी सेवामें विघ्न और बाधाएँ होती हैं और वे विशेष सुख भी नहीं दे सकते। हरिहर लोक परलोक दोनोंका सुख देते हैं। यहाँ 'सपन्ति' प्रयोजन है।

मा० पत्रिका:—'जो वस्तु सुगमतासे मिलती है उसका आदर थोड़ा होता है पर रामचरितमें यह विशेषता है कि इसकी प्राप्ति सत्संगतिद्वारा सुगमतासे होती है। यह फल देनेमें शिव और विष्णुसम है।'

सुधाकरद्विवेदीजी:—हरि-हर थोड़ी ही सेवामें शीघ्र मिल जाते हैं वैसे ही गुणग्राम भी शीघ्र सन्तजनोंकी कृपासे प्राप्त होकर सुख देने लगता है।

सुकवि सरद नभ मन उड़गन से। राम-भगत-जन जीवन-धन से ॥ १२ ॥

अर्थ—(श्रीरामचरित) सुकविरूपी शरद्ऋतुके मनरूपी आकाश (को सुशोभित करने) के लिये तारागण समान हैं। रामभक्तोंके तो जीवन-धन (अथवा जीवन और धनके) सदृश ही हैं ॥ १२ ॥

नोट—१ (क) 'सरद-नभ मन' इति। शरद्ऋतुकी रातमें आकाश निर्मल रहता है, इसलिये उस समय छोटे-बड़े सभी तारागण देख पड़ते हैं, उनके उदय होनेसे आकाशकी बड़ी शोभा हो जाती है। इसी तरह जिन कवियोंके मन स्वच्छ हैं उनके मनमें छोटे-बड़े सभी निर्मल रामचरित उदय होकर उनकी शोभा बढ़ाते हैं। (ख)—'तारागणकी उपमा देकर रामचरितका अनन्त और अनादि होना जनाया। पुनः, यह भी सूचित किया है कि रामचरित कवियोंके बनाये नहीं हैं, उनके हृदयमें आते हैं, जैसे तारागण आकाशके बनाये नहीं होते, केवल वहाँ उदय होते हैं।' यथा—'हर हिय रामचरित सब आए।१। १११।' (ग)—'सुकवि' से परमेश्वरके चरित्र गानेवाले कवि यहाँ समझिये। (पं० रा० कु०)। वा, भगवान्‌के यशके कथनमें प्रेम होनेसे इनको 'सुकवि' कहा और परमभक्त न होनेसे इन्हें तारागणकी उपमा दी, नहीं तो पूर्णचन्द्रकी उपमा देते। (मा० मा०)।

सकल सुकृत फल भूरि भोग से। जग हित निरुपधि साधु लोग से ॥ १३ ॥

अर्थ—(श्रीरामचरित) सारे पुण्योंके फलके भोगसमूहके समान हैं। जगत्‌का एकरस हित करनेमें सन्तोंके समान हैं ॥ १३ ॥

टिप्पणी—'सकल सुकृत' का फल भी भारी ही होना चाहिये। इसीसे कहते हैं कि फल बड़ा है। उसी फलके भोग-सम हैं। [ये 'भूरि' को फलका विशेषण मानते हैं। करुणासिन्धुजी भी ऐसा ही अर्थ करते हैं]।

नोट—१ 'भूरि' पद 'फल' और 'भोग' के बीचमें है, इससे वह दीपदेहलीन्यायसे दोनोंमें लगाया जा सकता है। भाव यह है कि जो फल समस्त पुण्योंके एकत्र होनेसे भोगनेको मिल सकता है वह केवल रामचरितसे प्राप्त हो जाता है। समस्त सुकृतोंका फल श्रीरामप्रेम है, यथा—'सकल सुकृत फल रामसनेहू । १ । २७।' अतः यह भी भाव निकलता है कि इससे भरपूर श्रीरामस्नेह होता है। (ख)—ऊपर चौपाइयोंमें अपने जनको हितकर होना कहा, अब कहते हैं कि इससे जगत्‌मात्रका हित है। (ग)- 'निरुपधि' (निरुपाधि)=निर्बाध, एकरस। १। १५ (४) देखिये।

मा० पत्रिका—जितने अच्छे काम हैं उनका सबसे अधिक फलभोग स्वर्गसुखभोग है, उससे भी अधिक फल रामचरित्र-श्रवण-मनन है। अधिक इससे है कि पुण्य क्षीण होनेपर स्वर्गसुखका नाश होकर पुनः मर्त्यलोकमें आना पड़ता है और रामचरित्रके श्रवण-मननसे अक्षयलोककी प्राप्ति होती है 'जहं ते नहि फिरे'

बैजनाथजी लिखते हैं कि 'निरुपधि' इससे कहा कि रामचरित पढ़नेका अधिकार सबको है।

नोट—२ 'साधु लोग से' इति। अर्थात् निस्स्वार्थ कृपा करते हैं, यथा—'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी।' चाहे लोग उनकी सेवापूजा करें वा न करें, एक बार भी उनका संग, स्पर्श, दर्शन आदि होने से उनका कल्याण हो जाता है।

सेवक मन मानस मराल से । पावन गंग-तरंग-माल से ॥ १४ ॥

अर्थ—(श्रीरामचरित) सेवकके मनरूपी मानस-सरोवरके लिये हंसके समान हैं । पवित्र करनेमें गंगाजीकी लहरोंके समूहके समान हैं ॥ १४ ॥

☞ मिलान कीजिये—'कवि कोविद रघुबर चरित-मानस-मंजु-मराल ।१।१४।' से । हंस मानसमें रहते हैं, विहार करते हैं, यथा—'जहं तहं काक उलूक बक मानस सकृत मराल । अ० २८१ ।', "सुरसर सुभग बनज बनचारी । डाबर जोगु कि हंसकुमारी ॥ अ० ६० ।' मरालकी उपमा देकर सेवकका रामचरित्रसे नित्य सम्बन्ध दिखाया। दोनोंकी एक दूसरेसे शोभा है । चरित इनके मनको छोड़कर अन्यत्र नहीं जाते ।

नोट—१ पंजाबीजी लिखते हैं कि गंगाजीकी सब तरंगे पावन हैं, वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीके सब चरित्र पावन हैं । २—पं० रामकुमारजी कहते हैं कि जैसे गंगाकी तरंगे अमित हैं वैसे ही रामचरित अनन्त हैं । पुनः, जैसे गंगासे तरंग वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीसे रामचरित और जैसे 'गंग-तरंग'-अभेद वैसे ही राम और रामचरितमें अभेद सूचित किया ।

दोहा—कुपथ कुतरक कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड ।
दहन रामगुनग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड । ३२ (क)

शब्दार्थ—कुपथ=कुमार्ग=वेदोंने जो मार्ग बतलाये हैं उनको छोड़ अन्य मार्ग, यथा—"चलत कुपंथ बेदमग छाँड़े । १ । १२ ।" कुचालि=बुरा चाल-चलन, जैसे जुआ खेलना, चोरी करना ।=खोटे कर्म करना । कुतरक (कुतर्क)=व्यर्थ या बेढंगी दलीलें करना, जैसे 'राम' परमेश्वर होते तो घर बैठे ही रावणको मार डालते, अवतारकी क्या जरूरत थी । परलोक किसने देखा है, इत्यादि । तर्क—"आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते । अमृतनादोपनिषद् १७ ।" अर्थात् वेदसे अविरुद्ध (शास्त्रानुकूल) जो ऊहापोह (शंका-समाधान) किया जाता है उसे 'तर्क' कहते हैं । पुनः, तर्क=अपूर्व उत्प्रेक्षा । यथा—'अपूर्वोत्प्रेक्षणं तर्कः इत्यमर-विवेके-टीकायाम्' (अमरे १ । ५ । ३) अर्थात् अपूर्व रीतिसे और वस्तुमें और कहना । कुतर्कः—पवित्र पदार्थमें पाप निकालना, उत्तमको निकृष्ट करके दिखाना, युक्तिसे बड़ोंकी निन्दा करना, सत्कर्म करनेसे रोकना, इत्यादि सब 'कुतर्क' है । (बै०) । कलि=कलियुग । मानस-परिचारिकाकार और पंजाबीजी इसका अर्थ यहाँ 'कलह' करते हैं ।

अर्थ—कुमार्ग, बुरे तर्क, कुचाल और कलिके (वा, कलह एवं) कपट-दंभ-पाखंडरूपी ईंधनको जलानेके लिये श्रीरामचन्द्रजीके गुणसमूह प्रचण्ड अग्निके समान हैं । ३२ (क)।

नोट—'कपट' 'दंभ' 'पाखंड' में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है । (क) कपटमें ऊपरसे कुछ और भीतरसे कुछ और होता है । अपना कार्य साधनेके लिये हृदयकी बातको छिपाये रहना, ऊपरसे मीठा बोलना, भीतरसे छुरी चलानेकी सोचना इत्यादि कपट है । यथा—'कपट सनेह बढ़ाइ बहोरी । बोली बिहँसि नयन मुहं मोरी । अ० २५ ।' 'लखहिं न भूप कपट चतुराई ।२।२७।', 'जौं कछु कहौं कपट करि तोही । भामिनि राम सपथ सत मोही ।२ ।२६ ।' कपट हृदयसे होता है । (ख) औरोंके दिखानेके लिये झूठा आडम्बर धारण करना जिससे लोगोंमें आदर हो । इस ऊपरके दिखावके बनाने को 'दंभ' कहते हैं । जैसे साधु हैं नहीं, पर ऊपरसे कण्ठी-माला-तिलक धारण कर लिया या मूँड़ मुड़ाय गेरुआ वस्त्र पहिन लिया जिससे लोग वैरागी या संन्यासी समझकर पूजें, यथा—'नाना भेष बनाइ दिवस निसि पर बित जेहि तेहि जुगुति हरौं । वि० १४१ ।' धार्मिक कार्योंमें अपनी प्रसिद्धि करना भी दम्भ है । 'दम्भ्यते अनेन दंभः ।' (ग)—'पाखण्डी'=दुष्ट तर्कों और युक्तियोंके बलसे विपरीत अथवा वेद-विरुद्ध

मनके स्थापन करनेवाले । नास्तिकादि । यथा—'हरित भूमि तृन संकुल, समुझि परहिं नहिं पंथ । जिमि पाखंड बाद तें, गुप्त होहिं सदग्रंथ ॥ कि० १४ ।' (घ—अथवा, कपट मनसे, दंभ कर्मसे और पाखंड वचनसे होता है, यह भेद है । प्रचंड=प्रज्वलित, जिससे खूब ज्वालाएँ निकलें ।

दोहा—रामचरित राकेसकर, सरिस सुखद सब काहु ।
सज्जन कुमुद चकोर चित, हित बिसेषि बड़ लाहु ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—'कुमुद'=कुमुदिनी, कुँई, कोईं, कोकाबेली । 'चकोर'=एक प्रकारका बड़ा पहाड़ी तीतर जो नेपाल, नैनीताल आदि स्थानों तथा पंजाबके पहाड़ी जङ्गलोंमें बहुत मिलता है । इसके ऊपरका रंग काला होता है, इसकी चोंच और आँखें लाल होती हैं । यह पक्षी झुण्डोंमें रहता है और वैशाख-ज्येष्ठमें बारह-बारह अण्डे देता है । भारतवर्षमें बहुत कालसे प्रसिद्ध है कि यह चन्द्रमाका बड़ा भारी प्रेमी है और उसकी ओर एकटक देखा करता है, यहाँतक कि वह आगकी चिनगारियोंको चन्द्रमाकी किरणें समझकर खा जाता है । कवि लोगों ने इस प्रेमका उल्लेख अपनी उक्तियोंमें बराबर किया है । (श० सा०) ।

अर्थ—श्रीरामचरित पूर्णिमाके चन्द्रमाकी किरणोंके समान सब किसीको एक-सा सुख देनेवाले हैं । (परन्तु) सज्जनरूपी कोकाबेली और चकोरके चित्तको तो विशेष हितकारी और बड़े लाभदायक हैं ।३२।

नोट—१ 'सरिस' पद दीपदेहली है । 'चन्द्रकिरण सरिस' और 'सरिस सुखद' है । सबको सरिस सुखद हैं और सज्जन-कुमुद-चकोरको विशेष सुखद । चन्द्रमासे जगत्‌का हित है, यथा—'जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन' पर कुमुद और चकोरका विशेष हित है, वैसेही यह चरित सबको सुखदाता है, पर सज्जनोंको उससे विशेष सुख प्राप्त होता है ।

टिप्पणी—१ सज्जनको कुमुद और चकोर दोनोंकी उपमा देकर सूचित करते हैं कि—(क) सज्जन दो प्रकारके हैं—एक कुमुदकी तरह स्थावर हैं अर्थात् प्रवृत्तिमार्गमें हैं, दूसरे चकोरकी तरह जङ्गम हैं अर्थात् निवृत्तिमार्गमें हैं । अथवा, (ख) बड़ा हित और बड़ा लाभ दो बातें दिखानेके लिये दो दृष्टान्त दिये । चन्द्रमासे सब ओषधियाँ सुखी होती हैं, रहा कुमुद सो उसको विशेष सुख है, उसमें उसका अत्यन्त विकास होता है, यह कुमुदका बड़ा हित है । चकोरको अमृतकी प्राप्तिका बड़ा लाभ है, चन्द्रमासे अमृतका लाभ सबको है, परन्तु इसे विशेषरूपसे है जैसा कहा है—'रामकथा ससि-किरिन समाना । संत चकोर करहिं जेहि पाना । । १ ।४७ ।' सन्त इसे सदा अमृतकी तरह पान करते हैं, यथा—'नाथ तवानन ससि श्रवत कथा सुधा रघुबीर । श्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर ॥ उ० ५२ ।' इससे बड़ा लाभ यह है कि त्रिताप दूर होते हैं तथा मोह दूर होता है जिससे सुख प्राप्त होता है, यथा—'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी । मिटा मोह सरदातप भारी ॥''' रामसरूप जानि मोहिं परेऊ ॥ नाथकृपा अब गयउ बिषादा । सुखी भयउँ प्रभु चरन प्रसादा ॥ बा० १२० ।'

नोट—२ बैजनाथजी लिखते हैं कि 'नवधा भक्तिवाले सज्जन कुमुद हैं । इनका विशेष हित यह है कि देखतेही मन प्रफुल्लित हो जाता है, और प्रेमा-परा भक्तिवाले सज्जन चकोर हैं जो टकटकी लगाये देखते ही रह जाते हैं—'''निमेष न लावहिं' । अथवा, अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग दो प्रकारके सज्जन सूचित किये ।'

३ पंजाबीजी लिखते हैं कि 'चकोरको बड़ा लाभ यह है कि वह अग्नि भक्षण कर लेता है, उसमें भी सुखी रहता है । इसी तरह ज्ञानवानोंको माया-अग्नि-अङ्गीकृत भी नहीं मोहती' यह महान् लाभ है ।

टिप्पणी—२ रामकथा-महात्म्यद्वारा ग्रन्थकार उपदेश दे रहे हैं कि कथामें मन, बुद्धि और चित्त लगावे अर्थात् (क) कथासे मनको प्रबोध करे, यथा—'मोरे मन प्रबोध जेहि होई' । (ख) बुद्धिके अनुसार कथा कहे

यथा—'जस कछु बुधि विवेक बल मोरे । तस कहिहउँ हिय हरि के प्रेरे' (ग) कथामें चित्त लगावे, यथा—'राम कथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु ।'

इसी तरह रामचरित-माहात्म्यमें श्रीगोस्वामीजीने दिखाया है कि यह भक्तके मन, बुद्धि और चित्तका उपकार करते हैं—(क) मनमें बसते हैं, यथा—'सेवक मन मानस मराल से' । (ख) बुद्धिको शोभित करते हैं, यथा—'संत सुमति तिय सुभग सिंगारू' । (ग) चित्तको सुख देते हैं, यथा—'सज्जन कुमुद चकोर चित हित बिसेषि बड़ लाहु' ।

३—यहाँ बताया है कि—(क) कथामें मन, चित्त और बुद्धि तीनों लगते हैं, यथा—'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई । सुनहु तात मति मन चित लाई । आ० १५ ।' दार्शनिक दृष्टिसे ये तीनों भिन्न-भिन्न हैं । संकल्प-विकल्प करना मनका धर्म, निश्चय करना बुद्धिका और चिंतन करना चित्तका धर्म है । (ख)—सज्जन ही इन तीनोंको कथामें लगाते हैं, इसीसे इन तीनोंके प्रसङ्गमें सज्जन हीको लिखा है, यथा—'सेवक मन मानस०', 'संत सुमति०' और 'सज्जन कुमुद चकोर चित०' । और, (ग)—रामकथा-माहात्म्य तथा रामचरित-माहात्म्य दोनोंको 'चित्त' हीके प्रसङ्गसे समाप्त किया है, यथा—'राम-कथा मंदाकिनी चित्रकूट चित०' और 'सज्जन कुमुद चकोर चित०' । क्योंकि कथा चित्त ही तक है ।

नोट—४ कोई-कोई महानुभाव (मा० प०, गा० मा०, नंगेपरमहंसजी, पाँ०) 'चकोर' को 'चित' की और 'कुमुद' को संतकी उपमा मानते हैं । इस प्रकार उत्तरार्धका अर्थ यह है—

अर्थ—२ सज्जनरूपी कुमुद और उनके चित्तरूपी चकोरको विशेष हितकर और बड़ा लाभदायक है ।

नोट—इस अर्थके अनुसार भाव यह है कि—(क) जैसे चन्द्रदर्शनके विना चकोरको शान्ति नहीं होती एवं रामचरितके विना 'जियकी जरनि' नहीं जाती है । जैसे चन्द्रदर्शनसे कुमुद प्रफुल्लित होता है वैसे ही रामचरित्रद्वारा सन्तहृदय विकसित होता है । (मा० प०) । (ख)—"चन्द्रकिरणसे कुमुद प्रफुल्लित और वृद्धिको प्राप्त होता है वैसे ही रामचरित सज्जनोंको प्रफुल्लित और रामप्रेमकी वृद्धि करता है । चन्द्रकिरणें चकोरको नेत्रद्वारा पान करनेसे अंतसमें शीतलता पहुँचाकर आनन्द देती हैं, उसी तरह सज्जनोंके चित्तको श्रीरामचरित श्रवणद्वारा पान करनेसे शीतलतारूप श्रीरामभक्ति प्रदान कर उनके उष्णरूप त्रितापको दूर करता है, उसी आनन्दमें सज्जनोंका चित्त चकोरकी तरह एकाग्र हो जाता है ।" (नंगे परमहंसजी) ।

श्रीनंगेपरमहंसजीने चित्त-चकोरका प्रमाण—"स्वाति सनेह सलिल सुख चाहत चित चातक सो पोतो" (विनय), यह दिया है और सज्जन-कुमुदका 'रघुबरकिंकर कुमुद चकोरा।' यह प्रमाण दिया है । परन्तु चातकका अर्थ 'चकोर' नहीं है और दूसरा प्रमाण पं० रामकुमारजीके अर्थका ही पोषक है । संतकी उपमा चकोरसे अन्यत्र भी दी गई है, यथा—"रामकथा ससि किरन समाना । संत चकोर करहिं जेहि पाना । १।४६ ।'

अर्थ—३ सज्जनोंके चित्तरूपी कुमुद और चकोरके लिये विशेष हित···। (रा० प्र०) ।

———

श्रीरामनाम और श्रीरामचरितकी एकता

श्रीरामचरित	श्रीरामनाम
३१ (४) निज संदेह मोह भ्रम हरनी ।	बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती २५ (७)
३१ (५) बुधबिस्राम सकल जन रंजनि ।	फिरत सनेह मगन सुख अपने । २५ (८)
रामकथा कलि कलुष बिभंजनि ॥	नाम सकल कलि कलुष निकंदन । २४ (८)
३१ (६) रामकथा कलि पन्नग भरनी ।	कालनेमि कलि कपट निधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू ॥ २७ (८)
पुनि पावक बिबेक कहँ अरनी ॥	हेतु कृसानु भानु हिमकर को । १६ (१)
३१ (७) रामकथा कलि कामद गाई ।	रामनाम कलि अभिमत दाता । २७ (६)
सुजन सजीवन मूरि सुहाई ॥	कालकूट फल दीन्ह अमी को । १६ (८)
३१ (८) सोइ बसुधातल सुधारतरंगिनि ।	'स्वाद तोष सम सुगति सुधा के ॥' २० (७) 'नाम सुप्रेम पियूषहृद ॥' २२, 'धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्' ॥ (कि० मं० २)।
३१ (९) भवभंजनि भ्रम भेक भुअंगिनि ।	भवभय भंजन नाम प्रतापू । २४ (६)
३१ (९) साधु बिबुध कुल हित गिरिनंदिनि ।	'सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी । नाम प्रसाद'''। २६ (२)
३१ (१०) बिस्वभार भर अचल छमा सी ।	कमठ सेष सम धर बसुधा के । २० (७)
३१ (११) जीवनमुक्ति हेतु जनु कासी ।	कासी मुकुति हेतु उपदेसू । १९ ( )
३१ (१२) तुलसिदास हित हिय हुलसी सी ।	राम लखन सम प्रिय तुलसी के । २० (३)
३१ (१३) सिवप्रिय मेकल-सैल-सुता सी ।	नाम प्रभाउ जान सिव नीको । १९ (८)
३१ (१३) सकल सिद्धि सुखसंपतिरासी ।	होहिं सिद्ध अनिमादिक पाये ॥ २२ (४) भगत होहिं मुद मंगल बासा ॥ २४ (२)
३१ (१४) रघुपतिभगति प्रेमपरमिति सी ।	सकल कामना हीन जे, रामभगति रस लीन । नाम सुप्रेम पियूष हृद तिन्हहुँ किए मन मीन ॥ २२ ॥
३२ (१) रामचरित चिन्तामणि चारू ।	राम नाम मनि दीप धरु '''। २१ ।
संत सुमति तिय सुभग सिंगारू ।	भगति सुतिय कल करनबिभूषण । २० (६)
३२ (२) जग मंगल गुन ग्राम राम कें ।	'मंगल भवन अमंगल हारी ।''' नाम जपत मंगल दिसि दसहू । २८ (१)
दानि मुकुति धन धरम धाम के ।	भए मुकुत हरिनाम प्रभाऊ । २६ (७)
३२ (३) बिबुध बैद भव भीम रोग के ।	जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रयसूल । (उ० १२४)
३२ (४) जननि जनक सियराम प्रेम के ।	सुमिरिय नाम''' । आवत हृदय सनेह बिसेषे ॥ २१ (६)
बीज सकल ब्रत धरम नेम के ॥	सकल सुकृत फल राम सनेहू । २७ (२)
३२ (५) समन पाप संताप सोक के ।	नाम प्रसाद सोच नहिं सपने । २५ (८)
प्रिय पालक परलोक लोक के ॥	हित परलोक लोक पितु माता । २७ (६) लोक लाहु परलोक निबाहू । २० (२)

श्रीरामचरित	श्रीरामनाम
३२ (७) कामकोह कलिकल करिगन के । केहरि सावक जन मन बन के ।	रामनाम नरकेसरी, कनककसिपु कलिकाल । जापक जन प्रह्लाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल ॥ ७ ॥
३२ (८) अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के ।	रामचरित सतकोटि महँ लिए महेस जिय जानि । (२५)
३२ (९) मंत्र महामनि बिषय ब्याल के ।	महामंत्र जोइ जपत महेसू । १९ ।
३२ (१०) हरन मोहतम दिनकरकर से । सेवक सालिपाल जलधर से ।	जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा ११६ (४) बरषारितु रघुपतिभगति, तुलसी सालि सुदास । रामनाम बर बरन जुग सावन भादँव मास ॥ १९ ॥
३२ (११) अभिमत दानि देवतरुवर से । ,, सेवत सुलभ सुखद हरिहर से ।	रामनाम कलि अभिमत दाता । २७ (६) नाम राम को कल्पतरु ॥ २६ ॥ सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू ॥ २० ॥ (२)
३२ (१२) सुकबि सरदनभ मन उडगन से ।	अपर नाम उडगन बिमल बसहु भगत उर ब्योम ॥ (आ० ४२ ।)
३२ (१३) सकल सुकृत फल भूरि भोग से । ,, जगहित निरुपधि साधु लोग से ।	सकल सुकृत फल राम सनेहू । २७ (२) जगहित हेतु बिमल बिधु पूषन ! २० (६)
३२ (१४) पावन गंग तरंग माल से ।	जनमन अमित नाम किय पावन । २४ (७) तीरथ अमित कोटि सम पावन । उ० ९२ । २ ।
कुपथ कुतर्क कुचालि कलि कपट दंभ पाषंड । दहन रामगुनग्राम जिमि इंधन अनल प्रचंड ॥३२॥ रामचरित राकेसकर । ३२ ।	जासु नाम पावक अघ तूला ॥ जनम अनेक रचित अघ दहहीं ६ । ११९ नाम अखिल अघ पूग नसावन (उ० ९।२२) 'राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम ।' (आ० ४२)
...सरिस सुखद सब काहु । सज्जन कुमुद चकोर चित, हित बिसेषि बड लाहु ॥३२॥	जगपालक बिसेषि जन त्राता । २० (५)

———*———

१०५ (३) रामचरित अति अमित मुनीसा । कहि न सकहिं सत कोटि अहीसा ।	रामु न सकहिं नाम गुन गाईं । २६ (८)
७ (१०३) कलिजुग केवल हरिगुनगाहा ।	नहिं कलि कर्म न भगति बिबेकू । रामनाम अवलंबन एकू ॥ २७ ॥ ७ ।
गावत नर पावहिं भव थाहा (७।१०३) । भवसागर चह पार जो पावा । राम कथा ताकहँ दृढ़ नावा । ७।५३ ।' ते भवनिधि गोपद इव तरहीं । (उ० १२९)	नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं २५ (४) नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं । भव बारिधि गोपद इव तरहीं

श्रीमद्रामचरित-माहात्म्य-वर्णन समाप्त हुआ ।

"मानसका अवतार, कथाप्रबंधका 'अथ'"-प्रकरण

कीन्हि प्रश्न जेहि भांति भवानी । जेहिं बिधि संकर कहा बखानी ॥ १ ॥
सो सब हेतु कहब मैं गाई । कथा प्रबंध बिचित्र बनाई ॥ २ ॥

अर्थ—जिस तरहसे श्रीपार्वतीजीने प्रश्न किया और जिस रीतिसे श्रीशंकरजीने विस्तारसे कहा, वह सब कारण मैं कथाकी विचित्र रचना करके (अर्थात् छन्दोंमें) गाकर (= विस्तारसे) कहूँगा ॥ -२ ॥

नोट—१ (क) "कीन्हि प्रश्न जेहि भाँति भवानी" यह प्रसंग दोहा १०७ (७) "बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी" से १११ (६) "प्रश्न उमा कै सहज सुहाई । छल बिहीन सुनि सिव मन भाई ।" तक है और फिर उत्तरकांड दोहा ५३ (७) "हरिचरित्रमानस तुम्ह गावा । सुनि मैं नाथ अमित सुख पावा ॥ तुम्ह जो कही यह कथा सुहाई । कागभसुंडि गरुड़ प्रति गाई ॥" से दोहा ५५ (५) "कहहु कवन विधि भा संबादा । ···" तक है । (ख) "जेहि बिधि संकर कहा बखानी" यह प्रसंग दोहा १११ (६) "प्रश्न उमा कै···॥ हर हिय रामचरित सब आए । रघुपतिचरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह । १११ ।" से चला है और "उमा कहिउँ सब कथा सुहाई" ७ । ५२ (६) तक है और फिर ७ । ५५ (६) "गौरि गिरा सुनि सरल सुहाई । बोले सिव सादर सुख पाई ।" से "सुनि सब कथा हृदय अति भाई । गिरिजा बोली····" ७ । १२९ (७) तक है । (ग)-"सो सब हेतु कहब मैं" इति । यह प्रसंग दोहा ४७ (८) "ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी । महादेव तब कहा बखानी ॥ कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभु संबाद । भएउ समय जेहि हेतु जेहि··· ॥ ४७ ।" से दोहा १०७ (२-६) 'पारबती भल अवसरु जानी । गईं संभु पहिं मातु भवानी ॥ कथा जो सकल लोक हितकारी । सोइ पूछन चह सैलकुमारी ॥' ... "हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी" १०८ (४) तक है ।

२—गोस्वामीजी कहते हैं कि जिस कारणसे भवानीने शिवजीसे पूछा और उन्होंने कहा वह कारण मैं गाकर कहूँगा । 'गाई' का प्रयोग जहाँ-तहाँ इस अर्थमें किया गया है कि विस्तारसे कहूँगा, यथा—'आपन चरित कहा मैं गाई' । इसका तात्पर्य यह है कि प्रश्नके हेतुकी कथा शिवजीके मानसमें नहीं है, याज्ञवल्क्यभरद्वाज-संवादमें इसकी कथा है, इसलिये उनका संवाद कहूँगा और महादेव-पार्वती के संवादका हेतु उसीमें कहूँगा । याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद गुसाईंजीको गुरुसे नहीं मिला किन्तु अलौकिक घटनाद्वारा श्रीहनुमत्कृपासे मालूम हुआ जिसका प्रमाण आगे दिया गया है । ३५ (११) देखो ।

३—मानसतत्त्वविवरणमें 'हेतु' का एक अर्थ यहाँ 'लिये' भी किया है अर्थात् सबके लिये कहूँगा । पुनः 'सब हेतु' का वे यह भाव देते हैं कि शिव-पार्वती-संवादका जो कारण है पूरा-पूरा देंगे, संक्षेपसे नहीं ।

सूर्यप्रसादमिश्रजीः—गानके दो भेद हैं । यन्त्र और गात्र । सितारा, वीणा, वंसी, शहनाई, फ़ोनोग्राफ़ आदिकी गणना यन्त्रमें है । मुखसे जो गाया जाता है उसका नाम गात्र है । प्रमाण—'गीतञ्च द्विविधं प्रोक्तं यन्त्रगात्रविभागतः । यन्त्रं स्याद्वेणुवीणादि गात्रं तु मुखजं मतम् ॥' चारों वेदोंसे गानका पूर्ण रूप होता है । गानमाहात्म्य वेदतुल्य है । अतएव ग्रन्थकारने इस कथाको 'गाई' करके उल्लेखन किया ।

नोट—४ 'कथा प्रबंध बिचित्र बनाई' इति । (क) प्रबंध = एक दूसरेसे सम्बद्ध वाक्यरचनाका सविस्तार लेख, या अनेक सम्बद्ध पद्योंमें पूरा होनेवाला काव्य । (ख) कोई-कोई महानुभाव 'बिचित्र' को कथाका विशेषण मानते हैं । कथा विचित्र है, यथा—'सुनत्यों किमि हरिकथा सुहाई । अति बिचित्र बहु बिधि तुम्ह गाई ॥ ७० ६९ ।' और कोई उसे 'बनाई' के साथ लगाते हैं ।

मानसतत्वविवरणकार 'विचित्र बनाई' का भाव यह लिखते हैं कि—(१) "बहुत अद्भुत रीतिसे कहेंगे अर्थात् जिस भावनाके जो भावुकजन होंगे उनको उनके भावके अनुकूल ही अक्षरोंसे सिद्ध होगा। (२) नाना कल्पका चरित सूचित हो पर अघटितघटनापटीयसी योगमाया कर्तृ एक ही कालकी लीला प्रकटाप्रकटा है। क्योंकि परिपूर्णावतारमें लीलाके उद्योतनकी यही व्यवस्था है।"

सुधाकरद्विवेदीजीका मत है कि 'विचित्र' विभ्यां पक्षिभ्यां भुशुण्डिगरुडाभ्यां चित्रमिति विचित्रम्' इस विग्रहसे भुशुण्डि और गरुड़से चित्र जो कथाप्रबन्ध उसे बनाकर और गानकर मैं सब कारणोंको कहूँगा, ऐसे अर्थमें बड़ी रोचकता है।

सूर्यप्रसादमिश्रजीः—विचित्र शब्दसे अर्थ-विचित्र, शब्द-विचित्र और वर्ण-विचित्र तीनोंका ग्रहण है। इसमें मन न ऊबेगा, यह सूचित किया। बैजनाथकृत मानसभूषणटीकामें जो यह लिखा है कि "विचित्र तो वाको कही जो अर्थ के अन्तर अर्थ ताके अन्तर अर्थ जो काहूकी समुझिमें न आवे" मेरी समझसे यह ग्रन्थकारका अभिप्रेत नहीं हो सकता।

बैजनाथजी कहते हैं कि चित्रकाव्य वह है कि जिसके अक्षरोंको विशेष क्रमसे लिखनेसे मनुष्य, पशु, वृक्षादि कोई विशेष चित्र बन जाता है। अथवा, 'जिसमें अंतर्लापिका बहिर्लापिका गतागतादि अनेक हैं।' और विचित्र वह है जिसमें अर्थके अंदर अर्थ हो और फिर उस अर्थके अंदर अर्थ हो जो किसीकी समझमें न आवे। श्रीजानकीशरणजी कहते हैं कि कथाके प्रबन्धको विचित्र बनाकर कहनेका भाव यह है कि किसी प्रबंधमें किसी प्रबंधकी कथा आ मिली है जैसे कि पृथ्वीके करुण-क्रंदनके पश्चात् देवताओंका परस्पर कथनोपकथन परब्रह्मस्तुति 'जय जय सुरनायक' से 'यह सब रुचिर चरित मैं भाषा।...' तक के बीचमें नारदशापावतारकी कथा आ मिली है।

श्रीकान्तशरणजी कहते हैं कि "इसमें विचित्रता यह है कि प्रथम मानससरोवरका रूपक स्वयं रचेंगे। वह बड़ाही विचित्र है, जिसमें चार घाटों, चार प्रकारके श्रोतावक्ताओंके संबंध और उनके द्वारा कांडत्रय एवं प्रपत्ति (शरणागति) की सँभाल रखते हुए, मुख्य उपासनारूपी ही कथा चलेगी। तब आगे हेतु कहेंगे।"

नोट—'विचित्र' के ये अर्थ होते हैं—(१) जिसके द्वारा मनमें किसी प्रकारका आश्चर्य हो। (२) जिसमें कई प्रकारके रंग हों। (३) जिसमें किसी प्रकारकी विलक्षणता हो। यहाँ मेरी समझमें ये सब अर्थ लगते हैं। कथाप्रसंग जो इसमें आए हैं उनमेंसे बहुतेरी कथाएँ अलौकिक हैं, उनके प्रमाण बहुत खोजनेपर भी कठिनतासे मिलते हैं, अतः आश्चर्य होता है। जो आगे 'अलौकिक' कहा है वह भी 'विचित्र' शब्दसे जना दिया है। फिर इसमें नवोरसोंयुक्त वर्णन ठौर-ठौरपर आया ही है, यही अनेक रंगोंका होना है। इस कथाके रूपक आदि तो सर्वथा विलक्षण हैं। कई कल्पोंकी कथाओंका एक ही में संमिश्रण भी विलक्षण है जिसमें टीकाकार लोग मत्था-पच्ची किया करते हैं। इसके छन्दभी विलक्षण हैं, भाषाके होते हुए भी संस्कृतके जान पड़ते हैं।

मेरी समझमें गोस्वामीजीने मं० श्लो० ७ में "रघुनाथगाथा भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति" यह जो प्रतिज्ञा की है, वह भी 'विचित्र' शब्दसे यहाँ पुनः की है। इस तरह, विचित्र=अति मंजुल। आगे जो 'करइ मनोहर मति अनुहारी। ३६।२।' कहा है, वह भी 'विचित्र' का ही अर्थ स्पष्ट किया गया है।

जेहिं यह कथा सुनी नहिँ होई। जनि आचरज करै सुनि सोई॥ ३॥
कथा अलौकिक सुनहिं जे ज्ञानी। नहिं आचरजु* करहिं अस जानी॥ ४॥

* आचज—१६६१। यह लेखक प्रमाद है। अन्यत्र सर्वत्र 'आचरजु' है।

रामकथा कै मिति जग नाहीं । अस प्रतीति तिन्ह के मन माहीं ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—अलौकिक=जो लोकमें पढ़ने-सुननेमें न आई हो । अपूर्व, असाधारण, अद्भुत, विचित्र । मिति=संख्या, सीमा, इति, अन्त, हद, मान, नाप । आचरज (आश्चर्य)=अचंभा ।

अर्थ—जिन्होंने यह कथा और कहीं सुनी न हो, वे इसे सुनकर आश्चर्य न करें । (भाव यह कि यह कथा वाल्मीकीय, अध्यात्म आदि रामायणोंकी कथासे विलक्षण है) ॥ ३ ॥ जो ज्ञानी विचित्र कथाको सुनते हैं वे ऐसा जानकर आश्चर्य नहीं करते ॥ ४ ॥ (कि) रामकथाकी हद संसारमें नहीं है । ऐसा विश्वास उनके मनमें है ॥ ५ ॥

नोट—१ (क) चौपाई (३) में कहा कि आश्चर्य न करो । फिर (४) (५) में ज्ञानियोंका प्रमाण देकर आश्चर्य न करनेका कारण बताते हैं । पुनः, (ख)—'ज्ञानी' शब्दमें यह भी ध्वनि है कि जो अज्ञानी हैं वे तो सन्देह करेहींगे, इसमें हमारा क्या वश है ? [मा० प्र०] ।

२—यह 'कथा' कौन है जिसे सुनकर आश्चर्य न करनेको कहते हैं ? सतीमोह-प्रकरण, भानुप्रतापका प्रसङ्ग, मनुशतरूपा, कश्यप-अदिति, नारदशापादि सम्बन्धी लीलाएँ एक ही बारके अवतारमें सिद्ध हो जाना, इत्यादि 'अलौकिक' कथाएँ हैं ।

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि 'पशु हनुमान् आदिकी नर राम-लक्ष्मण-सीतासे बातचीत होना, पक्षी जटायुसे मनुष्य रामसे बातचीत करना इत्यादि साधारण मनुष्यके सामने असम्भव है । इसलिये दृढ़ार्थ कहते हैं कि सुनकर आश्चर्य न करें क्योंकि परमेश्वरकी लीलामें कोई बात असम्भव नहीं है ।'

सन्त श्रीगुरुसहायलालजी कहते हैं कि "भगवत्‌की नित्यलीला प्रकटा अप्रकटा रीतिसे अनेक है । हरएकके परिकर भिन्न-भिन्न हैं । जब जिस लीलाका अवसर आ पड़ता है तब उस लीलाके परिकर प्रकट होकर उस लीलाको करते हैं पर एककी दूसरेको खबर नहीं जैसा भागवतामृतकर्णिकामें कहा है—'स्वैः स्वैर्लीलापरिकरैर्जनैर्दृश्यामि नापरैः । तत्तत्लीलाद्यवसरे प्रादुर्भावोचितानि हि । आश्चर्यमेकञ्चैकत्रवर्तमानान्यपि ध्रुवम् । परस्परमसंपृक्तं स्वरूपत्येव सर्वथा ।।' ऐसी लीलाकी कथा अलौकिक है ।"

वे० भू०—आश्चर्यका कारण कथाकी अलौकिकता है । कारण एक जगह है और कार्य दूसरी जगह । "और करै अपराध कोउ और पाव फल भोग" । जैसे कि नारद-शाप क्षीरशायीको इस लोक (एकपाद्-विभूति) में और शापकी सफलता दिखाई राम अलौकिक (त्रिपाद्विभूति स्वामी) ने, वृन्दाका शाप एवं सनकादिका शाप रमावैकुण्ठाधीश विष्णुसे संबंध रखता है और इसकी पूर्ति की श्रीरामजीने जो त्रिपाद्विभूतिस्थ हैं । सारांश यह कि दूसरे-दूसरे कारणोंसे भी श्रीरामजीका अवतीर्ण होकर चरित्र करना कहा गया है—यही अलौकिकता है ।

नाना भाँति राम-अवतारा । रामायन सत-कोटि अपारा ॥ ६ ॥
कलपभेद हरिचरित सुहाए । भाँति अनेक मुनीसन्ह गाए ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—कल्प-कालका एक विभाग है जिसे ब्रह्माका एक दिन कहते हैं । इसमें चौदह मन्वन्तर और चौदह इन्द्र हो जाते हैं । यह हमारे वर्ष के अनुसार चार अरब बत्तीस करोड़ वर्षोंके बराबर होता है । इस एक दिनमें एक-एक हजार बार चारों युग बीत जाते हैं । यथा—"चतुर्युग सहस्राणि दिनमेकं पितामहः ।" चारों युग और इकहत्तर बार से कुछ अधिक हो जाते हैं तब एक मन्वन्तर होता है ।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके अवतार अनेक तरहसे हुए हैं, रामायण सौ करोड़ (श्लोकोंकी) किन्तु अपार है ॥ ६ ॥ कल्पभेदसे सुन्दर हरि-चरित मुनीशोंने अनेक तरहसे गाए हैं❀ ॥ ७ ॥

सूर्यप्रसादमिश्रजी—"नाना भांति०" इसमें क्रिया पद नहीं है उसका अध्याहार करना चाहिए। अध्याहार इस प्रकार होगा कि 'रामके अवतार कितने हो गए, कितने हैं और कितने होंगे' इसी लिए 'नाना भांति' लिखा और शतकोटि रामायण भी लिखा। भेदका कारण सातवीं चौपाईमें देते हैं।"

नोट—१ 'शतकोटि अपारा' यथा—'रामचरित सतकोटि अपारा। श्रुति सारदा न बरनइ पारा॥ उ० ५२।' पुनः, यथा—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्। एकैकमक्षरं पुंसां महापातक नाशनम् ॥"

२—"रामायन सतकोटि"—दोहा २५ "रामचरित सतकोटि महं लिय महेस…" में देखिये। लोगोंने इसका अर्थ "सौ करोड़ रामायणें" लिखा है पर वस्तुतः यह अर्थ उसका नहीं है। 'शतकोटि रामायण' नाम है उस रामायणका जो वाल्मीकिजीने अथवा कल्पभेदसे ब्रह्माजीने सौ करोड़ श्लोकोंमें बनाई थी और जिसका सारभूत वर्तमान चतुर्विंशति वाल्मीकीय है। "शतकोटि" उसी तरह शतकोटिश्लोकबद्ध रामायणका नाम है जैसे अष्टाध्यायी, सप्तशती, उपदेश-साहस्री इत्यादि तदन्तगत अध्याय या श्लोकों आदिकी संख्याको लक्षित करके नाम हुए हैं।

"रामायन सतकोटि अपारा" कहनेका भाव यह है कि रामचरित तो अपार है, अनंत है, तथापि अपने ज्ञानके लिये शतकोटि श्लोकोंमें कुछ रामचरितकी रचना की गई। और अन्य उपलब्ध रामायणें तो इसी शतकोटिके कुछ-कुछ अंश लेकर ही बनाई गई हैं। यथा—"अनन्तत्वेऽपि कोटीनां शतेनास्य प्रपंचनम्। रामायणस्य बुध्यर्थं कृतं तेन विजानता ॥" (शिव सं० ७। १० । हनु० प्रे० अयोध्या)।

३—श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि इन चौपाइयोंमें ज्ञानियोंके विश्वासका कारण बताया है। और पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि आश्चर्य न करनेका एक कारण ऊपर लिखा, अब दूसरा कारण लिखते हैं कि अनेक प्रकारसे या कारणोंसे रामावतार हुए हैं, प्रत्येक कल्पमें कुछ-न-कुछ भेद कथामें पड़ गया है। जिसकी जहाँतक बुद्धि दौड़ी वहाँतक उसने कहा। यथा—"चरितं रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरे। येषां वै यादृशी बुद्धिस्ते वदन्त्येव तादृशम् ॥" (पद्म पु०), "क्वचित् क्वचित्पुराणेषु विरोधो यदि दृश्यते। कल्पभेद विधिस्तत्र व्यवस्था सद्भिरुच्यते।"

करिअ न संसय अस उर आनी । सुनिअ कथा सादर रति मानी ॥ ८ ॥

अर्थ—ऐसा जीमें विचारकर सन्देह न कीजिये और कथाको आदरपूर्वक प्रेमसे सुनिये। ८।

नोट—१ 'अस'=जैसा ऊपर समझा आये हैं कि कथाकी सीमा नहीं है, कल्पभेदसे तरह-तरहके चरित्र हुए हैं और चरित्र अपार हैं। संसय=संशय, संदेह। संदेह यह कि यहाँ ऐसा कहा, वहाँ ऐसा कहते हैं, अमुक ग्रन्थमें तो यहाँ ऐसी कथा है और यहाँ गोस्वामीजीने ऐसा कैसे लिख दिया ? इत्यादि।

"सादर" अर्थात् एकाग्र भावसे प्रेमसे मन, चित्त और बुद्धिको कथामें लगाकर तथा श्रद्धापूर्वक, यथा—"सुनहु तात मति मन चित लाई। ३। १५। १।", "भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवनपुट पान। ७। १२८।"

❀ यथा—'एहि बिधि जनम करम हरि केरे। सुंदर सुखद बिचित्र घनेरे॥ कलप-कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना बिधि करहीं॥ तब-तब कथा मुनीसन्ह गाई। परम पुनीत प्रबंध बनाई॥ बिबिध प्रसंग अनूप बखाने। करहिं न सुनि आचरज सयाने॥ हरि अनंत हरिकथा अनंता। कहहिं सुनहिं बहु बिधि सब संता॥ रामचंद्र के चरित सुहाए। कलप कोटि लगि जाहिं न गाए॥ १४०। १-६।' कल्प-कल्पमें अवतार होनेसे ब्रह्माकी आयुभर में दो छत्तीस हजार बार अवतार हो जाता है।

निरादरसे सुननेका निषेध किया गया है, यथा—"यह न कहिअ सठही हठसीलहि । जो मन लाइ न सुन हरि लीलहि । ७ । १२८ । ३ ।" मन न लगाना, कुतर्क आदि करना 'निरादर' से सुनना है। पूर्व दोहा ३२ (ख) भी देखिए ।

सूर्यप्रसादमिश्रजी—"बैजनाथकृत मानस-भूषणमें जो अर्थ लिखा है कि 'प्रीतिसे आदरसहित सुनिये मनतें प्रीति वचन कर्मतें आदरसहित चन्दनाक्षत चढ़ाई वचनमें जय उचरिये' यह अर्थ प्रकरणसे विरुद्ध है क्योंकि इस चौपाईमें केवल कथा शब्दका उल्लेख है और 'सुनिय' भी लिखा है। कर्म बचनका तो नाम भी नहीं ।"

दोहा—राम अनंत अनंत गुन अमित कथा-बिस्तार ।
सुनि आचरजु न मानिहहिं जिन्ह के बिमल बिचार ॥ ३३ ॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी अनन्त हैं, उनके गुण भी अनन्त हैं और उनकी कथाका विस्तार भी अमित है। जिनके विचार निर्मल हैं वे सुनकर आश्चर्य न करेंगे ॥ ३३ ॥

टिप्पणी—१ (क) अब ग्रन्थकार तीसरी प्रकार समझाते हैं कि क्यों आश्चर्य न करें। पुनः, यह भी यहाँ बताते हैं कि किस-किस विषयमें सन्देह न करना चाहिये। वह यह कि राम अनन्त हैं इसलिये श्रीरामजीके विषयमें आश्चर्य न करें। प्रभुके गुण अनन्त हैं, यथा—'विष्णु कोटि सम पालन कर्ता । ७ । ९२ ।' उनकी कथा भी अगणित प्रकारसे है इसलिये इनमें सन्देह न करें। (ख)—'रामकथा कै मिति जग नाहीं' कहकर प्रथम कथाका संदेह निवृत्त किया, और अब कथाके विस्तारका सन्देह दूर करते हैं कि अमुक कथा अमुक पुराणमें तो इतनी ही है, यहाँ अधिक कहाँसे लिखी। (ग)—कौन आश्चर्य न करेंगे ? इस विषयमें दो गिनाये—ज्ञानी और जिनके विवेक है। जो विचारहीन और अज्ञानी हैं, उनके मनमें आश्चर्य होता ही है। (घ) 'जिन्ह के बिमल बिचार'—ऐसा ही दूसरी ठौर भी कहा है, यथा—'सो विचारि सुनिहहिं सुमति जिन्ह के बिमल बिबेक । १ । ९ ।'

येहि बिधि सब संसय करि दूरी । सिर धरि गुर-पद-पंकज धूरी ॥ १ ॥
पुनि सब ही बिनवौं कर जोरी । करत कथा जेहि लाग न खोरी ॥ २ ॥

अर्थ—इस प्रकार सब सन्देहोंको दूर करके और श्रीगुरुपदकमलकी रज सिरपर धारण करके फिरसे सबकी विनती हाथ जोड़कर करता हूँ जिससे कथा करनेमें दोष न लगे ॥ १, २ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सब संशय'—ये ऊपर कह आये हैं। अर्थात् कथा और कथाके विस्तारमें संशय; श्रीरामजी और उनके गुणोंमें संशय। और अब उन सबको यहाँ एकत्र करते हैं। (ख) 'सिर धरि'—अर्थात् माथेपर लगाकर, तिलक करके। ग्रन्थमें तीन बार रज-सेवन करना कहा है। आदिमें गुरुपदरजको नेत्रमें लगाकर 'बिबेक-बिलोचन' निर्मल किये, यथा—'गुरुपदरज मृदु मंजुल अंजन । नयन अमिय दृग दोष बिभंजन ॥ तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन । बरनउँ रामचरित भव मोचन ॥ १।२ ।' फिर यहाँ सरपर धारण करना लिखा, क्योंकि ऐसा करनेसे सब वैभव वशमें हो जाते हैं, यथा—'जे गुरुचरन-रेनु सिर धरहीं । ते जनु सकल बिभव बस करहीं ॥ अ० ३ ।' आगे अयोध्याकाण्डमें रज-सेवनसे मन निर्मल करेंगे, यथा—श्रीगुरुचरन-सरोज-रज निज मन मुकुर सुधारि । बरनउँ रघुबर बिमल जसु···' (मं० दो०) तीनों जगह प्रयोजन भिन्न-भिन्न हैं।

२ 'पुनि सबही बिनवौं' इति। दुबारा विनती क्योंकी ? इसका कारण भी यहाँ बताते हैं कि कथा रचनेमें कोई दोष उसमें न आ जावे अर्थात् कथा निर्दोष बने। पहिले जो विनती की थी वह इस अभिप्रायसे थी कि कोई दोष न दे, यथा—'समुझि बिबिध बिधि बिनती मोरी। कोउ न कथा सुनि देइहि खोरी। १।१२।७।' यहाँ यद्यपि

दोनों जगह दोष न लगना कहा तथापि पुनरुक्ति नहीं है। क्योंकि पहले कथा सुनकर सुननेवालोंका दोष न लगाना कहा था और यहाँ कहते हैं कि कथा रचनेमें कोई दोष न आ पड़े। अथवा, कथा बनानेमें दोष न दें और न सुनकर दें, ये दो बातें कहीं।

सुधाकरद्विवेदीजी—संशय दूर होनेमें गुरुको प्रधान समझकर फिर उनके पदरजको शिरपर रक्खा। भाषामें कथा करनेमें पहले कारण 'भाषाबद्ध करब मैं सोई।०' लिख आए हैं, उसे स्मरण करानेके लिये फिर सबसे विनय किया।

नोट—श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि 'अब गोस्वामीजी वन्दनाकी तीसरी आवृत्ति करके वन्दनाको समाप्त करते हैं।

सादर सिवहि नाइ अब माथा। बरनौं बिसद रामगुनगाथा॥ ३॥

अर्थ—अब आदरपूर्वक श्रीशिवजीको प्रणाम करके श्रीरामचन्द्रजीके गुणोंकी निर्मल कथा कहता हूँ॥३॥

टिप्पणी—गोस्वामीजीने 'नाम, रूप, लीला और धाम' चारोंकी बड़ाई क्रमसे की है। (१) सबको माथा नवाकर नामकी बड़ाई की, यथा—'प्रनवौं सबहिं धरनि धरि सीसा। करहु कृपा जन जानि मुनीसा॥ १८।६।' (२) श्रीरामचन्द्रजीको माथा नवाकर रूपकी बड़ाई की, यथा—'सुमिरि सो नाम रामगुन गाथा। करउँ नाइ रघुनाथहिं माथा॥ राम सुस्वामि०। १। २८। २।' से 'तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान। १। २९।' तक। (३) फिर सबको माथा नवाकर लीलाकी बड़ाई की, यथा—'एहिं बिधि निज गुनदोष कहि सबहि बहुरि सिर नाइ। बरनउँ रघुबर बिसद जस सुनि कलिकलुष नसाइ। १।२९।' से लेकर 'रामचरित राकेस कर सरिस सुखद सब काहु। १।३२।' तक। और, (४) अब शिवजीको प्रणाम करके धामकी बड़ाई करते हैं।

नोट—श्रीशिवजीकी तीसरी बार वन्दना है। ये मानसके आचार्य हैं। इसलिये कथा प्रारम्भ करके फिर आचार्यको प्रथम प्रणाम करते हैं। गोस्वामीजीके 'मानस' गुरु भी यही हैं। इन्हींने रामचरितमानस उनको स्वामी श्रीनरहर्यानन्दजीके द्वारा दिया।—'गुरु पितु मातु महेस भवानी'।

संबत सोरह सै एकतीसा। करउँ कथा हरिपद धरि सीसा॥ ४॥
नौमी भौम बार मधु मासा। अवधपुरीं यह चरित प्रकासा॥ ५॥

शब्दार्थ—भौमवार=मंगलवार। मधुमासा=चैत्र,—'स्याच्चैत्रे चैत्रिको मधुः। अमरकोशे १।४।१५।'

अर्थ—भगवान्‌के चरणोंपर शिर रखकर संवत् १६३१ में कथा प्रारम्भ करता हूँ। ४। नवमी तिथि, मंगलवार, चैत्रके महीनेमें, श्रीअयोध्याजीमें यह चरित प्रकाशित हुआ। ५।

नोट—१ यहाँसे गोस्वामीजी अब अपने हिन्दी-भाषा-निबन्ध श्रीरामचरितमानसका जन्म, संवत्, महीना, दिन, पक्ष, तिथि, मुहूर्त्त, जन्मभूमि, नामकरण और नामका अर्थ और फल कह रहे हैं।

२ संवत् १६३१ में श्रीरामचरितमानस लिखना प्रारम्भ करनेका कारण यह कहा जाता है कि उस संवत्‌में श्रीरामजन्मके सब योग, लग्न आदि एकत्र थे। इस तरह श्रीरामजन्म और श्रीरामकथाजन्ममें समानता हुई। मानसमयङ्कके तिलककार लिखते हैं कि 'स्वयं श्रीरामचन्द्रजी लोक-कल्याण-निमित्त काव्यरूप हो प्रकट हुए। दोनों सनातन और शुद्धपरब्रह्ममय हैं। इससे दोनोंको एक जानो'।

महात्माओंसे एक भाव इस प्रकार सुना है कि श्रीरामचन्द्रजी १६ कलाके अवतार थे—'बालचरितमय चन्द्रमा यह सोरह कला निधान। गी० १।१६।' तो भी जब उन्होंने ३१ बाण जोड़कर रावणपर आघात किया तब उसका वध हुआ, यथा—'सुर सभय जानि कृपाल रघुपति चाप सर जोरत भये॥ खैंचि सरासन श्रवन लगि छाँड़े सर इकतीस। रघुनायक सायक चले मानहुँ काल फनीस। लं० १०१।' इसी विचारसे ग्रन्थकारने १६ में इकतीस

लगानेसे जो संवत् बना उसमें रामचरितमानसकथाका आरम्भ किया जिसमें मोहरूपी रावण इसके आघातसे न बच सके ।

नोट—३ इन दो चौपाइयोंमें जन्मका संवत्, महीना, तिथि, दिन और (भूमि) स्थल बताये। 'मधु मास' पद देनेका भाव यह है कि भगवान्ने गीतामें श्रीमुखसे बताया है कि 'ऋतूनां कुसुमाकरः' अर्थात् ऋतुओं-में इसे अपना रूप कहा है।

※ 'नौमी भौमवार···यह चरित प्रकासा' ※

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'प्रकासा' पद देकर सूचित किया कि जैसे श्रीरामचन्द्रजी सनातन हैं वैसेही उनका यह चरित्र भी सनातन है, परन्तु उसका प्रकाश अब हुआ। दूसरे यह भी सूचित किया कि जैसे रामचन्द्रजी पूर्णचन्द्ररूप प्रकट हुए थे, यथा—'प्रगटेउ जहँ रघुपति ससि चारू ।१।१६।', वैसे ही उनके चरित्र पूर्ण-चन्द्ररूपसे प्रकट हुए, यथा—'रामचरित राकेस-कर सरिस सुखद सब काहू । १ । ३२ ।', इस प्रकार श्रीरामजन्मकुण्डली और श्रीरामचरितमानसजन्म-कुण्डलीका पूरा मिलान ग्रन्थकार यहाँसे करते हैं जो आगे एकत्र करके दोहा ३५ (६) में दिया गया है।

२—श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि श्रीहनुमान्‌जीकी आज्ञासे श्रीअवधमें श्रीरामचरितमानस प्रारम्भ किया गया। श्रीवेणीमाधवदासजी 'मूल-गोसाईंचरित में लिखते हैं कि संवत् १६२८ में गीतोंको एकत्रकर उसका नाम रामगीतावली रक्खा और फिर कृष्णगीतावली रची। दोनों हनुमान्‌जीको सुनाए तब उन्होंने प्रसन्न होकर आज्ञा दी कि तुम अवधपुर जाकर रहो। इष्टकी आज्ञा पाकर वे श्रीअवधको चले, बीचमें प्रयागराजमें मकर-स्नानके लिये ठहर गये, वहाँ भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-दर्शन और संवादकी अलौकिक घटना हुई; तब हरिप्रेरित आप काशीको चल दिये। जब कुछ दूर निकल गये तब श्रीहनुमान्‌जी की आज्ञा स्मरण हो आयी, अब क्या करें? मनमें यह दृढ़ किया कि हरदर्शन करके तब श्रीअवधपुर जायँगे। काशी पहुँचकर संस्कृतभाषामें रामचरित रचने लगे, पर जो दिनमें रचते वह रात्रिमें लुप्त हो जाता। सात दिनतक बराबर यह लोपक्रिया चलती रही जिसने इन्हें बड़ा चिन्तित कर दिया। तब आठवें दिन भगवान् शङ्करने इनको स्वप्न दिया और फिर प्रकट होकर इनको यही आज्ञा दी कि भाषामें काव्य रचो। "सुरबानिके पीछे न तात पचो॥ सबकर हित होइ सोई करिये। अरु पूर्व प्रथा मत आचरिये॥ तुम जाइ अवधपुर वास करो। तहँई निज काव्य प्रकास करो॥ मम पुन्य प्रसाद सों काव्य कला। होइहै सम सामरिचा सफला॥ कहि अस संभु भवानि अंतरधान भये तुरत। आपन भाग्य बखानि चले गोसाईं अवधपुर॥ सोरठा ६ ।"

श्रीशिवाज्ञा पाकर आप श्रीअवध आये और बरगदिहा बागमें, जहाँ उस समयभी वटवृक्षोंकी पाँति-की-पाँति लगी थी, ठहरे, जिसे आज 'तुलसीचौरा' कहते हैं। यहाँ आप दृढ़ संयमसे रहने लगे। केवल दूध पीते और वह भी एक ही समय—"पय पान करैं सोउ एक समय। रघुबीर भरोस न काहुक भय॥ दुइ बत्सर बीते न घृत्ति डगो। इकतीसको संवत आइ लगो॥"

इस तरह श्रीहनुमान्‌जीकी और पुनः भगवान् शङ्करकी भी आज्ञासे आप रामचरितमानसकी रचनाके लिये श्रीअवध आये और दो वर्षके बाद संवत् १६३१ में श्रीरामनवमीको रामचरितमानसका आरम्भ हुआ। इस शुभ मुहूर्तके लिये दो वर्षसे अधिक यहाँ उन्हें रहना पड़ा तब—"रामजन्म तिथि बार सब जस त्रेता महँ भास। तस इकतीसा महँ जुरो जोग लग्न ग्रह रास॥ ३८॥ नवमी मंगलवार सुभ प्रात समय हनुमान। प्रगटि प्रथम अभिषेक किय करन जगत कल्यान॥ ३९॥"

सम्भवतः इसीके आधारपर टीकाकार सन्तोंने लिखा है कि उस दिन श्रीरामजन्मके सब योग थे।

उस दिन ग्रन्थका आरम्भ हुआ और दो वर्ष सात मास छब्बीस दिनमें अर्थात् संवत् १६३३ अगहन सुदी ५ श्रीरामविवाहके दिन यह पूरा हुआ ।—"एहि बिधि भा आरंभ रामचरितमानस बिमल । सुनत मिटत मद दंभ कामादिक संसय सकल ।सो० ११। दुइ बत्सर सातेक मास परे। दिन छब्बिस मांझ सो पूर करे।। तैंतीसको संवत औ मगसर। सुभ द्योस सुराम-बिबाहहिं पर ।। सुठि सप्त जहाज तयार भयो। भवसागर पार उतारन को ।।"

"जब इतने दिनोंमें तैयार हुआ तब श्रीरामनवमी सं० १६३१ को प्रकाशित होना कैसे कहा ? प्रकाशित तो तैयार होनेपर कहा जाता है ?" इस शङ्काका उत्तर भी हमें इसी 'मूल गोसाईं चरित' में ही मिलता है, अन्यत्र इसका समाधान कोई ठीक नहीं मिला । वस्तुतः यह ग्रन्थ उसी दिन पूरा भी हो गया था पर मनुष्य-लेखनी उसको एक ही दिनमें लिखनेको समर्थ न थी; अतएव लिखनेमें इतना समय लगा।—"जेहि छिन यह आरंभ भो तेहि छिन पूरेउ पुर । निरबल मानव लेखनी खींचि लियो अति दूर ।४२। पाँच पात गनपति लिखे दिव्य लेखनी चाल । सत सिव नाग अरु द्यू दिसप लोक गये ततकाल ।। ४३ ।। सबके मानसमें बसेउ मानस-राम-चरित । बंदन रिषि कवि पद कमल मन क्रम वचन पवित्र ।। ४४ ।।"

इस अलौकिक गुप्त घटनाका परिचय 'यह चरित प्रकासा' का 'प्रकासा' शब्द दे रहा है । यहाँ 'प्रकासा' का अर्थ 'आरम्भ किया' मात्र नहीं है ।

३—'नौमी भौमवार' इति—सन्तसिंहजी पंजाबी तथा विनायकी टीकाकारने यहाँ यह शंका उठाकर कि-'नौमी तो रिक्ता तिथि है', पुनः मंगलवारको कोई-कोई दूषित समझते हैं, तो ऐसी तिथि और वारमें 'ग्रन्थका आरंभ क्यों किया गया' ? उसका उत्तर भी यों दिया है कि 'ईश्वरने उस दिन जन्म धारण किया, इसलिये वह तो सर्वश्रेष्ठ है ।' और भी समाधान ये हैं—

(१) 'मंगल परमभक्त हनुमान्‌जीका जन्मदिन है । (२) दिनके समय ग्रन्थ आरम्भ हुआ सो शुभ ही है' यथा—"न वारदोषाः प्रभवन्ति रात्रौ देवेज्यदैत्येज्यदिवाकराणाम् । दिवा शशांकार्कजभूसुतानां सर्वत्र निन्द्यो बुधवार-दोषः ।।" (बृहद्दैवज्ञरंजन वारप्रकरण श्लोक १६)। अर्थात् शुक्र, गुरु और रविवारके दोष रात्रिमें नहीं लगते । चन्द्र, शनि और मंगलवारका दोष दिनमें नहीं लगता । बुधवार दोष सर्वत्र निन्द्य है । (३) (पाँड़ेजी कहते हैं कि) "नवमी तिथिसे शक्तिका आलंब, मंगलवारसे हनुमान्‌जीका आलंब और चैत्रमाससे श्रीरघुनाथजीका आलंब है । गोस्वामीजी इन तीनोंके उपासक हैं और श्रीरामजन्म नवमीको हुआ है । अतः उसी दिन ग्रंथ प्रकाशित किया गया ।" ☞स्मरण रहे कि कवि पूर्व ही प्रतिज्ञापूर्वक श्रीरामचरित्रके माहात्म्यमें कह चुके हैं कि कैसा ही कठिन कुयोग क्यों न उपस्थित हो श्रीरामचरित-नामगुणसे वह सुयोग हो जाता है—'मेटत कठिन कुअंक भाल के' । उस दिनका लिखा हुआ ग्रन्थ कैसा प्रसिद्ध हो रहा है !!!

सुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि ज्योतिषफलग्रन्थोंमें लिखा है कि 'शनिभौमगता रिक्ता सर्वसिद्धि प्रदायिनी' । इसीलिये उत्तम मुहूर्त्त होनेसे चैत्र शु० ९ भौमवारको ग्रन्थ आरम्भ किया । फलितके ज्योतिषी चतुर्थी, नवमी और चतुर्दशीको रिक्ता कहते हैं ।

जेहि दिन रामजनम श्रुति गावहिं । तीरथ सकल तहाँ चलि आवहिं ।। ६ ।।

अर्थ—जिस दिन श्रीरामजन्म होता है, वेद कहते हैं कि उस दिन सारे तीर्थ वहाँ (श्रीअयोध्याजी में) चलकर आते हैं । ६ ।

नोट—१ 'जेहि दिन०' इति । नवमी, भौमवार और मधुमास ऊपर बताया, इनसे पक्षका निर्णय न हुआ; अतः 'जेहि दिन०' कहकर शुक्ला नवमी बतायी ।

२—'सकल' अर्थात् पृथ्वीभरके । 'चलि आवहिं' का भाव यह है कि रूप धारण करके अपने पैरों-पैरों आते हैं । 'तीर्थ' के चलनेका भाव यह है कि इनके अधिष्ठाता देवता जो इनमें वास करते हैं वे आते हैं । ये

सब इच्छारूप धारण कर लेते हैं। इसका प्रमाण इस ग्रन्थमें भी मिलता है, यथा—'बन सागर सब नदी तलावा। हिमगिरि सब कहँ नेवत पठावा ॥ कामरूप सुंदर तनु धारी। सहित समाज सोह बर नारी ॥ आए सकल हिमाचल गेहा। गावहिं मंगल सहित सनेहा। १। ९३।' ☞भारतवर्षमें रीति है कि जब कोई ग्राम, नगर इत्यादि प्रथम-प्रथम बसाये जाते हैं तो उनके कोई-न कोई अधिष्ठाता देवता भी स्थापित किये जाते हैं। "सकल" और "चलि आवहिं" पद देकर श्रीरामनवमी और श्रीअवधपुरीका माहात्म्य दर्शित किया।

प्रयागराज तीर्थराज हैं, ये और कहीं नहीं जाते। दधीचि ऋषिके यज्ञके लिये नैमिषारण्यमें इनका भी आवाहन हुआ परन्तु ये न गये, तब ऋषियोंने वहाँ 'पञ्च-प्रयाग' स्थापित किया। सो वे तीर्थराज भी श्रीअवध में उस दिन आते हैं। कहा जाता है कि विक्रमादित्यजीको प्रयागराज ही ने श्रीअवधपुरीकी चारों दिशाओंकी सीमा बतायी थी। निर्मलीकुण्ड प्रयागराजकी सम्बन्धी कथाका परिचय देता है।

नोट—३ 'जेहि दिन' इति। श्रीरामजन्म-दिन विवादास्पद है। इसमें मत-भेद है। कोई सोमवार, कोई रविवार और कोई बुधवार कहते हैं। इसी कारण जन्मसमय गोस्वामीजीने किसी दिनका नाम नहीं दिया। केवल इतना लिखा है कि—"नौमी तिथि मधुमास पुनीता। सुकुलपच्छ अभिजित हरिप्रीता ॥ मध्यदिवस अति सीत न घामा। पावन काल लोक बिश्रामा ॥ १। १९१।', 'जोग लगन ग्रह बार तिथि सकल भए अनुकूल। १। १९०।' यहाँ रामचरितमानस-जन्मकुण्डलीके द्वारा राम-जन्म-दिन और जन्म-भूमिको निश्चय करा दिया। ☞हमारे महाकवि पूज्यपाद श्रीमद्गोस्वामीजीकी प्रायः यह शैली है कि जिस वस्तुको दो वा अधिक बार वर्णन करना पड़ेगा उसका कुछ वर्णन एक ठौर, कुछ दूसरी ठौर देकर उसे पूरा करते हैं। वैसा ही यहाँ जानिये। यहाँ तिथि, वार, मास, जन्म भूमि कह दिया और यह भी कह दिया कि 'जेहि दिन राम जनम' हुआ। और, श्रीरामजन्मपर 'नौमी तिथि मधुमास पुनीता…काल लोक बिश्राम' ऐसा लिखा, जिसमें वार और भूमि नहीं दिये। अर्थ करनेमें शुक्लपक्ष अभिजित् नक्षत्र ३४ (५) में जोड़ लेना होगा और भौमवार और अवधपुरी दोहा १९० में जोड़ लेना होगा।

श्रीराम-जन्मका वार गीतावली में 'मंगल मोद निधान' की आड़में कह जनाया है। इस तरह गीतावलीसे श्रीरामजन्मदिन मंगल पाया जाता है, यथा—'चैत चारु नौमी सिता मध्य गगन-गत-भान। नखत जोग ग्रह लगन भले दिन मंगल मोद निधान ॥ गी० बा० २।' कविने इस युक्तिसे मंगलको जन्म होना लिखा जिसमें किसीके मतका प्रकटरूप से खण्डन न हो।

नोट—४ अब दूसरी शङ्का लोग यह करते हैं कि वे ही सब योग-लग्न थे तो रामावतार होना चाहिये था। इसका उत्तर महात्मा यह देते हैं कि—'रामस्य नाम रूपञ्च लीलाधाम परात्परम्। एवं चतुष्टयं नित्यं सच्चिदानन्दविग्रहम् ॥' (वसिष्ठसं०); अतः रूपसे अवतीर्ण न हुए, लीला हीका प्रादुर्भाव हुआ।

* 'नौमी भौमवार', 'गोस्वामीजीका मत' *

नागरीप्रचारिणीसभाके सभापति अपनी टीकामें प्रस्तावनाके पृष्ठ ६७ में लिखते हैं कि 'गोसाईंजी स्मार्त वैष्णव थे। जिस दिन उन्होंने रामायण आरम्भ की, उस दिन मंगलवारको उदयकालमें रामनवमी नहीं थी किन्तु मध्याह्नव्यापिनी थी, इसलिये स्मार्तवैष्णवों हीके मतसे उस दिन रामनवमी होती है। स्मार्त वैष्णव सब देवताओंका पूजन-जप करते हैं किसीसे विरोध नहीं करते। यही रीति तुलसीदासजीकी भी थी जो कि उनके प्रत्येक ग्रन्थसे स्पष्ट है।'*

---

*जान पड़ता है कि यह बात उन्होंने सुधाकरद्विवेदीजीकी गणना और मतके अनुसार लिखी है जो विस्तारपूर्वक डा० ग्रियर्सनने १८९३ ई० के इण्डियन एन्टिकेरी में Notes on Tulsidas लेखमें प्रकाशित किया है। सम्भव है कि किसी औरकी गणनामें कुछ और निकले।

हम उनकी इस सम्मितिसे सहमत नहीं हैं। गोस्वामीजी अनन्य वैष्णव रामोपासक थे, यह बात शपथ खाकर उन्होंने कही है। पाद-टिप्पणीमें दिये हुए पद इसके प्रमाण हैं। देवताओंकी वंदनासे उनकी अनन्यतामें कोई बाधा नहीं पड़ सकती। यह भी याद रहे कि उन्होंने छः ग्रन्थोंमें किसी देवताका मंगल नहीं किया। इस विषयमें कुछ विचार मं० श्लो० १ मं० और सो० १ में दिये जा चुके हैं। वहीं देखिए। मानसमें उन्होंने स्मृति-प्रतिपादित धर्म एवं पञ्चदेवोपासनाको ही प्रश्रय दिया है क्योंकि यह ग्रन्थ सबके लिये है।

'नवमी' उस दिन थी और दूसरे दिन भी। पर दूसरे दिन उनके इष्ट हनुमान्‌जीका दिन न मिलता, नवमी तो जरूर मिलती। और उन्हें अपने तीनों इष्टोंका जन्मदिन मङ्गलवार होनेसे वह दिन उन्हें अतिप्रिय अवश्य होना ही चाहिये, उसे वे क्यों हाथसे जाने देते? अतएव ग्रंथ रचनेके लिये मङ्गलवारको मध्याह्नकालमें नवमी पाकर ग्रन्थ रचा। भेद केवल व्रतमें होता है। व्रत उस दिन करने या न करनेसे स्मार्त या वैष्णवमत सिद्ध हो सकता है, सो इसका तो कोई पता नहीं है। (एकादशीव्रतका उदाहरण लीजिये। वैष्णवोंमें ही मतभेद है। जो अर्द्धरात्रिसे दिनका प्रवेश मानते हैं वे रातको बारह बजकर एक पलपर एकादशी लगनेसे उस दिन सवेरे व्रत नहीं करेंगे पर सवेरे जो तिथि होगी वह एकादशी ही कहलायेगी, व्रत अवश्य दूसरे दिन द्वादशीको होगा। तो भी वे द्वादशीको भी व्रतके लिए एकादशीही कहेंगे। पर तिथि लिखेंगे द्वादशी ही)। और यह भी स्मरण रहे कि वे तो दो वर्ष पूर्वसे ही बराबर केवल एक समय दूध पीकर ही रहते रहे। जब नित्य फलाहार ही करते थे तब व्रत उसी दिन कैसे होना कहा जाय, दूसरे ही दिन क्यों न माना जाय? दूसरे, यह भी विचारणीय है कि उनके समयमें श्रीरामानन्दीय वैष्णवोंमें उत्सव उदया तिथि ही-को मनाया जाता था या जिस दिन मध्याह्नकालमें नवमी या कोई नक्षत्रविशेष होता था? जबतक यह निश्चय न हो तबतक यह कैसे मानलें कि वे स्मार्त वैष्णव थे?

असुर नाग खग नर मुनि देवा। आइ करहिं रघुनायक सेवा ॥७॥
जन्म महोत्सव रचहिं सुजाना। करहिं राम कल-कीरति गाना ॥८॥

अर्थ—असुर, नाग, पक्षी, मनुष्य, मुनि और देवता आकर श्रीरघुनाथजीकी सेवा करते हैं। ७। सुजान लोग जन्मके महान् उत्सवकी रचना करते हैं और श्रीरामचन्द्रजीकी सुन्दर कीर्त्ति गाते हैं। ८।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ 'असुर नाग खग' से इनमें जो रामोपासक हैं उन्हींको यहाँ समझना चाहिये। 'असुर' में प्रह्लाद, विभीषण आदि, नागसे अनन्त, वासुकी आदि और खगसे कागभुशुण्डि, गरुड़, जटायु आदि जानिये। नरसे ध्रुव, मनु, अम्बरीषादि, मुनिसे शुकसनकादि, नारदादि और देवसे ब्रह्मादि, इन्द्रादि जानिये। यथा—"विमानैरागता द्रष्टुमयोध्यायां महोत्सवम्। ब्रह्मेन्द्र प्रमुखा देवा रुद्रादित्य मरुद्गणाः ॥ वसवो लोकपालाश्च गन्धर्वाप्सरसोरगाः। अश्विनौ चारणाः सिद्धाः साध्याः किन्नरगुह्यकाः। ग्रहनक्षत्र यक्षाश्च विद्याधर महोरगाः। सनकाद्याश्च योगीन्द्रा नारदाद्या महर्षयः ॥" (संस्कृत खर्रेसे)। पुनः, (ख) 'असुर और नाग' पातालवासी हैं, 'नर खग मुनि' मृत्युलोकवासी हैं, और देवता स्वर्गवासी हैं। इन सबको कहकर यह जनाया कि तीनों

---

† 'ईस न गनेस न दिनेस न धनेस न सुरेस सुर गौरि गिरापति नहिं जपने ॥ तुम्हरेई नाम को भरोसो भव तरिबे को बैठे उठे जागत बागत सोये सपने ॥ तुलसी है बावरो सो रावरोई रावरी सौं, रावरेऊ जानि जिय कीजिये जु अपने। जानकी-रमन मेरे रावरे बदन फेरे ठाउँ न समाउँ कहाँ सकल निरपने ॥ क० उ० ७८।' पुनश्च, 'रामकी सपथ सरबस मेरे रामनाम कामधेनु कामतरु मोसे छीन छाम को ॥ क० उ० १७८।' पुनश्च 'संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो। मेरे माय-बाप दोउ आखर हौं सिसुअरनि अरो' इति बिनये। इत्यादि।

लोकोंके हरिभक्त उस दिन आते हैं। पुनः (ग) ऊपर कह आये हैं कि 'तीर्थ' आते हैं, तीर्थ स्थावर हैं। और, यहाँ असुर आदिका आना कहा जो जङ्गम हैं। इस तरह चराचरमात्रके हरिभक्तोंका आना सूचित किया।

२—'आइ करहिं०' इति (क)। साक्षात् राम-जन्ममें देवता अयोध्याजी नहीं आये थे, उन्होंने आकाश हीसे सेवा की थी। यथा—'गगन विमल संकुल सुरजूथा। गावहिं गुन गंधर्व बरूथा॥ बर्षहिं सुमन सुअंजलि साजी। गहगह गगन दुंदुभी बाजी॥ अस्तुति करहिं नाग मुनि देवा। बहु बिधि लावहिं निज निज सेवा॥' महोत्सवकी रचना साक्षात् रामजन्म-समय पुरवासियोंने ही की थी, देवता महोत्सव देखकर अपने भाग्यको सराहते हुए चले गये थे, यथा 'देखि महोत्सव सुर मुनि नागा। चले भवन बरनत निज भागा॥ १।१९६।' और अब जब-जब जन्ममहोत्सव होता है तब-तब सब आकर महोत्सव रचनेमें सम्मिलित होते हैं। इस भेदका कारण यह है कि जन्म-समय उनके आनेसे ऐश्वर्य खुलनेका भय था, उस समय आनेका योग न था जैसा भगवान् शिवके विचारमें भी साफ स्पष्ट है—'गुपुतरूप अवतरेउ प्रभु, गयें जान सब कोइ' और अब ऐश्वर्य खुलनेका भय नहीं है। इसीसे अब स्वयं आकर रचते हैं और यश गाते हैं। पहिले अवधवासियोंने गाये और उन्होंने सुने, इन्होंने महोत्सव रचा, उन्होंने देखा और सराहा। देवताओंका गाना गीतावलीमें पाया जाता है, यथा—'उघटहिं छंद प्रबंध गीत पद राग ताल बंधान। सुनि किन्नर गंधर्व सराहत बिथके हैं बिबुध बिमान॥ गी० बा० २।' (ख) श्रीरामजन्मसमय महोत्सवका वर्णन है, इसीसे रामचरितमानसके जन्ममें जन्मोत्सवका वर्णन किया है। (ग)—'सुजाना' अर्थात् जो रचनेमें प्रवीण हैं। पुनः, जो चतुर हैं, सज्जन हैं। [नोट—महोत्सव-रचना १९४ व १९५ वें दोहे में है।]

दोहा—मज्जहिं सज्जन बृंद बहु पावन सरजू नीर।
जपहिं राम धरि ध्यान उर सुंदर स्याम सरीर॥ ३४॥

अर्थ—सज्जनोंके झुण्ड-के-झुण्ड पवित्र श्रीसरयूजलमें स्नान करते हैं और हृदयमें सुन्दर श्यामशरीरवाले रघुनाथजीका ध्यान धारण करके उनके राम नामको जपते हैं॥ ३४॥

नोट—यहाँ बतलाते हैं कि उस दिन क्या करना चाहिये, श्रीरामोपासकोंको यह जानना जरूरी है। श्रीसरयूस्नान करके श्रीरामचन्द्रजीके श्याम-शरीरका, जैसा ग्रन्थमें वर्णन किया गया है, ध्यान करते हुए उनके नामको जपना चाहिये।

टिप्पणी—१ (क) महोत्सवके पीछे स्नानको लिखा है जिसका भाव यह है कि अवभृथ स्नान करते हैं [यज्ञमें दीक्षाके अंतमें जो विधिपूर्वक स्नान होता है उसे 'अवभृथ स्नान' कहते हैं—'दीक्षान्तोऽवभृथो यज्ञे। अमरकोश २। ७-२७।'] अथवा दधिकाँदव करके स्नान करते हैं। (ख)—'जपहिं राम धरि ध्यान उर' इति। "सुंदर श्याम शरीर" का ध्यान करना लिखकर जनाया है कि योगियोंकी तरह ज्योति नहीं देखते। ध्यान धरकर नाम इसलिये जपा जाता है कि मूर्त्तिके संयोगसे 'नाम' अत्यन्त शीघ्र सिद्ध होता है, नहीं तो यदि रामनाम जपते समय प्रपञ्चमें मन लगा तो प्रपञ्चका सम्बन्ध होगा। इसीसे मन्त्र जल्द सिद्ध नहीं होता। भानुपीठका उदाहरण इस विषयमें उपयोगी है। भानुपीठ (सूर्यमुखी, आतशी शीशा) और भानुका जबतक ठीक मिलान नहीं होता तबतक आग नहीं निकलती, अच्छी तरह मिलान होने ही पर आग प्रकट होती है। इसी तरह जब मूर्त्तिका अनुसन्धान करके मन्त्र जपा गया तब मंत्र बहुत शीघ्र सिद्ध होता है। ऐसा करनेसे श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है, श्रीरामजी हृदयमें आ जाते हैं। नाम महाराज रूपको हृदयमें प्रकट कर देते हैं, यथा—'सुमिरिय नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेखें।

नोट—२ "जपहिं राम" कहकर 'राम राम' अर्थात् रामनाम जपना कहा। रामनाम मंत्र है; यथा—

'महामंत्र जोइ जपत महेसू' । मंत्र-शब्दका अर्थ है "जो मनन करनेसे जापकको तारता है।—"मननात्त्राण-नान्मंत्रः" (रा० पू० ता० १ । १२) । मनन मंत्रके अर्थका (अर्थात् मंत्रके देवताके रूप, गुण, ऐश्वर्य आदिका) होता है, क्योंकि मंत्र वाचक होता है और अर्थ वाच्य है। यहाँ राम मंत्र है, अतः श्रीरामजी उसके वाच्य हैं। जब मुखसे वाचक (राम नाम) का उच्चारण होगा और साथही वाच्य श्रीरामजीका ध्यान हृदयमें होगा तब वह शीघ्र फलप्रद होता है। यथा—"मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यस्याद्योग एतयोः। फलदश्चैव सर्वेषां साधकानां न संशयः। (रा० पू० ता० ४ । २)। योगसूत्रमें भी जप करते समय उसके अर्थकी भावना करनेका भी उपदेश है, यथा—"तज्जपस्तदर्थभावनम्" (योगसूत्र १।१।२८)।

नोट—३ (क) यह जन्मका समय है, अतः यहाँ 'ध्यान' से बालरूपका ही ध्यान करना सूचित करते हैं। (करुणासिन्धुजी)। (ख) गोस्वामीजीने प्रायः नील कमल, नील मणि, जलभरे हुए श्याममेघ, केकिकंठ, तमाल और यमुनाके श्याम जलकी उपमा श्रीरामजीके शरीरके वर्णके संबंधमें ग्रंथभरमें दी है; परन्तु यहाँ 'श्याम शरीर' ही कहकर छोड़ दिया, कोई उपमा श्यामताकी यहाँ नहीं दी। कारण स्पष्ट है। भक्तोंके भाव, भक्तोंकी रुचि भिन्न-भिन्न होती है, अपनी-अपनी इष्टसिद्धिके लिये लोग भिन्न-भिन्न प्रकारका ध्यान करते हैं। यहाँ त्रैलोक्यके भक्त एकत्र हैं। जो श्यामता जिसके रुचिके, इष्टके, भावके, अनुकूल हो वह वैसाही ध्यान करता है, इसीसे पूज्य कविने श्यामताकी कोई उपमा देकर उसको सीमित नहीं किया। सबके मतका, सबकी भावनाओंका परिपोषण कियाहै और साथ ही यह भी नहीं कहा है कि किस अवस्थाके रूपका ध्यान करते हैं।

दरस परस मज्जन अरु पाना । हरै पाप कह वेद पुराना ॥ १ ॥

अर्थ—वेद-पुराण कहते हैं कि (श्रीसरयूजीका) दर्शन, स्पर्श, स्नान और जलपान पापको हरता है ॥१॥

नोट—१ ग्रन्थकारने 'दरस, परस, मज्जन और पान' ये क्रमानुसार कहे हैं। पहले दूरसे दर्शन होते हैं, निकट पहुँचनेपर जलका स्पर्श होता है, भक्तजन उसे शीशपर चढ़ाते हैं, जलमें प्रवेश करके फिर स्नान किया जाता है, तत्पश्चात् जल पीते हैं—यह रीति है। यह सब क्रम स्नानके अन्तर है क्योंकि विना दर्शन स्पर्शके स्नान हो ही नहीं सकता। स्नानारम्भ हीमें आचमनद्वारा पान भी हो जाता है। इसलिये प्रधान मज्जन ठहरा। इसी कारण उत्तरकाण्डमें श्रीमुखसे कहा गया कि 'जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा।'

२—यहाँसे श्रीसरयू-माहात्म्य कहना प्रारम्भ किया। ३—उपर्युक्त चार (दरस, परस, मज्जन, पान) कर्मोंमेंसे किसी भी एक कर्मके होनेसे पापका क्षय होता है। ४—वैजनाथजी 'दरस' से श्रीस्वरूप वा श्रीसरयू-दर्शन, 'परस' से जन्मभूमिकी धूलिका स्पर्श और 'पान' से श्रीचरणामृत अथवा श्रीसरयूजलका पान—ऐसा अर्थ करते हैं, परन्तु मेरी समझमें यहाँ श्रीसरयूजीके ही दर्शन आदिका प्रसंग है।

नदी पुनीत अमित महिमा अति । कहि न सकै सारदा बिमल मति ॥ २ ॥

शब्दार्थ—पुनीत=पवित्र। अमित=जिसकी सीमा नहीं, अतोल। महिमा=माहात्म्य, प्रभाव।

अर्थ—यह नदी अमित पवित्र है, इसकी महिमा अनन्त है, (कि जिसे) निर्मल बुद्धिवाली सरस्वतीजी भी नहीं कह सकतीं ॥ २ ॥

नोट—१ 'कहि न सकै सारदा···' का भाव यह है कि शारदा सबकी जिह्वापर बैठकर, जो कुछ कहना होता है, कहलाती हैं, परन्तु जिस बातको वह स्वयं ही नहीं कह सकतीं, उसे दूसरा क्योंकर कह सकेगा? सरस्वती महिमा नहीं कह सकती, इसमें प्रमाण सत्योपाख्यानका है। ब्रह्माजीका वचन सरस्वतीजीसे है—'सरय्वा महिमानं को वेत्ति लोके च पण्डितः' इत्यादि (पू० १८।१०)। इसकी महिमा और स्थूल-सूक्ष्मभेदसे अयोध्याके दो स्वरूप सत्योपाख्यानमें लिखे हैं। (सू० मिश्र)।

२—'नदी पुनीत अमित महिमा अति' इति। अयोध्याकाण्डमें इस बातके उदाहरण बहुत मिलते हैं कि श्रीरामचन्द्रजीके थोड़ी देरके संगसे सर-सरिता आदिकी महिमा इतनी हुई कि देवता और देवनदियाँ इत्यादि भी उनको सराहती थीं। यथा—'जे सर सरित राम अवगाहहिं। तिन्हहिं देव सर-सरित सराहहिं। २। ११३।', 'सुरसरि सरसइ, दिनकरकन्या। मेकलसुता गोदावरि धन्या॥ सब सर सिंधु नदी नद नाना। मंदाकिनि कर करहिं बखाना॥ २। १३८।', 'महिमा कहिय कवन विधि तासू। सुखसागर जहँ कीन्ह निवासू। २। १३९।' और, श्रीसरयूजीमें तो आपका (श्रीरामचन्द्रजीका) नित्य स्नान होता था, तब फिर उसकी पुनीतता और महिमाकी मिति कैसे हो सकती है? काशीमें हजार मन्वन्तरतक, प्रयागमें बारह माघोंपर और मथुरामें एक कल्प वास करनेका जो फल है उससे अधिक फल श्रीसरयूके दर्शनमात्रसे प्राप्त होता है। यथा—"मन्वन्तरसहस्रेषु काशीवासेन यत्फलम्। तत्फलं समवाप्नोति सरयूदर्शने कृते॥ प्रयागे यो नरो गत्वा माघानां द्वादशं वसेत्। तत्फलादधिकं प्रोक्तं सरयूदर्शने कृते॥ मथुरायां कल्पमेकं वसते मानवो यदि। तत्फलादधिकं प्रोक्तं सरयूदर्शने कृते॥" इसी भाव एवं प्रमाणसे "अमित महिमा अति" विशेषण दिया गया।

रामधामदा पुरी सुहावनि। लोक समस्त बिदित अति१पावनि॥ ३॥

शब्दार्थ—रामधामदा=रामधामकी देनेवाली। रामधाम=परधाम=साकेत।

अर्थ—यह सुन्दर पुरी राम-धामकी देनेवाली है। सब लोकोंमें प्रसिद्ध है। अत्यन्त पवित्र है॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'पापीको राम-धाम नहीं प्राप्त होता, इसलिये प्रथम पापका नाश होना कहा, यथा—'हरै पाप कह बेद पुराना', पीछे रामधामकी प्राप्ति कही है।'

※ 'रामधामदा पुरी०' इति ※

मानसपरिचारिकाके कर्त्ता यहाँ यह शङ्का करते हैं कि 'रामधाम तो अयोध्याजी ही हैं, वह रामधाम कौन है जिसको अयोध्याजी देती हैं?' और इसका समाधान यों करते हैं कि अयोध्याजीके दो स्वरूप हैं, एक नित्य दूसरा लीला। लीलास्वरूपसे प्रकृतिमण्डलमें रहती हैं परन्तु उनको प्रकृतिका विकार नहीं लगता वरंच वे औरोंके प्रकृति-विकारको हरकर अपने नित्यस्वरूपको देती हैं। श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि "श्रीअयोध्याजी दो हैं; एक भूतलपर, दूसरी ब्रह्माण्डसे परे। दोनों एक ही हैं, अखण्ड हैं, एकरस हैं। तत्व, स्वरूप, नाम और नित्यतामें अभेद हैं। भेद केवल माधुर्य और ऐश्वर्यलीलाका है, यथा—'भोगस्थानं परायोध्या लीलास्थानं त्वियं भुवि। भोगलीलापतीरामो निरङ्कुशविभूतिकः॥' (शिवसंहिता २।१८)। ब्रह्मांडमें सात लोकावरण हैं और सात तत्त्वावरण-यह जान लेना जरूरी है।"

वे प्रकृतिपार श्रीअयोध्याका वर्णन यों करते हैं कि 'भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपलोक और सत्यलोक ये सात लोक हैं। क्रमशः एकसे दूसरा दुगुना है और एकके ऊपर दूसरा है, दूसरेपर तीसरा, इत्यादि।'

"पुनः, सदाशिवसंहिताके मतानुसार सत्यलोकके ऊपर क्रमसे कौमारलोक, उमालोक, शिवलोक हैं। भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोकको पृथ्वी मानकर शिवलोकतक सप्तावरण कहे जाते हैं जिसकी देवलोक संज्ञा है।" "सत्यलोकके उत्तर ऊर्द्ध्व प्रमाणरहित रमा-वैकुण्ठलोक है।" "गोलोक अनन्त योजन विस्तारका है, यह श्रीरामचन्द्रजीका देश है। जैसे नगरके मध्यमें राजाका महत् महल होता है, वैसे ही गोलोकके मध्यमें श्रीअयोध्याजी हैं। यह स्थिति निम्न नकशेसे समझमें आ जायगी—

१ अति—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, छ०। परन्तु रा० प० में 'जग' पाठ है। जगपावनी=जगत्को पवित्र करनेवाली।

अनन्त योजन विस्तारका; इसके मध्यमें साकेत
|
वासुदेवलोक (चतुर्व्यूह भगवान् रहते हैं। यह श्रीरामजीका घनीभूत तेज है)
|
महाशंभुलोक (ज्योति स्वरूप) (श्रीरामजीके तनके तेजका स्वरूप है जिसे योगी ध्यान करते हैं)
|
महाविष्णुलोक (विराट) (श्रीरामजीके अनन्त दिव्य गुणोंकी मूर्त्ति हैं)
|
शिवलोक
|
उमालोक — रमावैकुण्ठलोक
|
कौमारलोक (सनकादिक)
|
सत्यलोक (ब्रह्मलोक) (८ करोड़ योजन)
|
तपलोक (४ करोड़ योजन)
|
जनलोक (२ करोड़ योजन)
|
महर्लोक (१ करोड़ योजन)
|
स्वर्लोक (५० लाख योजन ऊँचा)
|
भुवर्लोक (२५ लक्ष योजन ऊँचा)
|
भूर्लोक = मृत्युलोक

(स्वर्लोक, भुवर्लोक, भूर्लोक — पृथ्वी)

(सत्यलोकसे भूर्लोक तक — सप्तावरण देवलोक)
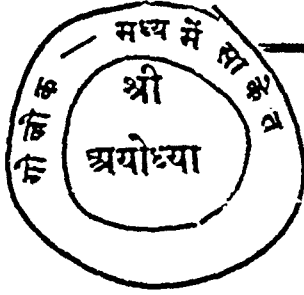
ब्रह्माण्डके तत्त्व

आवरण

(७) महत्तत्त्व
|
(६) अहंकारतत्त्व (तीन प्रकारका है—तामस, राजस और सात्त्विक)
|
(५) आकाश
|
(४) पवनतत्त्व
|
(३) अग्नितत्त्व
|
(२) जलतत्त्व
|
(१) पृथ्वीतत्त्व (शिवलोकके ऊपर ५० कोटि योजनपर ५० करोड़ योजन मुटाईका है और ऊपरके तत्त्वावरण क्रमशः दश-दश गुणा अधिक मोटे हैं)

"इसमें दश आवरण हैं जिनके बाहर चारों दिशाओंमें चार दरवाजे हैं, दरवाजोंके अग्रभागमें परम दिव्य चार वन हैं। श्रीअयोध्याजीके उत्तर श्रीसरयूजी हैं, दक्षिणमें विरजा गङ्गाके नामसे सरयूजी शोभित हैं। दक्षिण द्वारपर श्रीहनुमान्‌जी पार्षदोंसहित विराजमान हैं। इसी तरह पश्चिममें विभीषणजी, उत्तरमें अङ्गदजी और पूर्व द्वारपर सुग्रीवजी विराजमान हैं।" "नौ आवरणोंमें दासों और सखाओंके मन्दिर हैं और दशवें (भीतरके) आवरणमें सखियोंके मन्दिर हैं। इस दशवें आवरणके मध्यमें परम दिव्य ब्रह्मस्वरूप कल्पतरु है जो छत्राकार है। यह वृक्ष और इसके स्कन्ध, शाखा, पत्तियाँ, फूल, फल, सम्पूर्ण परम दिव्य श्रीरामरूपारूप हैं। इस छत्राकार तरुके नीचे ब्रह्ममय मण्डप है जिसके नीचे परम दिव्य रत्नमय वेदिका है जिसपर परम प्रकाशमान सिंहासन विराजमान है। सिंहासनपर रत्नमय सहस्त्रदल कमल है जिसमें दो या तीन मुद्राएँ हैं (अग्नि, चन्द्र वा सूर्य भी)। इनके मध्यमें श्रीसीतारामजी विराजमान हैं। श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न और श्रीहनुमान्‌जी इत्यादि षोडश पार्षद छत्र, चमर, व्यजन इत्यादि लिये हैं।"

"परमानन्य उपायशून्यप्रपत्तिवाले सातों लोकों और सातों तत्त्वावरणोंको भेदकर महाविष्णु, महाशम्भु, वासुदेव, गोलोक होते हुए विरजा पार होकर श्रीहनुमान्‌जीके पास प्राप्त होते हैं। वे पार्षदों सहित उनको श्रीसीतारामजीके पास ले जाते हैं।"—(करुणासिन्धुजी)। 'रामधाम' पर उत्तरकाण्ड (दोहा ३ से दोहा ४ तकमें) विशेष लिखा गया है। प्रेमी पाठक वहाँ देख लें।

नोट—उत्तरकांडमें श्रीमुखवचन है—'मम धामदा पुरी सुखरासी', 'मम समीप नर पावहिं बासा'। ये वाक्य श्रीरामजीके हैं। यह धाम कहाँ है? यदि कहनेवाले (श्रीरामजी) का कोई अपना धाम-विशेष है तब तो दूसरे रूपका धाम कहनेवालेका धाम (अर्थात् रामधाम वा मम धाम) नहीं हो सकता। और यदि वक्ताका कोई अपना धाम नहीं है, तब देखना होगा कि कहनेवालेका इस 'मम धाम' से क्या तात्पर्य हो सकता है।

श्रुतियों, पुराणों, संहिताओंसे श्रीरामजीका धाम 'अयोध्या' प्रमाणसिद्ध है। ब्रह्मचारि श्रीभगवदाचार्य वेदरत्नजी "अथर्ववेदमें श्रीअयोध्या" शीर्षक लेखमें लिखते हैं कि—"अथर्ववेद (संहिताभाग) दशमकाण्ड, प्रथम अनुवाक, द्वितीय सूक्तके २८ वें मंत्रके उत्तरार्धसे श्रीअयोध्याजीका प्रकरण आरंभ होता है।—

"पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते। २८। यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृते नावृतां पुरम्। तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ २९। न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणोजरसः पुरा। पुरं यो ब्रह्मणो वद यस्याः पुरुष उच्यते॥ ३०। अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ ३१॥ तस्मिन् हिरण्यये कोशेत्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ ३२॥ प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा सम्परीवृताम्। पुरं हिरण्मयीं ब्रह्माविवेशापराजिताम्॥ ३३॥" इन मंत्रोंका अर्थ देकर अंतमें वे लिखते हैं कि—अथर्ववेदका प्रथम अनुवाक यहाँ ही पूर्ण हो जाता है। इस अनुवाकके अंतमें इन साढ़े पाँच मंत्रोंमें अत्यंत स्पष्ट रूपमें श्रीअयोध्याजीका वर्णन किया गया है। इन मंत्रोंके शब्दोंमें व्याख्याताओंको अपनी ओरसे कुछ मिलानेकी आवश्यकता ही नहीं है। श्रीअयोध्याजीके अतिरिक्त अन्य किसी भी पुरीका इतना स्पष्ट और सुंदर साम्प्रदायिक वर्णन मंत्रसंहिताओंमें होनेका मुझे ध्यान नहीं है।"—(श्रीमद्रामप्रसादग्रंथमाला मणि ५ से संक्षेपसे उद्धृत)।

विशेष उत्तरकांड ४ (४) 'अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ', १४ (४) 'अंतकाल रघुपतिपुर जाहीं' में देखिये।

श्रीअयोध्याजी त्रिपाद्विभूति और लीलाविभूति दोनोंमें हैं। 'अयोध्या' नित्य है। नारदपंचरात्रान्तर्गत बृहद्ब्रह्मसंहिता द्वितीय पाद सप्तमाध्याय श्लोक २ तथा तृतीयपाद प्रथमाध्यायके अनेक श्लोक इसके प्रमाण हैं। दोहा १६ (१) भी देखिए। पांडेजी 'धाम' के दो अर्थ देते हैं—'शरीर' और 'घर'। रामधामदा=

"रामका धाम अर्थात् शरीर देनेवाला है, जहां सदैव श्रीरामजी अवतार लेते हैं। अथवा धाम अर्थात् घर देनेवाली है।" संभवतः उनका आशय है कि सारूप्य और सालोक्य मुक्ति देनेवाली है। अथवा यह भाव हो कि श्रीरामजीको शरीर देनेवाली है अर्थात् उनका यहाँ अवतार या जन्म होता है। परन्तु इस भावमें विशेष महत्व नहीं है। 'धाम' का अर्थ तेजभी है—'तेजो गृहं धाम इत्यमरे'। रामधाम देती है अर्थात् श्रीरामजी के तेजमें मिला देती है, सायुज्य मुक्ति प्राप्त कर देती है।

चारि खानि जग जीव अपारा। अवध तजें तनु नहिं संसारा ॥ ४ ॥

अर्थ—जगत्के अगणित जीवोंकी चार खानें (उत्पत्ति-स्थान हैं) श्रीअयोध्याजीमें शरीर छूटनेसे फिर संसार नहीं रहता। (अर्थात् इनमेंसे जिन जीवोंका शरीर श्रीअयोध्याजीमें छूटता है उनका जन्म फिर संसारमें नहीं होता, वे आवागमनके चक्रसे छूट जाते हैं। भवसागर उनके लिये अगम्य नहीं रह जाता) ॥ ४ ॥

'अवध तजें तनु नहिं संसारा'

ऊपरकी चौपाईमें जो कहा कि यह पुरी 'अति पावनि' है; उसीको यहाँ दृढ़ करते हैं कि कैसा भी जीव हो वह यहाँ मरनेसे भवसागर पार हो जाता है और रामधामको प्राप्त होता है। यथा-"अस्यां मृताश्च वैकुण्ठमूर्ध्वं गच्छन्ति मानवाः। कृमिकीटपतंगाश्च म्लेच्छाः संकीर्णजातयः ॥ ३६ ॥ कौमोदकी कराः सर्वे प्रयांति गरुडासनाः। लोकं सान्तानिकं नाम दिव्यभोगसमन्वितम् ॥ ३७ ॥ यद्गत्वा न पतन्त्यस्मिन्लोके मृत्युमुखे नराः। माहात्म्यं चाधिकं स्वर्गात् साकेतं नगरं शुभम् ॥ ३८ ॥ (सत्योपाख्यान पू० सर्ग १६)।" अर्थात् कृमि, कीड़े, पतिंगे, म्लेच्छ आदि सब संकीर्ण जातिके प्राणी यहाँ मरनेपर गदाधारी हो गरुड़पर बैठकर ऊपर वैकुण्ठको जाते हैं। (वहाँसे) दिव्य-भोगोंसे युक्त जो सान्तानिक लोक है उसमें प्राप्त होते हैं कि जहाँ जानेपर फिर मृत्युलोकमें मनुष्य नहीं आता। अतः इस शुभ नगर साकेतका माहात्म्य स्वर्गसे अधिक है।

२—श्रीकरुणासिन्धुजीके मतानुसार जो भजनानन्दी या सुकृती जीव हैं वे मुक्त हो जाते हैं और जो मनुष्य अयोध्याजीमें रहकर पाप करते हैं उनका शरीर छूटनेपर वे फिर यहीं कीट, पतङ्ग आदि योनियोंमें पैदा होते हैं और यहाँ फिर शरीर छूटनेपर सालोक्य मुक्ति उनको मिलती है। आपका मत है कि यह अयोध्या प्रकृतिसे परे होनेके कारण यहाँ पुनर्जन्म होना भी संसारमें जन्म न होना ही है।

अस्तु जो हो। परन्तु इस अर्थकी संगति चौपाईसे नहीं लगती और न इसका कोई प्रमाण कहीं मिलता है। श्रीअयोध्याजीमें मृत्यु होनेसे रामधाम प्राप्त हुआ, यह सालोक्य मुक्ति हुई। यदि सरयू स्नान भी जीवने किया है तो धाममें पहुँचनेपर समीपता भी प्राप्त होती है; यह सामीप्य मुक्ति है। उत्तरकाण्डमें श्रीमुखवचन है कि 'जा मज्जन ते बिनहि प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा'।

करुणासिन्धुजी महाराजने जो लिखा है वह दासकी समझमें भयदर्शनार्थ है, जिससे लोग पाप कर्ममें प्रवृत्त न हो जायँ। यह विचार लोकशिक्षार्थ बहुत ही उत्तम है। पर यह विचार श्रीअयोध्याजीके महत्त्वको छुपा देता है। दासकी समझमें तो जो यहाँ निवास कर रहे हैं उनमेंसे किसी-किसीमें जो पाप हमारी दृष्टिमें देख पड़ते हैं वह केवल पूर्वजन्मके अन्तिम समयकी भक्तके हृदयमें उठी हुई वासनाका भोगमात्र है, उस वासनाकी पूर्त्ति कराकर श्रीसीतारामजी उसे अपना नित्यधाम देते हैं। भक्तमालमें दी हुई 'अल्ह कोल्ह' दोनों भाइयोंकी कथा प्रमाणमें ले सकते हैं।-विशेष लङ्काकाण्डके 'जिमि तीरथके पाप। ६६।' में भी देखिये।

श्रीनंगे परमहंसजीः—जैसे काशी प्रयागका ऐश्वर्य है कि वहाँ शरीर छोड़नेसे पुनः संसारमें नहीं आता है वैसे ही श्रीअवध-धामका ऐश्वर्य है। जब अण्डज, ऊष्मज, स्थावरके लिये मुक्ति लिखी गयी है तब मनुष्य के लिये क्यों संशय करना चाहिये, चाहे वह पापी ही क्यों न हो। "यदि कोई शङ्का करे कि बिना ज्ञानके

मुक्ति नहीं (गया) 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यह विरोध होता है तो इसका समाधान इस प्रकार है कि 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' यह श्रुति सर्वदेशी है और काशी, प्रयाग, अयोध्यामें मुक्ति यह श्रुति एकदेशी है, तो सर्वदेशी और एकदेशीमें विरोध कैसे हो सकता है, क्योंकि सर्वदेशके लिये वह सत्य है और एकदेशमें वह भी सत्य है। विरोध उसमें होता है जो एक देशमें श्रुति भिन्न-भिन्न बातों को सूचित करती हों। अथवा, सर्वदेशकी दो श्रुतियाँ दो तरहकी बातें कहती हों। किन्तु सर्वदेशी वचन और एकदेशी वचनमें विरोध नहीं हो सकता है, जैसे दो बजे दिनको लालटैनकी ज़रूरत नहीं और दो बजे रातको उसकी ज़रूरत है। अब दोनों दो बजे के वचन हैं पर रात्रि और दिनके होने की वजहसे लालटैनका विरोध नहीं हो सकता है। अतः सर्वदेशकी और एकदेशकी श्रुतियोंका मेल करके शङ्का करना वृथा है। "पुनः, यदि आप कहिये कि काशी, प्रयाग, अयोध्या इन तीनोंमें जब केवल शरीरके त्याग करनेसे मुक्ति हो जाती है तब कर्म, उपासना और ज्ञानको करना वृथा है, तो इसका समाधान यह है कि इसमें दो भेद हैं। एक तो इन तीर्थोंके भरोसे रहनेसे इन तीर्थोंमें शरीर छूटे कि कहीं अन्त छूटे' (यह निश्चय नहीं)। यदि अनत (और कहीं) छूटा तो फिर चौरासीमें गया, यह भेद है। दूसरा भेद यह है कि ज्ञानादि वियोगोंसे मनुष्य, शरीरके रहते ही, जीवन्मुक्तसुखका भोक्ता हो जाता है और शरीरान्त पर मुक्त होने का निश्चय रहता है और ज्ञानादि तीनों योगोंसे रहित मनुष्य शरीरपर्यन्त नाना प्रकारके दुःखोंसे दुखी और भयभीत रहता है अतः इन दो भेदों करके काशी, प्रयाग और अयोध्या इन तीर्थोंमें रहते हुए भी ज्ञानादि की जरूरत है।"

कोई श्रीनंगे परमहंसजीके ही भाव अपने शब्दोंमें इस प्रकार कहते हैं कि—धामसे भी मुक्ति होनेकी श्रुतियाँ हैं, यथा—'काश्यां मरणान्मुक्तिः' इत्यादि। "ऋते ज्ञानान्नमुक्तिः" यह सामान्य रीतिसे सब जीवोंके प्रति है, अतः सर्वदेशीय एवं सामान्य है और "काश्यां मरणान्मुक्तिः" यह एक काशीके लिये है, अतः विशेष है। विशेष (अपवाद) सामान्य (उत्सर्ग) की अपेक्षा बलवान होता है, यथा—'अपवादइवोत्सर्गम्' (रघुवंश १५। ७)।

इस कथनसे स्पष्ट है कि विशेषवचन (काश्यां···) ने सामान्यवचन (ऋते···) का बाध किया अर्थात् काशीमें मरनेसे बिना ज्ञान हुए ही मुक्ति होती है। परन्तु पं० अखिलेश्वरदासजी, पं० जानकीदासजी (श्रीहनुमानगढ़ी) आदि विद्वान् महात्माओंका कथन है कि उपर्युक्त समाधानमें बाध्य-बाधक भावका स्वीकार करना पड़ता है जिसका ग्रहण विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तमें अनुचित माना जाता है। इस मतमें श्रुतियोंका समन्वय ही किया जाता है और इसीसे इस सिद्धान्तका नाम समन्वय सिद्धान्त भी है।

यहां इस शंकाका समाधान इस प्रकार होगा कि उपर्युक्त दोनों वाक्योंमें हेत्वर्थ पंचमी है अर्थात् ज्ञान भी मुक्तिका कारण है और काशीमरण भी, परन्तु ज्ञान साक्षात् कारण है और काशीमरण परंपरया अर्थात् प्रयोजक कारण है। श्रीरामतापिनीयोपनिषद्के कथनानुसार काशीमें मृत्युसमय शिवजी तारक मंत्रका जीवोंको उपदेश करते हैं। उस उपदेशसे ज्ञान प्राप्त होता है और तब मुक्ति होती है। इस संगतिमें बाध्य-बाधक-भावका स्वीकार न करते हुए भी दोनों वाक्योंका समन्वय उचित ढंगसे हो जाता है।

यदि केवल काशीमरणसे मुक्ति होना स्वीकार करते हैं तो श्रीरामतापिनीयोपनिषद्के काशीवासी जीवोंकी मुक्तिके लिये शिवजीका वरदान माँगना और भगवान्का वरदान देना इत्यादि प्रसंगकी संगति कैसे होगी? [यह प्रसंग पूर्व दोहा १९ (३) 'कासी मुकुति हेतु उपदेसू।' में उद्धृत किया गया है। वहीं देखिये]।

नोट—१ कुछ महात्माओंसे ऐसा सुना है कि नाम, रूप, लीला और धाममेंसे किसीका भी अवलम्ब ले लेनेसे अन्तसमय जिस ज्ञानकी, अन्तमें मुक्तिके लिये, जरूरत है यह उसी साधनद्वारा उस समय बिना परिश्रम

स्वतः प्राप्त हो जाता है। हमारे प्राचीन ऋषियोंका सम्मत है कि नामजापक यदि अन्तसमय वात, पित्त, कफकी प्रबलताके कारण मुखसे नाम उच्चारण न कर सके तो प्रभु स्वयं उसकी ओरसे नामजप करते हैं, यथा—'यदि वातादि दोषेण मद्भक्तो मां च न स्मरेत्। अहं स्मरामि तं भक्तं नयामि परमांगतिम्॥ (वसिष्ठरामायण। सी० रा० प्र० प्र०)। और अन्तमें उसके जीवको गोदमें लेकर जिस द्वारसे, जिस नाड़ीसे, प्राण निकलनेसे मुक्ति होती है उसी द्वारसे उसको निकाल ले जाते हैं। उत्तरकांडके 'जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा' के 'जा मज्जन' का भाव स्पष्ट है कि कोई भी क्यों न हो, दुष्कृती या सुकृतीका भेद नहीं है। 'चारि खानि'—बा० ८ (१) में देखिये।

२—नाम, रूप, लीला और धाम चारों सच्चिदानन्दरूप हैं। गोस्वामीजीने इन चारोंको क्रमसे लिखा है। सबका ऐश्वर्य, सबका माहात्म्य एकसा दिखाया है—

नामवर्णन, यथा—'बंदेउँ नाम राम रघुबर को' से 'नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ' तक। 'जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा॥'

रूपवर्णन, यथा—'करउँ नाइ रघुनाथहिं माथा' से 'तुलसी कहूँ न राम से साहिब सीलनिधान' तक। 'राम-सरिस को दीनहितकारी। कीन्हें मुकुत निसाचर भारी॥'

लीलावर्णन, यथा—'निज संदेह मोह भ्रम हरनी' से 'रामचरित राकेसकर सरिस सुखद सब काहु' तक। 'मंत्र महामनि बिषय ब्यालके। मेटत कठिन कुअंक भाल के॥"

धामवर्णन, यथा—'अवधपुरी यह चरित प्रकासा' से 'सब बिधि पुरी मनोहर जानी' तक।—(रा० प्र०)।

श्रीअयोध्याजीकी विशेष महिमा होनेका कारण यह है कि सातो पुरियोंमें यह आदिपुरी है। दूसरी बात यह है कि और सब पुरियाँ भगवान्के अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं और यह तो शिरोभाग है, यथा पद्मपुराणे—'विष्णोः पाद अवन्तिका गुणवती मध्ये च काञ्चीपुरी नाभौ द्वारवती तथा च हृदये मायापुरी पुण्यदा। ग्रीवामूलमुदाहरन्ति मथुरां नासाग्र वाराणसीमेतद्ब्रह्मपदं वदन्ति मुनयोऽयोध्यापुरीं मस्तके॥'

सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धि-प्रद मंगल-खानी॥ ५॥
बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा॥ ६॥

अर्थ—अयोध्यापुरीको सब तरहसे मनोहर और सब सिद्धियोंकी देनेवाली तथा समस्त मंगलोंकी खान समझकर, इस निर्मल कथाको मैंने (यहाँ) प्रारम्भ किया, जिसके सुननेसे काम, मद और दम्भका नाश हो जाता है॥ ५, ६॥

नोट—१ (क) 'सब बिधि' इति। सब प्रकारसे, जैसा ऊपर कह आये हैं कि यहाँ ब्रह्मका अवतार हुआ, सब तीर्थ यहाँ आते हैं, यहाँ रामजन्म-महोत्सव होता है जिसमें देवता आदि सब सम्मिलित होते हैं, यह रामधामकी देनेवाली है, 'अति पावनि' है, सब सिद्धियों और मङ्गलोंकी देनेवाली है, यहाँ श्रीसरयूजी हैं जो सब पापोंका क्षय करके सामीप्य-मुक्तिकी देनेवाली हैं. यहाँ श्रीरामजन्मके सब योग हैं और यह रामचरित है, इत्यादि भाँतिसे मनोहर है। (ख) ग्रन्थकारने उपर्युक्त कथनसे स्थानशुद्धि दिखलायी। इससे व्यञ्जित होता है कि उत्तम कामोंकी सिद्धिके लिये स्थानशुद्धिकी आवश्यकता है अर्थात् बिना स्थानशुद्धिके कोई कार्य कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। इसी लिये ऐसे शुभ अवसर और उत्तम स्थलमें कथाका आरम्भ किया। आधी-आधी चौपाईमें दोनों (स्थल और कथा) का फलमाहात्म्य दिखलाया। (सू० मिश्र)।

टिप्पणी—१ ऊपरतक इस पुरीके प्रभावसे पापका क्षय होना और रामधाम प्राप्तका होना कहा; अर्थात् परलोक बनना कहा और अब ('सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी' कहकर) इस लोकका सुख भी देना बताया। २—'बिमल' पद देकर यह सूचित किया कि कथा निर्मल है, इसलिए इसके अवतारके लिए 'बिमल' स्थान भी

होना चाहिए था। अस्तु ! वह पुरी मानसके अवतारके योग्य है। ३—काम, मद और दम्भ ये तीनों कथाके विरोधी हैं। इनमेंसे काम मुख्य है, यथा—'क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा। सुं० ५८।' इसलिये कामको पहिले कहा। श्रीरामचन्द्रजीने अवतार लेकर रावणको मारा और मानसका अवतार काम, मद, दम्भके नाशके लिये हुआ।

नोट—२ पंडितजी कहते हैं कि श्रीरघुनाथजीका अवतार रावण, कुम्भकर्ण और मेघनाद तीनके बधहेतु हुआ, वैसे ही कथाका भी आरंभ तीन ही के वधार्थ हुआ। दंभ-रावण, मद-कुंभकर्ण और काम मेघनादका वध कथा करती है।

नोट—३ यहाँ रामचरितमानसका अवतार कहा, आगे नामकरण इत्यादि कहेंगे।

रामचरित-मानस एहि नामा। सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा॥ ७॥

अर्थ—इसका नाम रामचरितमानस है। इसको कानोंसे सुनते ही विश्राम (शान्ति) मिलता है॥७॥

नोट—१ ग्रन्थका आविर्भाव कहकर अब नाम कहते हैं। श्रीरामचन्द्रजीका नामकरण-संस्कार श्रीवसिष्ठजी-द्वारा हुआ और मानसका शिवजीने नाम रक्खा, यथा—'धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर। चौ० १२।'
२—'सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा' इति। (क) अर्थात् सुनते ही कानोंको सुख मिलता है। वा, कानोंसे सुनते ही मनको विश्राम मिलता है, फिर मन कहीं नहीं भटकता। (ख) मानससरका स्नान कथाका श्रवण है, सर-स्नानसे मल छूटता है, कथा श्रवणसे पाप मिटते हैं। स्नानसे श्रम दूर होता है, कथासे अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेके कारण जीवको जो श्रम हुआ वह दूर होता है, विश्राम मिलता है। स्नानसे घामकी तपन दूर हुई, कथासे त्रिताप गए। (वै०)। (ग)-श्रीरामचरितमानसमें ही श्रीगोस्वामीजीने अपना, गरुड़जी और पार्वतीजीका इससे विश्राम पाना कहा है; यथा क्रमशः "पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ। ७। १३०।' 'सुनेउँ पुनीत रामगुन ग्रामा। तुम्हरी कृपा लहेउँ बिश्रामा॥ ७। ११५।', 'हरि चरित्र मानस तुम्ह गावा। सुनि मैं नाथ, अमित सुख पावा॥ ७। ५३।' इसी तरह और लोग भी जो सुनेंगे उनको विश्राम मिलेगा।

३—गोस्वामीजीने अपने भाषा प्रबन्धकी जो भूमिका की है वह ३२ वें दोहेपर ही समाप्त हो गयी है—'कीन्ह प्रश्न' से लेकर 'नसाहिं काम दंभा' तक इस कथा-प्रबन्धका 'अथ' है। रामचरितमानसके नामसे इस कथाका आरम्भ है। जैसे कोई कहे 'अथ श्रीरामचरितमानसं लिख्यते' उसी तरह 'रामचरितमानस एहि नामा' यह कहा है।—[विशेष विस्तार 'रामचरित सर कहेसि बखानी। उ० ६४। ७-६।' में देखिए।] (गौड़जी)।

मन-करि विषय-अनल-बन जरई। होइ सुखी जौं येहिं सर परई॥ ८॥

अर्थ– मनरूपी हाथी विषयरूपी अग्निके जंगलमें (वा, विषयरूपी वनाग्निमें) जल रहा है। यदि वह इस तालाबमें आ पड़े तो सुखी हो जावे॥ ८॥

नोट—१ (क) भाव यह है कि यदि चरित्रमें मन लगे तो मनका ताप दूर हो जावे, और यदि इस मानस-सरमें आकर पड़ ही जावे तो फिर इतना सुख मिले कि जो ब्रह्मसुखसे भी अधिक है, फिर तो सरसे बाहर निकलनेकी इच्छा ही न करेगा। यथा—'ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥ सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं॥ सनकादिक नारदहिं सराहहिं। जद्यपि ब्रह्म निरत मुनि आहहिं॥ सुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥ जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। ७। ४२।' पुनः, यथा—'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥ मगन ध्यान रस दंड जुग, पुनि मन बाहर कीन्ह। रघुपति-चरित महेस तब, हर्षित बरनइ लीन्ह। बा० १११।', 'मम गुनग्राम नाम रत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह। ७।४६।'' इत्यादि। (ख) 'परई' शब्द कैसा सार्थक है। इसे देकर बताते हैं कि हाथीकी

तरह इसमें पड़ा ही रहे, बाहर न निकले, तब सुख प्राप्त होगा । (ग) मन विषयाग्निमें जल रहा है, इसीसे सरमें सुख पाना कहा । क्योंकि 'जो अति आतप व्याकुल होई । तरु छाया सुख जानइ सोई ॥ ७ । ६६ ।' भामिनी-विलासमें इसी भावका यह श्लोक विनायकीटीकामें दिया है "विशालविषयावलीवलयलग्नदावानल प्रसृत्वर-शिखावलीकवलितं मदीयं मनः । अमन्दमिलदिन्दिरे निखिलमाधुरीमन्दिरे मुकुन्दमुखचन्दिरे चिरमिदं चकोरायताम् ।" अर्थात् विशाल विषयपंक्तिरूपी दावानलकी अत्यंत लपटोंसे व्याप्त मेरा मन, जिसमें लक्ष्मीजी संश्लिष्ट हैं ऐसे निखिल माधुर्ययुक्त मुकुन्द भगवान्के मुखचन्द्रका, चिरकाल चकोर बने । पुनश्च यथा—' "अयं त्वत्कथामृष्टपीयूषनद्यां मनोवारणः क्लेशदावाग्निदग्धः । तृषार्तोऽवगाढो न संस्मारदावं न निष्क्रामति ब्रह्मसंपन्नवन्नः ॥' । भा० ४ । ७ । ३५ ।' अर्थात् नाना प्रकारके क्लेशरूप दावानलसे दग्ध हुआ हमारा मनरूपी हाथी अति तृषित होकर आपकी कथारूप निर्मल अमृतनदीमें घुसकर उसमें गोता लगाये बैठा है । वहां ब्रह्मानंदमें लीन-सा हो जानेके कारण उसे न तो संसाररूप दावानलका ही स्मरण रहा है और न वह उस नदीसे बाहर ही निकलता है ।

२—"एहि" (अर्थात् इसी सरमें) कहकर अन्य उपायोंको सामान्य जनाया । भाव यह कि अन्य उपायोंसे काम नहीं चलनेका । (पां०) ।

नोट—३ श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि 'तीनों तापोंसंयुक्त जो अनेक चिन्ताएँ हैं वही दावानल लग रहा है ।' सूर्यप्रसादमिश्रजीका मत है कि यहाँ संसारको वन, विषयको अग्नि कहा, और अग्नि लगानेवाले कामादि किरात हैं । जैसे अग्नि लगा देनेसे उसमें रहनेवाले हाथी जल मरते हैं क्योंकि भारी शरीर होनेके कारण बाहर निकल भी नहीं सकते, वैसे ही मन अनेक वासनारूप होनेके कारण स्थूलकायरूप इन्द्रियोंसे प्रेरित विषयसे मर रहा है ।

पं० रामकुमारजीः—ऊपर चौपाई (७) 'सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा' से 'रामचरितमनास मुनि भावन' तक दिखाया है कि यह मानस विषयी, मुमुक्षु और मुक्त तीनों प्रकारके जीवोंका हितकारी है । 'मन करि विषय अनल बन जरई । होइ सुखी जौ एहिं सर परई' से विषयी जीवोंका हित दर्शित किया, क्योंकि वे दिन-रात शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि विषयोंमें आसक्त रहते हैं। विषयी जीवोंको क्या सुख मिलता है, यह उत्तरकाण्डमें दिखाया है. यथा—'विषइन्ह कहँ पुनि हरिगुनग्रामा । श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा ॥ ५३।४ ।' इनको दोनों सुख प्राप्त होते हैं—कानोंका सुख और मनको विश्राम वा आनन्द । इसीसे ऊपर पहले ही कह दिया कि 'सुनत श्रवन पाइय बिश्रामा ।' मुमुक्षु इसे सुनकर, पढ़कर प्रसन्न होते हैं क्योंकि 'सुनत नसाहिं काम मद दंभा' और 'सुनत श्रवन पाइअ बिश्रामा ।' और आगे 'मुनि-भावन' कहकर मुक्त जीवोंका हित बताया है । 'जीवन्मुक्त कुछ नहीं चाहते, वे इस ग्रन्थकी उपासना करते हैं' ।

नोट—४ "मानस-सर हिमालयपर है और हिमजलसे अग्निसे जले हुएका ताप नहीं रहता । इसीसे विषयाग्निसे जलते हुए मनको मानस-सरमें पड़े रहनेको कहा ।" (मा० त० वि०) ।

रामचरितमानस मुनि-भावन । बिरचेउ संभु सुहावन पावन ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—भावन=भानेवाला, रुचिकर । बिरचेउ=अच्छी तरहसे रचा, निर्माण किया ।

अर्थ—(इस) मुनियों (के मन) को भानेवाले, सुहावने और पवित्र 'रामचरितमानस' की रचना श्री-शिवजीने की । ९ ।

नोट—१ दोहा ३४ की चौपाई ४ 'संबत सोरहसै एकतीसा' से लेकर दोहा ३५ की चौपाई १२ 'धरेउ नाम हिय हेरि हरषि हर' तक श्रीरामचरितमानस और श्रीरामचन्द्रजी दोनोंमें समता वा एकता दिखायी है ।

२—'मुनिभावन' कहकर सूचित किया कि यह शान्तिरससे परिपूर्ण है। 'विरचेउ संभु' से ईश्वर-कोटिवालोंका रचा हुआ, 'सुहावन' से काव्यालङ्कार आदि गुणोंसे परिपूर्ण तथा दोषरहित, और 'पावन' से इसमें पवित्र-राम-यश वर्णन होना जनाया है। पुनः 'सुहावन पावन' अपने स्वरूपसे है और सेवकके त्रिविध दोष एवं दुःखको नाश करता है।—देखिये ३५ (८) भी। पुनः, ३—'सुहावन' से मुमुक्षुको ज्ञानभक्तिसाधक और 'पावन' से 'विषयी' अधम जीवोंको भगवनमें लगा देनेवाला जनाया। (सू० मिश्र)। अथवा, 'सुहावन पावन' से शान्त और शृङ्गारयुक्त तथा 'मुनिभावन' से 'मुनियोंकी भावनासे शिवजीका इसे विशेष करके रचना जनाया। (पां०)।

श्रीरामचन्द्रजी और श्रीरामचरितमानसका ऐक्य

श्रीरामचन्द्रजी	श्रीरामचरितमानस
१ षोडशकलाका पूर्णावतार। पुनः, ३१ सर जोड़कर रावणका मारना।	संवत् १६३१ में कथाका प्रारंभ करना ही १६ कला में ३१ का जोड़ समझिये। इससे महामोहका नाश हुआ और होता रहेगा।
२ दोनोंका जन्म नवमी, मङ्गलवार, चैत्र शुक्लपक्ष,	अभिजितनक्षत्र, मध्याह्नकाल श्रीअयोध्याजीमें हुआ।
३ रामावतार रावण, मेघनाद, कुम्भकर्ण और उनकी सेना के वध करनेके लिये हुआ।	मानसका अवतार मोह, काम, मद, दम्भके नाशके लिये हुआ। ३५ (६)
४ दैवसर्गके आदर्श श्रीरामजी, आसुरसर्ग का आदर्श रावण।	दैवीसंपत्तिका आदर्श श्रीरामचरित, आसुर संपत्तिके आदर्श मोह मद आदि।
५ रावण आदिके नाश से देवता और मुनि सभी सुखी हुए।	यहाँ विषयी, साधक, सिद्ध तीनोंको सुख मिलता है। ३५ (६-८)
६ श्रीरामचन्द्रजीका नामकरण-संस्कार श्रीवसिष्ठजीने किया। वसिष्ठजी ब्रह्माजीके पुत्र हैं।	'रामचरितमानस' नाम शिवजीने रक्खा। श्रीमद्भागवतमें एक रुद्रका अवतार ब्रह्माजीसे होना कहा है। तथा-'वन्दे ब्रह्मकुलं कलङ्कशमनम्'।

त्रिविध दोष दुख दारिद दावन। कलि कुचालि कुलि* कलुष नसावन ॥१०॥

शब्दार्थ—त्रिविध=तीन प्रकारका। दारिद=दरिद्रता। कुलि=सब। दावन=दमन वा नाश करनेवाला, यथा—'त्रिविध ताप भवदाप दावनी' (उ०), 'जातुधान दावन परावन को दुर्ग भयो' (हनुमानबाहुक)।=दावानलके समान जला डालनेवाला।

अर्थ—तीनों प्रकारके दोषों, दुःखों और दरिद्रताका दमन तथा कलिके सब कुचालों और पापोंको नाश करनेवाला है ॥ १० ॥

नोट—१ 'त्रिविध दोष दुख' इति। पापका फल दुःख है, यथा—'करहिं पाप पावहिं दुख०'। यह तीन प्रकारका है, यथा—'जे नाथ करि करुना बिलोकहु त्रिबिध दुख ते निर्बहे।' जन्म, जरा, मरण ये तीन दुःख हैं, यथा—'जराजन्मदुःखौघतातप्यमानम्'। मन-कर्म वचनसे किये हुए तीन प्रकारके दोष हैं। काशीखण्डके "अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः। परदारापसेवा च कायिकं त्रिविधं स्मृतम् ॥ पारुष्यमनृतं चैव पैशून्यं चैव सर्वशः। असंबद्ध प्रलापश्च वाचिकं स्याच्चतुर्विधम् ॥ परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम्। वितथाभिनिवेशश्च मानसं त्रिविधं स्मृतम् ॥" के अनुसार—जो किसीने हमको दिया नहीं है उसका ले लेना अर्थात् चोरी, अविहित हिंसा और परस्त्रीसेवन ये तीन कायिक पाप (दोष) हैं। कठोर, झूठे, चुगली और परस्पर भेदन-

* 'कुलि' का पाठान्तर 'कलि' भी है। पर प्रामाणिक सभी पोथियोंमें 'कुलि' ही पाठ है।

शीलतावाले, आपसमें फूट डालनेवाले, और अव्यवस्थित ये चार प्रकारके वचन, वाचिक पाप हैं। परद्रव्यका चिंतन अर्थात् उसके प्राप्तिकी इच्छा करना, मनसे किसीका अनिष्ट सोचना, झूठा अभिमान (मिथ्याका आग्रह) ये तीन मानसिक पाप हैं। विनायकी टीकाकार तन, जन और धनसम्बन्धी तीन प्रकारके दरिद्र और दैहिक, दैविक, भौतिक तीन प्रकारके दुःख लिखते हैं। और मानसपत्रिकाकार आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक, वा कर्मणा, मनसा और वाचा ये तीन प्रकारके दुःख मानते हैं।

२ ग्रंथके अंतमें जो माहात्म्य कहा है—"श्रीमद्रामपदाब्जभक्तिमनिशं प्राप्त्यैतु रामायणम्।···पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञानभक्तिप्रदं, मायामोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभम्। श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये, ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः॥" वही यहाँ मुनिभावन, सुहावन, पावन, त्रिविध दोष दुःख दारिद दावन और 'कलि कुचालि कुलि कलुष नसावन' से कहा है। भक्तिको प्राप्त कर देने, कल्याण करने, विज्ञान और भक्तिको देनेवाला होनेसे 'मुनिभावन' है। अत्यन्त विमल, प्रेमाम्बुसे पूर्ण और पुण्य एवं शुभ होनेसे 'सुहावन' कहा और 'माया मोह मलापह' और 'पापहर' इत्यादि होनेसे 'त्रिविध·····' कहा।

रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥११॥

अर्थ—श्रीमहादेवजीने (इसे) रचकर अपने हृदयमें रक्खा और अच्छा मौक़ा (अवसर) पाकर श्रीपार्वतीजीसे कहा॥ ११॥

नोट—१ अब ग्रन्थके नामका हेतु कहते हैं।

२—श्रीगोस्वामीजी श्रीशिवजीका श्रीपार्वतीजीसे मानस कथन करना पूर्व ही कह आये हैं, यथा—'बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा। ३०। ३।', 'जेहि बिधि संकर कहा बखानी। ३३। १।', अब यहाँ तीसरी वार फिर कह रहे हैं कि 'पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा'। इसमें पुनरुक्ति नहीं है। तीन वार लिखना साभिप्राय है। प्रथम जो 'सुनावा' कहा वह संवादके साथ है, यथा—'जागबलिक जो कथा सुनाई। भरद्वाज मुनिबरहिं सुनाई॥ कहिहउँ सोइ संबाद बखानी। सुनहु सकल सज्जन सुख मानी॥ संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा। ३०। १-३।' अर्थात् मैं उस कथाका संवाद जैसा याज्ञवल्क्य-भरद्वाजमें हुआ कहूँगा। जिस कारणसे प्रश्नोत्तर हुआ वह 'कीन्हि प्रश्न जेहि भाँति भवानी। जेहि बिधि संकर कहा बखानी॥ सो सब हेतु कहब मैं गाई। ३३। १-२।' से सूचित किया। और तीसरी वार यहाँ जो कहा है उसमें समय और वर्णन करना सूचित किया। इन तीनोंको दोहा ४७ 'कहउँ सो मति-अनुहारि अब उमा-संभु-संवाद। भयउ समय जेहि, हेतु जेहि, सुनु मुनि मिटिहि बिषाद' में एकत्र करेंगे।

चार संवादोंकी रचना

आषाढ़कृष्ण १० संवत् १५८९ को श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजीको स्त्रीका उपदेश हुआ। बस घरसे चलकर तीर्थराजमें आपने गृहवेषका विसर्जन किया और वहाँसे श्रीअवधपुरी आकर चौमासेतक रहे। यहाँसे तीर्थयात्रा प्रारम्भ की। इस तीर्थयात्रामें ही भावी ग्रन्थकी रचनाकी बहुत सामग्री इन्हें प्राप्त हुई। मानसरोवर गये। यहाँसे दिव्य साहाय्य पाकर सुमेरु पहुँचे। वहाँ नीलाचलपर भुशुण्डिजीके दर्शन हुए। मानस-रचनाकी तैयारीके लिये ईश्वरीय प्रेरणासे ये सब अलौकिक संघटन हुए—'होनेवाला कोइ होता है जो कार। ग़ैबसे होते हैं सामाँ आशकार'॥

श्रीरामगीतावली और श्रीकृष्णगीतावली रचनेके उपरान्त जब श्रीहनुमान्‌जीकी आज्ञासे आप श्रीअवध को चले तब कुछ दिन प्रयागराजमें ठहरे। उस समय भगवदीय प्रेरणासे आपको भरद्वाज याज्ञवल्क्य इन दोनों महर्षियोंका दर्शन हुआ और दोनोंका संवाद सुननेको मिला। इन दोनों यात्राओंमें जो कुछ देखा-सुना था उसीको अपने शब्दोंमें उन्होंने निबद्ध किया।

जो जिस कोटिकी आत्माएँ होती हैं उनके चरित्र भी उसी कोटिके होते हैं। आर्षप्रमाणोंसे यह सिद्ध है कि गोस्वामीजी आदिकवि वाल्मीकिजीके अवतार हैं, अतः वे एक विशिष्ट भगवदीय विभूति थे। उनके जीवनमें इस प्रकारकी अलौकिक घटनाओंका होना स्वाभाविक है।—और प्रायः सभी महात्मा और सिद्ध सन्तोंके चरित्रोंमें कुछ-न-कुछ लोकोत्तर चमत्कार पाये जाते हैं।—जिस उद्देश्यसे उनका आविर्भाव हुआ था, उसकी पूर्तिके लिये उन्हें दिव्य सूत्रोंसे अलौकिक साहाय्य मिलना कोई विचित्र बात नहीं।

नोट—३ (क) ३५ (६-१०-११) मानो तीन सूत्र हैं जिनकी व्याख्या दोहा ४७ से प्रारम्भ हुई है। (ख)—'निज मानस राखा' से कुछ महानुभाव यह भी ध्वनि निकालते हैं कि शिवजी इसका मानसी अष्टयाम करते थे। मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि शिवजीने 'रामचरितमानस' नाम रखनेके बारह हजार कल्प पहिले ही इस ग्रन्थको रचकर हृदयमें लालित किया।

गौड़जी—भगवान् शङ्करने उसकी रचना करके अपने मनमें रक्खा और जब अच्छा अवसर मिला तब पार्वतीजीसे कहा। भगवान् शङ्करने रचना कब की ? पार्वतीजीसे कहनेका वह सुअवसर कब आया ? यह दो प्रश्न इस चौपाईके साथ ही उठते हैं। भगवान् शङ्करने रामचरितमानसकी रचना बहुत पहले कर रक्खी थी। कभी लोमश ऋषिसे कहा था। लोमशजीने कागभुशुण्डिसे तब कहा जब उनके ही शापसे वह कौआ हुए। कौआ हो जानेपर कथा सुनकर वह उत्तराखण्डमें रहने लगे। सत्ताईस कल्प बीतनेपर गरुड़जीको उन्होंने वही कथा सुनायी; यथा—'इहाँ बसत मोहिं सुनु खग ईसा। बीते कलप सात अरु बीसा॥'

इस तरह मानसकी रचनाके सत्ताईस कल्पसे बहुत अधिक समय बीतनेपर गरुड़-भुशुण्डि-संवाद हुआ। इस संवादके पीछे किसी कल्पमें स्वायंभुव मनु और शतरूपाकी तपस्याके कारण रामावतार हुआ होगा; क्योंकि गरुड़-भुशुण्डि-संवादमें नारदमोहकी ही चर्चा है। और नारदमोहवाली घटना मानसकी रचनासेभी पहलेकी है क्योंकि भुशुण्डि इसी कथाकी चर्चा मानसकी कथा सुनानेमें करते हैं। मनुसंहितामें 'जो भुसुंडि मनमानस हंसा' कहकर भुशुण्डिके बादकी घटना सूचित होती है। प्रतापभानुवाली कथा भी संभवतः उसी स्वायंभुव मनुकी तपस्यावाले कल्पकी है, यद्यपि इस बातका स्पष्ट निर्देश नहीं है और पं० धनराज शास्त्रीका मत इसके अनुकूल नहीं है। परन्तु इसमें तो सन्देह नहीं कि मनुवाले हेतुसे जो रामावतार हुआ था, पार्वतीको मोहित करनेवाला था, और उसीपर उनको शङ्का हुई थी। अतः, पार्वतीजीने भगवान् शङ्करसे जो रामायणकी कथा सुनी वह रचनाके कम-से-कम अट्ठाईसकल्प बीत जानेपर सुनी थी। याज्ञवल्क्यजीकी कही कथा तो उसका अन्तिम संस्करण है।

नोट—४ अधिकांशका मत यही है कि प्रथम कागभुशुण्डिजीको मानस प्राप्त हुआ और कमसे कम २७ कल्प बाद श्रीपार्वतीजीको वही सुनाया गया। किसी एक या दोका ही मत इसके विरुद्ध है पर उस मतको वे सिद्ध नहीं कर सके हैं। हाँ, 'मूल गुसाईंचरित' से चाहे कोई सहायता उनको मिल सके क्योंकि उसमें 'पुनि दीन्ह भुसुंडिहि तत्त गोई' कहा है।

तातें रामचरितमानस बर। धरेउ नाम हिअँ हेरि हरषि हर। १२।

अर्थ—इसलिये श्रीशिवजीने हृदयमें खूब सोच-विचारकर हर्षपूर्वक इसका सुन्दर 'रामचरितमानस' नाम रखा।१२

नोट—१ 'तातें' अर्थात् रचकर अपने मानस (मन) में रक्खा था इससे, तथा जैसे वह (मानस) सर ब्रह्माने मनसे रचा और उसमें भगवान्‌के नेत्रोंसे निकला हुआ दिव्य जल रक्खा तबसे उसका नाम मानस-सर हुआ जो सुहावन, पावन आदि है, वैसे ही शिवजीने दिव्य श्रीरामचरित रचकर अपने मनमें रक्खा जो सुहावन, पावन इत्यादि है, इससे बर=श्रेष्ठ, उत्तम, सुन्दर। 'हेरि'—यह शब्द कैसा सार्थक है। हेरना ढूँढ़नेको कहते हैं। हृदयमें हेरकर नाम रक्खा अर्थात् बहुत विचार किया तो और कोई नाम इससे बढ़कर न मिला।

टिप्पणी—'गोस्वामीजीने प्रथम इस ग्रन्थका जन्म कहा, यथा—'विमल कथा कर कीन्ह अरंभा।' फिर

नामकरण कहा। इससे यह सन्देह होता है कि ग्रन्थका नाम भी उन्होंने रक्खा होगा। इस भ्रमके निवारणार्थ आप कहते हैं कि 'ग्रन्थका नाम शिवजीने रक्खा है, हमने नहीं'। रामचरितमानस जिस तरह ग्रन्थकारके हृदयमें आया उसे कुछ पूर्व कह आये—'निज गुर सन सुनी'। और कुछ मानस-प्रकरणमें कहेंगे।

कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई। १३।

अर्थ—मैं उसी सुख देनेवाली और सुहावनी (रामचरितमानस) कथाको कहता हूँ। हे सज्जनों! आदरपूर्वक मन लगाकर सुनिये। १३।

नोट—१ 'गोस्वामीजीने यहाँ तीन संवादोंका बीज बोया है। वही अब क्रमसे कहते हैं। पहिले श्रोता-वक्ताओंके नाम कहे, फिर उनके संवादके स्थान कहे'। इस चौपाईमें गोस्वामीजीके श्रोता और उनका संवाद-स्थान सूचित किया गया है। इस तरह चार संवाद इस ग्रन्थमें हैं।

२ 'सादर', यथा—'हेतुवादरतो मूर्खः स्त्रीजितः कृपणः शठः। अहंयुक्क्रोधनोऽसाधुः श्रोता न स्याद्वरानने॥ इति गौरी संमोहन तंत्रे।'—(पं० रा० कु०)। अर्थात् हे वरानने! जो भौतिक सुखोपायमें लगे रहते हैं, मूर्ख हैं, स्त्रीवश रहते हैं, सूम हैं, शठ हैं, अभिमानी हैं, क्रोधी हैं, और असाधु हैं, वे श्रोता नहीं हैं।

३ 'मन लाई'; यथा—"लोकचिन्तां धनागार पुत्रचिन्तां व्युदस्य च। कथाचित्तः शुद्धमतिः स लभेत्फलमुत्तमम्॥ इति पाद्मे।" (पं० रा० कु०)। अर्थात् जो लोक (मानापमान), धन, घर, स्त्री, पुत्रादिकी चिन्ता त्यागकर दत्त-चित्त हो और शुद्ध बुद्धिसे (तर्क वितर्क छोड़कर) श्रद्धा-भक्तिसे कथा सुनता है वही यथार्थ रीति से उत्तम फलको पाता है।

श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजी विरचित चारों संवादोंके वक्ता श्रोता और उनके संवाद-स्थान

वक्ता श्रोता	संवाद-स्थान
१—श्रीशिवजी, श्रीपार्वतीजी	कैलाश। यथा—'परम रम्य गिरिवर कैलासू। सदा जहाँ सिव उमा निवासू॥''''।१।१०५–१०६।'
२—श्रीकागभुशुण्डिजी, श्रीगरुड़जी,	नीलगिरि। यथा—'उत्तर दिसि सुंदर गिरि नीला। तहँ रह कागभुसुंडि सुसीला॥''' गयउ गरुड़ जहँ बसइ भुसुंडी।७।६२–६३।'
३—श्रीयाज्ञवल्क्यमुनि, श्रीभरद्वाजजी,	प्रयाग। यथा—'भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा। जिन्हहिं रामपद अति अनुरागा॥''''माघ मकरगत रबि जब होई। तीरथपतिहिं आव सब कोई॥'''जागबलिक मुनि परम बिबेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी। बा० ४४–४५।'
४—श्रीगोस्वामीजी, सज्जन। यथा—'होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु समाज भनिति सनमानू॥' सुनहु सकल सज्जन सुखु मानी (३०)	श्रीअयोध्याजी। यथा—'सब बिधि पुरी मनोहर जानी।'''बिमल कथा कर कीन्ह अरंभा'''कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥'

☞ सुजन समाज सर्वत्र है—'संत समाज प्रयाग', 'जिमि जग जंगम तीरथराजू'। इसलिये दासकी समझमें इस संवादका स्थान सर्वत्र है जहाँ भी इसे सज्जन पढ़ें-सुनें। श्रीमहाराज हरिहरप्रसादजीके मतानुसार गोस्वामीजीका संवाद अपने मनसे है, क्योंकि जहाँ-तहाँ ग्रन्थमें मनको उपदेश देना पाया जाता है।

नोट—४ 'सुखद' शब्द देकर सूचित करते हैं कि जो इसको सुननेमें सुख मानेंगे वे इसके अधिकारी हैं।

कथाका 'अथ' अर्थात् तदन्तर्गत श्रीअयोध्या-धामका स्वरूप तथा श्रीरामचरितमानसका अवतार जन्म-तिथि इत्यादि और फलवर्णन यहाँ समाप्त हुआ।

(मानस-प्रकरण)

दोहा—जस मानस जेहिं विधि भयेउ जग प्रचार जेहिं हेतु ।
अब सोइ कहौं प्रसंग सब सुमिरि उमा बृषकेतु ॥३५॥

शब्दार्थ—बृषकेतु—बृष=बैल, नादिया, साँड़ । केतु=ध्वजा, पताका । बृषकेतु=नादिया है ध्वजा जिनकी=महादेवजी। 'बृष' का अर्थ 'चारों चरणसे पूर्ण धर्म' भी किया जाता है, इस तरह 'बृषकेतु'=जो धर्मकी ध्वजा ही हैं। वा, जिनके केतुपर चतुःपाद धर्म विराजमान हैं ऐसे सकल धर्मोंके उपदेश करनेवाले श्रीशिवजी। (रा० प०)।

अर्थ—१ मानस (का) जैसा (स्वरूप) है, जिस तरह मानस बना और जिस कारणसे जगत्‌में इसका प्रचार हुआ, वही सब प्रसंग अब श्रीपार्वती-महादेवजीका स्मरण करके कहता हूँ ॥ ३५ ॥

अर्थ—२ 'जैसा मानसका स्वरूप है, जिस प्रकार और जिस लिये जगमें उसका प्रचार हुआ।' (मा० त० वि०)।

अर्थ—३ 'जिस प्रकार मानस-यश प्रकट हुआ और जिस कारण जगमें उसका प्रचार हुआ सो सब प्रसंग अब मैं कहता हूँ।' (अर्थात् 'जैसे श्रीमन्नारायणने करुणाजल ब्रह्माको दिया, जो मानसरमें स्थित हुआ, वैसे ही शिवजीने यशरूपी जल पार्वतीजीको दिया जो इस मानसमें पूरित है।' इस अर्थमें 'जस' का अर्थ 'यश' किया गया है) । (मा० म०)।

श्रीमन्नारायणसे रूपक मेरी समझमें यों घटेगा कि—श्रीमन्नारायण भगवान् शिव हैं। वहाँ भगवान्‌के नेत्रमें जल, यहाँ शिवजीके मानसमें रामयश। वहाँ करुणाद्वारा नेत्रसे जल निकला, यहाँ शिवजीकी कृपाद्वारा मुखसे रामयशजल प्रगट हुआ, यथा—'बहुरि कृपा करि उमहिं सुनावा'। वहाँ ब्रह्माजीने अंजलिमें लिया, यहाँ पार्वतीजीने श्रवणपुटद्वारा (रामयशको) पान किया। वहाँ ब्रह्माजीने जलको मानसी सरोवरमें रक्खा, यहाँ उमा-महेश्वरकी कृपासे रामयशजल तुलसी-मानसमें स्थित हुआ।—[मा० मा० का मत है कि नेत्रोंसे निकला हुआ करुणाजल ब्रह्माजीके करकमलोंपर होकर कैलासपर सुशोभित हुआ और यहाँ पार्वतीजीके कर्णमें प्राप्त होकर और वेदवेदान्तद्वारा गोस्वामीजीके हृदयमानसमें आया]— वहाँ मानससे वसिष्ठजी लाए, यहाँ "संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी॥···भएउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेमप्रमोद-प्रवाहू॥ चली सुभग कविता सरिता सी।" अर्थात् गोस्वामीजीकी विमल बुद्धिद्वारा काव्यरूपमें रामचरित-मानस प्रगट हुआ। वहाँ श्रीसरयूजी अयोध्याजीके लिये आईं, यहाँ कीर्ति-सरयू संतसमाजरूपी अनुपम अवधके लिये आईं।

नोट—१ (क) दोहेमें "जस मानस" अर्थात् मानसके स्वरूपके कथनकी प्रतिज्ञा प्रथम की, तब 'जेहि विधि भएउ' की—परन्तु वर्णनमें 'जेहि विधि भएउ' अर्थात बननेकी विधि प्रथम कही गई, स्वरूप पीछे कहा गया। कारण कि "स्वरूपप्रदान ही बनना है बनना समाप्त होते ही स्वरूप पूरा हो जाता है, अतः बननेकी विधि पहले कही। बन चुकनेके पश्चात् स्वरूपपर ही दृष्टि प्रथम जाती है, उसके बाद बननेकी विधिपर ध्यान जाता है, अतः प्रतिज्ञामें स्वरूपवर्णन प्रथम कहा, तत्पश्चात् 'जेहिं विधि भएउ' का उल्लेख किया।" (मानसप्रसंग)।

(ख) गोस्वामीजीने मानसके आदिमें तीन प्रतिज्ञायें कीं—'जस मानस', 'जेहि बिधि भयेउ' और 'जग प्रचार जेहिं हेतु'। ये बातें छन्दहेतु क्रम तोड़कर कही गईं। कथनका क्रम यह है—प्रथम 'जेहि बिधि भयेउ' यह 'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू ।३६।३।' से 'सुखद सीत रुचि चारु चिराना ।३६।८।' तक कहा। इसके पश्चात् 'जस मानस' अर्थात् मानसका स्वरूप 'अस मानस मानस चख चाही ।३९।९।' तक कहा। आगे 'भयउ हृदय आनंद उछाहू ।३९।१०।' से जग प्रचारका हेतु कहते हैं। (खर्रा)।

(ग) आरोप्यमाण मानसकी विधि पूर्व कह आए। पर आरोप्य विषयभूत सभी मानसोंके बननेकी विधि पृथक्-पृथक् है। भगवान् शंकर वेदस्वरूप हैं, यथा—'विभुं व्यापकं ब्रह्म वेद स्वरूपम्'। अतः उन्होंने स्वयं रचा। भुशुण्डिजीको शिवजीने लोमशद्वारा दिया, याज्ञवल्क्यको भुशुण्डिजीसे मिला और तुलसीदासजीको गुरुद्वारा मिला। (मा० प्रसंग)।

(घ) "जग प्रचार जेहिं हेतु" इति। आरोप्यमाण मानसका प्रचार देशमें श्रीसरयूद्वारा हुआ जो उसीसे निकली हैं। उमा-शंभु-संवाद एकान्तमें कैलाशपर देववाणीमें हुआ, भुशुण्ड-गरुड़-संवाद नीलगिरिपर (जो इस वर्षखंडमें नहीं है) पक्षी-भाषामें हुआ और याज्ञवल्क्य-भरद्वाजसंवाद यद्यपि प्रयागराजमें हुआ पर माघ बीतनेपर फाल्गुनमें हुआ जब सब मुनि चले गए थे; यथा— एक बार भरि माघ नहाए। सब मुनीस आश्रमन्ह सिधाए ॥...' अतएव उनका प्रचार अति विरल हुआ। 'श्रीरामचरितमानस' (भाषाकाव्य) का प्रकाश श्रीराम-नवमीके शुभ अवसरपर श्रीअयोध्याजीमें संतसमाजके बीचमें हिन्दी भाषामें हुआ। अतः इसका प्रचार साक्षात्-रूपसे हिन्दी-संसारमें हुआ और परंपरासे समुद्रतक चला गया। (वि० त्रि०)। जिस प्रकार जगत्‌में उसका प्रचार हुआ, यह बात 'भयेउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रवाहू। १।३९।१०।' से लेकर 'सुमिरि भवानी संकरहि कह कवि कथा सुहाइ। १। ४३।' तक कही गई है।

(ङ) 'जेहिं हेतु' अर्थात् जिस कारणसे प्रचार हुआ, यह प्रसंग काशिराजकी पोथी एवं रा० प० के अनुसार 'भरद्वाज जिमि प्रश्न किय जागबलिक मुनि पाइ। प्रथम मुख्य संवाद सोइ कहिहउँ हेतु बुझाइ॥ १। ४३।' इत्यादिमें दरसाया है। परंतु अन्य प्राचीन पोथियोंमें यह दोहा नहीं है। अतः हमारे पाठानुसार यह प्रसंग "अब रघुपतिपदपंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद। कहौं जुगल मुनिवर्य कर मिलन सुभग संवाद ।१।४३।" से प्रारंभ होकर "कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी। १। ११२।", वा "तदपि असंका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सब कर हित होई। १। ११३। १।" तक है।

नोट—२ (क) 'अब' अर्थात् श्रीशिवजी-की रचनाका नामकरण, माहात्म्य और परंपरा कहकर अब। 'सोइ' अर्थात् जिसकी पूर्वार्धमें प्रतिज्ञा कर चुके हैं वही सब। (ख) 'सुमिरि उमावृषकेतु' इति।—यहाँ श्रीशिव-पार्वती दोनोंका स्मरण किया। महानुभाव ऐसा करनेके अनेक भाव कहते हैं। एक यह कि दोनोंकी प्रसन्नता पा चुके हैं, यथा—'सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। १। १५।' दूसरे शिवजी रामतत्त्वके मुख्य वेत्ता हैं और श्रीपार्वतीजी आपकी अर्द्धाङ्गिनी हैं। तीसरे उमा-पद शब्दग्राही है और शिव-पद अर्थग्राही है ऐसा वाराहपुराणमें कहा गया है। जैसे शब्द-अर्थ मिले हैं वैसेही उमा-शिव एकही हैं। यथा—"शब्दजातमशेषं तु धत्ते शर्वस्य वल्लभा। अर्थरूपं यदखिलं धत्ते मुग्धेन्दु शेखरः।' (पं० रा० कु०)। अर्थात् शिवजीकी वल्लभा पार्वतीजी अशेष शब्द समूहको धारण करती हैं और सुन्दर बालेन्दुको धारण करनेवाले शिवजी सकल अर्थको। चौथे, शिवजीने मानसकी रचना की और पार्वतीजीने उसे लोकहितके लिये प्रकट कराया। जैसा कहा है—'तुम्ह समान नहिं काउ उपकारी॥ पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥ तुम्ह रघुबीर-चरन-अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी। बा० ११२।' पाँचवें यह कि ये मुख्य वक्ता-श्रोता हैं। (शुकदेव-लाल)। (ग) 'वृषकेतु' शब्द देकर जनाते हैं कि इनकी कृपासे यह ग्रन्थ भी धर्मका पोषक होगा। शिवजीका

स्मरण करके जनाते हैं कि आप मानसके आचार्य हैं, अतः आप मानसके कथनमें तत्पर होकर मुझे पार लगावें और वक्ताओंको विश्वास और कथन तथा समझनेकी बुद्धि दें। श्रीउमाजीसे माँगते हैं कि श्रोताओंपर कृपा करके उनको कथा-श्रवणमें श्रद्धा और समझनेकी बुद्धि दें। श्रीशिवजीको विश्वासरूप और श्रीपार्वतीजीको श्रद्धा रूपिणी प्रारंभमें कह ही आए हैं। (मा० सा०)। (घ)—उमाके प्रसादसे वृषकेतुकी कृपा हुई, अतः पहले उमाका स्मरण किया और वृषकेतुकी कृपासे सुमतिका उल्लास हुआ। अथवा, उमा सुमतिरूपा हैं, यथा—'या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता' और शिवजी बुद्धिके प्रेरक हैं, यथा—'तुम्ह प्रेरक सबके हृदय, सो मति रामहि देहु। २। ४४।' और सुमति भूमिकामें ही रामचरितमानसकी रचना हुई। अतः उमावृषकेतुका स्मरण प्रसंग-कथनके प्रारंभमें करते हैं। अथवा अभेद-दृष्टिसे शक्ति-शक्तिमान्‌का साथही स्मरण करते हैं जिसमें यथार्थ वर्णनकी शक्ति हो, यथा—'तुम्ह माया भगवान शिव सकल जगत पितु मातु' (वि० त्रि०)। ☞ यहाँसे लेकर दोहा ४३ तक आठ दोहोंमें 'मानस-प्रसंग' है।

संभु प्रसाद सुमति हिअँ हुलसी। राम-चरित-मानस कबि तुलसी॥ १॥

अर्थ—श्रीशिवजीकी प्रसन्नतासे हृदयमें सुमतिका उदय हुआ। जिससे मैं तुलसीदास रामचरितमानसका कवि हुआ॥ १॥

नोट—१ श्रीशुकदेवलालजी उत्तरार्द्धका अर्थ यों करते हैं कि 'नहीं तो कहाँ रामचरितमानस और कहाँ मैं तुलसीदास लघुमतिवाला उसका कवि!'

टिप्पणी—१ 'संभुप्रसाद सुमति हिअँ हुलसी' इति। (क)—संस्कृत रामचरितके कवि शिवजी हैं, उनके प्रसादसे भाषा रामचरितमानसके कवि 'तुलसी' हैं। (ख)—आपने पूर्व चराचरमात्रसे 'मति' माँगी है; यथा—'आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभ बासी॥''' जानि कृपाकर किंकर मोहू। निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। ताते बिनय करउँ सब पाहीं''॥ १। ८।' पुनः, कवियोंसे और श्रीजानकीजीसे भी इसीकी प्रार्थना की है। यथा—'करहु अनुग्रह अस जिय जानी।''''', 'ताके जुग पद कमल मनावौं। जासु कृपा निर्मल मति पावौं। १। १८।' इन सबोंकी कृपा शिवजीके द्वारा प्रकट हुई, उसीका यहाँ वर्णन है। शम्भुप्रसादके प्रमाणमें 'सुमिरि सिवासिव पाइ पसाऊ। १।१५।' यह चौपाई है। (ग)—पूर्व कह चुके हैं कि 'लघु मति मोरि चरित अवगाहा॥'''मन मति रंक मनोरथ राऊ॥ मति अतिनीचि ऊँचि रुचि आछी। १। ८।' वही लघु, रंक और अति नीच मति अब उनके प्रसादसे 'सुमति' (सुन्दर मति) होकर हुलसी। (शंभुके प्रसादसे अव्याहत गति होती है, यथा—'अव्याहत गति संभु प्रसादा')। (घ) 'सुमति हिय हुलसी' इति। यथा—"प्रज्ञां नव नवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः। प्रतिभा कारणं तस्य व्युत्पत्तिस्तु विभूषणम्। भृशोत्पत्ति कृदभ्यास इत्यादि।" इति वाग्भट्टालङ्कारे। 'शुश्रूषा श्रवणंचैव ग्रहणंचैव धारणम्। ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धी गुणाः।' इति कामन्दके। अर्थात् उत्तरोत्तर वृद्धि पानेवाली प्रतिभाका नाम प्रज्ञा है। अतः प्रज्ञाका कारण प्रतिभा है और व्युत्पत्ति उसका भूषण है। अभ्यास करनेसे उसका बारंबार उदय होता है। सुननेकी इच्छा, सुननेकी शक्ति, ग्रहणकी इच्छा, धारणकी शक्ति, ऊह (तर्क), अपोह (मीमांसा वा विचार), अर्थज्ञान और तत्व (तात्पर्य) ज्ञान—ये आठ बुद्धिके गुण हैं।—(औरभी किसीका वाक्य है कि—"प्रज्ञा नवनवोन्मेषा बुद्धिस्तात्कालिकी मता। मतिरागामिनी ज्ञेया प्रतिभा संस्कृता तु या।" अर्थात् उत्तरोत्तर नये-नये रूपसे वृद्धि पानेवाली विचारशक्ति 'प्रज्ञा' कही जाती है। समय पड़नेपर तुरंत प्रस्फुटित होनेवाली विचारशक्तिकी 'बुद्धि' संज्ञा है। भविष्यके हिताहित सोचनेवाली विचारशक्तिका नाम 'मति' है। और, तीनोंके सुमार्जित रूपको प्रतिभा कहा गया है)।—[मेरी समझमें इन श्लोकोंके देनेका भाव यह है कि यहाँ 'सुमति' से 'प्रतिभा' का अर्थ समझना चाहिए]।

वि० त्रि०—१ मति दो प्रकारकी है। एक सुमति दूसरी कुमति। यथा—'सुमति कुमति सब के उर रहईं।

नाथ पुरान निगम अस कहई ॥ जहाँ सुमति तहँ संपति नाना ।' सुमतिकी अव्याहत गति होती है। वह प्रवृत्ति, निवृत्ति, कार्य, अकार्य, भय, अभय, बंध, मोक्षका यथावत् जानती है, यथा—'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये । बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी । गीता १८ । ३० ।' इसका उदाहरण यही मानस-प्रसंग है। कुमतिके दो भेद हैं, राजसी और तामसी। राजसीमें कार्याकार्य और धर्माधर्मका यथार्थ ज्ञान नहीं रहता और तामसी में विपरीत ज्ञान होता है। तामस बुद्धिवाला अधर्मको ही धर्म मान बैठता है। कुमतिका उदाहरण अयोध्याकांडमें है। शंभुके प्रसादसे रजोगुण और तमोगुणको पराभूत करके सात्विकी बुद्धि उल्लसित हुई। ['हुलसी' शब्द इस बातको जनाता है कि पहले 'मति' नीची थी। पूर्व ग्रन्थकार अपनी मतिका कदराना-सकुचाना भी कह आये हैं, यथा—मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी। १। ८।' 'करत कथा मन अति कदराई। १। १२।']

२—'रामचरितमानस' का भाव कि यह अपार है, इसको कहनेमें शारदा, शंभु, ब्रह्मा और वेदादि भी असमर्थ हैं, भगवान् शंकर इसके आदिकवि हैं सो उन्होंनेभी मति-अनुसार कहा है, यथा—'मैं सब कही मोरि मति जथा।' ऐसे रामचरितमानसका कवि शंभुप्रसादसे मैं हो गया; निर्मल मति होनेसे ही ऐसी कविता होती है।

नोट—२ सूर्यप्रसादजी लिखते हैं कि 'शम्भुकी प्रसन्नता न होती तो इनके हृदयमें सुमतिका हुल्लास याने उमंग न आता।.....ग्रन्थकारका आशय यह है कि वास्तवमें मैं कुछ भी नहीं हूँ, मुझे 'कवि' कहना ही झूठ है। ग्रन्थकारने सर्वथा अपने अहङ्कारका त्याग ही किया।' मा० त० वि० का मत है कि यहाँ कवि-पद अपनी ओर हास्ययुक्त ही नीचानुसंधानसे है। देखिये, इस प्रसादके पहिले गोस्वामीजीने अपनेको कवि नहीं कहा, यथा—'कवि न होउं नहिं.....। १। ९।' और अब यहाँसे प्रसन्नता हो जानेपर वे अपनेको कवि कहते हैं। यथा—'रामचरितमानस कवि तुलसी। १। ३६।', 'सुमिरि भवानी-संकरहि कह कवि कथा सुहाइ। १। ४३।', 'सुकवि लखन मन की गति भनई। २। २४०।', 'कविकुल कानि मानि सकुचानी। २। ३०३।', 'सुनि कठोर कवि जानिहि लोंगू। २। ३१८।', 'कुकवि कहाइ अजसु को लेई। १। २४८।'

नोट—३ 'कवि तुलसी' इति। पूर्व ६ (८) और १२ (६) में कहा है कि 'कवि न होउँ' और यहाँ और आगे भी अपनेको कवि कहते हैं। इसीसे चौपाईके पूर्वार्द्धमें 'संभु-प्रसाद' पद देकर पहिले ही इस विरोधका निवारण कर दिया है। वैजनाथजी लिखते हैं कि 'जैसे धनी पुरुषकी प्रसन्नतासे निर्धनभी धनी कहलाता है, वैसे ही शिवजी श्रीरामचरितके धनी हैं, उनकी प्रसन्नतासे मैं जो काव्यधनहीन हूँ वह भी कवि हो गया।'

विनायकी-टीकाकार इस विरोधका समाधान यों करते हैं कि "यहाँ और आगे 'कह कवि कथा सुहाइ' में 'कवि' शब्दका यथार्थ अभिप्राय ग्रन्थ बनानेवालेसे है, कविके सम्पूर्ण गुणोंसे परिपूर्ण होनेका दावा करनेका नहीं है। इसके सिवा दोनों अन्तिम स्थानोंमें महादेव-पार्वतीजीके प्रसादसे अपनेको कवि अर्थात् रचयिता कहा है। जबतक उनकी कृपाका विश्वास उनके चित्तमें नहीं आया था तबतक अपनेको कवि कहनेके योग्य उन्होंने नहीं समझा। जैसा अरण्यकाण्डमें सुतीक्ष्ण मुनिने श्रीरामचन्द्रजीसे कहा था कि 'मैं बर कबहुं न जांचा।' परन्तु जब श्रीरामचन्द्रजीके प्रसादसे उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ तब कहने लगे कि 'प्रभु जो दीन्ह सो बर मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा'।"

मानसतत्त्वविवरणकार लिखते हैं कि 'संभु-प्रसाद' पदसे उस घटनाको ग्रन्थकार सूचित करते हैं कि जिसमें शिवजीने परमहंसस्वरूपमें प्रकट होकर गोस्वामीजीका संस्कृतभाषामें रचा हुआ रामचरितमानस देखनेके बहानेसे लेजाकर लुप्त कर दिया था और फिर स्वप्नमें इन्हें आज्ञा दी थी कि हिन्दीभाषामें इस ग्रन्थको रचो। यह प्रसाद पाकर हृदयमें आह्लाद बढ़ा, तब आप ग्रन्थारम्भमें प्रवृत्त हुए।—(इस घटनाका उल्लेख मं० श्लोक ७, तथा दोहा १५ में और अन्यत्र भी किया जा चुका है)।

करइ मनोहर मति अनुहारी । सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी ॥ २ ॥

शब्दार्थ—सुचित=ध्यान देकर, सावधान होकर ।=सुन्दर शुद्ध चित्तसे ।

अर्थ—अपनी बुद्धिके अनुसार (तुलसी) इसे मनोहर ही बनाता है । सज्जनो ! सुन्दर चित्तसे सुनकर आप इसे सुधार लें ॥ २ ॥

नोट—१ मानसमयङ्ककार और करुणासिन्धुजी इसका एक भाव यह लिखते हैं कि 'सुन्दर चित्तमें धारण कर लीजिए।' अर्थात् 'लेहु सुधारी'=अच्छी तरहसे धारण कर लो ।

२ 'मनोहर मति अनुहारी' इति । (क) शिव-कृपासे मति सुन्दर हो गई है । इसलिये इस सुमतिके अनुहारि कथाप्रबन्ध रचनेसे वह 'मनोहर' अवश्य होगी । (पं० रा० कु०) । पुनः, 'मनोहर' अर्थात् काव्यालङ्कार-युक्त, वा, जिस रस और भावके जो भक्त हैं उनको वही भाव इसमें झलकेगा । (मा० त० वि०) । (ख)—श्रीकरुणासिन्धुजी, श्रीजानकीदासजी, श्रीबैजनाथजी और श्रीमहाराज हरिहरप्रसादजी 'मनोहर' को रामचरितमानसका विशेषण मानते हैं इस भावसे कि वह तो स्वयं मनोहर है किसीके रचनेसे मनोहर नहीं हो सकता । (ग) "मति अनुहारी" इति । सुमति पानेपर भी 'मति अनुहार' ही बनाना कहते हैं, क्योंकि मनुष्य कितना ही बुद्धिमान् क्यों न हो, चूकना उसका स्वभाव है—"To err is human", अचूक तो एक परमेश्वर ही हैं । (घ) वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "शब्द और अर्थको कविता सरस्वतीका देह माना गया है, रीतिको अवयवसंस्थान, मधुर्यादिको गुण और दुःश्रवादिको दोष माना गया है । उपमादिको अलंकार कहा गया है और रस आत्मारूपसे वर्णित है । श्रीगोस्वामीजीका मत है कि इतना होनेपर भी कविता सरस्वतीको साड़ी चाहिए, जिसके बिना सब सुन्दरता, अलंकार तथा स्वयं जीवन भी मिट्टी है । यथा—'भनित बिचित्र सुकबिकृत जोऊ । राम नाम बिनु सोह न सोऊ ॥' से 'मधुकर सरिस संत गुन ग्राही' तक । बिना भगवन्नामकी साड़ी पहनाये सरस्वती दर्शनीया नहीं होती । गोस्वामीजीका अभिप्राय है कि मैं अपनी कविताका यथेष्ट शृंगार तो न कर सका पर मैंने उसे साड़ी तो पहना रक्खा है । अतः मेरी कविता-सरस्वती दर्शनीया है । 'मति अनुहारी' में भाव यह है कि साहित्यके ग्रन्थोंमें कहीं साड़ी पहनानेकी आवश्यकता नहीं समझी गई और न कहीं उसका उल्लेख है और मेरी समझमें साड़ीकी अनिवार्य आवश्यकता है । अन्य साहित्यसेवियोंके साथ ऐकमत्य न होनेसे 'मति अनुहारी' कहा ।"

३ "सुजन सुचित···" इति । (क) सु० द्विवेदीजी लिखते हैं कि "कहींसे टूटने न पावे और नीचा-ऊँचा भी न हो, क्योंकि ऐसा होनेसे भक्त लोगोंको स्नान करनेमें कठिनता पड़ेगी, इसलिये ग्रन्थकार सज्जनोंसे प्रार्थना करता है कि आप लोग सुचित (सुन्दर 'चिति' चउतरे इत्यादिके मूल) अर्थात् कारीगर हैं इसे सुधार लेना ।"—(परंतु यह अर्थ क्लिष्ट कल्पना है) । (ख)—यह गोस्वामीजीका कार्पण्य है । जो बड़े होते हैं वे सदा औरोंको बड़ा मानते हैं और अपनेको छोटा, यह शिष्टाचार है । (मा० प्र०) । (ग)—इसके श्रोता सज्जन ही हैं; अतः उन्हींसे सुनने और सुधारनेको कहते हैं । सुन्दर चित्तसे अर्थात् प्रेमसे सुख मानकर । दुर्जनसे सुनने सुधारनेको नहीं कहते, क्योंकि वे सुनेंगे ही कब ? वे तो परिहास करेंगे, यथा—'खल करिहहिं उपहास' । उपहास करनेवाले सुधारनेमें असमर्थ होते हैं । (वि० त्रि०) । (घ) सुधारनेका अर्थ यह नहीं है कि पाठ बदल दें, क्षेपक मिला दें, अपना मत पोषण करनेके लिये प्रसंगोंको क्षेपक कहकर निकाल दें, इत्यादि । ये सब बिगाड़नेवाले हैं । यहाँ 'सुधारने' का तात्पर्य है कि दुःख दोष दूर करके निर्मल यश दें । यथा—'काल सुभाउ करम बरिआईं । भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाईं ॥ सो सुधारि हरि जन जिमि लेहीं । दलि दुख दोष बिमल जस देहीं ।' (वि० त्रि०) । (ङ) मिलान कीजिये—कीर्त्तिसंलापकाव्यके, यथा—'यन्मदीयमुखनिर्गतमेतद्वर्णनं पद-पदार्थ-विहीनं ।'

क्वापिचेद् भवति तद्बुधवृन्दैः शोधनीयमिदमत्र न दोषः ।' अर्थात् मेरे मुखसे जो वर्णन निकलता है वह यदि पद-पदार्थरहित भी होगा तो भी कुछ हानि नहीं क्योंकि पंडित लोग तो परिशोधन कर ही लेंगे।

४ रामायणपरिचर्याकार लिखते हैं कि "गोस्वामीजीने प्रथम शंकर-प्रसादका आलम्बन किया, अब यहाँ सुजन जनोंका आलम्बन करते हैं।" सूर्यप्रसादमिश्रजी भी लिखते हैं कि "यहाँ दो बातोंका निरूपण किया है। वह यह कि सुजन सावधान होकर सुनें फिर जो भूलचूक उसमें रह गयी हो उसे सुधार लें। इस प्रकार ग्रन्थकारने भीतर-बाहर दोनोंका अवलम्बन किया। भीतर शम्भुप्रसाद, बाहर सुजनप्रसाद। सुजन ही सावधान होकर सुनते हैं, दुर्जन नहीं। इसलिये सुजनोंसे ही सुधारनेकी प्रार्थना की है।"

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। वेद पुरान उदधि घन साधू ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—'भूमि'=पृथ्वी। तालाबके चारों ओर ऊँची धरती होती है जिसपरसे बरसाती जल बहकर तालाबमें जाता है, भूमिसे यहाँ उसीका तात्पर्य है। 'थल=थाल्हा=तालाबके भीतर गहराईमें जो जमीन होती है, जिसपर पानी पहुँचकर ठहरता है। यथा—'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करइ उपाई ॥ उ० ११६।'=कुण्ड—(करु०)। उदधि=समुद्र।

अर्थ—सुमति भूमि है, अगाध हृदय ही गहरा थल है। वेदपुराण समुद्र हैं और साधु मेघ हैं ॥ ३ ॥

नोट—१ कुछ महानुभाव 'भूमि-थल' को एक मानकर यों अर्थ करते हैं कि 'सुमति भूमितल है और हृदय गहराई है'।

नोट—२ जिस प्रकार यह मानस ग्रन्थकारके हृदयमें उत्पन्न हुआ सो कहते हैं। (मा० प्र०)।

☞ यहाँसे रामचरितमानसका रूपक मानससरसे बाँधकर तुल्यसावयव रूपकालंकारमें मानसका स्वरूप कहना प्रारम्भ करते हैं।

☞ 'रूपक' क्या है, यह जान लेना यहाँ आवश्यक है। पूर्णोपमालंकारमेंसे वाचक और धर्मको मिटाकर उपमेयपर ही उपमानका आरोप करे अर्थात् उपमेय और उपमानको एक ही मान लें, यही 'रूपक' अलंकार है। इसके प्रथम दो भेद—'तद्रूप' और 'अभेद' हैं। फिर प्रत्येकके तीन-तीन प्रकार 'अधिक', 'हीन' और 'सम' होते हैं। अर्थ-निर्णय, न्याय-शास्त्र और व्याकरणके अनुसार तो रूपकके यही छः भेद हैं। परंतु वर्णनप्रणालीके अनुसार इन्हीं सब रूपकोंके केवल तीन प्रकार कहे जा सकते हैं। अर्थात् १ साङ्ग, २ निरङ्ग और ३ परंपरित। इनमेंसे 'साङ्गरूपक' वह कहलाता है, जिसमें कवि उपमानके समस्त अंगोंका आरोप उपमेयमें करता है।—यहाँ साङ्गरूपक है। इसी तरह लंकाकांडमें 'विजय-रथ' का रूपक, उत्तरकांडमें 'ज्ञान-दीपक' और 'मानसरोग' का साङ्गरूपक है। 'समस्त' का आशय यह नहीं है कि जितनेभी अंग होते हैं वे सब दिये जायँ। तात्पर्य केवल इतना है कि उपमेयके जिस अंगका उल्लेख किया हो, उसके साथ उसके उपमानका भी उल्लेख किया गया हो। यदि किसी एकका उपमान देनेसे रह जाय तो वह साङ्गरूपक 'समस्त वस्तु विषयक' न होकर 'एकदेशविवर्ती रूपक' कहा जायगा। जैसे कि—"नाम पाहरू रात दिन ध्यान तुम्हार कपाट। लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहि बाट ॥ ५। ३०।" में नाम, ध्यान और लोचनका रूपक पहरू, कपाट और यंत्रसे किया गया, परन्तु प्राणका रूपक जो क़ैदीसे होना चाहिए था वह नहीं किया गया। अतः यह 'एकदेशविवर्ती साङ्गरूपक' हुआ। यदि प्राणका रूपक क़ैदीका भी उल्लेख इसमें होता तो यह भी 'समस्त वस्तु-विषयक साङ्गरूपक' हो जाता। प्रमाण यथा—"रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे। तत्परंपरितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा। २८। अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत्। ३०। समस्त वस्तु विषयमेकदेशविवर्ति च। आरोप्याणामशेषाणां शब्दत्वे प्रथमं मतम्। ३१। यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत्।... ३२।" (साहित्यदर्पण परिच्छेद १०)।

नोट—३ "सुमति भूमि" इति। जिस प्रकार भूमि चराचरकी योनि (उत्पत्तिस्थान) है, उसी भाँति

सुमतिभी गुणगणकी योनि है; इसी लिये सुमतिमें भूमिका आरोप किया। यथा—'सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी बिमल गुनगन जगजोनी॥ भरत बिबेक बराह बिसाला। अनायास उधरी तेहि काला। २। २६७।' अतः सुमति ही श्रीरामसुयश-परचारिकी धारणोपयोगी है, यथा—"रामचरित चिंतामनि चारू। संत सुमति तिय सुभग सिंगारू॥ १। ३२।' (वि० त्रि०)। पुनः, 'सुमति भूमि' का भाव कि कुमति-भूमिपर श्रीरामयशकथन (रूपी वर्षाजल) बिगड़ जाता है, जैसे गढ़े आदिमें जल पड़नेसे बिगड़ जाता है। (खर्रा)। 'सुमति भूमि' का विशेष रूपक इस प्रकार है—भूमिका उद्धार वराह भगवान्‌द्वारा हुआ, सुमतिका उद्धार शंभुप्रसादद्वारा हुआ। भूमिको हिरण्याक्षने हरण किया, सुमतिको संसारने हरा। यथा—'कहँ मति मोरि निरत संसारा'। (वि० त्रि०)। (ख)-'थल हृदय अगाधू' इति। मानससरकी भूमिको सुमति कहकर सज्जनोंके गंभीर हृदयको थल अर्थात् जलका आधार कहा। सुमति-भूमि वाला हृदय गंभीर होता ही है, यथा—'कहि न सकत कछु अति गंभीरा। प्रभु प्रभाउ जानत मति धीरा। १। ५३।' हृदयको आगे मानस कहा है, यथा—'भरेउ सुमानस सुथल थिराना। चौ० ६।' साधु वेदपुराणोंका सार लेकर इस मानसरूपी हृदयको भर देते हैं। (मा० प०)। अथवा, "रामयशकी इच्छा करनेवाली जो मेरी मति है वह मानसकी भूमि है, उसको धारण करनेवाले जो सज्जनोंके हृदय हैं वही अगाध सर हैं। गाम्भीर्य हृदयका लक्षण, यथा—"गूढाभिप्रायरूपत्वं कर्त्तव्येषु च कर्मसु। गाम्भीर्यं राम ते व्यक्तं व्यक्ताव्यक्तनिरूपकैः।" (भगवद्गुणदर्पण, मा० प०, वै०)।

शंका—"हृदय अन्तःकरणको कहते हैं। अन्तःकरण चार हैं—मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार। इस तरह हृदय और बुद्धि तो एक ही हैं और भूमि और थल दो हुए। भूमिके रूपकमें बुद्धिको कह आए तब थलके रूपकमें बुद्धिको फिर कैसे कहा ?" (मा० प्र०)।

समाधान—१ 'बुद्धि' आठ प्रकारकी है। समुद्रतटपर श्रीहनुमान्‌जीने कहा है कि अङ्गद आठों बुद्धियोंसे युक्त हैं। वाल्मी० कि० सर्ग ५४ श्लोक २ की रामाभिरामी तथा शिरोमणि टीकामें इनके नाम इस प्रकार हैं—"शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा॥ ऊहापोहार्थविज्ञानं तत्वज्ञानं च धीगुणाः॥" (इसका अर्थ ३६ (१) में आ चुका है)। इनमेंसे ग्रहणबुद्धि वह है जो सुनी हुई बातको कुछ कालतक याद रखती है, फिर भूल जाती है। और धारणाबुद्धि वह है जो सुनी हुई बातको ग्रहण करके धारणकर लेती है कि फिर भूल न जाय। यहाँ ग्रहण-बुद्धि भूमि है और धारणा बुद्धि गहरा थल है। (मा० प्र०)।

२—यहाँ 'हृदय' शब्द शुद्ध मनका उपलक्षण है, क्योंकि जिस हृदयको ऊपर सुमतिका आधार कह आए, उसीको 'सुमति' का आधेय या सुमतिका एकदेश नहीं कह सकते और आगे इसके लिये मन-शब्दका प्रयोग हुआ भी है—'भरेउ सुमानस…'। कुमति-भूमिकावाले मनमें रामयशके लिये गहराई नहीं रहती। यथा—'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं।'

नोट—४ 'वेद पुरान उदधि' इति। (क) वेद चार हैं, अठारह पुराण हैं, उतने ही उपपुराण। इनकी उपमा समुद्रसे दी गई है। सो समुद्र भी चार ही हैं, छोटे समुद्र, खाड़ियाँ पचासों होंगी। समुद्र ही जलराशि है। इसीका पानी नदी, नद, झील, तालाब, झरना, कुआँ रूपसे संसारको मिलता है। उस पानीका एक बूंद भी नष्ट नहीं हो सकता और संसारभरका पानी समुद्रमें गिरता है। विचित्र व्यापार चल रहा है। तौलकर पानी इस भूमण्डलको मिला है। वह सदा उतना ही बना रहता है। तमाम संसारका काम उसीसे चलता है, फिर भी उसमेंसे न एक बूँद अधिक हो सके न कम। पृथ्वीके भीतर, बाहर, मीठा, खारा, निर्मल, मलीन जितना जल है, सो सब समुद्रका ही जल है। इस भाँति जो कुछ ज्ञान इस संसारमें है, उसका खजाना वेद पुराण है। वेदपुराणसे ही ज्ञान संसारमें फैला है। चाहे जिस रूपसे जिस देशमें, जिस प्रकारका ज्ञान है, सबका मूल वेद-पुराण है। वेदपुराणके ज्ञानमेंसे न एक बिन्दु घट सकता है, न बढ़ सकता है। चाहे रासायनिक, चाहे

वैद्युत, चाहे इस लोकका, चाहे परलोकका, सबका मूल वेद-पुराण हैं। समुद्रसे जल लेकर संसारभरमें पहुँचाना मेघका काम है। जो जल नदनदीमें बह रहा है, जो तालाब झील और कुओंमें एकत्रित है, वह सब इन्हींका जूठा है। इसी भाँति वेदपुराणके ज्ञानको, जहाँ-तहाँ सारे संसारमें फैलाने-वाले साधु हैं। जो कुछ ज्ञान-विज्ञान संसारमें दिखाई पड़ता है, सो सब साधुओंका दिया हुआ है, और सब वेद पुराणोंसे निकला है। आकाशसे गिरता हुआ जल, पातालसे खोदकर निकाला हुआ जल, समुद्रसे ही लाया गया है, यह बात आपाततः समझमें नहीं आती, इसी भाँति यूरप अमेरिकाका आविष्कृत ज्ञानभी परंपरया वेदसे ही निकाला है, यह बातभी एकाएक मनमें नहीं आती, पर वस्तुस्थिति ऐसीही है। (वि० त्रि०)।

(ख) वेदादिको समुद्र और मेघको साधु कहनेका भाव यह है कि समुद्र एक ठौर स्थित है और उसमें अगाध जल भरा है, सबको नहीं मिल सकता, मेघ उसके जलको शुद्ध स्वरूपमें सर्वत्र पहुँचा देते हैं। इसी तरह वेद-पुराणमें सबका गम्य नहीं, साधुओंके द्वारा उसका निचोड़ (सार पदार्थ) सबको मिल जाता है, क्योंकि सन्त बिचरते रहते हैं और परोपकारी होते हैं। मेघ समस्त परोपकारियोंमें सार्वभौम सम्राट् माने जाते हैं। यथा—"शैलेयेषु शिलातलेषु च गिरेः शृङ्गेषुगर्तेषु श्रीखण्डेषु बिभीतकेषु च तथा पूर्णेषु रिक्तेषु च। स्निग्धेन ध्वनिनाऽखिलेऽपि जगती चक्रे समं वर्षतो, वन्दे वारिद सार्वभौम भवतो विश्वोपकारिव्रतम् ॥" (सु० र० भा० ५। ५६)। अर्थात् सैंधव और शिलाखण्डमें, पर्वतके शिखरों और गड्ढोंमें, चन्दनमें और भिलावेमें, परिपूर्णमें और खाली (जलरहित जगह) में इत्यादि सारे भूमण्डलमें गंभीर मधुर ध्वनिके साथ समान रूपसे वर्षा करनेवाले हे सार्वभौम (चक्रवर्त्ती राजा) मेघ ! तुम्हारे इस विश्वोपकारी व्रतकी मैं वन्दना करता हूँ।—साधुको घन कहा, क्योंकि दोनों परोपकारके साधनेवाले हैं, दोनोंकी सबोंपर समान दृष्टि रहती है। यथा—"हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी। ७। ४७।' और साधुका अर्थ भी यही है, इसीसे 'साधु' शब्द दिया। (पं० रामकुमार)।

(ग) वेदपुराणकी उपमा समुद्रसे दी है, क्योंकि वे अखिल धर्मके मूल होनेसे काम्य धर्मके भी प्रतिपादक हैं, उनमें अर्थ कामका भी यथेष्ट मात्रामें प्रतिपादन है, अतः वे सबके कामके न रह गए। साधारण श्रेणीके लोग तो काम्य धर्मको ही मुख्य मान बैठेंगे। उनमें जो त्यागकी महिमा कही गई है, उसे मुख्य न मानेंगे और यह अर्थ लगावेंगे कि यह त्याग कर्मके अनधिकारी पंगुके लिये है। परंतु सिद्धांत यह है कि 'सो सब करम धरम जरि जाऊ। जहँ न रामपदपंकज भाऊ ॥ जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं रामप्रेम परधानू ॥' काम्य धर्म-अर्थादि खारे जलके समान हैं। साधु इनको छोड़कर श्रीरामगुणयशरूपी शुद्ध धर्म निकाल लेते हैं जो सबके कामका होता है। यथा—'जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ' से 'त्रिषइन्द्र कहँ पुनि हरिगुन ग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा।' तक। (वि० त्रि०)। (घ) मा० प्र० और वै० के मतानुसार रूपक इस प्रकार है—किंपुरुषखंडमें मानससर है, श्रीरामरूप पूज्य हैं, श्रीहनुमानजी पुजारी हैं। मानससरमें भूमि, थल, थलकी अगाधता। मेघ समुद्रसे मीठा जल लेकर वर्षा करते हैं। वैसे ही क्रमशः यहाँ तुलसीतन किम्पुरुष खंड, श्रीरामरूप पूज्य, श्रीहनुमानजी पुजारी, सुमति भूमि, हृदय थल, हृदयकी गंभीरता थलकी अगाधता, साधु मेघ, वेदपुराण समुद्र, उपासना वा श्रीरामयश मीठा जल वेदपुराणोंसे निकाल-कर साधु उसकी वर्षा करते हैं। (मा० प्र०, वै०)।

शंका—'गोस्वामीजी ऐसे दिव्य तालाबका रहना अपनी बुद्धिके आश्रय कहते हैं कि जिस तड़ागमें भगवत्‌की लीला और महिमा आदि अनेक दिव्य गुण भरे हैं, जहाँ मन और वाणी नहीं पहुँच सकते ? यह क्या बात है ?' (पं० रा० कु०)

समाधान—(क) गोस्वामीजी यहाँ केवल उस पदार्थका अपने उरमें आना कहते हैं जो सन्तोंके मुखसे

सुना है। समस्त रघुपतिमहिमा तो वेदभी नहीं जानते। अथवा, (ख)—शङ्कर-प्रसादसे सुमति प्राप्त हुई है। ऐसी दिव्य बुद्धिमें सब आ सकता है, कुछ आश्चर्य नहीं है। (पं० रा० कु०)।

शंका—गोस्वामीजीकी प्रतिज्ञा है कि शिवकृत रामचरितमानसको हम भाषामें करते हैं किंतु यहाँ 'बेद पुरान उदधि घन साधू०' कहनेसे पाया जाता है कि सन्तोंसे वेद-पुराण सुनकर रामचरित कहते हैं। और पूर्व कह आये हैं कि 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। सोइ मगु चलत सुगम मोहि भाई॥'—यह सब कैसे बने? (पं० रा० कु०)

समाधान—(१) ग्रन्थकार शिव-मानसकी कथामात्र कहते हैं, यथा—'कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। बा० ३५।', और सब विचित्रता और अनेक प्रसङ्ग जो कहे हैं, वे सब वेद-पुराणों और मुनियोंके ग्रन्थोंके हैं। अथवा, (२) जिस तरह वर्षा होती है उसी तरह कहते हैं। जल प्रथम सूर्यकिरणोंद्वारा सूर्यमण्डलमें जाता है, फिर क्रमसे चन्द्रमण्डल, वायुमण्डल और मेघमण्डलमें होता हुआ भूमण्डलमें आता है।१।७ (१२) देखिये। इसी तरह रामयश प्रथम वेद-पुराणसे शिवजीके उरमें आया, यथा—'बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि। १।१०९।' क्रमशः भुशुण्डिजी, याज्ञवल्क्यजी, श्रीगुरुमहाराज और तत्पश्चात् अनेक सज्जनोंके उरमें आया। श्रीगुरुजीके द्वारा गोस्वामीजीकी मेधामें आया। गुरुको साधु कहा है, यथा—'परम साधु परमारथ बिंदक। संभु उपासक नहिं हरि निंदक।७।१०५।' (पं० रा० कु०)।

(३) "सुने गुरु ते बीच शर संत बीच मन जान। प्रगट सतहत्तर परे ताते कहे चिरान।" (मा० म०)। अर्थात् पाँच वर्षके लगभग गुरुसे कई आवृत्ति पढ़ीं और फिर संतोंसे लगभग 'मन' (=४०) वर्ष तक सुना। सतहत्तर वर्षकी अवस्था होनेके पश्चात् मानस-कथा प्रकाशित हुई। इससे यह भाव निकला कि संतोंसे जो सुना वह वेदपुराणादि समुद्रसे निकला हुआ श्रीरामयश जल है जो शिवदत्त मानस-जलमें आकर मिला। (मा० म०)।

बरषहिं रामसुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥ ४॥

अर्थ—(साधुरूपी मेघ) राम-सुयशरूपी उत्तम मीठे, मनोहर और मङ्गलकारी जलकी वर्षा करते हैं॥ ४॥

नोट—१ जैसे मेघ समुद्रसे जल खींचकर पृथ्वीपर बरसते हैं जो पृथ्वीपर बहता हुआ मानससरके गहरे थलमें जाकर जमा होता है, वैसेही साधु वेदों-पुराणोंमेंसे राम-सुयश निकालकर सुमतिवान्को सुनाते हैं जो उसे हृदयमें धारण कर लेते हैं।

२ 'बरषहिं' इति। समुद्रका जल तटवासियोंको ही सुलभ है, सबको नहीं, कितने ही लोग ऐसे हैं जिन्हें जन्मभर समुद्रका दर्शन भी नहीं हुआ। इसी भाँति अधिकारीका ही वेद पुराणमें प्रवेश है, शेष जगत्‌ने तो वेद-पुराणका नाम-मात्र सुन रक्खा है, और मेघ तो ऐसी वर्षा करते हैं कि प्रान्तका प्रान्त जलमय हो जाता है, इसी तरह साधुलोग रामसुयशकी ऐसी वर्षा करते हैं कि देश-देश यशसे प्लावित हो उठता है, इसीसे उन्हें 'जंगम तीर्थराज' कहा गया है। ये 'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा' होनेसे सर्वोपकारी होते हैं। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—"सुन्दर यश है इसीसे 'बर' बारि कहा। समुद्रमें खारा जल है, वेद-पुराणमें रामयश मधुर जल है। कर्म, उपासना और ज्ञान सब श्रीरामजीहीके यश हैं। 'मधुर मनोहर मंगलकारी' अर्थात् पीनेमें मधुर है, देखनेमें मनोहर है और इसमें मङ्गलकारी गुण हैं। जलका रोगहारी पुष्टिकारी इत्यादि होना मङ्गलकारी गुण है"; मनोहर=स्वच्छ।

मानस-पत्रिका—"जैसे मेघ जलको वर्षाकालका समय पाकर बरसता है वैसेही सज्जन लोग राम-सुयश अर्थात् सगुण, निर्गुण दोनोंके यशका सत्संग पाकर फैलाते हैं। यहाँ ग्रन्थकारने यह विशेष दिखाया है कि

मानसरोवरका जल मेघोंके मुखसे गिरा, भूमिमें पड़ा, तदनन्तर सब गन्दी वस्तुओंसे मिला-जुला आता है, यहाँ तो यह बात नहीं है। 'मधुर-स्वादु' अर्थात् पीनेमें मानसरोवरका जल मीठा एवं सुननेमें रामकथा माधुर्य आदि गुणविशिष्ट। मनोहर=सोहावन। कथापक्षमें, 'मनोहर'=श्रवणकटु आदि दोषरहित। मंगलकारी=पाप-नाशक, आयुवर्द्धक। कथापक्षमें 'मंगलकारी'=जीवनको सफल करनेवाली।

शुकदेवलालजी—रामसुयशका सुनना, समझना और उससे लोक परलोक बनना यही जलका पीनेमें मधुर, देखनेमें मनोहर और रोगहारक बलप्रद इत्यादि होना है।

वि० त्रिपाठीजी—मधुर आदि कहकर समुद्रके जलको खारा, भयंकर और दोषयुक्त जनाया। खारा, यथा—'लीलहिं लाँघउँ जलनिधि खारा'। भयंकर, यथा—'संकुल मकर उरग झख जाती। अति अगाध दुस्तर सब भाँती'। दोषयुक्त, यथा—'तव रिपुनारि रुदन जल-धारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा॥' कुछ विशेष अवसरोंके व्यतिरिक्त समुद्रका जलस्पर्श निषिद्ध है। इसी तरह वेदपुराणसे सद्यः प्राप्त ज्ञान भी खारा, भयानक और दोषयुक्तसा होता है। उदाहरण, यथा—'प्रौढ़ भए मोहि पिता पढ़ावा। समुझौं सुनौं गुनौं नहिं भावा' (यह खारासा हुआ); 'मेघनाद मख करै अपावन।···आहुति देत रुधिर अरु भैंसा।' (यह भयानक सा है); और 'श्रुति पुरान बहु कहे उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।' (यह दोषयुक्त सा है)। पर यही वेद-पुराणका ज्ञान साधुमुखच्युत होनेसे मधुर, मनोहर, मंगलकारी हो जाता है। यथा—'श्रवनवंत अस को जग माहीं। जिन्हहिं न रघुपति कथा सुहाहीं' (यह मधुरता), 'सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर।' (यह मनोहरता) और 'मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की' (यह मंगलकारित्वगुण है)।

नोट—३ 'मधुर मनोहर मंगलकारी' गुण जो यहाँ कहे हैं वे पृथ्वीपर पड़नेके पहिले जलमें होते हैं। भूमिपर पड़नेसे जलमें ये गुण नहीं रह जाते।

पं० रामकुमारजीः—"'वेद-पुराण श्रीरामजीके यश गाते हैं,' यथा—'बंदउँ चारिउ वेद, भवसागर बोहित सरिस। जिन्हहिं न सपनेहु खेद, बरनत रघुबर बिसद जस।१।१४।', 'जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं। उ० १३।' वेद सब कुछ कहते हैं। (रहा उनका सिद्धान्त सो रामयशही है; यथा—'बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि। बरनहु रघुबर बिसद जसु श्रुति सिद्धांत निचोरि। १। १०९।'"

नोट—४ मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि इस चौपाईमें ध्वनि यह है कि "गुसाईंजीकी अगाध बुद्धिके अभ्यन्तर पहिलेही यशरूपी जल भरा हुआ था और वेद-पुराणादि सिन्धुसे संतरूपी मेघद्वारा यशको पाकर परिपूर्ण हुआ जो आगे कहा है।"

श्रीकरुणासिन्धुजी लिखते हैं कि रामसुयशको 'मधुर मनोहर मंगलकारी' कहकर सूचित किया कि वेद-पुराणरूपी समुद्रका साधारण जल खारा है, देखनेमें अच्छा नहीं और उसके पी लेनेसे रोग पैदा हो जाते हैं।

शङ्काः—समुद्रका जल तो खारा होता है, वेद-पुराणमें खारापन कहाँ है?

समाधान—श्रीकरुणासिन्धुजी तथा श्रीजानकीदासजी इसका उत्तर यों देते हैं कि—"वेदमें कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड तीनों मिले हुए हैं। इनमेंसे उपासनाकाण्ड मीठा जल है और कर्मकाण्ड खारा जल है।" समुद्रका जल ऊपरसे देखनेसे खारा ही जान पड़ता है। जो भेदी हैं वे उसमेंसे भी मीठा जल भाप-द्वारा निकाल लेते हैं। यदि उसमें मीठा जल मिला न होता तो उसमेंसे ऐसा जल कैसे निकलता? मेघ सूर्यकिरणोंकी सहायतासे मीठा जल खींच लेते हैं, सबमें यह शक्ति नहीं होती। वैसेही वेदों-पुराणोंमेंसे सन्तलोग अपने शुद्ध बोधसे मनन-निदिध्यासन करके श्रीरामसुयश निकाल लेते हैं। जो ऊपरसे देखनेवाले हैं उनको केवल कर्मरूपी खारा ही जल हाथ लगता है। [जो कर्म और ज्ञान भगवद्-सम्बन्धी हैं वे उपासनाहीके **अङ्ग हैं,**

से खारी नहीं हैं; यथा—'सो सुखु कर्म धर्म जरि जाऊ। जहँ न रामपदपंकज भाऊ॥ जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं रामप्रेम परधानू॥ अ० २९१।']

श्रीजानकीशरणजीभी श्रीकरुणासिंधुजी तथा श्रीजानकीदासजीसे सहमत नहीं हैं। वे लिखते हैं कि कर्मकांड रामयशसे पृथक् किसी प्रसंगमें नहीं है। देखिए संतसमाज प्रयागमें प्रथम ही कर्मरूपी यमुना हैं। भरद्वाजजी कर्मकांडी हैं, उन्होंनेभी संतसभामें कर्म वर्णन किये हैं। यथा—"भगति निरूपन करम (?) बिधि बरनहिं तत्त्व बिभाग"। श्रीलखनलालजीका कथन निषादराजप्रति, यथा—'निज कृत करम भोग सब भ्राता'। पुनः संयम, नियम, जप तप, योग-विरागादि ये सब जलचर चारु तड़ागमें वर्णित हैं और संतसभारूपी अमराईमें फूल-फल वर्णन होगा। अतएव कर्मको खारापन कहना परम असंभव है।" उनका मत है कि "समुद्रजल खारी और अमंगल है। अर्थात् पीनेमें स्वादहीन और रोगकारक है, धान आदि कृषिमें पड़े तो नोनासे कृषि बरबाद हो जाय; तथा रंगतमें निकम्मा है, यही अमनोहरता है। इसी तरह वेदपुराणोंमें प्राकृत राजाओंकी कथा और पापियोंके उद्धार होनेकी कथा रामयशके साथ मिश्रित होनेसे रामयशजलमें मधुरता नहीं रहती—यही जलका खारापन है। रामचरित्र दो प्रकारका है, एक मर्यादा दूसरा लीला। वेदपुराणादिमें लीलाचरित्र विशेष करके कथन किया गया है; वह लीलायश परत्वभी प्राकृत राजाओंके तुल्य जहाँ-तहाँ है—यह वेदपुराणवर्ती रामयशका मटियाला रंग है। यह लीला देख-सुनके सुकृतरूपी शालि सूखता है, इससे अमंगलकारी है।··· मेघजलमें सब गुण आजाते हैं। वैसेही वेदपुराणके यथार्थतत्वको नहीं जाननसे उससे लाभके बदले हानि होती है। जब संत, गुरु (रूपी मेघ) बोध कराते हैं तब उससे वास्तविक बोध लाभ होता है।" जब साधुरूपी मेघ श्रीरामयशरूपी जलको खींचकर अपने उदरमें रखते तब रामयशकी तीन उत्तम गतियाँ हो जाती हैं—"मधुर मनोहर और मंगलकारी।"

श्रीपं० रामकुमारजीका मत है कि—पृथ्वीके योगसे वर्षाजल अपावन और मलिन हो जाता है, परन्तु यहाँ तो श्रीशंकरजीके प्रसादसे मिली हुई "सुमति" भूमि है इस लिये यहाँ वह बात नहीं है। यहाँ उपमाका एक देश लिया गया है। सु० द्विवेदी एवं सू० प्र० मिश्रकाभी यही मत है। विशेष चौ० ३ के नोट ४ (ग) में वि० त्रि० जीके भाव देखिए।

प्रश्न—वर्षाके पहिले गर्मी होती है, हवा रुक जाती है। यहाँ वह गर्मी क्या है?

उत्तर—रामगुणकथनके पूर्व आह्लाद और उत्साह होता है। यही गर्मी है। प्रेममें मग्न होना वायुका रुकना है, यथा—"परमानंद अमित सुख पावा॥ मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह। रघुपतिचरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह। १। १११।', 'हिय हरषे कामारि तब···। १।१२०।', 'भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहइ रघुपति गुनगाहा॥ उ० ६३।' इत्यादि।

शार्ङ्गधरके "गुणायन्ते दोषाः सुजनवदने दुर्जनमुखे। गुणा दोषायन्ते तदिदमपिनो विस्मयपदम्॥ महामेघः क्षारं पिबति कुरुते वारि मधुरम्। फणी क्षीरं पीत्वा वमति गरलं दुःसहतरम्॥" इस श्लोकके अनुसार भाव यह होता है कि जैसे मेघ खारे जलको पीकर उसे मधुर बना देते हैं और सर्प दूधभी पीकर अत्यन्त दुःसह विषही उगलता है, वैसेही सज्जन दोषोंमेंसे गुण निकाल कर दे देते हैं, और दुर्जन गुणोंमें भी दोषही दिखाते हैं। (संस्कृत खर्रा)।

नोट—५ चौपाई ३ और ४ का अन्वय एक साथ यों किया जाता है—'वेद-पुराण अगाध उदधि, साधु घन, मधुर मनोहर मंगलकारी रामचरित बर बारि, सुमति भूमि, थल हृदय बरषहिं'॥

अर्थ—वेद-पुराण अगाध समुद्रसे ग्रहणकर साधुरूपी मेघ जो मधुर मनोहर मंगलकारी रामचरितरूप उत्तम जल मेधारूपिणी भूमिका और हृदयरूपी आशयमें बरसाते हैं।

लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करै मलहानी॥ ५॥
प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई॥ ६॥

शब्दार्थ—स्वच्छता=निर्मलता। मल=मैल। करै मलहानी=मैलको दूर करती है। प्रेमभगति=प्रेमलक्षणा भक्ति, वह भक्ति जो बड़े प्रेमसे की जाय।

अर्थ—सगुण लीला जो विस्तारसे कहते हैं वही (रामसुयश जलकी) निर्मलता है जो मलको दूर करती है।५। प्रेमाभक्ति जिसका वर्णन नहीं हो सकता वह इसका मीठापन और सुशीतलता गुण है।६।

नोट—१ श्रीत्रिपाठीजी लिखते हैं कि—(क) सगुण लीला कहनेसे ही अर्थापत्ति होती है कि निर्गुण लीला भी है। वस्तुतः निर्गुण-सगुणमें कोई भेद नहीं है। शुद्ध ब्रह्मको निर्गुण और मायाशबल ब्रह्मको सगुण कहते हैं—[यह अद्वैत मत है। इस मतसे ब्रह्म गुणरहित माना जाता है और यावत् गुण हैं वे सब मायाके हैं, परंतु माया स्वयं जड़ है, वह चेतन ब्रह्मके आश्रयसे सब कार्य करती है, अतः परमाश्रय होनेसे उस ब्रह्मपर सगुणत्वका आरोप किया जाता है। और, विशिष्टाद्वैतमतमें ब्रह्म दिव्य गुणोंसे युक्त माना जाता है, अतः उसकी लीला होना ठीक ही है। गोस्वामीजीके मतानुसार श्रीरघुवंशभूषण 'राम' शुद्ध सच्चिदानंद ब्रह्म हैं, यथा—'सुद्धसच्चिदानंदमय कंद भानुकुलकेतु। चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु। २। ८७।' वे मायाशबल ब्रह्म नहीं हैं. यथा—'अबिगत गोतीतं चरित पुनीतं माया रहित मुकुंदा। १। १८६।', 'व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेमभगति बस कौसल्या के गोद। १९८।' इत्यादि। वे ही निर्गुण हैं वे ही सगुण हैं और दोनोंसे परे अनुपम हैं, यथा—'अगुन सगुन गुनमंदिर सुंदर। ६। ११४ छंद।', 'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूपसिरोमने।' इत्यादि। गोस्वामीजी निर्गुण और सगुणमें किंचित् भी भेद नहीं मानते, यथा 'सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥ अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥··· ११६।१-२', 'जिन्हके अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका।' उन्होंने निर्गुण और सगुणकी व्याख्या यह की है—'एक दारुगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू। १। २३४।'] सगुण ब्रह्मके भी सामान्यतः दो भेद माने जाते हैं,एक विश्वरूप दूसरा लीला विग्रह जो इच्छामय होनेसे विश्वरूपकी अपेक्षा सूक्ष्म है। ब्रह्म सदा आप्तकाम है, चाहे वह निर्गुणरूप हो, चाहे सगुणरूप हो। उसे किसी प्रकारका कोई प्रयोजन नहीं है, फिर भी दोनों रूपोंकी लीलाएँ होती हैं, निर्गुण ब्रह्म निरीह निष्क्रिय है पर उसके सन्निधानसे जड़ मायामें क्रिया उत्पन्न होती है और संसारका व्यापार चल पड़ता है, यही उसकी लीला है, सगुण ब्रह्मकी लीला दूसरे प्रकारकी है। जब जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है तब-तब साधुओंकी रक्षा, और दुष्टोंके विनाशके लिये प्रभु अवतीर्ण हो लीला करते हैं। यथा—'जब-जब होइ धरम कै हानी।···' इत्यादि। जो भुशुण्डिजीने 'प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। ७। ६४। ७।' से 'पुरबरनन नृप नीति अनेका।७।६८।६।' तक ८४ प्रसंगोंमें कहा है वही सब कथा सगुण लीला है। ८४ लक्षयोनियोंसे छुड़ानेवाली है। (ख) 'जो कहहि बखानी' इति। भाव यह कि निर्गुण लीला बखानकर नहीं कहते, क्योंकि उसीसे संसार फैला हुआ है। कितना भी अध्यारोप किया जाय पर अंतमें उसका अपवाद ही करना है, अतः उसके विस्तारसे कोई प्रयोजन नहीं है। पर सगुण लीला विस्तारसे कही जाती है कि उसके गानसे लोग भवसागरके पार चले जायँ। तापनीय श्रुतिमें कहा है कि श्रीरामजी अपने चरितके द्वारा धर्म नामके द्वारा ज्ञान, ध्यानद्वारा वैराग्य और पूजनद्वारा ऐश्वर्य देते हैं। लीलावर्णनमें नाम चरित्र ध्यान और पूजन सभी आजाते हैं और कर्म, उपासना, ज्ञान इन तीनों कांडोंका फल सुलभ हो जाता है। अतः सगुण लीलाका वर्णन विस्तारसे करना ही प्राप्त है। (ग) 'सोइ स्वच्छता' इति। भगवान्के जन्म, कर्म दिव्य हैं, उनका शरीर भी भौतिक नहीं, उनके कर्म भी अलौकिक हैं

और उनमें वह लिप्त नहीं होते। वे जो कुछ करते हैं, अभिनयकी भाँति करते हैं—"जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव दिखावै आपुन होइ न सोइ।"—जिस कथामें ऐसे दिव्य कर्मका निरूपण हो उसे दिव्य न कहना ही अनुचित है और जो दिव्य है वही स्वच्छ है, मनोहर है। जीव अविद्याके वश हो कर्म-फल-भोगके लिये जन्म पाता है और जन्म लेकर फिर कर्म करता है, जो उसके अनागत जन्मका कारण होता है, इसी भाँति कर्मजालमें फँसा हुआ वह दुःख पाता है। भगवान्‌का कर्म, विपाक (फल) और आशय (संस्कार) से कोई सम्पर्क नहीं रहता, यथा—'कर्म सुभासुभ तुम्हहि न बाधा। १। १३७।' भगवान् स्वतंत्र हैं। वे जो कुछ करते हैं लोकोपकारार्थ करते हैं। रामयशजलमें सगुणलीलाका बखान है। जलकी शोभा निर्मल (स्वच्छ) होनेमें ही है, इसी भाँति रामयशकी शोभा सगुणलीलाके बखानमें है।

२—बैजनाथजी 'लीला सगुन' का अर्थ करते हैं—"गुण सहित लीला" अर्थात् कृपा, दया, उदारता, सुशीलता और माधुरी आदि जो परम दिव्य गुण हैं उनको प्रकट कर जो लीला की है वह "सगुण लीला" है। जैसे अहल्योद्धारमें उदारता, धनुर्भंगमें बल, परशुरामगर्वहरणमें प्रताप, पुरवासियोंमें माधुर्य, निषादसे उदारता और सुशीलता, कोल-भीलासे सौलभ्य, गृध्रराज और शबरीजीसे अनुकम्पा, सुग्रीव-विभीषणसे शरणपालता और करुणा, एवं राक्षसोंसे युद्धमें शौर्य वीरता इत्यादि गुणोंसहित जो लीला विस्तारसे कहते हैं यह 'स्वच्छता' है। उज्वलताके छः अंग हैं। "औज्वल्य जैसे चन्द्रमामें, नैर्मल्य जैसे शरद्‌में आकाश, स्वच्छत्व जैसे स्फटिक, शुद्धता जैसे गंगाजल, सुखमा और दीप्ति जैसे सूर्य्य। उदारता आदि गुणों सहित जो लीलाका वर्णन है वह उज्वलताके छः अंगोंमेंसे स्फटिकमणिवत् स्वच्छता गुण है।"

३ (क) 'करै मलहानी' इति। स्वच्छ जल ही मलको दूर कर सकता है, नहीं तो 'छूटइ मल कि मलहि के धोएँ। ७। ४९।' जब वर्षा होती है तब संसारका मल दूर हो जाता है। पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी सब धुल जाते हैं। इसी भांति जब श्रीरामयशकी वर्षा होती है तब सगुणलीला के बखानसे अभ्यन्तर मल दूर हो जाता है। इस बातको सभी श्रोताओंने स्वीकार किया है। यथा—'गयउ मोर संदेह सुनेउँ सकल रघुपति चरित। ७। ६८।' (गरुड़जी). तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह। ७। ५२।' (पार्वतीजी), 'जैसे मिटइ मोह भ्रम भारी। कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी। १। ४७।' (भरद्वाजजी)। गोस्वामीजीने भी वही फल कहा है। यथा—'रघुबंसभूषन-चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं। ७। १३०।' (वि० त्रि०)। (ख) 'स्वच्छता' के साथ 'करै मल हानी' पद देकर सूचित किया कि ऊपर जो 'मनोहरता' कही थी, वही 'स्वच्छता' है। सगुण लीलाके बखानको 'स्वच्छता' कहा, क्योंकि अवतार लेकर जो लीला प्रभुने की, उसके सुननेसे मनका विकार दूर हो जाता है, मन निर्मल हो जाता है।

मानस पत्रिका—जल और लीला दोनोंसे शारीरिक शुद्धि होती है, जलसे बाहरकी और चरितसे भीतरकी (अर्थात् मन की) शुद्धि होती है। दूसरा भाव यह है कि वह सगुण-लीला बखान करूँगा जिसमें निर्गुण ब्रह्मके भाव प्रति लीलामें प्रत्यक्षरूपसे दिखलाई पड़ेंगे।

४ "करै मल हानी" इति। यह मल क्या है? जलके संबंधसे मल शरीरका मैल है जो स्वच्छ जलसे दूर हो जाता है। वर्षा और भूमिके संबंधसे पृथ्वीपर जल पड़ते ही भूमिकी रज आदि जो उस जलमें मिलकर जलको गंदा कर देते हैं वही जलका मल है। श्रीरामसुयशसंबंधमें मोहसे उत्पन्न जो हृदयकी विस्मृति, भ्रम, संशय विपर्यासना कामक्रोध लोभादि विकार हैं वे ही मल हैं। यथा—'मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। नयन मलिन परनारि निरखि, मन मलिन बिषय संग लागे। हृदय मलिन बासना मान मद, जीव सहज सुख त्यागे॥ परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भे, बचन दोष-पर गाये। सब प्रकार मल भार लाग, निज नाथ चरन बिसराये॥ विनय ८२।' इस ग्रन्थमें श्रीभरद्वाजजी, श्रीपार्वतीजी और श्रीगरुड़जीके संदेह, मोह और भ्रमकी

निवृत्ति सगुण चरित द्वारा दिखाई गई है। श्रीरामचरित समस्त मलके हरनेवाले हैं, यथा—'निज संदेह मोह भ्रम हरनी। करौं कथा···। १ । ३१ ।', 'काम कोहि कलिमल करिगन के। केहरि सावक जन मन बन के। १ । ३२ ।', 'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं। कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामाधाम सिधावहीं। ७ । १३० ।' इत्यादि।—सगुण लीलाके श्रवणसे भगवान्के गुणोंका प्रभाव श्रोताओंके हृदयपर पड़ता है जिससे उनके हृदयका सूक्ष्म (अभ्यन्तर) मल नष्ट हो जाता है।

मा० प्र० कार लिखते हैं कि "जब यह कहा गया कि श्रीरामजी बड़े उदार, शीलवान्, वाग्मी, धैर्यवान्, दीनदयालु, गरीबनिवाज, पतितपावन इत्यादि हैं, ऐसा वेद-पुराण कहते हैं' तब मनमें यह मैल रह गया कि 'कौन जाने ये गुण हैं कि नहीं ?' जब उक्त गुणोंको रघुनाथजीके अवतारके साथ लीलामें दर्शाया गया तब मनका वह सन्देह (तथा जो मोहजनित मल हृदयमें लगा है वह) दूर हो जाता है, और प्रभुमें प्रेम और दृढ़ विश्वास हो जाता है कि प्रभु हमारी रक्षा अवश्य करेंगे। यथा—'प्रभु तरुतर कपि डार पर ते किय आपु समान। तुलसी कहूं न राम से साहिब सीलनिधान। १ । २९ ।', 'रहति न प्रभुचित चूक किये की।···जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥ इत्यादि। १ । २९ ।', 'गौतम नारि श्रापबस···' से 'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारनरहित कृपाल' तक।१। २११।' 'रघुपति प्रजा प्रेम बस देखी। सदय हृदय दुखु भयउ बिसेषी॥ करुनामय रघुनाथ गुसाईं। बेगि पाइअहि पीर पराई॥···सीलु सनेह छाँड़ि नहिं जाई। ···। २ । ८५ ।', 'बेदबचन मुनिमन अगम ते प्रभु करुनाऐन। बचन किरातन्ह के सुनत जिमि पितु बालक बैन॥ रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेहु जो जाननि हारा॥···२ । १३६ ।', 'कंदमूल फल सुरस अति दिये राम कहुँ आनि। प्रेम सहित प्रभु खाये बारंबार बखानि। ··· जाति हीन अघ जनम महि मुकुति कीन्हि असि नारि। आ० ३४, ३६।', "भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा॥ करउं सदा तिन्ह कै रखवारी।···कहहु कवन प्रभु कै असि रीती। सेवक पर ममता अरु प्रीती। आ० ४३-४५।' "कीन्ह राम मोहि बिगत बिमोहा।···भगतबछलता प्रभु कै देखी। उपजी मन उर प्रीति बिसेषी॥ ७ । ८३ ।' इत्यादि रीतिसे सगुणयशका वर्णन होनेसे हृदय निर्मल हो जाता है। श्रीराम-यशमें प्रेम होता है। यही 'रामयशका' मनोहरता गुण है।

मा० मा० का मत है कि श्रीरामयशमें जो व्याख्या होती है उसका यथार्थ बोध न होना 'मल' है।

☞सगुण लीलाका व्यवहार जगत्में घर-घरमें है—पुत्रजन्म, यज्ञोपवीत और विवाह आदि घर-घर होते ही रहते हैं। सबोंके हृदयोंमें इस लीला व्यवहारकी रास्ता बनी हुई है, अतएव सुनते ही वह हृदयमें प्रवेश कर जाती है। और, यह नित्य लीला है, भगवान्का यश है, अतः इसके श्रवणसे मलका नाश होता है।

५ अब यह प्रश्न उठता है कि 'राम सुयश' और 'सगुणलीला' तो दोनों एक ही बातें जान पड़ती हैं तब दो बार क्यों कहा ? उत्तर यह है कि रामसुयशमें सगुण लीला सम्मिलित है पर केवल सगुणलीला ही रामसुयश नहीं है। 'रामसुयश' में निर्गुण-सगुण दोनों ही लीलाएँ मिश्रित हैं, फिर उसमें प्रेमभक्ति भी है। इनमेंसे केवल 'सगुण लीला' का कथन 'स्वच्छता' है।

"प्रेमभगति जो बरनि न जाई।···" इति।

१—ऊपर वर्षाजलमें 'मधुरता, मनोहरता और मंगलकारित्व' ये तीन गुण कहे हैं। अब यहाँ बतलाते हैं कि 'श्रीरामसुयश बर बारि' में ये गुण क्या हैं। स्वच्छता (मनोहरता) सगुण-लीलाका बखानकर कहना है, यह पिछले चरणोंमें बताया। वर्षाजल मीठा (स्वादिष्ट) होता है और वैद्यकमें उसे वात-पित्त-कफके लिये बहुत गुणदायक कहा है। यहाँ (श्रीसुयशके) प्रेमाभक्तिमें ये दोनों गुण हैं। जैसे बहुत मीठा खानेसे मुहँ बँध जाता है, वैसे ही प्रेमाभक्तिमें मुखसे बचन नहीं निकलता। यही 'मधुरता' है। नारदभक्तिसूत्रमें भी कहा है— "अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः। सा कस्मै परम प्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान सिद्धो भवति

तृप्तो भवति । यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमन्ते नोत्साही भवति ।', 'ॐ अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम्' । (मा० प्र०, वै०, मा० मा०) । प्रेमाभक्तिमें देहकी सुध-बुध नहीं रह जाती, कंठ गद्गद हो जाता है, मुखसे वचन नहीं निकलता, रोमाञ्च होता है । प्रेमी भक्त कभी खड़ा हो जाता है, कभी बैठ जाता है, कभी रोता है, कभी हँसता है, कभी गाता है, कभी स्वरूपाकार वृत्तिको प्राप्त हो जाता है, इत्यादि ४१ दशायें प्रेमलक्षणा-भक्तिमें होती हैं । (भक्तमालकी भगवान् श्रीरूपकलाजीकृत 'भक्ति सुधाबिन्दु' टीकामें देखिये) । सुतीक्ष्णजी, शबरीजी, श्रीहनुमान्‌जी, श्रीभरतजी, श्रीसनकादि ऋषि एवं श्रीसीताजीकी दशायें इसके उदाहरण हैं । यथा क्रमसे (१) सुतीक्ष्णजीकी दशा—'निर्भर प्रेम मगन मुनि ज्ञानी । ···अबिरल प्रेमभगति मुनि पाई । ···मानहु चित्र माँझ लिखि काढ़ा । ३ । १० ।' (२) शबरीजीकी दशा—'सबरी परी चरन लपटाई ॥ प्रेम मगन मुख बचन न आवा । ३ । ३४ ।' (३) हनुमान्‌जीकी दशा—'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना । सो सुख उमा जाइ नहिं बरना ॥ पुलकित तन मुख आव न बचना ॥ देखत रुचिर बेष कै रचना ॥ ४ । २ ।' (४) भरतजीकी दशा—'परे भूमि नहिं उठत उठाये ।···बूझत कृपानिधि कुसल भरतहिं बचन बेगि न आवई । सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई । ७ । ५ ।' (५) सनकादि ऋषियोंकी दशा—'मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी । भये मगन मन सके न रोकी ॥', 'एकटक रहे निमेष न लावहिं । स्रवत नयन जल पुलक सरीरा ।··· । उ० । ३३ ।' (६) स्वामिनी श्रीसीताजीकी दशा—'अधिक सनेह देह भइ भोरी । सरद ससिहि जनु चितव चकोरी । १ । २३२ ।' इत्यादि । ऊपर जो मंगलकारित्व गुण कहा था उसीको यहाँ 'सुशीतलताई' कहा है । क्योंकि प्रेमाभक्ति की दशामें सुख ही सुख होता है; प्रेमके आँसू हृदयको शीतल और शान्त कर देते हैं, 'त्रिबिध ताप भवदाप' नाशको प्राप्त होते हैं और कामक्रोधादि रोग दूर होते हैं । (मा० प्र०) । त्रिपाठीजीके मतानुसार इस अर्धालीमें माधुर्य कहा, मंगलकारित्व गुण आगे 'सो जल सुकृत सालि हित होई'···में कहेंगे ।

२ कोईकोई टीकाकार 'प्रेम और भक्ति' ऐसा अर्थ 'प्रेमभगति' का करते हैं । परन्तु ऐसा करनेसे आगे पुनरुक्ति होती है । क्योंकि आगे भक्तिको लता कहेंगे, यथा—"भगति निरूपन बिबिध बिधाना । छमा दया द्रुम लता बिताना ॥ १ । ३७ । १३ ।' दूसरा दोष यह आवेगा कि यहाँ "जो बरनि न जाई" यह विशेषण प्रेमभक्तिका ही यथार्थ हो सकता है, केवल भक्तिके लिये ये विशेषण नहीं दिये जा सकते । क्योंकि भक्तिका वर्णन इसी ग्रन्थमें कई ठौर किया गया है ।

प्रेम-भक्ति (जिसे प्रेमलक्षणा-भक्ति भी कहते हैं) कही नहीं जा सकती । जैसे गूँगेका गुड़, वह स्वाद तो पाता है पर कह नहीं सकता । प्रेम-भक्तिमें जो ऊपरकी दशा होती है वही थोड़ी बहुत भले ही कही जा सके । यथा—"सुनु सिवा सो सुख बचन मन ते भिन्न जान जो पावई । उ० ५ ।", "कहि न जाइ सो दसा भवानी । आ० १० । १० ।' कारण कि भक्त प्रेमविभोर हो जानेसे उसके मनकी संकल्पविकल्प आदि गति रुक जाती है, उसे तो मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारका विस्मरण हो जाता है । यथा—'कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा । प्रेम भरा मन निज गति छूछा । २ । २४२ ।', 'परमपेम पूरन दोउ भाई । मन बुधि चित अहमिति बिसराई ॥ कहहु सुपेम प्रगट को करई ।२। २४१। जहाँ जहाँ प्रेमदशाके वर्णनमें कविने असमर्थता दिखाई है वहाँ प्रेमभक्तिका आविर्भाव समझना चाहिये; जैसे कि अयोध्याकांडमें तापसप्रसंगमें "सजल नयन तन पुलकि निज इष्टदेउ पहिचानि । परेउ दंड जिमि धरनि तल दसा न जाइ बखानि ॥ २ । ११० ।' अरण्यकांडमें सुतीक्ष्ण-प्रसंगमें 'हे बिधि दीनबंधु रघुराया । ३ । १० । ३ ।' से 'प्रेम मगन मुनिवर बड़भागी' तक जो प्रेमका वर्णन है उसके संबंधमें शिवजी कहते हैं 'कहि न जाइ सो दसा भवानी' । इसी तरह श्रीभरतजी और श्रीहनुमान्‌जी आदिके प्रेम-भक्तिकी दशाएँ वर्णन न की जा सकीं । पुलकावली होना, नेत्रोंसे प्रेमाश्रुका प्रवाह चलना, गद्गद होना

इत्यादि प्रेमभक्ति की दशाएँ मात्र हैं। इन दशाओंको आगे रूपकमें कहा है, यथा—"पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहारु। माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु॥ ३७।'

१ पं० रामकुारजी लिखते हैं कि 'प्रेम-भक्ति' में प्रेम और भक्ति दोनों परिपूर्ण हैं। जैसे जलमें मधुरता और शीतलता रहती है वैसे ही श्रीरामजीके सब यशमें प्रेमभक्ति है। सब रामायणभरके प्रसंग प्रेमभक्तिसे भरे हैं। पृथक्से कहना चाहें तो कहते नहीं बनता। इसीसे 'बरनि न जाई' पद दिया। रामायण-भरके प्रसंग प्रेमभक्तिसे भरे हैं, इसको त्रिपाठीजीने विस्तारसे दिखाया है।

त्रिपाठीजी—रामभक्तिके आनंदमें लीन रहना और किसी प्रकारकी कामना न रखना ही 'प्रेमाभक्ति' कहलाती है। साधक-भेदसे इस भक्तिके चौदह भेद ग्रंथकारने माने हैं। भक्ति, भक्त और भगवान्‌का निरपेक्ष निरूपण नहीं हो सकता। अतः भगवद्यशमें भक्ति और भक्तका वर्णन ओतप्रोत है। सो सातो काण्डोंके पूर्वार्ध और उत्तरार्धमें एक-एक प्रकारके भक्तोंका वर्णन है। इस प्रकार संपूर्ण ग्रंथमें चौदह प्रकारके भक्तोंका वर्णन पाया जाता है। 'बालमीकि-प्रभु-मिलन'-प्रसंगमें इसकी कुंजी है।

(१) बालकांडके पूर्वार्धमें रामचरितके मुख्य श्रोता श्रीभरद्वाजजी और श्रीउमाजी प्रथम प्रकारके भक्त हैं। 'जाके श्रवन समुद्र समाना। ····। २। १२८। ४—५।' भरद्वाजजी कथामें ऐसे लीन हुए कि उन्होंने कहीं कोई प्रश्न भी नहीं पूछा। और याज्ञवल्क्यजीके बारंबार संबोधन करके सावधान करनेपर भी मुनिकी वृत्ति जैसीकी तैसी रह गई। इसीसे रावणजन्म कहनेके बाद याज्ञवल्क्यजीने संबोधन करना बंद कर दिया। 'काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भएउ निसाचर सहित समाजा। १। १७६। १।' अंतिम संबोधन है। उमाकी भी तृप्ति कथासे नहीं हुई। यथा 'श्रवन पुटन्ह मन पान करि नहि अघात मति धीर'। बालकांडके उत्तरार्धमें स्वायंभू मनु शतरूपा, महाराज दशरथ, महाराज जनक, विदेहराजसमाज ये सब दूसरे प्रकारके भक्त हैं जिनके विषयमें कहा है— 'लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥ निदरहिं सरित सिंधु सर भारी। रूप बिंदु जल होहिं सुखारी।'।१२८।६-७।' मनु-शतरूपाजीने दर्शनके लिये तप किया; यथा 'देखहिं हम सो रूप भरि लोचन' और विधि हरि-हररूपी सिंधु-सरादिका उन्होंने निरादर भी किया। श्रीदशरथजी महाराजके लिये विख्यात है कि 'जियत राम बिधु बदन निहारा। राम बिरह करि मरन सँवारा।' जनकमहाराज स्वयं कहते हैं 'इन्हहिं देखि मन अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा।' पुरवासी भी कहते हैं कि 'जिन्ह निज रूप मोहिनी डारी। कीन्हे स्वबस नगर नर नारी। १। २२६।' इस प्रकार संपूर्ण उत्तरार्ध ऐसे ही भक्तोंकी प्रेमकथासे परिपूर्ण है।

(२) अयोध्याकांडपूर्वार्धमें अवधपुरवासी तीसरे प्रकारके भक्त हैं जिनके संबंधमें कहा—'जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु। मुकुताहल गुनगन चुनइ···। २। १२८।' इस भक्तिका उत्तरकांडमें स्पष्ट उल्लेख है। यथा—'जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परस्पर इहै सिखावहिं। ७। ३०।' से 'एहि बिधि नगर नारि नर करहिं राम-गुन गान। ३०।' तक। उत्तरार्धमें 'प्रभुप्रसाद सुचि सुभग सुबासा। सादर जासु लहइ नित नासा॥', 'तुम्हहि निवेदित भोजन करहीं। प्रभुप्रसाद पट भूषन धरहीं॥ सीस नवहिं सुरगुरु द्विज देखी। प्रीति सहित करि बिनय बिसेषी॥ कर नित करहिं रामपद पूजा। रामभरोस हृदय नहिं दूजा॥ चरन राम-तीरथ चलि जाहीं। २। १२६। १—५।' भरतजीमें ये पाँचों लक्षण घटते हैं। क्रमसे, यथा—'तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा।···', 'चलत पयादे खात फल पिता दीन्ह तजि राजु। जात मनावन रघुबरहिं भरत सरिस को आजु। २। २२२।', 'करि प्रनाम पूछहिं जेहिं तेही', 'कतहुँ निमज्जन कतहुँ प्रनामा।२।३१२।', 'नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति। २। ३२५।', 'चले राम बन अटन पयादे। २। ३११। ३।'

(३) अरण्यकांडके पूर्वार्धमें ऋषिगण पाँचवे प्रकारके भक्त हैं जिनके नियम ये हैं कि—'मंत्रराज नित जपहिं तुम्हारा', 'पूजहिं तुम्हहिं सहित परिवारा।', 'तरपन होम करहिं बिधि नाना। बिप्र जेवाइ देहिं बहु

दाना।', 'तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भाय सेवहिं सनमानी।' और 'सब करि मागहिं एक फलु रामचरन रति होउ। २। १२९।' ऋषियोंमें ये पाँचों लक्षण घटते हैं। क्रमसे उदाहरण; यथा—'राम अनुज समेत बैदेही। निसि दिनु देव जपत हहु जेही। ३। १२।' (अगस्त्यजी), एवं 'जे राममंत्र जपंत संत अनंत जन-मनरंजनं।३।३२।' (गृध्रराजजी); 'भजे सशक्ति सानुजं।३।४।' (अत्रिजी) एवं 'दिव्य वसन भूषन पहिराए।'''३। ५।' (अनुसूयाजी), 'करिहहिं विप्र होम मख सेवा। १। १६६।' से स्पष्ट है कि ऋषियोंका यह नित्य कर्म है। 'अब प्रभु संग जाउँ गुर पाहीं। तुम्ह कहँ नाथ निहोरा नाहीं। ३। १२। ३।' (सुतीक्ष्णजी); 'जोग जग्य जप तप ब्रत कीन्हा। प्रभु कहँ देइ भगति बर लीन्हा। ३। ८।' (शरभंगजी)। अरण्यके उत्तरार्धमें छठे प्रकार, ('काम कोह मद मान न मोहा। लोभ न छोभ न राग न द्रोहा॥ जिन्ह के कपट दंभ नहिं माया।२। १३०।'), के भक्त नारदजी हैं। यथा—'काम कला कछु मुनिहि न व्यापी', 'भएउ न नारद मन कछु रोषा', 'मृषा होउ मम श्राप कृपाला' (इससे मदमानरहित जनाया), 'साचेहु उन्ह के मोह न माया', 'राम सकल नामन्ह ते अधिका।''''(वरदानमें अपने लाभकी बात न माँगी), 'मुनिगति देखि सुरेस डेराना' (छोभ नहीं हुआ), 'उदासीन धन धाम न जाया', 'तब बिबाह मैं चाहउँ कीन्हा। प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा।', 'साचेहु उन्हके मोह न माया।'

(४) किष्किधाकांडके पूर्वार्धमें सुग्रीवजी सातवें प्रकारके भक्त हैं जिनके लक्षण ये हैं—'सबके प्रिय १ सबके हितकारी २। दुख सुख सरिस ३ प्रसंसा गारी॥ कहहिं सत्य प्रिय बचन बिचारी। जागत सोवत सरन तुम्हारी॥ तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं। २। १३०। ३-५।' सुग्रीवजीमें ये सब लक्षण हैं। यथा—'दीन्हेउ मोहि राज बरिआईं', 'बालि परम हित जासु प्रसादा। मिलेहु राम तुम्ह समन बिषादा' (शत्रुका भी हित चाहते हैं); 'सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं।', 'बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी।' (सत्यसत्य कह दिया); 'सो सुग्रीव दास तव अहई', 'सुनु हनुमंत संग लै तारा। करि बिनती समुझाउ कुमारा'। उत्तरार्धमें आठवें प्रकारके भक्त चौदहो सुभट हैं जो दक्षिण भेजे गए। इस प्रकारके भक्तोंके लक्षण ये हैं—"जननी सम जानहिं परनारी। धन पराव बिष तें बिष भारी॥ जे हरषहिं परसंपति देखी। दुखित होहिं पर बिपति बिसेषी॥ जिन्हहिं राम तुम्ह प्रान पिआरे। २। १३०। ६-८।' ये सब इन भटोंमें हैं, यथा—'मंदिर एक रुचिर तहँ बैठि नारि तप पुंज। २४। दूरि ते ताहि सबन्हि सिरु नावा।', 'तेहि तब कहा करहु जल पाना। खाहु सुरस सुंदर फल नाना।', 'धन्य जटायू सम कोउ नाहीं'; 'अस कहि लवनसिंधु तट जाई। बैठे कपि सब दर्भ डसाई।', 'रामकाज लवलीन मन बिसरा तन कर छोह।'

(५) सुन्दरकाण्डके पूर्वार्धमें नवें प्रकारके (अर्थात् 'स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्हके सब तुम्ह तात। २।१३०।') भक्त श्री हनुमान्जी हैं। यथा—'हरष हृदय निज नाथहि चान्ही।४।२।' एवं 'रामदूत मैं मातु जानकी', 'कीन्ह चहउँ निज प्रभु कर काजा', 'ये सब सखा सुनहु मुनि मेरे' 'सेवक सुत पति मातु भरोसे' एवं 'सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं', 'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत। ४। ३।' (यह उपदेश है। अतः गुरु हैं। और, मंत्रराजकी परंपरासे भी गुरु हैं)। उत्तरार्धमें दशवें प्रकारके (अर्थात् 'अवगुन तजि सबके गुन गहहीं। बिप्र धेनु हित संकट सहहीं॥ नीति निपुन जिन्ह कइ जग लीका' इन लक्षणोंसे युक्त) भक्त श्रीविभीषणजी हैं। यथा—"जौं कृपाल पूँछेहु मोहि बाता। मति अनुरूप कहौं हित ताता। ५। ३८।", 'बिप्ररूप धरि बचन सुनाए। सुनत बिभीषन उठि तहँ आए। ५। ६।', 'मैं जानउँ तुम्हारि सब रीती। अति नय निपुन न भाव अनीती। ५। ४६।'

(६) लंकाकांड पूर्वार्धमें समुद्र ग्यारहवें प्रकारका भक्त है जिसके लक्षण हैं—'गुन तुम्हार समुझइ निज दोषा। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसा॥ रामभगत प्रिय लागहिं जेही। २।१३१।३-४।' समुद्रमें इन लक्षणोंके उदाहरण, यथा—'प्रभु भल कीन्ह मोहि सिख दीन्ही', 'प्रभु प्रताप मैं जाब सुखाई। उतरिहि कटकु न मोरि बड़ाई।

५। ५६।', 'जलनिधि रघुपति दूत बिचारी। तैं मैनाक होहि श्रमहारी। ५। १।' उत्तरार्धमें बारहवें प्रकार (अर्थात् 'जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥ सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई।२।१३१।५-६।') के भक्त वानर हैं। यथा—'मम हित लागि तजे इन्ह प्राना। ६।११३।', 'मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। ७। ८।', 'मम हित लागि भवन सुख त्यागे। ७। १६।', 'हरि मारग चितवहिं मति धीरा। १। १८८।'

(७) 'सरगु नरकु अपबरग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥ करम बचन मन राउर चेरा' ऐसे जो तेरहवें प्रकारके भक्त हैं वे उत्तरकांडके पूर्वार्धमें सनकादिकजी हैं। यथा—'समदरसी मुनि बिगत बिभेदा॥ आसा बसन व्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं। ७। ३२।' चौदहवें प्रकारके भक्त ('जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम्ह सन सहज सनेह। २। १३१।') उत्तरार्धमें श्रीभुशुण्डिजी हैं। यथा—'मन तें सकल बासना भागी। केवल रामचरन लय लागी। ७। ११०।'

नोट—६ 'सोइ मधुरता सुसीतलताई' इति। भक्तिको कथामृतकी मधुरता कहा गया है, यथा—'ब्रह्म पयोनिधि मंदर ज्ञान संत सुर आहिं। कथा सुधा मथि काढ़हिं भगति मधुरता जाहिं। ७। १२०।' वैजनाथजीका मत है कि प्रेम मधुरता है और भक्ति रामयशकी सुशीतलता है जिससे जीवकी चाहरूपी प्यास मिट जाती है, त्रिताप दूर होते हैं। मा० प्र० का मत है कि जिसे मंगलकारित्व गुण कहा था वही यहाँ 'सुशीतलता' कहा गया क्योंकि प्रेमाभक्ति की दशामें सुख ही सुख है, प्रेमाश्रु हृदयको शीतल कर देते हैं, कामक्रोधादि रोग दूर हो जाते हैं। त्रिपाठीजीका मत है कि यहाँ केवल माधुर्यगुण कहा है मंगलकारित्व गुण अगली अर्धालीमें 'सो जल सुकृत सालि हित होई' में कहेंगे।

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि रामकथामें जो मिठास है वह प्रेमाभक्तिकी है। भक्तिमिठासके उत्कर्ष से ही जहाँ तहाँ रामकथाको अमृत कहा गया है। 'सुसीतलताई' का भाव यह है कि जीव और संसारमें तप्य तापक भाव संबंध है। विचारशीलके लिये संसार दुःखरूप है, यथा—'काम क्रोध मद लोभ रत गृहासक्त दुखरूप।' दुःखद होनेसे संसार तापक है, दुःख पाने से जीव तप्य है। तापको दुःख और शीतलताको सुख माना गया है। 'सुशीतलताई' का अर्थ तरावट है। जल यदि अति शीतल हो तो दुःखद हो जाता है, अतः 'सुसीतलताई' कहा। रामयशमें मिठास और तरावट है। अर्थात् रामयश सुननेमें भी प्रिय लगता है और साथ ही साथ दुःखका भी नाशक है। यथा—'सुनतहि सीता कर दुख भागा', 'मन-करि बिषय अनल बन जरई। होइ सुखी जौं एहिं सर परई।'

टिप्पणी—'प्रथम जलको मधुर कह आये हैं, यथा—'मधुर मनोहर मंगलकारी।', अब यहाँ पुनः 'मधुर' कहते हैं, यह क्यों? इसका समाधान यह है कि—(१) प्रथम जलको मधुर कहा, अब यह बताते हैं कि जलमें जो 'मधुरता' गुण है वह क्या वस्तु है, वह मधुरता प्रेमभक्तिकी है। अथवा, (२) यों कहिये कि पहले जलका मधुर होना कहा, अब कहते हैं कि जैसे जलमें मीठा घोल दें तो वह अधिक मीठा हो जाता है वैसे ही प्रेमभक्ति मिलनेसे रामयश-जल अधिक मधुर हो गया। (पं० रा० कु०)

नोट—यहाँ तक पृथ्वीपर गिरनेके पहलेके गुण कहे, आगे पृथ्वीपर गिरनेपरके गुण कहते हैं।

सो जल सुकृत-सालि हित होई। राम-भगत-जन जीवन सोई॥ ७॥

अर्थ—वह राम-सुयश-जल सुकृतरूपी धानको हितकर है और रामभक्तलोगोंका जीवन भी वही है॥७॥

नोट—१ 'सो जल सुकृत सालि हित होई' इति। (क) सुकृत-१।२७ (२) 'सकल सुकृत फल रामसनेहू' में देखिए। जप-तप-व्रत पूजा आदि, विप्रसेवा, श्रवण-कीर्तन आदि सब सुकृत हैं। (वै०)। (ख) शालि—दोहा १९ "बर्षारितु रघुपति भगति तुलसी सालि…" में देखिए। (ग) भाव कि जैसे वर्षाजलसे शालि बढ़ता और पुष्ट होता है, वैसे ही रामसुयशके गानसे भक्तोंके सुकृत बढ़ते हैं। वही राम-सुयश-जल वा सुकृतकी वृद्धि भक्तोंका जीवन है, क्योंकि जल न होनेसे धान नहीं हो सकता, धानके बिना जीवन नहीं। इसी तरह बिना

रामसुयशके सुकृत न बढ़ेंगे और "सकल सुकृत फल राम सनेहू" है, इनके वृद्धिके विना श्रीरामजीमें प्रेम नहीं होगा।—दोहावलीका दोहा ५६८ भी इसी आशयका है। यथा—"बीज राम-गुन-गन नयन जल अंकुर पुलकालि। सुकृती सुतन सुखेत वर बिलसत तुलसी सालि॥"

वि० त्रि०-१ (क) यहाँ 'रामसुयश वर बारि' का मंगलकारित्व दिखाते हैं। वर्षाके जलसे धान उपजता है। यहाँ धान उपलक्षण है; सभी अन्न वर्षासे ही होते हैं पर धानमें विशेषता यह है कि इसे बड़ी प्यास होती है, इसे पानीकी बड़ी आवश्यकता होती है, पानी सूखा और धान गया। सुकृत, यथा—'तीर्थाटन साधन समुदाई' से 'जहँ लगि साधन बेद बखानी। ७। १२६। ४-७।' तक सब सुकृतके अंतर्गत है। सुकृतको शालिसे उपमा दी क्योंकि सुकृतको श्रीरामयशजलकी प्यास होती है जैसे शालिको वर्षाजलकी, दुष्कृत तो रामयशजलसे विमुख ही रहता है, यथा—'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ।' यहाँ खेत, किसान आदि क्या हैं यह "तुलसी यह तन खेत है, मन बच करम किसान। पाप पुन्य दुइ बीज हैं बवै सो लुनै निदान।" में कहे हैं। (ख) 'सुकृत सालि हित होई' कहकर कर्मकांडियोंको प्रवृत्तिमार्गवालोंको भी श्रीरामसुयशकी अपरिहार्य आवश्यकता जनायी। बिना रामसुयशके जाने अति कष्टसे अनुष्ठित धर्म उत्साहपूर्वक भगवदर्पण नहीं किया जा सकता और 'हरिहि समर्पे बिनु सतकर्मा।' तथा 'विद्या बिनु बिवेक उपजाएँ' 'श्रम फल पढ़े किये अरु पाएँ' सब निष्फल हो जाता है।

नोट—२ (क) 'रामभगत जन' इति। अर्थात् आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानी ये चारों प्रकारके भक्त। ज्ञानीहीमें प्रेमी भक्तभी शामिल हैं।—विशेष २२ (७) तथा दोहा २२ में देखिये। त्रिपाठीजीका मत है कि इससे साधनभक्तिवाले चारों प्रकारके और सिद्धिभक्ति (प्रेमाभक्ति) के चौदह प्रकारके भक्तोंका ग्रहण है (जो चौदह स्थानोंके व्याजसे वाल्मीकिजीने श्रीरामजीसे कहे हैं)। (ख) 'जीवन सोई' इति। श्रीरामनामकी उपमा पूर्णचन्द्रसे दी है, और चरितकी चंद्रिकासे। यथा—'राका रजनी भगति तव रामनाम सोइ सोम। ३। ४२।', 'रामचरित राकेस-कर सरिस सुखद सब काहु। १। ३२। इस तरह नाम और चरितका नित्य सम्बन्ध दिखाया। बिना चन्द्रके चन्द्रिकाका अस्तित्व नहीं होता एवम् बिना चरित्रके नाम निस्तेज है और बिना नामके चरित्रको आधार ही नहीं रहता। सब प्रकारके भक्तोंका आधार नाम है; यथा, 'चहूँ चतुर कहँ नाम आधारा।' यहाँ प्रमाणित होता है कि बिना चरित्रके नाम भी अकिञ्चित्कर है। अतः श्रीरामयशको भक्तोंका जीवन कहा। भावार्थ यह कि कर्मकांडके अनुयायियोंको तो रामयश 'हित' है पर उपासनाकांडवालोंका तो प्राण ही है। इससे रामयशका मंगलकारी होना वर्णन किया (वि० त्रि०)।

(ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि यहाँ सुकृत शालि हैं और रामभक्तजन कृषिकार हैं। शालिका वर्षा-जलसे परिपूर्ण उपजना, सुकृतोंकी परिपूर्ण वृद्धि होना है। जलवृष्टिसे कृषिकारका जीवन, श्रीरामयशश्रवणसे रामभक्तोंका जीवन अर्थात् आत्माको आनन्द। (घ) पाँडेजी 'रामभक्त' और 'रामभक्तजन' इस प्रकार अर्थ करके रामभक्तसे श्रीशंकर और श्रीयाज्ञवल्क्य आदि एवं रामभक्तजनसे श्रीपार्वती-भरद्वाजजी आदिका भाव होना लिखते हैं। श्रीरामयश ही भक्तोंका जीवन है तभी तो श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरघुनाथजीसे यह वर माँगा था कि—हे वीर! जबतक पृथ्वीतलपर आपका चरित्र रहे तबतक मेरे शरीरमें प्राण रहे और आपके दिव्य चरित्ररूपी कथाको अप्सरायें मुझे बराबर सुनाती रहें, यथा—"यावद्रामकथा वीर चरिष्यति महीतले। तावच्छरीरे वत्स्यन्तु प्राणा मम न संशयः। १७। यच्चैतच्चरितं दिव्यं कथा ते रघुनन्दन। तन्ममाप्सरसो रामो श्रावयेयुर्नरर्षभ॥१८॥" (वाल्मी० ७। ४०)। अप्सरायें तथा गंधर्व उनको बराबर श्रीरामचरित सुनाया ही करते हैं। मं श्लो० ४ 'सीता-रामगुणग्राम......' में देखिये।

मेधा महि गत सो जल पावन। सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन॥ ८॥

शब्दार्थ—मेधा=अन्तःकरणकी वह शक्ति जिससे जानी, देखी, सुनी या पढ़ी बातें मनमें दिन-रात बनी रहती हैं, भूलती नहीं। बातको स्मरण रखनेकी मानसिक शक्ति। धारणावाली बुद्धि।—"धीर्धारणावती मेधा। अमरे १।५।२।' पुनः 'मेधा' कानके उस भागको कहते हैं जो श्रवणद्वारपर होता है और जो बातको सुनकर ग्रहण करता है=ग्रहण बुद्धि जो सदा कानके समीप ही खड़ी रहती है। सकिलि=बटुरकर, एकत्र होकर, सिमिटकर।

अर्थ—(साधुरूपी मेघों द्वारा बरसाया हुआ) वह पावन और सुहावन (श्रीरामयश) जल 'मेधा' (धारणा शक्ति वा ग्रहण बुद्धि) रूपिणी पृथ्वी (प्रान्त भूमि) पर प्राप्त हुआ और सिमिटकर श्रवणरूपी मार्गसे (भीतर हृदय थलकी ओर) चला। ८।

त्रिपाठीजी—धारणा शक्ति सुमति-भूमिमें अगाध हृदय (शुद्ध मन) की प्रान्तभूमि है। श्रवणरंध्रमें प्रवेश करनेके पहले ही जलका मेधामहिगत होना कहा है। कारण कि वेदान्तके मतसे पंच ज्ञानेन्द्रियोंमेंसे दो इन्द्रियाँ चक्षु और श्रोत्र, ऐसी हैं जो बाहर जाकर विषयको ग्रहण करती हैं। न्यायशास्त्र श्रोत्रेन्द्रियको बाहर जानेवाली नहीं मानता। 'वेदांतवेद्यं विभुम्' आदि पदोंके प्रयोगसे श्रीगोस्वामीजीकी अधिक श्रद्धा वेदांतमें ही ज्ञात होती है, अतः श्रोत्रेन्द्रियका बाहर जाकर विषय ग्रहण करना ही गोस्वामीजीको इष्ट है। इन्द्रियके साथ वृत्ति भी बाहर जाती है, और निस्संदेह यह वृत्ति धारणाशक्तिवाली है, नहीं तो शब्दार्थका ग्रहण न होता। अतः रामयशरूप वारिका साधुमेघ मुखच्युत होनेपर पहले मेधामहिगत होना ही प्राप्त है। (इस तरह जहाँ तकका जल मानससरमें बहकर आता है, वहाँतक मानससरकी प्रान्तभूमि हुई। इसी प्रकार जहाँतक की बात सुनाई दे वहाँतक मेधाकी प्रान्तभूमि है)।

नोट—१ मा० पत्रिकाकार कहते हैं कि जहाँतककी बात सुनाई दे, वहाँतक ग्रहण बुद्धिकी पहुँच है। "ग्रहण बुद्धि ही श्रोत्रेन्द्रियद्वारा श्रीरामजीके सुयशरूप अक्षर और अर्थसमूहोंको धारणकर सुमतिको पहुँचाती है।" इस तरह इनके मतानुसार मेधा ग्रहण-बुद्धि है।

मा० प्र० कारका मत है कि बुद्धि आठ प्रकारकी है, 'सुमति भूमि थल···। १। ३६। ३।' देखिए। वाल्मी० ४। ५४। २ पर भूषणटीकामें वे आठ प्रकार ये बताए गए हैं—'ग्रहणं धारणं चैव स्मरणं प्रतिपादनम्। ऊहापोहोर्थ विज्ञानं तत्वज्ञानं च धी गुणाः।' मा० प्र० के मतानुसार सर्वधारणत्वगुण लेकर 'सुमति' को 'भूमि' कहा गया और चतुष्टय अन्तःकरणमेंसे बुद्धिको ही हृदय कहा गया। भूमिके साथ ग्रहणबुद्धिका और थलके साथ धारणबुद्धिका रूपक है। वे 'मेधा महिगत·····' का अर्थ यह करते हैं कि साधुरूपी मेघोंने रामयश जल बरसा। वह मेधा ग्रहण बुद्धि (जो पूर्व कह आये हैं अर्थात् सुमति भूमि) में प्राप्त हुआ तब सिमिटकर श्रवणबुद्धिके मार्ग होकर धारणबुद्धिरूप थल (हृदय) को चला। इस मतके अनुसार सुमतिभूमि और मेधा-महि एक जान पड़ते हैं।

२ (क) "सो जल पावन" इति। महिगत होनेपरभी 'पावन' कहते हैं, यद्यपि वह प्रान्तभूमिकी मिट्टी आदिके योगसे गँदला हो गया है। कारण यह है कि यह दोष आगन्तुक है, जल तो स्वभावसे ही मधुर और शीतल है, जहाँ वह स्थिर हुआ तहाँ वह फिर स्वच्छ और शीतल हो जाता है। जो प्रारंभमें स्वच्छ था और अन्तमेंभी स्वच्छ ही होगा, वह वर्तमानमें आगंतुक दोष आजानेपर भी स्वच्छ ही है, अतः सो 'जल पावन' कहा। जैसे वर्षाजल पृथ्वीके दोषसे गँदला हो जाता है वैसेही मेधामहिगत श्रीरामसुयश भी श्रोताके मेधाके दोषसे लिप्त हो जाता है। (वि० त्रि०)। (ख) 'सकिलि०' इति। शब्द होनेका देश विस्तृत है और श्रवण प्रणालिका बड़ी संकीर्ण है; इससे रामयशजलका सिमिटकर आना कहा। सरकी प्रान्तभूमि बहुत दूरतक होती है। प्रान्तभूमिपर बरसा हुआ जल जब सिमिटकर चलता है तब एक संकीर्ण रास्तासा बन जाता है, उसी मार्ग

होकर वह सब जल बहता है और सरमें जाता है। यथा—'सिमिटि सिमिटि जल भरहिं तलावा। ४। १४।' इसी तरह मेघमहिगत श्रीरामयशजल सिमिटकर श्रवणरंध्रद्वारा हृदयरूपी थलमें गया। सुननेके बादही बात हृदयमें जाती है। हृद्गत होनेका मार्ग श्रवणेन्द्रिय ही है; यथा—'मृतक जिआवनि गिरा सुहाई। श्रवनरंध्र होइ उर जब आई। १। १४५। ७।' अतः उसे 'श्रवन मग' कहा। 'सकिलि' शब्द देकर सूचित किया कि जब बात समझमें आजाती है तब वही श्रवण-बुद्धिमें आती है, नहीं तो सुना न सुना बराबर हो जाता है। (ग)—तालाब में बिना प्रयत्नके दूरतकका जल आता है, वैसेही अन्य स्थानोंमें वर्णित रामयशका समाचार परंपरासे रामयश-रसिकके यहां अनायासेन आया ही करता है। 'सकिलि' से यहभी जनाया कि सब चरित्र एकाग्र होकर सुना। (वि० त्रि०)। (घ) रामसुयशके सुननेमें बड़ास्वाद है अतः सुननेमें वह सुहावन है। यथा—'कहेउँ राम बन गवन सुहावा', 'उमा कहिउँ सब कथा सुहाई'।

खर्रा—इस स्थानमें बुद्धिके चार स्वरूप कहे हैं—एक जल रोपनेवाली, एक जल कर्षण करनेवाली, एक जल धारण करनेवाली और एक जलकी रक्षा करनेवाली।

भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥ ९॥

शब्दार्थ—थिराना=स्थिर हो गया अर्थात् मैल मिट्टी आदि नीचे बैठ गई, जल साफ़ थिर हो गया। सीत (शीत)=शीतल। =शीतकाल, शरद्ऋतु। (पां०)। रुचि=रुचिकर, स्वादिष्ट। =मधुर (करु०, मा० प्र०)। चारु=सुंदर, निर्मल, स्वच्छ। =पवित्र (मा० प०)। चिराना=चिरकालका हुआ, पुराना हुआ। =परिपक्व हुआ।

अर्थ १—और (वह श्रवणमार्गसे चला हुआ श्रीरामयश जल) सुन्दर मानसमें भरा और सुन्दर थल पाकर (वहाँ) स्थिर हुआ। फिर पुराना होकर सुन्दर, रुचिकारक और शीतल तथा सुखदायी हुआ॥ ९॥

अर्थ २—सुन्दर मानस भर उठा, अच्छे थलमें जल थिराया और सुखद, ठंढा, सुन्दर, स्वादु और चिराना हुआ अर्थात् पक गया। (वि० त्रि०)।

अर्थ ३—उस रामयश-जलसे सुन्दर मानसका सुन्दर थल भर गया और स्थिर हो गया तथा रुचिरूपा शरद् ऋतु पाकर पुराना होकर सुखदायी हुआ। (पां०)।

नोट—१ "भरेउ सुमानस···" इति। (क) 'सुमानस' श्लिष्ट है। वर्षाजल 'सुंदर मानस-सर' में भरा और श्रीरामयशजल कविके 'सुन्दर मन' में भरा। (ख) मानसके भरनेपर उसका 'सुमानस' नाम हुआ। पहले केवल 'मानस' नाम था। यथा—'जस मानस जेहिं बिधि भयउ'। इसी तरह जल भर जानेपर 'थल' का नाम 'सुथल' पड़ा।—'भरेउ सुमानस सुथल····'। (पं० रामकुमारजी)। पुनः, भाव कि मन दो प्रकारका होता है, शुद्ध और अशुद्ध। यथा—'मनस्तु द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च। अशुद्धं कामसंकल्पं शुद्धं कामविवर्जितम्।' कामसंकल्पवाला मन अशुद्ध है और कामविवर्जित मन शुद्ध है। कामनारहित मन 'सुमानस' है। इसीकी अगाध हृदय कह आये हैं। कामसे भरा न होनेसे इसमें गहराई है। अब वह मन रामसुयशसे भर गया। उसमें किसी दूसरी वस्तुके लिये स्थान नहीं। (वि० त्रि०)। (ग) 'सुथल' का भाव कि जल गहरे स्थानमें ही थिराता है। जहाँ लोगोंके आनेजानेका रास्ता रहता है, थल उथला है, वहां जल नहीं थिराता, यथा—'सदा मलीन पंथके जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिरान्यो' (विनय)। (घ)—यहां श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि कहे गए। 'सकिलि श्रवन मग चलेउ सुहावन' में श्रवण, 'भरेउ सुमानस' से मनन (क्योंकि सुनी हुई बातको मनमें बिठानाही 'मनन' है) और 'सुथल थिराना' से निदिध्यास कहा। मनको थिर करना समाधि है। श्रीरामयशके विषयमें मनको एकाग्र किया, यह संप्रज्ञात समाधि है। यथा—'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥ श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा।' (करु०, वि० त्रि०)।

२ "थिराना ।'''चिराना" इति । (क) मा० दी० कार लिखते हैं कि "चावल दो सालका होनेपर पुराना और तीन सालका पुराना होनेपर 'चिराना' कहा जाता है, वैसेही वर्षाजल बरसातमें नया, शरद् (कुँआर कार्त्तिक) में स्थिर होनेपर पुराना और हिम तथा शिशिर ऋतुमें 'चिराना' हुआ ।" (वैजनाथजी के मतसे कुँआरमें पुराना और कार्तिकमें 'चिरान' होता है) । (ख) मा० प्र०-कार कहते हैं कि पृथ्वीपर जल पड़नेसे गँदला हो जाता है । शरद् ऋतुमें जब जलकी मिट्टी बैठ जाती है, गँदलापन दूर हो जाता है, जल थिरता है, तब ऊपर-ऊपर सुन्दर शीतल निर्मल जल प्राप्त होता है और शरद्ऋतुके बीतने और हिमऋतुके आनेपर जलमें पूर्व गुण फिर आ जाते हैं । 'शीत, रुचि और चारु' ये जो तीन गुण यहाँ कहे हैं ये ही पूर्वके 'मंगलकारी, मधुर और मनोहर' गुण हैं । शीतल जल नीरोग (गुणकारी) होता है, इसीसे शीतसे पूर्वका मंगलकारित्व गुण कहा । रुचि स्वादको कहते हैं इसीसे 'रुचि' से 'मधुर गुण' का ग्रहण हुआ और 'चारु' का अर्थ है 'दीप्तिमान्, सुन्दर', अतः इससे 'मनोहर गुण' लिया । (ग)-गोस्वामीजी अपनी रामायण-रचनाको 'चिरान' कहते हैं । (श्रीरूपकलाजी) । (घ) मा० म०-कार लिखते हैं कि "पढ़यो गुरूते बीच शर संत बीच मन जान । गौरी शिव हनुमत कृपा तब मैं रची चिरान ॥" अर्थात् गोस्वामीजी जगत्के कल्याणके लिये सम्वत् १५५४ में प्रकट हुए । पाँच वर्षकी अवस्थामें उन्होंने गुरुजीसे रामचरित श्रवण किया । फिर ४० (चालीस) वर्षकी अवस्थामें संतोंसे सुनकर उन्होंने उसे सैंतीस वर्ष मनन किया, तदनन्तर अठहत्तर वर्षकी अवस्था सं० १६३१ में रामचरितमानस प्रकट हुआ । इसी कारण श्रवण मगसे चलकर थिराना और फिर चिराना कहा । (यह बात 'मूल गुसाईं चरित' से भी सिद्ध होती है । इस मतके अनुसार बालपनेमें जो सुना वह मानसमें पहले ही से था । फिर संतोंसे युवावस्थामें सुना । यही नया है । सैंतीस वर्ष मनन किया, यह 'थिराना' हुआ । ७८ वर्षकी अवस्थामें वह 'चिराना' अर्थात् परिपक्व हुआ) । (ङ) त्रिपाठीजीका मत है कि गुरुमुखसे जो रामयश बारंबार सुना था उसीका मनन और निदिध्यासन किया तब उसके गुण प्रकट हुए, विषय अभ्रान्त हो गया, उसमें आनंद आने लगा, दुःख दूर हो गए । यही 'सुखद' होना है ।

प्रश्न—वर्षा, शरद् और हेमन्तमें जो जलका नया, पुराना और चिराना होना कहा है, वह राम-सुयशमें क्या हैं ?

उत्तर—संतोंके मुखसे सगुण-लीला-सहित रामसुयश जलकी वर्षा हुई तब वह सुयश सुमति भूमिपर पड़कर मेधा-बुद्धिसे होकर श्रवणबुद्धिद्वारा हृदयरूपी थलपर जाकर टिका । यह नयापन है । मननद्वारा हृदयमें स्थिर होना पुराना होना है और जैसे मिट्टी आदि बैठ जानेके पश्चात् हेमन्त ऋतुमें जल पूर्ववत् निर्मल, मधुर और गुणकारी हो जाता है, वैसे ही निदिध्यासनद्वारा श्रीरामसुयशके पूर्व गुण सगुण-लीला-रूपी स्वच्छता, प्रेम-भक्तिरूपी मधुरता और शीतलता दिखाई देने लगे । यही उसका चिराना है । (मा० प्र०) ।

प्रश्न—वर्षाजल भूमिपर पड़नेपर गँदला हो जाता है । श्रीरामसुयश सुननेपर ग्रहण—बुद्धिमें आया तो यहाँ बुद्धिरूपी भूमिके संयोगसे इसमें क्या गँदलापन आगया ?

उत्तर—१ (क) संसारी जीवोंकी बुद्धि विषयासक्त होती है, त्रिगुणात्मिका मायामें लिप्त रहती है । उसमें राजस-तामस-गुण बहुत रहता है जिससे मनमें अनेक संशय, भ्रम और कुतर्क आदि उठते रहते हैं । अतएव उसकी समझमें श्रीरामसुयश शीघ्र क्योंकर आसकता है ? जैसा कहा है—"किमि समुझौं मैं जीव जड़ कलिमल ग्रसित बिमूढ़ ।१।३०।' इनको समझानेके लिये प्राकृत दृष्टान्तों उदाहरणों और उपमाओं आदिका प्रयोग किया गया (जो उसके हृदयमें पूर्व न थीं) । हृदय-थलमें श्रीरामसुयश इनके सहित पहुँचा । बुद्धिके योगसे सब बात ग्रहण हुई । ऊपरकी सब बातें ही मलिनता वा गँदलापन हैं । (मा० प्र०) । (ख) "संतोंने जब निर्मल यशकी वर्षा की तब श्रोता कविकी बुद्धिमें पड़नेसे बुद्धिका राजस गुण उसमें मिल गया, इसीसे यह डाबर हो गया ।" (करु०) ।

(अर्थात् जैसे भूमिमें तो रज पूर्वसे ही थी, उसके मिल जानेसे वर्षाजल गँदला हो जाता है, वैसे ही प्राकृत बुद्धिमें जो राजस गुण है यही भूमिकी रज है, बुद्धिकी उत्पत्ति पृथिवी-तत्त्वसे है—"बुद्धिर्जाता क्षितेरपि'। यह राजस-गुण ही मलिनता है) मनन करनेपर बुद्धिका राजस गुण और संतोंकी दी हुई प्राकृत दृष्टान्त आदि क्रमशः हटे। फिर निदिध्यासन (अच्छी तरह अभ्यास) करनेसे रामसुयश केवल निर्मल आनंदरूप देख पड़ा, अन्तःकरण शान्त हुआ और सबके लिये सुखदाता, शीतल और रुचिकर हो गया। (करु०)।

२—वैजनाथजीका मत है कि—"श्रीराम-सुयशरूपजलमें, मेधारूपी-भूमिका स्पर्श करते ही, विषयसुख-वासनारूप रज मिल गया जिससे वह ढाबर हो गया। जब वह सुंदर मनरूप मानसमें भरा तब सुथलरूपी सुबुद्धि पाकर वह थिर होगया अर्थात् बुद्धिके विचारमे कुतर्करूप मल नीचे बैठ गया, निर्मल यश रह गया। यहाँ भक्तिरूपी शरद् पाकर अर्थात् नवधा कुँआरमें पुरान हुआ और प्रेमा—कार्त्तिकमें चिरान हुआ। फिर राम-विरह आतप पाकर यशरूप जल औटकर सुन्दर हो गया, जीवको स्वच्छ देख पड़ा और मीठा लगा। पुनः सुखद हुआ अर्थात् कामादि रुजको हरनेवाला हुआ।"

मा० प०—जल चिरान अर्थात् पुराना होनेसे परिपक्व होकर सुखद, रुचिवर्द्धक और सुस्वाद हो जाता है। एवं सन्तोंके मुखसे वर्णित रामयशरूप जल मेधारूपी भूमिके स्पर्शसे सांसारिक विषयसुख वासनारूप रजसे जो अन्तःकरण ढाबर हो गया था जब वह जल सुन्दर मनरूप मानसमें भरा तब सुबुद्धि पाकर स्थिर हुआ अर्थात् बुद्धि-विचारद्वारा कुतर्क-कुपन्थरूप मल नीचे बैठ गया और केवल प्रेम ही-प्रेम रह गया, वह शरदरूप नवधा भक्तिद्वारा परिपक्व होकर काम-क्रोधादिका नाशक हुआ। [यह सब वैजनाथजीका ही लिया हुआ है]।

पं० रामकुमारजीके मतानुसार—गँदलापन पृथ्वीके योगसे प्राकृत जलमें होता है; पर यहाँ 'सुमति' रूपी भूमि है और 'मेधा' महि है। यहाँ गँदलापन नहीं है। फिर वहाँ प्राकृत मानससर और थल है और यहाँ 'सुमानस' और 'सुथल' हैं। यहाँ रूपकके सब अंग नहीं लिये जायँगे।

दोहा—सुठि सुंदर संवाद बर, बिरचे बुद्धि बिचारि।
तेइ एहिं पावन सुभग सर, घाट मनोहर चारि॥ ३६॥

शब्दार्थ— सुठि (सुष्ठु)= अत्यन्त, बहुत ज्यादा, उत्तम। यथा—'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे। १। ३४२।'

अर्थ—अत्यन्त श्रेष्ठ और सुन्दर संवाद (जो) बुद्धिने विचारकर रचे हैं वे ही इस पवित्र सुन्दर तालाबके चार मनोहर घाट हैं॥ ३६॥

नोट—'सुठि सुंदर संवाद बर' इति। 'सुठि सुन्दर' और 'बर' का भाव यह है कि—

१ (क) जब जिसको ही विचारने लगेंगे तब वह ही प्रधान जान पड़ेगा। अथवा, (ख) भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-सत्संग होनेपर भरद्वाजका रामचरित्र मूढ़ बनकर पूछना याज्ञवल्क्य मुनिको बहुत अच्छा लगा और उन्होंने कहा—"चाहहु सुनै रामगुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रश्न मनहु अति मूढ़ा॥ तात सुनहु सादर मनु लाई। कहहुँ राम कै कथा सुहाई॥। १। ४७।' इसी लिये इसको सुन्दर और वर कहा। पार्वतीजीका प्रश्न रामतत्त्वकी प्राप्तिके लिये सहज सुन्दर छलविहीन होनेसे शिवजीके मनको भाया। इसी तरह गरुड़जीका मोह जो शिवादि-से न छूटा था वह भुशुण्डि-आश्रमके पास पहुँचते ही छूट गया और भुशुण्डिजीको भी परम उत्साह हुआ, इसलिये ये दोनों संवाद भी श्रेष्ठ हुए। गोस्वामीजीका संवाद दीनतासे पूर्ण है। सज्जन सुख मानकर सुनते हैं, इसलिये यह भी 'सुन्दर वर' है। पुनः, ये चारों घाट विचारद्वारा अनुभवसे रचे गये हैं; इसलिये चारों वर और सुन्दर हैं। 'तस कहिहउँ हिअँ हरिके प्रेरे' कहा ही है। भगवान् श्रीरामजी एवं श्रीहनुमान्‌जीकी प्रेरणासे बने हैं अतः

सुन्दर हुआ ही चाहें। (मा०त०वि०)। अथवा, (ग) इन संवादोंके वक्ता-श्रोताओंकी श्रेष्ठताके संबंधसे उनके संवादोंकोभी 'सुठि सुन्दर' और 'वर' कहा। अथवा, संवादोंका विषय परम मनोहर श्रीरामचरित होनेसे उनको 'सुठि सुन्दर बर' कहा। अथवा,

२ (त्रिपाठीके मतानुसार)—(क) इन चारों संवादोंमें चार पृथक्-पृथक् कल्पोंकी कथाएँ हैं। श्रीरामावतार एक कल्पमें एक ही वार होता है। मानसमें चार कल्पोंकी कथाएँ हैं। भुशुण्डाजीने नारदशापवाले अवतार (कल्प) की कथा कही, यथा—'पुनि नारद कर मोह अपारा। ···'। शंकरजीने मनुशतरूपा-वरदान-वाले कल्पकी कथा विस्तारसे कही। याज्ञवल्क्यजीने जलंधररावणवाले कल्पकी और गोस्वामीजीने जयविजय-रावण कुंभकर्णवाले कल्पकी कथा कही। यथा—'महावीर दिति-सुत संघारे'। चारों कल्पोंकी कथाएँ एकसी हैं, अतः एक साथ कही गईं। अतः संवादोंमें वैकुंठनाथ, नारायण तथा ब्रह्मके अवतारोंकी कथाएं होनेसे उन्हें 'सुठि सुन्दर बर' कहा। पुनः, (ख) "दूसरी बात यह है कि रामचरित्रको मणिमाणिक्य कहा है, यथा—'सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक। १। १।' सो श्रीरामकथाकी भी यहाँ चार खानि कही गई हैं। जिनके ऊपर गुरुकी कृपा होती है वे ही बतला सकते हैं कि यह कथा किस खानि की है।" उनमेंसे शंकरजीकी कथा सर्पमणि (शंकररूपी सर्प 'गरलकंठ' से निकली) याज्ञवल्क्यजीकी कथा माणिक्य और भुशुण्डीजीकी गजमुक्ता है; अतः मणि, माणिक्य, मुक्तावत् स्वभावसे ही 'सुठि सुंदर' है। इसपर ग्रंथकारका और भी कहना है कि श्रीशंकरजी आदि सुकवि हैं और उनकी कविता मणि है। मणि आदिकी भाँति जहाँ उत्पन्न हुई वहाँ वैसी शोभित नहीं हुई जैसी कि मेरे विरचित संवादमें पड़कर शोभित हुई। यथा—'नृपकिरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई। १। ११। १-३।' यहाँ ज्ञान नृप है; यथा—'सचिव बिराग बिबेक नरेसु। २। २३५।' कर्म मुकुट है, यथा—'मुकुट न होहिं भूप गुन चारी॥ साम दाम अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह वेदा॥ ६। ३७।' साम, दाम, दंड और विभेद ये चारों कर्म हैं, उसे अपह्नुति-अलंकार-द्वारा मुकुट कहा। उपासना तरुणी है, यथा—'भगति सुतिय (कल करन बिभूषन)। १। २०।' सो ये तीनों कविताएं ग्रन्थकर्ताके ज्ञानघाट, कर्मघाट और उपासना घाटपर आकर क्रमशः अत्यन्त शोभित हुईं। अतः 'सुठि सुंदर वर' कहा। रह गया तुलसी-संत-संवाद, उसे ग्रन्थकर्ता सीपीका मोती कहते हैं, यथा—'हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥ जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥ जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं रामचरित बर ताग। पहिरहिं सज्जन बिमल उर सोभा अति अनुराग। १। ११।' यह संवाद भी सुठि सुन्दर है। इसकी शोभा भी सज्जनका उर पाकर अत्यन्त बढ़ गई। अतः यह संवाद भी 'सुठि सुन्दर वर' है। अर्थात् चारों घाट रत्नमय हैं।

३—ग्रन्थके अन्तमें कहा है कि "यह सुभ संभु-उमा संबादा। सुख-संपादन समन बिषादा॥ भवभंजन गंजन-संदेहा। जनरंजन सज्जन-प्रिय एहा॥ ७। १३०।' मुख्य संवाद रामचरितमानसका यही है। इसीसे समाप्तिमें 'संभु-उमा-संबादा' पद देकर तब उसका माहात्म्य वा फल कहा है। जो माहात्म्य यहाँ कहा, वह चारों संवादोंका माहात्म्य है; क्योंकि चारों संवाद एक दूसरेमें गठे और गुथे हुए हैं और सब मिलकर 'राम-चरित-मानस' ग्रन्थ रचा गया। इसलिये चारों संवाद सुठि, सुन्दर और वर हुए।

४—सुधाकर-द्विवेदीजी कहते हैं कि "अब ग्रन्थकार चारों घाटोंका नामकरण दिखलाते हैं। कर्म, ज्ञान, उपासना और दैन्य। इनके बनानेवाले कारीगर बड़ोंकी बुद्धि और विचार हैं—बिरचे 'बुद्धि बिचारि'। इन्हींके द्वारा इन घाटोंकी रचना है। इनकी सामग्री 'सुठि सुंदर संवाद वर' है, इसके दो अर्थ हैं—(१) अपनी उत्तम बुद्धिसे जो श्रेष्ठसंवाद है। (२) सुठि=कर्मकाण्ड। सुन्दर=ज्ञानकाण्ड। संवाद=उपासनाकाण्ड। वर=दैन्यघाट। यह अर्थ ग्रन्थकारहीके लेखसे व्यञ्जित होता है। साफ़-साफ़ ग्रन्थकारने घाटके चार विशेषण लिखे हैं, यदि यह अर्थ अभिप्रेत न होता तो चार विशेषण क्यों लिखते?"

नोट—२ ग्रन्थकारने 'सुठि सुंदर संवाद बर' जो यहाँ कहा है उसे अन्त तक निबाहा है। भुशुण्डि-गरुड़-संवादके विषयमें शिवजी कहते हैं—'सो संवाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब। १२०।' पुनः, 'गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन। १२५।' इसमें वक्ता और श्रोता दोनोंको बड़ा आनन्द मिला था। शिव-पार्वती-संवादके विषयमें याज्ञवल्क्यजीका वचन है कि यह 'सुभ संभु-उमा-संबादा। सुख-संपादन समन बिषादा॥ भवभंजन गंजन संदेहा। जन-रंजन सज्जन-प्रिय एहा॥ १३०।' श्रीशिवजी प्रश्नोंको सुनकर बहुत सुखी हुए थे। यथा—'परमानंद अमित सुख पावा।१११।' और पार्वतीजीको तो कथा सुनकर परम विश्राम ही हुआ। गोस्वामीजीने याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवादके विषयमें भी 'सुभग' पद दिया है, यथा—कहउँ जुगल मुनिबर्ज कर मिलन सुभग संबाद। १। ४३।' और देखिये, दोनो मुनियोंको इस समागमसे कितना आनंद हुआ, यथा—'सुनु मुनि आजु समागम तोरें। कहि न जाइ जस सुख मन मोरें। १। १०५।', 'भरद्वाज मुनि अति सुख पावा। १। १०४।' अब रहा, तुलसी-संत-संवाद। इसको अपने मुखसे कैसे कहें? 'सुनहु सकल सज्जन सुख मानी', 'साधु-समाज भनित सनमानू' से स्पष्ट है और नित्य देखनेमें आ ही रहा है कि आपके इस कथासे सज्जनोंको कैसा सुख मिल रहा है। उपर्युक्त कारणोंसे 'सुठि सुंदर बर' प[द] दिया गया।

※ "संवाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि" ※

१—'संवाद' का अर्थ बातचीत है। 'संवाद' शब्दसे श्रोता और वक्ता दोनोंका समीप होना और आपसमें बात करना, शंका-समाधान करना पाया जाता है। गोस्वामीजी ग्रन्थमें चार संवाद बुद्धिसे रचे हुए लिखते हैं। गोस्वामीजीका संवाद सज्जनोंसे है। आप रामचरितमानस उनको सुनाते हैं, यथा—'रामचरितमानस मुनिभावन। बिरचेउ संभु सुहावन पावन॥ कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥'''१। ३५।' प्रथम भूमिका बाँधकर मानसका स्वरूप और उसके प्रचारका हेतु इत्यादि कहकर आप सज्जनोंसे कहते हैं कि यही कथा श्रीयाज्ञवल्क्य मुनिने श्रीभरद्वाज मुनिसे कही थी। हम आपको उन्हींका पूरा संवाद सुना देते हैं।

कवियों और वक्ताओंकी यह शैली है कि जब वे कोई बात कहते हैं तो प्रथम उसकी भूमिका बाँधते हैं। वैसे ही यहाँ संवादके पहले ग्रन्थकार यह बता देते हैं कि इन दोनों मुनियोंका समागम कब और क्योंकर हुआ और कथा कहनेका क्या कारण था। 'अब रघुपतिपदपंकरुह हिय धरि पाइ प्रसाद। कहउँ जुगल मुनिबर्ज कर मिलन सुभग संबाद॥ १। ४३।' यहांसे लेकर 'करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदु बानी॥ १। ४५। ६।' तक 'मिलन' कहा। इसके आगे 'नाथ एक संसउ बड़ मोरें। करगत बेद तत्व सब तोरें॥'''। १। ४५। ७।' से भरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवादका आरम्भ हुआ। ये वाक्य भरद्वाजमुनिके हैं। याज्ञवल्क्यमुनिका उत्तर 'जागबलिक बोले मुसुकाई। १। ४७। २।' से शुरू होता है। भरद्वाजजीकी प्रशंसा करके श्रीरामकथाका कुछ महत्त्व कहकर आप बोले कि श्रीपार्वतीजीने भी ऐसा ही सन्देह किया था तब महादेवजीने विस्तारसे उनको समझाया था। हम तुमसे वही संवाद कहे देते हैं, तुम्हारा सन्देह दूर हो जायगा। यथा—'ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी॥ कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा-संभु-संबाद। ४७।' और उस संवादके पूर्व उस संवादका समय और कारण भरद्वाजजीको कह सुनाया। यथा—'भयउ समय जेहि हेतु जेहि सुनु मुनि मिटिहि बिषाद। ४७। एक बार त्रेताजुग माहीं। संभु गये कुंभज रिषि पाहीं॥'''से लेकर 'बैठीं सिव समीप हरषाई। पूरुब जन्म कथा चित आई॥ पति हिय हेतु अधिक अनुमानी। बिहँसि उमा बोली प्रिय बानी॥ कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैलकुमारी॥ १०७। ६।' तक यह प्रसङ्ग है। इसके आगे श्रीपार्वती-महेश्वर-संवाद है। श्रीपार्वतीजी पूछेंगी और शिवजी कहेंगे। 'बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी॥ १०७। ७।' से यह संवाद शुरू होता है। आपके वचन सुनकर शिवजीने 'परमानंद अमित

सुख' पाया और फिर 'रघुपतिचरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह। १। १११।' आपने श्रीरामकथा तथा श्रीरामनाम और श्रीरामरूपका परत्व आदिमें कहा, जिसमें प्रथम प्रश्नका उत्तर भी आ गया और श्रीपार्वतीजीका संशय भी दूर हुआ। तब उन्होंने यह प्रश्न किया कि 'राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्वरहित सब-उर-पुर-बासी॥ नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू।''''' १।१२०।' इसपर शिवजीने उनकी प्रशंसा की और कहा कि हम तुमको रामचरितमानसकथा सुनाते हैं जो भुशुण्डिजीने गरुड़जीसे कही थी। यथा—'सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़॥ सो संबाद उदार जेहिं बिधि भा आगे कहब। सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर अनघ॥ हरि गुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित। मैं निज मति अनुसार कहउँ उमा सादर सुनहु॥ १। २०।' शिवजीने कथा कहना शुरू किया और यह कह दिया कि भुशुण्डि-गरुड़-संवाद जिस तरह हुआ यह पीछे कहेंगे। यह संवाद उत्तरकाण्डमें है—'ऐसिअ प्रश्न बिहंगपति कीन्हि काग सन जाइ। सो सब सादर कहिहउँ सुनहु उमा मन लाइ। उ०। ५५।' 'मधुर बचन तब बोलेउ कागा॥ नाथ कृतारथ भयउँ मैं तव दरसन खगराज। आयसु देहु सो करउँ अब प्रभु आयहु केहि काज॥ ६३। सुनहु तात जेहि कारन आयउँ। सो सब भयउ दरस तव पायउँ॥'''।७।६४।१।' से यह संवाद शुरू होता है।

ऊपरके लेखसे यह स्पष्ट हो गया कि तुलसी-संत-संवादके अन्तर्गत याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद है जिसके अन्तर्गत शिव-पार्वतीसंवाद है और इस संवादके अन्तर्गत भुशुण्डि-गरुड़-संवाद है।

२—☞ संवादोंका वृत्तान्त क्योंकर गुसाईंजीको प्राप्त हुआ, यह ३४ (११) में लिखा जा चुका है।

३—अब यह देखना है कि कौन संवाद कहाँ समाप्त किया गया है। सबके पीछे भुशुण्डि-गरुड़ संवाद है। इसलिये जरूरी है कि उसके वक्ता शिवजी उस संवादकी इति लगाकर तब अपना संवाद समाप्त करें। इसी तरह शिवपार्वती-संवादकी इति लगानेपर उसके वक्ता याज्ञवल्क्यजी अपने संवादको समाप्त करेंगे; जिसके पीछे ग्रन्थके मुख्य वक्ता अपने कथनको समाप्त करेंगे। यही कारण है कि इति विलोमसे लगाई गई है अर्थात् जो क्रम प्रारंभका है उसका उलटा समाप्तिमें है।

संवाद		इति कहाँ हुई
श्रीभुशुण्डि-गरुड़-संवाद	१	'तासु चरन सिरु नाइ करि, प्रेम सहित मतिधीर। गयउ गरुड़ बैकुंठ तब, हृदय राखि रघुबीर॥७। १२५।
श्रीशिव-पार्वती-संवाद	२	'मैं कृतकृत्य भइउँ अब, तव प्रसाद बिस्वेस। उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस॥७। १२९।'
श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद	३	"यह सुभ संभु-उमा-संबादा। सुख संपादन समन बिषादा। भव भंजन गंजन संदेहा। जन रंजन सज्जन प्रिय एहा॥ राम उपासक जे जग माहीं। एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं॥ ७। १३०।'
श्रीतुलसी-संत-संवाद	४	"रघुपति कृपा जथा-मति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥" से 'ते संसार पतङ्गघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः' (ग्रंथके अन्तमें)

प्रश्न—संवादोंमें 'विलोम इति' लगानेका क्या भाव है?

उत्तर—'विलोम इति' का भाव यह है कि गोस्वामीजी ग्रन्थकार हैं। यदि ग्रन्थकर्त्ता आदि अन्तमें न रहे तो ग्रन्थको आरंभ और समाप्त कौन करे? इसीसे आदि-अंतमें आप ही रहे हैं। प्रारंभ और इति, चारोंकी पृथक्-पृथक् कही हैं, बीचमें मुनि-संवाद और शिवपार्वतीसंवाद मिलाये हैं। (पं० रामकुमारजी)

नोट—३ गोस्वामीजीने अपना संवाद याज्ञवल्क्यजीके संवादमें मिलाया। यथा-'कहौं जुगल मुनिबर्ज कर मिलन सुभग संबाद ।१।४३।' याज्ञवल्क्यजीने अपना संवाद शिवजीके संवादमें मिलाया। यथा-"कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा-संभु-संबाद ।१।४७।' शिवजीने अपना संवाद भुशुण्डिजीके संवादमें मिलाया। यथा—"सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब ।१।१२०।' इसी तरह तालाबके घाट मिलाये जाते हैं।

४ गोस्वामीजीने अन्तमें मनही को उपदेश देकर ग्रन्थको समाप्त किया है और आदिसे अन्ततक ठौर-ठौर मन हीको उपदेश दिया है। इसका कारण केवल उनका कार्पण्य है। कथा सज्जनोंसे कह रहे हैं, सज्जनों-को भला कैसे उपदेश देते ? उपदेश तो कुटिल जीवोंको दिया जाता है, सन्तमें कुटिलता कहाँ ? इसलिये मन-की ओटमें 'कुटिल जीव निस्तारहित' उपदेश देते आये। पर आपका संवाद सज्जनों हीसे है। 'मन' को बारंबार उपदेश करनेके कारण कुछ महानुभावोंने गोस्वामीजीका संवाद अपने मन हीसे होना माना है। और किसी-किसीने आपका संवाद अपने गुरु एवं अपने प्रेमियोंसे माना है।

"विरचे बुद्धि विचारि" इति ।

१—बैजनाथजी लिखते हैं कि "मानस-सरमें पाषाण-मणि-चित्रित चार घाट हैं। यहाँ प्रथम संवाद गोस्वामीजीका जो 'भाषा बद्ध करब मैं सोई' है वह दैन्यतारूप श्वेत पाषाण रचित है। इस संवादमें धाम मणिवत् चित्रित है क्योंकि यह अयोध्यापुरीमें प्रारंभ हुआ और उसीके प्रभावसे ग्रन्थका माहात्म्य माना है। यथा - "सब विधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी ॥ विमल कथा कर कीन्ह अरंभा। सुनत नसाहिं काम मद दंभा ॥…१।३५।' दूसरा संवाद भरद्वाज-याज्ञवल्क्यका कर्मकांडरूप हरित-पाषाण रचित है। इसमें 'लीला' मणिवत् चित्रित है। यथा—"महामोह महिषेस बिसाला। रामकथा कालिका कराला ॥ रामकथा ससि किरन समाना। संत चकोर करहिं जेहि पाना ॥ १।४७.६-७।" तीसरा संवाद शिवपार्वतीजीका ज्ञानरूप स्फटिक-पाषाणरचित है। इसमें 'नाम' मणिवत् चित्रित है। यथा—"कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करौं बिसोकी ॥१।११९।१।" चौथा संवाद भुशुण्डि-गरुड़का उपासनारूप लाल पाषाण रचित है। इसमें प्रभुका रूप मणिवत् चित्रित है। यथा—'परम प्रकासरूप दिन राती। नहिं कछु चहिअ दिया घृत बाती ।७।१२०।'

२ त्रिपाठीजी—पहले ग्रन्थकारने कहा था कि 'मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई। १। १३।१०।, पर संवादकी रचनामें इन्होंने किसीका अनुकरण नहीं किया। चार-चार कल्पकी कथाओंका एक साथ कथन कहीं भी नहीं पाया जाता। सभीने किसी न किसी कल्प विशेषके रामावतारकी कथा कही है, यथा—"कलप कलप प्रति प्रभु अवतरहीं। चारु चरित नाना विधि करहीं ॥ तब तब कथा मुनीसन्ह गाई।…"। यहां पर ग्रंथकारने अपनी बुद्धिसे काम लिया है, किसीका अनुकरण नहीं किया, इसी लिये कहते हैं कि 'विरचे बुद्धि विचारि'। कर्मकांडी, ज्ञानी, उपासक और दीन सर्वसाधनहीन सब प्रकारके अधिकारियोंका काम एक ही रामचरितमानससे चल जाय, इस बातको बुद्धिसे विचारकर ग्रंथकर्त्ताने चारों संवादोंकी, अपने रामचरितमानसके लिये, रचना की।

३ श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं—"लोकमें घाटकी जब विशेष रचना होती है तब मणि-माणिक्य आदि भी लगाए जाते हैं। वैसे ही रचना इन घाटोंमें भी है। श्रीरामचरितको भी मणि माणिक्य के समान कहा है; यथा—'सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक ॥ दो० १ ।' यहाँ चार संवादरूप खानोंके चरित्र चार प्रकारके रत्न हैं। श्रीशिवजी गरलकंठ हैं, अतः इनकी कविता सर्पमणि है। याज्ञवल्क्यकी कथा माणिक्य है, क्योंकि यह 'पावन पर्वत बेद पुराना। ७। ११९।' से निकलती है। यही बात 'करगत बेद तत्व सब तोरे। १। ४४।' से सूचित की गई है। भुशुंडीजी की कथा गजमुक्ता है क्योंकि जैसे हाथीके खानेके दाँत और तथा दिखानेके और होते हैं, वैसे ये देखनेमें काक हैं पर बोलते मधुर हैं; यथा—"मधुर बचन

बोलेउ तब कागा । ७ । ६२ ।' अतः यह कथा मणि-माणिक्य-मुक्तारूप होनेसे 'सुठि सुंदर' है, क्योंकि यह सुक-वियों द्वारा निर्मित है; पर इनकी कवितायें जहाँ उत्पन्न हुईं वहाँपर शोभित नहीं हुईं, जैसे मेरे संवादमें पड़कर हुईं; यथा—"मनि मानिक मुकुता छबि जैसी । अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी । नृप किरीट तरुनीतनु पाई । लहहिं सकल सोभा अधिकाई । तैसहि सुकबि कबित बुध कहहीं । उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं । दो० १० ।...' (यह पूरा लेख त्रिपाठीजीका है जो उन्होंने 'सुठि सुंदरवर' पर लिखा है । पृष्ठ ५७८ देखिए । केवल प्रारंभमें कुछ शब्द बढ़ाकर उसे अपने तिलकमें दिया और ग्रंथभरमें उनका नाम कहीं भी नहीं दिया है) ।

४—पं० रूपनारायण मिश्रजी कहते हैं कि श्रीपंडितजीने इस मानस महारूपकको विशेष सुशोभित करने का प्रयत्न किया है । ढंग बहुत सुन्दर है परन्तु इसमें कतिपय त्रुटियाँ जान पड़ती हैं, उनको दूर करनेसे वह और सुन्दर होगा । टीकाकार, कथा वाचक आदिको सदा सावधान रहना चाहिये कि कविके भाव आदिमें विरोध हो ऐसी कोई कल्पना आदि न होने पावे । यहां चार संवादोंको खानें कहा है, परंतु गोस्वामीजीने संवादोंको घाट कहा है । अपि च, चार, खानोंकी यहाँ आवश्यकता भी नहीं, क्योंकि सर्पमणि और गजमुक्ता खानोंमें नहीं होतीं । अब यद्यपि पूर्व प्रसंगमें रामचरितको मणि-माणिक्य कहा है, तथापि इस प्रसंगमें उसको जल कहा है; यथा—"बरषहिं राम सुजस बर बारी ।' यद्यपि सूक्ष्मविचार करनेसे चरित्र और सुयशमें कुछ भेद हो सकता है, तथापि "सूझहिं रामचरित..."—यहाँपर रामचरितसे रामसुयश ही अभीष्ट है, जिसको इस प्रसंगमें जल कहा है । रामचरित शब्दसे सुयश तथा कविता अर्थात् दोहा, चौपाई आदि छंद, अर्थ, भाव, ध्वनि, अवरेब, रस आदि अंगोंका ग्रहण होता है । परन्तु प्रायः इन सबोंका रूपक आगे अलग-अलग बताया है । अतः रामचरितशब्दसे यहाँ क्या लिया जाय कि जिसे रत्न समझा जाय, यह संदेह रह जाता है । 'हाथीके दाँत खानेके और तथा दिखानेके और होते हैं, यह कथन प्रायः कपटके दृष्टांतमें कहा जाता है । इसके बदले यों कहना ठीक होगा कि जैसे हाथी रंगरूपसे बेडौल दीखता है परंतु अंदर मुक्ता धारण करता है, वैसे... । तथा उपर्युक्त उद्धरणमें 'कविता' शब्द आया है और उसपर कुछ विशेष भाव भी कहा गया; परन्तु यहाँ 'कविता' शब्द से क्या अभीष्ट है यह संदेह हो जाता है; क्योंकि यहाँकी सब कविताएँ श्रीगोस्वामीजीकी बनाई हुई हैं अन्य वक्ताओंकी नहीं । मेरी तुच्छ बुद्धिमें इस विषयमें ऐसा आता है कि श्रीगोस्वामीजी, श्रीयाज्ञवल्क्यजी, श्रीशिवजी और श्रीभुशुण्डीजीके संवादोंमें क्रमशः दैन्य, कर्म, ज्ञान और उपासनाकी प्रधानता महानुभावोंने मानी है । जैसे रत्नोंसे घाटकी शोभा होती है वैसे ही दैन्य आदिसे इन संवादोंकी शोभा है । अतः इन्हीं दैन्यादि चारोंको रत्न मानना ठीक होगा । यद्यपि आगे ज्ञानको मराल, धर्म (कर्म) को जलचर और भक्ति-निरूपणको द्रुम कहा है तथापि वहाँ यह समाधान हो सकता है कि इन महात्माओंके निजी खास वचनोंमें जो ये विषय प्रतिपादित हैं उनको रत्न माना जाय और जो दूसरोंके भाषणमें आए हैं उनको मराल आदि कहा जाय । इस प्रकार 'बिरचे बुद्धि बिचारि' के 'वि' उपसर्गको लक्षित करके जो भाव पंडितजीने कहे हैं वे प्रायः सब लग जाते हैं ।

यह जो उन्होंने लिखा है कि "चार-चार कल्पोंकी कथाएँ एक साथ कहीं नहीं पाई जातीं । इसी से 'बिरचे बुद्धि बिचारि' लिखा है अर्थात् अपनी ही बुद्धिसे काम लिया है"—यह कहाँ तक ठीक होगा यह विचारणीय है । चार कल्पोंकी कथायें तो शिवजीने कही हैं इसमें गोस्वामीजीने कोई रद्दो-बदल (फेर फार) नहीं किया है । यदि इसको उनकी बुद्धिका विलास माना जायगा तब तो इतिहासकी सत्यता ही न रह जायगी । हाँ, संवादको जो घाटरूपकी कल्पना दीगई वह कविकी है ।

टिप्पणी—१ 'तेइ एहि पावन सुभग सर...' इति । ऊपर १।३६।८ में जलको पावन और सुहावन कहा है, इससे यहाँ तालाबको भी पावन और सुभग कहा । कहने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वीके योगसे जल अपा-

मन और मलिन हो जाता है सो बात इसमें नहीं हुई, क्योंकि शिवजीकी दी हुई सुमति है। अथवा, (ख)-संवाद अत्यन्त सुन्दर है इससे घाट को मनोहर कहा, राम-यशसे पूर्ण है इससे सरको सुभग कहा-('मनोहर' का अर्थ यह भी है कि चारों ही श्रोताओंका मन हर लेते हैं, जिस घाटमें उतरे उसीमें रामयश मिलता है। अर्थात् सब घाट रामयशमय हैं)

त्रिपाठीजी—(क) मलके दूर करनेवाली वस्तुयें 'पावन' कहलाती हैं और मनको आकर्षण करने वाली 'सुंदर' कहलाती हैं। मन स्वभावसे ही विषयकी ओर आकृष्ट होता है। अतः पावन और सुन्दर दोनों गुणों का एकत्र होना दुर्लभ है परन्तु यह सर पावन भी है और सुन्दर भी। पावन इस लिये है कि वेदान्तवेद्य पुरुषका इसमें वर्णन किया गया है। यथा—'जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना॥ प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना॥' और सुन्दर इस लिये है कि विषयी जीवोंके चित्तको भी आकर्षित करता है। यथा—'विषइन्ह कहँ पुनि हरिगुनग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा। ७। ५३।' (ख) संवादपक्षमें 'सुठि सुंदर' और घाटके पक्षमें 'मनोहर' कहा है, इससे सिद्ध होता है कि 'सुठि सुंदर' ही 'मनोहर' है। यद्यपि सुन्दरता और मनोहरतामें वस्तुभेद नहीं है, तथापि सुन्दरताके उत्कर्षमें मनोहरता आती है। यथा—'तब देखी मुद्रिका मनोहर। राम नाम अंकित अति सुंदर।'

टिप्पणी—२ (क) 'मानससरमें चार घाट हैं, यहाँ चार संवाद हैं, समता केवल इतने ही में है। यदि कोई कहे कि 'घाटसे जलकी प्राप्ति होती है तो शिव-मानसमें घाट कहाँ है, और अन्य ग्रन्थोंमें घाट कहाँ हैं, रामयश सबको प्राप्त होता है', तो उसपर कहते हैं कि गोस्वामीजी रूपक कह रहे हैं, चार संवाद कहकर उन्होंने अपने ग्रन्थमें चार घाट बनाये और सब रामयश आपहीने कहा है। यदि घाट न बनाते, केवल रामयश कहते तो क्या लोगोंको न प्राप्त होता?" अवश्य प्राप्त होता। पुनः, (ख) घाटके द्वारा जलकी प्राप्ति होती है, यहाँ वक्ता लोग रामयश कह गये हैं, इसीसे सब लोगोंको प्राप्त हुआ।

"घाट मनोहर चारि" इति।

गोस्वामीजीने संवादको घाट कहा, घाटको मनोहर कहा और यह लिखते हैं कि बुद्धिने इन्हें विचार-पूर्वक रचा है। रचा ही नहीं बल्कि 'बिरचे' अर्थात् विशेष रीतिसे रचा है। मानस-परिचारिकाकार लिखते हैं कि "इन शब्दोंसे प्रतीत होता है कि इन घाटोंमें कुछ न कुछ विचित्रता, विलक्षणता अवश्य है। ये चारों एक समान न होंगे। तभी तो चार घाट कहे हैं, नहीं तो घाटका कौन नियम?" इसी विचारसे प्रायः सभी प्रसिद्ध टीकाकारोंने अपनी-अपनी बुद्धि घाटके रूपकको पूरा निबाह देनेमें लगायी है।

१—पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सर में चार घाट होते हैं। इसलिए उसकी जोड़में यहाँ चार संवाद कहे। केवल इतने ही में समता है।' (मानसपरिचारिका, मानसतत्वविवरण और बैजनाथजीके तिलक इत्यादि में घाटोंका रूपक पूरा-पूरा दिखाया गया है)

२—प्रायः तालाबमें चार घाट हुआ करते हैं। ग्रन्थकारने पम्पासरके वर्णनमें भी यह बात कही है। यथा—'पुनि प्रभु गये सरोवर तीरा। पंपानाम सुभग गंभीरा॥ संत हृदय जस निर्मल बारी। बाँधे घाट मनोहर चारी॥ आ० ३९।' चारों घाट एकसे नहीं होते। घाटोंमेंसे एक घाट सपाट होता है, जिसमें लँगड़े-लूले और पशु सुगमतासे जलतक पहुँचकर स्नान पान कर सकते हैं। लौकिक तालावोंमें प्रायः इस घाटको 'गऊघाट' कहते हैं। यह घाट आजकलके तालावोंमें प्रायः 'पूर्व' दिशामें होता है। दूसरा घाट 'पञ्चायतीघाट' कहलाता है, जिसमें सर्वसाधारण लोग बेरोक-टोक स्नान-पान करते हैं। यह प्रायः 'दक्षिण' दिशामें होता है। तीसरा घाट 'राजघाट' कहलाता है, जिसमें केवल उत्तम वर्णके अथवा बड़े लोग स्नान पान करते हैं। यह घाट प्रायः

'पश्चिम' दिशामें होता है। चौथा घाट 'पनघट एवं स्त्रीघाट' कहलाता है। यहाँ पुरुषोंको जानेका अधिकार नहीं, क्योंकि यहाँ सती साध्वी स्त्रियाँ पीनेको जल भरती हैं तथा स्नान करती हैं। अच्छे सरमें यह घाट झँझरीदार होता है कि बाहरसे भी कोई देख न सके। यथा—'पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना॥ ७। २८।' यह घाट प्रायः 'उत्तर' दिशामें होता है।

३—अब यह प्रश्न होता है कि 'ग्रन्थकारने जो चार संवाद चार घाट कहे हैं तो कौन संवाद कौन घाट है और क्यों?' या यों कहिये कि 'इन घाटोंके कारीगरोंके नाम और काम क्या-क्या हैं?' और इसका उत्तर यह दिया जाता है कि—

(क) तुलसी-सन्त-संवाद 'गोघाट' के समान है। कारण यह है कि यह संवाद दीनतासे परिपूर्ण है। गोस्वामीजीने आदिके ३५ दोहोंमें विशेषकर और ग्रन्थमें ठौर-ठौर दीनता दर्शायी है। यथा—'सूझ न एकउ अंग उपाऊ। मन मति रंक मनोरथ राऊ॥', 'लघु मति मोरि चरित अवगाहा। १। ८।' इत्यादि। अपनेको लूला-लँगड़ा वा छोटी च्यूँटी सम कहा है—'अति अपार जे सरित-बर जौं नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिकउ परमलघु बिनु श्रम पारहि जाहिं। १। १३।' ☞ जो सकल साधनरूपी अङ्गसे हीन हैं वे इस घाटमें आकर राम-सुयश-जलको प्राप्त करके भव पार होंगे। यह घाट अति सरल है, इसमें सबका निर्वाह है। (मा० प्र०)।

☞ दीनतासे परिपूर्ण होनेके कारण इस संवादका 'दैन्यघाट' नाम रक्खा गया है। गोस्वामीजीका मत दोहावलीके 'तुलसी त्रिपथ बिहाइ गो राम दुआरे दीन।' इस दोहेमें स्पष्ट है। वे कर्म, ज्ञान, उपासना तीनों मार्गोंको छोड़ एकमात्र दैन्य भावको ग्रहण किये हुए हैं। पाँडेजी इसे 'प्रपत्ति' घाट कहते हैं। त्रिपाठीजी दैन्यप्रधान कहनेका कारण यह लिखते हैं कि इनसे कोई पूछता नहीं है (प्रश्न नहीं करता है), पर 'करन पुनीत हेतु निज बानी' वे स्वयं अति उत्सुक हैं, कविसमाजमें वरदान माँगते हैं कि 'साधुसमाज भनिति सनमानू' हो। जानते हैं कि मुझसे कहते न बनेगा, पर अपनी रुचिसे लाचार हैं। अतः कहते हैं—'मति अति नीचि ऊँचि रुचि आछी।....१। ८। ६-६।', 'निज बुधि बल भरोस मोहि नाहीं। तातें बिनय करौं सब पाहीं। १। ८। ४।'

(ख) याज्ञवल्क्य-भरद्वाज संवाद 'पञ्चायतीघाट' के समान है। इसे 'कर्मकांडघाट' भी कहते हैं। कारण कि इस संवादमें कर्मकांडकी प्रधानता है।

श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि "कर्मकांडका यह स्वरूप है कि प्रथम गौरी, गणेश, महेशका मङ्गल करें याज्ञवल्क्यजीने यही किया है। देखिये, याज्ञवल्क्यजीने प्रथम कहा है कि 'तात सुनहु सादर मन लाई। कहहुँ राम कै कथा सुहाई। ४७।' परन्तु 'रामकथा' न कहकर वे प्रथम शिव, शक्ति और गणेश आदिका चरित और महत्व कहने लगे। ऐसा करनेमें याज्ञवल्क्यजीका अभिप्राय यह है कि शैव, शाक्त, गाणपत्य इत्यादिको भी इस मानसमें स्नान कराना चाहिये। वे लोग अपने-अपने इष्टका महत्व इसमें सुनकर इस ग्रन्थको पढ़ेंगे।" तीनोंके महत्वका लक्ष्य; यथा—'संकर जगतबंद्य जगदीसा। सुर नर मुनि सब नावत सीसा॥१। ५०।', सब सुर बिष्नु बिरंचि समेता। गए जहां शिव कृपानिकेता॥ पृथक पृथक तिन्ह कीन्हि प्रसंसा। भए प्रसन्न चंद्र अवतंसा। १। ८८।' इत्यादि शिवमहत्वके वाक्य हैं। "मयना सत्य सुनहु मम बानी। जगदंबा तव सुता भवानी॥ अजा अनादि शक्ति अविनासिनि। सदा संभु अरधंग निवासिनि॥ जग संभव पालन लय कारिनि। निज इच्छा लीला बपु धारिनि॥ १। ६८।"— इत्यादि शक्तिमहत्त्वके सूचक वाक्य हैं। और, "मुनि अनुसासन गन पतिहि पूजेउ संभु भवानि। कोउ सुनि संसय करै जनि सुर अनादि जिय जानि। १। १००।" इत्यादि गणेश-

महत्त्वके लक्ष्य हैं। इस प्रकार याज्ञवल्क्यजीने कर्मपूर्वक तीनोंका महत्व कहकर तब श्रीरामकथा कही जिसमें अन्य देवोंके उपासक भी अपने-अपने इष्टकी उपासना सहित श्रीरामचरितमानस सरमें स्नान करें।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि प्रश्नकर्ता भरद्वाजजीका कर्मविषयक ही प्रश्न हुआ। 'एक राम अवधेस-कुमारा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा॥ नारि बिरह दुख लहेउ अपारा। भयउ रोष रन रावन मारा।'—ये दोनों कर्म मानों प्रश्नकर्ताको पसन्द नहीं आये। कर्मविषयक प्रश्न करनेसे ही याज्ञवल्क्यजीने 'मनहु अति मूढ़ा' कहा है; फिर भी शीलगुणकी परीक्षा करके तब रामचरित्र कहा है।

इसके प्रवर्तक श्रीयाज्ञवल्क्यजी और श्रीभरद्वाजजी हैं। वक्ताके वचनोंमें प्रायः कर्म हीका प्रतिपादन पाया जाता है। यथा—"भरद्वाज सुनु जाहि जब, होत बिधाता बाम। धूरि मेरु सम जनक जम, ताहि ब्याल सम दाम॥ १।१७५।", "यह इतिहास पुनीत अति, उमहि कही वृषकेतु। भरद्वाज सुनु अपर पुनि, रामजनम कर हेतु॥१।१५२।", "सो मैं तुम्ह सन कहउँ सबु, सुनु मुनीस मन लाइ। रामकथा कलिमल हरनि, मंगल करनि सुहाइ॥१।१४१।' इत्यादि।

इनके प्रसङ्गोंका उपक्रम और उपसंहार कर्म हीपर जहाँ-तहाँ मिलता है। उनमेंसे कहीं-कहीं प्रसङ्गसे श्री रामपरत्व भी कहा गया है। मकर-स्नान, गणपति, शिव और शक्तिकी पूजा एवं महत्त्ववर्णनके पीछे मुख्य देवका आराधन है। ☞कर्मपूर्वक संवाद होनेके कारण इस संवादका 'कर्म-काण्डघाट' नाम रक्खा गया।

(ग) उमा-शंभु-संवाद राजघाटतुल्य है। यह संवाद ज्ञानमय है। यथा—"झूठेउ सत्य जाहिं बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥ जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥१।११२।", "जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥…१।११७।', 'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। १।११६।४।' से 'राम सो परमातमा भवानी। ११६।५।' तक, इत्यादि ज्ञानप्रतिपादक वचनोंसे शिवजीका कथन प्रारम्भ हुआ है। पं० रामकुमारजीका मत है कि ज्ञानका यही स्वरूप है कि परमेश्वर सत्य है, जगत्‌का प्रपंच असत्य है। यथा—'सत हरिभजन जगत सब सपना', 'रजत सीप महँ भास जिमि०' इत्यादि।

श्रीपार्वतीजीको ज्ञानविषयक सन्देह हुआ। उनके प्रथम प्रश्न ब्रह्मविषयक ही हैं। यथा—'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी। १। ११०। ४।', 'प्रभु जे मुनि परमारथबादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥…राम सो अवधनृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥ जो नृप तनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि। १०८।' सती तनमें भी उनको यही शंका हुई थी कि 'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नृप जाहि न जानत बेद। ५०।' इसीसे शंकरजीने प्रथम ब्रह्म-निरूपण ही किया।

प्रथम ही वचनमें ज्ञान भरा है। ज्ञान अगम्य है। यह संवाद दुर्गम है। इसके अधिकारी ज्ञानी हैं। यह सबके समझमें जल्द नहीं आ सकता। इसीसे इसका 'ज्ञानकाण्डघाट' नाम रक्खा गया है।। और इसके प्रवर्तक श्रीशिव-पार्वतीजी हैं।

(घ) भुशुण्डि-गरुड़-संवाद 'पनघट' घाटके तुल्य है। जैसे सती स्त्री अपने पतिको छोड़ दूसरे पतिपर दृष्टि नहीं डालती, वैसे ही ये अनन्य उपासक हैं, अपने प्रभु और उनके चरित्रको छोड़ दूसरेकी

बात भी नहीं करते। किसीका मङ्गलतक नहीं करते। यथा—"प्रथमहिं अति अनुराग भवानी। रामचरितसर कहेसि बखानी ॥ ७। ६४। ७।" इस संवादमें उपासनाहीकी प्रधानता है, यथा—'सेवक सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि। उ० ११९।' से 'जासु नाम भव भेषज हरन घोर त्रय सूल। सो कृपालु मोहिं तोहि पर सदा रहउ अनुकूल ॥ ७। १२४।' तक। इसीसे इसका 'उपासनाकांडघाट' नाम रक्खा गया है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "इस संवादमें ऐश्वर्यविषयक सन्देह है। यथा—'सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं ॥ भवबंधन ते छूटहिं नर जपि जाकर नाम। खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम। ७। ५८।' भगवान्‌में समग्र ऐश्वर्य है। अनन्य उपासक अपने भगवान् (इष्ट) के ऐश्वर्यका अपकर्ष सह नहीं सकता, अतः (गरुड़को) 'उपजा हृदय प्रचंड बिषादा। ७। ५८।' गरुड़के कहनेपर कि "मोहि भयउ अति मोह प्रभुबंधन रन महुँ निरखि। चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन। ७। ६८। देखि चरित अति नर अनुहारी। भयउ हृदय मम संसय भारी।" श्रीभुशुण्डिजी ऐश्वर्यका वर्णन करते हैं। गरुड़ ऐसे उपासकको पाकर अत्यन्त गोप्य रहस्य कहते हैं। जैसा शिवजीके 'गाइ उमा अति गोप्यमपि सज्जन करहिं प्रकास। ७। ६९।' से स्पष्ट है। इस संवादका सम्बन्ध रहस्य-विभागसे है, इसीसे यहाँ श्रीरामभक्ति एवं परत्वके अतिरिक्त अन्य चर्चा ही नहीं। यहाँ भक्तिरहित व्यक्तिका प्रवेश नहीं है। यहाँ तो 'भजहिं जे मोहि तजि सकल भरोसा' उन्हींका प्रवेश है।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "इसका सम्बन्ध रहस्यविभागसे है, इसी लिये यहाँके श्रोता वक्ता पक्षी रक्खे गये हैं। यह घाट अन्य सभी घाटोंसे पृथक् है, क्योंकि किसी घाटसे इसमें रास्ता नहीं है, यथा—'यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानै कोइ। जो जानै रघुपति कृपा सपनेहु मोह न होइ। ७। ११६।' अतः इसकी कथा चौरासी प्रसङ्गोंमें अलग उत्तरकांडमें कही गई।"

नोट—५ (क) श्रीसुधाकर द्विवेदीजीका मत उपर्युक्त दिये हुए घाटों, संवादों और उनके प्रवर्तकोंके नामोंसे कुछ भिन्न ही है। हम उनके शब्दोंको ही यहाँ उद्धृत किये देते हैं—'यदि चारों ओरसे ऐसा पक्का घाट बना हो जो टूटे नहीं तो बाहरके मैले सरोवरमें नहीं आ सकते। इसलिये याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, भुशुण्डि-गरुड़, महादेव-पार्वती और नारद-वाल्मीकिके संवादरूप चारों घाट ऐसे मजबूत बने हैं जो कभी टूटनेवाले नहीं। ये घाट आप सुन्दर और साफ़ हीरेके हैं, सर्वदा मानसको निर्मल रखनेवाले हैं। महादेव-पार्वतीसंवाद राजघाट, भुशुण्डि-गरुड़का संवाद गोघाट जहाँ पशुपक्षी सब सुखसे स्नान-पान करें। नारद-वाल्मीकि-संवाद द्विजघाट जहाँ ऊँची-जातिके लोग स्नान कर सकते हैं और याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद रामघाट है जहाँ सुखसे सर्वजातिके लोग स्नान करते हैं।'

(ख) मा० त० वि०-कारका मत है कि—"बुद्धिके विचारद्वारा अनुभवात्मक रचा गया है, यथा—'समुझि परी कछु मति अनुसारा। १। ३१।' 'जस कछु बुधि बिबेक बल मोरें। तस कहिहउँ हिय हरिके प्रेरे। १। ३१।' अतएव यह 'बुद्धि-विचार' नाम घाट है। अथवा जिन-जिन रामायण आदिमें राम-चरित इन चारके संवादानुसार है, उन उनका ही भाव लेकर विरचा है, अतः उन्हीं-उन्हींके सम्बन्धसे

घाटोंकी संज्ञा है । इस प्रकार महारामायण-अध्यात्मादिके तत्व-संबंधसे शंकरघाट, भुशुण्डिरामायणादिके तत्त्वसंबंधसे भुशुण्डिघाट, श्रीरामतापिनी उत्तरार्ध इत्यादिके तत्त्वसंबंधसे याज्ञवल्क्य वा भरद्वाज घाट और सत्योपाख्यान, अग्निवेश, वाल्मीकीय, बहुधा उपनिषत् संहिता स्मृति श्रुति सम्मति, सद्गुरु उपदेश, स्वानुभवसम्मति तथा यत्रतत्र उल्थाके अनुसार जिसमें रचना की गई वह 'बुद्धिविचार' घाट है । अथवा, कर्म, उपासना, ज्ञान, दैन्य । अथवा, बहिः अन्तर वन इति प्रज्ञ त्रिधा, चौथा मिश्रित ये चतुर्धा बुद्धि विचार नाम मनोहर चार घाट हैं ।''

नोट—६ ''पूर्व आदि दिशाओंका विचार किस प्रकार किया गया ? तुलसी-संत-घाटको पूर्वदिशाका घाट क्यों कहा गया ?'' इत्यादि शंकाएँ भी यहाँ उठ सकती हैं । इनका समाधान इस प्रकार हो सकता है कि—दिशाओंकी गिनती पूर्वसे प्रारंभ होती है और यहाँ सर्व प्रथम संवाद श्रीतुलसीदासजी ग्रन्थकर्त्ता और संतका है । दूसरे, लोकमें लँगड़े लूलों, पशु पक्षियों आदिके जल पीनेके लिये सपाट घाट होता है वह भी प्रायः पूर्वदिशामें ही होता है । अतः तुलसी-संत-संवाद पूर्वघाट हुआ । परिक्रमा पूज्यस्थानों, सर, मंदिर आदिकी दक्षिणावर्त्त होती हैं । दक्षिणावर्त प्रदक्षिणा करते चलें तो पूर्वके पश्चात् क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशाएँ पड़ेंगी । श्रीरामचरितमानसमें क्रमशः तुलसी-संत-संवादके अंतर्गत याज्ञवल्क्य-भरद्वाज, शिव-पार्वती और भुशुण्डि-गरुड़-सम्वाद आते हैं । अतएव इनको क्रमसे दक्षिण, पश्चिम और उत्तरके घाट कहे गए । ये ही क्रमसे दैन्य वा प्रपत्ति (गौघाट), कर्म (सर्वसाधारण स्मार्त आदि सब मतवालोंका 'पंचायती' घाट), ज्ञान (राजघाट) और उपासना वा पनघट घाट हैं । जैसे तुलसी-संतके अंतर्गत शेष तीनों संवाद वैसे ही प्रपत्तिके अंतर्गत, कर्म, ज्ञान और उपासना सब हैं ।

त्रिपाठीजी—एक ही तालाबमें चारों घाट हैं । अतः चारों एक होनेपर भी दिशाभेद (दृष्टिकोणभेद) से पृथक् हैं । दैन्यघाटके सम्मुख पड़ता है; कर्म उपासना बाएँ दहिने पड़ते हैं; इस भाँति ज्ञानघाट कर्मघाटके सम्मुख उपासनाघाट पड़ता है, दैन्य और ज्ञान दहिने बाएँ हैं । भाव यह कि 'ज्ञानमार्ग तु नामतः' अर्थात् नामसे ज्ञानमार्गकी प्राप्ति होती है । दैन्यमार्गवालेको केवल नाम बल है, अतः ज्ञान उसके सम्मुख पड़ता है । कर्म और उपासनाका समुच्चय विहित है;—विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदो भयं सह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ।'' कर्म और उपासनाका जो एक साथ सेवन करता है वह कर्मसे मृत्युको तिरकर उपासनासे अमृतका भोग करता है । अतः कर्मघाटको उपासनाके सम्मुख कहा । दाएँ बाएँ वाले । (पार्श्ववर्ती) का भी प्रभाव पड़ता ही है, पर वे साक्षात् सम्मुख नहीं हैं ।

नोट—७ ''जो रामचरितमानस शिवजीने ही रचा वही तो सबने कहा, उसमें कर्म, ज्ञान, उपासना आदि कहाँ से आए ? वहाँ तो जो एकका सिद्धान्त है वही सबका चाहिए ?''—यदि कोई यह शंका करे तो उसका उत्तर यह है कि सबका सिद्धान्त एक रामचरितमानस ही है । चारों वक्ता श्रीरामजीके उपासक हैं परन्तु श्रीरामचरितमानमें चार प्रकारके घाट बँधे हैं । कारण यह है कि श्रीशिवजीने जो मानस रचा है वह अत्यन्त दुर्गम है, जैसा ग्रन्थके अन्तमें कहा गया है—''यत्पूर्वं प्रभुणाकृतं सुकविना श्रीशम्भुना दुर्गमं' वह समस्त जीवोंको सुगमतासे प्राप्त हो जाय यह सोचकर कविने भगवान् शङ्करकी दी हुई सुन्दर बुद्धिसे विचारकर इसमें

चार प्रकारके सम्वादरूपी चार घाट रचे । जो ज्ञानी हैं वे ज्ञानघाट होकर श्रीरामयश जल प्राप्त करें, उपासक उपासनाघाट होकर, कर्मकांडी स्मार्त पञ्चायतीभक्त कर्मघाट होकर और सर्व-कर्म-धर्मसे पंगु सर्वसाधनहीन दैन्य वा प्रपत्तिघाट होकर उसी श्रीरामयशजलको प्राप्त करें। श्रीरामचरितमानस एक ही है पर उसके आश्रित कर्म, ज्ञान, उपासना, दीनता सभी हैं।—ये सब भाव "बिरचे बुद्धि बिचारि" इन शब्दोंकी ही व्याख्या है। (मा० प्र०)।

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि श्रीरामचरितमानसके चारों वक्ताओंके मानसोंमें भी कुछ सूक्ष्म भेद हुए हैं, फिर भी गोस्वामीजीने अपने मानसमें चार घाट बनाकर प्रत्येक घाटके लिये वक्ता और श्रोता नियत कर दिये हैं जिसमें रास्ता अलग-अलग होनेपर भी प्राप्य स्थान एक ही रहे। रूपकमें जहाँ कहीं भेद पड़ता है, उसे किसी न किसी जगह व्यक्त कर दिया है । यथा—"जे पदसरोज मनोज-अरि उर-सर सदैव बिराजहीं"।—इससे पता चलता है कि श्रीशिवजीके 'मानससर' में सरकारके चरण ही कमल हैं। पर गोस्वामीजी स्पष्ट कहते हैं कि "छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा। ३७। ५।' मेरे मानसमें तो छन्द-सोरठा दोहारूपी कमल हैं, मैं सरकारके चरणोंको मानसका कमल न बना सका। "जो भुसुंडि मन मानस हंसा। १।१४६।' 'हर हृदि मानस बाल मरालं। ३।११।' इन पदोंसे पता चलता है कि भुशुंडिजी तथा शंकरजीके मानससरमें स्वयं सरकार हंसरूप थे। पर गोसाईंजी कहते हैं कि इतना सौभाग्य मेरा नहीं, मेरे मानसमें तो 'ज्ञान बिराग बिचार मराला' हैं। रूपकके शेष अंग सबके 'मानसों' में समान मालूम होते हैं।

☞संवादका रूपक घाटसे बाँधा गया। यह रूपक आगे दिये हुये नक्शोंसे सुगमतासे समझमें आ जायगा।

	चार मुख्य संवाद	श्रीतुलसी-सन्त	श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज	श्रीशिव-पार्वती	श्रीभुशुण्डि-गरुड़
१	संवादोंकी भूमिका	'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि' मं० श्लोक १ से	भरद्वाज मुनि बसहिं प्रयागा।'··· १। ४४ (१) से 'करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदु बानी॥ ४५। ६।' तक।	'कहउँ सो मति अनुहारि अब उमा संभु-संवाद ॥ ४७।' से 'कथा जो सकल लोक हितकारी। सोइ पूछन चह सैल कुमारी। १०७। ६।' तक।	'ऐसिअ प्रश्न बिहंगपति कीन्हि काग सन जाइ। सो सब सादर कहिहउँ सुनहु उमा मन लाइ। उ०। ५५।' से 'मधुर बचन तब बोलेउ कागा। उ० ६३। ८।' तक।

चार मुख्य संवाद	श्रीतुलसी-सन्त	श्रीयाज्ञवल्क्य-भरद्वाज	श्रीशिव-पार्वती	श्रीभुशुण्डि-गरुड़
३ संवाद कहाँसे प्रारम्भ हुआ।	'बरनउँ रघुबर बिसद जसु सुनि कलि कलुष नसाइ । २९ । जागबलिक जो कथा सुहाई । भरद्वाज मुनिबरहि सुनाई ॥ कहिहउँ सोइ संबाद बखानी । सुनहु सकल सज्जन सुख मानी ॥ बा० । २९-३० ।' से 'कहउँ जुगल मुनिवर्ज कर मिलन सुभग संवाद । ४३ ।' तक । वस्तुतः सारा रामचरितमानस तुलसी-संत-संवाद है । सब संवाद तुलसीदासजीने सुनाये हैं ।	'नाथ एक संसउ बड़ मोरे । कर-गत बेद तत्त्व सब तोरे ॥४५।७।' से	'बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी । त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी । १०७ । ७ ।'. से	'आयसु देहु सो करउँ अब प्रभु आयहु केहि काज॥ उ० ६३ ।' से
४ संवादों की इति कहाँ लगायी गयी *	'रघुपति कृपा जथा मति गावा । मैं यह पावन चरित सुहावा ॥ १ । १३० । ४ ।' (पं० रा० कु०)	'यह सुभ संभु उमा संबादा। सुख संपादन समन बिषादा ॥ उ० १३० ।' (पं० रा० कु०)	'रामकथा गिरिजा मैं बरनी। कलिमल समन मनोमल हरनी उ०।१२९।' (पं.रा. कु.),'मैं कृतकृत्य भइउँ अब...।' (मा.सं.)	'तासु चरन सिर नाइ करि प्रेम सहित मति धीर। गयउ गरुड़ बैकुंठ तब हृदय राखि रघुबीर॥ उ० १२५।'
५ घाटके रूपक में कौन संवाद कौन घाट है	दैन्यघाट (यह संवाद दीनता और कार्पण्यसे परिपूर्ण है)	कर्मकाण्डघाट (इसमें कर्म-काण्डकी विशेषता है । मकर-स्नान, गौरी-गणेश-महेशकी पूजा, महत्व आदिका वर्णन करके तब मुख्य देवकी कथा है)	ज्ञानघाट यह ज्ञान और अनुभवपूर्ण संवाद है । ज्ञान-मय वचनोंसे ही इसका प्रारम्भ हुआ है ।	उपासनाघाट इसमें अनन्य उपासनाकी रीति आद्योपान्त भरी है ।
६ लौकिक सरके किस घाटके तुल्य ये घाट हैं	गऊघाट (जहँ जल पिअहिं बाजि गज ठाटा)	पंचायतीघाट (मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर)	राजघाट (राजघाट सब बिधि सुंदर बर)	पनघट (तहाँ न पुरुष करहिं असनाना)

*मयङ्ककार प्रथम तीन संवादोंकी इति यों लगाते हैं । तुलसी सन्त—'वर्णानामर्थसंघानां' से 'बोले अति पुनीत मृदुबानी' तक । याज्ञवल्क्य भरद्वाज—'बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी । त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी' तक। शिव पार्वती—"बहु बिधि उमहिं प्रसंसि पुनि बोले कृपानिधान' तक ।

❀ श्रीसीताराम ❀

॥ श्रीरामचरितमानस-सर ॥

उत्तर दिशा

'नाथ कृतारथ भयउँ मैं तव दरसन खगराज।
आयसु देहु सो करउँ अब प्रभु आयहु केहि काज॥
सदा कृतारथरूप तुम्ह कह मृदु बचन खगेस।
जेहि कै अस्तुति सादर निज मुख कीन्ह महेस॥' इत्यादि
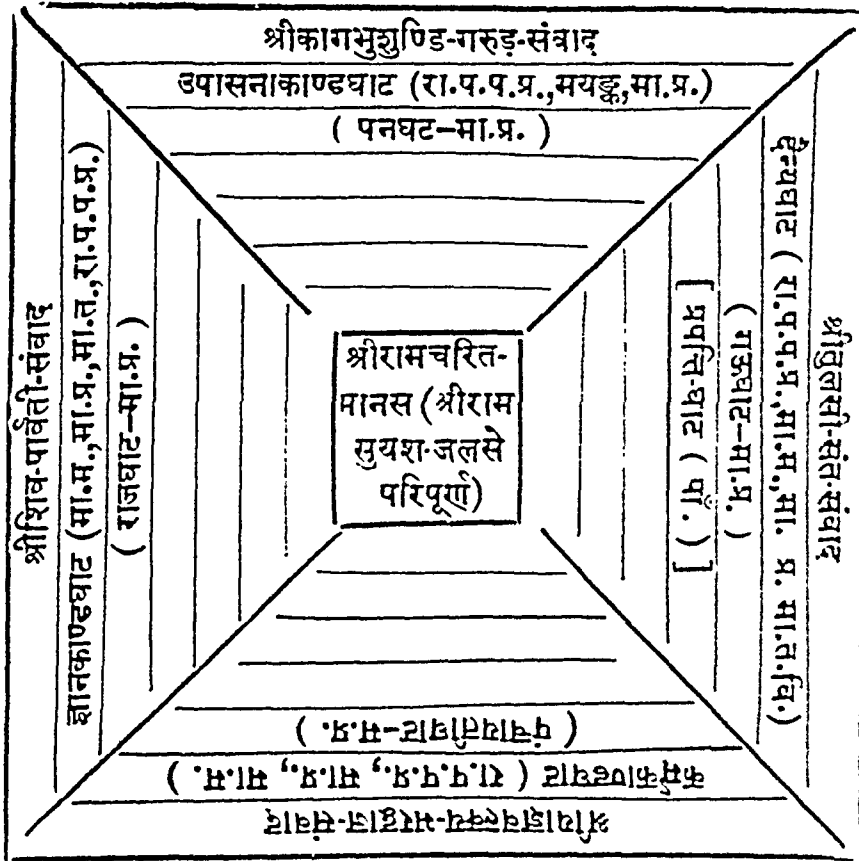
दक्षिण दिशा

'नाथ एक संसउ बड़ मोरे। करगत बेदतत्त्व सब तोरे।'
४५ (७) इत्यादि से।

❀ मयङ्ककारके मतानुसार यह संवाद 'वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि' से प्रारम्भ हुआ है और 'करि पूजा मुनि सुजस बखानी। बोले अति पुनीत मृदु बानी' पर समाप्त हुआ। संवाद और घाटक्रम अधिक मतके अनुसार यहाँ सरमें दिखाया गया है। भिन्न-भिन्न मतोंका उल्लेख पूर्व पृष्ठोंमें किया जा चुका है।

सप्त प्रबंध सुभग सोपाना । ज्ञान नयन निरखत मन माना ॥ १ ॥

शब्दार्थ—प्रबन्ध—यह शब्द 'प्रबन्धकल्पना' से लिया गया है जिसका अर्थ है—वाक्यविस्तारकी रचना, काण्ड । सोपान=सीढ़ी । निरखत = देखते ही । मन माना=मन रमता है, प्रसन्न होता है; मान लेता है अर्थात् उसकी प्रतीति हो जाती है । यथा—'कौसिक कहेउ मोर मन माना', 'मन माना कछु तुम्हहिं निहारी'

अर्थ—सात सुन्दर काण्ड ही इस मानसकी सुन्दर (सात) सीढ़ियाँ हैं । ज्ञानरूपी नेत्रसे देखते ही मन प्रसन्न होता है ॥ १ ॥

नोट—१ (क) घाट बँधनेपर भी सीढ़ीके बिना जलका मिलना अति कठिन जानकर ग्रन्थकार स्वयंही सीढ़ीका निर्माण करते हैं । घाटमें सीढ़ियाँ होती हैं । ऊपर चार संवदोंको चार घाट कहा है । अब बताते हैं कि यहाँ मानस-सरमें सीढ़ियाँ हैं, यहाँ रामचरितमानस-सरमें सप्त प्रबंध सात काण्ड ही सात सीढ़ियाँ हैं । ["यह शंका न करनी चाहिये कि लोगोंने पीछेसे वाल्मीकीय आदि के आधारपर सातों प्रबंधोंके बाल, अयोध्या आदि नाम रख दिये, क्योंकि बिना इनके माने काम नहीं चलता । ग्रन्थभरमें कहीं किष्किंधाका नाम नहीं आया है । यदि चौथे प्रबंधका नाम किष्किंधा न मानिये तो 'मंत्रिन्ह पुर देखा बिनु साईं' अथवा 'अर्धरात्रि पुर द्वार पुकारा' इन अर्धालियोंके 'पुर' का पताही न चलेगा कि वह कौनसा पुर था, जिसका हाल कह रहे हैं" । (वि० त्रि०) । परन्तु उत्तरकांडमें उन्हीं का मत इसके विरुद्ध है—(मा० सं०)] आगे कहेंगे कि इन सातों सीढ़ियोंपर रामसुयश-जल परिपूर्ण भरा है, इन्हीं सीढ़ियोंपरसे होकर कविता-सरजू बहेगी । (ख) अब यह प्रश्न हो सकता है कि 'जब सातों सीढ़ियोंपर जल भरा है तो सब सीढ़ियाँ दिखायी कैसे देती हैं ?', उसीका समाधान दूसरे चरणमें करते हैं कि 'ज्ञान नयन निरखत मन माना' अर्थात् साधारण नेत्रोंसे ये नहीं दिखायी दे सकतीं, इनके देखनेके लिये ज्ञान-नयन चाहिये । उनसे देखनेसे प्रतीति होगी कि हम यथार्थ ही कह रहे हैं ।

श्रीकाष्ठजिह्वास्वामीजीका एक पद ज्ञान-नयनपर है—'कई तरहकी ते अँखियाँ नर चितवत जिन आँखिन से । ई अँखियाँ तो इतर जननकी काम एक ताकन से ॥ वेद अँखियन ते ब्राह्मण देखैं भूप चार-चाकन से । रसिया रस अनुभवसे देखे पशु पक्षी नाकन से ॥ नारी गतिसे वैद विलोकहिं जोतिषि ग्रह आँकन से । ध्यान-कलासे जोगी देखे चतुर चाल डाकन से ॥ बड़े अमीर अमीरी किसमत परख लेत साकन ते । देव अंश अंतर-गत परखहिं वदन नयन झाँकन ते । कई तरहकी ते अँखियाँ० ।'

टिप्पणी—१ "सातों सीढ़ियोंमें जल होना कैसे कहा ? ऊपरकी सीढ़ी तो जल-रहित होगी और यदि ऊपरकी सीढ़ीमें जल नहीं है तो ऊपरवाला सोपान (काण्ड) भी रामयश-जलसे रहित होना चाहिये । पुनः यदि सातों जलमें डूबी हैं तो नीचेकी सीढ़ीका जल मिलना दुर्लभ है क्योंकि जल अगाध है ?"—इस शङ्काका समाधान यह है कि 'यहाँ रूपक है, साक्षात् सीढ़ियाँ नहीं हैं और न साक्षात् जल ही है । रामयश सातों काण्डोंमें भरा है और लोगोंको प्राप्त भी होता है; इतने ही देशमें उपमा है । सात जो प्रबन्ध हैं सोई सुन्दर सोपानका प्रबन्ध अर्थात् प्रकर्ष करके बाँधना है, इसीसे 'प्रबन्ध' पद यहाँ दिया है ।'—[समाधान यों भी हो सकता है कि—यहाँ इन्हीं शंकाओंके निराकरणके लिये कविने प्रथम ही 'बिरचे बुद्धि बिचारि' कहा और यहाँ 'ज्ञान-नयन निरखत मन माना' कहा है । भाव यह है कि यहाँ प्रथम सीढ़ीसे लेकर अंततक सभी सीढ़ियोंमें जल भरा है; परन्तु जिनको ज्ञान-नयन नहीं हैं उनको तो अंतिम सीढ़ीपरभी उनका अभाव ही देख पड़ेगा । और ज्ञानदृष्टिसे देखनेवालेको तो प्रथम सीढ़ीपर भी अगाध जल ही मिलेगा ।]

२ (क) 'सुभग' कहकर सूचित किया है कि सब सोपान रामयशसे परिपूर्ण हैं । (ख) मानसके भरनेपर उसका 'सुमानस' और 'थल' का 'सुथल' नाम पड़ा; यथा—'भरेउ सुमानस सुथल थिराना' । इसी तरह जब

ग्रन्थकारके मनमें वेद-पुराणकी सब बातें आ गयीं, तब घाट-सीढ़ी इत्यादिकी रचनाका विचार हुआ। बालकाण्ड से उत्तरकाण्डतक क्रमसे सीढ़ियाँ कहीं। इन सबोंमें रामयश भरा है और इनको उ० १२९ में 'रघुपति भगति केर पंथाना' कहा है; इन्हीं कारणोंसे सोपानको 'सुभग' कहा। घाटको 'मनोहर' कहही आये, तब उसकी सीढ़ियाँ क्यों न सुन्दर हों? (ग) 'मन माना' कहनेका भाव यह है कि मनका स्वभाव यह है कि प्रत्यक्ष देखनेहीसे मानता है। उसपर कहते हैं कि यहाँ यह बात नहीं है, यह बाहरके नेत्रोंसे नहीं देख पड़ता, ज्ञाननेत्रसे देख पड़ता है, और ज्ञाननेत्रसे देखनेपर मन प्रसन्न हो जाता है।

नोट—२ पुराने खर्रेमें लिखा है कि सुभगसे जनाया कि "यह घाट मणियोंसे रचा गया है, वैसेही यहाँ-के घाट 'रामचरित चिंतामनि चारु' मय हैं। शृङ्गारादि नवों रसोंमें प्रवेश किये हुए जो रामचरितमानस है वही अनेक रंगोंकी मणियाँ हैं"। परन्तु यहाँ रामचरितको मणि और नवों रसोंको अनेक रङ्ग माननेसे पूर्वा-पर विरोध होता है क्योंकि इस रूपकमें रामयशको जल और रसोंको जलचर कहा गया है (दोहा ३६ में पं० रूपनारायणजीका टिप्पण देखिए) संभवतः इसी कारण से पं० रामकुमारजीने साफ़ खर्रेमें इस भाव को निकाल दिया।

सू० प्र० मिश्र—१ (क) सुभग=सुन्दर=अपूर्व। भाव यह है कि सातों काण्डोंकी कथा श्रुति, स्मृति, महाभारत, पुराण आदिकोंसे अपूर्व है। इसकी अपूर्वता यह है कि ज्ञानकी परम अवधिके पहुँचे-विना भी राम-चरित्रका सुननेवाला जन परमपदका भागी हो जाता है। 'भजन्नपकोऽथ पतेत्ततो यदि'। सीढ़ी को सुन्दर माननेका भाव यह है कि और सीढ़ियोंके समान न इनमें काई लगती है, न ये पुरानी होकर बिगड़ जाती हैं और न इनपरसे चलनेवालेको कोई भय रह जाता है। सातों काण्डोंकी कथाको सीढ़ी माननेका भाव यह है कि सीढ़ीद्वारा लँगड़ा, लूला, अन्धा, कमजोर सभी अनायास चढ़ सकते हैं और बड़े-बड़े कठिन रास्तोंको पार कर सकते हैं, चढ़नेकी सारी कठिनता जाती रहती है और अगम राह सुगम हो जाती है। अब यह स्पष्ट हो गया कि रामचरित्रके अधिकारी सभी हैं और हो सकते हैं, इस राहमें किसी विशेष पाण्डित्य आदिकी, कोई किसीकी भी आवश्यकता नहीं है। यह राजमार्ग है। सभी इसके द्वारा मुक्तिके अधिकारी हो सकते हैं। इसी लिये ग्रन्थकारने आगे 'ज्ञान नयन निरखत मन माना' कहा अर्थात् ये बातें बिना ज्ञानके समझमें नहीं आवेंगी। (ख) 'मन माना' शब्दमें यह ध्वनि है कि फिर किसी बातकी कुछ भी कमी रह ही नहीं जाती और अवश्य मनुष्य परमपदका अधिकारी हो जाता है। 'मन माना' के और भी अर्थ ये हैं—एक 'जो बातें मनमें माने उनको देख सकता है।' दूसरे, 'अवश्य मन मान जाय अर्थात् सुखी हो जाय।' दूसरा भाव यह है कि समुद्र सात हैं, जिनमेंसे अन्तिम मधुर जलका है, बिना मधुर जलके तृप्ति नहीं होती। वैसे ही श्रीरामजीका साम्राज्य बिना देखे आनन्द नहीं प्राप्त होता।

त्रिपाठीजी—श्रीरामचरितके साथ-साथ प्रत्येक कांडमें दो-दो प्रकारके भक्तोंकी कथाएँ हैं। इस भाँति साती कांडोंमें वाल्मीकिजीकी कही हुई चौदह प्रकारकी भक्तियोंका निरूपण है—यह पूर्व कहा जा चुका है। इनमेंसे किसी प्रकारका आश्रयण करनेसे परम कल्याण है, फिरभी ये परस्पर असम्बद्ध नहीं हैं। किसीका आश्रयण करनेसे अन्यमें विचरणकी शक्ति आपसे आप हो जाती है। अतः ये प्रबन्ध पृथक्-पृथक् होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध हैं; क्योंकि सभी भक्तिके प्रतिपादक हैं, यथा—'येहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना। ७। १२९।' और मुक्ति भक्तिको छोड़कर कहीं रह नहीं सकती; यथा—'राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआई। ७। ११९।'

नोट—३ "रघुपति भगति केर पंथाना" से सूचित होता है कि ये सातों सोपान श्रीरामजीकी उत्तरोत्तर भक्तिके मार्ग हैं। प्रत्येक कांडकी जो फलश्रुति वा माहात्म्य कहा गया है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है।

प्रथम सोपान—"उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं । बैदेहि-रामप्रसाद ते जन सर्बदा सुख पावहीं ॥
सियरघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं । तिन्ह कहुँ सदा उछाहु मंगलायतन रामजसु ।'
द्वितीय सोपान—'कलिमल समन दमन मन राम सुजस सुखमूल । सादर सुनहिं जे तिन्ह पर राम रहहिं अनुकूल ।३१६।'
तृतीय सोपान—"रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग ।।"
चतुर्थ सोपान—'भव भेषज रघुनाथ जसु सुनहिं जे नर अरु नारि । तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि ।'
पंचम सोपान—'सुखभवन संसय समन दवन बिषाद रघुपति गुनगना ।···सकल सुमंगल दायक रघुनायक गुन गान ।
सादर सुनहिं ते तरहिं भव सिंधु बिना जलजान ।'
षष्ठ सोपान—"यह रावनारि चरित्र पावन रामपदरतिप्रद सदा । कामादिहर बिज्ञानकर सुर सिद्ध मुनि गावहिं मुदा ॥
समर-विजय रघुबीर के चरित जे सुनहिं सुजान । बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिं देहिं भगवान ।'
सप्तम सोपान—'रघुबंसभूषन चरित यह नर कहहिं सुनहिं जे गावहीं । कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं ।'

संवत् १६६१ वाले बालकांडकी 'इति' इस प्रकार है—"श्रीरामचरितमानसे (स) कल कलिकलुष विध्वंसने प्रथमः सोपानः समाप्तः ।" राजापुरके अयोध्याकाण्डमें 'इति' नहीं है। श्रीपंजाबीजी, रामायणपरिचर्य्याकार, श्रीवैजनाथजी, बाबा हरिदासजी, श्रीभागवतदासजी, वीरकविजी आदिने सोपानोंके नामभी 'इति' में दिये हैं। इन नामोंमें भेद है। इससे संदेह होता है कि गोस्वामीजीने नाम दिये हों। संभव है कि पीछे फलश्रुतिके अनुकूल इति में महानुभावोंने नामभी रख दिये हों। उदाहरणार्थ कुछ पुस्तकोंमें दी हुई इतियाँ लिखी जाती हैं—

	प्रथम सोपान	द्वितीयसोपान	तृतीयसोपान	चतुर्थसोपान	पंचम०	षष्ठम०	सप्तम०
भा०दा०, छ०, रा०बा०दा०	सुखसंपादनो नाम प्रथमः सोपानः	×	विमलवैराग्य संपादनोनाम तृतीयःसोपानः	विशुद्धसंतोष संपादनो नाम···	ज्ञानसंपादनो नाम	विमल विज्ञान संपादनो···	अविरल हरिभक्ति संपादनो०
रा० प०	विमलसंतोष संपादनो····	×	,, ,,	,,	,,	,,	,,
पं०	अविरलभक्ति संपादनो···		,, ,,	ज्ञानवैराग्य संपादनो···	विमल विज्ञान····	विमल विज्ञान····	अविरल हरिभक्ति···
वीरकवि	विमलसंतोष संपादनो···	विमलविज्ञान वैराग्य···	,, ,,	विशुद्धसंतोष संपादनो०	ज्ञान संपादनो	विशुद्ध संतोष संपादनो०	अविरल हरिभक्ति संपादनो···

श्रीवैजनाथजी में प्रथम छः काण्डोंकी इति एकही है 'विमल वैराग्य संपादनो', सातवेंमें इति नहीं दी है। विचार करनेसे श्रीभागवतदासजीके नाम विशेष उपयुक्त जान पड़ते हैं। रा० प० मेंकी इतियाँ (केवल प्रथम सोपानको छोड़कर) सब वही हैं, जो भा० दा० में हैं। विमल संतोष चतुर्थमें आया है, इस लिये प्रथम सोपानमें भी वही नहीं होना चाहिये। दूसरे प्रथम सोपानमें 'सर्वदा सुख' की प्राप्ति कही है, अतः उसका नाम

'सुख संपादन' ठीक है। दूसरे सोपानमें इति नहीं है, उसकी इति अरण्यकाण्ड दोहा ६ में है; तथापि काण्डके अंतमें भरतचरितश्रवणका माहात्म्य कहा गया है। उसके अनुसार उस सोपानको 'प्रेम एवं भवरसविरति' नाम दे सकते हैं। सुखभोगके पश्चात् उससे वैराग्य और श्रीरामजीमें प्रेम होता है जिससे श्रीरामजीकी अनुकूलता होती है।

पं० रामकुमारजी (किष्किंधाकाण्डके अन्तमें) लिखते हैं कि प्रत्येककाण्डके अन्तमें जो फलश्रुति है, वही सोपान का नाम है। जैसे कि—(१) बालकाण्डकी फलश्रुतिमें व्रतबन्ध और विवाह आदिका वर्णन है। यह सब कर्म है और कर्मका फल सुख है। इसीसे बालकाण्ड 'सुखसंपादन' नामका सोपान है। (२) अयोध्याकाण्डकी फलश्रुति में 'प्रेम और विरति' का वर्णन है, अतः वह 'प्रेम वैराग्यसंपादन' नामका काण्ड है। (३) अरण्यकाण्डकी फलश्रुतिमें वैराग्य है, इस लिये वह 'विमल-वैराग्य-संपादन' नामका सोपान है। [तीसरा सोपान 'दृढ़भक्ति-संपादन' है—'रामभगति दृढ़ पावहिं⋯।' परंतु इसे 'विमल वैराग्यसंपादन' नाम दिया गया, जिसका कारण संभवतः यह है कि माहात्म्यके पश्चात् इसमें कविने मनको उपदेश किया है कि "दीप सिखा सम जुवति तन मन जनि होसि पतंग। भजहिं राम तजि काम मद करहिं सदा सतसंग।"] (४) चौथेको 'सकल मनोरथ' सिद्ध करनेवाला कहा है। मनोरथसिद्धिसे संतोष होता है, इसीसे इसका 'विशुद्ध-संतोष-संपादन' नाम है। (५) पाँचवें सोपानको 'सकल-सुमंगलदायक' कहा है। सुमंगल ज्ञानका नाम है। इसीसे वह 'ज्ञान-संपादन' नामका सोपान है। (६) छठे को 'विज्ञानकर' कहा है, अतः इसका 'विज्ञानसंपादन' नाम है। और (७) सातवें सोपानमें 'अविरल हरिभक्ति' का वर्णन है, यथा—'कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम'; इसीसे वह 'अविरल-हरिभक्तिसंपादन' नामका सोपान है। ☞ सारांश यह है कि जैसा क्रम सातों सोपानोंकी फलश्रुतिमें है, उसी प्रकार धर्म, वैराग्य, संतोष, ज्ञान, विज्ञान और हरिभक्तिकी प्राप्तिका क्रम है। अर्थात् धर्मका फल वैराग्य, वैराग्यका संतोष, संतोषका ज्ञान, ज्ञानका विज्ञान और विज्ञानका फल हरिभक्ति एवं रामधामप्राप्ति है।

नोट—४ 'ज्ञान-नयन निरखत' इति। 'ज्ञाननयनसे क्या देखे ?' के उत्तरमें महानुभावोंने यह लिखा है—

(१) मानसदीपक तथा रा० प्र० एवं मानसपत्रिकाकार लिखते हैं कि शास्त्रजन्य ज्ञानसे इन सीढ़ियोंको देखना चाहिये। इस तरहसे कि बालकाण्ड प्रथम सोपानमें श्रीसीतारामसंयोग बना; इसलिये यह सोपान 'सांख्यशास्त्र' है। अयोध्याकांड दूसरा सोपान वैशेषिक अर्थात् वैराग्यशास्त्र है, क्योंकि इससे वैराग्यका उपदेश मिलता है। अरण्यकांड तीसरा सोपान मीमांसाशास्त्र है, क्योंकि इसमें क्षत्रियका परमधर्म दुष्टनिग्रह और सज्जनपालनताका वर्णन है। इसी तरह, किष्किन्धाकाण्ड चौथा सोपान योगशास्त्र है। सुन्दरकाण्ड पाँचवाँ सोपान न्यायशास्त्र है। लङ्का वेदान्त है। और उत्तर साम्राज्य-शास्त्र है।—(अधिक देखना हो तो रामायण-परिचर्या और मानसपत्रिका पृष्ठ २१७ देखिये)।

(२) बैजनाथजी—ज्ञान-नयनसे क्या देखे ? यह कि—बाल सांख्यशास्त्र है, अयोध्या वैशेषिक, अरण्य मीमांसा, किष्किंधा योग, सुन्दर न्याय, लंका वेदान्त और उत्तर साम्राज्य है। अथवा, ज्ञानकी सप्तभूमिकाएँ हैं वे ही सप्त सोपान हैं। अथवा, नवधाभक्तिकी नौ सीढ़ियोंमेंसे श्रवण-कीर्तन ये बाहरसे चढ़नेकी दो सीढ़ियाँ हैं और शेष सात भीतरकी सात सीढ़ियाँ हैं।—(यह भाव 'एहि महँ रुचिर सप्त सोपाना। रघुपति भगति केर पंथाना॥' इस चौपाईके आधारपर कहा गया जान पड़ता है)। अथवा, ज्ञानसे यह विचार करना चाहिये कि यहाँ चार संवाद चार घाट हैं। शिवकृत मानससरमें चार घाट कौन हैं; विचारनेसे जान पड़ेगा कि नाम, रूप, लीला और धाम ही चार घाट थे। उन्हींके अवलंबपर चारों संवाद हैं। इन संवादोंके अंतर्गत धाम आदिका वर्णन सात-सात ठौर जो ग्रंथमें है वही सातो प्रबंध सातों सुन्दर सीढ़ियाँ हैं।—रामचरित जलरूप

हैं। इसके आरंभमें जो प्रथम सीढ़ी है वह देखनेमात्र खुली है, अन्य छः सीढ़ियाँ जलसे डूबी हैं। प्रारंभसमय जो अवधप्रभाव वर्णन किया—'रामधामदापुरी सुहावनि। लोक समस्त विदित अति पावनि ॥ १ । ३५ । ३।' इत्यादि प्रथम सोपान है। फिर श्रीरामजन्मसमय जो वर्णन किया—"अवधपुरी सोहै एहि भाँती। १ । १९५।' इत्यादि दूसरा सोपान है। फिर विवाहसमय, वनसे लौटनेपर, राज्याभिषेक होनेपर, भुशुंडि-प्रसंगमें तथा शिववचनमें जो धामका वर्णन है, यथा—जद्यपि अवध सदैव सुहावनि।···१ । २९६ ।', "जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि···। ७ । ४ ।', "देखत पुरी अखिल अघ भागा। ७ । २९ ।', 'अवध प्रभाव जान तब प्रानी। ७ । ९७ ।', 'पुरी प्रभाव अनुग्रह मोरे।···७ । १०९ ।'—ये शेष पाँच सीढ़ियाँ धाम-सप्त-प्रबंध दैन्यघाटमें हैं। इसी प्रकार याज्ञवल्क्यभरद्वाज संवाद लीला-अवलंब कर्मघाटमें सप्तप्रबन्ध लीला सोपान हैं। यथा—"तेहि अवसर भंजन महि भारा। हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा ॥ १ । ४८ ।", 'पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा। बालचरित पुनि कहहु उदारा। १ । ११० ।', 'जब जब होइ धरम कै हानी।···तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा। हरहिं कृपानिधि···१ । १२१ ।', "एक बार तिन्ह के हित लागी। धरेउ सरीर भगत अनुरागी ॥···" (१ । १२३), "तहाँ जलंधर रावन भयऊ। रनहति। १ । १२४ ", "नारद श्राप दीन्ह एक बारा ॥···एक कलप एहि हेतु प्रभु लीन्ह मनुज-अवतार। १ । १२४-१३९ ।" 'प्रभु अवतार कथा पुनि गाई।···७ । ६४ ।' से ६८ (७) तक। इसी तरह शिव-पार्वती-संवाद ज्ञानघाट नामावलंब नामके सात प्रबंध हैं, यथा—"रामनाम कर अमित प्रभावा।" इत्यादि "कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम···॥ बिबसहु जासु नाम नर कहहीं। जन्म अनेक रचित अघ दहहीं ॥ १।११९।", "जासु नाम सुमिरत एक बारा।···२।१०१।", 'राम राम कहि जे जमुहाहीं।···२ । १९४ ।', "राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ···। ३ । ४२ ।', 'रामनाम बिनु गिरा न सोहा। ५ । २३ ।', "तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघपूग नसावन। ७ । ९२ ।' तथा भुशुंडि-गरुड़-संवाद उपासनाघाट रूपावलंब रूपके सात प्रबन्ध हैं, यथा—"नील सरो-रुह नील मनि नीलनीरधर स्याम।" (समग्ररूप वर्णन। १ । १४६), "काम कोटि छबि श्याम सरीरा।···" इत्यादि। (१ । १९९), "पीत बसन परिकर कटि भाथा।···" इत्यादि (१ । २१९), "सोभासींव सुभग दोउ बीरा।···। १ । २३३ ।", 'सहज मनोहर मूरति दोऊ।···।१।२४३ ।', "केकिकंठ द्युति स्यामल अंगा···।१।३१६ ।', "मरकत मृदुल कलेवर स्यामा।···।७।७६-७७।'

(३) सूर्यप्रसादमिश्रजी—भाव यह कि इसमें भीतर षट् शास्त्रोंके तत्व भरे हैं। (क) सांख्यमें प्रकृति-पुरुषका विचार है, इसका काम तीनों दुःखोंसे रहित होना है। इसमें २५ तत्वोंकी उत्पत्ति मायासे कही है जिनके विवेकसे दुःख निवृत्त होता है। रामजीमें प्रथम कुछ इच्छा न थी पर जब श्रीजानकीजीका फुलवारीमें संयोग हुआ तब इन्द्रियोंके कार्य उनमें होने लगे। मायाके सब कार्य बालकाण्डमें हैं। यह भी दिखता है कि प्रकृति पुरुषके अधीन है। (ख) वैशेषिकका विषय पदार्थविवेचनपूर्वक वस्तुवैराग्य है। इसमें ६ पदार्थ माने गये हैं, इनके ज्ञानसे विरक्ति होती है। अयोध्याकाण्डमें रामजीका विशेष धर्मपर आरूढ़ होना दिखाया है। (ग) मीमांसाका सिद्धान्त है कि वेदविहित कर्मके अनुष्ठान द्वारा परम पुरुषार्थ लाभ होता है। अरण्यकांडमें सब बातें राजधर्म अनुष्ठानहीकी हैं। धर्मसे स्वर्गकी प्राप्ति है, मोक्ष नहीं, मोक्षके लिये योगयुक्त धर्मानुष्ठान चाहिये, इसीलिये किष्किन्धाका आरम्भ है। (घ) योगका विषय चित्तवृत्तिनिरोध है, इसका काम शान्ति है। अपने निरुपाधिस्वरूपको जानना इसका सिद्धान्त है। इन बातोंका ज्ञान बिना तर्कशास्त्रके नहीं होता, अतः सुन्दरकांडका आरम्भ है। (ङ) न्यायका विषय १३ पदार्थोंका जानना है। इनमेंसे ५ इन कांडोंमें पूर्ण रीतिसे हैं—प्रतिज्ञा समुद्रबन्धन की, इसका 'हेतु' रामबाण, 'उपनयन' समुद्रबन्धन, 'निगमन' पार जाना, 'उदाहरण' रामबाणका 'संधानेउ धनु०।' न्याययुक्त योगसे मोक्ष नहीं, इसलिये वेदान्तस्वरूप लङ्काकाण्डका आरम्भ है। (च) वेदान्तका स्वरूप ब्रह्मजीवका ऐक्य है। जीवरूप विभीषण-वैराग्यने भ्रातृसुखत्यागपूर्वक, रामसे बढ़कर कुछ नहीं, इस विवेकसहित, महामोहरावणके नाशकी इच्छासे परब्रह्म राम-जानकीका दर्शन लाभ किया (छ)

यद्यपि उपर्युक्त बातें ब्रह्मानन्दप्रापक हैं तथापि यह आनन्द क्षणिक है, रामजीको साम्राज्यलक्ष्मीकी शोभा विना और किसीमें सामर्थ्य नहीं है कि मनको स्थिर रक्खे, इसलिये साम्राज्यस्वरूप उत्तरकाण्डका आरम्भ है। इससे सिद्ध हुआ कि सर्वगुणसम्पन्न जीवका रामभक्ति विना सब साधन व्यर्थ है। (परंतु ये सब क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं)।

(४)—सूर्यप्रसादमिश्रजी—बैजनाथजीने जो लिखा है वह ठीक नहीं है। सात प्रबन्ध सात ठिकाने वर्णन 'रामधामदा पुरी सुहावनि' इत्यादि, ये बातें उनकी ठीक होतीं यदि ग्रन्थकार सात स्थलोंको जो मानसभूषणकारने लिखी हैं छोड़कर अयोध्याके विषयमें और कुछ कहीं न लिखते। पर ग्रन्थकारने और भी स्थलोंमें अयोध्याका माहात्म्य कहा है। इसी तरह और भी तीनों घाट जो लिखे हैं वे भी निर्मूल हैं।

(५) त्रिपाठीजी—'ज्ञान नयन...माना'। भाव कि गुरुपदसे प्राप्त दिव्य ज्ञानदृष्टिद्वारा देखनेसे सातों सोपान मणि माणिक्यमुक्ताके बने हुए दिव्य तेजोमय दिखाई पड़ते हैं। ज्ञानघाटके सोपान मणिमय, कर्मघाटके माणिक्यमय, उपासनाके गजमुक्तामय और दैन्यके मुक्तामय दिखाई पड़ते हैं। भावार्थ यह है कि वेदराशिकी भाँति ये तेजोमय हैं। भरद्वाजजीको जब इन्द्रदेवने वेदराशिका दर्शन कराया, तो वे उन्हें तेजके पहाड़ोंकी भाँति दिखाई पड़े। इसी भाँति दिव्यदृष्टि पानेसे ये वेदावतार सातो सोपान तेजोमय दृष्टिगोचर होते हैं। प्रकाशावरण क्षीण करनेमें समर्थ होनेसे तेजोमय कहा।

(६) सु० द्विवेदीजी—"सातों कांड इस मानसकी सात सीढ़ियाँ। इनपर क्रम-क्रमसे मन चढ़ता और ज्ञानदृष्टिसे देखता जाय अर्थात् ऐसा न हो कि पहली सीढ़ी बालकी बिना पूरी किए दूसरी सीढ़ी अयोध्या पर पैर रक्खे, ऐसा करनेसे पहली सीढ़ीमें कहाँ-कहाँ पर कैसे-कैसे चित्र उरेहे हैं, यह देखनेमें न आयेगा और पहलीको छोड़कर दूसरीपर पैर रखनेमें सम्भव है कि पैर फिसल जाय। चित्रके सब अङ्ग साफ़-साफ़ देख पड़ें इसलिये ज्ञाननयन कहा। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य इन सातों लोकरूप सीढ़ीपर चढ़ जानेसे अन्तमें सत्यलोकमें ईश्वरसे भेंट होती है, इसी तरह यहाँ भी उत्तरके अन्तमें ईश्वरप्राप्ति है।"

(७) त्रिपाठीजी—ये सप्त प्रबंध सप्त पुरियोंकी भाँति मुक्तिके प्रापक हैं। बालकाण्ड अयोध्यापुरी है क्योंकि श्रीरामजन्मभूमि होनेसे बालचरित आदि इसीमें हुए। अयोध्याकांड मथुरा है क्योंकि जैसे श्रीकृष्ण-जीके मथुरागमनसे गोपिकाओंको तीव्रातितीव्र विरह हुई वैसेही श्रीरामवनवाससे अवधवासियोंकी वही गति हुई। दूसरे मथुरामें अवतार होनेका बीज इसी काण्डमें है। भगवान्‌ने ऋषियोंसे कहा था कि कृष्णावतारमें तुम्हारे मनोरथ पूरे करेंगे, जैसा श्रीकृष्णोपनिषद्‌में स्पष्ट है। अरण्यकाण्डमें तो मायाका काग, खरदूषणादिकी माया, मायापतिकी मायासे खरादिका वध, मायाका सन्यासी, मायाका मृग, मायाकी सीता सब मायाही माया है और महामाया सतीको मोह भी इसीमें हुआ। अतः इसे 'माया' पुरी कहा। किष्किंधाको 'काशी' कहा क्योंकि 'सो कासी सेइय कस न' प्रारम्भमें ही कहा है। काशीमें ही श्रीराममंत्रके अनुष्ठानसे भगवान् शङ्करको श्रीरामजी मिले, वैसेही इस काण्डमें रुद्रावतार श्रीहनुमान्‌से श्रीरामजीकी भेंट हुई। सुन्दरकाण्ड काञ्चीपुरी है, क्योंकि यह पुरी साझेकी है। आधी शिवकाञ्ची है, आधी विष्णुकांची। इसी प्रकार यहाँ पूर्वार्धमें हनुमत्‌चरित्र है और उत्तार्धमें रामचरित। लंका अवंतिका है, क्योंकि यहाँ महाकालका लिंग है और लंकाकाण्डमें शिवलिंगकी स्थापना है। उत्तरकाण्ड द्वारावती है, क्योंकि श्रीकृष्णजीने राज्यभोग किया और पुरीको लेगए, वैसे ही श्रीरामजीने 'गुनातीत अरु भोग पुरंदर' होकर राज्य किया और प्रजासहित अपने धामको गए। अतः सबको सुभग कहा, ज्ञानदृष्टिसे ही यह समझ पड़ता है।

मा० प्र०—सीढ़ी नीचेसे बँधती है। नीचे और ऊपरकी सीढ़ियाँ बड़ी होती हैं और बीचकी छोटी होती हैं। वैसेही यहां श्रीरामचरितमानससरमें, बालकांडसे प्रारंभ होकर उत्तरकांडपर समाप्ति है। नीचेकी दो

सीढ़ियाँ बाल और अयोध्या हैं जो बड़ी हैं, लंका और उत्तर ऊपरकी दो सीढ़ियाँ हैं, यहभी बड़ी हैं। अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दर बीचकी सीढ़ियाँ हैं अतः ये छोटी हैं।

नोट—५ पं० रामकुमारजीका मत है कि सीढ़ियाँ ऊपरसे बनी हैं। हमारी समझमें इनका मत ठीक है। पहाड़ोंपर तालावके घाटकी सीढ़ियाँ ऊपरसे काट-काटकर बनाई जाती हैं। दूसरे ऐसा माननेसे प्राकृत तालाब के साथ जैसा लोगोंका व्यवहार होता है इससे उसकी प्रायः समता आ जाती है। जैसे तालाबकी ऊपरवाली सीढ़ी प्रथम मानी जाती है, उसका आरम्भ भी यहींसे होता है, यहाँ आकर तब दूसरी, तीसरी इत्यादि सीढ़ियोंपर जाते हैं, इत्यादि; वैसेही यहाँ भी गोस्वामीजीने प्रथम सोपान बालकाण्ड माना है; यहींसे इसका प्रारम्भ भी है, अनुष्ठानपाठ आदिभी प्रायः यहींसे प्रारम्भ होता है, इत्यादि।

नोट—६ नीचेकी सीढ़ी दाबकर ऊपरकी सीढ़ी बनाई जाती है। यहाँ एक काण्डकी फलश्रुतिका दूसरे काण्डके मङ्गलाचरणसे संयोग होना ही 'दाबन' है। कांडोंका सम्बन्ध मिलाना सीढ़ियोंका जोड़ना है। (मा० प्र०)। जोड़ और दाबन निम्न नकशेसे स्पष्ट हो जायँगे।

१-प्रथम सोपान (बालकाण्ड) के अन्तमें 'आए ब्याहि राम घर जब तें। बसे अनंद अवध सब तब तें। १।३६१।५।' है। इसका जोड़ द्वितीय सोपान अयोध्याकांडके आदिके 'जब तें राम ब्याहि घर आए। नित नव मंगल मोद बधाए। २।१।१।' से है।	जोड़की दोनों चौपाइयों १।३६१।५ और २।१।१ के बीच के "प्रभु बिबाह जस भयउ उछाहू।' से 'सिय रघुबीर बिबाह जे सप्रेम गावहिं सुनहिं' तक तथा फलश्रुति और—अ० मंगलाचरण ('यस्याङ्के च विभाति…' 'प्रसन्नतां या…', 'नीलांबुल…' और 'श्रीगुरचरन…'), यह सब दाबन है।
२-अयोध्याकाण्डके अन्तमें 'भरत चरित करि नेम तुलसी जे सादर सुनहिं।२।३२६।' का सम्बन्ध तृतीय सोपान (अरण्यकांड) के आदि के 'पुरनर भरत प्रीति मैं गाई ३।१।१।' से है। यही जोड़ है	तृतीय सोपानका मङ्गलाचरण 'मूलं धर्मतरोर्विवेकजलधेः…', 'सान्द्रानंद पयोद…' और 'उमा राम गुन गूढ़…' दाबन है।
३-अरण्यकांडके अन्तके "सिर नाइ बारहिं बार चरनन्हि ब्रह्मपुर नारद गए।३।४६।'(म०प्र०)अथवा 'देखी सुंदर तरुबर छाया। बैठे अनुज सहित रघुराया ३।४१।२।' इसका संबंध चतुर्थ सोपान (किष्किंधा-कांड) के आदिके 'आगे चले बहुरि रघुराया।४।१।१।' से है।	अरण्यकाण्डके 'ते धन्य तुलसीदास' से अथवा 'तहँ पुनि सकल देव मुनि आए। ३।४१।३।' से 'भजहिं राम…सतसंग। ३। ४६।' तक तथा फल श्रुति 'इति श्रीमद्रामचरितमानसे…' और किष्किन्धाकांडका मंगलाचरण 'कुन्देदीवर…' 'ब्रह्माम्भोधि…' 'मुक्तिजन्म…' से 'संकर सरिस' तक।
४-चतुर्थ सोपानके अन्तके 'जामवंत मैं पूछउँ तोहीं ४।३०। १०।' का जोड़ पंचम सोपान (सुन्दर) के आदिके 'जामवंत के बचन सुहाये।५।१।१।' से है।	कि० कांडके 'इतना करहु तात तुम्ह जाई। ४।३०। ११।' से अन्ततक+फलश्रुति+सुन्दरकांडका मंगलाचरण 'शान्तं…' 'नान्या स्पृहा…' 'अतुलित…'।
५-सुन्दरकांडके अन्तके 'निज भयन गवनेउ सिंधु श्रीरघुपतिहिं यह मत भायऊ।५।६०।' का सम्बन्ध षष्ठम् सोपान (लंकाकाण्ड) के आदिके सिंधु बचन सुनि राम…' लं.मं. सोरठासे मिलाया गया।	सुन्दरकांडकी पूर्ति अर्थात् 'यह चरित कलिमल हर…'। ५। ६०।' से लं० मं० दोहा 'लव निमेष…' तक।

६ लंकाकांडके अन्तके 'प्रभु हनुमंतहि कहा बुझाई। ...तुरत पवनसुत गवनत भयऊ। ६।१२०।१-३।'का सम्बन्ध सप्तम सोपानके आदिके 'राम बिरह-सागर महँ भरत मगन मन होत। बिप्र रूप धरि पवनसुत आइ गयउ जनु पोत। ७।१।' से मिलाया गया।

लं० १२०। ३ 'तब प्रभु भरद्वाज पहिं गयऊ।' से श्रीरघुनाथ नाम तजि नाहिंन आन अधार। ६। १२०।' तक + , फलश्रुति + उत्तरकाण्डका मंगलाचरण 'केकीकंठाभनीलं...' 'कोसलेन्द्रपदकंज....', 'कुन्दइन्दु दर गौर...', दोहा 'रहा एक दिन'' से 'राम बिरह सागर...' तक।

नोट—त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'अन्य वक्ताओंने सात कांडोंकी कल्पना तो की, पर सोपान नहीं बनाया; इसलिये अल्प-पुरुषार्थ व्यक्तियोंके लिये दुर्गम था। पर ग्रन्थकारने इसमें प्रसंगरूप फलक (डण्डे) देकर इसे सोपान बना दिया। प्रत्येक प्रबन्धके प्रसंग ही उसमेंके फलक वा डण्डे हैं। सोपानोंके बीचमें विश्रामके लिये फ़र्श होता है, सातों कांडोंके विश्रामस्थान सात फ़र्श हैं। मा. प्र. में जो जोड़ और दावन कहे गये हैं, वही त्रिपाठीजीके फ़र्श हैं।

रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा॥ २॥

शब्दार्थ—अगुन=निर्गुण। सत्व, रज, तम गुणोंसे रहित। गुणातीत, अव्यक्त। अबाधा=बाधा या विघ्न रहित, एकरस। बरनब=वर्णन करूँगा, कहूँगा। वा, वर्णन या कथन करना। अगाध=अथाह होना, गहराई, गम्भीरता।

अर्थ—१ श्रीरघुनाथजीकी निर्गुण (रूपकी) एकरस महिमाका वर्णन ही उत्तम जलकी अगाधता है। २।

अर्थ—२ श्रीरघुनाथजीकी महिमा जो गुणातीत एकरस है उसको श्रेष्ठ जलकी अगाधता कहूँगा। २।

टिप्पणी—१ (क) सीढ़ीसे उतरनेपर गहराई देख पड़ती है। इसीसे प्रथम सीढ़ी लिखकर तब गहराई लिखते हैं। (खर्रा)। (ख) रघुपतिके दो रूप हैं; एक निर्गुण (अव्यक्त), दूसरा सगुण। (ग) रघुपतिके सगुणरूपकी लीलाका वर्णन जलकी स्वच्छता है और निर्गुणरूपकी महिमाका वर्णन अगाधता है। तात्पर्य यह है कि ऐश्वर्य-वर्णनसे यशकी गम्भीरता होती है, सगुणमें लीला है, निर्गुणमें महिमा।

२ (क) प्रथम थलको अगाध कहा, यथा—'सुमति भूमि थल हृदय अगाधू।' अब जलको अगाध कहते हैं, क्योंकि प्रथम थलकी अगाधता है पीछे जलकी। जल थलपर टिकता है, इसीसे प्रथम थलको कहा। सगुण-यश 'बर बारि' है, यथा—'बरसहिं रामसुजस बर बारी' और निर्गुण-महिमाका वर्णन जलकी अगाधता है।

(ख) 'अबाधा' का भाव यह है कि सगुणकी महिमा एकरस नहीं है, निर्गुणकी महिमामें बाधा नहीं है, यह एकरस है; इसी तरह अगाध जल बाधारहित है। इसीसे अगुणकी महिमाको 'अबाधा' कहा। सगुणकी महिमामें बाधा है, क्योंकि जब लीलामें विलाप किया, बाँधे गये, अज्ञानी बनकर विद्या पढ़ी, इत्यादि कर्म किये, तब ईश्वरकी महिमा क्या रह गयी?—['अगुण' से जनाया कि सगुणकी भी महिमा है। सगुणकी महिमा श्रीसतीजीने देखी (दोहा ५४ और ५५ में 'निज प्रभाउ कछु प्रगटि जनावा।' से 'सती समुझि रघुबीर प्रभाऊ' तक इसका उल्लेख है), श्रीकौसल्याजीने देखी (दोहा २०१, २०२ में देखिए) और श्रीभुशुण्डिजीने देखी ('तब मैं भागि चलेउँ उरगारी' ७। ७९ से ७। ८२ तक)। 'रघुपति' शब्द देकर जनाया कि सगुण अगुण दोनों श्रीरामजीकी ही महिमा हैं।]

नोट—१ 'अगुन अबाधा महिमा' के उदाहरण—(१) उर अभिलाष निरंतर होई। देखिय नयन परम प्रभु सोई॥ अगुन अनंत अखंड अनादी।....निजानंद निरुपाधि अनूपा। १४४। ३—७।'; (२) "राम करउँ केहि भाँति प्रसंसा।...करहिं जोग जोगी जेहि लागी।....महिमा निगमु नेति कहि कहई। जो तिहुँ काल एकरस रहई॥ १। ३४१। ६।' तक; (३) 'राम ब्रह्म परमारथरूपा।... 'कहि नित नेति निरूपहिं बेदा' (२)।

९३); (४) 'मुनि मुसुकाने मुनि प्रभु बानी। पूछेहु नाथ मोहि का जानी॥ तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी॥ ऊमरितरु बिसाल तव माया' से 'ते तुम्ह सकल लोकपति साईं०' तक (आ० १३।४—९। ')। (५) 'जग कारन तारन भव भंजन धरनीभार (कि० १); (६) 'सुनु रावन ब्रह्मांड निकाया। पाइ जासु बल बिरचति माया। सुं० २१।४।' से 'जाके बल०।२१।' तक; (७) 'काल कर्म जिव जाके हाथा। लं० ६।' 'सिव बिरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई। लं० २२।' 'जगदात्मा प्रानपति रामा।...तृन ते कुलिस कुलिस तृन करई। लं० ३४।६—८।', 'उमा काल मरु जाकी इच्छा लं० १०१।', (८) 'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा। उ० ९१।३' से 'तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥...प्रभु अगाध सतकोटि पताला।....राम अमित-गुनसागर थाह कि पावइ कोइ...। ९२।' तक; (९) 'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु, अजहि मसक ते हीन। उ० १२२।'; 'महिमा निगम नेति करि गाई' से 'जासु नाम भवभेषज हरन घोर त्रयसूल' तक (उ० १२४)। इत्यादि। (मा० प्र०)।

२—'महिमा अगुन अबाधा...' के और भाव—(क) अगुण अर्थात् बिना गुण (डोर) के और अबाधा अर्थात् बिना बाधाके हैं। यह महिमारूप जल बिना डोर और बिना बाधाके सबको सुलभ है। इसलिये यह महिमा श्रेष्ठ और अगाध जल है। रामकी महिमाकी थाह नहीं, इसलिये अगाध कहना उचित है। वेद कहता है कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते' (सुधाकर द्विवेदीजी)। (ख) जलकी थाह (गहराई का पता) गुण (डोर) हीसे मिलता है। यहाँ गुण है ही नहीं, तब थाह कैसे मिल सके। अतः 'अगाध' कहा। (ग) सांख्यशास्त्रमें मायाके तीन गुण हैं, इससे जनाया कि रामजीकी महिमा मायिक गुणोंसे पृथक् है। मायाके गुणोंमें बाधा होती है, रामजीकी महिमामें मायाकी प्रबलता नहीं होती। अतः 'अबाधा' विशेषण दिया। (सू० प्र० मिश्र)। (घ) अगुण अबाधा महिमाको अगाधता कहनेका भाव यह है कि रघुनाथजीके नाम, रूप, लीला और धाम इन चारोंका जो परात्परत्व वर्णन है वही प्रभुकी अगुण अगाध महिमा है। यथा—'महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासीं मुकुति हेतु उपदेसू।' इति नाममहिमा, 'व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम-भगति बस कौसल्या के गोद॥'' इति रूपमहिमा, ''जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनि हारे॥ तेउ न जानहिं मरम तुम्हारा। और तुम्हहि को जाननिहारा॥ २।१२७' इति लीलापरत्व, और ''रामधामदा पुरी सुहावनि।...' इति धामपरत्व। (ङ) 'निर्गुण परब्रह्मकी महिमा जो नित्य एकरस पूर्ण है, सोई मानस-कथारूपी जलकी सजलताका मूल है अर्थात् इसके प्रभावसे जल नहीं घटता, एकरस परिपूर्ण रहता है, अतएव अगाधता है। जैसे परतमके यशकी थाह नहीं, वैसेही मानस अथाह है।' (मा० म०)। (च) अद्वैत मतके अनुसार सत्ता तीन प्रकारकी है। प्रातिभासिकी, व्यवहारिकी और पारमार्थिकी। प्रातिभासिकीका बाध व्यवहारिकीसे और व्यवहारिकीका पारमार्थिकीसे होता है। पारमार्थिकी सत्ता (अर्थात् निर्गुण ब्रह्म) का बाध नहीं होता, अतः अगुण महिमाको 'अबाध' कहा। जिस भाँति एक बृहदाकार शिलामें पुतली आदिके आकार विद्यमान हैं, शिल्पी पाषाणके उन भागोंको, जो कि उन आकारोंको ढके हुए हैं, छेनीसे काटकर निकाल देता है, कुछ अपने पाससे कोई आकार लाकर उस शिलामें नहीं डाल देता, इसी भाँति निर्गुण निराकार ब्रह्म एक अनादि अनंत शिला है, उसीमें सब गुण और सब आकार कल्पित हैं, अतः उसको अगाध कहा, उसकी थाह नहीं है। (वि० त्रि०)।

वि० त्रि०— 'बरनव सोइ' इति। वह निर्गुण ब्रह्म अपनी महिमामेंही प्रतिष्ठित है अतः उसका साक्षात् वर्णन नहीं, उपमाद्वारा वर्णन करनेका निश्चय करते हैं। यद्यपि निरुपमकी उपमाभी नहीं दी जा सकती तथापि निषेधरूपसे प्रादेशमात्र दिखाया जा सकता है। वर्षाके जलमें गहराई इतनी थोड़ी होती है कि उसका वर्णन न

करनाही प्राप्त था। अगाध हृदयमें आकर रामसुयश भर गया, तो उसमें अथाह गहराई भी आगई। उसी अथाह गहराईसे 'अगुन अबाधा' महिमाको उपमित किया है।

राम-सीअ-जस सलिल सुधा सम। उपमा बीचि*बिलास मनोरम॥ ३॥

शब्दार्थ—सलिल=जल। उपमा=एक वस्तुको दूसरेके समान कहनेकी क्रिया। बीचि=लहर। बिलास= आनन्द, शोभा। मनोरम=मनको रमाने खींच-लेनेवाली। बीचि बिलास=तरंगका उठना। यथा—'सोभित लखि बिधु बढ़त जनु बारिधि बीचि बिलास।'

अर्थ—श्रीसीतारामयश अमृतके समान जल है। जो उपमाएँ इसमें दी गयी हैं वे ही मनको रमानेवाली लहरोंके बिलास हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'रामसीय-जस सलिल सुधा सम' का भाव यह है कि जब श्रीरामयशमें श्रीसीताजीका यश भी मिला तब माधुर्य और शृङ्गार दोनों एकत्रित हो गये। यह युगल यश भक्तोंको विशेष आह्लाद देनेवाला है। इसीसे पुष्पवाटिका और विवाहप्रसङ्ग श्रीरामचरितमानसमें सर्वोत्तम और सारभूत माने गये हैं।–[निर्मल, पावन और मधुर होनेसे यशको 'सलिल' कहा। श्रीरामसीयकी सरलताको देखकर स्वयं कैकेयीजीको बड़ा पश्चात्ताप हुआ, यथा—'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई।' श्रीकौसल्याजी श्रीसुनयनाजीसे कहती हैं—'इस प्रसाद असीस तुम्हारी। सुत सुतबधू देवसरि बारी।' अतः इनके यशको भी सलिलसे उपमित किया। (वि० त्रि०)]

रामसीय-यशके उदाहरण—१ अरण्यमें, यथा—'एक बार चुनि कुसुम सुहाए' से 'रघुपति चित्रकूट बसि नाना। चरित किये श्रुति सुधा समाना' तक, यह गुप्त रहस्य किया गया है। इत्यादि। २–अयोध्याकांडमें, यथा–'चले ससीय मुदित दोउ भाई। ।११२।' से 'एहि बिधि रघुकुल कमल रबि मग लोगन्ह सुख देत। जाहिं··· ।२।१२३।' तक। पुनः दोहा १२८ से दो० १४१ तक, और दो० २२८—२३६, इत्यादि। ३—बालकांडमें यथा—(क) 'चहुँ दिसि चितइ पूछि मालीगन। लगे लेन दल फूल मुदित मन।१।२२८।' से 'हृदय सराहत सीय लुनाई।२३०।' तक। (ख) 'जगदंबा जानहु जिय सीता ·२४५।' से 'बर साँवरो जानकी जोगू ·२४९।' तक (ग 'रामसीय सोभा अवधि सुकृत अवधि दोउ राज। जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस मिलि नरनारि समाज॥ ३०९।', 'हृदय बिचारहु धीर धरि सिय-रघुबीर-बिआहु ··· । एहि बिधि संभु सुरन्ह समुझावा।·१४। —३।' इत्यादि।

नोट—१ श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि रामसुयश-जलमें सगुण लीला और प्रेमभक्ति को 'मधुर मनोहर मंगलकारी' गुण कह आये हैं, अब रामसीय दोनोंका मिश्रित यश यहाँ जलका अमरत्व गुण कहा गया है। अमृत मधुर, पुष्ट और आह्लादकारक होता है, मधुरता गुण पहिले कह ही चुके हैं इसलिये यहाँ 'सुधा सम' से पुष्ट और आल्हादकारक अर्थ लेना चाहिये। (मा. प्र.)। यदि 'स्वाद' 'मिष्टता' गुण अभिप्रेत होता तो पहिले मधुरता गुण क्यों लिखते? (मा० प्र०)। इस भावसे रा० प्र०, भावदीपिका, मानसभूषण आदिमें दिये हुये भावोंका खंडन हो जाता है।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि मेघका जल एकत्रित होकर तालाबमें आनेपर उसके गुण तथा स्वादमें सूक्ष्म भेद पड़ जाता है, इसीसे ग्रन्थकारने साधुमुखच्युत रामयशका माधुर्य वर्णन करनेपर भी सरमें आनेसे फिर उसका माधुर्य वर्णन किया और उसकी अमृतसे उपमा दी। मेघके जलका रस अव्यक्त होता है, सरमें एकत्रित होनेपर शरदृऋतुमें इस जलका रस व्यक्त होजाता है अतः माधुर्यातिशयसे सुधाकी उपमा दी गई।

---

*बीच—१६६१। इस पाठका अर्थ होगा—"बीच बीचमें जो उपमाएँ दी गयी हैं वे जलके बिलास (कार्यवर्ग) अर्थात् लहर हैं।"

'प्रेमाभक्तिमें ही माधुर्य है' इस सिद्धान्तमें त्रुटि नहीं है। यहाँ श्रीरामजानकीमें प्रेमातिशय होनसे ही उनके यश को सुधासम कहा। प्रेमातिशय ही सर्वत्र अभेदका कारण होता है।

पं० सूर्यप्रसादमिश्रजी लिखते हैं कि "उसी जलमें सुधासम गुण होते हैं जिसमें सूर्यप्रकाश और चन्द्रप्रकाश दोनों पड़ें। यही बात ग्रन्थकारने भी लिखी है कि यथा सूर्यसम रघुनाथजी और चन्द्रसम जानकीजी दोनोंके यशरूपी जल सुधासम हैं। कोषमें सुधा नाम 'मोक्ष' का है, ऐसा ही श्रीरामजानकी-यश है। पुनः, यशका अर्थ प्रेम भी है। श्रीराम-जानकीका-सा प्रेम किसीका न हुआ, न है और न होगा।"

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सुधा सम' का भाव यह है कि अमृतसमान पुष्टकर्ता, रोगहर्ता और संतोषकर्ता है। दोनोंके दर्शन होनेपर फिर किसी वस्तुकी चाह नहीं रह जाती, यही संतोषकारक गुणका भाव है। यथा—'नाथ देखि पदकमल तुम्हारे। अब पूजे सब काम हमारे।'

श्रीसुधाकरद्विवेदीजीका मत है कि 'महिमाको अगाध श्रेष्ठ जल अर्थात् क्षीरसागरका जल बनाया। उसमें श्रीसीतारामजीका यश अमृत जल अर्थात् चौदहों रत्नोंमें श्रेष्ठ अमृत है।'

वै० भू०—रामयशको सर्वत्र जल कह आए हैं। यथा—'बरषहिं राम सुजस बर बारी।', 'राम बिमल जस जल भरिता सो'। वैसेही यहाँभी रामयशको जलही कहा है। यहाँ राम और सीय दोनोंके यशका एक-एक विशेषण नामनिर्देशक्रमसे है। अर्थात् रामयश सलिल सम और सीययश सुधासम है।

नोट—२ उपमा एक अर्थालंकार है जिसमें दो वस्तुओंके बीच भेद रहते हुए भी उनका समानधर्म बतलाया जाता है। (श० सा०)। जिस वस्तुका वर्णन किया जाता है उसे 'उपमेय' और जो समता दी जाती है उसे 'उपमान' कहते हैं। उपमा देनेमें जिमि, तिमि, सम इत्यादि पद समता देनेमें काम आते हैं, इनको 'वाचक' कहते हैं। उपमेय, उपमानमें जिस गुण-लक्षण-देशकी समानता दिखाते हैं उसे 'धर्म' कहते हैं। जब उपमामें चारों अंग (उपमेय, उपमान, वाचक और धर्म) होते हैं तो उसे 'पूर्ण उपमा' कहते हैं। यदि इनमेंसे कोई अंग लुप्त हुआ तो उसे लुप्तोपमा कहते हैं। यहाँ 'उपमा' रूपक आदि अलंकारोंमात्रका उपलक्षण है अर्थात् रूपक आदि सभी अलंकार 'बीचि बिलास मनोरम' हैं। 'अलंकारों' की संख्या तथा कहीं-कहीं लक्षणोंमें मतभेद है। अलङ्कार-ग्रन्थोंमें महाराज जसवन्तसिंहकृत 'भाषाभूषण' विशेष माननीय माना जाता है। अलङ्कारोंके नाम और लक्षण प्रसङ्ग आनेपर हमने इस टीकामें दिये हैं। 'उपमा' के कुछ उदाहरण ये हैं, यथा—'श्रीहत भये भूप धनु टूटे। जैसे दिवस दीप छबि छूटे॥ रामहिं लखन बिलोकत कैसे। ससिहिं चकोर-किसोरक जैसे॥ १। २६३॥', 'दामिनि दमक रह न घन माहीं। कि० १४। २।' से 'सद्गुरु मिलें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाइ। कि० १७।' तक, इत्यादि।

मानसमें रूपक, प्रतीप, उल्लेख, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, अपन्हुति, सहोक्ति, विनोक्ति, समासोक्ति, परिकर, परिकरांकुर, असङ्गति, विशेषोक्ति, असम्भव, भ्रम, सन्देह, स्मरण, अनन्वय, दीपक, दृष्टान्त, उदाहरण, श्लेष, अप्रस्तुत, व्याजस्तुति, व्याजनिंदा, विभावना, आक्षेप, विरोधाभास, विषम, सम, पर्यायोक्ति, विचित्र, अधिक, अन्योन्य, व्यतिरेक, निदर्शना, परिणाम, व्याघात, विशेष, यथासंख्य, मालादीपक, एकावली, पर्याय, समुच्चय, कारकदीपक, कारणमाला, प्रौढ़ोक्ति, सम्भावना, अर्थान्तरन्यास, ललित, काव्यार्थापत्ति, समाधि, प्रत्यनीक, प्रहर्षण, अनुज्ञा, अवज्ञा, तद्गुण, अतद्गुण, विषाद, उल्लास, अनुगुण, मीलित, उन्मीलित, विशेषक, चित्र, पिहित, व्याजोक्ति, गूढ़ोक्ति, युक्ति, लोकोक्ति, वक्रोक्ति, भाविक, स्वभावोक्ति, अत्युक्ति, निरुक्ति, प्रतिषेध, विधि, हेतु, उदात्त, विवृतोक्ति, छेकोक्ति, सूक्ष्म, मुद्रा, लेश, रत्नावली, इत्यादि अलङ्कार प्रायः आए हैं। जिस प्रकार जलही रमणीय आकारमें व्यक्त होकर लहर हो जाता है, उसी भाँति अर्थ रमणीय आकारमें व्यक्त होकर अलङ्काररूप हो जाता है।

नोट—३ पं० रामकुमारजीका पाठ 'उपमा विमल विलास मनोरम' है। अर्थात् विमल उपमा ही शोभाका विलास है। वे कहते हैं कि जल पुरइनसे ढका है उसमें तरङ्ग कैसे होगी, दूसरे तरङ्ग निरन्तर नहीं रहती, उपमा निरन्तर है। परन्तु यह पाठ और कहीं देखनेमें नहीं आता। सूर्यप्रसादमिश्रजी लिखते हैं कि जैसे जलमें वायुकी प्रेरणासे लहरें उठती हैं एवं इस ग्रन्थमें काव्यकी उक्तिरूपी वायुसे उपमा आदि अलङ्कार मनोहर लहरें हैं। 'बीचि' का पाठान्तर 'बीच' भी मिलता है।

पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु-मनि-सीप सुहाई॥ ४॥

शब्दार्थ—पुरइनि=कमलका पत्ता या बेल। सघन=खूब घना हुआ। मंजु=सुन्दर।

अर्थ—सुन्दर चौपाइयाँ ही घनी फैली हुई पुरइनें हैं। और कविताकी युक्तियाँ उज्ज्वल मोतियोंकी सुन्दर सीपियाँ हैं। ४।

मा० प्र०—"अब तीन परिखा बाँधते हैं—एक तल्लीन, एक तद्गत और एक तदाश्रय। पहले उनको कहते हैं जो 'तल्लीन' हैं अर्थात् जो मानससे क्षणभरभी बाहर नहीं होते, किन्तु उसीमें मिले रहते हैं। जैसे मानससरमें पुरइन, सीप और मोती होते हैं" वैसे यहाँ श्रीरामचरितमानसमें सुन्दर सघन चौपाइयाँ और युक्तियाँ हैं।

नोट—१ "पुरइनि सघन चारु चौपाई" इति। इस रूपकमें समता केवल इतनी है कि जैसे जलपर पुरइन सघन, वैसेही रामचरितमानसमें चौपाइयाँ सघन हैं। पुनः, जैसे पुरइनकी आड़में जल है, वैसेही चौपाइयोंकी आड़में रामयश है। भाव यह है कि जैसे खूब घनी पुरइनसे जल छिपा रहता है, ऊपरसे देखनेवाले (जो इस मर्मको नहीं जानते वे) पत्तेही समझते हैं, जल नहीं पाते, यथा—'पुरइनि सघन ओट जल बेगि न पाइय मर्म। मायाछन्न न देखिये जैसे निरगुन ब्रह्म। ३। ४०।', वैसेही यहाँ सम्पूर्ण रामचरितमानस प्रायः चौपाइयोंमें कहा गया है, इसीसे इसे चौपइया-रामायण भी कहते हैं। इन सघन चौपाइयोंकी ओटमें श्रीरामयश गुप्त है, इसके मर्मीही इस जलको प्राप्त करके मननरूपी पान करते हैं। जो मर्मी नहीं हैं वे ऊपरहीकी बातोंमें भटकते रहते हैं, काव्यगुणदोष आदिके विचारमें पड़े रहते हैं। कितनेही तो भाषा समझकर इसके पास नहीं आते कि भाषाकी चौपाई क्या पढ़ें।

२ "चौपाई" इति। जायसीने सं० १५२७ वि० में 'पद्मावत' ग्रन्थको रचा। उसमें सात-सात चौपाईपर दोहा रक्खा है। यही नियम उनके 'अखरावट' और 'आखिरी कलाम' में है। प्रोफ़० पं० रामचन्द्र शुक्लजीने उन्हें चौपाई कहा है। ब्रजवासीदासजीने ब्रजविलासमें बारह-बारह चौपाइयोंपर दोहा रक्खा है और स्वयंही प्रत्येक (दो चरणवाली पंक्ति) को चौपाई कहा है। बाबा रघुनाथदासजी रामसनेहीजीने विश्रामसागरमें चौपाइयोंकी गणना प्रत्येक खंडके अन्तमें दी है। उसके अनुसार प्रत्येक दो चरणको मिलाकर एक चौपाई माना गया है। आजकल ऐसी दो चौपाइयों अर्थात् चार चरणोंको चौपाई माना जाता है और दो चरणको अर्धाली कहा जाता है। अर्धाली नाम किसी पिंगलमें नहीं मिलता। पं० रामकुमारजी आदि प्राचीन टीकाकारोंने प्रत्येक दो चरणोंको मिलाकर 'चौपाई' माना है। आधुनिक कुछ टीकाकारोंने चार चरणोंको मिलाकर 'चौपाई' नाम दिया है। मानसपीयूषमें प्रायः अर्धाली और चौपाई दोनोंही नाम दो चरणोंवाली पंक्तिके लिये आये हैं। वि० त्रिपाठीजीका मत है कि 'दो पादकी एक अर्धाली हुई एवं दो अर्धालियोंकी एक चौपाई हुई। जहाँ विषमसंख्यक अर्धालियोंके बादही दोहा, सोरठा या छन्द आ पड़ा है वहाँ अन्तिम अर्धालीको भी पूरी चौपाई माननी होगी। अर्थात् जहाँ ग्यारह अर्धालियाँ हैं वहाँ छः चौपाइयाँ मानना ही न्याय है, ग्यारह माननेसे छन्दशास्त्रका भारी विरोध होगा।' गौड़जीका मत था कि सम संख्यामें चार चरणको चौपाई मानना चाहिए और विषम संख्यामें दो चरणको चौपाई माननी चाहिए।

३ 'चारु' कहा क्योंकि कोई चार चरणकी चौपाई रकार मकारसे खाली नहीं है। अर्धाली तो दो एक रकार-मकाररहित मिल भी जाती हैं (वि० त्रि०)।

नोट—४ 'जुगुति मंजु मनि....' इति। क्रियासे कर्मको छिपा देनेको 'युक्ति' कहते हैं। यथा—'बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू।', 'पुनि आउब इह बिरियाँ काली।१।२३४।' और उदाहरण यथा—(२) 'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं। तातें अब लगि रहिउँ कुमारी। मन माना कछु तुम्हहि निहारी। आ० १७।' शूर्पणखा विधवा है, अपने विधवापनको इस युक्तिसे छिपाती है। (३) 'यह सुनि मन गुनि सपथ बड़ि बिहँसि उठा मति मंद। अ० २ ।'. 'ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई॥'—हँसकर हृदयके मर्मको छिपाया। (४) 'सुनत श्रवन बारिधि बंधाना। दसमुख बोलि उठा अकुलाना॥ बाँधेउ बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस। सत्य तोयनिधि कंपति उदधि पयोधि नदीस॥ लं० ५। निज बिकलता बिचारि बहोरी। बिहँसि गयउ गृह करि भय भोरी॥' यहाँ डर और व्याकुलताके कारण घबड़ाकर दसों मुखोंसे बोल उठा, फिर यह सोचकर कि और सभा यह न समझ पावे कि मैं डर गया वह हँस दिया और भयके छिपानेहीके विचारसे महलको चला गया। अङ्गद रावण-संवाद युक्तियोंसे भरा-पूरा है। इत्यादि। (५) 'गये जाम जुग भूपति आवा। घर घर उत्सव बाज बधावा।१।१७२।' यहाँ प्रतापभानुको निशाचर रानीके पास लिटा गया था, यह कर्म है। इसको छिपानेके लिये राजा 'मुनि महिमा मन महुँ अनुमानी। उठेउ गवहिं जेहि जान न रानी॥ कानन गयउ बाजि चढ़ि तेही। पुर नर-नारि न जानेउ केही॥' और दिन चढ़नेपर घर आया जिससे रातका भेद कोई न जान पाय। (६) 'दलकि उठेउ सुनि हृदउ कठोरू। जनु छुइ गयउ पाक बरतोरू॥ ऐसिउ पीर बिहँसि तेहि गोई। चोर नारि जिमि प्रगटि न रोई॥ लखहिं न भूप कपट चतुराई।...कपट सनेहु बढ़ाइ बहोरी। बोली बिहँसि नयन महुँ मोरी॥ २।२७।', 'राजु देन कहि दीन्ह बन मोहि न सो दुख लेसु। तुम्ह बिनु भरतहि भूपतिहि प्रजहि प्रचंड कलेसु॥ २।५५।', 'कोउ नृप होउ हमहिं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी॥ जारै जोगु सुभाउ हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा। २।१६।', 'प्रभु प्रताप बड़वानल भारी। सोखेउ प्रथम पयोनिधि बारी॥ तव रिपु नारि रुदन जलधारा। भरेउ बहोरि भयउ तेहि खारा॥ सुनि अति उकुति पवनसुत केरी। ६।१।', 'गूलरि फल समान तव लंका। बसहु मध्य तुम्ह जंतु असंका॥ मैं बानर फल खात न बारा। आयसु दीन्ह न राम उदारा॥ जुगुति सुनत रावन मुसुकाई। ६।३३।' इत्यादि। (मा०प्र०)

त्रिपाठीजी—युक्ति उपायको कहते हैं। दुःसाध्य कार्य भी युक्तिसे सुसाध्य हो जाता है। सुन्दर युक्ति वही है जिससे अल्पायासमें अर्थ सिद्ध भी हो और धर्ममें बाधाभी न पड़े। ऐसी युक्तियाँ मानसमें अनेक हैं। (क) नारदजीने जब पार्वतीजी का हाथ देखकर बताया कि जोगी जटिल आदि लक्षणयुक्त पति इसका होगा, तब मैना और हिमवान् घबड़ा उठे। नारदजीने कहा 'तदपि एक मैं कहौं उपाई।...जौं बिबाह संकर सन होई। दोषौ गुन सम कह सबु कोई।१।६९।' विधिका लिखा भी हो और अपना काम बन जाय। यह युक्ति है। (ख) भरतजी श्रीरामजीको लौटाना चाहते हैं, यदि श्रीरामजी लौटते हैं तो पिताका वचन जाता है, नहीं लौटते तो अवधवासियोंको प्राणसंकट है। अतः भरतजी कहते हैं 'तिलक-समाजु साजि सबु आना। करिअ सुफल प्रभु जौं मन माना॥ सानुज पठइअ मोहि बन।' यह युक्ति है। आशय यह कि आप राज्य स्वीकार करें और मैं बन स्वीकार करता हूँ; इस तरह दोनों बातें बन जायँगी। इसी तरह (ग) 'इहाँ राम जसि जुगुति बनाई। सुनहु उमा सो कथा सुहाई।३।२३।' (घ) 'का चुप साधि रहेउ बलवाना।...।४।३०।३-६।' (यह जाम्बवान्‌की युक्ति हनुमान्‌जीको बलका स्मरण दिलाने की है) इत्यादि।

बैजनाथजी—इस मानसमें युक्ति यह है कि जब गोस्वामीजीने ग्रन्थ प्रारंभ किया तब उन्होंने विचार किया कि विमुख जीव श्रीरघुपतिलीलामें अनेक तर्क निकालेंगे, इसलिये उन्होंने प्रथम भरद्वाजजीहीके प्रश्नमें

सन्देह रख दिया । याज्ञवल्क्यजीके वचनोंसे सतीजीमें संदेह और उसकी सज़ा दिखाई । फिर शिवजीके वचनों से गरुड़का संदेह और संदेहके कारण गरुड़की व्याकुलतारूपी सज़ा कही । इसमें युक्ति यह है कि श्रीरघुनाथजीमें संदेह करनेसे श्रीशिवजीकी वामांगी और विष्णुवाहन गरुड़को भी सज़ा मिली यह विचारकर और लोग संदेह न करेंगे । युक्तिकी 'कहनूति (कथन)' सीप है, अन्तमें श्रीरामरूपमें विश्राम होना मुक्ता (मोती) है ।

टिप्पणी—१ पुरइन कहकर कमल कहना चाहिये था, सो न कहकर बीचमें मणि-सीप कहा । इसका कारण यह है कि 'पुरइनके नीचे मणिवाली सीपियाँ आकर रहा करती हैं, इसी तरह चौपाईके भीतर अनेक युक्तियाँ हैं । सुन्दर युक्ति सुन्दर मणिसीपी है । इसलिये पुरइन और मणि-सीप कहकर तब कमल कहा है । तालाबमें सीपी रहती है, इसलिये यहाँ सीपहीका वर्णन है, मणिसे कोई प्रयोजन नहीं ।

२ युक्तिके भीतर जो बात है वही मोती है अर्थात् युक्तिके भीतरकी बात शोभित है जैसे सीपके भीतर मोती । जैसे सीपमें मोती नहीं दिखायी पड़ता, वैसेही ग्रन्थकारने भी मोती नहीं खोला ।

मा० प्र०—युक्ति इस मानसका मोती है । युक्ति और मोतीकी तुल्यता इस प्रकार है कि जैसे मोती जलसे होता है (स्वातिबूंद जो सीपके मुखमें पड़ता है वह मोती हो जाता है) और सारहीन है, केवल पानीका बुल्ला है फिरभी बड़े मोलका होता है और उसकी बड़ी शोभा होती है, वैसेही युक्ति उक्तिसे होती है, इसलिये सार हीन है; परन्तु सुननेमें अच्छी लगती है, अतः सुन्दर है । पुनः, युक्ति जिससे कही जाती है वह उससे प्रसन्न होता है यही युक्तिका बड़ा मूल्य है । 'सीपि सुहाई' से यहाँ 'सुबुद्धि' का ग्रहण है । पूर्व जो अष्ट प्रकारकी बुद्धि कही गई है (दोहा ३६ चौ० ३ देखिये) उनमेंसे यह बारंबार कथन-श्रवणरूपी "पोहा" (ऊपोह) नामक बुद्धि है उसीमें युक्ति रहती है ।

नोट—५ मा० प्र०, रा० प्र० और सू० मिश्र युक्तिको सीपका मोती और बुद्धिको 'सुहाई सीपी' मानते है । पं० रा० कु०, बै०, पाँ० आदि अमूल्य मोतीको उत्पन्न करनेवाली सीपीको 'युक्ति' मानते हैं । मा० प्र०-कारने जो समानता दिखाई है वह बहुत सुन्दर है, पर मेरी समझमें चौपाईका अर्थ वही ठीक है जो पं० रा० कु० जीने किया है । युक्तिके भीतरकी बात मोती है । मोती बड़े मोलका होता है, वैसेही यहाँ युक्तिके भीतर बुद्धिकी चतुरता भरी है, जो आशय दूसरेको उन वचनोंसे जनाया चाहते हैं यदि वह समझ ले तो उससे अच्छा विनोदभी होता है और युक्ति तथा कहनेवालीकी चतुरताभी सफल हुई, यही मोतीका बहुमूल्य है । [पाँडेजीका मत है कि युक्ति तो थोड़े दामकी सीपी है, पर वह रामयश मोतीही प्रकट करती है जो अमूल्य है । और सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि—'भगति सुतिय कलकरन विभूषन' यह मंजु मणि रामनामरूप मुक्ताकी सीपी है । अर्थात् युक्तिके भीतर रामनामरूप मुक्ता भरी है । त्रिपाठीजीका मत है कि भगवान्के गुणगणही सीपके मोती हैं, यथा—'जस तुम्हार मानसविमल हंसिनि जीहा जासु । मुकताहल गुनगन चुनइ··· ।२।१२८।']

छंद सोरठा सुंदर दोहा । सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ॥ ५ ॥

अर्थ—इसमें जो सुन्दर छन्द, सोरठे और दोहे हैं वे ही बहुत रंगके कमलसमूह इसमें शोभित हैं ।।५।।

नोट—१ छन्द—वह वाक्य जिसमें वर्ण वा मात्राकी गणनाके अनुसार विराम आदिका नियम हो । यह दो प्रकारका होता है—वर्णिक और मात्रिक । जिस छन्दके प्रति पादमें अक्षरोंकी संख्या और लघु-गुरुका नियम होता है वह वर्णिक वा वर्णवृत्त और जिसमें अक्षरोंकी गणना और लघु गुरुके क्रमका विचार नहीं केवल मात्राओंकी संख्याका विचार होता है वह मात्रिक छन्द कहलाता है । दोहा, चौपाई, सोरठा इत्यादि मात्रिक छन्द हैं । (श० सा०) । देखिये मं० श्लो० १ और बा० ९ (६) । दोहा, चौपाई, और सोरठाके अतिरिक्त जो छन्द इसमें आए हैं उन्हींको यहाँ 'छंद' नामसे अभिहित किया है । इस ग्रन्थमें प्रायः सोलह प्रकारके छन्द पाये जाते हैं—

(१) अनुष्टुप् छन्द (वृत्त)—इसके प्रत्येक चरणमें आठ-आठ वर्ण होते हैं। चारों चरणोंमें पाँचवाँ वर्ण लघु और छठवाँ गुरु होता है। दूसरे और चौथे चरणोंके सप्तम वर्णभी लघु होते हैं। मानसमें इस वृत्तके सात श्लोक हैं। 'वर्णानामर्थसंघानां···' मं० श्लो० १ से 'उद्भव स्थिति संहारकारिणीं क्लेशहारिणीम्।··· । श्लो० ५।' तक पाँच हैं। 'यो ददाति सतां शंभुः कैवल्यमपि दुर्लभम्।···लं० मं० श्लो० ३।' और 'रुद्राष्टकमिदं प्रोक्तं···७।१०८।'

(२) शार्दूलविक्रीडित वृत्त। इसके प्रत्येक चरणमें उन्नीस वर्ण होते हैं जिसमेंसे अंतिम वर्ण गुरु होता है। प्रत्येक चरणका स्वरूप यह है—मगन (SSS) सगन (IIS) जगन (ISI) सगन (IIS) तगन (SSI) तगन (SSI) S। मानसमें ऐसे दस वृत्त आए हैं। 'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं···' मं० श्लो० ६, 'यस्याङ्के च विभाति भूधरसुता देवापगा मस्तके।··· । २. मं० श्लो० १।', 'मूलं धर्मतरोर्विवेक जलधेः पूर्णेन्दुमानंदं··· । ३. मं० श्लो० १।।', 'सान्द्रानन्दपयोद···· । ३. मं० श्लो० २।', 'कुन्देन्दीवर सुंदरावतिबलौ··· । ४. मं० श्लो०, १, २।' इत्यादि।

(३) वसंततिलकावृत्त। इसके प्रत्येक चरणमें चौदह-चौदह अक्षर होते हैं। चरणका स्वरूप यह है—तगण (SSI) भगण (SII) जगण (ISI) जगण (ISI) SS। मानसमें ऐसे दो वृत्त आए हैं।—'नाना पुराणनिगमागम···' मं० श्लो० ७, 'नान्या स्पृहा रघुपते···' ५. मं० श्लो० २।

(४) हरिगीतिका छन्द। इसके प्रत्येक चरणमें अट्ठाईस मात्राएँ होती हैं। सोलहपर यति है, अन्तमें लघु और गुरु होता है। इसकी रचनाका क्रम यह है—२,३,४,३,४,३,४। (प्रायः प्रत्येक चरणमें १६—१२ मात्रापर विश्राम रहता है पर मानसमें कहीं-कहीं इस छंदमें १४-१४ पर विराम है)। किसी चौकलमें जगण (ISI) न पड़ना चाहिए। मानसमें १४१ छन्द ऐसे आए हैं। "मंगलकरनि कलिमलहरनि तुलसी कथा रघुनाथ की।··· १।१०', 'भरे भुवन घोर कठोर रव रवि वाजि तजि मारगु चले।··· ।१।२६१।' इत्यादि। श्रीसीयस्वयंवर और श्रीसियरघुवीरविवाह एवं उमा-शिवविवाह प्रसंगोंमें प्रायः इसी छन्दका प्रयोग हुआ है।

(५) चवपैया छन्द। इसके प्रत्येक चरणमें तीस तीस मात्राएँ होती हैं और दस, आठ और बारह मात्राओंपर विराम होता है। चरणान्तमें एक यगण (ISS) या एक सगण (IIS) और एक गुरु रहता है। यह छन्द केवल बालकांडमें नौ आए हैं।—"जप जोग बिरागा, तप मख भागा, श्रवन सुनै दससीसा।", "जय जय सुरनायक, जन सुखदायक, प्रनतपाल भगवंता", "भए प्रगट कृपाला दीनदयाला, कौसल्या हितकारी"। इत्यादि।

(६) त्रिभंगी छन्द। इसका प्रत्येक चरण बत्तीस मात्राओंका होता है। दस, आठ, आठ और छः मात्राओंपर विश्राम होता है। चरणान्तका वर्ण गुरु होता है। इस छन्दके किसीभी विरामके भीतर जगण (ISI) न आना चाहिए। ऐसे पाँच छन्द केवल बालकांडमें हैं "ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै", "परसत पद पावन सोकनसावन, प्रगट भई तपपुंज सही।" से "जो अति मन भावा सो बर पावा, गै पतिलोक अनंद भरी।" तक चार छंद हैं।

(७) इन्द्रवज्रावृत्त। इसके प्रत्येक चरणमें ग्यारह ग्यारह वर्ण होते हैं। इसका स्वरूप यह है—'तगण (SSI) तगण (SSI) जगण (ISI) SS'। मानसमें ऐसा छन्द एकही है परंतु उसका चौथा चरण उपेन्द्रवज्राका है क्योंकि उसके आदिमें जगण (ISI) है। "नीलांबुज श्यामल कोमलांगं, सीतासमारोपित वामभागम्। पाणौ महासायक चारु चापं, नमामि रामं रघुवंशनाथम्। २. मं० श्लो० ३।

(८) वंशस्थविलम् वृत्त। इसके चारों चरणोंमें बारह-बारह वर्ण होते हैं। स्वरूप यह है—जगण (ISI) तगण (SSI) जगण (ISI) रगण (SIS)। यह वृत्त केवल अयोध्याकाण्डमें एक बार आया

है। "प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः। मुखांबुजश्री रघुनंदनस्य मे सदास्तु सा मंजुलमंगलप्रदा। मं० श्लो० २।"

(९) नगस्वरूपिणी वृत्त। इसका प्रत्येक चरण आठ वर्णोंका होता है। स्वरूप यह है—'जगण (।ऽ।) रगण (ऽ।ऽ) ।ऽ'। अर्थात् इसके दूसरे, चौथे, छठे और आठवें वर्ण गुरु हैं। क्रमसे लघु गुरु वर्ण आते हैं। श्रीअत्रिजाकृत स्तुतिमें ऐसे बारह वृत्त हैं और उत्तरकाण्डमें एक है। "नमामि भक्तवत्सलं कृपालु शील कोमलं।", "विनिश्चितं वदामि ते, न अन्यथा वचांसि मे।"

(१०) तोमर छन्द। इसके चारों चरण बारह-बारह मात्राके होते हैं, अन्तमें गुरु लघु वर्ण रहते हैं। अरण्यकांडमें खरदूषणयुद्धमें छः (बा, ६॥) और लंकाकाण्डमें रावणयुद्धमें सोलह ऐसे छन्द हैं। "तब चले बान कराल। फुंकरत जनु बहु ब्याल॥", "जब कीन्ह तेहि पाखंड, भए प्रगट जंतु प्रचंड। ६। १००।", "जय राम सोभाधाम। दायक प्रनत बिश्राम। ६। ११२।"

(११) मालिनी वृत्त। इसके प्रत्येक चरणमें पन्द्रह अक्षर होते हैं।। स्वरूप यह है—दो नगण (।।।,।।।) एक मगण (ऽऽऽ) दो यगण (।ऽऽ,।ऽऽ)। यह केवल सुन्दरकांडमें एक आया है। "अतुलितबलधामं स्वर्णशैलाभदेहं दनुजवनकृशानुं ज्ञानिनामग्रगण्यम्।…।"

(१२) स्रग्धरा वृत्त। इसके प्रत्येक चरण इक्कीस-इक्कीस अक्षरके होते हैं। चरणका स्वरूप यह है—मगण, रगण, भगण, नगण और तीन यगण। ऽऽऽ,ऽ।ऽ,ऽ।।, ।।।, ।ऽऽ, ।ऽऽ,।ऽऽ। सात-सात अक्षरोंपर यति है। मानसमें ऐसे दो वृत्त हैं। "रामं कामारि सेव्यं, भवभयहरणं, कालमत्तेभसिंहं…। लं० मं० १।", "केकीकण्ठाभनीलं, सुरवर विलसद्विप्रपादाब्जचिह्नं…। उ० मं० १।"

(१३) डिल्लाछन्द। इसके चारों चरण सोलह मात्राके होते हैं। प्रत्येक चरणके अंतमें भगण (ऽ।।) का रहना आवश्यक है। लंकाकाण्डमें श्रीशिवकृत स्तुति इस छन्दमें है। 'मामभिरक्षय रघुकुलनायक धृत बर चाप रुचिर कर सायक।…। ६। ११४।'

(१४) तोटकवृत्त। इसका प्रत्येक चरण बारह अक्षरोंका होता है, चार सगण (।।ऽ) प्रत्येक चरणमें होते हैं। अर्थात् तीसरा, छठा, नवाँ और बारहवाँ वर्ण गुरु होते हैं। केवल लंकाकाण्डमें ब्रह्माकृत स्तुति और उत्तरकाण्डमें श्रीशिवकृत स्तुति इस वृत्तमें हैं। 'जय राम सदा सुखधाम हरे। रघुनायक सायक चाप धरे।… लं० ११०।', 'जय राम रमारमनं समनं…। ७। १४।'

(१५) रथोद्धतावृत्त। इसके चारों चरणोंमें ग्यारह-ग्यारह अक्षर होते हैं। स्वरूप यह है–"रगण (ऽ।ऽ) नगण (।।।) रगण (ऽ।ऽ)। ऽ"। इसके दो वृत्त केवल उत्तरकाण्डमें आये हैं। "कोसलेन्द्रपदकंज मंजुलौ कोमलावजमहेशवंदितौ।……मं०श्लो, २।", "कुन्दइन्दुदरगौरसुन्दरं…। मं० श्लो० ३।"

(१६) भुजंग-प्रयात वृत्त। इसका प्रत्येक चरण बारह-बारह अक्षरका होता है। चरणमें चार यगण (।ऽऽ) होते हैं अर्थात् पहला, चौथा, सातवाँ और दसवाँ वर्ण लघु रहता है। विप्रकृत शिवस्तुति 'नमामीशमीशान निर्वाणरूपं…' में इसके आठ वृत्त आये हैं और कहीं नहीं।

नोट—२ 'सोरठा सुंदर दोहा' इति। (क) सोरठाके पहले और तीसरे चरणोंमें ग्यारह-ग्यारह तथा दूसरे और चौथे चरणोंमें तेरह-तेरह मात्रायें होती हैं। इसके दूसरे और चौथे चरणोंमें जगण (।ऽ।) न आना चाहिये तथा इनके आदिमें त्रिकलके पश्चात् दो गुरु नहीं आते। सोरठाके चरणोंको उलटकर पढ़नेसे दोहा बन जाता है। अर्थात् दोहेके प्रथम और तृतीय चरणोंमें तेरह-तेरह और द्वितीय और चतुर्थ चरणोंमें ग्यारह-ग्यारह मात्राएँ रहती हैं। (ख) 'सुन्दर' देहलीदीपकन्यायसे सोरठा और दोहा दोनोंके साथ है। सुन्दर सोरठा वह है जिसके द्वितीय और चतुर्थ चरणमें जगण (।ऽ।) नहीं आता। जगणके आनेसे छन्दकी गति बिगड़

जाती है और यह अशुभ माना जाता है । सुन्दर दोहा वह है जिसके पहले और तीसरे चरणोंके आदिमें जगण न हो, नहीं तो उस दोहेकी चण्डालिनी संज्ञा हो जाती है जो अति निन्द्य है । यदि पूरे शब्दमें जगण पड़े तभी वह निन्द्य समझा जाता है । यदि पहला और दूसरा अक्षर मिलकर एक शब्द बन जाता हो और तीसरा अक्षर किसी दूसरे शब्दका अंग हो तो दोष नहीं पड़ता । यथा—"भलो भलाइहि पै लहै लहै निचाइहिं नीचु ।"—यहाँ दो अक्षर मिलकर 'भलो' शब्द पृथक् है, और 'भलाई' का प्रथमाक्षरभी मिलनेसे जगण हुआ। अतः इसमें दोष नहीं है । (ग) ☞हमारे धर्मग्रन्थोंमें अठारह संख्यासे अधिक काम लिया है । पुराणोंकी संख्या अठारह है, भारतमें अठारह पर्व हैं, गीतामें अठारह अध्याय हैं, अठारह अक्षौहिणी सेना है, अठारह दिन युद्ध होता है, श्रीगोस्वामीजीने भी श्रीरामचरितमानसमें अठारह प्रकारके छन्दोंसे ही काम लिया है । इस अठारह संख्याके रहस्यपर विद्वानोंको दृष्टिपात करना चाहिये । (वि० त्रि०) [दोहा और सोरठा भी छंद हैं पर गोस्वामीजीने इनको पृथक् रक्खा है]

नोट– ३ "बहु रंग कमल" इति । (क) श्रीरामचरितमानसमें चार प्रकारके कमलोंका वर्णन पाया जाता है । अरुण श्वेत, नील और पीत । प्रमाण यथा—'सुभग सोन सरसीरुह लोचन । १ । २ ६ । ६ ।', 'जहं बिलोक मृगसावकनैनी । जनु तहँ बरिस कमल-सित-श्रेनी । १ । २३२ । २ '. 'नील पीत जलजाभ सरीरा । १ । २३३ । १ ।' चारों रंगोंके कमलोंके प्रमाण "मानिक मरकत कुलिस पिरोजा । चीरि कोरि पचि रचे सरोजा । १ । २८८ । ४ ।" इस एकही चौपाईमें मिल जाते हैं । माणिक्य लाल, मर्कत नील, कुलिश श्वेत और पीरोजा पीले रंगका होता है । हिन्दी-शब्दसागरमेंभी चार रंगके कमलोंका उल्लेख मिलता है । रक्त कमल भारतके प्रायः सभी प्रान्तोंमें मिलता है । इसे संस्कृतमें कोकनद, रक्तोत्पल, हल्लक, इत्यादि कहते हैं । श्वेत कमल काशीके पास और संयुक्तप्रान्तके अन्य स्थानोंमेंभी होता है । इसे शतपत्र, महापद्म, नल, सिताम्बुज इत्यादि कहते हैं । नील कमल विशेषकर काश्मीरके उत्तर तिब्बत और कहीं-कहीं चीनमें होता है । पीत कमल अमेरिका साइबीरिया उत्तर जर्मनी इत्यादि देशोंमें मिलता है । अधिकतर लाल, श्वेत और नील कमल देखे गए हैं । ☞संभव है कि इसी विचारसे 'छंद, सोरठा, दोहा' तीन्ही नाम स्पष्ट लिखे गए । दोहे सबसे अधिक हैं । अतः वे लाल हैं । सोरठे उनसे कम हैं अतः वे श्वेतकमल कहे जा सकते हैं और छन्द नील (वा, नील और पीत) कमल हैं ।

श्रीबैजनाथजीभी चार रंगके कमल मानकर लिखते हैं कि "अहल्यास्तुतिमें त्रिभंगी ३२ मात्राकी, जन्म-समय चवपैया ३० मात्राकी, व्याहसमय हरिगीतिका २८ मात्राकी, इत्यादि बड़े छन्द श्याम कमल हैं । वैद्यक-मुनि (भुशुण्डीजीके गुरु) की भुजंगप्रयात, राज्याभिषेक समय शिवजीका तोटक, अत्रिमुनिकी नगस्वरूपिणी, इत्यादि श्वेत कमल हैं । खरदूषणके युद्धका तोमर १२ मात्राका पीत कमल है । सोरठा और दोहा लाल वर्णके कमल हैं । बड़े-बड़े छन्द सहस्रदलवाले कमल हैं, मध्यवाले शतदलके और सोरठा दोहा आदि छोटे कमल हैं ।

सू० प्र० मिश्रजीका मत है कि छन्द, सोरठा, दोहा तीन नामोंका उल्लेख करके कमलके तीन भेद सूचित किये, कोशोंमें श्वेत, रक्त और नील तीनही भेद लिखे हैं । ग्रन्थकारने जो चौथी प्रकारका कमल लिखा है वह इससे कि पीतका अन्तर्भाव श्वेत में है, इसी लिये लक्ष्मणजीकी उपमा पीतसे दी है । (परन्तु श० सा० से इसका विरोध होता है) ।

बाबा जानकीदासजीका मत है कि छन्द, सोरठों और दोहोंको बहुरंगके कमल कहकर जनाया कि इनका रंग त्रिगुणमय है । जो रजोगुणी वाणीमें हैं वे लाल रंगके कमल हैं । तमोगुण वाणीवाले श्याम हैं और जो सत्वगुणी वाणीमें हैं वे श्वेत कमल हैं । जितने छंद, सोरठे और दोहे हैं वे त्रिगुणमय वाणीमें हैं । जो पीत-कमलभी मानते हैं वे पीतरंगके कमलोंको गुणातीत मानते हैं । इस तरह विषयभेदसे छन्दादि सात्विक, राजस,

तामस और गुणातीत माने गए हैं। यथा—'को जान केहि आनंदबस सब ब्रह्म बर परिछन चली।१।३१८।', 'पहिचान को केहि जान सबहि अपान सुधि भोरी भई। आनंदकंद बिलोकि दूलहु उभय दिसि आनंद मई।१।३२१।', 'लागे पखारन पाय पंकज प्रेम तन पुलकावली।१।३२४।' इत्यादि सात्विक श्वेत रंगके हैं। रामराज्य प्रसङ्गके छन्दादि राजस लाल रंगके कमल हैं। यथा—"रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं। काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं। ।७।२१।', 'दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्यसमाज। ।७।२२।', 'मनिदीप राजहिं भवन भ्राजहि देहरी बिद्रुम रची।...७।२७।' इत्यादि। खरदूषण, मेघनाद, रावणके युद्धोंवाले छन्द तामसिक नीले रंगके कमल हैं। 'ज्ञान गिरा गोतीत अज माया मन गुन पार।...७।२५।', 'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूपसिरोमने।...७।१३।', 'जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुनप्रेरक सही।...।३।३२।', इत्यादि जहाँ गुणातीतरूपका वर्णन है वे गुणातीत पीत रंगके कमल कहे जाँयगे।

पाँडेजीका मत है कि "बहुरंग कहकर जनाया कि अनेक रंगके रस उनमें भरे हुए हैं।" पं० राजकुमारजी एक खर्रेमें लिखते हैं कि "जिस रसके संबंधमें जो छन्द, सोरठे, दोहे हैं वे उसी रंगके कमल हैं और जहाँ रसों का मिलाप है वहाँ रंगकाभी मिलाप जानिये। यथा—"आइ गए हनुमान जिमि करुना महँ बीररस", "बय लायक नहिं पुरुष अनूपा।...", "रामहि चितै रहे भरि लोचन। रूप अपार...", इत्यादि। पुरइनके रंगसे छन्दादि कमलोंको रंगकी प्राप्ति है, मूल कारण पुरइन है। कारणके अनुकूल कार्य होता है। इसीसे पुरइनमें रंग न कहा।"

४ "कमल कुल" इति। कुल=समुदाय, समूह, घराना; यथा—'भानु कमल-कुल पोषनिहारा।२।१७।' 'कमल-कुल' कहकर जनाया कि प्रत्येक रंगकेभी अनेक प्रकारके कमल होते हैं, जिनके भिन्न-भिन्न नाम होते हैं। एक जाति और रंगके जितने कमल होंगे वे सब एक कुलके माने जायगे। इसी तरह छन्द, सोरठा और दोहाकेभी अनेक भेद हैं जिन्हें एक-एक 'कुल' कह सकते हैं।

रा० प्र० का मत है कि 'कुल' से शतपत्र, सहस्रपत्र आदि कमल जानना चाहिए। परंतु सू० प्र० मिश्रजी कहते हैं कि शतपत्र आदि कमलके भेद नहीं हैं, वे तो नामान्तरही हैं। द्विवेदीजीका मत रा० प्र० से मिलता है। वे लिखते हैं कि--"चौपाई पुरइनिसे भिन्न ललित छन्द, सोरठे, दोहे, सहस्रपत्र, शतपत्र, पुण्डरीक, नील कमल, कोकनद इत्यादि ऐसे सोहते हैं। 'कुल' का लेखा वर्ण और मात्रासे है। मानसके कमल अष्टदलसे लेकर बत्तीस दलतकके हैं"।

५ चौपाईको पुरइन और छन्द, सोरठा, दोहाको कमल कहकर सूचित करते हैं कि--(क) सब पुरइनोंमें कमल नहीं होता, इसीसे इस ग्रंथमेंभी कहीं ८ पर, कहीं १०,११,१३, इत्यादि चौपाइयों (अर्धालियों) पर दोहा, सोरठा या छन्द दिया गया है। (ख) दोहा, सोरठा और छन्द ये सब चौपाईसे निकलते हैं जैसे कमल पुरइनसे निकलते हैं। (ग) चौपाई सोलह मात्राओंकी होती है अतः वह पुरइन ठहरी। सोरठे-दोहे उससे बड़े (अर्थात् चौबीस मात्राओंके) होते हैं और छन्द उनसेभी बढ़े हुए हैं। उन्हें कमल कहा, क्योंकि ये पुरइनोंके ऊपर रहते हैं; चौपाइयोंके बीच बीचमें छन्दादि होते हैं जैसे पुरइनोंके बीचबीचमें कमल। (पाँ०)। पुरइनने कमलका और चौपाइयोंसे छंदादिका निकलना इस प्रकार है। यथा—'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा। सेवत जाहि सदा मुनिधीरा॥' इस चौपाईसे 'मुनि धीर जोगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं।....।१।५१।' यह छन्द निकला। पुरइनका रंग इसमें आगया 'मुनि धीर जेहि ध्यावहीं' और 'सेवत जाहि सदा मुनि धीरा।'

त्रिपाठीजी—१ श्रीरामचरितमानसका ठीक अर्थ लगानेके लिये, प्रत्येक पुरइन और कमलका हाल जानना होगा। दोनोंका पूरा पता लगाये बिना अर्थ नहीं लगेगा। यथा—'तीनि अवस्था तीन गुन तेहि कपास ते काढ़ि।' इस कमलकी पुरइनका पता लगाए बिना शंका बनी रहती है कि 'केहि कपास ते काढ़ि?' क्योंकि यहाँ कपासका उपमेय कहाही नहीं गया। यह कमल तो खिला उत्तरकाण्डमें और पुरइनका पता लगा बालकाण्डमें—

'साधुचरित सुभ चरित कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू॥' अब अर्थ खुल गया कि साधुचरितही कपासका गुनमय फल है। पुनश्च यथा—"मुनि भूपाल भरत व्यवहारू। सोन सुगंध सुधा ससि सारू।" यह पुरइन है। यहाँ भरतव्यवहारको सोना कह रहे हैं और उसमें सुगंध और स्वादभी बतला रहे हैं, पर यह न जान पड़ा कि 'व्यवहारमें क्या सुवर्ण है और क्या सुगंध एवं स्वाद ? इस पुरइनका संबंध किन किन पुरइनों और कमलोंसे है यह पता लगाए बिना अर्थ नहीं खुलता। 'सोन' का संबंध "कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहें। तिमि प्रियतम पद नेम निबाहें।' तथा 'कसें कनक मनि पारिख पाएँ।' से है। अर्थ स्पष्ट हो गया कि नेम-निर्वाहही 'सोना' है। 'सुगंध' का संबन्ध 'भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुबास' इस कमलसे है। अर्थ स्पष्ट हो गया कि भरतजीका भायपही सोनेमें सुगंध है। इसी तरह 'सुधा ससि सारू' का सम्बन्ध 'परम पुनीत भरत आचरनू।'''' राम सनेह सुधाकर सारू।२।३२६।' से है। अर्थ स्पष्ट हो गया कि भरतजीका आचरणही 'सुधाकर सार' अर्थात् स्वाद है। तालाबमें जो पुरइनें होती हैं उनके फैलनेका कोई नियम नहीं है, कोई किधर जाती है, कोई किधर जाती है। इसी भाँति छंद, सोरठा, दोहा और चौपाइयोंका भी कोई नियम नहीं है।

☞ऐसी पुरइनें बहुत हैं जिनसे फूल नहीं निकले हैं, पर ऐसे कमल नहीं हैं जिन्हें पुरइन न हो। इनके कुछ नियम जो हाथ लगे हैं वे ये हैं—(क) कहीं फूले हुये कमल हैं, यथा—'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख''''।५।४।' यह 'तात मोर अति पुन्य बहूता''''।५।८।' पुरइनका कमल है। दूतके दर्शनमात्रके सुखकी विशद व्याख्या है। (ख) कहीं कली विकसित हो रही है, आगे उसीका विकास हो रहा है यथा—'कनककोट कर परम प्रकासा' का विकास 'कनककोट बिचित्र मनिकृत…' में है। (ग) कहीं एक पुरइनमें एकाधिक कमल फूले हैं। यथा—'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी।'''।२।२७३।' इन पुरइनोंसे चार कमल बालकांडके मं० सोरठारूपमें निकले। प्रथम चारों सोरठोंमें 'बंदौं' पद नहीं आया, क्योंकि पुरइनमें आ चुका है। (घ) कहीं अनेक स्थानोंकी पुरइनें इकट्ठी होकर फूली हुई हैं, जिनसे फूलोंका गुच्छा बन गया है। तीन दोहोंके बाद तीन सोरठा और फिर एक दोहा आया है, इस भाँति कमलोंका गुच्छा बन गया है, और इन सबोंकी पुरइनें सब एक जगह की नहीं हैं। यथा—'सरल कबित कीरति''''।१।१४।' इन दोनों कमलोंमें पुरइन है 'कीरति भनिति भूति भलि सोई।'''' और इसके आगेवाले दोहे 'कबि कोबिद रघुबर चरित''''। १।१४।' की पुरइन 'कबि कोबिद अस हृदय बिचारी।'''।१।११।६।' है जो कुछ दूरसे आई है।—दोहा १४ में चार दोहे और तीन सोरठे एकत्र आए हैं, इनसे सम्बद्ध चौपाइ दूर दूरसे आई हैं। (ङ) कहीं जहाँकी तहाँ पुरइनें फूली हुई हैं। उदाहरण '(क)' में आगया है। (च)—कहीं बहुत दूर जाकर पुरइन फूल देती है, यथा—भरि लोचन छबि सिंधु निहारी। कुसमय जानि न कीन्हि चिन्हारी। १।५०।२।' यह पुरइन जाकर लंकाकांड में 'देखि सुअवसर प्रभु पहिं आए संभु सुजान।'''।६।१४।' में फूली। (छ)—कहीं एक पुरइन दूसरेसे सम्बद्ध है। यथा—'बार बार रघुबीर संभारी।'''।५।१।६।' का सम्बन्ध 'हनुमत जन्म सफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना।४।२३।' से है। हनुमान्जी 'कृपानिधान'को धारण करके चले थे, इसी लिये उन्हें सँभाल रहे हैं।

वि० त्रि०—२ "सोहा" इति। (क) कमलोंके फूलनेसे ही सरोवरकी शोभा होती है, यथा—"फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भये जैसा॥" इसी भाँति छन्द, सोरठा, सुन्दर दोहासे श्रीरामचरितमानसकी शोभा है। अतः जहाँ शोभातिशयका प्रकरण आ गया है, वहाँ छन्दोंकीभी भरमार है। श्रीशङ्करभगवान्‌के व्याहमें चार-चार चौपाइके बाद एक छन्द और एक सोरठा या एक दोहा है। इस भाँति ग्यारह (रुद्र संख्यक) छन्द इकट्ठे आये हैं, श्रीरामजीके व्याहमें इसी भाँति बारह (आदित्य संख्यक) छन्द इकट्ठे आये हैं, श्रीराम-रावण युद्धमें इसी भाँति सत्ताइस (नक्षत्र संख्यक) छन्द इकट्ठे आये हैं। ये संख्यायें भी सप्रयोजन हैं।

जिन देशोंके दृश्यसे साम्यकी शोभा है, वहाँके चरित्रमें पुरइन और कमलोंके क्रम और संख्यामेंभी समता है, यथा बालकांडमें प्रायेण चार चौपाइयोंके बाद दोहा आता गया है, अयोध्याकांडमें तो चार चौपाइयोंके बाद एक दोहा और २४ दोहोंके बाद पचीसवाँ एक छन्द और सोरठा बराबर आता है, फिरभी सरोवरके पुरइन और कमलसे उपमित होनेके कारण किसी क्रमको पूरी तरहसे निबहने नहीं दिया है। (ग) जिन देशोंमें दृश्यवैषम्यकी शोभा है, वहाँ कमलभी उसी रीतिसे फूले हैं। कहीं एक पुरइनके बाद भी कमल है और कहीं १७ पुरइन तक कमलका पता नहीं है।

अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुवासा॥ ६॥

अर्थ—उपमारहित अर्थ, सुन्दर भाव और सुन्दर भाषा ही पराग, मकरंद (पुष्परस जो परागके नीचे होता है) और सुगन्ध हैं॥ ६॥

त्रिपाठीजी—ग्रन्थकारका कहना है कि इस ग्रन्थमें उपमारहित अर्थ हैं। 'यह समझनेकी बात है कि इतने बड़े विनम्र होते हुए ग्रन्थकार, रघुवंश, नैषध, किरात, माघादिके विद्यमान रहनेपरभी अपनी कविताके अर्थको अनूप कहनेका दावा क्यों करते हैं? क्या अभिधा, लक्षणा और व्यंजनाके अतिरिक्त कोई चौथा रास्ता है?' बात यह है कि ग्रन्थकारने मानसमें स्नानका फल 'महाघोर त्रयताप न जरई' यह बताया है! अतः यह ग्रन्थ इस दृष्टिसे रचा गया है कि इसके आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीन प्रकारके अर्थ हों। आधिभौतिक अर्थसे भौतिक, आधिदैविकसे दैविक, और आध्यात्मिक अर्थसे आध्यात्मिक ताप नष्ट होते हैं।— यही अर्थ की अनूपता अपूर्वता है।

आधिभौतिक अर्थ वह है जिसे आज कलके ऐतिहासिक सत्य कहते हैं। वही माधुर्यलीला आधिभौतिक अर्थ है। भुशुंडीजीके मूल रामचरितमानससे यदि पहला, दूसरा और अस्सीवाँ प्रसङ्ग हटा दिये जावें तो आधिभौतिक रामचरितमानसका एक्यासी सूत्रों (प्रसङ्गों) में पूरा वर्णन आ जाता है। यह संसारके बड़े कामका है।

आधिदैविक अर्थ—जैसे नाटकमें हरिचन्द्रका खेल देखकर साधारण दर्शकों को भी आनन्द होता है और उससे शिक्षा भी मिलती है। पर नाटकके रसिकोंको उतनेहीसे तृप्ति नहीं होती, उन्हें उन पात्रोंकीभी खोज होती है जिन्होंने अभिनय किया था। इसी भाँति आधिदैविक चरित्र सम्पूर्ण जगत्के लिये हैं पर भक्तोंका तो यह सर्वस्व है। यदि इस जगत्का कोई नियामक है तो यह भी आवश्यक है कि कभी वह इस संसारमें अवतीर्ण हो। इस संसार नाट्यशालामें इसके सूत्रधर स्वयं रंगमंचपर आ भी जाते हैं। महर्षि वाल्मीकि, अगस्त्य, शरभंग आदि जानकार लोग उन्हें उसी समय पहचान भी लेते हैं। आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों चरित साथ साथ चलते हैं, फिरभी ग्रंथकारने १।१११ से १।१८६ तक पचहत्तर दोहोंमें शुद्ध आधिदैविक चरित्र ही कहा है। आधिभौतिकसे शिक्षामात्र मिलती है, पर संसार-सागर-संतरण तो आधिदैविक माहात्म्यके साथ यशोगानसे ही होता है।

आध्यात्मिक अर्थ भी इसमें है। जैसे ब्रह्मांडके कल्याणके लिये श्रीरामावतार होता है वैसे ही जीवके इस पिंडमें नामावतार होता है। दुःख, दोष, कलिमल और मोहमें पड़ा हुआ जीव अत्यन्त संतप्त हो रहा है, उसके उद्धारका उपाय यह है कि इस पिंडमें श्रीरामजीके नामका अवतार हो। नामावतारसे जीवका कल्याण होता है। यह आध्यात्मिक अर्थ है। श्रीरामचरितका जाननेवाला स्पष्ट अपने शरीरमें देख सकता है कि इस समय कौनसा राक्षस उत्पात कर रहा है और नामके प्रयोगसे उससे छुटकारा पा सकता है। संपूर्ण कथामें ये तीनों अर्थ अनवरत चले जाते हैं। यही यहाँ अर्थकी अपूर्वता है।

नोट—१ 'सुभाव' इति। चित्त द्रव्य लाखकी भाँति स्वभावसे ही कठिन होता है, तापक विषयके

योगसे यह पिघल उठता है। काम, क्रोध, भय, स्नेह, हर्ष, शोक और दयादिक चित्तके लिये तापक हैं। इन्हींके योगसे यह पिघलता है और इनके शान्त हो जानेपर फिर कठिन हो जाता है। चित्तकी पिघली हुई दशामें जिस बातका रंग उसमें चढ़ जाता है, उसी रंगको संस्कार, वासना, भावना या भाव कहते हैं। यह भाव यदि रसके अनुकूल हो तो उसे 'सुभाव' कहते हैं। (वि० त्रि०)। अन्य लोगोंने 'सुंदर भाव' अर्थ किया है।

२ 'सुभाषा' इति। संस्कृतमें सबका अधिकार नहीं है, भाषामें आ-पामर सबका जन्मसिद्ध अधिकार है। अतः रामयशवर्णनके लिये लोकोपकार-दृष्ट्या लोकभाषाही सुभाषा है। यथा—"कीरति भनिति भूति भलि सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई।" पर लोकभाषाके अवान्तर अगणित भेद हैं। अवधनरेश भगवान् मर्य्यादा-पुरुषोत्तमके चरित्रवर्णनमें गोस्वामीजीने अवधी भाषाका प्रयोग किया। पुनः, मानसमें श्रुतिकटु, भाषाहीन, क्लिष्ट, अश्लीलादि शब्ददोष, प्रतिकूलाक्षर, व्याहत, पुनरुक्ति, दुष्क्रम आदि अर्थदोष तथा अंगवर्णन अंगीविस्मरणादि रस दोषके न होनेसे 'सुभाषा' कहा। अथवा अलंकृत शब्द होनेसे 'सुभाषा' कहा। (वि० त्रि०)

नोट—३ ऊपर कमल बताया, कमलमें पराग, मकरन्द और सुगन्ध होती है। अब यहाँ बताते हैं कि इस मानसमें वे क्या हैं। 'अर्थ भाव और भाषा' की 'पराग, मकरन्द और सुवास' से क्या समता है? यह महानुभावोंने इस प्रकार दिखाया है कि—(क) शब्दके भीतर अर्थ होता है, वैसेही पराग फूलकी पाखुरी (पंखड़ी) से मिला हुआ भीतरकी ओर पहिले ही दिखायी देता है। मकरन्द परागके नीचे रहता है जो साधारणतः दिखायी नहीं देता, इसी तरह शब्दोंके भीतर अर्थके अभ्यन्तर सुन्दर भाव भरे होते हैं। जैसे फूल की सुगन्धका फैलाव दूरतक होता है, वैसेही इसमें भाषा दूर-दूरकी है और दूर-दूरके देशोंमेंभी इसका प्रचार हो रहा है, इसकी प्रशंसा हो रही है। इसमें पंजाबी, बंगाली, फ़ारसी, अर्बी, अवधी, बघेलखंडी, ब्रज, बुँदेल-खंडी, मराठी, बैसवारी, भोजपुरी इत्यादि अनेक देशोंकी भाषाओंके भी शब्द आये हैं, यद्यपि यह ग्रंथ अवधी भाषाका ही है। (ख) जब भ्रमर कमलपर बैठता है तब कमलसे पराग उड़ता है, मकरंद झड़ता (वा टपकता) है और सुवास फैलती है, वैसेही जब सुकृती पुरुषोंके चित्त-भ्रमर छन्दादि कमलों पर बैठते हैं तब अर्थ-परागका विकास होता है, भाव-मकरंदकी झड़न होती है और सुभाषासुगंध (सन्निकट श्रोताओंके अंगमें) विंध जाती है। (मा० प्र०, रा० प्र०, खर्रा)। 'सुभाषा' का भाव कि इसमें भाषालालित्य है।

(ग)-अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियोंसे अर्थ होता है। शक्तियोंके भेदसे अर्थभी वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य तीन प्रकारके होते हैं। वे तीनों प्रकार अर्थके अंतर्गत हैं। इसी भाँति परागमें तीन गुण हैं—सौंदर्य, सौगंध्य और सारस्य। यथा—"बंदौं गुरपद पदुम परागा। सुरुचि सुबास सरस अनुरागा।" यहाँ वाच्यको सुगंध कहा है, क्योंकि पृथक् पृथक् शब्दके पृथक्-पृथक् अर्थ उसी भाँति नियत हैं जिस भाँति भिन्न भिन्न पुष्पोंके भिन्न भिन्न गंध नियत हैं। एवं लक्ष्यार्थको सौंदर्य कहा क्योंकि वाच्यार्थसे जब अन्वय या तात्पर्यकी उपपत्ति नहीं होती, तो उसे छोड़कर सुन्दर अर्थ ग्रहण किया जाता है, जिसमें अन्वय और तात्पर्य बन जायँ। व्यंग्य तो काव्यका प्राणही है, इसीलिये उसे सारस्य कहा। सुभाव मकरंद (पुष्परस) है, क्योंकि आनंद तो सुन्दर भावसे ही होता है। यथा—'मातु बचन सुनि अति अनुकूला। जनु सनेह सुरतरु के फूला॥ सुख मकरंद भरे श्रिय-मूला। २।५३।' पराग स्पष्ट रहता है और मकरंद अन्तर्गत होता है, भौंरेको ही मिलता है। अतः सुभावको मकरंद कहा। सुभाषा सुगंध है क्योंकि भाषाका प्रभाव सुगंधकी भाँति दूरतक पहुँचता है। अर्थ और भाव अलग रक्खा रहे, सुकविकी भाषामेंही ऐसा प्रभाव है कि उसके सुननेमात्रसे श्रोताको आनंद आ जाता है। यथा—"सरल कबित्त कीरति बिमल सोइ आदरहिं सुजान। सहज बयर बिसराइ रिपु जो सुनि करहिं बखान।", "तया कवितया किंवा किंवा वनितया तया। पादनिक्षेपमात्रेण यया न हरते मनः॥" (वि० त्रि०)।

(घ)—मा० मा० कारका मत है कि "यथासंख्यसे अर्थ करनेसे भाव बिगड़ जाता है, क्योंकि भाव-

को मकरंद और सुभाषाको सुवास माननेसे यह अर्थ करना पड़ेगा कि भावोंके अभ्यन्तर भाषाएँ हैं (क्योंकि मकरंदके अभ्यन्तर सुवास होता है न कि सुवासके अभ्यन्तर मकरंद) तो भाषा ऊपर नज़र आवेगी या भाषाविं निकालनेपर भाषापर दृष्टि पड़ेगी। इससे यहाँ क्रम-विपर्यय अलंकारसे अर्थ करनेपर संगति ठीक बैठती है।" भाषाएँ प्रथमही दिखाई देती हैं अतः वे पराग हैं, परागके मध्य मकरंद "वैसेही भाषाके मध्य अर्थ, अतः मकरंद अर्थका रूपक है। और मकरंदके अभ्यन्तर सुगन्ध वैसेही अर्थके भीतर सुंदर भाव हैं जो मानस-रामायणका सार है जिसका फैलाव दूर-दूरतक है। यद्यपि अनेकों ग्रंथ मौजूद हैं तथापि मानसके भावोंके सामने सब तुच्छ हैं।"

नोट—४ अनुपम अर्थ और सुन्दर भावके उदाहरण श्रीसुधारकरद्विवेदीजी इस प्रकार देते हैं। (क) 'भये प्रगट कृपाला दीनदयाला कौसिल्या हितकारी।' इस छन्दमें कृपालासे दिखलाया कि भूमि और देवताओंपर कृपा करके प्रगट हुए। केवल माताको अपना विष्णुरूप दिखलाया। यद्यपि दशरथने इनके वियोगमें प्राण-त्याग किया तथापि पहले वैवस्वतमनुरूपके समयमें जिस रूप का दर्शन किया था उस रूपमें रामको कभी नहीं देखा, इसलिये 'कौसल्या हितकारी' कहने का भाव बहुत ही रोचक है।' (ख) 'मुक्तिजनम महि जानि'''सो कासी सेइय कस न।' 'में 'सो कासी' एक पद करनेसे 'जो सोक (जन्ममरणदुःख) के काटनेके लिये तलवार है इसलिये इसे क्यों न सेइये' यह 'अनुपम' अर्थ होता है। (ग) 'प्रभुहिं चितइ पुनि चितव महि राजत लोचन लोल।०' इसमें बार-बार रामको देखकर फिर सङ्कोचसे माताको देखना, यह सब अनुपम अर्थ और भाव हैं।

वे लिखते हैं कि 'यहाँ भावसे ग्रन्थकारके अभिप्रायको लेना चाहिये। जिस भावको साहित्यदर्पण में 'निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया' लिखते हैं। और जिसका उदाहरण—'स एव सुरभिः कालः स एव मलयानिलः। सैवेयमबला किन्तु मनोऽन्यदिव दृश्यते॥ यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपास्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः। सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते॥' यह देते हैं। उस भावके हाव, हेला इत्यादि ३३ भेद हैं। तुलसीदासजीने भी भाव के उदाहरण 'तासु बचन अति सियहिं सोहाने। दरस लागि लोचन अकुलाने॥', 'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत मोर मन छोभा॥' इत्यादि दिखाये हैं।

सुकृत-पुंज मंजुल अलि-माला। ज्ञान बिराग बिचार मराला॥ ७॥

शब्दार्थ—अलिमाल=अलि+माला=भौंरोंका समूह वा पंक्ति। मराल=हंस। सुकृतपुंज=पुण्य-समूह।=सुकृती लोग जिनके पुण्योंका समूह एकत्र हो गया है। यथा—'ते पुनि पुन्यपुंज हम लेखे। जे देखहिं देखिहहिं जिन्ह देखे। २।११९।', 'चित्रकूटके बिहंग मृग बेलि बिटप तृन जाति। पुन्यपुंज सब धन्य अस कहहिं देव दिन राति। २।१३८।', "हम सम पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे। अ० २७४।', 'हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर बासी॥ जिन्ह जानकी राम-छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी। १।३१०।' 'नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारि बिहंग। १।४०।' ☞ इस ग्रन्थमें विप्रपदपूजा, परोपकार इत्यादि पुण्य-कर्मोंका तथा पुण्य-पुरुषोंका ठौर-ठौर वर्णन है। पुनः, सुकृत पुंज=सुष्ठु कर्म मरनेवालोंका समूह।

अर्थ—सुकृतपुञ्ज सुंदर भ्रमरोंकी पंक्ति है। ज्ञान, वैराग्य और विचार हंस हैं॥ ७॥

नोट—१ देवतीर्थ स्वामीजी आदि कुछ महानुभाव 'ज्ञान-वैराग्यका विचार' ऐसा अर्थ करते हैं। काष्ठजिह्वा स्वामीजी कहते हैं कि "इनका 'विचार' हँस है। दूध-पानी जुदा करनेसे हंस विचारी है।' सुधाकर-द्विवेदीजी लिखते हैं कि 'भक्तोंके ज्ञान और वैराग्यरूप विचार इस मानसके हंस हैं। भक्तिके चाहनेवाले तो फिर-फिर संसारमें जन्म लेकर भगवद्भक्तिमें लीन रहते हैं। जो ज्ञानी और विरागी हैं वे अपने ज्ञान-वैराग्य-

विचारमें इस मानसके द्वारसे मुक्ति पाते हैं । जैसे हंस अपने नीर-क्षीर-विवेकसे मानसमें मोती पाते हैं । मुक्तिके साम्यसे ज्ञानविरागके विचारको हंस बनाना बहुत उचित है ।'

२ कमलके स्नेही भ्रमर हैं । यथा—'मुनिमन-मधुप रहत जहँ छाये' । अतएव कमल कहकर भ्रमरावली कही । मानसके 'छन्द सोरठा दोहा' रूपी कमलपुष्पापर सुकृतपुञ्ज छाये रहते हैं, उनके भावरूप मकरंद रसको पान करते हैं (अर्थात् भावरूपी मकरंदकी प्राप्ति सुकृतियोंके ही भाग्य में हैं, वे इसीसे पुष्ट होते हैं; यही उनका जीवन है । जहाँ सुकृत नहीं हैं वहाँ भावोंकी गुणग्राहकता कौन करे ?) और परागरूपी अर्थमें लोटत-पोटते रहते हैं । सुकृतपुंज रामभक्त हैं; यथा—'रामभगत जग चारि प्रकारा । सुकृती चारिउ अनघ उदारा ॥ १ । २२ । ६ ।'

टिप्पणी—कमल कहकर फिर हंस कहा क्योंकि हंस कमलका स्नेही है, कमलपर बैठता है; यथा—'सिय सुमिरी सारदा सुहाई । मानस तें मुख पंकज आई ॥ बिमल बिवेक धरम-नय-साली । भरत-भारती मंजु-मराली ॥ २।२९७ ।' 'पुनि नभ-सर मम कर-निकर कमलन्ह पर करि बास । सोभत भयो मराल इव संभु सहित कैलास । ६ । २२ ।'

※ 'ज्ञान बिराग बिचार मराला' इति । ※

१ विचार—यह सोचना कि शरीर और उसके सम्बन्ध एवं जगत्‌के सभी व्यवहार अनित्य हैं, एक आत्मा-परमात्माही नित्य है; यथा—'देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि किये बिचार । ज्यों कदलीतरु मध्य निहारत, कबहुँ न निकसै सार ॥ वि० १८८ ।' ☞विचारसे वैराग्य उत्पन्न होता है । श्रीस्वायम्भुव मनुके मनमें प्रथम विचार उठा कि 'होइ न विषयबिराग भवन बसत भा चौथपन । हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरि-भगति बिनु १ । १४२ ।' तब 'नारि समेत गवन बन कीन्हा'—यह वैराग्य हुआ । बिराग=वैराग्य; विषयसे मनका छूट जाना, उसमें आसक्त न होना । वैराग्यसे ज्ञान होता है, यथा—'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु । ७ । ८९ ।' किसी प्रकारका मान हृदयमें न होना ज्ञानका लक्षण है, यथा—'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं । ३ । १५ ।'

२—ज्ञान, वैराग्य, विचार तीनको हंस कहा, क्योंकि हंस भी तीन प्रकारके होते हैं—हंस, कलहंस और राजहंस । (पं० रा० कु०, मा० दी०) । यथा—'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार । १ । ६ ।' 'बोलत जलकुक्कुट कलहंसा । ३ । ४० ।', 'सखीं संग लै कुँअरि तब चलि जनु राजमराल । १ । १३४ ।' पुनः, दोनोंका रंग श्वेत है । (मा० दी०) । पुनः, अमरकोशमें 'राजहंस, मल्लिकाक्ष और धार्तराष्ट्र' ये तीन भेद हंसोंके कहे हैं । यथा—"राजहंसास्तु ते चञ्चुचरणैर्लोहितैः सिताः । मलिनैर्मल्लिकाक्षास्ते धार्तराष्ट्राः सितेतरैः ॥ २ । ५ । २४ ।" अतः यहाँ ज्ञान, विराग और विचार तीन कहे ।

३ (क) ज्ञान, वैराग्य और विचारको हंस कहनेका कारण यह है कि जैसे हंस दूध-पानी अलग करके दूध पी लेता है, वैसे ही इनसे सत्-असत्‌का निर्णय होकर सत्‌का ग्रहण और असत्‌का त्याग किया जाता है । पुनः, (ख) राजहंसके गतिकीभी प्रशंसा है, यथा—'चलि जनु राजमराल' । कलहंसकी बोलीकी और हंसकी क्षीरनीर विवरणकी प्रशंसा है, यथा—'बोलत जलकुक्कुट कलहंसा । ३ । ४० । २ ।' 'खीरनीर बिवरन गति हंसी ।' ज्ञानकी गति उत्तम (मोक्ष) है अतः यह राजहंस हुआ । विरागयुक्त वाणीकी शोभा है, यथा—"मुनि बिराग-संजुत कपि बानी । बोले बिहँसि राम धनुपानी ।" अतः वैराग्य कलहंस है । विचार सत्-असत्‌का विवेक करता है, गुणदोषको अलग करता है, अतः यह हंस है । यथा—'भरत हंस रबिबंस तड़ागा । जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा ॥' मानसमें जहाँ-जहाँ ज्ञान-विराग-विचारका उल्लेख मिले वहाँ-वहाँ हंसोंका विहार समझ लेना चाहिए । (वि० त्रि०) ।

४ 'कमलमें भ्रमर और हंस विहार करते हैं, 'छन्द सोरठा दोहा' में 'सुकृत' और 'ज्ञान विराग विचार' विहार करते हैं । अर्थात् इनके कहने सुननेसे सुकृत होते हैं और 'ज्ञान वैराग्य विचार' हृदयमें आते हैं । जहाँ कमल होता है वहाँ ये सब रहते हैं ।

५ यहाँ कमलके योगसे भ्रमर और हंसको 'तल्लीन' के साथ कहा गया, नहीं तो ये 'तद्‌गत' में आते हैं। (मा० प्र०)।

धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहु भाँती ॥८॥

अर्थ—(श्रीरामचरितमानसमें) ध्वनि, अवरेब, गुण और जाति जो कविताके भेद हैं वे ही बहुत प्रकारकी सुन्दर मछलियाँ हैं ॥ ८ ॥

नोट—'धुनि अवरेब गुण जाति' इति। १—'धुनि' (ध्वनि)—जब शब्दोंके नियत अर्थोंका साधारणतः कुछ और अर्थ हो और उनमेंसे प्रसंगानुकूल मुख्य अर्थ कुछ और ही झलकता हो तो उसे 'ध्वनि' कहते हैं। चाहे यह चमत्कार वाच्यार्थसे ही निकले चाहे लक्षणार्थ वा व्यंगार्थसे। सीधे वचनोंमें टेढ़ा भाव होना यह इसका मुख्य चमत्कार है। ध्वनिके एक लाख चार हजार पचपन भेद कहे जाते हैं। काव्यप्रकाशमें ध्वनिके ४०८ भेद लिखे हैं। ध्वनि भी व्यंग ही है। इनमें यह भेद कहा जाता है कि जिस अर्थका चमत्कार ऐसा हो कि उससे श्रोताको वाञ्छित सिद्धिका आनन्द हो वह ध्वनि है और जिस अर्थके चमत्कारसे सुननेवालेको अप्रसन्नता या लज्जा हो, वह व्यंग्य है। विशेष आगे २ (ज) में देखिए। उदाहरण; यथा—

(क) पुनि आउब येहि बिरियाँ काली'—'कल फिर आवेंगी, कल फिर इनके दर्शन होंगे', इससे मन प्रसन्न होता है। यहाँ 'आना' कहकर 'चलना' जनाया। उसमें ध्वनि यह है कि अब देर हो गयी, न चलोगी तो कल फिर क्या आने पाओगी, इत्यादि। विशेष १। २३४ (६) में देखिए। यह ध्वनि है। 'समर बालि सन करि जसु पावा', यह व्यंग्य है।

(ख) 'बिप्र बंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहिं डेराई॥ १। २८४।' इसे सुनकर श्रोता प्रसन्न होगा, इसमें ध्वनि यह है कि हम तुमको नहीं डरते, ब्राह्मणत्वका विचार करते हैं कि मारनेसे पाप होगा। यह ध्वनि है।

(ग) 'जेहि बिधि होइहि परमहित नारद सुनहु तुम्हार। सोइ हम करब न आन कछु बचन न मृषा हमार॥ कुपथ माँग रुज-ब्याकुल रोगी। बैद न देइ सुनहु मुनि जोगी॥ एहि बिधि हित तुम्हार मैं ठयऊ। १। १३२। ३।'— यहाँ 'हित' कहकर मनोरथ-सिद्धि सूचित की और ध्वनि यह कि अपना रूप तुमको न देंगे।

(घ) 'हंस बंस दसरथु जनकु राम लखन से भाइ। जननी तू जननी भई बिधि सन कछु न बसाइ। २।१६१।'— यहाँ द्वितीय 'जननी' शब्द से कैकेयीजीकी कठोरता व्यंग्य है। यह अर्थान्तर संक्रमित वाच्य भेद है। (वि० त्रि०)।

(ङ) 'कुंदकली दाड़िम दामिनी।''''हरपे सकल पाइ जनु राजू। ३। ११। १४।' यहाँ कुंदकली आदिकोंका हर्षित होना असंभव है, तब वाचकने अपना अर्थ छोड़ा और साध्यवसाना से दशनादिका ग्रहण हुआ। अब उपमेयसे उपमानका अनादर पाना गूढ़ व्यंग्य हुआ और 'तुम्हारे वैरियोंका हर्ष मुझसे नहीं सहा जाता' यह ध्वनि है। यहाँ अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य भेद है। (वि० त्रि०)

(च) "पूछेउँ गुनिन्ह रेख तिन्ह खाँची। भरत भुआल होहिं यह साँची। २। ३१।'—यहाँ गुणियोंके रेखा खींचनेकी सिद्धि 'भुआल' शब्दसे होती है। यहाँ पहले इसी अर्थकी प्रतीति होती है कि भरत राजा होंगे, पर ऐसा अर्थ करनेसे गुणी झूठे होंगे। अतः 'भुआल' शब्दकी शक्तिसे यह अर्थ निकला कि भरत पृथ्वीमें रहेंगे, यथा—'महि खनि कुस सांथरी संवारी' (वि० त्रि०)। इत्यादि।

२ 'अवरेब'—(संस्कृत, अव = विरुद्ध + रेव = गति)। तिरछी या टेढ़ी चाल। (क) अधिकांश टीकाकारोंका मत है कि काव्यमें इसको 'खण्डान्वय' भी कहते हैं। जहाँ सीधे शब्द जैसे रक्खे हैं वैसेही अर्थ

करनेमें ठीक आशय नहीं निकलता, शब्दोंका उलट-फेर करनेहीसे ठीक अर्थ निकलता है उस काव्यको 'अवरेब काव्य' कहते हैं। उदाहरण—'देखि रूप लोचन ललचाने। हरषे जनु निज निधि पहिचाने'॥ इसमें 'ललचाने लोचन' ऐसा रखकर अर्थ सिद्ध होता है अर्थात् जो लोचन ललचाये हुए थे। (मा० प्र०, करु०, मा० दी०)। 'इहाँ निसिचर बैदेही। बिप्र फिरहिं हम खोजत तेही॥'—इसमें 'इहाँ' शब्द 'खोजत' के साथ जायगा। इत्यादि। पंजाबीजी इसे 'व्यंग्य' और रा० प्र० कार 'अन्वय' कहते हैं। (ख)—शब्दसागर इसीको 'वक्रोक्ति' 'काकूक्ति' कहता है। वक्रोक्तिके दो भेदोंमेंसे एक 'काकु' भी है जिसमें शब्दोंके अन्यार्थ या अनेकार्थसे नहीं बल्कि ध्वनिहीसे दूसरा अभिप्राय ग्रहण किया जाय। जैसे 'क्या वह इतनेपर भी न आवेगा?' अर्थात् आवेगा।—[वक्रोक्तिके उदाहरण अंगद-रावण-संवादमें बहुत हैं]

(ग) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'अवरेब वह है जहाँ दूषण भी किसी कारणसे भूषण हो जाता है। यथा—'श्यामतन सोनित कनी'। रक्तकनी देहकी शोभा नहीं है, सोभी रणभूमिके प्रसंगसे शोभा है। पुनः सौभागिनीको तापसवेष अशोभित, सो श्रीकिशोरीजीमें पति-संग वनवाससे शोभित। अथवा, हितमें अहित जैसे कैकेयीका मनोरथ, हनुमानजी की पूँछका जलाना, चित्रकूटमें अवधवासियोंपर देवमाया, इत्यादि। यह 'अर्थ अवरेब' हुआ। शब्द-अवरेब वह है जिसमें आदि अन्तके शब्द मिलाकर अर्थ करना होता है।'

पं० सूर्यप्रसाद मिश्रने मानसपरिचारिका, करुणासिन्धुजी, रा० प्र०, पंजाबीजी, बैजनाथजी, रामेश्वर भट्ट इत्यादिके दिये हुए 'अवरेब' के अर्थोंका खण्डन किया है। वे लिखते हैं कि ये सब अर्थ निर्मूल हैं क्योंकि किसीने कुछ भी प्रमाण नहीं लिखा है। ध्वनिके साथ 'अवरेब' के लिखनेसे दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता, जब होगा तब काव्यभेद ही हो सकता है। वे लिखते हैं कि काव्यके तीन भेद हैं—उत्तम, मध्यम, अधम। ध्वनिकाव्य उत्तम है। ग्रन्थकारने मध्यमका उल्लेख ही नहीं किया। रह गया अधमकाव्य सो कैसे कहें क्योंकि स्वयं कह चुके हैं कि 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा', इसलिये अधम (अवर) नहीं कहा, अवरेब (=अवर+इव) कहा अर्थात् अधमके समान। अवरेबमें दो शब्द हैं—'अवर' और 'इव'। 'अवर' का अर्थ अधम-काव्य है, यथा काव्यप्रकाशमें कहा है—'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्गं त्ववरं स्मृतम्।' इसका अर्थ यह है कि गुण और अलङ्कारके रहनेपर भी ध्वनिके न होनेसे अवरकाव्य होता है। यथा—'तात जनकतनया यह सोई। धनुष जग्य जेहि कारन होई॥' इत्यादि, अनेक हैं। ऐसे अर्थका प्रमाण ग्रन्थकारहीने स्वयं लिखा है। यथा—'रामकथा [!] अवरेब सुधारी' (?) इसका अर्थ हुआ कि इस काव्य में जो अधमकाव्यके समान भी लक्षण आवें वह भी रामकथा होनेसे शुद्ध हो जावेगी। अवरेब अर्थात् अधमपना जाता रहा। [परन्तु शुद्ध पाठ है 'रामकृपा'। 'रामकथा' पाठ हमें कहीं नहीं मिला]

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि "बहुतोंके मतसे 'अवर इव' दो पद हैं, जिनकी व्याख्या पं० सूर्यप्रसादने की है पर मेरी समझमें यह फ़ारसी शब्द है। जिसका अर्थ टेढ़ा या फेरफार है, अर्थात् जहाँ कोई बात फेरफारसे कही जाय वही 'अवरेब' है। इसीको साहित्यमें 'पर्यायोक्त' कहते हैं जैसे—'बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू। भूपकिसोर देखि किन लेहू। २३४। २।' यहाँ सीधा 'राम' के स्थानमें फेरफारसे कविने भूपकिशोर कहा इसलिये पर्यायोक्त (अवरेब) हुआ। ऐसे ही सूरदासके 'तोयाके सुत ता सुत के सुत ता सुत भखबदनी' में सीधा चन्द्रवदनी न कहकर अवरेबसे जलके पुत्र (ब्रह्मा) के पुत्र (कश्यप) के पुत्र (राहू) के भक्षण चन्द्र कहा।"

(घ) त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "जहाँ व्यंग्यार्थ वाच्यार्थसे उत्तम न हो अर्थात् समान या न्यून हो उसे गुणीभूत व्यंग्य कहते हैं। यहाँ 'अवरेब' शब्द इसीके लिये आया है। टेढ़ी काटको अवरेब कहते हैं।

अथवा, 'अवर इव' अवरेव हुआ। व्यंग्य सहित बोलनेवालेको कहा भी जाता है कि 'अवरेव' के साथ बात करते हैं। 'अवरेव' शब्द टेढ़ी चालके अर्थमें आया भी है। यथा—'रामकृपा अवरेव सुधारी।' टेढ़ीही बातमें व्यंग्य होता है। यहाँ 'धुनि अवरेब कवित' कहा है, सो काव्यके दो भेद हैं—ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य। अतः 'अवरेव'से गुणीभूत व्यंग्यही अभिप्रेत है।

मा० मा०-कारके मतानुसार 'अवरेव व्यंजनाको कहते हैं। जिस शक्तिद्वारा शब्दोंका व्यंगभाव प्रगट हो उसे व्यंजना कहते हैं।'

(ङ) श्रीरूपनारायणमिश्रजी—यहाँ 'अवरेव'-शब्दार्थमें टीकाकारोंका वैमत्य है। श्रीसूर्यप्रसादमिश्रजीने ध्वनिसे उत्तम काव्य और 'अवरेव' से 'अवर इव' ऐसा पदच्छेद करके "अवर (अधम काव्य) के सदृश" अर्थ किया है। परन्तु सूक्ष्मेक्षिकया विचार करनेपर 'अवर+इव' से 'अवरेव' शब्द बन नहीं सकता। क्योंकि 'इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च' इस वार्तिकसे समास होनेपर 'अवर' शब्दके आगे आई हुई विभक्तिका लोप नहीं हो सकता और विभक्तिके रहते हुये सन्धि नहीं हो सकती, तथा केवल प्रातिपदिक असाधु हैं और शास्त्र साधु शब्दोंमें ही प्रवृत्त होते हैं।

कुछ लोगोंने 'अवरेव' से पर्य्यायोक्ति अलंकार लिया है, किन्तु स्थालीपुलाक न्यायसे 'उपमा बीचि बिलास मनोरम' अर्धांश चौपाईमें 'उपमा' शब्दसे अर्थालंकारोंके बीजभूत उपमालंकारसे सभी अलंकारोंको गोस्वामीजी 'तरंग' का रूपक स्वीकार कर चुके हैं। अतः एक "पर्य्यायोक्ति अलंकार" को मीनका रूपक देना अनुचित मालूम पड़ रहा है।

रामायणरूपी काव्यका सरोवरके साथ जब रूपकका तात्पर्य है तब उत्तम काव्य और मध्यमकाव्यको मीनका रूपक मानना अत्यंत असंगत है। अतः ध्वनिसे व्यंजनावृत्ति और फारसी शब्द 'अवरेव' (जिसका अर्थ है—तिरछा, टेढ़ा, पेचीदा) के अनुसार 'अवरेव' से 'लक्षणावृत्ति' लेना चाहिए, क्योंकि वाच्यार्थसे सम्बद्ध ही अर्थ लक्षणावृत्तिसे जाना जाता है। जैसे कि 'इनका घर गंगामें है'—इसमें गंगा वाच्यार्थका तटके साथ सामीप्य संबंध होनेसे लक्षणावृत्ति-द्वारा गंगा पदका 'तट' ही अर्थ होगा' पर्वत (? नदी) नहीं। अनंत सम्बन्धोंमें वैपरीत्य भी एक सम्बन्ध है। जैसे महान् अपकारीसे कहा जाय कि आपने मेरा बड़ा उपकार किया। यहाँ 'उपकार' का लक्षणावृत्तिद्वारा वैपरीत्य सम्बन्धसे सम्बद्ध (विपरीत अर्थ) 'अपकार' समझा जायगा। फारसी कोशमें 'अवरेव' का अर्थ 'पेचीदा, टेढ़ा, तिरछा' है और लक्षणासेभी पेचीदा अर्थात् विपरीत अर्थ लिया जाता है, अतः अवरेव और लक्षणाका अर्थ-साम्य बन जाता है। तथा ध्वनिने व्यंजनावृत्तिका ग्रहण आवश्यक है क्योंकि व्यंजनावृत्तिका आधार काव्य हुआ और मीनका आधार सरोवर हुआ। इसलिये ध्वनि और मीनका सादृश्य होनेसे ठीक रूपकालंकार भासित हुआ। यदि ध्वनिसे काव्यका ग्रहण किया जाय तो मीनके साथ रूपक हो नहीं सकता, क्योंकि काव्यका सरोवरके साथ साङ्गरूपक बनानेके उद्देश्यसे ही अन्य रूपकोंका चित्रण गोस्वामीजी ने किया है। यदि ध्वनिकाव्यका मीनके साथ रूपकका तात्पर्य माना जाय तो सरके साथ नहीं हो सकता। जब ध्वनिसे व्यंजनाका ग्रहण किया तब 'अवरेव' से लक्षणावृत्तिका ग्रहण करनेपर प्रकरणकी संगति भी बन जाती है।

समस्त चौपाईका अर्थ इस प्रकार होना चाहिए—"कवित (काव्यकी), ध्वनि (व्यंजना), अवरेव (लक्षणा) और गुणजाती (अर्थात् माधुर्यादि गुणसमूह) मनोहर मछलियाँ हैं।"

नोट—३ 'गुण'=जिससे चित्तको आनन्द होता है। यह रसका मित्र है, रसकी उत्कर्षता रचता है। "कवित दोष गुन बिबिध प्रकारा। १।९।१०।' देखिये। काव्यगुण कई प्रकारके होते हैं। इनमेंसे 'माधुर्य', 'ओज' और 'प्रसाद' मुख्य हैं। 'माधुर्यगुण' वह है जिसके सुनते ही चित्त द्रवीभूत होता है। अत्यन्त आनन्द

होता है। प्रायः शान्त, करुण और शृङ्गार रसमें यह गुण होता है। माधुर्य पद्यकी रचना रत्नाकरके "अनुस्वारयुत वरणमृदु सुगम रीति अति स्वच्छ। तजि टवर्ग अरु यमक-पद सो माधुर्य प्रतच्छ ॥" इस दोहेके अनुसार होती है। जिसमें कटु अक्षर न हों, टवर्ग-रहित अनुस्वारयुक्त कोमल वर्ण पड़ें। यथा—'कंकन किंकिनि नूपुर धुनि सुनि। कहत लषन सन राम हृदय गुनि ॥'''। १। २३०।', 'उदित उदय-गिरि-मंच पर रघुबर बालपतंग। १। २५४।'

'ओज गुण' वह है जिसमें उद्धत शब्द और संयोगी वर्ण हों और बड़ा समास हो। पुनः, सवर्ग, कवर्ग और टवर्गकी अधिकता हो। इसमें 'जो, सो, को, करि, लिये, ते, ए, में' नहीं होते। किसीने यों कहा है कि—"चित्त बढ़ावै तेज करि ओज बीर रस वास। बहुत रौद्र बीभत्स महिं ताको बरन निवास ॥ संयोगी ट ठ ड ढ ण-युत उद्धत रचना रूप। रेफ जोग स प बढ़ै पद बरनौं ओज अनूप ॥" उदाहरण यथा—'चिक्करहिं मरकट भालु छलबल करहिं जेहि खल छीजहीं', 'पुनि दसकंध क्रुद्ध है छांड़ी सक्ति प्रचंड', 'ब्रह्मांड दिग्गज कमठ अहि महि सिंधु भूधर डगमगे—लं० ८५।' 'धिग धरमध्वज०। १।१२', 'कटकटहिं जंबुक भूत प्रेत पिसाच खप्पर संचहीं। ३।२०।', 'धरि कुधर खंड प्रचंड मर्कट भालु गढ़पर डारहीं। झपटहिं चरन गहि पटकि महि भज चलत बहोरि प्रचारहीं ॥ ६।४०।' इत्यादि।

'प्रसाद'—जहाँ सुनतेही अर्थ जाना जाय, कोमल पद और सुरुचि वर्ण पड़ें। किसीने 'प्रसादगुण' के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—"सब रस सब रचनानमें सब बरनन को भूप। अरथ सुनत ही पाइये यह प्रसादको रूप ॥" ☞ यह सब रसों और सब गुणोंमें पाया जाता है। यथा—"ज्ञानी तापस सूर कवि कोबिद गुनआगार। केहि कै लोभ बिडंबना कीन्हि न एहि संसार। ७।७०।', 'सतानंद पद बंदि प्रभु बैठे गुर पहिं जाइ। चलहु तात मुनि कहेउ तब पठवा जनक बोलाइ ॥ १।२३९।', 'खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि ।२।११७।', 'भव भव विभव पराभव कारिनि ।१।२३५।', 'बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी ॥ कदलि ताल बर धुजा पताका। देखि न मोह धीर मन जाका ।३।३८।', 'लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु। ज्ञान सभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु ॥ २।२३९।', 'कुस कंटक काँकरी कुराई। कटुक कठोर कुबस्तु दुराई ॥ २।३११।', इत्यादि।

☞ माधुर्यगुण उपनागरिका वाणीमें होता है, प्रसादगुण कोमलामें और ओजगुण परुषा वाणीमें होता है, यथा—"त्रिविध वृत्य माधुर्यगुण उपनागरिका होइ। मिलि प्रसाद पुनि कोमला परुषा ओज समोइ ॥ तुलसीभूषण।" (मा. प्र.)

४ 'जाति'—जाति-काव्यमें पदका अर्थ स्पष्ट देख पड़ता है। जैसा जिसका स्वरूप, गुण, स्वभाव हो वैसाही जातिकाव्यमें वर्णन किया जाता है। जातिको वृत्त या मात्रिक छन्द भी कहते हैं। इसमें आठ दस बारह चौदह अक्षर होते हैं। जातिकाव्य (वृत्त) चार प्रकारका होता है—कौशिकी, भारती, आरभटी और सात्त्विकी। यथा—'कहिये केशोदास जहँ करुण हास शृङ्गार। सरस बरन शुभ भाव जहँ सो कौशिकी विचार ।१।', 'बरनिये जामहँ बीररस भय अरु अद्भुत हास। कह केशव शुभ अर्थ जहँ सो भारती प्रकाश ।२।', 'केशव जामहँ रौद्ररस भय बीभत्सक जान। आरभटी आरंभ यह पद-पद जमक बखान ॥ ३ ॥', 'अद्भुत रुद्र सुवीर रस समरस बरन समान। सुनतहि समुझत भाव मन सो सातकी सुजान ॥४॥' इनके उदाहरण ये हैं; यथा—'नखसिख देखि राम कै सोभा। सुमिरि पिता पन मन अति छोभा ।१।२३४।' (कौशिकी)। 'कही जनक जसि अनुचित बानी। बिद्यमान रघुकुल मनि जानी।''' ।१।२५३।' (भारती)। 'भये क्रुद्ध जुद्ध बिरुद्ध रघुपति त्रोनसायक कसमसे।' इत्यादि (आरभटी)। 'देव दनुज भूपति भट नाना। सम बल अधिक होउ बलवाना ।१।२८४।'—(सातकी)। पुनः यथा—"खायउँ फल प्रभु लागी भूखा। कपि सुभाव तें तोरेउँ रूखा ॥ सब के देह परम प्रिय स्वामी।'''जिन्ह मोहि मारा ते मैं मारे ।५।२२।', 'साखामृग कै बड़ि-

मनुसाईं । साखा ते साखा पर जाई ।।", "राजकुमारि विनय हम करहीं । तिय सुभाय कछु पूछत डरहीं ।। स्वामिनि अवि-नय छमबि हमारी । बिलगु न मानब जानि गँवारी ।। कोटि मनोज लजावनिहारे । सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे ।। ।२।११६-११७।'

टिप्पणी—ध्वनि, अवरेब, कवितगुण और कवितजाति, इन चारोंको मीन कहा । क्योंकि मछली चार जातिकी होती हैं, जिनमेंसे प्रत्येक जातिमें अनेक प्रकारकी मछलियाँ होती हैं। अरण्यकाण्डमें भी मीन चार प्रकारकी कही हैं, यथा—'बुधि बल सील सत्य सब मीना ।३।४४।' मछली जलके भीतर रहती है; इसी तरह ध्वनि आदि सब कवितके भीतर रहते हैं। [मत्स्यके विना सरकी शोभा नहीं, अतः उसे लिखा । (मा० प०) । मीन चार प्रकारकी हैं । १ पाठीन, २ बामी, ३ सहरी या सिधरी और ४ चेल्हवा । ध्वनि आदि और मीनमें समा-नता इस प्रकार है कि—'पाठीन' जिसे पढ़िना, बुराई, रोहू भी कहते हैं, यह विना सेहरेकी मछली है, जो सर और समुद्र सभी स्थानोंमें पायी जाती है। इसका पेट लंबा और मुख काला होता है और इसके कण्ठमें मंजरी होती है। यह सरमें सबसे बड़ी होती है और जलके भीतर रहती है, भेदी ही जानते हैं। ध्वनि भी शब्दोंके भीतर होती है, यह समता है। 'बामी' मीन जो मुख और पूँछ मिलाकर चलती है। बाम नामक मछली देखनेमें साँप-सी पतली, गोल और लंबी होती है। और 'अवरेब' में आगे-पीछेके शब्दोंको मिलानेसे अर्थ सिद्ध होता है। यह दोनोंमें समानता है। 'सहरी, सिधरी, सौरी या शफरी' मीन छोटी होती है और दस-बीस मिलकर चलती हैं। गुणकाव्यमें दो-दो तीन-तीन अक्षरोंका पद होता है और पद-पद में जमक, अनु-प्रासकी आवृत्ति होती है, दो-चार पद मिलकर चलना यह समता है। 'चेल्हवा मीन' एक प्रकार की छोटी और पतली मछली होती है जो बहुत चमकती है और पृथक् रहती है । जातिकाव्यमें अर्थ शब्दोंसे चमकता है। यह समता है। (मा० प्र०)]

नोट—'पुरइन सघन चारु चौपाई ।३७।४।' में कहा था कि यहाँ से तल्लीन, तद्गत और तदाश्रय तीन परिखाओंमेंसे तल्लीनवालोंको कहते हैं जो सरसे बाहर एक क्षणभी नहीं रह सकते, उनको यहाँतक पाँच चौपाइयों (अर्धालियों) में कहा । आगे तद्गतवालोंको कहते हैं। ये भी सरके आश्रित हैं, उसीमें रहते हैं पर कुछ देरके लिये बाहर भी आ जाते हैं। (म० प्र०)।

अरथ धरम कामादिक चारी । कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी ।।९।।
नव रस जप तप जोग बिरागा । ते सब जलचर चारु तड़ागा ।।१०।।

अर्थ—अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ये चारो, और ज्ञान तथा विज्ञान का विचार करके कहना* तथा नवों रसों, जप, योग और वैराग्य (का कथन) ये सब इस सुन्दर तालाबके जलचर हैं ।। ९-१० ।।

नोट—१ ज्ञानको तो हंस कह आये, अब उसीको जलचर कैसे कहते हैं ? यह शङ्का उठाकर महानुभावोंने ये समाधान किये हैं—(क) ज्ञानके स्वरूपको हंस कहा है और ज्ञानके कथनको जलचर । ज्ञान-विज्ञानको विचारकर कहना जलचर है। (पं० रा० कु०) । (ख) 'इनका वर्णन ग्रन्थमें बहुत स्थानोंमें आया है, जहाँ विस्तारसे कहा है वहाँ मरालकी उपमा दी और जहाँ सङ्कोचसे कहा वहाँ जलचरकी, क्योंकि जलचर गुप्त रहते हैं।' (पं०) । स्वतंत्र प्रसङ्ग विस्तारसे है, आनुषंगिक संकोचसे है।

टिप्पणी—१ 'अरथ धरम...' इति । यहाँ 'काम' स्त्रीभोगका वाचक है, क्योंकि चार पदार्थोंमें कामकी भी गिनती है, यथा—'गुरुसंगति गुरु होइ सो लघु संगति लघु नाम । चारि पदारथमें गने नरकद्वारहू काम ।। दो० ।'

* सूर्यप्रसाद मिश्र अर्थ करते हैं कि "अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष इनको शास्त्र (ज्ञान) जनित अनु-भव (विज्ञान) के विचारसे कहूँगा" । वे कहते हैं कि ज्ञान-विज्ञान ये दोनों पृथक् पृथक् नहीं हैं ।

२—"ध्वनि, अवरेब, कवित-गुण-जाति, ये सब काव्यमें लगते हैं और काव्यसे अर्थ, धर्मादिक होते हैं, इसीसे इनके पीछे इनको कहा । धर्मसे यश होता है, यथा—"पावन जस कि पुन्य बिनु होई ।' मोक्षका साधन ज्ञान है, इससे अर्थ, धर्म, काम, मोक्षके पीछे ज्ञानको कहा ।"

नोट २—यहाँ अर्थ, धर्म आदि १९ (अर्थादिक ४+ज्ञान विज्ञान २+रस ९+जप, तप, योग, विराग ४) वस्तुओंको जलचरकी उपमा दी । यह शंका की जाती है कि "मीन" भी तो जलचर है सो उसको तो ऊपर 'ध्वनि अवरेब·····' में कह आये, अब फिरसे जलचर कहनेका क्या भाव है ?'

समाधान—(क) ऊपर 'पुरइनि सघन चारु चौपाई···।' से 'धुनि अवरेब कबित गुन जाती।···।' तक जो उपमाएँ जलचरोंमें से दीं वह तल्लीन जलचरों की हैं । अर्थात् जो सरसे बाहर छनभर भी नहीं रह सकते। ध्वनि आदि शब्दोंमें ही रहती हैं और मीन जलहीमें । और, अब मगर, घड़ियाल, कछुआ इत्यादि जलचरोंकी उपमा देते हैं जो तद्गत रहते हैं, अर्थात् जिनका जलसे नित्य सम्बन्ध नहीं है, जो जलके बाहर भी आ जाते हैं । पूर्व मीन और अब जलचर कहकर दोनोंको पृथक् किया है । (मा० प्र०) ।

(ख) मीन आदि जाल या बन्शी बिना नहीं देख पड़तीं, इसी तरह ध्वनि आदि बिना विचारके नहीं समझ पड़ते और स्थूल जलचर मगर, घड़ियाल इत्यादि बिना जालके भी स्पष्ट देख पड़ते हैं । (पाँडेजी) । यहाँ स्थूल जलचर कहे गये । (पाँ०) ।

(ग) खर्रेमें लिखा है कि "रामयश-जलके निकट अर्थ-धर्म-कामादिका कुछ प्रयोजन नहीं है, इसीसे "जलके आलंब करिके (अर्थात् जलका अवलंब लेकर) अंगोंको छिपाये पड़े रहते ।"

नोट—३ अर्थ, धर्म इत्यादि १९ वस्तुओंका कथन इस ग्रन्थमें बहुत ठौर है । उसमेंसे कुछ लिखे जाते हैं (१) अर्थ=धन, धाम, ऐश्वर्य । जहाँ जहाँ धन, धाम, ऐश्वर्यके सम्बन्धसे उपदेश तथा इनकी सिद्धिकी चर्चा आई है वे सब इसके उदाहरण हैं । त्रिपाठीजी लिखते हैं कि शास्त्रकारोंने अर्थ-शुद्धिको ही शुद्धि माना है और उसके जो छः उपाय, भिक्षा, सेवा, कृषि, विद्या, कुसीद (सूद) और वाणिज्य, अर्थशास्त्रने बताये हैं, उनका भी उल्लेख मानसमें है । यथा—'अब सुख सोवत सोचु नहिं भीख मांगि भव खाहिं ।", 'बहुत काल मैं कीन्हि मँजूरी । आजु दीन्हि बिधि बनि भलि भूरी ॥", 'कृषी निरावहिं चतुर किसाना ।', 'विद्यानिधि कहँ विद्या दीन्हा ।', 'दिन चलि गये ब्याज बहु बाढ़ा' ।, 'फिरेउ बनिक जिमि मूर गँवाई ।'

श्रीमद्भागवत ६।११।२५ "न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा समञ्जस त्वा विरहय्य कांक्षे" ॥ के अनुसार स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डलका साम्राज्य, रसातलका आधिपत्य, योगसिद्धि और मोक्ष ये छओ अर्थ हैं जो भक्त नहीं चाहते । मोक्षको भी नहीं चाहते क्योंकि यहभी दोषयुक्त है । इसमें पुरुष परमानन्दका अनुभव नहीं कर सकता । भक्तका 'अर्थ' स्वयं भगवान् हैं, वह सकलार्थरूप श्रीरामको ही चाहता है । इसीसे कहा है—"मुकुति निरादर भगति लुभाने" ।

(२) धर्म=वह कर्म जिसका करना किसी संबन्ध या गुणविशेषके विचारसे उचित और आवश्यक हो । वेद-विहित यज्ञादिक कर्म, वर्णाश्रमधर्म, माता-पिता, पुत्र, स्त्रीके धर्म इत्यादि । यथा—'बरनाश्रम निज निज धरम निरत बेद पथ लोग ।···", 'परम धरम श्रुति बिदित अहिंसा' इत्यादि । सत्य और अहिंसा सार्ववर्णिक धर्म हैं । इनके अतिरिक्त ऐसे विशेष धर्म हैं, जिनके न पालन करनेसे मनुष्य सोचनीय हो जाता है । यथा—'सोचिय बिप्र जोबेद बिहीना २।१७२।३।' से 'सोचनीय सबही बिधि सोई । जो न छाँड़ि छल हरिजन होई ।१७३।४।' तक । जिस भाँति विहित-का अनुष्ठान धर्म है, उसी भाँति निषेधका वर्जनभी धर्म है । यथा—'जे अघ मातु पिता सुत मारे । २।१६७।५।' से 'तिन्ह कै गति मोहि संकर देऊ ।···१६८।८।' तक । इत्यादि, जहाँ जहाँ सामान्य धर्म, विशेष धर्म, विहितधर्म,

निषेधवर्जितधर्मों एवं साधनों का वर्णन है वह सब 'धर्म के उदाहरण हैं। अहल्याको पतिकी पुनः प्राप्ति हुई, उसका धर्म सिद्ध हुआ।

(३ क) काम=कामनाएँ। महाराज दशरथजी, सतीजी, पार्वतीजी, विश्वामित्रजी, जनकपुरवासियों, श्रीशबरीजी, सुग्रीवजी, दण्डकारण्यके ऋषिगण, विभीषणजी आदिकी कामनाओंकी सिद्धिका इसमें वर्णन है। यथा—'सृंगी रिषिहि बसिष्ठ बोलावा। पुत्रकाम सुभ जग्य करावा॥'' सकल काज भा सिद्ध तुम्हारा॥ १।१८६।५-७।''; 'तौ मैं बिनय करौं कर जोरी। छूटौ बेगि देह यह मोरी॥...तौ सबदरसी सुनिय प्रभु करौ सो बेगि उपाइ। होइ मरनु जेहि बिनहि श्रम दुसह बिपत्ति बिहाइ॥१।५९। ''सतीं मरत हरि सन बरु मागा। जनम जनम सिवपद अनुरागा॥ तेहि कारन हिमगिरि गृह जाई।...६५। उपजेउ शिवपदकमल सनेहू।...६८।''' नितनव चरन उपज अनुरागा।...। भएउ मनोरथ सुफल तव सुनु गिरिराजकुमारि।७४।''; 'गाधितनय मन चिंता ब्यापी। हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी॥ तब मुनिबर मन कीन्ह बिचारा। प्रभु अवतरेउ हरन महि भारा॥....बहुबिधि करत मनोरथ जात लागि न बार...१।२०६।...पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनिभय हरन। २०८।....मारि असुर द्विज निर्भयकारी। २१०।६।' तक। जनकपुरवासियोंका प्रसंग तो श्रीरामजीके नगरमें पहुँचनेके समयसे लेकर बारातकी बिदाईके समय तक बारंबार आया है—''जाइ देखि आवहु नगर सुखनिधान दोउ भाइ। करहु सुफल सब के नयन सुंदर बदन देखाइ॥ २१८।...जौं बिधिबस अस बनै संजोगू। तौ कृतकृत्य होइ सब लोगू॥ सखि हमरें आरति अति तातें। कबहुँक ए आवहिं एहि नाते॥ नाहिं त हम कहुँ सुनहु सखि इन्ह कर दरसन दूरि।२२२।...'', ''निज-निज रुचि सब लेहिं बोलाई। सहित सनेह जाहिं दोउ भाई॥''''कहि बातैं मृदु मधुर सुहाई। किए बिदा बालक बरिआई॥ २२५॥'', ''मोर मनोरथ जानहु नीके।...सुनु सिय सत्य असीस हमारी। पूजिहि मन कामना तुम्हारी'''॥ २३६॥'', ''सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊँ॥...२५२।''''''सखिन्ह सहित हरषी अति रानी। सूखत धान परा जनु पानी। जनक लहेउ सुख सोच बिहाई। पैरत थकें थाह जनु पाई॥ सीय सुखहि बरनिय केहि भाँती। जनु चातकी पाइ जलु स्वाती।'''२६३।''''मोहि कृतकृत्य कीन्ह दुहु भाई॥ २८६।'', ''पुरनारि सकल पसारि अंचल बिधिहि बचन सुनावहीं। ब्याहिअहु चारिउ भाइ येहि पुर हम सुमंगल गावहीं। ३११॥''...'मुदित अवधपति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि। जनु पाए महिपालमनि क्रियन्ह सहित फल चारि। ३२५।''-इत्यादि। इसी तरह शबरीजीका प्रसङ्ग ३।३४ (५) 'सबरी के आश्रम पगुधारा' से 'जाति हीन अघ जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि। ३६।' तक; सुग्रीवजीका प्रसंग किष्किन्धाके प्रारम्भसे ''सोइ सुग्रीव कीन्ह कपिराऊ। ४।१२।४।'' तक है; दण्डकारण्यके ऋषियोंका प्रसङ्ग अरण्यकाण्डके प्रारम्भ अत्रिऋषि से, शरभंगजी, सुतीक्ष्णजी, अगस्त्यजी तक लगातार है—''सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥ ३।९॥'', और विभीषणजीका प्रसंग सुन्दरकांड दोहा ४२ (१) से ''सोइ संपदा बिभीषनहिं सकुचि दीन्हि रघुनाथ॥४९॥'' तक है।

☞ (३ ख) सामान्यतः वैषयिक सुखको और विशेषतः स्त्रीसुखको काम कहते हैं। साधन-सामग्रीके तारतम्यसे कामसुखकी मात्रामें भी तारतम्य होता है। यह सब होते हुए भी काम धर्म और अर्थका विरोधी न हो, नहीं तो उससे लोक-परलोक सभीका नाश होता है। यथा—''काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।' वस्तुतः धर्मात्मा इन्द्रियजयी पुरुषही वैषयिक सुखभोग करनेमें भी समर्थ हो जाता है। यथा—''श्रुतिपथपालक धरमधुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर॥'' इत्यादि उपदेशों तथा प्रसंगोंको ''धर्म'' के उदाहरण समझना चाहिए (वि० त्रि०)

(४) ''कामादिकचारी'' कहकर मोक्षका भी ग्रहण किया। यहाँ कामके साथ मोक्ष कहनेका यह तात्पर्य है कि काम और मोक्ष साध्य हैं और धर्म तथा अर्थ साधन हैं। (वि० त्रि०)। मोक्ष=जन्म-मरणसे छुटकारा हो जाना। गृध्रराज जटायु, खरदूषणादि, विराध, शरभंगजी, शबरीजी तथा निशाचरोंकी मुक्तिके प्रसंग मानसमें

आये हैं। यथा—'तनु तजि तात जाहु मम धामा। ३।३२।···गीध अधम खग आमिष भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी॥ ३।३३।२।' तक, "राम राम कहि तनु तजहिं पावहिं पद निर्वान। ३।२०।", "मिला असुर विराध मग जाता। आवत ही रघुवीर निपाता॥ तुरतहि रुचिर रूप तेहि पावा। देखि दुखी निज धाम पठावा॥३।७।', 'अस कहि जोग अगिनि तनु जारा। रामकृपा बैकुंठ सिधारा॥ ३।९।१।', 'जातिहीन···मुक्त कीन्हि असि नारि। ३।३६।". 'महा महा मुखिया जे पावहिं। ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं॥ कहइ बिभीषन तिन्ह के नामा। देहिं राम तिन्हहू निज धामा॥···६।४४।', 'निसिचर अधम मलाकर ताहि दीन्ह निज धाम।६।७०।', 'राम सरिस को दीन हितकारी। कीन्हे मुकुत निसाचर भारी॥ ६।११३॥' कैवल्य मुक्तिका वर्णन ज्ञान-दीपक प्रसंगमें है। यथा—'जो निर्विघ्न पंथ निर्बहई। सो कैवल्य परम पद लहई॥···राम भजत सोइ मुकुति गोसाईं। अनइच्छित आवइ बरिआईं।७।११९।' मोक्षके साधन जहाँ-जहाँ कहे हैं वे भी 'मोक्ष' के उदाहरण हैं।

(५, ६) ज्ञान, विज्ञान। यथा—"ज्ञान मान जहं एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥३।१५।", "ज्ञान बिराग जोग बिज्ञाना" ७।११५ (१५) से ११९ तक। "भगति ज्ञान बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर २।३२।' देखिए। "वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ' मं० श्लो० ४ देखिये। तथा "तब विज्ञान रूपिनी बुद्धि···॥ एहि बिधि लेसै दीप तेजरासि बिज्ञानमय। ११७।···सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीप सिखा सोइ परम प्रचंडा॥···तबहिं दीप बिज्ञान बुझाई।···।७।११८।' तक। इत्यादि। मं० श्लोक ४ "वन्दे विशुद्ध विज्ञानौ" पृष्ठ २२ देखिए। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि यहाँ 'ज्ञान' से अपरोक्ष ज्ञान अभिप्रेत है जिसका साधन दीपकके रूपकमें उत्तरकाण्डमें कहा गया है, और जड़चेतनकी जो ग्रंथि हृदयमें पड़ी हुई है, उसका छूटना 'विज्ञान' है।

(७) नव रस—देखिये मं० श्लो० १। इसपर श्रृंगाररसमालामें यह श्लोक कहा जाता है। "श्रृंगारो जनकालये रघुवराद्धासः कृतो वैवशात्, कारुण्योऽनुजरोदने खरवधे रौद्रोऽद्भुतः काकके। बैभत्स्यं हरिबंधने भयकरः सेतौ रणे वीरहा। शान्तः श्रीभुवनेश्वरो भवहराद्रामाद्रसोऽभून्नव॥"

(क) श्रृङ्गार—'नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रुचि अनुरूप। जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप। १।२४१।', 'छबि सिंगारु मनहुँ एक ठोरी।१।२६५।७।', 'जनु प्रेम अरु सिंगार तनु धरि मिले बर सुखमा लही। ७।५।' भी देखिए। श्रीजनकपुरमें श्रीरामजीके रहनेपर कई प्रसंगोंमें इस रसका वर्णन है। श्रृंगाररस दो प्रकारका होता है-एक वियोग, दूसरा संयोग। 'एक बार चुनि कुसुम सुहाए। निज कर भूषन राम बनाए॥ सीतहि पहिराए प्रभु सादर। बैठे फटिकसिला पर सुंदर। ३।१।' संयोग-श्रृंगारका उदाहरण है। वियोग श्रृंगारका उत्तम उदाहरण गोपियोंके प्रेममें देखा जाता है।

(ख) हास्य—'नाना जिनस देखि सब कीसा। पुनि पुनि हँसत कोसलाधीसा।६।११७।' पुनः, शूर्पणखाका प्रसंग, इत्यादि।

(ग) रौद्र—"जौं सत संकर करहिं सहाई। तदपि हतौं रघुबीर दोहाई। ७।७४।' खरदूषणका प्रसंग, लक्ष्मणक्रोध इत्यादि इसके उदाहरण हैं।

(घ) वीर—"उठि कर जोरि रजायसु माँगा। मनहु बीररस सोवत जागा॥ बाँधि जटा सिर कसि कटि भाथा। साजि सरासनु सायकु हाथा। २।२३०।१-२।', 'मुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं दोउ भुजा बिसाला।४।६।'

(ङ) भयानक—"हाहाकार करत सुर भागे", "बाँधे बननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस। सत्य तोयनिधि कंपती उदधि पयाधि नदीस॥ ६।५।', "डरे कुटिल नृप प्रभुहि निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी॥ १।२४१।६।'

(च) वीभत्स—"ब्यालपास बस भए खरारी।६।७२।', 'बृष्टि होइ रुधिरोपल छारा।६।४५।११।'

(छ) अद्भुत—"सती दीख कौतुक मग जाता" से "नयन मूँदि बैठीं…" तक (१।५४।४-५५।५), "जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहूँ न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ। ७।८०।", श्रीकौसल्याजी और श्रीभुशुण्डीजीको विराटदर्शन १।२०१-२०२,७।७९-८१।

(ज) शान्त—"कुंद इंदु दर गौर सरीरा। भुज प्रलंब परिधन मुनि चीरा ॥…बैठे सोह कामरिपु कैसे। धरें सरीर सांतरस जैसे। १।१०६।६-१०७।१।' [मा० प्र० का मत है कि जिसमें मोक्षका अधिकार हो वहाँ शान्तरस जानो, रामराज्यमें सब मोक्षके अधिकारी हुए, यथा—'रामराज नभगेस सुनु सचराचर जग माहिं। काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं। ७।२१।', 'रामभगतिरत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी।७।२१। ४।' इत्यादि। अतः रामराज्य शांतरसका उदाहरण है]

(झ) करुण—"नगर व्यापि गइ बात सुतीछी।…जो जहँ सुनइ धुनइ सिरु सोई। बड़ बिषादु नहिं धीरज होई॥ मुख सुखाहिं लोचन स्रवहिं सोकु न हृदय समाइ। मनहु करुनरस कटकई उतरी अवध बजाइ॥ २।४६।", "अवगाहि सोक समुद्र सोचहिं नारि नर व्याकुल महा।…२।२७५-२७६।' लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर श्रीरामजीका विलाप, यथा—"राम उठाइ अनुज उर लायउ॥ ६।६०।२।' से "प्रभु प्रलाप सुनि कान बिकल भए बानर निकर। आइ गयउ हनुमान जिमि करुना महँ बीर रस।६०।' तक। इत्यादि।

(८) 'जप' इति। जप अनेक प्रकारके हैं। यथा—"मनः संहृत्य विषयान् मंत्रार्थगतमानसाः। जिह्वोष्ठ चेष्टारहितो मनसो जप उच्यते ॥६२। जिह्वोष्ठौ चालयेत्किंचिद्देवतागत मानसः। किंचिद् श्रवणयोग्यः स्यादुपांशुः स जपः स्मृतः ६३। मंत्रमुच्चारयेद्वाचा स जपो वाचिकः स्मृतः। उपांशुर्वाचिकाच्छ्रेयाँस्त्यादपि च मानसः।६४।" (दुर्गाकल्पद्रुमशास्त्रार्थपरिच्छेदान्तर्गत जपविषयक विचार पृष्ठ २३)। अर्थात् विषयोंसे मनको हटाकर, मंत्रार्थचिन्तनपूर्वक जिह्वा और ओष्ठके हिले बिना जो जप किया जाता है उसे मानस-जप कहते हैं।६२। जिह्वा और ओष्ठ जिसमें किंचित् चले जिससे किंचित् श्रवण हो सके और देवताके ध्यानपूर्वक जो जप हो वह 'उपांशु जप' है। ६३। वैखरीसे जिसका स्पष्ट उच्चारण हो वह 'वाचिक-जप' है। वाचिकसे उपांशु श्रेष्ठ है और उपांशुसे मानस। ६४।—१।८४। ७-८ भी देखिये। (ख) 'जप' के लक्ष्य, यथा—'अस कहि लगे जपन हरिनामा। १। ५२। ८।', "जपहिं सदा रघुनायक नामा। १। ७५। ८।', "जपहु जाइ संकर सत नामा। १। १३८। ५।', "द्वादस अच्छर मंत्र पुनि जपहिं सहित अनुराग। १। १४३।' 'जीह नाम जप लोचन नीरू। २। ३२६। १।', 'राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात। ७। १।', 'जपउँ मंत्र सिवमंदिर जाई। ७। १०५। ८।', इत्यादि। (मा० प्र०)।

(९) 'तप' इति। तपस्या के अनेकों स्वरूप हैं पर उनमेंसे निराहार रहनेसे बढ़कर कोई 'तप' नहीं है। तपको जगत्का मूल कारण भी कहा गया है। विशेष 'तापस सम दम दयानिधाना। १।४४।२।' में देखिए। तपके उदाहरण, यथा—"उर धरि उमा प्रानपति चरना। जाइ बिपिन लागीं तपु करना॥ अति सुकुमार न तनु तप जोगू। पतिपद सुमिरि तजेउ सब भोगू॥ नित नव चरन उपज अनुरागा। बिसरी देह तपहिं मनु लागा। संबत सहस मूल फल खाए। सागु खाइ सत बरष गवाँए॥ कछु दिन भोजन बारि बतासा। किए कठिन कछु दिन उपबासा। बेलपाती महि परइ सुखाई। तीनि सहस संबत सोइ खाई॥ पुनि परिहरेउ सुखानेउ परना। उमहि नामु तब भएउ अपरना। देखि उमहि तप खीन सरीरा।…१। ७४।', "पुनि हरि हेतु करन तप लागे। बारि अधार मूल फल त्यागे॥" एहि बिधि बीते बरष षट सहस बारि आहार। संबत सप्त सहस्र पुनि रहे समीर अधार। १। १४४। बरष सहस्र दस त्यागेउ सोऊ। ठाढ़े रहे एक पद दोऊ॥ बिधि-हरिहर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा॥ "अस्थिमात्र होइ रहे सरीरा।" इत्यादि। रावण आदिका तप।

(१०) 'योग' इति। योग=अष्टांग योग।योगकी क्रियाओंके आठ भेद ये हैं—यम, नियम, आसन,

प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। श्रीशिवजीकी ध्यानसमाधि और श्रीनारदजीकी समाधिकी कथा बालकांडमें है।

(११) "विराग" इति। (क) विराग=विगत राग। उदाहरण, यथा—"जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा। २। ६३। ४।', 'कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी। ३। १५। ८।' (ख) वैराग्य क्रमसे चार प्रकारका होता है। विषयोंमें प्रवृत्ति न हो इसलिये प्रयत्नका प्रारम्भ करना "यतमान वैराग्य" है। यथा—'अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती।' दूसरे, प्रयत्न प्रारंभ करनेपर संतुष्ट होकर पके हुए दोषोंको त्याग करनेको 'व्यतिरेक वैराग्य' कहते हैं। यथा—'बरबस राज सुतहिं तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा॥' दोषोंके परिपक्व होनेसे इन्द्रिय प्रवृत्त होनेमें असमर्थ हैं पर मनमें उत्सुकता मात्र होनेको 'एकेन्द्रिय-संज्ञा वैराग्य' कहते हैं। यथा—'उर कछु प्रथम बासना रही।' उत्सुकता-मात्रकी भी निवृत्ति हो जानेपर उपर्युक्त तीनों अवस्थाओंसे परे दिव्यादिव्य विषयोंमें उपेक्षा 'बुद्धि-वशीकार-संज्ञा वैराग्य' है। यथा—'मन ते सकल बासना भागी।' ये तीनों 'अपर वैराग्य' कहलाते हैं। अपर वैराग्य पर-वैराग्यका कारण है।—'कहिय तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी।', 'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहौं निरबान।' (वि० त्रि०)।

सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते विचित्र जल-विहँग समाना॥ ११॥

अर्थ—सुकृती लोगों, साधुओं और रामनामके गुणोंका गान ये विचित्र जल पक्षियोंके समान हैं।* (जो मानसके सीयरामयशजलमें विहार करते हैं) ॥ ११॥

नोट—यहाँ 'गुनगाना' सुकृती, साधु और नाम तीनोंके साथ है। पूर्व 'सुकृतपुंज' को भ्रमरकी उपमा दे आये हैं। अब 'सुकृतीके गुण-गान' को जल-पक्षीकी उपमा देते हैं। मानसमें श्रीरामयशके साथ सुकृतियोंका भी गुन गान किया गया है।

पं० राजकुमारजीः—१ सुकृतसे साधु मिलते हैं, यथा—"पुन्यपुंज बिनु मिलहिं न संता।७।४५।" इसलिये सुकृतीको प्रथम कहा। साधु बिना नाम-गुण-गान कौन करे? इससे साधुके पश्चात् 'नाम गुन गाना' कहा। गुणगानके उदाहरण—(क) सुकृती-गुण-गान, यथा—' सुनि बोले गुर अति सुख पाई। पुन्य पुरुष कहुँ महि सुख छाई॥''''तुम्ह गुर बिप्र धेनु सुर सेवी। तसि पुनीत कौसल्या देवी॥ सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥ तुम्ह तें अधिक पुन्य बड़ काकें। राजन राम सरिस सुत जाकें॥'''तुम्ह कहँ सर्बकाल कल्याना॥१।२९४।', "रामु सीय सोभा अवधि सुकृत अवधि दोउ राज। जहँ तहँ पुरजन कहहिं अस मिलि नर नारि समाज।१ ३०९। जनक सुकृत मूरति बैदेही। दसरथ सुकृत राम धरें देही॥ इन्ह सम काहु न सिव अवराधे। काहू न इन्ह समान फल लाधे॥ इन्ह सम कोउ न भयेउ जग माहीं। है नहिं कतहूँ होनेउ नाहीं॥ हम सब सकल सुकृत कै रासी। भये जग जनमि जनकपुर बासी॥ जिन्ह जानकी राम छबि देखी। को सुकृती हम सरिस बिसेषी॥''' ।१।३१०।', "जे पुर गाँव बसहिं मग माहीं। तिन्हहि नाग सुर नगर सिहाहीं॥ केहि सुकृती केहि घरी बसाए। धन्य पुन्यमय परम सुहाए॥ पुन्यपुंज मग निकट निवासी। तिन्हहिं सराहहिं सुरपुरबासी॥…।२।११३।' इत्यादि। (ख) 'साधु गुण गान', यथा—"सुजन समाज

---

* कोई-कोई महानुभाव यह अर्थ करते हैं कि—(१) सुकृती साधुओंके द्वारा नामका गुण-गान होना रंग बिरंगके जलपक्षी हैं। (२) सुकृती साधु जो नाम-गुण-गान करते हैं वा सुतीक्ष्णादि सुकृती साधुओंके नाम और गुणोंका गान, विचित्र जल-विहंगके समान है। (रा० प्र०, पंजाबी)। (३) 'धर्मात्माओं और साधुओंके नाम गुणगान''''—[मानस पत्रिका]। और पांडेजी का मत है कि "जो सुकृती कर्मकांडी साधु हैं, इनके नाम-गुणका कथन अनेक रंग बूटों वाले जलपक्षी हैं"।

सकल गुन खानी । करौं प्रनाम सप्रेम सुबानी ॥१।२।४।' से 'अंजलिगत सुभ सुमन जिमि सम सुगंध कर दोउ ॥ ३।२' तक, 'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ । जिन्ह ते मैं उन्ह के बस रहऊँ ॥ ३।४५।६' से "मुनि सुनु साधुन्ह के गुन जेते । कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते ॥ ४६।८' तक । 'संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता ।७।३७.६।' से 'ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमंदिर सुखपुंज ॥ ७।३८।' तक, तथा—"संत मिलन सम सुख जग नाहीं ॥ संत सहहिं दुख परहित लागी।⋯भुर्जतरू सम संत कृपाला । पर हित नित सह बिपति बिसाला ॥", "संत उदय संतत सुखकारी । बिश्वसुखद जिमि इंदु तमारी ॥ ७।१२१।' इत्यादि । [स्मरण रहे कि गोस्वामीजीने वेषको साधुका लक्षण नहीं माना है, क्योंकि कपटी, पापी, दुष्ट भी साधुवेषका आश्रयण कर लेते हैं और साधु भी पूजासे बचनेके लिये कहीं-कहीं तामसिकोंका वेष धारण किये हुए मिलते हैं । दुष्ट लोग साधुकी सब नक़ल उतार लेते हैं, पर एक नक़ल उनकी उतारी नहीं उतरती । वह है—'मंद करत जो करै भलाई' । यह लक्षण सिवाय संतके और किसीमें नहीं आ सकता । उपकार ही साधुका अव्यभिचारी लक्षण है । (वि० त्रि०)] (ग) नाम-गुन-गान; यथा—'बंदौं नाम राम रघुबर को ।१।१६।१' से "भाय कुभाय अनख आलसहूँ । नाम जपत मंगल दिसि दसहूँ ॥ १।२८।१।' तक । अयोध्याकाण्डमें ठौर-ठौर पर नाम-गुण-गान है जैसे कि भरत-निषाद-भेंटपर, वसिष्ठ-निषाद-भेंटपर चित्रकूटमें, इत्यादि । अरण्यकांडमें "जद्यपि प्रभु के नाम अनेका । श्रुति कह अधिक एक ते एका ॥ राम सकल नामन्ह ते अधिका । होउ नाथ अघ खग गन बधिका ॥ राकारजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम । अपर नाम उड़गन बिमल बसहु भगत उर ब्योम । ४२।" —इसी तरह सभी कांडोंमें जहां-तहां है । पूर्व भी कुछ उद्धरण दिये गए हैं ।

२—यहाँतक जलमें जलचर, थलचर और नभचर तीनों कहे हैं, यथा—(क) 'पुरइनि सघन चारु चौपाई'—पुरइन थलचर है, क्योंकि यह बिना थलके नहीं रह सकती । तीन चौपाइयोंमें थलचरकी व्याख्या है । (ख)—'सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला । ज्ञान बिराग बिचार मराला ॥ सुकृती साधु नाम गुनगाना । ते बिचित्र जल बिहँग समाना ॥' ये नभचर हुए । और, (ग)—'धुनि अवरेब कबित गुन जाती ।⋯' तीन चौपाइयों में जलचर कहे ।

त्रिपाठीजी—(क) 'गुनगाना'—श्रीरामचरितमानसमें राम-गुण-गान है, तथा सुकृती, साधु और नामका गुणगान है । रामगुणगानरूपी जलसे तो रामचरितमानस भरा पड़ा है पर सुकृतीगुणगान, साधु-गुणगान और नाम-गुणगानकी भी मात्रा अल्प नहीं है । (ख) 'ते बिचित्र'—यहाँ 'विचित्र' शब्द देहली-दीपक न्यायसे 'ते' के साथ भी अन्वित होगा, और जलविहंगके साथ भी अन्वित होगा । सुकृती, साधु और नामके गुणगान विचित्र हैं क्योंकि इनका विषय विचित्र है । कहीं नरनारीका गुणगान है, तो कहीं वेलि-विटपका गुणगान है । कहीं देवताका गुणगान है तो कहीं राक्षसका भी गुणगान है । कहीं मुनियोंका गुणगान है तो कहीं कोल-किरात-का गुणगान है । कहीं बिहग-मृगका गुणगान है तो कहीं बन्दर-भालुका गुणगान है । इसी भांति कहीं राम, रघुबीर, हरि, दीनदयालादि नामोंका गुणगान है, तो कहीं गईबहोरि, गरीबनेवाज, साहिब आदि नामों कर गुणगान है । (ग) 'जल बिहग' और जलका साथ है, ये जलसे बहुत दूर नहीं रहते । इसी तरह सुकृती साधु-नाम-गुणगानका और रामयशका साथ है । ये गान रामयशसे दूर नहीं जाते, रामयश ही इनका निवासस्थल है ।

संत-सभा चहुँ दिसि अँवराई । श्रद्धा रितु बसंत सम गाई ॥१२॥

शब्दार्थ—अँवराई=आमके बाग । श्रद्धा—मं० श्लो० २ देखिए ।

अर्थ—सन्तसभा (ही सरके) चारों दिशाओंकी अँवराई है । (सन्तोंकी) श्रद्धा वसन्त ऋतुके समान कही गयी है ॥१२॥

नोट—१ सन्तसभा और अँवराई दोनों ही परोपकारी हैं । यह समता है । जैसे वसन्तसे अँवराईकी शोभा वैसेही श्रद्धासे सन्तसभाकी । श्रद्धा स्त्रीलिङ्ग है । ग्रन्थकारने 'वसन्तरितु' कोभी स्त्रीलिङ्ग माना है, यथा—

'जहँ बसंतरितु रही लुभाई' इसीसे स्त्रीकी स्त्रीसे उपमा दी। जहाँ-जहाँ ग्रन्थकारने वागका वर्णन किया है वहाँ-वहाँ प्रायः वसन्तकाही वर्णन किया है। जैसे कि जनकपुष्पवाटिका तथा अवधकी वाटिकाओं और उपवनों (उ० २८), इत्यादिमें। अतः अँवराई कहकर वसन्तऋतु कहा।

टिप्पणी—सन्तगुणगानको विहङ्ग कहा, अब सन्तसभाको अँवराई कहते हैं। यहाँ 'चहुँ दिसि' क्या है? (उत्तर) चारों संवाद चार घाट हैं। चारों संवादोंमें जो सन्तसभा है (जो कथा सुननेके लिये बैठी है) वही चहुँ दिशिकी अँवराई है। अब चारों संवादोंमें जो सन्तसभा है उसको सुनिये—

(१) 'कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥' यह गोस्वामीजी और सुजन-संवादमें सुजनकी सभा है। यह पूर्वदिशामें है।

(२) 'भरद्वाज आश्रम अति पावन। परम रम्य मुनिवर मन भावन॥ तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथराजा॥ १।४४।६-७।' यह याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवादमें सन्तसभा है जो दक्षिण दिशामें है।

(३) 'सिद्ध तपोधन जोगिजन सुर किन्नर मुनिवृंद। वसहिं तहाँ सुकृती सकल सेवहिं शिव सुखकंद॥ १।१०५।' शिवकथामें इनकी सभा थी और मुख्य श्रोता तो श्रीपार्वतीजी ही हैं। यह पश्चिम दिशामें है।

(४) 'वृद्ध-वृद्ध विहंग तहँ आए। सुनइ राम के चरित सुहाए॥ ७।६३।४।' यह भुशुण्डिजीकी कथामें सभा है जो उत्तर दिशामें है।

नोट—२ 'चहुँदिशि' कहकर सूचित किया कि चारों घाटोंकी चार सभाएँ ही चारों दिशाकी अँवराई हैं, जैसे चारों वक्ताओंके पास सन्तसभा, वैसेही चारों घाटोंके पास अमराई है।

३ चारों दिशाओंमें इस मानसकी सन्तसभा है। कौन दिशामें कौन सन्त हैं? संत उन्मनी टीका-कारका मत है कि—(क) 'सन्त चार प्रकारके हैं। आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। इन्हींकी सभा चारों ओर है। (ख) पिपीलिकामार्गके सन्त पश्चिम दिशाकी अमराई हैं क्योंकि मेरुकी ओर होकर रामतत्त्व और चरित्रका अनुभव करते हैं। विहङ्गमार्गवाले सन्त पूर्व-दिशाकी अमराई हैं, क्योंकि 'नासाग्रपूर्वतो दिशि' उत्तर गीतायाम्। सोई आधार अनुभवके प्रारम्भका है। कपिमार्गवाले सन्त दक्षिण दिशाकी अमराई हैं क्योंकि दक्षिण दिशाके नाड़ीके अनुसार प्राणायामका इनके प्रारम्भ है। मीनमार्गवाले सन्त उत्तर अमराई हैं क्योंकि वाम स्वरमें प्रारम्भकी उत्तम रीति है।' मा० मा० कारका मत है कि—उपासना कांडवाले संतोंकी सभा उत्तर-घाटमें है, ज्ञानकी पश्चिममें, कर्मकांडीकी दक्षिणमें और शरणागति भाववाले केवल नामावलंबियों की सभा पूर्वघाटमें है।

४ मा० प्र० कार कहते हैं कि—"तल्लीन, तद्गत और तदाश्रयमें से 'मीन मनोहर ते बहु भाँती' तक 'तल्लीन' का वर्णन हुआ, फिर 'ते विचित्र जल विहग समाना' तक तद्गतस्वरूपका उल्लेख हुआ, अब यहाँ-से 'तदाश्रय' कहते हैं अर्थात् जो सरके बाहर हैं पर उसके आश्रित हैं। "यहाँसे सरके बाहरका वर्णन हो रहा इसीसे इनके उदाहरण ग्रन्थसे नहीं दिये जाते, कहीं-कहीं प्रसंग पाकर प्रमाण देंगे।"

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—"चारों संवादोंके मध्यमें जहाँ-जहाँ संतसभाओं का वर्णन है, उनमें विश्राम करनेसे मानससरमज्जनका आनन्द आता है। अभिप्राय यह है कि श्रोता-वक्ताके सिवा संतसभा जो वर्णित है वही अँवराई है।

बैजनाथजी लिखते हैं कि संतोंकी सभा जहाँ श्रीरामचरितका श्रवण-कीर्तन सदा होता है वही चारों दिशाओंकी अमराई है।'

इस तरह मा० प्र०, वै० और मा० मा० का एक मत है कि यह संतसभा चार संवादवाले वक्ता श्रोता नहीं हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त जो संतसभा है वह अमराई है। संवाद तो घाट में आगए।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि—(क) सन्तोंकी उपमा वृक्षोंसे दी गई। इनमें भी आम अत्यन्त सुस्वाद होता है, इसीसे रसाल कहलाता है। जिन सन्तोंका हृदय रामसनेहसे सरस है वे ही श्रीरामचरितमानसके आश्रित हैं, उन्हींकी सभाको यहाँ अँवराई कहा है, यथा—"रामसनेह सरस मन जासू। साधुसभा बड़ आदर तासू।" दैन्य, ज्ञान, कर्म और उपासनाघाटकी संतसभाके उदाहरण, यथा—"धेनुरूप धरि हृदय विचारी। गई तहाँ जहँ सुर मुनि झारी॥ १। १८४। ७।' से 'बैठे सुर सब करहिं विचारा।···। १८५। १।' तक, "लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु। ज्ञानसभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानंदु। २। २३९॥', 'तहाँ होइ मुनि रिषय समाजा। जाहिं जे मज्जन तीरथराजा॥···ब्रह्मनिरूपन धर्मबिधि बरनहिं तत्वविभाग।···। १। ४४।', 'मुनिसमूह महँ बैठे सनमुख सबकी ओर। सरद इंदु तन चितवत मानहु निकर चकोर॥ ३। १२।' (ख) श्रद्धाके बिना कर्म, ज्ञान और उपासना कोई भी सम्भव नहीं। यथा—"श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।", "सात्विक श्रद्धा धेनु सुहाई। जौं हरि कृपा हृदय बस आई।", "श्रद्धा छमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया।" यहाँ श्रद्धासे सात्विकी श्रद्धा अभिप्रेत है। (ग) 'सम गाई' इति। ऊपर कह आए हैं 'सुकृती साधु नाम गुन गाना।' और यहाँ 'श्रद्धा रितु बसंत सम गाई' कहा। भावार्थ यह कि जिस भाँति सुकृती, साधु तथा नाम गुणगान अनेक स्थलों में है उसी भाँति वसन्तका भी गुणगान अनेक स्थलोंमें हैं; अथवा, जैसे वसन्त आनेपर वनबागकी शोभाका गान होता है, वैसे ही श्रद्धाके उदयसे साधुसभाकी शोभाका गान अभिप्रेत है। [श्रद्धा—मं० श्लोक २ पृष्ठ १४, १५ देखिए।]

भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया द्रुम† लता बिताना॥ १३॥

शब्दार्थ—विधान=प्रकारकी, प्रकारसे। निरूपण=यथार्थ वर्णन। सर्वांग वर्णन।

अर्थ—अनेक प्रकारसे एवं अनेक प्रकारकी भक्तियोंका निरूपण (जो सन्तसभामें होता है) वृक्ष हैं और क्षमा, दया, लता और वितान हैं ❀॥ १३॥

नोट—१ ऊपर वसन्तऋतु कहा था, अब उसका धर्म कहते हैं—लताका फैलना, वृक्षोंका फूलना व फलना। कवि जहां बगबागका वर्णन करते हैं वहां लता—वितान भी कहते हैं, यह ग्रन्थकारकी शैली है, यथा—'लागे बिटप मनोहर नाना। बरन बरन बर बेलि बिताना॥ १।२२७।४।', 'फूलहिं फरहिं बिटप बिधि नाना। मंजु बिटप बर बेलि बिताना॥' २१३७।६।' "बिटप बिसाल लता अरुझानी। बिबिध बितान दिये जनु तानी॥ ३।२८।१।', इत्यादि।

२—वृक्षके आधारपर लताएँ और उनका मण्डप होता है, वैसे ही भक्तिके आश्रित क्षमा दया हैं। अमराईमें वृक्ष होते हैं जिनपर बेलें लपटी रहती हैं। सन्तसभामें भक्तिका निरूपण वृक्ष है, क्षमा-दया लता वितान हैं। भाव यह है कि भक्तिहीके कारण क्षमा और दया गुण इनमें रहते हैं। सामर्थ्य रहते अपराधीको दण्ड न देना 'क्षमा' है, जैसे परशुरामजीके कटु वचनों पर रामजीने क्षमा की। सुन्दरकाण्डमें लक्ष्मणजीका

† रा० प, पं०, प्र०, मा० त० वि० में और भी जहाँ तहाँ इसका पाठान्तर 'दम' मिलता है। इस पाठका **अर्थ**—'भक्तिके विविध रीतियोंके निरूपण और (तत्सम्बन्धी) क्षमा, दया, दम (गुणों का वर्णन) लताके वितान हैं। भाव यह कि ये सब सन्तरूपी अमराईपर लपटी हैं—(रा. प्र.)।

दम—१७२१, १७६२, छ०। १६६१ में 'द्रुम' था। '—', का चिन्ह अब तक है। हरताल नहीं है। ना० प्र० सभाने भी इसे द्रुम ही पढ़ा और देखा है। १७०४ में स्याही चाहे उड़ गई हो, चाहे मिटाई गई हो। ना० प्र० सभाने भी इसे द्रुम ही पढ़ा और देखा है। १७०४ में भी 'द्रुम' है।

❀ मा० प०-कार यह अर्थ करते हैं—"लताओंके चँदोये हैं जिनकी शरणमें प्राणी सुखसे विश्राम करते हैं, खलोंके वचन-आतप इनके भीतर नहीं पहुँच सकते।"

दुष्कारणको छोड़वा देना 'दया' है,—'दया लागि हँसि दीन्हि छुड़ाई', 'दया लागि कोमल चित संता।' इत्यादि। लता-वितानसे वृक्षोंकी शोभा, वैसे ही क्षमा-दयासे भक्तोंकी शोभा।

३—'विविध विधाना' इति। श्रीरामचन्द्रजीने नवधा भक्ति श्रीलक्ष्मणजीसे और श्रीमती शबरीजीसे कही है। लक्ष्मणजीने पूछा है कि 'कहहु ज्ञान विराग अरु माया। कहहु सो भगति करहु जेहि दाया॥ ३।१४।८।' भक्तिसंबंधी उत्तर—'जाते बेगि द्रवउँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई।३।१६।२।' से 'तिन्ह के हृदय कमल महुँ करउँ सदा विश्राम। १६।' तक है। इसमें भी श्रीरामजीने श्रीमुखसे कहे हैं। अरण्यकांडमें "नवधा भगति कहउँ तोहि पाहीं।३५।७।' से "मम भरोस हिय हरष न दीना।३६।५।' श्रीरामजीने श्रीमुखसे श्रीशबरीजीसे नवधा भक्ति कही है। वाल्मीकिजीने १४ स्थान ठहरनेके बताये तक। हैं, ये भी भक्तिके मार्ग हैं।—२।१२८ (४) से दोहा १३१ तक देखिये। किष्किन्धाकाण्डमें पुनः लक्ष्मणजीसे भक्ति, वैराग्य, नीति और ज्ञान विविध प्रकारसे कहा है, यथा—'कहत अनुज सन कथा अनेका। भगति बिरति नय नीति बिबेका' (दोहा १३ (७) से दोहा १७ तक)। उत्तरकाण्डमें श्रीरामचन्द्रजीने पुरवासियोंसे, और भुशुण्डिजीने गरुड़जीसे भक्ति कही है। (देखो ७।४५-४६ और ७।११४-१२०) इत्यादि, भक्तिका अनेक प्रकार से निरूपण है।—(परन्तु इनमेंसे जो-जो प्रसंग संतसभामें आए हैं, प्रायः वेही यहाँ अभिप्रेत हैं, यथा—' कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ज्ञान बिराग। १।४४।" इत्यादि। मा० मा० कार कहते हैं कि भक्ति-निरूपण 'आम्रवृक्ष हैं तहाँ रामनाम कल्पवृक्ष है, मानससर देवसर है, मानसके चारों ओर देवबाग हैं, देवबागहीमें कल्पतरु रहता है, अतएव रामनाम कल्पवृक्षका वहाँ रहना उचित है।)

त्रिपाठीजी—१ प्रयोजन तथा अधिकारी भेदसे भक्तिके अनेक विधान हैं। बिषाद-नाशके लिये भक्ति-विधान; भगवत्कृपासंपादनके लिये भक्तियोग; जन्मफल-प्राप्तिके लिये भक्तिमार्ग; सर्व-साधारणके लिये नवधा-भक्ति; जिज्ञासु, अर्थार्थी और आर्तके लिये गौणी भक्ति, इत्यादि। श्रीलक्ष्मणजीने जो भक्ति निषादराजसे कही वह विषादनाशके लिये थी। यह 'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता।···२।९२।४।' से 'सखा समुझि अस परिहरि मोहू। सिय रघुबीर चरन रत होहू।९४।१।' तक है। अरण्यकांड दोहा १६-१७ वाली भक्ति तथा उत्तरकांड दोहा ४५।१ 'जौं परलोक इहाँ सुख चहहू' से दोहा ४६ तक भक्तियोग है। (नवधा भक्ति ऊपर आ चुकी है)। ज्ञानी जिज्ञासु आदिके लिये भक्तिका विधान नामवंदनाके "नाम जीह जपि जागहिं जोगी।" इत्यादिमें है।

२ 'लता बिताना' इति। गुण गुणीके आश्रयसे रहते हैं। भक्तिके विविध विधान, क्षमा आदि जो लता स्थानीय माने गए हैं, इन्हीं संत-विटप के आश्रयमें हैं, अर्थात् ये गुण संतोंमें इसी प्रकार लिपटे हुये हैं जैसे लताएँ वृक्षोंमें। संतसमाजमें बराबर गुणोंका आदान-प्रदान हुआ करता है, अतः वहाँ ये गुण छाये रहते हैं।

सम * जम नियम फूल फल ज्ञाना। हरिपद रति † रस बेद बखाना॥ १४॥

शब्दार्थ—सम = शम।=अन्तःकरण तथा अन्तर-इन्द्रियोंको वशमें करना। मनोनिग्रह। यम=चित्तको

---

*—संयम नियम-को० रा०। संयम, यथा—'अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम्। क्षमा धृति मिताहारः शुचिश्च संयमा दश॥'

†—रति रस—१७२१, १७६२, छ०। रस बर-१७०४। १६६१ में 'ति र' हाशियेकी लकीरसे मिलेहुए बाहर बनाये गए हैं। 'बेद' के नीचे लकीरें हैं, उनपर हरताल है। हाशियेपर 'बन' (बर) बना है। सब पुरानी स्याहीका है। जान पड़ता है कि 'रस बेद' के बीचका 'बर' शब्द छूट गया था वह 'V' चिह्न देकर हाशियेपर बनाया गया था। 'ति र' की स्याही उससे कुछ फीकी है।

धर्ममें स्थिर रखनेवाले कर्मोंका साधन। मनुके अनुसार शरीर-साधनके साथ-साथ इनका पालन नित्यकर्त्तव्य है। मनुने अहिंसा, सत्यबचन, ब्रह्मचर्य, अकल्कता और अस्तेय ये पाँच यम कहे हैं। पर पारस्करगृह्यसूत्रमें तथा और भी दो एक ग्रन्थोंमें इनकी संख्या दस कही गई है और नाम इस प्रकार दिये गये हैं। ब्रह्मचर्य, दया, क्षान्ति, ध्यान, सत्य, अकल्कता, अहिंसा, अस्तेय, माधुर्य और यम। यम योगके आठ अङ्गोंमेंसे पहला अङ्ग है। (श० सा०)। उत्तरकांड ज्ञानदीपक प्रसंगमें इनका विशेष उल्लेख किया गया है। नियम=शौच, सन्तोष, तपस्या, स्वाध्याय इत्यादि क्रियाओंका पालन करना और उनको ईश्वरार्पण कर देना। (श० सा०)। याज्ञवल्क्यस्मृतिमें यम और नियम दस-दस प्रकारके कहे गए हैं। यथा—'ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिर्दानं सत्यमकल्कता। अहिंसास्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाःस्मृताः॥ ३१२॥ स्नानंमौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः। नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता॥ ३१३।" और भागवतमें बारह कहे हैं, यथा—"अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः। आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाभयम्॥ ३३। शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धाऽऽतिथ्यं मदर्चनम्। तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम्। ३४। एते यमाः सनियमा उभयोर्द्वादश स्मृताः' (११। १६)। गायत्रीभाष्यमें दस नियम इस प्रकार हैं—"शौचेज्या च तपो दानं स्वाध्यायोपस्थनिग्रहम्। व्रतोपवासमौनानि स्नानं च नियमा दश॥"

अर्थ—शम, यम, नियम (इस अमराईके) फूल हैं, ज्ञान फल है। हरिपदमें प्रीति होना फलका रस है (ऐसा) वेदोंने कहा है। १४।

☞ भा० दा० ने 'संजम' पाठ दिया है, उसीके अनुसार पं० रामकुमारजी ने भाव कहे हैं। सुधाकर-द्विवेदीजीने 'सम जम' पाठ दिया है।

नोट—१ (क) अमराई कहकर उसके वृक्ष, लता और वितान कहे। पेड़ों और लताओंमें फूल-फल होते हैं। अब बताते हैं कि रामचरितमानस-सरके संतसभारूपी अमराईमें फूल-फल क्या हैं। (ख) उधर वसन्तमें आममें बौर लगता है और आम फलता है। यहाँ संतोंमें श्रद्धासे संयम (सम, यम), नियम और ज्ञान होते हैं। फलमें रस होता है, यहाँ हरिपदमें प्रीति होना यह ज्ञानका रस है—'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू। २। २७७।' (ग)—जैसे फूलसे फल लगे तब फूलकी शोभा है, फल न लगा तो फूल व्यर्थ हुआ, वैसेही शम, यम, नियम करनेपर यदि ज्ञान न हुआ तो वह यम नियम आदि व्यर्थ हैं। फूलमें फलभी लगा पर वह परिपक्व न होने पाया, सूख गया, उसमें रस न हुआ, तो वह फल भी व्यर्थ गया। इसी तरह ज्ञान होने पर श्रीरामपदमें प्रेम न हुआ तो वह ज्ञान भी व्यर्थ है, उस ज्ञानकी शोभा नहीं। (घ) यम, नियम योगके अंग हैं। योगसे ज्ञान होता है, यथा—'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ३। १६।' ज्ञानसे भक्ति होती है, यथा—'होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथचरन अनुरागा। २। ९३। ४।' इसीसे यम, नियम, ज्ञान और हरिपदरति क्रमसे लिखे गये। (ङ) शम, यम, नियमको फूल इसलिये माना कि इन्हींसे संतसभाकी शोभा है। पुष्पके बिना फल नहीं होता, वैसेही शम-यमादि-बिना ज्ञान नहीं होता। फलके साधन पुष्प होते हैं और ज्ञानके साधन शम, यम, नियम हैं। रस उस भागका नाम है जिसके द्वारा स्वाद लेनेकी योग्यता होती है। (सू० मिश्र०)।

२ ऊपर चौपाई १० 'नव रस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा॥' में योगको जलचर कहा और यहाँ योगके अंगको फूल और योगकी सिद्धिको ज्ञान कहते हैं। ज्ञानका रस भक्ति है, इसपर वेदकी साक्षी देते हैं। यहाँ जनाते हैं कि कर्म, ज्ञान और उपासना क्रमसे होते हैं।—यह विशिष्टाद्वैत सिद्धांत है।

३ 'हरिपदरति रस' कहनेका भाव यह है कि जिस ज्ञानमें हरिभक्ति नहीं, वह ज्ञान व्यर्थ है। वह फल रसरहित सारहीन है। यथा—'सोह न रामप्रेम बिनु ज्ञानू', 'जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू। जहँ नहिं रामप्रेम परधानू॥ २। २९१।' ☞ मिलान कीजिये—"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥" (गीता)।

४—"वेद बखाना", यथा—"निगमकल्पतरोर्गलितं फलं शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम्। पिबत भागवतं रसमालयं मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥" (भागवतमाहात्म्य १ । १ । ३)। अर्थात् अहो भावुक रसिकगण! वेदरूप कल्पवृक्षका यह अमृतरससे परिपूर्ण भागवतरूप फल शुकके मुखसे पृथ्वीपर गिरा है, इसके भगवत्कथारूप अमृतरसका आप लोग मरण पर्यन्त बार-बार पान करते रहें।

ज्ञानको फल और 'हरिपदरति' को उसका रस कहा; यह विशिष्टाद्वैतसिद्धान्त है। अद्वैतसिद्धान्त भक्तिको ज्ञानका साधन मानता है। गोस्वामीजीका मत विशिष्टाद्वैतके अनुकूल है।

औरौ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—प्रसंगा (प्रसंग)=मेल, संबंध, संगति। विषय, बातें।

अर्थ—औरभी अनेक कथाएँ और अनेक प्रसंग (वा, कथाओंके अनेक प्रसंग जो इस मानसमें आए हैं) ही तोता, कोकिल आदि बहुत रंगके पक्षी हैं ॥ १५ ॥

अर्थान्तर—२ "प्रसंग पाकर जो कथाएँ कही गई हैं..."। (पाँ०)

३—"और बीच बीचमें प्रसंगवश जो कथा, जैसे कि पार्वतीविवाह, भानुप्रतापकथा, नारद-अभिमान-भञ्जनके लिये स्वयंवरकी रचना इत्यादि, आ गयी हैं वे ही बरन-बरनके शुक, पिक हैं जो ऋतुविशेषमें कभी कभी देख पड़ते हैं।" (सु० द्विवेदी)।

मा० प्र०—मानससरकी अमराईमें बाहरके पक्षी भी आते हैं, जल पीते हैं, अमराईमें कुछ देर ठहरते हैं, फिर उड़कर चले जाते हैं।

टिप्पणी—रामचरितमानसमें अनेक कथाएँ और अनेक प्रसंग हैं; इन्हींको संत विस्तारसे कहते हैं। कथायें जैसे कि सती-मोह, शिवविवाह, आदि। प्रसंग, यथा—तेहि सब आपनि कथा सुनाई। मैं अब जाब जहां रघुराई। ४। २५।', 'कह सुग्रीव सुनहु रघुबीरा। बालि महाबल अति रनधीरा॥ दुंदुभि-अस्थि ताल देखराए। ४।७।', इहाँ साप बस आवत नाहीं। कि० ६।', 'सबरी देखि राम गृह आये। मुनि के वचन समुझि जिय भाये॥ ३।३४।', 'दंडकबन पुनीत प्रभु करहू। उग्रसाप मुनिबर कर हरहू॥ ३। १३।', 'भा निरास उपजी मन त्रासा। जथा चक्रभय रिषि दुरबासा। ३। २।', 'ससि गुरुतियगामी नहुष चढ़ेउ भूमिसुर जान। लोक बेद ते बिमुख भा अधम न बेन समान॥', 'सहसबाहु सुरनाथ त्रिसंकू। केहि न राजमद दीन्ह कलंकू॥ २। २२८-२२९।', 'परसुराम पितु आज्ञा राखी। मारी मातु लोक सब साखी॥ तनय जजातिहि जौबन दयऊ। पितुअज्ञा अघ अजसु न भयऊ॥ अ० १७४।', सिबि दधीचि हरिचंद नरेसा। सहे धरम हित कोटि कलेसा॥ रंतिदेव बलि भूप सुजाना।०। २। ९५।' इत्यादि प्रसंग हैं जो कथामें उदाहरणरूपसे या प्रसंगवश लिख भर दिये गए। इन प्रसंगोंकी कथायें अन्य ग्रंथोंसे कही जाती हैं, जहाँकी वे हैं। मानसमें इनकी कथाएँ नहीं हैं।—[दूसरा भाव यह है कि बहुत-सी कथाएँ श्रीमद्भागवतकी हैं श्रीमद्भागवतको शुकजीने कहा है। अतः उन कथाओंको 'शुक' कहा। कुछ कथाएँ वाल्मीकीयकी हैं, यथा—'गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥'. "तेहि सब आपनि कथा सुनाई। मैं अब जाब जहां रघुराई।" वाल्मीकिजीको कोकिल कहा ही है, यथा—"कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम्। आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकि कोकिलम्॥" अतः इनकी कथाको 'पिक' कहा। और कुछ कथाएँ महाभारतादिकी हैं, उन्हें 'बहु बरन बिहंगा' कहा। (वि० त्रि)]

नोट—१ मानसपरिचारिकाके मतानुसार 'कथा प्रसंगा' से उन कथाओंका तात्पर्य है जो रामचरितमानस कहते समय प्रसङ्ग पाकर संत लोग दृष्टान्तके लिये या प्रमाणपुष्टि वा प्रकरणपुष्टिके लिये देते हैं। ये कथाएँ मानससरके वह पक्षी हैं जो बाहरसे आकर अमराईमें कुछ समय ठहरकर उड़ जाते हैं। वैसेही कथाका प्रसङ्ग थोड़े समयका होता है। प्रसङ्गकी कथा समाप्त हुई, फिर रामचरितमानसकी कथा होने लगी। प्रसङ्गका आना और उसकी कथाका समाप्त होनाही पक्षियोंका थोड़े समय विश्राम लेकर उड़ जाना है। उदाहरण वही हैं जो ऊपर 'प्रसंगा' के दिये गए हैं।

मा० मा०-कार इस मतका विरोध करते हुये लिखते हैं कि "यह भाव मुझे उत्तम नहीं जँचता, क्योंकि मूलहीमें वर्णन है कि 'औरौ कथा अनेक प्रसंगा। ते सुक पिक बहु बरन बिहंगा।' अर्थात् रामयश, सुकृती लोगों का यश और साधुओंके यशके सिवा और भी अनेक कथाका प्रसंग मानसमें वर्णन है, वही अनेक रङ्गके पक्षी हैं, ये सतसभा अमराईके स्थायी पक्षिगण हैं। जैसे प्रथम ज्ञान-विरागादि हंस, सुकृती-साधु-यशगान जलविहंग मानसहीमें दिखाया गया, उसी प्रकार संतसभा अमराईमें अन्य कथा-प्रसंगरूपी पक्षियोंको दिखलाना चाहिए। यदि मानसकी कथा नहीं कही जाय, केवल मूलका पाठ किया तब तो अन्य कथा प्रसंग पक्षी-का आगमन नहीं हुआ?"—कथनका तात्पर्य यह कि कथाओंके प्रसंग चहुँ दिशि अमराईके स्थायी पक्षी हैं।

नोट—☞विवेकी पाठक यहाँ विचार कर लें कि इस दोहेमें पक्षी वा विहंगका प्रयोग किन चार स्थितियोंमें किया गया है। चार बार विहंगोंकी उपमा इस दोहेमें दी गयी है, यथा—१ 'सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला। ज्ञान बिराग बिचार मराला॥ चौ० ७।' २—'सुकृती साधु नाम गुनगाना। ते बिचित्र जल बिहंग समाना॥ चौ० ११।' ३—'औरौ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहुबरन बिहंगा। चौ० १५।' ४—'पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहारु। दो० ३७।'

दोहा—पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग बिहारु।
माली सुमन सनेह जल सींचत लोचन चारु॥३७॥

शब्दार्थ—पुलक = रोमाञ्च होना, आनन्दमें रोमका खड़ा होना। सुमन = सु+मन = सुन्दर मन।

अर्थ—(संतसभामें कथासे) रोमाञ्च (पुलक) होना फुलवारी, बाग और वन है। (जो) सुख (होता है वही) सुन्दर पक्षियोंका विहार है। निर्मल मन माली है जो स्नेहरूपी जलसे सुन्दर नेत्र (रूपी घड़ोंके) द्वारा उनको सींचता है॥ ३७॥

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी—कथाओंके सुनने और अनुभव करनेसे जो थोड़ा, कुछ अधिक और अत्यन्त रोमाञ्च हो जाते हैं वे इस मानसके आसपास सन्त-सुखरूप पक्षियोंके विहार करनेके लिये वाटिका, बाग और उपवन हैं तिन्हें संतोंके सुन्दर मनमाली स्नेहजल से दोनों आँखोंरूप हजारेसे सींचा करते हैं। इस सिञ्चनसे वे वाटिका, बाग और वन सदा प्रफुल्लित रहते हैं।

❀ 'पुलक वाटिका बाग बन' इति ❀

१—वाटिकासे बाग बड़ा होता है और बागसे वन। वाटिका, बाग और वन क्रमसे कहे, इससे जान पड़ा कि सरके चारों ओर अमराई है, जिसके चारों ओर वाटिका है, फिर बाग, फिर बन। यही क्रम जनकपुरमें भी दिखाया गया है; यथा—'सुमन बाटिका बाग बन बिपुल बिहंग निवास। फूलत फलत सुपल्लवत सोहत पुर चहुँ पास॥ १। २१२।'

२—वनमें कोई माली नहीं रहता, यहाँ वनके लिये भी माली कहा है। मानसतत्त्वविवरणमें इसका समाधान यह किया है कि वृन्दावन प्रमोदवन इत्यादि विहार स्थलोंमें वृन्दासखी इत्यादि मालिनें हैं, उन्हींकी अपेक्षासे यहाँ भी माली कहा है।

३—पुलकावली जो संत-सभामें होती है उसको यहाँ वाटिका, बाग और वनकी उपमा दी है। इससे यहाँ पाया जाता है कि पुलकावलीभी तीन प्रकारकी हैं।

☞श्रीकरुणासिन्धुजी, सन्त श्रीगुरुसहायलालजी, महाराज श्रीहरिहरप्रसादजी, श्रीवैजनाथजी, श्रीजानकीदासजी इत्यादि प्रसिद्ध टीकाकारोंने अपने-अपने विचार इस विषयमें जो प्रकट किये हैं वह नक्शेमें लिखे जाते हैं—

टीकाकार	वाटिका	बाग	वन
१—बाबा हरिहरप्रसाद जी (रा० प्र०)	(क) 'जो प्रथम दिन समाजमें आते हैं उनको थोड़ा रोमाञ्च होता है, जैसे वाटिकामें थोड़े वृक्ष होते हैं जो थोड़ा ही घाम पाकर कुम्हला जाते हैं।' (ख) 'माधुर्यरसमें जो छके हुए हैं उनकी पुलकावली पुष्पवाटिका है। वाटिका अति रमणीय होती है और उसमें पुष्प नाना भाँतिके होते हैं वैसे ही ये अनेकानन्दयुक्त हैं।'	'जो थोड़े दिनोंसे सभा में आने लगे हैं उनकी पुलकावली बाग है, बागमें वृक्ष वाटिकासे अधिक होते और घाम भी कुछ अधिक सह सकते हैं। ऐश्वर्योपासकोंकी पुलकावली बाग है क्योंकि बाग कम सुन्दर होते हैं।' (रा० प्र०)। मा० त० वि०—'बागमें रसाल फल अधिक, उसी तरह ज्ञानीको ब्रह्मानन्दरूप फलकी पुलकावली है सोई बाग है'।	'जो चिरकालसे समाजमें रहते हैं, आनन्दमें भरे हैं, इनकी पुलकावली वन है। वन सदा हरा रहता है।' कर्मकाण्डयुक्त उपासकोंकी पुलकावली वन है, क्योंकि वनकी शोभा फुलवारी और बागसे बहुत कम होती है।' (रा० प्र०) सन्तउन्मनी टीका—'वनमें अनेक प्रकारके फल और कर्मकाण्डमें अनेक कर्मफलके प्राप्तिकी अपेक्षा रहती है।'
२—बाबा हरिदास	(ग) कथन-श्रवणसे जो उत्तम पुलकावली होती है वह वाटिका है।	मध्यम पुलकावली बाग है	निकृष्ट पुलकावली वन है। वन दैवयोगसे सींचा जाता है इससे निकृष्ट है।
३—श्रीजानकीदासजी (मा० प्र०, रा० प्र०, वि० त्रि०)	'भक्तिकी पुलकावलीमें बार-बार अश्रुपात होते हैं और वाटिकामें सब दिन जलकी नहर लगी रहती है और कभी पुष्पों का अभाव नहीं होता। जिससे पुलक वाटिका बारह मास फूली रहती है।' यहाँ पुलकावली अश्रुपातादि की तुलना पुष्पोंसे है। यथा—'पुलकित गात अत्रि उठि धाए।… ३।३।५-६।'	केवल ज्ञानकी पुलकावली बाग है। जैसे बागमें चार छः महीनेमें जल दिया जाता है वैसेही ज्ञानकाण्डमें पुलकावली थोड़ी है। ज्ञानी भक्तोंको सदा पुलकावली नहीं होती। यथा—'जाना राम प्रभाव तब पुलक प्रफुल्लितगात''	'कर्मकाण्डकी पुलकावली वन है जैसे वनका सींचना दैवाधीन, वैसेही कर्मकाण्डकी पुलकावली दैवाधीन है।' यथा—'मुनि पुलके लखि सीलु सुभाऊ।'

टीकाकार	वाटिका	बाग़	वन
४ करु०, मा० प्र०, मा० पत्रिका	प्रेमी भक्त पुलकावलीशून्य नहीं। वाटिकामें पुष्प अनेक, यहाँ रोमकूप अनेक। पुष्पमें रस जिसके ग्राही भ्रमरादि जन्तु, पुलकावलीमें ही सीतारामजीके गुणस्वरूप माधुर्यादिक रसस्थानापन्न हैं और उसमें जो स्वभावानुकूल सुख है वही रयमुनिया आदि विहङ्ग हैं जो विहारपूर्वक माधुरीरसको पान करते हैं। प्रेमीमें आर्तभक्तका भी अंतर्भाव है।	ज्ञानी बाग़ हैं। इनकी पुलकावली सदा नहीं रहती, क्योंकि कभी-कभी इनकी समाधि बड़ी गहरी लग जाती है। इस बाग़का फल जीवन्मुक्ति हैं जिसमें ब्रह्मानन्दरूप रस है। स्वबुद्धि अनुकूल आनन्द शुकादि पक्षी हैं जो ब्रह्मानन्दमें विहार करते हैं।	कर्मपदारूढ़ साधनावस्थाके भक्तोंकी पुलकावली दैवाधीन है, कभी हुई तो अच्छा, नहीं तो नहीं है ही है। कर्मकाण्डमें अर्थ धर्म काम, उत्तम मध्यम अधम फल हैं। इसका जो अहङ्कारपूर्वक सुख है वही उत्तम, मध्यम अधम तीन प्रकारके पक्षी हैं जो उनके भोगरूप रसको लेते हैं।
५-मा० प०	पुष्पवाटिकामें सुगन्ध बहुत, प्रेमी भक्तका आदर बहुत।	बाग़ बड़ा, और ज्ञानी भक्त भी बड़े गिने जाते हैं।	५ वनका पूरा पता लगना मनुष्यशक्तिके बाहर, कर्मकाण्डीकी दशा भी वैसी ही है क्योंकि कर्मकाण्डके सारे प्रकरणोंका पता लगाना और उनपर चलना शक्तिसे बाहर है।
६-संत श्रीगुरुसहायलालजी	'निष्काम भक्तोंकी पुलकावली वाटिका है, वाटिकामें पुष्पोंकी अधिकता, और इनमें आकांक्षाकी व्यवस्था।'	'सकाम भक्तोंकी पुलकावली बाग़ है, क्योंकि नित्य अपकर्मके समय कर्मनिवेदन भी करते हैं, पर कामनाके लिये प्रार्थना वा सम्पुटादि भगवत्सम्बन्धी भी कर लेते हैं।'	६ 'ज्ञानियोंका रोमाञ्च वन है क्योंकि इनकी केवल मुक्तिमात्र फलकी अपेक्षा रहती है।'
७-श्रीवैजनाथजी	'मुग्धा भक्तोंमें थोड़ा प्रेम होता है इसीसे पुलकावली थोड़ी और वाटिका देखनेमें छोटी।'	मध्या भक्तोंका पुलक बाग़ है जो वाटिकासे बड़ा होता है। मुग्धाभक्तोंसे मध्यमकी पुलकावली बड़ी है।	७ प्रौढ़ भक्तोंका पुलक एकरस सदा वनसमान बड़ा है। वन बाग़से भी बड़ा, वैसेही इनका पुलक सबसे अधिक।
८-पाँड़ेजी	हर्षसे फूल उठना वाटिका है।	फूलनेसे जो उनका सुनना सुफल हुआ वह बाग़ है।	आनन्दमें अपनेको भूल जाना वन है।

☞ गोस्वामीजीने मानसके रूपकमें 'कमल, पुरइन, अमराई, वन, बाग' आदिका वर्णन किया है। परन्तु कुछ यात्रियोंका कहना है कि वहाँ कुछ छोटे छोटे पौधे और कुछ पहाड़ी घासके अतिरिक्त कुछ नहीं होता। विशेष कालतक तो वह बर्फसे ही ढका रहता है। इस प्रकार इस रूपकमें काव्यका 'ख्यातिविरुद्धता दोष' आ जाता है ?

इस शंकाका समाधान यह है कि लोकमें अप्रसिद्ध होनेपर भी कवि-समयमें यदि यह बात प्रसिद्ध वा संगृहीत है तो उसका वर्णन दोष नहीं किन्तु गुण है। यथा—"कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता" (साहित्य दर्पण ७। २२)। 'समय' का अर्थ है सम्प्रदाय वा पद्धति। यह तीन प्रकारका है—"असतोऽपि निबंधेन सतामप्य निबन्धनात्। नियमस्य पुरस्कारात् सम्प्रदायस्त्रिधा कवेः॥" (सा० द० टीका)। अर्थात्—१ जो बात है ही नहीं उसको कहना। जैसे कि जहाँभी छोटा-मोटा जलाशय है वहाँ हंस आदिका वर्णन, नदी और आकाश आदिमें कमलका वर्णन, आकाशनदीमें हाथीका वर्णन, कीर्ति और पुण्यको शुक्ल, अकीर्ति और पापको कृष्णवर्ण वर्णन और चकोरका चन्द्रकिरणभक्षण, इत्यादि। यथा—"रत्नानि यत्रतत्रादौ हंसाद्यल्पजलाशये। जलेभाद्ये नभो नद्यामम्भोजाद्यं नदीष्वपि।···शुक्लत्वं कीर्तिपुण्यादौ कार्ष्ण्यंचाकीर्त्यघादिषु।···ज्योत्स्नापानं चकोराणां शैवालं सर्ववारिषु। (सा० द० टीका)। २—जो विद्यमान् है उसका अभाववर्णन अर्थात् उसको कहना कि नहीं होता। जैसे कि वसन्तमें मालतीपुष्प, चन्दनमें फूलफल, स्त्रियोंमें श्यामता इत्यादि वे कभी नहीं वर्णन करते। यथा—"वसन्ते मालती पुष्पं फले-पुष्पे च चन्दने···नारीणां श्यामता···"। ३—कुछ उनके अपने विशेष बँधे हुये नियम। जैसे कि भोजपत्र हिमालयही पर, चन्दन मलयागिरिही पर और कमल हेमन्त और शिशिर-ऋतु छोड़ सब ऋतुओंमें होता है। यथा—"हिमवत्येव भूर्जत्वक् चन्दनं मलये परम्। हेमन्तशिशिरौ त्यक्त्वा सर्वदा कमलस्थितिः।' (सा० द० टीका)।

उपर्युक्त श्लोक कुछ हेरफेरसे 'काव्यकल्पलतावृत्ति' के प्रतान १ स्तवक ५ में (श्लोक ६४ से अंत तक) हैं। और उसीमें 'सरमें कवियोंको क्या क्या वर्णन करना चाहिये' यह भी लिखा है। यथा—"सरस्यम्भो लहर्यम्भोगजाद्यम्बुज षट्पदाः। हंसचक्रादयस्तीरोद्यानस्त्रीपान्थकेलयः॥६५॥' अर्थात् तालावमें जल, लहर, जलहस्ती, कमल, भ्रमर, हंसादि पक्षी, तीरमें बाग-बगीचा, स्त्रियों और पथिकोंकी जलक्रीड़ा—इनका वर्णन प्रायः होता है।

काव्यके इस नियमके अनुसार सत्कवि जलाशयों नदी, समुद्र, तालाब आदिमें कमल और हंस आदिका वर्णन किया करते हैं। यथा—' मालिन्यं व्योम्नि पापे यशसि धवलता वर्ण्यते हास कीर्त्यो रक्तौ च क्रोध रागौ सरिदुदधिगतं पंकजेन्दीवरादि। तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसंघो ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधर समये मानसं यान्ति हंसाः॥ २३॥ अह्न्यं भोजं निशायां विकसति कुमुदं चन्द्रिका शुक्लपक्षे मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां नाप्यशोके फलं स्यात्। न स्यात् जाती वसन्ते न च कुसुम फले गंधसारद्रुमाणामित्याद्युन्नेयमन्यत् कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे। ७। २५।" (सा० द०)। अर्थात् आकाश और पापमें मालिन्य यश, हास्य और कीर्तिमें शुक्लता, क्रोध और रागमें रक्तता, नदी और समुद्रमें कमलादि, समस्त जलाशयोंमें हंसादि पक्षी, चकोरका चन्द्रकिरणभक्षण, वर्षासमय हंसोंका मानससरको चले जाना, दिनमें कमलका और रात्रिमें कुमुदका खिलना, शुक्लपक्षमें ही चंद्रिका, मयूरका मेघध्वनि होनेपर नृत्य करना अशोकमें फलका अभाव, वसन्तमें जातीपुष्पका और चन्दनमें फूलफलका अभाव—इत्यादि कविसंप्रदायकी बातोंको सत्कवियोंके काव्योंसे निर्णित कर लेना चाहिए।

सत्कवियोंके इस नियमानुसार मानसकविने यहाँ मानस-सरके रूपकमें कमल, हंस, वन, बाग और पक्षी आदिका वर्णन किया है।

नोट—१ सात्विक भाव होनेसेही पुलक होता है, सात्विक भावमें सुख है। अतः 'सुख' को 'सुविहंग विहारु' कहा। भयादिकोंमेंभी रोमांच होता है, अतः उसके व्यावर्तनके लिये 'सुविहंग' कहा, क्योंकि यहाँ

सुमतिका प्रसंग चल रहा है। कुविहंग कुमतिके प्रसंगमें कहा गया है, यथा—'कुमति कुविहंग कुलह जनु खोली। २।२८।६।' जहाँ जहाँ पुलक हैं वहाँ आनंदसे पुलक है। यहाँ सुखरूपी विहंग मानससरके वासी हैं, ये बाहरसे नहीं आये हैं, अतः यहाँ विहार करते हैं। (वि० त्रि०)।

पुलकांगकी दशामें जो सुख है वही सुविहंगविहार है। पांडेजी कहते हैं कि 'इस दशामें जो सुख हुआ वही सुन्दर पक्षी होकर विहार कर रहा है।' वह सुख क्या है? किसका सुख कौन पक्षी है?

उत्तर—(१) मानसमयंककार लिखते हैं कि—'उपासना, ज्ञान और कर्मका समाज मानो क्रमसे पुष्पवाटिका, बाग और वन हैं। और तीनों समाजोंको सुखकी प्राप्ति, अर्थात् क्रमसे श्रीरामचन्द्रजीकी प्राप्ति, ब्रह्मकी प्राप्ति और शुभ-प्राप्ति, ये तीनों सुख मानों मधुकर, शुक और लावक आदि विहङ्ग-विहार हैं। इन तीनों (वाटिका, बाग और वन) का माली सुष्ठु मन है। यदि मन सुष्ठु रहा तो सब हरा-भरा रहा नहीं तो सब सूख जाते हैं, अतएव मालीकी सुष्ठुता बिना केवल परिश्रम ही है।'—[मा० मा० कार इसीको इस प्रकार लिखते हैं—'भक्तोंको श्रीरामचन्द्रजीके सनातन चतुष्टय (नाम, रूप, लीला, धाम) द्वारा जो सुख होता है वही मधुकर पक्षी होकर वाटिकामें विहार करता है, ज्ञानियोंको ब्रह्मसुख अनुभव होनेपर उस दशाका सुख पक्षी होकर बागमें शुकवत विहार करता है और कर्मकांडियोंको शुभप्राप्तिका सुख लवादिक पक्षी होकर वनमें विहार करता है।]

(२) करुणासिंधुजी तथा श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि 'भक्तिकाण्डमें अपने-अपने भावानुकूल जो सुख होता है वह रयमुनिया आदिक विहङ्ग हैं। ज्ञानकाण्डमें अपनी बुद्धि-अनुकूल जो सुख होता है, वह शुकादि विहङ्ग हैं जो ब्रह्मानन्दमें विहरे हैं। कर्मकाण्डमें अहङ्कारपूर्वक जो सुख होता है वह उत्तम, मध्यम, निकृष्ट तीन भाँतिके विहङ्ग हैं जो अर्थ, धर्म, काम फलोंके भोगरूप रसको ग्रहण करते हैं।'

नोट—२ स्नेहसे आँसू निकलते हैं, रोमाञ्च होता है, इसीसे उसको जल कहा। नेत्र घड़ा है। घड़ेसे जल सींचा जाता है और यहाँ पुलकमें नेत्रोंसे अश्रुपात होते हैं। मालीको सुमन कहा, क्योंकि मालीसे वाटिका उदास नहीं होने पाती, इसी तरह सुन्दर मनसे पुलकावली नहीं मिटने पाती। पुनः, मनकेही द्रवीभूत होनेसे रोमांच होता है, अतः पुलककी स्थिति मन परही निर्भर है। पुलकरूपी वाटिका आदिका सिंचन नेत्रोंके प्रेमाश्रुद्वारा ही होता है। यथा—'मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगदगिरा नयन बह नीरा।'

जे गावहिं यह चरित सँभारे। तेइ येहि ताल चतुर रखवारे॥ १॥

शब्दार्थ—सँभारे=सँभालकर; चौकसीसे; सावधानतापूर्वक। 'सँभारना' शब्द ग्रन्थमें स्मरण करनेके अर्थमें भी आया है, यथा—'बार बार रघुबीर सँभारी। तरकेउ पवनतनय बल भारी॥ ५।१।' 'तब मारुतसुत प्रभु संभारेउ। लं० ९४।'

अर्थ—जो लोग रामचरितमानसको सँभालकर (सावधानीसे) गाते (कहते) हैं वे इस सरके चतुर रखवाले हैं। १।

पं० रामकुमारजी—१-दोहा ३७ तक सरका वर्णन हुआ। अब यहाँसे उसके बाहरका वर्णन है। सर तो अपने स्वरूपहीसे सुन्दर है, वह नहीं विगड़ता। सरपर जो रक्षक (पहरेवाले) रहते हैं, वे बाहरकी खराबियों और न्यूनताओंसे सरकी रक्षा करते हैं। यहाँ यह बतलाते हैं कि रामचरितमानसमें रखवाले कौन हैं? [मानससरमें देवताओंकी ओरसे प्रवीण रक्षक रहते हैं कि कोई जल न विगाड़े, उसमें थूके खखारे नहीं। (मा० प्र०)]

२ 'जे गावहिं' इति। इसके मुख्य श्रोता सज्जन हैं। गोस्वामीजी तो सज्जनोंहीसे कह रहे हैं सो ये तो घाटहीमें हैं। इनके अतिरिक्त और जो कोई वर्णन करें वे रखवाले हैं।—[गानमें सबका अधिकार बताया। अपने समाजमें सभीको अधिकार है। पक्षिसमाजमें भुशुंडीजी कहते और गरुड़जी सुनते हैं। देवसमाजमें

शंकरजी, मुनिसमाजमें याज्ञवल्क्यजी और नरसमाजमें गोस्वामीजी वक्ता हैं। यहाँ 'गान' का अर्थ प्रेम और आदरसे बखान करना है। इसी अर्थमें इस शब्दका बारंबार प्रयोग हुआ है। यथा—'रिपु कर रूप सकल तैं गावा।' (लं०), 'हरि चरित्र मानस तुम्ह गावा', 'रघुपति कृपा जथा मति गावा'। इत्यादि। (वि० त्रि०)]

३ 'सँभारे', 'चतुर रखवारे' इति। (क) रखवालोंका काम यह है कि पुरुषके घाटमें स्त्री, स्त्रीके घाटमें पुरुष न जावें, कोई सरमें थूके खखारे नहीं, कोई निषिद्ध वस्तु इसमें न पड़े, इत्यादि। रामचरितमानसके पढ़नेमें स्त्रीलिङ्गकी ठौर पुल्लिङ्ग और पुल्लिङ्गकी ठौर स्त्रीलिङ्ग शब्द पढ़ना पनघटमें पुरुषका और पुरुषोंके घाटमें स्त्रीका जाना है। पाठका बदलना, क्षेपक मिलाना, अशुद्ध पढ़ना इत्यादि ही थूकना, खखारना, निषिद्ध वस्तुका डाल देना है। (मा० प्र०)। (ख) 'सँभारे' पद देकर सूचित किया कि सँभालकर गाना सबसे नहीं बनता। सँभालकर गाना यह है कि स्मरण और विचारपूर्वक पढ़े, पाठ शुद्ध हो, दोष बचाते हुए, अर्थ समझते हुए औरों की अशुद्धियों को प्रसङ्ग-अनुकूल ठीक करके पढ़ना 'सँभारकर गाना' है। 'चतुर' अर्थात् होशियार, अचूक। (ग) सू० मिश्रका मत है कि 'सँभारे' का भाव यह है कि जो ग्रन्थकारने कहा है कि 'नानापुराणनिगमागम-सम्मतं' मं० श्लो० ७, उसीके अनुसार वेदमत लोकमत और पूर्वापर सम्बन्ध या पूर्वापर विरोध और काव्यदोष, विचारपूर्वक विचार और उसीके अनुकूल अर्थ विचारकर कहना। बिना प्रेमके गाना नहीं हो सकता। जिसका जिसमें प्रेम होता है वही उसकी रक्षा करता है। इस तरह ग्रन्थकारने बताया है कि इस ग्रन्थके प्रेमी ही इसके रक्षक हैं और होंगे।" और पाँडेजी श्रीशिवजी, भुशुण्डीजी याज्ञवल्क्यजी और गोस्वामीजीके गुरुको रखवाले कहते हैं। (पर इस मतसे हम सहमत नहीं हैं)। (घ) 'रखवारे' का तात्पर्य यह है कि जहाँ जो रस प्रधान हो वहाँ वही कहा जाय और रसाभास न हो। (पां०)। पुनः, इस मानसके रखवालोंका काम है कि यदि कोई एक चौपाई या दोहा लेकर औरका और अर्थ करे तो वह उसकी वाणीका पूर्वापर प्रसंगसे खंडन कर दें। (मा० प्र०)। 'चतुर रखवारे' कहकर यह भी जनाया कि चरितके गान करनेवाले 'रखवाले' हैं, गान करनेसे मानस बना रहेगा, नहीं तो लुप्त हो जायगा। और सँभालकर गानेवाले 'चतुर रखवाले' हैं]

सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी ॥२॥

अर्थ—जो स्त्री-पुरुष इसे सदा (नियमपूर्वक) आदरसहित सुनते हैं वे ही सुन्दर मानसके उत्तम अधिकारी, श्रेष्ठ देवता हैं ॥२॥

नोट—१ मानस-सरके रक्षक ऋषि एवं देवता हैं और देवता एवं ऋषि ही उसके स्नान-पानके अधिकारी हैं। रामचरितमानसके अधिकारी कौन हैं यह यहाँ बताते हैं। ऊपर चौपाईमें गानेवालों अर्थात् वक्ताओंको बताया, इनके श्रोता होने चाहियें सो यहाँ कहते हैं।

२ यहाँ तक तदाश्रय कहकर अब यहाँसे अधिकारी, अनधिकारी, मार्गकी कठिनाइयाँ और उनका निवारण यह सब कहते हैं—'सदा सुनहिं सादर', 'नर नारी', 'सुरबर मानस अधिकारी।' (मा० प्र०)

नोट—३ यहाँ दो बातें अधिकारी होनेके लिए जरूरी बतायीं,—सदा सुनना और सादर सुनना। सुनना स्नान है, सदा सुनना सदा स्नान करना है। 'सदा' शब्द देकर जनाया कि इसमें प्रतिपदा, अष्टमी, अमावस्या, चतुर्दशी और पूर्णिमा आदि अनध्यायका नियम नहीं है। यह धारणा न हो कि इसे कई बार सुन चुके हैं। इसका रस नित्य सुननेसे ही मिलेगा। 'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं।' (वि० त्रि०)। (ख) 'सादर'=आदरपूर्वक—अर्थात् मन, चित्त और बुद्धि लगाकर। यथा—'सुनहु तात मति मन चित लाई। ३। १५। १।' (ग) ☞गोस्वामीजीने यह शब्द उत्तम श्रोताओंके लिये प्रायः सभी ठौर दिया है, यथा—'सादर सुनि रघुपति गुन पुनि आयेउँ कैलास। उ० ५७', 'सादर सुनु गिरिराज कुमारी।

१ । ११४ । २ ।', 'तात सुनहु सादर मन लाई । कहहुँ राम कै कथा सुहाई । १ । ४७ ।', "कहौं रामगुनगाथ भरद्वाज सादर सुनहु । १ । १२४ ।" इत्यादि । सर्वत्र सादर सुननेको कहा गया है । १ । ३५ । १२ देखिए । (घ) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'मानस' तीर्थ है । यहाँ यह जनाया है कि तीर्थमें स्नान आदरपूर्वक करना चाहिये तभी फल होता है, यथा—'सादर मज्जन पान किये तें । मिटहिं पाप परिताप हिये तें ॥ १ । ४३ । ६ ।', 'सोइ सादर सर मज्जन करई । महाघोर त्रयताप न जरई ॥ १ । ३९ । ६ ।' (ङ) 'नर नारी' पदका भाव यह है कि इसके अधिकारी स्त्री-पुरुष सभी हैं, जाति, वर्ण या स्त्री-पुरुष का कोई भेद वा नियम नहीं है ।

४ (क) 'बर' 'मानस' और 'अधिकारी' दोनोंके साथ है । क्योंकि इस मानसमें सुन्दर रामयश जल है और इसके अधिकारी देवताओंसे श्रेष्ठ हैं क्योंकि देवता अपने ऐश्वर्यमें भूले रहते हैं, यथा—'हम देवता परम अधिकारी । स्वारथरत प्रभु भगति बिसारी ॥ भव प्रवाह संतत हम परे ॥ ६ । १०९ ।' अधिकारी=अधिकार पानेके योग्य, सेवा करनेके लायक । (ख) 'ते सुरबर' कहकर जनाया कि आसुरी संपत्तिवाले इसमें स्नान नहीं कर सकते । सादर श्रवण दैवी संपत्तिवालोंके लिये ही संभव है । (वि० त्रि०) । (ग) यहाँ वक्तासे अधिक महत्व श्रोताका कहा । वक्ता तो पहरेदार है, उसका सारा समारंभ तो श्रोताके लिये ही है । यद्यपि यात्रियोंको पहरेदारका आदेश मानना पड़ता है तो भी प्राधान्य यात्रियोंका ही है । इसीसे श्रोताको 'अधिकारी' कहा । (वि० त्रि०) । (घ) सुधाकर द्विवेदीजीका मत है कि अमृतपानके सुखसे भी बढ़कर इसकी कथाका स्वाद जिनके कर्णमें जान पड़ता है वे ही इसके अधिकारी हैं । जैसे देवता अमृत पीते-पीते उकताकर मानसके जलको अधिक स्वादिष्ट समझ पीते हैं वैसेही जो अनुरागी नारी-नर सब कथाओंसे बढ़कर इस मानसकथाको समझते हैं वेही इसके सच्चे अधिकारी देवता हैं ।

अति खल जे बिषई बग कागा । एहिं सर निकट न जाहिं अभागा ॥ ३ ॥

अर्थ—जो बहुत ही दुष्ट और विषयी हैं; वे बगुले और कौवे हैं । वे अभागे इस सरके पास नहीं जाते ॥ ३ ॥

नोट—१ ऊपर मानसके अधिकारी कहे अब उसके अनधिकारी कहते हैं ।

नोट—२ 'अति खल जे बिषई बग कागा' इति । (क) खलोंके लक्षण दोहा ४, ५ में कहे गये हैं । खल और कामी सत्संग करते हैं और सुधर जाते हैं जैसा वहाँ कह आये हैं, यथा—'खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू । १ । ७ । ४ ।', 'मज्जन फल पेखिय ततकाला । काक होहिं पिक बकउ मराला ॥ १ । ३ । १ ।' और पुनः आगे कहा है कि 'विषइन्ह कहँ पुनि हरि गुनग्रामा । श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा । ७ । ५३ । ४ ।' इसीसे यहाँ 'अतिखल बिषई' कहा क्योंकि ये सत्संगसे भागते हैं । इसीसे भाग्यहीन भी कहा । ये 'अति खल' हैं, 'अति बिषई' हैं । 'बिषई' का अन्वय कागाके साथ होनेका कारण यह है कि काग मलिन वस्तु (विष्टा) खाता है और बिषयीभी स्त्रीलम्पट आदि कुत्सित-भोगी होता है । 'काक बक' के स्वभाव पूर्व दिये जा चुके हैं— 'काक होहिं पिक बकउ मराला । १ । ३ । १ ।' इत्यादि में देखिए । पुनः, मा० मा० का मत है कि—"अतिखल बकवत् हैं, क्योंकि परम विश्वासघाती 'खल' कहाता है—'खलो विश्वासघातकः ।' काग गवादिकोंपर बैठकर उनके मांसको भक्षण करता है, उसको रंचक दया नहीं लगती । उसी प्रकार विषयी मांस भक्षक और परदाराओंके धर्मको बिगाड़नेवाला है ।" मा० प्र० का मत है कि 'अतिखल' काक हैं और विषयी (जो विषयमें अत्यन्त आसक्त हैं) बक हैं । पांडेजीका मत है कि वे खल काक हैं जो कथाके समय बकते हैं और विषयी बगुला वे हैं जिनका मत मछली मेघामें रहता है पर देखनेमें साधु बने बैठे हैं । पांडेजीका आशय 'कथाके समय' से यह समझमें आता है कि कथासे दूर अन्यत्र वा उसी समय अन्य विषयवार्ताकी बक लगाए रहते हैं,

हयाके निकट नहीं जाते। बैजनाथजीका मत है कि हरिविमुख जो सत्पदार्थमें भेद लगानेवाले हैं वेही 'अति खल' काक हैं।

(ख)—आगे चौ० ५ में केवल 'कामी' शब्द दिया है—'कामी काक बलाक बिचारे'। इससे कोई कोई 'अति खल जे बिषई' का अर्थ यों भी कर लेते हैं कि 'जो विषयी अत्यन्त दुष्ट हैं'। पर प्रायः सभीने उपर्युक्त ही अर्थ ठीक माना है। समाधान यों हो जाता है कि गोस्वामीजीने 'खल जे बिषई' मेंसे अन्तिम पद 'कामी' (बिषई) देकर उसके पहलेका शब्दभी सूचित कर दिया है।

३ अभागा=भाग्यहीन; यथा—'सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं बिषय अनुरागी ॥ ३।३३।३।', 'अग्य अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी ॥ लंपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहु संतसभा नहिं देखी ॥ १। ११५।' विषय सेवन करने एवं सत्संगमें न जानेसे 'अभागा' कहा। पुनः, 'अभागा' पद देकर न जानेका कारण बताया कि 'उनका भाग्यही नहीं कि वे यहाँ आवें'। (मा० प०)। भाग्यवान्ही श्रीरामयश सुनते हैं, यथा—"अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाँउ देइ एहि मारग सोई। ७। १२९।' पुनः, यहाँ 'अभागा' शब्दमें 'भाग' शब्द श्लिष्ट है। अतः दूसरा अर्थ यह होगा कि उनका 'भाग' अर्थात् विषय-चर्चारूपी संबुक-भेकादि यहाँ नहीं हैं। इस अर्थमें 'निदर्शना अलंकार' होता है।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि विषयी, साधक और सिद्ध तीनों प्रकारके जीव रामचरितके ग्राहक हैं। इनमें विषयियोंमें ही खल होते हैं और उन खलोंमें भी अति खल होते हैं। दोनों प्रकारके खलोंकी वंदना गोस्वामीजीने की है। सामान्य खलोंको 'खलगन' कहा है और 'अति खल' को 'खल' कहकर वन्दना की है। सामान्य खल हरियशके निकट राकेशके लिये राहुकी भाँति कभी-कभी भजनमें भंग करनेके लिये आते हैं पर 'अति खल' इस लिये भी निकट नहीं आते। अति खल विषयियोंकी उपमा बक और कागसे दी। यद्यपि काग शकुनाधम सब भाँति अपावन, छली मलिन, अविश्वासी, मूढ़ और मंद-मति हैं तथापि बककी गणना प्रथम है क्योंकि यह हंससा रूप धारण किये हुये ध्यानका नाट्य करता हुआ हिंसामें रत है। 'अभागा' का भाव कि भाग्यका निर्णय सांसारिक संपदासे नहीं होता। जब जीवनका ही कुछ ठिकाना नहीं तो संपदा लेकर क्या होगा? इसीलिये कहा है कि यदि सर्वैश्वर्य हुआ और श्रीरामचरणानुराग न हुआ तो वह व्यर्थ है। अतः जो रघुवीरचरणानुरागी हैं वेही बड़भागी हैं और जो 'भवभंजन पद विमुख' हैं वही अभागे हैं। इसलिये अतिखल विषयी बक काग को 'अभागा' कहा।

संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय-कथा-रस नाना ॥ ४ ॥
तेहि कारन आवत हिअँ हारे। कामी काक बलाक बिचारे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—(संबुक)=घोंघा। भेक=मेंढक, दादुर। सेवार (शैवाल)=पानीमें मिट्टीके संगसे जो हरी-हरी काई के समान घास जमती है, जो बालोंके लच्छोंकी तरह पानीमें फैलनेवाली होती है और जिसमें जलके छोटे छोटे जीव आकर फँस जाते हैं। इससे हलवाई चीनी (शकर) साफ़ करते हैं। काक-बक सेवारके जीवोंको खाते हैं। बलाक = बगुला। आवत = आनेमें। = आते हुये। आते हैं।

अर्थ—(क्योंकि यहाँ) घोंघा, मेंढक और सेवारके समान अनेक प्रकारकी विषयरसकी कथाएँ नहीं हैं ॥ ४ ॥ इसी कारण वे बेचारे काक-बकरूपी कामी लोग यहाँ आनेमें हृदयसे हार मान लेते हैं [वा, हिम्मत हारे हुए आते हैं। (वि० त्रि०)] ॥ ५ ॥

नोट—१—यहाँ यह बताकर कि 'अति खल बिषई' किस वस्तुके अधिकारी हैं, उनके यहाँ न आनेका कारण कहते हैं। अभागे विषय-रसकी कथा सुनते हैं और भाग्यवान् रामयश सुनते हैं।

२ जितने सातिशय सुख हैं उन सबमें तीन प्रकार होते हैं।—उच्चकोटि, मध्यम और सामान्य कोटि।

काक बकके लिये शंबुक उच्चकोटिका भोज्य है, मेढक मध्यम कोटिका और सेवारगत जंतु सामान्य कोटिके भोज्य हैं। इसी भाँति रसोत्कर्षवाली विषय कथा अति खल विषयियोंके लिये उच्चकोटिका भोग्य है, उससे कम उत्कर्षवाली मध्यम कोटिका और सामान्य कथा सामान्य कोटिका भोग्य है। (वि० त्रि०)

३ (क) 'इहाँ न'—मानस बड़ा निर्मल और गंभीर है, वहाँ शंबुकादि नहीं हैं। ये सामान्य तलैयों या नदीके किनारे जहाँ पानी रुका रहता है, पाये जाते हैं। (ख) 'विषय कथा' से लौकिक नायक नायिकाकी कथा ही अभिप्रेत है। शृङ्गाररसके आलंबन नायक और नायिका हैं। (ग) 'रस नाना'—रसके भेद अपार हैं, यथा—'भाव भेद रस भेद अपारा'। एक शृङ्गाररसके ही चुम्बन-आलिंगनादि अनेक भेद हैं। तत्संबंधी कथाएँ ही नाना रसकी विषय कथाएँ हैं जिनके सुननेमें विषयी पुरुषोंको बड़ा आनंद होता है। इन्हीं कथाओंको शंबुक भेक सेवार कहा है। (वि० त्रि०)

४ 'बिचारे' शब्द बड़े चमत्कारका है। साधारण अर्थ इसका 'गरीब, दीन' है। ध्वनि यह है कि ये यहाँ 'बेचारे' हैं; इनका चारा (भक्ष्य) यहाँ नहीं मिलता। संबुक, सिवार और भेक ही इनका चारा है। इन्हें छोड़ ये और कुछ खाते नहीं, सो भी यहाँ नहीं मिलता, तो फिर यहां आकर क्या करें? पुनः, किसीकी दशापर जब तरस आता है तबभी देखने-सुननेवाले 'बिचारे' शब्दका प्रयोग करते हैं। इससे संकटापन्न मनुष्यके विषय में उनकी आत्मीयता प्रकट होती है। कामीको ज्ञान-वैराग्यरूपी धनसे रहित और इनकी प्राप्तिके साधनरूप रामचरितमानससे विमुख होनेसे उनके भावी कष्टोंको जानकर कवि दयापूर्वक उनसे अपनी आत्मीयता प्रकट करते हुए 'बिचारे' शब्दका प्रयोग कर रहे हैं।

५ 'हिअं हारे' का भाव यह है कि कथा सुननेको मन नहीं चलता, यथा—'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥ ५। ५८। ४।' 'हिय' हार जानेमें 'बिचारे' ही हेतु है। हरिकथा उनका 'चारा' नहीं है। यद्यपि इसमें प्रवृत्ति और निवृत्ति, लोक और वेद, दोनों मार्गों और मतोंका वर्णन है, तथापि उनकी प्रवृत्ति तो दोनों मार्गों और मतोंसे बाह्य है, अतः यह कथा उनको क्यों भली लगने लगी? पुनः, 'हियँ हारे' से सूचित होता है कि देखा-देखी जानेका यदि कुछ मन हो भी जाता है तो दुर्बुद्धिको जीतने नहीं पाते, इस लिये हारकर बैठ जाते हैं। (पं० रू० ना० मिश्र)।

वीरकविः—विषयी प्राणियोंको मानसके समीप न आ सकनेमें हेतुसूचक दिखाकर अर्थ समर्थन करना 'काव्यलिङ्ग अलङ्कार' है। निदर्शना और काव्यलिङ्गकी संसृष्टि है। 'कामी काक०' में रूपक है।

नोट—६ 'आवत हियं हारे' का दूसरा अर्थ लेनेमें भाव यह है कि "अति खल बिना विषयकथा-श्रवणके रहही नहीं सकते; अतः कहते हैं—'तेहि कारन आवत हियं हारे'। निष्कारणकी हैरानी किसे नहीं अखरती; अतः हिम्मत छोड़े हुए आते हैं। भाव कि जहाँ रामचरितमानस होता हो, उन्हें वहाँतक जाना अपार मालूम होता है। जो 'अति खल बिषई बक काक' हैं वे तो मानसके निकट ही नहीं जाते, परंतु जिनमें खलताकी अतिशयता नहीं है, वे जाते हैं पर हिम्मत हारे हुए जाते हैं, इस लिये उन्हें 'कामी काक बलाक' ही कहा। 'बिचारे' में भाव यह है कि लाचार (बेबस) होनेपरही जाते हैं जैसे स्वामी जाय तो साथ जानाही पड़ेगा। (वि० त्रि०)।

आवत येहिं सर अति कठिनाई। राम-कृपा बिनु आइ न जाई॥ ६॥

अर्थ—इस (रामचरितमानस) सरमें आनेमें बहुतही कठिनाइयाँ हैं। बिना श्रीरामजीकी कृपाके (यहाँ) आना नहीं हो सकता॥ ६॥

नोट—१ (क) मानससरके जानेमें बहुत कठिनाइयाँ हैं। यह सर तिब्बतराज्यमें ६० मीलकी परिधिमें पहाड़ोंसे घिरा हुआ कैलासके पास है। कठिनाइयोंका वर्णन आगे कवि स्वयं कर रहे हैं। वाचिक, कायिक और मानसिक तीनों प्रकारकी कठिनाइयाँ कवि दिखाते हैं। (ख) 'अति कठिनाई' एवं 'येहिं सर' का भाव

कि सर तो बहुत हैं पर औरोंमें इतनी कठिनाइयाँ नहीं हैं जितनी यहाँ हैं। यहाँकी यात्रा अत्यंत विकट है। पुनः भाव कि देव-मानससरमें कठिनाइयाँ हैं और इस (रामचरितमानस) सरमें 'अति कठिनाइयाँ' हैं।

२ (क) 'रामकृपा बिनु आइ''' इति। आनेमें मुख्य रामकृपा है, यथा—'अति हरि कृपा जाहि पर होई। पाँउ देइ एहि मारग सोई॥ ७। १२९।' त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "गुरुकृपा, शास्त्रकृपा और आत्मकृपा होने पर भी यहाँ काम नहीं चलता। गुरुकृपा और शास्त्रकृपासे माहात्म्य जानकर यात्राकी रुचि होती है। आत्मकृपासे इतने बड़े आयासको जीव स्वीकार करता है पर विघ्नोंका नाश परमेश्वरीय कृपासे ही संभव है! यथा—'सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही। ३९। ५।', 'मूक होइ बाचाल पंगु चढ़इ गिरिबर गहन। जासु कृपा''' (मं० सो०)।" (गुरुकी कृपासे भी ये कठिनाइयाँ दूर होती हैं, यदि गुरुमें नररूप हरिका भाव हो। आचार्याभिमानका बड़ा भारी गौरव है। (ख) कृपा क्योंकर हो? कृपाका साधन 'मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई। १। २००। ६।' में कविने स्वयं बताया है। (घ) यहाँ 'विनोक्ति, अलंकार' है। (वीर)।

३—इस प्रसंगमें गोस्वामीजीने चार कोटियाँ कहीं। एक सामान्य खल, दूसरे अति खल, एक अधिकारी दूसरे अति अधिकारी। चारोंके लक्ष्य क्रमशः, यथा—'जौ करि कष्ट जाइ पुनि कोई। ३९। १।', 'एहिं सर निकट न जाहिं अभागा। ३८। ३।', 'सोइ सादर सर मज्जनु करई। ३९। ६।' और 'ते नर यह सर तजहिं न काऊ। ३९। ७।' (खर्रा)।

४—पूर्व चौपाई (३) में 'अति खल बिषई' का इस मानसमें जाना कठिन कहा और यहाँ इस मानसमें आना भी कठिन बताया। (करु०)। वहाँ जाना और यहाँ आना कहा, यथा—'येहिं सर निकट न जाहिं अभागा॥', 'आवत येहि सर अति कठिनाई॥' यहाँसे पाठक इन शब्दोंपर विचार करते चलें। इसका भाव ३९ (९) में लिखा जायगा।

कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्ह के बचन बाघ हरि ब्याला॥७॥

अर्थ—घोर कुसंग ही कठिन (भयंकर) बुरे रास्ते हैं। उन कुसंगियोंके वचन बाघ, सिंह और सर्प (एवं दुष्ट हाथी) हैं॥७॥

नोट-१ (क) कुसंग कुपंथ हैं तो सुसंग सुपंथ हुए। कठिन कुसंग कराल कुपंथ अर्थात् भय उत्पन्न करनेवाले बुरे रास्ते हैं कि जिनपर तनिक भी पैर नहीं धरा जाता। श्रीरामचरितके सम्बन्धमें कठिन कुपंथ क्या हैं यह क० उ० २९-३० में यों कहे हैं—'सुत दार अगार सखा परिवार बिलोकु महा कुसमाजहिं रे। सबकी ममता तजि कै, समता सजि, संतसभा न बिराजहि रे॥ जनि डोलहि लोलुप कूकुर ज्यों तुलसी भजु कौसलराजहि रे। ३०।", "करु संग सुसील सुसंतन सो तजि कूर कुपंथ कुसाथहि रे॥ २९।' (ख) पाँड़ेजी कहते हैं कि "कठिन कुसंग वह है जो छूटनेयोग्य नहीं है, जैसे कि विद्यागुरु, माता-पिता, भ्राता, स्त्री, पुत्र आदिका होता है। और यही कुसंग अर्थात् परवश होना कठिन कुपंथ है"। स्मरण रहे कि यदि 'सुत दार सखा परिवार' आदि श्रीरामचरणानुरागी हों, भगवद्भक्त हों, तो वे कुसंगी नहीं हैं; वे तो परम धर्ममें सहायक होते हैं पर जो हरिविमुख हैं वेही कठिन कुसंगी हैं, ऐसोंही का त्याग कहा गया है। यथा—'जाके प्रिय न राम बैदेही। तेहि छाँड़िअ कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥ तज्यो पिता प्रहलाद, बिभीषन बंधु, भरत महतारी। हरि हित गुरु बलि, पति ब्रजबनितन्हि सो भये मुदमंगलकारी॥ नाते नेह रामहि के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं। विनय १७४।' (ग) 'कुपंथ कराला' इति। वहाँ मानससरमें भयंकर ऊँचा-नीचा, काँटे-कंकड़युक्त ऊबड़-खाबड़ रास्ता, यहाँ कथामें स्त्री, पुत्र, घर, सखा, परिवारकी ममता (जैसे कि स्त्री घरमें अकेली है, बच्चा हिला है जाने नहीं देता, घरमें कोई नहीं है ताला न टूट जाय; मित्र आ गये हैं इनके साथ न बैठें तो नहीं

बनता, परिवार में अमुक भाई दुःखी है—इत्यादि), खल और कामी पुरुषोंका संग जो स्वयं नहीं जाते और दूसरोंकोभी नहीं जाने देते। (त्रिपाठीजी लिखते हैं कि) 'मानससरोवरकी यात्रामें एक मार्ग पड़ता है जिसे निरपनियाँ कहते हैं, यह करालकुपंथ है। ऊपर दृष्टि कीजिये तो भयंकर पहाड़ोंकी चट्टानें डराती हैं, नीचे हजारों फीट गहरी खाई है, यात्रीकी दृष्टि पाँव और रास्तेपर ही रहती है। तनिकसी चूकमें यात्री कालके गालमें जा रहते हैं। 'सुत-दार अगार सखा परिवार।' निरपनियाँकी घाटी है।''

२ तिन्ह के बचन बाघ०' इति। (क) कठिन कुसंगी तो कठिन कुपंथ हैं, और उन कुसंगियोंके वचन 'बाघ हरि ब्याल' हैं। (ख) यहाँ 'वचन' के लिये तीन उपमाएँ बाघ, सिंह और सर्पकी दी हैं। बराबरवालों (जैसे भाई-सखा) के वचन बाघ (व्याघ्र) हैं, पिता-माता और अन्य गुरुजनों-बड़ोंके कुवचन सिंह हैं, स्त्री, पुत्र और छोटोंके वचन सर्प हैं। (ग) भाई ईर्ष्या करते, सखा कहते कि वहाँ स्त्रियोंको घूरने जाते हैं, वहाँ जानेसे तो पाप लगेगा, अभी तो अनजानमें पाप होता है जो क्षम्य है। इनके वचन श्रद्धाको नष्ट करते हैं। छोटोंके वचन सर्प हैं। ये प्रत्यक्ष कहते नहीं, धीरेसे फुसकार छोड़ते हैं। हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'इनका मधुर बोलना डसना है।' बड़ोंके वचनोंको सिंह कहा, क्योंकि इनकी डाँट-फटकार कड़ी दृष्टि मात्रही हृदयको दहला देते हैं फिर कथामें जानेका साहस नहीं पड़ सकता। जायँ तब तो वे निगलही जायँ, दंड दें, इत्यादि। वैजनाथजी लिखते हैं कि सिंह हाथी छोड़ और जीवोंपर चोट नहीं करता परन्तु उसका भय तो सभीको रहता है। उसी प्रकार गुरु, माता-पिता आदि चाहे स्पष्ट रोकें नहीं परन्तु उनकी दुष्ट प्रकृति विचारकर उनके अन्यथा वचनका भय सभीको रहता है। (घ) 'व्याल' का अर्थ 'दुष्ट या पाजी हाथी' भी होता है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि स्त्रीका वचन सर्प है, पुत्रका वचन दुष्ट हाथी है जो व्याघ्रसे भी अधिक घातक है। व्याघ्रसिंह तो कभी बगलभी दे जाते हैं पर दुष्ट हस्ती तो सच्चा वैरी होता है, प्राण लेकर ही मानता है। (ङ) इन्हीं लोगोंके विषयमें कहा है—''जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ। सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ। २।१८५॥''

☞ यहाँ वाचिक कठिनाइयाँ दिखायीं कि वचनोंकी मारके मारे नहीं जा सकते।

गृहकारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला ॥८॥

अर्थ—घरके काम काज और फँसाववाले अनेक झंझट-बखेड़े ही अति कठिन ऊँचे बड़े-बड़े पर्वत हैं। ८।

नोट—१ (क) पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'कराल कुपन्थ से भारी पहाड़ अधिक (कठिन), उससे वन, वनसे नदी। इसी तरह कठिन कुसंगसे गृहकार्य, उससे मोह-मद-मान और इनसे कुतर्क अधिक (कठिन) हैं।' इसी क्रमसे यहाँ कहते हैं। (ख) वहाँ रास्तेमें कड़े-बड़े पहाड़ एकके पीछे एक उनका ताँता टूटने ही नहीं पाता, चढ़ाई कठिन, रास्ता चुकनेही नहीं आता। यहाँ घरके कार्य चुकते नहीं, एकसे छुट्टी मिली तो दूसरा माथेपर है। आज मूँडन तो कल उपवीत, फिर वर्षगाँठ, विवाह इत्यादि। पर्वत दुर्गम विशाल हैं उनका उल्लङ्घन कठिन, यहाँ गृहासक्त दुःखरूपको गृहकार्य जंजालसे अवकाश कहाँ जो कथा पढ़े-सुने। १।४३ (८) भी देखिये। (ग) मा० प्र० कार 'गृहकारज नाना जंजाला' का 'नाना गृहकार्यका जंजाल' और मिश्रजी 'गृहके काम जो अनेक जंजाल हैं' ऐसा अर्थ करते हैं। 'गृहकार्यके अनेक जंजाल' ऐसा भी अर्थ कर सकते हैं। 'जंजाल' का अर्थ है प्रपञ्च झंझट, बखेड़ा, उलझन, फँसाव, बन्धन। 'गृहकारज जंजाल' हीसे 'गृहासक्त दुखरूप' उत्तरकाण्डमें कहा है। (घ)—पाँडेजी 'जंजाल' का अर्थ 'जंगम (चलता हुआ) जाल' करते हैं। अर्थात् चाहे जहाँ हो

यहींसे ये जाल खींच लाते हैं। मा० पत्रिका में 'जाल से भरा' अर्थ किया है। हरिहरप्रसादजी गृहकारजका 'शास्त्रोक्त गृहकार्य' (उपवीत, व्याह, श्राद्ध आदि) और वैजनाथजी 'जीविकाके व्यापार' अर्थ करते हैं। और 'नाना जंजाला' का 'अनेक उपाधियाँ' 'मनकी चिन्ताएँ जो जीवोंको वन्धनमें डाले-रहती हैं' अर्थ किया है। सूर्यप्रसादजी लिखते हैं कि गृहकारजका यह अर्थ ठीक नहीं है क्योंकि शास्त्रोक्त कार्य करनेसे गृहस्थको मुक्ति मिलती है, शास्त्रमर्यादा छोड़कर चलनेवाले नरकगामी होते हैं। (ङ) गृहस्थी चलानेमें अनेक बखेड़ोंका सामना करना पड़ता है। वह एक छोटे राज्यके समान है जो बखेड़े राज्य चलानेमें सामने आते हैं वैसेही गृहस्थोमें होते हैं। (वि० त्रि०)।

२ ☞ यहाँ कायिक कठिनाइयाँ दिखायी। गृहकार्य शरीर से संबंध रखते हैं।

वन बहु विषम मोह मद माना। नदीं कुतर्क भयंकर नाना॥ ९॥

शब्दार्थ—विषम = कठिन, घना कि जिसमें चलना दुर्गम है। = बीहड़। मोह = अन्यथाको यथार्थ समझना, जीका उसमें अटकना, ममत्व। मान = अभिमान, आत्मगौरव। मद = गर्व। अपने समान किसीको न समझना। विद्या, रूप, यौवन, जाति और महत्व ये पाँच प्रकारके मद कहे गये हैं।

अर्थ—मोह, मद, मान ही (इस मानस के) बहुतसे बीहड़ वन हैं। और अनेक भयंकर कुतर्कें ही अनेक भयङ्कर नदियाँ हैं॥ ९॥

नोट—१ 'वन बहु विषम···' इति। (क) अब पहाड़का वन कहते हैं। गृहकारजमें जो मोह-मद-मान हैं वही बहुतसे वन हैं। सामान्य वनमें लोग चले जाते हैं। विषम वनमें नहीं जा सकते, वैसेही सामान्य मोह-मद-मानवाले लोग तो कथामें चले भी जाते हैं परन्तु विषम मोह-मद-मानवाले नहीं जा सकते, इसलिये 'विषम' कहा। पुनः, 'विषम' पदसे सूचित किया कि वन दो प्रकारके कहे हैं। 'पुलक वाटिका बाग वन०' में जो वन कहा वह ललित है। जो मानससरके पासका वन है और यहाँ जो वन कहा वह रास्तेका है और भयदायक है। यहाँ 'वृत्यनुप्रास अलङ्कार' है। (पं० रा० कु०)। (ख) भाव यह है कि गृहकार्य आदिसे चाहे छुटकारा भी मिल जाय पर मोह मद-मान बड़ेही कठिन हैं। 'मोह' और "अज्ञान" पर्याय हैं। मोह, जैसे कि कथा उन्हींकी तो है जो स्त्रीके लिये विलाप करते थे, उसके सुननेसे क्या परमार्थ लाभ होगा? परिवार की ममता आदिभी मोह है। उदाहरण चौपाई ७ नोट १ (ग) में देखिये। वक्ता कलका छोकड़ा है; वह क्या कथा कहेगा? उससे अधिक तो हम जानते हैं। वक्ता साधारण आदमी है, वह व्यासासनपर बैठेगा, मैं नीचे कैसे बैठूँगा? इत्यादि मद है। मद पाँच प्रकारका है, यथा—'जाति विद्या महत्वं च रूपयौवनमेव च। यत्नेन वै परित्याज्यं पंचैते भक्तिकंटकाः॥' अर्थात् हम जातिके बड़े हैं, हम विद्वान् हैं, हमारा बड़ा मान है। रूप और युवा होनेका भी मद होता है। उदाहरण आगे 'कुतर्क' में देखिए। (ग) 'मीयते अनेन इति मानम्,' जिससे नापा जोखा जाय उसे मान कहते हैं। अर्थात् विषमता मान है। यह समदृष्टिका विरोधी है। (वि०त्रि०)।

त्रिपाठीजी—मोह मद मानको विषम वन कहा क्योंकि इसीके अन्तर्गत कुपंथरूपी कुसंग, 'गृहकार्य नाना जंजाल' रूपी शैल और कुतर्करूपिणी नदियाँ हैं। बीहड़ वन अनेक भय, विषाद और परितापके कारण होते हैं। वनकी विपत्तियों का वर्णन अयोध्याकांड दोहा ६२, ६३ में 'कानन कठिन भयंकर भारी' से 'डरपहिं धीर गहन सुधि आए' तक देखिये। इसी तरह मोह मद मान भी अनेक भय, विषाद और परितापके कारण हैं।

टिप्पणी—'नदीं कुतर्क···'इति। ग्रन्थकार पर्वतसे नदीका निकलकर चलना कहा करते हैं। यथा—'भुवन चारिदस भूधर भारी। सुकृत मेघ बरषहिं सुख बारी॥ रिधि सिधि संपति नदीं सुहाई। उमगि अवध अँबुधि कहुँ आई॥ २। १। २-३।' 'अस कहि कुटिल भई उठि ठाढ़ी। मानहु रोष तरंगिनि बाढ़ी॥ पाप पहार प्रगट भइ सोई। भरी क्रोध जल जाइ न जोई॥ २। ३४। १-२।', 'बूँद अघात सहहिं गिरि कैसे। खल के बचन संत सह जैसे। छुद्र

नदीं भरि चलीं तोराई । ४ । १४ । ४-५ ।', 'रघुपति कोपि बान झरि लाई । घायल भे निसिचर समुदाई ।।''''लवहिं सकल जनु निर्झर भारी । सोनित सरि कादर भयकारी ।। ६ । ८६ । ८-१० ।' वैसेही यहाँ 'गृहकारज नाना जंजाला । तेइ अति दुर्गम सैल बिसाला ।।' से 'नदी कुतर्क भयंकर नाना' का निकलना कहा । वनमें पर्वतोंसे निकली हुई अनेक तीव्र भयंकर वेगवाली नदियाँ बहती हैं ।

नोट—२ (क) कुतर्क—गृहकार्यवाले अपने गृहकार्य सुधारनेके लिये लड़कोंको भय देते हैं कि रामायण सुननेसे दरिद्रता आ जाती है, रामायण साधुओंके लिये है, गृहस्थको पढ़ना-सुनना उचित नहीं, उससे फिर गृहस्थीके कामका नहीं रह जाता, वैराग्य हो जाता है । देखो, अमुक जनने बाँचा-सुना तो उसका वंशही नाश हो गया और अमुक मनुष्य दरिद्र हो गया । मूलरहित तर्क कुतर्क है । पुनः, वक्ता तो लोभसे कथा कहते हैं, वहाँ जानेसे किसको लाभ हुआ । शूद्रके मुखसे क्या सुनना ? वक्ता अभिमानी है । वहाँ हमारा मान हो या न हो । (मा० प्र०) । कौन जाने परलोक किसीने देखा है ? कथाके श्रोतामेंसे किसीको विमान आते नहीं देखा । परलोकसे किसीका पत्र नहीं आया इत्यादि, 'कुतर्क' हैं । (पं० शुकदेवलालजी) । (ख) कुतर्कके प्रमाण, 'मिटि गै सब कुतरक कै रचना । १ । ११९ । ७ ।', 'दुखद लहरि कुतर्क बहु ब्राता । ७ । ९३ । ६ ।' सतीजी और गरुड़जीके संशय कुतर्क हैं । (ग) 'बैजनाथजी कुतर्कका' रूपक इस प्रकार देते हैं कि वहाँ मार्गमें अनेकों नदियाँ हैं, यहाँ सत् पदार्थमें असत बिचारना इत्यादि कुतर्कणा ही अनेक प्रकारकी भयंकर नदियाँ हैं । पाप तर्कणा मगर-घड़ियाल हैं, बुद्धिका भ्रम विषम आवर्त और असत् वासना तीक्ष्णधार हैं जिसमें उपदेशरूपी नाव नहीं चलती । (घ) कुतर्क मनका विषय है । अतः 'नदी कुतर्क भयंनर नाना' से मानसिक कठिनाई दिखाई । इस तरह यहाँ तक तीन प्रकार की कठिनाइयोंमेंसे एक वाचिक तो दूसरोंके द्वारा आपड़ी और दो कायिक और मानसिक अपने ही कारण हुईं ।

दोहा—जे श्रद्धा-संबल-रहित नहिं संतन्ह कर साथ ।
तिन्ह कहुँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ ।।३८।।

शब्दार्थ—संबल = राहका खर्च । श्रद्धा—मं० श्लोक २ देखिये । अगम = कठिन ।

अर्थ—जिनके पास श्रद्धारूपी राह-खर्च नहीं है, न संतोंका साथ है और न जिनको श्रीरघुनाथजी प्रिय हैं उनको यह मानस अत्यन्त कठिन है ।। ३८ ।।

मा० प०—'अति खल जे बिषई बक कागा' से दोहेतकका कथाभाग "प्रभूतवीरुत्तृणगुल्मगह्वरे कठोरदंशैर्मशकैरुपद्रुतः । क्वचित्तु गन्धर्वपुरं प्रपश्यति क्वचित्क्वचिच्चाशुरयोल्मुकग्रहम् ।।३।। निवासतोयद्रविणात्मबुद्धिस्ततस्ततो धावति भो अटव्याम् । क्वचिच्च वात्योत्थितपांसुधूम्रा दिशो न जानाति रजस्वलाक्षः ।। ४ ।। अदृश्यझिल्लीस्वनकर्णशूल उलूकवाग्भिर्व्यथितान्तरात्मा । अपुण्यवृक्षान् श्रयते क्षुधार्दितो मारीचितोयान्यभिधावति क्वचित् ।। ५ ।। क्वचिद्वितोयाः सरितोऽभियाति परस्परं चालपते निरन्धः । आसाद्य दावं क्वचिदग्नितप्तो निर्विद्यते क्व च यक्षैर्हृतासुः ।। ६ ।। (भा० । ५ । १३) ।" इत्यादिसे मिलता है । वहाँ भी उपसंहारमें भगवत्-कृपा बिना आनन्द न होना कहा है ।

नोट—१ यहाँतक मानसका रूपक कहा । अब इसके अधिकारी अनधिकारीको इसकी प्राप्तिमें जो कठिनाई वा सुगमता है वह आगे कहते हैं । यह रूपकमें नहीं है ऐसा किसीका मत है पर हमारी समझमें रूपक बराबर चला जा रहा है ।

२—यहाँ यह बताया है कि मानस सब प्रकार अगम है । पर तीन प्रकारसे सुगम हो जाता है—श्रद्धा हो, संतोंका सङ्ग करे, एवं श्रीरामचरणमें प्रेम हो । भाव यह है कि यदि तीर्थमें प्रेम हो, खर्च पास हो या धनोंके

साथ जाना हो तोभी रास्तेकी कठिनाइयाँ जान नहीं पड़तीं और तीर्थमें मनुष्य पहुँच सकता है। वैसेही राम-चरितमानसतक पहुँचना तभी हो सकता है जब इसके अभिमानी देवता श्रीरघुनाथजीमें प्रेम हो, कथामें श्रद्धा हो एवं संतोंका साथ हो। प्रेममें फिर भूख, प्यास, काँटे, कंकड़, वन कुछभी नहीं व्यापते। गोस्वामीजी तथा बिल्वमंगल सूरदासजी स्वयं इसके उदाहरण हैं।

पं० रामकुमारजी—'अति अगम' कहनेका भाव यह है कि अगम तो और सब बातोंसे है ही। अर्थात् (१) 'कुसंग' से, (२) कुसंगियोंके 'वचन' से, (३) 'गृहकारज' से, (४) 'नाना जंजाल' से, (५) 'मोह, मद, मान' से और (६) 'कुतर्क' से भी मानसके निकट पहुँचना अगम है। परन्तु श्रद्धाहीन, संत-संगरहित और श्रीरघुनाथजीमें स्नेहरहित मनुष्योंको तो 'अति अगम' है। तात्पर्य यह है कि ये विघ्न सबसे अधिक हैं। इसीसे उपक्रम में कहा था कि 'आवत येहि सर अति कठिनाई। रामकृपा बिनु आइ न जाई॥ ३८। ६।' और यहाँ उपसंहार में लिखा कि 'तिन्ह कहँ मानस अगम अति०।'

त्रिपाठीजी—श्रद्धा, सत्संग और श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम, ये तीनों आवश्यक हैं। जबतक ऐसी श्रद्धा न होगी कि जो कुछ श्रीरामचरितमानसमें लिखा है वह अक्षर अक्षर ठीक है, यदि मेरे समझमें नहीं आता तो मेरा अभाग्य है, तबतक उसमें श्रीरामचरितमानसके समझनेकी पात्रता नहीं आती। यदि श्रद्धा घनी रही तो एक न एक दिन संदेह दूर हुए बिना नहीं रहता। अतः निश्चय श्रद्धा श्रीरामचरितमानस पथके लिये पाथेय है। संतसंग बिना विषयके पर्यवसानका पता नहीं चलता। इस ग्रन्थमें सब विषयोंका पर्यवसान भक्तिमें ही हुआ है। ग्रन्थकी बारीकीतक सत्संगीकी ही पहुँच हो सकती है, नहीं तो संदेह होगा कि वाल्मीकि, व्यास, तुलसीदासादि सभीने उर्मिलाके साथ अन्याय किया। सत्संगसेही यह भावना होती है कि वे महात्मा किसी पर अन्याय करनेवाले नहीं। लक्ष्मणजी वन गए तो सही, पर श्रीरामजीकी सेवाके लिये अपनी इच्छासे गए, उन्हें वनवास मिला नहीं था। यदि उन्हें वनवास मिला होता तो उर्मिलाजी भगवती जनकनन्दिनीकी भाँति किसीके रोके न रुकतीं। दूसरी बात यह कि कविका कहीं चुप रह जाना हजार बोलनेसे बढ़कर काम करता है। कविने यहाँ पर चुप रहकर दिखलाया कि उर्मिलाभगवतीने पतिके सेवाधर्ममें बाधा पहुँचनेके भयसे श्वास तक न ली। उनका इतना बड़ा त्याग श्रीजनकनन्दिनीके अनुरागसे कम नहीं है। हजार लक्ष्मण-उर्मिला-संवाद लिखने परभी इस बूँदसे भेंट नहीं हो सकती। संतसंगसेही मनुष्य गलित अभिमान होकर ग्रन्थकारकी बारीकीको देख सकता है। अतः श्रीरामचरितमानसका पथप्रदर्शक संतसंगही है। भगवच्चरणमें प्रेम न रहनेसे इस चरितका आनन्दही जाता रहता है। उसे पदे-पदे भगवद्महिमाप्रतिपादन खटकता है, भावना उठती है कि ग्रंथकारको इस बातकी बड़ी फिक्र रहती है कि कहीं कोई रामजीको आदमी न समझले। ठीक है इस-लिये तो यह ग्रंथही बना है, इसकी फिक्र रहना क्या बेजा है? जिस चरित्रसे सतीको मोह हुआ, गरुड़को मोह हुआ, उस मोहसे श्रोताकी रक्षाके लिये ग्रंथकारकी फिक्र अत्यन्त उपादेय है।

नोट—३ श्रद्धामें संबलका आरोप है, अतः यह रूपक है। इस दोहेमें एकदेशविवर्ती साङ्गरूपक है, क्योंकि यहाँ श्रद्धा संबलका आरोप शब्दतः है तथा संतोंमें यात्रियों या पर्वतीय साथियोंका और रघुबीरमें गम्यस्थानस्थित प्रिय वस्तुका आरोप आर्थिक है। इस प्रकार अगम्य होनेका हेतुप्रदर्शन होनेसे यहाँ 'काव्य-लिंग अलंकार' भी है। अतः दोनों अलंकारोंकी सृष्टि है। (पं रू० ना० मि०)। वीरकविजीका मत है कि यहाँ दो असम वाक्योंकी समता होनेसे 'प्रथम निदर्शना अलंकार' है।

जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जातहिं नींद जुड़ाई होई॥ १॥

शब्दार्थ—जुड़ाई = जूड़ी=जाड़ा देकर ज्वर आना। ठंढ, शीतज्वर।

अर्थ—जो कोई मनुष्य फिर भी कष्ट उठाकर वहाँ पहुँच जाय तो उसे नींदरूपी जूड़ी जाते ही आ जाती है ॥ १ ॥

नोट—१ (क) 'जौं' संदिग्ध पद है, उसके जानेमें संदेह है। (ख) 'करि कष्ट' इति। अर्थात् जिन कठिनाइयोंको ऊपर कहा है उन्हें मेलकर। (ग) 'पुनि' का भाव कि प्रथम तो श्रद्धाहीन, संतसंगरहित तथा श्रीरामपदप्रेमविहीन मनुष्यका पूर्वकथित प्रतिबंधकोंके कारण जाना हो ही नहीं सकता तथापि यदि दैवयोगसे वहाँतक पहुँचभी जाय तो भी स्नान-पान न कर सकेगा, जाना व्यर्थ होगा। अथवा, 'पुनि' शब्द बिना अर्थका है। बुंदेलखंडमें 'मैं पुनि' 'तुम्ह पुनि' केवल 'मैं' और 'तुम' की जगह बोले जाते हैं। (घ) 'कोई'—ऊपर बतलाया है कि श्रद्धा, सत्संग और हरि-पद-प्रीति हो तो रामचरितमानसतक पहुँच सकता है। यहाँ कष्ट करके जाना उनका कहा है कि जो श्रद्धा-संबल-रहित हैं और जिनकी हरिपदमें प्रीति नहीं है, जो केवल ईर्ष्यासे या किसीके संकोचसे जावें। ईर्ष्या आदिसे जानाही कष्ट करके जाना है। 'अति खल जे बिषई बक कागा' तो पास जा ही नहीं सकते, इससे पृथक् जो और कोई जावें उन्हींसे यहाँ तात्पर्य है। (पं० रा० कु०)। अश्रद्धालुओंमेंसे कोईही वहाँ पहुँच पाते हैं पर वहाँ जाकर वे छिपते नहीं, स्पष्ट पहचाने जाते हैं। ग्रन्थकार उनके लक्षण कहते हैं। (वि० त्रि०)

टिप्पणी—१ (क) 'जातहिं' का भाव कि पहुँचनेके कुछ देर पीछे जूड़ी आवे तो स्नान करही लेता, वैसेही कथामें पहुँचनेके कुछ देर पीछे नींद आवे तो रामचरितमानस कुछ न कुछ सुनही ले; इसीसे जातेही नींद आजाती है कि एक अक्षरभी नहीं सुनने पाता। (ख) यहाँ जाड़ा क्या है ? जड़ताही जाड़ा है; यथा—'जड़ता जाड़ बिषम उर लागा।' (ग) 'जुड़ाई होई' इति। नींदकी उपमा जूड़ीसे देकर यह दिखलाया कि कोई यह नहीं चाहता कि मुझे जूड़ी आवे, पर जूड़ी बलपूर्वक आती है, वैसेही श्रोतारूपसे उपस्थित वह अश्रद्धालु पुरुष यह चाह नहीं सकता कि उसे नींद आवे, पर नींद बलात्कारसे आती है। (वि० त्रि०)। (घ) 'वहां सरकी शीतलतासे जूड़ी, यहाँ स्थिरतारूप शीतलतासे निद्रारूपी जूड़ी' (वै०)

जड़ता जाड़ बिषम उर लागा। गएहुँ न मज्जन पाव अभागा ॥ २ ॥

अर्थ—(तीक्ष्ण) जड़तारूपी कठिन जाड़ा हृदयमें लगा। (इससे वह) अभागा जानेपरभी स्नान करने न पाया ॥ २ ॥

नोट—१ जड़ताको जाड़ा कहा। क्योंकि जूड़ी आनेमें विषम जाड़ा स्वाभाविक है, वैसेही नींद आनेमें विषम जड़ता स्वाभाविक है। विषम जाड़ेसे मानसरोवरके अद्भुत सौंदर्यका दर्शनतक नहीं हो सकता और विषम जड़तासे उनीदे श्रोताको रामचरितकी अद्भुत मनोहरताका अनुभव नहीं हो सकता। दोनोंसे इन्द्रियाँ और मन पराभूत हो जाते हैं। वहाँ कंप होने लगता है, यहाँ श्रोता ऊँघ ऊँघकर गिरने लगता है। (वि० त्रि०)। मूर्खतावश कथापर ध्यान न देना जाड़ा लगना है, ध्यान न देनेसे नींद आगई, जैसे वहां जूड़ी आजानेसे स्नान न कर सका। शीतज्वरकी गणना विषमज्वरमें है। इसका जाड़ा हृदयमें समाकर उसे कँपा देता है। अतः यहाँ 'बिषम' पद दिया।

टिप्पणी—१ 'बिषम उर लागा' इति। (क) बिषम = कठिन, अर्थात् जो छूटने योग्य न हो, जो किसी उपायसे न छूटे। (ख) 'उर लागा' कहनेका भाव यह है कि जो ऊपरसे जाड़ा लगा होता तो आग तापने से दूर हो जाता, और इसके हृदयहीमें जाड़ा लगा है तो उसमें ये कोई उपाय काम नहीं देते। पुनः, जड़ताभी हृदयहीसे होती है; इससे दोनोंकी समता दिखलानेके लिये 'उर लागा' कहा। [रामचरितपक्षमें उनीदे श्रोताको बाँह पकड़कर हिलाना, कड़ी बातें कहना इत्यादि प्रकारसे सावधान करनेकी चेष्टाएँ आग तपाना, रुईभरे वस्त्र लिहाफ और कंबल आदि उढ़ाना इत्यादि हैं (ग) 'गएहुँ'=जानेपर भी।

इस शब्दको देकर जनाया कि दुर्भाग्य तो इसके साथ प्रारंभसे ही है। पहले तो पासही न आने देता था और अन्तमें भी उसे परिश्रम और कष्टही हाथ लगा। पुनः, भाव कि श्रद्धा और रघुपतिपदप्रेम मनके धर्म हैं। जड़ता-जाड़ उसमें लगा है अतः श्रद्धा और श्रीरामपदप्रेमसे रहित है। रहगया सन्तसंगसे, सन्तोंके कहने सुननेसे अथवा और भी किसी कारणसे कथामें पहुँच भी गए तो श्रद्धा-प्रेम विहीन होनेसे बैठते ही नींद आगई। (घ) 'न मज्जन पाव'—कथाके संबंधमें सुनकर समझना स्नान है; यथा—'सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग। १।२।']

२ 'अभागा' इति। 'अभागा' पद दो ठौर दिया है, एक तो यहां, दूसरे 'अति खल जे बिषई बग कागा। एहिं सर निकट न जाहिं अभागा। १।३८।' में। इससे सूचित किया कि जो सरके निकट न गये, और जो निकट गये पर स्नान न कर पाये, उन दोनोंकी एकहीमें गणना है। तात्पर्य यह है कि जो कथामें नहीं जाते, अथवा जो जाकर सो जाते हैं, दोनों अभागे हैं। अबतक नींद न थी, कथामें बैठते ही नींद आगई, इसीसे जाना गया कि अभागा है। [प्रयत्न करनेपर जब उसमें फल लगे तो उस फलको भोगने में उस समय सामर्थ्याभाव हो जाना पूरा अभाग्य है। यहां पूर्व जन्मका दुष्कृत ही बाधक हुआ। इस जन्ममें तो वह प्रयत्न करके फल तक पहुँच चुका था। पर अभाग्यने फलभोगसे वंचित कर दिया। अभाग्य प्रारंभसेही साथ है। अतः 'अभागा' से उपक्रमकर 'अभाग' से ही उपसंहार किया। भाव कि कथामें जाकरभी जो सो जाय, उसके विषयमें समझ लेना चाहिए कि श्रीरामचरितश्रवण उसके भाग्यमें नहीं है, इससे बढ़कर अभाग्य क्या होगा ? (वि० त्रि०)]

करि न जाइ सर मज्जन पाना। फिरि आवै समेत अभिमाना ॥३॥

अर्थ— सरमें स्नान-पान तो किया नहीं जाता और अभिमानसहित लौट आता है ॥३॥

पं० रामकुमारजी—'करि न जाइ'=न करते बना। भाव यह है कि सरतक आना तो बिना श्रीरामकृपाके हो ही नहीं सकता; यथा—"रामकृपा बिनु आइ न जाई"। जो आभी जाय तो मज्जनपान नहीं करते बनता। मानस-सरमें जाड़ेके कारण न नहाते ही बना, न जल पान किया, शरीरका मैल और प्यास ज्यों-की-त्यों बनी रही। जलमें स्नान करनेसे बाहरका मैल छूट जाता, पीनेसे अन्तःकरण शुद्ध होता, प्यास बुझती। कथाका सुनना और धारण करनाही स्नान पान हैं, इनसे अभिमान और आशा दूर होती हैं। अभिमान ही मैल है; यथा—'आस पियास मनोमलहारी। १।४३।' कथामें स्नान-पान होता तो अभिमान रह ही न जाता। स्नान न होनेसे अभिमान बना रह गया।

त्रिपाठीजी—'मज्जन पाना' इति। मज्जनसे पुण्यके अतिरिक्त थकावट मिटती है। जल पान करनेसे मन प्रसन्न होता है। यथा 'मज्जन कीन्ह पंथ श्रम गयऊ। सुचि जल पियत मुदित मन भयऊ ॥'

नोट—१ (क) 'मज्जन पाना' इति। मानससरकी यात्रा मज्जन-पानके लिये ही होती है। जो स्नान नहीं कर पाते, वे आचमन तो अवश्यही कर लेते हैं। आचमनसे भी पुण्य होता है, यथा—'मज्जन पान पाप हर एका।' स्नान से श्रम दूर होता है और सुख होता है, जल पान करनेसे मन प्रसन्न होता है; यथा 'मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति हरषाइ। १।५८। गै श्रम सकल सुखी नृप भएऊ।" 'मज्जन कीन्ह परम सुख पावा। ३।४१।' "मज्जन कीन्ह पंथ श्रम गएऊ। सुचि जल पिअत मुदित मन भएऊ।" इसी तरह श्रीरामचरितमानस सुननेसे पाप, त्रिताप और अज्ञान नष्ट होते हैं, यथा—'सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिए तें। १।४३।', 'सोइ सादर सर मज्जन करई। महा घोर त्रयताप न जरई। १।३६।', 'कहत सुनत एक हर अबिबेका।' वह जूड़ीसे आचमन भी नहीं कर पाता और यह निद्रासे ऐसा जड़ीभूत हो

जाता है कि कुछ सुन नहीं पाता, यदि कानमें दो चार शब्द पड़भी जायँ तो उसे एक अक्षर समझमें नहीं आता। (वि० त्रि०)

(ख) 'समेत अभिमाना' से जनाया कि उसे पश्चात्ताप नहीं होता कि मेरा भाग्य ऐसा खोटा है कि मैं यात्राके फलसे वंचित रहा, इसी तरह उनींदे श्रोताको अपनी निद्रा और जड़तापर पश्चात्ताप नहीं होता। (वि० त्रि०)। पुनः भाव कि संसारमें कहनेको हो गया कि मानसरोवर हो आये, ऐसेही कथा सुनी न सुनी, कहनेको तो होगया कि कथामें हो आये। (सू० प्र० मिश्र)।

जौं बहोरि कोउ पूछन आवा। सर निंदा करि ताहि बुझावा॥ ४॥

अर्थ—फिर जो कोई पूछने आया तो सरकी निन्दा करके उसे समुझा-बुझा दिया॥ ४॥

नोट—१ लोकरीति है कि जब कोई किसी तीर्थसे लौटता है तब उसके भाईबन्धु, मित्र आदि उससे मिलने आते हैं और तीर्थका हाल पूछते हैं। वैसेही यहाँ पूछने आये। २ बहोरि=बहोर=पुनः, फिर दूसरी बार (लौटनेपर)। ३ ☞ गोस्वामीजीने 'बुझावा' पद यहां कैसा अभिप्रायगर्भित दिया है। भाव यह है कि जैसे अग्निपर जल डालनेसे अग्नि बुझ जाती है; वैसेही जो इनसे किसीने आकर पूछा कि वहाँका हाल कहो तो इन्होंने उससे कह दिया कि वहाँ क्या जाड़ों मरना है, पुरइन बहुत है, जल जैसे वहाँका वैसे यहाँका, इत्यादि। इसी तरह इस मानसमें जाने से क्या, वहाँ यही चौपाई-दोहा तो हैं सो हम घरहीमें बाँच लेते हैं, इत्यादि रीतिसे कथाकी निन्दा कर दी, जिससे श्रद्धारूपी अग्नि जो उसके हृदयमें उठी थी, उसको भी ठण्डी कर दी निन्दा करनाही जल डालना है। [३९ (३ - ४) में अतद्गुण अलंकारकी ध्वनि है। (वीर)]

सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥ ५॥

अर्थ—ये कोईभी विघ्न उसको बाधक नहीं होते जिसे श्रीरामचन्द्रजी अतिशय कृपादृष्टिसे देखते हैं॥५॥

नोट—१ (क) ३९ (३) तक यह बताया कि बिना रामकृपाके कैसा हाल होता है और अब कहते हैं कि जिनपर रामकृपा है उनका क्या हाल है। जितने विघ्न ऊपर कह आये इनमेंसे कोईभी इसको नहीं होते। अर्थात् हृदयसे हार मानना, बड़ी-बड़ी विभीषिकाएँ, दुर्लङ्घ्य पर्वत, घोर वन, भयंकर नदियाँ, संबलका अभाव, संतसंगका अभाव और जूड़ी ये श्रीरामकृपाश्रितको नहीं होते। (ख) 'ब्यापहिं नहिं' का भाव कि ये विघ्न औरोंको व्यापते हैं। विघ्न तो बनेही हैं पर श्रीरामकृपाश्रितको वह व्यापते नहीं। (ग) कथाके संबंधके विघ्न ये हैं—सुनने को जी नहीं चाहता, जाना चाहें तो कठिन कुसंगियोंके कटु वाक्य नहीं जाने देते, गृहकार्य नाना जंजाल, मोह-मद-मान, कुतर्क, अश्रद्धा, सत्संगका अभाव, निद्रा ये श्रीराम-कृपाश्रितके ऊपर अपना प्रभाव जमा नहीं पाते; उपस्थित तो उनके सामने भी होते हैं।

२ 'राम सुकृपा बिलोकहिं' इति। 'सुकृपा' का भाव यह है कि (क) जब कोई पदार्थ देना होता है तो कृपावलोकन होतीही है, परन्तु रामचरितमानससरमें स्नान तभी मिलता है जब सुकृपा करके देखते हैं। साधारण कृपासे इस सरमें जाना नहीं हो सकता; यथा 'अति हरि-कृपा जाहि पर होई। पाँव देइ एहि मारग सोई॥७।१२९।' (पं० रामकुमार)। (ख) श्रीरामजीकी साधारण एकसी कृपा तो जीवमात्रपर है; यथा 'सब पर मोहि बराबरि दाया ७।८७।', 'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसंधानं कृपा सा पारमेश्वरी' (भ० गु० द०)। पर इस कृपासे काम नहीं चलता। (ग) अहेतुकी कृपाकटाक्ष; यथा-'पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्'। जिनपर ऐसी कृपा होती है वेही समस्त विघ्नों और विघ्नकारकोंके सिरपर पाँव धरकर निःशंक चले जाते हैं। (शुकदेवलालजी)। (घ) श्रीरामजीकी कृपादृष्टि ही सर्वविघ्नविनाशिनी है, यथा-'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा

ग्यानी । १।२८।३।, 'अतिसय प्रबल देव तव माया । छूटइ राम करहु जौं दाया ॥ विषय वस्य सुर नर मुनि स्वामी । ...यह गुन साधन ते नहिं होई । तुम्हरी कृपा पाव कोइ कोई । ४।२१।२-६।' (अर्थात् मोह, मद, मान आदिका छूटना कृपासाध्य है, क्रियासाध्य नहीं । अतः मनुष्यको चाहिये कि प्रभुकी कृपाकी चाह करता रहे), 'जापर नाथ करहु तुम्ह दाया ॥ ताहि सदा सुभ कुसल निरंतर । सुर नर मुनि प्रसन्न ता ऊपर ॥ सोइ बिजई बिनई गुनसागर । तासु सुजस त्रैलोक उजागर ॥ प्रभु की कृपा भयउ सब काजू । ५।३०।' (सुरसा, सिंहिका, लंकिनी, इत्यादि सभी विघ्नोंका नाश हुआ । अग्निभी शीतल हो गई), 'देखी राम सकल कपि सेना । चितइ कृपा करि राजिवनैना ॥ राम कृपा बल पाइ कपिंदा । भए पच्छजुत मनहु गिरिंदा । ५।३५।', 'राम कृपा करि चितवा सबही । भए बिगतश्रम बानर तबही । ६।४७।', 'अब मोहि भा भरोस हनुमंता । बिनु हरि कृपा मिलहिं नहीं संता ॥ ५।७।', 'राम कृपा करि जुगल निहारे । भए बिगत श्रम परम सुखारे ।। ६।४५।', 'कृपादृष्टि कपि भालु बिलोके । भए प्रबल रन रहहिं न रोके ॥ कृपादृष्टि करि बृष्टि प्रभु अभय किए सुर बृंद ॥ ६। १०२।'

सोइ सादर सर † मज्जनु करई । महा घोर त्रयताप न जरई ॥ ६ ॥

अर्थ—वही इस सरमें आदरपूर्वक स्नान करता है, महाघोर त्रितापसे नहीं जलता ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१ (क) 'सोइ' अर्थात् जिसपर श्रीरामजी अतिशय कृपादृष्टिसे देखते हैं । 'सोइ' कहकर अन्यका व्यावर्तन किया । (ख) 'सादर' अर्थात् श्रद्धापूर्वक, मन बुद्धि चित्त लगाकर । बिना श्रद्धाके धर्म निष्फल जाते हैं, इसी तरह कथामें बैठनेपर मनमें और बातें सोचता रहा तो भी फल नहीं होता । ऐसे लोगों पर समझना चाहिए कि श्रीरामजीको सुकृपा-दृष्टि नहीं हुई । (ग) सरमें स्नान करनेका विधान है, उसका जल गरम करके स्नान करनेका नहीं । वैसेही कथामें जाकर वक्ताकी कही हुई बातोंके सुननेका विधान है, उसका कोई अंश लेकर मनमें तर्क-वितर्क उठा देनेसे कथाका सम्यक् श्रवण नहीं होता, अतः वह कथाके फलसे वञ्चित रह जाता है । यथा—'बारंबार सकोप मुनि करै निरूपन ग्यान । मैं अपने मन बैठि तब करहुँ बिबिध अनुमान ॥७।१११।...मुनि उपदेस न सादर सुनऊ ।' (वि० त्रि०) । (घ)—'त्रयताप'=तीनों ताप, अर्थात् दैहिक, दैविक, भौतिक । यथा 'दैहिक दैविक भौतिक तापा । रामराज नहिं काहुहिं ब्यापा ॥ उ० २१ ।' शरीरमें फोड़ा-फुन्सी-ज्वरादिक रोगोंसे पीड़ा होना दैहिक ताप है । साँप, बिच्छू इत्यादिसे दुःख भौतिक ताप है और ग्रहका अरिष्ट, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, इत्यादिसे दुःख होना दैविक है । (ङ) 'न जरई' । यथा—'श्रीमद्रामचरित्रमानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये । ते संसारपतंगघोरकिरणैर्दह्यन्ति नो मानवाः ॥' उ० १३० के पश्चात् ।

नोट—१ (क) यहाँ सूचित किया कि ताप तब दूर होगा जब सादर मज्जन करेगा; यथा 'सादर मज्जन पान किये तें । मिटहिं पाप परिताप हिय तें ॥१।४३।' रामराज्यमें तीनों तापोंसे लोगोंकी रक्षा थी । (ख) मानस-सरोवरका स्नान रामराज्यसा सुखकर है, इसी भाँति श्रीरामचरितमानसश्रवणभी रामराज्यमें प्रवेश है । इसके आधिभौतिक अर्थसे भौतिकताप, आधिदैविक अर्थसे दैविक और आध्यात्मिक अर्थसे आध्यामिक ताप दूर होते हैं । इसीसे महात्मा लोग श्रीरामकथाश्रवणसे अघाते नहीं—'भरहिं निरंतर होहिं न पूरे ।' (वि० त्रि०) । (ग) [मज्जनसे ताप दूर होता है, कथाश्रवण से त्रिताप । (मा० पी० प्र० सं०)] ।

ते नर यह सर तजहिं न काऊ । जिन्ह के रामचरन भल भाऊ[१] ॥ ७ ॥
जो नहाइ[२] चह एहिं सर भाई । सो सतसंग करौ मन लाई ॥ ८ ॥

† मज्जन सर—१७२१, १७६२, छ० । सरमज्जन-१६६१, १७०४, को० रा० ।
१ चाऊ—१७२१, १७६२, छ० । भाऊ—१६६१, १७०४, को० रा० । २ नहाइ—१६६१ ।

शब्दार्थ—काऊ=कभी भी। भाऊ=प्रीति। भल=भली भाँति, पूर्ण। लाई=लगाकर।

अर्थ – जिनका श्रीरामचरणमें पक्का प्रेम है वे इस सरको कभी भी नहीं छोड़ते ॥ ७ ॥ हे भाई! जो इस सरमें स्नान करना चाहे वह मन लगाकर सत्संग करे ॥ ८ ॥

टिप्पणी—१ 'जे श्रद्धा-संबल-रहित नहिं संतन्ह कर साथ। तिन्ह कहँ मानस अगम अति जिन्हहिं न प्रिय रघुनाथ ॥' इस दोहेमें श्रद्धा-सत्संग-रामपदप्रेम-रहित जनोंको रामचरितमानस अगम दिखाया। फिर यहाँ-तक तीन चौपाइयोंमें इन्हीं तीनोंके होनेसे सुगमता दिखाते हैं। (क) जब श्रीरामजीकी कृपादृष्टि होती है तब श्रद्धा उत्पन्न होती है। 'सोइ सादर सर मज्जन करई' से श्रद्धाको सूचित किया। आदरसे मज्जन करना श्रद्धा है। (ख) 'जो नहाइ चह एहि सर भाई। सो सतसंग करौ मन लाई ॥' में सत्संगसे सुगमता जनाई। (ग) 'ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्ह के रामचरन भल भाऊ ॥' से रामपदप्रेमसे भी सुलभ होना दिखाया।

नोट—१ "जे श्रद्धा संबल रहित...।३८।" से यहाँके "सो सत्संग करौ मन लाई।" तक अन्वय व्यतिरेकसे श्रद्धा, भगवत्प्रेम और सत्संग ये तीन मानसकी प्राप्तिके हेतु हैं, यह बताया। 'यत्सत्वे यत्सत्वं अन्वयः, यद्-भावे यदभावः व्यतिरेकः।' अर्थात् एकके रहनेसे दूसरेका अवश्य होना 'अन्वय' कहलाता है और एकके न रहनेसे दूसरेका न रहना 'व्यतिरेक' है। दोहेमें व्यतिरेकसे बताया कि श्रद्धा आदि जिनमें नहीं हैं उनको मानस अगम्य है और चौपाइयोंमें अन्वयसे बताया कि जिनमें श्रीरामचरणप्रेम, सत्संग और ('मन लाई' अर्थात्) श्रद्धा है उनको मानस प्राप्त है। दूसरे, इसमें यह भी बताया कि श्रीरामपदप्रेम और श्रद्धा मनुष्यके वश की बात नहीं हैं, अतः उनके लिये वह साधन बताते हैं जो वे कर सकते हैं अर्थात् सत्संग। (पं० रू० ना० मिश्र)।

टिप्पणी—२ 'तजहिं न' से सूचित किया कि सदा इस सर पर ही रहते हैं, उसको कभी नहीं छोड़ते, लौटना तो कोसों दूर। जिनपर कृपा नहीं है उनका कथासे लौटना कहा था; यथा 'फिरि आवइ समेत अभिमाना'। लौटकर वे दूसरोंकी श्रद्धा मिटा देते हैं तो स्वयं मानसके निकट फिर कैसे जा सकते? और जिनपर कृपा है वे कभी नहीं छोड़ते। यथा 'आसा बसन व्यसन यह तिन्हहीं। रघुपतिचरित होइ तहँ सुनहीं।' (श्रीसनकादिक जी)। 'फिरि आवइ' की जोड़में यहाँ 'तजहिं न काऊ' कहा।

३ 'जो नहाइ चह०।' (क) श्रीमद्गोस्वामीजी श्रीरामचरितमानसमें स्नान करनेका प्रधान साधन यहां कहते हैं। अर्थात् सत्संग करो। ऐसा ही उत्तरकाण्डमेंभी कहा है; यथा—'बिनु सत्संग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गये बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग ॥ ७।६१।' [यहां प्रथम और चतुर्थ निदर्शना अलंकारका सम्मेलन है। (वीरकवि)]। (ख) 'भाई'—सजातियोंसे 'भाई' सम्बोधन किया जाता है। गोस्वामीजीने मानसमें स्नान किया है; यथा–'भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही। १।३९।' इसीसे अन्य स्नान करनेवालोंको 'भाई' कहते हैं। (खर्रा)। और साधारण बोली तो है ही। (ग) त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'भाई' कहकर श्रीग्रंथकर्ता मनुष्यमात्रको संबोधन करते हैं, पुकारकर कहते हैं कि 'एहिं सर' जिसकी उपमा मानसरोवरसे दी गई है, बड़ा उत्तम है। इसका जल मधुर मनोहर मंगलकारी है। कमल फूले हैं, भौंरे गुञ्जार कर रहे हैं, इत्यादि—ऐसे सरमें स्नान करनेकी इच्छा न होनाही आश्चर्य है। (वि० त्रि०)। 'भाई' के और भाव पूर्व आ चुके हैं। (१।८।१३ देखिये)। 'जो नहाइ चह' का भाव कि जिनको इच्छाही नहीं है, उनसे हम नहीं कहते। जिनको इच्छा हो, उनसे कहते हैं कि यद्यपि कथामें जाना और सादर श्रवण करना श्रीरामकृपासाध्य है पर यह श्रीरामकृपा मनुष्य चाहे तो प्राप्त कर सकता है। उसका साधन हम बताये देते हैं कि संत सर्वत्र मिलते हैं, उनका संग करो।

नोट—२ गोस्वामीजी मन लगाकर सत्संग करनेको कहते हैं। जिसका भाव यह है कि बिना सत्संगके

भ्रम-संशय दूर नहीं होते। यही बात शिवजीने गरुड़जीसे कही है; यथा 'तबहिं होइ सब संसय भंगा। जब बहु काल करिअ सत्संगा। ७।६१।४।' मानसतत्वविवरणकार 'सत्संग करौ' का एक भाव यह भी देते हैं कि 'इसके सत् तत्त्वका संग करे अर्थात् सत्-मतकी जिज्ञासा रक्खे हुए इसके वचनोंमें चित्त दे'। मन लगानेका भाव कि पास बैठकर उनकी बातें सुने और समझे तो उसमें मौलिक परिवर्तन हो सकता है। अनिच्छुक काक बकभी कोकिल हंस हो जाते हैं। मन न लगानेवालोंका स्वभाव नहीं छूटता।

मानस-सर और रामचरित-मानसका मिलान

मानस-सर	रामचरित-मानस
१. समुद्रसे मेघ सूर्यद्वारा मीठा जल खींचकर पृथ्वी-पर बरसते हैं जो सिमिटकर थलमें जमा होता है।	वेद-पुराणसे साधु अपने विवेकद्वारा रामसुयश लेकर सुन्दर बुद्धिवालोंसे कहते हैं जिसे सुनकर ये हृदयमें धारण करते हैं।
२. वर्षाजलसे धान होता है जिससे जीवोंकी रक्षा होती है—'सो जल सुकृत सालि हित होई।'	रामसुयशसे सुकृत बढ़ते हैं, जिससे भक्तोंका जीवन है।—'राम भगत जन जीवन सोई।'
३. वर्षा जल पृथ्वीपर पड़नेके पूर्व मधुर, मनोहर और गुणकारी होता है। —'बरषहिं रामसुजस बर बारी। मधुर मनोहर मंगलकारी।'	रामसुयशमें प्रेमलक्षणा भक्ति मधुरता और सुशीतलता अर्थात् मंगलकारी गुण है और सगुण लीलाका वर्णन करना मनोहरता (स्वच्छता) है। 'लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मल हानी॥ प्रेमभगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई।'
४. वर्षाजल भूमिके योगसे गँदला हो जाता है, सरद् ऋतुमें थिर होकर पुराना होता है तब उसमें फिर पूर्व गुण आजाते हैं।—'भरेउ सुमानस सुथल थिराना।'	मायिक उपमाओं, दृष्टान्तों इत्यादिका मिलना गंदलापन है। मननिदिध्यासन ही शीत पाकर थिराना होना है। वा, शरद्में पुराना होकर शीतल रुचिकर और सुखद होना है।-'सुखद सीत रुचि चारु चिराना'
५. यहाँ चार घाट। गऊघाट, पंचायतीघाट, राजघाट और पनघट।-'ते एहिं पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि।'	यहाँ चार संवाद तुलसी-संत-संवाद, याज्ञवल्क्य-भरद्वाज-संवाद, शिवपार्वती-संवाद, काकभुशुण्डिगरुड़-संवाद। 'सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि' [चार्ट (नकशा) दोहा ३६ में देखिये]
६. सात सीढ़ियाँ घाटोंमें।	सात सोपान वा काण्ड—'सप्त प्रबंध सुभग सोपाना'।
७. सरमें जल अथाह है।—'सोइ बरनब बर बारि अगाधा।'	यहाँ श्रीरघुनाथजीकी अगुण और बाधारहित महिमा अगाध है। 'रघुपति महिमा अगुन अबाधा'।
८. जल सुधा सम।	श्रीसीतारामजी का मिश्रित यश पुष्ट और आह्लादकारी।-'रामसीय जस सलिल सुधा सम'
९. लहरोंका विलास।	उपमाएँ-'उपमा बीचि बिलास मनोरम'।

मानस–सर

१०. पुरइन घनी जलपर फैली हैं । —'पुरइन०'

११. पुरइनके नीचे सरमें सीपियाँ हैं जिनसे उत्तम मणि उत्पन्न होते हैं ।

१२. यहाँ चार रंगके अनेक कमल—'सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा ।'

१३. कमलमें पराग, मकरंद, सुगंध—'सोइ पराग मकरंद सुबासा ।'

१४. यहाँ सुन्दर भ्रमर और हंस ।

१५. मानस-सरके जलके आश्रित तीन प्रकारके जलचर हैं—एककी तल्लीन संज्ञा है जो जलके बाहर जीते जी जा ही नहीं सकते; दूसरे तद्गत हैं जैसे मगर, घड़ियाल, कछुए आदि जो जलसे बाहर भी कुछ देर रह जाते हैं और तीसरे तदाश्रय जलपक्षी हैं ।

१६. सरके बाहर चारों ओर आमके बाग़ ।

१७. वसंत ऋतु ।

१८. बागमें आमके और और भी जामुन, कटहल इत्यादि वृक्ष हैं जिनपर बेलें छायी हैं ।

१९. वृक्षोंमें फूल, फल, रस ।

२०. वृक्षोंकी छायामें, या फूल फल रसका आनन्द लेने, पक्षी आते हैं ।

२१. अमराईके बाद चारों ओर क्रमसे फुलवारी, बाग़ और वन हैं जिनमें पक्षियों का विहार होता है । माली घड़ेमें जल लेकर सींचता है ।

२२. सरमें पहरा चतुर रक्षकोंका ।

रामचरितमानस

यहाँ चौपाइयाँ हैं जिनके अभ्यन्तर श्रीरामसुयश-जल छिपा है ।—'सघन चारु चौपाई'

यहाँ रामचरित-मानसमें चौपाइयोंके अभ्यन्तर काव्यकी युक्तियाँ हैं जिनमें बड़े मोलकी चमत्कारियाँ हैं ।—[देखिऐ ३७ (४)]—'जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई'

यहाँ सुन्दर छन्द, सोरठे, दोहे-'छंद सोरठा सुंदर दोहा' ।

यहाँ छन्दादिमें अनुपम अर्थ, अनेक भाव और सुन्दर सब देशोंकी भाषा 'अर्थ अनूप सुभाव सुभासा' ।

यहाँ सुकृती और सुकृत-समूह और ज्ञान-विराग विचार

यहाँ—'धुनि अवरेब कवित गुन जाती' ही 'मीन मनोहर' बहुत भाँतिकी हैं; अर्थ धर्म कामादिक चारी । कहब ज्ञान विज्ञान विचारी ।। नवरस जप तप जोग बिरागा' ये तद्गत जलचर हैं और 'सुकृती-साधु-नाम-गुनगाना' तदाश्रय हैं । [देखिये ३७ (८—११)] ।

रामचरितमानसके चारों ओर संतसभा ।

श्रद्धा ।

सन्तसभामें भक्तिका अनेक प्रकारसे निरूपण होता है, जिसके आश्रित क्षमा-दया रहते हैं ।

यहाँ भक्तिमें शम, यम, नियम फूल हैं । इनसे जो ज्ञान प्राप्त होता है वह फल है, हरिपदमें प्रेम होना रस है ।

यहाँ रामचरितमानसमें संतसभामें अनेक कथाएँ और कथाओंके प्रसङ्ग आते हैं ।

संतसभामें रोमाञ्च है । (देखिये ३७) । रोम... से सुख प्राप्त होना पक्षियोंका विहार है, सुन्दर म... माली है, स्नेह जल है, नेत्र घट हैं । पुलक फू... रखनेको निर्मल मन चाहिये, प्रेम चाहिये सो प... दिखाये हैं ।

यहाँ रामचरितमानसको सँभालकर गाना ।

मानस-सर	रामचरित-मानस
२३. इसके अधिकारी देवता हैं।	इसके अधिकारी सभी स्त्री-पुरुष हैं जो इसे सादर सुनते हैं।
२४. यहाँ घोंघा, मेढक, सिवार नहीं होते, इसीसे कौए-बगुले नहीं जाते।	विषयकी रसीली कथाएँ इसमें नहीं हैं, इससे अत्यन्त खल और विषयी लोग कथाके पास नहीं फटकते।

सरमें पहुँचनेके लिये मार्गमें अनेक कठिनाइयाँ और विपत्ति हैं अब उनको बताते हैं।—३८ (७-१४)

२५. (१) कँकरीले, पथरीले, काँटेदार कठिन भयङ्कर मार्गमें बाघ, सिंह, सर्प।	(१) दुष्टोंका सङ्ग, कुसङ्ग और उसमें कुसङ्गियोंके टेढ़े वचन।
(२) बड़े ऊँचे पर्वत।	(२) गृह-कार्य और अनेक झगड़े।
(३) घोर गहन वन और नदियाँ।	(३) मोह, मद, मान और अनेक दुष्ट तर्क।
२६. जिनके पास राहखर्च नहीं, जिनका मानस-तीर्थमें प्रेम नहीं और जिनको यात्री-संतोका साथ नहीं प्राप्त है और न मानस-तीर्थ-स्नान-जन्य पुण्यमें प्रीति है, उनको यह अत्यंत कठिन है।	यहाँ जिनको श्रद्धा नहीं, श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें जिनका प्रेम नहीं और न सत्सङ्ग ही जिनको नसीब हुआ उनको यह कथा अत्यन्त कठिन है।
२७. जो कठिनता झेलकर पहुँच भी जायँ तो वहाँ जाड़ा देकर ज्वर आ जाता है। हृदयतक जाड़ेसे काँप उठता है इससे वह स्नान नहीं कर पाता।	यहाँ जातेही नींद आ जाती है, क्योंकि इसके हृदयमें तो मूर्खता भरी है, इससे वह रामयश सुनता-समझता ही नहीं। नींद तुरत आनेसे कथा कुछभी न सुन सका।
२८. तीर्थ-स्नान न होनेसे भीतर बाहरका मैल बनाही रहा। लौटनेपर जो कोई तीर्थका हाल पूछने आया तो तीर्थकी निन्दा करता है।	कथा सुनता तो अभिमान दूर होता। न सुना इससे अभिमान बना रहा। यहाँ कथा और वक्ताकी निन्दा करके पूछनेवालेकी श्रद्धाको बुझा देता है।

इसमें कौन स्नान करते हैं अब उनका वर्णन करते हैं। ३९ (५-८)

२९. "सकल बिघ्न ब्यापहिं नहिं तेही। राम सुकृपा बिलोकहिं जेही॥
सोइ सादर सर मज्जन करई। महाघोर त्रयताप न जरई॥"

३०. "ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्हके रामचरन भल भाऊ॥"

३१. "जो नहाइ चह एहिं सर भाई। सो सतसंग करौ मन लाई॥"

अर्थात् श्रद्धा, श्रीरामपद-प्रेम या सत्सङ्ग जिनमें हो।

'मानस-सर' का 'पंपा-सर' से मिलान

मानस-सर		पंपा-सर
रामचरितमानस एहि नामा	१	पंपा नाम सुभग गंभीरा
भरेउ सुमानस सुथल थिराना	२	संत हृदय जस निर्मल बारी
ते एहि पावन सुभग सर घाट मनोहर चारि	३	बाँधे घाट मनोहर चारी
रघुपति महिमा अगुन अबाधा । बरनब सोइ बर बारि अगाधा ॥	४	अति अगाध जल माहिं
पुरइनि सघन चारु चौपाई	५	पुरइनि सघन ओट जल
ज्ञान नयन निरखत मन माना	६	देखि राम अति रुचिर तलावा ।···परमसुखपावा
छंद सोरठा सुंदर दोहा । सोइ बहु रंग कमल कुल सोहा ॥	७	बिकसे सरसिज नाना रंगा
सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला ।	८	मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा
ज्ञान बिराग बिचार मराला ॥	९	बोलत जल कुक्कुट कलहंसा
धुनि अवरेब कबित गुन जाती । मीन मनोहर ते बहु भाँती ॥	१०	सुखी मीन सब एक रस अति अगाध जल माँहि
सुकृती साधु नाम गुन गाना । ते बिचित्रजल बिहंग समाना ॥	११	सुंदर खगगन गिरा सोहाई । जात पथिक० ॥
सदा सुनहिं सादर नरनारी । तेइ सुरबर मानस अधिकारी ॥	१२	ताल समीप मुनिन्ह गृह छाये —
संत सभा चहुँ दिसि अँबराई ।	१३	चंपक बकुल कदंब तमाला । पाटल पनस परास रसाला ॥
सम जम नियम फूल फल ज्ञाना ॥	१४	नव पल्लव कुसुमित तरु नाना···फल भारन
अउरउ कथा अनेक प्रसंगा । तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा ॥	१५	कुहूकुहू कोकिल धुनि करहीं । सुनि रव०
पुलक बाटिका बाग बन सुख सुबिहंग०	१६	चहुँदिसि कानन बिटप सुहाये ।
कलि खल अघ अवगुन कथन ते जल मल बक काग	१७	चक्रवाक बक खग समुदाई । देखत बने०

अस मानस मानस-चख चाही । भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही ॥ ९ ॥

शब्दार्थ—कवि-बुद्धि = वह बुद्धि जो उस (रामयश) को प्रबन्धरूपमें लानेको उद्यत है। (मा० त० वि०) चाही = देखकर; यथा—'सीय चकित चित रामहिं चाहा'। मानस-चख = हृदयके नेत्र = ज्ञानदृष्टि।

अर्थ—ऐसे मानसको हृदयके नेत्रोंसे देखकर कविकी बुद्धि उसमें गोता लगाकर निर्मल हो गयी* ॥९॥

नोट—१ (क) 'अस मानस' इति। यहाँ मानसका स्वरूप सम्पुट किया। 'जस मानस जेहि बिधि भयेउ' उपक्रम है और 'अस मानस' उपसंहार है। अस मानस = ऐसा मानस अर्थात् जैसा ऊपर 'जस मानस जेहि बिधि भयेउ···। ३५।' से ३९ (८), वा 'जे श्रद्धा संबल रहित···' ३८ तक [मा० प्र० के मतानुसार 'सुठि सुंदर संबाद···। ३६।' से "जे गावहिं यह चरित सँभारे।···३८। १।' तक] कह आये। यहाँ मानस शब्द दो बार भिन्न-भिन्न अर्थोंमें आया है। यहाँ यमक और अनुप्रास दोनोंकी संसृष्टि है। (ख) जो बुद्धि

---

* अर्थान्तर—१ 'देखनेसे बुद्धि कवि हो गयी (अर्थात् कविता करने योग्य हुई, जो रूप देखा है, उसकी वक्ता हो गयी) और उसमें गोता लगानेसे बुद्धि निर्मल हुई।' (पां०, रा० प्र०)।

२—सुधाकर द्विवेदीजी 'चष' का अर्थ 'प्याला' करते हैं। वे लिखते हैं कि "संस्कृतमें चष या चषक प्यालेको कहते हैं जिसमें किसी रसको रखकर पीते हैं। हृदयरूप पात्रहीमें रखनेसे इस मानसका सीयरामयश अमृतरस नहीं बिगड़ता, दूसरे पात्रमें रखनेसे बिगड़ जाता है। ऐसे पात्रमें रखकर रस पीनेसे और रसमें अवगाहन अर्थात् स्नान करनेसे कविकी बुद्धि विमल हुई।'

पहले 'अति नीचि' होनेसे कदराती थी वह शंभुप्रसादसे 'हुलसी' और सुमति हुई। फिर जब उसने मानसको देखा और उसमें गोता लगाया तब वह निर्मल हो गई। (मा० प्र०)। (ग) श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि जो बुद्धि अब गोता लगाकर निर्मल हुई है वह 'शक्ति-व्युत्पत्ति-अभ्यासमय कविकी बुद्धि है जो काव्यकी कारण है।' ग्रन्थकारने पहले मेधा नाम महिका निरूपण किया, वह बुद्धिस्थ पदार्थको धारण करनेवाली है। पुनः सुमतिमानसके अन्तरकी भूमिका निरूपण किया जो रामतत्त्वको निर्णय वा निरूपण करनेवाली है। अब वही बुद्धि गोता मारकर विमल हो गयी, वही अब रामगुणगानमें प्रवृत्त हुई है।

त्रिपाठीजीः—मनमें ही यह मानसतीर्थ साधुघनकी वर्षासे महात्माओंके कथाश्रवणसे बना।....जिस भाँति मानसरोवरके दृश्योंकी पर्य्यालोचना स्थूलनेत्रोंसे की जाती है, उसी भाँति इस रामचरितमानसकी पर्य्यालोचना कविने मानसचक्षुसे की। भावार्थ यह कि पहले भली भाँति गुरुमुख तथा साधुमुखसे श्रवण किया, तत्पश्चात् आद्योपान्त मनन किया। मनन करनेसे ही यह सर साङ्गोपाङ्ग सुन्दर तथा उपयोगी हो गया। मनन निदिध्यासनही नहीं किन्तु विद्याको उपयुक्त करनेके लिये प्रवचन भी किया। तत्पश्चात् कविकी बुद्धिने उस सरमें स्नान भी किया। भाव कि श्रवण-मननके बाद निदिध्यासनभी किया। मनन करते ही बुद्धि समाहित हो गई। समाधिमें ही डूबाडूबकी अवस्था होती है। उस अवस्थाको यहाँ 'अवगाहि' कह कर अभिहित किया है। मनकी धारणासेही ध्यान और समाधि होती है। जबतक समाहितावस्था न आई तब तक बुद्धिमें रज और तमका अनुवेध बनाही रहा। सात्विकी बुद्धिभी पूर्ण निर्मल समाधिसेही होती है। कथाके प्रारम्भमें वक्ताके समाहित होनेका विधान है, यथा—'हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए।' जब समाधिमें बुद्धि निर्मल हो जाती है तो देशकालका आवरण दूर हो जाता है और प्रज्ञालोकसे जीते जागते चरित्रका हृदयमें प्रादुर्भाव होता है।

टिप्पणी—दोहा ३८ में 'जे गावहिं यह चरित संभारे' से 'रामकृपा बिनु....' तक 'यह' 'एहि' 'इहाँ' 'आवत' इत्यादि पद दिये। दोहा ३९ में 'जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई' से 'जौं बहोरि कोउ पूछन आवा' तक 'जाइ' 'जातहि' 'गएहुँ' इत्यादि पद दिये, और फिर 'ते नर यह सर तजहिं न काऊ' से 'यह' 'अस' पद दिये हैं। इसका क्या भाव है?' उत्तर यह है कि—(क) दोहा ३८ (१-६) में तड़ाग और तड़ागके समीपका वर्णन किया है, इसीसे वहाँ समीपवाची शब्द 'यह' 'एहि' इत्यादि दिये। दोहा ३९ (१-४) में तड़ागसे दूरका वर्णन किया, इससे वहाँ दूरवाची पद 'जाइ' 'गयेहूँ' इत्यादि दिये। अब फिर समीपवाची पद देते हैं। इसके तीन हेतु हैं—रामपदप्रीति, ज्ञाननयन और सत्संग इन तीनोंके होनेसे रामचरित समीप हो जाता है; यथा—'ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिन्ह के रामचरन भल भाऊ।', 'जो नहाइ चह एहि सर भाई। सो सत्संग करउ मन लाई॥', 'अस मानस मानस-चष चाही'। अथवा, (ख) दूरका वर्णन करके कविकी बुद्धि पुनः सरके समीप गयी, इससे पुनः समीपवाची शब्द दिये। (ग) [यह मानस श्रीगोस्वामीजीके हृदयमें है, अतः यात्रियोंके लिये 'आवत' शब्दका प्रयोग करते हैं, 'जात' नहीं कहते। (वि० त्रि०)]

नोट—२ इस चौपाईसे कवितासरयूका रूपक चला है। रूपकके लिये श्रीसरयूजीके जन्मकी कथा जान लेना आवश्यक है जो इस प्रकार है—

(१) आनन्दरामायणके यात्राकाण्ड सर्ग ४ में श्रीसरयूअवतारकी कथा इस प्रकार है कि रघुनाथजी मुद्गलऋषिके पुराने आश्रमपर पहुँचे तब मालूम हुआ कि वे इस आश्रमको छोड़कर दूसरे स्थानपर रहते हैं। मुद्गलजीके दर्शन होनेपर श्रीरामजीने इस आश्रमके त्यागका कारण विस्तार से पूछा—'त्वयायमाश्रमस्त्यक्तः किमर्थं मुनिसत्तम। तत्त्वं वद महाभाग यथावच्च सविस्तरम्॥६४॥' उसके उत्तर में कारण वे बताते हैं कि—'सान्निध्यं नात्र गङ्गायाः सरय्वा अपि नात्र वै। इति मत्वा मया त्यक्तश्चाश्रमोऽयं महत्तमः॥६८॥ अत्र सिद्धि

गताः पूर्वं शतशोऽथ सहस्रशः। मुनीश्वरा मयाप्यत्र तपस्तप्तं कियद्दिनम् ॥ ६९ ॥' अर्थात् गंगा-सरयूका संग प्राप्त करनेके लिये इस आश्रमको छोड़कर दूसरी जगह चला गया जहाँ दोनों प्राप्त हैं। फिर रघुनाथजीने पूछा कि यदि दोनों यहाँ प्राप्त हो जायँ तो इस आश्रममें आप निवास करेंगे? उनके इस बातके अङ्गीकार करनेपर रघुनाथजीने और भी प्रश्न किये और यहभी पूछा कि सरयूजी क्यों श्रेष्ठ हैं और क्यों धरातलपर प्राप्त हुईं? 'किमर्थं सरयूः श्रेष्ठा कुतः प्राप्ता धरातलम् ॥ ७४ ॥' ऋषिका उत्तर इस प्रकार है कि जब शंखासुर वेदोंको चुरा ले गया और आपने मत्स्यरूप धरकर उसे मारकर वेदोंको ला दिया और फिर अपना पूर्वरूप हर्षपूर्वक धारण किया उस समय हर्षके कारण आपके नेत्रमें अश्रुबूँद निकल पड़ा—'तदा हर्षेण नेत्रान्ते पतिताश्चाश्रुबिन्दवः। हिमालये ततो जाता नदी पुण्या शुभोदका ॥ ७९ ॥ साक्षान्नारायणस्यैव आनन्दाश्रुसमुद्भवा। शनैर्बिन्दुसरः प्राप तस्माच्च मानसं ययौ ॥ ८० ॥ एतस्मिन्नन्तरे राम पूर्वजस्ते महत्तमः। वैवस्वतो मनुर्यष्टुमुद्युक्तो गुरुमब्रवीत् ॥ ८१ ॥ अनादिसिद्धायोध्येयं विशेषेणापि वै मया। रचिता निजवासार्थमत्र यज्ञं करोम्यहम् ॥ ८२ ॥' उन अश्रुओंसे हिमालयमें एक प्रेमनदी उत्पन्न हुई और मानससरोवरमें वे प्रेमबिन्दु प्राप्त हुए। उसी समय वैवस्वत मनुजीने एक यज्ञ करना चाहा और गुरुसे आज्ञा माँगी। गुरुने कहा कि यदि यहाँ यज्ञकी इच्छा है तो परमपावनी सरयूजीको मानससे यहाँ ले आओ। यह सुनकर उन्होंने प्रत्यञ्चा चढ़ा बाण चलाया जो मानस-सरको बेधकर श्रीअयोध्याजी में ले आया। आगे-आगे बाण पीछे-पीछे सरयूजी आयीं इसीसे शरयू नाम हुआ वा सरोवरसे आयीं इससे सरयू नाम पड़ा।

(२) सत्योपाख्यान पू० अध्याय ३७ में कथा इस प्रकार है कि राजा दशरथजीने सरयू-अष्टक बनाकर श्रीसरयूजीकी स्तुति की जिसे सुनकर उन्होंने प्रकट होकर श्रीदशरथ महाराजको पुत्रोंसहित दर्शन दिया। फिर श्रीरामचन्द्रजीको गोदमें बिठाकर आशीर्वाद दिया और राजासे बोलीं कि हमारे वचन सुनो। ये बालक ब्रह्माण्डभरके इष्ट और प्रिय मेरे कोखमें सदैव विराजमान रहते हैं—'इमे च बालका इष्टाः सर्वेषामण्डगोलके ॥ बसन्ति मम कुक्षौ हि पश्यतां ज्ञानचक्षुषा। १५-१६ ।', ये ज्ञाननेत्रसे देखे जा सकते हैं, ऐसा कहकर अपने कुक्षिमें श्रीरामचन्द्रजीको दिखाया। राजा देखकर बड़े आश्चर्यको प्राप्त हुए और प्रणाम करके कहा कि मैं आपके मुखारविन्दसे आपकी उत्पत्ति सुनना चाहता हूँ। (हमें यों मालूम है कि) स्वायम्भुव मनुके समय वसिष्ठजी आपको लाये। उसी समयसे हमारे पुत्रोंको आप उदरमें धारण किए हैं और वासिष्ठी कहलाती हैं।

श्रीसरयूजीने अपनी उत्पत्ति कही जो श्लोक २१ से ४१ तकमें इस प्रकार है—'सृष्टिके आदिमें जब ब्रह्माजी पद्मनाभ भगवान्‌से उत्पन्न हुए, तब उनको तपकी आज्ञा हुई। ब्रह्माजीने दिव्य हजार वर्ष तक कुम्भकको चढ़ाकर भगवदाराधन किया। अपनी आज्ञामें वर्तमान देख कमलापति भगवान् वहाँ आये। इनको भक्तिमें तत्पर देख उनके नेत्रोंसे करुणाजल निकल चला--'तं तदा तादृशं दृष्ट्वा निजभक्तिपरायणम्। कृपया सम्परीतस्तु नेत्राज्जलं मुमोच ह ॥ २५ ॥' ब्रह्माजीने नेत्र खोल भगवान् लोकनाथ जगत्पतिको देखकर दण्डवत् प्रणाम किया। और उस दिव्य जलको हाथमें ले लिया—'पतितं विष्णुनेत्राच्च जलं जग्राह पाणिना। कमण्डलौ स्थापयामास प्रेम्णा तत्र पितामहः ॥' फिर बड़े प्रेमसे उसे कमण्डलुमें रख लिया। भगवान्‌के अन्तर्धान होनेपर ब्रह्माजीने यह बिचारकर कि यह ब्रह्मद्रव साक्षात् ब्रह्मरूप अप्राकृत जल है इसे स्थापित करनेको मनसे एक मानस-सर रचा और उसमें इस ब्रह्मद्रवको स्थापित किया,—'ब्रह्मापि तज्जलं ज्ञात्वा ब्रह्मद्रावमिदं शुभम् ॥ ३० ॥ मनसा रचयामास मानसं सर एव सः। जले तु सरसस्तस्मिंश्चक्रे न्यासं च पद्मजः ॥ ३१ ॥' बहुत काल बीतनेपर तुम्हारे पूर्वज इक्ष्वाकु राजाकी प्रार्थनासे वसिष्ठजी मानस-सरपर गये और मञ्जुकेशि ऋषि (जो इस जलकी रक्षाके लिये नियुक्त किये गये थे) की स्तुति की। ऋषिने प्रसन्न होकर कहा कि वर माँगो। तब उन्होंने नदी माँगी—'वव्रे मुनिर्नदीं तस्मात्तेन दत्तं न नेत्रजम्। जलं यन्मानसे न्यस्तं ब्रह्मणा ब्रह्मयोनिना ॥ ३५ ॥' ऋषिने ले आनेकी

रखा था, तब उस सरसे हम नदीरूप होकर निकलीं। वसिष्ठजी आगे-आगे अयोध्यामें आकर प्राप्त हुए और हम उनके पीछे-पीछे।—'नदीरूपेण साहं वै सरसस्तु विनिर्गता। प्रापायोध्यां वसिष्ठस्तु पश्चादहं तु तस्य वै ॥३६॥'

यह उत्पत्तिकी कथा कहकर फिर उन्होंने इसका कारण बताया कि 'श्रीरामचन्द्रजीको क्यों सदैव उदरमें धारण किये रहती हूँ।—'विष्णुनेत्रमुत्पन्ना विष्णुं कुक्षौ विभर्म्यहम्। ये ध्यायन्ति सदा रामं मम कुक्षिगतं नराः॥ तेषां भक्तिश्च मुक्तिश्च भविष्यति न संशयः। रामं विद्धि परं ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम् ॥ भक्तानां रक्षणार्थाय दुष्टानां हि वधाय च। जातस्तव गृहे राजन् तपसा तोषितस्त्वया॥३७-३९॥' हम इनके नेत्रसे उत्पन्न हुई हैं, इसलिये हम इन्हें अपने कुक्षिमें धारण किये हैं। जो सदा इन रामजीके ध्यान करनेवाले हैं उनको भक्ति-मुक्ति मिलती है। ये पूर्णब्रह्म सच्चिदानन्द हैं, तुम्हारे तपसे प्रसन्न हो तुम्हारे यहाँ प्रकट हुए हैं।'

प्रायः इस कथाके आधारपर टीकाकारोंने कवितासरयूके रूपकको विस्तृतरूपसे लिखा है।

(क) वैजनाथजी लिखते हैं कि शिवजी ब्रह्मा हैं, हरि-करुणानेत्रसे चरित-जल प्राप्त करके अपने मन-मानसमें रक्खे रहे, कविका मन इक्ष्वाकु है, मनोरथ वसिष्ठ हैं जो काव्यरूप सरयूको संतसमाजरूपी अयोध्या-को लाये। मानससे सरयूजी नदीरूप होकर निकलीं, इसी तरह हृदय-मानसमें जो रामयश-जल भरा था वह कवितारूपी नदी होकर निकला जिसका नाम 'कीर्ति-सरयू' हुआ।

(ख) संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि "शिवजीकी कृपादृष्टिसे पतन होकर, मेरे (गोस्वामी-जीके) प्रबन्धारम्भसंकल्परूप कमण्डलमें सम्प्राप्त हैं। कवि-बुद्धि जो रामयशजलको प्रबन्धकी रीतिमें लानेको उद्यत है वही ब्रह्मा है। बुद्धि-ब्रह्माने मानसमें प्रथम स्नान किया—'ब्रह्मापि तज्जलं स्नात्वा ब्रह्मद्रावमिदं शुभम्।' मनन-निदिध्यासन कवि-बुद्धिका स्नान करना है, गोता लगाना चित्तकी समस्त वृत्तियोंका उसमें लय होना है, जिसमें केवल मानस-रामायणके तत्वकथनमात्र संस्कारका ग्रहण शेष रह जाता है।"

(ग) मयङ्ककार कहते हैं कि 'जिस प्रकार मानससरमें वसिष्ठजीने स्नान किया और निकलकर चले तब उनके पीछे सरयू नदी चली, वैसेही गोस्वामीजीकी बुद्धि मानसको बारंबार थाह करके अर्थात् विचार तथा मनन करके निकली और चली, उसके पीछे यह रामकथास्रोतरूपी सरयू उक्त मानससरसे प्रकट होकर चली।'

(घ) श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि "मानससरके अधिष्ठाता शिवजीने वशिष्ठजीसे कहा कि आप प्रथम मानससरमें स्नान करें। फिर जिस घाटसे निकलियेगा उसी ओरसे श्रीसरयूनाम्नी नदी चलेगी। वैसेही हुआ। वसिष्ठजी स्नान करके दक्षिण घाटसे निकले तब मानससरसे उनके पीछे लगी हुई सरयू चलीं जो अयोध्या होते हुए छपराके पूरब गंगामें मिली हैं।"—(यह कथा किस ग्रन्थमें है यह उन्होंने नहीं लिखा। सत्योपाख्यान अ० ३७ में तो ऐसा है नहीं और इसी ग्रंथका उन्होंने नाम दिया है।)। इसीके आधारपर यह भाव कहते हैं कि "गोस्वामीजीके मनमें जो गुरुद्वारा प्राप्त शंकररचित मानस था उस मनरूपी मानसमें बुद्धिरूपी वसिष्ठने अवगाहन किया तब पवित्र होकर निकली। उसके पीछे पीछे काव्यरूपी सरयू प्रकट हुई और भक्तिरूपी गंगामें शोभित हुई।"

भयउ हृदयं आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥ १०॥
चली सुभग कबिता सरिता सो*। राम बिमलजस जल भरितासो*॥ ११॥

---

* नागरीप्रचारिणी सभाकी प्रतिका पाठ 'सी' है। काशिराज, पं० रामकुमारजी, मा० त० वि०, व्यासजी, और १६६१ की पोथीका पाठ 'सो' है। दोनों पाठोंका अर्थ एक ही है। सो = वह। सो=समान। सी=समान। १७२१, १७६२, छ०, १७०४ मेंभी 'सो' है। को० रा० में 'सी' है।

अर्थ—हृदयमें आनन्द और उत्साह भर गया, (जिससे) प्रेम और आह्लादका प्रवाह उमड़ आया।१०। और कवितारूपी सुन्दर नदी हो वह निकली कि जिसमें (वही) निर्मल रामयश जल भरा हुआ है।११।❀

नोट—१ (क) 'भइ कवि बुद्धि बिमल अवगाही। ३६। ८।' में और यहाँ 'भयउ हृदय आनंद उछाहू' में स्नानके गुण दिखाये कि बुद्धि निर्मल हुई और हृदयमें आनन्द और उत्साह हुआ। (ख) जैसे यहाँ कविके हृदयमें 'प्रेम प्रमोद' उमगा और प्रवाह चला वैसेही श्रीशिवजी और श्रीभुशुण्डिजीके प्रसंगोंमें भी प्रेम-प्रमोद और प्रवाहका वर्णन है। यथा—"हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥ श्रीरघुनाथरूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥ मगन ध्यानरस दंड जुग"''।१११।" यह प्रेम प्रमोद हुआ। 'रघुपति-चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह। १११।' यह प्रवाह है। इसी तरह "भयउ तासु मन परम उछाहा" यह प्रेमप्रमोद है और 'लाग कहै रघुपति गुनगाहा। ७। ६४।', यह प्रवाह है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्यजीके प्रसंगमें—'सुनु मुनि आज समागम तोरें। कहि न जाइ जस सुख मन मोरें। १। १०५। २।' यह प्रेमप्रमोद है और 'रामचरित अति अमित मुनीसा।' से 'बरनउँ बिसद तासु गुन गाथा॥" तक प्रवाह है। (ग) ☞ यहाँसे सरयू और कविता वा कीर्ति-सरयूका अभेद-रूपकालङ्कारमें वर्णन है। (घ) यहाँ गोघाट पशु पंगु अन्धादिके सुभीतेके लिये ढालुआ बना है, अतः इधरसे ही सीयरामयशरूपी जल उमगकर बाहर चला। (वि० त्रि०)।

२ 'जस मानस जेहि बिधि भयउ जग प्रचार जेहि हेतु' में जगत्‌में प्रचारका हेतु जो बतानेको कहा था वह यहाँ बताया कि उत्साह-आनन्द इतना बढ़ा कि प्रवाहरूप हो निकल पड़ा अर्थात् यह कविता आपके प्रेम-प्रमोदहीकी मूर्ति है। मिलान कीजिये—"यत्र सा सरयू नित्या प्रेम-बारि-प्रवाहिनी। यस्या अंशेनसम्भूता विरजाद्या सरिद्वराः॥" (वसिष्ठ सं०) अर्थात् जहाँपर वह प्रेमरूपी जल बहनेवाली नित्या सरयू हैं कि जिनके अंशसे विरजा आदि श्रेष्ठ नदियाँ उत्पन्न हुई हैं।

सूर्यप्रसादमिश्रजीः—स्नान करनेसे आलस्य छूट जाता है और उत्साह आही जाता है; इसी लिये ग्रन्थकारने लिखा 'भयउ हृदय आनंद उछाहू।' यहाँ उछाहका अर्थ 'काव्य करनेकी शक्ति' समझना चाहिये। अब पाठकोंको ध्यान देकर सोचना चाहिये कि अन्तःकरणसे आनन्दकी धारा, बुद्धिसे उत्साहकी धारा और मनसे प्रेमकी धारा, तीनों ओरसे धारा उमगकर मानसकी ओर चली पर वह मानसमें समा न सकी तब वृहद्रूपसे उमड़ती हुई अन्तःकरणका जो चतुर्थ भाग काव्य करनेवाली शक्ति है उसीपर होकर बहने लगी। यह अर्थ 'प्रेम प्रमोद प्रवाहू' से व्यञ्जित होता है।

टिप्पणी १—'भयउ हृदयं आनंद उछाहू'''चली सुभग कविता-सरिता सो' में रामचरितमानससरयूकी उत्पत्ति कही। जन्मस्थान बताकर 'सरयू नाम०' में नामकरण सूचित किया। सरजू=सरसे जो उत्पन्न हुई। सरयू मानस-सर (=मानसरोवर) से निकलीं, कविता हृदयसे निकली, हृदय और मानस (=मन) एक ही हैं। दोनोंही 'सुमानस-नंदिनी' हैं।

२ 'जो नदियाँ मानससे उत्पन्न हैं, पहाड़को उनका मूल कहनेका कोई प्रयोजन नहीं, इसलिये यहाँ पहाड़को नहीं कहा। करुणानदी मानस (मन) से उत्पन्न होती है। जैसे करुणानदीके प्रसङ्गमें कविने पहाड़का वर्णन नहीं किया है, यथा—'सेन मनहुँ करुनासरित लिये जाहिं रघुनाथ। अ० २७५।', वैसेही यहाँ भी नहीं कहा।'

❀ (१) श्रीसुधाकरद्विवेदीजी इस प्रकार अर्थ लिखते हैं—"हृदयमें आनन्द उत्साहके साथ वह (सीयरामयशसुधा) रस बढ़ा, फिर भगवत्प्रेमके संयोगसे ऐसा बढ़ गया कि वहाँसे उमगकर एक प्रमोदकी धारा निकली जिससे कवितारूप नदी उत्पन्न हुई।" (२) श्रीनंगे परमहंसजी यह अर्थ करते हैं—"सुन्दर कविता सरिता ऐसी रामजीके विमल यशरूप जल तिससे भरि के चली।"

वि० त्रि०—"चली सुभग कविता सरिता" इति । प्रेमप्रमोदका प्रवाहही कवितारूप होगया, अतः 'सुभग' कहा । 'सुभग' से 'सरल' अभिप्रेत है जिसे सुनकर वैरीभी वैर भुलाकर सराहने लगते हैं । 'सरिता चली' कहनेका भाव कि जैसे नदी आपसे आप वह चलती है, वैसेही कविताका प्रवाह चला, लिखना कठिन हो गया। यह मधुमती भूमिकाका वर्णन हो रहा है, जहाँ पहुँचनेपर भारतादि काव्योंकी रचना सरलसी बात हो जाती है। इसे फिर गणेशजीमे लेखककी आवश्यकता आ पड़ती है, जो बोलनेके साथही लिखता चला जाय। यह सोचनेकी आवश्यकता नहीं कि कहां ध्वनि रखना चाहिए, कहाँ अलंकार रखना चाहिए। नदी जान बूझकर लहर, भँवर आदि नहीं उठाती, वे आपही उठते रहते हैं ।

प्रश्न—यह कविता किस रामसुयशकी है—जो गुरुसे सुना था या जो साधुओंने वरसाया था ?

उत्तर—मानसमें वर्षा होनेके पहलेभी जल भरा था। जब वर्षाका जल उसमें आ मिला तब जो जल पहलेसे उसमें था वह भी उमड़कर बह निकला । उसी तरह यहाँ हृदयमें श्रीगुरुमहाराजसे जो रामचरितमानस पूर्व सुना था सो भरा हुआ था, फिर और संतोंसे जो सुना वह भी हृदय में पहुँचा ।

प्रश्न—वर्षाजलसे जलमें मलिनता आजाती है, वह मलिनता यहाँ क्या है ?

उत्तर—गुरुसे सुने हुए और संतोंसे सुने हुएमें जहाँ-तहाँ व्यतिक्रम वा भेद जो जान पड़ा उससे मानस मलिन हुआ। यह भेद ही मलिनता है। जब उसमें डुब्बी लगायी अर्थात् दोनोंको मनन किया तो मानसका यथार्थ स्वरूप वही देख पड़ा जो गुरुसे सुना था, बुद्धि निर्मल हो गयी, आनन्द उत्साह इतना बढ़ा कि वही रामयश कवितारूपमें निकला। और भी ३६ (८) में देखिये । (मा० प्र०, पं०)

वि० टी०—गुरुसे सुनीहुई कथासे गोस्वामीजीका मानस कुछ भर गया था। संतोंसे जो कई प्रकारसे सुना यही मानो वर्षाका बहुतसा नवीन जल आकर भर गया और जब उन्होंने इसपर विशेष विचार किया तब उनका हृदय इस रामकथा- जलसे इतना परिपूर्ण हो गया कि वह रामायणरूपी-कविता-नदी द्वारा बह निकला। उत्तररामचरितमें लिखा है कि 'पूरोत्पीडे तडागस्य परिवाहः प्रतिक्रियाः' अर्थात् जलस्थान यदि पानीसे विशेष भर जाय तो उसे बहा देना ही उत्तम उपाय है । सारांश यह है कि शिक्षा और संतकथनको सुनकर विचारपूर्वक गोस्वामीजीने रामायण ग्रन्थका निर्माण किया ।

मा० त० वि०—'राम विमल जस जल भरिता सो' इति । (क) नदीको रामयशजलसे भरा हुआ कहा । कारण यह है कि सत्योपाख्यान अध्याय ३७ में वर्णन है कि सरयूजीने अपने उदरमें श्रीरामचन्द्रजीको विराजमान दिखलाया था।—वैसे ही रामयशरूप सच्चिदानन्दविग्रह इस कवितारूपिणी नदीमें प्राप्त है । अर्थात् शब्द-चित्र, अर्थ-चित्र, शब्दार्थ-चित्र जैसा कि भक्तमालके पाद-टिप्पणीमें 'रचि कविताई....' इस पदके स्पष्ट अर्थ करनेमें लिखा। ['रची कविताई' यह नाभाजीकृत भक्तमालका प्रियादासजीकृत भक्तिरसबोधिनीटीकाका कवित्त है ।]

वि० त्रि०—'रामविमल जस जल भरिता सो' कहकर इसे महाकाव्य कहा। महाकाव्यके विषयमें साहित्य-दर्पणकार लिखते हैं, कि—(१) महाकाव्यका नायक कोई देवता या सत्कुलोत्पन्न धीरोदात्त-गुणयुक्त क्षत्रिय होना चाहिये, † या बहुतसे सत्कुल प्रसूत राजा भी हो सकते हैं। (२) शृंगार, वीर और शान्त रसोंमेंसे एक अङ्गी और सब रसोंको अङ्गभूत होकर रहना चाहिये और नाटक की सब सन्धियाँ रहनी चाहिए। (३) इतिहासकी कोई कथा या किसी सज्जनका वृत्त होना चाहिए (४) उसमें अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों हों, पर फल सबका एकही हो । (५) आरम्भमें उसके वन्दना, आशीर्वाद या वस्तुनिर्देश रहे । (६) कहीं-कहीं

† श्रीरामचन्द्रजी देवाधिदेवभी हैं और भौतिक दृष्टिसे सत्कुलोत्पन्न क्षत्रिय भी हैं। ये धीरोदात्त नायक हैं। जो अविकत्थन, क्षमावान, अति गम्भीर महासत्व-निगूढ़मान और दृढ़व्रत हो उसे धीरोदात्त कहते हैं ।

खलोंकी निन्दा और सज्जनोंका गुणकीर्तन रहे । (७) उसमें ८ से अधिक सर्ग रहें जो न बहुत छोटे हों न बहुत बड़े और प्रत्येक सर्गमें एक वृत्तमय पद्य हो तथा समाप्ति उनकी अन्य वृत्तसे हो और सर्गान्तमें भावी सर्गकी कथाकी सूचना रहे । (८) उसमें संध्या, सूर्य्य, चन्द्र, प्रदोष, अँधेरा, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया, शैल, ऋतु, वन, सागर, सम्भोग, विप्रलम्भ, रण, प्रयाण, उपयम, मन्त्र, पुत्र (?) और उदयका साङ्गोपाङ्ग यथायोग्य वर्णन हो, और (९) सर्गका नाम, कविके वृत्त, नायकके वृत्त या सर्गके उपादेय कथाका सम्बन्धी होना चाहिए। साङ्गोपाङ्गसे जलकेलि मधुपानादिका ग्रहण है । ये सब लक्षण श्रीरामचरितमानसमें घटते हैं । ❀

वीरकविः—यहाँ कविताप्रवाहपर सरयूका आरोपकर उसकी परिपूर्णताके लिये रामयशमें जलका आरोपण करना 'परम्परितरूपक' है । उपमान सरयूका सर्वांग उपमेय कविता नदीपर आगे क्रमशः आरोप करनेमें 'साङ्गरूपकालङ्कार' है ।

सरजू नाम सुमंगल मूला । लोक-वेद-मत मंजुल कूला ॥ १२ ॥

अर्थ—(इस कवितारूपिणी नदीका) नाम सरयू है जो (समस्त) सुन्दर मङ्गलोंकी जड़ है । लोकमत और वेदमत इसके दोनों सुन्दर तट वा किनारे हैं ॥ १२ ॥

पं० रामकुमारजीः—१ (क) 'सुमंगलमूला'; यथा 'सरजू सरि कलि-कलुष-नसावनि ।१।१६।,' 'जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा । मम समीप नर पावहिं बासा ।७।४।' कलिके पापोंका नाश करने और श्रीरामसामीप्य प्राप्त कर देनेवाली होनेसे 'सुमंगलमूला' कहा । (ख) लोकमत वह है जहाँ लोकरीतिका वर्णन है; यथा, लोक रीति जननी करहिं बर दुलहिनि सकुचाहिं । १।३५०।', 'प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुरु नावहिं माथा । आयसु माँगि करहिं पुरकाजा । देखि चरित हरषइ मन राजा । १।२०५।', 'बंदि बिप्र सुर गुर पितु माता । पाइ असीस मुदित सब भ्राता । १ । ३५८ ।' इत्यादि । वेदमत वह है जहाँ प्रभुका ऐश्वर्य, परब्रह्म होना, ज्ञान, उपासना इत्यादि परमार्थकी बातें वर्णित हैं; यथा 'एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानंद परधामा ॥ ब्यापक बिस्वरूप भगवाना । १ । १३ ।', "जगत प्रकास्य प्रकासक रामू । मायाधीस ज्ञान-गुन-धामू ॥''' १ । ११७ ।', इत्यादि । गोस्वामीजीका काव्य लोक-वेदमय है । यथा—"करब साधुमत लोकमत नृपनय निगम निचोरि । २ । २५८ ।". "लोक वेद बुध संमत दोऊ । २ । २०७ । १ ।", "लोकहु बेद बिदित कबि कहहीं । २ । २५२ । ७ ।', 'लोकहु वेद सुसाहिब रीती । बिनय सुनत पहिचानत प्रीती । १ । २८ । ५ ।', 'करि लोक-वेद बिधानु कन्यादान नृपभूषन किये । १ । ३२४ ।', 'करि लोकरीति बेद-बिधि राऊ । १ । ३०२ ।', 'निगम नीति कुल रीति करि अरघ पाँवड़े देत ।''' १ । ३४९ ।' इत्यादि ।

२ लोकमत और वेदमत दोनोंको कविता-सरयूके सुन्दर किनारे कहे; इन दोनोंके भीतर यह नदी बहती है । अर्थात् रामचरितमानसमें दोनों मतोंका प्रतिपादन है, लौकिक और परमार्थिक दोनों व्यवहारोंका पूर्णतया निरूपण है । [इन दोनों मतोंका उल्लङ्घन उसमें नहीं है । यदि है भी तो राक्षसोंके अत्याचाररूपी अतिवृष्टिकी बाढ़ समझनी चाहिये । वि० टी०] ☞ किसीके मतानुसार लोकमत मञ्जुल नहीं है और कोई वेदमतका खंडन करते हैं । गोस्वामीजी दोनों मतोंको मञ्जुल कहते हैं, जिसका भाव यह है कि रामचरितने दोनों मतोंको

❀ (२) रघुवीरचरित होनेसे इसमें वीररस प्रधान है, शेष अंगभूत होकर आए हैं । नाटकमें पाँच संधियाँ होती हैं—मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निवर्हण । (३) महाभारत और वाल्मीकीय इतिहासोंमें श्रीरामकथा है ही । (४) 'सब कर फल हरि भगति भवानी' कहा ही है । (७) रामायणपरंपराका अनुसरण करते हुए कविने इसमें सातही कांड माने हैं । यह चौपाई छन्दोंमें कहा गया है । पर कांडकी समाप्ति छन्द, सोरठा, दोहा या श्लोकसे की गयी है । कांडके अंतमें भावी कांडका सूत्रपात भी है । (९) नायकके वृत्तके अनुसार बाल और उत्तरकांड नाम रक्खे गए । शेष कांडोंके नाम कथावृत्तके अनुसार हैं ।

'मकड़ुस' कर दिया है, इससे लोक और वेद दोनोंको बड़ाई मिली है। दोनों मतोंको लेते हुए रामचरित्र कहेंगे। लोकमत वेदमत दोनोंमें जल है।

नोट:—१ श्रीकबीरजीने लोकमत और वेदमतकाभी जहाँ-तहाँ खंडन किया है। श्रीनाभास्वामीजी उनके संबंधमें लिखते हैं कि "कबीर कानि राखी नहीं वर्णाश्रम षट्दर्शनी।" कबीरजी अपने 'राम' को 'सबसे न्यारा' कहते हैं। गोस्वामीजीने कर्म, ज्ञान, उपासना और दैन्य चार घाट बनाकर लोक और वेद दोनों मतोंका उल्लेख किया। जो जिस घाटकी वस्तु है वह उस घाटमें दिखाई गई, कर्मकांडका सिद्धान्त कर्मकांडघाटमें, उपासनाका उपासनाघाटमें, इत्यादि। इसीसे उनके कथन जहाँ जो हैं, वहाँ वे पूरे सत्य हैं; कोई विरोध नहीं है।

२—नदीके दो किनारोंमेंसे एक किनारे जल गहरा रहता है और दूसरे पर उथला, एक किनारा खड़ा और दूसरा प्रायः ढालू। नदीका बहाव (धारा) जिधर होता है वह किनारा गहरा होता है। यहाँ कविता-सरयू वेदमत-किनारे लगकर चलती है जहाँ श्रीरामयश-जल सदा गहरा रहता है। लोकमत-किनारा उथला किनारा है। वेदमतके उदाहरण; यथा—'करि आरति नेवछावरि करहीं। बार बार सिसु चरनन्हि परहीं। १।१९४।५।'; 'जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी॥ सो सुखधाम राम अस नामा। अखिल लोक दायक बिश्रामा। १।१९७।५-६।', 'जे मृग रामबान के मारे। ते तनु तजि सुरलोक सिधारे। १।२०५।', 'सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दये। १।३२१।'—(इसमें अन्तर्यामित्वगुण प्रगट होनेसे वह वेदमतही है), इत्यादि। लोकमत, यथा—'कौतुक बिनोद प्रमोदु प्रेमु न जाइ कहि जानहिं अलीं। १।३२७।', 'लोकरीति जननी करहिं बर-दुलहिनि सकुचाहिं। मोदु बिनोदु बिलोकि बड़ रामु मनहि मुसुकाहिं। १।३५०।', इत्यादि। ग्रंथभर दोनोंके प्रमाणोंसे ओत-प्रोत है। (मा० प्र०)। त्रिपाठीजीका मत है कि लोकमत दक्षिणकूल है और वेदमत वामकूल है।

नदी पुनीत सुमानस-नंदिनि। कलिमल त्रिन-तरुमूल-निकंदिनि॥ १३॥

अर्थ—यह सुमानस नन्दिनी (जो सुन्दर मानससे उत्पन्न हुई, सुमानसकी पुत्री) नदी पवित्र है और कलिके पापरूपी तिनकों और वृक्षोंको जड़से उखाड़ फेंकनेवाली है॥ १३॥

नोट—१ (क) श्रीसरयू मानससरसे निकलीं जिसमें भगवान्‌के नेत्रका जल भरा है। कवितासरयू कविके हृदयसे निकलीं* जिसमें श्रीरामसुयश-जल भरा है। इसीसे दोनोंको 'सु-मानस' की पुत्री कहा और दोनों इसीसे पुनीत भी कही गयीं। (पं० रा० कु०, मा० प्र०)। (ख) महाराज हरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'और नदियाँ पर्वत, भूमि, वृक्ष आदिसे निकली हैं और इनकी उत्पत्ति शिवजीके मानससे है, और नदियाँ जलसे भरी हैं और यह रामयशसे, इसीसे मानसनन्दिनीको सबसे पुनीत कहा। (ग) श्रीसरयूजीकी पुनीतताके संबंधमें गोस्वामीजी स्वयं कहते हैं—'नदी पुनीत अमित महिमा अति। कहि न सकै सारदा बिमल मति। १।३५।२।' (घ) 'नंदिनि' कहकर जनाया कि यह अपनी माता मानसतीर्थको आनंददायिनी है, क्योंकि इसके द्वारा उसका नामभी जगत्‌में विख्यात हुआ। बेटीमें कुछ गुण माताकेसे होते हैं और कुछ नहीं भी। मानस ६० मीलकी परिधिमें और कोई २६४ फीट गहरा है, पर सरयू कई प्रान्तोंमें फैली हुई हैं। और गहराई ४० फीटसे अधिक न होगी। अतः काव्यद्वारा जिस कथाका प्रचार संसारमें हुआ उसमें मूलकी अपेक्षा बहुत कम गहराई होना स्वाभाविकही है। (वि० त्रि०)।

टिप्पणी—१ 'कलिमल त्रिन…' इति। (क) कलिमल छोटे और बड़े दो प्रकारके हैं—पातक और उपपातक; यथा—'जे पातक उपपातक अहहीं। करम बचन मन भव कवि कहहीं। २।१६७।' पातक बड़े हैं और

* सू० प्र० मिश्र—यह मानसरामायण शिवमानससे निकला।

उपपातक छोटे। उपपातक तृण हैं, पातक तरु हैं। (ख) 'मूलनिकंदिनि' का भाव यह है कि पापका मूल मन, वचन और कर्म हैं। यह प्रथम मनको पवित्र करती है क्योंकि मानसनन्दिनी है, उत्पत्ति-स्थान इसका मन ही है, मनमें आते ही मन पवित्र हुआ। मनसे उमगकर वचनमें आयी तो वचन पवित्र हुआ, तब कर्म पवित्र हुए। इस तरह यह मन, वचन और कर्म तीनोंको पवित्र कर देती है। यथा—"मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई ॥ ७। १२६। ३।" अथवा, क्रोध और अभिमान इत्यादि पापके मूल हैं। प्रमाण यथा—'क्रुद्धः पापं न कुर्यात्कः क्रुद्धो हन्याद्गुरूनपि। क्रुद्ध परुषया वाचा नरः साधूनधिक्षिपेत् ।४।' (वाल्मी० ५।५५) अर्थात् (श्रीहनुमान्‌जी लंकादहनके पश्चात् सोच कर रहे हैं कि) क्रोधी पुरुष कौनसा पाप नहीं कर सकता है ? वह गुरुको भी मार सकता है तथा कठोर वाणी द्वारा महात्माओंका तिरस्कार भी कर सकता है। पुनः यथा 'लखन कहेउ हँसि सुनहु मुनि क्रोध पाप कर मूल। जेहि बस जन अनुचित करहिं चरहिं बिस्व प्रतिकूल ।१।२७७।', 'दया धर्म को मूल है पापमूल अभिमान।' इन सबोंका नाश करती है। यथा 'काम कोह कलिमल करिगन के। केहरिसावक जन-मन-बन के ।१।३२।७।'

२ (क) ये तृण और तरु कूलके हैं। यहाँ लोकमत और वेदमत दो कूल हैं। लोकमतसे जो पाप हैं और वेदमतसे जो पाप हैं दोनोंको यह नाश करती है। पुनः, [श्रीसरयूजी तो बुरे भले सभी वृक्षोंको उखाड़ डालती हैं, पर सुकीर्तिसरयू दुर्बुद्धि आदि कुत्सित वृक्षोंको ही उखाड़ती हैं, यह विशेषता है; इसीसे तो 'सुमानसनंदिनी' है। (ख) जब नदीके वेगसे किनारा फटकर गिरता है तब उसीके साथ भूमिमें प्रविष्ट वृक्षका मूल भी उखड़कर बह जाता है एवं पापका उत्पत्तिस्थान बुद्धि है, मानसरामायणके श्रवण-मनन-कीर्त्तनमें प्रवृत्त होनेपर जब पुलकांग होता है एवं पापबुद्धि समूल उखड़कर कथाप्रवाहरूपी वेगमें बह जाती है। कथाको नदीकी समता देनेका भाव कि नदीका प्रवाह और कथाकी वाणी दोनों प्राचीन कालसे चली आती हैं। पुनः जैसे नदी ऊँचेसे नीचेकी ओर जाती है वैसेही कथा भी बड़ोंके मुखसे निकलकर छोटोंको पवित्र करती हैं। पुनः, एक समुद्रमें, दूसरी ईश्वर (रामरूप समुद्र) में लीन होती है। इत्यादि। (वै०, सू० मिश्र)]

टिप्पणी—३ उत्तमता और अधमता चार प्रकारसे देखी जाती है। अर्थात् जन्म-स्थानसे, संगसे, स्वभावसे और तनसे। विभीषणजी जब शरणमें आये तब उन्होंने अपना अधम होना चारों प्रकारसे कहा है 'निसिचर बंस जनम सुरत्राता' से जन्म दूषित दिखाया, 'नाथ दसानन कर मैं भ्राता' से अधम रावणका सङ्ग-दोष कहा, 'सहज पाप प्रिय' से स्वभाव-दोष कहा और 'तामस देहा' कहकर तन की अधमता कही। इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने चन्द्रमाके प्रति चारों बातें कही हैं, यथा—"जनम सिंधु पुनि बंधु बिष, दिन मलीन सकलंकु। सिय-मुख समता पाव किमि चंदु बापुरो रंकु ॥ १।२३७। घटइ बढ़इ बिरहिनि-दुख-दाई। ग्रसइ राहु निज संधिहि पाई ॥ कोक सोकप्रद पंकज द्रोही।"—'जन्म सिंधु' (यह जन्म दोष); 'बंधु बिष' (यह संगदोष), 'दिन मलीन' और 'कोक सोकप्रद पंकज द्रोही' (यह स्वभाव दोष) और 'घटै बढ़ै···' (यह तनदोष है)।

☞ इसी तरह श्रीसरयूजीकी उत्तमता गोस्वामीजीने चारों प्रकारसे दिखायी है। 'सुमानसनंदिनि' से जन्म स्थानकी पवित्रता कही, 'नदी पुनीत' से तन पवित्र जनाया, 'राग-भगति सुरसरितहि जाई। मिली०' से उत्तम संग और 'सुकीरति-सरजु सुहाई' से स्वभावसे उत्तम दिखाया। दोहा ४० (५) भी देखिये।

दोहा—श्रोता त्रिबिध समाज पुर ग्राम नगर दुहुँ कूल।
संत-सभा अनुपम अवध सकल सुमंगल मूल ॥३९॥

अर्थ—तीन प्रकारके श्रोताओं का समाज इसके दोनों किनारोंके पुरवे, गाँव और नगर हैं। सुमंगलमूल संत-सभा उपमा-रहित और सब सुन्दर मङ्गलोंकी जड़ श्रीअयोध्याजी हैं ॥ ३९ ॥

नोट—'श्रोता त्रिविध समाज पुर ग्राम नगर' इति। श्रोता तीन प्रकारके हैं। वह तीन कौन हैं इसमें मतभेद है—

१—इस ग्रन्थमें मुक्त, मुमुक्षु और विषयी तीन प्रकारके श्रोताओंका प्रमाण मिलता है; यथा—'सुनहिं बिमुक्त बिरत अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई ॥७।१५।' (पां०,पं०रा०कु०,संत उन्मनी टीका)। तुलीसतसईमें भी कहा है—'मुक्त, मुमुक्षु वर विषई श्रोता त्रिविध प्रकार। ग्राम नगर पुर जुग सुतट तुलसी कहहिं विचार ॥' मुक्त, मुमुक्षु और विषयी जीवोंके श्रोता होनेके प्रमाण और भी हैं—'जीवनमुक्त महामुनि जेऊ। हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ। उ० ५३।', 'जे सकाम नर सुनहिं जे गावहिं। सुख संपति नाना विधि पावहिं॥ सुरदुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपति पुर जाहीं॥···विरति विवेक भगति दृढ़ करनी। ७।१५।', 'विषइन्ह कहँ पुनि हरिगुनग्रामा। श्रवन सुखद अरु मन अभिरामा॥ ७,५३।' यहाँ, 'विरत'=मुमुक्षु=जो अभी साधन अवस्थामें हैं। कथाका रस पूर्ण रीतिसे जिनको नहीं मिला है।

२ श्रीवैजनाथजनाथजी तथा काष्ठजिह्वास्वामीजीके मतानुसार उत्तम, मध्यम और निकृष्ट ये तीन प्रकारके श्रोता होते हैं।

वैजनाथजी लिखते हैं कि जो।वक्ताके मुखपर दृष्टि, उसकी वाणीमें श्रवण, अर्थमें मन लगाए हुए बुद्धिसे विचारकर उसे चित्तमें धर लेता है वह उत्तम श्रोता है। जो सुनते तो हैं पर न विचारते हैं और न मनमें धरते हैं वे मध्यम हैं। जो सुनते हैं पर जिनका मन नहीं लगता वे नीच श्रोता हैं। जैसे ग्राम आदिमें सरयूजीका माहात्म्य श्रीअयोध्याजी जैसा नहीं है वैसेही श्रीकीर्ति-सरयूका माहात्म्य जैसा संतसमाज-अवधमें है वैसा अन्यत्र नहीं है।

देवतीर्थकाष्टजिह्वास्वमीजी कहते हैं कि 'उत्तम श्रोता सूपकी तरह सारग्राही हैं, मध्यम चलनीकी नाईं असारग्राही हैं और निकृष्ट खेतके पनारीके समान कि गीली हो जाय पर जल न रक्खे, सुनते हैं पर धारण नहीं करते।' सूर्यप्रसादमिश्रने इसीकी नकल कर दी है और कुछ विस्तार कर दिया है। वे लिखते हैं कि 'जो प्रेम-पूर्वक सुनकर हृदयमें रखे हैं वे नगरके समान हैं। असारग्राही चलनीके समान हैं अर्थात् हरिकथाको अपनी बड़ाईके लिये सुनने जाते हैं, न विचारपूर्वक सुनें न धारण करें। इन्हें ग्रामसमान जानो। निकृष्ट 'पत्थरकी नालीके समान हैं, ये कथा सुनते हैं पर कथाका प्रभाव इनपर कुछ नहीं होता।' सुधाकरद्विवेदीजी कहते हैं कि 'प्रेमसे सुननेवाले' 'कुछ प्रश्न करनेवाले' और 'किसी कारणसे दुखिया हो मनःशान्तिके लिये कुछ काल सुनने-वाले'—ये तीन प्रकारके श्रोता हैं। इनका अन्तर्भाव ऊपर दिये हुये श्रोताके प्रकारोंमें हो जाता है।

इन दोनोंपर विचार करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि—(क) 'मुक्त' और 'उत्तम' एक ही श्रेणीके हैं, ये कथा सादर सुनते हैं और निरन्तर धारण किये रहते हैं। जिज्ञासु रामतत्त्व जाननेके अभिप्रायसे सुनते हैं इससे ये भी निरन्तर सुनते हैं। ये भी इसी श्रेणीमें आ सकते हैं। (ख) 'मुमुक्षु' और 'मध्यम' एक श्रेणीके हैं। इन्हींको अर्थार्थी भी कह सकते हैं। ये निरन्तर नहीं सुनते क्योंकि 'रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं। उ० ५३।' और, (ग) 'विषयी' और 'निकृष्ट' एक श्रेणीके हैं। ये इधर सुना उधर भूले। सुननेमें इनका मन नहीं लगता। सुनते समय सुख हुआ। फिर कुछ नहीं। आर्त श्रोता भी इसी श्रेणीके हैं, दुःख पड़ता है तब कथामें आ जाते हैं, दुःख दूर होनेपर कथाका नाम नहीं लेते।

३ त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "तटवासीकोही सदा अवगाहनका सौभाग्य प्राप्त है, अतः उनसे नित्यके श्रोताओंको उपमित किया है। कोई इस काव्यसे लौकिक शिक्षा ग्रहण करते हैं और कोई वैदिक शिक्षा ग्रहण करते हैं। दोनों प्रकारके श्रोता होनेसे उन्हें यथाक्रम दोनों किनारोंका निवासी कहा। तामस, राजस और सात्विक भेदसेभी श्रोतासमाजका भेद हुआ।

४ श्रीजानकीदासजी एवं करुणासिन्धुजीके मतानुसार 'आर्त्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु' ये तीन प्रकारके श्रोता

हैं। वे लिखते हैं कि—'आर्त, सुत, वित, लोक, बड़ाई, शरीररक्षा इत्यादि अपने आर्त्तिनिवृत्तिके लिये कथा सुनते हैं। ये पुर हैं। क्योंकि दुःख दूर होतेही कथा सुनना छोड़ देते हैं। लोक-आर्त्त लोकमतके और परलोक-आर्त्त वेदमतके तटपर बसे हैं। अर्थार्थी श्रोता सिद्धियोंकी या किसी अन्य अर्थकी प्राप्तिके लिए वेद, पुराण इत्यादि कथा सुनकर फिर मन्त्र-यन्त्र, देवाराधन आदि अन्य साधनोंमें लग जाते हैं। ये ग्राम हैं। लोकार्थी जो अन्न-वस्त्रादि लोक-पदार्थोंकी चाह करते हैं, वे लोकमतके किनारे, और परलोक स्वर्गादिके अर्थी वेदमत के किनारे बसे हैं। और जिज्ञासु केवल ज्ञान, वैराग्य आदि ग्रहण करनेके लिये, वस्तु जाननेके लिये कथा सुनते हैं जिससे मुक्ति मिले—ये नगर हैं। ये सब दिन सुनते हैं। जो लोक-चतुराई सीखनेके हेतु सुनते हैं वे लोकमतके और जो रामतत्त्व जाननेके हेतु सुनते हैं, वे वेदमतके तटपर बसे हैं। और 'जो केवल ज्ञानी भक्त हैं भगवद्यश सुनते हैं, अपने स्वस्वरूपमें सदा आरूढ़ रहते हैं और श्रीरामचन्द्रजीके माधुर्य स्वरूप-नाम-धाम-लीलारूपी रसको पान करते हैं, ऐसे निष्काम संतोंकी समाज श्रीअयोध्याजी हैं।' (करु०)।—ये ज्ञानी संत त्रिविध श्रोताओंमें नहीं हैं, इन्हें कोई चाह नहीं है। ये केवल रामयशकी चाह रखते और उसीको सुनते हैं। ये सर्वकाल यहाँ बने रहते हैं; कोटि विघ्न उपस्थित होनेपर भी वे कथा नहीं छोड़ते। ये सदा वेदतटपर 'संतसभारूपी' अनुपम अयोध्याजीमें वास करते हैं।' (मा० प्र०)

श्रीकरुणासिंधुजी एवं बाबा जानकीदासजीके मतमें एक विशेषता यह है कि अन्य महात्माओंने जो त्रिविध श्रोता माने हैं उनमें फिर 'अवध' के लिये कोई अवशिष्ट नहीं रह जाते, क्योंकि उत्तम, मध्यम और निकृष्ट अथवा विमुक्त, मुमुक्षु और विषई तीनही श्रेणियाँ होती हैं, इनको त्रिविध माननेसे ये तीनों श्रेणियाँ ग्राम, पुर और नगरमें ही समाप्त हो जाती हैं, निष्काम भक्तभी उत्तम या विमुक्तमें आ जाते हैं। अन्य स्थलोंमें जहाँ त्रिविध श्रोताओंकी चर्चा आई है वहाँ चौथेकी चर्चा नहीं है। चौथाभी उन्हींमें आ जाता है। चार प्रकारके भक्त आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु और ज्ञानीमेंसे प्रथम तीनको त्रिविध श्रोतामें लेनेसे चौथा ज्ञानी, जिसमें निष्कामका भी ग्रहण किया गया है, अवधके लिये शेष रह जाता है।

नोट—श्रोताओंको 'पुर, ग्राम, नगर' किस भावसे कहा है, अब इसपर विचार करना है। पुर, ग्राम और नगरकी व्याख्यामें भी मतभेद है।

१—प्रायः सब मतोंका सारांश यह है कि नगर बड़ा होता है, ग्राम छोटा और पुर जिसे पुरवा या खेरा भी कहते हैं बहुत छोटा होता है। पुरवा जल्द कट वा उजड़ जाता है, ग्राम उससे अधिक दृढ़ होता है और देरमें कटता वा उजड़ता है। और नगर बहुत दृढ़ होता है इसके उजड़नेका भय बहुत कम होता है। त्रिविध श्रोताओंमेंसे कौन पुर हैं; कौन ग्राम और कौन नगर? अब इसे देखें—

(क) मुक्त, मुमुक्षु और विषयीमेंसे जीवन्मुक्त नगर हैं क्योंकि 'हरिगुन सुनहिं निरंतर तेऊ', मुमुक्षु ग्राम हैं क्योंकि ये कामनापूर्ण होनेपर फिर नहीं सुनते—'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥' और विषयी पुर हैं जो भूले-भटके कभी पहुँच जाते हैं। अब 'आर्त्त, अर्थार्थी और जिज्ञासु' वा 'निकृष्ट, मध्यम और उत्तम' श्रोताओंको लें। पुर नदीसे शीघ्र कटता है इसी तरह आर्त्त अथवा निकृष्ट श्रोता बहुत शीघ्र कथासे हट जाते हैं। दुःख दूर हुआ और कथा छूटी। अर्थार्थी वा मध्यम श्रोता कुछ अधिक दिन ठहरते हैं और जिज्ञासु अपने बसभर सदा सुनते हैं क्योंकि वे वस्तु जाननेके लिये सुनते हैं। ये नगर हैं, दैवयोगहीसे कटें तो कटें। (मा० प्र०)। पांडेजीके मतानुसार "विषयी जिनकी बाहुल्यता है सो नगर हैं, उनसे कमतर मुमुक्षु पुर हैं और बहुत थोड़े जो मुक्त हैं सो ग्राम हैं। संतसभा सकल शुभ मंगल रामजन्मभूमि है।'

अथवा, (ख) यों कहें कि जैसे नदीके तटपर नगर कहीं-कहीं और वह भी बहुत कम होते हैं, ग्राम उससे अधिक और पुरवे बहुत होते हैं वैसे ही 'श्रोता बक्ता ज्ञाननिधि कथा रामकै गूढ़।' ऐसे विमुक्त, जिज्ञासु

या उत्तम श्रोता भी बहुत कम होते हैं, मुमुक्षु, अर्थार्थी या मध्यम श्रेणीके श्रोता इनसे अधिक होते हैं और विषयी, आर्त्त या निकृष्ट श्रोता ही प्रायः बहुत होते हैं।

(ग) संत श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'पुर, ग्राम और नगर इस ग्रन्थभरमें पर्याय शब्द जान पड़ते हैं परन्तु बस्तियोंके अन्त कहीं पुर, कहीं ग्राम, कहीं नगर पद पाया जाता है। जैसे 'जन पुर नगर गाँउ गन खेरे', 'पुर न जाउँ दसचारि बरीसा', 'पिता वचन मैं नगर न आवउँ', 'शृङ्गवेरपुर' एवं 'ग्राम बास नहिं उचित०' 'पहुँचे दूत रामपुर पावन', एवं नन्दिग्राम, रामनगर इत्यादि। सभी कथा श्रवण करनेवाले श्रोताही हैं पर कोई विषयी, कोई मुमुक्षु, कोई मुक्त कहलाते हैं। इसीसे कहा कि तीनों प्रकारके जो श्रोता समाज हैं वे ही पुर, ग्राम, नगरसंज्ञक आबादी हैं। (मा० त० वि०)।

(घ) सूर्यप्रसादमिश्रजीका मत है कि 'पुर' राजधानीका नाम है। प्रमाणमें उन्होंने श्रीधरस्वामीकी भा० स्क० १ अ० ६ श्लो० ११ की व्याख्या दी है—'तत्र पुराणि राजधान्यः'। ग्रामलक्षण जो उन्होंने दिया है वह मानसके अनुकूल नहीं है, इससे उसे यहाँ नहीं उद्धृत करता। इस मतके अनुसार उत्तम पुर हैं, मध्यम नगर और निकृष्ट ग्राम हैं।

मयङ्ककार कहते हैं कि "पहिले मानसका समाज कहा है (संत-सभा चहुँ दिसि अँवराई।) कि चारों ओर संतोंका समाज जो है वही मानों अँवराई है और वाटिका बाग वन इत्यादि जो कहा है वही समाज जो मानसमें रहनेपर था प्रगट होनेपर वही सरयूके किनारे सुशोभित हुआ। संतसभारूपी अवध वाटिका बाग वन और पुरादिक किनारे-किनारे सुशोभित हुए।"

(ङ) सुधाकरद्विवेदीजी—'इस नदीके दोनों किनारोंपर किसी कारणसे सुननेवाले पुरा, भगवत्प्रीति बढ़नेके लिये प्रश्न करनेवाले गाँव और अचल प्रेमसे सुननेवाले शहर हैं। सब सुमंगलकी मूल संतसभा अनुपम अवध है जहाँ सदा यह नदी अमृतमय धारासे बहा करती है।'

❀ 'संत सभा अनुपम अवध' इति ❀

१—'मुक्त, मुमुक्षु, विषयी, इन तीनोंसे पृथक् संत (संतसभा) हैं। [ये निष्काम रामानन्य अनुरागी हैं—'सकल-कामना-हीन जे रामभगति-रस लीन'। इन्हींके लिये कहा है कि 'एहि सम प्रिय तिन्ह के कछु नाहीं। उ० १३०।' 'संत-समाज-पयोधि रमा सी' और 'संत-सुमति-तिय सुभग सिंगारू' इत्यादि। १। ३१।', 'आसा बसन व्यसन यह तिन्हहीं। रघुपतिचरित होइ तहँ सुनहीं। ७। ३२।', 'सुनि गुनगान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥ जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान। ७। ४२।] इसी तरह 'पुर, ग्राम और नगर' से पृथक् अवध है। अवधके निमित्त सरयूजी आयीं, इसीसे अवध पहुँचनेपर फिर 'ग्राम, पुर, नगर' का मिलना नहीं कहा है।

खर्रा—१ "मुक्त वेदमतकूलमें टिके हैं, विषयी लोकमतकूलमें टिके हैं और मुमुक्षु आधे आधे दोनों ओर हैं, इसीसे बराबर हैं। इनसे पृथक् चौथी कोटिमें संत हैं जो न मुक्त हैं, न मुमुक्षु और न विषयी, यथा—'अर्थ न धर्म न काम रुचि गति न चहौं निरबान।'—येही अवध हैं। ग्राम, पुर और नगरसे भिन्न साकेत रामरूप है। २ 'सकल सुमंगलमूल' सबको सुमंगलमूल है अर्थात् मुक्तको मुक्तिरूप है, मुमुक्षुको साधनरूप और विषईको आनंदभोगरूप है।"

(नोट—पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि यहाँ 'सकल सुमंगल मूल' कहकर श्रीअवध-सरयूमें समता दिखायी। यथा—'अवध सकल सुमंगल मूल' तथा 'सरजू नाम सुमंगल मूला'। अवध-वाससे जीव श्रीरघुनाथजीको प्रिय हो जाते हैं; यथा—'अतिप्रिय मोहि यहाँके बासी' और सरयू-स्नानसे सामीप्य मुक्ति' मिलती है, यथा—'जनमभूमि मम पुरी सुहावनि' तथा 'जा मज्जन तें बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा।')

२ संतसमाज और श्रीअयोध्याजीमें समता यह है कि—(क) दोनों अनुपम हैं। शारद-शेषादि इनकी महिमा नहीं कह सकते यथा—'विधि-हरि-हर कवि-कोविद बानी। कहत साधु-महिमा सकुचानी। १। ३। ११।', 'कहि न सकत सारद श्रुति तेते। ३। ४६। ८।', तथा—'जद्यपि सब बैकुंठ बखाना।...अवधपुरी सम प्रिय नहिं सोऊ। ७। ४।', 'रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ। ७।२९।' (ख) दोनों 'सुमंगलमूल' हैं। यथा—'मुद-मंगलमय संतसमाजू। १। २।', 'सत्संगति मुदमंगल मूला। १। ३।', तथा 'अवध सुमंगलमूल' (यहाँ), 'सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी। १। ३५।' (ग) दोनोंही श्रीसीतारामजीके विहार-स्थल हैं। यथा—'संतसमाज पयोधि रमा सी' और 'रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु। तुलसी सुभग सनेह बन सिय-रघुबीर-बिहारु॥ ३१॥' (देखिये १। ३१ (१०) और दोहा ३१)। श्रीअवध तो लीलास्थल प्रसिद्ध ही है, यह जन्मभूमिही है। संतसमाजमें कथारूपसे विहार होता है। (घ) वह 'कीर्त्ति सरयू' संतसमाजके लिये रची गई, यथा—'होहु प्रसन्न देहु बरदानू। साधु-समाज भनित सनमानू॥ १। १४। ७।' वैसेही वशिष्ठजी सरयूजीको अयोध्याजीहीके लिये लाये। (मा० प्र०)। (ङ) रामकथाका महत्व जैसा संतसमाजमें है वैसा अन्य ठौर नहीं और सरयूजीका माहात्म्य जैसा अवधमें है वैसा और कहीं नहीं ❀। पुनः, जैसे संतसभाकी शोभा रामकथासे और कथाकी संतसमाजसे है, वैसेही श्रीअवध-सरयूकी शोभा एक दूसरेसे है। 'साधु इस (कथा) समाजमें शोभा देते हैं और जैसी शोभा एवं महत्व इसका साधुसमाजमें है वैसी अन्य ठौर नहीं तथा इसीसे साधुसमाज भी शोभित है; ये दोनों (रामकथा और साधुसमाज) ऐसे परस्पर मिले हुए हैं।' (मा० प्र०)

रामभगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई॥ १॥

अर्थ—सुकीर्तिरूपी सुन्दर सरयू राम-भक्ति-गङ्गामें जाकर मिली॥ १॥

नोट—१ 'सुकीर्तिरूपिणी सरयू रामभक्ति-सुरसरिमें जाकर मिली, इस कथनका तात्पर्य यह है कि सुकीर्तिके आनेसे रामभक्तिकी प्राप्ति है। कीर्ति सुन्दर है। उस सुकीर्तिको सरयू कहा, अतएव सरयूको सुहाई कहा।' (पं० रामकुमार)।

(२) श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि 'यहाँ अब यह बात समझनेकी अपेक्षा हुई कि 'रामयशजलका क्या स्वरूप है और उसी यशकी कीर्ति-नदी चली तो इस नदीका क्या स्वरूप है?' कैलाशप्रकरणके चार दोहोंमें रामयशका स्वरूप कहा गया है। अर्थात् 'सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥ १। ११६। १।' से 'सुनि सिव के भ्रम भंजन बचना। मिटि गइ सब कुतर्क कै रचना। ११९। ७।' तक। जो कुछ सरके प्रकरणमें कह आए वह सब इसीके भीतर जानो। [नोट—किसीने यों कहा है कि यह 'सुकीर्ति-सरयू शिवजीके मानसमें स्थित थी; यथा—'मानस मूल मिली सुरसरिही', सो पार्वतीजीके प्रश्नसे उमगी और निकल पड़ी। शिवजी जो प्रसंग ले चले यही सुकीर्ति-सरयूका मानससे चलना है।'—दोनों पवित्र नदियोंका संगम दूना पवित्र हुआ।]—यह रामयश उमगा और कीर्तिरूपी प्रवाह चला। यह धारा 'सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाये। बिपुल बिसद निगमागम गाये। १२१। १।' से चली और मनुशतरूपाजीकी अनन्य रामभक्तिरूपी गङ्गामें जा मिली।

जैसे श्रीसरयूजी थोड़ी दूर चलकर तब छपरा (जिला सारन) के पास गङ्गामें मिलीं, वैसेही श्रीरामचन्द्रजीकी कीर्तिका वर्णन शिवजीने पार्वतीजीके प्रश्नके उत्तरसे उठाया, बीचमें क्षीरशायी, वैकुण्ठ-भगवान् इत्यादिकी रामावतारकी कथाएँ कहते हुए पूर्णब्रह्म श्रीसाकेतविहारीके अवतारकी कथा प्रारम्भ की। यथा—

❀ श्रीमहाराजहरिहरप्रसादजी लिखते हैं कि 'इसका भाव यह है कि सरयूजी और ठौर अकेली हो जाती हैं और यहाँ अवधपुरीमें पुरीसहित दूनी रहती हैं'। (रा० प्र०)।

'अपर हेतु सुनु सैलकुमारी। कहउँ बिचित्र कथा बिस्तारी॥ जेहि कारन अज अगुन अनूपा। ब्रह्म भयउ कोसलपुर भूपा॥ १।१४१।' इस कथामें अनन्य रामभक्तिका वर्णन मनुशतरूपाजीके तपमें दिखाया गया है; यथा—'बिधि हरिहर तप देखि अपारा। मनु समीप आये बहु बारा। माँगहु बर बहु भाँति लुभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये॥ १।१४४।७-८।' ब्रह्मा, विष्णु, महेश जगतके उत्पन्न, पालन, संहारकर्त्ताओंकी ओर ताका भी नहीं—ऐसे अनन्य राम-भक्त! इन्होंने सब देवताओंकी भक्तिका निराकरण करके रामभक्तिहीको दृढ़ माना। ❀

यहाँ राम-भक्ति-गङ्गामें कीर्ति सरयू जाकर मिलीं इसीने 'जाई' शब्द यहाँ दिया। अभिप्रायदीपककार लिखते हैं कि "मन मानस ते चलि धसी, लसी जान्हवी बीच। बसी राम उर उदधि महँ रसी उपासक धीच। ५८।", जिसका भाव यह है कि जैसे मानससरसे श्रीसरयूजी प्रकट होकर गंगाजीमें सुशोभित हुईं वैसेही गोस्वामीजीके मन-मानसमें जो गुरुदत्त शंकररचित मानस था वही काव्यरूप होकर निकला। अब जो कोई भी उसका आश्रय लेंगे वे राम-भक्ति प्राप्त करेंगे।—यही कवितासरयूका रामभक्ति-गंगामें मिलना है। 'जैसे गंगाजी सरयूजीको अपने हृदयमें लेकर सहस्रोंधारा समेत समुद्रमें मिल गईं, उसी प्रकार भक्तिगंगा अनेकों उपासकोंके अनुभवसे अनेकों रूप होकर एक रामरूपहीमें अचल हो जाती है"।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "इससे ज्ञात होता है कि गंगाकी स्थिति सरयूसे पहलेकी है"—(परंतु ऐतिहासिक ग्रन्थों पुराणों, रामायणोंसे इस मतका विरोध होता है। गंगाजी बहुत पीछे पृथ्वीपर आई हैं)। सरयूजी पुर, ग्राम, नगरोंसे दोनों ओर संयुक्त होती हुई अवध पहुँचीं और वहाँसे श्रीगंगाजीमें जा मिलीं और सरयूनाम छोड़कर गंगाही हो गईं। इसी भाँति कविता-सरिता भी अनेक तामस, राजस और सात्त्विक श्रोतृ-समाजोंमेंसे होती हुई संतसभामें जा पहुँची और वहाँ जाकर भक्तिसे मिल गई। अर्थात् यह कवितासरिता भक्तिकी प्रापिका है।

नोट—रामभक्तिको गंगाजीकी उपमा और भी जहाँ-तहाँ दी गयी है; यथा—'रामभक्ति जहँ सुरसरि धारा'। दोनोंकी समता दोहा २ (८—११) में देखिये। वहीं भक्तिकी उपमा गङ्गासे देनेके कारण देखिये।

☞ स्मरण रहे कि मानस-प्रकरण दोहा ३५ से प्रारम्भ होकर दोहा ४३ तक गया है। इसमें समस्त रामचरितमानसका रूपक है। इसीसे प्रत्येक दोहे-चौपाईमें इस ग्रन्थका प्रसंग दिया गया है।

'सुरसरितहिं जाई।' इति।

यहाँपर ग्रन्थान्तरोंमें मतभेद है। श्रीसरयूजीका आविर्भाव सृष्टिके आदिमें हुआ। इक्ष्वाकु महाराजके समयमें श्रीअवधके लिये श्रीसरयूजीका आना पाया जाता है और गङ्गाजीको इनके बहुत पीछे उन्नीसवीं पीढ़ीमें भगीरथजी लाये तो सरयूका गङ्गामें मिलना कैसे कहा गया? उचित तो यह था कि गङ्गाका सरयूजीमें जा मिलना कहा जाता पर ऐसा कहा नहीं गया?'—इस विषयपर बहुत महानुभाव जुट पड़े हैं।

संत-उन्मनी-टीकाकार तथा पं० शिवलालजी कहते हैं कि 'यह कथा भक्ति-सिद्धान्त सम्मिलित है, इससे भक्ति प्राप्त होती है जिससे फिर रामस्वरूपकी प्राप्ति होती है। सुकीर्तिसरयूका रामभक्ति-गङ्गामें मिलना कहनेमें केवल इतना ही तात्पर्य है। आद्यन्त इतनाही दिखलाना है कि भक्ति हो तो ऐसी हो जैसी मनुशतरूपाजीकी; यथा—'माँगहु बर बहु भाँति लुभाये। परम धीर नहिं चलहिं चलाये", या जैसी भरतजीमें थी कि 'तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंचरीक जिमि चंपक बागा' इत्यादि, वा, जैसी भुशुण्डिजीमें थी कि 'भक्ति पच्छ हठ नहिं सठताई।'

❀ सू० प्र० मिश्रजी लिखते हैं कि 'औरभी भक्तिहीके लिये रामजीका प्रादुर्भाव हुआ, सब काण्डोंमें भक्तिरूप गङ्गा वर्तमान हैं—अयोध्यामें भरतकी, अरण्यमें सुतीक्ष्णकी, किष्किन्धामें सुग्रीव-हनुमान्‌की, सुन्दरमें विभीषणकी, लङ्कामें रावणादिका हरिमें लीन होना और उत्तरमें तो सब भक्ति-ही-भक्ति है।' (यह भाव बैजनाथजीका है)।

सूर्यप्रसादमिश्रजी लिखते हैं कि ग्रन्थकारका यह आशय नहीं है कि सरयू गङ्गाजीमें मिलीं या गङ्गाजी सरयूजीमें मिलीं, उनको तो यही अभिप्रेत है कि रामभक्ति रामकीर्तिसे भी बढ़कर है और रामजीका प्रादुर्भाव भी महाराज भगीरथजीके बहुत बादका है। ग्रन्थकार भी रामजीहीके उपासक हैं, जो बातें उनको वर्त्तमानमें दिखायी पड़ीं उन्हींको लिखा है।

नोट—यहाँ 'सुरसरितहिं' शब्दसे स्पष्ट है कि गङ्गाजीहीमें सरयूजीका मिलना कहते हैं न कि गङ्गाजीका सरयूजीमें। वर्त्तमान कालमें सरयूजीहीका गङ्गाजीमें मिलना कहा और देखा जाता है। इसीके अनुसार ग्रन्थकारने लिखा है। अथवा, अन्य कारणोंसे जो आगे दिये जाते हैं वा कल्पान्तर भेदसे।—

(१) कहा जाता है कि गङ्गाजीने ब्रह्माजीसे वर माँग लियाथा कि कोई भी नदी क्यों न हो जिससे हमारा संगम हो वह हमारे संगमसे आगे हमारे ही नामसे प्रसिद्ध हो इस कारणसे भी सरयूमें संगम होनेपर सरयूका नाम गङ्गा ही ख्यात हुआ। इसका प्रमाण आनन्दरामायण, यात्राकाण्ड सर्ग ४ के श्लोक 'वरदानात्कलौ शम्भो-र्गङ्गा ख्यातिं गमिष्यति। अग्रे सागरपर्यन्तमेनां गङ्गां वदन्ति हि॥ ६१॥ तव पादसमुद्भूता या विश्वं पाति जाह्नवी। इयं तु नेत्रसम्भूता किमद्याग्रे वदाम्यहम्॥६२॥ कोटिवर्षसहस्रैश्च कोटिवर्षशतैरपि। महिमा शरयूनद्याः कोऽपि वक्तुं न वै क्षमः॥६३॥' में मिलता है। इस वरदानका कारण यह कहा जाता है कि सरयू-सागर-संगमसे कुछ दूरपर कपिलजीका आश्रम था। सरयूजीसे कहागया कि आप अपनी धारा वहाँ ले जाकर सगरपुत्रोंको मुक्त करें, पर उन्होंने साफ़ जवाब दे दिया कि हमारा आविर्भाव अयोध्याजीके निमित्त था, हम अपनी मर्यादा उल्लंघन न करेंगी। गङ्गाजीने इस शर्तपर कि सरयू-गङ्गा-संगम-से हमारा ही नाम पड़े तो हम सहस्रधारा होकर सगरपुत्रोंको कृतार्थ करें। अतएव यह वर उनको मिला कि कलियुगमें संगमसे तुम्हाराही नाम ख्यात होगा। सरयूजीने इसे स्वीकार कर लिया।

(२) अथवा, गुरु-आज्ञासे भगीरथजी गंगाजीको लाये, सगरके पुत्रोंका उससे उद्धार हुआ इससे गंगाका माहात्म्य लोकमें प्रसिद्ध हुआ तथा कालान्तरके कारणसे सरयूका नाम संगमसे गंगाही प्रसिद्ध हो गया।

(३) श्रीसरयूजी गुरु वशिष्ठकी कन्या हैं अर्थात् वशिष्ठजी सरयूजीको अयोध्याजीमें लाये और गंगाजी राजाकी कन्या हैं। अर्थात् राजा भगीरथ गंगाजीको पृथ्वीपर लाये। जैसे गुरुकी कन्याको देखकर राजकन्या उसे आदरपूर्वक गोदमें ले लेती है इसी भाँति दोनोंका मिलना जानिये। मानो गंगाजीने सरयूजीको गोदमें ले लिया।

(४) सरयूजी नेत्रजा हैं अर्थात् भगवान्‌के नेत्रसे निकली हैं, और गंगाजी भगवान्‌के चरणसे निकली हैं। जो जल नेत्रसे चलेगा वह चरणकी ओर जावेगा। इसीसे सरयूजीका गंगामें मिलकर फिर 'गंगा' ही नामसे बहना कहा।

(५) मा० त० वि० कार लिखते हैं कि 'शतकोटिरामायणमें वैवस्वत मनुका वचन है कि मुद्गल ऋषिके लिये बद्रीक्षेत्रमें श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञासे लक्ष्मणजी बाणद्वारा सरयूजीको सुरसरिमें ले आये।' आनन्दरामायण यात्राकाण्डमें भी यह कथा है। श्लोक ६५ से ६८ तक।

नोट—स्कन्दपुराण रेवाखण्डमें लिखा है कि एकबार मनुमहाराजने त्रिपुरी तीर्थमें जाकर नर्मदातटपर यज्ञ किया। यज्ञकी समाप्तिपर नर्मदाकी स्तुति की और उनके प्रसन्न होनेपर वर माँगा कि देवलोकमें जो गंगा आदि अनेक नदियाँ हैं वे अयोध्या प्रदेशमें प्रकट हो जायँ। नर्मदाने वर दिया कि त्रेताके प्रथम भागमें भगीरथ गंगाको इस लोकमें लावेंगे। द्वितीय भागमें यमुना, सरस्वती, सरयू तथा गण्डकी आदि नदियाँ प्रकट होंगी।—इस कथाके अनुसार पहले गंगा आई तब सरयू।—इससे शंका नहीं रहजाती।

सानुज राम समर जसु पावन। मिलेउ महानदु सोन सुहावन॥ २॥

शब्दार्थ—महानद = बड़ी नदी। अथवा, पुराणानुसार एक नदका नाम है। पं० शिवलालपाठकजी महानदसे गण्डकी नदीका अर्थ करते हैं।

अर्थ—भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामचन्द्रजीका पवित्र यश जो युद्धमें हुआ वही मानो सुन्दर महानद सोन उसमें (गंगामें) मिला है। २।

❀ सानुज राम समर ❀

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सानुज राम समर' मारीच-सुबाहुका हुआ और कोई समर सानुज नहीं हुआ। विराधको श्रीरामजीने अकेले मारा; यथा 'मिला असुर बिराध मगु जाता। आवत ही रघुबीर निपाता॥' खरदूषण, कबन्ध और बालिको भी श्रीरामजीने अकेले मारा। लङ्कामें जो समर हुआ 'केवल-सानुज-राम' समर नहीं है। अर्थात् वहाँ वानर-रीछ भी समरमें इनके साथ रहे, ऐसा कोई समर वहाँ नहीं हुआ जिसमें केवल श्रीरामलक्ष्मणही हों। सिद्धाश्रममेंही श्रीरामलक्ष्मण दोनों भाइयोंने साथही यज्ञकी रक्षामें निशाचरोंका संहार किया था; यथा 'रामु लखन दोउ बंधुबर रूप-सील-बल धाम। मख राखेउ सबु साखि जगु जिते असुर संग्राम॥ १। २१६।' समरको महानद कहकर जनाया कि महासंग्राम हुआ।

नोट १ 'सानुज' से यहाँ केवल श्रीलक्ष्मणजीका ग्रहण होगा क्योंकि समरमें और कोई भाई साथ न थे।

२ मानसमयङ्ककार कहते हैं कि 'लक्ष्मणजीका वन-चरित सोन है और श्रीरामचन्द्रजीका यश महानद (गण्डकी) है'। वे 'सानुज राम समर' का अर्थ 'रामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी दोनोंका एक साथ जहाँ समर-यश है' ऐसा नहीं करते। इसका कारण वे यह कहते हैं कि 'यहाँ मूलमें उपमेय दो यश कहा—एक लक्ष्मणका दूसरा रामका और उपमान एक सोन कहनेसे साहित्यानुसार विरोध पड़ता है। पुनः सोन और महानद आमने-सामनेसे आकर गंगामें मिले हैं।' मा० त० वि० कार और शुकदेवलालजीका भी यही मत है।

३ 'समर-जसु पावन' इति। 'समर-यश' और फिर 'पावन' यह कैसे? यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर लोगोंने इस प्रकार दिया है कि—(क) 'पावन कहनेका भाव यह है कि छल करके नहीं मारा, संग्राममें मारा' (पं० रा० कु०)। इस समरमें कहनेके लिये भी कोई स्वार्थ न था। (ख) निशाचरोंके वधसे अधर्म होना बन्द हो गया, धर्मका प्रचार हुआ। भक्तों, मुनियों, संतों, देवताओं एवं समस्त लोकोंको इस समरसे सुख प्राप्त हुआ। संत, भक्त, ऋषि, मुनि निष्कण्टक हो भजनमें लगे, देवता बन्दीखानेसे छूटे और फिरसे सुबस बसे, इत्यादि कारणोंसे समर-यशको पावन कहा। (मा० प्र०)। (ग) निशाचरोंकी अधम देह छूट-कर उनकी मुक्ति हुई, इसलिये पावन कहा। यथा 'निर्बानदायक क्रोध जाकर भगति अबसहिं बस करी।३।२६।', 'एकहि बान प्रान हरि लीन्हा। दीन जानि तेहि निजपद दीन्हा। बा० २०६।' (घ) रामयश तो सभी पावन है। समरयशमें जीवहिंसा होने के कारण सन्देह किया जाता है कि वह पावन कैसे? पर यह यश तो और भी पावन समझना चाहिए क्योंकि इसीसे तो सर्व धर्मोंका निर्वाह और प्रतिपालन हुआ, ऋषि स्वच्छन्द होकर यज्ञादि कर सके, नहीं तो मारीचादिके भयसे विश्वामित्र ऐसे महामुनि भी यज्ञ न कर पाते थे। (मा०प्र०)

४ "मिलेउ महानद सोन···" इति। (क) सोन एक प्रसिद्ध महानद है जो मध्यप्रदेशके अमर-कण्टककी अधित्यका भूमिसे, नर्मदाके उद्गमस्थानसे दो-ढाई मील पूर्वसे निकला है और उत्तरमें मध्यप्रदेश तथा बुन्देलखण्डमें होता हुआ पूर्वकी ओर प्रवाहित हुआ है और बिहारमें दानापुरसे दस मील उत्तर गङ्गामें मिला है। बिहार में इस नदका पाट कोई ढाई-तीन मील लम्बा है। वर्षाऋतुमें समुद्रसा जान पड़ता है। इसमें कई शाखा नदियाँ मिलती हैं जिनमें कोइल प्रधान है। गर्मीमें इस नदमें पानी बहुत कम हो जाता है। इसका नाम 'मागध' भी हो गया है।

गण्डकी नदी नैपालमें हिमालयसे निकलकर बहुत-सी छोटी नदियोंको लेती हुई पटनेके पास गङ्गामें गिरती है। इसमें काले रंगके गोल-गोल पत्थर निकलते हैं जो शालग्राम कहलाते हैं।

(ख) 'महानद सोन'—वीरताके पावन यशको, अति उदात्त होनेसे, नदी न कहकर महानद शोणसे उपमित करते हैं। शोण महानद दक्षिण ऋक्षवान्से आकर गङ्गाजीसे मिला है, इसी भाँति यह पावन समर-यशभी दक्षिण सिद्धाश्रमसे आकर रामभक्तिके अन्तर्गत होगया। अतः दोनों भाइयोंके पावन यशको महानद शोण कहा। (वि० त्रि०)

(ग) जब सरयूकाव्य रामसुयशसे भरा हुआ आकर भक्ति भागीरथीसे मिलही चुका था, फिर समर-यशको उससे अत्यन्त पृथक् करके शोणसे उपमित करनेका कारण यह है, कि इसमें वैरभावसे भजन करने-वालोंकी (निशाचरोंकी) कथा है। इसकाभी मेल रामभक्तिसे हुआ, पर यह उस रामयशसे एकदम पृथक् है, जिससे प्रेमसे भजन करनेवालोंको आनन्दही आनन्द है, और वैरसे भजन करनेवालोंको यावज्जीवन प्रेमका आनन्द नहीं होता बल्कि द्वेषसे जला करते हैं, अतः दोनोंको अलग-अलग कहना पड़ा। (वि० त्रि०)। वैरभावसे भजनेवालोंका वधही किया जाता है।

(घ) सुधाकरद्विवेदीजी इस प्रकार अर्थ करते हैं कि 'उसमें लक्ष्मणरामका रणयश कुछ क्रोध होनेसे लालवर्णका शोण महानद मिल जानेसे महापवित्र स्थान हरिहरक्षेत्रसे भी अधिक पुनीत हो गया। युद्धमें रक्तकी धारा चलती है, संग्राम-सरिताका रक्त-नदीसे रूपक दिया ही जाता है।

(ङ) मा० प्र०—सोनकी धारा बड़ी तीव्र है, भयावनी लगती है, वैसेही समर बड़ा भयावन है। जैसे सोन नदीसे मगहसी अपवित्र भूमि पवित्र हो गयी वैसेही यद्यपि समर देखनेमें बड़ा भयावन है तथापि इस समरमें राक्षसोंकी मुक्ति हुई। इस तरह शोणभद्र और समरयशकी एकता हुई।

☞ऐसा जान पड़ता है कि मानस-परिचारिकाकार तथा पं० रामकुमारजी महानदको 'सोन' का विशेषण मानते हैं। इसमें मानसमयङ्ककारकी शङ्काकी जगहभी नहीं रहती। इसीसे आगे भी सरयू और शोणभद्रके बीचमें गङ्गाका शोभित होना कहा। दूसरे, 'सानुज राम' कथनसे अनुजका यश पृथक् नहीं कहा गया। तीसरे, महानद और सोनभद्रसे यदि दो नद अभिप्रेत होते तो 'मिलेउ' एकवचनसूचक क्रिया न देते। चौथे, परंपरागतके पढ़ेहुए मा० मा० कार एवं श्रीनंगे परमहंसजीने भी महानदको शोणका विशेषण माना है। पांचवे, महानद पुल्लिंग है, गण्डकी स्त्रीलिंग है। गण्डकी अभिप्रेत होता तो 'महानदि' लिखते अथवा 'गंडकी' प्रसिद्ध शब्दही रखदेते। 'महानद' की जगह 'गंडकी' बैठभी जाता है। स्मरण रहे कि नद (पुरुष) सात माने गये हैं, शेष सब स्त्रीलिंग माने गए हैं। यथा—"शोण सिन्धु हिरण्याख्याः कोक लोहित घर्घराः। शतद्रूश्च नदाः सप्त पावनाः परिकीर्तिताः॥" (देवलवाक्य। निर्णयसिंधु परिच्छेद २ श्रावण प्रकरण)। शोणभद्र, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, सतलज, झेलम, घाघरा और व्यास ये सात नद हैं। पुनश्च यथा—"गण्डकः पुंसिखड्गे स्यात् संख्या-विघ्नप्रभेदयोः। अवच्छेदेऽन्तराये च गण्डकी सरिदन्तरे।" इति विश्वमेदिन्योः (अमर २. ५. ४)

जुग बिच भगति देवधुनि-धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा॥ ३॥

शब्दार्थ—देवधुनि—देव+धुनि (=नदी। यह संस्कृत शब्द है)=देवनदी=गङ्गाजी।

अर्थ—(शोण और सरयू) दोनोंके बीचमें गङ्गाजीकी धारा कैसी सुहावनी लगती है, जैसे ज्ञान और सुष्ठु वैराग्यके सहित भक्ति (शोभित हो)॥ ३॥

टिप्पणी—१ 'यहाँ विचार ज्ञानका वाचक है। सरयू विरति है, सोनभद्र ज्ञान है, गङ्गा भक्ति है। जैसे सरयू और सोनभद्रके बीचमें गङ्गा, वैसे ही ज्ञान और वैराग्यके बीचमें भक्ति है। ऐसा कहनेका भाव यह है कि कीर्त्तिके सुननेसे वैराग्य होता है, समरयश सुननेसे ज्ञान होता है; अतएव लङ्काकाण्ड 'विज्ञानसम्पादिनी नाम

संतान' है। ज्ञान-वैराग्यसे भक्तिकी शोभा है।' इसीसे तीनोंको जहाँ तहाँ साथ कहा है। यथा—'कहहिं भगति भगवंत कै संजुत ज्ञान बिराग। १। ४४।', 'श्रुति संमत हरिभगति पथ संजुत विरति विवेक। ७। १००।'

नोट—१ त्रिपाठीजी अर्थ करते हैं—'दोनोंके बीचमें गंगाजीकी धारा सुविरति और विचारके साथ शोभित है।' वे लिखते हैं कि—(क) यहाँ कार्यसे कारणका ग्रहण किया। 'विरति' से कर्मकांड कहा, यथा—'धर्म ते बिरति'। और 'विचार' से ब्रह्मविचारका ग्रहण किया। संतसमाजप्रयागमें जाकर भक्ति, कर्मकांड और ज्ञानकांड (ब्रह्मविचार) से योग होता है। ब्रह्मविचारका सरस्वतीकी भांति अन्तः प्रवाह रहता है और धर्म तथा भक्ति प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होते हैं। प्रयागसे होती हुई गंगाजी जब बहुत आगे बढ़ जाती हैं तब जाकर सरयूका संगम होता है। अतः यहाँ भक्ति गंगाका विरति यमुना और ब्रह्मविचार सरस्वतीके साथ वर्णन करना पूर्णतः उपयुक्त है।

(ख)-'जुग बिच' इति। एक ओर तो उत्तरसे दक्षिण बहती हुई सरयू आईं, दूसरी ओर दक्षिणसे उत्तर बहता हुआ महानद शोण आया। बीचमें यमुना और सरस्वतीसे मिली हुई गङ्गाजीके पश्चिमसे पूर्वके प्रवाहकी अद्भुत शोभा है। इसी भांति एक ओरसे माधुर्य्यगुणयुक्त रामसुयश बह रहा है, दूसरी ओरसे ऐश्वर्य्यगुणयुक्त समरयशका प्रवाह आ रहा है, बीचमें वैराग्य और ब्रह्मविचारके साथ भक्तिकी अविच्छिन्न धाराकी अद्भुत शोभा है।

२—'यहाँभक्तिमें विरति और विचार क्या है?' यह प्रश्न उठाकर उसका उत्तर श्रीजानकीदासजी यह देते हैं कि श्रीमनुजीने पहिले विचार किया कि 'होइ न विषय विराग भवन बसत भा चौथ पन। हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरिभगति बिनु॥ बा० १४२।'—यह जो हृदयमें सोचा यही 'विचार' है। और तत्पश्चात् जो 'बरबस राज सुतहि तब दीन्हा। नारि समेत गवन बन कीन्हा'—यह वैराग्य है। पहिले विचार किया तब वैराग्य हुआ तब भक्ति। (यही मत श्रीवैजनाथजीका है)। बाबा जानकीदासजीके मतानुसार यह अर्थ हुआ कि 'जैसे सरयू और शोणके बीचमें गङ्गा शोभित हैं वैसे ही सुन्दर वैराग्य और विचारके सहित भक्ति शोभित है। कीर्त्तिरूपा कविता सरयू और समरयशरूप शोणके बीचमें भक्तिगङ्गा।'

३—करुणासिन्धुजी 'सुविरति विचारा' का अर्थ इस प्रकार करते हैं कि—'सुविरति=सुष्ठु वैराग्य। (सु) विचार=सुष्ठु विचार। असत् का त्याग सुष्ठु वैराग्य है और सत्का ग्रहण सुष्ठु विचार है। बिना इनके भक्तिकी शोभा नहीं।'

नोट—४ मा० म० 'जुग' से महानद गंडकी और शोन का अर्थ करते हैं। अर्थात् इन दोनोंके मध्य सुविरति और विचारसहित भक्ति गंगा शोभित हैं। शोण दक्षिणसे आकर शेरपुरके पास मिला और महानद उत्तरसे आकर रामचौराके बाएँ गंगामें मिला।—परंपराके पढ़े हुए मा० सा० कारने इस अर्थको 'अथवा' में रक्खा और मा० म० के भावको इस तरह निर्वाह करनेकी चेष्टा की है कि "काव्य सरयूको भक्तिगंगा निज उदरमें लेकर लखनलालके समरयश-शोन और श्रीरावणसमरयश शालग्रामी ये दोनोंके बीचमें दोनोंकी मर्यादा की रक्षा करती हुई सनातन राजती हैं। न तो भक्तिने रामसमरयशको दबाया और न लखनलालके समरयशकोही दबाया। चारों एकमें भिन्न-भिन्न होकर शोभा देती और साथही समुद्रमें मिलती हैं अर्थात् रामरूपमें प्राप्त होती हैं।"

त्रिविध ताप त्रासक तिमुहानी। रामसरूप सिंधु समुहानी॥ ४॥

शब्दार्थ—तिमुहानी = तीन मुखवाली। = वह स्थान जहाँ तीन ओरसे नदियाँ आकर मिली हों तीन नदियोंका सङ्गम होनेसे गङ्गाको तिमुहानी कहा। गङ्गामें पहले सरयू मिलीं फिर शोण।

अर्थ—तीनों तापोंको त्रास देनेवाली यह तिमुहानी गङ्गा रामस्वरूप सिन्धुकी ओर चली॥ ४॥

नोट—१ 'त्रिविध ताप त्रासक तिमुहानी' इति । (क) जैसे तीन मुँहवाले मनुष्यको देखनेसे डर लगे वैसे ही तीन नदियोंके संगमपर तीव्र धारा भयावन लगती है। इसीसे 'त्रासक' कहा। त्रिविध = तीन प्रकारका अर्थात् दैहिक, दैविक और भौतिक। यथा—'दैहिक दैविक भौतिक तापा। ७।२१।१।' शारीरिक कष्ट जैसे ज्वर, खाँसी, फोड़ा, फुंसी इत्यादि रोग तथा काम, क्रोधादि मानसरोग दैहिक ताप हैं। देवताओं अर्थात् प्राकृतिक शक्तियों ग्रहादि द्वारा जो क्लेश होता है उसे दैविक ताप कहते हैं जैसे अति वृष्टि, अनावृष्टि, बिजली गिरना, पाला इत्यादि। सर्प, बिच्छू, पशु इत्यादि द्वारा जो दुःख हो वह भौतिक ताप है। इन्हींका दूसरा नाम आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक हैं।

(ख) रघुवंश सर्ग ८ में श्रीसरयूगङ्गासंगमके प्रभावका उल्लेख मिलता है। उस प्रसंगकी कथा इस प्रकार है—'श्री दशरथजी महाराजकी माता इन्दुमती थीं जिनको 'अज' महाराज स्वयंवरमें जीतकर लाये थे। राजा दशरथकी बाल्यावस्थामें एक दिन नारद मुनि वीणा बजाते हुए आकाशमार्गसे निकले, वीणापरसे एक पुष्पमाला खिसकी और श्रीइन्दुमतीजीके हृदयपर गिरी जिससे उनके प्राण निकल गए। अज महाराज बहुत शोकातुर हुए तब वसिष्ठजीने शिष्य द्वारा उनको उपदेश कहला भेजा और बताया कि रानी इन्दुमती पूर्व जन्मकी अप्सरा है जो तृणबिन्दुऋषिका तपोभंग करनेको गई थी। ऋषिने मनुष्ययोनिमें जन्म लेनेका शाप दिया और प्रार्थना करनेपर देवपुष्पदर्शनतक शापकी अवधि नियुक्त कर दी। देवपुष्पके दर्शनसे उसका शाप समाप्त हुआ। उस समय दशरथजी बहुत छोटे थे। आठ वर्षके पश्चात् श्रीदशरथजीको राज्यपर बिठाके राजा अज उसी शोकसे व्याकुल श्रीसरयू-गंगा-संगमपर आए और वहाँ प्रायोपवेशन करके उन्होंने अपना प्राण त्याग दिया। स्वर्गमें पहुँचनेपर इंदुमतीकी वहाँ प्राप्ति हुई जो पूर्वसे अब अधिक सुन्दर थी। "तीर्थे तोय व्यतिकरभवे जह्नुकन्या सरय्वोर्देहत्यागादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः पूर्वाकाराधिकतररुचा संगतः कान्तयासौ लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु ॥ ९५ ॥' इस तीर्थका महात्म्य स्कंदपुराणमें यह लिखा है कि इस तीर्थमें किसी प्रकारभी जो देह त्याग करता है उसको अपने इष्ट वस्तुकी प्राप्ति होती है और आत्मघातका दोष नहीं लगता। यथा—"यथाकथंचित्तीर्थेऽस्मिन्देहत्यागं करोति यः। तस्यात्मघातदोषो न प्राप्नुयादीप्सितान्यपि।" (मल्लिनाथटीकासे)।

त्रिपाठीजी—जैसे कोई राजमार्ग पश्चिमसे पूर्वको जा रहा हो, उसमें एक मार्ग उत्तरसे आकर मिल जाय, और एक दक्षिणसे आकर मिल जाय तो उन सङ्गमोंके बीचके स्थलको तिमुहानी कहते हैं। इसी भाँति माधुर्य्य गुणोंके अनुध्यानसे भी भक्तिकी प्राप्ति होती है, तथा ऐश्वर्य्य गुणोंके अनुध्यानसे भी भक्तिकी ही प्राप्ति होती है, अतः रामसुयश, तथा 'सानुज रामसमरयश' दोनोंका भक्तिरूपी राजपथमेंही मिलना कहा। माधुर्य्य और ऐश्वर्य्यका बिराग विचारयुक्त भक्तिमें मिल जानेसे यहाँभी तिमुहानी हो गई।

यहाँपर श्रीगोस्वामीजीने हिन्दी संसारकी सीमाभी दिखला दी। हिन्दी-भाषा-भाषी संसारके पश्चिमकी सीमा यमुना नदी है, पूर्वकी सीमा गङ्गाशोणसङ्गम है। उत्तरकी सीमा सरयूनदी और दक्षिणकी सीमा शोण हैं। इन्हीं प्रान्तोंमें हिन्दी बोली जाती है। अतः इतनेमें ही श्रीगोस्वामीजीने अपने काव्यका रूपक बाँधा है।

टिप्पणी—१ (क) गङ्गा-सरयू-सोनका सङ्गम 'तिमुहानी' है। त्रिविध तापकी त्रास करनेवाली तीनों नदियाँ हैं। जब ये तीनों त्रिमुहानी हुईं तब रामस्वरूप सिन्धुके सम्मुख चलीं। भाव यह है कि जैसे इनका सङ्गम होनेपर समुद्रकी प्राप्ति होती है, वैसेही ज्ञान, वैराग्य और भक्ति होनेसे श्रीरामजी मिलते हैं। (ख) 'सिंधु' कहनेका भाव यह है कि तीनों नदियोंका पर्यवसान समुद्र है और ज्ञान, वैराग्य, भक्तिके पर्यवसान श्री रामजी हैं। (ग) गङ्गाजीमें सोन और सरयूका संगम कहकर तब समुद्रके सम्मुख चलना कहा अर्थात दोनोंको लेकर गङ्गाजी समुद्रमें मिलीं। समुद्रके मिलनेमें गङ्गाजी मुख्य हैं, इसी तरह ज्ञान-वैराग्य-सहित श्रीरामजीकी प्राप्ति करनेमें भक्ति मुख्य है।

नोट—२ (क) श्रीजानकीदासजी लिखते हैं कि 'सरयू, सोन और गङ्गा तीनों मिलकर समुद्रको चलीं। जहाँ समुद्रमें मिलीं वहाँ तिमुहानी गंगाकी धारा कुछ दूर समुद्रके भीतरतक चली गयी है। वैसेही यहाँ कैलाश-प्रकरण दोहा ११५ से कीर्ति सरयू चलकर मनुशतरूपाजीकी अनन्य रामभक्तिमें मिली फिर इसमें सानुज-राम-समर-यश (जो मारीच-सुबाहुके समरमें हुआ) रूपी शोण मिला। ये तीनों श्रीरामचन्द्रके राजसिंहासनपर विराजमान स्वरूपके सम्मुख चलीं और मिलीं। इसके पश्चात् जो चरित 'प्रथम तिलक वसिष्ठ मुनि कीन्हा। उ० १२।' से लेकर शीतल अमराईके प्रसंग दोहा ५१ तक वर्णित है वह नित्य चरितका है। यह नित्य चरित्रका वर्णन स्वरूप-सिंधुमें पहुँचकर धाराका कुछ दूरतक चला जाना है'। (मा० प्र०)। (ख) समुद्रके समीप गंगाका चलना कहकर अर्थात् पहिले सरयू-शोण-गंगाका संगम कहकर फिर समुद्रकी ओर चलना कहा और संगमका फल कहा। अब केवल सरयूका वर्णन करेंगे—(मा० द०)

वीरकवि—यहाँ 'उक्तविषया गम्यवस्तूत्प्रेक्षा' है क्योंकि बिना वाचक पदके उत्प्रेक्षा की गयी है। यहाँ अनुप्रास, उत्प्रेक्षा और रूपक तीनोंकी संसृष्टि है।

मानस मूल मिली सुरसरिही। सुनत सुजन मन पावन करिही ॥ ५ ॥

अर्थ—इस कीर्ति-सरयूका मूल (उत्पत्तिस्थान) मानस है और यह गंगाजीमें मिली है। (इस लिये) इसके सुननेसे सुजनोंका मन पवित्र होगा ॥ ५ ॥

नोट—१ यहाँसे सिंहावलोकन-न्याय काव्यरचना है अर्थात् जैसे सिंह चलकर फिर खड़ा होकर अगल-बगल दृष्टि डालता है वैसेही ऊपर राजतिलक-प्रसंग कहकर फिर पीछेका प्रसंग मानस, गंगा और सरयूका वर्णन उठाया और बीचके प्रसंग कहेंगे। समुद्र-संगम और संगमका माहात्म्य दो० ४० (४) में कहा, अब फिर सरयूका वर्णन करते हैं और माहात्म्य कहते हैं। यहाँसे आगे सरयूजी और कीर्तिसरयूका रूपक चला।

टिप्पणी—१ (क) नदी कहकर अब नदी का मूल कहते हैं। इसका मूल मानस है। (ख) नदीका संगम समुद्रसे कहना चाहिये जैसे अन्य-अन्य स्थानोंमें कहा है। यथा—(क) 'रिधि-सिधि-संपति नदी सुहाई। उमगि अवध अंबुधि कहँ आई।२।१।' (ख) 'ढाहत भूप रूप तरु मूला। चली बिपति बारिधि अनुकूला।२।३४।' तथा यहाँ भी समुद्रमें मिलना कहा, यथा—'त्रिबिध ताप त्रासक तिमुहानी। रामसरूप सिंधु समुहानी॥' (ग) मूल और संगम कहकर इस कीर्ति नदीका आदि और अन्त दोनों शुद्ध बताये, ⊛ सुनते ही सुजन बना देती है और मनको पावन करती है। अथवा यहाँ यह दिखाया कि श्रोता सुजन हैं इससे सुजनके मनको पवित्र करती है, आप पवित्र है और अपने श्रोताको पवित्र करती है। मनकी मलिनता विषय है; यथा—'काई बिषय मुकुर मन लागी।१।११५।' सुजनके मनको भी विषय मलिन करता है; यथा—'बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पाँवर पसु कपि अतिकामी॥ कि० २१।' (घ) 'पावन करिही' कहनेका भाव यह है कि अभी तो चली है, आगे पावन करेगी।

नोट—पाँडेजी भी यही भाव कहते हैं अर्थात् 'सुननेवालेको सुजन और उसके मनको पावन करेगी'। 'सुजन=अपने जन=सुन्दर जन।' इस अर्धालीमें 'अधिक अभेदरूपक' का भाव है। त्रिपाठीजी लिखते हैं कि गोस्वामीजीके दो श्रोता हैं, एक सुजन दूसरा मन। अतः यहाँ 'सुजन और मन' दोनोंका ग्रहण है।

बिच बिच कथा बिचित्र बिभागा। जनु सरि तीर तीर बनु बागा ॥ ६ ॥

⊛ उत्तररामचरितमें कहा है कि जिसकी उत्पत्ति ही पवित्र है, उसे और कोई क्या पवित्र करेगा? जैसे तीर्थोंके जल और अग्निको पवित्र करनेवाला दूसरा नहीं है, यथा—'उत्पत्तिः परिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः। तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः॥'

शब्दार्थ—विभाग = प्रकरण, प्रसंग ।

अर्थ—इस कीर्ति-सरयूके बीच-बीच जो विचित्र कथाओंके प्रकरण अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकारकी विचित्र कथाएँ कही गयी हैं वे ही मानों नदीके किनारेके पास-पासके वन-बाग़ हैं । ६ ।

टिप्पणी—१ (क) बीच-बीचमें कथाके जो विभाग हैं वे मानों सरिके तीर-तीर वन-बाग़ हैं । बड़ी कथा वन है, छोटी कथा बाग़ है । (ख) यहाँ वाटिका क्यों न लिखी ? क्योंकि नदीके तीर वाटिका नहीं होती, मानस-सरके तीर वाटिका है; इसलिये वहाँ वाटिकाभी दिखायी थी; यथा 'पुलक वाटिका बाग बन० ।' (ग) वृक्षोंका दो बार वर्णन किया गया, एक तो 'कलिमलत्रिन तरु मूल निकंदिनि' में और दूसरे यहाँ वन-बागमेंभी तरु हैं । दो बार इससे लिखा कि 'कलिमलत्रिन तरु०' से करारके वृक्ष सूचित किये और यहाँ करारके ऊपर जो बाग-वनमें वृक्ष लगे हैं उनको जनाया । पहलेवालोंको उखाड़ती हैं और वन-बागको ललित करती हैं ।

वि० त्रि०—'विचित्र विभागा' इति । कथाका विभाग एक-सा नहीं है । 'सती मरत हरि सन बर माँगा । जनम जनम सिवपद अनुरागा ।' इस लिये सतीका पर्वतराजके घर जन्म हुआ और उन्होंने सर्वज्ञ नारदके उपदेशसे तपस्या की । नारद-मोहकी कथा इससे बिलकुल नहीं मिलती । नारदजीको कामजयका अभिमान हुआ, अतः भगवान्‌से प्रेरित मायामयी मूर्ति विश्वमोहिनीपर वे मोहित हो गये । भानुप्रतापकी कथा इन दोनोंसे विलक्षण है । ये कपटीमुनिपर श्रद्धा करनेसे मारे पड़े । अतः 'विचित्र विभाग' कहा ।

नोट—१ (क) 'सरि तीर तीर' पद देकर सूचित करते हैं कि ये कथाएँ रामचरितमानसकी नहीं हैं किन्तु रामसुयशके प्रसंगसे कुछ दूरका सम्बन्ध रक्खे हैं । 'तीर' शब्द नदीसे अलग बाहर होना सूचित करता है । (ख) यहाँसे कीर्तिसरयू और साक्षात् सरयूका रूपक कहते हैं । सरयूके तीर-तीर कुछ जलका स्पर्श किये हुए वन-बाग़ हैं, वैसेही कीर्तिसरयूके लोकमत, वेदमत दोनों तटोंपर बीच-बीचमें विचित्र भाग-विभागकी कथाएँ हैं । वन-बागसे नदीकी शोभा, विचित्र कथा-विभागसे कीर्ति शोभित । (मा० प्र०)। (ग) सरयूतटपर पुर, ग्राम, नगरही नहीं हैं किंतु वन और बाग़भी हैं, वैसेही कीर्तिसरयूके दोनों तटोंपर श्रोताओंके अतिरिक्त बीचबीचमें विचित्र कथाएँ भी हैं ।

प्रश्न—श्रीरामचरितमानसमें ये कथाएँ कहाँ वर्णन की गई हैं, उनमें कौन वन-बाग हैं और क्यों ?

उत्तर—(१) कीर्ति-सरयूका प्रसंग शिवजीने उठाकर जलन्धरकी कथा, नारद-मोह, भानुप्रतापकी कथा, रावणका जन्म, दिग्विजय इत्यादि कथाएँ कहीं, वे ही ये कथाएँ हैं । सातों काण्डोंमें जहाँ-जहाँ मुख्य रामचरितका प्रसंग छोड़कर दूसरी कथाका प्रसंग आया और उसकी समाप्तिपर फिर मुख्य प्रसंग चला वे सब 'बीच' की कथाएँ हैं । जलन्धरकी कथा तथा नारद-मोह-प्रसंग क्रमशः छोटा और बड़ा बाग़ हैं । भानु प्रताप-कथा-प्रसंग वन है । रावणका जन्म, दिग्विजय, देवताओंके विचार ये वेद-मततीरके वन-बाग़ हैं । शिव-विवाहके उपरान्त जेवनार इत्यादि सब लोकमततीरके वन-बाग़ हैं । इसी तरह सारे प्रसंगोंकी योजना कर लें, लौकिक प्रसंग लोकमततीरके और वैदिक प्रसंग वेदमत-तीरके वन-बाग़ समझ लें । (मा० प्र०) ।

(२) मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि सतीमोह, सतीतनत्याग, नारदमोह, प्रतापभानु, रावणजन्म और दिग्विजय—ये कथाएँ विषम वनरूप हैं क्योंकि दुःखदायी हैं । याज्ञवल्क्यभरद्वाजसंवाद, पार्वती-जन्म तप और शिवजीसे विवाह, शिवपार्वतीसंवाद, मनुशतरूपाकी कथाएँ बाग़रूप हैं, फलकी देनेवाली हैं । ये सब मिलकर बारह कथाएँ रामचरितके बाहरकी हैं । (पाँडेजी) ।—(परंतु संवादको सरका घाट कह आए हैं ?)

(३) 'जैसे वन-बाग़से पथिकोंको आनन्द होता है वैसेही हर-एक विषयकी कथासे हर-एक

भावके लोगोंको आनन्द होता है ।' (मा० त० वि०) ।

(४) वनमें लोग भटक जाते हैं । सतीजी, नारदजी, भानुप्रताप आदि भी अपना रास्ता भूलकर भटक गए । श्रीगिरिजाजन्म और स्वायंभुव मनुशतरूपाकी कथाओंमें कार्त्तिकेयजन्म, रामचरितमानसकी कथा और ब्रह्मका अवतार आदि फल हैं जिनसे संसारका कल्याण हुआ । यहाँ सुखही सुख है ।

उमा महेस बिबाह बराती । ते जलचर अगनित बहु भाँती ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—बरात (सं० वरयात्रा)=विवाहके समय वरके साथ कन्यापक्षवालोंके यहाँ जानेवाले लोगोंका समूह जिसमें शोभाके लिये बाजे, हाथी, घोड़े, ऊँट या फुलवारी आदि भी रहती हैं । जो लोग बरातमें जाते हैं वे बराती कहलाते हैं ।

अर्थ—श्रीपार्वतीमहादेवजीके विवाहके बराती ही (कीर्त्तिसरयूके) बहुत भाँतिके अगणित (अनगिनती) जलचर हैं ॥ ७ ॥

नोट—१ 'जलचर बहु भाँती' इति । नदीमें बहुत प्रकारके रंग-बिरंगके बहुतसे जलचर होते हैं । कोई-कोई भयानक होते हैं और कोई-कोई सुन्दर भी, किसीका मुख बड़ा किसीका पेट, किसीका सिर पेटके भीतर, इत्यादि । शिव-गण भयानक हैं; यथा 'कोउ मुखहीन बिपुल-मुख काहू' से 'देखत अति बिपरीत बोलहिं बचन बिचित्र बिधि ॥ १ । ९३ । ६ ।' से ९३ तक । ये भयावने जलचर हैं । विष्णु, ब्रह्मा आदि सुन्दर जलचर हैं । बराती बहुत भाँतिके हैं और बहुत हैं, सुन्दर भी हैं और भयावने भी, यह समता है ।

वि० त्रि०—१ सात्त्विक लोग देवताओंका यजन करते हैं, राजसिक लोग यक्ष-राक्षसोंकी पूजा करते हैं, और तामसिक लोग भूत-प्रेतोंकी पूजा करते हैं । सो इस बरातमें सभी देवता हैं, सभी मुख्य-मुख्य यक्ष, राक्षस, भूत और प्रेत हैं । अतः बरात क्या है, त्रैलोक्यके लिये इष्टदेवोंका समाज है । जल-जंतुओंसे उपमा देकर यहभी दिखलाया है कि इस कविता-सरिमें मज्जन करनेवालोंको इनसे बचकर रहना चाहिये, नहीं तो ये उदरस्थ कर लेंगे । अर्थात् इन्हें इष्टदेव मान लेनेसे इन्हींकी गति होगी, फिर श्रीरामपदकी प्राप्ति न हो सकेगी । यथा 'देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि' (गीता), 'जे परिहरि हरिहरचरन भजहिं भूतगन घोर । तिन्ह कइ गति मोहि देउ बिधि ···। २ । १६७ ।' शिवजीके भूत-प्रेतादि गणभी रामयशमें विहार करनेवाले हैं, फिरभी इनका दूरसेही दर्शन सुखद है; इनके भजन करनेके फेरमें न पड़े, नहीं तो श्रीरामभक्तिसे दूर निकल जायगा ।

मानससरमें 'नवरस जप तप जोग बिरागा' जलचर थे और यहाँ महादेवजीके विवाहके बरातीको जलचर बता रहे हैं । बात यह है कि यशके प्रचारके साथ-साथ गूढ़ विषय नहीं चल सकते । सरयू सरि तो श्रीमानसका प्रचारमात्र है । श्रीगोस्वामीजीके पहिले श्रीरामयशका प्रचार इतना अधिक नहीं था । यह तो उनके काव्य श्रीरामचरितमानसके प्रचारकाही प्रभाव है कि श्रीरामकथाके विस्तारसे सभी परिचित हो गये हैं, अतः काव्यके प्रचारसे जिस भाँति रामयशका विस्तार होगा उसी भाँति उसमें वर्णित गूढ़ विषयोंका प्रचार नहीं हो सकता, अतः प्रचाररूपिणी सरयूसरिके रूपकमें श्रीरामचरितमानसमें वर्णित अन्य विषयोंको छोड़कर केवल कथा-भागसेही काम लिया है ।

रघुबर जनम अनंद बधाई । भवँर तरंग मनोहरताई ॥ ८ ॥

अर्थ—रघुवर-जन्मपर जो आनन्द और बधाइयाँ हुईं वे (कीर्तिसरयूके) भँवर और तरंगोंकी मन हरलेनेवाली शोभा हैं ॥ ८ ॥

नोट—१ यहाँ 'रघुबर' पदसे ग्रन्थकारकी सावधानता और चतुरता झलक रही है । यह शब्द

देकर उन्होंने श्रीरामचन्द्रजीके साथ-ही-साथ उनके तीन भ्राताओंको भी सूचित किया है। श्रीमद्गोस्वामीजीने इस शब्दको और भाइयोंके लियेभी दो-तीन ठौर दिया है। जैसे, 'बरनउँ रघुबर बिमल जसु । अ० मं० ।' में रघुबर केवल श्रीभरतजी, अथवा श्रीरामचन्द्रजी और श्रीभरतजी दोनोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। फिर 'मायामानुषरूपिणौ रघुवरौ । कि० मं० ।' में श्रीराम-लक्ष्मण दोनोंको 'रघुवर' कहा है। 'बाजत अवध गहगहे आनंद-बधाए । नाम करन रघुबरनि के नृप सुदिन सोधाए । गी० १ । ६ । १ ।' में भी आनन्द-बधाईके समय चारों भाइयोंके लिये 'रघुवर' शब्द आया है। पुनश्च यथा 'नेकु बिलोकि धौं रघुबरनि । चारि फल त्रिपुरारि तोको दिये कर नृपघरनि ॥ परस्पर खेलनि अजिर उठि चलनि गिरि-गिरि परनि ॥ गी० १ । २५ । १-२ ।'

२ (क)—आनन्द और बधाईको क्रमसे भँवर और तरंग कहा है। यहाँ यथासंख्य अलंकार है। आनन्द भँवर है क्योंकि मन जब आनन्दमें मग्न हो जाता है तब कुछ-सुध बुध नहीं रह जाती, आनन्द मनको अपनेमें डुबा लेता है जैसे भँवरके चक्करमें पड़ जानेसे बाहर निकलना कठिन होता है। श्रीदशरथजी आनन्दमें डूब गये—'दसरथ पुत्र जनम सुनि काना । मानहुँ ब्रह्मानंद समाना ॥··· १ । १९३ ।' इत्यादि । भँवरमें पड़नेवाला एकही स्थानमें चक्कर खाता रहता है। सूर्यभगवान्की यही दशा हुई थी; यथा 'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ । रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ ॥ १।१९५ ।' जब देवताओंका यह हाल हुआ तब मनुष्योंकी क्या कही जाय।

(ख) मा० मा० कारका मत है कि 'भँवर' के उपर्युक्त भावमें विरोध पड़ता है। भँवरके चक्करमें डूबना दुःखद है और यहाँ सुखद दृश्यसे उपमा है' पर इस दीनकी समझमें यहाँ मनके मग्न हो जानेमें समता है, अन्य अंगोंमें नहीं। संभवतः इसी भावसे पांडेजीने लिखा है कि 'आनन्दको भँवर इसलिए कहा है कि वह मनको अपनेमें डुबा लेता है।' देखिये, 'कलिमलतृन तरु मूल निकंदिनि' में वृक्षोंका उखाड़ना दोष है, परन्तु कलिमलका उखाड़ना गुण है।

(ग) 'बधाई' तरंग है, क्योंकि लोग गाते बजाते नाचते हुए मंगल द्रव्य लेकर चलते हैं। (खर्रा)। 'बधाई' मेंभी आनन्दकी लहरें, विशेषकर सात्विक भावकी तरंगें उठती हैं। पुनः, बधाई बजती है, वैसेही तरंगके उठनेमें शब्द होता है। पुनः, बधाईको तरंग कहा, क्योंकि वह बाहर-बाहर रहती है जैसे तरंगमें पड़ा हुआ मनुष्य ऊपर ही ऊपर बहता है। बधाईका लक्ष्य, यथा—'कहा बुलाइ बजावहु बाजा । १ । १९३ ।', 'गृह गृह बाज बधाव सुभ प्रगटे सुखमाकंद । हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नर वृंद । १ । १९४ ।', इत्यादि। (पाँ०)।

☞ जन्म-आनन्द-बधाईका प्रसंग 'अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ । १ । १८८ ।७।' से 'अनुपम बालक देखेन्हि जाई ।··· । १ । १९३ । ८ ।' तक है।

३ जन्मके आनन्द-बधाईकी उपमा 'भँवरतरंगकी मनोहरता' से दी है। इस तरह 'जन्मके आनन्दोत्सवकी बधाई' ऐसा अर्थ अधिक संगत जान पड़ता है। आनन्दोत्सव भँवरतरंगके विलासके समान सोह रहे हैं। पर प्रायः सभी टीकाकारोंने ऊपर दिया हुआ ही अर्थ किया है।

दोहा—बालचरित चहुं बंधु के बनज बिपुल बहु रंग।
नृपरानी परिजन सुकृत मधुकर बारि बिहंग ॥ ४० ॥

अर्थ—चारों भाइयों (श्रीरामचन्द्रजी, श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीशत्रुघ्नजी) के बालचरित इस (कीर्तिसरयू) में (खिले हुए) बहुत रंगके बहुत-से कमल हैं। महाराज दशरथजी तथा रानियोंके सुकृत (उन कमलोंपरके) भ्रमर हैं, और कुटुम्बियोंके सुकृत जल-पक्षी हैं ॥ ४० ॥

नोट—१ ☞ बालचरित-प्रकरण 'मुनि-धन जन-सरबस सिव-प्राना । बालकेलि-रस तेहि सुख माना ॥

१ । १९८ । २ ।' से प्रारम्भ होकर 'यह सब चरित कहा मैं गाई । १ । २०६ । १ ।' पर समाप्त हुआ ।

नोट—२ 'बनज बिपुल बहु रंग' इति । बनज (वनज)=वन+ज=जलसे उत्पन्न=जलज, जलजात, कमल; यथा 'जय रघुबंस-बनज-बन भानू । ३।२८५ ।' वन जलको कहते हैं । यथा 'बाँधेउ वननिधि नीरनिधि जलधि सिंधु बारीस । ६ । ५ ।' कमल चार रंगके होते हैं । 'सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा । १ । ३७ । ५ ।' देखिये । यहाँ बन्धु भी चार हैं । 'कौन चरित किस रंगका कमल है ?' इसपर कुछ टीकाकारोंने अपने-अपने विचार लिखे हैं ।

(क) मानसदीपिकाकार बालचरितमेंसे इन चारों रंगोंके कमलोंके उदाहरण इस प्रकार लिखते हैं कि—(१) 'बेद पुरान सुनहिं मन लाई । आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥···१ । २०५ । ६ ।' श्वेत रंगके कमल हैं । (२) 'देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंड ।···। २०१ से २०२ ।' तकका चरित पीतरंगका कमल है । (३) 'आयसु माँगि करहिं पुर-काजा । १ । २०५ ।' अरुण कमल है । (४) 'पावन मृग मारहिं जिय जानी । १ । २०५ । २ ।' यह नील कमल है ।

(ख) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'हास्यरसमय बालचरित श्वेत कमल हैं वीररसमय चरित पीत रौद्ररसके चरित अरुण और रूप-माधुरी-वर्णनवाले प्रसंग शृङ्गाररसके चरित नीलकमल हैं । इनके उदाहरण क्रमसे ये दिये हैं—'भाजि चले किलकत मुख । १ । २०३ ।', 'खेलहिं खेल सकल नृप-लीला ।. करतल बान धनुष अति सोहा । १ । २०४ ।', 'बन मृगया नित खेलहिं जाई । १ । २०५ ।', 'जिन बीथिन्ह बिहरहिं सब भाई । थकित होहिं सब लोग लुगाई ॥ १ । २०४ ।' इत्यादिसे विवाहपर्यन्त जो रूपकी माधुरी वर्णित है ।'

(ग) खर्रेमें पं० रामकुमारजीने ये श्लोक दिये हैं—'श्वेतं पीतं तथा नीलं रक्तञ्चैव चतुर्विधम् । बाल्यं वैवाहिकं युद्धं राज्यं चैव चतुर्विधम् ॥ एतल्लीला प्रमाणं तु कथयन्ति मनीषिणः ॥', 'माधुर्यैश्वर्यं वात्सल्यं कारुण्यञ्च चतुर्विधम् । लीलाब्जं च रामस्य कथयन्ति मनीषिणः ।' अर्थात् पंडित लोग कहते हैं कि बाल्य, विवाह, युद्ध और राज्यके चरित क्रमशः श्वेत, पीत, नील और रक्त कमल हैं । अथवा, माधुर्य, ऐश्वर्य, वात्सल्य और कारुण्य ये चार भाव चार प्रकारके कमल हैं । परन्तु ये प्रत्येक भाव बाल, विवाह, युद्ध और राज्य चारोंमें आ सकते हैं ।

(घ) त्रिपाठीजी सात्त्विक, राजसिक, तामसिक और गुणातीत चार प्रकारके चरितको चार प्रकारके कमल (श्वेत, रक्त, नील और पीत) मानते हैं । उदाहरण क्रमसे; यथा 'तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंज की मंजुलताइ हरैं ।··· क० १ ।', 'किलकत मोहि धरन जब धावहिं । चलउँ भागि तब पूप देखावहिं ॥ आवत निकट हँसहिं प्रभु भाजत रुदन कराहिं ।··· ॥ ७ । ७७ ।', 'आजु अनरसे हैं भोर के पय पियत न नीके । रहत न बैठे ठाढ़े पालने झुलावतहू···' (गीतावली), 'देखरावा मातहिं निज अद्भुत रूप अखंड । रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड । २०१ ।' से 'देखी भगति जो छोरै ताही । २०२ । ४ ।' तक । मानसमेंसे सात्त्विकका उदाहरण, यथा—'बेद पुरान सुनहिं मन लाई । आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई ॥ प्रातकाल उठि कै रघुनाथा । मातु पिता गुर नावहिं माथा । १ । २०५ ।' तामसका, यथा 'बन मृगया नित खेलहिं जाई' । राजसके और उदाहरण, यथा—'खेलहिं खेल सकल नृप-लीला । १ । २०४ ।' इत्यादि ।

(ङ) मानसपरिचारिकाकार तीन ही प्रकारके कमल मानकर लिखते हैं कि "यहाँ 'बहुरंग' पद दास्य सख्य, वात्सल्य इन तीन रसोंके विचारसे दिया गया है । इनमेंसे दास्य धूम्र रंगका, सख्य पीतरंगका और वात्सल्य चित्ररंगका कमल है । इनके उदाहरणमें एक-एक चौपाई सुनिये । 'बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा । अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा ॥ १ । २०३ ।' यह दास्यरसका चरित धूम्र-रंगका है । 'बंधु सखा सँग लेहिं बोलाई । बन मृगया नित खेलहिं जाई । १ । २०५ ।' यह सख्यरसका चरित पीत-रंगका कमल है । और, 'भोजन करत बोल जब राजा । नहिं आवत तजि बाल समाजा । १ । २०३ ।' यह वात्सल्यरस चित्ररंगका कमल है ।'

(च) मा० मा० ने मा० प्र० केही भाव दिये हैं, भेद केवल इतना है कि दास्य, वात्सल्य और सख्य रसमय चरित्रोंको इन्होंने क्रमसे रक्त (क्योंकि ये वहुत हैं), पीत और नील कमल (जो सबसे कम हैं) कहा है।

नोट—३ 'नृप रानी परिजन सुकृत' इति। (क) वालचरितरूपी कमलोंको कहकर अब जिनके पुण्योंका यह फलभोग है उनको कहते हैं। 'नृप' से यहाँ श्रीदशरथजी महाराज और रानीसे उनकी कौसल्यादि रानियाँ अभिप्रेत हैं क्योंकि वालचरितका रसास्वादन इन्हींको मिला। (ख) इसमें यथासंख्य अलङ्कार है अर्थात् नृपरानी और परिजनके सुकृत क्रमसे मधुकर और पक्षी हैं। नृपरानीके सुकृत मधुकर और परिजनके सुकृत जल-पक्षी हैं। †

४ 'सुकृत मधुकर···' इति। (क) सुकृतको भ्रमर कहा क्योंकि यह पुण्य ही का फल है कि वात्सल्य रसमें पगे हुए राजा-रानी चारों भाइयोंका लालन-पालन-पोषण, मुखचुम्बन इत्यादिका आनन्द लूट रहे हैं। जैसे भ्रमर कमलका स्पर्श करता है, रस चूसता है, इत्यादि, यथा 'कर पद मुख चपु कमल लसत लखि लोचन भ्रमर भुलावउँ। गी० १। १५। १।', 'पुन्य फल अनुभवति सुतहि विलोकि दसरथघरनि। गी० १। २४। ६।', 'दसरथ सुकृत मनोहर विरवनि रूप करह जनु लाग। गी० १।२६। २।', 'दसरथ सुकृत राम धरे देही। १। ३१०।', 'जनु पाए महिपालमनि क्रियन्ह सहित फल चारि। १। ३२५।', 'सुकृती तुम्ह समान जग माहीं। भयउ न है कोउ होनेउ नाहीं॥ तुम्ह ते अधिक पुन्य वड़ काके। राजन राम सरिस सुत जाके। १। २९४।'

(ख) भ्रमर कमलका अधिक स्नेही है, कमलके मकरन्दका अधिक पान यही करता है। राजारानीको वालचरितका विशेष सुख हुआ, अतः इनके सुकृतको मधुकर कहा। मातापिताकी अपेक्षा परिजनका सुकृत और सुख थोड़ा है, इसीसे इसको जलपक्षीकी उपमा दी। (सू० प्र० मिश्र)। दम्पतिको जन्मसे ही सुख मिल चलता है और परिजनको वड़े होने पर सुख मिलता है; यथा 'वड़े भये परिजन सुखदाई।' अतः एकको मधुकर और दूसरेको जलपक्षी कहा।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'भ्रमर कमलका आलिंगन करता है, राजारानी भाइयोंको गोद लेते हैं, मुखचुम्बन करते हैं। जलपक्षी कमलको देखकर सुखी होते हैं। वैसे ही परिजन वालचरित देख सुखी होते हैं। दोनों वालचरितके सुखरूपी मकरन्दको पान करते हैं। सुख ही मकरन्द है, यथा— 'सुख मकरंद भरे श्रिय मूला। २। ५३।' नृप-रानी और परिजन आदिके सुखके उदाहरण; यथा—'भोजन करत बोल जब राजा' से 'भाजि चले किलकत मुख दधि ओदन लपटाइ। बा० २०३।' तक, 'अनुज सखा संग भोजन करहीं' से 'देखि चरित हरषइ मन राजा। तक २०५। ४-८।', 'जेहि विधि सुखी होहिं पुर-लोगा। करहिं कृपानिधि सोइ संजोगा। २०५। ५।' परिजनके सुखका वर्णन; यथा 'कछुक काल वीते सब भाई। वड़े भए

† प्रायः समस्त टीकाकारोंने 'सुकृत' को ही 'मधुकर' और 'वारिविहंग' माना है। पर श्रीनंगे परमहंसजी इस मतका खण्डन करते हैं। वे लिखते हैं कि 'ऐसा अर्थ करनेसे कई दोष उपस्थित हो जाते हैं।' प्रथम यह कि जैसे कमल भोग है और मधुकर भोक्ता, वैसेही वालचरित भोग है और राजारानी भोक्ता हैं न कि उनके शुभ कर्म। कर्म भोक्ता हो ही नहीं सकता, कर्मोंका कर्त्ता भोक्ता होता है, यथा—'करै जो कर्म पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई।' अतः सुकृतको भौंरा बनाना वेदविरुद्ध है। पुनः जब वालचरित कमल है तो उसका सुख अनुभव करनेवाले मातापिता भ्रमर हैं; यह सुख दम्पतिको हो रहा है न कि उनके सुकृतको।' इसी प्रकार 'परिजन सुकृत' का अर्थ परिजनके सुकृत करनेसे भावविरोध उपस्थित हो जाता है। इसका अर्थ है 'सुकृती परिजन।'—इस प्रकार उत्तरार्धका अर्थ हुआ—'राजारानी मधुकर हैं और सुकृती परिजन जलपक्षी हैं।'

परिजन सुखदाई ।२०३।२।' से दोहा २०३ तक। दशरथ-अजिर घरके भीतरके सब चरित परिजन सुखदाई हैं।

मानसतत्त्व-विवरणकार लिखते हैं कि 'कमलमें सुगन्ध और मकरन्दरस होता है। यहाँ 'व्यापक ब्रह्म अजीह अज निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना विधि करत चरित्र अनूप। १। २०५।' यही सुगन्ध है। 'मुनि मन धन-सर्वस सिव-प्राना। बालकेलिरस तेहि सुख माना। १। १९८।'. यह रस है। मा० प्र० का मत है कि लालन-पालन आलिंगन आदि रस पान करना है और परिजनसुकृतरूपी विहंगोंका अनेक प्रकारके चरित्रों का देखना ही सुगंध लेना है। पांडेजीके मतानुसार 'मुख-चुम्बनको देख आनंद प्राप्त होना कमलोंमेंसे रसका टपकना है।'

सीय स्वयंबर कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबि छाई॥ १॥

अर्थ—श्रीसीताजीके स्वयंवरकी जो सुन्दर कथा है वह इस सुहावनी नदीकी सुन्दर छवि है जो इसमें छा रही है। १।

नोट—१ 'सीय स्वयंबर···' इति। कुछ लोग यह शंका करते हैं कि 'स्वयंवर तो वह है जिसमें कन्या अपनी रुचि-अनुकूल वर कर ले, और यहाँ तो ऐसा नहीं हुआ; तब इसे स्वयंवर क्यों कहा?' इस विषयमें यह जान लेना चाहिये कि स्वयंवर कई प्रकारका होता है। देवीभागवत तृतीयस्कंधमें लिखा है कि 'स्वयंवर केवल राजाओंके विवाहके लिये होता है, अन्यके लिये नहीं और वह तीन प्रकारका है—इच्छा-स्वयंवर, पण स्वयंवर और शौर्य-शुल्क-स्वयंवर। यथा 'स्वयंवरस्तु त्रिविधो विद्वद्भिः परिकीर्त्तितः। राज्ञां-विवाहयोग्यो वै नान्येषां कथितः किल। ४१। इच्छास्वयंवरश्चैको द्वितीयश्च पणाभिधः। यथा रामेण भग्नं वै त्र्यम्बकस्य शरासनम्। ४२। तृतीयः शौर्य शुल्कश्च शूराणां परिकीर्तितः।' शौर्य-शुल्क-स्वयंवरके उदाहरणमें हम भीष्मपितामहने जो काशिराजकी तीन कन्याओं अंबा, अंबालिका और अंबिकाको, अपने भाइयोंके लिये स्वयंवरमें अपने पराक्रमसे सब राजाओंको जीतकर, प्राप्त किया था, इसे दे सकते हैं।

स्वयंवर उसी कन्याका होता है जिसके रूपलावण्यादि गुणोंकी ख्याति संसारमें फैल जाती है और अनेक राजा उसको ब्याहनेके लिये उत्सुक हो उठते हैं। अतः बहुत बड़े विनाशकारी युद्धके बचानेके लिए यह किया जाता है। इच्छास्वयंवर वह है जिसमें कन्या अपने इच्छानुकूल जिसको चाहे जयमाल डालकर ब्याह ले। जयमाल तो इच्छास्वयंवर और पणस्वयंवर दोनोंमें ही पहनाया जाता है। जयमाल-स्वयंवर अलग कोई स्वयंवर नहीं है। दमयन्ती-नल-विवाह और राजा शीलनिधिकी कन्या विश्वमोहिनी का विवाह (जिसपर नारदजी मोहित हो गए थे) 'इच्छा स्वयंवर' के उदाहरण हैं। पण (प्रतिज्ञा) स्वयंवर वह है जिसमें विवाह किसी प्रतिज्ञाके पूर्ण होनेहीसे होता है, जैसे राजा द्रुपदने श्रीद्रौपदीजीका पराक्रम-प्रतिज्ञा-स्वयंवर किया। इसी प्रकार श्रीजनक-महाराजने श्रीसीताजीके लिए पणस्वयंवर रचा था। यथा 'पन बिदेह कर कहहिं हम भुजा उठाइ बिसाल। १। २४९।···सोइ पुरारि कोदंडु कठोरा। राज समाज आज जोइ तोरा। त्रिभुवन जय समेत बैदेही। बिनहिं बिचार बरै हठि तेही।' श्रीरामजीने धनुषको तोड़ कर उन्हें ब्याहा। यथा 'रहा बिबाह चाप आधीना। टूटतही धनु भयेउ बिबाहू। १। २८६।' कुछ महानुभाव इसके पूर्व पुष्पवाटिकाप्रसंगके 'निज अनुरूप सुभग बर माँगा' एवं 'चली राखि उर स्यामल मूरति' इन वाक्योंसे यहाँ इच्छा-स्वयंवर होना भी कहते हैं। परन्तु इसकी पूर्ति 'प्रतिज्ञाकी पूर्ति' पर ही संभव थी, इसलिये इसे पणस्वयंवर ही कहेंगे। शिवधनुषके तोड़नेपर ही जयमाल पहनाया गया।

२ 'कथा सुहाई' इति। अन्य स्वयंवरोंकी कथासे इसमें विशेषता है। यह केवल धनुषभंगकीही कथा नहीं है किन्तु इसमें एक दिन पहले पुष्पवाटिकामें परस्पर प्रेमावलोकनादि भी है और फिर दूसरे ही दिन उन्हींके हाथों धनुर्भंगका होना वक्ता-श्रोता-दर्शक सभीके आनन्दको दुबाला कर देता है, सब जय-जय-

कार कर उठते हैं—'राम बरी सिय भंजेउ चापा'; अतः 'सुहाई' कहा। दूसरे, श्रीरामकथाको 'सुहाई' कह आये हैं; यथा 'कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई' अब श्रीसीताजीकी कथाको 'सुहाई' कहा। सीयस्वयंवरकथा वस्तुतः श्रीसीताजीकी कथा है। (वि० त्रि०)। तीसरे, ऊपर 'रघुवरजन्म' कहा और यहाँ 'सीयस्वयंवर' कहा, क्योंकि पुत्रका जन्म सुखदायी होता है और कन्याका विवाह। लोकमें जन्मसे विवाह कहीं सुन्दर माना जाता है, इससे 'सीयस्वयंवर कथा' को 'सुहाई' कहा। (रा० प्र०)।

३ 'सो छबि छाई' का भाव यह है कि सीयस्वयंवरकथासेही रामयशसे भरी हुई इस कविताकी शोभा है; यथा 'बिस्व बिजय जसु जानकि पाई'। सीयस्वयंवरकथामें युगलमूर्तिका छविवर्णन भरा पड़ा है, बीसों बार 'छबि' शब्दकी आवृत्ति है। यहींकी झाँकीमें 'महाछबि' शब्दका प्रयोग हुआ है। यथा 'नखसिख मंजु महाछबि छाए। १। २४४।', 'छबिगन मध्य महाछबि जैसे। १। २६४।' ग्रन्थकार कहते हैं कि छविका सार भाग यहीं है। यथा 'दूलह राम सीय दुलही री।...सुखमा सुरभि सिंगार छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही री। मथि माखन सियराम सँवारे सकल भुवन छबि मनहु मही री। गी० १।१०४।' अतः कवितासरितकी छवि सीयस्वयंवर ही है। (वि० त्रि०)।

४ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'सरित सुहावनि' कहनेका भाव यह है कि कीर्त्ति-नदी तो स्वयं सुहावनी है, कुछ 'सीय-स्वयंवर' की कथाके कारण सुहावनी नहीं हुई। उस कथासे कुछ उसकी शोभा नहीं हुई। स्वयंवरकी कथा ऐसी है कि जैसे कोई स्वरूपवती स्त्री शृङ्गार करे, वैसेही इस सुहावनी नदीकी छवि है। स्वयंवरकथा कीर्ति नदीका शृङ्गार है।

☞ ५ (क) 'सीय-स्वयंवर'—प्रकरण कहाँसे कहाँतक है इसमें मतभेद है। किसीका मत है कि 'तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिय जाई॥ धनुषजग्य सुनि रघुकुलनाथा। १। २१०। ६।' से यह प्रकरण प्रारम्भ हुआ, और किसीके मतानुसार 'सीय स्वयंबर देखिय जाई॥ १। २४०। १।' से तथा किसीके मतसे यह सब चरित कहा मैं गाई। आगिलि कथा सुनहु मन लाई। १। २०६। १।' से हुआ है। (ख) पं० रामकुमारजीके मतानुसार स्वयंवर-प्रसङ्ग 'तदपि जाइ तुम्ह करहु अब जथा बंस ब्यवहारु। १। २८६।' तक है और कुछ महानुभावोंके मतानुसार 'रघुबर उर जयमाल०। २६४।', अथवा, 'गौतम तिय गति सुरति...। २६५।' पर यह प्रकरण समाप्त हुआ है। (मा० प्र०)। (ग) मेरी समझमें 'आगिलि कथा सुनहु मन लाई। १। २०६। १।' से अथवा महर्षि विश्वामित्रजीके साथ श्रीअयोध्याजीसे जानेके समयसे अर्थात् 'पुरुषसिंह दोउ बीर चले सग मुनि-भय-हरन। १। २०८।' से 'सीय-स्वयंवर' की भूमिका समझनी चाहिए। (घ) मा० प्र० कार कहते हैं कि 'दश दोहा पुष्पवाटिका प्रकरणकी कथा मानस-सरके प्रकरणमें 'राम सीय जस सलिल सुधा सम।' के साथ है और किंचित्-किंचित् जल-गुणके साथ कहेंगे। यह गुण तो जलके साथही रहता है।' श्रीपाँडेजीका मत है कि फुलवारीकी कथाही श्रीजानकीजीके स्वयंवरकी कथा है (क्योंकि स्वयं वर ढूँढकर हृदयमें उसे पतिरूपसे रखना यहाँ ही पाया जाता है और आगे तो प्रतिज्ञा एवं जयमालस्वयंवर है। केवल 'सीय-स्वयंवर' यही है) जो इस नदीकी शोभित छवि है। इसे छवि कहकर जनाया कि कविता—सरितामें पुष्पवाटिकाकी कथा सर्वोपरि है, इसीसे इसे नदीका शृङ्गार कहा। (खर्रा)

वैजनाथजी—श्रीअयोध्याजीमें श्रीसरयूजीकी विशेष शोभा है। तीरपर संतोंके निवासाश्रम, तुलसी पुष्पादिके वृक्ष, ठाकुरद्वारा, पत्थरके बुर्ज, साफ़ सीढ़ियाँ और उनपर निर्मल जलकी तरंगें इत्यादि छवि छा रही हैं। वैसेही श्रीकिशोरीजीके स्वयंवरकी कथा—जनकपुरवर्णन, धवलधाम, 'मणि-पुरट-पटादि' तीरके मंदिर हैं, प्रेमीजन साधु हैं, रंगभूमि दिव्य घाट हैं, प्रभुकी सब लीला जल है, किशोरीजीकी लीला जलकी अमलता है, फुलवारी रंगभूमिमें परस्पर प्रेमावलोकन अगाधता है, उपमा तरंगें हैं, स्त्री-पुरुष-तुलसी-पुष्प-वृक्ष,

इत्यादि—कीर्ति = सरिताकी सुहावनी छवि छा रही है।

सुधाकरद्विवेदीजी—'स्वयंवरकथानदी रामबाहुबलसागरमें मिलनेसे पतिसंयोगसे तृप्त हुई। वह सागर भी अपनी प्रियाके मिलनेकी लालसासे ऐसा लहराया कि धनुषरूप बड़े जहाजको भी तोड़ डाला। इसीपर २६१ वाँ दोहा कहा है—'संकर चाप जहाज सागर रघुबर बाहुबल।०'

नदी नाव पटु प्रस्न अनेका। केवट कुसल उतर सबिबेका॥ २॥

शब्दार्थ—पटु=विचारपूर्वक।='विचारवानोंके'।=चतुर, कुशल, प्रवीण। अथवा, पटु=सुन्दर, मनोहर; यथा 'रघुपति पटु पालकी मँगाई', 'पौढ़ाये पटु पालने सिसु निरखि मगन मन मोद'। पुनः, पटु= स्फुट, प्रकाशित। पं० रा० कु० के पुराने खर्रेमें 'पटु' का अर्थ 'छलरहित' दिया है, यथा—'प्रस्न उमा कै सहज सुहाई। छलबिहीन सुनि०', 'लछिमन बचन कहे छलहीना०'। 'पटु' संस्कृत शब्द है। कुशल=अच्छा, समर्थ, प्रवीण, चतुर; यथा 'पर उपदेस कुसल बहुतेरे'।

अर्थ—अनेक 'पटु' प्रश्न इस सुकीर्ति-सरयू-नदीकी नावे हैं और उनके विवेकसहित पूर्ण रीतिसे उत्तर नावके चतुर केवट हैं॥ २॥

नोट—१ पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि अनेक प्रश्न हैं, अनेक नावे हैं, अनेक केवट हैं। जैसा प्रश्न वैसी नाव। और वैसेही कुशल उत्तररूपी केवट। 'कुशल' कहनेका भाव यह है कि सब प्रश्नोंके उत्तर रामायणमें पूरे उतरे हैं। उत्तर न देते बननाही नावका डूबना है सो यहाँ सब उत्तर पार हो गये हैं, कोई नाव नहीं डूबी। श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि—'पटु' से उन चतुर स्त्रियोंसे तात्पर्य है जो मिथिलापुरके झरोखेमें बैठी हुई रघुनाथजीका वृत्तान्त पूछ रही हैं। इनके प्रश्न नाव हैं। उत्तर देनेमें जो युवतियाँ कुशल हैं, जिन्होंने विवेकसंयुक्त मुनिवधू-उधारनादि प्रभाव सुनाकर निस्सन्देह किया, उनके उत्तर केवट हैं।' पं० रामकुमारजीका मत है कि 'यहाँ प्रश्नोत्तर स्वयंवरका प्रकरण नहीं है क्योंकि इस प्रकरणमें तो किसीका प्रश्नोत्तर नहीं है। [नोट—जहाँ उत्तर नहीं बन पड़ा है, वह प्रसङ्ग 'कुशल केवट' नहीं है और न वह यहाँ अभिप्रेत है]

प्रश्न और उनके उत्तरोंके उदाहरण,—(१) 'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक। मुनिकुलतिलक कि नृपकुलपालक। १। २१६। १।' इत्यादि। इस प्रश्नका कुशल उत्तर 'कह मुनि बिहसि कहेहु नृप नीका। बचन तुम्हार न होइ अलीका।' से 'मख राखेउ सब साखि जग···। २१६।' तक। (२) 'कोटि मनोज लजावनि हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे। २। ११७। १।' ग्रामवासिनिओंके इस प्रश्नका उत्तर 'तिन्हहिं बिलोकि बिलोकति धरनी। दुहुँ सकोच सकुचति बरबरनी॥···सहज सुभाय सुभग तन गोरे। नामु लखनु लघु देवर मोरे॥ बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी। पिय तन चितइ भौंह करि बाँकी॥ खंजन मंजु तिरीछे नयननि। निज पति कहेउ तिन्हहिं सिय सयननि॥'— कितना कुशल और पूर्ण है कि सुनकर 'भई मुदित सब ग्राम बधूटीं। रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं॥ अति सप्रेम सिय पायँ परि···। ११७।' (३) 'अब जहँ राउर आयसु होई। मुनि उदबेगु न पावै कोई॥···अस जिय जानि कहिय सोइ ठाऊँ। सिय सौमित्रि सहित जहँ जाऊँ। तहँ रचि रुचिर परन तृन साला। बासु करौं कछु काल कृपाला। २। १२६। २-६।'—श्रीरामजीके इस प्रश्नका उत्तर महर्षि वाल्मीकिजीने क्या सुन्दर दिया है, प्रथम तो उत्तरकी भूमिकाही सुन्दर है—'साधु साधु बोले मुनि ग्यानी' से 'जस काछिअ तस चाहिअ नाचा। २। १२७। ८।' तक; फिर 'पूँछेहु मोहि कि रहौं कहँ मैं पूँछत सकुचाउँ। जहँ न होउ तहँ देहु कहि तुम्हहिं देखावौं ठाउँ। १२७।' से 'बसहु निरंतर तासु मन सो राउर निज गेहु। १३१।' तक, फिर 'कह मुनि सुनहु भानुकुलनायक' से 'चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ। १३२।' तक। उत्तर कितना सुन्दर है, कि प्रश्नकर्ता प्रसन्न हो गया—'बचन सप्रेम राम मन भाए।' (४) श्रीभरद्वाजजीसे श्रीरामजीका प्रश्न—'नाथ कहिअ हम केहि मग जाहीं। २। १०९। १।' और उसका उत्तर 'मुनि मन बिहसि राम सन कहहीं। सुगम सकल मग तुम्ह कहँ अहहीं।' कितना सुन्दर और पूर्ण

है । । (५) अरण्यकांडमें श्रीलक्ष्मणजीके प्रश्न और श्रीरामजीका उत्तर जो 'श्रीरामगीता' नामसे प्रसिद्ध है; । ३ । १४ । ५ 'मैं पूछउँ निज प्रभु की नाईं" से 'भगति जोग सुनि अति सुख पावा । १७ । १ ।' तक यह प्रसंग है । (६) श्रीशबरीजीसे प्रश्न—'जनकसुता कइ सुधि भामिनी । जानहि कहु करिबरगामिनी ।' और उसका कुशल उत्तर 'पंपासरहि जाहु रघुराई । तहँ होइहि सुग्रीव मिताई ॥ सो सब कहिहि देव रघुबीरा । जानतहूँ पूछहु मति धीरा ॥ बार बार प्रभु पद सिर नाई । प्रेम सहित सब कथा सुनाई ॥ ३ । ३६ । १०-१४ ।' (७) श्रीनारदजीके प्रश्न—'राम जबहि प्रेरेउ निज माया । मोहेहु मोहि सुनहु रघुराया ॥ तब बिवाह मैं चाहउँ कीन्हा । प्रभु केहि कारन करै न दीन्हा ॥ ३ । ४३ । २-३ ।', तथा 'संतन्ह के लच्छन रघुबीरा । कहहु नाथ भवभंजन भीरा ॥ ३ । ४५ । ५ ।' और उनके उत्तर 'सुनु मुनि तोहि कहउँ सहरोसा । ३ । ४३ । ४ ।' से 'ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं... ४४ ।' तक, तथा 'सुनु मुनि संतन्ह के गुन कहऊँ । ४५ । ६ ।' से ४६ (८) तक । उत्तर सुनकर 'मुनि तन पुलक नयन भरि आए । ४५ । १ ।' और 'नारद सुनत पद पंकज गहे । ४६ ।' (६) किष्किंधामें श्रीहनुमान्जीका प्रश्न श्रीरामजीसे 'को तुम्ह स्यामल गौर सरीरा ।...।४।१।७।' से दोहा तक और उसका उत्तर 'कोसलेस दसरथ के जाए ।' से 'आपन चरित कहा हम गाई ।' और साथही प्रश्न 'कहहु बिप्र निज कथा बुझाई' और हनुमानजीका कुशल उत्तर । सुग्रीवजीसे श्रीरामजीका प्रश्न और उनका उत्तर—'कारन कवन बसहु बन मोहि कहहु सुग्रीव । ४ । ५ ।' से 'तदपि सभीत रहउँ मन माहीं' तक । बालीका प्रश्न—'अवगुन कवन नाथ मोहि मारा और उसका उत्तर । ४४ । ६ । ५-१० । जांबवान्जीसे हनुमान्जीका प्रश्न—'जामवंत मैं पूछउँ तोही । उचित सिखावनु दीजहु मोही ।' और उसका उत्तर 'एतना करहु तात तुम्ह जाई' से 'परम पद नर पावई' तक ४ । ३० में । (१४)—सुन्दरमें श्रीविभीषणजीका प्रश्न और हनुमान्जीका उत्तर 'बिप्र कहहु निज कथा बुझाई । ५ । ६ । ६ ।' से दोहा ७ तक । श्रीसीताजीके प्रश्न—'नर बानरहि संग कहु कैसे', 'कपि केहि हेतु धरी निठुराई' 'हैं सुत कपि सब तुम्हहि समाना ।...' और हनुमान्जीके उत्तर । हनुमान्-रावण-संवादभी रावणके प्रश्नसे प्रारम्भ होता है । सबके उत्तर पूरे-पूरे हनुमान्जीने दिये । श्रीरामजीके प्रश्न श्रीहनुमान्जीसे—'कहहु तात केहि भाँति जानकी । ५ । ३० । ८ ।' 'कहु कपि रावन - पालित लंका । केहि बिधि दहेउ दुर्ग अति बंका । ३३ । ५ ।' और उनके उत्तर । इसी तरह लंकाकांडमें सुवेलपर्वतपर श्रीरामजीके प्रश्न और सुग्रीवादि सबोंके उत्तर । अंगद-रावण-संवादमें रावणके प्रश्नोंके कुशल उत्तर अंगदने जो दिये हैं । विभीषणका प्रश्न—'नाथ न रथ नहिं तन पद त्राना । केहि बिधि जितब बीर बलवाना ॥' और उसके उत्तरमें 'विजय धर्मरथ' का प्रसंग । दोहा ७६ में । और उत्तरकांडमें श्रीभरतजीके प्रश्न हनुमानजी से,—'को तुम्ह तात कहाँ ते आए' इत्यादि, 'कहु कपि कबहुँ कृपाल गोसाईं । सुमिरहिं मोहि दास की नाईं । और उनके उत्तर दोहा २ में । श्रीभरतजीका प्रश्न—'संत असंत भेद बिलगाई । प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई ।' और श्रीरामजीका उत्तर दोहा ३७ (५) से ४१ तक ।

इसी तरह जहाँ जहाँ प्रश्न हैं और उनके कुशल उत्तर हैं वेही प्रसंग यहाँ नाव और केवट हैं ।

त्रिपाठीजी—यात्रियोंके सुभीतेके लिये नदियोंमें अनेक सुन्दर-सुन्दर बड़ी-बड़ी नौकाएँ होती हैं । (१) कुछ ऐसी होती हैं जो इस पार और उस पार आया जाया करती हैं (२) कुछ ऐसी होती हैं, जो निश्चित स्थानोंपर जानेके लिए छूटती हैं (३) कुछ ऐसी होती हैं जो सहायक स्रोतोंसे आ जाती हैं (४) और, कुछ छोटी ऐसी होती हैं, जो कार्य विशेषके लिए छूटा करती हैं । कहना नहीं होगा कि चौथे प्रकारकी नाव असंख्य होती हैं । जिस प्रकार नदीमें नाव होती है, इसी प्रकारसे इस कवितासरितमें प्रश्न ही नाव हैं, उसी प्रश्नका सहारा लेकर ही निर्दिष्ट स्थानकी प्राप्ति होती है—विषयविशेषका ज्ञान होता है । एवम् इस कविता सरित्में भी उपर्युक्त चारों प्रकारोंकी नावें हैं । दो प्रश्न भारद्वाजके, बारह प्रश्न उमाके, और बारह प्रश्न गरुड़के हैं । कुल चौबीस प्रधान प्रश्न हैं । छोटे-छोटे प्रश्न प्रसंगोंमें अनेक आए हैं, उनकी संख्याकी आवश्यकता भी नहीं है ।

भरद्वाजजीके मुख्य प्रश्न 'रामु कवन प्रभु पूछौं तोही ।···भयउ रोषु रन रावनु मारा ॥ प्रभु सोइ रामु कि अपर कोउ···। १ । ४६ ।' और जैसे मिटै मोह भ्रम भारी । कहहु सो कथा नाथ बिस्तारी ।' ये हैं । इनमेंसे पहली नाव पहले प्रकारकी है अर्थात् लोक और वेद दोनों कूलोंमें विचरती है और दूसरी नाव दूसरे प्रकारकी है । अर्थात् नदीके उद्गमसे लेकर मुहाने तक इसका संचार है ।

उमाने आठ प्रार्थनाएँ की हैं । इनके उत्तरमें शिवजीने समझाया है । येभी एक प्रकारके प्रश्नोत्तर कहे जा सकते हैं । उन्हें पहले प्रकारका प्रश्न समझिये । फिर उनके आठ प्रश्न 'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी । ११० । ४ ।' से 'प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम । ११० ।' तक दूसरे प्रकारकी नावें हैं और शेष चार तीसरे प्रकारकी हैं । फिर उमाके छः प्रश्न ('सो हरिभगति काग किमि पाई । ७ । ५४ । ८ ।' से 'तेहि केहि हेतु काग सन जाई । सुनी कथा···। ७ । ५५ । ४ ।' तक), गरुड़जीके चार प्रश्न 'कारन कवन देह यह पाई । ७.६४.३ ।' से 'कारन कवन सो नाथ सब कहहु सहित अनुराग । ६४ ।' तक एवं 'ज्ञानहि भगतिहि अंतर केता ।···। ७ । ११५ ।' —ये सब प्रश्न तीसरे प्रकारकी नावें हैं । गरुड़जीके अंतिम सप्त प्रश्न 'सप्त प्रश्न मम कहहु बखानी ।···। ७ । १२१ । २-७ ।' चौथे प्रकारकी नावें हैं ।

'उत्तर सविवेका' इति । इससे जनाया कि सब प्रश्नोंके उत्तर विवेकसहित दिये गये हैं । जहाँ विवेक सहित न मालूम हो वहाँ समझना चाहिए कि भाव ठीक तरहसे समझमें नहीं आया ।

नोट—२ मा० मा० कार इसपर लिखते हैं कि—"परन्तु क्रमसे चरित्रका वर्णन हो रहा है इसपर विचार करना चाहिए । जन्म, बाल चरित, स्वयंवर, इसके बाद समस्त रामायणमें जो प्रश्न हैं और उनके उत्तरका उदाहरण देना अलग्न है, क्योंकि आगेकी चौपाईमें वर्णन है कि उन प्रश्नोत्तरोंको सुनकर उसका कथन करना ही उन नावोंपर चढ़कर पथिकगण जानेवाले हैं । उसके पश्चात् परशुरामजीका क्रोधित होना नावोंका घोर धारामें पड़ना है परन्तु उस घोर धारामें नावें बचकर घाटमें लग गईं, यहाँ श्रीरामजीका वचन उसे घाटमें लगाना है । इस प्रकारसे प्रकरणका मिलान क्रमशः विवाह ही के समयका हो सकता है ।" प्रश्नोत्तरके उदाहरण ये हैं—(क) महारानी सुनयनाका कथन सखियोंसे—'रामहि प्रेम समेत लखि सखिन्ह समीप बुलाइ । सीतामातु सनेह बस बचन कहै बिलखाइ । १ । २५५ ।'' से 'भूप सयानप सकल सिरानी । २५६ । ५ ।' तक प्रश्न है, इसका उत्तर 'बोली चतुर सखी मृदुबानी' से 'सखी बचन सुनि भइ परतीती । २५७ । ३ ।' तक है । (ख) धनुष टूटनेके प्रथम राजाओंका वचन—'तोरेहु धनुष ब्याहु अवगाहा । बिनु तोरे को कुऔंरि बिआहा ।२४५। ६ । से 'एक बार कालहु किन होऊ····' तक प्रश्न है; जिसका उत्तर 'यह सुनि अपर भूप मुसुकाने' के बाद "सीय बिआहबि राम···। २४५ ।' से "करहु जाइ जा कहँ जोइ भावा' तक उत्तर है । और, (ग)—धनुर्भंगके बाद 'लेहु छड़ाइ सीय कह कोउ । २६६ । ३ ।' से 'जीतहु समर सहित दोउ भाई' तक प्रश्न है, जिसका उत्तर साधु भूप बोले सुनि बानी' से 'तव तुम्हार लालच नरनाहा । २६७ । ४ ।' तक है । ☞ पं० रामकुमारजी आदिका मत ऊपर दिया गया कि सीय-स्वयंवर प्रकरणमें किसीका प्रश्नोत्तर नहीं है । पाठक स्वतंत्ररूपसे विचार करलें कि इन उद्धरणोंकी 'प्रश्न' और 'उत्तर' संज्ञा हो सकती है या नहीं ।

३ प्रश्नकर्त्ता का 'प्रश्न करना नाव पर चढ़ना है, उसका समाधान पार उतरना है और सुयश उतराई है ।'—(वै०, रा० प्र०) ।

सुनि अनुकथन परसपर होई । पथिक-समाज सोह सरि सोई ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—अनुकथन (अनु + कथन) = पीछेसे कहना । कथा सुनकर तत्पश्चात् दस पाँच वा कुछ श्रोता मिलकर सुनी हुई कथाको आपसमें स्मरण रखनेके लिये कहते हैं, प्रश्नोत्तर-विवाद-सहित उसका पाठ लगाते हैं—इसीको 'अनुकथन' कहते हैं=वारवार कथन वा उसकी चर्चा । = कथोपकथन, परस्पर बातचीत ।

(श० सा०) । 'अनु'—जिस शब्दके पहले यह उपसर्ग लगता है उसमें इन अर्थोका संयोग करता है—१ पीछे। जैसे अनुगामी, अनुकरण। २ सदृश। जैसे अनुरूप, अनुगुण। ३ साथ। जैसे 'अनुकम्पा, अनुपान'। ४ प्रत्येक। जैसे अनुदिन। ५ वारम्वार। जैसे अनुगुणन, अनुशीलन। पथिक = मार्ग चलनेवाले, मुसाफिर, नदीके उतरने वाले।

अर्थ—सुनकर आपसमें फिरसे उसका कथन करना ही इस कीर्ति-सरयूमें यात्रियोंका समाज है जो नदी-तटपर शोभा दे रहा है ॥ ३ ॥

नोट—१ (क) पूरे काव्यके श्रोतृसमाजको पुर, ग्राम और नगर कह आये हैं, अब विशेष-विशेष प्रसंगके श्रोताओंके विषयमें कहते हैं। बहुतेरे श्रोता ऐसे हैं जिन्हें प्रसंग विशेष प्रिय है। कोई सीय-स्वयंवर सुनना चाहता है, कोई परशुरामसंवाद, तो कोई अङ्गदरावणसंवादही सुनना चाहता है। (ख) नाव और केवट निष्प्रयोजन नहीं होते। जब नाव और केवटका वर्णन किया तो उस पथिकसमाजका भी वर्णन प्राप्त है, जो उन नावों और केवटोंसे काम लेते हैं। अतः सुननेके वाद जो आपसमें चरचा होती है वही इन नाव और केवटोंसे काम लेनेवाला पथिक-समाज हुआ। ऐसे चरचा करनेवालोंका निर्दिष्ट स्थान है, जहाँपर वे प्रश्न प्रतिवचन द्वारा पहुँचना चाहते हैं। जिन्होंने चर्चा नहीं की उन्हें कहीं जाना आना नहीं है, अतः वे नाव और केवटसे काम नहीं लेते, योंही घूमते-घामते उधर आ निकले थे। यहाँ यह भी जनाया कि विना अनु-कथन वा मननके श्रवण अकिंचित्कर है, यह परस्परका अनुकथन उसी मन्त्रका व्यक्तरूप है। (वि० त्रि०)। (ग) स्थलसे यात्रा करनेसे जल (नाव) द्वारा यात्रा करना विशेष मनोरम तथा आयासरहित होता है, इसी भाँति किसी विषयके समझनेसे विषय निरूपण प्रश्न-प्रतिवचनरूपमें होनेसे विशेष मनोरम हो जाता है, और शीघ्र समझमें आता है। सुननेके वाद आपसमें चर्चा करना उस प्रश्नप्रतिवचनसे लाभ उठाना और उक्त काव्यकी प्रतिष्ठा करना है। (वि० त्रि०)।

पं० रामकुमारजी :—परस्पर अनुकथन करनेवालोंकी शोभा रामचरितसे है। सरिकी शोभा उनसे नहीं कहते; क्योंकि सरिकी शोभा पहलेही कह चुके हैं; यथा 'सीय स्वयंवर कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबि छाई।'

नोट—२ मानसपरिचारिकाकार लिखते हैं कि 'जैसे उस नावपर चढ़े पथिकोंका समाज शोभा देता है पर वह समाज है नदीके वाहरका, वैसेही अनेक प्रकारके प्रश्नोत्तरोंको सुनकर जो परस्पर अनुकथन करते हैं, कहते हैं कि क्या प्रश्नका उत्तर निवहा है, यही पथिकोंका समाज कीर्तिसरिमें शोभा देता है। पूर्व जो श्रोताओंका त्रिविध समाज कह आये हैं उन्हींमें दो कोटि किये, एक जो सुनतेभर हैं ये पुर, ग्राम, नगर हैं और दूसरे वह हैं जो सुनकर पीछे परस्पर अनुकथन करते हैं।

बैजनाथजीका मत है कि वक्ताकी वाणी सुनकर और लोग जो परस्पर वार्ता करके वक्ताके वचन-को समझते हैं वे नदी पार जानेवाले पथिकोंका समाज है जो नदीतटपर शोभित है। बोधित (जो वक्ताकी वाणी समझ गए हैं) पार हो गए और अबोधित पार जानेवाले हैं।

घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबद्ध * राम वर बानी ॥ ४ ॥

* पं० छक्कनलालजीकी प्रतिमें 'सुबंध' पाठ है। पं० रामवल्लभाशरणजी तथा भागवतदासजीका 'सबंधु' पाठ है अर्थात् लक्ष्मणसहित रामजीके वचन। मानसपरिचारिकामें 'सबंधु' पाठ है, मानसपत्रिकामें 'सुबद्ध' पाठ है। सूर्यप्रसादमिश्रजीने जो भाव और अर्थ दिये हैं वह 'सबंधु' पाठके हैं। मानसपरिचारिकाके भावोंको उन्होंने अपने शब्दोंमें उतार तो दिया है (और उस टीकाका नामभी यहाँ नहीं लिया) पर यह ध्यान न रक्खा कि अपना पाठ वह नहीं है। १६६१ वाली पोथीमें 'सुबद्ध' पाठ है। 'घाट सबंधु राम बर बानी'

अर्थ—(इस कथारूपिणी नदीमें जो) परशुरामजीका क्रोध (वर्णित है वही नदीकी) घोर धारा है और श्रीरामचन्द्रजीकी श्रेष्ठ (क्रोधको शान्त करनेवाली) वाणीही सुन्दर दृढ़ बँधा हुआ घाट है ॥ ४ ॥

टिप्पणी—१ घोर (भयानक, तीक्ष्ण, तेज) धारा देखकर भय प्राप्त होता है । भृगुनाथ (परशुराम) की रिस भय देनेवाली है, जिसे देखकर जनक ऐसे महाज्ञानी एवं सुर-मुनि-नागदेवतक डर गये, इतर जनोंकी क्या गिनती ? यथा 'अति डर उतर देत नृप नाहीं । १ । २७० ।', 'सुर मुनि नाग नगर नर नारी । सोचहिं सकल त्रास उर भारी ॥', 'भृगुपति कर सुभाव सुनि सीता । अरध निमेष कलप सम बीता ॥ १।२७० । ६, ८ ।', 'देखत भृगुपति वेष कराला । उठे सकल भय विकल भुआला ॥ १ । २६९ । १ ।'

नोट—१ 'सीय बधू लखि बदन सुहावा । रिस बस कछुक अरुन होइ आवा । २६८ । ५ ।' से भृगुनाथ की रिसानीरूप घोरधारा चली और 'सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के । उघरे पटल परसुधर मति के । २८४ । ६ ।' पर शान्त हो गई ।

२ 'घोर धार' के और भाव—(क) घोर धार जिधर घूमती है उधरहीके करारोंको काटती चली जाती है; वैसेही परशुरामजीकी रिस लौकिक अथवा वैदिक जिसी कूलकी ओर घूमी उसीको काटती गयी । लौकिक कूलका काटना, यथा—'निपटहिं द्विज करि जानहि मोहीं । मैं जस बिप्र सुनावौं तोहीं ॥ चाप स्रुवा सर आहुति जानू । कोप मोर अति घोर कृसानू ॥ समिधि सेन चतुरंग सुहाई । महा महीप भये पसु आई ॥ मैं येहि परसु काटि बलि दीन्हे । समरजग्य-जप कोटिन्ह कीन्हे । १ । २८३ ।' वैदिक कूलका काटना, यथा—'गर्भन्ह के अर्भक दलन परसु मोर अति घोर । १ । २७२ ।' (वि० त्रि०) ।

(ख) घोर धारासे साधारण घाटभी कट जाते हैं । परशुरामजीने क्रोधमें आकर पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेका विचार ठान लिया था । उन्होंने २१ वार क्षत्रियकुलका नाश किया । सहस्रबाहु-से वीर इनके क्रोधके शिकार हो गये । उन्होंने स्वयं कहा है 'परसु मोर अति घोर', 'कहि प्रताप बल रोष हमारा', 'बाल ब्रह्मचारी अति कोही । बिस्व-बिदित क्षत्रियकुल-द्रोही' इत्यादि ।

३ 'भृगुनाथ' इति । परशुराम प्रसिद्ध नाम न देकर यहाँ भृगुनाथ नाम दिया है । कारण इसका यह है कि श्रीरामचरितमानस-कथा-भागमें धनुषभंगके पश्चात् परशुरामजीका आगमन 'भृगु' शब्दसे उठाया और इसी शब्दसे परशुराम राम-संवाद-प्रसंगको संपुट किया गया है । 'तेहि अवसर सुनि सिवधनु भंगा । आयेउ भृगुकुल-कमल-पतंगा । १ । २६८ । २ ।' आदिमें और 'भृगुपति गये बनहि० । १ । २८५ । ७ ।' अन्तमें दिया है । तथा जब सभामें ये पहुँचे और सबकी दृष्टि इनपर पड़ी तब प्रथम ही 'भृगुपति' शब्दका प्रयोग महाकविने किया है, 'पति' और 'नाथ' पर्याय शब्द हैं ।—'देखत भृगुपति बेषु कराला । उठे सकल भय बिकल भुआला । १ । २६९ । १ ।' इन्हीं कारणोंसे यहाँ उस नामका बीज बो दिया है । विशेष दोहा २६८ चौपाई २ में देखिये ।

स्मरण रहे कि 'भृगुनाथ', 'भृगुपति', 'भृगुसुत', 'भृगुनायक' ये सब परशुरामजीके नाम हैं । ये उन्हीं भृगुजीके वंशज हैं जिन्होंने ब्रह्मा और शिवजीपर भी अपना क्रोध प्रगट किया था । पिता और भ्राता दोनोंका अपमान किया था तथा भगवानके छातीपर लात मारी थी । वैसेही परशुरामजीने अपनी माता और भ्राताओंका सिर काटा और भगवान् श्रीरामजीकोभी कटु वचन कहे तो क्या आश्चर्य ? इनके योग्यही है । भगवान्ने भृगुको क्षमाही किया, वैसेही श्रीरामजीने इनको क्षमा किया ।

पाठका अर्थ यह होगा कि 'लक्ष्मणजी और रामचन्द्रजीकी श्रेष्ठ वाणी घाट हैं' । 'सुबंधु = सुन्दर भाई । लक्ष्मणजीको सुबन्धु कहा है क्योंकि 'बारहिं ते निज हित पति जानी । लछिमन रामचरन रति मानी ॥ १ । १९७ ।' पुनः, अयोध्याकांड ७२ में कहा है कि 'गुर पितु मातु न जानउँ काहू । कहउँ सुभाव नाथ पतियाहू ॥...करुनासिंधु सुबंधु के सुनि मृदु बचन बिनीत ।...'

४ 'घोर धारासे घाट, ग्राम, नगर आदिके कटनेकी सम्भावना रहती है। और यहाँ इस प्रसंगमें परशुरामजी राजा जनकका राज्य ही पलट देनेकी धमकी देरहे हैं। यथा 'उलटउँ महि जहँ लहि तव राजू। १।२७०।४।' अतः रक्षाके लिये सुदृढ़ बँधे घाट चाहिये; वही दूसरे चरणमें कहते हैं।

५ 'घाट सुबद्ध...' इति। (क) यात्रियोंके उतरने, स्नान करने, जल भरने और धारासे नगर आदिकी रक्षा इत्यादिके लिये पक्के दृढ़ घाट बनाये जाते हैं। परशुरामजीके क्रोधयुक्त कठोर वचन सुनकर 'सुर मुनि नाग नगर नर नारी। सोचहिं सकल त्रास उर भारी।' कि अब रक्षा कैसे होगी, इस तीक्ष्णक्रोधसे सचमुच ही नगरको ये उलट न दें। सुर मुनि नाग यात्री हैं। इन यात्रियों तथा नगरनिवासियोंकी क्रोधरूपी घोर धारसे रक्षाके लिये श्रीरामजीकी श्रेष्ठ मधुर शीतल वाणी 'सुबद्ध घाट' सम है। प्रथमही 'उलटौं महि जहँ लगि तव राजू' इससे 'सभय बिलोके लोग सब बोले श्रीरघुवीर। २७०।', फिर जब लक्ष्मणजीके कटु वचनोंको सुनकर रिस बहुत बढ़ी और 'हाय हाय सब लोग पुकारा' तथा 'अनुचित कहि सब लोगु पुकारे' तब 'लखन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोपु कृसानु। बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुलभानु। २७६।...' तब 'राम बचन सुनि कछुक जुड़ाने'। फिर लक्ष्मणजीकी वाणीसे जब परशुरामजीका रिससे तन जलने लगा और 'थर थर काँपहिं पुरनरनारी' तब 'अति बिनीत मृदु सीतल बानी। बोले रामु जोरि जुग पानी। २७९।१।' तब फिर कुछ शान्त हुए—'कह मुनि राम जाइ रिस कैसे। अजहु अनुज तव चितव अनैसे।' फिर जब वे श्रीरामजीपर ही क्रोध जताने लगे तब उन्होंने 'मृदु गूढ़ वचन' कहे जिन्हें सुनकर 'उघरे पटल परसुधरमति के' और उन्होंने अपना धनुष देकर श्रीरामजीकी स्तुति कर दोनों भाइयोंसे क्षमा माँगी और वनको चल दिये। इस सुदृढ़ पक्के घाटपर उनके क्रोध-प्रवाहका कुछ जोर न चला और धारा यहाँसे लौट पड़ी।

(ख) 'घाट सुबद्ध' से यह भी जनाया कि जबतक घाट न बँधे थे तबतक लोग इनकी घोर क्रोध-रूपी धारामें कट जाते थे, बह जाते थे; यथा 'जासु परसु-सागर-खर-धारा। बूड़े नृप अगनित बहु बारा। ६। २६।' घाट बँधनेसे जीवोंकी अति रक्षा हुई, परशुरामकी रिस मंद पड़ गई; यथा 'भृगुपति गए बनहिं तप हेतू।'

(ग) घोर धारा अत्यंत दृढ़ बँधे हुए घाटपरभी अपना बड़ा जोर लगाती है पर टक्कर खाखाकर सुदृढ़ बँधे हुए घाटसे उसे घूम जाना ही पड़ता है। वैसेही श्रीरामजीकी श्रेष्ठ वाणी यहाँ 'सुबद्ध घाट' है। भृगुनाथरिसानीरूपिणी घोर धारा यहाँ आई तो बड़े तीव्र वेगसे थी; यथा 'वेगि देखाउ मूढ़ नत आजू। उलटौं महि जहँ लहि तव राजू। १ २७०। ४।' संघर्ष भी खूब हुआ, चौदह टक्कर खाकर धारा पलट गई। (वि० त्रि०)। पुनः भाव कि (ख) लक्ष्मणजीके वचनसे क्रोध बढ़ता जाता था, उसे श्रीरामजीने अपनी मधुर श्रेष्ठ वाणीसे ठंडा किया। यथा 'लखन उतर आहुति सरिस भृगुबर कोप कृसानु। बढ़त देखि जल सम बचन बोले रघुकुलभानु। १। २६७।' (पं० रामकुमार)।

६ 'घाट सबंधु' पाठभी कई प्राचीन पोथियोंमें है। अतः उस पाठका भाव जो मा० प्र० कारने लिखा है वह यहाँ हम देते हैं। यह भाव 'सुबद्ध' पाठमेंभी दो एक टीकाकारोंने लगाया है। मा० प्र० कार लिखते हैं कि घाट बनानेमें धाराका जोर रोकनेके लिये बारंबार कोठियाँ गलायी जाती हैं। बहुधा ऐसा होता है कि तीक्ष्ण धारा कोठियोंको उखाड़ डालती है, जमने नहीं देती, इससे पुनः पुनः गद्दपर गद्द देकर कोठियाँ गलानी पड़ती हैं जिससे धाराका वेग कम हो जाता है। अथवा धाराका मुँह फिर जाता है, तब कोठी जमती है और घाट बँधता है। ऐसे ही जब प्रथम भृगुनाथ बोले 'कहु जड़ जनक धनुष केहि तोरा' तब यह घोर धारा देख रघुनाथजीने प्रथम गोला गलाया—'नाथ संभु धनु भंजनि हारा...'। यह कहकर परशुरामजीको शान्त करना चाहा था; परन्तु वे शान्त न हुए, किन्तु 'सुनि रिसाइ बोले मुनि कोही।', यह मानो गोलेका न थँभना वा कोठीका टूटना है। फिर लक्ष्मणजीने कहा कि 'बहु धनुही तोरी लरिकाईं।...यहि धनु पर ममता केहि हेतु'। मानो दो इनमेंसे एक ही बातका उत्तर परशुरामजीने दिया—'सुनि रिसाइ०। धनुही सम त्रिपुरारि-धनु...'।

इनमेंसे एक तो जमी। आगे जब उत्तर न देते बना तब विश्वामित्रजी, विदेहजी इत्यादिका निहोरा किया कि इसे हटा दो, यथा—'तुम्ह हटकहु जौं चहहु उबारा', 'केवल कौसिक सील तुम्हारे' इत्यादि। यही मानों धाराका फिर जाना है। फिर श्रीरामजीकी अंतिम वाणीने उनको शान्त कर दिया, उनकी आँखें खुल गयीं, वे स्वयं धनुष सौंपकर क्षमा माँगकर चले गए, यही मानों घाटका बँध जाना है।

७—श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि—'सरयूजीकी घोर धारामें अनेकों नावें टूट गई हैं, उसी प्रकार यहाँ अर्थात् जनकपुर स्वयंवर भूमिमें उपस्थित सभासद प्रश्नोत्तरको सुनकर अनुकथन कर ही रहे थे कि परशुरामजी आकर क्रोधयुक्त बोलने लगे। श्रीरामजीकी श्रेष्ठ वाणीने उनको शान्त किया; यह 'बर बानी' बँधी हुई घाट हुई। अर्थात् नाव घोर धारमें टूटी नहीं, बँधी हुई घाट में लग गई।'

—[पर 'नाव' तो प्रश्न हैं। प्रश्न टूटे नहीं, घाटमें लग गए। इसका क्या आशय है, यह समझमें नहीं आता। जयमालके पश्चात् पूर्वके प्रश्नोत्तरोंका आपसमें फिरसे कथन कौन सा है? संभवतः 'रानिन्ह सहित सोच बस सीया। अब धौं बिधिहि काह करनीया। १। २६७। ७।' और 'खरभरु देखि बिकल नर नारी। सब मिलि देहिं महीपन्ह गारी। २६८। १।' यही अनुकथन उनके मतसे हो। यह भी देखना है कि राजाओंके वचन सब परशुरामजीके दर्शनके साथ ही बंद हो गए; यथा 'देखि महीप सकल सकुचाने। बाज झपट जनु लवा लुकाने। २६८। ३।'—यह नावका डूबना हुआ या घाट लगना या क्या? प्रश्नको पटु और सविवेक उत्तरको कुशल केवट कहनेका महत्व इस पक्षमें मेरी समझमें नहीं रह जाता।]

सानुज राम बिबाह उछाहू। सो सुभ उमग सुखद सब काहू॥ ५॥

अर्थ—भाइयों सहित श्रीराम-विवाहोत्सव इस कविता-सरयूकी शुभ (सुख, मंगल और कल्याण-कारी) बाढ़ है जो सबहीको सुख देनेवाली है॥ ५॥

नोट—१ (क) 'सानुज राम समर-जस-पावन' में अनुजसे केवल श्रीलक्ष्मणजीका ग्रहण है क्योंकि और भाई साथ न थे परन्तु यहाँ 'सानुज राम बिबाह' में अनुजसे चारों भाइयोंका ग्रहण है क्योंकि सब भाइयोंका विवाह साथ हुआ। (पं० रामकुमारजी)। (ख) धनुष टूटते ही सारे संसारमें उछाह भर गया; यथा 'भुवन चारि दस भरा उछाहू। जनकसुता रघुबीर बिआहू। १। २६६। ३।' समाचार पाते ही बारात चल पड़ी। उत्साह इतना बढ़ा हुआ है कि ग्रन्थकार सगुनकाभी नाचना वर्णन करते हैं—'सुनि अस ब्याहु सगुन सब नाचे। अब कीन्हे बिरंचि हम साँचे। १। ३०४।' बरातके पहुँचनेपर अगवानीके समयका आनंद कवि यों वर्णन करते हैं—'जनु आनंद समुद्र दुइ मिलत बिहाइ सुबेल। १। ३०५।' श्रीरामचरितमानसभरमें सबसे बड़ा 'उछाह' श्रीरामविवाहोत्सवही हुआ। राज्याभिषेकमें होना संभव था, पर उस समय महाराज दशरथ का न होना सबको खला, यहाँ तक कि अवधपुरमें बाजातक न बजा। बरात तो चली केवल श्रीरामजीके विवाहके लिये और लौटी चार बहुएँ लेकर। यह उत्साहकी पराकाष्ठा है। (वि० त्रि०)

२ श्रीरामविवाहमें 'उछाह' बहुत बढ़ा, यही नदीकी बाढ़ है। नदीकी बाढ़ अशुद्ध होती है, पर यह शुभ है। नदीकी बाढ़में लोगोंका अकाज होता है, परन्तु उछाहकी वृद्धिमें किसीका अकाज नहीं है। (पं० रामकुमार)। मा० प्र० का मत है कि सरयूजीकी उमग शुभ है, सबको सुखद है; वैसे ही सानुज-राम-विवाह शुभ और सबको सुखद है। 'सब सुखद' से यहभी जनाया कि नदीकी बाढ़ चाहे किसीको शुभ और सुखद न भी हो पर कीर्तिनदी के सानुज-रामविवाहका उत्साह तो सबको शुभ एवं सुखद है।

श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि 'गर्मीके तपनमें जब श्रीसरयूजीमें ज्येष्ठमें वर्फ गलनेसे जलकी बाढ़ होती है तो यह सुखदायी होती है। इसी प्रकार जनकपुरवासी राजा जनकके प्रतिज्ञारूपी परितापसे और अवधपुरवासी प्रभुके वियोगसे तप्त थे। यहाँ विवाह-आनन्दरूपी बाढ़से दोनों सुखी हुए।

किसीका मत है कि शुभ इससे कहा कि श्रीसरयूजीकी बाढ़से दूर रहनेवालोंको भी स्नान सुलभ हो जाता है। पुनः, माँझावालोंको खेतीके लिये बाढ़ उपकारक होती है। और विवाहोत्सव सबहीको सुखद और मंगलकारी है, यथा 'उपबीत ब्याह उछाह मंगल सुनि जे सादर गावहीं। बैदेहि-राम-प्रसाद तें जन सर्वदा सुखु पावहीं॥ सिय रघुबीर बिबाहु जे सप्रेम गावहिं सुनहिं। तिन्ह कहुँ सदा उछाह मंगलायतन रामजस। १। ३६१।'

३ नदी उमगकर दोनों कूलोंको प्लावित करती चलती है और यह कविता-सरिता उमगकर आनन्दसे लोक-वेद-विधियोंको प्लावित करती चली है। लोकविधिका प्लावन; यथा 'पहिचान को केहि जान सबहि अपान सुधि भोरी भई। आनंदकंद बिलोकि दुलहु उभय दिसि आनंदमई। १। ३२१।' वेद-विधिका प्लावन, यथा 'होम समय तनु धरि अनलु अति सुख आहुति लेहिं। बिप्र बेष धरि बेद सब कहि बिबाह बिधि देहिं। १। ३२३।' (वि० त्रि०)।

४ 'सीय स्वयंबर कथा का प्रकरण 'रहा बिबाह चाप आधीना॥ टूटतही धनु भयेउ बिबाहू। सुर नर नाग बिदित सब काहू॥ तदपि जाइ तुम्ह करहु अब जथा बंस ब्यवहार।...। १। २८६।' पर समाप्त हो गया। यहींसे अब विवाहप्रकरणका आरम्भ समझना चाहिए। यहाँसे विवाहप्रसंगकी भूमिका है, विवाहकी तैयारियाँ आदि हैं, बारात आदि सब विवाहके ही सम्बन्धकी बातें हैं। 'सानुज राम बिबाह उछाहू' यह शुद्ध प्रसंग १। ३१२ 'धेनु धूरि बेला बिमल सकल सुमंगल मूल। बिप्रन्ह कहेउ बिदेह सन जानि सगुन अनुकूल॥' से 'प्रभु बिबाह जस भयेउ उछाहू। १। ३६१। ६।' तक है। मा० प्र० के मतानुसार यह प्रकरण 'रामचंद्र मुखचंद्र छबि···। १। ३२१।' से १। ३६१ तक है।

५ 'सब काहू' से यह भी भाव ले सकते हैं कि विवाहमें ददिहाल, ननिहाल, ससुराल, इत्यादि सभी के संबंधी उपस्थित थे, पिताभी जीवित थे, (राज्याभिषेकमें पिता न थे)। अतः यहाँ 'सब काहू' कहा।

कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—पुलकाहीं=रोमाञ्चित होते हैं। मुदित=प्रसन्नतापूर्वक। सुकृती=पुण्यात्मा, धर्मात्मा।

अर्थ—(इस कथाके) कहते-सुनते जिनको हर्ष और रोमाञ्च होता है वे ही इस कीर्ति सरयू में प्रसन्न मनसे नहानेवाले सुकृती हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) कहते और सुनतेमें हर्ष और पुलक होना ही मुदित मनसे नहाना है। बिना मुदित मन हुए तीर्थका फल नहीं मिलता है, उत्साह-भंगसे धन-धर्मकी हानि होती है। इसलिये उत्साह पूर्वक स्नान करना चाहिये। यथा 'मज्जहिं प्रात समेत उछाहा। १। ४३। ८।', 'सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग। १। २।', 'मुदित नहाइ कीन्ह सिव सेवा। पूजि जथा बिधि तीरथ देवा।', तथा यहाँ 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं···।' कहने-सुननेमें हर्ष और पुलकावली बड़े सुकृतसे होती है। कीर्ति-नदीमें सुकृती नहाते हैं, पापीको स्नान दुष्प्राप्य है; यथा 'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ।' (ख) 'कहत सुनत' इति। अर्थात् श्रोता पाकर कहनेमें और वक्ता पाकर सुननेमें। अथवा, परस्पर एक दूसरेसे कहने सुननेमें। यथा 'कहत सुनत रघुपति-गुन-गाथा। कछु दिन तहाँ रहे गिरिनाथा। १। ४८। ५।', 'बिदा किये सिर नाइ सिधाए। प्रभु गुन कहत सुनत घर आए।' 'कहत सुनत' 'कहना सुनना' मुहावरा है।

नोट—१ 'हरषहिं पुलकाहीं' इति। श्रीजानकीदासजी 'कहत हर्षहिं और सुनत पुलकाहीं' ऐसा अर्थ करते हैं। यथा 'सुने न पुलकि तन कहे न मुदित मन किये जे चरित रघुबंसराय। वि० ८३।', 'रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनइ लीन्ह। १। १११।' (मा० प्र०)। इस तरह यथासंख्य अलंकार होगा, पर

इस प्रसंगमें कहने-सुनने दोनोंमें हर्ष और पुलकका प्रमाण मिलता है; यथा 'सुनि सुभ कथा उमा हरषानी। ७।५२।', 'सुनि हरि चरित न जो हरषाती। १। ११३।' इत्यादि। कहनेके उदाहरण ऊपर दे ही चुके हैं।

२ 'ते सुकृती' इति। भाव कि—(क) श्रीसरयूजीमें प्रसन्न मनसे स्नान बड़े सुकृतसे प्राप्त होता है, क्योंकि 'जा मज्जन ते बिनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं बासा'; वैसे ही जब बहुत और बड़े सुकृत उदय होते हैं तब रामचरित कहने-सुननेमें मन लगता है, हर्ष और पुलक होता है; यथा 'अति हरिकृपा जाहि पर होई। पाउँ देइ एहिं मारग सोई। ७। १२९।', 'सोइ सुकृती सोइ परम सयाना। जो तजि कपट करइ गुन गाना।' (ख) जो सुकृती नहीं हैं, सरयू-स्नान उनको दुर्लभ है, वे तो श्रीसरयूजीको साधारण जलकी नदी ही समझेंगे, वे क्या जानें कि ये ब्रह्मद्रवही हैं, इनका जल चिदानंदमय है, भगवान्‌के नेत्रोंका दिव्य करुणाजल है। इसी तरह जो सुकृती नहीं हैं, वे इस कीर्तिसरिताको एक साधारण काव्य ही समझेंगे। उनके भागमें स्नान कहाँ? हर्ष और पुलक तो कोसों दूर है। पापीको स्नान दुष्प्राप्य है, यथा 'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ।'

त्रिपाठीजी—मानसके अधिकारी श्रोताओंको 'सुरवर' कहा था; यथा 'तेइ सुरवर मानस अधिकारी। १। ३८। २।' और इस कवितासरिताके प्रचारके श्रोताको 'सुकृती' कहा। कारण यह है कि इस श्रीरामचरितमानसकी कथाही दो प्रकारकी है। एक तो वह कथा है, जिसमें चारो घाटोंकी कथाओंका सँभार है; रस, अलंकार, लक्षणा, व्यञ्जना, ध्वनि आदि का विचार है, वेधीभक्ति, रागानुगाभक्ति, वैराग्य ज्ञान विज्ञानादिका विवरण है, शम, यम, नियम, योगादिका विवेचन है, वही कथा 'मानस' के नामसे विख्यात है। उसके वक्ता दुर्लभ हैं और श्रोता अत्यन्तही दुर्लभ हैं। दूसरी वह कथा है, जो सर्वसाधारणमें प्रचलित है, जिसमें सीधा-सीधा कथाका आनन्द है, उपर्युक्त बातोंपर वक्ता श्रोता दृष्टिपात नहीं करते, क्योंकि उन विषयोंमें उनका प्रवेशभी नहीं है। कहना नहीं होगा कि प्रचार दूसरी प्रकारकी कथाकाही विशेष है, क्योंकि इसके वक्ता श्रोता बहुतायतसे मिलते हैं। इसी प्रचारवाली कथाको श्रीग्रन्थकारने सरयूसे उपमित किया है, क्योंकि सरयूजीमें 'मानस' का ही जल है और सरयूजी सुलभ हैं, गृहस्थीमें रहते भी अवगाहन हो सकता है। मानसका अवगाहन दुर्घट है। विना गृहस्थीके प्रेमके शिथिल किये उसका अवगाहन नहीं हो सकता, अतः 'मानस' के अवगाहन करनेवालेको 'सुरवर' कहा और सरयूके अवगाहन करनेवालेको सुकृती कहा।

नोट—३ 'कहत सुनत' हर्ष और पुलक होना जो यहाँ कहा गया वह किस कथाके लिये? इसपर टीकाकारोंने कोई प्रकाश नहीं डाला है। 'इस कथाके कहते-सुनते' या 'कहते सुनते' इतनाही लोगोंने लिखा है। 'इस कथा' से समस्त रामचरितमानसका भी ग्रहण हो सकता है और अंशका भी। श्रीजानकीशरणजीका मत है कि चरित्रका वर्णन यहाँ क्रमसे हो रहा है। आगेकी चौपाईमें अयोध्याकांडका प्रकरण आयेगा। इससे यहाँ विवाहचरित्रके कहने-सुननेवालोंसेही यहाँ रूपक समझना चाहिए। उदाहरण, यथा—'सिय रघुबीर बिबाह जे सप्रेम गावहिं सुनहिं।…। १। ३६१।'

राम-तिलक-हित मंगल-साजा। परब जोग जनु जुरे समाजा॥ ७॥

शब्दार्थ—साजा=सामान, सामग्री। पर्व=अमावस्या, पूर्णिमा, ग्रहण, अर्धोदय, संक्रान्ति, महोदय, वारुणी, गोविन्दद्वादशी, श्रीरामनवमी, श्रीजानकीनवमी, इत्यादि। पर्व-योग=पर्वकी प्राप्तिपर, पर्वके दिन, पर्वका योग होनेपर। ☞पुराणानुसार चतुर्दशी, अष्टमी, अमावास्या पूर्णिमा और संक्रान्ति ये सब पर्व हैं। पर्वके दिन स्त्री-प्रसंग करना अथवा मांस-मछली आदि खाना निषिद्ध है। जो ये सब काम करता है, कहते हैं, वह विण्मूत्रभोजन नामक नरकमें जाता है। पर्वके दिन उपवास, नदी-स्नान, श्राद्ध, दान और जप आदि करना चाहिये। यथा 'चतुर्दश्यष्टमी चैव अमावास्या च पूर्णिमा। पर्वाण्येतानि राजेन्द्र रवि संक्रान्तिरेव च।'

[विष्णु पु० । मूहूर्त चिन्तामणि पीयूषधाराटीकासे उद्धृत]। 'चतुर्दश्यष्टमी कृष्णात्वमावास्या च पूर्णिमा । पुण्यानि पंचपर्वाणि संक्रान्तिर्दिनस्य च ।' [वसिष्ठवचनं । पीयूषधारासे]। 'स्त्री सेवनं पर्वसुपद्ममध्येपलं च षष्ठीषु च सर्वतैलम् । नृणां विनाशाय चतुर्दशीषु क्षुराक्रियास्यादसकृत्तदाशु ॥ (वसिष्ठ सं०)

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके तिलकके लिये जो मंगलसाज सजाया गया वही मानो इस कीर्ति नदीपर पर्व-योगपर (योगी, यती, उदासी, वैष्णव, स्मार्त, विरक्त, गृहस्थ इत्यादि) यात्रियोंका समाज जुटा है ।७।

नोट—१ पर्वयोग होनेपर श्रीसरयूजीपर बहुत भीड़ होती है। कीर्तिसरयूमें श्रीरामराज्याभिषेकहित मंगल-साज सजाया जाना पर्वका समाज है।

सु० द्विवेदीजीका मत है कि 'जब अमावास्याको सोमवार हो और अमावस्या तीन प्रहर भोग करे तदनन्तर चौथे प्रहर प्रतिपदा प्रवेश करे तो ऐसे योगमें रविको राहु भोगता है अर्थात् ग्रहण होता है। यहाँ राज्याभिषेकके दिन तीन प्रहरतक मानों अमावास्या रही और जब कैकेयीने चौथे-प्रहर अभिषेक-समाचारको सुनकर विघ्न आरंभ किया, वही मानों प्रतिपदाका संचार हुआ। ऐसे योगमें राजतिलकमें बाधा पड़ी, मानों ग्रहण हुआ।'

बैजनाथजीका मत है कि यहाँ श्रीरामजी निष्कलंक चन्द्रमाके समान और कैकेयीके वरदान राहु समान हैं। (इनके मतानुसार पूर्णिमाका पर्व लेना होगा)।

त्रिपाठीजी कहते हैं कि 'यद्यपि 'पर्व' शब्दसे किसीभी पर्वका ग्रहण हो सकता है फिरभी श्रीरामाभिषेक पुष्यके योगमें ही होनेवाला था और गोविन्दद्वादशीभी पुष्ययोगमेंही बहुत दिनों पर कभी आती है, अतः वही ग्रन्थकारकी लक्ष्यभूता प्रतीत होती है।

२ 'जुरे समाजा' इति । अभिषेकके लिये 'लगे सुमंगल सजन सब बिधि अनुकूल बिचारि ॥ २ । ८ ।', 'प्रमुदित पुरनरनारि सब सजहिं सुमंगलचार । एक प्रबिसहिं एक निर्गमहिं भीर भूप दरबार । २ । २३ ।' यही कीर्त्तिनदी-पर रामराज्याभिषेकरूपी पर्वके अवसरकी भीड़ है। श्रीसरयूजीमें श्रीअयोध्याजीमें पर्व-विशेषपर कई दिन पूर्वसे भीड़ एकत्र होने लगती ही है।

३ (क) 'तिलक हित मंगल-साजा' का प्रसंग, 'सबके उर अभिलाषु अस कहहिं मनाइ महेसु । आपु अछत जुबराज पद रामहिं देउ नरेसु ॥ २ । १ ।' से प्रारम्भ होता है। और 'सकल कहहिं कब होइहि काली । २ । ११ । ६ ।' पर, अथवा, मानसपरिचारिकाके मतानुसार 'नाम मंथरा मंदमति चेरी कैकइ केरि । २ । १२ ।' पर समाप्त होता है। (ख) पर्वयोग दुर्लभ है वैसेही रामराज्य दुर्लभ। लोग मनाते हैं कि रामराज हो। (पं. रा. कु.)। (ग) यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा अलङ्कार है। पर्वपर समाज जुटता ही है।

काई कुमति केकई केरी । परी जासु फलु बिपति घनेरी ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—घनेरी=एक साथ ही बहुत-सी, घोर।

अर्थ—कैकेयीकी दुर्बुद्धि (इस कीर्त्ति-नदीमेंकी) काई है जिसका फल (परिणाम) 'घनेरी विपत्ति पड़ी' है ॥ ८ ॥

नोट—१ ☞ 'काई कुमति···घनेरी'—यह प्रसंग 'नामु मंथरा मंदमति चेरी कैकइ केरि । २ । १२ ।' से 'सजि बन-साजु समाजु सबु बनिता बंधु समेत । बंदि बिप्र गुरु चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत । २ । ७९ ।' तक और फिर सुमन्त्रजीके लौट आनेसे 'पितु हित भरत कीन्हि जसि करनी' तक है। (मा० प्र०)। मा० म० के मतसे 'भावी बस प्रतीति उर आई' से 'अस बिचारि सोइ करहु जो भावा' तक यह प्रसंग है। २ 'बिपति घनेरी' का प्रसंग—'नगर ब्यापि गइ बात सुतीछी । २ । ४६ । ६ ।' से 'अति बिषाद बस लोग लोगाई । ५१ । ७ ।' तथा 'सजि बन-साजसमाज०' तक। पुनः, 'चलत रामु लखि अवध अनाथा । २ । ८३ । ३ ।' से 'बिषम बियोग न जाइ बखाना ।

२ । ८६ । ८ ।' तक । पुनः, 'मंत्री बिकल बिलोकि निषादू । २ । १४२ । ६ ।' से 'पितु हित भरत कीन्ह जसि करनी । २० । १७१ । १ ।' तक; वस्तुतः वनसे पुनः अवध लौट आने तक सब विपत्ति है पर प्रकरण-क्रमसे यहीं तक का प्रसंग होगा ।

☞ ३—गोस्वामीजी सारी विपत्तिका दोष कैकेयी-कुमति बताते हैं और यही अयोध्याकांडमें दर्शाया गया है । यथा 'कुटिल कठोर कुबुद्धि अभागी । भइ रघुबंस बेनु बन आगी ॥·····सुख महँ सोक-ठाटु धरि ठाटा ॥···४७ । बरु विचारि नहि कुमतिहि दीन्हा' तक, 'भइ दिनकर-कुल-बिटप कुठारी । कुमति कीन्ह सब बिस्व दुखारी ॥ २ । ६२ ।', 'कैकयनंदिनि मंदमति कठिन कुटिलपनु कीन्ह । जेहि रघुनंदन जानकिहि सुनु अवसर दुख दीन्ह । २ । ६१ ।', इत्यादि ।

टिप्पणी—१ (क) काईका होना उत्पात है, कुमतिका फल विपत्ति है । यथा 'जहाँ कुमति तहँ बिपति निदाना । ५ । ४० ।' (कुमति आने पर लोग मित्रको शत्रु और शत्रुको मित्र मान लेते हैं; यथा 'तव उर कुमति बसी बिपरीता । हित अनहित मानहु रिपु प्रीता । ५ । ४० ।' वैसेही कैकेयीने मंथराको हित मान लिया; यथा 'तोहि सम हित न मोर संसारा । बहे जात कइ भइसि अधारा । २ । २३ ।' और 'बिप्रबधू कुल-मान्य जठेरी । जे प्रिय परम कैकई केरी ।' उनके वचन उसको बाण सम लगे, वे सब अहित जान पड़े)। पक्का घाट पहिले कह आये हैं; यथा 'घाट सुबद्ध राम बर बानी' । नदीमें पक्के घाटपर काई लगा करती है इसलिये घाट कहकर फिर काई कहा । (ख) एक उत्पातका फल अमित विपत्ति हुई—रामराजमें विघ्न, वन-गमन, दशरथ-मरण, रानियोंका वैधव्य, प्रजाको शोक, भरतजीको क्लेश, इत्यादि । (ग) काईसे फिसल कर लोग गिर पड़ते हैं, यहाँ बहुत-सी विपत्ति आकर गिरी है—(पाँडेजी)] (घ) कैकेयीके हृदयमें मंथराकी बात अच्छी लगना काईका लगना है ।

नोट—४ काई घाटपर जलकी रुकावट और कीचड़के संयोगसे हो जाया करती है । यहाँ मन्थरा कीचड़ है जिसके संयोगसे कैकेयीमें कुमतिरूपी काई जमी । (वैजनाथजी लिखते हैं कि नदीतीरमें जहाँ भूमिकी विषमतासे जल थँभा रहता है वहाँ मैले पदार्थका योग पाकर काई पड़ जाती है । यहाँ देवप्रेरित सरस्वती द्वारा मैला संयोग पानेपर कैकेयीकी मतिकी कुमति प्रकट हुई । यही काई है)—काईमें बेधड़क चलनेसे फिसलकर गिरना होता है, यहाँ महाराज दशरथजी न जानते थे कि काई जम आयी है, वे बेधड़क वचन दे बैठे (यही कुमति-काईपर चलना है) जिससे ऐसे गिरे कि फिर न उठे । 'परी' शब्द कैसा चोखा है । यह स्वयं ही जना देता है कि यह विपत्ति पूर्णतया फिर न हटी, पड़ी ही रही । केवल कुछ अंशमें कम हो गयी । वैजनाथजी लिखते हैं कि 'जैसे कोई धर्मात्मा आ जाता है तो काईको घाटपरसे निकलवा देता है तब यह काई सूख जाती है । यहाँ भरतजीने माताका त्याग किया फिर कभी कैकेयीको माता न कहा । यही काईका निकाल फेंकना है, विधवापन सूख जाना है ।'

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि मानसमें काईका वर्णन नहीं है, क्योंकि वहाँ आधिभौतिक अर्थके साथ ही साथ आध्यात्मिक तथा आधिदैविक अर्थ भी चलते हैं, और उन अर्थोंपर ध्यान देनेसे कैकेयी भगवतीमें कुमतिका आरोप नहीं हो सकता; यथा 'तात कैकइहि दोष नहिं, गई गिरा मति धूति ।' अतः मानससरमें काई नहीं कहा ।

दोहा—समन अमित उतपात सब, भरत चरित जप-जाग ।
कलि अघ[1] खल अवगुन कथन, ते जलमल बग काग ॥४१॥

[1] कलि अघ खल अवगुन—१६६१, पाँडेजी, वै०,

शब्दार्थ—उतपात (उत्पात)=विपत्ति, आपत्ति, उपद्रव । जप–जाग=जप-यज्ञ ।

अर्थ—सभी असीम उपद्रवोंको शान्त करनेवाला श्रीभरतजीका चरित जप-यज्ञ है। कलिके पापों और खलोंके अवगुणोंके वर्णन इस नदीके मल, बगुले और कौए हैं ॥ ४१ ॥

नोट—१ 'समन अमित उतपात सब ' इति। (क) 'जैसे काई लगनेसे जल बिगड़ता है तब महात्मा लोग काईको निकलवाते हैं और जप, पुरश्चरण और यज्ञ करके विघ्नोंको शान्त करते हैं, वैसेही कीर्त्ति–सरयूमें जो कैकेयीकी कुमतिरूपी काई लगनेसे उत्पात हुए उनकी शान्तिके लिए श्रीभरतजीका चरित जप-यज्ञ है। (मा० प्र०)। (ख) श्रीभरतजीका फिर जीतेजी कैकेयीको माता न कहना, उनका सदाके लिये त्याग करना, यही काईका निकाल फेंकना है। प्रभुकी चरणपादुका सिंहासनपर पधराना और स्वयं भूमि खोदकर नन्दिग्राममें अवधिभर रहना यह सब प्रायश्चित्त है। (ग) श्रीभरतजीके इस चरित्रसे कैकेयीकी कुमति जाती रही, उसे परिपूर्ण पश्चात्ताप हुआ। यथा 'लखि सिय सहित सरल दोउ भाई। कुटिल रानि पछितानि अघाई ॥ अवनि जमहि जाचति कैकेई। महि न बीचु बिधि मीचु न देई ॥२।२५२।', 'गरइ गलानि कुटिल कैकेई। काहि कहइ केहि दूषनु देई ॥ २। २७३। १।' और भरतजीकेही चरितका प्रभाव है कि अवध फिर सुन्दर रीतिसे 'सुबस' बसा, 'रामदरस लगि लोग सब करत नेम उपवास। तजि तजि भूषन भोग सुख जिअत अवधि की आस। ३२२।' और भगवान् श्रीरामजीका राज्याभिषेक हुआ। सब उत्पात शान्त हुए।

२ वैजनाथजी लिखते हैं कि—'काई, मैला आदि यावत् उत्पात जलमें होता है वह सब वर्षाका प्रवाह आनेपर बह जाता है, यहाँ कैकेयी–कुमति आदि यावत् पूर्व उत्पातरूप काई और मैल रहा उस सबको शमन करनेके लिए जो जप-यज्ञमय भरतचरित है वही वर्षाका प्रवाह है जिससे सब विकार बह गया।'

३ यज्ञ प्रायश्चित्त आदिके लिये किया जाता है, वैसेही कैकेयीजीके पापका प्रायश्चित्त श्रीभरत-चरितसे हुआ। यथा 'दृढ़ भक्तिरिति ज्येष्ठे राजतृष्णा पराङ्मुखः। मातुः पापस्य भरतः प्रायश्चित्तमिवाकरोत् ॥' (रघुवंश। २। १९)। अर्थात् ज्येष्ठ भ्रातामें भरतजीकी दृढ़भक्ति थी, अतः राज्यतृष्णासे उनको पराङ्मुख होना मानों माताके पापका प्रायश्चित्त ही है।

४ (क) 'भरतचरित' प्रसंग 'सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत ब्याकुल भए। लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नए ॥ सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहि सुधि देह की।...२। १७६।' से 'भरत चरित करि नेमु तुलसी जो सादर सुनहिं। २। ३२६।' तक है। बीच–बीचमें स्वभावका वर्णन है, उसे जल-गुणके साथ दोहा ४२ (८) में सुशीतलता कहा है। (मा० प्र०)। (ख) 'भरत-चरित' सब उत्पातोंका नाशक है; यथा 'मिटिहहिं पाप प्रपंच सब अखिल अमंगल भार। लोक सुजसु परलोक सुखु सुमिरत नामु तुम्हार ॥ २ ।२६३।' —यह श्रीरामजीका आशीर्वाद है। देखिए, कविने स्वयं भरतवचनको 'सबीजमंत्र' की उपमा दी है। यथा 'भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम सनेह सुधा जनु पागे। लोग बियोग बिषम बिष दागे। मंत्र सबीज सुनत जनु जागे॥ २। १८४।'

पं० रामकुमारजी—१ (क) भरत-चरितको जप-यज्ञ कहा क्योंकि जप-यज्ञ सब यज्ञोंसे श्रेष्ठ है; यथा 'यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि। गीता। १०। २५।' (ख) जपयज्ञसे अमित उत्पात नाशको प्राप्त होते हैं, यहाँ तो एकही उत्पात है। भरत-चरित्रसे श्रीसीतारामलक्ष्मण तीनों प्रसन्न हुए, सब प्रजा सुखी हुई, स्वर्गमें राजा प्रसन्न हुए। (ग) पुनः, जैसे जप-यज्ञका माहात्म्य है वैसेही भरतचरितका माहात्म्य गोस्वामीजीने कहा है; यथा 'परम पुनीत भरत आचरनू। मधुर मंजु मुद मंगल करनू॥ हरन कठिन कलि कलुष कलेसू। महामोह निसि-दलन दिनेसू। पापपुंज-कुंजर मृगराजू। समन सकल संताप-समाजू॥ जनरंजन भंजन भव-भारू। रामसनेह सुधाकर सारू ॥ २। ३२६।'

❀ 'कलि अघ खल अवगुन कथन', 'जलमल बक काग' ❀

(१) श्रीजानकीदासजीके मतानुसार "कलि-अघ-कथन बक है, खल-अवगुन-कथन काग है। जैसे सरयूजीके एक देशमें देशभूमिके योगसे घोंघी-सिवाररूप मल रहता है जिसके साफ करनेको काग-बक रहते हैं, वैसे ही कीर्त्ति-नदीमें कविताके संयोगसे कहीं-कहीं एक देशमें प्राकृत दृष्टान्त दिये गये हैं, वही घोंघी सिवाररूपी जलमल हैं जिनके साफ (दूर) करनेको उत्तरकाण्डमेंका कलि-अघवर्णन बक है और खलअवगुणवर्णन काग है। ये वर्णन प्राकृत दृष्टान्तादि मलको साफ कर देते हैं। इस तरह कि इन दृष्टान्तों को बहुत लोग पढ़ या सुनकर वैसा ही बुरा कर्म करने लगते हैं। 'कद्रू विनतहि दीन्ह दुख' इत्यादिक दृष्टान्त का उदाहरण लोग देते हैं और कहते हैं कि देवकोटिवाले ऐसा करते थे, हम क्यों न करें—यही मलका जमा होना है। वे यह नहीं समझते कि यह तो काव्यका अंग है। परन्तु कलिके अघ और खलके अवगुणका वर्णन जो रामायणमें है इसको जब वे लोग सुनते हैं तब उनको ग्लानि होती है कि जो कर्म हम करते रहे सो तो दुष्टोंके कर्म हैं। ऐसा विचार होनेपर वे कुकर्मोंको त्याग देते हैं; यही मलका साफ होना है। यथा 'बुध जुगधर्म जानि मन माहीं। तजि अधर्म रति धर्म कराहीं। ७। १०४।' इसीसे अघ अवगुण-कथनको बक और काग कहा। इनका वर्णन आवश्यक अंग है, क्योंकि 'संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।"

(२) श्री पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि 'कलिका वर्णन जलमल है, खलअघ बक है, खल-अवगुण काग है। अथवा, कलिका अघ जलमल है और खल-अघ-अवगुन-कथन बक और काग हैं।

(३) वैजनाथजीका मत है कि 'कलि मल ग्रसे धर्म सब। ७। ९७।' इत्यादि कलिका वर्णन जलमल है। अघ वर्णन; यथा 'जे अघ मातु पिता सुत मारें। २। १६७। ५।' इत्यादि, बक है। खल अवगुण-कथन काक है। यहाँ यथासंख्यअलंकार है।

टिप्पणी—१ (क) जब मानसका वर्णन किया था तब खल और कामीको बक-काग कहा था; यथा 'अति खल जे बिषई बक कागा', 'कामी काक बलाक बिचारे।' यहाँ खलके अघ-अवगुण-कथनको बक-काग कहा। मानसमें 'जलमल बक काग' नहीं कहा, यहाँ सरयूमें कहा है। कारण यह है कि मानस देवलोकमें है जो दिव्य है; इससे वहाँ 'जलमल बक काग' नहीं हैं; यथा—'अतिखल जे बिषई बक कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा। संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न बिषय कथा रस नाना। १। ३८। ३-४।' और, सरयूजी नरलोकमें आयीं, इससे यहाँ ये सब हुए। इसी प्रकार जबतक मानस कविके स्वच्छ हृदयमें रहा तबतक ये वहाँ न थे, जब कथा वर्णन करने लगे तब कथामें तो खलकी कथा, कलियुगकी कथा, सभी कुछ कहना ही चाहिये, इससे यहाँ 'जलमल बग काग' कहे। अथवा, यों कहिये कि जैसे मानसमें बक-काग नहीं वैसे ही गोस्वामीजीके मानसमें जबतक कविताके अंग नहीं थे, तबतक बक-कागका रूपक भी न था। बक-काग मर्त्यलोकमें हैं, सरयू मर्त्यलोकमें आयीं इससे यहाँ सब हैं। इसी तरह जब कविके हृदयसे निकलकर कथाका रूपक बाँधा गया तब बक-कागका भी कथामें वर्णन हुआ।

नोट—१ (क) ☞ कलि-अघ वा कलिका वर्णन उत्तरकाण्डमें है, यथा 'कलिमल ग्रसे धर्म सब०' से 'सुनु ब्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार' तक (उ० ९७ से १०२ तक)। (मा. प्र.)। (ख) 'खल-अघ-अवगुन' का वर्णन बालकाण्डके आदि और उत्तरकाण्डके मध्यमें है; यथा 'बहुरि बंदि खलगन सतिभाये। जे बिनु काज दाहिनेहु बाये' से 'खल अघ अगुन साधु-गुन-गाहा। उभय अपार उदधि अवगाहा' तक। १। ४ (१) से १। ६ (१) तक, 'सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ' से 'स्वारथरत परलोक नसाना। ७। ३९। १।' से ७। ४१। ४ तक है। फिर दोहा १२१ में भी कुछ है—'पर दुख हेतु असंत अभागी। इन्ह कह सन्त परबंचन करई। खाल कढ़ाइ बिपति सहि मरई।' से 'जथा प्रसिद्ध अधम ग्रह केतू।' तक (७। १२१।

१५-२०) इत्यादि । इनमेंसे उत्तरकांडमें जो वर्णन है वह 'खल अवगुण कथन' यहाँ अभिप्रेत है; यह मत मा० प्र० का है और यही ठीक जान पड़ता है। वैजनाथजी तथा और भी एक दो टीकाकार 'खल अघ अगुन....' इत्यादि जो बालकांडमें है उसे 'खल अवगुण कथन' में लेते हैं। मा० मा० कार इसपर लिखते हैं कि पूर्वसे वर्णन क्रमसे हो रहा है, इसलिये फिर लौटकर बालकांडमें जाना प्रसंग-विरुद्ध जान पड़ता है। साथही एक बड़ा दोष इसमें यह है कि यह प्रसंग कीर्त्ति-सरयूका नहीं है, यह तो कविके वंदना-प्रकरणका एक अंश है।

कीरति सरित छहूँ रितु रूरी । समय सुहावनि पावनि भूरी ॥ १ ॥

शब्दार्थ—रितु (ऋतु)—प्राकृतिक अवस्थाओंके अनुसार वर्षके दो-दो महीनेके छः विभाग। ये छः हैं। इनके नाम मुं० गुरुसहायलालके टिप्पणमें आये हैं और आगे अर्धालियोंमें कविने स्वयं दिये हैं। रूरी= (सं० रूढा। रूढ=प्रशस्त)=सुन्दर, पक्की। भूरी = बहुत।

अर्थ—यह कीर्ति-नदी छहों ऋतुओंमें सुन्दर है। सब समय (वा, समय-समयपर) बहुत ही सुहावनी और पावनी है॥ १ ॥※

टिप्पणी—१ (क) 'छहूँ रितु रूरी' इति। भाव यह है कि जिस ऋतुका जो धर्म है वही उसकी शोभा है। यहाँ सब ऋतु अपने-अपने धर्मके सहित हैं। इसीसे यह नदी सब समयमें सुहावनी है। (ख) यहाँ कीर्ति-नदीका छहों ऋतुओंमें सुन्दर होना कहा है (और आगे इन ऋतुओंका वर्णन किया है)। अर्थात् (१) श्रीपार्वतीमहादेवविवाह सुन्दर, (२) प्रभुजन्मोत्सव सुन्दर; (३) श्रीरामविवाह-समाज सुन्दर; (४) श्रीराम-वन-गमन सुन्दर, यथा—'कहेउँ राम-बन-गवन सुहावा। २। १४२। ४।'; (५) 'निशाचर रारी' (अर्थात् निशाचरोंसे संग्राम) सुन्दर—इसके सुन्दर होनेका हेतुभी बता दिया है। वह यह कि 'सुरकुल-सालि सुमंगल-कारी' है। और, (६) श्रीरामराज सुन्दर और विशद है।

नोट—१ 'छहूँ रितु रूरी' कहकर कीर्त्तिनदीकी सब दिन बड़ाई दिखायी। और नदियाँ तो काल और देश पाकर पवित्र होती हैं—'देशे देशे तद्गुणाः सविशेषाः' पर यह सदा सुन्दर है। इसकी शोभा नित्य नवीन बनी रहती है, कभी घटती नहीं। (सू० मिश्र)। पुनः यह भी जनाया कि परिवर्तन तो होता है पर वह उसे नित्य नवनवायमान बनाए रखनेमें सहायक होता है। अतः परिवर्तनभी शोभाके उत्कर्षका कारण है। (वि० त्रि०)।

२ "समय सुहावनि..." के भाव—(क) "जैसे श्रीसरयूजी सब ऋतुओंमें सुन्दर हैं पर समयसमयपर अति सुहावनी और अति पावनी हो जाती हैं (जैसे कातिक, श्रीरामनवमी आदि पर), वैसेही कीर्ति-नदी सब ऋतुओंमें सुन्दर है पर समय-समयपर यहभी बहुत सुहावनी और पावनी है।" (मा०प्र०)। (ख) जिस कथाभागको जिस ऋतुसे उपमित किया गया, उससे उस ऋतुकी शोभा पाई जायगी। किस भागसे किस ऋतुकी शोभा है यह कवि आगे स्वयं कह रहे हैं। (वि० त्रि०)।

सन्त श्रीगुरुसहायलालजी लिखते हैं कि 'श्रुति-वाक्य है कि वसन्तऋतुके चैत्र-वैशाख मासमें ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं; वनस्पति पकती हैं; इसी कारण उन (मासों) के नाम मधु और माधव हैं। ग्रीष्मके ज्येष्ठ-आषाढ़ मासमें सूर्य अधिक तपते हैं इसीसे उन्हें शुक्र और शुचि कहते हैं। वर्षाके श्रावण भाद्रपद मासमें आकाशसे वर्षा होती है, इसीसे उनका नाम नभ और नभस्य है। शरदृतुके आश्विन कार्तिक मासमें रसवान् ओषधियाँ पकती हैं, इसीसे उन्हें इष् और ऊर्ज कहते हैं। हेमन्तऋतुके अग्रहण और पौष मासमें

※ मा० पत्रिकामें अर्थ इस प्रकार किया है—'इस रामकथा-नदीमें समय (समय) पर सोहावनी, पवित्र और बहुत (अनेक लोगोंकी) कीर्ति (कथा) जो हैं वे छहों ऋतु हैं।'

[illegible] हो जाती है, इसीसे उन्हें सह और सहस्य कहते हैं। शिशिरऋतुमें माघ-फाल्गुन मासमें सूर्यका तेज अधिक होता है; इस कारण उनका नाम तप और तपस्य है। इससे इस चौपाईका भाव यह हुआ कि [illegible] नदी छहों ऋतुओंमें सुन्दर है और पावन और सुहावन समय तो यहाँ भूरी अर्थात् बहुतही है। तात्पर्य यह है कि अन्य तीर्थोंमें कभी-कभी स्नान-क्रियामें विशेष फल होवै है और यहाँ तो सर्वदा ही। पुनः, मेला इत्यादिमें बहुतेरे सुहावन होते हैं और यह समाजियोंद्वारा सदा ही सुहावन है।'

महात्मा हरिहरप्रसादजी दोनों भाव देते हैं। वे किसी-किसी समयमें बड़ी शोभा और पवित्रताका उदाहरण यह देते हैं कि 'जैसे वन-गमन आदि लीलाएँ तारनेमें समर्थ हैं; पर जन्म, विवाह आदि लीलाएँ अति सुहावनी पावनी हैं।

३ 'पावनि भूरी' अर्थात् बहुत पवित्र। 'पावनि भूरी' कहा, क्योंकि यह कीर्त्ति श्रीरामजीकी है। छओं कथाविभागोंकी पावनताके प्रमाण—उमाशंभुविवाहरूपी हेमन्तऋतुकी पावनता, यथा 'कल्यानकाज बिबाह मंगल सर्बदा सुख पावहीं। १।१०३।' प्रभुजन्मोत्सव शिशिरकी पावनता, यथा 'यह चरित जे गावहिं हरिपद पावहिं ते न परहिं भवकूपा। १।१९२।' श्रीरामविवाहसमाज ऋतुराजकी, यथा 'तिन्ह कहुँ सदा उछाहु। १।३६१।' श्रीरामवन-गमन ग्रीष्मकी, यथा 'अजहुँ जासु उर सपनेहुँ काऊ। बसहुँ लखनु सियरामु बटाऊ॥ रामधामपथ पाइहि सोई। २।१२४।' निशाचरारि वर्षाकी, यथा 'बिजय बिबेक बिभूति नित तिन्हहिं देहिं भगवान। ६।१२०।' और, श्रीराम-राज्यसुखादि शरद्ऋतुकी पावनता, यथा 'सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुपतिपुर जाहीं॥'''७।१५।'

४ (क)—यहाँ ऋतुप्रकरण उठानेका कारण मानस-परिचारिकाकार यह लिखते हैं कि 'नदीका रूपक कहने लगे सो नदीमें जितनी सहायत्व रही यह अयोध्याकाण्डभरमें हो गयी, किञ्चित् उत्तरकाण्डमें पाया। आगे अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर और लंकाकाण्डमें ये न मिले' इसलिए ऋतुप्रकरण उठाया। और त्रिपाठीजी लिखते हैं कि श्रीगोस्वामीजी नदीका रूपक यहीं समाप्त करते हैं। उन्होंने अयोध्याकाण्डतक ही मुख्य राम-चरित माना। शङ्कर-पार्वतीका व्याह तथा अरण्य, किष्किन्धा, सुन्दर, लङ्का और ५१ दोहे तक उत्तर काण्डकी कथाओंको उसी कीर्ति-सरितकी विशेष-विशेष अवस्थाओंके शोभारूपमें स्वीकार किया है। यही कारण है कि जिस भाँति बाल और अयोध्या विस्तारके साथ लिखे गये, उस भाँति दूसरे काण्ड नहीं लिखे गये। वस्तुतः श्रीरामजीके मुख्य गुणग्रामोंका परिचय इन्हीं दो काण्डोंमें हो जाता है, शेष ग्रन्थमें उन्हीं गुणग्रामोंकी शोभा-मात्रका वर्णन है।"

(ख) बाबा हरीदासजी लिखते हैं कि "कीर्तिसरितमें छः ऋतु कहनेका हेतु यह है कि छः ही ऋतुओंमें सब दिन बीतते हैं। इसलिये जो इनको गावें सुनेंगे उनपर ऋतुओंके दोष न बिसायेंगे। अर्थात् कालके गुण न व्यापेंगे।"

शंका—"शास्त्रोंमें तो वर्षा-ऋतुमें नदी अपावनी कही गयी है; उसका रजस्वला होना कहा जाता है; यथा "सिंहकर्कटयोर्मध्ये सर्वानद्यो रजस्वलाः। तासु स्नानं न कुर्वन्ति वर्जयित्वा समुद्रगाः।" तब सरयूको छहो ऋतुओंमें रूरी और पावनी कैसे कहा?"

समाधान—(१) रजोधर्म बाल्य और वृद्धा अवस्थाओंमें नहीं होता। गङ्गा-यमुना-सरयू आदि वृद्धा अवस्थाकी कही जाती हैं। ये जगज्जननी कही जाती हैं और सदैव पवित्र हैं। इसीसे सदा रूरी, सुहावनी और पावनी हैं। (२) शंकामें दिए हुए प्रमाणसेभी यह दोष श्रीसरयूजीमें नहीं लग सकता क्योंकि ये 'समुद्रगा' हैं। (३) उपमाका केवल एक देशही यहाँ लिया गया है, अतः यह शंका नहीं रह जाती। (४) श्रीकांत-शरणजी कहते हैं कि "साथही यह भी लिखा है—'नदीषु मातृतुल्यासु रजोदोषो न विद्यते" (कृत्य-शिरोमणि), 'नद्युपेत्तीरवासिनम् (निगम)।"

हिम हिमसैलसुता–सिव ब्याहू । सिसिर सुखद प्रभु-जनमउछाहू ॥ २ ॥

शब्दार्थ—हिम=हेमन्तऋतु । हिमशैलसुता=हिमाचलराजकी पुत्री श्रीपार्वतीजी । सिसिर=शिशिर ।

अर्थ—श्रीशिवपार्वती-विवाह हेमन्तऋतु है । श्रीरामजन्म महोत्सव सुखदायी शिशिरऋतु है ॥२॥

नोट—१ यहाँसे कथाका ऋतुके धर्मसे मिलान वर्णन किया जा रहा है । या यों कहिये कि कीर्त्ति नदीके ऋतुओंके पृथक्-पृथक् स्वरूपोंका निरूपण यहाँसे चला । और सुधाकरद्विवेदीजी कहते हैं कि 'इस मानसमें जो बहुत लोगोंकी कीर्तिरूपी छः ऋतुयें हैं उनमें संशय न हो इसलिये अलग-अलग कहते हैं । ऋतुवर्णनके व्याज-से गोसाईंजीने रामायणका पूरा-पूरा स्वरूप दिखलाया है ।'

२ प्राचीन कालमें किसी समयमें संवत्सरका प्रारंभ मार्गशीर्षमास अर्थात् हेमन्त ऋतुसे होता था । अमरकोशमें मार्गशीर्षका नाम आग्रहायणिक मिलता है । जिसकी व्याख्या सिद्धान्तकौमुदीमें 'आग्रहायण्यश्व-त्थाट्ठक् । ४। २ । २२ ।' इस सूत्रपर इस प्रकार की गई है—अग्रेहायनमस्या इत्याग्रहायणी । आग्रहायणी पौर्णमासी अस्मिन् सः आग्रहायणिकः मासः ।' अर्थात् जिसका सम्वतसर आगे है वह आग्रहायणी और आग्रहायणी पूर्णमासी जिस मासमें है उसका नाम आग्रहायणिक है ।

सिद्धान्तकौमुदीकारके पुत्रने अमरकोशके इस शब्दकी व्याख्यामें यह लिखा है कि "ज्योत्स्नादित्वात्" (वा० ५।२।१०३) अणि 'आग्रहायणः' अपीति पुरुषोत्तमः ॥'' अर्थात् श्रीपुरुषोत्तमजीके मतसे 'आग्रहायण' ऐसाभी शब्द होता है । (इसीका अपभ्रंश हिन्दीभाषामें 'अगहन' है) ।

उपर्युक्त व्याख्यासे स्पष्ट है कि अगहनकी पूर्णिमा संवत्सरकी पहली पूर्णिमा है अर्थात् संवत्सरका प्रारंभ अगहनसे होता है ।

अमरकोशके कालवर्गमें मासोंके नामोंकी गणना मार्गशीर्षसे और ऋतुओंके नामोंकी गणना हेमन्तसे की गई है एवं ऋतुगणनाके अन्तमें कहा गया है कि मार्गादिमासोके दो-दो मासोंका एक-एक ऋतु होता है । यथा "षडमी ऋतवः पुंसि मार्गादीनां युगैः क्रमात् । २० ।" और प्रारम्भमें 'द्वौ द्वौ मार्गादि मासौ स्यादृतुः ।१।४। १३।' यहभी कहा है । इससे यह बात सिद्ध होती है कि अमरकोशकारके समयमें अगहन माससे सम्वत्सरका आरम्भ होता था ।

श्रीसुधाकरद्विवेदीजीका भी यही मत है । हिन्दी शब्दसागरकार भी लिखते हैं कि "प्राचीन वैदिक कर्मके अनुसार अगहन (आग्रहायण) वर्षका पहिला महीना है । गुजरात आदिमें यह क्रम अभीतक प्रचलित है ।"

अतः गोस्वामीजीने ऋतुका रूपक बांधनेमें इसी ऋतुसे प्रारम्भ किया है ।

इसपर यह प्रश्न होता है, कि 'कमसे कम गोस्वामीजीके समय तो उत्तरीय भारतमें मार्गशीर्षसे सम्वत्सर॰के आरम्भकी परम्परा वा व्यवहारका प्रमाण उपलब्ध नहीं है किन्तु वसन्त (चैत्र) से ही वर्षका आरम्भ सुना जाता है तब वसन्तको छोड़कर हिम ऋतुसे प्रारम्भ करनेका क्या हेतु है ?'

समाधान यह है कि गोस्वामीजी श्रीरामराज्यको शरद्ऋतुसे उपमित करना चाहते हैं, क्योंकि शरद्-ऋतु विशद, सुखद और सुहावनी है । यदि वर्तमान प्रथाके अनुसार वसन्तसे प्रारम्भ करते तो अन्तमें शिशिर-ऋतु पड़ती जो सबको उतना सुखद नहीं होता जितना शरद् ।

श्रीशुकदेवलालजी लिखते हैं कि प्रथम हिमऋतु कहा क्योंकि हिमऋतुका प्रारम्भ मार्गशीर्ष प्रथम माससे है, इस क्रमसे कि नारायण अपने केशवादि द्वादश नामोंसे द्वादश महीनोंके स्वामी और पूज्य द्वादश मासोंके माहात्म्योंमें प्रसिद्ध हैं, यथा—(१) केशव मार्गशिर, (२) नारायण पौष, (३) माधव माघ, (४) गोविन्द फाल्गुन, (५) विष्णु चैत्र, (६) मधुसूदन वैशाख, (७) त्रिविक्रम ज्येष्ठ, (८) वामन आषाढ़, (९) श्रीधर श्रावण, (१०) हृषिकेश भाद्रपद, (११) पद्मनाभ आश्विन और (१२) दामोदर कार्तिक—ये हिमसे शरद्पर्यन्तके महीने हैं

मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि 'प्रथम हिम-ऋतु-वर्णन करनेका आशय यह है कि हिमऋतु और शङ्कर-पार्वती-विवाहका एक कर्म है। वह यह कि इस विवाहमें त्रिलोकी कम्पायमान हो गया—'भयउ कोप कंपेउ त्रयलोका', 'कहहिं वचन सिसु कंपित गाता' ऐसे ही हिममें सब काँपते हैं।

प्रश्न—२ कीर्त्ति-सरयूके ऋतु-प्रसंगको उमा-शम्भु-विवाहसे ही क्यों प्रारम्भ किया ?'

उत्तर—(क) मानसप्रकरण इस श्रीरामचरितमानस ग्रन्थमें मूलरामायण-सरीखा है। गोस्वामीजीने श्रीरामचरितमानसकथाके प्रारम्भमें यह दिखाया है कि किस हेतुसे और किस प्रकार मानसका जगत्में प्रचार हुआ, ऐसा करनेमें प्रथम शिव-पार्वती-विवाहका वर्णन किया है, तब राम-जन्मोत्सव का। इसी कारण यहाँ भी वही क्रम रखना उचित ही था।

(ख) शिव-पार्वती-विवाहका कथन-श्रवण कल्याणकारी है; यथा 'यह उमा संभु-बिबाह जे नर नारि कहहिं जे गावहीं। कल्यान-काज बिबाह मंगल सर्बदा सुख पावहीं। १।१०३।' अतएव आदिमें इसको कहा।

(ग) महादेव पार्वती इस कथाके प्रचारके प्रथम आचार्य हैं। अतः उन्हींसे प्रारंभ किया।

नोट—३ उमा-शंभु-विवाह-प्रसंगको हेमन्तऋतुसे उपमित करनेके भाव कि-(क) हेमन्तऋतुमें हिम (बर्फ, पाला) बहुत पड़ता है और उमाजी हिमशैलसुता हैं जो शिवजीको अत्यंत प्रिय हैं। इस लिये इस कीर्तिसरयूमें हिमके स्थानपर हिमशैलसुताविवाह बहुतही उपयुक्त है। (ख) हिमऋतुमें दो मास मार्गशीर्ष और पौष, वैसेही हिमशैलसुताशिवव्याहमेंभी दो चरित (उमाचरित तथा शिवचरित) हैं। यथा 'उमाचरित सुंदर मैं गावा। सुनहु संभु कर चरित सुहावा। १।७५।६।' (वि० त्रि०)। (ग) जाड़ा अमीरोंको सुखदायी और गरीबोंको दुःखदायी होता है, वैसेही यह विवाह देवताओंको सुखदायी हुआ। यथा 'तारक असुर भयउ तेहि काला १।८२।४।' से 'एहि बिधि भलेहि देव-हित होई।१।८३।' तक। गरीब स्थानमें मेना अम्बा आदि हैं। इन्हें भय और दुःख हुआ, यथा 'बिकट बेष रुद्रहिं जब देखा। अबलन्ह उर भय भयउ बिसेषा ॥१।९६।' से 'बहु भाँति बिधिहि लगाइ दूषन नयन बारि बिमोचहीं। १।९७।' तक। (घ) सरयूमें हिमऋतु आनेपर जाड़ा होता है, लोग काँप उठते हैं, परंतु उससे भोजन पच जाता है, इससे बड़े लोग प्रसन्न रहते हैं। वैसेही कीर्तिसरयू उमाशंभुविवाहरूप हिमऋतुमें श्रीमेनाजी आदिको प्रथम दुःखरूप जाड़ा लगा। सब देवता अपना-अपना स्थान पाकर खुश हुए—यही भोजनका पचाना है। (मा० प्र०)। (ङ) हिमऋतुमें विना अग्निके जाड़ेका नाश नहीं होता, सो शंकर और पार्वतीके व्याहके उपक्रममेंही जाड़ा और आगका सामना पड़ा। कामको जाड़ा (हिम) से और शंकरजीको अग्निसे उपमित किया ही गया है; यथा 'तात अनल कर सहज सुभाऊ। हिम तेहि निकट जाइ नहि काऊ॥ गएँ समीप सो अवसि नसाई। असि मन्मथ महेस कै नाईं॥ १।९०।' हिमऋतु कामियोंको अति सुखद है और नित्य कृत्यमें महाविघ्नप्रद है, इस भाँति भी जाड़ेका कामसे साधर्म्य मिलता है। कामरूपी जाड़े का प्रकोप शंकररूपी अग्निपर हुआ जिसका वर्णन 'तब आपन प्रभाउ बिस्तारा।१।८४।५।' से 'धरी न काहू धीर''''।८५' तक है। जाड़ारूपी कामका यह पुरुषार्थ त्रैलोक्यको कंपायमान करनेमें समर्थ तो हुआ परन्तु कालाग्निके समान रुद्र भगवान्को देखतेही संकुचित हो गया। (उसने फिर अपना प्रभाव दिखाया) 'तब सिव तीसर नयन उघारा। चितवत कामु भयउ जरि छारा। १।८७।' यह तो हुई मार्गशीर्षकी बात, पौषमें तो अग्निदेवभी मन्दे पड़गए, कारण कि भगवती हिमगिरिनंदिनीके साथ व्याह हो गया। (वि० त्रि०)।

प्रश्न—श्रीशिवपार्वतीव्याह रामचरितके अन्तर्गत कैसे है ?

उत्तर—श्रीरामचरितका बीज उमाशंभुविवाहप्रसंगमें विदित है। सतीतनमें जो व्यामोह हुआ था उसकी निवृत्तिके लिए श्रीरामचरितका प्रादुर्भाव यह विवाह होनेसे ही हुआ। अतः उसे रामचरितके अन्तर्गत मानना अनुचित नहीं है। दूसरे, यह विवाह वस्तुतः रामचरित ही है। भगवान् शंकरने सतीका परित्याग किया।

समय पाकर सतीका हिमाचलके यहाँ जन्म हुआ। पर व्याह कैसे हो? अतः अब रामचरित सुनिये—'नेमु प्रेमु संकर कर देखा। अविचल हृदय भगति कै रेखा॥ प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला॥ १।७६।४-५।'से 'संकर सोइ मूरति उर राखी। ७७।७।' तक। श्रीरामजीके अनुरोधसे यह व्याह हुआ। अतः इसका श्रीरामचरितके अन्तर्गत होना सभी विधिसे प्राप्त है। (वि० त्रि०)

नोट—४ उमाशंभुविवाहप्रसंग मा० प्र० के मतानुसार "कंचन थार सोह वर पानी। परिछन चली हरहि हरषानी। १। ९६। ३।' से और किसीके (संभवतः पं० रामकुमारजीके) मतसे 'सुदिनु सुनखतु सुघरी सोचाई। १। ९१। ४।' से 'यह उमासंभुविवाह जे नर नारि कहहिं जे गावहीं। १०३।' तक है।

५ "सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू" इति। श्रीरामविवाहोत्सवको शिशिरकी उपमा दी; क्योंकि—(क) दोनों सुखद हैं। (ख) माघमें मकरसंक्रान्तिके स्नानके लिये तीर्थमें यात्रियोंका समाज जुटता है और फाल्गुनमें होली होती है जिसमें अबीरगुलाल रंगकी बहार देखनेमें आती है। यहाँ कीर्त्ति-सरयूमें श्रीराम-जन्मोत्सव-समय देव, ऋषि, गन्धर्व, मनुष्य इत्यादिका समाज, गान-तान-नृत्य, और उसपर 'ध्वज पताक तोरन पुर छावा॥ मृग मद चंदन कुंकुम कीचा। मची सकल बीथिन्ह विच बीचा॥…अगर धूप बहु जनु अँधियारी। उड़इ अबीर मनहु अरुनारी॥ १। १९४–१९५।' यह होली हुई। (मा० प्र०)। (ग) शिशिर ऋतुका गुण है कि काँपनेको कम करता है और आनन्द देनेवाले वसन्तके आगमनकी सूचना देता है। (पाँ०)। (घ)--शिशिरमें जाड़ेकी सर्वथा निवृत्ति तो नहीं होती पर आशा हो जाती है कि अब जाड़ा गया। रामजन्मसे साम्य यह है कि श्रीरामजन्ममात्रसे रावण तो मरा नहीं, पर उसके वधकी आशा सबको हो गयी। (मा० प०)। (ङ) माघमें जाड़ेकी अधिकता रहती है वही राक्षसोंकी अनीति है। फाल्गुनमें नाच-गाना होलीका अनेक उत्सव होता है, वही श्रीरामजीके प्रकट होनेका आनन्द है, शीतस्वरूप राक्षसोंका प्रताप कम होने लगा और रामप्रताप-घाम बढ़ने लगा।' (वै०)। (च) शिशिरमें जाड़ेसे रोंगटे खड़े हो जाते हैं। यहाँभी महाराज दशरथजीके 'परम प्रेम मन पुलक सरीरा।' (सु० द्विवेदीजी)।

त्रिपाठीजी लिखते हैं कि "प्रभु-जन्म माघ है और उछाह फाल्गुन।…श्रीरामकथामें होलीका आनन्द लीजिये। श्रीगोस्वामीजी कहते हैं, 'त्रिविध ताप होली जलै खेलिय अस फाग' (विनय)। सो त्रिविधतापकी होली तो प्रभुके जन्म लेतेही जल गई; यथा—"आनंद मगन सकल पुरबासी।"…"परमानंद पूरि मन राजा", "ब्रह्मानंद मगन सब लोई।" (१। १९३–१९४)। होलीमें लोग ढोल बजाते, रंग अबीर गुलाल खेलते-उड़ाते हैं, वैसेही श्रीरामजन्मपर "लै लै ढोर प्रजा प्रमुदित चले भाँति-भाँति भरि भार।…कुंकुम अगर अरगजा छिरकहिं भरहिं गुलाल अबीर।…" (गीतावली)। होलीकी उमंगमें बहुतसी अनुचित बातेंभी उचितसी मान ली जाती हैं, इसी भाँति छोटी-मोटी चोरीभी हास-परिहासमेंही परिगणित होती है। लड़के उछाहभरे स्वाँग बनाये फिरते हैं। यहाँ बड़े-बूढ़ोंकी चोरी देखिये। 'औरो एक कहौं निज चोरी। १९६। ३।' से 'बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले' तक। इस महोत्सवमें सभी सम्मिलित हुए। ऐसे आनंदके समय यदि अभिसारिकाभी अपने प्रियतमसे होलीकी कसक मिटाने चले, तो आश्चर्य क्या? यहाँ रात्रिदेवी अभिसारिका होकर अपने प्रियतम प्राणधन प्रभुसे मिलने चली—'प्रभुहिं मिलन आई जनु राती।'

६ "प्रभु जनम उछाहू" यह प्रसंग "सुनि सिसुरुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥ हरषित जहँ तहँ धाईं दासी। आनंदमगन सकल पुरबासी॥ १। १९३। १।' से-(मा० प्र० के मतानुसार 'नंदीमुख सराध करि…' से)—'धरे नाम गुर हृदय बिचारी। १९८। १।' तक है।

बरनब राम बिबाह समाजू। सो मुद मंगल मय रितु राजू॥ ३॥

अर्थ—श्रीराम-विवाह-समाजका वर्णन ही आनन्द-मङ्गलमय वसन्त है ॥ ३ ॥

प० रामकुमारजी:—सानुज-रामके विवाहका उत्सव नदीकी बाढ़ है। 'राम-विवाह' बाक़ी रहा सो सीता-स्वयंवरकी कथामें गया। इन दोनों ठौरोंसे विवाहका ग्रहण नहीं है क्योंकि यदि ग्रन्थकार विवाह-वर्णन करते तो समाजको उछाहसे पृथक् कहते जैसे श्रीशिवपार्वतीजीके विवाहको विवाहसमाजसे पृथक् कहा है; यथा 'हिम हिमसैल-सुता-सिव ब्याहू' यह विवाह है और 'उमामहेस-बिवाह-बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती॥' यह समाज है; यथा 'बिहँसे सिव समाज निज देखी।'

नोट—१ विवाह-समाजको वसन्त ऋतुकी उपमा दी है। दोनोंमें समानता यह है कि—(क) दोनों 'मुद-मङ्गलमय' हैं। (ख) मुं० रोशनलालजी लिखते हैं कि 'वसन्तका गुण है कि पुराने पत्तोंको झाड़कर फूल-फल-सहित कर देता है। इसी भाँति विवाहमें लोग पुराने भूषण-वस्त्र उतारकर नये रङ्ग-विरङ्गके भूषण-वस्त्र पहिनते हैं' (पाँडेजी)। (ग) "जैसे वसन्तमें सब वृक्ष पल्लव-पुष्पोंसे नाना रङ्गके शोभित होते हैं वैसेही राम-विवाहका समाज है। मण्डपकी रचना, बरातका बनाव, हाथी-घोड़े-रथोंकी सजावट, नाना रङ्गके भूषण-वस्त्र पहिने हुये पैदल, इत्यादि विवाह-समाज है जो वसन्तकी शोभा बन रही है। वसन्त ऋतुराज, वैसेही राम-विवाहसमाज समस्त लीलाका राजा। (मा० प्र०)। (घ) वसन्तकी महिमा स्कन्दपुराणमें लिखी है। यहभी लिखा है कि ब्रह्मादिको बनाकर भगवान् लक्ष्मणसहित इस ऋतुमें अपने भक्तोंको वरदान देने आये हैं। ऐसाही उत्सव रामविवाहमेंभी हुआ। (सू० मिश्र)। (ङ) विवाहमें तरह-तरहके फूलके-ऐसे देश-विदेशसे ठाट-बाटके साथ राजालोग आये, मिथिलाकी नारियाँ कोयल-से भी बढ़कर पञ्चम स्वरसे मङ्गल गाने लगीं—'सकल सुमंगल अंग बनाये। करहिं गान कलकंठ लजाये।' इसलिये इसे ऋतुराज बनाया। (सु० द्विवेदी) (च) वसन्तके चैत्र और वैशाख दोनों महीनोंके नाम 'मधु' और 'माधव' हैं। रामविवाहसमाजमें महाराज दशरथ और जनकजीकी प्रधानता है। गोस्वामीजीने इनको मधु-माधव कहा है। यथा 'मधु माधव दसरथ जनक मिलब राज रितु-राज। रामाज्ञा प्रश्न १।३१।' इन दोनों राजाओंका समाजही ऋतुराज है। अयोध्याजीकी बड़े ठाट-बाटकी बारात और उसके स्वागतकी तैयारीसे बड़ी चहलपहल मच गई मानों वन उपवनमें साक्षात् ऋतुराजकी अवाई हो गई। वसन्तोत्सवमें नगरोंमें बड़ी तैयारी होती है, प्रजावर्ग महोत्सव मनाते हैं। अयोध्या और जनकपुरमेंभी बड़ी तैयारी है और प्रजावर्ग आनन्दमें विभोर हैं। यथा 'जद्यपि अवध सदैव सुहावनि''''बीथीं सीचीं चतुर सम चौकें चारु पुराइ।२९६।', 'रचे रुचिर बर बंदनिवारे।' से 'तेहि लघु लगहि भुवन दस-चारी।२८९।७।' तक। (वि०त्रि०)

ग्रीषम दुसह राम-बन-गवनू। पंथ-कथा खर आतप पवनू॥ ४॥

शब्दार्थ—ग्रीषम (ग्रीष्म)—गर्मीके महीने, ज्येष्ठ-आषाढ़। दुसह (दुःसह)=जो सहा न जा सके, असह्य, कठिन। 'दुसह' का प्रयोग पद्यहीमें होता है। आतप=तपन। खर=तीक्ष्ण, तेज, कड़ी। यथा—'तिग्मं तीक्ष्णं खरं तद्वत्' (अमर १। ३। ३५)।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीका दुःसह वन-गमन ग्रीष्मऋतु है और (वनके) मार्गकी कथाएँ कड़ी धूप (घाम) और लू हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ "ग्रीषम दुसह रामबनगवनू" इति। (क) 'ग्रीष्म और वनगवन दोनों दुःसह हैं यह समता है। रामवनगमन दुःख (रूप) है सो ग्रीष्म है।' [ग्रीष्मके दिन बड़े होते हैं और दुःखके दिनभी बड़े होते हैं; यथा 'निसिहि ससिहि निंदति बहु भाँती। जुग सम भई सिराति न राती॥', 'अति परिताप सीय मन माहीं। लव निमेष जुगसय सम जाहीं।१।२५८।८।', 'देखि परम बिरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कलपसम बीता।५।१२।१२।', 'भृगुपति कर सुभाउ सुनि सीता। अर्धनिमेष कलप सम बीता।१।२७०।८।' इत्यादि। सुखके दिन छोटे होते हैं; यथा 'मासदिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ।', 'कछुक दिवस बीते एहिं भाँती। जात

न जानिय दिन अरु राती।२।१६७।१।', 'सुख समेत संबत दुइ-साता। पलसम होहिं न जनियहि जाता।२।२८०।८।' इत्यादि] (ख) ['उमामहेशविवाह सुखरूप है, सो हिमऋतु है। राम-जन्म उत्साहमें बड़ा सुख है सो शिशिर है। रामराज शरद् है, रामविवाह-समाज वसन्त है, ये सब सुखके दिन हैं सो छोटे हैं। लड़ाई वर्षा है, सुरकुल-शालिकी पोषणहारी है; इसके दिनभी ग्रीष्मके दिनसे छोटे होते हैं।' (ग) 'जैसे वसन्तके दिये हुए ऐश्वर्यको तीक्ष्ण घाम और पवन नष्ट कर देते हैं वैसेही वनगमनकथाने विवाहोत्सव और समाजको नष्ट कर दिया।' (पाँ०)। (घ) रामवनगवनसे सब लोग सूख गए। श्रीरामजीकी शीतल बातोंसे भी कौशल्याजी सूख गयीं। यथा 'सहमि सूखि सुनि सीतल बानी।', 'राखि न सकइ न कहि सक जाहू। दुहू भाँति उर दारुन दाहू।' सुखा देना और दाह पैदा करना—यह ग्रीष्मका धर्म है, अतः इसे ग्रीष्म कहा। (सु० द्विवेदी)। (ङ) ग्रीष्ममें संतापके कारण सूर्य हैं और रामवनगवनमें संतापका कारण श्रीरघुपतिवियोगविरह है; यथा 'नारि कुमुदिनीं अवध सर रघुपति-बिरह दिनेस।७।६।' सरकारके विरह-दिनेशके उदयसे संसार संतप्त हो उठा। यथा 'रामगवनु-बन अनरथ-मूला। जो सुनि सकल बिस्व भइ सूला।२।२०७।', 'नगर नारि नर निपट दुखारी।२।१५८।' (च) ग्रीष्ममें सूर्यके प्रखर किरणोंसे जलके सूखनेसे मछली व्याकुल होती है और यहाँ रघुपतिविरहदिनेशके प्रखर प्रतापसे प्रिय परिजन परम व्याकुल होगए। परिजन मीन हैं; यथा 'अवधि-अंबु प्रिय परिजन मीना।२।५७।', 'मनि बिनु फनि जिमि जल बिनु मीना। मम जीवन मिति तुम्हहिं अधीना।१।१५१।' ऐसा वरदान माँगनेवाले राजा दशरथने तो अल्प जलमें पड़े हुए मत्स्यराजकी भाँति अपने शरीरकाही विसर्जन कर दिया। (वि० त्रि०)।]

नोट—१ (क) 'दुसह', यथा 'राम चलत अति भयउ बिषादू। सुनि न जाइ पुर आरत नादू।२।८१।', 'सहि न सके रघुबर-बिरहागी। चले लोग सब ब्याकुल भागी॥२।८४।४।', 'सूत बचन सुनतहि नरनाहू। परेउ धरनि उर दारुन दाहू···। महा-बिपति किमि जाइ बखानी॥ सुनि बिलाप दुखहू दुख लागा। धीरजहू कर धीरज भागा···।', 'रामराम कहि सुरधाम।२।१५२-१५५।' तक इत्यादि। (ख) 'बन-गवनू'-प्रसंग—'सजि बन साज समाज सब बनिता बंधु समेत। बंदि बिप्र गुरु-चरन प्रभु चले करि सबहि अचेत॥२।७९।' से 'रमेउ राम मन०।२।१३६। 'कहेउँ रामबनगवनु सुहावा।२।१४२।४।' तक (मा०प्र०के मतसे 'बैठि बिटपतर दिवसु गँवावा।२।१४७।४।' तक) है। और फिर अरण्यकांडमें "जहँ जहँ जाहिं देव रघुराया। करहिं मेघ नभ तहँ तहँ छाया।" इतना।

२ "पंथकथा खर आतप पवनू" इति। (क) कवितावलीमें पंथकथाका सुन्दर वर्णन है। यथा "पुर तें निकसी रघुबीरबधू धरि धीर दये मगमें डग द्वै। झलकीं भरि भाल कनी जलकी पुट सूखि गये मधुराधर वै॥ फिर बूझति हैं चलनोब कितो पिय पर्नकुटी करिहौ कित ह्वै॥ तियकी लखि आतुरता पियकी अँखियाँ अति चारु चलीं जल च्वै॥ क० अ० ११।', 'जल को गए लक्खन हैं लरिका परिखो पिय छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े। पोंछि पसेउ बयारि करौं अरु पाँय पखा-रिहौं भूभुरि डाढ़े॥ तुलसी रघुबीर प्रिया श्रम जानि कै बैठि बिलंब लौं कंटक काढ़े। जानकी नाहको नेह लख्यो पुलको तन बारि बिलोचन बाढ़े। क० अ० १२।', "ठाढ़े हैं नौ द्रुमडार गहे धनु काँधे धरे कर सायक लै। ···श्रम सीकर साँवरि देह लसै मनो रासि महा तम तारक मै। १३।"

(ख) यह तीक्ष्ण लू निषादराजकोभी लगी; यथा 'ग्राम-बास नहिं उचित सुनि गुहहि भएउ दुखु भारु। २।८८।' मार्गमें नंगे पैर पैदल जाते जो भी देखता है उसे यह लू लग जाती है, वह व्याकुल हो जाता है। यथा 'सुनि सबिषाद सकल पछिताहीं।२।११०।', 'होहिं सनेह-बिकल नर नारी।२।१११।' कोई पहुँचानेको तैयार हो जाता है तो कोइ जल भरनेको, कोई ज्योतिषशास्त्रको झूठा कहने लगता है, कोई विधिको कोसता है और कोई राजारानीको दोष लगाता है। जो जितनाही मृदु था उसे लूने उतनाही अधिक कष्ट दिया। अंतमें श्रीराम-भक्ताग्रगण्य मारुतिजी मिलते हैं और प्रश्न करते हैं—"कठिन भूमि कोमल-पद-गामी। कवन हेतु बिचरहु बन स्वामी॥ मृदुल मनोहर सुंदर गाता। सहत दुसह बन आतप बाता॥४।१।' बस यहींसे लू बंद हो गई। महारुद्रावतार पवनकुमारने अब यहाँसे भगवान्को पैदल नहीं चलने दिया—"लिए दुऔ जन पीठि चढ़ाई।

भाग' पंचकथासे तीन कांड भरे हुए हैं । (वि० त्रि०) । सु० द्विवेदीजीका मत है कि सीताहरण, जटायुमरण इत्यादि तेज घाम और लू हैं ।

३ ग्रीष्ममें जहाँ इतने दोष हैं वहाँ एक गुणभी है । "ग्रीष्म है तो गर्म पर सरयूमें उस समय शीतलता हो जाती है । पुनः, ग्रीष्म जितना तपता है उतनीही अच्छी वर्षाका वह आगम जनाता है । इसी तरह रामवन-गमन और पन्थ-कथा है तो विरहरूपी ताप देनेवाली सही, परन्तु श्रीराम-कीर्ति-सरयूके साथसे त्रितापको दूर लेती है, इसलिये शीतल है और राक्षसोंके युद्धरूपी वर्षाका आगम है, जिससे सबको सुख होगा ।' यथा 'रावनारि-जसु पावन गावहिं सुनहिं जे लोग । रामभगति दृढ़ पावहिं बिनु बिराग जप जोग ॥ ३।४६।', 'भव-भेषज रघुनाथ-जसु सुनहिं जे नर अरु नारि । तिन्ह कर सकल मनोरथ सिद्ध करहिं त्रिसिरारि ।।४।३०।', 'अजहुँ जासु उर सपनेहु काउ । बसहुँ लखन-सियराम बटाऊ ॥ रामधामपथ पाइहि सोई । २।१२४।१-२ ।'

बरषा घोर निसाचर रारी । सुरकुल सालि सुमंगलकारी ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—रारी = संग्राम, युद्ध, झगड़ा ।

अर्थ—घोर निशाचरोंके साथ घोर विरोध और लड़ाई घोर वर्षा है । जो देवसमाजरूपी धानोंको अत्यन्त मंगलकारी है ॥ ५ ॥

❀ वर्षा और निशाचरोंकी लड़ाईमें समता ❀

१ (क) घोर वर्षा और निशाचर (रारि) दोनों भयानक हैं ।

(ख) वर्षासे धानका पोषण होता है, निशाचर-रारि सुरपोषणहारी है । ज्यों-ज्यों राक्षस मरते हैं, देवता सुखी होते हैं । खरदूषणादिका वध होनेपर 'हरषित बरषहिं सुमन सुर बाजहिं गगन निसान । अस्तुति करि करि सब चले सोभित बिबिध बिमान ।३।२०।' पुनः, मारीचके मरनेपर 'बिपुल सुमन सुर बरषहिं गावहिं प्रभु गुनगाथ । निजपद दीन्ह असुर कहँ दीनबंधु रघुनाथ । आ० २७ ।' पुनः, कुम्भकर्णवधपर 'सुर दुंदुभीं बजावहिं हरषहिं । अस्तुति करहिं सुमन बहु बरषहिं । ६।७० ।' पुनः, मेघनादवधपर 'बरषि सुमन दुंदुभी बजावहिं । श्रीरघुनाथ बिमल जसु गावहिं', 'तासु मरन सुनि सुर गंधर्बा । चढ़ि बिमान आये सुर सर्बा ॥ ६ । ७६ ।' पुनः रावणवधपर 'बरषहिं सुमन देव मुनि बृंदा । जय कृपाल जय जयति मुकुंदा ।६।१०२।' (पं० रामकुमारजी) ।

(ग) वर्षाऋतुमें दो मास श्रावण भादों वैसेही यहाँ भी पहले सेनापतियोंका युद्ध फिर कुम्भकर्ण, मेघनाद और रावणका घोर युद्ध इस प्रकार दो विभाग हैं । (त्रिपाठीजीके मतानुसार रावणयुद्ध भादों है और उसके पूर्वका श्रावण) ।

२ वर्षाऋतु सावन-भादोंमें होती है । जैसे इन महीनोंमें वर्षाकी झड़ी लग जाती है, वैसेही निशाचर-संग्राममें बाणादिकी वृष्टि हुई । दोनों दल मेघ हैं । मेघ गरजते हैं, बिजली चमकती है, वैसेही यहाँ तलवार आदि अस्त्र-शस्त्र चमकते हैं और बाणके लगनेसे राक्षस गरजते हैं, पर्वतोंके प्रहार वज्रपात हैं, बाण बूँदें हैं । कपिलंगूल इन्द्रधनुष है । इत्यादि । यथा (खरदूषण संग्राममें) 'लागे बरषन राम पर अस्त्र सस्त्र बहु भाँति' से 'करि उपाय रिपु मारे छन महँ कृपानिधान' तक (आ० १९-२०), (कुम्भकर्णके युद्धमें) 'सत्यसंध छाँड़े सर लच्छा । कालसर्प जनु चले सपच्छा ॥··· लागत बान जलद जिमि गाजहिं० । ६ । ६७ ।', तथा पुनः (रावण-संग्राममें) 'एही बीच निसाचर-अनी । कसमसात आई अति घनी ॥ देखि चले सनमुख कपि भट्टा । प्रलय काल के जनु घन घट्टा ॥ बहु कृपान तरवार चमंकहिं । जनु दहँ दिसि दामिनीं दमंकहिं ॥ गज रथ तुरग चिकार कठोरा । गर्जहिं मनहुँ बलाहक घोरा ॥ कपि लंगूर बिपुल नभ छाये । मनहुँ इन्द्रधनु उए सुहाये । उठइ धूरि मानहुँ जलधारा । बानबुंद भइ वृष्टि अपारा ॥ दुहुँ दिसि पर्बत करहिं प्रहारा ॥ बज्रपात जनु बारहिं बारा ॥ रघुपति कोपि बान झरि लाई ।०' इत्यादि (६ । ८६) ☞ श्रीरामरावण-संग्राममें वर्षाका पूरा रूपक है । (पं० रामकुमार)

३ प्रथम पुरवाई चलती है तब मेघ एकत्र होते हैं। 'मिला असुर विराध मग जाता। आवत ही रघुवीर निपाता। ३। ७। ६।' इस विराधवध एवं कवन्धवधको प्रथम पुरवैयाका चलना और मेघका आना समझो। 'तेहि पूछा सब कहेसि बुझाई। जातुधान सुनि सेन बनाई। आ० १८। ३।' से 'धुआँ देखि खरदूषन केरा। ३। २१। ५।' तक बड़ाभारी दवँगरा है। (ग्रीष्मऋतुके आषाढ़मासमेंही पहला पानी पड़ता है। उसीको दवँगरा कहते हैं)। वानरोंका कर्तव्य 'प्रान लेहिं एक एक चपेटा। ४। २४। १।' और श्रीहनुमानजीका कर्तव्य जो सुन्दर काण्डमें है वह दूसरा दवँगरा है। (मा० प्र०)। इन सबोंको धानमें अङ्कुर जमनेके समान समझिये, क्योंकि इनसे देवताओंको भरोसा हुआ कि श्रीरामचन्द्रजी हमारा दुःख अवश्य हरेंगे। मेघनाद-युद्ध मघा-नक्षत्रकी वर्षा है जो वर्षाके मध्यमें होती है; यथा 'डारइ परसु परिघ पाषाना। लागेउ वृष्टि करइ बहु बाना॥ दस दिसि रहे बान नभ छाई। मानहु मघा मेघ झरि लाई। ६। ७२।' मघाकी उपमा मघाके समयमेंही दी गई। आगे चलकरभी बाणवर्षा बहुत है पर मघासे उपमा नहीं दी गई। मेघनादवधके साथ श्रावण समाप्त हो जाता है, रक्षापूर्णिमा हो जाती है। मेघनादवधके साथही लंका जेय हो गई, फलतः देवताओंकी रक्षा हुई। 'जय अनंत जय जगदाधारा। तुम्ह प्रभु सब देवन्ह निस्तारा। ६। ७६।' कुम्भकर्ण, मेघनाद और रावणयुद्ध घोर वर्षा है, क्योंकि इनमें वर्षाका भारी रूपक है।

४ मा० प्र० का मत है कि 'एही बीच निसाचर अनी।.....जनु नावरि खेलहिं सरि माहीं। ६। ८७। ६।' तक 'घोर निसाचर रारि' (घोर वर्षा) है, इसके आगे रावणके युद्धभर कुआँरी वर्षा है। संभवतः इसका आशय यह है (जैसा त्रिपाठीजी लिखते हैं) कि वर्षाघोर समाप्त हो जाय परन्तु बिना आश्विनमें हस्त नक्षत्रका जल पाए शालिका पूरा मंगल नहीं होता। अतः हस्तकी वृष्टिभी चाहिए।

त्रिपाठीजीका मत है कि 'वर्षाघोर निसाचर रारी' लंकाकाण्ड दोहा १०१ 'सुर सभय जानि कृपाल रघुपति चाप सर जोरत भए।' पर समाप्त हुई और 'कृपादृष्टि करि वृष्टि प्रभु अभय किए सुर वृन्द।.....१०२।' हस्तकी वृष्टि है।

वि० त्रि०—सात-दोहोंमें चारों फाटकोंकी लड़ाई है, ७ दोहोंमें कुम्भकर्ण लड़ा है और मेघनादकी तीन लड़ाइयाँ ८ दोहोंमें कही गई हैं। अतः ७ + ७ + ८=२२ दोहे हुए, और २२ दोहोंमें केवल राम-रावण-युद्ध हुआ। पहली घटा सावनकी उठी। लङ्काके शहर-पनाहके बुर्जोंपर निशाचरी सेना आ डटी। जो ऐसी जान पड़ती थी कि 'मेरु के सृंगनिह जनु घन बैसे।' तोपोंका दगना और वीरोंका सिंहनादही मेघोंका गर्जन है।—'जनु गर्जत प्रलय के बादले'। श्रावण समाप्त होते न होते मघा लग गया। मेघनादयुद्ध मघाकी वर्षा है। भाद्रपदमें रामरावणसंग्राम है। शास्त्रोंमें भाद्रकृष्ण चतुर्दशीके दिनकी नदीके बाढ़को प्रमाण माना है; अतः यहाँ भादोंमेंही शोणित नदीकी बाढ़ कही है। इस स्थलपर वर्षाका पूरा रूपक है। यथा 'देखि चले सनमुख कपि भट्टा' से 'बीर परहिं जनु तीर तरु...। ८६।' तक। इतनाही नहीं, नदीमें बाढ़ आनेपर इन्द्रद्युम्न नहाने लगता है। कहीं नदीके आधे जल आधे तटपर मुर्दे रक्खे जाते हैं, कहीं मछलीका शिकार होता है, कहीं स्त्रियाँ नावर खेलती हैं, कहीं कजली होने लगती है। रुधिरसरिताके संबंधमेंभी सभी कुछ दिखलाया गया है। यथा 'मज्जहिं भूत पिसाच बेताला। ६। ८७। १।' से 'चामुंडा नाना विधि गावहिं। ८७। ८।' तक। भाद्रपदकी अंतिम वर्षा रावणवध है।

नोट—जैसे वर्षासे नदीमें बाढ़ आती है, करारे कटते हैं, इत्यादि। वैसेही यहाँ कीर्त्ति-नदीमें, 'दोउ कूल दल रथ रेत चक्र अवर्त्त बहति भयावनी। लं० ८६।' यह बाढ़ आदि है।

रामराज सुख बिनय बड़ाई। बिसद सुखद सोइ सरद सुहाई॥ ६॥

अर्थ—१ रामराजका सुख और विशेष नीतिकी बड़ाई ही उज्ज्वल, सुख देनेवाली और सुन्दर शरदृऋतु है॥ ६॥ (पं० रा० कु०, पाँ०)।

टिप्पणी—१ 'रामराज सुख विनय बड़ाई' इति । भाव कि राजा जितनीही नीतिसे चले उतनाही उसको तथा प्रजाको सुख होता है । 'विनय बड़ाई' में भाव यह है कि श्रीरामराज्यमें विशेष नीति है; इसीसे नीतिकी बड़ाई है । नीति विशेष होनेका कारण यह है कि श्रीरामजी नीतिके विशेष जाननेवाले हैं । यथा 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथ । कोउ न राम सम जान जथारथ । २ । २५४ ।'

❀ 'रामराज सुख·····' और शरद् ऋतुमें समानता ❀

१ 'रामराज सुखद शरद् सुखद, नीति उज्ज्वल, शरद् उज्ज्वल, यह समता है । निर्मल नीतिसे और प्रजाको सुख देनेसे कीर्तिकी शोभा है इति भावः । (पं० रामकुमार) ।

२ शरद्में दो मास होते हैं, एक आश्विन दूसरा कार्तिक । इसी भाँति रामराज्यमें भी दो विभाग हैं- एक राज्याभिषेक और दूसरा राज्यका सुख, विनय और बड़ाई । आश्विनके प्रथम पक्षमें, जिसे पितृपक्ष कहते हैं, लोग पितरोंकी अक्षय तृप्तिके लिये श्राद्ध करते हैं । यहाँभी पितृतृप्तिहेतु वनवासव्रत, जो श्रीरामजीने चौदह वर्षके लिये धारण किया था, पूरा हुआ और उसके उपलक्ष्यमें भक्तमौलिमणि भरतलालजी तथा प्रजावर्गने जो व्रत धारण किया था उसकी भी पूर्णाहुति हुई । भगवान्ने जटायुसे कहा था कि 'सीताहरन तात जनि कहेहु पिता सन जाइ । जौं मैं राम त कुलसहित कहिहि दसानन आइ ॥' उसकी भी सविधि पूर्ति हुई । दशाननने जाकर कहा, महाराजको बड़ी तृप्ति हुई । वे 'सीता-रघुपति-मिलन-बहोरी' के पश्चात् स्वयं आए और हर्षित होकर सुरधामको लौट गए । पितृपक्ष समाप्त हुआ । अब अवधमें जगदंबाके आगमनकी अत्यन्त उत्कण्ठा है । अयोध्यामें धवलगिरिके ले जाते समय हनुमान्जी द्वारा सीताहरणका समाचार आ चुका है । अतः जगदम्बा सहित सरकारके लौटनेकी प्रतीक्षा हो रही है । हनुमानजीने विप्रवेषसे भरतजीके समीप जाकर उन्हें समाचार दिया कि 'सीता अनुज सहित प्रभु आवत ।' फिर भगवतीका सरकारके साथ आगमन हुआ । प्रेमानन्दका स्वागत हुआ, फिर राज्याभिषेक हुआ । इस भाँति नवरात्रमें जगदंबाका आगमन और विजया दशमीका उत्सव कहा है । तत्पश्चात् श्रीरामराज्यके सुख, विनय और बड़ाईका वर्णन है । अब दीपावली आई । नगरकी कायापलट हो गयी । राजधानी जगमगा उठी । यथा 'जातरूप मनिरचित अटारी । ७।२७।३।' से 'पुर सोभा कछु बरनि न जाई । २९ । ७ ।' तक । कार्तिकस्नान, तुलसीपूजन और राधादामोदरकी उपासनाभी हो रही है । यथा 'अनिमादिक सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ ॥ २९ ॥ जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं । बैठि परसपर इहइ सिखावहिं ॥ ····जनकसुता समेत रघुबीरहि । कस न भजहु भंजन-भव-भीरहि ॥'—इस भाँति श्रीरामचरितमानसमें रामराज्यकी समता शरद्से दी गई है । वि० त्रि०) ।

३ श्रीरामराज्यतक मुख्य रामायण-कथा है, आगे उत्तर-चरित्र है, यही हेतु समझकर वाल्मीकिजीने राजगद्दीपर रामायण समाप्त की और उसी भावसे गोस्वामीजीने हिमऋतुसे प्रारम्भ करके शरद्में षट्ऋतुओंकी समाप्ति की । (मा० दीपक) । जैसे रामचरितकी समाप्ति रामराज्यसे मानी गई है, वैसे ही वर्षकी समाप्तिभी प्राचीनकालमें शरद्सेही की जाती थी । (जैसा पूर्व ४२।२ में लिखा जा चुका है) । वैदिक साहित्यमें वर्षके स्थानमें 'शरत्' शब्दकाही प्रयोग होता है । संभवतः रामराज्यको शरद्से उपमित करनेका यहभी एक कारण हो सकता है । (वि० त्रि०) ।

अर्थ—२ श्रीरामचन्द्रजीके राज्यका सुख, विशेष नीति और बड़ाई (कीर्ति-नदी में) उज्ज्वल, सुखदायक और सुहावना शरद् ऋतु है । (मा० प्र०) ।

नोट—१ यहाँ यथासंख्य-अलंकारसे रामराज्यका सुखत्व गुण शरद्की उज्ज्वलता है, विशेष नीति शरद्का 'सुखद' गुण है, और बड़ाई 'सुहाई' गुण है । शरद् 'सुहाई' है; यथा 'बर्षा बिगत सरद रितु आई । लछिमन देखहु परम सोहाई । ४ । १६ । १ ।'

२ 'रामराज सुख विनय बड़ाई' का वर्णन इस कविता में 'राम राज बैठे त्रैलोका । हरषित भये गये

सब सोका' से 'एहिं बिधि नगर नारि नर करहिं रामगुन गान० ।' उ० २० (७) से ३० तक है । मा० प्र० के मतानुसार 'रामराज नभगेस सुनु०' उ० २१ तक यह प्रसंग है ।

३ मा० प्र० कार लिखते हैं कि 'रामराज्य ऐसा उज्ज्वल, स्वच्छ और शोभायमान है कि ब्रह्मांड भर सातों द्वीप ऐसे उज्ज्वल हुए कि श्रीमन्नारायण क्षीरसमुद्र ढूंढ़ते हैं, महादेवजी कैलाश, इन्द्र ऐरावत, राहु चन्द्रमा और ब्रह्मा हंसको ढूंढ़ते हैं । प्रमाणमें यह श्लोक हनुमन्नाटकका कहकर देते हैं,—'महाराज श्रीमंजगति यशसा ते धवलिते, पयः पारावारं परमपुरुषोऽयं मृगयते । कपर्दीकैलासं कुलिशभृदभौमं करिवरं, कलानाथं राहुः कमलभवनो हंसमधुना ॥' [हनुमन्नाटकमें अन्तमें कीर्त्तिपर श्लोक कई हैं पर वहाँ तो यह श्लोक नहीं मिला । संभव है कि किसी दूसरे हनुमन्नाटकमें हो । सु० र० भा० प्रकरण ३ कीर्त्तिवर्णन २६ में भी यह श्लोक है] ।

४ मा० प०-कार 'बिनय बड़ाईका' अर्थ 'नम्रता और प्रशंसा' करते हैं ।

सती-सिरोमनि-सिय-गुन-गाथा । सोइ गुन अमल अनूपम पाथा ॥ ७ ॥

अर्थ—सती-शिरोमणि (पतिव्रताओंकी सिरमौर) श्रीसीताजीके गुणोंकी कथा इस उपमारहित जलका अनुपम निर्मलता गुण है ॥ ७ ॥

नोट—१ (क) 'सती शिरोमणि'; यथा 'पतिदेवता सुतीयमनि सीय'''२ । १९९ ।' श्रीपार्वतीजी भी सतीशिरोमणि हैं परन्तु वे श्रीसीताजीके अंशहीसे हैं, यथा 'जासु अंस उपजहिं गुन खानी । अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी । १ । १४८ । ३ ।' (ख) 'सतीशिरोमणि' कहकर श्रीसीताजीके पातिव्रत्य गुणोंकी गाथा यहाँ सूचित की । लंकामें उन्होंने अपने पातिव्रत्यकी सत्यतासे अग्निके तेजको नष्ट कर दिया । यथा 'श्रीखंड सम पावक प्रबेस कियो । ६ । १०८ ।' श्रीहनुमान्जीकी पूछमेंभी जो अग्नि लगाई गई थी वह श्रीसीताजीके सतीत्वके प्रभावसे ही उनको शीतल हो गई थी । यह वाल्मीकीयमें स्पष्ट कहा है । रावणका नाशभी इन्हींके सतीत्वके कारण हुआ । जनकलाड़िली जिसने कभी कठोर पृथ्वीपर पैर न रक्खा था, न जिसको वनवास ही दिया गया था, वह सुकुमारी पतिके समझानेपरभी पतिका साथ न छोड़ सकी, पतिके साथ वनवासिनी होनेमें ही उसने सुख माना । यथा 'वन दुख नाथ कहे बहुतेरे । भय विषाद परिताप घनेरे ॥ प्रभु बियोग लवलेस समाना । सब मिलि होंहिं न कृपानिधाना । २।६६ ।' फिर सुमंत्रके दशरथमहाराजका संदेश सुनानेपर भी वे यही कहती हैं कि 'आरजसुत-पद-कमल बिनु बादि जहाँ लगि नात । २ । ९७ ।'''बिनु रघुपति-पद-पदुम-परागा । मोहि केउ सपनेहुँ सुखद न लागा ।'''' । अयोध्याकांडमें तो ठौर-ठौरपर इनके गुण दृष्टिगोचर हो रहे हैं । सभी कांडोंमें इनके गुणोंकी गाथा है । श्रीअनुसूयाजी आपको पातिव्रत्यधर्म सुनाकर कहती हैं—'सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिव्रत करहिं । तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित । ३ । ५ ।' उत्तरकांडमें 'सियगुन-गाथा' का लक्ष्य, यथा 'पति अनकूल सदा रह सीता ।७। २३। ३ ।' से 'रामपदारबिंद रति करति सुभावहिं खोइ । २४ ।' तक ।

२ 'सोइ गुन अमल अनूपम पाथा' इति । (क) शरद् कहकर अब यहाँसे जलके गुण कहते हैं, कारण कि जलके निर्मल, शीतल और मधुर इत्यादि गुण शरद्में ही होते हैं । यथा 'कार्तिके मार्गशीर्षे च जलमात्रं प्रशस्यते' इति वृद्धसुश्रुते । 'गुण अमल''', यथा 'पानीयं श्रमनाशनं क्लमहरं मूर्च्छापिपासापहम् । तन्द्राच्छर्दिविनाशनं बलकरं निद्राहरं तर्प्पणम् । हृद्यं गुप्त रसं ह्यजीर्णशमनं नित्यं हितं शीतलम् । लघ्वच्छं रसकारणं निगदितं पीयूषवज्जीवनम् ॥' (इति भावप्रकाशे वारिवर्ग श्लोक २) । अर्थात् जल श्रम, ग्लानि, मूर्च्छा, प्यास, तन्द्रा, उबान्तका हरण करनेवाला है, बलकी वृद्धि करनेवाला, निद्रा हरनेवाला, तृप्त करनेवाला, हृदयको लाभदायक है । उसका माधुर्य गुप्त है । वह अजीर्णनाशक, नित्य हितकारी, शीतल, हलका, स्वच्छ, रसोंका कारण और अमृततुल्य है । (पं० रामकुमारजी)

(ग) 'अनूपम पाथा' इति। रामसुयशजल निर्मल है, क्योंकि श्रीरामजी स्वयं निरुपम हैं। यथा 'देखि नगेस रघुपति सम लेखउँ। ७। १२४।', 'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूपसिरोमने। ७। १३।', 'उपमा न कोउ कह दास तुलसी कतहुँ कवि कोविद कहैं। बल विनय विद्या सील सोभा सिंधु इन्ह से एइ अहैं। १। ३११।', 'जिन्ह के जस प्रताप के आगे। ससि मलीन रवि सीतल लागे। १। २९२।' अर्थात् इनके रूप, बल, विनय, यश, आदि गुण अनुपम हैं। जिस भाँति जलकी अनूपता उसके निर्मल दिव्य गुणोंपर ही निर्भर है, इसी भाँति श्रीरामजीके यशकी अनूपताका कारण सीताजीके दिव्य गुण हैं। गुण और गुणीमें अभेद संबंध होता है। (वि० त्रि०)। 'अनूपम' कहकर जनाया कि श्रीराम-सुयश जल अत्यंत निर्मल है, इसकी कोई उपमा नहीं है। श्रीसीताजीकी गुणगाथा ऐसे अनुपम जलकी निर्मलता है। तात्पर्य यह कि श्रीसीताजीके पातिव्रत्यगुणसे श्रीरामजीकी कीर्ति निर्मल है। 'सियगुनगाथा' अमल है, यथा 'पुत्रि पवित्र किये कुल दोऊ। सुजस धवल जगु कह सब कोऊ। जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी। गवनु कीन्ह विधि अंड करोरी॥ गंग अवनि थल तीनि बड़ेरे। एहिं किय साधु समाज घनेरे। पितु कह सत्य सनेह सुबानी। सीय सकुच सहुँ मनहुँ समानी। २। २८७। २-५।'

(ग) इसपर अब यह शंका उठती है कि—'निर्मलता गुण तो मानसके स्वरूपमें 'सगुण लीला' को कह चुके हैं; यथा 'लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मलहानी। १। ३६।', अब उसी गुणको 'सिय-गुनगाथा' कैसे कहा ?' समाधान यह है कि—(१) दोहा १८ में दिखाया है कि 'सीता' और 'राम' दो नामरूप कहने-सुननेमात्र हैं, वस्तुतः दोनों एक ही हैं। इसी कारण 'राम सुजस बर बारी' और 'सिय-गुनगाथा' दोनोंको निर्मल कहा। विचारनेसे सगुणलीला और सियगुणगाथा एक ही हैं।❀ (पं० रामकुमारजी)। (२)—मा० प्र० कार एक और समाधान इस प्रकार करते हैं कि—'निर्मलता गुण प्रथम तो साधुरूप मेघके मुखसे जब छूटा तब कहा, फिर जब बुद्धिरूप भूमिमें पड़ा तब वही गुण कुछ बुद्धिके गुण लिये कहे, फिर जब वही कवितारूपी नदीमें आया तब कुछ कविताके गुण लिये हुए कहे।'—इसीको कुछ विस्तार करके मा० मा० कारने यों लिखा है कि—'मानसर-जलके वर्णनमें स्वच्छता दो बार कही, जिसमेंसे दूसरी बार वर्षा जलके मिश्रित होनेसे जो जल गँदला हो गया था, वह 'सुखद सीत रुचि चारु चिराना।' अर्थात् शरद्ऋतु पाकर स्वच्छ और सुखद हो गया। वैसे ही कीर्ति-सरयू में रामचरित-सगुण-यश-जल 'राक्षसोंके घोर संग्रामरूपी वर्षाकाल' में गंदा हो गया था अर्थात् राक्षसोंका चरितभी उसमें शामिल हो गया था, इससे रामचरितकी स्वच्छता जाती रही। शरद्रूपी रामराज्यके आने पर फिर जल स्वच्छ हो गया।' (३)—श्रीरामजीकी सगुणलीलामें श्रीसीताजीकी ही प्रधानता है—'काव्यं रामायणं कृत्स्नं सीतायाश्चरितं महत्। वाल्मी० १। ४। ७।' इन्हींकी प्रार्थना, इच्छा और प्रेरणासे यह लीला हुई।

इस पर फिर यह शंका होती है कि—'जब दोनों एक ही हैं तब श्रीसीताजीका श्रीरामचन्द्रजीकी सेवा करना कैसे कहा ?' इसका समाधान यह है कि यहाँ दोनों माधुर्यमें नर-नाट्य कर रहे हैं और अपने चरितसे जगन्मात्रको उपदेश दे रहे हैं। इसलिए पति-पत्नी भाव ग्रहण किये हैं। माधुर्यमें सेवा न करनेसे पातिव्रत्य धर्मको हानि पहुँचती, जगत्को बुरी शिक्षा होती, सेवा करना ही रामयशको निर्मल कर रहा है। सेवा न करनेसे शोभा न होती। दूसरे यह कि प्रभुभी उनको जुगवते रहते हैं; यथा 'जोगवहिं प्रभु सिय

❀ सू० प्र० मिश्रः—'अमलका अर्थ मधुर है। ग्रन्थकार जलगुण मधुर लिख आये हैं—'बरषहिं रामसुजस बरबारी। मधुर मनोहर मंगलकारी॥' दूसरे, आगे भरतस्वभावको रामयशजलका शीतल गुण कहा है, इसलिये यहाँ मधुर कहना उचित है, क्योंकि जलके मधुर और शीतल दोनों गुण हैं। यथा सुभाषितोंमें 'जले मधुरशीतलौ।'

लषनहिं कैसें। पलक बिलोचन गोलक जैसें। २। १४२।'

श्रीसुधाकरद्विवेदीजी लिखते हैं कि शरद्‌में पृथ्वीका पानी निर्मल और गुणद होता है। यहाँभी पृथ्वीसे उत्पन्न सती सीताने पति-आज्ञासे वनमें जाकरभी अपने अनुपम निर्मल गुणको त्यागा नहीं, सदा पतिके ध्यानमें अपनी आयु समाप्त की। अतः 'सियगुनगाथा' को अमल कहा।

भरत सुभाउ सुसीतलताई। सदा एकरस बरनि न जाई॥ ८॥

अर्थ—श्रीभरतजीका स्वभाव इस नदीकी सुन्दर शीतलता है जो सदा एक-सी रहती है और जो वर्णन नहीं की जा सकती॥ ८॥

पं० रामकुमारजीः—'सुन्दर शीतलता' कहनेका भाव यह है कि ऐसा शीतल नहीं है कि स्पर्श से ही काँप उठें वरंच सुखद है; यथा 'प्रेमभगति जो बरनि न जाई। सोइ मधुरता सुसीतलताई', 'ससि सत-कोटि सुसीतल समन सकल भव-त्रास।' श्रीभरतजीके स्वभावको जलकी सुशीतलता कहा। भरतस्वभाव वर्णन नहीं किया जा सकता, यथा 'भरत सुभाउ न सुगम निगमहू। लघुमति चापलता कवि छमहू।२।२०४।'; इसीसे जलकी शीतलताको भी 'बरनि न जाई' कहा। अर्थात् 'भरत-सुभाउ' और जलकी 'सुसीतलताई' दोनों विलक्षण हैं। पुनः भाव कि 'भरतसुभाव' में शीतलता सदैव बनी रहती है, कभी गर्मी नहीं आती।

नोट—१ भरत-स्वभाव वर्णन नहीं हो सकता तो अयोध्याकाण्डमें वर्णन कैसे किया? इसका उत्तर यह दिया जाता है कि 'सुभाउ' का वर्णन नहीं किया गया, उनके स्वभावसे जो दशा उनकी देखनेमें आयी, केवल उस दशाका ठौर-ठौर किञ्चित् वर्णन है; यथा 'सानी सरल रस मातु बानी सुनि भरत ब्याकुल भये। लोचन सरोरुह स्रवत सींचत बिरह उर अंकुर नये॥ सो दसा देखत समय तेहि बिसरी सबहिं सुधि देह की। २। १७६।' इत्यादि श्रीअयोध्यामें भरतागमनसे लेकर अयोध्याकाण्डभरमें जहाँ-तहाँ आपकी दशाका वर्णन मिलता है। भरत-स्वभावके और उदाहरण; यथा—(१) 'भरत जाइ घर कीन्ह बिचारू।'''संपति सब रघुपति कै आही।'''करइ स्वामिहित सेवक सोई। दूषन कोटि देइ किन कोई। अ० १८५।', (२) 'राम सखा सुनि संदनु त्यागा। चले उतरि उमगत अनुरागा। २। १९३।', (३) 'जानहुँ राम कुटिल करि मोही। लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही॥ सीताराम चरन रति मोरे। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरे। इत्यादि। २।२०५।', (४) 'संपति चकई भरत चक मुनि आयसु खेलवार।'''अ० २१५।', (५) 'सुनहु लखन भल भरत सरीसा' से 'कहत भरत गुन सील सुभाऊ।' २।२३१(८) से २३२(८) तक। श्रीरामजी गुण, स्वभाव कहते-कहते प्रेममें डूब गए, फिर न कह सके। (६) 'प्रभु पितु मातु सुहृद गुरु स्वामी। २। २९८। १।' से 'भरत बिनय सुनि देखि सुभाऊ। ३०१। ८।' तक। यहाँ स्वभावका उनके चरितमें, वाणीमें देखना कहा है। देखकर ही सारा समाज स्नेहसे शिथिल हो गया। इत्यादि।

श्रीभरतजीका चरित उनके स्वभावका उदाहरण है। इनके चरितसे इनका स्वभाव मनमें आते ही जब श्रीवसिष्ठादि महर्षिगण, श्रीजनक आदि ज्ञानी भक्त और श्रीरामजी प्रेममें निमग्न हो जाते हैं, वे ही स्वभावका वर्णन नहीं कर सकते, तब और कौन समर्थ है जो कह सके? (मा० प्र०)। (नोट—मा० प्र० कार 'सुभाउ' का अर्थ 'सुन्दर भाव' करते हैं और कहते हैं कि भावकी दशा देखकर भाव अकथ्य हो गया है)।

श्रीजानकीशरणजी लिखते हैं कि 'रामराज्य, सियगुणगाथा क्रमसे वर्णन किए गए, वैसे ही भरत-स्वभाव-वर्णनमें उत्तरकाण्डका प्रसंग लागू होगा, फिर अवधकाण्डका उदाहरण लौटकर देना असंगत प्रतीत होता है। अवधकाण्डमें समस्त भरत-चरितका रूपक तो पूर्वही हो चुका है—'जप-याग' से। यथा 'समन अमित उतपात सब भरतचरित जप जाग।' वे 'भरत सुभाउ' का उदाहरण यह देते हैं—'भरत सत्रुहन दोनउ भाई। सहित पवनसुत उपवन जाई॥ बूझहिं बैठि रामगुन-गाहा। ७। २६। ४-५।', 'सुनि प्रभु बचन भरत

नहिं परना । सुनहु नाथ प्रनतारतिहरना ॥ ···३६ । ···संतन्ह कै महिमा रघुराई । सुना चहउँ प्रभु तिन्ह कर बड़ाई ।' उत्तरकांडके प्रारम्भमें जो भरतचरित है जिसे देख श्रीहनुमान्‌जी 'अति हरषेउ । पुलक गात लोचन जल बरषेउ ।' इत्यादिभी उदाहरण ले सकते हैं । [संभवतः इसपर यह कहा जाय कि पूर्व 'भरत-चरित' कहा गया, अब 'भरत-सुभाउ' ।]

२ भरतस्वभावभी रामयशका अंग कहा गया । कारण कि श्रीरामजीमें और भरतजीमें अंतर नहीं है, यथा 'भरतहि जानि राम परिछाहीं' (अ०), 'भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ । ७ । ३६ ।' भरतजीके स्वभावका प्रभाव संपूर्ण रामचरितमें चमकता है । उनके संकोचसे श्रीरामजी पिताका वचन छोड़नेको तैयार हो गये, परन्तु भरतजीने स्वामीको संकोचमें डालना उचित न समझा । (वि० त्रि०) ।

३ 'सदा एकरस' इति । (क) भाव कि इनके स्वभावमें कभी अंतर नहीं पड़ता । कैसाही दुःख हो, सुख हो, जो हो, श्रीभरतलालजीकी वृत्ति एकसीही रहती है । (वि० त्रि०) । (ख) सु० द्विवेदीजी लिखते हैं कि शरद्‌के जलमें तो कभी-कभी स्वाद बदल जाता है और शीतलतामें भी भेद हो जाता है पर इस शरद्‌में तो सदा भरतकी सुयशशीतलतासे मनुष्यका जीवन तृप्त हो जाता है और जानकीजीका गुणकथा जल भी सदा एकरस रहता है ।

दोहा—अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति परसपर हास ।
भायप भलि चहुँ बंधु की जल माधुरी सुबास ॥ ४२ ॥

अर्थ—चारों भाइयों (श्रीराम-भरत-लक्ष्मण-शत्रुघ्नजी) का आपसमें देखना, बोलना, मिलना, परस्पर प्रेम और हास्य तथा सुन्दर भाईपना (भाईपनका सच्चा निर्वाह) इस जलकी मिठास और सुगन्ध है ॥ ४२ ॥

नोट—१ (क) 'अवलोकनि' इति । सब भाई प्रभुका मुखकमल देखते रहते हैं कि प्रभु हमें कृपा करके कुछ आज्ञा दें और जब प्रभु उनकी ओर देखते हैं तब सब नीचे देखने लगते हैं । यथा 'प्रभु मुख कमल विलोकत रहहीं ।···', 'महूँ सनेह सकोच बस सनमुख कही न बैन । दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पिआसे नैन । २ । २६० ।' उधर प्रभु भाइयोंके मनको जुगवते रहते हैं । यथा 'राम अनुज-मन की गति जानी । भगतबछलता हिय हुलसानी ।···१ । २१८ । ४-६ ।', 'अंतरजामी प्रभु सब जाना । बूझत कहहु काह हनुमाना ॥ ७ । ३६ । ४ ।' से 'प्रश्न करत मन सकुचत अहहीं । ६ ।' तक (ख) 'बोलनि'—बोलनेकी यह गति है कि जब तक भरतजी हैं, तबतक मानों लक्ष्मणजी और शत्रुघ्नजी हैंही नहीं । प्रभु जब चित्रकूट गए, लक्ष्मणजी साथ थे, अवसर पड़नेपर बिना पूछेही बोलते थे, वही लक्ष्मणजी भरतजीके आनेपर एकदम चुप हैं । बड़े लोग एकत्रित हैं, जैसा उचित समझेंगे करेंगे, मैं तो दोनोंका सेवक ठहरा, यही भाव न बोलनेमें है । शत्रुघ्नजी सबसे छोटे हैं । जब भरत लक्ष्मण न रहें तब इन्हें बोलनेका अवसर मिले । (ग) 'मिलनि'—मिलनका आनंद दो स्थानोंपर विशेषरूपसे देख पड़ता है, एक चित्रकूटमें और दूसरा वनसे लौटनेपर अवधमें । २ । २४० से दोहा २४१ तक, ७ । ५ । से 'भरतानुज लछिमन पुनि भेंटे । ७ । ६ । १ ।' तक के । (घ) 'प्रीति परस्पर' ऐसी कि भरतजीके लिये प्रभु पिताका वचन छोड़नेको तैयार, उधर भरत प्रभुको संकोच देनेको अनुचित मानते हैं । लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेपर श्रीरामजी यही कहते हैं कि यह वियोग जानता तो वन आताही नहीं । श्रीभरत लक्ष्मण और शत्रुघ्नजीका प्रेमभी इतनी उच्च कोटिका है कि यदि प्रभु लौट आँय तो तीनों भाई जन्मभर वनवासके लिये प्रस्तुत हैं । यथा 'नतरु जाहिं वन तीनिउ भाई ।···' (ङ) 'हास'—यद्यपि चारों भाई परम संकोची हैं, फिरभी समय-समयपर हँसीभी हो जाया करती है । रावणकी बहन शूर्पणखा ब्याहका प्रस्ताव लेकर रामजीके सम्मुख उपस्थित है, सरकार सीताजीकी ओर

इङ्गित करके उसे बतलाते हैं कि 'अहै कुमार मोर लघु भ्राता'। लखनलालजी उसे समझा बुझाकर फिर सरकारके पास लौटा देते हैं कि मैं सेवक ठहरा, मुझसे व्याह करनेमें कौन सुख है। मैं एकके ही पालनमें असमर्थ हूँ—और सरकार अयोध्याके राजा हैं—चाहे जितने व्याह करें; यथा 'प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उन्हहिं सब छाजा ॥' इस भाँति भाइयोंमें कभी-कभी हँसीभी हो जाया करती थी। गीतावलीमें वसन्तोत्सवके समयमें लिखते हैं—'नर-नारि परस्पर गारि देत। सुनि हँसत राम भ्रातन्ह समेत॥' (वि० त्रि०)। विशेष नोट २ में देखिए। 'भायप'—२ (ङ) में देखिये।

२ 'जल माधुरी सुवास' इति। पं० रामकुमारजीके मतानुसार "अन्तर इन्द्रियोंका व्यवहार जो 'भाईपना और प्रीति' है सो जलमाधुरी है। क्योंकि जलमाधुरी जलके अंदर रहती है। बाह्य-इन्द्रियोंके व्यवहार जो 'अवलोकनि बोलनि मिलनि हास' हैं वे जलका सुवास हैं, क्योंकि सुगन्ध जलके बाहर फैलती है। यह समता है।" और श्रीजानकीदासजीके मतानुसार 'अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति हास्य' ये जलकी माधुरी (= मिष्ट गुण) हैं और भायप सुगन्धतागुण है। (यही मत त्रिपाठीजीका है। 'अवलोकनि बोलनि मिलनि प्रीति परसपर हास' को अति सन्निकटवर्त्तीही जान सकते हैं। मिठासको चखनेवालाही जानता है, इसी भाँति उपर्युक्त बातोंको देखनेवालेही जानते हैं। अतः उनकी उपमा मिठाससे दी। सुवास दूरतक फैलता है एवं भायपभी संसारमें प्रसिद्ध है। अतः भायपकी उपमा सुगंधसे दी)। और इसी क्रमसे उन्होंने सबका लक्ष्य भी दिया है। यथा—(क) 'अनुरूप वर दुलहिनि परसपर लखि सकुचि हिय हरषहीं ।१।३२५।' यहाँ 'लखि' से अवलोकनि और 'सकुच' से हास्य सूचित किया। श्रीउर्मिलाजी और श्रीश्रुतिकीर्तिजी श्याम हैं। श्रीसीताजी और श्रीमाण्डवीजी गौर वर्ण हैं। श्रीरामजी और श्रीभरतजी श्याम हैं, श्रीलक्ष्मणजी और श्रीशत्रुघ्नजी गौर हैं। इस तरह चार जोड़ गौर-श्यामके मिले। बड़ेको छोटेके और छोटेको बड़ेके सामने पत्नीसहित बैठे होनेसे 'सकुच' है। ध्वनिसे हास्य और अवलोकन पाया जाता है।—(मा० प्र०)। (ख) 'बंधु सखा संग लेहिं बोलाई।', 'आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई—(१।२०५), इत्यादि बोलनि है। (ग) 'बरबस लिये उठाइ उर लाये कृपानिधान। भरत-रामकी मिलनि लखि बिसरे सबहिं अपान।२।२४०। मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी।', 'भेंटेउ लखन ललकि लघु भाई। २।२४२।१।', 'मिलि सप्रेम रिपुसूदनहि० ।२।२४१।', 'भूरि भाय भेंटे भरत लछिमन करत प्रनाम।२।२४१।', 'भरत सहानुज कीन्ह प्रनामा। लिये उठाइ लाइ उर रामा॥ हरषे लषन देखि दोउ भ्राता। मिले प्रेम परिपूरित गाता ॥१।३०८।', 'गहे भरत पुनि प्रभु पद पंकज।'''परे भूमि नहि उठत उठाए। बर करि कृपासिंधु उर लाए। श्यामल गात रोम भए ठाढ़े। नव राजीव नयन जल बाढ़े॥' से 'लछिमन भरत मिले तब परम प्रेम दोउ भाइ।७।५।' तक—यह 'मिलनि' है। (घ) 'उठे राम सुनि प्रेम अधीरा। कहुँ पट कहुँ निषंग धनु तीरा॥'''मिलनि प्रीति किमि जाइ बखानी' (२।२४० २४१) इसमें प्रेम और मिलन दोनों हैं। 'बंधु सनेह सरस एहि ओरा। इत साहिब सेवा बरजोरा।२।२४०।४।' (में श्रीलक्ष्मणजीकी), 'भरत सत्रुहन दूनउ भाई। प्रभु सेवक जसि प्रीति बड़ाई।१।१९८।', 'राम करहिं भ्रातन्हपर प्रीती।', 'सेवहिं सानुकूल सब भाई। उ० २५।', इत्यादि परस्पर प्रीति' है। (ङ) 'अनुज सखा संग भोजन करहीं।१।२०५।', 'चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु' से 'भायप भगति भरत आचरनू' तक (२।२२२-२२३)। श्रीरामजीका भायप; यथा—'गुर सिख देइ राय पहिं गयऊ। राम हृदय अस बिसमय भयऊ। जनमे एक संग सब भाई' से 'प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई।२।१०।' तक। पिता युवराजपद कल देंगे। प्रजा, परिवार, सखा, आदि सब समाचार पाकर आनन्द मंगल मना रहे हैं पर श्रीरामजी सोचमें पड़े हैं, भरतजीका स्मरण भी कर रहे हैं। कैकेयीजी वरदान माँगती हैं, राजा प्रतिज्ञाबद्ध हो जाते हैं, जिससे राज्याभिषेकके बदले वनवास होता है। अब भरतका 'भायप' देखिए। वे राज्य नहीं लेते, चित्रकूट पैदल जाते हैं, मनमें यही शोच है कि 'केहि बिधि होइ राम अभिषेकू'।

अयोध्याकाण्ड उत्तरार्धभर और लंकाकाण्ड तथा उत्तरमें उनका 'भायप' ही तो है। लक्ष्मणजीका भायप रामचरितभरमें जगमगा रहा है। शत्रुघ्नजी सबके आज्ञाकारी हैं। लक्ष्मणजीको शक्ति लगनेका समाचार पा माता सुमित्राजी उनको श्रीरामजीकी सेवाके लिये जानेको कहती हैं और वे तुरत तैयार हो जाते हैं। यथा 'सुनि रन घायल लखन परे हैं। रघुनंदन बिनु बंधु कुअवसर जद्यपि धनु दुसरे हैं। तात जाहु कपि सँग रिपुसूदन उठि कर जोरि खरे हैं।' (गीतावली ६। १३) इत्यादि परस्परका 'भायप' है।

३ श्रीजानकीशरणजीके मतानुसार इस प्रसंगके उदाहरण उत्तरकाण्डसे ही लेना चाहिये। अतः उदाहरण क्रमसे ये होंगे—'प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं।७।२५।३।'; 'सनकादिक बिधि लोक सिधाए। भ्रातन्ह रामचरन सिरु नाए॥ पूछत प्रभुहि सकल सकुचाहीं। चितवहिं सब मारुतसुत पाहीं॥ ७। ३६।', इत्यादिमें 'बोलनि मिलनि'; 'अनुजन्ह संयुत भोजन करहीं। ७। २६।', 'भ्रातन्ह सहित राम एक बारा। संग परम प्रिय पवनकुमारा। सुंदर उपवन देखन गए। ७। ३२।' यह परस्पर प्रीति; और 'सेवहिं सानुकूल सब भाई', 'राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती। ७। २५।' यह भायप है।

सू० प्र० मिश्रः—यहाँ जलके दो गुण कहे—माधुर्य और सुगन्ध। माधुर्य तो ठीक ही है 'जले मधुरशीतलौ'। जलमें सुगन्ध गुण तो किसीने भी नहीं कहा, वृद्धसुश्रुतमें प्रशस्त जललक्षणमें सुगन्धका नाम भी नहीं तब ग्रन्थकारने कैसे लिखा? उत्तर यह है कि दूषित जलकी शुद्धिके लिये सुगन्ध द्रव्यकी आवश्यकता पड़ती है, यथा वृद्धसुश्रुते—'कर्पूरजातिपुन्नागपाटलादिसुवासितम्। शुचिसान्द्रपटस्रावैः (साफ मोटे वस्त्रसे छानना) क्षुद्रजन्तुविवर्जितम्। गोमयेन च वस्त्रेण कुर्यादम्बुप्रसादनम्॥' भाइयोंके गुणोंसे कलिकालजन्य कथारूपी जलके दोष निकल गए, अब केवल गुणही गुण रहगए। कलिकालजनित दोष दूर करनेके येही उपाय हैं जो ऊपर कहे गए।—(नोट—यद्यपि सुवास जलका प्राकृतिक गुण नहीं है अतः उपर्युक्त उद्धरणमें उसका ग्रहण नहीं है तथापि जैसे वायुके वर्णनमें सुगन्धका उल्लेख प्रायः किया जाता है यद्यपि सुगन्ध वायुका प्राकृतिक गुण नहीं है, वैसेही यहाँभी समझना चाहिए)।

नोट—४ साधुमुखच्युत रामयशवारिमें प्रेमभक्तिको मधुरता और शीतलता दोनों कहा था, पर यहाँ कवितासरितके रामयशवारिमें भरत-सुभावको शीतलता और चारों भाईके व्यवहार तथा प्रेमको मधुरता कहा। भाव यह है कि भक्तिका माधुर्य सबमें बराबर है, पर भरतजीमें स्वभावकी शीतलता अधिक है। मन्थराको दण्ड देना भी भरतलालसे न देखा गया। यथा 'भरत दयानिधि दीन्ह छोड़ाई।' (वि० त्रि०)

आरति बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न थोरी* ॥ १ ॥

शब्दार्थः—आरति=आर्त्ति=दुःख, क्लेश। बिनय=बिनती=प्रार्थना, निवेदन, विशेष नम्रतासे कोई बात कहना। दीनता=नम्रता, विनीतभाव, गरीबी, कातरता। लघुता=हलक़ापन।

अर्थ—मेरी आर्त्ति, विनती और दीनता इस सुन्दर उत्तम जलका हलकापन है जो ललित है

---

* खोरी—१७०४, १७२१, १७६२, छ०। थोरी—१६६१, पं०, मा० प्र०, वै०, को० रा०।

'न खोरी' का भाव त्रिपाठीजी यह कहते हैं कि जलके लिये हलकापन गुण है पर रामयशको हलका कैसे कहा जाय और जब जलके साथ रूपक बाँधा है तो हलकापन कहना ही चाहिये, अतः कहते हैं 'सुबारि न खोरी' अर्थात् वह हलकापन मेरा है। मेरी आर्त्ति आदिका योग जो इस रामयश-पूरितकविता-सरितामें हुआ वही इस जलका हलकापन है, नहीं तो इस रामयशमें दोष नहीं है।

और थोड़ा नहीं है अर्थात् बहुत है ॥ १ ॥†

नोट—१ ग्रन्थके आदिसे ३५वें दोहेतक 'आरति विनय दीनता' का वर्णन बहुत है। बीच-बीचमें औरभी प्रसंग हैं। आर्ति, यथा—'सुमिरि सहम मोहि अपडर अपने'। विनय यथा—'बालबिनय सुनि करि कृपा रामचरन रति देहु'., 'बालबिनय सुनि सुरुचि लखि मोपर होहु कृपाल', 'छमिहहिं सज्जन मोरि ढिठाई। सुनिहहिं बालबचन मन लाई ॥' दीनता, यथा—'सुनि अघ नरकहु नाक सिकोरी', 'चहिय अमिय जग जुरइ न छाछी', 'कबित बिबेक एक नहिं मोरे।' (मा० प्र०)

मा० मा० के मतानुसार केवल उत्तरकांडके उदाहरण लेने होंगे। यथा—'मतिमंद तुलसीदासहू', 'अस बिचारि रघुबंसमनि हरहु बिषम भवभीर', 'कामिहि नारि पियारि जिमि'; तथा 'मोसम दीन न दीनहित तुम्ह समान रघुबीर' क्रमसे आर्त्ति, विनय और दीनताके उदाहरण हैं।

२ 'आरति···मोरी' इति। (क) 'मोरी' का भाव कि इस ग्रन्थमें 'विनय, दीनता' औरोंकी भी बहुत है (जैसे कि ब्रह्मादि देवताओंकी आर्ति, विनय और दीनता बालकांडमें; देवताओंकी सरस्वती और देवगुरु आदिसे; भरतजीकी आर्ति आदि; इसी तरह सब कांडोंमें है) पर वह आर्ति, विनय, दीनता रामसुयशसरिताकी 'लघुता' नहीं है, किन्तु मेरीही जो आर्ति आदि है वही इस जलकी 'लघुता' है। (पं० रामकुमारजी)। पुनः भाव कि जैसे श्रीसीताजीके गुणगाथ, श्रीभरतजीका स्वभाव, चारों भाइयोंका बरताव, प्रेम और भाईपन (इसमें) सम्मिलित है, उसी भाँति मेरी आर्ति, विनय और दीनताभी सम्मिलित है। (ख) स्थूलरूपसे वन्दनामें तीन विभाग हैं—समष्टिवन्दना, कविसमाजवन्दना और परिकरोंसहित श्रीरामजीकी वन्दना। इन तीनोंके सामने गोस्वामीजीने आर्ति, विनय और दीना दिखलायी है। (१) समष्टिके सामने—आर्ति, यथा 'करन चहौं रघुपति गुन गाहा। इत्यादि। १। ८। ५-८।' विनय, यथा, जानि कृपाकर किंकर मोहू। सब मिलि करहु छाँड़ि छल छोहू। १। ८। ३-४।' दीनता, यथा 'कबि न होउँ नहिं बचन प्रबीनू। १। ९। ८-११।' (२) कविसमाजके सामनेः—आर्ति, यथा—'राम सुकीरति भनिति भदेसा।··· इत्यादि। १। १४। १०-११।' विनय, यथा 'होहु प्रसन्न देहु बरदानू।···१। १४। ७।' दीनता, यथा 'सो न होइ बिनु बिमल मति मोहि मति बल अति थोर। करहु कृपा हरिजस कहउँ पुनि पुनि करउँ निहोर ।१।१४।' (३) श्रीरामजीके सामने—आर्ति, यथा 'राम सुस्वामि कुसेवक मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो। १। २८। ४।' विनय, यथा 'मोरि सुधारिहि सो सब भाँती।···। ३।' दीनता, यथा—'रीझत राम सनेह निसोतें···। १। २८। ११।' सम्पूर्ण ग्रंथमें इस आर्ति आदिकी झलक दिखायी देती है। (वि० त्रि०)।

३ 'लघुता ललित सुबारि न थोरी' इति। (क) लघुता तो दोष है, उसपर कहते हैं कि जलमें लघुत्व होना दोष नहीं, किन्तु गुण है, लालित्य है।—[प्रशस्त जलके लक्षणमें निदानकारोंने 'लघुत्व' को भी लिखा है, यथा—'स्वच्छं लघु च हृद्यञ्च तोयं गुणवदुच्यते' (भावप्रकाश वारि वर्ग)। अपने मुखसे अपनी लघुता कहना गुण है। औरोंकी विनय, दीनता अपने अर्थके निमित्त है और गोस्वामीजीकी 'आरति विनय दीनता' रामयश कहनेके निमित्त है, इसीलिये इन्हींकी 'आरति' जलकी लघुता है औरोंकी नहीं। और इसीसे यह कीर्तिसरितामें सम्मिलित हैं। (ख) महाराज जानकीदासजी लिखते हैं कि 'हलकापन सुवारिमें लालित्य है, अर्थात् कुछ अशोभित नहीं है। क्योंकि यदि जलमें और सब गुण हों और हलकापन न हो तो वह बादी होता है (और अन्य सब गुण इस एक गुणके न होनेसे व्यर्थ हो जाते हैं)। यदि गोस्वामीजी

---

† सू० प्र० मिश्रः—'यहाँ ऐसा भी विवेक हो सकता है कि आरति जलकी लघुता, विनय जलकी ललितता और दीनता जलकी शुद्धता है।'

वीरकवि—हलकापन और निर्दोष भी, इसमें विरोधाभास है।

इनकी दीनता ग्रन्थके आदिमें न करते तो ऐसा निष्पक्ष एकाङ्गी ग्रन्थ चलना अशक्य था, यही वादी तुल्य हुआ। तब उनकी आर्ति, विनय, दीनता सुनी तब सबने सराहना करके धारण किया।

अद्भुत सलिल सुनत गुनकारी*। आस पियास मनोमल-हारी॥ २॥

अर्थ—यह जल बड़ा अनोखा है, सुनतेही गुण करता है। आशारूपी प्यासको और मनके मैलको दूर करता है॥ २॥

टिप्पणी १—ऊपर चौपाई (१) तक जलके स्वरूपमें जो गुण हैं वे कहे गये, अब दूसरोंके द्वारा जलके गुण दिखाते हैं। आगे जो वर्णन है वह सब जलकी अद्भुतता है।

२ 'सुनत गुनकारी' का भाव यह है कि इसका पान श्रवणसे है, यथा 'रामचरन रति जो चह अथवा पद निर्बान। भावसहित सो यह कथा करउ श्रवनपुट पान॥ उ० १२८।' वह जल प्यासको हरता है, यह आशारूपी प्यासको हरता है कि जो (आशा) प्रभुके विश्वासका नाश करती है, यथा—'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहा बिस्वासा॥ ७। ४६। ३।' 'तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम। सेए सोक समरपई बिमुख भये अभिराम॥ दोहावली २५८।'—देखिये १। २४ (४-५)। [पुनः भाव कि सभी प्रकारके जल पीनेपर ही अपना गुण दिखलाते हैं तभी पिपासा, ग्लानि आदि दूर होती है; पर यह जल ऐसा है कि केवल कानमें पड़ जानेसे लाभ पहुँचाता है—(वि० त्रि०)]

३ (क) मनका मल विषय है; यथा 'काई बिषय मुकुर मन लागी। १। ११५। १।', 'मोह-जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई'''मन मलिन विषय संग लागे'''। विनय ८२।' (ख) 'मनो-मलहारी' का भाव यह है कि आशाकी उत्पत्ति मलिन मनसे है, रामयश जल है, प्यास जलहीसे बुझती है। (ग) 'श्रीगुरुपदरजवन्दनामें 'अमिय-मूरि-मय चूरन चारू। समन सकल भवरुज-परिवारू'—चूर्णका स्वरूप कहा था। 'राम-सुयश जल' उसका अनुपान है। अनुपानका स्वरूप यहाँ दिया। (रा. प्र.)। थोड़ा-थोड़ा जल पीनेसे जठराग्नि बढ़ती है—'तस्मान्नरो वह्निविवर्धनाय मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि'—(मा० प०)। (घ) 'आस पियास मनोमलहारी' से तात्पर्य यह निकला कि अन्य देवी, देवता, मनुष्यादिकी आशा छुड़ाकर और विषयोंसे वैराग्य कराकर यह मनुष्यको श्रीरामजीका अनन्य उपासक बना देता है, उन्हींमें दृढ़ विश्वास करा देता है। पुनः, (ङ) जैसे मृग मरुमरीचिकाके पीछे इस आशासे कि अब जल मिलता है, अब जल मिलता है, दौड़ते-दौड़ते श्रान्त हो जाता है, इसी भाँति मनभी सुखके लिये चेष्टा करते-करते ग्लानियुक्त होगया है। यही मनोमल है। (वि० त्रि०)।

वि० त्रि०—यहाँ तीन गुण कहे—गुणकारी, आसपियासहारी और मनोमलहारी। और सत्रह गुण अगली चौपाइयोंमें कहेंगे। कुल बीस गुण कहे। चरितसरित कोभी बीस अंशोंमें वर्णन किया और ये बीसों गुण क्रमशः इन्हीं बीसों अंशोंके हैं। इन्हीं बीसों अंशोंकोही लक्ष्यमें रखकर श्रीगोस्वामीजीने बीस बार गिन-कर कथा कहनेकी प्रतिज्ञा की है। यथा (१) भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति। (२) बरनउँ रामचरित भवमोचन। (३) तेहि बल मैं रघुपति-गुनगाथा। कहिहउँ नाइ रामपद माथा। (४) एहि प्रकार बल मनहि देखाई। करिहौं रघुपति कथा सुहाई। (५) करहु कृपा हरि जस कहउँ, पुनि पुनि करउँ निहोर। (६) सुमिरि सिवा सिव पाइ पसाऊ। बरनौं रामचरित चित चाऊ। (७) सुमिरि सो नाम रामगुनगाथा। करौं नाइ रघुनाथहि

* पाठान्तर—१६६१, १७२१, १७६२, छ०, को० रा०, रामायणीजी, सरयूदासजी, जानकीदास-जीकी प्रतियों, काशिराजकी रा० प० और पंजाबीजीका पाठ 'गुनकारी' है। गौड़जी तथा ना० प्र० की प्रतियोंने 'सुखकारी' पाठ दिया है। परन्तु टीकामें बाबू श्यामसुन्दरदासने 'गुण' ही अर्थ किया है। १७०४ में 'सुखकारी' है।

माथा । (८) बरनउँ रघुवर विसद जस, सुनि कलिकलुप नसाइ । (९) कहिहौं सोइ संवाद वखानी । (१०) भाषावद्ध करव मैं सोई । (११) तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे । (१२) करउँ कथा भवसरिता तरनी । (१३) सो सव हेतु कहव मैं गाई । (१४) वरनौं विसद रामगुनगाथा । (१५) करौं कथा हरिपद धरि सीसा । (१६) कहउँ कथा सोइ सुखद सुहाई । (१७) अव सोइ कहौं प्रसंग सव''' । (१८) करइ मनोहर मति अनुहारी । (१९) सुमिरि भवानी-संकरहि कह कवि कथा सुहाइ । (२०) कहौं जुगल मुनिवर्ज कर मिलन सुभग संवाद । अव अंश और गुण सुनिये । 'उमा महेस विवाह वराती ।'' का माहात्म्य हुआ 'अद्भुत सलिल सुनत गुनकारी' । (वारातकी अद्‌भुतता) और विवाहका कल्याणकारी होना पूर्व कहा गया है । दूसरा अंश है 'रघुबर जनम अनंद वधाई ।''' । इसका माहात्म्य है 'आस पियास हारी'; चक्रवर्ती महाराज आदि आशा लगाए हुए थे सो उनकी आशा जन्ममें वधाई वजतेही पूरी होगई । यथा—'घरघर बाज बधाव सुभ प्रगटेउ सुखमाकंद । हरषवंत सब जहँ तहँ नगर नारि नर वृंद ।' तीसरा अंश है 'वालचरित चहुँ वंधु के, वनज विपुल वहुरंग''' । इसका माहात्म्य है 'मनोमलहारी' । वाल-चरित अत्यंत सरल है, अतः मनोमलहारी है । शेप अंश आगे चौपाइयोंमें क्रमशः दिये गए हैं ।

राम सुप्रेमहि ❀ पोषत पानी । हरत सकल कलि-कलुप-गलानी ॥ ३ ॥

अर्थ—यह जल सुन्दर रामप्रेम (श्रीरामचन्द्रसम्वन्धी सुन्दर निष्काम प्रेम) को वढ़ाता और पुष्ट करता है और कलियुगके समस्त पापोंकी ग्लानि (वा, कलि एवं कलिके पापों और पापोंसे उत्पन्न ग्लानि) को दूर करता है । ३ ।

नोट—१ पानी=पानीय अर्थात् पीनेवाली वस्तु । इसीसे जलका नाम पानीय है, उसीका प्राकृत-रूप पानी है । यहाँ 'पानी' शब्दके प्रयोगसे रामयशके श्रवणका ही प्रसंग द्योतित किया । वि० त्रि० ।

टिप्पणी—१ (क) अव यहाँसे जलका 'परहितकारी' गुण कहते हैं । जल शरीरको पुष्ट करता है, यह रामप्रेमको पुष्ट करता है, यथा 'जननि जनक सिय-राम प्रेम के । १ । ३२ । ४ ।' (ख) 'पोषत' से पहिले उत्पन्न होना सूचित होता है, क्योंकि जव जन्म होगा तभी पालन-पोषण हो सकेगा । प्रेमका उत्पन्न होना 'जननि जनक सिय-राम-प्रेम के । ३२ । ४ ।' में कह आये; क्योंकि माता-पिता ही से वच्चा उत्पन्न होता है । श्रीरामचरितने मातापितारूप होकर प्रेम उत्पन्न किया और श्रीरामसुयशजलसे प्रेमका पोषण हुआ । रामचरित और राम-सुयश एकही हैं । 'सुप्रेम' अर्थात् निष्काम प्रेम ।

नोट—२ 'कलि-कलुप-गलानी' । इति । कलिके पापोंकी जो ग्लानि मनमें होती है, यथा 'सकुचत हौं अति राम कृपानिधि क्यों करि विनय सुनावउँ ।'''जौं करनी आपनी विचारौं तौ कि सरन हौं आवौं'''। वि० १४२ ।', 'वाप आपने करत मेरी घनि घटि गई'''। वि० २५२ ।', 'जनम गयो वादिहि वर वीति'''। वि० २३४ ।' इत्यादि । यह ग्लानि इससे दूर हो जाती है; क्योंकि इसमें संतों, भक्तों तथा स्वयं श्रीरामजीके वाक्योंसे हमें उनकी दयालुतामें विश्वास हो जाता है, यथा—'आपन जानि न त्यागिहहिं...', 'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ । दीनवंधु अति मृदुल सुभाऊ ।७ १।', 'कोटि विप्र वध लागहि जाहू । आए सरन तजउँ नहिं ताहू ।५।४४।' इत्यादि । ज्योंही यह सुयश स्मरण हो आता है, ग्लानि दूर हो जाती है ।

पं० रामकुमारजी लिखते हैं कि वह जल ग्लानिमात्रको हरता है; यथा—'सुचि जल पिअत मुदित मन भएऊ ।' और यह जल कलिको हरता है, यथा 'रामकथा कलि-पन्नग भरनी', कलिसे उत्पन्न कलुषको हरता है, यथा 'रामकथा कलिकलुप विभंजनि ।' और 'कलुपसे जो ग्लानि उत्पन्न होती है उसको भी हरता है,

❀ सुप्रेमहि—१६६१, १७०४, रा० प्र०, श्रीअयोध्याजीके मानसविज्ञोंकी छपाई प्रतियों, वि० टी०, पंजावी, और वैजनाथजीकी प्रतियोंमें है । ना० प्र० तथा गौड़जीका 'सुपेमहि' पाठ है ।

यथा 'समन पाप संताप सोक के।' तात्पर्य यह है कि कार्य और कारण दोनों का नाश करता है।

वि० त्रि०—यहाँ तीन गुण कहे—'रामसुप्रेमहिं पोषत पानी', 'हरत सकल कलि कलुष' और 'हरत गलानी'। ये माहात्म्य क्रमसे प्राप्त 'सीय स्वयंवर कथा सुहाई।…', 'नदी नाव पटु प्रश्न अनेका।…' और 'मुनि अनुकथन परसपर होई…' इन चौथे, पाँचवें और छठे अंशोंके हैं। सीयस्वयंवरमें श्रीरामजीको विश्वविजय यश और श्रीजानकीजी दोनोंकी प्राप्ति हुई। इष्टदेवके उत्कर्षश्रवणसे प्रेम बढ़ता ही है। प्रश्नोत्तरमें एक प्रकारसे सभी रामचरितमानस आ जाता है; अतः 'सकल कलि कलुष हरण' इसका गुण होना ठीक ही है। अनुकथनमें विश्राम अधिक होता है, अतः उसे ग्लानिका हरण करनेवाला कहा।

भव श्रम सोषक तोषक तोषा। समन दुरित दुख दारिद दोषा॥ ४॥

अर्थ—संसारके (आवागमन) श्रमको सोख लेनेवाला, सन्तोषकोभी सन्तुष्ट करनेवाला, और पाप, एवं पापसे उत्पन्न दुःख, दरिद्रता और दोषोंको दूर करनेवाला है॥ ४॥

पं० रामकुमारजीः—१ (क) 'भव श्रम सोषक' इति। यहाँ भव समुद्र है, श्रम जल है, इसीसे सोखना कहा। अनेक योनियोंमें बारंबार जन्म लेना और मरना यही परिश्रम है। यथा—'भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे। ७। १३।', 'आकर चारि लाख चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी। फिरत… ७। ४४।' (ख) 'तोषक तोषा' अर्थात् वह जल संतोष देता है और श्रीराम सुयश-जल जगत्‌को तृप्त करनेवाले मूर्तिमान् सन्तोषको भी तृप्त कर देता है। यथा 'सुंदरता कहँ सुंदर करई', 'धीरजहू कर धीरज भागा', 'सुनि बिषाद दुखहू दुख लागा', 'तनु धरि सोचु लाग जनु सोचन। २। २६।' इत्यादि, तथा यहाँ 'तोषक तोषा' कहा। अथवा, दूसरा भाव यह है कि सन्तोंको सन्तोष प्राप्त है तो भी वे रामचरितके भूखे हैं उनको भी सन्तोष देता है। (ग) दुरित=पाप। दुःख, दरिद्रता और दोष ये सब पापके फल हैं, यथा 'करहिं पाप पावहिं भय रुज सोक बियोग। उ० १००।' यह जल पाप और उसके फलको नाश करता है। दोष=अवगुण, यथा 'कहउ सुताके दोष गुन मुनिवर हृदय विचारि।' वह जल अवगुणको नाश करता है, यह मानसरोगको।

नोट—'यहाँ दुख दारिद दोषा' तीनों का नाश कहा है। अयोध्याकाण्डमें भी इन तीनोंका मिटना कहा है। यथा—'मिटे दोष दुख दारिद दावा। अ० १०२।' 'दुःख-दरिद्ररूपी (अथवा दुःखदरिद्रके) दोषों', ऐसा अर्थ बाबू श्यामसुन्दरदास और विनायकीटीकाकारने किया है।

वि० त्रि०—यहाँ श्रीरामयशजलके छः गुण कहे—'भवश्रम सोषक' १, 'तोषक तोषा' २, 'समन-दुरित ३, दुख ४, दारिद ५, दोषा ६। ये क्रमसे प्राप्त 'घोर धार भृगुनाथ रिसानी', 'घाटसुबद्ध राम बर बानी', 'सानुज राम बिबाह उछाहू।…', 'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं।…', 'रामतिलक हित मंगल साजा' और 'काई कुमति कैकई केरी।…' इन सातवेंसे लेकर बारहवें अंशोंके माहात्म्य हैं। भृगुनाथकी रिसानीभी श्रौताग्निकी भाँति पवित्र है। ये कर्मयोगी थे। इनका क्रोध युद्ध-यज्ञके लिये ही था, यथा—'चाप स्रुवा सर आहुति जानू।…' इत्यादि। अतः इनको भवश्रम नहीं होता, अतः इनकी रिसानीको भवश्रमशोषक कहा। श्रीरामजीकी वाणीसे परशुरामजीका मोह जाता रहा; यथा 'उघरे पटल परसुधर-मति के'। अतः 'तोषक तोषा' गुण कहा। सानुज रामविवाह उछाहू' पुण्यमयही है, अतः इसे दुरितशमन कहा। रामविवाहमें माताओंको अतिसय आनन्द हुआ। यथा 'पावा परमतत्व जनु जोगी' से लेकर 'एहि सुख तें सतकोटि गुनु पावहिं मातु अनंदु।' तक। अतः 'कहत सुनत…' इस अंशको दुःखशमन कहा। वास्तविक दरिद्र मोह है, यथा 'मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।' 'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवास-दुःखतः। मुखाम्बुजश्री…' इस कारणसे अथवा अनेक विघ्न उपस्थित होने पर भी अन्तमें राज्यलक्ष्मीने

उनका वरण किया ही, अतः 'राम-तिलक-हित मंगल साजा' को दारिद्र्यनाशक कहा। श्रीकैकेयीजी ऐसी दशरथ महाराजकी प्रेयसी और परम साधु भरतजीकी माताको दुष्टा मंथराके संगदोषसे कुमति उत्पन्न हुई। अतः 'काई कुमति…' इस अंशसे शिक्षा ग्रहण करनेवालेका दोष नष्ट हो जाता है।

काम कोह मद मोह नसावन। बिमल बिबेक बिराग बढ़ावन ॥ ५ ॥

अर्थ—काम, क्रोध, मद और मोहका नाश करनेवाला है। निर्मल ज्ञान और वैराग्यको बढ़ानेवाला है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—१ (क) कथाका बाधक काम है; यथा 'क्रोधिहि सम कामिहि हरिकथा। ऊसर बीज बयें फल जथा। ५। ५८। ४।' इसलिये प्रथम कामको नाश करता है। काम, क्रोध, मद और मोह ये सब मानसरोग हैं। इनके नाश होनेपर विवेक और वैराग्य बढ़ते हैं। इसीसे प्रथम कामादिका नाश कहकर तब विवेक और वैराग्यका बढ़ना कहा है। (ख) 'विमल' विशेषण देनेका भाव यह है कि विवेक और वैराग्य तो और भी क्रियाओं-साधनोंसे बढ़ते हैं; यथा 'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ३। १६। १।' और रामचरित विमल 'विवेक वैराग्य' को बढ़ाता है।

नोट—१ 'बिमल बिबेक बिराग' इति। जब मानसरोग दूर हो जाते हैं, विषय-वासना जाती रहती है, तब 'बिराग-विवेक' निर्मल कहे जाते हैं। यथा—'जानिय तब मन बिरुज गुसाईं। जब उर बल बिराग अधिकाई ॥ सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई ॥ बिमल ज्ञानजल जब सो नहाई।० ७। १२२। ६, १०।'

२—'काम, कोह, मोह' ये क्रमसे कहे, यही क्रम गीतामें है। यथा 'ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते। संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते। क्रोधाद्भवति सम्मोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः। स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति। २। ६२। ६३।' विषयसंगसे कामना, कामना न पूर्ण होनेसे क्रोध और क्रोधसे मोह होता है, जिससे बुद्धि नष्ट होकर प्राणीका नाश होता है। अतः तीनोंका नाश कहा। मोहके नाशसे संसार असार दीखने लगता है उससे वैराग्य होता है।

☞ इन सद्गुणों की उत्पत्ति पहले कह आये हैं, यथा 'सद्गुन सुरगन अंब अदिति सी।३२।३।' उन्हीं सद्गुणोंका बढ़ना 'बढ़ावन' पद देकर यहाँ कहा। विमल विवेक वैराग्य सद्गुण हैं।

वि० त्रि०—यहाँ छः गुण कहे। काम १, क्रोध २, मद ३, मोहनसावन ४, विमल विवेक ५, विराग बढ़ावन ६, जो क्रमसे प्राप्त 'समन अमित उतपात सब भरतचरित जप जाग।', 'कलि अघ खल अवगुन कथन ते जल मल बक काग', 'हिम हिमसैलसुता सिव ब्याहू', 'सिसिर सुखद प्रभु जनम उछाहू', 'बरनब रामबिवाह समाजू' और 'ग्रीषम दुसह राम बन गवनू' इन तेरहवेंसे लेकर अठारहवें अंशोंके माहात्म्य हैं। भरत ऐसे निष्काम भक्तशिरोमणि कि जो अवध ऐसे राज्यमें भी 'चंचरीक जिमि चंपक बागा' रहते थे, उनके चरितसे काम नष्ट होता है। जो कलिके अघ और खलोंके अवगुणका श्रवण मनन करेगा वह समझ जायगा कि विरोध होना कलिका स्वभाव है, अतः वह विरोधीपर भी क्रोध न करेगा। उमा-शंभुविवाह-प्रसंगमें कामने मदमें आकर संसारभरको पीड़ित किया। अतः उसका पराभव हुआ। अतः इस कथासे शिक्षा ग्रहण करनेवालेका मद नष्ट हो जाता है। प्रभु जन्मके उछाहमें सब लोग ब्रह्मानंदमें मग्न हो गए—'ब्रह्मानंद मगन सब लोई।' अतः इस चरितको मोहनाशक कहा। 'बरनब रामबिवाह समाजू' इस अंशमें वेदके चारों तत्व जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयके विभवोंका अपनी अपनी अवस्थाओंके साथ वर्णन है। यहाँ उत्प्रेक्षाके व्याजसे श्रीगोस्वामीजीने वेदके रहस्यका उद्घाटन कर दिया। अन्यत्र स्पष्ट भी कहा है; यथा 'तुरीयमेव केवलम्'। अतः इस अंशका फल 'विमल विवेक बढ़ावन' कहा। रामवनगवन प्रसंगसे शिक्षा ग्रहण करनेवालेका निश्चय वैराग्य बढ़ेगा।

मु० रोशनलालः—ये छः चौपाइयाँ वैद्यक पर्याय हैं। मलके हरनेसे रोगीका शरीर पुष्ट होता है। यह जल मनोमलको पहिले हर लेता है, फिर उससे रामप्रेम पुष्ट होता है। रोगीको अपने रोगकी ग्लानि होती है जिससे उसका शरीर मलिन हो जाता है, सो इसने भवरोगके रोगीके मनसे कलिके पापोंकी ग्लानिको हर लिया है। पुनः, रोगीको चलनेमें श्रम होता है, सो यहाँ सांसारिक वासनाओंका रोगी जो जन्ममरणभयश्रमसे थका हुआ है उसके उस श्रमको सोख लेता है और जैसे रोगीको भोजनमें सन्तुष्टता होती है वैसेही भवरोगके रोगीको सांसारिक व्यवहारोंसे सन्तोष देता है और दुरितकी चाह, दोष, दरिद्र, दुःख इन सबके दोषोंको हर लेता है। (पांड़ेजी)।

सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिए तें ॥ ६ ॥

अर्थ—आदर-पूर्वक स्नान-पान करनेसे हृदयसे पाप-परिताप दूर हो जाते हैं ॥ ६ ॥

पं० रामकुमारजीः—१ (क) यहाँ यथासंख्य अलंकार है। अर्थात् स्नानसे पाप मिटते हैं और पीनेसे हृदयके परिताप दूर होते हैं। वह जल शरीरके तापको हरता है, राम-सुयश-जल हृदयके तापको हरता है। (ख) परिताप=मानसी व्यथा। पापका फल भोग ही परिताप है। श्रीरामयशके सम्बन्धमें कहना-सुनना ही 'मज्जन-पान' है, यथा—'मज्जन पान पाप हर एका। कहत सुनत एक हर अविबेका। १। १५।' 'मिटहिं पाप०', यथा 'सकृदुच्चरितं येन रामायणमनुत्तमम्। भस्मी भवन्ति पापौघा, हृदि रामस्तुतद्रवात्' इति शिव वाक्यं। (मानस-परिचारिकाके मतानुसार सुनना स्नान है और धारणा-ग्रहण-मनन पान है। एकाग्रभावसे मनको कथामें डुबा देना स्नान है। गुणानुवादको सदा कानसे सुनते रहना पान है।) (ग) 'सादर' कहनेका भाव यह है कि कथा आदरपूर्वक कहे-सुने, निरादरसे नहीं। यथा 'सोइ सादर सर मज्जन करई। महाघोर त्रयताप न जरई। १। ३९। ६।', 'सादर मज्जहिं सकल त्रिवेनी। १। ४४। ४।' पूर्व इसके भाव लिखे गए हैं।

२ ☞ पापका नाश होना इस प्रसंगमें तीन बार लिखा गया है; यथा—(१) 'हरत सकल कलि कलुष-नलानी।' (२) 'समन दुरित दुख दारिद दोषा'। (३) 'मिटहिं पाप परिताप हिएँ तें।' इसका कारण यह है कि पाप तीन प्रकारके हैं। यथा 'जे पातक उपपातक अहहीं। करम-वचन-मन-भव कबि कहहीं। २। १६७। ७।' तीन बार कहकर सूचित किया कि इन तीनोंका नाश होता है।

वि० त्रि०—१ यहाँ दो गुण कहे—मिटहिं पाप और मिटहिं परिताप। ये क्रमसे प्राप्त 'बरषा घोर निसाचर रारी' और 'रामराज सुख विनय बड़ाई' इन उन्नीसवें और बीसवें अंशोंके माहात्म्य हैं। भगवान्से वैर करनेवालोंको भी परम गति मिलती है। इस अंशसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि प्रभुसे कोई न कोई संबंध अवश्य बना रक्खे। पाप मिटनेका यह अचूक उपाय है। अतः यह कथाभाग पाप मिटानेवाला है। श्रीरामवनवाससे सबको परिताप था—'अवधि आस सब राखहिं प्राना।' श्रीरामराज्यसे सब परिताप मिट गया। अतः जिन लोगोंने रामराज्यसे शिक्षा ग्रहण की, निश्चय उनके हृदयका परिताप मिटेगा।

नोट—१ यहाँतक सम्मुखका फल कहा, आगे विमुखका फल कहते हैं। (पं० रामकुमार)।

२ 'पहिले ग्रन्थके आदिमें श्रीगुरुपदरजको भवरोगनाशक चूर्ण कहा, फिर उसका अनुपान 'राम-सुयश-जल' दोहा ४२ में कहा। रोगके दूर होनेपर रोगीको स्नान कराया जाता है, इसलिये यहाँ स्नान करना कहा। (रा० प्र०)।

वीरकविः—४३ (३—६) में सहोक्ति और अनुप्रासकी संसृष्टि है।

जिन्ह एहिं बारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल बिगोए ॥ ७ ॥

अर्थ—जिन्होंने इस (राम-सुयश) जलसे अपने मनको नहीं धोया उन कादरोंको कलिकालने ठग लिया और नष्ट कर डाला है ॥ ७ ॥

नोट—१ (क) 'एहि वारि' अर्थात् जिसमें ऐसे गुण हैं। 'मानस धोए'—जैसे देहपर मिट्टी लगी हो तो धोनेसे वह छूट जाती है, वैसेही मनके विकार रामयश कहने-सुनने समझनेसे दूर हो जाते हैं। यथा 'जनम अनेक किये नाना विधि करम कीच चित सानेउ। होइ न विमल विवेक नीर विनु वेद पुरान बखानेउ। वि० ८८।'.... 'मोह-जनित मल लाग विविध विधि कोटिहु जतन न जाई। रामचंद्र अनुराग नीर विनु मल अति नास न पावै। वि० ८२।', 'आस पिआस मनोमल हारी'। श्रीरामयशसे मनका मैल साफ़ हो जाता है। (श्रवण करके समझना तथा धारण करना मनका धोना है। मा० मा०)। (ख) 'कायर'=कादर, जैसे, मयन=मदन। 'विगोए' (सं० विगोपन)=नष्ट किया, ठग लिया, बिगाड़ डाला, भ्रममें डाल दिया। यथा 'प्रथम मोह मोहिं बहुत बिगोवा। ७। ६६। ६।', 'राज करत निजकुमति बिगोई। २। २३। ७।', 'स्वारथ परमारथ कहा, कलि कुटिल बिगोयो बीच। वि० १६२।' पुनः, 'विगोए'=वि+गोए=विशेषकर छिपाये वा गुप्त किये गये।=नाश किये गये। कायर कहनेका भाव यह है कि बहुत लोग स्नान करनेसे डरते हैं, इससे स्नान नहीं करते। अथवा, इसमें मानसका धोना कलिकालसे युद्ध करना है, जो मानसको धो लेते हैं उन्होंने कलिकालको जीत लिया। जिन्होंने न धोया वे मानों कलिकालके संग्राममें रणभूमिसे भागे, इसीसे कादर कहलाये। अथवा, वे आलसी हैं, भाग्य-भाग्य चिल्लाते हैं कि हमे अवकाशही नहीं मिलता; उनसे पुरुषार्थभी किया नहीं होता।

२ 'बिगोये'—नरतन पाकरभी विषयमें लगना यही ठगा जाना या नष्ट होना है, यथा 'हानि कि जग एहि सम कछु भाई। भजिय न रामहिं नर तन पाई। ७। ११२। ६।' इत्यादि। (पं० रामकुमारजी)। पुनः भाव कि रामचरित पढ़ने या सुननेसे क्या होगा ? माहात्म्य तो सभी अपने काव्यका लिखते हैं, कथा पढ़ सुनकर किसीको स्वर्ग जाते नहीं देखा, इत्यादि बुद्धि उनकी हो गई है। यह विपरीत बुद्धि कलिकालके कारण हो गई है; अतः कलिकाल विगोए कहा। पाँडेजी 'कायर' का अर्थ 'जो जानकर अन्याय करे' कहते हैं। मा० प० में 'कलिकाल विगोए' का अर्थ किया है कि 'कलिकाल उन्हींको अपनी आड़में छिपाये है; भाव यह कि अभी तो सेठ साहूकार महाराज पण्डित सभी हैं, पर वह नहीं जानते कि मरनेपर क्या दशा होगी, किस योनिमें जायँगे।'

तृषित निरखि रविकर-भव-बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी ॥ ८ ॥

अर्थ—वे (कलिसे विगोए हुए) जीव, प्यासे हिरनकी नाईं, जो सूर्यकिरणसे उत्पन्न हुए जलको देखकर मारा-मारा फिरता है, प्यासे भ्रमते रहेंगे और दुःखी होंगे ॥ ८ ॥

नोट—इस अर्धालीमें बताते हैं कि कलिने उन्हें क्योंकर ठगा है।

पं० रामकुमारजीः—१ (क) 'फिरिहहिं' से मृग-जलकी ओर दौड़ना सूचित होता है। आशा ही प्यास है; यथा 'आस पियास मनोमल हारी।' आशाके पूर्ण न होनेसे जीव दुःखी रहते हैं, सबके पीछे दौड़ते फिरते हैं। (ख) आशा मानसिक विकार है। यह रामचरित सुननेसे दूर हो जाती है, अन्य किसी उपायसे नहीं। अन्य सब उपाय मृगजल हैं, यथा 'जे लोलुप भये दास आस के ते सबही के चेरे। प्रभु बिस्वास आस जीती जिन्ह ते सेवक हरि केरे।' (ग) मज्जन करनेसे मनके पाप-परिताप मिटते हैं और मज्जन न करनेवालोंको सजा मिलती है। क्या दण्ड मिलता है सो 'जिन्ह एहिं वारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल विगोए।' में कहा। (घ) यहाँ आशा नदी है, मनोरथ जल है और तृष्णा तरङ्गावर्त्त है।

नोट—'रविकर-भव-बारी' इति। कर=किरण। भव=उत्पन्न। बारी=बारि=जल। रेतपर या ऊसर मैदानोंमें तीक्ष्ण सूर्यकिरणों के पड़नेसे दूरसे प्यासे हिरनको उसमें जल वा जलकी लहरोंका धोखा होता है।

इसी जल-भ्रमको 'सूर्यकिरणसे उत्पन्न हुआ जल' कहा है। ☞ गर्मीके दिनोंमें जब वायुकी तहोंका घनत्व उष्णताके कारण असमान होता है, तब पृथ्वीके निकटकी वायु अधिक उष्ण होकर ऊपरको उठना चाहती है; परन्तु ऊपरकी तहें उसे उठने नहीं देतीं, इससे उस वायुकी लहरें पृथ्वीके समानान्तर बहने लगती हैं। यही लहरें दूरसे देखनेमें जलकी धारा-सी दिखायी देती हैं। मृग इससे प्रायः धोखा खाते हैं; इसीसे इसे 'मृगतृष्णा', 'मृगजल' आदि कहते हैं। प्यासे फिरना क्या है ? इसे भी विनयके पद ८८ से मिलान कीजिये— 'कबहूँ मन विश्राम न मान्यो। निसिदिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन्ह तान्यो॥ जदपि विषय सँग सह्यो दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानतहूँ नहिं जान्यो॥ जनम अनेक किये नाना विधि करम-कीच चित सान्यो। होइ न विमल विवेक-नीर-बिनु वेद पुरान बखान्यो॥ निज हित नाथ पिता गुर हरि सो हरषि हृदय नहिं आन्यो। तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो॥' ☞ जीवके सम्बन्धमें मृगजल क्या है यह विनयमें स्पष्ट दिखाया है; यथा 'ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जौं पै मन सो रस पावै। तौ कत मृगजलरूप विषय कारन निसिबासर धावै॥ ११६॥', 'जिव जबतें हरि ते बिलगानेउ। तब तें देह गेह निज जानेउ॥ मायावस सरूप बिसरायो। तेहिं भ्रमते दारुन दुख पायो"' आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा। मृग-भ्रम-बारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन भयउ सुख मानी॥"'पद १३६।' जो पै रामचरन रति होती"'। तौ कत विषय बिलोकि झूँठ जल मन कुरंग ज्यों धावै॥ १६८।', 'महामोह मृगजल-सरिता महँ बोरेउँ हौं बारहिं बार। १८८।' ☞ इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि विषय, सांसारिक सुख, महामोह एवं राम और रामयश छोड़ अन्य सब कुछ मृगजल है। यह सुखमय प्रतीत होता है, पर इसमें सुख कहाँ।

वीरकविः—पहले एक साधारण बात कही कि मनुष्य विषयसुखकी प्यास बुझानेके लिये संसारमें दौड़ेंगे; किन्तु हरियश छोड़कर अन्यत्र सुख कहाँ है जो उन्हें मिलेगा ? इसकी विशेषसे समता दिखाना कि वे ऐसे दुखी होंगे जैसे मिथ्या-जलको सत्य-जल मानकर हरिण दौड़ते-दौड़ते प्राण खो देता है, पर उसे पानी नहीं मिलता 'उदाहरण अलङ्कार' है।

दोहा—मति अनुहारि सुबारि गुन-गन गनि मन अन्हवाइ।
सुमिरि भवानी-संकरहि कह कबि कथा सुहाइ॥ ४३॥

अर्थ—अपनी बुद्धिके अनुसार इस उत्तम जलके गुणसमूहको विचारकर और उसमें मनको स्नान कराके श्रीभवानीशङ्करका स्मरणकर कवि सुन्दर कथाको कहता है॥ ४३॥

पं० रामकुमारजीः—१ 'मति अनुहारि' और 'गुनगन' से सूचित किया कि श्रीरामचरितमें तो गुण अमित हैं, अनन्त हैं, परन्तु मैंने मतिअनुसार कुछ गुण कहे।

२—'गुन-गन गनि मन अन्हवाइ' कहकर तीर्थमें स्नानकी विधि सूचित की है। प्रथम तीर्थका माहात्म्य कहे या सुने तब स्नान करे, यह विधि है। यथा—(क) 'सबहिं सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥ अकथ अलौकिक तीरथ राऊ। देइ सद्य फल प्रगट प्रभाऊ॥ सुनि समुझहिं जन मुदित मन मज्जहिं अति अनुराग। १। २।' (ख) 'गाधिसूनु सब कथा सुनाई। जेहि प्रकार सुरसरि महि आई॥ तब प्रभु रिषिन्ह समेत नहाए।१।२१२।' (ग) 'सचिवहिं अनुजहिं प्रियहिं सुनाई। विबुधनदी महिमा अधिकाई॥ मज्जन कीन्ह पंथ श्रम गयऊ। २। ८७।' (घ) 'कहि सिय लषनहि सखहिं सुनाई। श्रीमुख तीरथराज बड़ाई॥"'मुदित नहाइ कीन्हि सिव सेवा। २। १०६।' (ङ) 'चित्रकूट महिमा अमित कही महामुनि गाइ। आइ नहाये सरित बर सिय समेत दोउ भाइ॥ २।१३२।' तथा यहाँ 'मति अनुहारि सुबारि गुन-गन गनि०' कहा।

३—पूर्व श्रीमद्गोस्वामीजीने मन और मति दोनों को रंक कहा था। इस लिये दोनोंको राम-सुयशजलमें नहलाया। मति को मानसमें स्नान कराया। यथा 'अस मानस मानस चप चाही। भइ कविबुद्धि बिमल अवगाही। १। ३९। ६।' और मनको कीर्त्ति-सरयूमें नहलाया, यथा 'गुनगन गनि मन अन्हवाइ।' इस प्रकार दोनोंको निर्मल करके तब श्रीरामयश कहते हैं। रामयशमें स्नानकी विधि बताई कि पहले गुण-गणोंको सुने, बिचारे, तब स्नान संभव है।

नोट—१ मानस-प्रकरण दोहा ३५ से उठाया गया और यहाँ समाप्त हुआ। इस प्रकरणको भवानी-शङ्करका स्मरण करके प्रारम्भ किया और उन्हींके स्मरणपर प्रसंगको संपुटित किया। इस लिये भक्तिपूर्वक इनका पाठ करनेसे अनेक मनोकामनाएं सिद्ध हो सकती हैं। मु० रोशनलालजी लिखते हैं कि 'गोस्वामीजी ने मानसके इन नौ दोहोंको गौरी-शंकरके नामसे संपुटित कर दिया है, क्योंकि ये दोहे रामायणके बीज हैं। इस लिये श्रीशंकरपार्वतीजीकी रक्षामें रहें। यह तात्पर्य ग्रन्थकारका है।'

२ श्रीभवानीशंकरकी वन्दना और बारम्बार स्मरणके भाव पूर्व आ चुके हैं कि ये मानसके आचार्य हैं, इन्हींकी कृपासे ग्रन्थकारको मानस प्राप्त हुआ और इन्होंने वस्तुतः उनका पालन पोषण किया। मं० श्लो० एवं 'गुर पितु मातु महेस भवानी। १। १५। ३।' देखिए। उन्हींके प्रसादसे ये रामचरितमानसके कवि हुए और उसका माहात्म्य जगमगा रहा है। १। १५। ५ 'साबर मंत्र जाल जिन्ह सिरजा' देखिए।

३ 'कह कवि' इति। 'संभुप्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरितमानस कवि तुलसी॥ करइ मनोहर....। १। ३६। १-२।' उपक्रममें कहा है, इसीसे यहाँ 'कह कवि' कहा। अर्थात् अपनेको कवि कहा।

४ पहिले रामचरित-मानसका रूपक मानससरसे बाँधकर मानसका स्वरूप दोहा ३५ 'जस मानस....' से 'अस मानस....' तक कहा, फिर 'चली सुभग कविता सरिता सो' से रामचरित-मानस काव्य-का रूपक सरयू-नदीसे बाँधकर कहा। इन दोनोंका मिलान यहाँ दिया जाता है—

रामचरितमानस-सर	कीर्त्ति-सरयू
तालाबका माहात्म्य कहा, यथा 'सोइ सादर सर मज्जन करई। महाघोर त्रयताप न जरई।'	१—नदीका माहात्म्य कहा, यथा 'नदी पुनीत सुमानसनंदिनि। कलिमल तृन तरु मूल निकंदिनि।'
बरषहिं रामसुजस बरबारी।....मेधा महि गत सो जल पावन	२ चली सुभग कविता सरिता सो। राम बिमल जस जल भरिता सो।
घाट मनोहर चारि	३ घाट सुबद्ध राम बर बानी
लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता	४ सती सिरोमनि सिय गुनगाथा। सोइ गुन अमल अनूपम पाथा
प्रेमभगति....सोइ मधुरता सुसीतलताई	५ 'भरत सुभाउ सुसीतलताई' 'भायप..जल माधुरी सुबास'
सो जल सुकृतसालि हित होई	६ राम सुप्रेमहि पोषत पानी
रामभगतजन जीवन सोई	७ सुनत सुजन मन पावन करिही
उपमा बीचि बिलास मनोरम	८ सीयस्वयंवरकथा सुहाई। सरितसुहावनि सो छबि छाई
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल०	९ बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहुरंग
सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला। सुकृती साधु....	१० नृप रानी परिजन सुकृत मधुकर बारि बिहंग
'धुनि अवरेब....' से 'ते सब जलचर चारु तड़ागा तक'	११ उमा-महेस-बिबाह बराती। ते जलचर अगनित०
पुलक बाटिका बाग बन	१२ बिच बिच कथा बिचित्र बिभागा। जनु सर तीर तीर बन बागा
सदा सुनहिं सादर नरनारी। ते सुरवर मानस अधिकारी	१३ कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं

जो सादर सर मज्जन करई। महाघोर त्रय ताप न जरई १४ सादर मज्जन पान किये ते । मिटहिं पाप परिताप हिये ते
अतिखल जे बिषई बक कागा । एहि सर निकट न जाहिं० १५ कलि अघ खल अवगुन कथन ते जलमल वक काग

रामचरितमानस एहि नामा	१६ सरजू नाम सुमंगलमूला
सोइ स्वच्छता करै मलहानी	१७ कलिमल तृन तरु मूल निकंदिनि
उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू	१८ सो सुभ उमग सुखद सब काहू
रामचरितमानस मुनिभावन	१९ कीरति सरित छहूँ रितु रूरी
भइ कबिबुद्धि बिमल अवगाही	२० गुनगन गनि मन अन्हवाइ
संतसभा चहुँ दिसि अँवराई	२१ संतसभा अनुपम अवध
त्रिबिध दोष दुख दारिद दावन	२२ समन दुरित दुख दारिद दोषा

नोट—५ ☞ मानस-प्रकरण यहाँ सम्पुटित हुआ। दोहा ३५ का 'सुमिरि उमा वृषकेतु' तथा ३६ (१) का 'संभु प्रसाद सुमति हिय हुलसी । रामचरितमानस कवि तुलसी ।' उपक्रम है । 'मति अनुहारि सुवारि गुन''', 'सुमिरि भवानी संकरहि', 'कह कवि कथा' दोहा ४३ उपसंहार है ।

६ जलके गुण तीन बार कहे । एक तो ३६ (४-७) में पृथ्वीपर पड़नेके पहिलेके । दूसरे, ३६ (९) से ३७ (३) तक सरमें आनेपरके । और तीसरे, ४१ (७) से ४२ (४) तक नदीमें आनेके पीछेके ।

७ 'जस मानस', 'जेहि विधि भयउ' और 'जग प्रचार जेहि हेतु' तीनों प्रसंग, जिनकी दोहा ३५ में कहने की प्रतिज्ञा की थी, यहाँ समाप्त किये । आगे संवादोंकी कथा कहते हैं ।

मानस-प्रकरण (मानस-सरयू-साङ्गरूपक) समाप्त हुआ

बालकांड प्रथम भाग (वन्दना तथा मानस प्रकरण) चतुर्थ-संस्करण समाप्त हुआ ।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु । श्रीसद्गुरु-भगवच्चरणौ शरणं मम । जय जय श्रीसीतारामजीकी ।

(श्रावण कृ० ११ सम्वत् २०१३ वि०, ३ अगस्त १९५६)

गीताप्रेस, गोरखपुरसे प्रकाशित 'तुलसी'-साहित्य

श्रीरामचरितमानस—सटीक तथा मूल, विभिन्न आकारोंमें—वृहदाकार, सामान्य ग्रन्थाकार, मँझला, लघु-आकार एवं गुटका आदि।

सम्पूर्ण 'मानस'—मूल तथा सटीक, अलग-अलग काण्ड-क्रमसे पुस्तकाकार सात भागोंमें भी उपलब्ध।

कवितावली—सटीक, पृष्ठ-संख्या २२४, मूल्य रु० ६.५०, डाकखर्च—(रजिस्ट्री-खर्चसहित) ७.०० अतिरिक्त।

गीतावली—सरल भावार्थ सहित, पृष्ठ ४४४ मूल्य रु० १२.००, डाकखर्च—(रजिस्ट्री-खर्चसहित) ८.०० अतिरिक्त।

दोहावली—सानुवाद, (अनुवादक—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार) पृष्ठ-संख्या १९२, मूल्य रु० ५.००, डाकखर्च (रजिस्ट्री- खर्चसहित) ७.०० अतिरिक्त।

विनय-पत्रिका—सरल हिन्दी-भावार्थसहित, (अनुवादक—श्रीहनुमानप्रसाद पोद्दार) पृष्ठ-संख्या ४९०, सचित्र, मूल्य रु० १३.००, डाकखर्च (रजिस्ट्री-खर्चसहित) ८.०० अतिरिक्त।

रामाज्ञा-प्रश्न—सरल भावार्थ सहित, पृष्ठ-संख्या १०४, मूल्य रु० २.००, डाकखर्च (रजिस्ट्री-खर्चसहित) ७.०० मात्र, सामान्य डाकव्यय ०.५० अतिरिक्त।

श्रीकृष्ण-गीतावली—सरल भावार्थ सहित, पृष्ठ-संख्या ८४, मूल्य रु० १.५०, डाकखर्च (सामान्य) ०.५० अतिरिक्त।

जानकी-मङ्गल—अनुवादसहित, पृष्ठ-संख्या ५२, मूल्य रु० २.००, डाकखर्च (रजिस्ट्री-खर्चसहित) ७.००, (सामान्य) ०.५० अतिरिक्त।

पार्वती-मङ्गल—सानुवाद, पृष्ठ-संख्या ३२, मूल्य रु० १.५०, डाकखर्च (सामान्य) ०.५० अतिरिक्त।

वैराग्य-संदीपनी—सानुवाद, पृष्ठ-संख्या १६, मूल्य रु० ०.५०, डाकखर्च (सामान्य) ०.५० अतिरिक्त।

बरवैरामायण—सानुवाद, पृष्ठ-संख्या १६, मूल्य रु० ०.५०, डाकखर्च (सामान्य) ०.५० अतिरिक्त।

हनुमानबाहुक—सानुवाद पृष्ठ-संख्या ४०, मूल्य रु० १.५०, डाकखर्च, (सामान्य) ०.५० अतिरिक्त।

हनुमानचालीसा—पृष्ठ-संख्या ३२, मूल्य रु० ०.७५, डाकखर्च (सामान्य) ०.५० अतिरिक्त।

गीताप्रेस गोरखपुरसे विभिन्न भाषाओंमें प्रकाशित गीताके अनुवाद

श्रीमद्भगवद्गीता-तत्त्व-विवेचनी टीका		अँग्रेजी
	,,	हिन्दी
,,	साधक-संजीवनी टीका—	अँग्रेजी
,,	,,	हिन्दी
,,	,,	मराठी
,,	गीता-दर्पण—	अँग्रेजी
,,	,,	हिन्दी
,,	गीता-माधुर्य—	अँग्रेजी
,,	,,	हिन्दी
,,	(मूल, पदच्छेद अन्वय सहित)—	बँगला
,,	(महात्म्य सहित)—	मराठी
,,	(मूल, पदच्छेद, अन्वय तथा अनुवाद सहित)	मराठी
,,	(पदच्छेद, भाषाटीका)—	गुजराती
,,	गीता-माधुर्य—	तमिल
,,	,,	मराठी
,,	,,	गुजराती
,,	,,	बँगला
,,	,,	कन्नड़
,,	,,	नेपाली
,,	,,	उर्दू

|| श्रीहरिः ||

गीताप्रेसकी निजी दूकानें

	☎
१. गोविन्दभवन-कार्यालय, १५१ महात्मागांधी रोड, कलकत्ता-७	३८६८९४
२. गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान, २६०९, नयी सड़क, दिल्ली-६	३२६९६७८
३. गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान, अशोक राजपथ, पटना-४	
४. गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान, २४/५५, बिरहाना रोड, कानपुर-९	२५२३५१
५. गीताप्रेस पेपर एजेन्सी, ५९/९, नीचीबाग, वाराणसी	६३०५०
६. गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक दूकान, सब्जीमण्डी, मोतीबाजार, हरिद्वार	
७. गीताभवन, गंगापार, स्वर्गाश्रम	१२२

गीताप्रेसकी स्टेशन स्टालें

१-दिल्ली जंक्शन, प्लेटफार्म नं० १; २-नयी दिल्ली, प्लेटफार्म नं० ८। ३-अन्तर्राज्यीय बस अड्डा (दिल्ली), ४-कानपुर, प्लेटफार्म नं० ५-गोरखपुर, प्लेटफार्म नं० १; ६-वाराणसी, प्लेटफार्म नं० ३; ७-हरि प्लेटफार्म नं० १; ८-पटना, प्लेटफार्म नं०—१

अन्य अधिकृत पुस्तक विक्रेता

श्रीगीताप्रेस पुस्तक प्रचार केन्द्र,
"बुलियन बिल्डिंग", जौहरी बाजार, जयपुर—३